ॐ
कल्याण
वर्ष
१४
अङ्क
४

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियराम ॥

रघुपति राघव राजा राम। पतितपावन सीताराम ॥

जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ आगारा ॥

[प्रथम संस्करण ५६१००]

वार्षिक मूल्य भारतमें ४≥) विदेशमें ६॥≡) (१० शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥

जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥

जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति भारतमें ।) विदेशमें ।≡) (८ पेंस)

Edited by H. P. Poddar and C. L. Goswami, M. A., Shastri

Printed and Published by Ghanshyamdas Jalan at the Gita Press, Gorakhpur (India).

श्रीहरिः

* कल्याण *

[भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचार-सम्बन्धी सचित्र मासिक पत्र]

वर्ष १४

सं० १९९६-९७ की

निबन्ध-सूची

कविता-सूची

तथा

चित्र-सूची

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार

प्रकाशक—घनश्यामदास जालान

कल्याण-कार्यालय

गीताप्रेस, गोरखपुर

वार्षिक मूल्य ४=)
विदेशोंके लिये ६॥=)

प्रति संख्या ।)

क-श—

कल्याणके आगामी विशेषाङ्क—श्रीसाधनाङ्क—में आनेवाले एक बहुरंगे चित्रका

इकरंगा नमूना
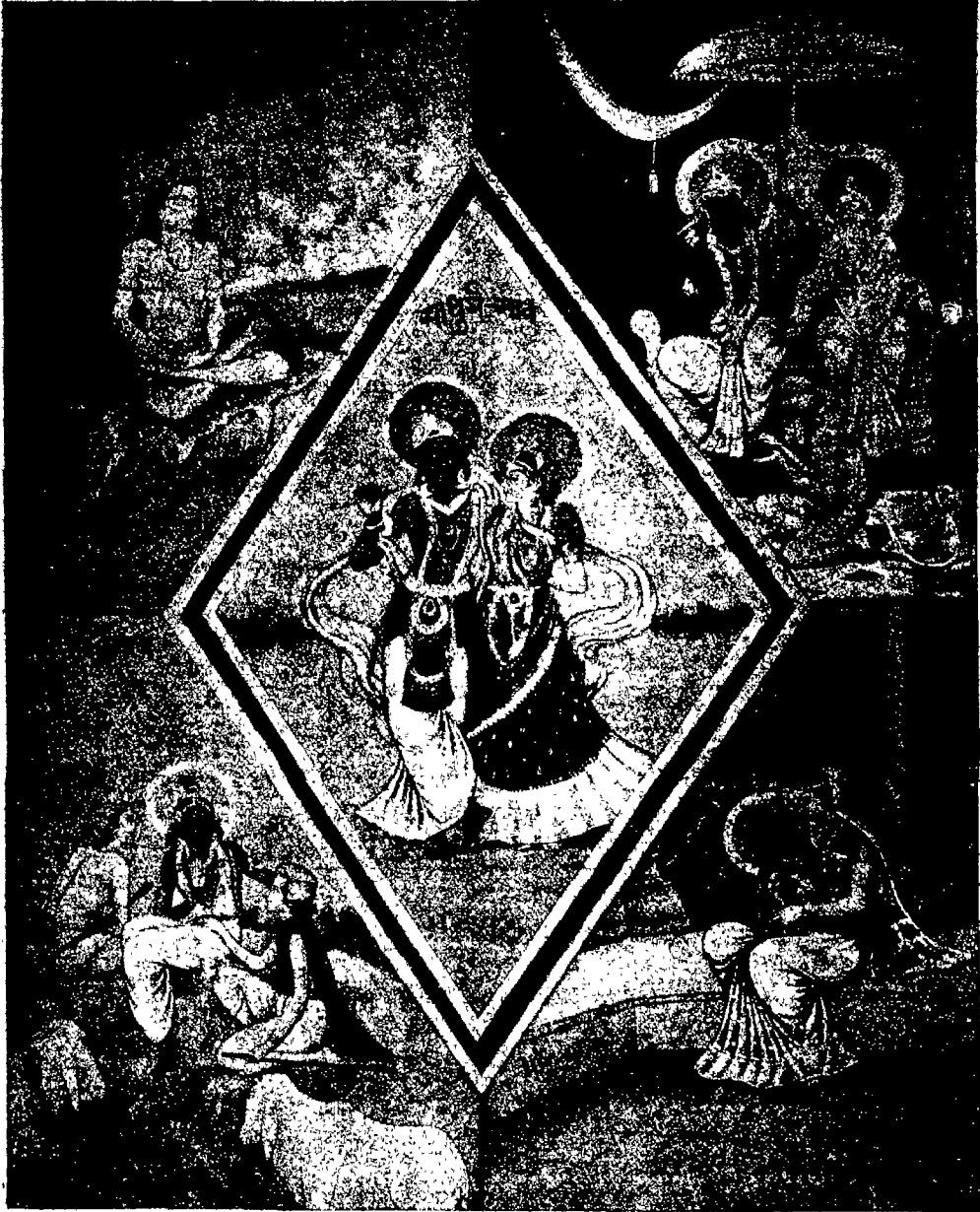
पाँच प्रकारके भक्तिरस

श्रीसाधनाङ्कसहित पूरे सालका वार्षिक मूल्य ४≡) है। केवल साधनाङ्क (तीनों खण्ड) का ३॥) है

आप ग्राहक बनिये और मित्रोंको बनाइये।

श्रीहरिः

कल्याणके चौदहवें वर्षकी लेख-सूची

पद्य-सूची

चित्र-सूची

सुनहरे

बहुरंगे

इकरंगे

इकरंगे (लाइन)

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ (गीता १८ । ६६)

वर्ष १४ } गोरखपुर, नवम्बर १९३९ { संख्या ४ पूर्ण संख्या १६०

विनय

ऐसी तोहि न बूझिए हनुमान हठीले ।
साहेब कहूँ न राम से, तोसे न वसीले ॥ १ ॥
तेरे देखत सिंह के सिसु मेढक लीले ।
आनत हौं कलि तेरेऊ मन गुनगन कीले ॥ २ ॥
हाँक सुनत दसकंध के भए बंधन ढीले ।
सो बल गयो किधौं भए अब गरब गहीले ॥ ३ ॥
सेवक को परदा फटै तू समरथ सीले ।
अधिक आपु ते आपुनो सुनि मान सही के ॥ ४ ॥
साँसति तुलसीदास की सुनि सुजस तुही के ।
तिहूँ काल तिन को भलो जे राम रँगीले ॥ ५ ॥

—तुलसीदासजी

परमहंस-विवेकमाला

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

[मणि १२]

(वर्ष १३ के पृ० १७७१ से आगे)

नित्यं जाग्रदवस्थायां सुप्तवद् योऽवतिष्ठते ।
सर्वदोषविनिर्मुक्तं जीवन्मुक्तं नमाम्यहम् ॥

कुंडलिया—मन ही जीवन बाँधता, मन ही करता मुक्त ।
मन जिसके स्वाधीन है, सो ही ज्ञानी युक्त ॥
सो ही ज्ञानी युक्त, अमन निज मन कर देवै ।
अजर-अमर हो जाय, विष्णुपद अक्षय लेवै ॥
भोला ! मन दे मार, मरण मनका है जीवन।
जीवन मनका मृत्यु, कहैं ज्ञानी निर्मल-मन ॥

डोरूशङ्कर—हे देवि ! क्या मन रुक जाता है ? कोई-कोई तो ऐसा कहते हैं कि मन रुकता ही नहीं। मनके रोकनेका उपाय क्या है ?

देवी—हे वत्स ! मन अवश्य रुक जाता है। यदि मन रुकता न होता, तो मन रोकनेके साधन ही वेदवेत्ता विद्वान् क्यों बताते ? जो बात असम्भव होती है, उसके करनेको कोई विद्वान् नहीं कहता; सम्भव बातका ही विद्वान् विधान करते हैं। मनका क्षय हो जाना मनका परम कल्याण है, मनका मर जाना ही जी जाना है—इस सम्बन्धमें मैं तुझे ब्रह्मबिन्दूपनिषद् सुनाती हूँ। ध्यान देकर सुन, तेरा सर्व संशय निवृत्त हो जायगा।

ब्रह्मबिन्दूपनिषद्

मनोनिग्रहकी आवश्यकता—हे वत्स ! इस ब्रह्मबिन्दूपनिषद्में स्पष्टरूपसे कहा गया है कि मनके निगृहीत हुए विना कभी आत्मसाक्षात्कार नहीं होता, मनका निग्रह होनेपर ही आत्मसाक्षात्कार होता है। इस जीवको मन ही संसारचक्रमें भ्रमानेवाला है, इसलिये श्रेयोऽभिलाषीको प्रथम मनको ही वशमें करना चाहिये। ऋषि-मुनि शुद्ध एवं अशुद्ध भेदसे मनको दो प्रकारका कहते हैं। विषयोंमें प्रीति करनेवाला और सकाम कर्म करनेवाला मन अशुद्ध कहलाता है और विषयोंमें रागरहित निष्काम कर्म करनेवाला मन शुद्ध कहा जाता है। अशुद्ध मन बन्धनकारक है और शुद्ध मन मोक्षकारक है। जब शुद्ध मन सब विषयोंको त्याग कर हृदयदेशमें निरोधको प्राप्त हो जाता है, तब जीवका ब्रह्मके साथ भेद नहीं रहता किन्तु जीव, ब्रह्म दोनोंका अभेद हो जाता है और मोक्षरूपी परम फलकी प्राप्ति होती है। जैसे स्वप्नावस्थामें निद्रादोषसे मन अनेक प्रकारके पदार्थोंको उत्पन्न करता है और उनमें रमण करता है, उसी प्रकार जाग्रदवस्थामें भी अज्ञानके कारण मन अनेक प्रकारके विषयरूप पदार्थोंको उत्पन्न करता है और उनमें रमण करता है। यद्यपि दोनों अवस्थाओंमें आत्मा परमार्थतः द्वैतभावसे रहित है, तथापि इन्द्रियोंमें ममत्वके कारण आत्मा जाननेमें नहीं आता; इसलिये मनको द्वैतभावसे रहित करके निरोध करना, यही अधिकारीका कर्तव्य है। मनको मनके धर्मोंसे रहित करनेसे योगीको ब्रह्मसाक्षात्कार होता है।

डोरूशङ्कर—हे देवि ! जब मन अमनभावको प्राप्त हो जाता है, तब आत्माका स्वरूप कैसा होता है ?

देवी—हे प्रियदर्शन ! जब मन अमनभावको प्राप्त हो जाता है, तब जीवात्मा सर्व कल्पनाओंसे रहित हो जाता है; फिर उसमें जन्म-मरण आदि विकार नहीं रहते, उसको अनात्मपदार्थोंका ज्ञान नहीं रहता और वह स्वप्रकाश ज्ञानरूप अपनी महिमामें स्थित हो जाता है।

शङ्का—हे देवि ! जब आत्माको किसी पदार्थका ज्ञान ही नहीं रहता, तब तो वह मरे हुएके समान

हो जाता होगा, जैसे सुषुप्ति-अवस्थामें जब मन लय हो जाता है, तो जीवको अपने-परायेका ज्ञान नहीं होता। फिर सुषुप्तिमें और समाधिमें क्या अन्तर है?

समाधान—हे वत्स! सुषुप्ति-अवस्थामें तो मनका लय होता है और समाधि-अवस्थामें मनका निरोध होता है। विषयोंसे विमुख हुए, कल्पनाओंसे रहित और महावाक्यजन्य विद्यासे संस्कृत हुए शुद्ध मनमें और सुषुप्तिके मनमें महान् अन्तर है; सुषुप्ति-अवस्थामें मन सूक्ष्मरूपसे कारण अज्ञानमें रहता है और समाधिमें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय इत्यादि भेदसे रहित हुआ निरुद्ध मन अद्वितीय ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। सुषुप्ति-अवस्थामें अविद्याविशिष्ट चेतनमें लयभावको प्राप्त होनेसे मन ब्रह्माकार नहीं होता और समाधि-अवस्थामें मन ब्रह्माकार हो जाता है। इस प्रकार सुषुप्ति और समाधिमें महान् अन्तर है।

हे सौम्य! पूर्वजन्मके महान् पुण्यकर्मोंके उदय होनेसे अधिकारी पुरुषका मन अमनभावको प्राप्त होता है और जब मन अमनभावको प्राप्त हो जाता है, तभी अधिकारीको निर्विकल्प समाधिमें ब्रह्माकारता प्राप्त होती है। समाधिमें मन वागादि इन्द्रियोंके धर्मोंसे रहित, वृत्तियोंसे रहित और बाह्य चराचर सर्व जगत्के भावसे रहित हो जाता है। समाधिस्थ मन किसी भी विषयको ग्रहण नहीं करता, किसी विषयकी कल्पना नहीं करता और सर्व विक्षेपोंसे रहित होकर एक ब्रह्ममें स्थिर होता है। निर्विकल्प समाधि निरन्तर योगकी प्रक्रियाएँ करनेसे प्राप्त होती है। निर्विकल्प समाधिमें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तथा ध्याता, ध्यान और ध्येयका ज्ञान भी नहीं रहता; इसलिये शास्त्रवेत्ता उसको 'अस्पर्शयोग'के नामसे कहते हैं। वेदान्तशास्त्रके ज्ञानसे रहित जो योगी इस 'अस्पर्शयोग' नामकी समाधिको धारण करने जाता है, उसको भय उत्पन्न होता है; क्योंकि ब्रह्मस्वरूप उसके जाननेमें नहीं आता। जिसको गुरु-शास्त्रद्वारा वेदान्तका ज्ञान प्राप्त हुआ रहता है, जो योगकी प्रक्रियाएँ करते-करते क्रमशः ऊपर चढ़ता है, उस अमन मनवाले योगीको निर्विकल्प समाधि प्राप्त होती है।

अनन्त आत्माओंको उनके कर्मानुसार प्रकृति भोग भुगताती है और प्रकृतिमेंसे मन प्रकट होता है तथा उसीमें लय होता रहता है। आत्मामें मन लय नहीं हो सकता, क्योंकि कारणमें ही कार्यका सर्वदा लय होता है। नैयायिकोंका ऐसा विचार है कि अद्वितीय ब्रह्म आत्मज्ञानसे रहित केवल जड है। जब मनका आत्माके साथ सम्बन्ध होता है, तभी आत्मामें ज्ञानादि गुण उत्पन्न होते हैं और जब मन तथा आत्माका सम्बन्ध टूट जाता है, तब मरण हो जाता है; इसलिये निर्विकल्प समाधिमें भी मन अमन-भावको प्राप्त नहीं हो सकता। नैयायिकोंका यह मानना ठीक नहीं है। वेदान्तशास्त्रवाले ऐसा कुतर्क नहीं करते, किन्तु ऐसा मानते हैं कि वैराग्य-भावको प्राप्त हुआ अधिकारी जब मनको हृदयदेशमें रोककर सर्व विषयोंसे रहित कर लेता है, तब मन अमनभावको प्राप्त होता है और अमनभावको प्राप्त हुआ मन निर्विकल्प समाधिमें ब्रह्माकार हो जाता है।

कोई-कोई ऐसा मानते हैं कि मन किसीसे जीता नहीं जा सकता, इसलिये मनका निरोध नहीं हो सकता; परन्तु यह कथन ठीक नहीं है। क्योंकि यदि मनका जय हो ही नहीं सकता होता, तो श्रुति और स्मृति मनके रोकनेका उपदेश क्यों करतीं? जो वस्तु असम्भव होती है, उस वस्तुका शास्त्रमें कहीं भी विधान नहीं होता। मनका निरोध हो सकता है, इसीलिये ब्रह्म-वेत्ताओंने मनके निरोध करनेका विधान किया है।

हे सौम्य ! महान् श्रमसे भी जो कार्य सिद्ध नहीं होता, ऐसा कार्य करनेका शास्त्रकारोंने कहीं विधान नहीं किया है। यदि उत्साहपूर्वक दृढ सङ्कल्पसे यत्न किया जाय, तो मनका निग्रह अवश्य हो सकता है। हजारों योगीजनोंने पूर्वमें मनका निग्रह किया है, उनके उदाहरण शास्त्रोंमें मिलते हैं। सतत लगे रहनेसे और दृढतासहित उत्साह-पूर्वक कार्य करनेसे कैसा भी महान् कार्य क्यों न हो, अवश्य पूरा होता है। शास्त्रकारोंका कथन है कि टिट्टिभ-जैसे छोटे पक्षीने दृढ सङ्कल्प और उत्साहसे समुद्रको खाली कर दिया था, तो मनुष्यके समान बुद्धिशाली और समर्थ प्राणी क्या नहीं कर सकता ? सब कुछ कर सकता है। इसलिये पुरुषको दृढ सङ्कल्पसे मनको वशमें करना चाहिये।

डोरूशंकर–हे देवि ! टिट्टिभने किस प्रकार समुद्रको खाली कर दिया था ? आश्चर्य-सा प्रतीत होता है। टिट्टिभ तो एक बहुत छोटा-सा पक्षी है, वह समुद्रको खाली नहीं कर सकता है।

टिट्टिभ पक्षीकी कथा।

हे सौम्य ! वेदान्त-सम्प्रदायवेत्ता वृद्ध पुरुषोंने इस प्रकारकी आख्यायिका कही है—समुद्रके तीरपर टिट्टिभ नामके पक्षीका जोड़ा रहता था। एक बार उनके अण्डोंको समुद्र अपनी तरङ्गोंके वेगसे बहा ले गया, टिट्टिभ पक्षी क्रोधित होकर 'इस समुद्रको अवश्य सुखा डालूँगा' ऐसा निश्चय करके समुद्रको सुखानेमें प्रवृत्त हुआ और अपनी चोंचसे समुद्रमेंसे जलका विन्दु ले-लेकर बाहर फेंकने लगा। टिट्टिभकी मादा (स्त्री) ने उसको बहुत कुछ समझाया, परन्तु टिट्टिभ न माना। ऐसा देखकर मादा भी उसे सहायता देने लगी और दोनों जलकी एक-एक बूँद लेकर समुद्रमेंसे बाहर फेंकने लगे। जब पक्षियोंने यह बात सुनी, तो उन्होंने आकर दोनों पक्षियोंको समझाकर समुद्रके सुखानेसे रोकना चाहा; परन्तु जब उनको अपने सङ्कल्पमें दृढ पाया तो सब पक्षी भी उनके साथ मिलकर समुद्र सुखाने लगे। दैवयोगसे नारद मुनि वहाँ आये और सब वृत्तान्त सुनकर पक्षियोंको बहुत कुछ समझाया कि समुद्र सूख नहीं सकता, व्यर्थ श्रम न उठाओ। नारद मुनिका वचन सुनकर टिट्टिभ पक्षीने यह प्रतिज्ञा की कि 'इस जन्ममें अथवा दूसरे जन्ममें समुद्रको अवश्य सुखाकर मानूँगा।' दैव अनुकूल था, पक्षीकी प्रतिज्ञा सुनकर कृपालु नारद मुनिको दया आयी और उन्होंने गरुड़के पास जाकर यह वचन कहे—'हे गरुड़ ! यह समुद्र तुम्हारे सजातीय पक्षियोंके साथ द्रोह करके तुम्हारा अपमान करता है, तुमको अपना अपमान कराना उचित नहीं है। अपने बान्धवोंकी तुमको सहायता करनी चाहिये। अपने सजातीय बान्धवोंकी सहायता करनेसे कीर्ति प्राप्त होती है और न करनेसे पातक लगता है ! जो समर्थ होकर भी अपने बान्धवोंकी सहायता न करे, उसके सामर्थ्यको धिक्कार है !' नारद मुनिके वचन सुनकर गरुड़ वहाँसे समुद्रकी ओर चले और उनके पंखोंके पवनसे ही समुद्र सूखने लगा। यह देखकर समुद्र घबड़ा गया और भयभीत होकर टिट्टिभ पक्षीके अण्डोंको लाकर दे गया। सच कहा है—'हारिये न हिम्मत, बिसारिये न हरिनाम !'

हे वत्स ! इस प्रकार जो योगी खेदसे रहित होकर मनके निरोधरूप परम धर्ममें प्रवृत्त होता है, उसके ऊपर दयालु ईश्वर साक्षात् अनुग्रह करता है। हे प्रियदर्शन ! यह कथन ठीक है कि मन बहुत ही चञ्चल है और बहुत कठिनाईसे निग्रह करनेमें आता है, फिर भी सतत अभ्यास और वैराग्यके द्वारा निरन्तर प्रयत्न करनेसे वशमें आ जाता है।

मनके दोष–लय, विक्षेप और कषाय–इन तीन दोषोंसे मन भ्रमित होता है; इसलिये निरन्तर अभ्यास और वैराग्यसे इन दोषोंका नाश करना चाहिये। लय निद्रा और आलस्यका नाम है। जब

निद्रा अथवा आलस्य सतावे तो मनको उत्साह देना चाहिये। काम और भोगमें रुचि, यह विक्षेप दोष है। जब विक्षेप मनको ठहरने न दे, तो काम और भोगके दोष मनको बताने चाहिये। आत्म तथा अनात्मवृत्तिसे रहित होनेका नाम कषाय दोष है। जब कषाय दोष मनको चलित करता हो, तो अभ्यास और वैराग्य—इन दोनों उपायोंसे मनको समझाना चाहिये। इस प्रकार मनको बाहर दौड़नेसे रोकना चाहिये। वेदान्तशास्त्रके श्रवण-मननसे और वैराग्यकी दृढ भावना करनेसे चाहे-जैसा चञ्चल मन भी वशमें हो जाता है। जब मन वशमें हो जाता है तो शीघ्र ही मनकी ब्रह्माकारता सिद्ध हो जाती है। मनका निग्रह होनेके पीछे होनेवाली ब्रह्माकारताका योगी समाधिसे रक्षण करते हैं और समाधिके निरन्तर अभ्याससे मन कभी भी चलायमान नहीं होता।

हे वत्स! सर्व कल्याणोंका मुख्य कारण मनोनिग्रह ही है। वेदान्त और योगशास्त्रमें ही नहीं, किन्तु सर्वशास्त्रोंमें मनको जीतनेकी बात कही गयी है। जबतक मनका विजय करनेमें नहीं आता, तबतक किसी भी फलकी सिद्धि नहीं होती। कहा है—

दानमिज्या तपः शौचं तीर्थं वेदाः श्रुतं तथा।
अशान्तमनसश्चैव सर्वमेतन्निरर्थकम्॥

'जिसका मन शान्त नहीं है, उसके दान, यज्ञ, तप, शौच, तीर्थ, वेद और श्रवण—सब निरर्थक हैं।' मनके निग्रह विना लोक-परलोकका कोई भी शुभ फल मनुष्यको प्राप्त नहीं होता, इसलिये मनोनिग्रह ही अधिकारीका प्रथम और मुख्य कर्तव्य है; चञ्चल मन ब्रह्माकार नहीं हो सकता, किन्तु स्थिर मन ही हृदयदेशमें ब्रह्मभावको प्राप्त होकर तन्मय हो सकता है। इसलिये मुमुक्षुओंको हजारों साधनोंसे भी मनको निगृहीत करनेका उत्साहपूर्वक यत्न करना चाहिये।

हे सौम्य! सब धर्मोंसे रहित आत्माका मनोनिग्रहद्वारा जो पुरुष साक्षात्कार करता है, उसको फिर जन्म-मरणकी प्राप्ति नहीं होती; जगत्‌के अनेक प्रकारके विकार उसपर असर नहीं करते और तीनों अवस्थाओंमें उसको भेद नहीं रहता, किन्तु वह सर्वदा निर्विकार और एकरस रहता है। आत्मभावको प्राप्त हुआ योगी आत्माके समान ही हो जाता है, इसलिये कोई विकार उसमें सम्भव नहीं है। सामान्य मनुष्य और अधिकारियोंमें जो भेद दिखायी देता है, वह भेद उनका किया हुआ नहीं है, किन्तु उपाधिका किया हुआ है। जैसे घटकी और मठकी उपाधिसे हमको आकाश भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है, परन्तु आकाशमें किसी प्रकारका भेद नहीं है, उसी प्रकार आत्माकार वृत्तिवाले योगियोंमें हमको भिन्नता दिखायी देती है, परन्तु उनमें कोई भिन्नता नहीं है। मनकी चञ्चलताके कारण ही आत्मा अनेक प्रकारके स्वरूप धारण करता हुआ प्रतीत होता है, वस्तुतः आत्मा एक ही स्वरूपवाला है। जैसे कोई लकड़ी एक सिरेपर जलाकर आकाशमें गोल, सीधी अथवा आड़ी घुमायी जाय, तो सिरेकी अग्निमें गोलाई, लकीरें और अनेक आकृतियाँ दिखायी देती हैं, उसी प्रकार मनके स्पन्दरूप विविध प्रकारके भ्रमणसे आत्मा अनेक आकृतिवाला दिखायी देता है। अलातचक्र यानी बारूदके चक्रकी विविध आकृतियाँ किसी दूसरे ठिकानेसे नहीं आतीं, अलातचक्रकी अग्नि भी आकृतियोंको उत्पन्न नहीं करती और फिर अपनेमें आकृतियोंको खींच भी नहीं लेती; परन्तु चक्रके भ्रमणसे ही ये विविध आकृतियाँ हमको दिखायी देती हैं, अग्निका उनके साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार जगत्‌में दीखनेवाले अनेक भावों और विचित्रताके साथ आत्माका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। न तो आत्मा उनको बनाता है और न अपनेमें लय करता है; परन्तु अलातचक्रके भ्रमणसे

जैसे अनेक प्रकारकी आकृतियाँ दीखती हैं, उसी प्रकार मनके स्पन्दसे ही अज्ञानी जीव आत्माको अनेक प्रकारका देखते हैं। मायाके बलसे मनमें स्पन्द उत्पन्न होता है और मायाके बलसे ही वस्तुतः आत्मामें न होता हुआ भी चराचर जगत् अज्ञानी जीवोंके देखनेमें आता है। माया, अज्ञान, अविद्या और प्रकृति आदि शब्द नाममात्र ही सत्य हैं, परमार्थतः सत्य नहीं हैं; क्योंकि वे किसी प्रमाणसे सिद्ध नहीं होते। जैसे नरशृङ्ग, गन्धर्वनगर और वन्ध्यापुत्र–ये शब्द उच्चारणमात्र ही हैं, अन्य प्रकारसे असत्य हैं, उसी प्रकार माया भी उच्चारण-मात्र ही है, विचारदृष्टिसे देखनेसे असत्य ही है। किसी स्थलपर मायाका कारण नहीं बताया है और माया सिद्ध भी नहीं होती। जैसे घट-शरावादि रूपसे प्रतीत होनेवाली मृत्तिका मृत्तिकासे भिन्न नहीं है, किन्तु मृत्तिकारूप ही है, उसी प्रकार आत्मा एक ही है; आत्मामें जो विकार दिखायी देता है, वह देखनेवालेकी दृष्टिका भ्रम ही है। आत्मा मन-वाणी-का अविषय है, तो भी मन-वाणीके धर्मवाला दिखायी देता है। वस्तुतः आत्मा मृत्तिकाके समान सर्वत्र एकरस है और एक ही स्वरूपसे स्थित है। जबतक निर्विकल्प समाधिकी प्राप्ति न हो तबतक अधिकारीको शब्दब्रह्म—वेदान्तशास्त्रोंका चिन्तन करना चाहिये। जैसे चावलकी इच्छावाला पुरुष चावल निकालनेके बाद धानके छिलकोंको फेंक देता है, उसी प्रकार ब्रह्मका साक्षात् होनेपर योगियोंको शब्दब्रह्मका भी त्याग कर देना चाहिये। जैसे अनेक प्रकारके आकारवाली और विविध रंगवाली गायें अनेक होनेपर भी उन सबका दूध केवल श्वेत रंगका एक-सा ही होता है, उसी प्रकार जगत्के अनेक प्रकारके शरीरोंमें रहा हुआ आत्मा एक ही प्रकारका है, उसमें किञ्चित् भी अनेकता नहीं है। आत्माकी प्राप्तिके लिये प्रत्येक मनुष्यको प्रथम अपना मन स्थिर करना चाहिये। यदि वह ऐसा न करेगा, तो ब्रह्माकार वृत्ति उत्पन्न नहीं होगी। *जबतक ब्रह्माकार वृत्ति न होगी तबतक मोक्षकी* प्राप्ति भी न होगी, ब्रह्माकार वृत्ति होनेपर ही मोक्ष-की प्राप्ति होना सम्भव है। इसलिये मनको स्थिर करके ब्रह्माकार बनाना चाहिये। जैसे दूधके अंश-अंशमें घृत गुप्तरूपसे रहता है, उसी प्रकार प्रत्येक भूतमें विज्ञानरूप आत्मा बस रहा है। जो अधिकारी पुरुष मन्थानरूप मनसे बुद्धिरूप मथानीका सर्वदा मन्थन करता है, वही आत्मसाररूप घृतको प्राप्त करके सुखी होता है। गुरु-शास्त्रसे ज्ञाननेत्र प्राप्त करके अधिकारीको 'निष्कल, निर्मल, शान्त ब्रह्म मैं ही हूँ' ऐसी ज्ञानाग्नि प्रज्वलित करके मनके समस्त मैलको जलाकर ब्रह्मरूप आत्माका साक्षात्कार करना चाहिये। जो वासुदेव सर्वभूतोंके वासस्थान हैं, जिसमें सर्वभूत वास करते हैं और जो सर्वभूतोंपर अनुग्रह करता हुआ सर्वभूतोंमें वास करता है, वह वासुदेव मैं ही हूँ, वह वासुदेव मैं ही हूँ, यह उपनिषद् है।

एक झाँकी !

टूटें जब जगतीसे मेरी ममताकी हथकड़ियाँ !
गुँथे मृत्युके स्वागत हित जब जीवन जीवन-लड़ियाँ !!
झड़ने लगे, सूख कर उरसे जब श्वाँसोंकी माला !
बुझने लगे, देव ! जब मेरी जलती जीवन-ज्वाला !!

× × ×

तब आ, मधुर मनोहर श्यामल प्यारी छवि सुखकारी–
की बाँकी झाँकी दे जाना, मंजुल मूर्ति मुरारी !!

—कुँवर मोहरसिंह चँदेल 'केसरी'

पूज्यपाद श्रीउड़ियाबाबाजीके उपदेश

(प्रेषक—श्रीविश्वबन्धुजी 'सत्यार्थी')

(१) हमको अपनी स्थितिसे चलायमान नहीं होना चाहिये। यदि हम अपनी स्थितिसे विचलित हो गये तो हम विचारवान् कैसे? चाहे करोड़ों शत्रु उपस्थित हों, उनसे प्रेम ही करना चाहिये। चाहे कोटि मित्र उपस्थित हों, उनसे राग नहीं करना चाहिये। जो मानके इच्छुक हैं, उनको मान देना चाहिये। जो हमसे जो वस्तु माँगे उसको वही देना चाहिये। इस विषयमें एक अति मनोहर घटना है—

एक बड़े भारी विद्वान् दिग्विजय करते-करते काशी पहुँचे। वहाँ उस समयके अद्वितीय विद्वान् एक स्वामीजी थे। स्वामीजीके पास श्रीपण्डितजी शास्त्रार्थ करने पधारे। उन्होंने पूछा—'पण्डितजी, आप क्या चाहते हैं?' श्रीपण्डितजीने कहा—'स्वामीजी, मैं दिग्विजय करता चला आ रहा हूँ। मेरी अभिलाषा है कि मैं आपको भी जीत लूँ और इस प्रकार दिग्विजयी हो जाऊँ।' श्रीस्वामीजीने कहा—'बस, यही बात है? अच्छा तो मैं लिखे देता हूँ कि मैं आपसे हार गया।' बस, स्वामीजीने पराजयपत्र लिख दिया। जब काशीजीमें नगाड़ेकी विजय-ध्वनि गूँजने लगी तब श्रीस्वामीजीके शिष्योंको भी पता चला। उन्होंने पण्डितजीसे कहा—'तुम पहले स्वामीजीके शिष्योंसे तो शास्त्रार्थ कर लो, स्वामीजीको जीतनेकी बात पीछे करना।' अस्तु, एक शिष्यसे उनका शास्त्रार्थ हुआ। श्रीपण्डितजी परास्त हो गये। जब श्रीस्वामीजीको पता लगा और शिष्यगण श्रीस्वामीजीके पास पहुँचे तो श्रीस्वामीजी मौन हो गये और किसी भी शिष्यसे न बोले। क्योंकि शिष्योंमें अमल न पाकर उन्होंने बोलना उचित न समझा।

(२) एक महात्मासे किसीने पूछा—'महात्माजी, भगवान्‌ने हमको जिह्वा एक और कान दो क्यों दिये हैं?'

महात्माजीने उत्तर दिया कि 'जिह्वा एक इसलिये दी है कि हमें थोड़ा बोलना चाहिये और कान दो इसलिये दिये हैं कि सबकी बात सुननी चाहिये।' अभिप्राय यह है कि बोधका फल शान्ति है।

(३) एक महात्मा किसीके भी दोष नहीं देखते थे, सभीको अपनी आत्मा समझते थे। किसी मनुष्यने एक मरा हुआ कुत्ता, जो सड़ रहा था, मार्गमें डाल दिया और महात्माजीसे बोला—'महात्माजी! यह कुत्ता बड़ी बदबू कर रहा है।' महात्माजी बोले—'दुर्गन्धकी कोई बात नहीं। इसके दाँत बड़े ही चमकीले, श्वेत और मनोहर हैं। यह पुण्योंका फल है।' यह सुनकर वह आदमी चुप हो गया।

'वेदाः प्रमाणम्'

(लेखक—साधु श्रीप्रज्ञानाथजी)

कर्ममीमांसाके मतसे शब्द और अर्थका नित्य सम्बन्ध होनेके कारण वेद नित्य हैं। किन्तु वेदमें वसु, रुद्र, आदित्यादि अर्थ उत्पत्तिमान् होनेके कारण अनित्य हैं। इनके अनित्य होनेके कारण इनके वाचक 'वसु' आदि शब्द भी अनित्य हैं। देखनेमें भी आता है कि देवदत्तके पुत्रका यज्ञदत्त नाम होता है। अतएव शब्द नित्य नहीं हो सकता। इसके उत्तरमें कहा जाता है कि 'गो' आदि शब्दोंका अर्थके साथ नित्य सम्बन्ध रहता है। गो आदि व्यक्तिकी उत्पत्ति होनेपर भी उसकी आकृतिकी उत्पत्ति धर्मसे नहीं देखी जाती। द्रव्य, गुण और कर्मसे व्यक्ति ही उत्पन्न होता है, आकृति उत्पन्न नहीं होती। आकृतिके साथ ही शब्दका सम्बन्ध होता है, व्यक्तिके साथ नहीं। व्यक्तिके अनन्त होनेके कारण उसके सम्बन्धका ग्रहण नहीं हो सकता। व्यक्तिकी उत्पत्ति होनेपर भी आकृतिके नित्य होनेसे गो आदि शब्दोंमें कोई विरोध नहीं आता। इसी प्रकार देवादि व्यक्तिकी उत्पत्ति होनेपर भी आकृतिके नित्य होनेसे वसु आदि शब्दोंमें कोई विरोध नहीं आता। देव आदिकी विशेष आकृतियोंका ज्ञान 'मन्त्रार्थवाद' आदि ग्रन्थोंसे होता है। जैसे 'सेनापति' शब्द सैन्याध्यक्षके लिये प्रयुक्त हो सकता है, उसी प्रकार पद-विशेषके सम्बन्धको निमित्त करके 'इन्द्र' आदि शब्दोंका व्यवहार होता है। इसी कारण जो कोई व्यक्ति उस पदपर अधिरोहण करता है, उसीको इन्द्र कहते हैं। शब्दपूर्वक जगत्की सृष्टि हुई है। परन्तु जिस प्रकार ब्रह्म जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादन कारण है, उस प्रकार शब्द जगत्का कारण नहीं।

वाच्य-वाचकात्मक रूपमें शब्दार्थ नित्य होते हुए भी शब्द और अर्थके व्यवहारयोग्य अर्थव्यक्तिकी निष्पत्तिके लिये शब्दसे ही जगत्की उत्पत्ति कही जाती है। श्रुति-स्मृति इसके प्रमाण हैं। ये शब्दपूर्वक सृष्ट हुए हैं, इसका प्रमाण दिया जाता है। 'स मनसा वाक् मिथुनं समभवत्'—उसने मन-ही-मन दो वाक्योंकी सृष्टि की।

'अनादिनिधना नित्या वाक् तत्सृष्टा स्वयम्भुवा।'

'ब्रह्माने आदि-अन्तहीन वाक्यसे जगत्की सृष्टि की।'

'वेदशब्देभ्य एवादौ निर्ममे स महेश्वरः।'

आदिमें उस महेश्वरने वेदके शब्दोंसे जगत्को उत्पन्न किया। इस प्रकारके और भी अनेक प्रमाण मिलते हैं। ब्रह्माके मनमें सृष्टिके पहले वैदिक शब्द आविर्भूत हुए थे। तत्पश्चात् तदनुरूप अर्थ (विषय) की सृष्टि उन्होंने की। यहाँ 'स्फोट'को लक्ष्यमें करके ही शब्दसे उत्पत्तिकी बात कही गयी है। वर्णोंकी उत्पत्ति और विनाश होनेके कारण उनके द्वारा नित्य शब्दसे देवादि व्यक्तिकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। प्रत्येक उच्चारणके साथ अन्यथा प्रतीयमान होनेसे वर्णकी उत्पत्ति-विनाशशीलता जानी जाती है। इस विषयको विस्तार-पूर्वक ब्रह्मसूत्र १।३।२८में देखना चाहिये। विस्तारके भयसे यहाँ उसका दिग्दर्शनमात्र कराया गया है।

'वेद' शब्दसे नियत आकृतिविशिष्ट देवादि जातिकी उत्पत्ति होनेके कारण वेद शब्दकी भी नित्यता निश्चय की जा सकती है। महर्षि वेदव्यासने भी महाभारतमें कहा है—

युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा॥

संसारका अनादित्व स्वीकार करना ही पड़ेगा। अनादि संसारमें स्वप्न-जागरणके समान कल्पान्तरमें उत्पत्ति और प्रलयका होना भी सम्भव है। महाप्रलयमें समस्त व्यवहारोंका उच्छेद होनेके कारण यद्यपि अस्मदादि पुरुषोंके पूर्वजन्मके वृत्तान्त अनुस्मृत नहीं होते, तथापि ईश्वरानुगृहीत हिरण्य-गर्भादिके पूर्व सृष्टिके व्यवहारोंके स्मरणमें कोई बाधा नहीं पड़ती। देखनेमें भी आता है कि मनुष्यसे लेकर हिरण्य-गर्भादि जीवोंमें ज्ञान-ऐश्वर्यादिकी अभिव्यक्ति औरोंकी अपेक्षा विशेष पायी जाती है। हमें पूर्वजन्मकी स्मृति न होनेपर भी जातिस्मर पुरुष तथा हिरण्यगर्भादिको पूर्वजन्मकी सृष्टिकी स्मृति होती देखी जाती है। ऋग्वेदसंहितामें लिखा है कि पूर्व कल्पोंमें जिस प्रकार सूर्य-चन्द्रादिकी सृष्टि हुई थी, इस कल्प-में भी उसी प्रकार परमेश्वरने जगत्की सृष्टि की।

यहाँ वेदकी नित्यता सिद्ध होनेसे ही उसके वाक्योंकी नित्यता सिद्ध हो सकती है। अतएव वेदको नित्यताको प्रमाणित करना आवश्यक है। वेदकी नित्यताका कोई प्रमाण नहीं; क्योंकि वेदके रचयिता ऋषियोंका नाम सुना जाता है, तथा वेद नश्वर पदार्थ है। अतएव जागतिक पदार्थोंके समान

वेद भी महाप्रलयमें नष्ट हो जा सकता है—इस प्रकारके अनुमान किये जा सकते हैं। अतएव इसे नित्य कहना कट्टरपन है। पुनः वेदमें जनक, याज्ञवल्क्य आदि अनेक अर्वाचीन पुरुषोंके नाम पाये जाते हैं; यदि वेद नित्य होता तो ये नाम उनमें नहीं आ सकते थे। इन प्रश्नोंके उत्तरमें कहा जाता है कि वेद महाभारत आदिके समान ऋषिप्रणीत ग्रन्थ नहीं। स्वतन्त्रताका अभाव ही वेदका अपौरुषेयत्व है, ऋषिप्रणीतत्व नहीं। अर्थात् महाभारतादि ग्रन्थोंमें जिस प्रकार वेदव्यासादिकी स्वतन्त्रता देखी जाती है, वेदमें वैसी स्वतन्त्रता नहीं। वेद पुरुषके निःश्वासके समान महाभूतके मुखसे निकला, इसका प्रमाण भी मिलता है—'*यस्य निःश्वसितं वेदाः*'। ऋषियोंने पूर्वकल्पके अनुभूत सत्यको ही सत्त्वगुण-प्रधान हृदयमें आविर्भूत देखकर जैसा अनुभव किया वैसा ही लिख दिया। वे नित्य सत्य हैं। यद्यपि मलिन बुद्धिके कारण उनमें आपाततः भूल-भ्रान्तिकी प्रतीति होती है, किन्तु शुद्ध शास्त्र-संस्कृत बुद्धिसे विचार करनेपर उनमें किसी प्रकारके भी दोषकी सम्भावना नहीं रहती। सत्यका प्रकाश सबके सामने एक ही प्रकारका होता है। मिथ्या वस्तु विभिन्न पुरुषोंके सामने विभिन्न रूपमें दृष्टिगोचर होती है। जैसे, यदि कोई शिक्षक ३० छात्रोंको एक जोड़ करनेके लिये दे, तो उनका उत्तर ठीक होनेपर सबका उत्तर एक-सा देखनेमें आता है तथा जिनका उत्तर ठीक नहीं होता उनका उत्तर न तो ठीक उत्तरसे मिलता है और न एक-दूसरेके उत्तरसे ही मिलता है। वर्तमान युगमें भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंके भिन्न-भिन्न अनुभव और संस्कार देखकर और विचारकर सत्यासत्यका निर्णय किया जा सकता है। सभी विभिन्न प्रकारके अनुभवकी दुहाई देते हैं; उनके अनुभव ठीक हैं या नहीं—यह कैसे जाना जा सकता है? लोभादि वृत्तियोंके वश होकर मनुष्य सत्यको असत्य और असत्यको सत्यरूपमें देख सकता है, अतएव अनुभवका भी कोई मूल्य नहीं होता। युक्तिके द्वारा एक महापुरुष जो निर्णय कर गये हैं, दूसरा तीव्रबुद्धिसम्पन्न पुरुष उसका खण्डन करता है। ऐसा भी देखनेमें आता है कि एक ही महापुरुष जीवनके प्रारम्भमें जिस सिद्धान्तका समर्थन करता है, ढलती अवस्थामें उससे विपरीत ही सिद्धान्तका समर्थन करता है। अतएव युक्तिका भी कोई मूल्य नहीं। अतएव अपौरुषेय वेदको प्रमाण माननेके सिवा कोई दूसरा उपाय नहीं। वेद किसी पुरुषविशेषके द्वारा रचित नहीं हैं। अतएव वेदमें भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा आदि दोष नहीं देखे जाते। सब सम्प्रदायवाले वेदकी प्राचीनताको स्वीकार करते हैं। मनु कहते हैं—'वेदमूलोऽखिलो धर्मः' अर्थात् संसारके समस्त धर्मोंकी उत्पत्ति वेदसे ही हुई है। वेद समस्त धर्मोंको अधिकारके अनुसार अपने हृदयमें स्थान देता है। इसी कारण सूक्ष्मबुद्धिसम्पन्न आस्तिक मनस्वी पुरुषोंको अपने-अपने मतका आग्रह होते हुए भी वेदकी प्रामाणिकताके विषयमें कोई वैमत्य नहीं। इसी कारण आर्य-ऋषियोंने वेद-को प्रमाण मानकर विभिन्न मतोंकी पुष्टिके लिये वेदके प्रमाण-को अङ्गीकार किया है। वेदके मार्गपर चलकर अर्वाचीन ऋषिगण भी अपनेको दुःखके पाशसे विमुक्त मानकर शान्तिसे कालयापन कर वेदकी अभ्रान्तिमूलकताको प्रमाणित कर गये हैं। वेदके आधुनिक नामोंको पूर्व-पूर्व कल्पोंके नाम मान लेनेमें भी कोई आपत्ति नहीं है। पूर्व कल्पोंमें अनेकों जनक-याज्ञवल्क्य हो गये हैं। उन्हींके अनुरूप पुरुष जब इस कल्पमें भी जन्म ग्रहण करते हैं तो उन्हींके नामोंसे अभिहित होते हैं। सृष्टिचक्र एकरूपसे घूमता चला जा रहा है। जब सत्ययुगका अन्त होता है, सृष्टिके नियमानुसार पूर्व सृष्टिके त्रेतायुगके समान ही जनक-याज्ञवल्क्यादि भी उत्पन्न होते हैं। अत्यन्त सादृश्य होनेके कारण समुद्रके तरङ्गके समान वे लोग भी जनक और याज्ञवल्क्यके रूपमें ही लोगोंके सामने प्रकट होते हैं। वेदमें जहाँ कर्मकाण्डका फल ठीक देखनेमें नहीं आता, वहाँ द्रव्य, क्रिया, ऋत्विज् आदिका दोष समझना चाहिये। जहाँ ये सब दोष नहीं रहते, वहाँ फल अवश्य देखनेमें आता है; कारीरी यज्ञ करनेसे आज भी वृष्टि हो सकती है। वेदके ही एक अङ्ग ज्योतिष और आयुर्वेद नामक उपवेदकी प्रामाणताको कोई अस्वीकार नहीं कर सकता, क्योंकि इनका प्रत्यक्ष फल देखनेमें आता है। अतएव समस्त वेदका फल अभ्रान्त है—इसमें अविश्वास करनेका कोई कारण नहीं। संसारमें जितने धर्म और सम्प्रदाय हैं, उनके प्रचारकोंके समयसे उनकी सत्यता विशेष व्यक्तियोंके लिये उपयोगी सिद्ध हुई है। वेदका वैसा प्रचार तथा उसके कालका निरूपण कोई नहीं कर सकता। अतएव वेद आधुनिक ग्रन्थोंके समान व्यक्तिविशेषके उपदेशमात्र नहीं हैं। वेदके वक्ताने अपना नाम विना दिये ही जो वेदका प्रचार किया है, इससे भी वेदों-के प्रकृत सत्यमें किसी प्रकारका संशय नहीं रह सकता। कानून बनानेवाले कानून पढ़े विना कानूनका निर्माण नहीं कर सकते। जो वेदको प्रस्तुत करते हैं, उनको भी वेद

पढ़कर ही वेदको प्रस्तुत करना होता है। अतएव वेदके निर्माणके पूर्व ही वेदका अस्तित्व सिद्ध होता है। भगवान्‌ने ब्रह्माको वेदका जिस रूपमें उपदेश किया था, उन्होंने उसमें तनिक भी परिवर्तन न कर लोकहितके लिये जनसमाजमें वेदका प्रचार किया। आनुपूर्विक होनेके कारण इसमें ब्रह्माकी भी कोई स्वतन्त्रता नहीं। अतएव वेदका सत्य अकाट्य है और वेदको न मानकर अपनी बुद्धिके बलसे जो कुछ लोग कल्पना कर रहे हैं, कालक्रमसे उसका ध्वंस अवश्यम्भावी है।

वेद मन्त्र और ब्राह्मण-भेदसे दो प्रकारका है। इसे कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड भी कहते हैं। उपासनाकाण्ड ज्ञानकाण्डके ही अन्तर्गत है। महर्षि जैमिनिने कर्मकाण्डके तात्पर्यका निर्णय करनेके लिये पूर्वमीमांसाकी रचना की। उनका उद्देश्य धर्मजिज्ञासुके लिये वेदके कर्मकाण्डके वाक्यार्थका निर्णय करना है। धर्मजिज्ञासामें श्रुतिलिङ्गप्रकरणादि ही प्रमाण हो सकते हैं और वहाँ प्रमाणके लिये अनुभवकी आवश्यकता नहीं होती। श्रुतिप्रतिपादित कर्मके फलरूपमें अलौकिक, अतीन्द्रिय स्वर्गादिकी प्राप्ति होगी। जब वेद अपौरुषेय और अभ्रान्त हैं, तब उनके वचनोंमें संशय करनेकी आवश्यकता नहीं। भगवान् व्यासने ज्ञानकाण्डके वाक्योंके विचारके लिये उत्तर-मीमांसाकी रचना की। उनके ग्रन्थमें श्रुत्यादि और अनुभव दोनों ही प्रमाण हैं; क्योंकि ब्रह्मज्ञान यथार्थ वस्तुविषयक होनेके कारण तथा अनुभवमें ही उसका पर्यवसान होनेके कारण दोनोंको ही प्रमाणरूपमें माना गया है। निरुक्त और पारिभाषिक शब्दोंके अर्थको जाने विना वेदार्थका तात्पर्य नहीं जाना जाता। अतएव श्रुत्यादि क्या हैं तथा उनका प्राबल्य-दौर्बल्य कहाँ और किस रूपमें है, यह महर्षि जैमिनिके सूत्रोंमें पाया जाता है।

लिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्य-मर्थविप्रकर्षात्। (जै० सू० ३।३।१४)

जिस वाक्यमें अन्य किसी वाक्यकी अपेक्षा नहीं रहती, उसे श्रुति कहते हैं। शब्दके अर्थप्रकाशकी सामर्थ्यको 'लिङ्ग' कहते हैं। अन्य योग्यपदकी आकाङ्क्षा रखनेवाले पदसमूहको 'वाक्य' कहते हैं। अङ्गभूत (गौण) वाक्यकी अपेक्षा रखने-वाले प्रधान वाक्यको 'प्रकरण' कहते हैं। क्रमपठित अर्थके साथ क्रमपठित अर्थके सम्बन्धको 'स्थान' कहते हैं। सञ्ज्ञा-सादृश्यको 'समाख्या' कहते हैं।

वेदमें सर्वत्र इन पारिभाषिक शब्दोंका व्यवहार देखनेमें आता है। इसलिये वेदाध्ययनके पूर्व इनका अर्थ जानना आवश्यक है। कर्तव्यके विषयमें अनुभवकी अपेक्षा नहीं रहती, इसमें श्रुतिका श्रवण करते ही कर्तव्य-विषयमें प्रवृत्त होना पड़ता है; क्योंकि कर्तव्य पुरुषके अधीन है, अर्थात् करना या न करना पुरुषकी इच्छापर निर्भर करता है।

अपौरुषेय वाक्यका नाम वेद है। स्वर्गादि अलौकिक विषयोंमें वेद ही एकमात्र प्रमाण है। प्रत्यक्षादिके द्वारा जिन विषयोंका निरूपण नहीं हो सकता, ऐसे विषयोंमें अपौरुषेय वेद ही प्रमाण हो सकता है। इसीका दूसरा नाम 'शब्दप्रमाण' है। महर्षि जैमिनिके मतसे शब्द नित्य है, परन्तु न्याय-वैशेषिकादि दर्शनोंके मतसे शब्द अनित्य है। शब्दके नित्य होनेमें कोई प्रमाण नहीं। शब्दका कारण विद्यमान होनेसे उसे नित्य नहीं कहा जा सकता। भेरी आदिमें दण्ड आदिके आघातसे तथा काष्ठ आदिके विभाग करनेसे शब्दकी उत्पत्ति होती है। ध्वनि और वर्णके भेदसे शब्द दो प्रकारका होता है। शब्दकी नियमित संख्या न होनेपर भी ककारादि वर्णगत सामान्यकी अर्थात् कत्वादि जातिकी नियमित संख्या होनेके कारण ६० वर्ण-संख्याका व्यवहार होता है। शब्द और अर्थका सङ्केतकृत सम्बन्ध है। इसलिये शब्दके द्वारा नियमित अर्थका बोध होता है।

सांख्यशास्त्रके मतसे योग्यशब्दजनित बुद्धिवृत्तिजन्य शब्दार्थ-ज्ञानका नाम शब्द है। अर्थात् जो उपदेशवाक्य या शब्द आप्त या योग्य होते हैं, उनके श्रवणानन्तर जो बोधरूप अन्तःकरणकी वृत्तिका उदय होता है, उसीको शब्दप्रमाण कहा जाता है। न्यायशास्त्रके अनुसार जिस अर्थबोधके लिये आप्तपुरुषका उपदेश होता है अथवा जिस अर्थबोधके लिये आप्त या योग्यतादिसम्पन्न उपदेश होते हैं, उस अर्थबोधका नाम शब्दप्रमाण है। शब्दसे उत्पन्न अर्थज्ञान ही शाब्दी प्रमा है। हान, उपादान और उपेक्षा-बुद्धि शाब्दी प्रमाका फल है। दृष्टार्थ और अदृष्टार्थ भेदसे शब्द दो प्रकारके होते हैं। जिसका फल इस लोकमें ही देखा जाता है, उसको दृष्टार्थ कहते हैं तथा जिसका फल इस लोकमें नहीं देखा जाता, उसे अदृष्टार्थ फल कहते हैं। न्यायके मतसे शब्दके साथ अर्थका सम्बन्ध नहीं होता, क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणके द्वारा उक्त सम्बन्धका ज्ञान नहीं होता। वस्तुतः यदि शब्द और अर्थका सम्बन्ध हो तो 'अन्न' शब्दके उच्चारणमात्रसे मुँह भर जाय और 'अनल' शब्दके उच्चारणमात्रसे मुँह जलने लगे। परन्तु ऐसा न होनेके कारण यह निश्चय किया जा सकता है कि शब्द और अर्थका सम्बन्ध नहीं है। शब्द और

अर्थका तादात्म्य या जन्य-जनकत्वरूप सम्बन्ध न रहनेपर भी सामयिकत्व और सांकेतिकत्वरूप सम्बन्ध रहता है। अतएव जिस शब्दके साथ जिस अर्थका साङ्केतिक सम्बन्ध रहता है, उस शब्दसे उस अर्थका बोध होता है, दूसरे अर्थका बोध नहीं होता। अतएव समस्त शब्द समस्त अर्थोंके प्रतिपादक नहीं होते।

न्यायदर्शनके मतसे शब्द अनित्य है, क्योंकि शब्दका आदि और कारण होता है। संयोग और विभाग भी शब्दके कारण हैं, फिर क्यों न संयोग और विभागसे शब्दोत्पत्ति मानी जाय?

(१) जिनकी उत्पत्ति होती है तथा जो उत्पत्ति-धर्मवाले होते हैं, वे अनित्य कहलाते हैं। जो पदार्थ त्रिकालस्थायी अथवा उत्पत्ति-विनाशरहित हैं, वे ही वस्तुतः नित्य हैं। ध्वंस और प्रागभावकी भी क्रमशः उत्पत्ति और विनाश होनेके कारण ये भी अनित्य हैं।

(२) जो जातिमान् होकर इन्द्रियग्राह्य होता है, वह अनित्य होता है। शब्द भी शब्दत्वजातिविशिष्ट तथा श्रवणेन्द्रियग्राह्य है, अतएव अनित्य है।

(३) उच्चारणके पूर्व शब्दकी उत्पत्ति कभी नहीं होती तथा उपलब्धिका प्रतिबन्धक कोई कारण भी नहीं देखा जाता। इससे ज्ञात होता है कि शब्द अनित्य है। शब्दके नित्य होनेपर उच्चारणके पूर्व भी उनका ज्ञान होता।

(४) शब्दविनाशका कोई कारण नहीं प्राप्त होता, इसलिये भी शब्दको नित्य नहीं कहा जा सकता। विनाशका कारण न होनेसे यदि शब्द नित्य होता तो शब्दके अश्रवणका कारण न होनेसे सर्वदा शब्दका श्रवण होना चाहिये था। परन्तु शब्दायमान ढोल, मृदङ्ग आदिसे हाथका वियोग होते ही शब्दका अभाव हो जाता है। अतएव शब्दके विनाशका कारण नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

वैशेषिकदर्शनमें महर्षि कणादने 'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्' इस सूत्रसे धर्मको वेदमूलक या वेदप्रमाणक स्वीकार किया है। अतएव पहले यह जानना उचित है कि वेदको ही क्यों प्रमाण माना जाय। महर्षि कहते हैं कि उनका अर्थात् ईश्वरका वचन होनेके कारण वेद प्रमाण हैं। वेदमें धर्मका प्रतिपादन होनेसे वेद प्रमाण हैं, जिनके प्रतिपादनमें वेद प्रमाण हैं, उनका तदपेक्षा अधिक माहात्म्य होगा—इसके कहनेकी आवश्यकता नहीं। धर्म और अधर्मका लौकिक प्रत्यक्ष नहीं होता, इनके अस्तित्वमें एकमात्र वेद ही प्रमाण हैं, वेद पुरुषरचित हैं, वेदमें जो वाक्यरचना-कौशल है, वह बुद्धिपूर्वक हुआ है। वक्ताने आलोचना करके ही वेदकी रचना की है। वेदके ब्राह्मण-भागमें जो संज्ञाकर्म, अर्थात् वृक्ष, लता आदिका नामकरण देखा जाता है, उससे ज्ञात होता है कि ज्ञानपूर्वक ही वेदोंकी रचना हुई है। वेदमें 'दा' धातुका प्रयोग होनेसे भी सर्वज्ञपुरुषरचितत्वका प्रमाण प्राप्त होता है। स्वीकरणार्थक 'प्रति' पूर्वक 'ग्रह' धातुका प्रयोग भी वेदके पुरुषकर्तृत्वका प्रमाण है।

सांख्यके मतसे शब्द और अर्थका वाच्य-वाचकलक्षण सम्बन्ध है, अर्थात् शब्द वाचक है और अर्थ वाच्य। आप्तोपदेश, वृद्धव्यवहार, प्रसिद्धपदसन्निधान आदि उपायोंके द्वारा शब्द और अर्थका सम्बन्ध सिद्ध होता है। आप्तोपदेश आदिके द्वारा लौकिक शब्दमें व्युत्पन्न पुरुषको वेदार्थका ज्ञान होता है। वेद नित्य नहीं हैं, क्योंकि उनकी उत्पत्तिविषयक श्रुतियाँ पायी जाती हैं। वेद पौरुषेय या पुरुषनिर्मित नहीं हैं, क्योंकि उनका रचयिता कोई योग्य पुरुष नहीं हो सकता और मुक्त या अमुक्त पुरुष दोनोंमेंसे किसीमें वह योग्यता नहीं। वेद अपौरुषेय हैं अवश्य, परन्तु कूटस्थ नित्य नहीं। इसका प्रमाण स्वयं वेद ही है। शब्द स्फोटात्मक नहीं होता, क्योंकि 'कमल' आदि शब्दोंमें ककारादि वर्णोंकी प्रतीति होती है।

वेदान्तके मतसे जिस वाक्यका तात्पर्यविषयीभूत (तात्पर्यप्रकाशक) संसर्ग प्रमाणान्तरद्वारा बाधित नहीं होता, वही वाक्य प्रमाण होता है। शब्दसे जो ज्ञान होता है, वह अपरोक्ष भी हो सकता है। वाचस्पति मिश्रके मतसे उसका मानस प्रत्यक्ष होता है, पद्मपादाचार्यके मतसे महावाक्यजन्य ज्ञान ही अपरोक्ष होता है। पदके ज्ञानके बाद ही पदार्थका ज्ञान होता है। इसके बाद जो असन्निकृष्ट वाक्यार्थज्ञान होता है, उसे ही शब्दज्ञान कहते हैं। किसीके भी मतसे इसे ठीक स्मृतिज्ञान नहीं कहा जा सकता, परन्तु इस ज्ञानको 'अभिज्ञा' कहना ठीक होगा।

जब तात्पर्यकी उत्पत्ति नहीं होती, तब शब्दकी लक्षणावृत्तिद्वारा पदार्थका स्मरण होता है। लक्षणाद्वारा जिस अर्थका स्मरण होता है, उसे लक्ष्यार्थ कहते हैं। सब जगह सम्बन्ध ही वाक्यका अर्थ होता है, यह नहीं कहा जा सकता; वाक्यके द्वारा स्वरूपसामान्यका भी बोध हो सकता है, अर्थात्

सम्बन्धशून्य वाक्यार्थका ज्ञान होना असम्भव नहीं है। अतएव उक्त स्थानमें इस वाक्यको अखण्डार्थबोधक वाक्य कहा जाता है। जैसे 'प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः'—अत्युज्ज्वल प्रकाशवान् पदार्थ ही चन्द्र है, यह वही देवदत्त है (सोऽयं देवदत्तः) इत्यादि वाक्योंसे केवल चन्द्र और देवदत्तका ही स्वरूप जाना जाता है, पूर्वदृष्ट देवदत्तके साथ वर्तमान देवदत्तका सम्बन्ध नहीं जाना जाता। इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' (अर्थात् तुम वही हो) इस स्थलमें जीव और ब्रह्मकी चैतन्यरूपमें एकता अथवा अभेदार्थका ही ज्ञापन होता है, जीव और ब्रह्मका किसी प्रकारका सम्बन्ध प्रकाशित नहीं होता। इस प्रकारके वाक्यकी अखण्डार्थबोधकता तात्पर्य-ज्ञानसे हो सकती है। उक्त तात्पर्यज्ञान उपक्रम-उपसंहारादि छः प्रकारके तात्पर्यनिर्णायक लिङ्गोंद्वारा निर्णीत होता है। वेदान्तमें साक्षात् सम्बन्धकी लक्षणा तीन प्रकारकी होती है, यथा—जहत्स्वार्था, अजहत्स्वार्था, भागत्यागलक्षणा या जहद-जहत्स्वार्था। (१) जहत्स्वार्था—जैसे गङ्गायां घोषः (गङ्गा-तटपर घोष), (२) अजहत्स्वार्था जैसे कौएसे बलिकी रक्षा करो, (३) भागत्यागलक्षणा शक्यतावच्छेदकके त्यागके द्वारा व्यक्तिमात्रके बोधमें प्रयोजक बनती है, अर्थात् शक्यार्थके एक अंशका त्याग कर एक अंशके बोधमें वक्ताका तात्पर्य निहित रहता है। जैसे 'यह वही देवदत्त है' यहाँ 'यह' और 'वही' दोनों पद विशेष्य 'देवदत्त' के विशेषण हैं। परन्तु 'यह' पदका अर्थ अपरोक्ष और 'वही' पदका अर्थ परोक्ष है—परस्परविरोधी होनेके कारण इनका त्याग कर विशेष्य 'देवदत्त' मात्रका ग्रहण लक्षणाद्वारा होता है।

किसी वाक्यको सुनकर जो वाक्यार्थका बोध होता है, उसके चार कारण हैं—योग्यता, आकाङ्क्षा, आसत्ति और तात्पर्यज्ञान। इन चारोंके विना किसी वाक्यका अर्थबोध नहीं हो सकता। जिस वाक्यका जो तात्पर्य होता है तद्विषयक संसर्गके बाध न होनेका नाम योग्यता है। पारस्परिक जिज्ञासा-विषयक योग्यताका नाम आकाङ्क्षा है, जसे क्रियाके श्रवणके अनन्तर कारकका ज्ञान होता है। अव्यवधानपदजन्य पदार्थ-की उपस्थितिको आसत्ति कहते हैं। इनका प्रतिपत्तिजनकत्व ही तात्पर्यार्थ कहलाता है। अर्थात् जिस वाक्यके द्वारा जिसकी प्रतीति हो सकती है, वह उस वाक्यका तात्पर्यार्थ है। वेद आदिका वक्ता नहीं है और वक्ताकी इच्छा ही तात्पर्य है। तात्पर्यका यह लक्षण वेदमें नहीं घटता। न्यायके मतसे वेद ईश्वरकृत है, अतएव इसमें वक्ताकी इच्छा है; तथापि ईश्वर वेदका आनुपूर्विक परिवर्तन नहीं करते, क्योंकि इससे वेद-मन्त्रोंका फल सिद्ध नहीं होता। अतएव फलतः नित्यवेदकी ही नित्यता स्वीकार की जाती है।

वेदान्तके मतसे वेद कल्पान्तस्थायी और नित्य हैं और प्रति कल्पमें इसका एक ही रूप होनेके कारण ईश्वरप्रणीत भी नहीं, बल्कि उच्चारित या निःश्वास-प्रश्वासमात्र होते हैं। इस मतसे ब्रह्मके सिवा दूसरा कोई पदार्थ स्थायी, नित्य नहीं है। वैदिक वाक्योंके तात्पर्यज्ञानके छः कारण होते हैं—(१) उपक्रमोपसंहार (२) अभ्यास (३) अपूर्वता (४) फल (५) अर्थवाद और (६) उपपत्ति। अभ्यासका अर्थ है बारंबार कहना। प्रमाणान्तरके द्वारा अनधिगत विषयका नाम अपूर्वता है। प्रसङ्गज्ञानका प्रयोजन ही फल कहलाता है। ग्रन्थप्रशंसा या उपयोगिताका वर्णन अर्थवाद है। युक्ति या प्रमाणान्तरके द्वारा अविरोध दिखलाना उपपत्ति है। इन सब लक्षणोंको देखकर वेदान्तवाक्योंका तात्पर्य निश्चित किया जाता है। जो लोग ऊहापोहकुशल हैं तथा गुरुके समीप शास्त्राभ्यास कर चुके हैं, उन्हें ही यथार्थ ज्ञान होते देखा गया है। दूसरोंको संशय-विपर्ययरहित ज्ञान होते सुना या देखा नहीं जाता। जो लोग पूर्वजन्ममें गुरुके समीप अध्ययन करके भी विषय-वासनादि प्रतिबन्धके कारण ज्ञान प्राप्त नहीं करते, उनको इस जन्ममें अथवा परजन्ममें वामदेव आदिके समान प्रतिबन्धके नाश होनेपर ज्ञानप्राप्ति सुनी जाती है। दूसरे लोगोंको वेदाध्ययन करके ज्ञान उत्पन्न करना पड़ता है। 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इत्यादि श्रुतियाँ इसीका प्रमाण दे रही हैं। स्वयमेव शास्त्र पढ़कर पण्डित होनेपर उससे अभ्रान्त ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होती। इसी कारण शास्त्र कहते हैं—

> आचार्यात्पादमादत्ते पादं शिष्यः स्वमेधया।
> कालेन पादमादत्ते पादञ्च ब्रह्मचारिभिः॥

अर्थात् आचार्यके समीप वेदश्रवण करनेसे शिष्यको एक पादकी प्राप्ति होती है, बुद्धिके द्वारा द्वितीय पादकी प्राप्ति होती है, समयके द्वारा तृतीय पादकी प्राप्ति होती है, सहपाठियोंके साथ विचार करनेसे चतुर्थ पादकी प्राप्ति होती है। यही वेदपाठका सुगम उपाय है। विना पढ़े-सुने वेदज्ञान नहीं हो सकता।

वेद अपौरुषेय होनेके कारण व्यक्तिविशेष या सम्प्रदाय-विशेषके लिये ही प्रमाण नहीं हो सकते। केवल हिंदुओंके लिये ही

वेदकी प्रमाणता है, दूसरोंके लिये नहीं—इस प्रकार समझना भूल है। क्योंकि ब्रह्म सबका ही आदि कारण है, अतएव उन्होंने सबके कल्याणके लिये वेदका प्रदान किया है। जो लोग वेदके किसी अंशको मानते हैं, किसी अंशको नहीं मानते, उनका अर्द्धजरतीयन्याय (एक साथ दो परस्परविरुद्ध बातें कहना) भी हास्यास्पद है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इन चारोंको पुरुषार्थ कहते हैं। इनमें अर्थ और काम जब धर्मसङ्गत होते हैं, तब वे पुरुषार्थ कहलाते हैं; जब वे इन्द्रियोंके आरामके लिये होते हैं, तब वे भोगवासनाकी वृद्धिका कारण बनते हैं, और पुरुषार्थका विषय नहीं होते। *बलहीन पुरुष यज्ञ-यागादिके द्वारा परलोकका साधन नहीं* प्राप्त कर सकता। इसलिये प्रचुर धन-सञ्चय करके भी जब देखा जाता है कि उसके द्वारा इस लोकके दुःखोंकी सम्यक् निवृत्ति नहीं होती, तब उसके द्वारा परलोकके दुःखोंकी निवृत्ति कैसे होगी, तब इहलोकके भोगोंमें विराग और परलोकके भोगोंमें वासना उत्पन्न होती है, तथा परलोकके साधन यज्ञादिमें मनुष्यकी प्रवृत्ति देखी जाती है। यज्ञादि समस्त कर्मोंका उद्देश्य होता है स्वर्गादिका भोग। जो लोग अर्थ और कामके लोभमें मत्त होकर इहलोकके भोग, कामिनी-काञ्चनादिमें आसक्त रहते हैं, तथा परलोकके लिये कुछ भी संग्रह करना निष्प्रयोजन समझते हैं, उनमें और पशु आदि अन्य प्राणियोंमें कोई विशेष अन्तर नहीं। धनासक्त पुरुष कभी यज्ञ-यागादि बहुव्ययसाध्य कर्म नहीं कर सकता। पुण्यसे धनकी प्राप्ति सुगम है, परन्तु धनसे पुण्यकर्म होना कठिन है। कोई-कोई भाग्यवान् ही धनके द्वारा पुण्य अर्जन करनेमें समर्थ होते हैं। पर्वतसे जिस प्रकार पत्थरोंका गिरना सुगम होता है, उसी प्रकार पुण्यसे धनकी प्राप्ति भी सुगम है। स्खलित पत्थरको उसके स्थानमें स्थापन करना जैसे कठिन है, उसी प्रकार धनसे पुण्यका होना भी कठिनतासे देखा जाता है। कोई-कोई चिरकालतक धनमें डूबे दिखलायी देते हैं; और कोई-कोई यत्नशील होकर पुण्यवान् हो जाते हैं। धनका यह स्वभाव है कि वह पुरुषको कृपण बना देता है। विशेष विचारवान् व्यक्तिके सिवा अन्य कोई पुरुष धनका सद्व्यवहार नहीं कर सकता। अतएव मध्यम श्रेणीके धनवान् विचारवान् होनेपर ही यज्ञ-दानादि कर्म करनेमें समर्थ होते हैं। जो लोग परलोकमें विश्वास नहीं करते, तथा दानादिद्वारा इहलोकका कोई उपकार नहीं समझते, उनमें धर्म-कर्मकी प्रवृत्ति नहीं देखी जाती। अतएव जो धर्ममें प्रवृत्त हो गये हैं, उनके विषयमें यह समझना चाहिये कि पूर्वजन्ममें कर्मोंके फलसे अथवा सत्सङ्गके फलसे उनमें अर्थ एवं भोगत्यागके द्वारा पारलौकिक भोगोंके श्रेष्ठत्वकी बुद्धि जाग्रत हुई है। साधारण लोगोंके अर्थ और काम ही एकमात्र पुरुषार्थ हैं। उनकी अपेक्षा जिनके विचार-बुद्धि कुछ प्रबल हैं, उनका (मध्यम श्रेणीके लोगोंका) धर्म ही एकमात्र पुरुषार्थ है। और भी एक प्रकारके लोग हैं जिनका चित्त अर्थ, काम या धर्म—किसी कर्ममें नित्यता न देखकर, शास्त्र या संतोंकी कृपासे विचारद्वारा इन कर्मोंसे उपराम हो जाता है। स्त्री, धन, धर्म, कुछ भी उन्हें सुख प्रदान नहीं कर सकते। *क्रियाद्वारा* इहलोकमें जो-जो पदार्थ प्राप्त हो जाते हैं, उनका कभी-न-कभी नाश होते देखा जाता है; स्वर्गादिके साधन यज्ञादि भी क्रिया होनेके कारण कभी-न-कभी अवश्य नष्ट होंगे। इस प्रकार विचार करके और शास्त्रोंके श्रवणसे स्वर्गादि साधनमें भी उनकी उपेक्षा बुद्धि हो जाती है। इस प्रकारका पुरुष ही मोक्षका अधिकारी है, उसके लिये मोक्ष ही एकमात्र पुरुषार्थका विषय है। ऐसे लोगोंको उत्तम अधिकारी कहा जाता है। इनके भी तीन भेद हैं। जो लोग स्त्रीको संसारका कारण जानकर, विचारपूर्वक स्त्रीका त्याग कर, संन्यास-ग्रहण-पूर्वक आश्रममें वास करते हैं और मोक्षके लिये श्रवण-मननादि करते रहते हैं, ऐसे लोग अधम श्रेणीके मुमुक्षु कहे जाते हैं। जो लोग आश्रमको भी स्त्रीहीन संसार जानकर सर्वाश्रम त्याग करके किसी स्थानमें अधिक दिन वास न कर मोक्षके लिये यत्न करते हैं, वे मध्यम श्रेणीके मुमुक्षु कहलाते हैं। जो लोग तत्त्वज्ञान प्राप्त करके भी उससे जीवनके मुख्य फल निरङ्कुश स्थितिकी शान्ति और सुखको न प्राप्तकर भूमिकारूढ़ होकर, जबतक व्युत्थानरहित अवस्थाकी प्राप्ति नहीं होती तबतक मनोनाश और वासनाक्षयके लिये प्रयत्न करते रहते हैं, उनको उत्तम मुमुक्षु कहते हैं। इस प्रकारके पुरुषार्थी ही वस्तुतः परमपुरुषार्थी कहलाते हैं। बाह्यदृष्टिसे देखनेपर इन लोगोंके द्वारा जगत्का कोई उपकार होता नहीं दिखलायी देता। परन्तु इन लोगोंका त्याग, निष्कामता, निःस्पृहता आदिका आदर्श मुमुक्षुमात्रके लिये अनुकरणीय होनेके कारण जगत्के लिये परम कल्याणप्रद है। विचारहीन पुरुष उसे तुच्छ समझ सकते हैं, परन्तु विचारवान् व्यक्ति उन्हें देखकर प्रणाम करते हैं। इन सब लोगोंके द्वारा जगत्का यथार्थ कल्याण होता है, क्योंकि ऐसे ही पुरुष ब्राह्मी

स्थितिकी पराकाष्ठाको प्राप्त कर सकते हैं। निरङ्कुश ब्रह्मानन्दके अधिकारी भी यही लोग हो सकते हैं।

वेदने सब प्रकारके पुरुषार्थियोंके लिये स्नेहमयी माताकी भाँति सब प्रकारकी व्यवस्था कर रक्खी है। महाजघन्य अभिचारक्रियासक्त पुरुषोंके लिये मारण-उच्चाटनादि आभिचारिक क्रिया अथर्ववेदमें पायी जाती है। जिनकी बुद्धि अत्यन्त मलिन है, जिनमें आसुरीभाव प्रबल है, उनको शत्रु-हननादि कर्म करके राजदण्ड भोगनेकी अपेक्षा आभिचारिक उपायसे उक्त कर्म करके वेदमार्गका अवलम्बन करनेके कारण राजदण्ड भोग नहीं करना पड़ता। इन कर्मोंके अधिकारी तामसी जीव होते हैं। धन-पुत्रादिकी इच्छा रखनेवाले यज्ञ-यागादि राजसिक कर्मोंको करके अपना अभीष्ट सिद्ध करते हैं। इसलिये व्यास भगवान्‌ने कहा है—

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति माम्।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते॥

अर्थात् धर्मसे ही अर्थ और कामकी सिद्धि होती है। मैं हाथ उठाकर चिल्लाकर कहता हूँ। तथापि कोई मेरी बात नहीं सुनता। जो लोग स्वर्ग-सुख चाहते हैं, उनके लिये भी यज्ञ-यागादि ही साधन हैं। और एक प्रकारके पुरुष स्वर्गादि भोगोंसे वितृष्ण हो जाते हैं, परन्तु शरीर-पोषणादिके लिये व्यस्त होकर सर्वत्याग नहीं कर सकते और संसारकर्ममें आसक्त भी नहीं होते। इस प्रकारके नातिसक्त और नातिनिर्विण्ण पुरुषके लिये वेदमें उपासना-मार्गका उल्लेख है। उपासनाके द्वारा अन्तःशुद्धि होनेपर साधनचतुष्टयसम्पन्न होकर भक्त ज्ञानका अधिकारी हो जाता है। मध्यम श्रेणीके मुमुक्षुके लिये भक्ति या उपासना-मार्गका अवलम्बन करना श्रेष्ठ है। इसके लिये भगवान्‌ने भागवतके ११ स्कन्ध, २० अध्याय, ६–१० श्लोकमें उद्धवसे कहा है—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥
निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम्॥
यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः॥

तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥
स्वधर्मस्थो यजन् यज्ञैरनाशीः काम उद्धव।
न याति स्वर्गनरकौ यद्यन्यन्न समाचरेत्॥

उत्तमाधिकारीके लिये वेदके महावाक्य ही यथेष्ट हैं। वेदान्तमें कोई साधन नहीं कहा गया है। जो साधनद्वारा प्राप्त किया जाता है अर्थात् साध्य है, वह अध्रुव ही होता है। शब्दकी शक्ति अचिन्त्य होनेके कारण तथा आत्मवस्तु (ब्रह्म) के नित्य प्राप्त होनेके कारण, उनकी प्राप्तिके लिये साधनकी अपेक्षा नहीं होती। साधन केवल असम्भावनादि दोषोंको दूर करता है। देखा जाता है कि शुकदेवजीने अपने विचारद्वारा और शास्त्रद्वारा तत्त्वका निश्चय करके भी सन्दिग्ध चित्तसे व्यासजीसे यह जिज्ञासा की थी कि जगदाडम्बर कहाँसे आया। व्यासजीने भी शास्त्रके अनुसार उनको उपदेश देकर जब देखा कि उनका संशय दूर नहीं हुआ, तब उनको भ्रम दूर करनेके लिये जनकके पास भेजा। ब्रह्मज्ञानके लिये एक महावाक्य यथेष्ट होते हुए भी जबतक चित्तशुद्धि नहीं हो जाती और संशय-विपर्ययादि चित्तको दूषित किये रहते हैं तबतक सौ बार महावाक्यके सुननेपर भी ज्ञान नहीं होता।

साधनद्वारा जब चित्त निर्मल हो जाता है, तब गुरुके मुखसे एकमात्र महावाक्य सुननेसे ही—जिन्हें 'तत् त्वं' पदके वाच्य-लक्ष्यार्थादिका बोध है, उन्हें तत्काल ही ज्ञान हो सकता है। नारद और सुकेशादिके तात्कालिक ज्ञानकी कथा उपनिषद्‌में प्राप्त होती है। शब्दमें एक अलौकिक शक्ति है। उस शक्तिके असम्भावनादि प्रतिबन्धके द्वारा अवरुद्ध होनेके कारण शब्द यथार्थ ज्ञान उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं होता। इसलिये जिस महापुरुषके वाक्यमें श्रोताका विश्वास नहीं, उनसे महावाक्य-श्रवण या वेदान्त-पाठ करनेसे श्रोता कभी तत्त्वज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता। गुरुको शुद्धाचारी, ब्रह्मनिष्ठ और श्रोत्रिय होना चाहिये तथा श्रोताको कुतर्क, विषयासक्ति, देहात्मबुद्धि और बुद्धिमान्द्यका त्याग कर गुरुके वाक्यमें एकनिष्ठ होना चाहिये। इस प्रकारसे ही तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति हो सकती है।

शान्ति-सन्देश

(लेखक—पूज्यपाद श्रीभोलानाथजी महाराज)

विकासवादके नियमानुसार मनुष्य एक महत्त्वपूर्ण हस्ती है जो कि अस्तित्व, जीवन और बुद्धिके अनेक दरजे तै करके आयी है। इसमें सन्देह नहीं कि उन तमाम या कुछ गुणोंका इसमें होना जरूरी है, जिनसे यह गुजरता आया है; लेकिन इसके साथ-साथ उसमें वे नये गुण होने बहुत ही आवश्यक हैं कि जो पहली योनियोंमें मौजूद न थे। यदि मनुष्य मानव-शरीरमें अपने नये गुणोंका प्रकाश करनेमें आनाकानी करे और पहले गुणोंकी किसी वजहसे वृद्धि करने लगे तो यह बात उसके गौरवके योग्य नहीं।

जिन्दगी और हस्तीके तीन दरजे हैं—

(१) केवल हस्ती या बेहोशी।

(२) दानाई (बुद्धिमानी)—स्वार्थके लिये।

(३) दानाई (विवेक)—अहंकारविहीनता और स्वार्थत्यागके साथ। पहलेमें कोई हरकत (कर्म) नहीं होती।

दूसरेमें सब कुछ अपने लिये चाहा जाता है और सबको अपनेसे मिलानेकी चेष्टा की जाती है।

तीसरेमें अपना आपा (व्यष्टिभाव) कुलके लिये (समष्टिके हेतु) त्याग किया जाता है और अंश (व्यष्टि) को कुल (समष्टि) से मिलाकर अपनी-अपनी आंशिक सत्ता (individual life) को पूर्णता या कुल्लियतका मर्तबा (पद) दिया जाता है।

संसारमें जिस क़दर कष्ट है, यदि उसका किसी मनुष्यको पूरा अनुभव हो जाय तो वह स्वभावतः ही करुणासे भर जायगा और उसका दिल चाहने लगेगा कि वह किस सम्भव उपायसे इस दुःखको कम करे और अगर ऐसा न हो सके तो उसमें किसी भी अपनी क्रियासे इज़ाफ़ा (वृद्धि) न करे। गोया जहाँतक मुमकिन (सम्भव) हो सके, शान्ति ही हम लोगोंका लक्ष्य रहे।

जीवनकी क्रियामें दो सिद्धान्त सामने रहने चाहिये—

(१) जो हरकत (क्रिया) अपने लिये पसंद न हो, वह दूसरोंके लिये भी उचित न समझी जाय।

(२) जहाँतक सम्भव हो, शान्तिका स्थापन किया जाय।

दुनियाकी दुःखपूर्ण अवस्था हमको इस सिद्धान्तकी ओर ले जाती है कि हम अपनी शक्तिको इस उद्देश्यसे खर्च कर दें कि दुनियामें दुःखका नामनिशान न रहे। और जबतक यह समझमें न आवे उस वक़्ततक दुःख-को बढ़ानेवाले असबाब (कारण) जो कि हमारी सामर्थ्यमें हैं, तमाम कम कर दिये जायँ।

इस समय दुनियाकी हालत किस क़दर ख़ौफ़नाक (भयावह) है! संसारमें एक हलचल-सी मच रही है, हर दिल काँप रहा है। न जाने दूसरा सेकिण्ड क्या दिखायगा और जबतक कोई गर्दिश (आपत्ति) प्रकट-रूपमें सामने नहीं आती उस समयतक हौलनाक (दुःखदायक) ख़याल ही किस गर्दिशसे कम है?

दुनियामें शान्ति मोहब्बत और एकतासे मिल सकती है। जिस तरह शरीरके भिन्न-भिन्न अंगोंमें एकत्वका धागा 'मैं' मौजूद है और वह 'मैं' सारे भिन्न-भिन्न अंगोंमें अपने-आपको देखकर प्रेम करता है, उसी तरह जबतक दुनियाके कुल शरीरोंमें कोई एकत्वका सम्बन्ध न देखा जायगा उस समयतक प्रेमका होना कठिन है। और जब भिन्न-भिन्न शरीरोंमें एक ही 'मैं' देखा जायगा तो दूसरोंसे नेकी करना अपनेसे नेकी करना होगा। इस उसूलसे तर्के-ख़ुदी यानी अहंकारके त्यागमें वह मजा (आनन्द) मिलता है कि जो जज़्बा (भाव) ख़ुदी या स्वार्थसे नहीं मिलता।

जबतक इस उसूलपर पुख़्तगी न होगी दुनियासे कशमकश (खींचातानी) का निकलना मुश्किल है, और जबतक कशमकश रहेगी तबाही (विनाश) और तकलीफ़ बढ़ती ही जायगी ।

हमको चाहिये कि हम दुनियाके तमाम अंगों और अंशोंमें ईश्वरत्वको देखकर प्यार करना सीखें—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥

प्रश्न—इस उसूल (सिद्धान्त) से तो दूसरे हमको हड़प कर जायँगे ?

उत्तर—यह सिद्धान्तके विरुद्ध है । जब हमारे दिलमें पूरी मोहब्बत दूसरोंके लिये पैदा हो जायगी और पुरजोर (प्रबल) हो जायगी तो बजाय इसके कि दूसरा हड़प करे वह खुद ही इस प्रेममें हड़प हो जायगा । अगर यह उसूल हमको नाकामयाब (असफल) रखता है तो क्या दूसरा उसूल—मुखालिफ़त (विरोध) का—कामयाब करता है ? अगर नहीं, तो उसको तो अजमा देखा, अब इसको भी अजमा देखिये । प्रभु जरूर सहायता करेंगे ।

मज़ा रखता है ज़ख़्मे ख़ंजरे इश्क़ ।
कभी ए बुल हवस खाया तो होता ॥

प्रेमके ज़ख़्ममें वह आनन्द है कि जो केवल अनुभवसे ही सम्बन्ध रखता है, न कि वाणी और लेखनीद्वारा प्रकट किया जा सकता है । ऐ मोहमें फँसे हुए पुरुष, अगर तू भी इस आनन्दका अनुभव करना चाहता है, तो आ, इस प्रेमके ज़ख़्मको अपने हृदयका शृङ्गार बना ।

तप

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

शास्त्रोंमें तीन प्रकारके पाप बतलाये गये हैं (१) कायिक अर्थात् शरीरसे होनेवाले, (२) वाचिक अर्थात् वाणीसे होनेवाले और (३) मानसिक अर्थात् केवल मनसे होनेवाले । वैसे तो तीनों प्रकारके पापोंमें मनका संयोग रहता है, क्योंकि मनके बिना ज्ञानपूर्वक कोई भी क्रिया नहीं हो सकती ।

भगवान् मनुने कायिक पाप तीन बतलाये हैं—बिना दिया हुआ धन लेना, विधिरहित हिंसा और परस्त्रीगमन*। वाचिक पाप चार हैं—कठोर वचन कहना, झूठ बोलना, चुगली करना और बे-सिर-पैरकी व्यर्थ बातें करना ।† और मानसिक पाप हैं—दूसरेका माल मारनेका दाँव सोचना, मनसे दूसरेका अनिष्ट-चिन्तन करना और मैं शरीर हूँ, इस प्रकारका झूठा अभिमान करना ।‡

इन त्रिविध पापोंका नाश करनेके लिये भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें तीन प्रकारके तप बतलाये हैं—शारीरिक तप, वाङ्मय तप और मानस तप । उक्त तीन प्रकारके तपका स्वरूप भगवान्‌ने इस प्रकार बतलाया है—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥
(१७ । १४)

'देवता, ब्राह्मण, गुरु एवं ज्ञानी जनोंका पूजन, शरीर, द्रव्य एवं आचरणकी पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य एवं अहिंसा—यह शरीरसम्बन्धी तप कहा जाता है ।'

---

* अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः ।
परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम् ॥
(१२ । ७)

† पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चापि सर्वशः ।
असम्बद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम् ॥
(मनु० १२ । ६)

‡ परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्टचिन्तनम् ।
वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम् ॥
(मनु० १२ । ५)

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥
(१७ । १५)

'जो उद्वेगको न करनेवाला, प्रिय और हितकारक एवं यथार्थ भाषण है तथा जो वेद-शास्त्रोंके पठन एवं परमेश्वरके नाम-जपका अभ्यास है, वही वाणीसम्बन्धी तप कहा जाता है।' तथा—

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥
(१७ । १६)

'मनकी प्रसन्नता, शान्तभाव, भगवच्चिन्तन करनेका स्वभाव, मनका निग्रह और अन्तःकरणकी पवित्रता—इस प्रकारका यह मनसम्बन्धी तप कहा जाता है।'

शारीरिक पापोंमें विना दिये हुए धनके ग्रहणरूपी पापका नाश शौच अर्थात् द्रव्यकी पवित्रतासे होता है। न्यायोपार्जित द्रव्य ही पवित्र होता है और जिसने हकका पैसा ग्रहण करनेका ही नियम ले लिया है, उससे फिर अदत्तोपादानरूप पापकर्म नहीं बन सकता। हिंसारूपी पापका नाश अहिंसारूपी तपसे होता है; जिसने अहिंसाका व्रत ले लिया है, उसके द्वारा हिंसा कभी हो ही नहीं सकती। और जिसने ब्रह्मचर्यका व्रत ले लिया है, उसके द्वारा परस्त्रीगमन हो ही कैसे सकता है?

इसी प्रकार जिसने अनुद्वेगकर एवं प्रिय वचन बोलनेका नियम ले लिया है, उसके मुखसे परुष वचन कभी निकल ही नहीं सकते। जिसने हितकर वाणी बोलनेका सङ्कल्प कर लिया है, वह किसीकी चुगली कैसे कर सकता है और जिसने सत्यभाषण तथा स्वाध्यायके अभ्यासका नियम ले लिया है, वह न तो झूठ बोल सकता है और न असम्बद्ध प्रलाप ही कर सकता है। क्योंकि वह सदा सतर्क रहेगा कि मेरे मुखसे कोई झूठ बात भूलसे भी न निकल जाय, किन्तु जो असम्बद्ध तथा व्यर्थकी बातें करता है उसके द्वारा पद-पदपर असत्यभाषणकी गुंजाइश रहती है। सत्यभाषणके लिये मितभाषणकी भी आवश्यकता होती है। जिसकी वाणीपर लगाम नहीं है, जो अनर्गल बोलता रहता है, उसके द्वारा, और नहीं तो, भूलमें ही असत्यभाषण हो सकता है।

मानस पापोंमें दूसरेके धनको हड़पनेका भाव एवं दूसरेका अनिष्टचिन्तन तथा मैं देह हूँ, इस प्रकारका मिथ्याभिमान—ये तीनों ही अन्तःकरणकी संशुद्धिरूपी तपसे नष्ट हो जाते हैं।

उक्त तीनों प्रकारके तपकी विस्तृत व्याख्या गीतातत्त्वाङ्कके पृष्ठ ८६३ से ८६५ तक ऊपर उद्धृत किये हुए तीनों श्लोकोंकी व्याख्यामें देखनी चाहिये।

इस प्रकारके तपको भगवान्ने मनुष्यमात्रके लिये अवश्यकर्तव्य बतलाया है और साथ ही यह भी कहा है कि बुद्धिमानोंद्वारा किया हुआ तप अन्तःकरणको पवित्र करनेवाला है।* 'तप' का अर्थ है तपाना। तपके द्वारा मन, इन्द्रिय एवं शरीरको तपाया जाता है; इसीलिये उसे 'तप' कहते हैं। जैसे सोनेको अग्निमें तपानेसे उसके सारे विकार जल जाते हैं और उसका शुद्ध निखरा हुआ रूप सामने आ जाता है, उसी प्रकार तपके द्वारा मनुष्यके अन्तःकरण तथा इन्द्रियोंका मल नष्ट होकर वे पवित्र हो जाते हैं। गीताने तपको पुनः तीन भेदोंमें विभक्त किया है—सात्त्विक, राजस, तामस। सात्त्विक तपका लक्षण इस प्रकार किया गया है—

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥
(१७ । १७)

---

* यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥
(गीता १८ । ५)

'फलको न चाहनेवाले योगी पुरुषोंद्वारा परम श्रद्धासे किये हुए उस पूर्वोक्त तीन प्रकारके तपको सात्त्विक कहते हैं।' राजस तपका स्वरूप इस प्रकार है—

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्॥
(१७।१८)

'जो तप सत्कार, मान और पूजाके लिये अथवा केवल पाखण्डसे ही किया जाता है, वह अनिश्चित एवं क्षणिक फलवाला तप यहाँ राजस कहा गया है।' और तामस तपका लक्षण इस प्रकार है—

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्॥
(१७।१९)

'जो तप मूढतापूर्वक हठसे, मन, वाणी और शरीरकी पीड़ाके सहित दूसरेका अनिष्ट करनेके लिये किया जाता है, वह तामस कहा गया है।'

उपर्युक्त कायिक, वाचिक, मानसिक तप जिस किसी उद्देश्य अथवा भावसे किये जायँ, जितने समयतक और जितने अंशमें उनका आचरण किया जायगा, उतने समयतक एवं उतने अंशमें मनुष्य वर्तमान पापोंसे तो बचेगा ही। परन्तु मनुष्य यदि उपर्युक्त तपसे स्थायी लाभ उठाना चाहे अर्थात् अतीत एवं अनागत सभी प्रकारके शुभाशुभ कर्मोंसे छूटकर परमात्माकी प्राप्ति करना चाहे तो उसे ऊपर कहे हुए सात्त्विक तपका ही आचरण करना चाहिये। क्योंकि मोक्ष अथवा भगवत्प्राप्तिके लिये कर्मकी उतनी प्रधानता नहीं है जितनी भावकी। कर्म चाहे ऊँचा न हो, कर्ताका भाव यदि ऊँचा है तो उसका फल ऊँचा ही होगा। इसके विपरीत यदि कर्म ऊँचे-से-ऊँचा हो, किन्तु भाव नीचा हो, तो उसका फल नीचा ही होगा। पूर्ण निष्कामभावसे केवल कर्तव्य समझकर अथवा भगवत्प्राप्ति, भगवत्प्रेम अथवा मुक्तिकी कामनासे किये हुए शिल्प, व्यापार एवं सेवा आदि लौकिक दृष्टिसे छोटे माने जानेवाले कर्म भी महान् फलके देनेवाले होते हैं और लौकिक फलकी कामनासे किये हुए यज्ञ, दान, तप आदि ऊँचे-से-ऊँचे कर्म भी तुच्छ फल देनेवाले ही होते हैं। क्योंकि जिस उद्देश्यसे जो कर्म किया जाता है, उसका वैसा ही फल मिलता है। जो कर्म स्त्री, पुत्र, धन, मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा अथवा स्वर्गसुख आदिके लिये किया जाता है, उसके फलरूपमें यही नाशवान् पदार्थ मिलते हैं। स्वर्गसुख यद्यपि इहलौकिक सुखोंकी अपेक्षा अधिक स्थायी है, किन्तु है वह अनित्य ही। क्योंकि स्वर्गप्राप्ति करानेवाले शुभकर्मके समाप्त हो जानेपर स्वर्गस्थ जीव पुनः मर्त्यलोकमें ढकेल दिये जाते हैं (गीता ९।२१)। इसीलिये सत्कार, मान, पूजा आदिके लिये अथवा दम्भसे किये जानेवाले राजस तपको भगवान्ने अध्रुव और चल बतलाया है। अध्रुव तो उसे इसलिये कहा कि उससे सत्कार, मान, पूजा आदिका मिलना निश्चित नहीं है। जिनकी दृष्टिमें तपका महत्त्व है, जो तप करनेवालोंको ऊँची दृष्टिसे देखते हैं, उनके द्वारा तो उन्हें सत्कार, मान, पूजा आदि मिल भी सकते हैं; परन्तु जिनकी दृष्टिमें तपका कोई महत्त्व नहीं है, जो इसे अनावश्यक समझते हैं, वे लोग उनका कोई सत्कार नहीं करेंगे। और अस्थायी उसको इसलिये कहा कि मान, सत्कार आदि उससे मिलनेवाली वस्तुएँ अनित्य हैं; उनका सम्बन्ध इसी लोकसे है और जबतक हम मान-सत्कारके योग्य कर्म करते हैं, तभीतक हमें ये मिलते हैं। अवश्य ही तामस तपकी भाँति राजस तप निषिद्ध नहीं है।

इसलिये ऊँचे-से-ऊँचा फल चाहनेवालोंको ऊपर कहे हुए सात्त्विक तपका ही आचरण करना चाहिये।

क्योंकि उपर्युक्त तपरूप कर्म स्वरूपतः सात्त्विक होनेपर भी वास्तवमें सात्त्विक तभी होता है जब हमारा भाव भी सात्त्विक हो अर्थात् उसे हम किसी लौकिक कामनाके लिये न करें। हमारा भाव यदि राजस है तो उसका फल भी उसके अनुसार ही होगा। रजोगुण एवं तमोगुणका फल भगवान्ने क्रमशः दुःख एवं अज्ञान बतलाया है (गीता १४।१७)। इसलिये कल्याण-कामी पुरुषके लिये राजस एवं तामस दोनों ही प्रकारके तप त्याज्य हैं।

तामस तप तो स्वरूपसे ही त्याज्य है। क्योंकि उसका तो आरम्भ ही अज्ञान एवं हठसे होता है और अज्ञान एवं हठ तमोगुणके कार्य होनेसे अधोगति-को ले जानेवाले हैं (गीता १४। १८)। और जो तप दूसरेका अनिष्ट करनेके उद्देश्यसे किया जाता है, वह तो प्रत्यक्ष ही हानिकारक है, उसके तो मूलमें ही हिंसा रहती है; अतः उसका फल नरकोंकी प्राप्ति होना ही चाहिये।

जो अशास्त्रविहित घोर तप करते हैं, उनको भगवान्ने अज्ञानी एवं आसुर स्वभाववाला बतलाया है। भगवान् कहते हैं—

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः॥
कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान् विद्ध्यासुरनिश्चयान्॥
(१७। ५-६)

'जो मनुष्य शास्त्रविधिसे रहित केवल मनःकल्पित घोर तपको तपते हैं तथा दम्भ और अहङ्कारसे युक्त एवं कामना, आसक्ति और बलके अभिमानसे भी युक्त हैं, तथा जो शरीररूपसे स्थित भूतसमुदायको और अन्तःकरणमें स्थित मुझ अन्तर्यामीको भी कृश करने-वाले हैं, उन अज्ञानियोंको तू आसुर स्वभाववाले जान।'

अशास्त्रविहित तप वास्तवमें तप ही नहीं है, वह तो तामसी पुरुषोंकी दृष्टिमें ही तप है। शास्त्र-विधिका उल्लङ्घन करके जो मनमाने ढंगसे तप आदि करते हैं, उनके विषयमें भगवान्ने कहा है कि उन्हें न तो लौकिक सिद्धि (ऐश्वर्य आदि) मिलती है, न सात्त्विक सुख मिलता है और न मोक्ष अथवा भगवत्प्राप्तिरूप परमगति ही मिलती है*। इसलिये कौन-सा तप करना चाहिये और कौन-सा नहीं करना चाहिये, इसका निर्णय भी हमें शास्त्रोंके द्वारा ही करना चाहिये। भगवान् कहते हैं—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥
(गीता १६। २४)

'इससे तेरे लिये इस कर्तव्य और अकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है। ऐसा जानकर तू शास्त्रविधिसे नियत कर्म ही करने योग्य है।'

इससे यह सिद्ध हुआ कि तप भी हमें वही करना चाहिये, जो शास्त्रविहित हो। इस प्रकारके तपको ही भगवान्ने गीता (१८। ५) में अवश्यकर्तव्य बताया है। अशास्त्रविहित तप करनेवालोंकी बुरी गति होती है।

केवल तपसे ही मनुष्य सारे पापोंसे मुक्त होकर परमात्माको प्राप्त हो सकता है, यह बात भगवान्ने गीताके चौथे अध्यायमें कही है। उक्त अध्यायके २८वें तथा ३१वें श्लोकोंको मिलाकर पढ़नेसे यह बात स्पष्ट हो जाती है। २८वें श्लोकमें भगवान्ने तपको भी एक यज्ञ बतलाया है और ३१वें श्लोकमें भगवान्ने यज्ञशेषरूप अमृतको खानेवालोंको सनातन ब्रह्मकी प्राप्ति बतलायी है। ४। ३१ में 'यज्ञ' शब्द परमात्म-प्राप्तिके सभी साधनोंका उपलक्षण है और उन साधनों-

---

* यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
(गीता १६। २३)

के अनुष्ठान करनेसे साधकोंका अन्तःकरण शुद्ध होकर उसमें जो प्रसादरूप प्रसन्नताकी उपलब्धि होती है (गीता २ । ६४-६५; १८ । ३६-३७), वही यहाँ यज्ञसे बचा हुआ अमृत समझना चाहिये । उस विशुद्ध भावसे उत्पन्न सुखमें नित्य तृप्त रहना ही उस यज्ञशेष अमृतको खाना है और उसको खानेवाला समस्त पापोंसे छूटकर सनातन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है, यही बात भगवान्‌ने उपर्युक्त श्लोकमें कही है ।

अब जब यह बात सिद्ध हो गयी कि यज्ञरूपमें केवल तपके आचरणसे ही मनुष्य समस्त पापोंसे छूट-कर परमात्माको प्राप्त हो सकता है, तब यह प्रश्न होता है कि इस प्रकारके तपरूपी यज्ञमें सबका अधिकार है अथवा किसी खास वर्ण अथवा आश्रमवालोंका ही । इसका उत्तर यह है कि गीतामें बताये हुए शारीरिक, वाचिक, मानसिक—तीनों प्रकारके तपका सभी वर्ण और सभी आश्रमवालोंको अधिकार है । केवल कुछ बातें ऐसी हैं जिनका स्वरूप अधिकारके अनुसार कुछ बदल जाता है । उदाहरणके लिये शारीरिक तपमें ब्रह्मचर्यका रूप गृहस्थाश्रमियोंके लिये कुछ और है और इतर आश्रमवालोंके लिये कुछ और है । ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ एवं संन्यासीके लिये स्त्रीसङ्गका सर्वथा त्याग कहा गया है; अतएव उनके लिये अष्टविध मैथुनका त्याग ही ब्रह्मचर्य है । किन्तु गृहस्थोंके लिये, जिन्हें पितृऋणसे मुक्त होनेके लिये सन्तानोत्पादनके हेतु ऋतुकालमें अपनी विवाहिता पत्नीके साथ सहवास करनेकी आज्ञा दी गयी है, ऋतुकालकी सोलह रात्रियोंमेंसे छः निन्दित रात्रियाँ और शेष दस रात्रियोंमेंसे आठ और रात्रियाँ छोड़कर केवल दो ही रात्रियोंमें सन्तानोत्पादनके हेतु स्त्रीसहवास करना ब्रह्मचर्यके ही अन्तर्गत माना गया है । भगवान् मनु कहते हैं—

निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन् ।
ब्रह्मचार्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन् ॥
(मनुसंहिता ३ । ५०)

अर्थात् जो मनुष्य निन्दित छः रात्रियोंमें तथा आठ अन्य रात्रियोंमें स्त्रीसङ्गका त्याग कर देता है, वह चाहे जिस आश्रममें रहे, ब्रह्मचारी ही है ।

निन्दित छः रात्रियाँ कौन हैं, इस सम्बन्धमें मनुजीका वचन है—

तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी च या ।
त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः ॥
(मनु० ३ । ४७)

अर्थात् ऋतुकालकी सोलह रात्रियोंमें पहली चार रात्रियाँ तथा ग्यारहवीं और तेरहवीं रात्रियाँ निन्दित हैं, शेष दस रात्रियाँ प्रशस्त हैं ।

इन दस रात्रियोंमेंसे भी पुत्रकी कामनावालेको चार अयुग्म रात्रियाँ अर्थात् पाँचवीं, सातवीं, नवीं और पन्द्रहवीं रात्रि टाल देनी चाहिये, क्योंकि भगवान् मनु कहते हैं—

युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु ।
तस्माद्युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्तवे स्त्रियम् ॥
(३ । ४८)

अर्थात् छठी, आठवीं, दसवीं, बारहवीं, चौदहवीं तथा सोलहवीं रात्रिमें स्त्रीसङ्ग करनेसे पुत्र उत्पन्न होते हैं और अयुग्म रात्रियोंमें सङ्गम करनेसे कन्याएँ होती हैं । इसलिये पुत्र चाहनेवालेको ऋतुकालमें स्त्रीके पास युग्म रात्रियोंमें ही जाना चाहिये ।

इस प्रकार सोलह रात्रियोंमेंसे पुत्र चाहनेवालेके लिये छः निन्दित और चार अयुग्म—यों दस रात्रियाँ तो टल गयीं । शेष बची हुई छः युग्म रात्रियोंमें भी पर्व-दिनोंको छोड़कर स्त्रीसङ्गम करनेकी आज्ञा है—'पर्ववर्जं व्रजेच्चैनाम्' (मनु० ३ । ४५) । पर्वके दिन हैं चार—अष्टमी, चतुर्दशी, अमावास्या और पूर्णिमा । इसी प्रकार एकादशी, संक्रान्ति आदि पुण्यतिथियाँ भी स्त्रीसङ्गके लिये वर्जित हैं । इनमेंसे कुछ तो पहले बतलाये हुए

दस वर्जित दिनोंके अन्तर्गत ही आ जायँगी। इस प्रकार महीनेभरमें शायद दो ही दिन ऐसे मिलेंगे जिनमें गृहस्थ स्त्रीसङ्ग कर सकता है। इसीलिये मनुजीने ऋतुकालकी चौदह रात्रियोंको टालनेवालेको ब्रह्मचारी बतलाया है। महीनेभरमें केवल एक बार स्त्रीसङ्ग करनेवालेकी शास्त्रोंने विशेष प्रशंसा की है।

इसी प्रकार यदृच्छा अर्थात् अनिच्छासे प्राप्त हुए धर्मसङ्गत युद्धको शास्त्रोंने क्षत्रियोंके लिये धर्म बतलाया है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा है—

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥
(२।३१)

'तथा (युद्ध करनारूप) अपने धर्मको देखकर भी तू भय करनेयोग्य नहीं है, अर्थात् तुझे भय नहीं करना चाहिये। क्योंकि क्षत्रियके लिये धर्मयुक्त युद्धसे बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारी कर्तव्य नहीं है।' और युद्धमें हिंसा आवश्यक होती है। ऐसी दशामें क्षत्रियके लिये धर्मयुद्धमें अनिवार्यरूपसे की जानेवाली हिंसा अहिंसाके ही अन्तर्गत मानी जायगी; वैसी हिंसासे उसे पाप नहीं लगेगा। इसीलिये भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥
(गीता १८।४७)

'अच्छी प्रकार आचरणमें लाये हुए दूसरेके धर्मसे गुणरहित भी अपना धर्म अति उत्तम है। स्वभावसे नियत किये हुए स्वधर्मरूप कर्मको करता हुआ मनुष्य पापको नहीं प्राप्त होता अर्थात् पापका भागी नहीं होता।'

यही नहीं, भगवान् तो यहाँतक कह देते हैं कि अपने स्वाभाविक कर्मका, चाहे वह दोषयुक्त ही क्यों न हो, त्याग नहीं करना चाहिये। क्योंकि जिस प्रकार अग्निके साथ धूएँका सम्बन्ध किसी-न-किसी मात्रामें रहता ही है, उसी प्रकार क्रियामात्रमें—चाहे वह कितनी ही सात्त्विक क्यों न हो—कोई-न-कोई दोष रहता ही है।* अतः अनिच्छासे प्राप्त धर्मयुक्त युद्धमें उसके द्वारा अनिवार्यरूपमें होनेवाली हिंसा क्षत्रियके लिये अहिंसा ही है।

वाचिक तपमें शूद्रके लिये स्वाध्यायका अर्थ भगवन्नामका जप ही लेना चाहिये, क्योंकि शूद्रके लिये वेदाध्ययनकी आज्ञा शास्त्रोंने नहीं दी है। किन्तु द्विजाति वर्णोंके लिये वेद-शास्त्रोंका अध्ययन तथा भगवन्नामका जप दोनों ही स्वाध्यायके अन्तर्गत माने गये हैं। इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिये कि वेदाध्ययनका अधिकार न देकर शास्त्रोंने शूद्रोंको घाटेमें रक्खा है। जो फल द्विजातियोंको भगवन्नाम-जप तथा वेदाध्ययन-रूप तपसे प्राप्त हो सकता है, वही शूद्रोंको केवल भगवन्नामजपसे मिल सकता है। परमात्माकी प्राप्तिमें सभीका समान अधिकार माना गया है।

मानसिक तपका आचरण सभी वर्णों और सभी आश्रमोंके लोग समानरूपसे कर सकते हैं। और मानसिक तप कायिक, वाचिक दोनों प्रकारके तपसे श्रेष्ठ एवं कठिन भी है। मानसिक तपके द्वारा जिसका मन निगृहीत, शुद्ध एवं शान्त हो गया है, उसके द्वारा शारीरिक एवं वाचिक तप तो स्वाभाविक ही होने लगेंगे। क्योंकि शरीर एवं वाणीके द्वारा जितने दोष होते हैं, उनका हेतु कोई-न-कोई मानसिक विकार ही होता है। अतः कल्याणकामी पुरुषको चाहिये कि गीतोक्त तीनों प्रकारके तपको परम श्रद्धा एवं तत्परता-के साथ निष्कामभावसे करे।

---

* सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्। सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥ (१८।४८)

श्रीरामचरितमानसका तात्पर्य

(लेखक—स्वामीजी श्रीरामदेवजी महाराज)

[वर्ष ११ के पृ० १७२१ से आगे]

भगवान् शिवसे रामचरित सुनकर श्रीपार्वतीजीका सारा सन्देह दूर हो गया। वे अपनेको कृतकृत्य अनुभव करने लगीं। अतः अपने हृदयकी कृतज्ञता प्रकट करते हुए वे कहती हैं—

तुम्हरी कृपाँ कृपायतन अब कृतकृत्य न मोह।
जानेउँ राम प्रताप प्रभु चिदानंद संदोह॥

हे कृपामय! आपकी कृपासे मैं कृतकृत्य हो गयी। अब मेरा मोह नष्ट हो गया। हे प्रभो! अब मैंने चिदानन्दघन भगवान् श्रीरामका प्रभाव जान लिया। इसके पश्चात् कथाकी प्रशंसा करते हुए उन्होंने श्रीकाकभुशुण्डिजीके विषयमें ऐसा प्रश्न किया कि काकशरीर होनेपर भी उन्हें ज्ञान, वैराग्य और श्रीरामचरितमें सुदृढ प्रेम कैसे प्राप्त हुए—

बिरति ग्यान बिग्यान दृढ़ राम चरन अति नेह।
बायस तन रघुपति भगति मोहि परम संदेह॥

काकशरीरमें इन दिव्य गुणोंको देखकर मुझे बड़ा सन्देह होता है, क्योंकि—

नर सहस्र महँ सुनहु पुरारी। कोउ एक होइ धर्म ब्रत धारी॥
धर्मसील कोटिक महँ कोई। बिषय बिमुख बिराग रत होई॥
कोटि बिरक्त मध्य श्रुति कहई। सम्यक ग्यान सकृत कोउ लहई॥
ग्यानवंत कोटिक महँ कोऊ। जीवनमुक्त सकृत जग सोऊ॥
तिन्ह सहस्र महुँ सब सुख खानी। दुर्लभ ब्रह्मलीन बिग्यानी॥
धर्मसील बिरक्त अरु ग्यानी। जीवनमुक्त ब्रह्मपर प्रानी॥
सब ते सो दुर्लभ सुरराया। राम भगति रत गत मद माया॥

देखिये, यहाँ प्रेमलक्षणा भक्तिको सबसे कठिन बताया है। अतः जो भक्तिको सुलभ बतलाते हैं, उन्हें इसपर विशेष ध्यान देनेकी आवश्यकता है। इसके आगे वे कहती हैं—

सो हरि भगति काग किमि पाई। बिस्वनाथ मोहि कहहु बुझाई॥

फिर पूछती हैं—

राम परायन ग्यान रत गुनागार मति धीर।
नाथ कहहु केहि कारन पायउ काक सरीर॥

इसके पश्चात् उन्होंने वह सारा प्रसङ्ग पूछा जिस प्रकार कि स्वयं भगवान् शङ्कर और गरुडजीने काकभुशुण्डिजीके पास जाकर रामचरित श्रवण किया था।

तब पहले तो श्रीमहादेवजीने अपने कथाश्रवणका प्रसङ्ग सुनाया और फिर गरुडजीके मोहका वर्णन करते हुए बोले—

जब रघुनाथ कीन्हि रन क्रीड़ा। समुझत चरित होति मोहि ब्रीड़ा॥
इंद्रजीत कर आपु बँधायो। तब नारद मुनि गरुड़ पठायो॥
बंधन काटि गयो उरगादा। उपजा हृदयँ प्रचंड बिषादा॥
प्रभु बंधन समुझत बहु भाँती। करत बिचार उरग आराती॥
ब्यापक ब्रह्म बिरज बागीसा। माया मोह पार परमीसा॥
सो अवतार सुनेउँ जग माहीं। देखेउँ सो प्रभाव कछु नाहीं॥

भव बंधन ते छूटहिं नर जपि जाकर नाम।
खर्ब निसाचर बाँधेउ नागपास सोइ राम॥

नाना भाँति मनहि समुझावा। प्रगट न ग्यान हृदयँ भ्रम छावा॥
खेद खिन्न मन तर्क बढ़ाई। भयउ मोहबस तुम्हरिहिं नाई॥

इस प्रकार यहाँ भी श्रीपार्वतीजीके समान गरुडजीके मोह और भ्रमका ही वर्णन किया है और उसीकी निवृत्ति अपेक्षित है। इस मोहसे व्याकुल होकर वे नारदजीके पास गये, उन्होंने ब्रह्माजीके पास भेज दिया, फिर ब्रह्माजीके कहनेसे वे हमारे पास आये और हमने उन्हें काकभुशुण्डिजीके पास भेज दिया। उनके आश्रमपर पहुँचते ही गरुडजीका भ्रम दूर हो गया। तब वे सरोवरमें स्नान कर श्रीकाकभुशुण्डिजीके कथा-स्थानपर आये। यह एक वटवृक्षके नीचे बड़ा ही सात्त्विक स्थल था। थोड़ी ही देरमें वहाँ बहुत-से वृद्ध पक्षी एकत्रित हो गये; कथा आरम्भ होनेहीको थी कि गरुडजी भी जा पहुँचे। पक्षिराजको आते देख काकभुशुण्डिजी बड़े प्रसन्न हुए और उन्हें बैठनेके लिये सुन्दर आसन दिया। फिर पूजनादि कर बड़े प्रेमपूर्वक कहा, 'प्रभो! आपके दर्शनोंसे हम कृतार्थ हो गये; कहिये, कैसे कष्ट किया?' तब गरुडजीने कहा कि आप तो कृतार्थरूप ही हैं, आपकी प्रशंसा तो स्वयं भगवान् शिव भी करते हैं। तथापि मेरे यहाँ आनेका जो कारण है सो सुनिये—

सुनहु तात जेहि कारन आयउँ। सो सब भयउ दरस तव पायउँ॥
देखि परम पावन तव आश्रम। गयउ मोह संसय नाना भ्रम॥
अब श्रीरामकथा अति पावनि। सदा सुखद दुख पुंज नसावनि॥
सादर तात सुनावहु मोही। बार बार बिनवउँ प्रभु तोही॥

हे तात! जिस कारणसे मैं आया था वह तो हो लिया। अब तो आपका दर्शन मिल गया। आपके परम पवित्र आश्रमको देखकर मेरा सारा सन्देह और भ्रम दूर हो गया। अब आपसे यही प्रार्थना है कि मुझे श्रीरघुनाथजीकी परम पवित्र कथा सुनाइये, जो सर्वदा सुखदायिनी और दुःख-दलका दलन करनेवाली है।

इस प्रकार जब गरुड़जीने रामचरित सुननेकी प्रार्थना की। तो काकभुशुण्डिजीने उन्हें आदिसे अन्ततक समस्त रामकथा कह सुनायी। कथाश्रवण करनेके अनन्तर गरुड़जीने अत्यन्त प्रसन्न होकर कहा—

गयउ मोर संदेह सुनेउँ सकल रघुपति चरित।
भयउ राम पद नेह तव प्रसाद बायस तिलक॥
मोहि भयउ अति मोह प्रभु बंधन रन महुँ निरखि।
चिदानंद संदोह राम बिकल कारन कवन॥

देखि चरित अति नर अनुसारी। भयउ हृदयँ मम संसय भारी॥
सोइ भ्रम अब हित करि मैं माना। कीन्ह अनुग्रह कृपानिधाना॥
जौं नहिं होत मोह अति मोही। मिलतेउँ तात कवन बिधि तोही॥

इस तरह गरुड़जीने अपनी अत्यन्त प्रसन्नता प्रकट की। तब श्रीकाकभुशुण्डिजीने कहा—कि आप तो हमारे सब प्रकार पूज्य हैं। आपको तो श्रीरघुनाथजीने ही हमारे ऊपर कृपा करके भेजा है—

तुम्हहि न संसय मोह न माया। मोपर नाथ कीन्हि तुम्ह दाया॥
पठइ मोह मिस खगपति तोही। रघुपति दीन्हि बड़ाई मोही॥
तुम्ह निज मोह कही खगसाईं। सो नहिं कछु आचरज गोसाईं॥
नारद भव बिरंचि सनकादी। जे मुनि नायक आतमबादी॥
मोह न अंध कीन्ह केहि केही। को जग काम नचाव न जेही॥
तृस्नाँ केहि न कीन्ह बौराहा। केहि कर हृदय क्रोध नहिं दाहा॥

ग्यानी तापस सूर कबि कोबिद गुन आगार।
केहि कै लोभ बिडंबना कीन्हि न एहिं संसार॥
श्रीमद बक्र न कीन्ह केहि प्रभुता बधिर न काहि॥
मृगलोचनि के नैन सर को अस लाग न जाहि॥

गुन कृत सन्यपात नहिं केही। कोउ न मान मद तजेउ निबेही॥
जोबन ज्वर केहि नहिं बलकावा। ममता केहि कर जस न नसावा॥
मच्छर काहि कलंक न लावा। काहि न सोक समीर डोलावा॥
चिंता साँपिनि को नहिं खाया। को जग जाहि न ब्यापी माया॥
कीट मनोरथ दारु सरीरा। जेहि न लाग घुन को अस धीरा॥
सुत बित लोक ईषना तीनी। केहि कै मति इन्ह कृत न मलीनी॥

यह सब माया कर परिवारा। प्रबल अमित को बरनै पारा॥
सिव चतुरानन जाहि डेराहीं। अपर जीव केहि लेखे माहीं॥

ब्यापि रहेउ संसार महुँ माया कटक प्रचंड।
सेनापति कामादि भट दंभ कपट पाषंड॥
सो दासी रघुबीर कै समुझें मिथ्या सोपि।
छूट न राम कृपा बिनु नाथ कहउँ पद रोपि॥

इस प्रकार यहाँ श्रीकाकभुशुण्डिजीने मोहसे लेकर त्रिविध ईषणातक मायाका परिवार बताया है। उसके सेनापति काम, क्रोध, दम्भ, पाखण्ड एवं कपट आदि हैं। मायाकी यह प्रचण्ड सेना सारे संसारमें फैली हुई है। इससे बचना अत्यन्त कठिन है। किन्तु यह माया भगवान्‌की दासी है; इसलिये यदि भगवान्‌के स्वरूपका ज्ञान हो गया तो यह मिथ्या हो जाती है। किन्तु बिना श्रीरघुनाथजीकी कृपाके इससे पिण्ड छूटना सर्वथा असम्भव है। अन्य मतावलम्बी इस दोहेका अर्थ दूसरे ही प्रकारसे करते हैं। उनका कथन है कि 'वह माया श्रीरघुनाथजीकी दासी है, किन्तु वे (अद्वैतवादी) उसे मिथ्या समझते हैं [इसलिये वे मायासे नहीं छूट पाते]। मैं प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि बिना रघुनाथजीकी कृपाके माया नहीं छूट सकती।' किन्तु उनके इस कथनमें तो स्पष्ट वदतोव्याघात दोष विद्यमान है। यदि अद्वैतवादी मायाको मिथ्या समझते हैं तो *'वे मायासे नहीं छूट पाते'* इस कथनका क्या प्रयोजन होगा? मिथ्या मायासे छूटने-न-छूटनेका प्रश्न ही कहाँ रहता है? जिसकी सत्ता ही नहीं, उससे छूटना-न-छूटना कैसा? इसलिये उनका ऐसा अर्थ सर्वथा असङ्गत है। गोसाईंजी महाराज तो मायाको असत्य ही मानते हैं। इसका *'जासु सत्यता ते जड माया'* तथा *'रजत सीप महुँ भास जिमि'* आदि वाक्योंसे पहले विस्तृत विवेचन किया जा चुका है। किन्तु उसकी निवृत्ति भगवत्कृपासे ही होती है, यह बात पहले भी *'जासु कृपाँ अस भ्रम मिटि जाई'* आदि वाक्योंसे कही गयी है और ऐसा ही यहाँ भी कह रहे हैं। इससे निश्चय होता है कि यहाँ श्रीगोसाईंजी किसीपर आक्षेप नहीं कर रहे हैं, अपितु सिद्धान्तका ही निरूपण कर रहे हैं। अतः माया मिथ्या है, केवल श्रीराम ही सत्य हैं—यही बात आगे भी कहते हैं—

जो माया सब जगहि नचावा। जासु चरित लखि काहुँ न पावा॥
सोइ प्रभु भ्रू बिलास खगराजा। नाच नटी इव सहित समाजा॥

इसके आगे भगवान्‌के स्वरूपका वर्णन करते हुए कहते हैं—

सोइ सच्चिदानंद घन रामा। अज बिग्यान रूप बल धामा॥
ब्यापक ब्याप्य अखंड अनंता। अखिल अमोघसक्ति भगवंता॥
अगुन अदभ्र गिरा गोतीता। सबदरसी अनवद्य अजीता॥
निर्मम निराकार निरमोहा। नित्य निरंजन सुख संदोहा॥
प्रकृति पार प्रभु सब उर बासी। ब्रह्म अनीह बिरज अबिनासी॥
इहाँ मोह कर कारन नाहीं। रबि सन्मुख तम कबहुँ कि जाहीं॥

भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप।
किए चरित पावन परम प्राकृत नर अनुरूप॥
जथा अनेक बेष धरि नृत्य करै नट कोइ।
सोइ सोइ भाव देखावै आपुन होइ न सोइ॥

इससे यह सिद्ध होता है कि एकमात्र श्रीभगवान् ही अपनी मायाशक्तिसे अनेक रूप धारण करते हैं। अब, जो लोग श्रीरामको एक, अद्वितीय परमात्मासे भिन्न समझते हैं उनके विषयमें कहा जाता है—

असि रघुपति लीला उरगारी। दनुज बिमोहनि जन सुखकारी॥
जे मति मलिन बिषय बस कामी। प्रभु पर मोह धरहिं इमि स्वामी॥
नयन दोष जा कहँ जब होई। पीतबरन ससि कहुँ कह सोई॥
जब जेहि दिसि भ्रम होइ खगेसा। सो कह पच्छिम उयउ दिनेसा॥
नौकारूढ़ चलत जग देखा। अचल मोह बस आपुहि लेखा॥
बालक भ्रमहिं न भ्रमहिं गृहादी। कहहिं परस्पर मिथ्याबादी॥
हरिबिषइक अस मोह बिहंगा। सपनेहुँ नहिं अग्यान प्रसंगा॥
मायाबस मतिमंद अभागी। हृदयँ जवनिका बहुबिधि लागी॥
ते सठ हठबस संसय करहीं। निज अग्यान राम पर धरहीं॥

काम क्रोध मद लोभ रत गृहासक्त दुखरूप।
ते किमि जानहिं रघुपतिहि मूढ़ परे तम कूप॥
निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोइ।
सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनि मन भ्रम होइ॥

इस सबका तात्पर्य यही है कि रामतत्त्व यद्यपि एक, अद्वय, सच्चिदानन्दघन, निर्गुण, निराकारस्वरूप है, तथापि वही अपनी शक्तिसे भक्तोंके प्रेमवश अनेक रूपसे अवतार धारण करता है, जिस प्रकार योगीजन अपनी इच्छाशक्तिसे काय-व्यूहका निर्माण कर लेते हैं। अतः जो लोग उस एक, परात्पर, अद्वितीय रामतत्त्वको पृथक् समझते हैं, वे भ्रममें पड़े हुए हैं। उन्हें काम, क्रोध, मोह, लोभादिने अपने अधीन कर रक्खा है तथा उनकी दुःखरूप गृहमें ही आसक्ति है। उनका सारा समय छल-प्रपञ्चादिसे स्वार्थसाधनमें ही जाता है। वे श्रीभगवान्‌की भक्तिका स्वाँग भी इसीलिये करते हैं कि ऐसा करनेसे लोग हमारी ओर आकर्षित होकर हमारे सुखसाधनोंमें सहायक होंगे। ऐसे लोग भगवान् श्रीरामके वास्तविक स्वरूप-को कैसे जान सकते हैं? उसके सिवा निर्गुण रूप एक होनेके कारण सुलभ भी है, किन्तु सगुण अनेक होनेके कारण समझ-में नहीं आता। इसीसे कोई तो कहते हैं कि निर्गुण-निराकार परमात्मा सगुण-साकार हो ही नहीं सकता और कोई कहते हैं कि वह सगुण ही है, निर्गुण है ही नहीं। तथा सगुणवादी भी परमात्माके किसी एक ही अवतारको मुख्य मानकर दूसरे अवतारोंको गौण बतलाते हैं। इसीसे कोई राम, कोई कृष्ण, कोई शिव, कोई विष्णु और कोई दुर्गाको ही इष्ट मानकर दूसरोंकी निन्दा करते देखे जाते हैं। यदि किसी प्रकार परमात्माके वास्तविक स्वरूपका ज्ञान हो जाय तो ये सब झगड़े समाप्त हो जायँ और सब एक ही परमात्माके स्वरूप दिखायी देने लगें।

इसके आगे श्रीकाकभुशुण्डिजी ईश्वर और जीवके स्वरूपोंका भेद बतलाते हैं—

ग्यान अखंड एक सीताबर। माया बस्य जीव सचराचर॥
जौं सब कें रह ग्यान एकरस। ईस्वर जीवहि भेद कहहु कस॥
मायाबस्य जीव अभिमानी। ईस बस्य माया गुन खानी॥
परबस जीव स्वबस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता॥
मुधा भेद जद्यपि कृत माया। बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया॥

यहाँ भी यही कहा गया है कि यद्यपि यह जीव और ईश्वरका भेद *मायाकृत* है, तथापि *विना भगवत्कृपाके* यह करोड़ों उपाय करनेपर भी निवृत्त नहीं होता। भगवान्‌की भक्तिसे मायाका नाश होता है और तभी भेदबुद्धि दूर होती है। मायाके निवृत्त होनेपर फिर भेदबुद्धि नहीं ठहर सकती। अतः मुक्तिका मुख्य साधन भगवद्भजन ही है। श्रीकाक-भुशुण्डिजीने पुनः-पुनः भजनकी ही प्रशंसा की है—

राकापति षोड़स उअहिं तारा गन समुदाइ।
सकल गिरिन्ह दव लाइअ बिनु रबि राति न जाइ॥

ऐसेहिं हरि बिनु भजन खगेसा। मिटइ न जीवन्ह केर कलेसा॥

इसके आगे भगवान्‌की मायाका वर्णन किया गया है। तथा अन्तमें भगवान्‌ने श्रीकाकभुशुण्डिजीको जो वर दिया है, उसमें भी अपनेको सगुण-निर्गुण उभयरूपसे ही जाननेकी बात कही है—

मम्मार्सम्भव भ्रम सब अब न ब्यापिहहिं तोहि।
आनेसु ब्रह्म अनादि अज अगुन गुनाकर मोहि॥

फिर भगवान्‌ने जो अपनी भक्तिकी प्रशंसा की है उसका वर्णन है और इसके उपरान्त काकभुशुण्डिजी अपनी प्रसन्नता व्यक्त करते हुए कहते हैं—

राम प्रसाद भगति बर पायउँ। प्रभु पद बंदि निजाश्रम आयउँ॥
तब ते मोहि न ब्यापी माया। जब ते रघुनायक अपनाया॥
यह सब गुप्त चरित मैं गावा। हरिमायाँ जिमि मोहि नचावा॥
निज अनुभव अब कहउँ खगेसा। बिनु हरि भजन न जाहिं कलेसा॥
राम कृपा बिनु सुनु खगराई। जानि न जाइ राम प्रभुताई॥
जानें बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥
प्रीति बिना नहिं भगति दिढ़ाई। जिमि खगपति जल कै चिकनाई॥

बिनु गुर होइ कि ग्यान ग्यान कि होइ बिराग बिनु।
गावहिं बेद पुरान सुख कि लहिअ हरि भगति बिनु॥
कोउ बिश्राम कि पाव तात सहज संतोष बिनु।
चलै कि जल बिनु नाव कोटि जतन पचि पचि मरिअ॥

बिनु संतोष न काम नसाहीं। काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं॥
राममजन बिनु मिटहिं कि कामा। थल बिहीन तरु कबहुँ कि जामा॥
बिनु बिग्यान कि समता आवइ। कोउ अवकास कि नभ बिनु पावइ॥
श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई। बिनु महि गंध कि पावइ कोई॥
बिनु तप तेज कि कर बिस्तारा। जल बिनु रस कि होइ संसारा॥
सील कि मिल बिनु बुध सेवकाई। जिमि बिनु तेज न रूप गोसाईं॥
निज सुख बिनु मन होइ कि थीरा। परस कि होइ बिहीन समीरा॥
कवनिउ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा। बिनु हरि भजन कि भव भय नासा॥

बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न रामु।
राम कृपा बिनु सपनेहुँ जीव न लह बिश्रामु॥
अस बिचारि मतिधीर तजि कुतर्क संसय सकल।
भजहु राम रघुबीर करुनाकर सुंदर सुखद॥

इस प्रसङ्गसे भी यही सिद्ध होता है कि बिना भक्तिके भगवान्‌की कृपा नहीं होती और बिना भगवत्कृपाके जीवको शान्ति नहीं मिलती। अतः अक्षय शान्ति प्राप्त करनेके लिये भगवद्भक्तिकी अत्यन्त आवश्यकता है। इसके आगे गरुडजीने काकदेह पानेके विषयमें प्रश्न किया है। उसके उत्तरमें श्रीकाकभुशुण्डिजीने अपने पूर्व जन्मोंका वर्णन करते हुए जिस प्रकार शूद्रदेहसे श्रीशङ्करजीकी भक्ति की थी तथा जैसे श्रीशङ्करजीने गुरुकी अवज्ञा करनेके कारण शाप दिया था, उसका वर्णन किया है। फिर गुरुजीकी प्रार्थनासे प्रसन्न होकर श्रीमहादेवजीने ब्राह्मणशरीरकी प्राप्तिका वर दिया। उस शरीरमें आपमें भगवद्भक्तिका उदय हुआ। एक बार आपका महर्षि लोमशसे समागम हुआ। तब आपने उनसे सगुणभक्तिविषयक प्रश्न किया। महर्षि लोमशने प्रारम्भमें कुछ रघुनाथजीके चरित्रका वर्णन कर फिर आपको अधिकारी समझकर निर्गुण ब्रह्मका उपदेश किया। किन्तु आपने सगुणभक्तिका पक्ष लेकर उसीके उपदेशके लिये आग्रह किया। बार-बार आग्रह करनेपर लोमशजीको क्रोध हो आया और उन्होंने शाप दिया कि तेरा हृदय पक्षपातसे दूषित है, इसलिये तू चाण्डाल पक्षी हो जा। ऋषिके शापसे आप तत्काल काक हो गये और प्रसन्नतापूर्वक यह कहते हुए वहाँसे उड़कर चल दिये कि—

भरि लोचन बिलोकि अवधेसा। तब सुनिहउँ निरगुन उपदेसा॥

सगुणरूपमें आपका ऐसा निश्चल प्रेम देखकर श्रीलोमशजीको बहुत पश्चात्ताप हुआ और आपको सब प्रकार सन्तुष्ट कर राममन्त्र प्रदान किया तथा भगवान् रामके बालरूपका ध्यान बतलाया। इससे आपको बड़ी प्रसन्नता हुई। फिर मुनिने कुछ दिन अपने पास रखकर सम्पूर्ण रामचरित श्रवण कराया और ज्ञान-वैराग्यादिकी प्राप्तिके लिये अनेक प्रकारसे आशीर्वाद दिये। उनसे आशीर्वाद पाकर आप अपने वर्तमान आश्रमपर चले आये। यह सब प्रसङ्ग आपने श्रीगरुडजीको सुनाया था।

इस प्रसङ्गको लेकर कोई-कोई कहते हैं कि यहाँ श्रीगोसाईंजी महाराजको निर्गुणवादका निराकरण ही अभीष्ट है; इसीसे उन्होंने निर्गुणवादी लोमशजीकी असहिष्णुता और काकभुशुण्डिजीकी दृढ़ निष्ठा एवं समता प्रदर्शित की है। किन्तु उनका यह कथन निराधार है। यह बात आगेके प्रसङ्गसे स्पष्ट हो जाती है। श्रीगरुडजी पूछते हैं—

एक बात प्रभु पूँछउँ तोही। कहहु बुझाइ कृपानिधि मोही॥
कहहिं संत मुनि बेद पुराना। नहिं कछु दुर्लभ ग्यान समाना॥
सोइ मुनि तुम्ह सन कहेउ गोसाईं। नहिं आदरेहु भगति की नाईं॥
ग्यानहि भगतिहि अंतर केता। सकल कहहु प्रभु कृपानिकेता॥

इस प्रकार प्रश्न करनेपर श्रीकाकभुशुण्डिजीने कहा—

भगतिहि ग्यानहि नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा॥

इससे सिद्ध होता है कि काकभुशुण्डिजीके मतमें ज्ञान और भक्तिमें कोई भेद नहीं है; दोनों ही संसार-दुःखकी निवृत्ति करनेवाले हैं। अतः इनमेंसे किसीका भी विरोध

करना उचित नहीं है। *मानसकारका तो ऐसा ही सिद्धान्त* जान पड़ता है। तथापि यहाँ थोड़ा-सा अन्तर भी दिखाया है, वह यह है—

ग्यान बिराग जोग बिग्याना। ए सब पुरुष सुनहु हरिजाना॥
पुरुष प्रताप प्रबल सब भाँती। अबला अबल सहज जड़ जाती॥
पुरुष त्यागि सक नारिहि जो बिरक्त मतिधीर।
न तु कामी बिषयाबस बिमुख जो पद रघुबीर॥

ज्ञान, वैराग्य, योग और विज्ञान—ये सब पुरुष हैं और भक्ति स्त्री है। पुरुष सब प्रकार प्रबल प्रकृतिका होता है और स्त्री स्वभावतः ही दुर्बल और मन्दबुद्धि होती है। परन्तु स्त्रीका त्याग वही पुरुष कर सकता है जो विरक्त और विशेष धैर्यवान् होता है; कामी, विषयपरायण या भगवद्विमुख उसे त्यागनेमें समर्थ नहीं हैं। इसीसे—

सोउ मुनि ग्यान निधान मृगनयनी बिधुमुख निरखि।
बिबस होइ हरिजान नारि बिस्नु माया प्रगट॥

जो ज्ञाननिधान मुनिगण हैं, वे भी मृगलोचनी कामिनीके चन्द्रवदनको देखकर क्षुब्ध हो जाते हैं। इस जगत्‌में स्त्री-रूपसे साक्षात् माया ही प्रकट हो रही है। यहाँ यह समझना चाहिये कि जो भगवद्भक्ति और वैराग्यसे हीन केवल ज्ञानका ही *अभिमान* रखनेवाले हैं, वे ही स्त्रीके चंगुलमें फँसते हैं। यदि ज्ञानिमात्रमें यह दुर्बलता मानी जायगी तो पूर्वकथनसे विरोध होगा। भला, जिन्हें परमात्माके स्वरूपका अपरोक्ष अनुभव है और जिनकी दृष्टिमें माया अथवा मायाके कार्यकी कोई सत्ता ही नहीं है, उनपर उसका क्या प्रभाव हो सकता है? जो लोग इस भेदपर दृष्टि नहीं रखते, वे ही ऐसा कहते हैं कि यहाँ श्रीगोसाईंजी महाराज ज्ञानिमात्रमें यह दुर्बलता बता रहे हैं। अब, भक्तिके विषयमें उनका क्या कथन है, वह भी सुनिये—

इहाँ न पच्छपात कछु राखउँ। बेद पुरान संत मत भाषउँ॥
मोह न नारि नारि कें रूपा। पंनगारि यह रीति अनूपा॥
माया भगति सुनहु तुम्ह दोऊ। नारिबर्ग जानइ सब कोऊ॥
पुनि रघुबीरहि भगति पिआरी। माया खलु नर्तकी बिचारी॥
भगतिहि सानुकूल रघुराया। ताते तेहि डरपति अति माया॥
राम भगति निरुपम निरुपाधी। बसइ जासु उर सदा अबाधी॥
तेहि बिलोकि माया सकुचाई। करि न सकइ कछु निज प्रभुताई॥
अस बिचारि जे मुनि बिग्यानी। जाचहिं भगति सकल सुख खानी॥
यह रहस्य रघुनाथ कर बेगि न जानइ कोइ।
जो जानइ रघुपति कृपाँ सपनेहुँ मोह न होइ॥

यहाँ माया और भक्ति दोनोंको भगवान्‌की स्त्री बतलाया है। इनमें भक्ति भगवान्‌को अत्यन्त प्रिय है, माया तो बेचारी नटनी है। जहाँ भक्ति होती है, वहाँ जानेमें मायाको संकोच होता है। ऐसा विचारकर विचारशील पुरुष भक्तिकी ही याचना करते हैं, क्योंकि विना भगवद्भक्तिके ज्ञान होना असम्भव है। अतः भक्तिके द्वारा पुरुष अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करते हैं तथा ज्ञानके पश्चात् जीवन्मुक्तावस्थामें उनमें शम-दमादि साधनोंके समान सहजा भक्ति भी रहती ही है। भगवान्‌के इस रहस्यको सब लोग नहीं जानते। जो भगवत्-कृपासे इसे जान लेते हैं उन्हें फिर स्वप्नमें भी मोह नहीं होता। अर्थात् 'भक्ति श्रेष्ठ है या ज्ञान? ईश्वर साकार है या निराकार?' ऐसे प्रश्न अज्ञानके ही कारण होते हैं, भगवान्‌की भक्तिसे यह सारा मोह दूर हो जाता है।

इसके पश्चात् ज्ञानदीपकका वर्णन है, उसे विस्तारभयसे पूरा न लिखकर उसका आशयमात्र लिखा जाता है। आरम्भमें ज्ञानका दीपकरूपसे वर्णन करते हुए उसमें अनेक प्रकारके विघ्न दिखाये हैं। उनका सम्बन्ध केवल परोक्ष ज्ञानसे ही समझना चाहिये, भक्तिसहित अपरोक्ष ज्ञानसे नहीं; क्योंकि अपरोक्ष ज्ञान होनेपर तो कारणसहित जगत्‌का अभाव हो जाता है, फिर विघ्न कैसे हो सकते हैं? अन्तमें तो यहाँतक कहा है—

अति दुर्लभ कैवल्य परम पद। संत पुरान निगम आगम बद॥

कैवल्यरूप परमपद अत्यन्त दुर्लभ है—ऐसा संत, पुराण, वेद, शास्त्र सभीका कथन है। यही सिद्धान्त अद्वैत-वेदान्तियोंका है। वे भी भक्तिसे ज्ञान और ज्ञानसे कैवल्यमोक्षकी प्राप्ति मानते हैं। द्वैतवादी तो कैवल्यमोक्षको स्वीकार ही नहीं करते। अतः श्रीगोसाईंजीका सिद्धान्त तो अद्वैतियोंके ही अधिक अनुकूल है। उनके मनमें इस कैवल्यपदका सुगम साधन भक्ति ही है—

राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं॥
जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई। कोटि भाँति कोउ करै उपाई॥
तथा मोच्छ सुख सुनु खगराई। रहि न सकइ हरि भगति बिहाई॥
अस बिचारि हरि भगत सयाने। मुक्ति निरादर भगति लुभाने॥
भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृति मूल अबिद्या नासा॥

इससे सिद्ध होता है कि श्रीगोसाईंजीके मतमें अविद्या-नाशका सुलभ साधन भक्ति ही है। अविद्याका नाश होनेपर स्वभावतः ही ज्ञानका उदय होगा और उसका परिणाम मुक्ति है ही। इस प्रकार अब भक्ति ज्ञानोदयका प्रधान साधन है

तो इनमें परस्परविरोध कैसे हो सकता है? उसके आगे श्रीकाकभुशुण्डिजी कहते हैं—

सेवक सेब्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।
भजहु राम पद पंकज अस सिद्धान्त बिचारि॥

अतः संसारसागरसे पार होनेका प्रधान साधन सेवक-सेव्यभावपूर्वक भगवान्‌की भक्ति ही है।

फिर मणिरूपसे भक्तिका वर्णन किया है तथा ज्ञानदीपकका वर्णन करते समय जो ज्ञानमार्गके विघ्न दिखाये थे, उनका भक्तिमार्गमें अभाव दिखलाया है—

राम भगति चिंतामनि सुंदर। बसइ गरुड़ जाके उर अंतर॥
परम प्रकासरूप दिन राती। नहिं कछु चहिअ दिआ घृत बाती॥
मोह दरिद्र निकट नहिं आवा। लोभ बात नहिं ताहि बुझावा॥
प्रबल अबिद्या तम मिटि जाई। हारहिं सकल सलभ समुदाई॥
खल कामादि निकट नहिं जाहीं। बसइ भगति जाके उर माहीं॥
—इत्यादि।

इस प्रकार बहुत-से दोषोंसे असंस्पृष्ट होनेपर भी इस चिन्तामणिका भगवत्कृपाके विना मिलना सर्वथा असम्भव है—

सो मनि जदपि प्रगट जग अहई। राम कृपा बिनु नहिं कोउ लहई॥

अतः जिस प्रकार ज्ञानप्राप्तिमें भगवत्कृपाकी अपेक्षा है, उसी प्रकार भक्ति भी कृपासाध्य ही है। उस कृपाका साधन भी भक्ति ही है। पहले साधन-भक्ति की जाती है, उसीसे क्रमशः प्रेमलक्षणा भक्तिका उदय होता है। यही भगवान्‌की कृपा है। इस प्रकार यद्यपि इसकी प्राप्तिका साधन बहुत सुलभ है, तो भी भाग्यहीन पुरुष इसकी उपेक्षा करके इसे ठुकराते रहते हैं—

सुगम उपाय पाइबे केरे। नर हतभाग्य देहिं भटभेरे॥

अब, इसकी प्राप्तिके उपायका वर्णन किया जाता है—

पावन पर्बत बेद पुराना। राम कथा रुचिराकर नाना॥
मर्मी सज्जन सुमति कुदारी। ग्यान बिराग नयन उरगारी॥
भाव सहित खोजइ जो प्रानी। पाव भगति मनि सब सुख खानी॥

वेद-पुराणादि सद्ग्रन्थ बड़े पवित्र पर्वत हैं; उनमें इस मणिकी रामकथारूप अनेकों सुन्दर खानें हैं। उन्हें देखनेके लिये ज्ञान और वैराग्य नेत्र हैं तथा रामरहस्यके रसिक महानुभावोंकी सुबुद्धि कुदाल है। जो प्राणी ज्ञान-वैराग्यरूप नेत्रोंसे उस सुन्दर मणिको प्रेमपूर्वक खोजते हैं, वे ही इस सर्वसुखमयी मणिको प्राप्त करते हैं। इसे पाकर वे निहाल हो जाते हैं, फिर उन्हें कुछ भी मात्सर्य नहीं रहता। उनकी महिमाका कहाँतक वर्णन किया जाय। श्रीकाकभुशुण्डिजी कहते हैं—

मोरें मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा॥
राम सिंधु घन सज्जन धीरा। चंदन तरु हरि संत समीरा॥

ऐसी भगवद्भक्ति किस प्रकार मिलती है—

सब कर फल हरि भगति सुहाई। सो बिनु संत न काहूँ पाई॥
अस बिचारि जोइ कर सतसंगा। राम भगति तेहि सुलभ बिहंगा॥

ब्रह्म पयोनिधि मंदर ग्यान संत सुर आहिं।
कथा सुधा मथि काढ़हिं भगति मधुरता जाहिं॥

भक्तिका सुलभ साधन सत्सङ्ग है। वे संतजन किस प्रकार भक्तिकी प्राप्ति करा देते हैं, उसका समुद्रमन्थनके रूपकसे वर्णन किया है। काकभुशुण्डिजी कहते हैं कि ब्रह्म (वेद) क्षीरसागर है, ज्ञान मन्दराचल है और संतजन देवगण हैं। वे वेदरूप समुद्रका मन्थन करके उसमेंसे रामकथारूप अमृत निकालते हैं, जिसकी मधुरता ही भक्ति है। यहाँ 'भक्ति' शब्दका अर्थ भगवान्‌से भिन्न नहीं है, क्योंकि वे ही मधुरूपसे समस्त पदार्थोंमें विद्यमान हैं।

श्रीकाकभुशुण्डिजी भक्तिप्राप्तिका एक दूसरा क्रम भी बताते हैं—

बिरति चर्म असि ग्यान मद लोभ मोह रिपु मारि।
जय पाइअ सो हरि भगति देखु खगेस बिचारि॥

अर्थात् वैराग्यरूप ढाल और ज्ञानरूप तलवारके द्वारा मद, मोह और लोभरूप शत्रुओंको मारकर जो विजय प्राप्त की जाती है, वही भगवान्‌की भक्ति है। इससे ज्ञात होता है कि विना ज्ञान और वैराग्यके प्रेमलक्षणा भक्तिकी भी प्राप्ति नहीं होती। जिस प्रकार ज्ञानप्राप्तिके लिये विवेक-वैराग्यादि साधनचतुष्टयकी आवश्यकता है, उसी प्रकार भगवत्प्रेमके लिये भी वैराग्यादि साधनसम्पत्तिका होना परमावश्यक है। वास्तवमें तो प्रेमलक्षणा भक्ति और ज्ञानमें कोई अन्तर ही नहीं है। इसलिये जो लोग ऐसा कहते हैं कि भक्तोंको वैराग्यादिकी आवश्यकता नहीं है, वे ऐसा कहकर भूल ही करते हैं। ऐसी बात बहुतोंसे तो उनकी विषयवासना ही कहलाती है। ऐसा कहकर वे दूसरोंको तो धोखा देना चाहते ही हैं, स्वयं भी धोखेहीमें रहते हैं। अतः भगवत्-प्रेमकी प्राप्तिके लिये लौकिक वस्तुओंके रागसे ऊपर उठना अत्यन्त आवश्यक है।

इसके पश्चात् भक्ति और संत-समागमकी प्रशंसा करते हुए श्रीकाकभुशुण्डिजी कहते हैं—

विनिश्चितं वदामि ते
न अन्यथा वचांसि मे।

हरिं नरा भजन्ति ये
सुदुस्तरं तरन्ति ते ॥

मैं यह निश्चयपूर्वक कहता हूँ, मेरा कथन मिथ्या नहीं है कि जो लोग श्रीहरिका भजन करते हैं, वे अत्यन्त दुस्तर संसारसागरको पार कर लेते हैं। फिर कहते हैं—

श्रुति सिद्धांत इहइ उरगारी। राम भजिअ सब काम बिसारी॥

अर्थात् हे गरुड़जी! वेदका सिद्धान्त यही है कि सारे काम छोड़कर श्रीरामका भजन किया जाय।

यह सब सुनकर गरुड़जी अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहते हैं—

जीवन जन्म सुफल मम भयऊ। तव प्रसाद सब संसय गयऊ॥

इस प्रकार अपनी संशयनिवृत्ति सूचितकर श्रीगरुड़जी वैकुण्ठधामको चले जाते हैं। इस कथाका वर्णन करके श्रीमहादेवजी पार्वतीजीसे कहते हैं—

कहेउँ परम पुनीत इतिहासा। सुनत श्रवन छूटहिं भव पासा॥

फिर रामभक्तोंकी प्रशंसा और कथाश्रवणके अधिकारियों-का वर्णन कर श्रोताओंकी भावनाके अनुसार इस कथा-श्रवण-के भिन्न-भिन्न फलोंका निरूपण करते हैं—

राम चरन रति जो चह अथवा पद निर्बान।
भाव सहित सो यह कथा करउ श्रवन पुट पान॥
राम कथा गिरिजा मैं बरनी। कलि मल समनि मनोमल हरनी॥
संसृति रोग सजीवन मूरी। रामकथा गावहिं श्रुति सूरी॥
—इत्यादि

इस दिव्य कथाको सुनकर श्रीपार्वतीजी कहती हैं—

नाथ कृपाँ मम गत संदेहा। राम चरन उपजेउ नव नेहा॥
मैं कृतकृत्य भइउँ अब तव प्रसाद बिस्वेस।
उपजी राम भगति दृढ़ बीते सकल कलेस॥

पार्वतीजीके इन वचनोंसे भी यही सिद्ध होता है कि इस कथाके सुननेसे प्राणी कृतकृत्य हो जाता है और भगवान्‌की सुदृढ़ भक्ति प्राप्त होकर उसके सारे क्लेश नष्ट हो जाते हैं। योगदर्शनमें अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—ये पाँच प्रकारके क्लेश बताये हैं। इनमें अविद्या दो प्रकारकी है—कारणरूपा और कार्यरूपा। कारण अविद्याकी निवृत्तिसे कार्यरूपा अविद्या तो स्वयं ही निवृत्त हो जाती है और उसकी निवृत्ति ज्ञानके विना नहीं होती। अविद्याका स्वरूप वर्णन करते हुए योगदर्शनमें कहा है—

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्याति-रविद्या।

अर्थात् अनित्यमें नित्यबुद्धि, अपवित्रमें पवित्रबुद्धि, दुःखमें सुखबुद्धि और अनात्मामें आत्मबुद्धिका नाम अविद्या है। जब स्वर्गादि अनित्य पदार्थोंमें नित्यबुद्धि नहीं रहती, मल-मूत्रके भाण्ड अत्यन्त अपवित्र स्त्री-देहादि रमणीय नहीं जान पड़ते, दुःखरूप विषयसुखोंमें सुख नहीं दिखायी देता तथा शरीरादि अनात्मपदार्थोंमें आत्मबुद्धि नहीं होती, तभी समझना चाहिये कि अविद्याका उच्छेद हो गया। 'अस्मिता' बुद्धि और आत्माके तादात्म्यको कहते हैं। किसीसे दुःख प्राप्त होनेपर उसके अनिष्टकी कामनाका नाम 'द्वेष' है, किसीसे सुख मिलनेपर उसकी प्राप्तिकी इच्छाको 'राग' कहते हैं और अधिक-से-अधिक जीवित रहनेकी इच्छा 'अभिनिवेश' कहलाती है। इन सबका कारण अज्ञान ही है, अतः उसकी निवृत्तिसे ही इनकी भी निवृत्ति हो जाती है। इसलिये ऊपरके दोहेमें जो 'बीते सकल कलेस' ऐसा कहा है, उसका तात्पर्य अज्ञानकी निवृत्ति ही है। जिसका अज्ञान निवृत्त हो गया है, वही कृतकृत्य है और उसका निरन्तर भगवन्निष्ठामें स्थित रहकर प्रारब्धशेषपर्यन्त जीवन्मुक्तिके आनन्दको भोगना ही श्रीरामकी दृढ़ भक्ति है। ऐसे जीवन्मुक्तको किसी लोकान्तरमें जानेकी आवश्यकता नहीं होती। वह तो प्रारब्ध समाप्त होनेपर मुक्त हुआ ही मुक्त हो जाता है। अतः इस उक्तिसे सिद्ध होता है कि इस श्रीमहादेव-पार्वती-संवादका मुख्य अभिप्राय अज्ञान-निवृत्ति ही है। इसके विषयमें श्रीयाज्ञवल्क्यजी कहते हैं—

यह सुभ उमा संभु संबादा। सुख संपादन समन बिषादा॥
भव भंजन गंजन संदेहा। जन रंजन सज्जन प्रिय एहा॥
राम उपासक जे जग माहीं। एहि सम प्रिय तिन्ह कें कछु नाहीं॥
रघुपति कृपाँ जथामति गावा। मैं यह पावन चरित सुहावा॥

इस प्रकार श्रीयाज्ञवल्क्यजीके कथनानुसार भी इस कथाका उद्देश्य शान्तिकी प्राप्ति कराना, शोककी निवृत्ति करना तथा संसारभय और सन्देहको नष्ट करना ही है। यह भक्त और समस्त साधु पुरुषोंको आनन्द देनेवाली है तथा संसारमें जो भगवान् रामके भक्त हैं उन्हें तो इसके समान प्रिय कोई दूसरी वस्तु है ही नहीं।

श्रीगोसाईंजी महाराजने भी अन्तमें श्रीरामनामकी महिमा और श्रीरामकथाकी प्रशंसा करते हुए यही कहा है—

रघुबंस भूषन चरित यह नर कहहिं सुनहिं जे गावहीं।
कलि मल मनोमल धोइ बिनु श्रम राम धाम सिधावहीं॥
सत पंच चौपाईं मनोहर जानि जो नर उर धरै।
दारुन अबिद्या पंच जनित बिकार श्रीरघुबर हरै॥

इस प्रकार ग्रन्थकारके मतानुसार भी जो लोग इन शतपञ्च (१०५ या ५१००) चौपाइयोंको हृदयमें धारण करते हैं, उनके अविद्यादि पञ्चक्लेशोंसे होनेवाले काम, क्रोध, लोभ, मोहादि विकारोंको श्रीरघुनाथजी हर लेते हैं। इसके आगे भी वे भवभयकी निवृत्ति और रामभक्तिकी प्राप्तिके लिये ही प्रार्थना करते हैं—

मो सम दीन न दीन हित तुम्ह समान रघुबीर।
अस बिचारि रघुबंसमनि हरहु बिषम भव भीर॥
कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम॥

सबके अन्तमें वे ग्रन्थका उपसंहार इस श्लोकसे करते हैं—

पुण्यं पापहरं सदा शिवकरं विज्ञानभक्तिप्रदं
मायामोहमलापहं सुविमलं प्रेमाम्बुपूरं शुभम्।
श्रीमद्रामचरित्रमानसमिदं भक्त्यावगाहन्ति ये
ते संसारपतङ्गघोरकिरणैर्दह्यन्ति नो मानवाः॥

जो लोग इस परमपवित्र, पापनाशक, नित्य[कल्या]णकारी, विज्ञान और भक्ति प्रदान करनेवाले, माया एवं मोहरूप मलकी निवृत्ति करनेवाले, अत्यन्त पवित्र, प्रेमामृतसे भरे हुए, परम शुभ रामचरितमानसमें भक्तिपूर्वक गोते लगावेंगे, वे संसाररूप सूर्यकी प्रचण्ड किरणोंसे सन्तप्त नहीं होंगे, अर्थात् संसारके हेतुभूत कर्मबन्धनसे मुक्त होकर शाश्वती शान्ति प्राप्त करेंगे।

इस प्रकार काकभुशुण्डि-गरुड, शिव-पार्वती, याज्ञवल्क्य-भरद्वाज और श्रीगोसाईंजी—इन चारोंहीके उपसंहारसे इस ग्रन्थका तात्पर्य संशय या अज्ञानकी निवृत्ति तथा भगवद्भक्ति-पूर्वक परमपदकी प्राप्ति ही निश्चय होता है। इन चारों संवादोंका आरम्भ भी इसी उद्देश्यसे हुआ था—यह बात हम पहले दिखा चुके हैं। अतः उपक्रम और उपसंहारसे तो इस ग्रन्थका तात्पर्य अज्ञाननिवृत्ति ही जान पड़ता है।

रावण-वध तथा श्रीरामचन्द्रजीकी विजयके तिथि-मासका निर्णय

(लेखक—स्वामीजी श्रीपुरुषोत्तमाश्रमजी उपनाम शतपथजी महाराज)

प्रतिवर्ष दीपावलीके दिनोंमें अनेकों सज्जन समाचार-पत्रोंद्वारा रावण-वध तथा अयोध्यापति भगवान् श्रीरामचन्द्रजी-की विजयके तिथि-मासको जाननेकी इच्छा प्रकट करते रहते हैं। उनकी इस शुभेच्छासे प्रेरित होकर महर्षि वाल्मीकिकृत रामायणके वचनोंके आधारपर यह लेख लिखा गया है। विद्वान् महानुभाव इस लेखका मनन करें। यहाँ यह बात अवश्य ध्यानमें रखनी चाहिये कि प्रत्येक कल्पमें राम-रावण-युद्ध होता है और भगवान् श्रीरामके हाथोंसे मृत्यु पाकर रावण पुनरागमनसे रहित भी हो जाता है। इसीलिये किसी कल्पमें जय-विजय, तो अन्य कल्पोंमें जलन्धर, प्रतापभानु तथा नारदके शापसे पतित दो शिवगण आदि रावण-कुम्भकर्ण बने थे (देखिये तुलसीकृत रामचरित-मानस)। इसके अतिरिक्त प्रति कल्पके राम-रावण-युद्ध तथा रामचरित्र आदिमें भी थोड़ा-बहुत अन्तर रहता ही है, फलतः भिन्न-भिन्न पुराणोंमें भिन्न-भिन्न रीतिसे इनका वर्णन मिलता है। जैसे अग्निवेश्यकृत रामायणमें रावण-वध और रामविजयकी जो तिथियाँ लिखी गयी हैं, उनसे कालिकापुराणोक्त रावण-वध और रामविजयकी तिथियाँ भिन्न हैं एवं इन दोनोंसे महर्षि वाल्मीकिप्रणीत रामायणके रावण-वध और रामविजयकी तिथियोंमें अन्तर है। मैंने केवल महर्षि वाल्मीकिके मूल श्लोकोंके आधारपर ही राम-रावण-युद्ध और श्रीरामचन्द्रजीकी विजयके तिथि-मासका निर्णय करनेकी चेष्टा की है। पाठक महोदयोंको इसे ध्यानपूर्वक पढ़ना चाहिये।

जिस दिन रावणने श्रीसीताजीका पञ्चवटीसे अपहरण कर विमानद्वारा उन्हें लङ्काकी अशोकवाटिकामें पहुँचाया था, उसी दिन उसने उनको धमकी दी थी कि यदि तुम बारह महीनेके भीतर मुझे अङ्गीकार नहीं कर लोगी तो तुम्हारा सिर काटकर उसका भोजन बनाया जायगा।* उसके बाद जब श्रीहनुमान्जी श्रीसीताजीकी खोज करते हुए लङ्काकी उस अशोकवाटिकामें पहुँचे, तब श्रीसीताजीने भी उनसे रावणकी वह धमकी सुनायी और कहा कि रावणने बारह मासतक मेरे जीवनकी अवधि बतलायी थी, उसमेंसे केवल दो मास बाकी रह गये हैं। आज दसवाँ महीना समाप्त हो रहा है। इन दो महीनोंके भीतर यदि रावणका वध और भगवान् श्रीरामकी प्राप्ति मुझे नहीं हो जायगी तो अवश्य ही मेरी

---

* शृणु मैथिलि मद्वाक्यं मासान् द्वादश भामिनि।
कालेनानेन नाभ्येषि यदि मां चारुहासिनि॥
ततस्त्वां प्रातराशार्थं सूदाश्छेत्स्यन्ति लेशशः॥
(वाल्मीकीय रामायण, अर० ५६। २४-२५)

मृत्यु होगी।* श्रीसीताजी और भी शपथपूर्वक कहने लगीं—'मेरे स्वामी भगवान् श्रीरामचन्द्रजीसे कहना कि सीताजी केवल दो महीनेतक और जीवित रहेंगी। भगवान् श्रीरामजी लङ्कामें स्वयं पधारकर रावणका वध करें और मुझे प्राणदान दें।'† अस्तु, श्रीसीताजीकी इस सत्यप्रतिज्ञासे यह बात निश्चितरूपसे प्रतीत होती है कि सीता-हनुमान्-सम्भाषणके दो महीने अर्थात् ६० दिनके भीतर ही रावणका वध हुआ और भगवान् श्रीरामको श्रीसीताजी प्राप्त हो गयीं।

'चैत्रवैशाखौ वसन्तर्तुः। ज्येष्ठाषाढौ ग्रीष्मर्तुः। श्रावणभाद्रपदौ वर्षर्तुः। आश्विनकार्तिकौ शरदृतुः। मार्गशीर्षपौषौ हेमन्तर्तुः। माघफाल्गुनौ शिशिरर्तुः।'

—इन ऋतु-परिभाषाओंको पाठक याद रक्खें और यह भी याद रक्खें कि आश्विन-पौर्णमासीके दिन अश्विनी, कार्तिक-पौर्णमासीके दिन कृत्तिका, मार्गशीर्ष-पौर्णमासीके दिन मृगशिरा नक्षत्र प्रायः होता है। साथ-ही-साथ यह भी याद रखनेकी बात है कि महाभारतके विराट-पर्वमें वनवास चाहनेवाले पाण्डवोंको भीष्मने जिस प्रकार वर्ष-मास गिननेकी रीति‡ बतलायी है, उसी प्रकार श्रीराम-वनवासके वर्ष-मास भी गिने गये थे। वह रीति इस प्रकार है—जिस वर्ष अधिक मास आता था उस वर्ष १३ महीने और जिस वर्ष क्षयमास आता था उस वर्ष ११ महीने माने जाते थे। श्रीराम-वनवासके १४ वर्षोंमें अधिक मास ५ हो सकते हैं; परन्तु इतने दिनोंके बीचमें क्षयमास एक भी नहीं आया, इसलिये अधिक मास ५ रहे। इन पाँच अधिकमासोंको १४ वर्षोंमेंसे घटानेसे १३ वर्ष ७ महीने हुए, जिनको भगवान् श्रीरामकी २५ वीं वर्ष-गाँठके तिथि-मास

* अयं संवत्सरः कालस्तावद्धि मम जीवनम्।
वर्तते दशमो मासो द्वौ तु शेषौ प्लवङ्गम॥
रावणेन नृशंसेन समयो यः कृतो मम॥
(वा० रा०, सु० का० ३७। ८)

† इदं ब्रूयाश्च मे नाथं शूरं रामं पुनः पुनः।
जीवितं धारयिष्यामि मासं दशरथात्मज॥
ऊर्ध्वं मासान्न जीवेयं सत्येनाहं ब्रवीमि ते॥
(वा० रा०, सु० का० ३८। ६४, ६५)

नोट—यहाँ 'मासात्' पदसे 'द्वाभ्यां मासाभ्यां' समझना चाहिये। टीकामें देखिये।

‡ पञ्चमे पञ्चमे वर्षे द्वौ मासावुपजायतः।
एषामभ्यधिका मासाः पञ्च च द्वादश क्षपाः॥
त्रयोदशानां वर्षाणामिति मे वर्तते मतिः॥
(महाभारत, विराटपर्व)

(चैत्रशुक्ला ९, पुष्य नक्षत्र) में मिलानेसे यह सिद्ध होता है कि ३८वीं वर्षगाँठ (चैत्र शु० ९) के अनन्तर ठीक ७ महीने में अर्थात् कार्तिकशुक्ला नवमीको वनवास समाप्त हो जाना चाहिये। परन्तु २५वीं वर्षगाँठके दिन जब कि भगवान् श्रीराम वनवासके लिये विदा हुए थे, पुष्य नक्षत्र पड़ा था; इसलिये पुष्य नक्षत्र आनेपर ही वनवासकी समाप्ति मानी जायगी। यह पुष्य नक्षत्र* बादमें मार्गशीर्षकृष्ण ६ को (आजकल भी प्रायः मार्गशीर्षकृष्ण ५ या ६को ही पुष्य नक्षत्र आया करता है।) आया, इसलिये श्रीरामचन्द्रजी मार्गशीर्षकृष्ण ६को ही अयोध्यामें पधारकर श्रीभरतजीसे तथा माताओंसे मिले। उस समय भगवान् श्रीरामकी उम्र ३८ वर्ष, ८ महीने, ११ दिनकी थी। श्रीरामचन्द्रजीकी वर्षगाँठ प्रतिवर्ष उनके जन्मदिन अर्थात् चैत्रशुक्ला ९को ही मनायी जाती थी। २५ वर्षकी उम्रमें† चैत्र‡ शुक्ला नवमी, पुष्य§ नक्षत्रके दिन उनका

* पूर्णे चतुर्दशे वर्षे पञ्चम्यां लक्ष्मणाग्रजः।
भरद्वाजाश्रमं प्राप्य ववन्दे नियतो मुनिम्॥
(वा० रा०, यु० का० १२४। १)

तदा भरद्वाज आह—
अर्घ्यं प्रतिगृहाणेदमयोध्यां श्वो गमिष्यसि॥
(यु० का० १२४। १७)

भरतं प्रति हनुमद्वचनम्—
तां गङ्गां पुनरासाद्य वसन्तं मुनिसंनिधौ।
अविघ्नं पुष्ययोगेन श्वो रामं द्रष्टुमर्हसि॥
(यु० का० १२६। ५४)

(अर्थात् कल षष्ठी तिथि और पुष्य नक्षत्र है)

† सीतोवाच—
मम भर्ता महातेजा वयसा पञ्चविंशकः।
अष्टादश हि वर्षाणि मम जन्मनि गण्यते॥१०॥
उषित्वा द्वादश समा इक्ष्वाकूणां निवेशने।
भुञ्जाना मानुषान् भोगान् सर्वकामसमृद्धिनी॥४॥
तत्र त्रयोदशे वर्षे राजामन्त्रयत प्रभुः।
अभिषेचयितुं रामं समेतो राजमन्त्रिभिः॥५॥
(अर० का० ४७)

‡ चैत्रः श्रीमानयं मासः पुण्यः पुष्पितकाननः।
यौवराज्याय रामस्य सर्वमेवोपकल्प्यताम्॥
(अयो० का० ३। ४)

§ उदिते विमले सूर्ये पुष्ये चाभ्यागतेऽहनि।
लग्ने कर्कटके प्राप्ते जन्म रामस्य च स्थिते॥
अभिषेकाय रामस्य द्विजेन्द्रैरुपकल्पितम्॥
(अयो० का० १५। ३, ४)

राज्याभिषेक होनेवाला था, परन्तु दैववशात् उसी दिन उन्हें वनवासके लिये प्रस्थान करना पड़ा। वनवास-समाप्तिके वर्ष अधिक तथा शुद्ध मिलाकर कुल ६० दिनका आश्विन मास था। इसलिये पाठकोंकी सुविधाके लिये इस लेखमें प्रारम्भके ३० दिनको प्रथम आश्विन और पीछेके ३० दिनको द्वितीय आश्विन-के नामसे कहा गया है।

वर्षाऋतुके कुछ दिन पूर्व बालिका वध तथा सुग्रीवका राज्याभिषेक हुआ था। उसके बाद वर्षाऋतु बितानेके लिये भगवान् श्रीराम लक्ष्मणजीके साथ प्रवर्षण गिरिकी गुफामें रहने लगे और उधर सुग्रीवजी किष्किन्धामें रहकर राज्य-सुख भोगने लगे। वर्षाऋतु* समाप्त हुई। शरदृऋतु†के चिह्न दिखायी पड़ने लगे। उस समय श्रीरामने लक्ष्मणजीको सुग्रीवके पास भेजकर यह सन्देश पहुँचाया कि 'आपने वर्षा-ऋतुके पूर्व जो प्रतिज्ञा (सुग्रीवने यह प्रतिज्ञा की थी कि मैं नानाद्वीपवासी वानरोंको शीघ्र ही इकट्ठा करूँगा और उनको श्रीसीताजीके अन्वेषणार्थ भेजूँगा।) की थी, उसको क्या भूल गये ?' लक्ष्मणजीके द्वारा इस सन्देशको सुनकर सुग्रीवजीने कहा कि 'मैं नानाद्वीपोंके वानरोंको बुलानेके लिये बहुत-से दूत भेज चुका हूँ। अब वे शीघ्र ही यहाँ आ जानेवाले हैं। वे वानर बहुत बलिष्ठ तथा इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले हैं एवं श्रीरामके कार्यके लिये ही पैदा हुए हैं।' यह सुनकर लक्ष्मणजी प्रसन्न हुए और सुग्रीवजीको साथ लेकर श्रीरामजी-के पास आये। सुग्रीवजीने अपना किया हुआ कार्य श्रीरामजी-को भी सुनाया, जिससे श्रीरामजी सन्तुष्ट हुए। इतनेमें श्रीरामचन्द्रजीने बाहर देखा तो नानाद्वीपवासी वानरगण आते हुए दिखायी पड़े। उन सबने समीप आकर श्रीरामजीको तथा अपने राजा सुग्रीवजीको प्रणाम किया और अपना कर्तव्य-कार्य पूछा। सुग्रीवजीने आये हुए वानरोंको अलग-अलग दलोंमें विभक्त करके उन्हें चारों दिशाओंमें श्रीसीताजीके अन्वेषणार्थ भेजा। विदा करते समय उन्होंने सब वानरोंसे कहा कि 'जो वानर एक मासके‡ भीतर सीताजीका पता लगाकर उसका समाचार मुझे नहीं सुनायेगा, वह मेरे हाथोंसे मारा जायगा।' अङ्गद, नल, नील, जाम्बवन्त, हनुमान् आदि दक्षिण दिशामें भेजे गये। सीताजीको विश्वास दिलानेके लिये श्रीरामजीने अपनी अँगूठी§ हनुमान्‌जीको दी। हनुमान्‌जी सुग्रीवके मन्त्री भी थे। जिस दिन वे लोग सीताजीकी खोजमें चले थे, वह शरदृऋतुके तथा प्रथम आश्विन मासके प्रारम्भका दिन था अर्थात् उस दिन प्रथम आश्विनके कृष्णपक्षकी प्रतिपदा थी। सीताके अन्वेषणार्थी अङ्गद, हनुमान् प्रभृति दक्षिण दिशामें चले गये। प्रथम आश्विन मास बीत गया। एक महीनेकी अवधि समाप्त हो गयी। सीताजीका पता नहीं लगा। तब अङ्गदजी रोकर हनुमान्‌जीसे कहने लगे कि 'सुग्रीवजी मेरा वध अवश्य करेंगे। हम सभी सीताजीका खोज लगानेमें विफल रह गये। अब मैं किष्किन्धामें जाकर सुग्रीवजीके हाथों मरनेके बजाय यहीं अन्न-जलका त्याग करके प्राण छोड़ दूँगा'* अङ्गदजीका इस

* चत्वारो वार्षिका मासा गता वर्षशतोपमाः।
मम शोकाभितप्तस्य तथा सीतामपश्यतः॥
(कि० का० ३० । ६४)

नोट—चार पक्षोंके वर्षाऋतुके दो महीनोंको ही यहाँ चातुर्मास्य-के नामसे कहा गया है। आश्विन तथा कार्तिकको भी चातुर्मास्य-के अन्तर्गत माननेमें यह आपत्ति आती है कि आश्विनकृष्णके आरम्भमें अँगूठी देकर हनुमान् तथा अङ्गद भेजे गये थे और उसके पहले श्रीरामजीने लक्ष्मणजीसे यह कहा था कि 'वर्षाऋतुके चार मास पूरे हो चुके हैं, शरदृऋतु आ गयी है, सीताजीकी प्राप्तिके लिये प्रबन्ध होना चाहिये।' ऐसी दशामें भगवान्‌का उपर्युक्त वचन गलत हो जाता है। इसलिये श्रीरामजी तथा अन्य टीकाकारोंकी भी सम्मतिके अनुसार वर्षाऋतुके दो महीनोंके चार पक्षोंको ही चातुर्मास्य समझना चाहिये। इस विषयको समझनेके लिये वाल्मीकीय रामायणके किष्किन्धाकाण्डका ३० वाँ सर्ग देखिये।

† पाण्डुरं गगनं दृष्ट्वा विमलं चन्द्रमण्डलम्।
शारदीं रजनीं चैव दृष्ट्वा ज्योत्स्नानुलेपनाम्॥
(कि० का० ३० । २)

‡ अधिगम्य तु वैदेहीं निलयं रावणस्य च।
मासे पूर्णे निवर्तध्वमुदयं प्राप्य पर्वतम्॥
ऊर्ध्वं मासान्न वस्तव्यं वसन् वध्यो भवेन्मम॥
(कि० का० ४० । ६९-७०)

§ ददौ तस्य ततः प्रीतः स्वनामाङ्कोपशोभितम्।
अङ्गुलीयमभिज्ञानं राजपुत्र्याः परंतपः॥
(कि० का० ४४ । १२)

* युवराजो महाप्राज्ञ अङ्गदो वाक्यमब्रवीत्।
मासः पूर्णो बिलस्थानां हरयः किं न बुध्यत॥
वयमाश्वयुजे मासि कालसंख्याव्यवस्थिताः।
प्रस्थिताः सोऽपि चातीतः किमतः कार्यमुत्तरम्॥
(किष्किन्धा० ५३ । ७-९)

प्रकारका विलाप सुनकर सबलोग निराश होकर बैठे थे कि सम्पाती नामका एक पक्षी दीख पड़ा। अङ्गदजीके पूछनेपर उसने सीताजीका ठीक-ठीक पता बताया। उसको सुनकर वानरलोग आपसमें कहने लगे कि 'सौ योजनके समुद्रको लाँघनेमें हम तो असमर्थ हैं, वायुपुत्र हनुमान्जी इस समुद्रको फाँदकर सीताजीका समाचार ला सकते हैं; इसलिये उन्हींको भेजा जाय।' जाम्बवान्जीने भी इस प्रस्तावको स्वीकार किया और उन्होंने सबकी ओरसे हनुमान्जीको समुद्र-पार जानेके लिये कहा। हनुमान्जी जाम्बवान्की आज्ञा पाकर उत्साहित हो गये और तत्काल आकाश-मार्गसे लङ्काकी ओर चल पड़े। लङ्कामें पहुँचकर उन्होंने रातोरात† सीताजीका पता लगा लिया, उनके पास जाकर उन्हें श्रीरामजीका कुशल-समाचार सुनाया और उनको श्रीरामकी भेजी हुई अँगूठी दी। सीताजीने भी प्रसन्न मनसे अपना चूड़ामणि उतारकर हनुमान्जीको दिया और कहा कि 'मेरा यह चूड़ामणि श्रीरामजीको दे देना तथा यहाँका सब समाचार भी सुनाना, जिससे दो महीनोंके भीतर-भीतर रावणका वध‡ हो जाय और मुझको श्रीरामजी यहाँसे ले जायँ।' इस विषयमें ऊपर लिखा ही जा चुका है।

हनुमान्जीने इस प्रकार रात्रिमें ही सीताजीकी खोज कर ली और प्रातःकाल अशोकवाटिकाको उजाड़ दिया तथा कुछ राक्षसोंको भी मारा। पश्चात् रावणने उन्हें पकड़वा लिया और उनकी पूँछमें आग लगवा दी। हनुमान्जीने अपनी पूँछकी उस आगको लङ्कामें फैलाकर उसका बहुत-सा हिस्सा जला दिया। तत्पश्चात् वे स्वयं समुद्रमें कूद पड़े और अपनी पूँछको आग बुझाते हुए बहुत प्रसन्न हुए। पश्चात् वे शीघ्र ही आकाश-मार्गसे चल पड़े और तुरन्त जाम्बवान्, अङ्गद आदिके पास आ पहुँचे। सभी वानर-भालू हनुमान्जीद्वारा सीताजीका पता लगानेका समाचार पाकर बहुत प्रसन्न हुए। अनन्तर हनुमान्जी सबके साथ किष्किन्धाके मधुवनमें आ पहुँचे। वहाँ सबने यथेष्ट मधुपान किया। पश्चात् हनुमान्समेत अङ्गदजी सुग्रीवसे आकर मिले। सुग्रीवजी उस समय प्रवर्षण पर्वतपर श्रीरामजीके पास ही बैठे थे। हनुमान्जीने सीताजीका समाचार सुग्रीवको तथा श्रीरामजीको सुनाया और चूड़ामणि दे दिया। श्रीरामजी इसपर अत्यन्त सन्तुष्ट हुए। उन्होंने हनुमान्जीको प्रगाढ़ आलिङ्गन दिया और कहा कि 'मैं तुम्हारे इस उपकारसे कभी उऋण नहीं हो सकता।' उस आनन्ददायक समाचारको सुनकर सभी रामानुयायी आनन्द-समुद्रमें मग्न हो गये। पश्चात् श्रीरामचन्द्रजीने सुग्रीवसे कहा, 'इस समय मध्याह्नका विजयमुहूर्त है। आज उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र है और कल हस्त नक्षत्र है। इसलिये आज ही इस शुभ मुहूर्तमें हमलोगोंको सम्पूर्ण वानर-सेनाके साथ विजययात्राके लिये प्रस्थान कर देना चाहिये।' श्रीरामचन्द्रजीकी इस आज्ञाको शिरोधार्य कर सुग्रीवसमेत सभी वानरगण दक्षिणसमुद्रकी ओर (सेतुबन्धरामेश्वरकी ओर) चल पड़े।* श्रीरामचन्द्रजी हनुमान्जीके कन्धेपर और लक्ष्मणजी अङ्गदजीके कन्धेपर बैठे तथा आकाश-मार्गसे शीघ्र ही रामेश्वर जा पहुँचे। शेष वानर-सेना भी दिन-रात पैदल चलकर यथासमय रामेश्वर पहुँच गयी। कोई-कोई अन्य प्रमुख वानर भी आकाशमार्गसे पहुँचे। तात्पर्य यह कि सारी वानर-सेना रामेश्वरमें श्रीरामचन्द्रजीके निकट आकर इकट्ठी हो गयी।

अङ्गदके इस वचनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि हनुमान्जीको प्रथम आश्विन कृष्णके प्रारम्भमें ही अँगूठी दी गयी थी।

† सूर्ये चास्तङ्गते रात्रौ देहं संक्षिप्य मारुतिः।
वृषदंशकमात्रोऽथ बभूवाद्भुतदर्शनः॥
चन्द्रोऽपि साचिव्यमिवास्य कुर्वंस्तारागणैर्मध्यगतो विराजन्।
ज्योत्स्नावितानेन वितत्य लोकानुत्तिष्ठतेऽनेकसहस्ररश्मिः॥
(सु० का० २। ४७, ५४)

सूर्यास्त होनेके बाद थोड़े ही देरमें पूरा चन्द्रमा (अनेक-सहस्ररश्मिः) निकला था, इससे मालूम होता है कि वह तिथि द्वितीय आश्विन कृष्णद्वितीयाके लगभग थी।

‡ यदि रामो दशग्रीवमिह हत्वा सराक्षसम्।
मामितो गृह्य गच्छेत तत्तस्य सदृशं भवेत्॥
वर्तते दशमो मासो द्वौ तु शेषौ प्लवङ्गम।
रावणेन नृशंसेन समयो यः कृतो मम॥
(सु० का० ३७। ६४, ८)

* अस्मिन्मुहूर्ते सुग्रीव प्रयाणमभिरोचय।
युक्तो मुहूर्ते विजये प्राप्तो मध्यं दिवाकरः॥
उत्तरा फाल्गुनी ह्यद्य श्वस्तु हस्तेन योक्ष्यते।
अभिप्रयामः सुग्रीव सर्वानीकसमावृताः॥
ततो वानरराजेन लक्ष्मणेन च पूजितः।
जगाम रामो धर्मात्मा ससैन्यो दक्षिणां दिशम्॥
(यु० का० ४। ३, ५, २१)

पहले लिखा जा चुका है कि जब प्रथम आश्विन मास समाप्त हो गया और द्वितीय आश्विन मासका कृष्णपक्ष आरम्भ हुआ, तब एक महीना बीत जानेके कारण अङ्गदजी रुदन करने लगे थे। उनका यह रुदन प्रायः द्वितीय आश्विन कृष्ण प्रतिपदाको हुआ। उस दिन रेवती नक्षत्र रहा होगा। उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र रेवती नक्षत्रसे १३वें दिन पड़ता है, यह प्रायः नियम-सा है। और इस नियमसे यह सिद्ध होता है कि श्रीरामचन्द्रजीको चूडामणि-का दर्शन तथा उनके आज्ञानुसार युद्धका प्रस्थान द्वितीय आश्विन कृष्ण १३ को हुआ। इन तेरह दिनोंके भीतर ही किसी दिन हनुमान्‌जीको लङ्कामें श्रीसीताजीका दर्शन प्राप्त हुआ था। मेरे विचारसे द्वितीय आश्विन कृष्णपक्षकी द्वितीयाके लगभग किसी रात्रिमें हनुमान्‌जीने सीताजीका दर्शन किया था। पाठकगण चाहें तो किसी भी सालके पञ्चाङ्गको देखकर इन तिथि-मास-नक्षत्रोंका मिलान कर सकते हैं। तिथि-नक्षत्रोंकी घटिकाओंकी घटा-बढ़ीसे कदाचित् एक-दो दिनका अन्तर पड़ सकता है, अधिक नहीं। उस दिन सूर्यास्तके समय हनुमान्‌जी सूक्ष्म रूप धारणकर लङ्कामें घूम रहे थे और उसी समय आकाशमें चन्द्रमा भी निकला था। बादमें हनुमान्‌जीने मध्यरात्रिके समय रावणके अन्तःपुरमें प्रवेश किया था।* ये बातें द्वितीयाके आस-पास ही सम्भव हो सकती हैं।

जिस दिन श्रीरामचन्द्रजी दक्षिण समुद्रके तटपर पहुँचे, उसी दिन उनका दर्शन करनेके लिये विभीषण तथा रावणका दूत शुक उनके पास पहुँचे थे। श्रीरामचन्द्रजीने उसी समय विभीषणको राज्यतिलक दिया और रावण-दूत शुकको बन्दी किया। तत्पश्चात् श्रीरामजीने शिवलिङ्ग (रामेश्वर) की स्थापना तथा पूजा की और समुद्रका प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त करनेके लिये तीन दिनतक मौन-व्रत रक्खा।† जब समुद्रने तीन दिनमें दर्शन नहीं दिया, तब उन्होंने क्रोध दिखलाकर समुद्रशोषणके लिये ब्रह्मास्त्र छोड़नेका विचार किया। उस समय समुद्रने भयभीत होकर श्रीरामचन्द्रजीको प्रत्यक्ष दर्शन दिया, उनकी पूजा की और कहा कि 'भगवन्, नलनामक वानरके द्वारा सेतु बँधवाया जाय। मैं उसे धारण करूँगा।' समुद्रके इस कथनके अनुसार नलने अन्य वानरोंके साथ पाँच दिनमें सौ योजन लंबा सेतु तैयार कर दिया।* उस सेतुपर चढ़कर सभी वानर शीघ्र ही लङ्काके सुवेल पर्वतपर पहुँच गये। श्रीराम-लक्ष्मण क्रमशः हनुमान्-अङ्गदके कंधोंपर बैठकर आकाश-मार्गसे वहाँ पहुँचे। जिस दिन श्रीरामजी सुवेल पर्वतपर पहुँचे, उस दिन द्वितीय आश्विनकी पौर्णमासी थी, अर्थात् प्रस्थानके दिनसे १७ वें दिन श्रीरामजी सेनासमेत सुवेल पर्वतपर पहुँचे।† वहाँ पहुँचते ही उन्होंने शुक दूतको बन्धनमुक्त कर दिया और उसी दिनसे वानरों तथा राक्षसों-का युद्ध प्रारम्भ हो गया। राम-प्रस्थानके १२ वें दिनसे (द्वितीय आश्विन शुक्ला दशमी—विजयादशमीसे) पाँच दिनमें सेतु-बन्धका कार्य पूरा हुआ और उन १२ दिनोंमें

---

* परिवृत्तेऽर्धरात्रे तु पाननिद्रावशं गतम्।
क्रीडित्वोपरतं रात्रौ प्रसुप्तं बलवत्तदा॥
(सु० का० ९। ३४)

† स त्रिरात्रोषितस्तत्र नयज्ञो धर्मवत्सलः।
उपासत तदा रामः सागरं सरितां पतिम्॥
(यु० का० २१। ११)

* कृतानि प्रथमेनाह्ना योजनानि चतुर्दश।
... ...
द्वितीयेन तथैवाह्ना योजनानि तु विंशतिः॥
... ...
अह्ना तृतीयेन तथा योजनानि तु सागरे।
... ...
चतुर्थेन तथा चाह्ना द्वाविंशतिरथापि वा॥
पञ्चमेन तथा चाह्ना प्लवगैः क्षिप्रकारिभिः।
योजनानि त्रयोविंशत्सुवेलमधिकृत्य वै॥
(यु० का० २२। ६४-६८)

क्षिप्रमद्यैव दुर्धर्षां पुरीं रावणपालिताम्।
अभियाम जवेनैव सर्वैर्हरिभिरावृताः॥
(यु० का० २३। ११)

† अध्यारोहन्त शतशः सुवेलं यत्र राघवः।
ते त्वदीर्घेण कालेन गिरिमारुह्य सर्वतः॥
... ...
ददृशुः शिखरे तस्य विषक्तामिव खे पुरीम्॥
ततोऽस्तमगमत्सूर्यः सन्ध्यया प्रतिरञ्जितः।
पूर्णचन्द्रप्रदीप्ता च क्षपा समतिवर्तत॥
(यु० का० ३८। ९, १०, १३)

तां रात्रिमुषितास्तत्र सुवेले हरियूथपाः।
लङ्कायां ददृशुर्वीरा वनान्युपवनानि च॥
(यु० का० ३९। १)

सेनाका किष्किन्धासे रामेश्वर पहुँचना, रामेश्वरकी स्थापना, तीन दिन मौन-व्रतसे रहना आदि कार्य हुए।

जिस रात्रिको लक्ष्मणजीने निकुम्भिलानामक स्थानपर इन्द्रजित् (मेघनाद) का वध किया, उसी रात्रिमें रावण पुत्र-शोकसे पीड़ित होकर अशोक-वाटिकामें गया और खड्गसे सीताजीका वध करनेको उद्यत हुआ; परन्तु सुपार्श्वनामक मन्त्रीने नाना युक्तियोंसे रावणको समझाकर सीतावधसे निवृत्त किया। उसने कहा कि 'आज कृष्णपक्षकी चतुर्दशी है। कल अमावस्याके दिन आप रामसे युद्ध करें।'* सुपार्श्वकी बतायी हुई चतुर्दशी कार्तिककी कृष्णचतुर्दशी थी। राम-प्रस्थानके दिनसे यह ३१ वाँ दिन था। यहाँतक १५ दिनका युद्ध हुआ। इन दिनोंमें बहुत-से प्रमुख-प्रमुख राक्षस कुम्भकर्ण और मेघनादके साथ मारे गये। अब केवल रावण ही मुख्य योद्धा बच गया था। उसका युद्ध अमावस्यासे शुरू हुआ। वह कभी युद्धमें आता था और कभी लङ्कामें पलायन कर जाता था, इस प्रकार कई दिनोंतक उसने युद्ध किया। युद्धभूमि लङ्का नगरीसे कुछ दूर थी।

पहले लिखा जा चुका है कि मार्गशीर्ष कृष्णा ६के दिन पुष्य नक्षत्रमें श्रीरामचन्द्रजी सीतासमेत पुष्पक विमानद्वारा अयोध्या पहुँच गये थे। उसके पहले दिन पञ्चमी तिथिके प्रातःकाल वे लङ्कासे चले थे और उसी दिन दोपहरको भरद्वाज मुनिके आश्रममें पहुँचकर उन्होंने मुनियोंकी सन्निधिमें निवास किया और हनुमान्‌के द्वारा अयोध्याके नन्दिग्राममें भरतके पास समाचार पहुँचाया। उसके पहले दिन चतुर्थीको जब श्रीरामचन्द्रजी लङ्कासे चलनेके लिये तैयार हुए तब विभीषणने प्रार्थना की कि कल दिनमें ही पुष्पक विमानद्वारा प्रस्थान करना अच्छा होगा।† श्रीरामचन्द्रजीने इस प्रार्थनाको स्वीकार करके चतुर्थीकी रातको लङ्कामें ही निवास किया। यह मार्गशीर्ष कृष्णा चतुर्थी तिथि रामप्रस्थानके दिनसे ५१वाँ दिन था। इस प्रकार सीताजीकी शपथपूर्वक की हुई यह सत्य प्रतिज्ञा की कि दो महीनेके अंदर ही रावणका वध तथा श्रीरामजीकी प्राप्ति होनी चाहिये, पूर्ण हुई। मेघनाद-वधके दिनसे मार्गशीर्ष कृष्णा चतुर्थीतक २१ दिनमें रावणका वध, अग्निमें सीताकी शुद्धि, दशरथसे वार्तालाप, ब्रह्मा, शङ्कर, इन्द्र आदि देवताओंद्वारा भगवान् श्रीरामकी स्तुति, रावणका दाह-संस्कार, विभीषणका राज्याभिषेक, वानरोंका विसर्जन आदि कार्य हुए।

यद्यपि एक वर्षके अंदर वैशाख शुक्ला षष्ठी, ज्येष्ठ शुक्ला षष्ठी, कार्तिक कृष्णा षष्ठी, मार्गशीर्ष कृष्णा षष्ठी—इन चारों तिथियोंमें पुष्य नक्षत्रका योग होना सम्भव है, तथापि मार्गशीर्ष कृष्णा षष्ठीको छोड़कर इन मासोंकी षष्ठी तिथियोंमें पुष्य नक्षत्रका योग इसलिये नहीं मानना चाहिये कि उनमें राम-वनवासकी समाप्तिका दिन किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता। वनवासकी समाप्ति जाननेकी रीति ऊपर लिखी जा चुकी है।

मार्गशीर्ष कृष्णा सप्तमीके दिन भी कुछ घटिकाओंतक पुष्य नक्षत्र अवश्य था; इसीलिये उस दिन प्रातःकाल महर्षि वशिष्ठने सुग्रीव, हनुमान्, अङ्गद आदिके द्वारा चारों समुद्रोंका जल मँगवाया था* और उसी दिन राम-राज्याभिषेक भी किया था। वाल्मीकिरामायणकी रामाभिरामी टीकामें भी सप्तमीको ही रामराज्याभिषेक लिखा गया है।† यद्यपि टीकाकारोंने अनेक पुराणोंके आधारपर रावण-वध तथा रामराज्याभिषेककी भिन्न-भिन्न तिथियाँ और मास लिखे हैं, तथापि वे सब तिथि-मास कल्पभेदसे ठीक हैं—इसमें कोई सन्देह नहीं है। चाहे जिस कल्पके रामावतारका चरित्र हो, उसका पठन-पाठन करनेसे चित्त-शुद्धि होकर भगवत्प्राप्ति हो सकती है। हाँ, मैंने केवल महर्षि वाल्मीकिके मतानुसार ही रावण-वध, युद्धारम्भ एवं युद्धसमाप्ति और श्रीरामचन्द्रजीके अयोध्या-पुरीमें प्रवेश तथा भरत-सम्मिलनका समय दिखलानेकी चेष्टा की है।

युद्ध-समाप्तिके अनन्तर श्रीरामचन्द्रजीके साथ लङ्कासे पुष्पक विमानद्वारा आयी हुई सारी भक्तमण्डली अर्थात्

---

* अभ्युत्थानं त्वमद्यैव कृष्णपक्षचतुर्दशी।
कृत्वा निर्याह्यमावस्यां विजयाय बलैर्वृतः॥
(यु० का० ९२।६२)

† तं विना कैकयीपुत्रं भरतं धर्मचारिणम्।
न मे स्नानं बहुमतं वस्त्राण्याभरणानि च॥
एवमुक्तस्तु काकुत्स्थं प्रत्युवाच विभीषणः।
अह्ना त्वां प्रापयिष्यामि तां पुरीं पार्थिवात्मज॥
(यु० का० १२१।६,८)

* तथा प्रत्यूषसमये चतुर्णां सागराम्भसाम्।
पूर्णैः घटैः प्रतीक्षध्वं तथा कुरुत वानराः॥
—इति सुग्रीवं प्रति भरतवचनम् (यु० का० १२९।५०)

† नन्दिग्रामे तु षष्ठ्यां वै भरतेन समागतः।
सप्तम्यामभिषिक्तोऽसौ अयोध्यायां रघूत्तमः॥
(यु० का० टीका ११०, श्लोक १४)

सुग्रीव, अङ्गद, हनुमान्, नल, नील, जाम्बवन्त, उनकी स्त्रियाँ तथा विभीषण आदि अयोध्यामें रामराज्याभिषेक होनेके बाद दो महीनोंतक रहे। † दूसरा महीना शिशिर-ऋतु (माघ) का था। तत्पश्चात् श्रीरामचन्द्रजीने सुग्रीव आदि वानरोंको तथा विभीषण आदि राक्षसोंको अपने-अपने देशमें जाकर राज्य करनेके लिये कहा। भगवान् श्रीरामकी इस आज्ञाके अनुसार सुग्रीव और विभीषण आदिकी मण्डली उनका चिन्तन करती हुई अपने-अपने स्थानको चली गयी।* श्रीरामचन्द्रजीने ११ हजार वर्षतक राज्य किया। श्रीरामजीके राज्यमें मनुष्योंकी पूर्णायु १ हजार वर्षकी थी। श्रीरामचन्द्र-*जीका वर प्राप्त करके विभीषण तथा हनुमान्जी कल्पान्त*-जीवी हुए। अयोध्यावासी सभी जीव ब्रह्मलोकसे भी ऊपर सान्तानिकनामक लोकको प्राप्त हुए। भगवान् श्रीरामचन्द्रजी महाविष्णु हुए। श्रीसीताजी लक्ष्मी बन गयीं। श्रीलक्ष्मणजी शेष बन गये और श्रीभरत तथा श्रीशत्रुघ्न शङ्ख-चक्र बन गये।

पूरे लेखका सारांश यह है कि श्रीराम-वनवाससमाप्तिके वर्ष प्रथम आश्विनके कृष्णपक्षका प्रारम्भ होते ही हनुमान्, अङ्गद आदि वानर श्रीरामजीसे अँगूठी प्राप्त करके श्रीसीता-जीके अन्वेषणार्थ निकले थे। प्रथम आश्विन मास समाप्त हो जानेके बाद द्वितीय आश्विन मासके कृष्णपक्षकी द्वितीयाके लगभग हनुमान्जीने लङ्कामें श्रीसीताजीका दर्शन प्राप्त किया। द्वितीय आश्विन मासकी कृष्णा त्रयोदशी एवं उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रके दिन श्रीरामचन्द्रजीने किष्किन्धासे सैन्यसमेत युद्धके लिये प्रस्थान किया। द्वितीय आश्विन शुक्ला दशमीसे प्रारम्भ-कर कुल ५ दिनमें वानरोंने सेतु तैयार किया, जिसके द्वारा सारी सेना शीघ्र ही लङ्कामें पहुँच गयी। द्वितीय आश्विन शुक्ला पूर्णिमाकी शामको श्रीरामचन्द्रजीने सैन्यसमेत सुवेल पर्वतपर *निवास किया और उसी दिनसे युद्धारम्भ हो गया।* सबसे पहले प्रधान सेनानायक सुग्रीवजी रावणके स्थानपर जाकर उससे लड़े। कार्तिक कृष्णा चतुर्दशीको इन्द्रजित् (मेघनाद) का वध हुआ। कार्तिक कृष्णा अमावस्यासे रावण तथा श्रीरामजीकी लड़ाई शुरू हुई। मार्गशीर्ष कृष्णा द्वितीयाके दिन श्रीराम-रावण-युद्धकी समाप्ति हुई।* इन ३२ दिनोंके अंदर रावण, कुम्भकर्ण, मेघनाद प्रभृति असंख्य राक्षस मारे गये। बचे हुए राक्षसोंका राज्य विभीषणको सौंपा गया। *मार्गशीर्ष कृष्णा पञ्चमीके दिन पुष्पक विमानके द्वारा* लङ्कासे चलकर श्रीरामचन्द्रजी सीता, लक्ष्मण, सुग्रीव, अङ्गद, हनुमान्, विभीषण आदिके साथ दोपहरको भरद्वाज मुनिके आश्रम प्रयागमें पहुँचे और उस दिन रात्रिमें भी वहीं निवास

---

† एवं तेषां निवसतां मासः साग्रो ययौ तदा।
... ...
रामोऽपि रेमे तैः सार्द्धं वानरैः कामरूपिभिः॥
... ...
एवं तेषां ययौ मासो द्वितीयः शिशिरः सुखम्।
वानराणां प्रहृष्टानां राक्षसानाञ्च सर्वशः॥
(उ० का० ३९।२७, २८, २९)

कृतप्रसादास्तेनैवं राघवेण महात्मना।
जग्मुः स्वं स्वं गृहं सर्वे देही देहमिव त्यजन्॥
(उ० का० ४०।३०)

* सुग्रीव आदि दो महीनोंतक अयोध्यामें रहकर शिशिर-ऋतुमें विदा हुए, इससे भी यही सिद्ध होता है कि मार्गशीर्षमें ही श्रीरामजीका राज्याभिषेक हुआ था। राज्याभिषेकके दिनसे ५३ वें दिन शिशिर-ऋतु (माघ) का प्रारम्भ हुआ था।

दश वर्षसहस्राणि रामो राज्यमकारयत्।
आसन् वर्षसहस्राणि तथा पुत्रसहस्रिणः।
निरामया विशोकाश्च रामे राज्यं प्रशासति॥
(यु० का० १२८। १०४, १०१)

दश वर्षसहस्राणि दश वर्षशतानि च।
रामो राज्यमुपासित्वा ब्रह्मलोके गमिष्यति॥

---

* अष्टादशदिने रामो द्वैरथे रावणं वधीत्।
(यु० का० टी० ११० श्लो० १४)

यह रामाभिरामी टीकाका मत है। 'द्वैरथ युद्ध' उसे कहते हैं, जिसमें केवल दो ही रथोंसे आपसमें युद्ध किया जाय—द्वाभ्यां रथाभ्यां क्रियत इति द्वैरथम्। इस मतके अनुसार केवल १८ दिनोंतक राम-रावणका युद्ध होता रहा। यह मत भी किसी-न-किसी कल्पके रामावतारसे सम्बन्ध रखनेके कारण ठीक ही है। यदि हम इसका अवलम्बन करें तब भी यही निश्चय होता है कि कार्तिक कृष्णा अमावस्यासे मार्गशीर्ष कृष्णा द्वितीयातक राम-रावण-युद्ध होता रहा और उसी दिन रावणका वध हो जानेसे युद्धकी समाप्ति हो गयी। मेघनाद-वधके दिनसे १९वें दिन रावणका वध हुआ। रावण-वधके बाद उसका दाह-संस्कार हुआ तथा विभीषण-का राज्याभिषेक हुआ। पश्चात् एक-दो दिनमें श्रीरामचन्द्रजीने पुष्पक विमानद्वारा अयोध्याकी ओर प्रस्थान किया और मार्गमें पञ्चमीके दिन प्रयागमें भरद्वाज मुनिके आश्रममें निवास किया, इत्यादि।

किया। मार्गशीर्ष कृष्णा षष्ठी, पुष्य नक्षत्रके दिन पूर्वाह्णकालमें अयोध्याके नन्दिग्राममें आकर श्रीरामचन्द्रजी सबके साथ श्रीभरतजीसे मिले। मार्गशीर्ष कृष्णा सप्तमीको कुलगुरु महर्षि वसिष्ठजीने अयोध्यामें श्रीरामचन्द्रजीका राज्याभिषेक किया। उसके बाद दो मासपर्यन्त विभीषण तथा सुग्रीव आदिकी मण्डली अयोध्यामें श्रीरामजीकी सन्निधिमें रही। अनन्तर शिशिर-ऋतुमें श्रीरामचन्द्रजीने आज्ञा देकर विभीषण, सुग्रीव आदि सारी मण्डलीको विदा किया। उसके पश्चात् ११ हजार वर्षोंतक श्रीरामचन्द्रजीने राज्य किया और तदनन्तर ब्रह्मलोककी यात्रा की। तथा अयोध्यावासी लोग सान्तानिकनामक लोकमें पहुँचाये गये।

उपसंहार

वनवाससमाप्तिके वर्ष दोनों आश्विन मासके ६० दिन हुए। इनमें पहलेके १५ दिन तथा अन्तिम १५ दिन शुद्ध मासके और बीचके ३० दिन मलमासके मानने चाहिये। अर्थात् ऐसे समझना चाहिये कि प्रथम आश्विन मासके आदिके १५ दिन शुद्धपक्षके तथा बाकी १५ दिन मलपक्षके थे और द्वितीय आश्विन मासके आदिके १५ दिन मलपक्षके तथा शेष १५ दिन शुद्धपक्षके थे। इस प्रकार भाद्रपदकी पूर्णिमासे ३१वें दिनपर्यन्त प्रथम आश्विन मास था और ३१वें दिनसे ६१वें दिनतक द्वितीय आश्विन मास था। ६१वें दिनसे ९१वें दिनतक कार्तिक था और ९८वें दिन मार्गशीर्ष कृष्णा सप्तमी तिथि थी, जिस दिन रामराज्याभिषेक हुआ। भाद्रपदकी पूर्णिमाको वर्षा-ऋतुकी समाप्ति हुई और शरद्-ऋतुका आरम्भ हुआ। इसी पूर्णिमाके दूसरे दिन श्रीहनुमान्‌जी प्रभृति अँगूठीके साथ दक्षिण दिशाकी ओर भेजे गये थे। १२वें दिन अङ्गदने रुदन किया था। ३३वें दिन लङ्कामें रात्रिके समय हनुमान्‌जीने सीताजीका दर्शन किया। ४४वें दिन श्रीरामजीने किष्किन्धासे ससैन्य प्रस्थान किया। ५६वें दिन विजयादशमीको सेतुबन्धनका कार्य आरम्भ हुआ। ६१वें दिन पूर्णिमाको श्रीरामजी सेनासमेत सुबेल पर्वतपर पहुँचे। ७५वें दिन मेघनाद मारा गया। ७६वें दिनसे राम-रावणका घोर युद्ध प्रारम्भ हुआ। ९३वें दिन रावणका वध हुआ। ९६वें दिन श्रीरामचन्द्रजी भरद्वाजके आश्रममें (प्रयाग) पहुँचे। ९८-वें दिन मार्गशीर्ष कृष्णा सप्तमीको रामराज्याभिषेक हुआ। अस्तु—

इन मुख्य-मुख्य बातोंको ध्यानमें रखना चाहिये—
१—वर्षा-ऋतुकी समाप्ति तथा शरद्-ऋतुके प्रारम्भमें हनुमान्‌जी प्रभृतिको अँगूठी देकर सीताजीके अन्वेषणार्थ भेजा गया था।
२—लङ्कामें हनुमान्‌जीके पहुँचनेपर सीताजीने यह शपथपूर्वक कहा था कि यदि दो महीनोंमें राम-प्राप्ति न होगी तो मैं प्राण-त्याग कर दूँगी। ३—उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रको रामने प्रस्थान किया। ४—पूर्णिमाको लङ्काके सुबेल पर्वतपर श्रीरामका सेनासहित निवास हुआ। ५—कृष्णपक्षकी अमावस्याको रावण युद्ध-भूमिपर उतरा था। ६—पुष्य नक्षत्रयुक्त षष्ठी तिथिको श्रीरामजी भरतजीसे मिले तथा उसी दिन वनवास-विधिके अनुसार वनवास पूरा हुआ। कुल १३ वर्ष, ८ मासतक वनवास रहा। ७—पुष्य नक्षत्रयुक्त षष्ठी तिथिके २ महीने बाद शिशिर-ऋतु आयी और उसी ऋतुमें सुग्रीव तथा विभीषणादि अयोध्यासे विदा हुए।

लीला-विभूति और नित्य-विभूति

(लेखक—श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, एम्० ए०, आचार्य, शास्त्री)

यह विचित्र विश्व परमात्मासे उदित होकर उन्हींमें लीन हो जाता है। जगत्की सृष्टि और प्रलयको समझानेके लिये शास्त्रोंमें मकड़ीका उदाहरण दिया गया है। मकड़ी अपनेमेंसे ही जालका विस्तार करती है, कुछ समयतक उसे रखकर पुनः अपनेमें ही लीन कर लेती है।

ब्रह्म मकड़ीके समान है और जगत् जालके समान है। मकड़ी और जालमें जो सम्बन्ध है वही ब्रह्म और जगत्में है। जाल मकड़ीसे भिन्न नहीं है, उसी प्रकार जगत् भी ब्रह्मसे भिन्न नहीं है।

यहाँपर एक बात स्मरणीय है और वह यह कि जिस प्रकार मकड़ीके चेतनांशमें कुछ विकार नहीं होता और जड शरीरांशसे ही जालका सृजन होता है, उसी प्रकार ब्रह्मके स्वरूपांशमें कुछ विकार नहीं होता, जड शरीरांशसे ही जगत्का विकास होता है।

जालकी सृष्टि चेतनाधिष्ठित शरीरसे ही होती है, साक्षात् चेतनसे नहीं। इसी प्रकार जगत्की भी सृष्टि ईश्वराधिष्ठित प्रधान (प्रकृति) से ही होती है, साक्षात् ईश्वरसे नहीं। इसी तत्त्वको श्रीभगवान्ने अपने मुखारविन्दसे यों समझाया है—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।

देवदत्तमें जो केशश्मश्रुनखोद्गम होता है अथवा कौमार, यौवन और जराका उद्भव होता है, वह देवदत्तके शरीरमें ही होता है; चेतनांश तो निर्विकार ही रहता है।

देवदत्तमें चेतनांशके साथ जडांशका क्या सम्बन्ध है? देह-देहीसम्बन्ध, शरीर-शरीरीसम्बन्ध, नियाम्य-नियन्तासम्बन्ध, प्रकार-प्रकारीसम्बन्ध, शेष-शेषी-सम्बन्ध, शरीर-आत्मासम्बन्ध, विशेषण-विशेष्यसम्बन्ध। ब्रह्मका भी जड जगत्के साथ आत्म-शरीरसम्बन्ध है और न केवल जड जगत्के ही साथ अपि तु जीवात्माओंके साथ भी ब्रह्मका आत्म-शरीरसम्बन्ध है।

बृहदारण्यक उपनिषद्के तृतीय अध्यायके सप्तम ब्राह्मणमें ब्रह्मका प्रकृति और जीवोंके साथ आत्म-शरीर-सम्बन्ध विशदरूपमें वर्णित हुआ है।

भूम्यादि जडवर्गको गीतामें श्रीभगवान्ने अपनी अपरा और जीवको परा प्रकृति (प्रकार) बताया है।

भगवान् अपने 'अपर' और 'पर' प्रकारोंमें अन्तः-प्रविष्ट होकर जो सृष्टि, स्थिति, प्रलय, निग्रह, अनुग्रह कर रहे हैं, वह उनकी लीलाका विलास है। जो कुछ हुआ है, हो रहा है और होगा, वह सब परम पुरुष ही है, उसकी क्रीडा ही है।

किन्तु यह विश्व-विलास श्रीभगवान्की एकपाद्-विभूति है। इस विभूतिमें त्रिगुणमयी प्रकृतिके परिणत होनेके कारण स्थिरता नहीं है। जीवोंके भी ज्ञानमें सङ्कोच-विकास होते रहते हैं। सुख, दुःख, मोहकी त्रिविध तरङ्गिणीमें जीव मज्जनोन्मज्जन करते रहते हैं। जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधिसे होनेवाला दुःख-दोष यहाँ विद्यमान है। पुण्य-पापकी गतियोंका भोग स्वर्ग और नरक यहीं हैं। प्राकृत परिणाम एवं जीवगत सुख-दुःखसे असंस्पृष्ट अन्तर्यामी भगवान् सब कुछ तटस्थभावसे देखते रहते हैं।

इसके अतिरिक्त भगवान्की एक और विभूति है, जहाँका व्यापार त्रिगुणोंसे अतीत है, आनन्दमय है, दिव्य है, चिन्मय है। यहाँ सुख-दुःख, पुण्य-पाप, धर्म-अधर्मकी गति नहीं है। इसी विभूतिके नामान्तर हैं—त्रिपाद्विभूति, अप्रपञ्च, नित्योदित, नित्यविभूति,

वैकुण्ठ, परमपद । यह मुक्तोंसे, नित्य सूरियोंसे सेव्यमान श्रीमन्नारायणका नित्य धाम है । यहाँ पहुँचकर जगत्‌में कर्मवश पुनरागमन नहीं होता । यह विभूति स्वयंप्रकाश है, षाड्गुण्यरूपिणी है ।

नित्यविभूतिके अधिष्ठाता श्रीभगवान्‌के आकारके विषयमें जब चर्चा चलती है, तब शास्त्रोंका और आचार्योंका मत अवलम्बन करके यही कहा जाता है कि वह आकार अप्राकृत है । उस आकारका, विग्रहका, देहका हानोपादान नहीं होता; क्योंकि भगवान् और भगवान्‌का शरीर दो नहीं हैं । भगवान्‌की व्यक्ति सच्चिदानन्दमयी ही है ।

नीचे कतिपय शास्त्रीय वाक्य दिये जाते हैं, जिनसे स्पष्ट ही विदित होता है कि भगवद्-विग्रह प्राकृत नहीं होता—

(१) जितं ते पुण्डरीकाक्ष पूर्णषाड्गुण्यविग्रह !

अर्थात् हे कमलके समान सुन्दर नेत्रवाले भगवन् ! आपकी विजय हो । आपका विग्रह पूर्ण ज्ञानादि-षड्गुणमय है ।

(२) नमः सर्वगुणातीतषाड्गुण्यायातिवेधसे ।

अर्थात् हे भगवन् ! मैं आपको प्रणाम करता हूँ । आप प्रकृतिके सारे गुणोंसे परे हैं, ज्ञानादि अपने षड्गुणोंसे युक्त हैं, परमेष्ठीसे भी परे हैं ।

(३) क्लेशकर्माद्यसंस्पृष्टपूर्णषाड्गुण्यमूर्तये ।

अर्थात् हे नाथ ! आपकी मूर्त्तिमें अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश, कर्म, विपाक और आशय नहीं हैं, किन्तु पूर्णज्ञानादि स्वीय गुण हैं ।

(४) चिन्मात्ररूपिणे तुभ्यम् ।

अर्थात् हे भगवन् ! आपको नमस्कार है । आपका रूप शुद्ध चैतन्यमय है ।

(५) विपाकैः कर्मभिः क्लेशैरस्पृष्टवपुषे नमः ।

अर्थात् आपके वपु (देह) में कर्म और उनके विपाकोंका स्पर्श भी नहीं है ।

(पञ्चरात्रागम)

(६) अस्यापि देव वपुषो मदनुग्रहस्य
स्वेच्छामयस्य न तु भूतमयस्य कोऽपि ।

अर्थात् हे कृष्ण ! मैं जो यह आपका वपु देख रहा हूँ, यह भौतिक नहीं है किन्तु स्वेच्छामय है ।

(श्रीमद्भा० १० । १४ । २)

(७) सर्वे नित्याः शाश्वताश्च देहास्तस्य परात्मनः ।
हानोपादानरहिता नैव प्रकृतिजाः क्वचित् ॥

अर्थात् उस परमात्माके सभी देह हमेशासे हैं और हमेशा रहेंगे । उनका त्याग और ग्रहण नहीं किया जाता, क्योंकि वे कभी किसी दशामें भी प्राकृत नहीं होते ।

(महावाराहपुराण)

(८) न तस्य प्राकृता मूर्त्तिर्मेदोमज्जास्थिसम्भवा ।

अर्थात् परमात्माकी मूर्त्ति (शरीर) मेद-मज्जादि धातुओंकी बनी नहीं होती ।

(९) न भूतसङ्घसंस्थानो देहोऽस्य परमात्मनः ।

अर्थात् परमेश्वरका देह पाञ्चभौतिक नहीं होता ।

(महाभारत)

(१०) ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः ।

अर्थात् परमेश्वर श्रीकृष्णका विग्रह (देह) सत्-चित्-आनन्दमय है ।

(ब्रह्मसंहिता)

(११) अष्टादशमहादोषै रहिता भगवत्तनुः ।
सर्वैश्वर्यमयी सत्यविज्ञानानन्दरूपिणी ॥

अर्थात् श्रीभगवान्‌का तनु (शरीर) अठारह दोषोंसे रहित है, सर्वविध ऐश्वर्यसे पूर्ण है और सच्चिदानन्दमय है ।

(वैष्णवतन्त्र)

(१२) तमेकं गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहम् ।

अर्थात् गोविन्द श्रीकृष्णका विग्रह सच्चिदानन्दस्वरूप है ।

(गोपालपूर्वतापनी)

(१३) राम त्वं परमात्मासि सच्चिदानन्दविग्रहः ।

अर्थात् हे राम ! आप ही परमात्मा हैं और आपका विग्रह सच्चिदानन्दघन है ।

(मुक्तिकोपनिषद्)

(१४) अद्वैताखण्डपरिपूर्णनिरतिशयपरमानन्दशुद्धबुद्धमुक्तसत्यात्मकब्रह्मचैतन्यसाकारत्वान्निरुपाधिकसाकारस्य नित्यत्वं सिद्धम् ।

अर्थात् भगवान्का आकार उस चैतन्यका ही आकार है जो अद्वैत, अखण्ड, परिपूर्ण, निरतिशयानन्द, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य और ब्रह्म कहलाता है । और यह आकार नित्य है ।

(त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषद्)

(१५) कृष्णो वै पृथगस्ति कोऽप्यविकृतः सच्चिन्मयो नीलिमा ।

अर्थात् श्रीकृष्ण सर्वातीत हैं, उनमें किसी प्रकारका कोई विकार नहीं है और उनका नीलवर्ण त्रिकालसत्य और चिन्मय है ।

(श्रीशङ्कराचार्य)

(१६) यथा ज्ञानादयः परस्य ब्रह्मणः स्वरूपतया निर्देशात् स्वरूपभूतगुणास्तथेदमपि रूपं श्रुत्या स्वरूपतया निर्देशात् स्वरूपभूतम् ।

अर्थात् जिस प्रकार श्रुति ज्ञानादि गुणोंको परब्रह्मके स्वरूपभूत गुण बताती है, उसी प्रकार यह (शङ्ख-चक्राद्युपेत,कमलनयन, पीताम्बर आदि) रूप भी श्रुतिद्वारा परब्रह्मका स्वरूप वर्णन किये जानेसे स्वरूपभूत ही है ।

(वेदार्थसंग्रह)

(१७) षड्गुणैश्वर्यसम्पन्नो दिव्यमङ्गलविग्रहः ।
..................श्रीपतिः पुरुषोत्तमः ।

अर्थात् श्रीपति पुरुषोत्तमका विग्रह दिव्य है, मङ्गलमय है । वे ज्ञानादि गुणषट्कसे युक्त हैं ।

(अर्थपञ्चकविवेक)

(१८) किमात्मिका भगवतो व्यक्तिर्यदात्मको भगवान् । किमात्मको भगवान् ? ज्ञानात्मको भगवान् ।

अर्थात् प्रश्नकर्त्ता पूछता है कि भगवान्की व्यक्ति (देह) किस उपादानकी है ?

उत्तर—भगवान्की व्यक्ति उसी उपादानकी है जिस उपादानके भगवान् हैं ।

प्रश्न—भगवान् किस तत्त्वके बने हैं ?

उत्तर—भगवान् ज्ञानस्वरूप हैं । अतः भगवान्का शरीर भगवान्से पृथक् नहीं है ।

(तत्त्वत्रयचुलुकसंग्रह)

(१९) परस्यैव ब्रह्मणो निखिलहेयप्रत्यनीकानन्तज्ञानानन्दैकस्वरूपतया सकलेतरविलक्षणस्य स्वाभाविकानवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणगणाश्च सन्ति,तद्वदेव स्वाभिमतानुरूपैकरूपाचिन्त्यदिव्याद्भुतनित्यनिरवद्यनिरतिशयौज्ज्वल्यसौन्दर्यसौकुमार्यलावण्ययौवनाद्यनन्तगुणगणनिधि दिव्यरूपमपि स्वाभाविकमस्ति ।

अर्थात् सत्त्वगुण-रजोगुण-तमोगुणसे हीन, अनन्त ज्ञान और आनन्दस्वरूपवाले, अन्य सभीसे विलक्षण परब्रह्मके जिस प्रकार अनन्त कल्याणगुण स्वाभाविक ही हैं, उसी प्रकार उनका दिव्य रूप भी आगन्तुक नहीं, स्वाभाविक ही है । यह रूप उनको स्वयं प्रिय है, उनके सदृश है, एकरस है, ब्रह्मादिकोंसे भी अतर्क्य है, दिव्य है, अद्भुत है, नित्य है, निर्दोष है, लोकोत्तर है, उज्ज्वल है, सुन्दर है, सुकुमार है, लावण्यपूर्ण है, यौवनयुक्त है और एवंविध अनन्त गुणोंसे अभिराम है ।

(श्रीभाष्य)

(२० अ) नित्यत्वं वासुदेवाह्वयवपुषि जगौ मोक्षधर्मे मुनीन्द्रः ।

(आ)......स हि भवति सदा पूर्णषाड्गुण्यशाली ।

अर्थात् वासुदेव भगवान्का वपु नित्य है और वह सदा षाड्गुण्यमय है ।

(तत्त्वमुक्ताकलाप)

(२१) चिदानन्दमय देह तुम्हारी।
विगत बिकार जान अधिकारी॥

अर्थात् हे राम! तुम्हारी देह चिन्मय, आनन्दमय और निर्विकार है। इस बातको अधिकारी पुरुष ही जानते हैं।

(तुलसीकृत रामायण)

इस षाड्गुण्यमयी त्रिपाद्-विभूतिमें आश्रित वात्सल्यैकजलधि श्रीमन्नारायण परब्रह्म (१) वासुदेव, (२) सङ्कर्षण, (३) प्रद्युम्न और (४) अनिरुद्ध—इन चार व्यूहरूपोंमें भी अवस्थित हैं। इस त्रिपाद्-विभूतिसे जब परब्रह्म अकेले अथवा व्यूहरूपमें एकपाद्-विभूतिपर साधुपरित्राण, धर्मोद्धार और दुष्कृति-विनाशके लिये पधारा करते हैं, तब उनका वह शुभागमन 'अवतार' कहलाता है। अवतारोंको 'विभव' कहते हैं। विभवोंके भी विग्रह दिव्य, हानोपादानहीन होते हैं। उदाहरणके लिये श्रीरामचन्द्रजीने न तो एकपाद्-विभूतिमें आकर यहाँकी प्रकृतिका बना हुआ कोई शरीर स्वीकार किया और न उसे छोड़ा ही। वे तो अपने 'स्वरूप' में ही आये और 'स्वरूप' में ही चले गये। रामायण इसमें प्रमाण है। धराधामसे अपने नित्यधामको जानेके समय वाल्मीकि महर्षिके शब्दोंमें श्रीराम—

विवेश वैष्णवं तेजः सशरीरः सहानुजः।

भक्तोंकी प्रतिष्ठापित मूर्त्तियोंमें भी जब भगवत्-सान्निध्य होता है, तब भी श्रीभगवान् अपने स्वरूपभूत अप्राकृत वपुमें ही कृपा करते हैं।

इस प्रकार परब्रह्म परमात्मा कहीं (लीलाविभूतिमें) प्रकृति और प्रकृतिसंसृष्ट जीव-निकायके साथ अन्तर्यामी, विभव और अर्चावताररूपमें स्थित होकर क्रीडा करते हैं और कहीं (नित्यविभूतिमें) नित्य सूरियों एवं प्रकृति-वियुक्त मुक्तात्माओंके साथ अपने व्यूहरूप और पररूपमें निवास करते हैं।

जीव दो श्रेणियोंमें विभक्त हैं—बुभुक्षु और मुमुक्षु। जो बुभुक्षु हैं, वे एकपाद्-विभूतिके ही धर्मज, अर्थज और कामज सुखके उपभोगमें पुरुषार्थ मानते हैं। सत्सङ्गद्वारा इनके भी हृदयमें मुक्तीच्छा जाग्रत् हो सकती है।

मुमुक्षु भी दो प्रकारके हैं। एक तो वे जो ज्ञान-द्वारा अपनेको प्रकृतिके जालसे छुड़ाकर कैवल्य प्राप्त करना चाहते हैं और दूसरे वे जो भक्तिद्वारा अपनेको प्रकृतिपाशसे छुड़ानेके साथ ही श्रीभगवच्चरणनलिनयुगल-की सेवाका अधिकारी बनाते हैं।

उभय प्रकारके ही मुमुक्षु त्रिपाद्विभूतिमें प्रवेश लाभ करते हैं, जहाँ उत्तरावधिरहित आत्मानन्द अथवा भक्त्यानन्दका साम्राज्य है।

दोनों ही प्रकारके मुक्तात्मा अपनी इच्छासे वा भगवदादेशसे धर्मसंरक्षणार्थ त्रिपाद्विभूतिसे एक-पाद्-विभूतिमें आ सकते हैं।
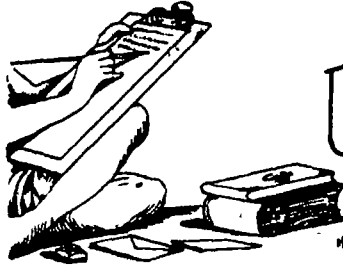
(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

तुमने लिखा कि दूकानका काम ज्यादा देखना पड़ता है, इसलिये भजनमें भूलें अधिक होती हैं, सो ठीक है। भजन और ध्यानकी स्थितिको ठीक रखकर सावधान रहते हुए जितना हो सके काम करना चाहिये। कामसे डरना नहीं चाहिये और न उसे अपनी ओरसे छोड़ना ही चाहिये। भजन-ध्यानमें प्रेम होनेपर काम आप-से-आप उस मनुष्यका साथ छोड़ देता है। संसारके कामोंसे प्रेम हटाकर भगवान्‌में प्रेम लगाना चाहिये; ऐसी स्थितिमें संसारका काम भले ही चाहे कम हो, कोई हर्जकी बात नहीं। फलासक्तिको छोड़कर, निष्कामभावसे, प्रसन्नताके साथ, भगवान्‌के नामका ध्यानसहित जप करना चाहिये और भगवान्‌के लिये ही संसारका काम देखना चाहिये। जो कुछ यह संसार भासता है, वह भी भगवान्‌की लीला है, भगवान् ही विभिन्न रूपोंमें लीला कर रहे हैं—ऐसा समझते हुए भगवान्‌की मर्जीके मुताबिक लीलारूपमें ही काम करना चाहिये। शक्तिभर मालिकके काममें सहारा देना चाहिये। मालिककी मर्जीसे ही सब काम होते हैं। अतएव मालिक जैसा करें, उसीमें राजी रहना चाहिये। उनके विरुद्ध इच्छा नहीं करनी चाहिये।

यदि कोई मालिककी मर्जीके अनुसार काम तो करे परन्तु मनमें नाराजगीका भाव रक्खे, तो यह ठीक नहीं है। ऐसे व्यक्तिको मालिक हरामी समझेगा, शरणागतिमें दोष आयेगा और निष्काम कर्म भी नहीं बन पायेगा। अपने मतलबके अनुसार इच्छा करना ही शरणागतिमें कलङ्क लगाना है। इसलिये अपनी इच्छाको छोड़कर मालिक जिस कामसे राजी रहे, वही काम मालिकके लिये लीलामात्र मानकर करना चाहिये। जो संसारके कामोंको मिथ्या जान लेगा वह कभी उनसे घबरायेगा नहीं। जो संसारके कामोंको मिथ्या, स्वप्नवत् और मालिककी लीलामात्र समझकर करता है, उसीको मालिक अपना ज्ञानी भक्त समझता है; पर जो मालिकके कामको झंझट समझकर उसे नहीं करना चाहता, वह हरामी गिना जाता है। तथा जो मालिकके लीलामात्र कार्योंको सच्चा समझकर आसक्तिवश करता है, उसे मालिक मूर्ख समझता है।

तुमने लिखा कि समय अनमोल नहीं समझ पड़ता, सो ठीक है। जो समयको अनमोल समझ लेगा, वह तो हर समय भजन-ध्यानमें ही लगा रहेगा। उसके भजन-ध्यानमें संसारके काम-काज बाधा नहीं उत्पन्न कर सकते। जिन पुरुषोंकी शरीरमें प्रीति होती है, वे यदि किसी ऐसे मुकदमेमें फँस जाते हैं, जिसमें उन्हें कैद या प्राणदण्डका भय होता है, तो उनको संसारका काम करते रहनेपर भी कभी अपने उस मामलेका चिन्तन नहीं छूटता। जिस प्रकार भी हो उस मुकदमेसे छुटकारा पाना ही वे सर्वोत्तम समझते

हैं, इसीलिये उसकी बातोंको वे कभी भूलते नहीं। इसी प्रकार जो व्यक्ति यह समझता है कि मेरे ऊपर यमराजके घरका मुकदमा चला हुआ है, वह उससे छुटकारा पानेके लिये जी-जानसे प्रयत्न करता है और जबतक उससे छुटकारा नहीं मिल जाता तबतक उसे क्षणभर भी चैन नहीं मिलता। वह समझता है कि यदि मैंने इसी जन्ममें इस मुकदमेसे छुटकारा नहीं पा लिया तो फिर चौरासी लाख बार फाँसीकी सजा भुगतनी पड़ेगी।

जिस प्रकार रुपयोंका लोभी चलते-फिरते, उठते-बैठते, काम-काज करते मनमें निरन्तर रुपयोंकी ही चिन्ता करता रहता है, जिस प्रकार कुलटा स्त्री अपने दुष्ट स्वभावके कारण परपुरुषमें आसक्त हो जाती है, उसे हर समय उस परपुरुषकी ही याद बनी रहती है, वह अपना भेद किसीपर प्रकट नहीं होने देती और घरका काम करती रहती है, उसी प्रकार हमें श्रीनारायण-देवसे प्रीति जोड़नी चाहिये। जो नारायणको छोड़कर मिथ्या संसारसे प्रीति करता है, वह अपने हाथों अपना गला काटता है।

तुमने लिखा कि हर वक्त चिन्तनसहित जप होता रहे, ऐसा उपाय बतलाना चाहिये, सो ठीक है। इस प्रकारकी चाह यदि तुम्हारे मनमें है तो बहुत उत्तम बात है। लेकिन ऐसी चाह होनेपर भी चिन्तनसहित जपमें ढिलाई किसलिये होती है? जिसके मनमें जिस चीजकी चाह होती है, वह तो उसीके परायण हो जाता है। फिर ऐसा होनेमें देरी क्यों होती है? जबतक निरन्तर भजन करनेकी पूरी चाह नहीं होती तबतक यही मानना पड़ेगा कि उसके साथ संसारकी दूसरी चीजोंकी भी चाह बनी हुई है, जो उसमें कलङ्क लगानेवाली है। भगवान्‌को उत्तम समझनेवाला पुरुष हर समय भगवान्‌को ही चाहेगा, और किसी वस्तुकी चाहको उत्पन्न ही न होने देगा। क्योंकि सबसे बढ़िया चीजके बदलेमें कोई खराब चीज कैसे लेगा? उसके लिये तो एकमात्र अनमोल वस्तु भगवान्‌का भजन-ध्यान ही है, वह भजन-ध्यानरूपी अनमोल हीरेको छोड़कर संसारके भोगरूप काँच-पत्थरका रोजगार नहीं कर सकता। इसलिये तुम चिन्तनसहित जपका मूल्य पहचानो और हर समय उसमें लगे रहो। सब समय भगवान्‌का ही चिन्तन करना चाहिये। जो भगवान्‌को छोड़कर एक क्षणके लिये भी संसारके किसी नाशवान् पदार्थकी इच्छा करता है, वह महान् मूर्ख है।

(२)

आपने लिखा कि नाम-जपमें भूलें बहुत होती हैं और इसका कारण आपके पुरुषार्थकी कमी है, सो पुरुषार्थ तो अपने हाथकी वस्तु है, उसमें कमी नहीं आने देना चाहिये। भगवान्‌के भजनका मर्म और प्रभाव जान लेनेपर पुरुषार्थमें कमी नहीं आ सकती। परन्तु जबतक ऐसा न हो तबतक विश्वास करके ही नाम-जपका तीव्र अभ्यास करना चाहिये।

आपने लिखा कि समय बीत रहा है, सो समय तो बीतेगा ही। पर जितना समय भजन-ध्यानके बिना बीतता है, वही बीतता अर्थात् नष्ट होता है। भजन-ध्यानमें बीता हुआ समय बीतता नहीं, वह तो स्थिर हो जाता है। बिना भजनके जो समय बीते, उसके लिये पछतावा होना चाहिये। सब समय भगवान्‌की याद बनी रहे, इसके लिये पूरी चेष्टा करनी चाहिये। इस प्रकार प्राणपणसे चेष्टा होगी तो भूल अवश्य ही कम होगी।

भगवान्‌से प्रेम होनेपर आप-से-आप संसारसे प्रेम हट जायगा। प्रसन्न मनसे बहुत दिनोंतक भजनका तीव्र अभ्यास करनेपर भगवान्‌के नाममें प्रीति हो सकती है। यदि प्रीतिपूर्वक भजन न हो तब भी निरन्तर भजन करनेकी चेष्टा जोरसे होनी चाहिये। फिर कोई आपत्ति नहीं। समय अनमोल है, इसलिये

उसे अनमोल काममें ही लगाना चाहिये । बहुत सचेत होकर रहना चाहिये । मृत्यु किसीको पहले खबर नहीं देती, इसलिये सब समय नारायणका आसरा पकड़े रहना चाहिये । जो सच्चिदानन्दका चिन्तन करते हुए मरेगा, उसकी कुछ भी हानि न होगी । अतः एक पल भी कालका विश्वास मत कीजिये और निरन्तर भजन करते जाइये ।

(३)

आपने लिखा कि जिससे निरन्तर भजन-ध्यान होने लगे, ऐसी कड़ी बात लिखनी चाहिये, सो ठीक है । पर केवल बातोंसे भजन-ध्यान निरन्तर होने लगता तो कभी की वैसी स्थिति हो गयी होती । परमात्मामें प्रेम होनेपर संसारसे अपने-आप वैराग्य हो जाता है । भगवान्‌का गुणानुवाद तथा उनके स्वभाव-सामर्थ्य एवं प्रेम-भक्तिकी बातें बाँचने-सुननेसे भगवान्‌का मर्म जाना जाता है और उनसे मिलनेकी तीव्र इच्छा होती है । भगवान्‌से मिलनेकी इच्छा तीव्र होनेपर भजन-ध्यानकी चेष्टा स्वाभाविक ही अधिक होने लगती है । भजन-ध्यान करते रहनेसे अन्तःकरणकी शुद्धि हो जाती है और अन्तःकरण शुद्ध होनेपर संसारके भोग अच्छे नहीं लगते ।

समय बीता जा रहा है, बीता हुआ समय किसी सूरतसे भी वापस नहीं आ सकता—ऐसा जानकर उसका एक-एक पल ऊँचे-से-ऊँचे काममें लगाना चाहिये । आप संसारमें जिस कामके लिये आये हैं, उस कामको करके फिर दूसरे कामकी ओर ताकना चाहिये । एक भगवान्‌के सिवा कोई आपका नहीं है । इसलिये उनके भजन-ध्यानमें कभी ढील नहीं आने देनी चाहिये ।

(४)

जो समयका मोल जानता है, वह कभी भी कालके द्वारा नहीं मारा जा सकता; क्योंकि वह कभी कालका विश्वास ही नहीं करेगा । फिर उसको काल धोखा कैसे दे सकता है ? जो कालको अच्छी तरह नहीं जानता, वही उसके धोखेमें पड़ता है । उसीका नाश काल करता है । काल अचानक आता है । जिस प्रकार चूहेको बिल्ली पकड़ती है, उसी प्रकार मौत भी जीवको अचानक पकड़ लेती है । इस बातको जो जान लेगा, वह सब समय नारायणके चिन्तनकी शरण पकड़े रहेगा, एक पल भी उसे छोड़ेगा नहीं । वह भगवान्‌के नामका स्मरण करता हुआ मरेगा, फलतः भगवान्‌को प्राप्त कर लेगा, मृत्युरूपी संसार-सागरमें नहीं डूबेगा । मृत्यु उसे कभी मार न सकेगी । वही मनुष्य धन्यवादका पात्र है, जिसका ध्यान हर समय भगवान्‌में लगा रहता है । जो हर समय भगवच्चिन्तन करता रहता है, उसको जीवन्मुक्तिकी क्या आवश्यकता है ? वह पुरुष तो दर्शन करने लायक है, उसका दर्शन करनेसे पापी भी पापसे मुक्त हो जाता है और उसके जरिये न जाने कितने जीवन्मुक्त हो जाते हैं । उस की जीवन्मुक्ति तो कभीकी हो गयी रहती है ।

(५)

आपने लिखा कि समय बहुत फालतू जाता है और भजन बहुत कम होता है, सो ऐसा क्यों होता है ? इसका कारण संसारी आदमियोंका सङ्ग और संसारी वस्तुओंका चिन्तन ही मालूम होता है । भगवान्‌में प्रेम कम होनेके कारण ही भजन कम होता है । यह शरीर एक दिन मिट्टीमें मिल जायगा । इसको बचानेका कोई उपाय नहीं है, कारण कि यह अपना नहीं है; केवल यही नहीं, संसारके सारे पदार्थ नाश होनेवाले हैं । केवल श्रीनारायण ही सत्य, सनातन, अविनाशी और आनन्दरूप हैं । अतः उन्हींकी शरण लेनी चाहिये । श्रीभगवान्‌का दर्शन प्राप्त हुए विना संसारके जालसे कभी छुटकारा नहीं मिल सकता । श्रीभगवान् प्रेमके

अधीन हैं। इसलिये जिस प्रकार हो श्रीनारायणसे जल्दी-से-जल्दी पूर्ण प्रेम करनेकी चेष्टा जोरसे करनी चाहिये। तुम्हारे पास जितनी भी चीजें हैं, सबको श्रीनारायणको पानेमें लगा देना चाहिये। पीछे श्री-नारायण स्वयं हाजिर हो सकते हैं।

(६)

भजन-ध्यान और सत्सङ्गके लिये हर समय चेष्टा रखनेसे ही सब काम बन सकते हैं। इस चेष्टाका बहुत दिनोंतक निरन्तर अभ्यास करते रहनेसे भली-भाँति भजन-ध्यान और सत्सङ्ग होने लगता है। संसारमें भजन-ध्यान और सत्सङ्गके बराबर और कोई लाभ नहीं है। मनुष्यको विचार करना चाहिये कि मैं इस संसारमें किस लिये आया हूँ? कौन हूँ? मेरा काम क्या है और करता क्या हूँ? मैं जो कुछ करता हूँ, वह सब ठीक है या नहीं? इस प्रकार विचार करके जिसके द्वारा हमारा परम कल्याण हो वही करना चाहिये। यदि विचारनेसे हमारा वर्तमान कर्म ठीक नहीं जँचता तो जो ठीक हो वही करना चाहिये। आलस्य और प्रमादका शिकार नहीं होना चाहिये। अपने अनमोल समयको अनमोल काममें ही बिताना चाहिये।

(७)

आपने लिखा कि परमात्माका स्मरण बहुत कम होता है, सो ठीक है। इस बारेमें मैं पहले पत्र लिख चुका हूँ। आपका समय परमात्माके चिन्तनमें नहीं बीतता, इसका कारण आप जानिये। मैं दूर बैठा हुआ किस प्रकार आपकी भूलोंके सम्बन्धमें ठीक अनुमान कर सकता हूँ? या तो आपको सांसारिक झंझटें अधिक रहती हैं या भगवद्भक्तोंका सङ्ग बहुत कम प्राप्त होता है। प्रधानरूपसे तो इन्हीं दो कारणोंका अनुमान मैं कर सकता हूँ। आपको अपनी त्रुटियोंपर स्वयं विचार करना चाहिये। इस जीवनका क्या ठिकाना है? आपके पीछे साधनमें लगनेवाले कई लोग आपसे आगे बढ़ गये। शुरू-शुरूमें आपकी बड़ाई कुछ ज्यादा हुई, उससे आपके मनमें अभिमान तो नहीं उत्पन्न हो गया? जो कुछ हुआ, सो हुआ; यदि आप अब भी चेत जायँ और निरन्तर भजन-ध्यानके लिये चेष्टा करें तो अभी कुछ नहीं बिगड़ा है। अब भी सब बातें बन सकती हैं। अन्य बहुत-से भाइयोंका उत्तम और तीव्र साधन देखकर आपके मनमें उत्साह क्यों नहीं होता? यदि कहें कि कुछ होता है तो वह नहींके समान है। क्योंकि जब उत्तेजनाके अनुसार कार्य नहीं होता तो वैसी उत्तेजना किस कामकी? अवश्य ही बिल्कुल न होनेकी अपेक्षा तो थोड़ा उत्साह भी होना अच्छा है। पर वह दूसरे उत्साही भजन-कर्ताओंसे होड़ लगाकर उनसे आगे बढ़ानेवाला नहीं है। यदि आपके हृदयमें भगवान्‌पर पूरा विश्वास है तो आप भगवद्भजनमें एक पलकी भी ढील किस लिये कर रहे हैं? यदि आप संसारको सचमुच मिथ्या समझते हैं तो फिर इस स्वप्नतुल्य संसारके लिये अपना अनमोल समय किस लिये बिता रहे हैं? यदि संसार-का मिथ्यात्व पूरी तरह समझमें न आवे तो यह क्षण-भङ्गुर तो प्रत्यक्ष ही देखनेमें आता है। एक श्रीनारायण-को छोड़कर कोई वस्तु ऐसी नहीं है, जो क्षणभङ्गुर न हो। फिर शरीरकी तो बात ही क्या है? अतः जब इस शरीरका नाश अवश्यम्भावी है, तब इसके भस्म होनेके पहले ही जो कुछ आपको करना हो शीघ्रतासे कर लेना चाहिये। इस संसारमें आपको किस चीजकी जरूरत है, किस बातका अभाव है, जिसके लिये आप अपने अनमोल समयको भगवान्‌के भजन-ध्यानरूपी अनमोल काममें निरन्तर नहीं लगा रहे हैं?

कल्याण

याद रक्खो, मनुष्यजीवनकी सच्ची सफलता भगवान्के प्रेमको प्राप्त करनेमें ही है। भगवत्प्रेमकी प्राप्ति किसी भी साधनसे नहीं होती। यह तभी मिलता है जब भगवान् स्वयं कृपा करके देते हैं।

भगवान्की कृपा समीपर है, परन्तु उस कृपाके तबतक दर्शन नहीं होते जबतक मनुष्य उसपर विश्वास नहीं करता और भगवत्कृपाके सामने लौकिक-पारलौकिक सारे भोगों और साधनोंको तुच्छ नहीं समझ लेता। परन्तु ऐसे विश्वासकी प्राप्ति और सबको तुच्छ समझनेकी स्थिति भी भगवत्कृपासे ही प्राप्त हो सकती है।

इसलिये भगवत्कृपाकी—एकमात्र भगवत्कृपाकी ही बाट देखते हुए भगवान्का भजन करो। मनके दोष, मनकी चञ्चलता, विषयोंमें आसक्ति आदि न मिटें तो निराश मत होओ, भजनके बलसे सब दोष अपने-आप दूर हो जायँगे।

जो मनुष्य भजन न करके दोषरहित होनेकी चेष्टा करता है और दोषोंके रहते अपनेको भगवत्कृपाका अधिकारी मानता है, वह तार्किकोंकी दृष्टिमें बुद्धिमान् होनेपर भी वस्तुतः भगवान्की अनन्त शक्तिमयी सहज कृपाकी अवहेलना करनेका अपराध ही करता है। जहाँतक बन सके, बाहरके पापोंसे बिल्कुल बचकर भगवान्का भजन करो। जीवन बहुत थोड़ा है, विचारोंमें ही बिता दोगे तो भजनसे वञ्चित रह जाओगे।

भजन मन, वचन और तन—तीनोंसे ही करना चाहिये। भगवान्का चिन्तन मनका भजन है, नाम-गुण-गान वचनका भजन है और भगवद्भावसे की हुई जीवसेवा तनका भजन है। भजन सर्वोत्तम वही है जिसमें कोई शर्त न हो, जो केवल भजनके लिये ही हो। तन-मनसे भजन न बन पड़े तो केवल वचनसे ही भजन करना चाहिये। भजनमें स्वयं ऐसी शक्ति है कि जिसके प्रतापसे आगे चलकर अपने-आप ही सब कुछ भजनमय हो जाता है।

और भजनमें आजकलके दुर्बल प्रकृतिके नर-नारियोंके लिये सबसे अधिक उपयोगी और लाभदायक है—भगवान्के नामका जप और कीर्तन! बस, जप और कीर्तनपर विश्वास करके नामकी शरण ले लो, नाम अपनी शक्तिसे अपने-आप ही तुम्हें अपना लेगा। और नाम-नामीमें अभेद है, इसलिये नामके द्वारा अपनाये जाकर नामी भगवान्के द्वारा तुम सहज ही अपनाये जाओगे। याद रक्खो, जिसको भगवान्ने अपना लिया, उसीका जन्म और जीवन सफल है, धन्य है!

'शिव'
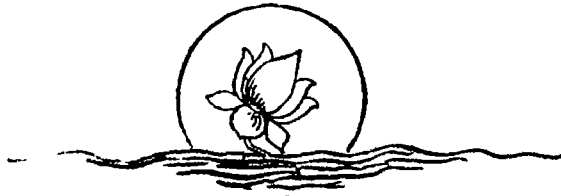
श्रीमानस-शङ्का-समाधान

(लेखक—श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी)

प्रश्न—

रचि महेस निज मानस राखा । पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा ॥
तातें रामचरितमानस बर । धरेउ नाम हियँ हेरि हरषि हर ॥
(बाल० ३४ । ६)

उपर्युक्त चौपाईके अर्थसे यह जान पड़ता है कि भगवान् शिवने मानसकी रचना करनेके पश्चात् उसे सर्वप्रथम माता पार्वतीजीको सुनाया । परन्तु—

सुनु सुभ कथा भवानि रामचरितमानस बिमल ।
कहा भुसुंडि बखानि सुना बिहगनायक गरुड़ ॥
(बाल० १२० [ख])

—इस सोरठेके भावार्थसे यह सिद्ध होता है कि शिवजीके द्वारा पार्वतीजीको कहे जानेके पूर्व इस रामकथाको काकभुशुण्डिजीने कहा और पक्षिराज गरुड़ने सुना ! फिर ऊपरकी चौपाईमें सर्वप्रथम श्रीपार्वतीजीके श्रवणकी बात क्यों लिखी गयी ?

उत्तर—सचमुच यह प्रश्न बड़ा गम्भीर है कि श्रीरामचरितमानसका सर्वप्रथम श्रोता कौन ठहराया जाय । रचयिता शिवजी हैं, यह तो निर्विवाद है; परन्तु उन्होंने उसकी रचना करनेके बाद सर्वप्रथम उसे भुशुण्डिजीको प्रदान किया अथवा पार्वतीजीको सुनाया, इसी विषयका विचार करना है । इस बातका निर्णय करनेके लिये जब हम सम्पूर्ण मानस-ग्रन्थकी छानबीन करते हैं तो यही पता चलता है कि शिवजीने जिस समय यह कथा पार्वतीजीको सुनायी थी, उसके प्रथम ही वे स्वयं श्रीनीलाचल (काकभुशुण्डिजीके आश्रम) पर जाकर हंसरूपसे उस कथाको सुन आये थे । और भुशुण्डिजीने, जिन्होंने हंसरूप शिवजीको यह कथा सुनायी थी, श्रीगरुड़जीके प्रति यह कथन किया है कि उन्हें यह कथा (रामचरितमानस) सत्ताईस कल्प पहले भगवान् शिवजीकी कृपासे श्रीलोमश ऋषिके द्वारा प्राप्त हुई थी । इन सब बातोंके प्रमाण श्रीरामचरितमानसमें ही मौजूद हैं, उन्हें क्रमशः देखिये—

बालकाण्डमें भगवान् शिवका वचन शिवाके प्रति—

सुनु सुभ कथा भवानि रामचरितमानस बिमल ।
कहा भुसुंडि बखानि सुना बिहगनायक गरुड़ ॥
सो संबाद उदार जेहि बिधि भा आगें कहब ।
सुनहु राम अवतार चरित परम सुंदर अनघ ॥
(१२० [ख] [ग])

उत्तरकाण्डमें पुनः शिवजीका वचन शिवाके प्रति, जिसमें उनके हंसरूप होकर भुशुण्डिजीसे कथा सुननेका प्रमाण है—

तब कछु काल मराल तनु धरि तहँ कीन्ह निवास ।
सादर सुनि रघुपति गुन पुनि आयउँ कैलास ॥
(५७)

उत्तरकाण्डमें श्रीभुशुण्डिजीका कथन, जिसमें सत्ताईस कल्प पहले कथा प्राप्त होनेकी बात है—

इहाँ बसत मोहि सुनु खग ईसा । बीते सात कल्प अरु बीसा ॥
(११३ । ५)

उत्तरकाण्डमें ही दोहा ११२ और ११३ के बीच श्रीलोमशजीका वचन श्रीभुशुण्डिजीके प्रति—

रामचरितसर गुप्त सुहावा । संभु प्रसाद तात मैं पावा ॥
तोहि निज भगत राम कर जानी । ताते मैं सब कहेउँ बखानी ॥

अब इन सबके पूर्व पार्वतीजीको कथा-श्रवण करानेमें जो वाक्य प्रमाण हैं, वे इस प्रकार हैं—

रचि महेस निज मानस राखा । पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा ॥

× × × ×

संभु कीन्ह यह चरित सुहावा । बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा ॥
सोइ सिव कागभुसुंडिहि दीन्हा । राम भगत अधिकारी चीन्हा ॥

तेहि सन जागबलिक मुनि पावा। तिन्ह पुनि भरद्वाज प्रति गावा॥
(बाल० २९। २-३)

इन चौपाइयोंमें 'सिवा सन भाषा' और 'उमहि सुनावा' के पश्चात् 'सोइ सिवँ कागभुसुंडिहि दीन्हा' पढ़नेपर यह अनुमान होने लगता है कि पहले-पहल पार्वतीजीको ही यह कथा प्राप्त हुई थी। इसलिये इस विरोधाभासका निराकरण करनेके लिये पाठकोंके समक्ष दो बातोंका आधार दिखलाते हुए निर्णय किया जा रहा है। वे दोनों बातें निम्नलिखित हैं—

पहली बात तो यह है कि इस रामचरितमानसकी रचना जब शिवजीने की है तब वह भुशुण्डि-आश्रमका निर्माण होनेके सत्ताईस कल्प पहले किस कल्पमें हुए अवतार-चरित्रके आधारपर रचा गया था। जब हम इस प्रश्नका उत्तर खोजने चलते हैं तब पता चलता है कि जिस कल्पमें नारद-मोह तथा उनके शापद्वारा अवतार हुआ था, उसी कल्पमें श्रीरामचरितमानसकी रचना हुई थी। इसका प्रमाण उत्तरकाण्डकी चौपाइयाँ हैं, जो 'मानस-मुख्य-हृदय'में हैं एवं जिनमें भुशुण्डिद्वारा गरुड़जीको पूरा मानस सुनानेकी बात वर्णित है—

प्रथमहिं अति अनुराग भवानी। रामचरितसर कहेसि बखानी॥
पुनि नारद कर मोह अपारा। कहेसि बहुरि रावन अवतारा॥
प्रभु अवतार कथा पुनि गाई। तब सिसु चरित कहेसि मन लाई॥
(६३। ४-५)

तात्पर्य यह कि जिस निजरचित रामचरितमानसको श्रीशिवजीने लोमश ऋषिद्वारा भुशुण्डिजीको प्रदान किया था, उसमें रामावतारका हेतु केवल नारद-मोह ही था। उस चरित्रमें नारदके शापसे ही दो शिवगण रावण और कुम्भकर्ण हुए थे। और जब शिवजीने उस चरित्रको पार्वतीजीको सुनाया है तब अवतारके हेतु-कथनमें नारद-मोहके साथ-साथ तीन कल्पोंके तीन और हेतुओंको भी शामिल कर दिया है। वे हेतु इस प्रकार हैं—(१) जय-विजयका रावण-कुम्भकर्ण होना, (२) जलन्धर राक्षसका रावण होना तथा (३) राजा प्रतापभानु और उसके भाई अरिमर्दनका रावण-कुम्भकर्ण होना। बालकाण्डमें चार कल्पोंके चारों हेतुओंका प्रमाण मौजूद है। अतः निष्कर्ष यह निकलता है कि श्रीमहेशजीने श्रीरामचरितमानसको नारद-मोहके हेतुसे हुए अवतारकालमें ही रचकर 'निज मानस' में रख लिया था (रचि महेस निज मानस राखा) और उसके अनेक कल्प बाद प्रतापभानुवाले कल्पमें (जिस कल्पमें मनु-शतरूपा दशरथ-कौसल्या हुए थे) जब सतीजीको मोह हुआ और अपने पिता दक्षके यज्ञमें शरीर त्याग कर उन्होंने पार्वतीजीके रूपमें दूसरा जन्म ग्रहण किया, तब श्रीशिवजीने अवसर पाकर उनके उस मोहकी निवृत्तिके लिये उन्हें उस रामचरितमानसको सुनाया। उस समय श्रीशिवजीने स्ववर्णित चरित्रके हेतुभूत नारद-मोहके प्रसङ्गके साथ उस कल्पके अवतारका भी हेतु-प्रकरण सुनाना उचित समझा, जिसमें सतीको मोह हुआ था। साथ-ही-साथ उन्होंने 'जय-विजय' और 'जलन्धर' के हेतुओंको भी इसलिये ले लिया कि उन कल्पोंमें त्रिपादविभूतिगत श्रीविष्णु भगवान्‌का अवतार हुआ था, जिसके कारण सतीजीको शङ्का हुई थी कि—

बिष्नु जो सुर हित नर तनु धारी। सोउ सर्बग्य जथा त्रिपुरारी॥

अतः श्रीशिवजीको उनकी वह शङ्का भी निवृत्त करनी थी।

अब यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि यह कथा श्रीभुशुण्डिजीको श्रीपार्वतीजीके श्रवणकालके सत्ताईस कल्पसे भी अधिक पहले लोमश ऋषिके द्वारा प्राप्त हो चुकी थी। उसी कथाको श्रीकाकभुशुण्डिजी नीलगिरिपर, जिसके एक योजन आस-पासतक माया नहीं व्याप सकती थी, सदैव कथन किया करते थे और गरुड़जीने शिवजीके उपदेशसे उनके पास जाकर वही कथा श्रवण की थी। सतीजीके शरीर-त्यागके

कारण उनसे वियोग हो जानेके कालमें एक बार श्रीशिवजीने भी नीलगिरिपर जाकर अपनेद्वारा प्रदत्त उस रामचरितमानसको सुना था और वे उसीका हवाला श्रीपार्वतीजीको दे रहे हैं कि 'सुनु सुभ कथा भवानि रामचरितमानस बिमल । कहा भुसुंडि बखानि सुना बिहगनायक गरुड़ ॥' इत्यादि ।

दूसरी बात यह है कि यद्यपि 'सिवा सन भाषा' और 'उमहि सुनावा' वाली दोनों चौपाइयाँ पहले पड़ी हैं परन्तु काव्य-कुशल कविवर श्रीगोस्वामिपादने अपनी अद्भुत एवं अनुपम बुद्धिमत्तासे दोनोंमें दो शब्द ऐसे रख दिये हैं, जो कथन-क्रमको स्पष्टतया विलग कर देते हैं । पहली चौपाईमें 'पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा' के द्वारा यह सूचित किया गया है कि जब 'सुसमय' आया तब उन्होंने अवसरके अनुकूल और प्रयोजनार्थ शिवासे कथन किया । इसी प्रकार दूसरी चौपाईमें 'बहुरि' शब्द देकर (बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा) यह संकेत किया गया है कि 'बहुरि' अर्थात् पुनः (सर्वप्रथम नहीं) कृपा करके मोहनिवृत्तिके लिये उमाजीको यथावसर वह कथा सुनायी गयी ।

अतएव सब वाक्योंका समन्वय होकर यह सिद्ध हुआ कि श्रीशिवजीने निजरचित रामचरितमानस श्रीकाकभुशुण्डिजीको महर्षि लोमशके द्वारा बहुत पहले ही प्रदान कर दिया था और श्रीपार्वतीजीको उन्होंने पीछे अवसर पाकर सुनाया ।

प्रश्न—भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी बाललीलाके प्रसङ्ग-में यह चौपाई आयी है—

बंधु सखा सँग लेहिं बोलाई । बन मृगया नित खेलहिं जाई ॥
पावन मृग मारहिं जियँ जानी । दिन प्रति नृपहि देखावहिं आनी॥

यहाँ यह शङ्का उठती है कि भगवान् श्रीरामचन्द्र-जीका अवतार तो संतों एवं पवित्र हृदयवालोंकी रक्षाके लिये हुआ था । फिर भगवान् श्रीरामचन्द्रजी पावन मृगोंका शिकार क्यों करते थे ? और उन मारे हुए मृगोंको घर लाकर महाराज दशरथको दिखानेका क्या प्रयोजन था ?

उत्तर—प्रश्न ठीक है । परन्तु प्रश्न करते समय दूसरी अर्धालीके 'जियँ जानी' पदपर ध्यान देना चाहिये । 'पावन मृग' के साथ ही 'जियँ जानी' आया है । इसका यह अर्थ है कि भगवान् श्रीरामचन्द्रजी जिन मृगोंको पावन समझते थे, उन्हींका शिकार करते थे और फल यह होता था कि जो मृग श्रीराम-बाणसे मरते थे, वे अपना पशु-शरीर छोड़कर स्वर्गलोक सिधार जाते थे । यथा—

जे मृग राम बान के मारे । ते तनु तजि सुरलोक सिधारे ॥

अतः इससे यह सिद्ध होता है कि भगवान् श्रीरामचन्द्रजीको जिन पवित्रात्मा मृगोंका उद्धार करना था, जो किसी शाप या वरके कारण मृग-योनिको प्राप्त होकर श्रीरामावतारके द्वारा मुक्त होनेकी बाट जोह रहे थे, उन्हींको पहचान-पहचानकर मृगया-लीलाके बहाने श्रीरामजी मारते और तारते थे । 'पावन मृग' और 'जियँ जानी' का यही रहस्य है ।

मारे हुए मृगोंको महाराज दशरथको दिखानेका कारण केवल श्रीरामजीकी माधुर्य-लीला थी । वे नरवत् चरित्र करके श्रीपिताजीके सामने अपनी वीरता और मृगया-कुशलताका प्रमाण दिखाते थे कि मैंने साधारण हरिणोंसे लेकर बड़े-बड़े भयङ्कर जन्तुओं—जैसे व्याघ्र, सिंह, रीछ आदिका शिकार कर डाला है ! इससे चक्रवर्ती श्रीदशरथजीको परम आह्लादकी प्राप्ति होती थी, वे अपने प्राणाधिक पुत्रकी लीलाएँ देखकर फूले नहीं समाते थे । इसके अतिरिक्त उन मारे हुए मृगों-को घर लानेका और कोई प्रयोजन नहीं था ।

प्रश्न—बालकाण्डान्तर्गत श्रीरामराज्याभिषेककी तैयारी-के प्रसङ्गकी—

हरषि मुनीस कहेउ मृदु बानी । आनहु सकल सुतीरथ पानी ॥

इस अर्धालीसे यह सिद्ध होता है कि श्रीवशिष्ठजीके आज्ञानुसार सम्पूर्ण तीर्थोंका जल बात-की-बातमें एकत्रित कर दिया गया था। यह किस प्रकार सम्भव हुआ ? और सम्भव हुआ तो उसी थोड़े समयमें भरतजीको उनके ननिहालसे बुलानेकी व्यवस्था करनेमें क्या कठिनाई थी ?

उत्तर—इस प्रश्नका उत्तर बड़ा स्पष्ट है। जिस प्रसङ्गमें—

हरषि मुनीस कहेउ मृदु बानी। आनहु सकल सुतीरथ पानी॥

—आया है, उसी प्रसङ्गमें यह भी कह दिया गया है कि—

जो मुनीस जेहि आयसु दीन्हा। सो तेहिं काज प्रथम जनु कीन्हा॥

इससे स्पष्ट होता है कि मुनिवर श्रीवशिष्ठजीकी समस्त आज्ञाओंका पालन तत्काल हो गया, कहीं जाने-आनेकी आवश्यकता न होनेके कारण जरा भी देरी नहीं हुई। बात यह है कि चक्रवर्ती श्रीअवधराजके दरबारकी विभूतिका ज्ञान न होनेके कारण हमारी कंगाल बुद्धिमें ऐसी शङ्काएँ उठा करती हैं। जिनके यहाँ 'सावँकरन अगनित हय होते' अर्थात् अगणित श्यामकर्ण घोड़े थे, उनके दिव्य और अनन्त कोषका हम अनुमान नहीं कर सकते। परन्तु हम अनुमान करें या न करें, महाराज दशरथके यहाँ किसी पदार्थकी कमी नहीं थी। अस्तु, जिस प्रकार—

औषध मूल फूल फल पाना। कहे नाम गनि मंगल नाना॥
चामर चमर बसन बहु भाँती। रोम पाट पट अगनित जाती॥
मनिगन मंगल बस्तु अनेका। जो जग जोगु भूप अभिषेका॥

—इन वाक्योंके अनुसार श्रीरामराज्याभिषेककी तैयारीके समय सभी आवश्यक पदार्थ श्रीअवधराजके भरपूर भण्डारसे तत्काल एकत्रित हो गये थे, उसी प्रकार वहींसे सब सुतीर्थोंका जल भी एकत्रित कर लिया गया था। उसके लिये विभिन्न तीर्थस्थानोंकी यात्रा करनेकी आज्ञा नहीं दी गयी थी, केवल सब सुतीर्थोंका जल चाहा गया था, जो अयोध्याके ही सुसम्पन्न भण्डारमें सञ्चित था; क्योंकि प्रत्येक शुभ यज्ञ-यागादिमें उसकी आवश्यकता पड़ा करती थी। अतः अन्य सामग्रियोंकी तरह सब तीर्थोंका जल भी तत्काल एकत्रित कर लिया गया था। इसीलिये—

जो मुनीस जेहि आयसु दीन्हा। सो तेहिं काज प्रथम जनु कीन्हा॥

—कहा गया है।

प्रश्नकर्ताके प्रश्नके अन्तिम वाक्यसे यह ध्वनि निकलती है कि परम साधनसम्पन्न महाराज दशरथ यदि चाहते तो उसी थोड़े समयमें श्रीभरतजीको भी बुलानेकी व्यवस्था कर सकते थे; परन्तु उन्होंने जान-बूझकर किसी खास उद्देश्यसे ऐसा नहीं किया! सो प्रथम तो उपर्युक्त उत्तरसे इस बातका खण्डन हो जाता है, दूसरे श्रीरामचरितमानसके दशरथका चरित्र इतना उदात्त और निर्मल है कि उसमें किसी भी विचारवान् पुरुषको जरा भी शङ्का नहीं हो सकती। महाराज दशरथका परिचय बहुत थोड़े शब्दोंमें इस प्रकार दिया गया है—

धरम धुरंधर नृपरिषि ग्यानी। हृदयँ भगति मति सारँगपानी॥

अर्थात् महाराज दशरथ श्रीस्वायम्भुव मनुके अवतार तो थे ही; कर्मयोगी, ज्ञानयोगी और भक्तियोगी भी थे और इतने महान् दशरथजीने कैकेयीजीसे स्वयं कहा है—

मोरें भरतु रामु दुइ आँखी। सत्य कहउँ करि संकर साखी॥
अवसि दूत मैं पठउब प्राता। ऐहहिं बेगि सुनत दोउ भ्राता॥
सुदिन सोधि सब साजु सजाई। देउँ भरत कहुँ राजु बजाई॥

अतः ऐसी स्थितिमें महाराज दशरथ-जैसे धर्मधुरीण एवं सत्यवादीके चरित्रमें कपट-चालकी शङ्का करना सर्वथा निर्मूल है।

सियावर रामचन्द्रकी जय!

दैनिक कल्याण-सूत्र

१ नवम्बर बुधवार—आत्मा नित्य एवं अपरिवर्तनशील है, शरीरके परिवर्तनसे उसमें कोई अन्तर नहीं आता।

भगवान्‌की इस दिव्य वाणीपर ध्यान दो—

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥

जैसे जीवात्माकी इस देहमें बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती है, वैसे ही उसे अन्य शरीरकी प्राप्ति होती है; उस विषयमें धीर पुरुष मोहित नहीं होता।

२ नवम्बर गुरुवार—कर्म स्वरूपसे बाँधनेवाले नहीं हैं, उनमें आसक्ति ही बन्धनका कारण है। अतः आसक्ति छोड़कर भगवदाज्ञापालनके लिये ही कर्तव्य-कर्म करो। भगवान्‌की यही आज्ञा है—

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥

भगवदाज्ञारूप यज्ञके निमित्त किये जानेवाले कर्मोंके अतिरिक्त दूसरे कर्मोंमें लगा हुआ ही यह मनुष्यसमाज कर्मोंद्वारा बँधता है। इसलिये हे अर्जुन! तू आसक्तिसे रहित होकर उस यज्ञके निमित्त ही भलीभाँति कर्तव्य-कर्म कर।

३ नवम्बर शुक्रवार—राग-द्वेष ही मनुष्यके कल्याणमें बाधक हैं। अतः इनसे प्रयत्नपूर्वक बचते रहो। भगवान्‌का यही आदेश है—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥

प्रत्येक इन्द्रियके भोगमें राग-द्वेष छिपे हुए रहते हैं। मनुष्यको चाहिये कि वह उनके वशमें न हो, क्योंकि वे दोनों ही इसके कल्याण-मार्गमें विघ्न करनेवाले महान् शत्रु हैं।

४ नवम्बर शनिवार—संसारमें जो कुछ हो रहा है, भगवान्‌की शक्तिसे हो रहा है—उनकी प्रकृतिका खेल है। अज्ञानी पुरुष अहङ्कारवश अपनेको कर्ता मान बैठते हैं और फँस जाते हैं। इस सम्बन्धमें भगवान्‌के निम्नलिखित उपदेशका स्मरण करो—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥

वास्तवमें सम्पूर्ण कर्म प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये जाते हैं, तो भी अहङ्कारसे मोहित हुए अन्तःकरणवाला पुरुष 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा मान लेता है।

५ नवम्बर रविवार—भगवान्‌की शरणागति ही मायासे तरनेका उपाय है। और किसी उपायसे इससे पार पाना कठिन है।

भगवान् स्वयं कहते हैं—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

यह अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी माया बड़ी दुस्तर है। किन्तु जो पुरुष मुझको ही निरन्तर भजते हैं, वे इस मायाको लाँघ जाते हैं।

६ नवम्बर सोमवार—यदि तुम भगवत्तत्त्वको जानना चाहते हो तो उसके लिये भी भगवान्‌का प्रेमपूर्वक भजन करो। वे अपना ज्ञान स्वयं करा देंगे।

उनकी प्रतिज्ञा है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

निरन्तर मेरे ध्यानमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक मेरा भजन करनेवाले उन पुरुषोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको प्राप्त हो जाते हैं।

७ नवम्बर मंगलवार—देवताओंकी, ब्राह्मणोंकी, बड़ोंकी और ज्ञानीजनोंकी पूजा करो; शरीरको पवित्र रक्खो; अकड़कर न चलो; ब्रह्मचर्यका पालन करो और शरीरसे किसी भी जीवको कष्ट न पहुँचाओ। भगवान्‌ने इसीको शारीरिक तप कहा है—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥

८ नवम्बर बुधवार—वाणीद्वारा ऐसे शब्द बोलो जिनसे किसीको कष्ट न हो, तथा जो प्रिय, सत्य एवं हितकारी हों; तथा वेद-शास्त्रोंका अध्ययन एवं भगवन्नामका जप करो। इसीको भगवान्‌ने वाङ्मय तपके नामसे कहा है—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥

९ नवम्बर गुरुवार—सदा शान्त एवं प्रसन्नचित्त रहो, मनके द्वारा भगवान्‌का चिन्तन करो, चित्तको वशमें रक्खो और अन्तःकरणको पवित्र बनाये रक्खो। इसीको भगवान्‌ने मानसिक तप कहा है—

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥

१० नवम्बर शुक्रवार—तुम केवल कर्म करनेमें स्वतन्त्र हो, फल-भोगमें नहीं। अतः फलकी चिन्ता छोड़कर केवल शास्त्रविहित कर्म किये जाओ, अकर्मण्यताको कभी आश्रय मत दो। देखो, भगवान्‌की इस सम्बन्धमें क्या आज्ञा है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है, उसके फलोंमें कभी नहीं। इसलिये तू कर्मोंके फलका हेतु मत हो तथा तेरी कर्म न करनेमें आसक्ति न हो।

११ नवम्बर शनिवार—आत्मा नित्य सत् है, उसका किसी भी कालमें अभाव नहीं होता। उसके अतिरिक्त जो कुछ यह जड दृश्यवर्ग है, वह विनाशी है—क्षणभङ्गुर है। भगवान्‌ने इन दोनोंकी परस्पर विलक्षणताका निम्नलिखित श्लोकमें भलीभाँति दिग्दर्शन कराया है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत्का अभाव नहीं है। इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व ज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है।

१२ नवम्बर रविवार—जबतक तुम्हारी इन्द्रियाँ विषयोंमें स्वच्छन्दरूपसे विचरती रहेंगी तबतक तुम्हारी बुद्धि कदापि स्थिर न हो सकेगी। इसलिये यदि बुद्धिको स्थिर करना चाहते हो तो इन्द्रियोंको विषयोंसे उसी प्रकार मोड़ लो जिस प्रकार कछुआ अपने अङ्गोंको सिकोड़ लेता है। भगवान्‌ने निम्नलिखित श्लोकमें यही बात दर्शायी है—

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

१३ नवम्बर सोमवार—यद्यपि यह ठीक है कि बिना मनकी सहायताके अकेली इन्द्रियाँ कुछ नहीं कर सकतीं, परन्तु ये इतनी बलवान् होती हैं कि मनको बलपूर्वक खींच लेती हैं और अपना गुलाम बना लेती हैं। इसलिये सर्वप्रथम इन्हींका नियन्त्रण करो। भगवान्‌ने निम्नलिखित दो श्लोकोंमें यही आज्ञा दी है—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

१४ नवम्बर मंगलवार—भगवान्‌को जिस रूपमें तथा जिस भावसे तुम भजोगे, भगवान् उसी रूपमें तथा उसी भावसे तुम्हारी पूजाको स्वीकार करेंगे। अतः जिस किसी प्रकारसे भगवान्‌को भजना ही मनुष्यका परम कर्तव्य है। भगवान्‌ने स्वयं इस बातको स्वीकार किया है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

१५ नवम्बर बुधवार—यदि तत्त्वज्ञान चाहते हो तो किसी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्यके पास जाकर उन्हें प्रणाम करो, उनसे सरल भावसे प्रश्न पूछकर अपनी शङ्काओंका निवारण करो और

श्रद्धा-भक्तिपूर्वक उनकी सेवा करो । ऐसा करनेसे वे प्रसन्न होकर तुम्हें ज्ञानका उपदेश करेंगे, जिससे तुम्हारे हृदयकी सारी ग्रन्थियाँ खुल जायँगी । भगवान्‌ने ज्ञानप्राप्तिका यही उपाय बतलाया है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥

१६ नवम्बर गुरुवार—लौकिक एवं पारलौकिक दोनों प्रकारके साधनोंमें श्रद्धा-विश्वासकी बड़ी आवश्यकता है । श्रद्धासे रहित एवं संशयात्मा पुरुष परमार्थसे च्युत हो जाता है, उसे न इस लोकमें सुख मिलता है और न परलोकमें । अतः अश्रद्धा एवं अविश्वासको अपने पास भी न फटकने दो । इस सम्बन्धमें भगवान्‌की चेतावनीपर ध्यान दो—

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥

१७ नवम्बर शुक्रवार—श्रेष्ठ विद्वान् ब्राह्मणसे लेकर चाण्डालपर्यन्त तथा चींटीसे लेकर हाथीतक सभी जीवोंको व्यवहारमें भेद रखते हुए भी आत्मरूपसे समान समझो । समदृष्टि ही ज्ञानका लक्षण है । भगवान्‌की निम्नलिखित वाणीपर ध्यान दो—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥

१८ नवम्बर शनिवार—शरीर रहते काम-क्रोध आदिके वेगोंको सहन करनेका अभ्यास करो । जो इन शत्रुओंपर विजय प्राप्त कर लेता है, वही सुखी है और उसीको योगी समझो । भगवान्‌के निम्नलिखित वाक्यपर ध्यान दो—

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥

१९ नवम्बर रविवार—भगवान् केवल भक्तोंके ही नहीं, जीवमात्रके अकारण हितू एवं प्रेमी हैं—इस बातको जान भर लो । यह जानते ही तुम्हें शान्ति प्राप्त हो जायगी । भगवान् स्वयं इस बातको कहते हैं—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥

२० नवम्बर सोमवार—तुम्हारा न कोई शत्रु है, न कोई मित्र है; तुम स्वयं ही अपने शत्रु हो और स्वयं ही अपने मित्र हो । जिसका शरीर तथा इन्द्रियोंसहित मन जीता हुआ है, वही अपना मित्र है और जिसका शरीर तथा इन्द्रियोंसहित मन जीता हुआ नहीं है, वह अपना ही शत्रु है । भगवान् स्वयं कहते हैं—

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।
बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥

२१ नवम्बर मंगलवार—परमात्माकी प्राप्तिसे बढ़कर कोई लाभ नहीं है । उसके प्राप्त हो जानेपर मनुष्य भारी-से-भारी दुःख पड़नेपर भी अपनी स्थितिसे विचलित नहीं होता । भगवान्‌के शब्दोंमें उस स्थितिका वर्णन सुनिये—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥

२२ नवम्बर बुधवार—मनको रोकनेका सबसे उत्तम उपाय यह है कि जिस-जिस कारणसे यह भागता है, उस-उस कारणसे इसे बलपूर्वक हटाकर बार-बार परमात्मामें लगाओ । निरन्तर इस प्रकारका अभ्यास करते रहनेसे एक दिन इसका निग्रह अवश्य हो जायगा । भगवान् यही कहते हैं—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥

२३ नवम्बर गुरुवार—यदि भगवान्‌के साथ नित्य सम्बन्ध जोड़ना चाहते हो, उनसे क्षणभरके लिये भी अलग नहीं होना चाहते, तो सम्पूर्ण भूतोंमें भगवान्‌को तथा सब भूतोंको भगवान्‌के अंदर देखनेका अभ्यास करो । उपर्युक्त स्थितिको प्राप्त करनेका भगवान्‌ने यही उपाय बताया है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥

२४ नवम्बर शुक्रवार—यद्यपि मन चञ्चल है और उसका वशमें होना कठिन है; किन्तु अभ्यास तथा वैराग्यके द्वारा उसे वशमें किया जा सकता है । भगवान्‌की निम्नलिखित वाणीपर विश्वास करो—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥

२५ नवम्बर शनिवार—कर्मयोगके साधनमें भी मनको वशमें करनेकी बड़ी आवश्यकता है । जिसका मन वशमें नहीं है, उसके लिये कर्मयोगका साधन बड़ा कठिन है और मन वशमें हो जानेपर वह सुगम हो जाता है । इसलिये जिस किसी प्रकारसे हो, मनको वशमें करनेकी चेष्टा करो । भगवान्‌के निम्नलिखित उपदेशपर ध्यान दो—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥

२६ नवम्बर रविवार—भगवान्‌के अतिरिक्त संसारमें कुछ भी नहीं है । यह सारा विश्व-प्रपञ्च सूतमें सूतके मनियोंकी भाँति उन्हींमें गुँथा हुआ है । भगवान् स्वयं इस बातको स्वीकार करते हैं—

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥

२७ नवम्बर सोमवार—तुम अपने पुण्यबलसे चाहे ब्रह्मलोकको भी प्राप्त कर लो, परन्तु पुण्य क्षीण हो जानेपर तुम वहाँसे भी ढकेल दिये जाओगे । इसलिये नित्य सुख यदि चाहते हो तो भगवान्‌को प्राप्त करनेकी चेष्टा करो । उनके धाममें पहुँच जानेपर वहाँसे लौटना नहीं पड़ता । भगवान् स्वयं इस बातको कहते हैं—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥

ब्रह्मलोकपर्यन्त सब लोक पुनरावर्ती हैं, परन्तु हे कुन्तीपुत्र ! मुझको प्राप्त होकर पुनर्जन्म नहीं होता ।

२८ नवम्बर मंगलवार—जो जिसकी पूजा करता है, वह उसीको प्राप्त होता है । अतः तुम यदि भगवान्‌को प्राप्त करना चाहते हो तो अनन्यभावसे उन्हींकी पूजा करो । भगवान्‌की घोषणा है—

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥

देवताओंको पूजनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं, पितरोंको पूजनेवाले पितरोंको प्राप्त होते हैं, भूतोंको पूजनेवाले भूतोंको प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त मुझको ही प्राप्त होते हैं ।

२९ नवम्बर बुधवार—जीवनका कोई भरोसा नहीं है, किसी भी क्षण तुम्हारी मृत्यु हो सकती है । और संसारके जितने भी भोग हैं, वे सभी दुःखरूप हैं । अतः इस दुर्लभ मनुष्यदेहको पाकर यदि सदाके लिये सुखी होना चाहते हो तो एकमात्र भगवान्‌का ही भजन करो; क्योंकि उनका भजन मनुष्यशरीरमें ही बन सकता है । भगवान्‌का स्पष्ट आदेश है—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ।

३० नवम्बर गुरुवार—यदि परम शान्ति तथा नित्य स्थितिको प्राप्त करना चाहते हो तो सब प्रकारसे भगवान्‌के शरण हो जाओ । उन्हींकी कृपासे तुम्हें ये दोनों वस्तुएँ प्राप्त हो जायँगी । भगवान् स्वयं कहते हैं—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥

मङ्गलदास

(लेखक—पं० श्रीभुवनेश्वरनाथजी मिश्र 'माधव' एम्० ए०)

आराधितो यदि हरिस्तपसा ततः किं
नाराधितो यदि हरिस्तपसा ततः किम्।
अन्तर्बहिर्यदि हरिस्तपसा ततः किं
नान्तर्बहिर्यदि हरिस्तपसा ततः किम्॥

चारों वेद जिसकी कीर्ति बखानते हैं, योगियोंके ध्यानमें जो क्षण भरके लिये भी नहीं आता, वह ग्वालिनोंके हाथ बिक जाता है। भावुक ग्वालिनें उसे अपने प्रेम-पाशमें बाँध लेती हैं। इन गवाँरिनोंके पास वह गिड़गिड़ाता हुआ आता है और सयाने कहते हैं कि वह मिलता ही नहीं। इन ग्वालिनोंका कैसा महान् पुण्य था! इन्हें जो सुख मिला, वह दूसरोंके लिये, ब्रह्मादिके लिये भी दुर्लभ है। इन भोली-भाली अहीरिनों-के सुकृतका हिसाब कौन लगा सकता है, जिन्होंने मुरारिको खेलाया—अन्तःसुखसे खेलाया और बाह्य सुखसे भी। भगवान्ने उन्हें अन्तःसुख दिया। श्रीकृष्णको जिन्होंने अपना सब कुछ अर्पण कर दिया, जो घर-द्वार और पति-पुत्रतकको भूल गयीं, जिनके लिये धन, मान और स्वजन विष-से हो गये, वे एकान्तमें 'उसे' पाकर निहाल हो गयीं। अंदर हरि, बाहर हरि, हरिने ही उन्हें अपने अंदर बंद कर रक्खा था।

नासिकके पास पञ्चवटी नामका एक पुण्य क्षेत्र है। आजसे लगभग दो सौ वर्ष पूर्व वहीं एक साधारण-से गाँवमें एक अहीरके घर मङ्गलका जन्म हुआ। मङ्गलके माता-पिता बहुत ही साधारण स्थितिके किसान थे। घरमें दो बैल थे और चार-पाँच गायें। पिता किसानी करते, माता गायोंकी देख-भाल करती, दूध जमाती, दही बिलोती, मक्खन निकालती, घी बनाती और फिर गाँव-जवारमें बेचती। मङ्गल इसी अहीर-दम्पतिका एकमात्र लाड़ला लाल था। मङ्गलके काले-काले गभुआरे कुंचित केश, बड़ी-बड़ी आँखें, सुन्दर सलोना मुख, प्यारभरी चितवन किसके जीको नहीं चुरा लेती? जो भी देखता उसपर लट्टू हो जाता। जो भी उधरसे निकलता एक बार मङ्गलको भर आँख देखे बिना आगे नहीं बढ़ता। मङ्गल गाँवभरकी स्त्रियोंका प्यारा खिलौना बन गया। वे कई तरहके बहाने लेकर मङ्गलके घर आतीं—कोई आग लेनेके बहाने आती, कोई दीपक जलानेके बहाने, कोई दहीके लिये जामनके बहाने आती, कोई किसी भूली हुई बातको याद दिलानेके बहाने। मङ्गलको देखकर किसीका जी भरता ही न था, सभी चाहतीं मङ्गल मेरी ही आँखोंकी पुतली बना रहे।

हजारों वर्ष पूर्व हमने कन्हैयाको अपनी गोदमें रखकर खेलाया है। वह सुख हमारे प्राणोंमें समाया हुआ है और जन्म-जन्मके संस्कारको लेकर हम जहाँ भी जाते हैं, जहाँ भी रहते हैं, वहीं उस कान्हाको देखनेके लिये हमारे प्राण छटपटाते हैं, हृदय तड़पता है, जी कैसा-कैसा करता है। यही कारण है कि कहीं कोई सुन्दर बालक दीख गया तो हमें अपने 'प्यारे' की

सुध आ जाती है और हम क्षणभरके लिये ही सही, किसी और लोकमें, किन्हीं और स्मृतियोंमें जा पड़ते हैं। बालक मङ्गलको देखकर गाँवकी ग्वालिनोंकी वे ही पूर्व स्मृतियाँ उमड़ आतीं—वही नन्दरानी, वही नन्दलाल आँखोंमें झूल उठते !

माँ दही मथ रही है, मङ्गल उसकी पीठपर जा चढ़ा है और अपनी नन्हीं-नन्हीं भुजाओंसे बाँधकर माँकी गर्दनसे लिपटा हुआ है। इस सुखको कोई मातृहृदय ही अनुभव कर सकता है ! मङ्गल था भी पूरा नटखट और शरारती। माँकी आँखें बचाकर दहीके ऊपरी हिस्सेको चट कर जाना या जमा किये हुए लैनूको यार-दोस्तोंमें बाँट देना उसे बहुत भाता था। माँ उसकी इन सारी हरकतोंको बहुत लाड़-प्यारसे देखती और उसके लल्लाका जी न दुख जाय, इसलिये वह उसे कभी एक बात भी नहीं कहती।

जन्माष्टमीकी रात थी। मङ्गलके घर महान् उत्सव था। गाँव-जवारके स्त्री-पुरुष जुटे हुए थे। हिंडोला लगा हुआ था। उसपर श्यामसुन्दरकी मनोहर मूर्ति पधरायी गयी थी। माँ रेशमकी डोरी धीरे-धीरे खींच रही थी और गा रही थी—

मेरी अँखियनके भूषन गिरिधारी।
बलि बलि जाऊँ छबीली छबि पर अति आनँद सुखकारी॥
परम उदार चतुर चिंतामणि दरस परस दुखहारी।
अतुल प्रताप तनक तुलसीदल मानत सेवा भारी॥
छीतस्वामी गिरिधरन बिसद जस गावत गोकुल नारी।
कहा बरनौं गुनगाथ नाथ के श्रीबिट्ठल हृदय बिहारी॥

माँ गा रही है, मङ्गल एकटक उस मङ्गलमयी मूर्त्तिको निहार रहा है। वह कुछ समझ नहीं रहा है कि यह सब क्या हो रहा है। परन्तु उसके मन-प्राणमें एक दिव्य उल्लास नृत्य कर रहा है। वह यह सब एक कुतूहल और आनन्दकी दृष्टिसे देख रहा है और नाच रहा है। आधी रात हुई। देवकीका दुलारा जीव-जीवके हृदयमें उतरा। सर्वत्र आनन्द छा रहा है। मङ्गलके आनन्दकी कोई सीमा नहीं है। वह बार-बार माँसे पूछता है—माँ ! यह सब क्या है, किस लिये है ! माँ बच्चेको चूम लेती है और अश्रुगद्गद स्वरमें कहती है—लल्ला, आज हमारे घर त्रिभुवनसुन्दर श्रीगोपालकृष्ण आये हैं। 'वे कैसे हैं माँ !' 'कैसे हैं, मैं क्या कहूँ ? बड़े ही सुन्दर, बड़े ही मधुर, बड़े ही प्यारे ! तुम एक बार उन्हें देख लोगे तो फिर छोड़ नहीं सकते, रात-दिन उन्हींके साथ लगे रहोगे, खाना-पीना सब कुछ भूल जाओगे, मुझे भी भूल जाओगे !' मङ्गलके लिये आजकी रात अत्यन्त रहस्यमय सिद्ध हुई। रातभर वह सोचता रहा—वे कैसे हैं जिन्हें एक बार देख लेनेपर फिर कभी छोड़ा नहीं जाता, वे कैसे हैं जिन्हें पाकर सब कुछ भूल जाता है ?

दूसरे दिन मङ्गल अपनी गायें लेकर जब चरानेके लिये बाहर गया तो रातवाली बात उसके मनमें चक्कर लगा रही थी। बार-बार यही विचार उसके मनमें उठ रहा था—वह कौन-सा साथी है जिसे पाकर प्राणोंकी भूख-प्यास सदाके लिये शान्त हो जाती है ? मङ्गलका हृदय आज अपने प्राणसखासे मिलनेके लिये ललक रहा था। गायोंको उसने चरनेके लिये छोड़ दिया। कुछ देरतक बछड़ोंके साथ खेलता रहा। कारी, कजरारी, धौरी, धूमरी, गोली सभी गायें दूर जा पड़ीं, बछड़े भी उनके पीछे-पीछे बहुत दूर जा पड़े। मङ्गल आज सजल श्यामल मेघमालाको देखता और उसका हृदय तरङ्गित हो उठता, दूरतक फैले हुए हरे-भरे खेत देखता और उसका हृदय भर आता, आकाशमें उड़ते हुए सारसोंकी पङ्क्ति देखता और चाहता मैं भी उड़ चलूँ। उफनती हुई, इठलाती हुई नदियाँ देखता और चाहता मैं भी इनकी धारामें एक होकर 'कहीं' चला जाता। आज उसके लिये जगत्‌के कण-कणमें एक विशेष संकेत—एक खास इशारा था, जिसे वह समझकर भी नहीं समझ रहा था और न समझते हुए भी समझ रहा था।

भगवान्‌के पथमें चलनेके लिये विशेष समझदारीकी

जरूरत नहीं पड़ती, शास्त्रोंके ज्ञानकी आवश्यकता नहीं होती। ज्ञान-विज्ञानके गभीर रहस्योंकी छानबीनकी—पुंखानुपुंख अनुसन्धानकी आवश्यकता नहीं होती और न तत्त्वोंके विश्लेषणकी ही आवश्यकता है। आवश्यकता है एकमात्र हृदय-दानकी। प्रत्येक मनुष्यके जीवनमें एक-न-एक दिन ऐसा आता ही है जब वह भगवान्‌के संकेतको, प्रभुके इशारेको स्पष्ट सुनता है। यह इशारा प्रत्येक प्राणीके लिये—जीवमात्रके लिये होता है। किन्तु अधिकांश तो इसे सुनकर अनसुना कर देते हैं और जगत्‌के विषय-विलासोंमें ही रचे-पचे रह जाते हैं। कुछ ही ऐसे महाभाग होते हैं जो उस इशारेपर अपने जीवनकी बलि देकर अपने-आपको, अपने लोक-परलोकको प्रभुके चरणोंमें निछावर कर देते हैं। ऐसोंका जीवन हरिमय हो जाता है। उनका सब कर्म श्रीकृष्णार्पण होता है। उनका खाना-पीना, सोना-जागना, उठना-बैठना, हँसना-खेलना—सब कुछ भगवत्प्रीतिके लिये होता है।

और भगवान्‌का रहस्य, उनका प्रेम, उनकी लीला जाननेसे थोड़े ही जानी जाती है? यह सब कुछ और इससे भी अधिक गोपनीय रहस्यकी बातें भगवान् अपने भक्तोंको स्वयं जना देते हैं और सच्चा जानना तो वस्तुतः तभी होता है जब स्वयं श्रीभगवान् हमारे हृदयदेशमें अवतरित होकर हमें जनाते हैं—अपनी एक-एक बात कहते हैं। उनकी एक मृदुल मुसकान, एक मधुर हास्यमें हमारे सारे प्रश्न, सारी पहेली, समस्त शङ्काएँ बह जाती हैं। जीवनकी गति गङ्गाके प्रवाहकी तरह अविच्छिन्नरूपसे श्रीकृष्ण-चरणोंकी ओर प्रवाहित हो जाती है, समस्त जगत् आनन्दके महासमुद्रमें डूब जाता है। श्रीकृष्णप्रेमके अतिरिक्त कोई वस्तु रह नहीं जाती। भगवान् भक्तको आलिङ्गनका सुख देकर प्रीतिसे उसके अङ्ग-प्रत्यङ्गको सहला देते हैं, अमृतभरी दृष्टि डालकर उसके हृदयको शीतल कर देते हैं। उसे बरबस गोदमें उठा लेते हैं और पीताम्बरसे उसके आँसू पोंछते हैं। प्रेमभरी दृष्टिसे देखते हुए उसे सान्त्वना देते हैं। ऐसी ही उनकी लीला है। अनेक भक्तोंका जीवन इसका साक्षी है। आज भी यह अनुभव दुर्लभ नहीं।

कितनी गजबकी है उनकी प्रीति? हम एक बार उनकी ओर देखते हैं तो वे लाख-लाख बार हमारी ओर दौड़ते हैं और हमारे प्रेमके ग्राहक बन जाते हैं। एक बार भी जो उनकी पकड़में आ गया वह सदाके लिये उनका बन जाता है; जिसे वे एक बार छू देते हैं, उसे सदाके लिये ही अपना लेते हैं। प्रेमके लिये वह प्रेमी प्रभु दर-दर ठोकरें खा रहा है। घर-घर, एक-एक व्यक्तिसे वह प्रेमकी भीख माँग रहा है। हम दुतकारते हैं, फिर भी वह विकट प्रेमी हमारी उपेक्षा, भर्त्सनाका ध्यान न कर बार-बार आता है और कहता है—'हे जीव! प्रेमकी एक बूँद देकर मुझे सदाके लिये खरीद लो। मैं तुम्हारा गुलाम बन जाऊँगा।'

परन्तु हाय रे मनुष्यका अभाग्य! इस अनोखे अतिथिकी प्रणय-भिक्षाकी ओर हमारी दृष्टि कभी जाती ही नहीं। हम डरते हैं कि एक बार उधर दृष्टि गयी नहीं कि हम बिके नहीं। मङ्गलकी दृष्टि, एक बार ही सही, उधर गयी और 'वह' सदाके लिये मङ्गलका साथी बन गया। दिनमें उसीका जलवा, रातमें उसीके सपने। ऐसा मालूम होता कोई कंधेपर अपने कोमल हाथ रखकर कह रहा है, मेरी ओर देखो, मुझसे बात करो, कुछ बोलो। मङ्गल इस अदृश्य स्पर्शका अनुभव कर एक दिव्य आनन्दमें मूर्च्छित हो जाता। रातको वह सोता तो देखता कि कोई मेरे सिरहाने बैठा है, मेरे सिरको अपनी गोदमें रखकर मेरे ऊपर मन्द-मन्द मुसकानकी फुलझड़ियाँ बरसा रहा है—कभी हँसता है, कभी धीरे-धीरे गाता है। कभी अपनी प्यारभरी कोमल अँगुलियोंको मेरे बालोंमें उलझाकर लाड़ लड़ाता है, कभी आँखोंको चूमता और कपोलोंको सहलाता है। मङ्गल यह समझ नहीं पाता कि यह सब किसके करिश्मे हैं।

परन्तु वह यह जानता था कि मेरा एक साथी है जो रात-दिन हमारे साथ रहता है।

मङ्गलको उस लीलामयकी लीलाओंके दर्शन होने लगे। रातभर वह आधा सोया, आधा जागा रहता। ऐसा मालूम होता कोई अपना अत्यन्त प्यारा प्राणोंको गुदगुदा रहा है। सबेरे जागता तो उस गुदगुदीकी अनुभूति बनी ही रहती। वह गायें खोलकर जब चरानेके लिये वनमें ले जाता तो ऐसा प्रतीत होता मानो उसका साथी उसके साथ चल रहा है—कभी कुछ गाता है, कभी नाचता है, कभी प्रेममें रूठता है, कभी गले लगकर मनकी बातें कहता है, कभी दीखता है, कभी छिपता है। पके हुए बिम्बफलके समान अपने लाल-लाल होठोंपर वेणुको लगाकर भिन्न-भिन्न स्वरोंमें वह जाने क्या-क्या गाया करता है और उसका गीत सुनकर त्रिलोकीके चर-अचर जीव मोहित हो जाते हैं। वह वेणुको बजाते हुए मदमत्त हाथीकी तरह कयामतकी चाल चलता हुआ जब विलासपूर्ण दृष्टि निक्षेप करता है तो समस्त वसुन्धरा उस मधुमें डूब जाती है।

मङ्गलको अब गायें चरानेमें एक अद्भुत आनन्द मिलता। वनमें उसे भगवान्‌की विविध लीलाओंके दर्शन होते। अब अपनी गायों और बछड़ोंसे उसकी अत्यन्त आत्मीयता हो गयी। वनमें वह देखता कि किसी नन्हे-से बछड़ेको गोदमें उठाकर श्रीकृष्ण चूम रहे हैं। कभी देखता कि किसी गायकी पीठपर बायाँ हाथ टेककर दाहिने हाथसे वंशीको अधरपर रखकर धीरे-धीरे कुछ गा रहे हैं। गायें कान खड़े करके, निर्निमेष दृष्टिसे उनकी ओर देख रही हैं और मुग्ध होकर वंशी-ध्वनि सुन रही हैं। जब वंशी बजती तो झुंड-के-झुंड बैल, गाय और वनके हिरण अपनी सुध-बुध खोकर मुँहके ग्रासको बिना चबाये ही मुँहमें वैसे ही रखकर, कान खड़े करके, नेत्र मूँदकर, सोते हुए-से और चित्र लिखे-से निश्चल हो जाते हैं। वनमालाकी दिव्य गन्धसे समस्त वसुन्धरा भर गयी है, जड़ चेतन हो गये हैं, चेतन जड़। ये सारी लीलाएँ मङ्गल प्रत्यक्ष देखता और मुग्ध होकर देखता!

एक दिनकी बात है। सन्ध्या हो रही थी। सूर्यदेव अस्ताचलको जा रहे थे। सायङ्काल होते देख मङ्गल अपनी गायें लेकर घरको लौट रहा था। देखता क्या है कि उसका प्राण-सखा उसके साथ ही लौट रहा है। उसके नेत्र मदसे विह्वल हो रहे हैं। गौओंके खुरसे उड़ी हुई धूल उसके मुखमण्डलपर तथा बालोंपर जम गयी है, इस कारण उसका मुख पके हुए बेरके समान पाण्डुवर्ण दीख रहा है, वनके पुष्पों तथा कोमल-कोमल किसलयोंकी माला पहन रक्खी है, गजराजके समान झूमता हुआ चल रहा है, सुवर्णके कुण्डलोंकी कान्तिसे उसके सुकुमार कपोलोंपर एक अद्भुत छटा छा रही है। आज मङ्गलसे रहा न गया। उसने चाहा कि इस अपरूप रूपको पी जाऊँ। इसलिये वह आगे बढ़ा और उस त्रिभुवनमोहनको आलिङ्गन-पाशमें बाँध लेना चाहा। परन्तु········!!

कैसे-कैसे खेल हैं उस खिलाड़ीके! उसकी ओर न झुको तो बार-बार दरवाजा खटखटाता है, रात-दिन परेशान किये रहता है, न खाने देता है न सोने। लेकिन जब उसकी ओर प्राणोंकी हाहाकार लेकर मुड़ो तो वह छलिया जाने कहाँ छिप जाता है और ऐसा छिपता है कि बेनिशाँ हो जाता है, लापता हो जाता है। मिलना, मिल-मिलकर बिछुड़ना और फिर बिछुड़-बिछुड़कर, एक क्षणकी झलक दिखाकर फिर छिप जाना, यह लुका-छिपी उसकी सर्वथा निराली होती है। क्षणभरमें प्रकट होगा, क्षणभरमें छिप जायगा। हृदय खोलकर मिलेगा और क्षण ही भरमें खिसक जायगा। न उसे पकड़ते बनता है न छोड़ते। जनम-जनमसे हम उस रूपको निहारते आये हैं; फिर भी जी नहीं भरा, हृदय नहीं अघाया।

मिलन और विरहके बीच साधनाका सोता झोंके खाता हुआ चलता रहा। मिलनकी लीला हो चुकी

थी, अब विरहकी लीला होनेवाली थी। यह विरह भी तो मिलनसे कम मधुर नहीं है। प्यारेका सब कुछ प्यारा है। उसका मिलना भी प्रिय है और बिछुड़ना भी प्रिय है। मिलना अधिक प्रिय है या बिछुड़ना, इसे कौन बतलावे ? जिस प्रकार वर्षा-ऋतुके आनेपर जल बरसता है, बिजली चमकती है, मेघ गर्जना करते हैं, हवा जोरसे चलने लगती है, फूल खिल जाते हैं और पक्षी आनन्दमें डूबकर कूजने लगते हैं, उसी प्रकार प्रियतम प्रभुके दर्शन हो जानेपर आनन्दित होकर नेत्र जलवर्षा करने लगते हैं, ओंठ मृदु हास्य करने लगते हैं, हृदयकी कली खिल उठती है, आनन्दके झोंकेसे मस्तक हिलने लगता है, प्रतिक्षण उस प्रिय सखाके नामकी गर्जना होने लगती है और प्रेमकी मस्ती प्रभुके गुणगानमें सराबोर कर देती है। मिलन और विरह दोनों ही साधन हरि-मिलनके ही हैं। यह मिलन चिर गोपनीय है। इस आनन्दका पता न कर्मीको है न निष्कर्मीको, न ज्ञानीको है न ध्यानीको। वेद भी इसका पार नहीं पा सकते, विधिकी यहाँतक पहुँच नहीं। यह तो केवल रसिक हृदयोंके निकट ही चिर समुज्ज्वल है। यही है साधनाका शेष, यही है प्रेमकी चरम लीला। यही है योगियोंकी योगसाधना, यही है भक्तोंको भक्तिकी प्राप्ति, यही है प्रेमीजनोंका पूर्ण प्रणय-महोत्सव !

मङ्गलकी दशा अब कुछ विचित्र रहने लगी। मिलकर बिछुड़नेका दुःख कोई भुक्तभोगी ही अनुभव कर सकता है। मङ्गलसे अब न रोते बनता, न हँसते। आनन्द था मिलनकी स्मृतिका, विषाद था पाकर खो देनेका। उसके जीमें कुछ ऐसी लहरें उठ रही थीं कि उस प्यारेके विना अब जीना बेकार है। किसी काममें उसका जी नहीं लगता। न भूख लगती, न नींद आती। रात-दिन रोता रहता, रोते-रोते कभी-कभी बीचमें अट्टहास कर बैठता। अजीब पागलकी-सी दशा थी। लोग कुछ समझ नहीं रहे थे कि क्या बात है। पिताने समझा लड़केका दिमाग फिर गया है, दवा करानी चाहिये। आस-पासके वैद्य-हकीमोंको बुलवाया। लेकिन मर्ज तो लाइलाज था।

'मीराकी प्रभु पीर मिटै जब बैद साँवलियो होय !'

मङ्गल अपने 'वैद्य' की खोजमें आप ही निकल पड़ा। प्रेमियोंका हाल ऐसा ही होता है। प्रेमके अनियारे बाणसे जिसका हृदय बिंध जाता है, उसकी दशा उन्मत्तकी-सी हो जाती है। जगत्की कोई चर्चा उसे नहीं सुहाती। चेष्टा करनेपर भी वह कुछ बोल नहीं सकता। उसका शरीर पुलकित हो उठता है। उसके रोम-रोमसे प्रेमकी किरण-धाराएँ निकलकर निर्मल प्रेमज्योति फैला देती हैं। समस्त वातावरण प्रेममय हो जाता है। वह प्रेमावेशमें बार-बार रोता है, कभी हँसता है, कभी लाज छोड़कर ऊँचे स्वरसे गाने और नाचने लगता है। मङ्गलकी माँ मङ्गलके इस दिव्य उन्मादको कुछ-कुछ समझ रही थी। उसने देखा था कि जन्माष्टमीकी रातसे ही मङ्गलकी दशा पलटने लगी थी। उसे मङ्गलकी इस दशापर परम सन्तोष था। वह जानती थी कि वास्तविक पुत्रवती वही है जिसका पुत्र श्रीहरिके चरणोंमें अनुरक्त हो। वह अपने भाग्यको सराहती और प्रभुके चरणोंमें मस्तक टेककर नित्य यही प्रार्थना करती कि 'हे प्रभो ! इस बालकके हृदयमें प्रेमकी आग लहकाकर आप अब इसे यों न छोड़ो, अब तो इसे सर्वथा अपना लो। मैं इसे तुम्हारे चरणोंमें आनन्दके साथ निवेदित करती हूँ। तुम इसे अब स्वीकार कर लो।'

परन्तु भगवान्‌ने तो पहलेहीसे उसे स्वीकार कर लिया था। वह शिकारी ऐसा-वैसा नहीं है। उसका निशाना खाली जाय, यह हो नहीं सकता। जिसपर उसने प्रेमबुझे तीर फेंके, वही लुट गया। घायलकी गति घायल ही जानता है, या जानता है वह शिकारी। छिप-छिपकर वार करता है; कभी बहुत हलकी

मामूली चोट करता है, कभी गहरी—प्राण ले लेनेवाली चोट। बाण लगा हुआ हरिन जैसे छटपटाता है, वही हालत भगवत्प्रेमियोंकी होती है। वह हृदयको सीधे बेधता है और बाणको यों ही लगा छोड़ देता है। प्रेमकी गलीमें साधक जाता तो है जी बहलानेके लिये, आँखें जुड़ानेके लिये; लेकिन वहाँ जानेपर उसे लेने-के-देने पड़ जाते हैं। गरम ईख चूसनेकी-सी दशा हो जाती है—न चूसते बनता है न छोड़ते। घायल होकर घूमता-फिरता है। उसका दर्द कुछ निराला ही होता है। वहाँ दवा और दुआ कुछ भी काम नहीं देती।

गोदावरीके तटपर जंगलमें एक छोटा-सा मन्दिर है। उसमें श्रीराधाकृष्णकी युगल-मूर्त्ति विराजमान है। आसपास तुलसीका सघन वन है—दूरतक फैला हुआ जंगल। जंगली वृक्षों और पुष्पलताओंसे स्थानकी शोभा अत्यन्त रमणीय हो रही है। मोरों और वन्य पशुओंने वनको मुखरित कर दिया है। शान्त, स्तब्ध गोदावरीकी धारापर वनके फूल बहते हुए ऐसे लगते हैं मानो वनदेवीने भगवान् सूर्यनारायणको पुष्पोंकी अञ्जलि समर्पित की है। बालरविकी कोमल किरणें समस्त वनप्रान्तमें और गोदावरीके हृदय-स्थलपर केलि कर रही हैं। मङ्गल गोदावरी-तटपर तुलसीके वनमें बैठा हुआ गद्गद कण्ठसे अपने प्राणनाथको कातर-भावसे पुकार रहा है। प्रार्थना करते-करते वह मूर्च्छित होकर वहीं गिर पड़ता है। मूर्च्छित अवस्थामें मङ्गलको एक दिव्य वपुधारी महात्मासे 'ॐ राधायै स्वाहा' का षडक्षर मन्त्र प्राप्त हुआ। मन्त्र कानोंमें प्रवेशकर हृदयमें पहुँचा और वहाँ हृदय-देशमें मन्त्रकी चेतनतासे एक विद्युल्लहर-सी लहराने लगी। मङ्गलको ऐसा प्रतीत हुआ कि शीतल विद्युत्के दिव्य अक्षरोंमें यह मन्त्र उसके हृदयमें वैसे ही प्रकट हुआ है जैसे प्रशान्त नील आकाशमें पूर्णिमाका चन्द्रमा। मङ्गल जब होशमें आया तो वे महात्मा वहाँ नहीं थे, परन्तु वह मन्त्र पहलेके समान ही चेतनरूपमें विद्युत्-धाराकी तरह हृदयमें तरङ्गित हो रहा था। मन्त्रकी यह दिव्य लीला देख मङ्गल मुग्ध था। उसके रोम-रोमसे मन्त्रराजकी कोमल किरणें प्रस्फुरित हो रही थीं और भीतर-बाहर समानरूपसे वह उस आनन्दसिन्धुमें डूब रहा था। आँखें खोलता तो सामने श्रीराधाकृष्णकी मञ्जुल मूर्त्ति, आँखें बन्द करता तो हृदयमें उसी युगल-मूर्त्तिकी ललित लीला। प्राणोंमें, श्वासोंमें मन्त्रकी मधुर क्रीड़ा स्वयं होती रहती थी—अनायास, विना प्रयास। वर्षों इसी रस-समाधिमें डूबा रहा। देह-गेहकी सुध-बुध न थी। वनके भीतरी भागमें रहनेवाले जो कुछ लाकर उसे खिला देते, वह खा लेता; जो कुछ पिला देते, वह पी लेता।

शारदी पूर्णिमाकी मध्यरात्रि है। मङ्गलके हृदयमें आज अपूर्व उल्लास छा रहा है। उसने वनके पुष्पोंकी माला बनायी, तुलसीकी मञ्जरीकी माला बनायी। प्राणनाथ और प्रियाजीको प्रेमके साथ पहनाया। आँसुओंसे उनके चरण पखारे और लगा उन्हें एकटक निहारने। देखते-देखते उसकी दृष्टि बँध गयी, पलकें स्थिर हो गयीं। फिर क्या देखता है कि श्रीराधारानी-का हृदय खुलता है—ठीक जैसे सूर्यकी किरणोंके स्पर्शसे कमलकी कली खिलती है—राधारानी मङ्गलको उठाकर अपने हृदयमें छिपा लेती हैं और भगवान् खड़े-खड़े मन्द-मन्द मुसकानोंकी झड़ी लगा रहे हैं। वहाँ अब मङ्गल नहीं है—उसने अपना सर्वस्व अपने प्राणनाथ जीवन-सखाके चरणोंमें अर्पित कर दिया है और उसकी यह भेंट पूर्णतः स्वीकार कर ली गयी है।

मन्दिरके पास एक छोटा-सा चबूतरा बन गया है, जहाँ मङ्गल तुलसीवनमें बैठा करता था। लोग इसे मङ्गलदासका चबूतरा कहते हैं।

'यह दिखता क्या है ?········'

(लेखिका—बहिन श्रीरैहाना तय्यबजी)

हाँ ! 'अरु है क्या ?—न मैं जानूँ, न तू जाने !'

बड़ौदेमें हर जुम्माको एक बड़ा बाजार लगता है, जहाँ तरह-तरहकी अजीब और नायाब चीज़ें बिकने आती हैं। शौकीन लोग इसकी बड़ी क़दर करते हैं, और सारे हफ़्ते इसी ताकमें बैठे रहते हैं कि कब जुम्मा आवे और कब हम जायँ और अच्छी-अच्छी चीजें खरीदकर लावें ! एक रोज हमारे कोई अजीज, जिनको पीतल और चीनीका अजहद शौक है, जुम्मा बाजारसे बड़े खुश-खुश आये और मुझे एक कुछ अजीब-सी चीज दिखलाने लगे, जो वर्षोंके मैल, मिट्टी और मोर्चेसे ऐसी ढक गयी थी कि न तो उसका रंग नजर आता था, न यही समझमें आता था कि यह किस धातुकी बनी हुई है और क्या चीज है। मैंने नाक-भौं चढ़ाकर कहा, 'अरे यह क्या उठा लाये ?' मुस्कुराकर फ़रमाया, 'इसे साफ़ तो होने दो ! फिर देखना····।' उस चीजको खूब धोया, माँजा, घिस-घिसकर साफ़ किया; तब वह अपने असली रंग-रूपमें चमक उठी। बड़ी खूबसूरत पीतलकी लोटी थी, जिसमें निहायत नफ़ीस ताँबेकी नक़्शाकारी की हुई थी और देव-देवियोंकी बहुत ही सुन्दर तस्वीरें बनी हुई थीं। क्या ही अद्भुत कला थी ! उसे देखकर मैं फड़क उठी···············।

दृश्यमें छिपे हुए अदृश्यकी खूबीको परखनेके लिये निगाह चाहिये···············।

एक रोज मैं बाग़में घूम रही थी। जमीनपर बहुत कचरा-घास देखकर उसे हटानेमें मसरूफ़ हो गयी। एक नन्हा-सा पौधा था, जिसपर बड़े नाज़ुक आसमानी रंगके बारीक-बारीक फूल खिले हुए थे। मैंने उसे दिल-ही-दिलमें प्यार कर लिया और वहीं रहने दिया। हमारी मालिन चंदाकी आवाज कानोंपर पड़ी 'साहब, उसे निकाल दीजिये !' मैंने चौंककर पूछा—'क्यों ?' बोली, 'यह तो कचरा है, साहब !' अच्छा ! इस जंगल और मैदानोंके बाशिंदेके लिये यहाँ जगह न थी। हर चीज अपनी असली और योग्य जगहके बाहिर 'कचरा' ही होती है, ख़्वाह वह कितनी ही दिलपसन्द और अच्छी क्यों न हो·······मैंने निःश्वास लेकर उसे उखाड़ डाला, यह कहते हुए—'ले, चल, भाई ! खुदा हाफ़िज़ !' उसके बाद मेरी नजर और जगह पड़ी, जहाँ कई गमलोंके क़रीब बहुत-सा कचरा ऊगा हुआ था। मैंने उसे भी उखाड़ना शुरू किया, कि फिर चंदाकी आवाज आयी—'अरे साहब, उसे रहने दीजिये !' मैंने फिर हैरान होकर पूछा, 'क्यों ?' बोली, 'यह तो बड़ी अच्छी भाजी है, साहब !'

खूब ! मैं सोचमें पड़ गयी—अजब तमाशा है, यह ! फ़ूल 'फ़ूल' नहीं है, 'कचरा' है; कचरा 'कचरा' नहीं है, 'भाजी' है !

खरा-खोटा पहचाननेके लिये भी तो नजर चाहिये····

किसी दोस्तने मुझसे एक रोज कहा—'रैहाना, मेरी एक सहेली हैं, जो संगीतकी बड़ी शौक़ीन हैं—तुम एक रोज उन्हें गाना सुनाओगी ?' मैंने खुशीसे क़बूल किया और जिस रोज उन्होंने बुलाया, उनके वहाँ पहुँच गयी। उनकी सहेली भी कुछ देर बाद आ गयीं। ज्यों ही उन्होंने कमरेमें क़दम रक्खा कि मेरा दम उखड़ गया और दिल धकसे बैठ गया ! ऊँचे, लम्बे बाल—कुछ अजब ढंगसे सँवारे हुए, चेहरा पाउडर और रंगसे बिलकुल ज़र्द और उसमें जासूदी रंगके चमकते हुए लाल होंठ ! अब्रुओंको साफ़ कर बस दो बारीक सियाह रेखाएँ माथेपर रहने दी थीं; साड़ी इस तरह तंग लपेट ली थी कि मामूली क़दमतक भरनेमें दिक़्क़त

होती थी; ऊँची-ऊँची एड़ियोंसे जिस्मका झोंक कुछ बेढब-सा हो रहा था। मैंने मन-ही-मन घबराते हुए सोचा—'हैं! हैं! इस 'सिनेमा स्टार' या गुड़ियाके सामने मैं क्या गाऊँगी?' वह बैठीं और गुफ़्तगूका सिलसिला जारी हुआ। तब बड़ी सादगीसे कहने लगीं—'हाँ जी, देखिये, हमारी जिन्दगी कुछ ऐसे चक्करमें गुजरती है कि परमार्थ सोचनेका वक़्त ही नहीं मिलता। क्या करें? बस, सुबह घंटे-दो घंटे—जितना भी हो सके कुछ पूजा-पाठ और भजन कर लेती हूँ। अपने गुरुका सिखलाया हुआ मन्त्र जप लेती हूँ। इस आये दिनकी झंझटमें भगवान् को याद करनेकी फ़ुरसत ही कहाँ है? वरना मुझको भजन-कीर्तनका बड़ा शौक़ है………' मैं नादिम, ख़ामोश, अपनेको दिल-ही-दिलमें कोसने लगी। बग़ैर जाने-समझे किसीका तिरस्कार कर बैठना, यह कितना बड़ा पाप है! क्या मालूम इस बिचारी की जिन्दगी किस माहौल, किस वातावरणमें गुजरती होगी? बहर हाल अल्लाह पाक, जो रहीमो रहमाँ, अति दयालु, अति कृपालु, प्रेमस्वरूप हैं, वे क्या देखते होंगे? इस बहिनकी सजावट, जो सिनेमा स्टारकी-सी थी, या उनका दिल, जो संसार-सागरके तलातुममें भी घंटे, दो घंटे—जितना भी हो सके—अपने प्रभुको याद करनेकी फ़ुरसत किसी तरह निकाल ही लेता था, जिसको 'भजन-कीर्तनका बड़ा शौक़' था?

हे अन्तर्यामी! दिलकी बात तुम्हारे सिवा और जान ही कौन सकता है?

एक बहिनके बारेमें सुना वे फ़ैशनकी बड़ी दिल्दादा हैं—दिनभर पार्टियोंकी ख़ाक छानती रहती हैं, रातभर नाचती रहती हैं। यह भी सुना कि गाती बड़ा सुंदर हैं। चुनांचे एक मजलिसमें उनसे गाना सुनानेकी दरख़्वास्त की गयी। वे बराबर इन्कार करती रहीं और अख़ीरमें न गाया। तब मैंने उनसे बड़ी इल्तिजा की कि 'बहिन, खुदाने आपको यह देन दी है, तो दुनियाको उसका फ़ायदा जरूर मिलना चाहिये! आप ऐसी बख़ीली क्यों करती हैं?' कुछ देरतक तो वे इधर-उधरके उज्र करती रहीं; जब मैं किसी तरह न मानी, तो आख़िर बेहद सादगी और बेसाख़्तगीसे बोल उठीं—'बहिन, सच बात तो यह है कि लोगोंके सामने मैं नहीं गा सकती—मेरा नातिक़ा बंद हो जाता है! वैसे तन्हाईमें भगवान्‌के सामने बैठकर घंटों गा लेती हूँ…।'

ओफ़्फ़ो! मैंने दिल-ही-दिलमें अपने दोनों कान जोरसे खींच लिये! 'बेवक़ूफ़! जब तू कुछ जानती ही नहीं, तो ख़्वाह-म-ख़्वाह औरोंके लिये बुरा ख़याल क्यों जमा लेती है?' हाँ! यही हैं न वह 'फ़ैशनकी पुतली', वह मोहान्ध संसारी, वह मौज-शौक़में डूबी हुई—यही न, जो 'वैसे तन्हाईमें भगवान्‌के सामने बैठकर घंटों गा लेती हैं?'

इस क़िस्मके तजरुबे मुझको (और हरेकको) रात-दिन हुआ करते हैं, जिससे अब मैंने अपनी आँखों और कानोंपर भरोसा करना बहुत हदतक छोड़ दिया है। अच्छे-अच्छे महात्माओंको अपने धर्मसे विचलित होते देखा है और मशहूर विषयी संसारियोंमें महात्माओंके-से दिव्य गुण पाये हैं। अपनी क़ुदरतको वह 'क़ादिरे मुतलक़' ही समझ सकता है। किस जगह, किस जिस्ममें, किस वाणीमें, किस मौक़ेपर वह अपनी झलक दिखला देगा—यह हम नहीं जान सकते। अगर हम इतना याद रख सकें, अगर भगवान् हमसे अहङ्कार व अभिमानकी दृष्टि और उसीसे उत्पन्न होनेवाले झूठे तिरस्कारका अन्धापन खींच लें, तो कितना अच्छा हो?

'यह दिखता क्या है, अरु है क्या?—
न मैं जानूँ, न तू जाने!'

× × × ×

'आकाश, सागर, नद अरु वन,
मनुष्य-देह, पशुगण—
जहाँ मैं, वहीं वृन्दावन !.........'

और वह मनमोहन श्यामसुन्दर, वह ज्ञान-तेजसे जगमगाते, अनन्त आत्मदर्शनकी बेखुदीमें झूमते, अपने अकथ्य, अनुपम सौन्दर्यमें मस्त व मगन रहते, अपनी ही योगमायाके सियाह परदेमें छिपे हुए, गुप्त 'साँवरे' — वह विश्व-प्रेमकी वंशीके बजैये और आत्मा-परमात्माकी प्रेम-लीलाके रचनेवाले—वह कहाँ, किस दिलमें, किस चीजमें नहीं हैं ?

'जहाँ मैं, वहीं वृन्दावन !.........'

बस, उनको देखनेके लिये, पहचाननेके लिये, गोपीकी नजर चाहिये !

भक्त पौराणिक पण्डित दीनदयालुजी त्रिपाठी

(लेखक पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय, एम० ए०, साहित्याचार्य)

पुराण हमारे आर्यधर्म तथा संस्कृतिके आधार-स्तम्भ हैं। वेदोंमें निहित गूढ रहस्योंको साधारण जनताके सामने सरल बोधगम्य भाषामें प्रकट करना पुराणोंका कार्य है। परन्तु पुराणोंका जितना प्रचार जनतामें चाहिये उतना नहीं दिखलायी पड़ता। एक तो वे आकारमें कुछ बड़े हैं, सुलभ भी नहीं हैं। दूसरे शिक्षित पण्डितमण्डलीकी उनकी ओर सतत परिवर्धमान उपेक्षा भी विशेषरूपसे लक्षित होती है। प्राचीनकालमें कथाके द्वारा भारतीयधर्म तथा दर्शनके सिद्धान्तोंका प्रचार आस्तिक जनतामें किया जाता था और सफलता भी मिली। परन्तु आजकल बड़े दुःखका विषय है कि संस्कृतके विद्वानोंकी भी इस ओर बड़ी उपेक्षा है। शिक्षित समुदायमें ऐसे बहुत-से सज्जन मिलेंगे जिन्हें १८ पुराणोंके नामोंका भी पता नहीं है, विषयके ज्ञानकी तो कथा ही अलग है। ऐसी अवस्थामें पुराणोंके मनन करनेवाले एक भक्त पण्डितका चरित्र कम महत्त्वका प्रमाणित नहीं होगा।

इन पण्डित महोदयका नाम पण्डित दीनदयालु त्रिपाठी है। ये इसी प्रान्तके पूर्वी जिले बलियाके रहनेवाले थे। इनका जन्म संवत् १९१४के चैत्र मासमें शाहाबाद जिलेके त्रिभुवानी नामक गाँवमें हुआ था। इनके पिताका नाम पण्डित रामशरण त्रिपाठी था। जब ये तीन सालके थे, तभी बाढ़के कारण इनका मकान गिर गया। इनके पिता उस समय अपने जन्मस्थानको छोड़कर बलिया जिलेके 'गोन्हियाँ छपरा' नामक गाँवमें चले आये। यहींपर इनकी आरम्भिक हिन्दी-शिक्षा हुई। अनन्तर ये अपने गाँवके पास सोनबर्सा नामक गाँवके प्रसिद्ध पण्डित अम्बिकादत्त उपाध्यायसे संस्कृत पढ़ने लगे। छोटे-मोटे ग्रन्थ पढ़ लेनेपर इन्होंने काशीके सुप्रसिद्ध वैयाकरणकेसरी योगेश्वर शास्त्रीजीसे व्याकरणके टीकाग्रन्थोंका अध्ययन किया। पर आप अम्बिकादत्तजीके साथ ही विशेषरूपेण रहे। अपने गुरुके साथ रहकर आपने विहारके अनेक स्थानोंमें भ्रमण किया। इससे इनका सांसारिक अनुभव बढ़ता गया। विहारमें इन्हें पहले-पहल नार्मल स्कूलमें शिक्षकका पद मिला। बढ़ते-बढ़ते १८७९ ई० में ये वहाँके हेडमास्टर नियुक्त किये गये। बड़ी योग्यतासे आप यह कार्य करने लगे, लेकिन अभी तीन ही वर्ष इस पदपर रहते हुए होंगे कि घरसे पिताके सख्त बीमार होनेके समाचार मिले। घर आनेपर पूज्य पितृदेवका वैकुण्ठवास हो गया। घरके प्रपञ्चको सँभालनेके लिये दूसरा कोई आदमी नहीं था। अतः अगत्या आपको हेडमास्टरी छोड़नी पड़ी। अनन्तर पास ही सोनबर्सा नामक ग्राममें डुमराँव राज्यसे स्थापित

अपर प्राइमरी स्कूलकी हेडमास्टरी इन्हें मिली । इस स्थानपर रहकर आपने लगभग ४०सालतक अध्यापन-कार्य किया । पीछे वृद्धावस्थामें नौकरी छोड़ दी और घरपर ही रहने लगे । यह स्कूल हिन्दीका था, पर आप संस्कृतके विद्यार्थियोंको भी व्याकरण, साहित्य तथा भागवत आदि पुराण सदैव पढ़ाया करते थे । इस प्रकार अध्यापन-जैसे पुण्यकार्यमें अपना जीवन लगाकर आप १९८९ संवत्की कार्तिकी अमावस, सोमवारको ७५ वर्षकी आयुमें अपने भौतिक शरीरसे वियुक्त हुए।

आप उदार, शान्त तथा सरल हृदयके महापुरुष थे । शान्ति तो चेहरेसे टपकती थी । सरल इतने थे कि यदि किसी ग्रन्थके समझनेमें अड़चन पड़ती तो विद्यार्थियोंसे स्पष्ट कह देते थे । अपने पाण्डित्यका न तो इन्होंने कभी गर्व किया, न कभी इसे किसीके सामने प्रकट किया । सङ्कीर्णताको तो ये अपने पास फटकने नहीं देते थे । आप थे तो वैष्णव और आस्थावान् परम वैष्णव । परन्तु कभी भी उनके मुँहसे अन्य किसी भी देवी-देवताकी निन्दा नहीं सुनी गयी । बहुत दिनोंकी बात है । आप उस समय तरुण अवस्थाके थे । किसीने कह दिया कि डुमराँव महाराजके गुरु, उद्भट विद्वान्, परम शैव पण्डित दुर्गादत्त परमहंसजी वैष्णवोंका तिलक धुलवा देते हैं । बात गलत थी; परमहंस कट्टर शिवभक्त होनेपर भी उदार थे । परन्तु आप इसकी सत्यता जाँचनेके लिये स्वयं डुमराँव गये । परमहंसजीने इनसे कुछ पूछनेको कहा । इन्होंने पूछना अस्वीकार किया और स्वयं उत्तर देनेकी अभिलाषासे प्रश्न सुननेकी बात कही। परमहंसजीने पूछा—वसिष्ठजी रामचन्द्रजीको प्रणाम करते थे या रामचन्द्रजी वसिष्ठजीको ? झटसे आपने उत्तर दिया—दोनों एक दूसरेको प्रणाम करते थे । वसिष्ठजी रामचन्द्रजीको ईश्वरत्व-बुद्धिसे प्रणाम करते थे और रामचन्द्रजी वसिष्ठजीको गुरुत्व-बुद्धिसे । परमहंसजी इस तात्कालिक तथा यथार्थ उत्तरसे अत्यन्त प्रसन्न हुए और इन्हें आशीर्वादरूपसे स्वरचित अनेक पुस्तकें दीं । इस प्रकार जहाँ अनादर पानेकी आशङ्कासे गये थे, वहाँसे सम्मान पाकर लौटे । वे बोलचालमें तो प्रत्युत्पन्नमति थे ही । कोई भी उनसे रुष्ट होकर नहीं जाता था ।

वक्तृता देनेमें भी इनकी शक्ति विलक्षण थी । सनातनधर्मपर व्याख्यान देना—जनताको धर्मके रहस्यों-को रोचक भाषामें समझाना—अपना विशेष कर्तव्य समझते थे । किसी भी धार्मिक विषयपर कई घंटों-तक लगातार व्याख्यान देते थे और जनतापर उसका प्रभाव भी खूब पड़ता था । सुनते हैं कि एक बार हरिहरक्षेत्रके मेलेमें आपके व्याख्यानको सुनकर दरभंगाके महाराजने आपकी विद्वत्ता, शास्त्रीय ज्ञान तथा व्याख्यानशैलीकी प्रचुर प्रशंसा की थी । संस्कृतके बहुल प्रचारके लिये आपने बड़ा उद्योग किया था । कई स्थानोंसे चंदा वसूल करके 'मधुवनी' (जि० बलिया) में एक संस्कृत-पाठशालाकी स्थापना की, जो आज भी चल रही है । इस प्रकार सनातनधर्मके सिद्धान्तोंके प्रचार करनेमें वे अन्ततक दत्तचित्त रहे । जहाँ कहीं भी धर्मसम्बन्धी सभा होती थी, वहाँ साधारण सूचना मिलनेपर भी चले जाते थे, उसकी कार्यवाहीमें योग देते थे और उसे सफल बनानेके लिये अनेक उपाय करते थे तथा बतलाते थे ।

इनका समग्र जीवन पवित्रतासे ओतप्रोत था । आचरणकी शुद्धता, विधि-विधानकी निष्ठा, उसको निभानेकी नैसर्गिक आस्था इनके जीवनमें सदा ही दृष्टिगोचर होती थी । प्रातःकाल ३ बजे जग जाते, तारकोपेता उत्तमा सन्ध्याकी आराधना करते और सूर्योदय होनेसे पहले ही तर्पण, पूजन आदि अन्य आवश्यक कार्योंसे निवृत्त हो जाते । सन्ध्याकी निष्ठा इतनी दृढ़ थी कि अन्तिम बीमारीके समयमें भी लाख मना करनेपर भी विना सन्ध्यावन्दन किये अन्न ग्रहण

नहीं करते थे। आप हनुमान्‌जीको अपना इष्ट मानते थे। कहा करते थे कि सङ्कटकालमें हनुमान्‌जी स्वप्नमें अपना स्वरूप दिखलाकर आश्वासन दे जाते हैं। एकादशीव्रतके अनन्य उपासक थे। इसका इतना प्रभाव था कि इनके कुटुम्बके सब आदमी नियमसे सालभरके सब एकादशीके दिन व्रत-उपवास किया करते थे। शरीर छोड़नेके चार दिन पूर्व एकादशी थी। शरीर रुग्ण था, शिथिल था। लोगोंने समझाया कि उपवास इस बार छोड़ दीजिये। शायद शिथिलता और बढ़ जाय। परन्तु आपने अपने नियममें किसी प्रकारका परिवर्तन नहीं किया और उस दिन भी व्रत किया। सच्ची निष्ठा इसे कहते हैं।

आपके विषयमें सबसे विलक्षण बात थी पुराणोंका अनुशीलन। ऊपर कहा जा चुका है कि आप भागवत और गीताके विशेष प्रेमी थे और सदा इनका अनुशीलन किया करते थे। शायद ही कोई दिन जाता जिस दिन भागवत विद्यार्थियोंको न पढ़ाते हों। आपके भागवतके शिष्य इधर बहुत-से विद्वान् हैं। इसके सिवा, आपने अठारहों पुराणोंका अनेक बार साङ्गोपाङ्ग अभ्यास किया था। संस्कृतके विद्वान्‌को केवल हिन्दी पढ़ानेसे सन्तोष नहीं होता। अतएव 'स्वान्तःसुखाय' ये प्रतिदिन सायङ्काल घरपर पुराण बाँचा करते थे। स्वस्थ रहते इसमें कभी नाँगा नहीं होती थी। कई घंटेतक भगवच्चर्चा रहती। इस कारण आसपासके बहुत-से प्रेमीजन पुराण सुननेके लिये नियमसे पधारते थे। श्रोतागण भी इसमें विशेष अनुराग दिखलाते थे। इस तरह अठारहों पुराण आपने कई बार विधिवत् बाँचे और लोगोंको उनके सिद्धान्तोंको समझाया। दृष्टान्त देनेके लिये पुराणके ही किसी प्रसङ्गको उठाते थे, इधर-उधरसे किस्सा-कहानी कभी नहीं कहते थे। पुराणोंके विषयमें किसी प्रकारका प्रश्न करते ही झट उसका उत्तर देते। शङ्काका समाधान करते। धारणा विशेष थी। पुराणोंका ऐसा अभ्यासी और ज्ञाता हमारे देखनेमें अबतक नहीं आया।

एक बार हमारा और पण्डितजीका रेलगाड़ीपर कई घंटोंका साथ रहा। उस दिनसे पहले रातको बड़ी आँधी आयी थी। रेलकी पटरीके दोनों तरफ़ छिन्न-भिन्न शाखाएँ पड़ी हुई विचित्र दृश्य उपस्थित कर रही थीं। प्रसङ्गवशात् पुराणोंकी चर्चा चली। मैंने पूछा कि पुराणोंमें वायु-अस्त्रका अवरोधक अस्त्र कौन है? उन्होंने झट उत्तर दिया—पर्वत-अस्त्र। जहाँ कहीं पवनास्त्रको रोकनेकी बात पुराणोंमें आती है, वहाँ सर्वत्र पर्वतास्त्रका प्रयोग किया गया है। पीछे भागवतके पाठ करते समय मुझे भी इसके अनेक उदाहरण मिले। दूसरे समय आधुनिक अनेक समाजों-की चर्चा चली। उस समय आपने शिवपुराणमें आये हुए एक प्रसङ्गकी चर्चा छेड़ी, जिसमें शिवजीने संन्यासीका रूप धारणकर त्रिपुरासुरको व्रतसे च्युत करनेके लिये विविध नास्तिकमतोंकी बातें कही थीं। उस प्रसङ्गमें धर्मविरुद्ध इतनी बातोंका वर्णन उक्त पुराणमें आया है जिनकी कल्पना भी आधुनिक नास्तिकवाद नहीं कर सकता। ऐसे नास्तिकमतका प्रचार उस समयमें भी था, यह कहना युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। पूर्वपक्षत्वेन जितने विरुद्ध सिद्धान्तों-की कल्पना की जा सकती थी वह की गयी है, जिनका खण्डन करनेसे सिद्धान्तपक्षकी मात्राधिक पुष्टि हो। इस प्रकार पण्डितजीका पुराणोंका अनुशीलन विशिष्ट था। भागवतका तो अध्ययन बहुत ही गहरा था। इस पुराणके पढ़नेवाले विद्यार्थी भी साधारणतया अधिक मिलते हैं। इनके यहाँ ऐसे छात्रोंकी बहुलता रहती थी।

गीतामें भगवान्‌ने श्रीमुखसे अनन्यचिन्तकोंके योगक्षेमके सम्पादनकी जो बात कही है, उसका प्रत्यक्ष

उदाहरण पण्डितजीके जीवनमें मिलता था। साधारण स्थितिसे बिना किसी प्रयासके बढ़ते-बढ़ते पण्डितजीने अच्छी सम्पत्ति इकट्ठी कर ली थी, जिसका उपयोग परोपकारमें भी कम नहीं किया जाता था। इनके उदात्त चरित्रका प्रभाव इनके कुटुम्बी, स्वजन तथा विद्यार्थियोंके ऊपर अमिटरूपसे पड़ा है। आजकल ऐसा होना कम महत्त्वकी बात नहीं है। मैंने बालकपनमें हिन्दी-की शिक्षा पण्डितजीसे ही पायी थी। अतः छात्रोंके ऊपर उनके प्रचुर प्रभावको मैं भलीभाँति जानता हूँ।

इस प्रकार पण्डित दीनदयालुजीका चरित्र सर्वथा स्तुत्य है। सब समयके लिये वह आदर्श है। भक्तिसे इनका हृदय सराबोर रहता था। भागवतकी स्तुतियाँ पढ़ते समय आप गद्गद हो जाते थे और नेत्रोंसे प्रेमाश्रुओंकी धारा बहा करती थी। कथा कहते-कहते आप विह्वल हो जाया करते थे। जीवनभर भगवच्चर्चा करनेके अतिरिक्त आपका कोई व्यवसाय न था। इस तरह दीर्घजीवन निष्कलङ्क बिताकर अन्तसमयमें भी 'कृष्ण त्वदीयपदपङ्कजपञ्जरान्ते' का उच्चारण करते-करते पण्डितजीने इस भौतिक शरीरको त्यागा। ऐसा पवित्र जीवन विरले ही मनुष्योंका हुआ करता है। धन्य है भगवान्‌की लोकपावनी भक्ति और धन्य है भक्तोंका जगत्पावन आदर्श चरित्र।

ईश्वरमें विश्वास क्यों करें ?

(लेखक—प्रो० श्रीमदनमोहनजी विद्याधर)

संसार परिवर्तनशील है। प्रत्येक वस्तु क्षण-क्षणमें नया-नया रूप धारण कर रही है। नाश किसी वस्तुका नहीं हो रहा है, केवल नाम और रूपमें ही परिवर्तन हो रहा है। आज धर्मकी भी यही दशा है। इसमें भी परिवर्तन आ रहा है। सदियोंसे चला आ रहा ईश्वरमें विश्वास डगमगा रहा है।

मनुष्य किसीकी पूजा तो चाहता है, पर आज वह पूजा उस ईश्वरकी न होकर 'प्रकृति' की हो रही है। बहुत-से मनुष्योंका कहना है कि जब 'प्रकृति' (मैटर) से ही हम जीवनकी सब समस्याओंका हल तथा प्राकृतिक नाना अनोखी घटनाओंकी व्याख्या कर सकते हैं तो एक अप्रत्यक्ष चेतनशक्तिमें विश्वासकी आवश्यकता ही क्या है। मनुष्य आँख खोलकर इस 'पसारे' (जगत्प्रपञ्च) को देखता है, सूर्य और चन्द्रके उदय और अस्तको एक नियममें सदियोंसे होता हुआ देखता चला आ रहा है, संसारमें होनेवाले कार्य-कारणके नियमका एक विस्तृत प्रभाव इस ब्रह्माण्डमें पाता है, तब उसकी बुद्धि इस चमत्कारको जाननेके लिये व्याकुल हो उठती है। यह उस 'परमतत्त्व' या 'चरमशक्ति' को जाननेकी इच्छा उसी समयसे मनुष्यके हृदयमें उठ रही है, जिस समय पहले-पहल वह इस रूपमें आया, उसने 'आँख' खोलकर इस विश्वकी पहली झाँकी देखी—प्रथम दर्शन किया। कइयोंने एक चेतनशक्तिमें, जो इस ब्रह्माण्ड तथा इसके मूल कारण प्रकृतिसे परे है, विश्वास किया; दूसरोंने प्रकृतिसे ही सन्तोष कर लिया; कुछने कहा सब 'शून्य' है; 'मिथ्या' है, कइयोंने मौनावलम्बन कर लिया और सब अज्ञेय है—ऐसा कहकर चुप्पी साध ली।

परन्तु एक अत्यन्त आश्चर्यकी बात है, और वह यह कि संसारकी अधिकांश जातियों तथा धर्मोंने सृष्टिके इतिहासके प्रारम्भसे ही किसी एक ऐसी शक्तिमें विश्वास रक्खा है, जो अदृश्य और निराकार होते हुए भी चेतन है और इस विश्वका निर्माण करनेवाली है—इस प्रश्नको छोड़िये कि वह यही प्रकृति है या इससे भिन्न कोई है। चाहे उसने अपने-आपको इस जगत्‌के रूपमें विकसित किया हो या किसी अन्य पदार्थको अपनी सामर्थ्यसे इस रूपमें खड़ा किया हो, एक अदृश्य चेतनशक्तिमें निरवच्छिन्न विश्वास सदियोंसे चला आ रहा है। फ्लिंट नामक दार्शनिकने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Theism (ईश्वरवाद) के ७ वें अध्यायमें विश्व-इतिहाससे उदाहरण दे-देकर यह बताया है कि कोई भी धर्म, कोई भी जाति इस प्रकारकी अदृश्य शक्तिमें विश्वास न करनेवाली उपलब्ध नहीं होती। सबने किसी-न-किसी रूपमें एक चरमसत्तामें आस्था रक्खी ही है,

यद्यपि कइयोंने उसका रूप या लक्षण अत्यन्त विकृत बना रक्खा है।

इस संसारको देखकर मनुष्य इसके निर्माणकी प्रक्रियाकी जिज्ञासाके विना नहीं रह सकता। उसका हृदय अनुभव करता है कि इसके पीछे कोई शक्ति है, जो इसे चला रही है। कोई शक्ति है जो 'भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया'—इस ब्रह्माण्डसे परे रहकर सब प्राणियोंको शरीररूपी यन्त्रपर आरूढ करके घुमा रही है। मनुष्यजातिने सोचा; पर 'को अद्धा वेद ?' 'तत्त्वं को जानाति ?'—इसे कौन जान सका ? ग्रीसदेशका एक फिलॉसफर इसके विषयमें निरन्तर सोचता रहा और कोई सिरा न पाकर नदीमें डूबकर मर गया।

यह अदृश्य शक्ति, जिसे हम 'ईश्वर' या 'देव' नामसे याद करते हैं, कहीं मनुष्यके मस्तिष्क या बुद्धिकी उपज तो नहीं है ?

'रचनाकी युक्ति' तथा 'कार्य-कारणके नियम' के आधारपर भी संसारके निर्माता तथा नियामक रूपमें ईश्वर सिद्ध होता है, पर इन दोनों युक्तियोंको विवादके भयसे मैं यहाँपर नहीं उठाता। मैं तो यहाँपर उन सामान्य युक्तियों-को पेश करना चाहता हूँ, जो मूर्ख-से-मूर्खके भी गले उतर जायँ।

एक ऐसी शक्ति है जो इस संसारको गति प्रदान करती है, इसे व्यवस्थित रखती है। वेदमें इसे 'सविता' नामसे कहा है—

'सविता याति सं भुवनानि पश्यन्'

(१) मैं पहले कर्मफलकी युक्तिको लेता हूँ। इस विश्वमें कोई एक कर्मफलदाता है, जो हमें हमारे कर्मोंके अनुसार फल देता है। मनुष्य नानाविध पाप या पुण्यके कार्य करता है, इनके अनुसार उसे अच्छा या बुरा फल मिलता है। इसकी व्यवस्थाके लिये किसीमें विश्वासकी आवश्यकता है। कर्म अपने-आप फल नहीं देता। दूसरे, यदि कोई कर्मफलदाता न हो तो कर्मके फलमें अव्यवस्था मच जाय। क्योंकि कोई भी अपना बुरा नहीं देखना चाहता। 'अमुक कर्मका फल अमुक' इस प्रकारका विभाजक कोई-न-कोई मानना ही पड़ेगा। यदि उसमें विश्वास न किया जाय तो कर्मफलकी व्यवस्था बिगड़ जायगी। प्रकृति जड़ है और अचेतन है। कर्मफलकी व्यवस्था-के लिये किसी चेतनकी आवश्यकता है, जो न्यायपूर्वक सत्-असत् कर्मोंके अनुसार शुभाशुभ फल देता है, जिसके हाथसे कोई भी विना फल पाये नहीं छूटता। अथर्ववेदमें लिखा है कि 'वह दो प्राणियों—व्यक्तियोंमें होनेवाली गुप्त मन्त्रणाको सुनता है। उस 'वरुण' नामवाली शक्तिके पाशोंसे कोई नहीं बच सकता।'

(२) मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है। वह जो चाहे कर सकता है। स्कूलमें पढ़नेवाले बच्चेको यदि पता हो कि उसका अध्यापक (Teacher) अमुक दिन स्कूलमें नहीं आवेगा, तो उसको शैतानी करनेमें जरा भी संकोच न होगा। वह अपने स्वाध्यायरूप कर्तव्यसे ध्यान हटाकर खेल-कूद-में प्रवृत्त हो जायगा। हमलोग इस विश्वरूपी विद्यालय-के विद्यार्थी हैं। यदि सचमुच हमें देखनेवाला कोई न हो तो हम अपने कर्तव्यसे पराङ्मुख हो जायँ।

(३) विना किसी शिक्षकके किसी बच्चेको आजतक शिक्षित होते नहीं देखा गया है। इस समय हम परम्पराके द्वारा एक दूसरेसे ज्ञान प्राप्त करते चले आ रहे हैं। पर इस 'ज्ञानकी परम्परा'को चलानेवाला भी तो कोई होना चाहिये। ज्ञानधाराके स्रोतके रूपमें किसी शक्तिमें विश्वासकी आवश्यकता है।

(४) परीक्षाभवनमें बैठे हुए सब विद्यार्थी नकल करना पाप नहीं समझते। यदि कोई निरीक्षक वहाँ न हो तो वे एक दूसरेकी नकल करनेसे कभी भी न चूकेंगे। जिन विद्यार्थियोंने वर्षभर मौज की है, वे लोग पास होनेके लिये स्वाभाविक ही दूसरे विद्यार्थियोंके ज्ञानसे लाभ उठाना चाहते हैं। यह संसार भी एक परीक्षाभवन है। यदि सचमुच ही कोई निरीक्षक हमारे ऊपर न हो तो हम स्वयं कुछ भी न कमावें और दूसरेकी कमाईको लूटकर आनन्द मनाने लगें। किन्तु यजुर्वेदमें लिखा है—'मा गृधः कस्यस्विद्धनम्'। अर्थात् किसीके धनकी इच्छा न कर। संसारमें स्वयं कमाकर उस कमाईपर सन्तोष करना—'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'—यह हमारे जीवनकी क्रियात्मक परीक्षाके लिये दिया गया पेपर है।

(५) यदि एक बच्चेको पता हो कि बुरा काम करनेपर, असत्यभाषण करनेपर, दूसरेका अपकार करनेपर, मेरे घरमें मुझे कोई भी रोकनेवाला नहीं है, तब वह शायद अपने घरका ही सर्वनाश करनेपर तुल जावे। यदि हम मनुष्योंके कार्योंका निरीक्षण एवं नियन्त्रण करनेवाला कोई भी न हो तो हम भी उच्छृङ्खल होकर संसाररूपी घरमें मनमानी करने लग जायँ।

(६) दफ्तरोंमें काम करनेवाले बाबुओंके ऊपर उनका कोई मुखिया न हो तो जो अव्यवस्था वहाँ होगी, वही इस संसाररूपी ऑफिसकी हम मनुष्यरूपी क्लर्कोंके कारण हो जायगी, यदि हमारे ऊपर भी कोई मुखिया न हो ।

(७) यदि आज न्यायालयोंमेंसे न्यायाधीशोंकी व्यवस्था उठ जाय और सबको विश्वास हो कि उनके बुरे कार्मोका निर्णय करके दण्ड देनेवाला कोई भी जज नहीं है तो समाजमें अंधेर मच जाय । परन्तु ये न्यायाधीश मनुष्यके सब कार्योंका नियन्त्रण नहीं कर सकते, क्योंकि उनकी शक्ति बहुत ही कम है । मनुष्यके प्रत्येक कार्यका निर्णय करनेके लिये किसी अन्य सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् सत्तामें विश्वासकी आवश्यकता है, जो मनुष्यको उसके बुरे कार्मोका न्यायपूर्वक दण्ड देकर सचाईका मार्ग दिखाती है और जिसके लिये वेदोंमें—

ॐ अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् । युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ।

—ऐसी प्रार्थना की गयी है ।

(८) संसाररूपी स्टेजपर इस विश्व-प्रपञ्चरूपी नाटकके अभिनयका आदेशक (डाइरेक्टर) कोई है, जो प्रत्येक मनुष्यको उसके योग्यतानुसार अपना पार्ट करनेको देता है और वैसा करना सिखाता है । भगवान् बुद्ध, ऋषि दयानन्द तथा महात्मा गान्धी-जैसे महापुरुष इसमें मुख्य अभिनेताके तौरपर अभिनय करते हैं । विना किसी व्यवस्थापकके मनुष्य इस जीवनरूपी नाटकमें कभी भी ठीक प्रकारसे अपना पार्ट नहीं करेगा ।

इन सब प्रकारके कार्योंके निरीक्षकके तौरपर हमें एक शक्तिमें विश्वास करना पड़ता है, उसके शासनमें अपनेको रखना पड़ता है । उसका भय हमें बुरे मार्गसे बचाता है, पापके भूतसे हमारी रक्षा करता है, हमारे लिये सन्मार्गप्रदर्शक बनता है । वह किसी उच्छृङ्खल राजाका भय नहीं है, जो हमें सत्यका आश्रय लेनेपर फाँसीकी सजा देता है; वह तो शुभाकाङ्क्षासे पूर्ण हृदयवाले पिता, स्नेहस्निग्ध मनवाली माता या सच्चे गुरु, शिक्षक या न्यायाधीशका मनको गुदगुदानेवाला भय है, जो हमें पापके गड्ढेमें गिरनेसे रोका करता है ।

(९) समुद्रमें गोता लगाते समय गोताखोर अपने शरीरको एक प्रकारके आवरणसे ढक लेता है, जो उसकी समुद्रीय प्रतिकूल वातावरण तथा भयानक जन्तुओंसे रक्षा करता है । इस विश्वरूपी विशाल सागरमें जब हम उतरते हैं तब इसके बुरे वातावरणसे बचनेके लिये काम, क्रोध, लोभ, मोहादि शत्रुओंसे अपनी रक्षाके निमित्त ईश्वररूपी आवरण हमारे लिये अत्यन्त आवश्यक है ।

रणक्षेत्रमें जब तलवारें चलती हों, तब उनके प्रहारसे अपने देहकी रक्षा करनेके लिये किसी कवचकी आवश्यकता होती है । इसी तरह जीवन-संग्राममें हम बिना घावोंके तभी रह सकते हैं, जब कि हमारे तनपर भी कोई ऐसा कवच हो जिसपर कोई भी प्रहार कारगर न हो । वेदोंने ठीक लिखा है—'ॐ स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम् ………' 'वह परमेश्वर अव्रण है ।' ईश्वरीय शक्ति ही वह कवच है जो संसारमें लगनेवाले धक्कोंसे, मुसीबतोंके प्रहारसे, हमें सुरक्षित रखती है । जिन्होंने इस कवचको पहना, उनके लिये दुःख सुख हो गया । ऋषि दयानन्दने इसे पहना, उसपर बरसाये गये पत्थर फूल हो गये । मीराने इसे धारण किया, उसके लिये विषका कटोरा अमृतसे भर गया, भयानक कृष्ण सर्प फूलोंमें परिवर्तित हो गया ।

(१०) मनुष्य कोई कार्य करनेके बाद, यदि वह अच्छा हुआ है तो, उसके लिये शाबाशी चाहता है और बुरा करनेपर उसका सुधार चाहता है । साधारण बातोंके लिये वह अपने दोस्तोंके सामने शेखी बघार लिया करता है, उनके साथ दिल बहला लिया करता है । पर उन कार्मोंके करनेपर जिनपर कि संसार उसकी हँसी करता है और उसे पागलकी उपाधि देता है, वह अपनी सन्तुष्ट आत्मामें प्रवाहित अनन्त सुखको किसीके सामने प्रकट करना चाहता है । तब दबे पाँव कोई शक्ति उसके हृदयमें प्रविष्ट होती है और उसकी बातें सुनती है, उसे सान्त्वना देती है, नवीन कार्योंके लिये प्रोत्साहन देती है, पिछले लगे घावोंपर मरहम-पट्टी करती है । मनुष्य अपना मुख तो सबके सामने खोल देता है, परन्तु अपना मन या अन्तःकरण किसके सामने खोलकर रक्खे ? अपने हृदयका म्यूजियम किसको दिखावे ? इसके लिये भी किसी शक्तिमें विश्वासकी आवश्यकता है । जब मनुष्यकी बातें सुनते-सुनते संसार थक जाता है, उस समय भी यह शक्ति उसकी बातोंपर कान दे रही होती है ।

(११) प्रतिकूल समय आ पड़नेपर सभी मुकर जाया करते हैं, यहाँतक कि मौत आ आनेपर आँखें भी पलट जाया करती हैं । मुसीबतमें मित्र शत्रु और अपने

पराये हो जाते हैं। उस समय मनुष्यका हृदय किसी स्थिर, सदा साथ देनेवाले मित्रकी तलाशमें तड़पता है—जो उसे दुःखमें सान्त्वना दे और निराशाके समयमें भी उसे धैर्य बँधावे। जिसने इस मित्रको पा लिया, वह कड़े-से-कड़ा समय आनेपर भी हिमालयकी तरह दृढ़ खड़ा रहता है; उसके जीवनमें निराशा नहीं आती। ज्यों ही निराशा आने लगती है, उसका परम सहायक यह मित्र उसे 'प्रवेश नहीं' का बोर्ड दिखला देता है। जरा-सी भी आपत्ति आनेपर आत्महत्या वे किया करते हैं, जिनका कोई सहारा नहीं होता; ईश्वरका भक्त कभी आत्महत्या-जैसा कार्य नहीं करेगा। जीवनको आशामय, उज्ज्वल बनानेके लिये ऐसे एक मित्रकी जरूरत है। यह वह साथी है, जो हर समय काम आता है।

(१२) मनुष्य पहले तो इस संसारमें मन लगाता है, उससे प्रेम करता है, उसपर विश्वास करता है और पीछे धोखा खानेपर रोता है—पश्चात्ताप करता है। मनुष्यके जीवनको सम रखनेके लिये ऐसे विश्वासपात्रकी आवश्यकता है, जिससे धोखा मिलनेका अवसर ही न हो। एक व्यक्तिने अपनी सारी आयु एक राजाकी ईमानदारीसे सेवा की। उसके जीवनके अन्तसमयमें किसी छोटी-सी बातपर उसका राजासे मतभेद हो गया। इसपर राजाने उसको फाँसी देनेकी आज्ञा जारी कर दी। उस व्यक्तिने अन्तसमय कहा—यदि सारी आयुभर परमेश्वरकी सेवा, उसकी भक्ति, उसमें विश्वास किया होता तो मेरी इस जीवनसे ही मुक्ति हो गयी होती। मनुष्य जब संसारमें विश्वास करता है तो उसे उसका प्रतिफल भी ऐसा ही मिलता है जो कि उसके हृदयको विदीर्ण कर देता है। ईश्वरका विश्वास ही मनुष्यके जीवनमें स्थिरता तथा शान्तिका सञ्चार करता है।

सांसारिक प्रेम यही है न कि जो बच्चा बचपनके दिनोंमें अपनी माताकी गोदको एक क्षणके लिये भी नहीं छोड़ता, वही उसे बूढ़ी देखकर उसकी मृत्युकी इच्छा करता है। जिसे हम जीवनभर प्यार करते हैं, वह हमें या तो धोखा देकर दुखी करता है या हमें इस संसारमें अकेला छोड़कर रुलाता है। इस दुःखपूर्ण रुदनसे बचनेके लिये हम किसी ऐसी शक्तिसे नाता जोड़नेके लिये बाध्य होते हैं जो हमें कभी दुःख न दे, हमारा कभी साथ न छोड़े, जिसके साथ सम्बन्ध होनेपर हमारा प्रेम नित्य नूतन रहे, लगातार वृद्धिको प्राप्त होता जाय। वह एक ऐसी स्नेहामृतमयी शक्ति है, जिसकी एक बूँदका भी स्वाद मिल जानेपर मनुष्य उसके बदलेमें समस्त संसारको छोड़नेको तैयार हो जाता है। संसारसे ऊबकर वह किसी अन्य वस्तुसे प्रेमकी आशा करता है। संसाररूपी विशाल भवनसे गिरनेके बाद वह किसी गोदकी इच्छा रखता है, जो उसको थामे, रक्षा करे, नष्ट होनेसे बचावे। ऊँचे पर्वतसे गिराये जाकर प्रह्लादकी रक्षाके निमित्त उसकी प्रतीक्षामें खड़ी भगवान्की मूर्त्तिके गोदकी इच्छा सभी मनुष्य करते हैं।

(१३) मनुष्य परोपकारसे प्रेरित हो त्यागमय जीवन बिताना चाहता है। पर वह अपने सर्वस्वका त्याग किसके नामपर करे, किसकी प्रसन्नताके लिये करे? इस स्वार्थत्याग-मय जीवनके लिये भी किसीमें विश्वासकी आवश्यकता है। मनुष्य सांसारिक वस्तुएँ जो कि उसने संसारमेंसे ही ली हैं, संसारको समर्पित कर देता है, पर अपने-आपको किसपर न्यौछावर करे? तब उसके मुखसे सहसा निकल पड़ता है—

त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।

(१४) आज संसारमें साम्यवाद और प्रजातन्त्रका बोलबाला है। किसी भी व्यक्तिसे पूछिये कि आज संसारमें राजनीतिका आधार क्या होना चाहिये? उत्तर मिलेगा—समानता, स्वतन्त्रता और भ्रातृत्व। इन तीन बातोंका समाजमें उच्चतम आदर्श देखनेकी इच्छा प्रत्येक व्यक्तिके अंदर स्वभावतः ही होती है। वह इन्हें समाजके हृदयमें गहरे-से-गहरे रूपमें देखना चाहता है। पर ऐसा हो कैसे? जब हम प्रत्यक्ष अपनेको भिन्न-भिन्न माता-पिताओंद्वारा उत्पन्न हुआ देखते हैं, तब इन भावोंका विकास किस आधारपर हो? भिन्न-भिन्न माता-पिताओंकी एकताको कैसे सिद्ध किया जाय? उनकी एकताका मूल क्या है? हम किस आधारपर अपनेको एक-दूसरेका भाई समझें, सबको समानताकी दृष्टिसे देखें, किसी दूसरेकी स्वतन्त्रतामें हस्ताक्षेप न करें? मुझे कोई बतावे कि वह कौन-सा सूत्र है जिसने हमें भ्रातृत्वमें बाँध रक्खा है?

इसके लिये किसी शक्तिमें विश्वासकी आवश्यकता है। जिसे हम अपना पिता समझते हैं; वह मनुष्यमात्रका पिता है, सब उसकी सन्तानें हैं; इसीलिये एक पिताकी सन्तानके समान हमारा परस्पर भाई-भाईका सम्बन्ध है। इस भ्रातृत्व-की ऊँची और दृढमूल भावनाकी उत्पत्तिके लिये, यद्यपि भौतिकरूपसे हमारे माता-पिता भिन्न हैं, परमेश्वररूप पिताका विचार सबसे अधिक बुद्धियुक्त है।

भाई-भाई होनेसे परमपिताके ब्रह्माण्डरूपी राज्यमें अपनी-अपनी योग्यताके अनुसार हमारा हिस्सा समान है। इस प्रकार स्वभावतः ही हमारे हृदयोंमें समानताके भाव उमड़ पड़ते हैं। जब हम अपने पिताको संसारकी प्राकृतिक शक्तियाँ बिना भेदभावके सबको वितरित करते देखते हैं, तो आप-ही-आप हमारे मन भी भेदभावोंसे शून्य होकर सबको समदृष्टिसे देखने लगते हैं। सबके हृदय आपसमें युक्त हो जाते हैं। गीतामें इसी समत्वके भावको योगावस्था माना गया है—'समत्वं योग उच्यते।' इस समय मनुष्यकी अवस्था—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

—की हो जाती है। माताके एक होनेपर जैसे घरमें बच्चोंका समान अधिकार होता है, कोई किसीकी स्वतन्त्रतामें बाधा नहीं देना चाहता, उसी प्रकार परमेश्वरमें विश्वास करनेसे 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावनाका विकास मानव-हृदयमें होने लगता है। तब जैसे एक घरमें सब भाइयोंको घूमने-फिरने, खाने, पीने, पहनने तथा व्यवहार करनेकी स्वतन्त्रता होती है, वैसे ही हम भी इस विश्व-कुटुम्बमें स्वतन्त्रतापूर्वक व्यवहार करनेके अधिकारी हो जाते हैं। कोई किसीकी स्वतन्त्रताका अपहरण नहीं करता। तब इटलीको अबीसीनियाको हड़प जानेकी जरूरत नहीं रहती और हिन्दुस्तानपरसे अंगरेज़ोंकी हुकूमत स्वतः चली जाती है। परमेश्वरने सबको आज़ाद पैदा किया है। जब हमारे पिताकी ऐसी ही इच्छा है तो हमें किसी दूसरेकी स्वतन्त्रतामें बाधा देनेकी आवश्यकता ही क्या है? यह पारस्परिक स्वतन्त्रताका भाव ईश्वरमें विश्वास करनेसे उत्तम रूपमें विकसित हो जाता है। समस्त संसारका राजा एक है, जिसका किसीके साथ पक्षपातपूर्ण प्रेम अथवा द्वेषका व्यवहार नहीं है। हम सब उसकी प्रजा हैं, इसीलिये सब भाई-भाई होते हुए समानतासे इस पृथ्वीमें निवास करने और प्रकृतिका स्वच्छन्द उपभोग करनेकी अबाधित स्वतन्त्रता रखते हैं।

यजुर्वेदके ४०वें अध्यायमें लिखा है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥

जो व्यक्ति सब भूतोंको अपने आत्मामें ओत-प्रोत और सब भूतोंमें अपने आत्माकी व्यापकताका दर्शन करता है, वह संसारमें किसीसे भी घृणा नहीं करता। परन्तु जीवनकी इस उत्कृष्टताकी प्राप्ति कैसे हो? इसी अध्यायका प्रथम मन्त्र है—

'ईशावास्यमिदꣳ सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।'

'इस विशाल जगत्के समस्त पदार्थोंमें ईश्वर व्याप्त है।'

सचमुच यह ईश्वरमें विश्वास ही 'सबको अपने-जैसा समझना, सबके सुख-दुःखमें समानरूपसे हिस्सा बँटाना' इन भावोंको दृढ़ करता है। 'प्रत्येकको अपनी ही उन्नतिमें सन्तुष्ट न रहना चाहिये, किन्तु सबकी उन्नतिमें अपनी उन्नति समझनी चाहिये।'

ऋषि दयानन्दके बनाये आर्यसमाजके इस नियमका आधार ईश्वरमें दृढ़ भक्ति ही है। क्योंकि इस प्रकारके भावोंका विकास 'सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्यासे जाने जाते हैं, उन सबका आदि मूल परमेश्वर है—इस सत्यको माने बिना होना कठिन है।

प्रकृतिवादी तो इस प्रकृतिके विश्लेषणतक ही अपने अन्वेषणोंको सीमित रखते हैं। इसके ऊपर भी कुछ है या नहीं, वे इस बातकी खोज ही नहीं करते। प्रकृतिका विचार इनका विषय है और 'ईश्वर' पर बहस अध्यात्मवादी करते हैं। जिन्होंने उसकी सत्ताका अनुभव किया है, उसको मानस चक्षुसे देखा है, जो इस समय भी अपनेको उसकी दयासे स्नात समझते हैं, उस शक्तिके विषयमें वे ही प्रामाणिक हैं।

एक फूलका विकास अँधेरेमें भी हो जाता है; पर चन्द्रमाकी कोमल किरणोंने जिस फूलकी आँखोंको खोला है, उसमें और पहले फूलमें दूध-पानीका अन्तर है। फूल बादलोंकी छायामें भी हँस पड़ता है; पर जिस फूलका विकास सूर्यकी शुभ्र किरणोंसे हुआ है, उसकी मुसकराहट और पहलेकी हँसीमें आकाश-पातालका अन्तर है। प्रकृतिके हाथों खेले और परमेश्वररूपी अम्माकी गोदीमें बढ़े हुए दो मनुष्योंमें ऐसा ही भेद हुआ करता है। पशुका मांस खानेवाले और उसके साररूप दुग्धका आहार करनेवालोंके पसीनोंकी गन्धमें जो भेद है, वही भेद प्रकृति और ईश्वरकी शक्तियोंपर जीनेवाले मनुष्योंके हृदयोंके शीशमें है।

प्रकृतिमें विश्वास मनुष्यको जड बनाता है, रूखा कर देता है; ईश्वरका विश्वास उसे चेतन और सरस कर देता है। पहला हृदयको सङ्कुचित बनाता, स्वार्थसे भर देता है और परिणामतः मनुष्यको मनुष्यसे पृथक् करता है। दूसरा उसके हृदयको उदार, परार्थमय कर शत्रुसे भी प्रेम करनेका पाठ

पहनाता है—मनुष्यको मनुष्यके पास ला बैठाता है। प्रकृतिमें आस्था हमें स्वार्थसे इतना अंधा कर देती है कि हम अपने आनन्दोपभोगके लिये दूसरेके मुखका ग्रास छीन लेते हैं; परन्तु परमेश्वरका विश्वास हमें स्वयं भूखे रहकर दूसरेका पेट भरनेकी शिक्षा देता है।

कई कहा करते हैं कि ईश्वरमें विश्वास संसारमें होनेवाले सब कलहोंकी जड़ है। जो ऐसा कहते हैं, वे ठीक नहीं समझते। ईश्वर तो वह है जो हमें 'युद्धक्षेत्रमें पड़े घायलोंकी सहायता करनेमें यदि प्राण भी न्यौछावर करने पड़ें तो कर दो'की आशा देता है और हृदयमें ऐसा करनेके लिये शक्ति और प्रकाश देता है। ईश्वर तो प्रेमसूत्रमें ज्ञानरूपी सूईसे मनुष्यके हृदयरूपी फूलोंको पिरो-पिरोकर प्रकृतिके गलेमें पहनाता है।

कई कहते हैं वह दीखता नहीं। उपनिषदोंने भी कहा है—

'न तत्र वाग् गच्छति, न मनो गच्छति, न चक्षुर्गच्छति…।'

ठीक है, परन्तु उसका मानस प्रत्यक्ष तो है, उसकी सत्ता हृदयकी अनुभूतिसे जानी जाती है। वायुका प्रत्यक्ष किसको है? त्वचापर शीत या उष्ण अनुभूतिसे उसका अनुमान हम करते हैं। ऐसे ही आत्मा भी किसी शक्तिके सुहावने स्पर्शका सुखद अनुभव करती है। बुद्धि संसारको देखकर सोचना, मन उसपर मनन करना और फिर आत्मा उसको समझना, अनुभव करना प्रारम्भ करते हैं। ईश्वरका ज्ञान इसी विचार-प्रक्रियाका परिणाम है। इसके बाद एक *प्रिय सखाकी तरह वह हृदयमें रहने लगता है—*

'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।'

बस, उसको जरा समझ लेनेकी ही आवश्यकता है।—

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्व‍न्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥

उसके पास जाकर उससे मिलनेकी जरूरत है। उसका द्वार सबके लिये खुला है। यदि तुम्हारेमें उसके पास जानेका साहस नहीं है, तो सच्चे दिलसे उसे पुकारो, अपने हृदयका द्वार उसके स्वागतके लिये खोल दो। फिर जैसे बछड़ेकी आवाज़पर गौ दौड़ी आती है, बच्चेके रोनेपर माँ भागती है, वह परमेश्वर भी हमारे हृदयके सच्चे निमन्त्रणपर वैसे ही हमारे सामने आ उपस्थित होगा।

जो संसाररूपी किनारेपर इस डरसे बैठे रहे कि अध्यात्म-सागरमें गोता लगानेसे हम डूब जायँगे, वे संसारकी दलदलमें धँस गये और जो अध्यात्ममें जा डूबे, वे पार हो गये। कैसी अनोखी घटना है! जो ऊपर-ऊपर तैर रहे हैं, वे पार नहीं होते और जो डूब गये, वे तर गये।

परमेश्वरमें विश्वास करनेसे आपत्तियाँ आया नहीं करतीं, दूर हुआ करती हैं। ईश्वरभक्तपर पड़नेवाली मुसीबतें उसके लिये स्वर्गीय आनन्द देनेवाली होती हैं। ईश्वरके नामपर शत्रुके हाथसे मार खाता हुआ व्यक्ति उसे प्रेमकी वर्षा समझता है। वह फटे कपड़ोंमें अपनेको देख सांसारिक भारों-से अपनेको उन्मुक्त समझ प्रफुल्लित रहता है।

ईश्वरमें विश्वास रखनेवाला सांसारिक मुसीबतोंकी आगमें अपनी बुराइयोंको तथा इच्छाओंको भस्म कर रहा होता है। यही तो जीवनकी शक्तियोंका उच्चतम विकास है। यह ईश्वर-में विश्वास किये बिना नहीं होता। संसार जिन महापुरुषोंकी सच्चे हृदयसे पूजा करता है, प्रेम करता है, जिनके नामपर अपने प्राणतक अर्पण करनेको तैयार है, उनमेंसे कितने हैं जो ईश्वरपर विश्वास नहीं करते?

दुःखसे अत्यन्त विमोक्षका नाम मुक्ति है। हमारे जीवनका उद्देश्य मुक्ति पाना है। यह बिना दुःखसे छूटे हो ही नहीं सकता। और दुःख बिना परमेश्वरमें विश्वासके नहीं छूटता। दुःखका मूल कारण ममता है। ममताका नाश होते ही दुःख समाप्त हो जाता है। यह देह मेरी है, मनुष्य ऐसा समझता है। इसलिये जब यह उससे छिनती है तो वह दुःख करता है—रोता है। साथ ही उसमें अभिमान या अहंभाव भी बहुत है। वह यह समझता है कि प्रत्येक काम 'मैंने किया है।' जब उसका यह अभिमान या अहंभाव टूटता है, तब वह पश्चात्ताप करता है। इसलिये किसी वस्तुमें ममता या किसी कार्यके करनेका अभिमान या अहंभाव ही दुःखका मूल कारण है। इसका नाश हो जाय तो दुःखका भी नाश हो जाय। पर यह हो कैसे? इसका एक ही उपाय है—परमेश्वरमें विश्वास। यह सब संसार तो उसी परमेश्वरका है, वही इसका स्वामी है, हम तो इसका दिया खाते हैं—'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'—इस प्रकार उसमें स्वामित्वका भी आरोप करनेसे ममत्वका नाश हो जाता है। इसी प्रकार यह समझनेसे कि उसीकी सामर्थ्यसे मैं कार्य कर सकता हूँ, अहंभावका नाश हो जाता है। जब ममत्व या अहंभाव न रहा तो दुःख भी न रहा। दुःख न रहा तो मुक्तिकी उपलब्धि हो गयी। पर

यह बात परमेश्वरमें विश्वास किये बिना नहीं होती, उसे माननेकी दशामें ही हो सकती है।

दुःखका साथी ही द्वेषभाव है। इसका मूल कारण भी ममता ही है। मैं एक वस्तु या कार्यको अपना या अपनेसे किया हुआ मानता हूँ। उसपर अन्य किसीके अधिकारी होनेसे अथवा अन्य किसीके द्वारा गड़बड़ी होनेपर उसके प्रति द्वेष-बुद्धि उत्पन्न होती है। परन्तु परमेश्वरमें विश्वास होनेपर यह द्वेषबुद्धि नष्ट हो जाती है।

यही बात काम, क्रोध, लोभ, मोह आदिके सम्बन्धमें भी समझनी चाहिये। इनके बन्धनसे छूटनेका मुख्य उपाय परमेश्वरमें विश्वास ही है। यहाँ विस्तार-भयसे इसकी व्याख्या नहीं की जाती।

एक युक्ति और देता हूँ और फिर बस। वह यह है कि ईश्वरमें विश्वास रखनेसे हानि कभी नहीं हो सकती, किन्तु न रखनेसे हानिकी सम्भावना है; अतः उस हानिसे बचनेके लिये ही ईश्वरकी यदि पूजा कर ली जाय तब भी काफी है। पहले इस जीवनकी ही बात लीजिये। ईश्वरमें विश्वास करनेवालेको किसी भी प्रकारका दुःख क्यों न हो, वह तो अपनी सब प्रकारकी अवस्थाओंमें सुखी ही रहता है। परन्तु नास्तिक तो इस जीवनमें भी पूर्ण सन्तुष्ट नहीं होता और सन्तोषके बिना सुख कहाँ? सन्तोष ही सबसे बड़ा सुख है—'सन्तोषः सुखमुत्तमम्'। अब परलोककी बात लेता हूँ। मान लीजिये कि मनुष्यको मरनेके बाद पता चला कि ईश्वर नहीं है। इस दशामें आस्तिक और नास्तिक दोनोंका कुछ भी नहीं बिगड़ेगा। नास्तिकको अपने किये हुए पापोंका दण्ड नहीं मिलेगा। आस्तिकको तो अपने पुण्योंके फलकी आकाङ्क्षा ही नहीं थी। ईश्वर होता तब भी वह उनसे फलकी याचना न करता, क्योंकि वह तो—

'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।'

—के आदर्शको माननेवाला है। भेद केवल इतना ही होगा कि पहला अपना समस्त जीवन शान्ति तथा सन्तोषसे गुजार कर आता है और दूसरा अशान्ति, असन्तोष तथा कलहपूर्ण विवादोंके बीच।

दूसरी स्थितिमें अर्थात् यदि मनुष्यको मरनेके बाद ईश्वरकी सत्ताका दर्शन हुआ तो उस दशामें नास्तिककी क्या गति होगी? उसे अपने पापोंका फल भोगनेके लिये पुनः जन्म धारणकर इस संसारके दुःखोंके बीच आना पड़ेगा। आस्तिक उस समय नित्यसुखका उपभोग करता होगा। यदि वह इस संसारमें आवेगा तब भी लोकसंग्रहार्थ परोपकारके निमित्त ही जन्म धारण करेगा। ईश्वरको न माननेपर दोनों जीवनोंमें अकल्याण है, सन्देह है, अनिश्चितता है और है अशान्ति। उसमें विश्वास रखनेपर दोनों जीवनोंमें कल्याण है, निश्चितता है, शान्ति है। ज्ञानपूर्वक ईश्वरमें विश्वास तो शान्ति देगा ही, परन्तु सन्देहकी दशामें भी उसमें रक्खी आस्था उत्तम फलको उत्पन्न करती है। जीवनकी गम्भीरता, स्थिरता, सन्तोष ईश्वर-विश्वासका परिणाम है; जीवनभर रोना और चञ्चलता—ये उसमें विश्वास न रखनेके फल हैं। दोनों मार्ग खुले हैं, जो अधिक पसन्द हो ले लीजिये।

यहाँ और वहाँ

यहाँ मृगतृष्णा चातक-त्रास।
वहाँ मंगलमय शान्ति-निवास॥
यहाँ छल-छिद्र, अकारण द्वेष।
वहाँ क्षमता, समता सविशेष॥
यहाँ अनुतापक, बाधक वाद।
वहाँ अभिरंजक अनहद नाद॥
यहाँ पथ कंटक-कुश अविराम।
वहाँ नव दूर्वादल अभिराम॥
यहाँ सुख-स्वप्न-निशा-अवसान।
वहाँ चिर सुखका अमिट विधान॥
यहाँ हा-हा रव शोकागार।
वहाँ मन-वर्धक जय-जयकार॥

यहाँ शरसम सरसिज उर-शूल।
वहाँ विलसित कल्पद्रुम-फूल॥
यहाँ कलि-कलुषित कुंज मलान।
वहाँ अलि-अवलित सुर-उद्यान॥
यहाँ पय विषवत अम्लक नीर।
वहाँ पुण्योदक पावन क्षीर॥
यहाँ क्षण-क्षण वयका व्यवधान।
वहाँ अजरामर धर्म प्रमाण॥
यहाँ लघु जीवन कर्मप्रधान।
वहाँ नवजीवनका उत्थान॥

—श्रीआत्माराम देवकर

पगली माई

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

आगरेमें एक प्रतिष्ठित मुस्लिम परिवार रहता था। परिवारमें एक बड़ी सुन्दर कन्या थी, जिसका नाम था जमीरन। उसके पिता इकबालअहमद आगरेके प्रसिद्ध डाक्टर थे। प्रचलित प्रथाके अनुसार आठ-नौ वर्षकी अवस्थामें ही जमीरनका विवाह बैरिस्टर याकूब साहबके सुपुत्रसे हो गया। भगवान्‌की इच्छा—जमीरन ससुराल जा पायी ही नहीं, उसके पति पढ़नेके लिये आगरेसे लखनऊ गये और इन्फ्लुएञ्जाके शिकार हो गये। ठीक चौदह वर्षकी अवस्थामें जमीरन विधवा हो गयी।

मुसलमानोंमें विधवा होनेकी क्या चिन्ता? पिता और भाई पुनर्विवाह कर देना चाहते थे। पता नहीं जमीरनको क्या धुन सवार हुई। उसने विवाह करनेसे स्पष्ट अस्वीकार कर दिया।

पिताने बहुत समझाया 'हम हिन्दू थोड़े ही हैं, हमारे कुरानशरीफमें तो यह जायज है। लोग पता नहीं क्या कहेंगे। लड़का बहुत सुन्दर और पढ़ा-लिखा है।' पास-पड़ोसवालोंने भी आग्रह किया। भाईने डराने-धमकानेमें भी कोई बात उठा न रक्खी। पर उस लड़कीपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वह अपनी बातपर अड़ी ही रही।

जब कोई बहुत कहता तो वह चुपचाप सिर नीचा करके रोने लगती। वैसे भी वह आजकल दिन-भर किसी चिन्तामें रहती थी। नमाज पढ़नेमें मन नहीं लगता था। बहुत आग्रह करनेपर तो मसजिदमें जाती और वहाँ भी बैठी-बैठी आँसू बहाया करती। शरीर दिन-दिन सूखता जाता था। मुख पीला पड़ गया था।

डाक्टरसाहबके यह एक ही लड़की थी। वे इसे बहुत प्यार करते थे। लड़कीकी दशासे उन्हें बड़ी चिन्ता रहती थी। पर करते भी क्या? कोई उपाय चलता न था।

वैद्य आये, डाक्टर आये, हकीम आये। सबने देखा और दवा दी। परन्तु रोगके मूलतक कोई पहुँच न सका। किसीकी दवासे कोई लाभ नहीं हुआ।

विवाहकी चर्चा बंद हो गयी। घरवालोंने देखा कि इस चर्चासे लड़कीको बहुत कष्ट होता है, अतएव उन्होंने आग्रह छोड़ दिया। डाक्टरसाहब चाहते थे कि यदि वह शादी न करनेमें ही खुश है तो वैसा ही सही, पर वह प्रसन्न रहे।

पता नहीं जमीरन क्या सोचा करती थी। वह एकान्तप्रिय हो गयी थी। किसीके भी समीप बैठना उसे पसन्द न था। कोई कहता तो स्नान कर लेती और कोई कहता तो भोजन। स्वयं उसे अपने शरीर-के रक्षणका भी ध्यान नहीं रहता था।

एकान्तमें बैठकर सूने नेत्रोंसे कभी कमरेकी छतको, कभी दीवारोंको और कभी पृथ्वीको देखती रहती। उसके आँसू सूखना जानते ही न थे। उसे कुछ अभाव था—क्या? यह तो भगवान् ही जानें।

(२)

आगरेमें प्रसिद्ध रामायणी महात्मा जनकसुताशरण-जीकी कथाकी धूम थी। नित्य सहस्रों स्त्री-पुरुषोंकी भीड़ कथामें होती थी। कथाके अतिरिक्त समयमें भी महात्माजीको दर्शनार्थी भक्तोंका समूह घेरे ही रहता था। नगरकी गली-गलीमें महात्माजीकी कथाकी चर्चा थी। आजकल सभी लोग कथाकी ही बातचीत करते रहते थे।

बच्चोंने तो कथाकी चौपाइयौंतक स्मरण कर ली थीं और उन्हींको वे दुहराया करते थे। जमीरनको भी कथाका समाचार मिल चुका था। मुसलमान होनेपर भी उसमें साम्प्रदायिक सङ्कीर्णता न थी।

'जब सब लोग कथाकी इतनी प्रशंसा करते हैं तो मैं भी एक दिन जाऊँ।' उसने किसीसे भी बतलाया नहीं। बुरका डालकर अकेली ही घरसे निकल पड़ी। पड़ोसीके घर जाकर, जो जातिका वैश्य था, उसकी स्त्रीके साथ कथामें चली गयी और पीछे स्त्रियोंके साथ बैठ रही।

कथामें किसे पता कि कौन आया और कौन गया। सब लोग कथा-सुधाके पानमें तल्लीन थे। पूर्ण निस्तब्धता छायी हुई थी।

प्रसङ्ग था श्रीरघुनाथजीके वनवासके समयका केवटका वार्तालाप। महात्माजीकी वाणीने प्रसङ्गमें और भी आकर्षण भर दिया था। श्रोताओंमें ऐसा एक भी व्यक्ति न था जिसके नेत्र सूखे हों। करुणरसकी धारा चल रही थी।

महात्माजीने प्रसङ्गवश भक्त रसखान और सदन कसाईकी कथा भी सुनायी और केवटकी भक्ति तथा श्रीरघुनाथजीकी उदारता एवं दयाका स्पष्ट चित्र श्रोताओं-के सम्मुख रख दिया।

वक्ता स्वयं कथामय हो रहे थे। उनके नेत्रोंसे दो अविरल धाराएँ निकलकर मानसके पृष्ठोंको स्नान करा रही थीं। वे बार-बार गला भर जानेसे बीचमें रुक जाते और नेत्र पोंछकर फिर बोलने लगते।

समय हो गया था और प्रसङ्गकी गम्भीरतासे वक्ता-का कण्ठ अवरुद्ध हो गया था। कोई नहीं चाहता था कि कथा बन्द हो, पर वक्ताने श्रोताओंके आग्रहपर भी शेष प्रसङ्ग कलके लिये छोड़कर कथाका विश्राम किया। आरती हुई, प्रसाद वितरण हुआ। लोग अपने-अपने घरोंको लौटने लगे।

वह वैश्य-स्त्री उठी और जमीरनसे चलनेको कहने लगी। जमीरनने उसे रोका। तनिक अवसर मिला, वे दोनों महात्माजीके चरणोंमें प्रणाम करके एक ओर खड़ी हो गयीं। महात्माजीने पूछा 'क्या पूछना है ?'

'आप जिस पुस्तकसे कथा कहते थे उसे क्या मैं पढ़ सकती हूँ ?' जमीरन वैसे हिन्दी अच्छी प्रकार पढ़ लेती थी।

'क्यों इसमें क्या आपत्ति है ?' महात्माजीने साश्चर्य कहा। दूसरी स्त्रीने बतलाया 'ये मुसलमान हैं।'

'राम-नाम' के जप और रामायणजीके पाठमें सबका अधिकार है। रघुनाथजी केवल हिन्दुओंके ही थोड़े हैं, वे तो सबके हैं।' महात्माजीने एक छोटी-सी मानसकी प्रति लाकर उसे दे दी। 'इसे नित्य पढ़ती रहो और राम-राम कहती रहो।'

जमीरनने झुककर महात्माजीके चरणोंमें मस्तक रक्खा। उसने मन-ही-मन महात्माजीको अपना गुरु चुन लिया।

उसी दिनसे जितने दिनतक महात्माजी आगरेमें रहे वह नित्य कथामें आती रही। कथाके आरम्भमें आती और कथाके समाप्त होनेपर उठकर चली जाती।

(३)

घरके और मुहल्लेके मुसलमानोंने बड़ा हल्ला-गुल्ला मचाया कि जमीरन तो काफिर हो गयी। बात कुछ नहीं थी, वह नमाज पढ़ने अब नहीं जाती थी और हिन्दुओंकी रामायण दिनभर पढ़ा करती थी। उसने मांसभक्षण भी छोड़ रक्खा था।

डाक्टरसाहब क्या करते ? लड़कीका मोह छोड़ा नहीं जाता था। डर था कि अधिक कड़ाई करनेपर वह रो-रोकर बीमार न हो जावे और समाजके मुसलमान उनके पीछे पड़े हुए थे। अन्ततः उन्होंने लोगोंसे स्पष्ट कह दिया कि मैं लड़कीकी इच्छामें बाधा नहीं डालूँगा।

समाज तो ऐसे ही चलता है। लोगोंने कुछ दिन

तो बहुत व्यंग्य कसे और फिर जैसे-जैसे बात पुरानी पड़ती गयी उसे भूल गये। उनके लिये विशेषसे वह साधारण बात हो गयी। और सब तो शान्त हो गये, पर जमीरनकी भाभी और भाई शान्त नहीं हुए। वे बराबर उसके पीछे पड़े थे। भाईका कहना था कि 'वह शादी कर ले और काफिरोंकी इस पुस्तकको फेंक दे।' भाभी उसके मांस न खानेसे चिढ़ती थी और उसे व्यंग्यमें 'भगतिन' कहकर पुकारती थी।

पिताकी उदारता और प्रेमने जमीरनको सुविधा दे रक्खी थी। पिताके भयसे भाई अधिक उद्दण्डता नहीं कर पाता था। किसी प्रकार दिन कटते जाते थे।

जमीरनका मन इस परिवारसे ऊबता ही गया। उसे न तो परिवारवालोंके साथ बोलना अच्छा लगता और न उनके साथ रहना। उसे यहाँ रहकर अपने जप और पाठमें भी कम अड़चन नहीं पड़ती थी।

उसके लिये मांसको पकते और दूसरोंको भक्षण करते देखना भी असह्य हो गया। वह घरमें मांस आनेपर कोठरी बंद करके बैठ रहती। वह दिन दूध और फलपर काट देती। महीनेमें बीस दिन ऐसे ही बीतते।

धीरे-धीरे उसका अयोध्याकी ओर आकर्षण हुआ। कई बार उसने अयोध्या जानेका विचार भी किया, पर पिताके प्रेमको तोड़कर जाना भी उसके लिये शक्य न था।

आकर्षण बढ़ता गया और वह अयोध्या जानेके लिये व्याकुल रहने लगी। जिसे भगवान् स्वयं बुलाना चाहें, उसे रोक कौन सकता है। आगरेमें हैजा फैला और उसने डाक्टरसाहबको ले लिया।

घरमें सब लोग रो रहे थे, सब पछाड़ें खा रहे थे और जमीरनके नेत्रोंमें अश्रु भी न थे। उन्मत्त दृष्टिसे वह आकाशकी ओर एकटक देख रही थी।

डाक्टरसाहबके इष्ट-मित्र सभी आ गये थे। फूलोंसे सजा हुआ शव कब्रगाहके लिये उठाया गया। जमीरन उठी और उस शवके साथ हो ली। लोगोंने बहुत लौटानेकी चेष्टा की, पर वह लौटी नहीं।

शवको कब्र दे दी गयी। लोग ऊपर पुष्प चढ़ाकर लौटे। पता नहीं कब जमीरन वहाँसे चली गयी थी। सबने समझा कि घर लौट गयी होगी। पर वह घर नहीं आयी थी।

सन्ध्याको एक बार फिर एक मुसलमानने कब्रके पास अकेली जमीरनको देखा और फिर किसीने उसे आगरेमें कभी नहीं देखा। भाईने बहुत चेष्टा की, पर जमीरनका उन्हें पता न लगा। पाँच सौ रुपयेके पुरस्कार-की घोषणा भी कोई फल नहीं दिखला सकी।

(४)

अयोध्यामें एक वृद्धा मुसलमान-स्त्री पगली माई करके प्रसिद्ध हो गयी थी। वह कभी अयोध्या रहती और कभी लखनऊ आ जाती थी। लोगोंकी उसपर बड़ी श्रद्धा थी। लोग उसे घेरे ही रहते थे। किसीने बताया कि पगली माई आगरेकी रहनेवाली है।

वह किसीसे कुछ बोलती नहीं थी। प्रातः नगरके बाहरसे आती और आकर किसी पेड़के नीचे बैठ जाती। लोग आकर उसे घेर लेते, दर्शन करते, फल उसके सामने रख देते।

पगली माई कभी फलोंको लोगोंकी ओर फेंक देती और कभी उन्हें वहीं छोड़कर किसी दूसरे पेड़के नीचे जा बैठती। किसीने नहीं देखा कि वह भोजन क्या करती है।

जिसपर वह बहुत प्रसन्न होती उसकी ओर देखकर केवल हँस देती, कोई सांसारिक वस्तुओंकी कामना करता तो वह पृथ्वीपर थूक देती। कोई बहुत तंग करता तो उठकर वहाँसे चल देती।

पता नहीं लगा कि पगली माई रात्रिको कहाँ रहती है। सन्ध्या होते ही वह नगरसे बाहरकी ओर चल देती। कई बार लोगोंने पीछा किया, पर उन्हें जब

कई मील चलना पड़ा तो हारकर लौट आये। अनुमान यह था कि वह कहीं सरयू-किनारे रहती होगी।

माई दिनभर अस्पष्ट ध्वनिमें सर्वदा कुछ कहा करती थी। उसके पास एक रामायणका गुटका भी रहा करता था। पर उसे पाठ करते या पुस्तक खोलते किसीने देखा नहीं।

दिनमें केवल एक बार वह कनकभवन जाती और भवनके सबसे बाहरी द्वारपर मस्तक टेककर चुपचाप लौट जाती। यही उसका नित्य क्रम था।

ठीक रामनवमीके उत्सवके भीड़में जब पगली माईने मन्दिरकी देहलीपर मस्तक रक्खा तो वह फिर नहीं उठ सकी। बहुत देर बाद लोगोंका ध्यान उधर गया। 'जय सीताराम सीताराम सीताराम' की ध्वनिके मध्यमें बड़ी श्रद्धासे पगली माईकी सजी हुई अरथी वैष्णवोंने कंधेपर रक्खी। अब भी वह रामायणजीका गुटका साथ था। भक्तोंने उस साकेतकी पगलीके शरीरको सरयूजी-की परमपावन गोदमें समर्पित कर दिया।

आजतक वैष्णवोंमें पगली माईका बड़े आदरके साथ स्मरण किया जाता है। महात्मालोग उसका दृष्टान्त श्रेष्ठ भक्तोंकी चर्चा चलनेपर दिया करते हैं।

नारी

(पाश्चात्त्य समाजमें और हिन्दू-समाजमें)

(लेखक—श्रीचारुचन्द्र मित्र एटर्नी-एट-ला)
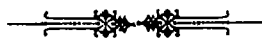
[वर्ष १३ अंक ११ पृष्ठ १७४४ से आगे]

विधवाओंके त्यागके प्रभावसे ही हमारा समाज उज्ज्वल हुआ था। वे हमारे देशके निष्काम कर्म और त्याग-धर्मकी प्रधान शिक्षयित्रीके पदपर प्रतिष्ठित थीं। जो इस बातको स्वीकार करनेके लिये प्रस्तुत नहीं हैं, उनसे मैं कहूँगा कि हमारे देशमें इस शिक्षाको प्रदान करनेके लिये कोई सभा-संस्था नहीं थी। यह त्याग-धर्मकी शिक्षा व्याख्यान देने और पुस्तकें लिखनेसे नहीं आती; यदि ऐसा होता तो खीस्टमतानुयायी यूरोप आजतक सब प्रकारके संहारकारी शस्त्रोंसे युक्त सेना-शिविरके बदले वैरागियोंके आश्रमके रूपमें परिणत हो गया होता। लोगोंके ऊपर त्याग-धर्मका प्रभाव फैलता है तो केवल त्याग-धर्म, निष्काम कर्मकी जीती-जागती मूर्तियोंको देखकर, उनके आदर्श जीवनको प्रत्यक्ष देखकर। निष्काम कर्मकी, सेवा-धर्मकी, षड्रिपुजयकी कोमल माधुरीको हम (यदि अन्धे नहीं हैं तो) प्रायः सर्वत्र ही देख सकते हैं, उसे देखकर ही आत्मीय जनोंकी काम-वासना शान्त हो जाती है, भोगेच्छा संयत हो जाती है, सहानुभूति और सहृदयताका विकास होता है, अहङ्कार शिथिल हो जाता है, धन-गर्व धराशायी हो जाता है और घर पवित्र हो जाता है। उनके जीवनके महत्त्वके अदृष्ट प्रभावके कारण हमारे घरोंमें शान्ति विराजमान है, यह हम नहीं देखते। हम आज पाश्चात्त्योंके प्रभावमें आकर विधवाओंको उस आदरकी दृष्टिसे नहीं देखते; इसी कारण हम समझते हैं कि उनके ऊपर भीषण अत्याचार हो रहा है और इस प्रकार उनके महान् आदर्शके अनुकूल जीवन-यापन करनेके योग्य हृदय-बलको नष्ट करते जा रहे हैं, जिससे उनके जीवनके प्रभावका विस्तार नहीं हो पाता। अतः इन विधवाओंको हमें बिल्कुल ही दूसरी दृष्टिसे देखना चाहिये।

हमारे एक विशेष माननीय और धनी सम्बन्धीसे उनकी एक अल्पवयस्का कन्याके विधवा हो जानेपर उनके एक बन्धु सहानुभूति प्रकट करनेके लिये गये। उन्होंने उनसे जो कुछ उस समय कहा, उससे यथार्थ हिन्दूभावसे युक्त मनुष्यके मनोभाव प्रकाशित होते हैं। उन्होंने कहा था—'भगवान्ने जो हमारी कन्याओंको अल्प वयमें ही वैधव्यका मुकुट (Crown of widowhood) धारण करनेयोग्य समझा है, इससे हम भी अपनेको धन्य समझ रहे हैं।' अस्तु,

क्या हम पुनः इसी दृष्टिसे विधवाओंको देखना सीखेंगे ! महात्मा गाँधी इङ्गलैण्डकी कठिन शीतमें भी लँगोटी धारण किये अर्धनग्न अवस्थामें रहे, इस बातको लेकर नेत्रोंमें जल आ जाना जितना स्वाभाविक है, हिन्दू-समाजकी उच्च श्रेणीकी विधवाओंके भोगत्यागके लिये, उनके दुःख और कष्टमय जीवनके लिये भी सजलनेत्र होना उतना ही सङ्गत है ।

हम यदि इस बातको याद रक्खें कि जिस समय वैधव्यके इन नियमोंका प्रचार हुआ था, उस समय हम सभ्यताके शिखरपर विराजमान थे, हम सब प्रकारके ज्ञान-विज्ञान और शिल्पके आविष्कर्ता थे, यहींसे धर्म और नीतिकी धारा प्रवाहित हुई थी । हम जिस प्रकार आकाशके ग्रह, नक्षत्र और ताराओंकी गतिका ठीक-ठीक परिदर्शन करते थे, पृथ्वीके अभ्यन्तर और समुद्रके गर्भको भी उसी प्रकार हम देखते थे । सुदूर अमेरिका, अफ्रिका, चीन, जापान, जावा, ब्रह्मदेश, स्याम तथा कम्बोज देशमें जहाजोंके द्वारा जाकर हमने उपनिवेश स्थापन किये थे, और सभ्यताका प्रसार किया था । हमारी समृद्धि संसार-प्रसिद्ध थी । उस समय हम प्राणिमात्रके समस्त दुःख और कष्टोंकी अत्यन्त निवृत्तिके लिये प्रयत्नशील थे, राजमुकुटको तुच्छ समझकर पर्वतकी कन्दराओंमें फल-मूलका आहार करते हुए योगाभ्यास करते थे । उस समय विलासके मध्यमें पली हुई राजकन्या पार्वती भस्मधारी, बाघम्बर ओढ़नेवाले सर्वत्यागी शिवको पतिरूपमें प्राप्त करनेके लिये उग्र तपस्या करती थी । उस समयके वीर पुरुषोंका, उस यथार्थ महत्त्वके अनुसरणके लिये प्रयास करनेवाले युगमें, अपनी वीर कन्या, वीर भगिनीके विधवा होनेपर उन्हें सब प्राणियोंके कल्याणमें लगाना, उनका भी उस आदर्शके महत्त्वको हृदयङ्गम कर उसे ग्रहण करनेकी चेष्टा करना, उसके योग्य बननेके लिये नियमोंकी कठिनताका विचार न करना, उनके आदर्श जीवनको देखकर सब लोगोंका निष्काम धर्ममें प्रवृत्त होना, भोगासक्ति त्याग करनेकी शिक्षा ग्रहण करना आदि सब कुछ सम्भव था । जो प्राणिमात्रके समस्त दुःखोंकी अत्यन्त निवृत्तिके लिये यत्नशील थे, जो सब प्राणियोंके प्रति करुणाके लिये प्रसिद्ध थे, वे अपनी कन्याओंके लिये असीम अत्याचार सहनेकी व्यवस्था करेंगे—इस बातपर स्वदेशभक्त सुधारकोंका विश्वास करना कहाँतक ठीक है, यह वे स्वयं विचार कर लें ।

इङ्गलैण्डकी प्राप्तवयस्का स्त्रियोंमें कुमारियोंकी संख्या कितनी है यह देखिये और उनकी संख्याके साथ अपने देशकी उसी अवस्थाकी जो विधवाएँ हैं उनकी संख्या और दशाकी तुलना कीजिये और दोनों देशोंकी विवाहिता स्त्रियोंकी दशाकी भी तुलना कीजिये । आप देखेंगे कि वहाँकी कुमारियोंकी संख्या हमारी विधवाओंकी संख्यासे बहुत अधिक है । इसके सिवा जब इन्द्रियाँ प्रबल होती हैं, तन, मन और प्राण अर्पण करके प्रेम करनेकी, पुरुष और स्त्री दोनोंको मिल-जुलकर एक हो जानेकी प्रवृत्ति और शक्ति रहती है, उस समय वे सकाम प्रेम, काम और प्रेमसे वञ्चित रहती हैं, अपने प्रेमको उन्हें कुत्तों और बिल्लियोंपर न्यौछावर करना पड़ता है, हृदयकी शून्यताको आमोद एवं विलासिताके उपभोगमें ही पूर्ण करना पड़ता है, वे पुरुषोंके साथ अनेक प्रकारके आमोद-प्रमोदमें योग देती हैं, थियेटर-बायस्कोपके उद्दाम उपभोगको देखती हैं, काम और भोगेच्छाको उद्दीप्त किया जाता है और फिर उसे रोकनेकी चेष्टा करनी पड़ती है । उससे स्वास्थ्यकी अत्यन्त हानि होती है, बहुतेरी दुःसाध्य बीमारियाँ पैदा होती हैं—इसे सभी डाक्टर और मनस्तत्त्वके विश्लेषण करनेवाले स्वीकार करते हैं । इससे मातृत्वके सभी अङ्गोंके स्नायु और स्नायुग्रन्थियाँ सूख जाती हैं; जिस मातृत्वमें ही नारीका नारीत्व निहित रहता है, उस मातृत्वसे भी वे क्रमशः वितृष्ण हो जाती हैं, विलासिता ही उनके लिये एकमात्र उपभोगकी वस्तु रह जाती है । अतएव वे भोग-लोलुप हो जाती हैं, भोगोंके लिये उनको नाना प्रकारकी विपत्तियोंका सामना करना पड़ता है, अपनी आत्माको बेचना पड़ता है—ये बातें हम Havelock Ellis प्रभृतिके ग्रन्थोंसे दिखा चुके हैं । बहुतेरी काम-वासनापर विजय न पानेके कारण कामोपभोग करने जाकर सन्तति-निरोधकारी उपायोंका अवलम्बन करती हैं और ऐसा करनेपर भी बहुधा गर्भवती हो जाती हैं, जिससे उन्हें भ्रूणहत्या करनी पड़ती है, अथवा जारज सन्तानका अकेले ही पालन या त्याग करना पड़ता है । बहुतोंको पेट पालनेके लिये या भोगवासनाकी तृप्तिके लिये पुरुषोंके साथ प्रतियोगिता-में स्वास्थ्यके लिये हानिप्रद तथा मातृत्वके लिये अनुपयुक्त अर्थोपार्जनसम्बन्धी कर्म करनेका कष्ट भोगना पड़ता है, न

प्राप्त होनेयोग्य पात्रमें उनका प्रेम उद्दीप्त होता है, अनेक अभीष्टजनोंके द्वारा तिरस्कृत और निरादृत होकर चुपचाप अपमान सहना पड़ता है, इससे हृदय विषाक्त हो उठता है, उसके बाद अर्थ अथवा अन्य सुविधाओंका विचार कर अवाञ्छनीय तथा अनेक स्त्रियोंके सम्भोगसे कलुषित हृदय-वाले पुरुषके साथ विवाह करना पड़ता है, उनमें भी बहुतेरे यौन-व्याधिसे ग्रस्त होते हैं। इस प्रकारकी अवस्थाओंमें विवाह-विच्छेद (तलाक़) भी खूब होता है। इस प्रकारके विवाह-से मुक्ति पानेको ही यदि पाश्चात्त्य देशमें नारी-स्वत्वाधिकार-का प्रसार गिना जायगा तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? जिन पाश्चात्त्य देशोंमें स्त्रियाँ जिस मातृत्वमें ही नारीका नारीत्व है, उस मातृत्वका ही अवरोध करनेके लिये विवश होती हैं, उसका उपभोग करना जिनके लिये अत्यन्त दुःखप्रद होता है, जिन स्त्रियोंमेंसे अधिकांशका यौवन बीत जाता है केवल मनके योग्य मनुष्य खोजनेमें तथा जो अनेकों अभिवाञ्छित पुरुषोंके द्वारा अस्वीकृत होकर अपमानसे हृदयको विषाक्त करती हैं, फिर दुःशील पुरुषके साथ विवाह करनेके लिये बाध्य होती हैं, बुढ़ापेमें प्रायः सभीको निर्जन कारागृहके समान जीवन-यापन करना पड़ता है, ये ही पाश्चात्त्य देश नारी-स्वत्वाधिकारके प्रसारक हैं। इसी प्रकारका समाज-गठन करनेकी इच्छा हमारे पाश्चात्त्योंका अनुकरण करनेवाले देशप्रेमी सुधारक करते हैं। और हम लोग—जिन्होंने सभी स्त्रियोंका सब समयमें पालन कर उनको अर्थोपार्जनके कष्टसे मुक्ति दे रक्खी थी, सभीके लिये काम और मातृत्वके उपभोगके लिये सुविधा कर रक्खी थी, वे ही स्त्रियोंके प्रति अत्याचार करनेवाले हैं—इसका प्रचार युवकोंमें कर रहे हैं ! इससे अधिक क्या होगा ?

हमारी प्राप्तवयस्का विधवाएँ यौवनके प्रारम्भसे ही काम और प्रेमका पूर्णरूपसे उपभोग कर चुकती हैं तथा प्रायः सभी मातृत्वको प्राप्त कर चुकती हैं। स्वामीकी मृत्युके बाद उनका वह प्रेम सन्तानमें पुञ्जीभूत हो जाता है, उनका मुँह देखकर उन्हें सब प्रकारके दुःख एवं कष्ट सहनेकी दृढ़ता प्राप्त होती है, आत्मीय (सम्बन्धी) जनोंकी सहायतासे उनके भोजन, वस्त्र आदिकी व्यवस्था हो जाती है, सन्तानके बड़े होनेपर उनकी भक्ति, श्रद्धा और सेवाको प्राप्तकर वे इहलोकका सुखपूर्वक त्याग करनेमें समर्थ होती हैं।

उच्च श्रेणीके लोगोंमें यदि विधवा-विवाह प्रचलित हो जाय तो इससे अटूट सम्बन्धको लेकर आत्मीय जनोंपर जो विधवाओं और उनकी सन्तानोंका पालन करनेकी जिम्मेदारी है, वह शिथिल हो जायगी। विधवाओंके द्वारा पालनीय जो त्याग-सम्बन्धी नियम हैं, वे भी शिथिल हो जायँगे, बहुतोंमें पुनर्विवाह करनेकी व्यर्थ आशा उद्दीप्त होगी, संयम-शिक्षामें विघ्न पड़ेगा, आत्मीय जनोंमें उनकी सहायता करनेकी प्रवृत्ति नष्ट होगी और इस प्रकार सहायता उनसे होगी भी नहीं। सभी समाजों (जातियों) में देखा जाता है कि बहुत कम विधवाएँ विवाह कर पाती हैं। ऐसी विधवाएँ या तो धनी होती हैं या विशेष रूपवती, अथवा पुरुषोंको आकर्षण करनेवाले किन्हीं विशेष गुणोंसे युक्त होती हैं। अतएव अधिकांश विधवाओंको इससे (विधवा-विवाहके प्रचारसे) कोई लाभ नहीं होता, बल्कि अत्यन्त अकल्याण-जनक होता है, बहुतोंको आत्मीय जनोंकी सहायताके अभावमें अर्थोपार्जनकी चेष्टा करनेके लिये बाध्य होना पड़ता है, जिससे उनके चरित्रहीन बननेका मार्ग प्रशस्त हो जाता है। जिनका पुनर्विवाह हो जाता है, वे अन्य कुमारीकी विवाहित होनेकी आशाको निर्मूल कर देती हैं; विवाहिता विधवाका वह सुख किसी कुमारीके सुखके बलिदान करनेपर ही प्राप्त होता है। अतएव इससे नारी-समाजका कल्याण नहीं होता, धनके प्रभावकी ही वृद्धि होती है, जिससे स्त्रियोंका और समाजका भी अमङ्गल होता है। हमारे-जैसे गरीब और पराधीन देशके लिये यह प्रथा अत्यन्त ही अकल्याण-कारक है।

इस समय हम सभी सहस्र मुखसे विधवाओंके प्रति सहानुभूति प्रकट करते हैं; परन्तु सामाजिक नियमके अनुसार हम उनका पालन करनेके लिये बाध्य हैं, इसे हम नहीं मान रहे हैं। उनको हम घरमें स्थान नहीं देते, यदि देते हैं तो उनके साथ बहुधा दासीसे भी नीचा बर्ताव करते हैं। उन्हें महान् आदर्शके अनुकूल जीवन व्यतीत करनेका अवसर नहीं देते, उन्हें उस कष्टमें और भी कष्ट देकर उनके उस आदर्श जीवनके उपयुक्त हृदयबलको भी नष्ट कर देते हैं। विधवाओंका सर्वत्याग हमारी बढ़ी हुई भोगासक्तिके साथ अत्यन्त बेमेल पड़ता है। उनके त्यागका वह प्रतिक्षण मूक तिरस्कार करती रहती है और हम उनका पालन करनेसे भी इन्कार करते हैं, क्या इसी कारण हम भिन्न भाषाभाषी

पुरुषके साथ भी उनका विवाह करके अपने कर्तव्यसे मुक्ति चाहते हैं ? अपने मुखसे हम जो त्यागधर्म–निष्काम कर्म–Spirituality–की प्रशंसा करते हैं, वह केवल पाश्चात्त्योंके सामने सत्कार पानेके लिये। जो उस निष्काम कर्ममय जीवनको व्यतीत करना चाहती हैं, उनको हम अभागिनी कहते हैं, उनको हम कष्ट देते हैं। हमने पाश्चात्त्योंके किसी गुणको ग्रहण किया है या नहीं, हमें ज्ञात नहीं। परन्तु हम उनकी विलासिता, भोग-विलासकी इच्छा आदि दोषोंको भी गुणरूपमें स्वीकार करते हैं। जो शिक्षा हमें दासत्वमें पटु बनानेके लिये प्रवृत्त हुई है, जिसे प्राप्तकर हम पहले गुलामीको ढूँढ़ते हैं, उसकी सुविधा न मिलनेपर अर्द्धदासत्व (वकालत आदि) की चेष्टा करते हैं, उसके अभावमें स्वतन्त्र व्यवसाय करनेकी इच्छा करते हैं, उसी शिक्षाके प्रभावमें, पाश्चात्त्य लोग जिसे अच्छा कहते हैं, हम भी आँख मूँदकर उसे अच्छा कहने लगते हैं; वे जो कुछ करते हैं, हम भी वही करते हैं; इसीसे हमको सम्मान मिलता है, इसीसे हम अपनेको उन्नति चाहनेवाले स्वदेशहितैषी सुधारक मानकर अपनी छाती ऊँची करते हैं। वे जैसी पोशाक पहनते हैं, जिस प्रकार मूँछ-दाढ़ी बनवाते हैं, बालोंको सँवारते हैं, हम भी वैसा ही करते हैं; वे जब जो खेल खेलते हैं, हम भी उस वक्त वही खेल खेलते हैं, जब जैसा आमोद-प्रमोद करते हैं, हम भी वैसा ही करनेकी चेष्टा करते हैं। पाश्चात्त्योंके खेलका तथा आमोद-प्रमोदका हम समाचार पढ़ते हैं और जिनको इस दिशामें सफलता मिलती है, उनका गुणगान करते हैं। परम्परासे हम 'शतहस्तेन वाजिनाम्' अर्थात् घोड़ेसे सौ हाथ दूर रहना चाहिये, इस उपदेशवाणीको मानते आये हैं। वातरोग-ग्रस्त घोड़ेको छोड़कर हमारे देशमें कोई दूसरा घोड़ा भी तो नहीं पैदा होता ! हमारे पितामह-प्रपितामहका नाम क्या था, वे क्या करते थे–इन सब बातोंको जानना अब हम आवश्यक नहीं मानते; परन्तु घुड़दौड़के घोड़ोंकी वंशावली हम कण्ठस्थ करते हैं; किन-किन घोड़ोंने कौन-कौन-सी दौड़ (Race) जीती है, यह अत्यन्त आवश्यक समाचार हमारे पढ़नेके विषय हैं ! हमलोग जो उच्च श्रेणीके हैं तथा जो लोग उच्च श्रेणीमें आनेकी चेष्टा करते हैं, वे भी स्त्री-कन्याके साथ दौड़ (Race) में जाते हैं, जूआ खेलते हैं और इससे साहब लोगों (अंग्रेजों) के द्वारा सम्मान प्राप्त करते हैं। इनकी देखादेखी गरीब क्लर्क तथा स्त्रियाँ भी सहज उपायसे बड़े आदमी बनने जाकर सर्वस्व खो बैठते हैं। पाश्चात्त्योंकी विलासिताका सुलभ अनुकरण करनेके लिये सभी व्यग्र हैं। क्या भोजनाच्छादन, क्या आमोद, क्या गृह-निर्माण, क्या घर सजानेकी सामग्रियाँ–सर्वत्र ही हम अंग्रेजोंका अनुकरण करते हैं। इससे राजा-रावसे लेकर टुटपूँजिये धनियोंका भी सर्वस्व नाश हो रहा है। इससे वे देशकी दरिद्रताकी वृद्धिमें सहायता कर रहे हैं और यही करते हुए अपनी छाती चौड़ी कर रहे हैं, और इसके लिये अधिक प्रतिष्ठा पा रहे हैं। देशके इस भयानक दुर्दिनमें भी हम अपने खिलाड़ियोंको पाश्चात्त्य देशोंमें भेजते हैं। बायस्कोप-सिनेमाके उद्दाम भोग-विलासके चित्रोंको दिखलानेके लिये हम अपनी प्राप्तवयस्का कुमारियों और विधवाओंको ले जाते हैं; बायस्कोपके तथा क्रिकेट, फुटबाल आदि खेलोंके लिये टिकट खरीदनेके समय हमारे साथ कँगलोंका-सा जो आदरपूर्ण (!) व्यवहार होता है, उसे भी हम हजम कर जाते हैं। हम अपनी देहातमें रहनेवाली स्त्रियोंको रक्षा नहीं कर सकते, इसीलिये शहरकी स्त्रियोंको लाठी और छुरेके खेल सिखलाते हैं। हम पाश्चात्त्योंकी विलासिताके लोलुप हो गये हैं, उनका सहज अनुकरण करके सीना चौड़ा करते हैं; तब भला, किस प्रकार हम अपनी विधवाओंके त्यागधर्मके महत्त्वको समझ सकेंगे ?

हमलोग जिस प्रकार भोगलोलुप हो गये हैं, अपनी स्त्रियोंको भी उसी प्रकार भोगासक्त करनेकी यथासाध्य चेष्टा करते हैं। भोग-विलास ही सभ्यताका चिह्न तथा मानदण्ड है, यही शिक्षा हमें मिली है। उस भोगलोलुपताके कारण हम हिन्दू-समाजके अनुशासनकी अवज्ञा कर रहे हैं, दुःखमें पड़े हुए आत्मीयों (सम्बन्धियों) को अपने समान मानकर उनका पालन करनेसे हमने मुँह मोड़ लिया है, अतएव वे भी कृतज्ञ नहीं होते। सम्मिलित परिवारके कल्याणके लिये हम यथासाध्य चेष्टा नहीं करते; इसी कारण स्त्रियोंकी दुर्दशा हो रही है, उन्हें अर्थोपार्जनकी आवश्यकता पड़ रही है। जिनके पास धन नहीं है, उनको अर्थोपार्जन करनेके लिये दूसरोंकी गुलामी ही करनी पड़ती है, इसीलिये दूसरेकी गुलामी करनेकी सुविधाको ही नारी-स्वत्वाधिकारका प्रसार कहा जाता है। लाखोंमें दो-चारको छोड़कर स्त्रियोंको

अर्थोपार्जनके लिये दूसरेकी गुलामी ही करनी पड़ती है– उसमें कितनी यातना, कितना कष्ट, कितना अपमान, कितनी चरित्र-हानि होती है, इसे हम नहीं विचारते। हिन्दू-समाजने उन्हें इस प्रकारकी यातनाओंसे मुक्ति देनेके उद्देश्यसे ही सदा-सर्वदा प्रतिपाल्य बनाया था। यह बात उनके लिये कितनी हितकारक थी, इसे हम देखते नहीं और कहते हैं कि हिन्दू-समाज स्त्रियोंके ऊपर अत्याचार करता है। हमारे ही समान शिक्षिता स्त्रियाँ, जिनमेंसे प्रायः किसीको भी दूसरेकी गुलामी नहीं करनी पड़ती, अथवा उच्चपदस्थ स्त्रियाँ, जिनकी संख्या एक लाखमें एक भी नहीं होती, वे भी इस प्रकारकी बात कहेंगी इसमें आश्चर्य क्या है? वे नहीं विचार करतीं कि हमारा सारा कला-कौशल नष्ट हो गया है, सारा व्यवसाय दूसरोंके हाथमें है, प्रतिशत ९७ निरक्षर हैं, अपने हिन्दू आदर्शको त्यागकर सम्मिलित परिवारकी प्रथाको तोड़ देनेसे हमारी स्त्रियोंकी कैसी दुर्दशा होगी! दूसरोंकी गुलामी, कारखानोंकी मजदूरी और प्रकट या अप्रकटरूपसे वेश्यावृत्ति करनी होगी। पाश्चात्त्योंका अनुकरण करते हुए हम इस प्रकारके काम करनेको ही नारी-स्वत्वाधिकारका प्रसार कहते हैं! इसीसे स्त्रियोंकी उन्नति होगी, यह हमने निश्चय किया है और इसीके लिये हम सब चेष्टा कर रहे हैं। हमलोगोंने अपने शिक्षित उर्वर मस्तिष्कसे देशकी उन्नतिके लिये सहज मार्ग ढूँढ़ निकाला है। देशके सब पुराने आदर्श—सारे अनुभवका त्याग करना पड़ेगा। उन्हींकी अभिव्यक्ति जो सभी सामाजिक व्यवस्थाओंमें है, उसे तोड़ देना होगा। यही हमारा प्रधान कर्तव्य है! इसके पश्चात् पाश्चात्त्योंके चरणचिह्नका अनुसरण करते हुए चलो, इसीसे हमारे देशकी उन्नति हो सकती है। 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'–इसके लिये दूसरा मार्ग नहीं है, यही हमारे लिये प्रमाणित सत्य हो गया है!

यद्यपि हम मुँहसे पाश्चात्त्य सभ्यताको गर्हित बतलाते हैं, परन्तु सब कामोंमें हम पाश्चात्त्योंका अनुकरण करके ही कृतार्थ होते हैं। जिसके ज्ञान और धर्मके आलोकसे आज भी वसुन्धरा आलोकित है, जिसकी समृद्धिकी कथा आज भी प्राचीन आख्यानोंमें प्राप्त है, जिसकी कालजयी सभ्यताकी जीवनी-शक्ति समस्त पाश्चात्त्य पण्डितोंको आश्चर्यान्वित कर रही है, वही जीवनीशक्ति भारतके समाज-गठनमें अन्तर्निहित है, यह हम नहीं सोचते। उसके सभी आदर्शों और सारी व्यवस्थाओंकी निन्दा करनेमें उसीकी सुसन्तान नहीं हिचकती, उनका उद्देश्य क्या है, जाननेकी चेष्टा भी नहीं करती। स्वयं उन व्यवस्थाओंको तोड़नेके कारण जो कुफल हम भोगते हैं, उसके लिये भी हम फिर उन्हीं भारतीय व्यवस्थाओंको दोषी ठहराते हैं। हम सभी पाश्चात्त्य-देशकी क्षणस्थायी समृद्धि देखकर मुग्ध हो रहे हैं और उन समृद्धिशाली पाश्चात्त्योंके चरण-चिह्नका अनुसरण करनेकी चेष्टा कर रहे हैं। हम समझ रहे हैं कि भारतमाता पराधीना और दुःखिनी होनेके कारण अपने सम्पूर्ण निजस्व (वैशिष्ट्य) को त्यागकर समृद्धिशाली पाश्चात्त्यका अनुकरण करनेवाली सखी बनकर ही धन्य होगी, इसको उस अवस्थामें पहुँचानेके लिये हम सभीने कमर कस ली है। भगवान्ने भारतमाताके भाग्यमें और क्या लिखा है, वही जानें!

अबतक हम पर्दा-प्रथाके द्वारा स्त्रियोंको पराधीनताके कष्टसे तथा उसके वातावरणके प्रभावके कारण अधःपतनकी ओर जानेसे बचाते आ रहे थे। उसके कारण वे भारतके प्राचीन आदर्शपर चलनेमें समर्थ हुई और वह आदर्श भी कुछ अंशमें संरक्षित बना रहा। अब हम स्वाधीनताके नामपर–स्वत्वाधिकारके प्रसारके नामपर, मुक्त वायुसेवनके अधिकारके नामपर, उनको पराधीनताके पूर्ण प्रभावका उपभोग करनेके लिये बाहर खींच ला रहे हैं। जिस शिक्षाने हमें पाश्चात्त्योंका स्वेच्छा-दास बनाया है, देशके सभी प्राचीन आदर्शोंकी अवज्ञा करना सिखाया है, सुलभ भोग-विलासके लिये लोलुप बनाया है, हम वही शिक्षा उनको देनेके लिये सिर उठाये हुए हैं। कितने सहस्रों वर्षोंकी सञ्चित भारतकी अमूल्य रत्नराशि—अनुभव तथा जीवनादर्श–जो हमारे शास्त्रोंमें निहित है (जिनका नाम सुनते ही नवीन सिद्धान्ती तलमिला उठते हैं)–सबका त्याग कर पाश्चात्त्योंके दिये हुए झूठे अलङ्कारोंसे भारतमाता कृतकृत्य होगी, ऐसा नवीन सिद्धान्ती समझते हैं और आशा करते हैं कि भारतका सारा सञ्चित अनुभव, सारे पुराने आदर्शोंका त्याग करनेसे भारतीय सभ्यताका विकास होगा, देशकी उन्नति होगी—इसी प्रकारकी शिक्षा तरुण और तरुणियोंको भी देते हैं! इसी कारण बहुधा चिन्ता होती है कि 'क्या अब यह समाज रसातलमें ही चला जायगा?'

भूमितिशास्त्रका बिन्दु—एक आशङ्का !

(लेखक—श्रीराम बुशामे)

निर्गुण, निराकार, अनादि, अनन्त इत्यादि ब्रह्मके लक्षण बतलाये गये हैं ! निर्गुण ब्रह्मसे ही सगुण जड जगत्का आविर्भाव हुआ है, ऐसा कहते हैं । परिवर्तन-शील प्रकृतिका निर्गुण-निराकार ब्रह्मसे आविर्भाव असम्भवनीय है, ऐसा जैन मुनियोंसे सुना था । फलतः चित्तमें इसके प्रति सदैव साशङ्क रहा और विचार करता रहा, परन्तु किसी निर्णयपर न आ सका ।

एक दिन पुत्रको भूमितिका पाठ देते समय बिन्दु-की व्याख्याका विचार हुआ । भूमितिशास्त्र बिन्दुका अस्तित्व मानता है, परन्तु उसका जडत्व नहीं मानता (A point has position but no magnitude.) यह कैसी आपत्ति थी ! बालकको यहाँ बिन्दुसे काम था—ऐसे बिन्दुसे जिसका अस्तित्व है परन्तु Magnitude नहीं है । पट्टीपर निकाले हुए बिन्दुसे ही बेचारा काम लेता रहा । वास्तवमें पट्टीपर दीखनेवाला बिन्दु बिन्दु नहीं था । बिन्दु तो अत्यन्त सूक्ष्म, कल्पनातीत वस्तु थी । मेरी क्षुद्र बुद्धिमें यह सूक्ष्म बिन्दु ब्रह्मके समान प्रतीत होने लगा ।

आगे चलकर ब्रह्मको (एकोऽहं बहु स्याम्) यह कामनारूप उपाधि प्राप्त हुई—कब, कैसे ? यह कौन जाने । वह बिन्दु चलायमान हो गया । उससे रेखा बनी । रेखामें एक ही गुण था । वह लंबी थी । चौड़ाई (Thickness) उसमें नहीं थी । ब्रह्ममें त्रिगुणात्मिका मायाका आविर्भाव हुआ । 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' इस नीतिसे जगत् फैलकर नानाकार हो गया ।

वह भूमितिशास्त्रका बिन्दु रेखामें परिवर्तित होता हुआ अनेक गुण (आकार) धारण करने लगा । वह त्रिकोण, चतुष्कोण, समभुजकोण, अर्धवर्तुल, वर्तुल इत्यादि सब कुछ बन गया और बुद्धिगम्य भूमिति-शास्त्रका पसार फैल गया । यह बुद्धिगम्य होनेसे जड है ! ब्रह्म तो 'यो बुद्धेः परतस्तु सः' है । वह तो एक बिन्दुमात्र है । उसीपर शास्त्र निर्भर है; परन्तु वह क्या है ? ब्रह्म तो नहीं ?

जैसे उस निर्गुण-निराकार बिन्दुसे ही भूमितिका विश्व निर्माण हुआ, उसी प्रकार निर्गुण-निराकार ब्रह्मसे ही यह जड विश्व-प्रकृतिका निर्माण हुआ है । ऐसा मैंने मान लिया ।

'कल्याण'का कोई अधिकारी लेखक या वाचक मेरे इस कथनमें कोई भूल बताकर मुझे उपकृत करेगा ?

देव-मन्दिर

हारेके सहारे, असहायके सहाय, दीनबन्धु भगवान्‌के ये प्रकट निवास हैं
विश्व-वंचनाओंसे विताडित हताश हुए प्राणियोंके हेतु दिव्य आशाके प्रकाश हैं ।
आर्य-सभ्यताकी वर विमल ध्वजा हैं मंजु, पूर्वजोंके मूर्तिमान यशके विकास हैं
देखो और पढ़ लो युगोंकी बात बीती यहाँ, मन्दिर हमारे ये समक्ष इतिहास हैं ॥१॥

अगुण यहाँ पै बन सगुण विराज रहे, अलख अदेह भी सदेह दृश्यमान हैं
गागरमें सागरकी सुलभ प्रतिष्ठा हुई, एकदेशमें भी यहाँ व्यापक महान हैं ।
देव-मन्दिरोंकी महा महिमा बताये कौन, होते जहाँ संभव असंभव विधान हैं
बन्दी बनकर रहते हैं इन्हीं मन्दिरोंमें भक्त-भावनासे बँधे आप भगवान् हैं ॥२॥

मोह-महासागरमें अपनी डुबोते नाव, बिन पतवारके लगाते कहीं गोते ये
भूल जाते पथ, प्रतिकूल जाते लोक सभी, शोककी दशामें असहाय हाय रोते ये ।
स्वार्थ-साधनामें लगे, द्रोहके शिकार बन, त्याग-अनुरागके विचार भव्य खोते ये
राम और श्यामके न नाम कोई लेते, यदि भारत-मही पै देवमन्दिर न होते ये ॥३॥

—पाण्डेय रामनारायण दत्त शास्त्री 'राम'

श्रीहरिः

पालनीय नियम

१–जिनके यज्ञोपवीत हो उन्हें सूर्योदय तथा सूर्यास्तसे पूर्व दोनों समय सन्ध्या करनी चाहिये । सूर्यको अर्घ्य स्त्री-पुरुष सभी दे सकते हैं ।

२–कम-से-कम दो माला गायत्रीकी और ५ माला 'हरेराम' मन्त्रकी सबको जपना चाहिये । जिनके यज्ञोपवीत न हो उन्हें तथा स्त्रियोंको कम-से-कम १० माला 'हरेराम' मन्त्रकी अवश्य फेरनी चाहिये ।

३–नित्य-प्रति गीताके एक अध्यायका अर्थसहित या अर्थपर लक्ष्य रखते हुए पाठ करना चाहिये । यदि कोई पाठ करना न जानता हो तो उसे दूसरेसे सुन लेना चाहिये ।

४–चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते, सोते-जागते, सब समय भगवान्‌के नामका जप श्वास या वाणीद्वारा निरन्तर करते रहना चाहिये ।

५–भगवान्‌को बाहर-भीतर सर्वत्र सब समय देखनेकी चेष्टा करनी चाहिये ।

६–सबकी सेवा और बड़ोंको नित्य प्रणाम करनेकी चेष्टा करनी चाहिये ।

७–हो सके तो प्रतिदिन बलिवैश्व करके भोजन करना चाहिये ।

८–सत्य बोलनेपर विशेष ध्यान रखना चाहिये, यदि झूठ बोला जाय तो एक माला 'हरेराम' मन्त्रकी अधिक फेर लेनी चाहिये ।

९–सबके साथ विनय, प्रेम और त्यागपूर्वक व्यवहार करना चाहिये ।

१०–मान-बड़ाई और अहंकारको त्यागकर अपने साथ अनिष्ट करनेवालेके साथ भी प्रेम और दयापूर्वक व्यवहार करना चाहिये ।

११–भोग और ऐश्वर्यको अनित्य एवं दुःखका हेतु समझकर मन और इन्द्रियोंके संयमपूर्वक उनका त्याग करना चाहिये ।

१२–क्रोध आ जाय तो एक समयका उपवास करना चाहिये ।

१३–सब प्रकारसे ब्रह्मचर्यके पालनपर विशेष ध्यान देना चाहिये । यदि किसी पुरुषकी किसी स्त्रीपर और किसी स्त्रीकी पुरुषपर बुरी दृष्टि हो जाय तो एक समयका उपवास करना चाहिये ।

१४–किसीकी निन्दा नहीं करनी चाहिये ।

१५–किञ्चिन्मात्र भी कभी किसीको कष्ट नहीं पहुँचाना चाहिये ।

१६–आठ पहरमें दो समयसे अधिक नहीं खाना चाहिये । और एक साथ तीन चीजसे अधिक भी नहीं खाना चाहिये ।

१७–छः घंटेसे अधिक नहीं सोना चाहिये ।

१८–शीत, उष्ण और वर्षा आदि मनके विपरीत परिस्थितियोंको भगवान्‌का भेजा हुआ पुरस्कार समझकर उन्हें प्रसन्नतापूर्वक सहन करना चाहिये ।

१९–सभी बहिन-भाइयोंको जप-ध्यान करते हुए कम-से-कम दो घंटे मौन रखनेकी चेष्टा करनी चाहिये ।

२०–किसीके साथ हँसी-मजाक और आक्षेप नहीं करना चाहिये ।

२१–बिना अनुमतिके किसीकी कोई चीज नहीं लेनी चाहिये ।

२२–जहाँतक हो सके बीड़ी, सिगरेट, तम्बाकू, गाँजा, भाँग आदि मादक पदार्थोंका सेवन नहीं करना चाहिये ।

२३–चौपड़, ताश, शतरंज आदि भूलकर भी नहीं खेलना चाहिये ।

२४–व्यर्थ बात और व्यर्थ कार्य आदि प्रमादमें एक क्षण भी नहीं बिताना चाहिये ।

२५–प्रत्येक नियमभंगके बदले 'हरेराम' मन्त्रकी एक माला अधिक फेरनी चाहिये ।

श्रीहरिः

भगवद्विमुखोंकी गति

ये त्वनेवंविदोऽसन्तः स्तब्धाः सदभिमानिनः ।
पशून् द्रुह्यन्ति विश्रब्धाः प्रेत्य खादन्ति ते च तान् ॥
द्विषन्तः परकायेषु स्वात्मानं हरिमीश्वरम् ।
मृतके सानुबन्धेऽस्मिन् बद्धस्नेहाः पतन्त्यधः ॥
ये कैवल्यमसम्प्राप्ता ये चातीताश्च मूढताम् ।
त्रैवर्गिका ह्यक्षणिका आत्मानं घातयन्ति ते ॥
एत आत्महनोऽशान्ता अज्ञाने ज्ञानमानिनः ।
सीदन्त्यकृतकृत्या वै कालध्वस्तमनोरथाः ॥
हित्वात्मायासरचिता गृहापत्यसुहृच्छ्रियः ।
तमो विशन्त्यनिच्छन्तो वासुदेवपराङ्मुखाः ॥

जिन असत् पुरुषोंको धर्मका ज्ञान नहीं है, जो उद्धत हैं, जिन्हें सत्पुरुष होनेका अभिमान है तथा जो निःशङ्क होकर पशुओंसे द्रोह करते हैं (उनकी हिंसा करते हैं), वे पशु मरकर दूसरे जन्ममें उन्हीं मारनेवालोंको खाते हैं। जो लोग जीते हुए भी मुर्देके समान अपने इस शरीर तथा उससे सम्बन्धित स्त्री-पुत्रादिके स्नेह-पाशमें बँधे हुए, दूसरे शरीरोंमें रहनेवाले अपने ही आत्मरूप श्रीहरिसे द्वेष करते हैं (उन्हें कष्ट पहुँचाते है), वे मरनेके बाद दुर्गतिको प्राप्त होते हैं। जो मोक्षके साधनरूप तत्त्वज्ञानसे बहुत दूर हैं, किन्तु जो अत्यन्त मूढ़ भी नहीं हैं तथा जो अर्थ, धर्म, कामके ही परायण हैं तथा जिन्हें भगवच्चिन्तन अथवा आत्म-चिन्तनके लिये क्षणभरका भी अवकाश नहीं मिलता, वे अपने ही हाथों अपना विनाश कर लेते हैं अर्थात् इस अमूल्य मानवजीवनको हाथसे खो देते हैं। ये आत्महत्यारे सदा अशान्त रहते हैं, विपरीत बुद्धिके कारण अज्ञानको ही ज्ञान मान बैठते हैं और मनुष्य-जीवनके कर्तव्यसे विमुख होनेके कारण कालके द्वारा नष्टमनोरथ होकर अनेक प्रकारके कष्ट भोगते हैं। जो पुरुष भगवान् वासुदेवसे विमुख हैं, वे अत्यन्त कष्टसे प्राप्त किये हुए घर, पुत्र, मित्र, धन इत्यादिको छोड़नेकी इच्छा न रहते हुए भी विवश होकर छोड़ जाते हैं और अन्तमें नरकोंमें प्रवेश करते हैं। (श्रीमद्भागवत ११ । ५ । १४—१८)

ॐ
कल्याण
वर्ष
१४
अङ्क

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियराम ॥
रघुपति राघव राजा राम। पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ आगारा ॥

[संस्करण ५६१००]

वार्षिक मूल्य
भारतमें ४≈)
विदेशमें ६॥≈)
(१० शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ।)
विदेशमें ।≈)
(८ पेंस)

Edited by H. P. Poddar and C. L. Goswami, M. A., Shastri.
Printed and Published by Ghanshyamdas Jalan at the Gita Press, Gorakhpur (India).

सूचना

गीताप्रेस तीर्थयात्रा स्पेशल-ट्रेन रास्तेमें दो शहरोंमें और ठहर आनेके कारण अहमदाबादका प्रोग्राम ३० नवम्बर और १ दिसम्बरकी जगह अब २ और ३ दिसम्बरका समझना चाहिये। इसी प्रकार नडियादका ४ तारीख, डाकोरका ५ ता०, बड़ोदाका ६ ता० और भड़ौचका ७ ता० का प्रोग्राम है। आगेके शहरोंमें भी इसी क्रमसे २ दिनकी देर हो सकती है।

गताङ्कमें जो प्रोग्राम छपा है, उसे इस हिसाबसे सुधार लेना चाहिये।

सम्पादक—'कल्याण', गोरखपुर

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियराम ॥

रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥

जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ आगारा ॥

[संस्करण ५६१००]

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥

जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन जय जय ॥

जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

वार्षिक मूल्य
भारतमें ४≡)
विदेशमें ६॥≈)
(१० शिलिङ्ग)

साधारण प्रति
भारतमें ।)
विदेशमें ।≡)
(८ पेंस)

Edited by H. P. Poddar and C. L. Goswami, M. A., Shastri
Printed and Published by Ghanshyamdas Jalan at the Gita Press, Gorakhpur (India).

श्रीहरिः

कल्याण दिसम्बर सन् १९३९की

विषय-सूची

आवश्यक सूचना

श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार कई महीनोंसे गोरखपुरसे बाहर गये हुए हैं। वे इस समय बाहरके पत्रोंका प्रायः उत्तर नहीं लिखते हैं। इसलिये कृपया बहुत जरूरी कामको छोड़कर उनके नाम कोई सज्जन पत्र न लिखें। और किन्हींके पत्रका उत्तर न पहुँचे तो नाराज न हों। सम्पादन-सम्बन्धी पत्र सम्पादक 'कल्याण' गोरखपुरके पतेसे लिखें। मैनेजर—गीताप्रेस, गोरखपुर

मानसाङ्क

अब बिल्कुल समाप्त हो गया है, अतः कोई सज्जन उसके लिये अब आर्डर देनेकी कृपा न करें।

व्यवस्थापक—'कल्याण', गोरखपुर

रामायणके सवा लाख पारायणोंकी योजना

आजकल लौकिक दृष्टिसे संसारके लिये बहुत भयानक समय आ रहा है । जहाँ देखिये वहाँ ईर्ष्या, द्वेष, कलह, प्रतिहिंसा ही दृष्टिगोचर हो रही है बढ़ी हुई भोगलिप्सा और स्वार्थपरायणताने मनुष्यको अंधा बना दिया है । वह दानवोंसे भी अधिक क्रूर एवं नृशंस हो गया है । पाशविक बलका प्रदर्शन करनेकी राष्ट्रोंमें एक प्रकारकी होड़-सी लग रही है । भारत भी उसके प्रभावसे बचा नहीं रह सकता । यहाँ भी साम्प्रदायिक झगड़े आये दिन हुआ करते हैं । ऐसी स्थितिमें सामूहिक ईश्वर-प्रार्थना, भगवन्नामका जप-कीर्तन, अर्चा-उपासना, पाठ-पूजा आदि भगवत्सम्बन्धी कार्य ही जगत्में सुख-शान्ति फैलानेके एकमात्र साधन हैं । प्राचीन कालके ऋषि-महर्षि जब-जब देशपर अथवा विश्वपर इस प्रकारकी घोर आपत्ति आती थी, श्रद्धा-विश्वासपूर्वक इसी उपायका अवलम्बन करते थे और कृतकार्य भी होते थे । भगवान्‌के सामने की हुई करुण पुकार कभी व्यर्थ नहीं जाती, उसका शीघ्र उत्तर मिलता है और उनकी कृपासे बहुत शीघ्र हमारे कष्टोंका निवारण हो जाता है । पिछले दिनों राजपूताना, गुजरात आदि प्रान्तोंमें जब घोर दुर्भिक्ष पड़ा था, भगवन्नामकीर्तनके द्वारा लोगोंको प्रत्यक्ष लाभ हुआ । भगवन्नामके प्रभावसे जगह-जगह न्यूनाधिकरूपमें वर्षा हुई और लोगोंका कष्ट किसी अंशमें दूर हुआ । इसी उद्देश्यको सामने रखकर 'कल्याण'के द्वारा बीच-बीचमें सामूहिक नाम-जप, नाम-कीर्तन आदिके लिये प्रार्थना की जाती है । उसके नाम-जप-विभागकी प्रार्थनापर प्रत्येक प्रान्तके भाई-बहिन प्रतिवर्ष करोड़ोंकी संख्यामें भगवन्नामजप करते हैं और उससे नाम-जप करनेवालोंका तथा देशभरका महान् कल्याण होता है, ऐसा हमारा विश्वास है । पिछले चैत्र मासमें देश तथा विश्वकी वर्तमान परिस्थिति देखकर विशेषरूपसे नामजप, नामकीर्तन, गीता-पाठ, रामायण-पाठ आदिके लिये पाठक-पाठिकाओंसे प्रार्थना की गयी थी और आशा है उस प्रार्थनाके अनुसार बहुत-से भाई-बहिन चुपचाप साधनमें लगे हुए होंगे । अबकी बार कुछ मित्रोंके अनुरोधसे तथा कतिपय संत-महात्माओंकी अनुमति तथा आशीर्वादसे ऐसा विचार किया गया है कि आगामी चैत्र शुक्ला १ से चैत्र शुक्ला नवमीतक (अर्थात् ८ अप्रेलसे १६ अप्रेलतक) 'कल्याण'के पाठक-पाठिकाओंद्वारा श्रीरामचरितमानसके १,२५,००० पारायणोंका आयोजन किया जाय । भगवान्‌की कृपासे इस समय 'कल्याण'के ५०००० से ऊपर ग्राहक हैं । ऐसी स्थितिमें प्रत्येक ग्राहक यदि उक्त समयमें रामायणका एक पूरा पाठ करनेका सङ्कल्प कर ले और अपने परिवार अथवा मित्रवर्गमेंसे कम-से-कम दो साथियोंको और सम्मिलित कर ले तो यह कार्य सहजहीमें हो सकता है । कहना न होगा कि श्रीरामचरितमानस एक आशीर्वादात्मक ग्रन्थ है । उसका प्रत्येक पद्य एक-एक मन्त्र है और उसके पाठसे लौकिक एवं पारलौकिक सब प्रकारके कार्य सिद्ध होते हैं । हमारा विश्वास है कि उसके पाठसे पाठ करनेवालोंका ही नहीं, जगत्भरका कल्याण होगा । श्रद्धा-विश्वासपूर्वक निष्कामभावसे पाठ करनेवालोंको तो भगवत्कृपाका विशेष अनुभव हो सकता है । पाठ मानसाङ्कके पृष्ठ १०-११ पर दी हुई विधिके अनुसार करना चाहिये । विश्रामके स्थल उसीके पृष्ठ ११-१२ पर अङ्कित हैं । पाठ करनेवाले एक-से अधिक हों तो पहली बार उनमेंसे एक व्यक्ति एक दोहे अथवा चौपाईको बोले और पीछे बाकी सब लोग मिलकर एक स्वरमें उसीको दुहरावें । इस प्रकार करनेसे लगभग चार घंटे एक दिनके पाठमें लग सकते हैं । प्रातःकाल स्नान-सन्ध्यादिसे निवृत्त होकर ६॥ बजे सब लोग पूजन करने बैठ जायँ और आध घंटेमें पूजन समाप्तकर ठीक सात बजे पाठ आरम्भ कर देना चाहिये । ऐसा करनेसे करीब ११ बजे पाठ समाप्त हो सकता है । उसके बाद सब लोग भोजन आदि करके अपने-अपने कार्यमें लग सकते हैं । यदि आवश्यकता हो तो बीचमें दो घंटेके बाद १० मिनटका विश्राम रक्खा जा सकता है, जिसमें सब लोग लघुशङ्का आदिसे निवृत्त हो सकते हैं । तत्पश्चात् हाथ-पैर धोकर कुल्ला करके फिर पाठ करनेके लिये बैठ जाना चाहिये । पाठके दिनोंमें एक ही बार भोजन करना चाहिये । अत्यावश्यक हो तो सायंकाल-को दूध अथवा फल ले सकते हैं । जहाँतक हो सके, आहार तथा व्यवहार दोनों ही सात्त्विक होने चाहिये । और ब्रह्मचर्यसे रहना चाहिये । पाठ सब लोग अपने-अपने घरोंमें अथवा किसी देवालय आदि सार्वजनिक स्थानमें भी कर सकते हैं । घरोंमें स्त्री-पुरुष सभी परिवारके लोग पाठमें सम्मिलित हो सकते हैं । समाप्तिके बाद अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार एक वा एकसे अधिक ब्राह्मणोंको भोजन कराना चाहिये । जो लोग इस पारायणरूप स्वाध्याययज्ञमें सम्मिलित हों, वे कृपया निम्नलिखित पतेसे सूचना भेजनेकी अवश्य कृपा करें ।

निवेदक—

सम्पादक—कल्याण, गोरखपुर

गीता-जयन्ती

आगामी मार्गशीर्ष शुक्ला ११ ता० २२ दिसम्बरको श्रीगीता-जयन्तीका महोत्सव है। विगत १५ वर्षोंसे यह महोत्सव भारतके बहुतेरे स्थानोंमें मनाया जाता है। 'गीताधर्ममण्डल' पूनाके श्रीयुत जे० एस० करन्दीकरने बड़ी गवेषणाके बाद गीता-जयन्तीका दिन मार्गशीर्ष शु० ११ निश्चय किया था। उसीके अनुसार इस दिन जयन्ती मनायी जाती है। श्रीयुत चिन्तामणि विनायकराव वैद्य महोदय मार्गशीर्ष शु० १३ मानते हैं। केवल दो दिनका भेद है। किन्तु जब समस्त देश मा० शु० ११ को मनाने लगा है, तब इसमें परिवर्तन करनेकी कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। कोई चाहें तो एकादशीसे त्रयोदशीतक तीन दिन उत्सव मना सकते हैं। ऐसा हो तो और भी अच्छी बात है।

गीता-जयन्तीके उत्सवमें नीचे लिखे कार्य होने चाहिये—

१ गीता-ग्रन्थकी पूजा।

२ गीताके वक्ता पूर्णब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्णकी और गीताको महाभारतमें संयोजित करनेवाले भगवान् व्यासदेवकी पूजा।

३ गीताका यथासाध्य पारायण।

४ गीता-तत्त्वको समझने-समझानेके लिये तथा गीताका प्रचार करनेके लिये स्थान-स्थानमें सभाएँ और गीता-तत्त्व तथा गीताके महत्त्वपर प्रवचन और व्याख्यान।

५ पाठशालाओं और विद्यालयोंमें गीतापाठ और गीतापर व्याख्यान और गीतापरीक्षामें उत्तीर्ण छात्रोंको पुरस्कार-वितरण।

६ प्रत्येक मन्दिरमें गीताकी कथा और भगवान्का विशेष पूजन।

७ गीताजीकी सवारीका जुलूस।

८ लेखक और कवि महोदय गीतासम्बन्धी लेखों और कविताओंद्वारा गीता-प्रचारमें सहायता करें।

सबसे आवश्यक बात है गीताके अनुसार जीवन बनानेका निश्चय करना और गीतोक्त साधनामें लग जाना। गीताका यह एक श्लोक ध्यानमें रहे और इसके अनुसार कार्य किया जाय तो बड़ा कल्याण होगा। भगवान्के वचन हैं—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय। निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥ (१२।८)

'मुझमें मन लगाओ, मुझमें बुद्धिको प्रवेश करा दो, फिर तुम ऊँचे उठकर मुझमें ही निवास करोगे, इसमें कुछ भी संशय नहीं है।'

सम्पादक—**कल्याण, गोरखपुर**

गीतातत्त्वाङ्कका दूसरा संस्करण

अब शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाला है।

जिनके रुपये मनीआर्डरसे आ चुके हैं, उन्हें अङ्क बहुत शीघ्र भेज दिये जायँगे।

पहला संस्करण जल्दी समाप्त हो जानेके कारण जिन पुराने ग्राहकोंके पास वी० पी० समयपर न जा सकी थीं, उन्हें अब भेजी जायँगी। यदि किसी सज्जनको न मँगाना हो तो कृपापूर्वक मनाहीका कार्ड डाल दें। उनके तीन पैसेके खर्चसे कार्यालयके दस आने बच जायँगे।

नये ग्राहक बनने-बनानेवाले सज्जन शीघ्रता करनेकी कृपा करें।

व्यवस्थापक—**'कल्याण', गोरखपुर।**

The Yoga Number of the "Kalyana-Kalpataru".

According to the announcement made in the November issue of this Magazine, arrangements have been completed to bring out the seventh special number of the "Kalyana-Kalpataru" in January next under the title of the Yoga Number. Readers will be glad to learn that the valuable articles received from our distinguished contributors will constitute a mine of information on *Yoga* as a method of spiritual culture. The subject will be dealt with from the point of view of Hinduism as well as of other religions. The Yogic systems of mental and physical culture will be explained in all their aspects. *Yoga* has both its admirers and detractors in the present age. But much of this admiration and detraction are uninformed and lack the backing of reasoned thought. It is expected that the facts that will be brought to light by the contributions in this number will remove many a misconception and help the reader to arrive at a balanced view about the efficacy of the Yogic method of spiritual culture for self-purification and God-Realization. The number will be a unique one especially for practicants who have to grapple every day with the problem of how to regulate their body and mind with a view to bring the latter under the sway of the spirit. The number will present before the reader the correct scriptural ideas on the various aspects of Yogic culture.

The following are some of the distinguished writers whose articles will adorn the pages of this number. Like the previous special numbers, it will be illustrated by many coloured and black and white illustrations.

NAMES OF CONTRIBUTORS:

Mahamahopadhyaya Dr. Ganganatha Jha; Mahamahopadhyaya Pramathanath Tarkabhushan; Mahamahopadhyaya Gopinath Kaviraj, M.A.; Vaishnavacharya Dr. Rasikmohan Vidyabhushan; Mahamahopadhyaya Vidhusekhar Sastri; Swami Kuvalayanandji; Swami Suddhananda Bharati; Swami Sivananda Saraswati; Prof. Akshaya Kumar Banerji, M.A.; Syt. Basanta Kumar Chatterji, M.A.; Syt. Anilbaran Roy; Dewan Bahadur K. S. Ramaswami Sastri; Syt. Hirendranath Dutta, M.A., Vedantaratna; Swami Asanganandaji; Prof. Bireshwar Banerji, M.A.; Prof. M. S. Srinivasa Sarma, M.A.; Prof. Feroze Cowasji Davar, M.A., LL.B.; Prof. K. S. Dabu, M.A.; Rev Arthur E. Massey; Syt. Gulbaniji of Poona; Syt. Tryambak Bhaskar Sastri Khare; Syt. Taditkanta Vedalankar; Dr. Durgasankar Nagar; Prof. Manik Rao; Mahatma B. R. Vinayek; Prof. Sridhar Mazumdar, M.A.; Prof. Girindranarayan Mallik, M.A., B.L.; Dr. B. L. Atreya, M.A., D. Litt.; Syt. Y. Jagannatham, B.A.; Syt. Bhupendranath Sanyal; Syt. Jayadayal Goyandka; Syt. Hanuman Prasad Poddar; and others.

The Manager,
"Kalyana-Kalpataru",
Gorakhpur.

जगज्जननी श्रीजानकी

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ (गीता १८ । ६६)

वर्ष १४ | गोरखपुर, दिसम्बर १९३९ | संख्या ५ पूर्ण संख्या १६१

मातासे विनय

कबहुँक अंब ! अवसर पाइ ।
मेरिऔ सुधि द्याइबी, कछु करुन कथा चलाइ ॥ १ ॥
दीन, सब अँग हीन, छीन, मलीन, अघी अघाइ ।
नाम ले भरै उदर एक प्रभु-दासी-दास कहाइ ॥ २ ॥
बूझिहैं 'सो है कौन', कहिबी नाम दसा जनाइ ।
सुनत राम कृपालु के मेरी बिगरिऔ बनि जाइ ॥ ३ ॥

—श्रीतुलसीदासजी

परमहंस-विवेकमाला

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

[मणि १३]

(गताङ्कसे आगे)

चित्तवृत्तेरतीतं तं वृत्तिहीनमनामयम्।
वन्देऽहं परमं ब्रह्म सर्ववृत्त्यवभासकम्॥

छप्पय–जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति आदि सबहीका भासक।
भोक्ता, भोग्य रु भोग, विश्व संपूर्ण प्रकाशक॥
साक्षी, शिव, चिन्मात्र, सूक्ष्मसे सूक्ष्म पुरातन।
विना हाथ, विनु पाद, नेत्र विनु देव सनातन॥
सो ही मेरा तत्त्व है, ऐसा जिसको ज्ञान है।
भोला! जीवन्मुक्त सो, ज्ञानी, संत, सुजान है॥

गौरीशंकर–हे देवि! कल आपने मुझे ब्रह्मविन्दु उपनिषद्‌की ब्रह्मविद्याका श्रवण कराया था, आज कृपया कैवल्य उपनिषद्‌की ब्रह्मविद्या सुनाइये!

देवी–हे वत्स! पूर्वकालमें ऋग्वेदके आचार्य एक आश्वलायन मुनि थे। वे एक बार विवेकादि साधनचतुष्टयसे सम्पन्न होकर शास्त्रीय विधिसे सर्वोत्कृष्ट स्थानमें निवास करनेवाले ब्रह्माजीके समीप गये और इस प्रकार कहने लगे—

आश्वलायन–हे भगवन्! शम-दमादि साधन-सम्पन्न शिष्ट विद्वान् पुरुष जिस गूढ ब्रह्मविद्यासे सर्वपापोंको दूर करके अपने हृदयमें परमात्माको देख सकते हैं और अनधिकारी पुरुषोंको जो ब्रह्मविद्या प्राप्त नहीं होती, उस विद्याको मुझसे कहिये!

ब्रह्मा–हे आश्वलायन! जिस अधिकारी पुरुषको गुरुके वचनोंके ऊपर आस्तिक्य-बुद्धिरूप श्रद्धा होती है और योगद्वारा जिसकी बुद्धिकी वृत्ति सर्वदा ब्रह्माकार रहती है, उसी अधिकारीको ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति होती है। श्रद्धा, भक्ति, ध्यान और संन्यास—ये चार ब्रह्मविद्याके साधन हैं। अग्निहोत्रादिक कर्मोंसे, उपासनासे, गृहस्थाश्रमके फलरूप पुत्रसे, धनसे, अथवा किसी अन्य साधनसे ब्रह्मविद्या प्राप्त नहीं होती। कर्मसे, प्रजा यानी पुत्रसे और धनसे यदि कभी ब्रह्मविद्याका ज्ञान होता भी है, तो परोक्ष अनुभवरूप ही होता है, अपरोक्ष अनुभवरूप नहीं होता। श्रुतिमें कहा है कि कर्मसे, प्रजासे अथवा धनसे अमरत्व प्राप्त नहीं होता, परोक्षज्ञान होता है। परोक्षज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती। सर्वप्रतिबन्धोंसे रहित और सम्पूर्ण सांसारिक विक्षेपोंसे रहित संन्यासी जब ब्रह्मवेत्ता गुरुके मुखसे वेदान्तोंका श्रवण करता है और उन वेदान्तवाक्योंका अद्वितीय ब्रह्ममें ही तात्पर्य है, ऐसा निश्चय करता है, पश्चात् श्रवण किये हुए पदार्थका बारंबार मनन करता है और मनन किये हुए ब्रह्मभावमें ही चित्तकी वृत्तियोंके प्रवाहको निरन्तर चलानारूप निदिध्यासन करता है, उस संन्यासीके देहका, कर्म क्षय होनेपर, जब पात होता है, तब वह परब्रह्मको प्राप्त होता है।

हे आश्वलायन! अधिकारी पुरुषको ब्रह्मलोककी प्राप्तिकी इच्छा भी न करनी चाहिये, किन्तु ब्रह्मभावकी प्राप्तिकी ही इच्छा करनी चाहिये। क्योंकि ब्रह्मलोकको प्राप्त हुआ अधिकारी ब्रह्माकी आयुष्यका क्षय होनेपर जब ब्रह्मा ब्रह्मभावको प्राप्त होता है, तब ही ब्रह्मभावको प्राप्त होता है, इससे पहले नहीं होता; इसलिये उस संन्यासीको ब्रह्माकी आयुतक ब्रह्मलोकमें समय खराब करना पड़ता है। जिस अधिकारीको अपरोक्ष ज्ञान और मोक्षकी

इच्छा हो, उसको सर्वदा योगसाधनद्वारा ब्रह्मभावको प्राप्त करनेका यत्न करना चाहिये। योगकी रीतिसे उसको दर्भके ऊपर मृगचर्म बिछाकर उसके ऊपर पद्मासन लगाकर गुरुको प्रणाम करके बैठना चाहिये, दृष्टिको नासिकाके अग्रभागके ऊपर स्थिर कर, नेत्रादि बाह्य इन्द्रियाँ और मनरूपी आन्तर इन्द्रियाँ, इन सबको विषयोंसे खींचकर चित्तकी वृत्तिका निरोध करना चाहिये। जब चित्तवृत्तियाँ भली प्रकारसे निरुद्ध हो जायँ, तब श्रद्धा तथा भक्तिपूर्वक गुरुके वचनोंका विचार करते हुए मनको हृदय-कमलमें उतारना चाहिये और निराकार ब्रह्मका ध्यान करना चाहिये। निराकार, निर्विकल्प और निर्गुण ब्रह्म सर्वदुःखोंसे रहित है, मन तथा वाणीका अविषयरूप है, शब्द-स्पर्शादिसे रहित है, देश, काल तथा वस्तुपरिच्छेदसे रहित है और जन्म-मृत्युसे रहित है, स्वयंज्योतिरूप है, सर्वशक्ति-सम्पन्न है और अद्वितीयरूप है। ऐसे आनन्दस्वरूप ब्रह्मका अपरोक्ष अनुभव करनेकी जिसमें शक्ति न हो, उसको सगुण ब्रह्ममें चित्तवृत्ति लगाकर उसका ध्यान करना चाहिये। क्योंकि अधिकारानुसार कार्य करनेसे ही सफलता होती है। बिना अधिकारके कार्य करनेसे सफलता नहीं होती, उलटी हानि होती है।

हे आश्वलायन! केन उपनिषद्में ब्रह्मविद्याको उमादेवीसे उपमा दी है और ब्रह्मविद्याका वर्णन करते हुए कहा है कि उमादेवी सर्वशक्तिरूप है, महदादिक सर्वतत्त्वोंसे युक्त है और ध्यान करनेसे इन्द्रसे लेकर मनुष्यपर्यन्त सबको अनन्य फलकी देनेवाली है। उमादेवीके कृपाकटाक्षसे मनुष्योंको सर्वकामनाओंकी प्राप्ति और तृप्ति होती है। उमादेवी अतिशय सौन्दर्यशालिनी और सर्वदा यौवनावस्था-सम्पन्न है। उमादेवीके स्वामी भगवान् शङ्कर जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और लय करनेमें समर्थ हैं। जो अधिकारी इस दम्पतिका ध्यान करता है, वह परिणाममें मोक्षको प्राप्त होता है।

हे आश्वलायन! बड़े-बड़े योगी एकान्त स्थलमें पद्मासन लगाकर समाधिमें भगवान् उमापतिका ध्यान करते हैं। दीर्घ कालमें परब्रह्म स्वयंज्योतिका हृदय-कमलमें उनको साक्षात् दर्शन होता है। भगवान् शंकर हिरण्यगर्भको उत्पन्न करनेवाले हैं, जगत्‌के परम कारण हैं और संहार करनेवाले हैं; इसलिये योगी उनके सगुण स्वरूपका ध्यान करते-करते परिणाममें उनके निर्गुण शुद्ध स्वरूपको प्राप्त होकर मोक्ष यानी निर्गुण ब्रह्मस्वरूपको प्राप्त होते हैं। भगवान् शङ्कर मायासे परे हैं, मन-वाणी उनका पार नहीं पा सकते, वे अज्ञानसे रहित हैं और बुद्धि आदि सर्व जडप्रपञ्चके साक्षीरूप निर्गुण ब्रह्म हैं। वे ही मायाशक्तिसे युक्त होकर जगत्‌के कारण होते हैं, किन्तु वस्तुतः मायासे रहित निर्गुण ब्रह्मस्वरूप हैं। ऐसे अकृत्रिम स्वरूपवाले निर्गुण ब्रह्मको जब योगी प्राप्त होते हैं, तब वे अपने आत्माको जानते हैं और अपने आत्माके आनन्दको ही सर्व आनन्दकी अवधि जानकर अपने स्वरूपानन्दमें ही अद्वितीयरूपता यानी अभेदरूपको प्राप्त होते हैं। उमासहित भगवान् शङ्कर, जिनको सगुण ब्रह्मस्वरूप कहा है, निर्गुण ब्रह्मसे भिन्न नहीं हैं किन्तु अभिन्न हैं; उपाधिके भेदसे अज्ञानी जीवोंको उनमें भिन्नता प्रतीत होती है। जैसे तरङ्गें जलसे भिन्न नहीं हैं, जैसे घटाकाश महाकाशसे भिन्न नहीं है, जैसे रज्जुमें कल्पित सर्प रज्जुसे भिन्न नहीं है, उसी प्रकार ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन्द्रादि चराचर जगत् निर्गुण ब्रह्मसे भिन्न नहीं है।

हे आश्वलायन! जैसे स्वप्नके प्रभावसे एक ही पुरुष अपनेको अनेक और विचित्ररूपसे मानता है, उसी प्रकार निर्गुण ब्रह्म भी मायाके सम्बन्धसे अनेकरूपवाला और विचित्र जगद्रूप बन जाता है। सब भूतोंका कारण वही परमात्मा सबका साक्षी है, अज्ञानसे परे है, वही ब्रह्मा है, वही शिव है, वही इन्द्र है, वही स्वयंसिद्ध

विराजमान है, वही विष्णु है, वही प्राण है, वही कालरूप अग्नि है, वही चन्द्रमा है और वही भूत-भविष्यत् सब है। जैसे पुरुषका स्वप्नके साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, इसी प्रकार ब्रह्मका भी मायाके साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। जैसे पुरुष स्वप्नको अपने पास बुलाता नहीं है यानी अमुक स्वप्न मुझको दिखायी दे, ऐसा नहीं कहता, इसी प्रकार ब्रह्म भी मायाको बुलाता नहीं है, तो भी माया-के आवरणको पाकर अनेकताको धारण करता है, इसलिये ब्रह्म मायासे भी पर कहलाता है। जैसे आकाशमें गन्धर्वनगर दिखायी देता है और आकाशमें ही लय हो जाता है, उसी प्रकार सर्व द्वैत-प्रपञ्चसे रहित आनन्दस्वरूप आत्मामेंसे द्वैत-प्रपञ्चकी उत्पत्ति होती है और उसीमें उसका लय हो जाता है। आत्माके अज्ञानसे जगत् भासता है और आत्माके ज्ञानसे जगत् लय हो जाता है, इसलिये आत्मज्ञान ही मुक्तिका मुख्य साधन है। श्रुतिमें कहा है—'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' अर्थात् मोक्षकी प्राप्तिके लिये आत्मज्ञानके सिवा दूसरा कोई मार्ग नहीं है।

हे आश्वलायन! जो अधिकारी पुरुष विश्वके सर्वभूतोंमें अपने आत्माको व्यापकरूपसे देखता है और सर्वभूतोंको अपने आत्मामें कल्पित मानता है, उसको ही यथार्थ आत्मज्ञान उत्पन्न होता है और वही ब्रह्मभावको प्राप्त होता है। हे आश्वलायन! जैसे दो अरणियोंके रगड़नेसे अग्नि उत्पन्न होता है, उसी प्रकार निरन्तर ध्यान करनेसे और योगकी प्रक्रियाएँ करनेसे अन्तःकरणमें ब्रह्मभाव उत्पन्न होता है। जैसे अग्निके उत्पन्न होनेसे अरणियोंकी सर्व उपाधियाँ जल जाती हैं, उसी प्रकार ब्रह्मभाव उत्पन्न होनेसे काम-क्रोधादि सर्व उपाधियाँ नष्ट हो जाती हैं। जैसे अग्नि उत्पन्न होकर और काष्ठको जलाकर अपने स्वरूपको प्राप्त हो जाता है, इसी प्रकार योगी भी ब्रह्मभावके उत्पन्न होनेसे सर्वपाशोंसे मुक्त होकर आत्मस्वरूप ही हो जाता है। जिसको 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा ज्ञान हो जाता है, वह 'त्वं' पदार्थरूप जीव तत्पदार्थरूप ब्रह्मसे भिन्न नहीं होता। क्योंकि चेतनको विषय करनेवाली और चेतनके ही आश्रय रहनेवाली मायासे ढका हुआ ब्रह्म ही जीव कहलाता है और मायाके आवरणके कारणसे ही जन्म-मरणरूप संसार-भावको प्राप्त होता है, संसारसम्बन्धी पुण्य-पापरूप कर्म करता है और अपने यथार्थ स्वरूपको भूलकर अपनेको सुखी-दुखी मानता है तथा अनेक प्रकारकी लीला करता है। जैसे मादक पदार्थके योगसे मनुष्य अपने स्वरूपको भूल जाता है, उसी प्रकार मायाके आवरणसे ब्रह्म भी अपने यथार्थ स्वरूपको भूल जाता है। जैसे धर्मात्मा सज्जन मनुष्य चोर-डाकुओंकी सङ्गतिसे बन्धनको प्राप्त होता है, इसी प्रकार आत्मा भी माया और मायाके उत्पन्न किये हुए प्रपञ्चके सङ्गसे इस संसार-रूप कारागृहमें बन्धनको प्राप्त होता है।

हे आश्वलायन! माया अलौकिक है, मायाके कार्यको कोई जान नहीं सकता और मायाकी सिद्धि भी नहीं होती; इसलिये माया अघटित घटना खड़ी करनेवाली, अचिन्त्य कहलाती है। जैसे निद्राके दोषसे स्वप्नमें स्थित हुआ पुरुष निद्रा पूरी न होनेतक अनेक प्रकारके सुख-दुःखका अनुभव करता है, उसी प्रकार मायाके आवरणको प्राप्त हुआ आनन्द-स्वरूप आत्मा भी आवरणकी अवधिपर्यन्त अनेक प्रकारके सुख-दुःखात्मक भावोंको प्राप्त होता है। यद्यपि अविद्यारूप माया अनादि है, तो भी जब ब्रह्मवेत्ता गुरुके मुखसे पुरुषको महावाक्यका यथार्थ उपदेश होता है, तो माया निवृत्त हो जाती है।

हे आश्वलायन! अविद्याके आवरणवाला, जीवात्मभावको प्राप्त हुआ ब्रह्म संसारमें जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीन अवस्थाओंको प्राप्त होता है और कर्मानुसार जन्म-मरणकी आवृत्तियोंमें भटकता रहता है। जब किसी अपूर्व पुण्यके योगसे

सद्गुरुके उपदेशका अवकाश मिलता है, तो उसको ब्रह्मज्ञान उत्पन्न होता है और वह अपने स्वरूपको जानकर जन्म-मरणके चक्रमेंसे मुक्त हो जाता है। आत्मज्ञानसे उत्पन्न हुआ ब्रह्मभाव ही तुरीय अवस्था कहलाता है। इस अवस्थामें योगी अपनेसे भिन्न कुछ नहीं देखता और एकमात्र परमानन्दमें रमण करता है।

हे आश्वलायन! परब्रह्म परमात्मा सर्व विश्वका आधार है, देश, काल और वस्तु तीनों परिच्छेदोंसे रहित है, सूक्ष्मसे सूक्ष्म है, उत्पत्ति और नाशसे रहित है, अद्वितीय है, मेरा, तेरा और सर्व प्राणीमात्रका आत्मास्वरूप है। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीन अवस्थारूप प्रपञ्चका साक्षी चैतन्य आत्मा मैं ही हूँ, जीव और ब्रह्ममें कुछ भी भेद नहीं है—ऐसा जिसको निश्चय हो जाता है, वह सर्व बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है। 'मैं चैतन्यस्वरूप शुद्ध आत्मा भोगादिके भोक्ता, स्वरूपका साक्षी होनेपर भी उनसे परम विलक्षण हूँ' ऐसा माननेका नाम ही ज्ञान है।

त्रिषु धामसु यद् भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद् भवेत्।
तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहं सदा शिवः॥

अर्थात् जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओंमें जो भोग्य, भोक्ता और भोग है, उनसे विलक्षण मैं एक साक्षी चैतन्य हूँ, मेरा उनसे कुछ सम्बन्ध नहीं है—ऐसी भावना करना ही योगीका कर्तव्य है।

हे आश्वलायन! ब्रह्मवेत्ता गुरुके मुखसे ब्रह्मविद्या प्राप्त करके अधिकारी पुरुषको अपनी चित्तवृत्तियोंको सर्वदा आत्मामें लय करना चाहिये। 'सर्वभेदसे रहित जो ब्रह्म है, वह मैं ही हूँ' ऐसा निश्चय करना ही कर्तव्य है। ब्रह्म ही सर्व वेदोंमें वेद्य यानी जानने योग्य है तथा वही सर्वज्ञ और सबका कारणरूप है। सर्वविद्याओंका गुरु, सर्व-प्रपञ्चसे रहित और किसी कल्पनामें न आनेवाला जो आत्मा है, वही ब्रह्म है। जैसे निर्मल आकाशमें गन्धर्वनगर कल्पित है, उसी प्रकार आनन्दस्वरूप आत्मामें मायासहित यह चराचर जगत् कल्पित-मात्र है।

देवी—हे सौम्यदर्शन! इस प्रकार ब्रह्माजीने आश्वलायन और अन्य शिष्योंको जब आत्मबोध कराया, तो वे अधिकारी यथायोग्य सगुण और निर्गुण ब्रह्मका ध्यान करके अपने स्वरूप आनन्दको प्राप्त करनेके लिये तत्पर हुए। ब्रह्मभावको प्राप्त करनेके लिये चित्तशुद्धिकी मुख्य आवश्यकता है। रुद्राध्यायके पाठ करनेसे मनकी शुद्धि होती है, इसलिये जिसको ब्रह्मभावकी प्राप्तिकी इच्छा हो, उसको सर्वदा रुद्राध्यायका पाठ करना चाहिये। जब अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, तभी वैराग्यकी प्राप्ति होती है और जब वैराग्य प्राप्त होता है, तभी वृत्तियोंके प्रवाहको अन्यत्र प्रवृत्त होनेसे निवृत्त कर सकते हैं। वैराग्यके विना संन्यास-ग्रहण नहीं हो सकता और संन्यासके विना निःश्रेयसमें प्रवृत्ति नहीं होती। संन्यास-ग्रहणके बाद और अष्टाङ्गयोगकी प्रक्रियाओंके पूर्ण होनेपर भी चित्तकी शुद्धिके लिये अधिकारी पुरुषको नित्य उमादेवीसहित भूतनाथ रुद्रभगवान्‌को प्रसन्न करनेके लिये रुद्राध्यायका पाठ चालू रखना चाहिये। क्योंकि श्रुति कहती है—

उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं
त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम्।
ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं
समस्तसाक्षिं तमसः परस्तात्॥

उमादेवीसहित त्रिलोचन, नीलकण्ठ, शान्त प्रभु श्रीशङ्करका ध्यान करनेसे अधिकारी पुरुष

सर्वप्रपञ्चसे मुक्त होकर ब्रह्मभावको प्राप्त होता है। संन्यासियोंको निरन्तर वेदान्तवाक्योंका विचार और परब्रह्मका ध्यान ही करना चाहिये। श्रुतिमें कहा है—

आसुप्तेरामृतेः कालं नयेद्वेदान्तचिन्तया।
दद्यान्नावसरं किञ्चित् कामादीनां मनागपि॥

संन्यासाश्रम धारण करनेके बाद अधिकारी पुरुषको सुषुप्तिसे लेकर सर्व अवस्थाओंमें वेदान्त-शास्त्रका चिन्तन करते हुए मरणपर्यन्त अपना काल व्यतीत करना चाहिये। 'परमहंस' संन्याससे अधिकारी पुरुषको आत्मसाक्षात्कार होता है। जैसे पूर्वमें श्वेतकेतु आदि महात्माओंने किया था, उसी प्रकार श्रवण-मननादि उपायोंसे अधिकारी पुरुषोंको आत्मज्ञान सम्पादन करना चाहिये।

हे वत्स! जब अधिकारी पुरुष आत्माका साक्षात्कार करता है, तो उसको इस प्रकारका अनुभव होता है—'मुझसे ही ये सब भूत तथा भौतिक जगत् उत्पन्न हुआ है, मुझमें ही प्रतिष्ठित यानी स्थित है और मुझमें ही सब लयभावको प्राप्त होता है। जो अव्यय ब्रह्म है, वह मैं ही हूँ, मैं अणुसे भी अत्यन्त अणु हूँ! 'अहं' प्रत्ययसे व्यवहार करने योग्य मेरे सिवा दूसरा नहीं है! जैसे मैं अणु हूँ, उसी प्रकार महान्‌से भी महान् हूँ! मैं विश्व हूँ, फिर भी विश्वसे विलक्षण हूँ! जैसे विश्वमें भेद है, इस प्रकार मुझमें भेद नहीं है; मैं पुरातन हूँ, पुरुष हूँ! मैं ही ईश हूँ, हिरण्मय हूँ और मैं शिवरूप हूँ! मैं हाथों और पैरोंसे रहित हूँ, तो भी ग्रहण करता हूँ और अतिवेगसे चलता हूँ; इसलिये अचिन्त्यशक्ति कहलाता हूँ। बिना नेत्रोंके देखता हूँ और बिना कानोंके सुनता हूँ; मैं भिन्न-भिन्न रूपोंको जानता हूँ, मेरा जाननेवाला कोई नहीं है; क्योंकि मैं भेदरहित चित् यानी स्वयंप्रकाश, बोधस्वरूप, नित्य हूँ! ऋगादि वेदोंसे मैं ही वेद्य यानी जानने योग्य हूँ, वेदान्तका कर्ता मैं हूँ और अङ्गोंसहित वेदोंका जाननेवाला भी मैं ही हूँ! पुण्य-पाप मुझे स्पर्श नहीं करते, मेरा नाश नहीं है, न मेरा जन्म है। मुझमें देह नहीं है, इन्द्रियाँ नहीं हैं और बुद्धि नहीं है। भूमि, जल, अग्नि, वायु और आकाश भी मुझमें नहीं हैं।' इस प्रकार जानकर अधिकारी पुरुष कलारहित, अद्वितीय, बुद्धिरूपी गुहामें स्थित, सर्वके साक्षी, सदसत्-हीन शुद्ध परमात्माको प्राप्त होता है।

हे वत्स! ऊपर कहे अनुसार मुमुक्षुको शतरुद्रीका पाठ अवश्य करना चाहिये। क्योंकि जो शतरुद्रीका पाठ करता है, वह अग्निसे पवित्र होता है, वायुसे पवित्र होता है, सुरापानके पापसे पवित्र होता है, ब्रह्महत्यारूप महापातकसे पवित्र होता है, सुवर्णकी चोरीके पातकसे पवित्र होता है, बुद्धिपूर्वक या अबुद्धिपूर्वक किये हुए पापसे पवित्र होता है, इसलिये अविमुक्त यानी पशुपति शिवके आश्रित होता है! अत्याश्रमी परमहंस सर्वदा अथवा दिनमें एक बार जपे। ऐसा करनेसे जन्म-मरणरूप संसारसमुद्रका नाश करनेवाला 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा आत्मज्ञान उत्पन्न होता है, इसलिये इसको जानकर कैवल्यरूप फलको प्राप्त होता है! कैवल्यरूप फलको प्राप्त होता है।

(इति मणि १३ समाप्त)

एक प्रसिद्ध महात्माके उद्गार

लोग मेरी पूजा करनेको बहुत उत्सुक रहते हैं; पर जब मैं उनसे उसकी पूजा करनेको कहता हूँ, जिसकी पूजा मैं भी करता हूँ, तो वे मेरी बातोंकी उपेक्षा करते हैं ! मुझे यह देखकर खेद होता है कि वे किसी सच्चे महात्माको प्राप्त करनेके अधिकारी नहीं। धूर्तोंद्वारा वे ठगे जा सकते हैं, किन्तु किसी भी सदाशयके हितकारी वचन उनके हृदयतक नहीं पहुँचते।

स्वार्थने संसारको अंधा कर दिया है। लोग मुझे शरीरसे निरपेक्ष और समदर्शी कहते हैं। आश्चर्य तो यह है कि मुखसे ऐसा कहते समय भी वे मेरेद्वारा अपना कुछ लाभ होनेकी इसलिये आशा रखते हैं, क्योंकि वे मेरे निकट सम्पर्कमें रहते और मेरी शारीरिक सेवाओंमें तत्परतासे लगे रहते हैं।

मैं स्पष्ट देखता हूँ कि लोग मुझे झूठा और महात्मा एक साथ समझते हैं ! जब मैं उनसे कहता हूँ 'मुझमें कोई सिद्धि नहीं, मेरी चरणधूलि लेने या पूजा करनेसे कोई लाभ नहीं, मैं भी तुम्हारी भाँति साधारण पुरुष हूँ' तो वे इन शब्दोंको हँसीमें उड़ा जाते हैं। इनपर वे विश्वास नहीं करते। इसके विरुद्ध मुझसे ऐसी आशा रखते हैं जिसे मैंने स्पष्ट अस्वीकार कर दिया है।

श्रद्धालु कहे जानेवालोंकी भीड़ चाहती है कि मैं दिन-रात उनके सामने बोला करूँ, उनके ऊटपटांग पदार्थ खाता रहूँ, इतनेपर भी स्वस्थ रहूँ ! वे साधन करनेका अवकाश नहीं देना चाहते; परन्तु साधननिष्ठसे होनेवाले लाभको चाहते हैं। अच्छे भोजन, अच्छे वस्त्रमें रखकर वे मुझे त्यागी कहते हैं। मैं सोचता हूँ कि वे मेरा उपहास कर रहे हैं।

स्त्रियोंने तो और भी ऊधम मचा रक्खा है। वे चाहती हैं कि एकान्तमें मैं उनकी पूजा ग्रहण करूँ, उन्हें उपदेश दूँ। उनके अभिभावक भी यही चाहते हैं। साथ ही सब चाहते हैं कि मैं निर्विकार रहूँ। एक कलियुगके प्राणीसे वह आशा की जाती है जो पराशर, विश्वामित्र, शृङ्गीऋषि प्रभृतिके लिये भी विफल रही है।

जबतक ऐसी परिस्थिति है, धूर्तोंसे समाजको नहीं बचाया जा सकता। घृणित काण्डोंका होना बंद नहीं होगा। साधक एवं महात्माओंको भगवान् ही बचावें तो बचें। प्रभु समाजको सुबुद्धि दें। वह अपने एवं साधकोंके पतनके इस मार्गसे बचे।

चेतावनी

किससे करिये प्यार ? जगत है आवन-जावनहार।
इक मन तन है, सौ मन गाहक; एक फूल, सौ खार ॥ जगत है० ॥
जब लग फल है पेड़ पै, तब लग है संसार।
जब वह छूटा डालसे, होय गया आहार ॥ जगत है० ॥
बनी बनीके हैं सब मीता—भर्ता, बेटा, नार।
बनीमें जब बिगड़ी कुछ दीखे, दूर हुआ सब प्यार ॥ जगत है० ॥
सुखका सब संसार है, दुखमें है इक राम।
जो सुखमें दुख देख ले, ताहि मिलै विश्राम ॥ जगत है० ॥
तेरे बने बन जायँगे, बिगड़े सगरे कार।
जो बिगड़ा तू, यह समझ, बिगड़ गया ब्यौहार ॥ जगत है० ॥
मोह-ममताके मेलसे बिसर जाय करतार।
'शाहनशाह' जो यह तजै, होवे बेड़ा पार ॥ जगत है० ॥

—'शाहनशाह'

जीवन्मुक्तकी विचित्र स्थिति

(लेखक—स्वामीजी श्रीविज्ञानहंसजी महाराज)

जीव जीवित रहनेपर भी मुक्त किस प्रकारसे हो सकता है, शरीरत्रयोपाधिसे सम्बन्ध रहनेपर भी निःसम्बन्धकी तरह आचरण कैसे कर सकता है, सपाणि-पाद, सचक्षु, सकर्ण, समना होनेपर भी अपाणि-पाद, अचक्षु, अकर्ण, अमनाकी तरह आचरण किस प्रकारसे सम्भव हो सकता है, जगत्‌के भीतर रहनेपर भी वास्तवमें बाहर रहना कैसे सम्भव हो सकता है, सब कुछ करते हुए भी कुछ न करना कैसे बन सकता है, ससीम सत्ताके साथ अनादि, अनन्त असीमताका आत्यन्तिक आलिङ्गन कैसे हो सकता है, पितामहकी मोहिनी महामायाके दुश्छेद्य जालसे अकिञ्चन पौत्रकी मुक्ति कैसे सम्भव हो सकती है, इस अति गूढ़ विषयमें अनादि कालसे अनन्त शास्त्र वाद-विवादके भँवरमें गोते खा रहे हैं। कैंट, स्पेन्सर आदि पाश्चात्य पण्डितोंकी गवेषणा उसे असम्भव तथा अनधिगम्य कहकर छोड़ ही बैठी है। इसलिये 'जीवन्मुक्ति' शब्द अवश्य ही विवेचनीय है, इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं।

कठवल्ली श्रुतिमें 'विमुक्तश्च विमुच्यते' अर्थात् मुक्तात्माकी मुक्ति होती है, ऐसा कहकर जीवन्मुक्ति तथा विदेहमुक्तिकी ओर इशारा किया गया है।

बृहदारण्यक श्रुतिने—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥

—अर्थात् हृदय-गुहानिहित निखिल वासनाओंके विलीन होनेपर इसी संसारमें ब्रह्मसाक्षात्कार करके जीव जीवन्मुक्त हो जाता है, मर्त्यलोकमें ही उसे अमृतत्व लाभ हो जाता है—ऐसा कहकर जीवन्मुक्त पदकी सम्भावनाको निःशङ्क सिद्ध कर दिया है। श्रुत्यन्तरमें भी—

सचक्षुरचक्षुरिव सकर्णोऽकर्ण इव समना अमना इव।

—अर्थात् जीवन्मुक्त महात्मा चक्षु रहनेपर भी अचक्षु-की तरह, कर्ण रहनेपर भी अकर्णकी तरह और मन रहनेपर भी अमनाकी तरह आचरण करते हैं—ऐसा कहकर जीवन्मुक्ति दशाके अलौकिक आचरणके विषयमें सिद्धान्त निर्णय किया गया है।

इसलिये साधनाके परिपाकमें स्वरूपोपलब्धि होनेके अनन्तर देहपातके पहलेतक जीवन्मुक्ति अवस्था सम्भवपर है, यह विज्ञान श्रुतिप्रमाणसे सिद्ध हुआ।

इन सब श्रौत प्रमाणोंकी ही प्रतिध्वनिको लेकर महर्षि श्रीवशिष्ठजीने श्रीभगवान् रामचन्द्रजीके प्रति जीवन्मुक्तिविषयक प्रश्नके उत्तरमें नीचे लिखे वचन कहे हैं—

यथास्थितमिदं यस्य संव्यवहरतोऽपि च।
अस्तं गतं स्थितं व्योम स जीवन्मुक्त उच्यते॥
नोदेति नास्तमायाति सुखदुःखैर्मुखप्रभा।
यथाप्राप्ते स्थितिर्यस्य स जीवन्मुक्त उच्यते॥
यो जागर्ति सुषुप्तिस्थो यस्य जाग्रन्न विद्यते।
यस्य निर्वासनो बोधः स जीवन्मुक्त उच्यते॥
रागद्वेषभयादीनामनुरूपं चरन्नपि।
योऽन्तर्व्योमवदत्यच्छः स जीवन्मुक्त उच्यते॥
यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
कुर्वतोऽकुर्वतो वापि स जीवन्मुक्त उच्यते॥
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयान्मुक्तः स जीवन्मुक्त उच्यते॥
शान्तसंसारकलनः कलावानपि निष्कलः।
यः सचित्तोऽपि निश्चित्तः स जीवन्मुक्त उच्यते॥
यः समस्तार्थजातेषु व्यवहार्यपि शीतलः।
परार्थेष्विव पूर्णात्मा स जीवन्मुक्त उच्यते॥

'इन्द्रियादिसे व्यवहार करते रहनेपर भी निखिल प्रपञ्च जिसको शून्यवत् प्रतीत होता है, केवल आकाशवत् सर्वतोव्यापी चिन्मात्र ही शेष रह जाता है, उसको ही जीवन्मुक्त जानना चाहिये। जिसकी मुखकान्ति सुखमें उछलती नहीं, दुःखमें मुरझाती नहीं; तथा प्राक्तन कर्मवशात् अनायासलब्ध वस्तुमें ही जो तृप्त रहता है, उसको ही जीवन्मुक्त जानना चाहिये। विषयोंमें रागशून्यताके कारण जो जागनेपर भी सुषुप्तिकी तरह रहता है, जिसकी जाग्रद्दशा नहीं है तथा जिसका बोध वासनाशून्य है, उसको ही जीवन्मुक्त जानना चाहिये। बाहर राग-द्वेष-भयादिसे युक्त व्यवहार करता हुआ प्रतीत होनेपर भी भीतर जिसका स्वरूप आकाशकी तरह अत्यन्त स्वच्छ हो, उसे ही जीवन्मुक्त जानना चाहिये। कर्म करते या न करते समय भी जिसमें अहंभावका आवेश नहीं होता तथा जिसकी बुद्धि कर्ममें लिप्त नहीं होती, उसे ही जीवन्मुक्त जानना चाहिये। जिससे लोगोंको उद्वेग नहीं पहुँचता अथवा जो स्वयं लोगोंसे उद्विग्न नहीं होता तथा जो हर्ष, अमर्ष एवं भयसे मुक्त है, वही पुरुष जीवन्मुक्त है। जिसकी संसार-कलना शान्त हो चुकी है, जो कलावान् होनेपर भी निष्कल तथा सचित्त होनेपर भी जो निश्चित्तकी तरह रहता है, वही पुरुष जीवन्मुक्त है। जो समस्त लौकिक व्यवहार करता हुआ भी शान्त, शीतल रहता है तथा जिसका आत्मा सदा परिपूर्णस्वरूप है, वही पुरुष जीवन्मुक्त है।

इसी तरह वेदादि समस्त शास्त्रोंमें जीवन्मुक्त पदवीका विवेचन किया गया है।

निरन्तर साधना तथा ज्ञानके परिपाकमें वासनाक्षयद्वारा मनोनाश होनेपर ही तत्त्वज्ञानका उदय होता है, जिससे मिथ्याज्ञानका आत्यन्तिक नाश हो जाता है तथा स्वरूपस्थिति साधकको प्राप्त हो जाती है। कठोपनिषद्में जीवन्मुक्ति स्थितिके विषयमें लिखा है—

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावदनुशासनम्॥

श्रीभगवान्ने भी गीतामें कहा है—

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥

जिस समय पृथक्-पृथक् भूतसत्ताको साधक अद्वितीय ब्रह्मपर प्रतिष्ठित देखता है और उसी अद्वितीय सत्तासे प्रपञ्चका विस्तार अनुभव करता है, तभी उसको ब्रह्मोपलब्धि हो जाती है। उस समय मुक्तात्माकी स्थिति कैसी हो जाती है, उसका वृत्तान्त मुक्तात्मा कचके आख्यानरूपसे महर्षि वशिष्ठजीने बताया है। जैसे—

किं करोमि क गच्छामि किं गृह्णामि त्यजामि किम्।
आत्मना पूरितं विश्वं महाकल्पाम्बुना यथा॥
स बाह्याभ्यन्तरे देहे ह्यध ऊर्ध्वे च दिक्षु च।
इत आत्मा तथेहात्मा नास्त्यनात्ममयं जगत्॥
न तदस्ति न यत्राहं न तदस्ति न यन्मयि।
किमन्यदभिवाञ्छामि सर्वं संविन्मयं ततम्॥
अन्तःशून्यो बहिःशून्यः शून्यः कुम्भ इवाम्बरे।
अन्तःपूर्णो बहिःपूर्णः पूर्णकुम्भ इवार्णवे॥

'क्या करें, कहाँ जायँ, क्या लें या क्या छोड़ें? प्रलयकालीन सर्वतोव्याप्त सलिलराशिकी तरह समस्त विश्व आत्मसत्तासे परिपूर्ण हो रहा है। शरीरके भीतर-बाहर, ऊपर-नीचे तथा दिशाओंमें, जहाँ देखें वहाँ आत्मा-ही-आत्मा है। विश्वका कोई भी स्थान आत्मासे खाली नहीं है। ऐसी कोई वस्तु नहीं है जहाँ मैं नहीं हूँ तथा ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो मुझमें न हो। जब सभी ब्रह्ममय हो रहा है, तो और किस वस्तुकी इच्छा करूँ? शून्यमें स्थित शून्य कुम्भकी तरह भीतर-बाहर सर्वत्र शून्य है। समुद्रमें स्थित पूर्ण कुम्भकी तरह भीतर-बाहर सभी पूर्ण है।'

यही अनुभवकालीन जीवन्मुक्तकी स्थिति है। इसी भावको लक्ष्य करके श्रीभगवान्ने गीताजीमें कहा है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

'सर्वत्र अद्वितीयदर्शन, योगयुक्तात्मा जीवन्मुक्त पुरुष आत्माको समस्त भूतोंमें तथा समस्त भूतोंको आत्मामें देखते हैं।' उनकी अलौकिक ब्रह्मभावभावित दृष्टिमें क्या अपूर्वता हो जाती है, इसके विषयमें श्रीभगवान् शङ्कराचार्यजीने भी कहा है—

सम्पूर्णं जगदेव नन्दनवनं सर्वेऽपि कल्पद्रुमा
गाङ्गं वारि समस्तवारिनिवहाः पुण्याः समस्ताः क्रियाः।
वाचः प्राकृतसंस्कृताः श्रुतिगिरो वाराणसी मेदिनी
सर्वावस्थितिरस्य वस्तुविषया दृष्टे परे ब्रह्मणि॥

इस तरह वेदादि समस्त शास्त्रोंमें जीवन्मुक्त पदवीकी अपूर्वता तथा अलौकिकताका विचित्र वर्णन किया गया है। श्रीमद्भगवद्गीताके द्वितीय अध्यायमें जो स्थितप्रज्ञका स्वरूप तथा चतुर्दश अध्यायमें गुणातीत योगीका स्वरूप वर्णन किया गया है, उसको भी जीवन्मुक्त पदवीपर प्रतिष्ठित महात्माका ही स्वरूप जानना चाहिये।

यह होते हुए भी प्रारब्धसंस्कारके वैचित्र्यसे जीवन्मुक्त महात्मा दो प्रकारके होते हैं, जैसा कि शम्भुगीतामें लिखा है—

ब्रह्मेशकोटिभेदेन जीवन्मुक्तो द्विधा मतः।
प्रारब्धकर्मणां तत्र जीवन्मुक्तमहात्मनाम्॥
वैचित्र्यमेव हेतुः स्यात् प्रभेदे द्विविधे ध्रुवम्।
ब्रह्मकोटिं समापन्ना जीवन्मुक्ता भवन्त्यहो॥
आत्मारामाः सदा मूका जगत्सम्बन्धवर्जिताः।
ईशकोटिं श्रिता ये च जीवन्मुक्ताः स्ववेदिनः॥
त ईशप्रतिमाः सन्तो भगवत्कार्यरूपतः।
संरक्ता विश्वकल्याणे सन्तिष्ठन्ते महीतले॥
विश्वमेवंविधैरेव ह्येकमात्रं स्वधाभुजः।
भवन्त्युपकृतं धन्यं जीवन्मुक्तैर्महात्मभिः॥

'जीवन्मुक्त महापुरुष दो श्रेणीके होते हैं—एक ब्रह्मकोटिके और दूसरे ईश्वर-कोटिके। मुक्तात्माके प्रारब्धका वैचित्र्य ही इस भेदका कारण है। ब्रह्मकोटिके जीवन्मुक्त मूक और आत्माराम होते हैं, जगत्के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। ईश-कोटिके जीवन्मुक्त ईश्वर-प्रतिनिधिरूप होकर भगवत्कार्यरूपसे जगत्के कल्याणमें रत रहते हैं। केवलमात्र ऐसे ही जीवन्मुक्त महापुरुषोंके उपकारसे उपकृत होकर जगत् धन्य होता है।'

ब्रह्मकोटिके जीवन्मुक्त महात्माकी साधनदशामें कर्माधिकारकी गौणता तथा ज्ञानाधिकारका प्राधान्य रहता है, इस कारण सिद्ध दशामें भी उनके प्रारब्ध-संस्कारमें कर्मका वेग नाममात्र तथा ज्ञानका एक रस-प्रवाह बने रहनेके कारण वे सदा आत्माराम और मत्त-स्तब्धकी तरह रहते हैं। जडभरत आदि मुक्तात्मागण इसी कोटिके थे। उनके विषयमें श्रीमद्भागवतमें भी लिखा है—

देहं विनश्वरमवस्थितमुत्थितं वा
सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत्स्वरूपम्।
दैवादुपेतमुत दैववशादपेतं
वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः॥

'सदा निर्विकल्पस्वरूपमें लवलीन रहनेके कारण ब्रह्मकोटिके मुक्तात्माको नश्वर स्थूल शरीरका कुछ भी भान नहीं रहता। जिस तरह मदिरापानसे उन्मत्त पुरुषका अपने वस्त्रके प्रति कुछ भी ध्यान नहीं रहता, ठीक उसी तरह शरीर रहा या गया इत्यादि विषयोंमें ब्रह्मकोटिके मुक्तात्माका कुछ भी ध्यान नहीं रहता।' इस प्रकारके मुक्तात्माओंके विषयमें छान्दोग्यमें भी कहा है—

नोपजनं स्मरन्निदं शरीरं स यथा प्रयोग्य आचरणे युक्त एवमेवायमस्मिञ्छरीरे प्राणो युक्तः।

जनसंघोंके बीचमें उनका शरीर रहनेपर भी उनको

अपने शरीरकी कुछ भी स्मृति नहीं रहती, केवल दूसरे मनुष्य उनके शरीरको देखते रहते हैं। जिस तरह भारवहनमें लगाये हुए अश्व, वृष आदि प्रभुकी आज्ञासे भार वहन करते रहते हैं, उसी तरह परमात्माके द्वारा नियोजित प्राण मुक्तात्माके शरीरको चलाता रहता है, उसे शरीरकी कुछ भी सुध नहीं रहती। शरीरकी स्मृति उसे होती कैसे है, इस विषयमें योगवाशिष्ठमें लिखा है—

पार्श्वस्थबोधिताः सन्तः पूर्वाचारक्रमागतम्।
आचारमाचरन्त्येव सुप्तबुद्धवदक्षताः॥

'पासके भक्तोंसे जगाये जानेपर निद्रोत्थित मनुष्यकी तरह पूर्वाभ्यस्त व्यवहारक्रमसे पान, भोजन, शौचादि थोड़ा-बहुत कर लेते हैं।' यही सब आत्माराम ब्रह्मकोटिके जीवन्मुक्त महात्माका मत्त-स्तब्धवत् आचरण है। किन्तु ईशकोटिके जीवन्मुक्तोंमें इस तरहकी मत्त-स्तब्धता नहीं पायी जाती; क्योंकि उनकी साधनदशामें ज्ञानाधिकारके साथ कर्माधिकारका प्रचुर समन्वय रहनेके कारण वे सिद्धदशामें भी स्व-स्वरूपमें अटल रहनेपर भी कर्मप्रधान प्रारब्ध-संस्कारके भोगद्वारा क्षयरूपसे जगत्-कल्याणकर अनेक कार्य करते हैं। इसलिये उनके विषयमें श्रुति कहती है—

आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः।

'ब्रह्ममें रमणशील, ब्रह्मानन्द-विलासपूर्ण श्रेष्ठ ब्रह्मवित् पुरुष क्रियावान् अर्थात् जागतिक क्रियामें भी निपुण होते हैं।'

ईशकोटिके जीवन्मुक्तकी क्रियाकारिता तीन प्रकारसे हो सकती है—एक अपने कर्मप्रधान प्रारब्ध-संस्कारके भोगद्वारा क्षयरूपसे, द्वितीयतः प्राक्कालमें उत्पन्न अन्य जीवन्मुक्तके कर्मको आश्रय करके भी ईशकोटिके मुक्तात्माके जीवनमें कर्म हो सकते हैं। तीसरा कारण अलौकिक है; क्योंकि मुक्तात्माका व्यष्टि-केन्द्र नष्ट हो जानेके कारण वे समष्टि-केन्द्र अर्थात् विराट्-केन्द्रद्वारा चालित होकर कार्य करते हैं। ऐसे मुक्तात्माद्वारा जगत्-कल्याणकर अनेक मङ्गलमय कार्य होते हैं, जैसा कि संन्यास-गीतामें लिखा है—

जीवन्मुक्त ईशकोटिः पूर्वस्मादेव वस्तुतः।
परमोपकारतत्त्वाधिकारित्वं वै समाश्रयन्॥
जगद्गुरुत्वमापन्नोऽध्यात्मज्ञानं प्रचारयन्।
विश्वप्रभूतकल्याणं जनयत्यविलम्बितम्॥
सतः समुचितात् केन्द्रान्नूनं भगवदिङ्गितैः।
स कर्तुं भगवत्कार्यं प्रभवत्यनुपद्रवम्॥
एतादृगेव परमहंसादर्शो जगद्गुरुः।
जीवन्मुक्तो हि सर्वेषां कल्याणं कर्तुमर्हति॥
जगतां जीवनायैव जीवन्मुक्तस्य जीवनम्।
जगत्पवित्रतासिद्ध्यै जीवन्मुक्तस्य कर्म वै॥

'ईशकोटिके जीवन्मुक्त महात्मा पहलेहीसे परमोपकार-तत्त्वके अधिकारको लाभ करके जगद्गुरुरूपसे अध्यात्म-ज्ञानका प्रचार करते हुए सदा संसारका कल्याणविधान करते हैं। विराट्-केन्द्रद्वारा चालित होकर ऐसे महात्मा श्रीभगवान् विराट् पुरुषके इङ्गितसे अनायास ही भगवत्-कार्य-साधनमें समर्थ होते हैं। एतादृश जगद्गुरु आदर्श परमहंसोंके द्वारा जगत् सदा ही कल्याणधनसे धनी होता है। उनका जीवन जगत्के जीवनार्थ ही होता है और उनका कर्म निखिल विश्वको पवित्र करनेके लिये होता है।'

यही सब ईशकोटिके मुक्तात्माकी कर्म-जीवन-महिमा है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि ब्रह्मकोटि तथा ईशकोटिके मुक्तात्माओंमेंसे श्रेष्ठतर कौन है। इस विषयमें श्रीभगवान् रामचन्द्रजीकी शङ्का तथा महर्षि श्रीवशिष्ठ-जीका समाधान योगवाशिष्ठमें इस रूपसे है—

श्रीराम उवाच—

भगवन् भूतभव्येश कश्चिज्ज्ञातसमाधिकः ।
प्रबुद्ध इव विश्रान्तो व्यवहारपरोऽपि सन् ॥
कश्चिदेकान्तमाश्रित्य समाधिनियमे स्थितः ।
तयोस्तु कतरः श्रेयानिति मे भगवन् वद ॥

श्रीवशिष्ठ उवाच—

इमं गुणसमाहारमनात्मत्वेन पश्यतः ।
अन्तःशीतलता यासौ समाधिरिति कथ्यते ॥
दृश्यैर्न मम सम्बन्ध इति निश्चित्य शीतलः ।
कश्चित्संव्यवहारस्थः कश्चिद् ध्यानपरायणः ॥
द्वावेतौ राम सुसमावन्तश्चेतसि शीतलौ ।
अन्तःशीतलता या स्यात्तदनन्ततपःफलम् ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—'हे भगवन्! हे भूतभव्येश! निर्विकल्प समाधिलाभके अनन्तर व्युत्थान दशाकी भाँति जो महात्मा लौकिक व्यवहारमें रत रहते हैं और जो महात्मा लौकिक व्यवहार त्यागकर एकान्तसेवन करते हैं, उन दोनोंमें श्रेष्ठतर कौन हैं ?

महर्षि श्रीवशिष्ठने उत्तर दिया—'त्रिगुणमय संसारको अनात्मरूप जानकर अन्त:शीतलता अर्थात् त्रिगुण-विकार-रहित अन्त:साम्यभावमें प्रतिष्ठित होना ही समाधि है। दृश्य प्रपञ्चसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, ऐसा निश्चय करके अन्त:शीतलभावके साथ कोई मुक्तात्मा लौकिक व्यवहार भी करते हैं और कोई उनसे अलग भी रहते हैं। ये दोनों एक ही हैं, क्योंकि अन्त:शीतलता तथा आत्मारामतामें दोनोंमें कोई भी भेद तथा न्यूनाधिक्य नहीं है। अन्त:शीतलता ही अनन्त जन्मोंकी महान् तपस्याका फल है।'

चलता हुआ वायु भी वायु है और स्थिर वायु भी वायु है। प्राणप्रद वायुरूपके विचारसे निश्चल, सचल दोनों वायु समान ही हैं। भेद केवल इतना ही है कि सचल वायुके द्वारा निदाघ-रजनीमें सुषुप्तिकी शान्ति मिलती है और निश्चल वायुके द्वारा प्राणरक्षामात्र ही होती है। इसी तरह आत्माराम तथा निर्विकल्प पदवी-पर प्रतिष्ठित होनेके कारण ईशकोटि और ब्रह्मकोटि दोनों प्रकारके जीवन्मुक्त समान ही हैं। भेद केवल इतना ही है कि ईशकोटिके जीवन्मुक्त महात्माद्वारा दीन जगत्का अशेष कल्याण-साधन होता है और ब्रह्मकोटि-के मुक्तात्मा अपना ही उद्धार कर विदेहमुक्ति लाभ करते हैं। वस्तु-सत्तामें कोई भेद नहीं है; जगत्-कल्याण होने, न होनेके विषयमें ही भेद है। सामान्य लाभ तो जगत्को ब्रह्मकोटिके महात्माओंसे भी होता ही है। क्योंकि उनका जगत्में रहना ही जगत्के लिये कल्याण-कर होता है। यही दोनों कोटिके मुक्तात्माओंके विषयमें शास्त्रका सिद्धान्त है।

जीवन्मुक्तका जीवन बड़ा ही अपूर्व, अलौकिक तथा विचित्रतामय होता है। जिन मधुर गुणोंके एका-धारमें समावेशके द्वारा मनुष्य पूर्ण मनुष्य बनता है, वे सभी जीवन्मुक्तके जीवनमें भ्रातृभावके साथ समाविष्ट होते हैं। महर्षि वशिष्ठजीने कहा है—

आर्यता हृद्यता मैत्री सौम्यता मुक्तता ज्ञता ।
समाश्रयन्ति तं नित्यमन्तःपुरमिवाङ्गनाः ॥

'जिस तरह कुलवधूगण अन्त:पुरको आश्रय करती हैं, उसी तरह आर्यभाव, हृद्यभाव, मैत्रीभाव, सौम्यभाव, मुक्तभाव, सर्वज्ञभाव—ये सभी भाव जीवन्मुक्त महात्माको आश्रय करते हैं।'

मुक्तात्माओंका चरित्र जिस तरह अलौकिक होता है, उसी तरह उनको पहचानना भी बड़ा कठिन है। वे स्वच्छ स्फटिकमणिकी तरह जो भाव सामने होता है, उसीमें निर्लिप्तरूपसे रम जाते हैं। इस कारण लौकिक जीवोंके लिये उनको पहचानना बड़ा ही कठिन है। वे भक्तके सामने भक्त प्रतीत होते हैं, शठके सामने शठ, बालकके सामने बालक, वृद्धके सामने वृद्ध,

धीरके सामने धैर्यशील, युवकके सामने युवक एवं दु:खितके सामने दु:खित-से ही दीखते हैं। किन्तु भावातीत ब्रह्मपदमें चिरप्रतिष्ठित जीवन्मुक्त योगीके शुद्ध स्फटिकतुल्य अन्त:करणमें किसी भी भावका अभिनिवेश नहीं होता। जहाँ आत्यन्तिक साम्य है,वहाँ आपेक्षिक साम्य तथा वैषम्य दोनों ही लवलीन हो जाते हैं। यही कारण है कि भावातीत ब्रह्मपदमें आपेक्षिक भाव, अभाव दोनोंका ही लय हो जाता है। यही कारण है कि परमात्मामें समस्त परस्परविरुद्ध धर्म, परस्परविरुद्ध भाव तथा परस्परविरुद्ध क्रियाओंका समन्वय देखा जाता है। परमात्मा मूर्त भी हैं, अमूर्त भी हैं; साकार भी हैं, निराकार भी हैं; प्रकृतिके भीतर भी हैं, बाहर भी हैं; दूर भी हैं, पास भी हैं; हाथ न होनेपर भी ग्रहण करते हैं, पाँव न होनेपर भी चलते हैं, अचक्षु होनेपर भी देखते हैं, अकर्ण होनेपर भी सुनते हैं; उनमें न धर्म है न अधर्म है, न पाप है न पुण्य है, न कर्तव्य है न अकर्तव्य है, न भाव है न अभाव है; वे सब कुछ करनेपर भी कुछ नहीं करते; निष्क्रिय होनेपर भी सृष्टि, स्थिति, प्रलय—सब कुछ करते हैं। इसी तरह भावातीत ब्रह्मपदपर प्रतिष्ठित अथच भावमय व्यावहारिक जगत्-के साथ निर्लिप्त सम्बन्ध रखनेवाले जीवन्मुक्त महात्मामें भी विरुद्ध भावोंका समन्वय देखनेमें आता है। वे सारे लौकिक व्यवहार करते हुए भी निष्क्रिय ही बने रहते हैं, धर्माधर्मके क्षेत्रमें रहते हुए भी धर्माधर्मसे अतीत रहते हैं, निखिल भोगके भीतर भी त्यागी ही बने रहते हैं। यही उनका विरुद्धभाव समन्वयशील अपूर्व, अलौकिक जीवन है, जिसके विषयमें भूरि-भूरि प्रमाण मिलते हैं।

आध्यात्मिक प्रश्नोत्तर

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

एक सज्जनने कुछ उपयोगी प्रश्न लिख भेजे हैं। उनका उत्तर अपनी स्वल्पबुद्धिके अनुसार नीचे देनेकी चेष्टा की जाती है। प्रश्नोंकी भाषा आवश्यकतानुसार सुधार दी गयी है। प्रश्न इस प्रकार हैं—

(१) जीव, आत्मा और परमात्मामें क्या भेद है?

(२) सुख-दु:ख किसको होते हैं—शरीरको या आत्माको? यदि कहा जाय कि शरीरको होते हैं तो शरीर तो जड पदार्थोंका बना हुआ है, जड पदार्थोंको सुख-दु:खकी अनुभूति कैसे होगी? और शरीर तो मरनेके बाद भी कायम रहता है, उस समय उसे कुछ भी अनुभूति नहीं होती। यदि यह कहा जाय कि सुख-दु:खकी अनुभूति आत्माको होती है तो यह कहना भी युक्तिसङ्गत नहीं मालूम होता; क्योंकि गीता आदि शास्त्रोंमें आत्माको निर्लेप, साक्षी एवं जन्म-मरण तथा सुख-दु:खादिसे रहित बतलाया गया है। इसके अतिरिक्त चीर-फाड़ करते समय डाक्टरलोग रोगीको क्लोरोफार्म सुँघाकर बेहोश कर देते हैं। आत्मा तो उस समय भी मौजूद रहता है, फिर रोगीको कष्टका अनुभव क्यों नहीं होता?

(३) शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार नाना योनियोंमें जन्म आत्माका होता है या पञ्चभूतोंका? यदि कहा जाय कि आत्माका, तो आत्मा तो साक्षी एवं निर्लेप होनेके कारण कर्ता नहीं है और जन्म होता है कर्मोंके अनुसार कर्मोंके फलरूपमें। ऐसी दशामें आत्माका जन्म क्यों होगा और वह सुख-दु:खका भोक्ता भी क्यों होगा? यदि कहा जाय कि पञ्चभूतोंका ही जन्म होता है, आत्माका नहीं, तो यह कहना भी युक्तिसङ्गत नहीं मालूम होता; क्योंकि मृत्युके बाद शरीरका पाञ्चभौतिक

अंश अपने-अपने तत्त्वमें मिल जाता है, फिर जन्म किसका होगा?

उपर्युक्त प्रश्नोंका उत्तर क्रमशः नीचे दिया जाता है—

(१) प्राणिमात्रकी 'जीव' संज्ञा है। स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण—इन तीन प्रकारके व्यष्टिशरीरोंमेंसे एक, दो या तीनोंसे सम्बन्धित चेतनका नाम 'जीव' है। इन तीनों शरीरोंके सम्बन्धसे रहित व्यष्टि-चेतनका नाम 'आत्मा' है। इसीको 'कूटस्थ' भी कहते हैं। वैसे तो गीतादि शास्त्रोंमें मन, बुद्धि, शरीर तथा इन्द्रिय आदिके लिये भी 'आत्मा' शब्दका व्यवहार हुआ है; परन्तु प्रश्नकर्ताने मन, बुद्धि, शरीर, इन्द्रिय आदिसे भिन्न शुद्ध चेतनके अर्थमें 'आत्मा' शब्दका प्रयोग किया है। अतः उसीके अनुसार 'आत्मा' का लक्षण किया गया है। तथा शुद्ध सच्चिदानन्दघन गुणातीत अक्षर ब्रह्मको परमात्मा कहते हैं। आकाशके दृष्टान्तसे उक्त तीनों पदार्थोंका भेद कुछ-कुछ समझमें आ सकता है। जो आकाश अनन्त घटोंमें समानरूपसे व्याप्त है, उसे वेदान्तकी परिभाषामें महाकाश कहते हैं और जो किसी एक घटके अंदर सीमित है, उसे घटाकाश कहते हैं। महाकाशस्थानीय परमात्मा हैं, घटाकाशस्थानीय आत्मा अथवा शुद्ध चेतन है और जलसे भरे हुए घड़ेके अंदर रहनेवाले जलसहित आकाशके स्थानमें जीवको समझना चाहिये। इसीको जीवात्मा भी कहते हैं। स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण—इन तीनों प्रकारके शरीरोंमेंसे एक, दो या तीनों शरीरोंसे सम्बन्ध होनेपर ही इसकी 'जीव' संज्ञा होती है। इनमेंसे कारणशरीरके साथ तो जीवका अनादि सम्बन्ध है, महासर्गके आदिमें उसका सूक्ष्मशरीरके साथ सम्बन्ध हो जाता है, जो महाप्रलयपर्यन्त रहता है और देव-तिर्यक्-मनुष्यादि योनियोंसे संयुक्त होनेपर उसका स्थूलशरीरके साथ सम्बन्ध हो जाता है। एक शरीरको छोड़कर जब यह जीव दूसरे शरीरमें प्रवेश करता है, उस समय पहला शरीर छोड़ने और दूसरे शरीरमें प्रवेश करनेके बीचके समयमें उसका सम्बन्ध सूक्ष्म और कारण दोनों शरीरोंसे रहता है और जब यह किसी योनिके साथ सम्बद्ध रहता है, उस समय इसका स्थूल, सूक्ष्म, कारण—तीनों शरीरोंसे सम्बन्ध रहता है।

(२) दूसरा प्रश्न यह है कि सुख-दुःखका भोक्ता शरीर है या आत्मा। इस सम्बन्धमें प्रश्नकर्ताका यह कहना ठीक ही है कि सुख-दुःखका भोक्ता न केवल शरीर है और न शुद्ध आत्मा ही। तो फिर इनका भोक्ता कौन है? इसका उत्तर यह है कि शरीरके साथ सम्बद्ध हुआ यह जीव ही सुख-दुःखका भोक्ता है। गीतामें भी कहा है—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥
(१३ । २१)

'प्रकृतिमें स्थित हुआ ही पुरुष प्रकृतिसे उत्पन्न त्रिगुणात्मक पदार्थोंको भोगता है और इन गुणोंका सङ्ग ही इस जीवात्माके अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेनेका कारण है।'

योगसूत्रोंमें भी प्रायः ऐसी ही बात कही गयी है। महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

'द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः।'
(यो० द० २ । १७)

'द्रष्टा और दृश्य अर्थात् पुरुष और प्रकृतिका संयोग ही हेय अर्थात् दुःखका हेतु है।'

इस संयोगका कारण अविद्या अर्थात् अज्ञान है—

'तस्य हेतुरविद्या' (यो० द० २ । २४)

अज्ञानके कारण ही चेतन आत्मा 'मैं देह हूँ' ऐसा मानने लगता है और इसीलिये सुखी-दुखी होता है। इस अविद्यारूप कारणके नाश हो जानेपर उक्त संयोगरूप

कार्यका भी नाश हो जाता है; इसीको आत्माका कैवल्य अर्थात् मोक्ष कहते हैं—

'तदभावात् संयोगाभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम् ।' (यो० द० २ । २५)

समाधि, गाढ़ निद्रा (सुषुप्ति) तथा मूर्च्छाके समय सुख-दुःखका अनुभव नहीं होता—इसका कारण यही है कि उस समय मन-बुद्धि, जो सुख-दुःखकी अनुभूतिके द्वार हैं, अपने कारण प्रकृतिमें लीन हो जाते हैं। इसीलिये डाक्टरलोग चीर-फाड़के समय क्लोरोफार्म आदिका प्रयोग करके कृत्रिम मूर्च्छाकी स्थिति ले आते हैं। महाप्रलयके समय, जब जीवका केवल कारणशरीरके साथ सम्बन्ध रहता है, उस समय भी सुख-दुःखका अनुभव नहीं होता। सुख-दुःखका अनुभव सूक्ष्मशरीरके साथ सम्बन्ध होनेपर ही होता है। अतएव जाग्रत्-अवस्था अथवा स्वप्नावस्थामें ही सुख-दुःखका अनुभव होता है। स्वप्नावस्थामें स्थूलशरीरके साथ सम्बन्ध न रहनेपर भी मन-बुद्धिके साथ तो सम्बन्ध रहता ही है, अतएव उस समय जीवको प्रत्यक्षवत् ही सुख-दुःखकी अनुभूति होती है।

(३) तीसरा प्रश्न यह है कि शुभाशुभ कर्मके अनुसार नाना योनियोंमें जो जन्म होता है, वह आत्माका होता है या पञ्चभूतोंका। इस विषयमें भी प्रश्नकर्ताका यह कहना युक्तियुक्त ही है कि शुद्ध आत्मा तो जन्मता-मरता नहीं और पञ्चभूतोंका भी जन्मना-मरना नहीं कहा जा सकता, फिर जन्मने-मरनेवाली वस्तु कौन-सी है ? इसका उत्तर यह है कि जो जीव सुख-दुःख भोगता है, वही जन्मता-मरता भी है। यही बात गीता १३ । २१ में कही गयी है—

'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥'

जीवात्माका जन्म-मरण किस प्रकार होता है, इसका रहस्य समझनेके लिये पहले जन्म और मृत्युके तत्त्वको समझना आवश्यक है।

यह बात ऊपर कही जा चुकी है कि स्थूल, सूक्ष्म, कारण—इन तीन शरीरोंमेंसे कम-से-कम एक शरीरके साथ सम्बन्ध जीवका रहता ही है। महाप्रलयके समय तथा गाढ़ निद्रा एवं मूर्च्छा आदिकी अवस्थामें जीवका सम्बन्ध केवल कारणशरीरसे रहता है; ब्रह्माकी रात्रिमें, स्वप्नावस्थामें तथा एक स्थूलशरीरको छोड़कर दूसरे स्थूलशरीरमें प्रवेश करते समय कारण एवं सूक्ष्म दोनों शरीरोंके साथ सम्बन्ध रहता है और जाग्रत्-अवस्थामें, जबतक यह जीव किसी योनिविशेषसे संयुक्त रहता है, उसका स्थूल, सूक्ष्म, कारण—तीनों शरीरोंके साथ सम्बन्ध रहता है। यह भी बताया जा चुका है कि कारणशरीरके साथ सम्बन्ध तो जीवका अनादि कालसे है और जबतक यह मुक्त नहीं होगा तबतक रहेगा; सूक्ष्म शरीरके साथ सम्बन्ध महासर्गके आदिसे लेकर महाप्रलयपर्यन्त रहता है और स्थूल शरीरके साथ सम्बन्ध इसका पुनः-पुनः होता और टूटता है। कर्मानुसार जीवका किसी एक स्थूल शरीरके साथ सम्बन्ध होना ही उसका जन्म कहलाता है और आयु शेष हो जानेपर उस शरीरके साथ सम्बन्धविच्छेद हो जाना ही उसकी मृत्यु है।

अब प्रश्न यह होता है कि इस प्रकार एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जाना-आना किसका होता है। आत्मा तो आकाशकी भाँति सर्वव्यापी है, अतः उसका गमनागमन नहीं बन सकता। इसका उत्तर यह है कि गमनागमन वास्तवमें सूक्ष्मशरीरका होता है। सूक्ष्मशरीरमें प्राणोंकी प्रधानता है और प्राण वायुरूप हैं, अतः उनका जाना-आना युक्तियुक्त ही है। किन्तु जैसे घड़ेको एक स्थानसे दूसरे स्थानमें ले जाते समय उसके अंदर रहनेवाला आकाश भी चलता हुआ प्रतीत होता है, उसी प्रकार सूक्ष्म शरीरके एक स्थूल शरीरसे दूसरे स्थूल शरीरमें जाते समय उसके सम्बन्धसे आत्मा भी जाता हुआ प्रतीत होता है—इस दृष्टिसे व्यवहारमें

आत्माके भी आने-जानेकी बात कही जाती है। परन्तु समझानेके लिये औपचारिक दृष्टिसे ही ऐसा कहा जाता है; वास्तवमें आत्मा कहीं आता-जाता नहीं, वह सदा सर्वत्र है।

इस अज्ञानजनित जन्म-मरणके अनादि चक्रसे छूटनेके लिये मनुष्यको चाहिये कि वह ज्ञानी महात्माओंका सङ्ग करे और उनसे अज्ञानके विनाशका उपाय पूछकर उसका आचरण करे। भगवान्‌ने भी कहा है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥
(गीता ४। ३४)

'उस ज्ञानको तू समझ; श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्यके पास जाकर उनको भलीभाँति दण्डवत् प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे परमात्मतत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले वे ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे।'

श्रुति भगवती भी कहती है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
(कठ० उ० १। ३। १४)

'उठो, जागो और श्रेष्ठ पुरुषोंके पास जाकर उनसे ज्ञान सीखो।'

श्रीरामचरितमानसका तात्पर्य

(लेखक—स्वामीजी श्रीरामदेवजी महाराज)

(गताङ्कसे आगे)

अभ्यास

अब आगे अभ्यासकी दृष्टिसे विचार करते हैं। एक ही बातके पुनः-पुनः कथनका नाम अभ्यास है। अतः हमें यह देखना चाहिये कि श्रीरामचरितमानसमें कौन बात जगह-जगहपर कही गयी है। बालकाण्डके आरम्भमें जब दुष्टोंके भयसे पीडित हुई पृथिवी देवताओंके पास गयी तो उन सबने पृथिवीकी दुःखनिवृत्तिके लिये श्रीभगवान्‌के पास जानेका निश्चय किया। उस समय वे सब यह विचारने लगे कि भगवान् कहाँ रहते हैं, कहाँ जानेसे हमें उनके दर्शन हो सकेंगे। कोई बोले वैकुण्ठको जाना चाहिये, किसीने कहा वे क्षीरसागरमें रहते हैं और कोई कहने लगे—भाई, जिसके चित्तका जैसा भाव होता है उसी रूपसे भगवान् उसके लिये प्रकट हो जाते हैं। उस सभामें श्रीशङ्करजी भी थे, वे कहने लगे—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥
देस काल दिसि बिदिसिहु माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं॥
अग जगमय सब रहित बिरागी। प्रेम तें प्रभु प्रगटइ जिमि आगी॥

बस, सभी देवताओंको श्रीशङ्करजीकी बात जँच गयी। ब्रह्माजीने भी इसका अनुमोदन किया। सबने मिलकर भगवान्‌की स्तुति की। उस स्तुतिमें भगवान्‌को सच्चिदानन्दघन, एक, अद्वय एवं सगुण-निर्गुण उभयरूप कहकर वर्णन किया है। देवताओंकी स्तुतिसे प्रसन्न होकर भगवान्‌ने सबको आश्वासन दिया और रघुवंशमें महाराज दशरथके यहाँ जन्म लेनेका वचन दिया।

इसके पश्चात् जब माता कौसल्याजीके गर्भसे प्रभुका प्रादुर्भाव हुआ तो उस समय माताने जो स्तुति की है, उसमें भी उनका सगुण-निर्गुण उभयरूपसे ही वर्णन किया है; यथा—

माया गुनग्यानातीत अमाना बेद पुरान भनंता॥
करुनासुख सागर सब गुन आगर जेहि गावहिं श्रुति संता॥
सो मम हित लागी जन अनुरागी भयउ प्रगट श्रीकंता॥

वास्तवमें तो भगवान् निर्गुण ही हैं, किन्तु भक्तके प्रेमवश वे सगुण-साकार हो जाते हैं। इसके अनन्तर नामकरणके समय गुरुजीने आपके नामका जो अर्थ किया है, वह भी ऐसा ही है—

जो आनंद सिंधु सुख रासी। सीकर तें त्रैलोक सुपासी॥
सो सुखधाम राम अस नामा। अखिल लोक दायक बिश्रामा॥

फिर बाललीलाका सुख वर्णन करते हुए श्रीगोसाईंजी कहते हैं—

ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद।
सो अज प्रेम भगति बस कौसिल्या कें गोद॥

× × ×

सुख संदोह मोहपर ग्यान गिरा गोतीत।
दंपति परम प्रेम बस कर सिसु चरित पुनीत॥

× × ×

निगम नेति सिव अंत न पावा। ताहि धरै जननी हठि धावा॥

× × ×

ब्यापक अकल अनीह अज निर्गुन नाम न रूप।
भगत हेतु नाना बिधि करत चरित्र अनूप॥

इन सभी उद्धरणोंमें परमार्थतया भगवान्‌का निर्गुण, निर्विशेष एवं अनिर्वचनीय रूपसे वर्णन किया है तथा भक्तोंके प्रेमवश उनका सगुणरूपसे लीला करना दिखलाया है।

विवाहके पश्चात् विदा करते समय महाराज जनकजी भी ऐसी ही बात कहते हैं—

करहिं जोग जोगी जेहि लागी। कोहु मोहु ममता मदु त्यागी॥
ब्यापक ब्रह्म अलख अबिनासी। चिदानंद निर्गुन गुनरासी॥
मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी
महिमा निगम नेति करि कहहीं। जो तिहुँ काल एकरस रहहीं॥

नयन बिषय मो कहुँ भयउ सो समस्त सुख मूल।
सबइ लाभु जग जीव कहँ भएँ ईसु अनुकूल॥

इस प्रकार सम्पूर्ण बालकाण्डमें जगह-जगह भगवान्‌का परमार्थतया निर्गुणरूपसे तथा लीलया सगुणरूपसे वर्णन हुआ है।

अब हम अयोध्याकाण्डपर दृष्टि डालते हैं। जिस समय अयोध्यासे चलकर भगवान् श्रीगङ्गाजीके तटपर पहुँचे हैं और स्नान करके श्रमरहित हुए हैं, वहाँका यह दोहा है—

सुद्ध सच्चिदानंदमय कंद भानुकुल केतु।
चरित करत नर अनुहरत संसृति सागर सेतु॥

उसी स्थानपर जब भगवान्‌को श्रीजनकदुलारीके सहित शिंशपा वृक्षके नीचे कुशकी साथरीपर सोये हुए देखकर निषादराजको अत्यन्त विषाद हुआ है तो श्रीलक्ष्मणलालजीने उन्हें ज्ञान, वैराग्य एवं भक्तिरसमें सराबोर अत्यन्त मधुर वाणीसे समझाते हुए कहा है—

काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निजकृत करम भोग सबु भ्राता॥
जोग बियोग भोग भल मंदा। हित अनहित मध्यम भ्रमफंदा॥
जनमु मरनु जहँ लगि जगजालू। संपति बिपति करमु अरु कालू॥
धरनि धामु धनु पुर परिवारू। सरगु नरकु जहँ लगि ब्यवहारू॥
देखिअ सुनिअ गुनिअ मन माहीं। मोह मूल परमारथु नाहीं॥

सपनें होइ भिखारि नृपु रंकु नाकपति होइ।
जागें लाभु न हानि कछु तिमि प्रपंच जियँ जोइ॥

मोह निसाँ सबु सोवनिहारा। देखिअ सपन अनेक प्रकारा॥
एहिं जग जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच बियोगी॥
जानिअ तबहिं जीव जग जागा। जब सब बिषय बिलास बिरागा॥
होइ बिबेकु मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा॥
सखा परम परमारथु एहू। मन क्रम बचन राम पद नेहू॥
राम ब्रह्म परमारथरूपा। अबिगत अलख अनादि अनूपा॥
सकल बिकार रहित गतभेदा। कहि नित नेति निरूपहिं बेदा॥

इन वचनोंसे भी जगत्‌की असत्यता, विवेक-वैराग्यकी ज्ञानसाधनता और भगवान्‌के पारमार्थिक स्वरूपकी निर्विशेषताका ही निरूपण किया गया है। इसके आगे श्रीवाल्मीकि मुनिके वचनोंसे क्या बात प्रकट हो रही है, वह भी देखिये। वे कहते हैं—

श्रुति सेतु पालक राम तुम्ह जगदीस माया जानकी,
जो सृजति जगु पालति हरति रुख पाइ कृपानिधान की।

राम सरूप तुम्हार बचन अगोचर बुद्धिपर।
अबिगत अकथ अपार नेति नेति जेहि निगम कह॥

जगु पेखन तुम्ह देखनिहारे। बिधि हरि संभु नचावनिहारे॥
तेउ न जानहिं मरमु तुम्हारा। औरु तुम्हहि को जाननिहारा॥
सो जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई॥
तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन॥
चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥
नरतनु धरेहु संत सुर काजा। कहहु करहु जस प्राकृत राजा॥

इन शब्दोंसे भी स्पष्टतया भगवान् रामके पारमार्थिक रूपको निर्गुण, निर्विशेष, शुद्ध, अक्रिय और अचिन्त्य ही बताया है।

अब अरण्यकाण्डमें आइये। यहाँ श्रीअत्रिमुनि भगवान्‌की स्तुति करते हुए कहते हैं—

तमेकमद्भुतं प्रभुं। निरीहमीश्वरं विभुं॥
जगद्गुरुं च शाश्वतं। तुरीयमेव केवलं॥

‘उन आप एक, अद्भुत, निष्क्रिय, सर्वनियन्ता, व्यापक, जगद्गुरु, नित्य, अवस्थात्रयातीत, शुद्ध प्रभुको मैं नमस्कार करता हूँ।’

इसके आगे श्रीसुतीक्ष्णजी भी ऐसी ही बात कहते हैं—

निर्गुण सगुण विषम सम रूपं। ज्ञान गिरा गोतीतमनूपं॥
अमलमखिलमनवद्यमपारं। नौमि राम भंजन महिभारं॥

'आप निर्गुण, सम-विषमरूप, ज्ञान और वाणी आदि इन्द्रियोंसे परे, अनुपम, निर्मल, सर्वरूप, अन्तरहित और दोषरहित भगवान् रामको मैं नमस्कार करता हूँ, जो पृथिवीका भार उतारनेवाले हैं।' इसके आगे श्रीलक्ष्मणजीके प्रश्न करनेपर भगवान् स्वयं ही कहते हैं—

मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहिं बस कीन्हे जीव निकाया॥
गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥
तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ। बिद्या अपर अबिद्या दोऊ॥
एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जा बस जीव परा भवकूपा॥
एक रचइ जग गुन बस जाकें। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें॥
धर्म तें बिरति जोग तें ग्याना। ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना॥

इन वाक्योंमें सोलह आने मायावादका ही निरूपण है तथा ज्ञानको ही मोक्षका कारण बताया गया है। फिर शबरीसे बात करते हुए भी प्रभु अपने दर्शनका फल स्पष्टतया आत्मज्ञान ही बता रहे हैं—

मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा॥

इसके आगे श्रीनारदजीसे आप कहते हैं कि ज्ञानी मेरे वयस्क पुत्रके समान हैं और भक्त बालकवत् हैं—

मोरें प्रौढ़ तनय सम ग्यानी। बालक सुत सम दास अमानी॥
जनहि मोर बल निज बल ताही। दुहु कहँ काम क्रोध रिपु आही॥
यह बिचारि पंडित मोहि भजहीं। पाएहुँ ग्यान भगति नहिं तजहीं॥

इससे यह सिद्ध होता है कि ज्ञान और भक्तिमें कोई अन्तर नहीं है। जो केवल भक्तिको ही परम पुरुषार्थ मानते हैं, उन्हें उक्त वाक्योंपर विचार करना चाहिये।

किष्किन्धाकाण्डमें बालि कहता है—

सो नयन गोचर जासु गुन नित नेति कहि श्रुति गावहीं।
जिति पवन मन गो निरस करि मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं॥

अर्थात् जिसके गुणोंका श्रुति सर्वदा 'नेति-नेति' कहकर गान करती है तथा जिसे मुनिजन प्राण, मन और इन्द्रियोंको जीतकर तथा उन्हें निर्विषय करके कभी ध्यानद्वारा प्राप्त करते हैं, वही आज मेरे नेत्रोंके विषय हो रहे हैं। इस प्रकार यहाँ स्पष्ट ही निर्गुण-सगुणकी एकताका प्रतिपादन किया है। सुन्दरकाण्डमें श्रीशंकरजी कहते हैं—

पुनि सर्बग्य सर्ब उर बासी। सर्बरूप सब रहित उदासी॥

'जो सर्वज्ञ हैं, सबके हृदयमें रहनेवाले हैं, सर्वरूप हैं, सबसे रहित हैं और उदासीन हैं।'

लंकाकाण्डमें देवस्तुतिमें आया है—

तुम्ह समरूप ब्रह्म अबिनासी। सदा एकरस सहज उदासी॥
अकल अगुन अज अनघ अनामय। अजित अमोघसक्ति करुनामय॥

तथा ब्रह्माजी कहते हैं—

अनवद्य अखंड न गोचर गो। सबरूप सदा सब होइ न गो॥
इति बेद बदंति न दंतकथा। रबि आतप भिन्नमभिन्न यथा॥

अर्थात् आप निर्मल, अखण्ड और अतीन्द्रिय हैं तथा सर्वदा सर्वरूप और सर्वातीत भी हैं—ऐसा जो वेद कहते हैं वह कोई दन्तकथा (कहानी) नहीं है। इसे ऐसा ही समझना चाहिये कि जैसे सूर्य और उसकी किरणें भिन्न भी हैं और भिन्न नहीं भी हैं, उसी प्रकार भरद्वाजमुनिसे श्रीयाज्ञवल्क्यजी कहते हैं—

मुनि जेहि ध्यान न पावहिं नेति नेति कह बेद।
कृपासिंधु सोइ कपिन्ह सन करत अनेक बिनोद॥

इससे आगे उत्तरकाण्डमें आइये। भगवान्के सिंहासनारूढ़ होनेपर वेद उनकी स्तुति करते हैं—

जय सगुन निर्गुन रूप रूप अनूप भूप सिरोमने।
दसकंधरादि प्रचंड निसिचर प्रबल खल भुजबल हने॥
अवतार नर संसार भार बिभंजि दारुन दुख दहे।
जय प्रनतपाल दयाल प्रभु संजुक्त सक्ति नमामहे॥

यहाँ भी भगवान्को सगुण-निर्गुण उभयरूप ही बताया गया है। आगे श्रीशंकरजी पार्वतीजीसे कहते हैं—

ग्यान गिरा गोतीत अज माया मन गुन पार।
सोइ सच्चिदानंद घन कर नरचरित उदार॥

फिर सनकादि मुनि भगवान्की स्तुति करते हुए कहते हैं—

जय भगवंत अनंत अनामय। अनघ अनेकरूप करुनामय॥
जय निर्गुन जय जय गुनसागर। सुखमंदिर सुंदर अति नागर॥

इस प्रकार सभी काण्डोंमें प्रकारान्तरसे यही बात कही गयी है कि जो निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्म है, वही भक्तोंके प्रेमवश अपनी मायाशक्तिसे सगुण-साकार हो जाता है। यही अद्वैत वेदान्तका भी सिद्धान्त है। उसका भी यही मत है कि एक, निर्गुण, निराकार, निर्विकार, अविचल, अनीह, परिपूर्ण, व्यापक, नित्य, निरञ्जन, अद्वितीय ब्रह्म ही मायासे सगुण प्रतीत होता है। श्रीरामचरितमानसकी निष्पक्ष भावसे आलोचना करनेपर यही सिद्धान्त श्रीगोसाईंजी

महाराजका भी जान पड़ता है। शब्दोंकी खींचतान करके उनका कोई दूसरा मत सिद्ध करनेकी चेष्टा करना तो अनुचित और अन्याययुक्त ही है।

अपूर्वता

इस प्रकार अभ्यासकी दृष्टिसे विवेचन कर अब इस ग्रन्थकी अपूर्वतापर विचार करते हैं। यदि किसी ग्रन्थमें कोई ऐसा गुण न हो, जो कि उससे पूर्ववर्ती ग्रन्थोंमें न पाया गया हो, तो उसकी रचना निरर्थक ही है। इसीको ग्रन्थकी अपूर्वता कहते हैं। अद्वैत वेदान्तका निरूपण तो श्रीरामचरितमानससे पूर्ववर्ती और परवर्ती बहुत-से ग्रन्थोंमें हुआ है, परन्तु ऐसी सरल और रोचक शैलीसे वह कहीं नहीं कहा गया। अन्य ग्रन्थोंमें तर्क-वितर्ककी कर्कशता तथा प्रमाणादिकी जटिलता रहनेके कारण वे सर्वसाधारणके लिये सुबोध नहीं हैं। किन्तु यह ग्रन्थ तो सभीके लिये अत्यन्त उपयोगी और रुचिकर है। जिस प्रकार संस्कृतग्रन्थोंमें श्रीमद्भागवत सर्वप्रिय है, उसी प्रकार भाषाग्रन्थोंमें श्रीरामचरितमानस सबके हृदयका हार बना हुआ है। उसकी सरल, सुबोध और स्वाभाविक उक्तियोंने आबालवृद्ध तथा प्राकृत हरवाहेसे प्रकाण्ड पण्डितोंतकके हृदयमें स्थान कर रक्खा है। संसारकी असारता और भगवद्भजनकी सारवत्ताका विचार आते ही साधारण-से-साधारण आदमी भी कह उठता है—

उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरिभजन जगत सब सपना॥

संसार असत्य है, भगवान्‌की मायामात्र है, केवल भगवान् ही सत्य हैं, उन्हींकी सत्तासे यह भी सत्य-सा जान पड़ता है—ऐसी बात सामने आते ही लोगोंके मुखसे हठात् ये पंक्तियाँ निकल पड़ती हैं—

झूठेउ सत्य जाहि बिनु जानें। जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचानें॥
जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥

सपनें होइ भिखारि नृपु रंकु नाकपति होइ।
जागें लाभु न हानि कछु तिमि प्रपंच जियँ जोइ॥

बस, यही इसकी अपूर्वता है। आज भारतीय भाषाओंमें इतना लोकप्रिय और उपयोगी ग्रन्थ शायद ही कोई हो। इसकी गणना संसारके सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थोंमें है और इसे यह सम्मान प्रधानतया भगवत्प्राप्तिके सुलभ और सरल साधनोंका निर्देश करनेवाला होनेके कारण ही प्राप्त है।

फल

इसके फलके विषयमें श्रीगोसाईंजी महाराज आरम्भमें ही कहते हैं—

बिमल कथा कर कीन्ह अरंभा। सुनत नसाहिं काम मद दंभा॥
रामचरितमानस एहि नामा। सुनत श्रवन पाइअ बिश्रामा॥
मन करि बिषय अनल बन जरई। होइ सुखी जौं एहिं सर परई॥
त्रिबिध दोष दुख दारिद दावन। कलि कुचालि कुलि कलुष नसावन॥

इस प्रकार कामादि सकल दोषोंकी निवृत्तिपूर्वक आत्यन्तिक शान्तिकी प्राप्ति तथा सम्पूर्ण सांसारिक तापोंका निःशेष नाश ही इस ग्रन्थके श्रवणका फल है। इसके सिवा हम उपसंहार-प्रकरणमें यह दिखा चुके हैं कि याज्ञवल्क्य-भरद्वाज, शिव-पार्वती और काकभुशुण्डि-गरुड़जीके प्रसङ्गोंसे इस कथाके आरम्भका प्रयोजन भगवत्तत्त्वविषयक सन्देह और अन्तिम परिणाम उस सन्देहकी सर्वथा निवृत्ति—ये ही थे। अतः फलकी दृष्टिसे भी यह ग्रन्थ अन्य वेदान्तग्रन्थोंके ही समान है।

अर्थवाद

ऊपर उपक्रमोपसंहार-प्रकरणमें शिव-पार्वती और काकभुशुण्डि-गरुड़के संवादका वर्णन करते हुए यह दिखाया गया था कि जो लोग ब्रह्म और राममें भेद मानते हैं, वे अज्ञानी हैं। वस्तुतः इस सन्देहकी निवृत्तिके लिये तो उक्त प्रसङ्गोंमें रामकथाका आरम्भ ही हुआ था। उस निन्दारूप अर्थवादसे भी इसका तात्पर्य सगुण-निर्गुणके अभेदमें ही निश्चय होता है। ऊपर इसका काफी विवेचन हो चुका है, इसलिये यहाँ पुनः विस्तार करनेकी आवश्यकता नहीं है।

उपपत्ति

उपपत्ति युक्तिको कहते हैं। निर्गुण ब्रह्म सगुण कैसे हो जाता है, इसमें जगह-जगह बहुत-सी युक्तियाँ दी गयी हैं। ऐसी अनेकों चौपाइयाँ भी ऊपर उद्‌धृत की जा चुकी हैं। यहाँ उन्हींमेंसे एक फिर लिखी जाती है—

जो गुन रहित सगुन सोइ कैसें। जलु हिम उपल बिलग नहिं जैसें॥
सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा। बारि बीचि इव गावहिं बेदा॥

अर्थात् जैसे जल और बर्फमें तत्त्वतः कुछ भी भेद नहीं है, शीतकी अधिकतासे जल ही बर्फरूपमें दिखायी देने लगता है, वैसे ही भक्तोंके भाववश निर्गुण ब्रह्म ही मायासे सगुण प्रतीत होने लगता है। उस ब्रह्ममें और तुझमें इसी प्रकार कोई भेद नहीं है, जैसे जल और तरङ्गमें—ऐसा वेद कहते हैं। जैसे वायुके कारण जल ही तरङ्गरूप जान पड़ता है, वैसे ही मायाके कारण ब्रह्म ही जीवरूपमें दिखायी देता है। वस्तुतः तो वह निर्गुण, निर्विकार और निरीह ही है।

सगुण और निर्गुणकी एकता सिद्ध करनेके लिये श्रीगोसाईंजीने अग्निका भी दृष्टान्त दिया है; जैसे—

एक दारुगत देखिअ एकू। पावक सम जुग ब्रह्मबिबेकू॥

जिस प्रकार एक अग्नि तो अव्यक्तरूपसे काष्ठमें रहता है और एक प्रकट दिखायी देता है, इन दोनों अग्नियोंके समान ही निराकार और साकार ब्रह्मका भेद है। अर्थात् उनमें तात्त्विक भेद नहीं है, केवल व्यावहारिक दृष्टिसे ही वे भिन्न जान पड़ते हैं।

इस प्रकार उपक्रमोपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति—इन छः लिङ्गोंद्वारा इस ग्रन्थके तात्पर्यका विवेचन करनेपर यही निश्चय होता है कि भगवान् राम लीलासे सगुण-साकार विग्रहमें प्रतीत होते हुए भी तत्त्वतः एक, अद्वितीय सच्चिदानन्दघन परब्रह्म ही हैं तथा एकमात्र ब्रह्म ही परमार्थ सत्य है, उससे भिन्न दृश्य प्रपञ्चादि केवल मायाका विलास और स्वप्नादिके समान मिथ्या है।

इस तरह जब श्रीरामचरितमानसका तात्पर्य अद्वैतब्रह्मपरक निश्चित होता है तो इस विषयमें कोई प्रश्न ही नहीं हो सकता कि श्रीगोसाईंजी महाराज किस सिद्धान्तका अनुसरण करनेवाले थे। यह बात हम पहले ही लिख चुके हैं कि वे पञ्चदेवोपासक थे, उनका किसी भी देवतासे विरोध नहीं था, किन्तु भगवान् राममें उनकी इष्टदेवबुद्धि थी। इसलिये सब देवताओंकी स्तुति करते समय भी उन्होंने यही वर माँगा है कि आपकी कृपासे श्रीरामपादारविन्दोंमें हमारी अविचल प्रीति बनी रहे। उनकी दृष्टिमें श्रीराम किसी देश-विशेषमें परिच्छिन्न नहीं थे; वे तो सारे संसारको ही सियाराममय देखते थे। उनके विचारसे श्रीसीताजी भी रामजीसे पृथक् सत्तावाली नहीं हैं। बस, केवल एक राम ही शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, नित्य, एकरस, अविचल, स्थाणु, कूटस्थ, अद्वितीय, सच्चिदानन्दघनस्वरूप वास्तविक तत्त्व हैं। उनकी दृष्टि ही माया है और उसीका खेल यह सारा दृश्य प्रपञ्च है। यही श्रीरामचरितमानसका वास्तविक तात्पर्य है, यही उसका परम रहस्य है तथा इसी तत्त्वका ज्ञान होनेसे प्राणीको परम शान्तिकी प्राप्ति होती है। हम भगवान्से प्रार्थना करते हैं कि संसारके सभी प्राणी इस परम तत्त्वको प्राप्त होकर आनन्दसुधासिन्धुमें निमग्न हो जायँ।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्॥

प्रार्थना

(महात्मा गांधी)

भोजन न मिले तो मनुष्यकी इतनी हानि नहीं होती, बल्कि भोजन-त्यागसे कुछ लाभ ही होता है; क्योंकि भोजनमें हम अतिशयता कर देते हैं। लेकिन प्रार्थना तो आत्माकी खूराक है। उसके बिना आत्माका हनन होता है। जितनी प्रार्थना की जाय, उतना ही अच्छा है। प्रार्थनामें अतिशयता-जैसी कोई चीज़ नहीं है। मैंने तो ऐसा एक भी आदमी नहीं देखा है, जिसे प्रार्थनाकी अतिशयतासे हानि पहुँची हो। प्रार्थनाके लिये हम जितना समय दे सकें, उतना ही अच्छा है—यहाँतक कि अन्तमें हम प्रार्थनामय बन जायँ।

सब मिलकर स्वर-तालसे प्रार्थना करें तो अच्छा ही है। लेकिन अगर ताल और स्वर न हों तो भी सच्चे दिलसे हुई प्रार्थनाका महत्त्व कम नहीं होता। प्रार्थनामें हृदयका सम्पूर्ण मिलन होना चाहिये। यह प्रयास बराबर चलता रहे, तो अवश्य ही सफल होगा।

(हरिजन-सेवक)

पूज्यपाद स्वामी श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके उपदेश

(प्रेषक—भक्त रामशरणदासजी)

१—दर्शन करनेयोग्य केवल श्रीभगवान् ही हैं, संसार नहीं; इसलिये भगवान्का ही चिन्तन, भगवन्नाम-का ही जप करो। चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते, खाते-पीते, सब समय भगवान्को ही याद करो। यही असली भक्ति है। जगत्की सभी वस्तुएँ असत्, अतएव नष्ट हो जानेवाली हैं; फिर उनकी प्राप्तिके लिये भक्ति क्यों करते हो? निष्कामभावसे—एकमात्र सत्य-सनातन एवं सर्वाधार भगवान्की प्राप्तिके लिये ही भक्ति करो।

२—भक्तिकी साधना करनेवाले सदाचारीजन सांसारिक बातें नहीं सुनते। सांसारिक बातें सुननेसे रजोगुणकी वृद्धि होती है और रजोगुणी मनुष्यमें सहनशक्ति नहीं होती, जिससे वह बड़े-बड़े अनर्थ कर डालता है। इसलिये प्रत्येक साधकको सांसारिक बातोंसे सावधान रहना चाहिये। जिस समय बड़ी-से-बड़ी गाली सुननेपर भी आनन्दका अनुभव हो, उस समय सतोगुणी वृत्ति; जिस समय काम, क्रोध, लोभादिका आक्रमण हो, उस समय रजोगुणी वृत्ति और जिस समय शास्त्र एवं गुरुके वचनोंपर विश्वास न हो, उस समय तमोगुणी वृत्ति समझनी चाहिये। भगवान् और उनके सच्चे भक्तजन इन तीनों गुणोंसे परे होते हैं।

३—साधकोंको सांसारिक बातें अच्छी नहीं लगनी चाहिये; परन्तु साथ ही यह भी प्रकट नहीं होने देना चाहिये कि अमुकको सांसारिक बातें अच्छी नहीं लगतीं। दिखावटी तो कुछ भी नहीं होना चाहिये।

४—जप और ध्यानमें जिनका चित्त नहीं लगता, वे ही प्रश्न-पर-प्रश्न किया करते हैं। जिनका चित्त जप और ध्यानमें लग गया, उन्हें प्रश्नोत्तरके लिये अवकाश ही कहाँ है? जिसे भजन-ध्यानमें आनन्द आने लगा—और तो क्या, जिसके अंदर तनिक भी सत्त्वगुण आ गया, वह क्यों किसीसे बातें करने लगा? किसीसे पाँच मिनट भी बातें करनेमें उसे दुःख मालूम होगा। वह समझेगा कि उसके अनमोल समय-के पाँच मिनट विना भजनके व्यर्थ ही बीत गये। जिस प्रकार धन कमानेवाले व्यक्तिको बेकार बातचीत करनेके लिये फुरसत नहीं मिलती, उसी प्रकार भक्तको भी भजनसे अवकाश नहीं मिलता।

५—पिछली बार ऋषिकेशकी यात्रामें मैंने यह अनुभव किया कि जिस प्रकार गृहस्थ लोग बेकार रहनेपर राग-द्वेषके शिकार होते हैं, उसी प्रकार जो साधु भजन नहीं करते उनके भीतर राग-द्वेष घर कर लेता है। निठल्ले बैठे रहनेपर वे राग-द्वेष नहीं करेंगे तो और क्या करेंगे? यह खेदकी बात है कि आजकलके बहुत-से साधुलोग निन्दा-स्तुतिमें ही लगे रहते हैं, जिससे उनकी बड़ी हानि होती है। यदि वे अपना काम अर्थात् भजन करते रहें तो उन्हें निन्दा-स्तुतिके लिये फुरसत ही कहाँ मिलेगी?

६—हमारे शास्त्रोंमें यह लिखा है कि बगीचे-की फूल-पत्तियोंको भी बेकार नहीं तोड़ना चाहिये। साधुओंको तो इसका विशेष ध्यान रखना चाहिये—

साधू ऐसा चाहिये जो दुखे दुखावै नायँ।
फूल-पात तोड़ै नहीं, रहै बगीचे मायँ॥

७—मायाके चमत्कार जिसे वशमें न कर सकें, जिसका चित्त संसारके किसी भी पदार्थकी ओर आकर्षित न हो, जो मनसे भगवान्में लीन हो गया

हो, वही सिद्ध है। मायाको देखकर जिसका मन पिघल जाता हो, उसे सिद्ध नहीं समझना चाहिये।

८—संत-महात्मा भगवान्‌के ही स्वरूप होते हैं। यदि वे खुदा नहीं होते तो खुदासे जुदा भी नहीं होते।

९—सच्चे वैराग्यवान्‌को जो आनन्द प्राप्त होता है, वह आनन्द और किसीको नहीं प्राप्त हो सकता। ब्रह्मादि भी उस आनन्दके लिये तरसते रहते हैं।

१०—शास्त्र और गुरुने जो निश्चय कर रक्खा है, वही ठीक है। उसीके अनुसार कार्य करना चाहिये।

११—विना निःस्वार्थ हुए महात्माओंको अथवा भगवान्‌को बाँधना कठिन है। वे तो प्रेमरूपी रज्जुसे ही बँधनेमें आते हैं।

१२—ज्ञानीको और भक्तको दुःख नहीं होता। बाकी सभी संसारी मनुष्योंको दुःख होता है। ब्रह्मानन्द अथवा भजनानन्दके सामने दुःख नहीं ठहर सकता।

१३—जिस दिन तुम्हारा चित्त मननमें लग गया, उसी दिन समझ लो कि तुम्हारे लिये संसार नहीं रहा।

कल्याण

मनुष्य जैसा चिन्तन करता रहता है, उससे वैसी ही क्रिया होने लगती है और वह क्रमशः वैसे ही वातावरणसे घिर जाता है।

विषयचिन्तन ही पतन है और भगवच्चिन्तन ही यथार्थ उत्थान है।

विषयचिन्तन, विषयासक्ति, विषय-कामना, विषय-भोग—सभी महान् दुःख उत्पन्न करनेवाले हैं और नरकाग्निमें जलानेके हेतु हैं। इनसे मनुष्य दुःखकी परम्परामें पड़ जाता है। इनसे छूटनेके लिये बस, भगवच्चिन्तन ही एकमात्र साधन है। कामनाओंकी पूर्ति कामनाओंके विस्तारका हेतु होती है। सच्चा आनन्द कामनाकी पूर्तिमें नहीं, कामनापर विजय प्राप्त करनेमें है।

श्रीभगवान् मङ्गलमय, आनन्दमय, ऐश्वर्यमय, ज्ञानमय, दयामय, प्रेममय, सौन्दर्यमय, माधुर्यमय और सामर्थ्यमय हैं। वे प्रत्येक प्राणीके स्वाभाविक ही सुहृद् हैं। उनसे माँगना हो तो यही माँगना चाहिये कि 'हे भगवन्! तुम जो ठीक समझो, मेरे लिये वही विधान करो। तुम जो चाहो सो मुझे दो, मैं चाहूँ सो मत दो! ऐसी शक्ति दो जिससे मेरे मनमें कोई कामना ही न पैदा हो; और यदि हो तथा वह तुम्हारी इच्छाके विरुद्ध हो तो उसे तुरंत नष्ट कर दो। उसे पूरी तो करो ही मत।'

भगवान्‌की रुचिके सामने अपनी रुचि रखनेसे कोई लाभ नहीं होता। उनकी रुचि ही कल्याणमयी है। उनकी रुचिके लिये सदा अपनी रुचिका त्याग कर देना चाहिये।

जो भगवान्‌की रुचिसे होनेवाले सच्चे आनन्दका परम लाभ प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें अपनी आसक्ति, अपनी रुचि और अपनी रतिका पूर्णरूपसे त्याग कर देना चाहिये।

बस, भगवान्‌की जो रुचि है, वही हमारी रुचि हो; भगवान्‌की इच्छा ही हमारी इच्छा हो। हमारे गिरनेपर भगवान् हँसें तो हम भी उस हँसीको देखकर आनन्दमें मतवाले होकर हँस उठें। हमारे गौरव प्राप्त करनेपर यदि भगवान्‌का चेहरा उदास दीखे,

उन्हें वह गौरव न रुचे, तो हमें भी उसमें नरकयन्त्रणा-का अनुभव हो।

भगवान्‌की रुचिकी अनुकूलताके सिवा और कोई इच्छा न हो, भगवान्‌के चिन्तनको छोड़कर और कोई चिन्तन न हो, समस्त जीवन उन्हींके प्रति निवेदन की हुई एक प्रार्थना हो। हृदयमें केवल उन्हींका सिंहासन रहे। सारे कर्म उन्हींकी सेवाके लिये हों। इस प्रकार सदा सर्वार्पण हुआ रहे। 'हम' पर हमारा अधिकार न हो, भगवान्‌का हो। हमारा 'हम' उनके प्रति अर्पित हो जाय।

हमारा मन, हमारी बुद्धि, हमारी इन्द्रियाँ, सर्वत्र, सर्वदा और सर्वथा, उन्हींकी चीज बन जायँ और उन्हींकी सेवामें लगी रहें।

भगवान्‌के बिना जीवनमें भयङ्करता-ही-भयङ्करता भरी है। क्योंकि सारा सौन्दर्य, सारा माधुर्य, सारा प्रकाश, सारा ऐश्वर्य, सारी विभूति, सारा प्रेम, सारा ज्ञान, सारा यश, सारी श्री, सारी शक्ति, सारा बल, सारा पुरुषार्थ तो उन्हींमें है। उनके बिना जो कुछ है, वह तो भयानक है, दुःखमय है, विकराल है, प्रलयपीड़ा है, एक घोर यन्त्रणामय नरक है।

"शिव"

श्रीमानस-शङ्का-समाधान

(लेखक—श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी)

प्रश्न—रामचरितमानसके बालकाण्डमें धनुषयज्ञके प्रसङ्गमें यह चौपाई आयी है—

रंगभूमि जब सिय पगु धारी।
　　देखि रूप मोहे नर नारी॥

फिर उत्तरकाण्डमें माया और भक्तिका निरूपण करते हुए काकभुशुण्डिजी गरुड़जीसे कहते हैं—

मोह न नारि नारि कें रूपा।
　　पन्नगारि यह रीति अनूपा॥

अतः जब नारी नारीके रूपपर मोहित नहीं हो सकती, तब सीताजीको देखकर नरोंके साथ नारियोंका भी मोहित होना क्यों लिखा गया ?

उत्तर—ऐसा प्रश्न उठानेके पूर्व दोनों उक्तियोंके प्रसङ्गोंपर भलीभाँति विचार कर लेना चाहिये। प्रथम तो जिन श्रीसीताजीको देखकर नारियोंके मोहित होनेकी बात लिखी गयी है, उनका स्वरूप यदि साधारण नारीके रूपके सदृश ही होता, तब यह क्यों कहा जाता—

जौं पटतरिअ तीय सम सीया।
　　जग असि जुबति कहाँ कमनीया॥

इतना ही नहीं, उमा, रमा, ब्रह्माणी—इन त्रिदेवियों तथा सुन्दरताकी मूर्ति रतिके रूपोंसे भी श्रीसीताजीके दिव्य रूपकी तुलना नहीं की जा सकी। ऐसी दशामें अलौकिक रूपराशि श्रीसीताजीको देखकर यदि नारियाँ मोहित हो गयीं तो इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है।

दूसरी और मुख्य बात यह है कि दोनों प्रसङ्गोंके 'मोह'में प्रकारका भेद है। 'मोह न नारि नारि कें रूपा' में जिस मोहकी बात कही गयी है, वह कामविषयक मोह है। उपर्युक्त कथनका अर्थ यह है कि एक नारीके रूपसे दूसरी नारीके मनमें कामोद्दीपन नहीं हो सकता। इसीसे उस प्रसङ्गमें 'देखि' शब्द नहीं रक्खा गया है, जैसा कि बालकाण्डमें 'देखि रूप मोहे नर नारी' कहा गया है। कारण यह है कि काम तो नेत्रहीन अंधेको भी उत्पन्न होता है, क्योंकि उसकी उत्पत्तिका स्थान मन है। इसीलिये उसे 'मनोज' भी कहते हैं। बालकाण्डमें श्रीसीताजीके अलौकिक एवं दिव्य रूपको देखकर नर-नारियोंका मोहित होना लिखा गया है, इसलिये 'देखि रूप मोहे नर नारी' का मोह विशुद्ध

सौन्दर्यविषयक मोह है। जिस प्रकार अत्यन्त सुन्दर बच्चेको देखकर, चाहे वह बच्चा पशु-पक्षियोंका ही क्यों न हो, सभी नर-नारियोंका मन मुग्ध हो जाता है, इतना ही नहीं, अत्यधिक मनोहर द्रुम-लताओं एवं पत्र-पुष्पोंको भी देखकर लोग उनकी सुन्दरतापर मोहित हो जाते हैं—एकटक उन्हें निहारने लगते हैं, उसी प्रकार श्रीजानकीजीकी अनूप छविको देखकर सब स्त्री-पुरुष विमोहित हो गये थे। यहाँ नर और नारीका कोई सवाल नहीं है; क्योंकि यहाँका मोह उत्तरकाण्डान्तर्गत 'मोह न नारि नारि कें रूपा' के मोहकी भाँति कामसे सम्बन्ध नहीं रखता, जो भोग-योनियोंमें उत्पन्न जोड़ोंमें एक-दूसरेके प्रति उत्पन्न होता है। यहाँ केवल नेत्र-विषयक सौन्दर्यका प्रसङ्ग है, जो दिव्य एवं अलौकिक-रूपसे किशोरी श्रीजानकीजीमें पूर्ण मात्रामें प्रकट था तथा जिसे देखकर समस्त नर-नारी मोहित हो गये थे। अस्तु, इस प्रकार दोनों प्रसङ्गोंके 'मोह' में भेद समझकर शङ्काका निवारण कर लेना चाहिये।

प्रश्नकर्ताको नारदमोहके प्रसङ्गमें आयी हुई 'बिस्वमोहनी तासु कुमारी' इस अर्धालीपर भी ध्यान देना चाहिये। वहाँ भी 'बिस्वमोहनी' शब्दपर यह शङ्का उठायी जा सकती है, क्योंकि 'विश्व' से नर-नारी सबका बोध होता है। परन्तु वहाँ कोई इस प्रकारकी शङ्का नहीं करता; क्योंकि उपर्युक्त प्रसङ्गोंके दो प्रकारके मोहोंकी भाँति यहाँका मोह तीसरे प्रकारका है। अर्थात् यहाँ न तो सौन्दर्यविषयक 'मोह' है न कामविषयक, बल्कि मायाकृत मोह है, जो 'सो हरिमाया सब गुन-खानी' से स्पष्ट है। अतः भलीभाँति विचार करनेपर उपर्युक्त प्रश्न ही निराधार सिद्ध हो जाता है।

प्रश्न—

बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना।
कर बिनु करम करइ बिधि नाना॥

इस चौपाईको पढ़नेपर यह शङ्का उठती है कि जब भगवान् बिना पैरके चल सकते हैं, बिना कानके सुन सकते हैं, बिना हाथके काम-काज कर सकते हैं, तब उन्हें अवतार लेनेकी क्या आवश्यकता होती है। वे तो निराकार रूपसे ही सब कुछ कर सकते हैं। और भगवान्के निराकार एवं सर्वव्यापी होनेकी स्थितिमें 'बिनु पद चलइ' आदि कहना भी कहाँतक ठीक है?

उत्तर—भगवान्के गुण, प्रभाव और रहस्यको न जाननेके कारण ही इस प्रकारकी शङ्काएँ उठा करती हैं। यदि हम भगवान्के सर्वशक्तिमान् एवं सर्वव्यापी होनेपर ही विश्वास कर लें तो इस शङ्काका समाधान अपने-आप हो जाता है; क्योंकि जो सर्वव्यापी एवं सर्वशक्तिमान् है, वह सब जगह सब कुछ कर सकता है।

जिस प्रसङ्गमें उपर्युक्त चौपाई आयी है, वहाँ श्रीमानस-ग्रन्थकारने वेद-वचनोंका ही अक्षरशः अनुवाद किया है और अन्तमें यह दोहा दे दिया है—

जेहि इमि गावहिं बेद बुध जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
सोइ दसरथ सुत भगत हित कोसलपति भगवान॥

इसका अर्थ यह है कि 'वेद 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता' इत्यादि कहकर जिनका गायन करते हैं, जिन्हें बुधलोग भी ऐसा ही निरूपण करते हैं तथा मुनिगण जिनका ध्यान करते हैं, वे ही भगवान् श्रीरामचन्द्र अपने भक्तोंके हितार्थ कोसलपति एवं दशरथसुतके रूपमें प्रकट हैं।' अस्तु उपर्युक्त शङ्का केवल श्रीमानस-से ही नहीं, वेदोंसे भी सम्बन्ध रखती है, जो अनादि एवं अपौरुषेय हैं तथा जिनके सम्बन्धमें हमें किसी प्रकारकी शङ्का नहीं करनी चाहिये।

इस 'दीन' के तुच्छ विचारसे 'बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना' इत्यादि कहकर यही दिखलाया गया

है कि परब्रह्म श्रीभगवान् जीवोंकी भाँति मायिक शरीर और इन्द्रियोंकी अपेक्षा न रखकर सर्वशक्तिमान् होनेके कारण शरीर और इन्द्रियोंके कार्योंको अपनी शक्तिसे ही सिद्ध कर लेनेमें पूर्ण समर्थ हैं। यहाँ यह बात नहीं कही गयी है कि परमात्माको चलनेकी आवश्यकता पड़ती है, बल्कि उनके इस ऐश्वर्यका कथन किया गया है कि और कोई बिना पैरके नहीं चल सकता, परन्तु भगवान्‌में सामर्थ्य है, वे बिना पैरके भी चलते हैं। यही अघटित घटना है। इसीलिये आगेकी चौपाईमें कहा गया है—

> असि सब भाँति अलौकिक करनी।
> महिमा जासु जाइ नहिं बरनी॥

अब रही यह शङ्का कि 'सर्वव्यापीको चलनेकी आवश्यकता नहीं, इसलिये उनके सम्बन्धमें 'बिनु पद चलइ' आदि कहना ठीक नहीं है अथवा सर्वज्ञके सुनने-सुनाने एवं सर्वद्रष्टाके देखने-दिखाने आदि क्रियाओंका वर्णन करना असङ्गत है।' इस शङ्काका समाधान तभी हो सकता है, जब वेद भगवान् अथवा स्वयं श्रीगोस्वामिपाद अपनी कृपाका प्रसार करके इस रहस्यको समझा दें। इस सम्बन्धमें मैं श्रीगोस्वामिपादकृत कवितावलीका एक सवैया उद्धृत करूँगा, जिसमें भक्तजनोंके हितार्थ बहुत सुन्दर सिद्धान्त निचोड़कर रख दिया गया है—

> अंतरजामिहु ते बड़े बाहेरजामी हैं राम, जो नाम लिए ते
> धावत धेनु पेन्हाइ लवाई ज्यों बालक बोलनि कान किए ते॥
> आपनि बूझि कहै तुलसी, कहिबे की न बावरि बात बिये से।
> पैज परें प्रहलादहु को प्रगटे प्रभु पाहन ते, न हिये ते॥
> (कवितावली—उत्तरकाण्ड)

इसका तात्पर्य यह है कि भक्तलोग अपने सगुण सरकारको ही निर्गुण अर्थात् मायाके गुणोंसे अतीत, निराकार अर्थात् मायिक (पाञ्चभौतिक) शरीरसे परे, दिव्यविग्रह, दिव्यवपु, वेदसिद्धान्त आदि मानते हैं। उन्हीं प्रभुको सर्वव्यापक मानकर उनके सम्बन्धमें श्रीगोस्वामिपाद यह कह रहे हैं कि 'अन्तर्यामी भगवान्‌से हमारे बहिर्यामी प्रभु श्रीरामचन्द्रजी ही बड़े हैं; क्योंकि जब कोई प्रेमपूर्वक उनका नाम पुकारता है तब वे उसे सुनकर इस प्रकार दौड़ते हैं, जैसे तत्काल ब्यायी हुई गौ अपने बछड़ेकी बोली सुनकर वात्सल्यभावसे उसकी ओर दौड़ती है। श्रीगोस्वामीजी महाराज कहते हैं कि मैं अपनी समझकी बावरी बात कह रहा हूँ, यह बात दूसरेसे कहनेयोग्य नहीं है। बात यह है कि यद्यपि श्रीप्रह्लादजी सर्वव्यापी भगवान्‌के सच्चे, विश्वासी और एकनिष्ठ भक्त थे, परन्तु जब पैज पड़ गयी तब उनकी बात रखने तथा उनकी रक्षा करनेके लिये उनके हृदयके अन्तरसे अन्तर्यामी भगवान् नहीं निकले, बल्कि भक्तभयहारी भगवान् बाहरसे अर्थात् पत्थरके खंभसे ही प्रकट हुए।'

कितनी सुन्दर उक्ति है! इस प्रकार भगवत्-भागवत-रहस्योंपर विचार करनेपर निराकार एवं सर्वव्यापी प्रभुका सुनना, बोलना, चलना ही नहीं, दौड़ना तथा भक्तरक्षार्थ कर्म (युद्धादि) करना भी सिद्ध होता है। इसमें शङ्का करनेकी कोई बात नहीं।

सियावर रामचन्द्रकी जय!

कामके पत्र

(१)

दोषनाशके उपाय

आपका लंबा पत्र मिला। आपने 'काम' और 'मान' इन दो दोषोंकी बात लिखी सो मेरी समझमें ये दोष आपमें ही नहीं, न्यूनाधिकरूपमें अधिकांश लोगोंमें रहते हैं। वेष-भूषा तो बहुत मोटी बात है; भजन, कीर्तन, ध्यान, वैराग्यका स्वाँग, वेष-भूषाका त्याग और अन्य भाँति-भाँतिके त्याग भी कहीं-कहीं 'काम' और 'मान'के लिये ही होते हैं। स्त्रियाँ समझें ये बड़े भक्त हैं, महात्मा हैं, त्यागी हैं और हमारी ओर आकर्षित हों; लोग समझें ये वैराग्यवान्, ध्यानके अभ्यासी सत्पुरुष हैं और हमें सम्मान प्राप्त हो; इसीलिये शुभ चेष्टाएँ की जाती हैं। फिर, स्त्रीको देखनेपर, मनमें विकार होनेमें और मान न मिलनेपर विषाद होनेमें कौन बड़ी बात है? इसका कारण है—विषयासक्ति। मनुष्य बहुत ही कम समय वस्तुतः अपने चित्तको वस्तुतः भगवच्चिन्तनमें लगाता है। उसका अधिकांश समय केवल विषयचिन्तनमें जाता है। जैसा चिन्तन होता है, वैसे ही पदार्थोंसे वह घिर जाता है। विषय-चिन्तन ही अशुभचिन्तन है; इसीसे उसकी अशुभमें आसक्ति उत्पन्न होती और दृढ़तर होती जाती है। अशुभचिन्तनके समान मनुष्यका पतन करनेवाला और शत्रु नहीं है। इसीसे सारे दोष उत्पन्न होते हैं। अतएव मनुष्यको निरन्तर बड़ी सावधानीके साथ ऐसी चेष्टा करनी चाहिये जिसमें मन भगवच्चिन्तनके अभ्यासमें लगे। इसके लिये दृढ़ निश्चय और लगनकी आवश्यकता है। भगवत्कृपापर विश्वास और आत्मशक्तिका दृढ़ निश्चय हो जानेपर कोई भी बाधा टिक नहीं सकती। लोग विषयचिन्तन करते हैं, मनमें विषयोंके प्रति आसक्ति है और यह निश्चय नहीं है कि भगवान्की अनन्त शक्ति सदा हमारी रक्षा करनेके लिये हमारे साथ मौजूद है। इसीसे वे काम, क्रोध और मानादि शत्रुओंके सामने आनेपर उनके वश हो जाते हैं और उनसे हारकर पतनके गड्ढेमें गिर जाते हैं। हार पहले ही माने हुए हैं—क्योंकि मनमें दृढ़ निश्चय नहीं है। भगवान्की, रक्षा करनेवाली चिरसङ्गिनी आत्मशक्तिपर विश्वास नहीं है। आत्मशक्तिपर विश्वास हो और यह दृढ़ धारणा हो कि यह आत्मशक्ति भगवान्की है—हमारी बुद्धि, हमारे मन, प्राण, इन्द्रियाँ सब आत्मशक्तिके द्वारा भगवान्के साथ सम्बन्धित हैं—भगवान् ही इनके स्वामी हैं और भगवान्के अनन्त शक्तिमान् होनेसे उनकी यह शक्ति भी अनन्त शक्तिमती है, तो फिर कभी काम, मानादि आक्रमण न कर सकें—वे दूरसे ही भाग जायँ, चित्तमें तो कभी प्रवेश करें ही नहीं। यह स्मरण रखना चाहिये कि जो वस्तु भगवान्के समर्पित हो गयी, वह सुरक्षित हो गयी। उसको भगवान् ही दूसरे रूपमें बदलना चाहें तो भले ही बदल दें—किसी अन्य शक्तिकी ताकत नहीं कि उसकी ओर देख भी सके। अम्बरीषका देह भी भगवान्के अर्पण था, इससे दुर्वासाकी क्रोधाग्नि उसका कुछ भी न बिगाड़ सकी। घोररूपा कृत्याके सामने अम्बरीष स्थिर खड़े रहे—न पीछे हटे, न बचनेकी कोशिश की, न उसपर कोई प्रहार ही किया। भगवान्की शक्तिने अपने-आप कृत्याका काम समाप्त कर दिया। भगवान्की शक्ति सुदर्शनके रूपमें पहले ही अम्बरीषके देहकी रक्षाके लिये नियुक्त थी। इसीलिये थी कि अम्बरीषने उसको पहलेसे ही भगवान्की सम्पत्ति बना दिया था। मेरी समझसे दोषोंसे बचनेका एक प्रधान उपाय यह भी है कि जिन अङ्गोंमें ये दोष आते हैं, उन्हें भगवान्के

अर्पण कर दिया जाय और उनके द्वारा भगवान्‌की ही सेवा की जाय। अपने प्रयत्नमें त्रुटि न हो और अपनी ईमानदारीमें—अर्पणकी इच्छामें त्रुटि न हो। फिर जो कमी होगी उसे भगवान् अपनी शक्तिसे आप ही पूरी कर लेंगे। और जो चीज भगवान्‌की हो जायगी, उसकी रक्षा पाप-तापसे वे आप ही करेंगे। अथवा भगवान्‌पर निर्भर किया जाय—पूरे भरोसेके साथ। यह निश्चित बात है कि यदि हमारी निर्भरता सच्ची होगी तो भगवान्‌की सहायता हमें ठीक वक्तपर, ऐन मौकेपर अवश्य ही प्राप्त होगी। हाँ, प्राप्त होगी उसी अनुपातसे, जिस अनुपातमें हमारी निर्भरता होगी। सच्ची बात तो यही है। आप इतना काम कीजिये—

१—यथासाध्य चेष्टा कीजिये कि अधिक-से-अधिक समयतक चित्तके द्वारा भगवच्चिन्तन हो।

२—भगवान्‌की कृपापर भरोसा बढ़ाइये।

३—मनमें यह दृढ़ निश्चय कीजिये कि भगवान् सदा अपनी पूरी शक्तिके सहित मेरे साथ हैं। मुझपर कामादिके आक्रमण नहीं हो सकते। यदि कभी ये दोष सामने आवेंगे तो निश्चय ही भगवान्‌की शक्तिसे मारे जायँगे।

४—मन, बुद्धि, इन्द्रिय, अहङ्कार आदि सभीको प्रतिक्षण सावधानीके साथ भगवान्‌के अर्पण करते रहिये—जिस समय वे सच्ची पूरी बात देखेंगे, उसी क्षण इनको ग्रहण कर लेंगे।

५—भगवान्‌की कृपापर निर्भर होनेका अभ्यास कीजिये। ये पाँच बातें कीजिये, फिर देखिये कितनी जल्दी इन दोषोंका नाश होता है। और भी उपाय हैं—

आत्मशक्तिके द्वारा पूरा निश्चय—दृढ़ संकल्प कर लिया जाय कि ये दोष मुझमें नहीं आ सकते, तो फिर कम आवेंगे। आवें तब आत्माके द्वारा उनका तिरस्कार, अपमान किया जाय, उनपर तीव्र प्रहार किये जायँ, उन्हें एक क्षणके लिये भी सुखसे न टिकने दिया जाय, तो वे आना छोड़ देंगे। दूरसे सताना भी छोड़ देंगे। आत्माकी मूक अनुमतिसे ही पाप होते हैं, जो आत्माकी कल्पित दुर्बलता और दृढ़ अध्यवसायके अभावसे इन्हें मिलती रहती है। यदि आत्मा बलपूर्वक पापोंको रोकना चाहे तो पाप नहीं आ सकते।

आपसे हो सके तो एक उपाय बहुत उत्तम है—प्रतिज्ञा कर लीजिये प्रतिक्षण लगातार नामजपकी। नाम-जपका तार यदि जाग्रत्-अवस्थामें कभी नहीं टूटेगा तो निश्चय ही ये सब पाप मर जायँगे। यह महात्माओंका अनुभूत सरल प्रयोग है।

आपने लिखा कि 'मैं कई बार सुन चुका हूँ, परन्तु दोष छूटते ही नहीं—इस बार ऐसा बल दीजिये जिससे मैं इन्हें फटकार बतला सकूँ।' इसका उत्तर यह है—वस्तुतः कई बार सुननेसे कुछ विशेष लाभ नहीं होता। कहनेवाला यदि हृदयसे कहता हो, अर्थात् जो बात वह कहता हो वह उसके द्वारा अनुभूत, आचरित और सत्य हो एवं सुननेवाला भी हृदयसे सुनता हो—उसके चित्तमें पूर्ण श्रद्धा हो और उसी प्रकार करनेका दृढ़ संकल्प हो और सुनते ही वैसा ही करने लगे तो एक ही बारके सुननेसे काम हो जाता है। हम सुनते हैं मुर्दा वाणीको—मुर्दा मनसे, इसीसे इसका कोई असर नहीं होता। बल्कि अधिक सुनते-सुनते मन और कान बहरे हो जाते हैं। सुनना चाहिये जीवित मनसे और कहना भी चाहिये जीवित मनसे—जीवित मन वही है जिसके साथ परम श्रद्धा है और सत्यरूपसे आत्माके दृढ़ अध्यवसायका संकल्प है और जिसके करनेके लिये प्राण आतुर हैं।

रही मेरे बल देनेकी बात सो.................. मेरे पास एक ही बल है—'हारेको हरिनाम' और आपसे भी यही कहता हूँ, उसका आश्रय लीजिये।

सारे पाप-तापोंसे छुड़ानेमें वह पूरा समर्थ है। अधिक क्या लिखूँ!

(२)

भगवत्प्रेमकी प्राप्तिके साधन

सचमुच मनुष्य, जो अपने जीवनको भगवान्‌से विमुख बिता देता है, बड़ी भारी भूल करता है। जीवन बीत जानेपर बड़ा पश्चात्ताप होता है—हाय! जीव-जीवनमें मिला हुआ सुअवसर बड़ी बुरी तरह खो दिया! मनुष्य-जीवनका एकमात्र प्रयोजन होना चाहिये भगवान्‌की या भगवत्प्रेमकी उपलब्धि। गङ्गाकी धारा जैसे निरन्तर अनवरतरूपसे समुद्रकी ओर जाती है—सारी विघ्न-बाधाओंको हटाती हुई, एक लक्ष्यसे, वैसे ही हमारी चित्तवृत्तियाँ, हमारी चेष्टाएँ, हमारी चिन्तनाएँ, हमारी क्रियाएँ, हमारे अनुभव, सब जाने चाहिये केवल भगवान्‌की ओर!

यह सत्य है, भगवत्प्रेमकी प्राप्तिके लिये और सारे प्रेमोंका त्याग कर देना पड़ेगा। सब कुछ उस प्रेमकी आगमें जला डालनेके लिये हँसते-हँसते तैयार हो जाना पड़ेगा और मौका पाते ही विना चूके इस सब कुछको वैसे ही जला डालना चाहिये, जैसे विना विलम्ब तत्परतासे हम मुर्देको फूँक देते हैं। मुर्दा फूँककर तो आत्मीयताके सम्बन्धसे हम रोते हैं; परन्तु भगवत्प्रेमकी आगमें जब विषयोंका मुर्दा फुँक जाता है, तब तो रोने—विषादसे और शोकसे रोनेके मूल कारण ही नष्ट हो जाते हैं। फिर कभी रोना भी होता है तो वह बड़े ही आनन्दका कारण होता है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति आनन्दसे ही होती है।

इसलिये केवल भगवान्‌का ही चिन्तन कीजिये। भगवान्‌से प्रार्थना कीजिये, हमारा तमाम जीवन—जीवनकी क्षुद्र-से-क्षुद्र चेष्टा भगवान्‌के लिये ही हो। पूर्ण हृदयसे हम भगवान्‌को ही भजें। दूसरेके लिये न मनमें स्थान हो और न दूसरेकी सेवामें कभी तन लगे। तन, मन, धन जो कुछ है, उन्हींका तो है। उनकी वस्तु उन्हींके अर्पण हो जाय। जो वस्तु उनके अर्पण हो जाती है, वही बचती है; वह हो जाती है अनमोल और वह हमें विपत्तिके अथाह समुद्रोंसे तार देती है।

प्रेममें खोना और अलग होना नहीं होता। खोने और अलग होनेमें भी पाना ही होता है। यही तो प्रेमका रहस्य है।

(३)

भजनका प्रभाव

बाहरकी क्रियाओंसे मेरा मतलब 'शरीरसे होनेवाले पापोंसे' था। मनसे यदि पाप न भी छूटें और बाहर शरीरसे छूट जायँ तो इस कलिकालमें इतना ही काफी है। जान-बूझकर दूसरेकी निन्दा करना, अपने स्वार्थके लिये किसीको कष्ट पहुँचाना, क्लेश पहुँचानेके लिये किसीसे दिल्लगी करना, परस्त्रीको बुरी नजरसे देखना आदि अवश्य ही बाहरके पाप हैं; परन्तु यदि ये पाप किसीको खलते हों, परन्तु अभ्यासवश न छूटते हों और वह यदि इन पापोंको छोड़नेकी इच्छा और चेष्टा करता हुआ पूरे भरोसेके साथ श्रीभगवान्‌का एकनिष्ठ भजन करता हो तो उस भजनके प्रतापसे इन पापोंसे ही नहीं, इनसे भी बहुत बड़े-बड़े पापोंसे मुक्त होकर वह भगवान्‌के परमधामको—शाश्वती शान्तिको पा जायगा। भगवान्‌की सर्वशक्तिमत्ता, दयालुता और सुहृदपनपर सच्चा विश्वास और उनका एकनिष्ठ भजन होना चाहिये।

गीताके श्लोकोंका तात्पर्य मैं नहीं जानता। परन्तु अध्याय ७। ३ में आये हुए 'यत्न करनेवाले सिद्धोंमें भी कोई (कश्चित्) ही मुझको (माम्) तत्त्वसे जानता है' इसमें 'कश्चित्' का अर्थ 'हजारोंमेंसे कोई'

न लेकर यह लेना चाहिये कि ऐसे साधनामें स्थित सिद्ध पुरुषोंमें कितने ही—जो किसी भी सिद्धि तथा मुक्तितककी परवा न करके केवल श्रीभगवान्‌को ही जानना चाहते हैं, वही भगवत्कृपासे भगवान्‌को तत्त्वसे जान सकते हैं। शेष सिद्ध पुरुष तो थोड़े-थोड़े लाभमें ही रह जाते हैं। कोई जीव-तत्त्व जान लेता है, कोई कर्मके रहस्यको समझकर कर्मपर विजय प्राप्त कर लेता है, कोई भूतजयकी सिद्धि प्राप्त कर लेता है, कोई ब्रह्माके पदका रहस्य जान जाता है, कोई सर्वव्यापी स्वरूपको समझ लेता है, बहुत आगे बढ़नेवाले कोई 'ब्रह्म' के अक्षर स्वरूपको जानकर अविद्यासे मुक्त हो जाते हैं; परन्तु भगवान्‌को तत्त्वसे जानना बहुत कठिन है। यहाँ 'माम्' पदसे समग्र ब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान्‌का लक्ष्य है—ब्रह्मका या किसी एकाङ्गी अन्य स्वरूपका नहीं। पहले श्लोकमें इसी बातको बतलाया है और अध्यायके अन्तमें इसीकी व्याख्या है तथा पंद्रहवें अध्यायके अन्ततक प्रकार-भेदसे इसी 'समग्र' का निरूपण है। मेरी ऐसी समझ है; यही इस श्लोकका अर्थ है, यह मेरा दावा नहीं है।

शरीर तो दिनोंदिन सभीके क्षीण हो रहे हैं। प्रतिक्षण मृत्युको प्राप्त होना ही जन्मे हुए शरीरका स्वभाव है। इसलिये भजन तो करना ही चाहिये। परन्तु काम छोड़नेकी मेरी राय बिल्कुल नहीं है। मेरी समझसे सबसे सरल साधन है नामका अभ्यास। मुखसे निरन्तर भगवान्‌के नामका उच्चारण होता रहे और हाथोंसे काम। अभ्यास होनेपर ऐसा होना खूब सम्भव है—बस, 'मुख नाम की ओट लई है'। विश्वास होगा तो इस नामोच्चारणमात्रसे ही कल्याण हो जायगा।

संसारका स्वरूप ही संयोग-वियोगात्मक है। यहाँ तो मिलना-बिछुड़ना अनिवार्य है। इसीलिये मनुष्यको श्रीभगवान्‌से प्रेम करना चाहिये, जो न कभी बिछुड़ते हैं न मरते हैं।

(४)

मोहनकी मुसक्यान

जाना और आना, यही तो संसारका स्वरूप है। यह यात्राका प्रसङ्ग चला ही आ रहा है, चलता ही रहेगा। भगवान्‌की सृष्टिमें इसका कभी कहीं विराम नहीं है। परन्तु सभी अवस्थाओंमें सभी जगह भगवान् हमारे साथ हैं। इस पार्थिव संसारमें बस, एक भगवान् ही नित्य हैं, जो सदा सब जगह रहते हैं—जीवन-मृत्यु, दुःख-सुख, हानि-लाभ, मान-अपमान, सभीमें ये मुँह छिपाये सदा हँसते रहते हैं। इनकी मुसक्यान है बड़ी मधुर; परन्तु ये दीखते नहीं, छिपे रहते हैं। जो अपने सुखकी स्पृहा छोड़कर केवल इन्हींकी ओर अपने मानस नेत्रोंको लगाना चाहता है, उसके सामनेसे ये योगमायाका पर्दा हटा लेते हैं। फिर तो सर्वत्र असीम माधुर्य-सौन्दर्य, महान् आनन्द और विशाल शान्ति, दिव्य ज्योति और शीतल प्रकाश ही दिखायी देता है; इनकी हँसी ऐसी ही होती है—ऐसी ही है।

अपने साधन-भजन और आचरणकी बात लिखी सो ठीक है। भगवत्कृपासे असम्भव भी सम्भव हो सकता है, इस बातपर विश्वास कीजिये। अपनी ओरसे आप जैसे और जो कुछ भी हैं, स्पष्ट होकर अपनेको सदा भगवान्‌के प्रति निवेदन करते रहिये। आप तो बहुत अच्छे हैं, बहुतोंसे बहुत भले हैं। वे तो महान् पापीको भी ग्रहण करनेमें नहीं सकुचाते। पापीका सारा पाप लेकर स्वयं उसको धोते हैं—वैसे ही जैसे माँ छोटे शिशुका मल धोती है, बिना किसी घृणाके, अत्यन्त स्नेहसे, प्रसन्न हुई! माताका उदाहरण भी पूरा नहीं घटता—क्योंकि माताका स्नेह उनके स्नेहकी छायाकी भी छाया नहीं है।..................आपको

जो कुछ करना पड़े, करिश्मे देखने पड़ें, उन्हें आप अभिमानके पल्ले बाँधकर उनका महत्त्व गँवाइये मत। ये सब करिश्मे भगवान्के हैं। उनकी लीलाके अङ्ग हैं। देख-देखकर प्रसन्न होते रहिये। आनन्द लूटिये। रोनेके अभिनयमें भी अंदर-ही-अंदर हँसिये। उनके विधानके उत्ससे सदा आनन्दका ही स्रोत बहता है। विपत्ति-आपत्ति,प्रतिकूलता-अनुकूलता,अपमान-तिरस्कार, पीड़ा-मृत्यु,सभीमें उनकी आनन्दभरी मुसक्यान देखिये। भगवान्के प्रत्येक दानको आनन्दसे ग्रहण कीजिये।

(५)

भगवत्कृपा

कृपाकी बात लिखी सो कृपा तो भगवान्की सदा सबपर और अनन्त है। हमलोग उस कृपापर जितना ही अपनेको छोड़ सकें, उतना ही लाभ उठा सकते हैं। जो कुछ भी भगवत्कृपाको सौंप दिया गया, वही सुरक्षित हो गया। भगवान्की कृपाके लिये कुछ भी असम्भव या असाध्य नहीं है। सभी स्थितियोंमें सभी प्रकारकी सहायता प्राप्त करनेके लिये भगवान्की कृपाका ही आवाहन करना चाहिये। सबसे अधिक कृपाके प्रसादका पात्र तो वह है, जो अपनी सारी इच्छाओंको सम्पूर्णतया भगवत्कृपाके प्रति समर्पण करके उस कृपासे बननेवाले प्रत्येक विधानमें परम आनन्दका अनुभव करता है। जबतक हम कुछ चाहते हैं, हमारी स्वतन्त्र इच्छा वर्तमान है, तबतक भगवत्कृपापर पूर्ण निर्भरता नहीं है। ऐसा न हो तो कम-से-कम अपनी प्रत्येक आवश्यकताके लिये तो भगवान्की कृपा-की ओर ही ताकते रहना चाहिये। दूसरा भरोसा कोई रहे ही नहीं, तभी उस कृपाका चमत्कार देखनेमें आता है। तभी मनुष्यको यह अनुभव होता है कि वह जिसे असम्भव मानता था, वही भगवत्कृपासे अनायास ही सम्भव हो गया। और इस भगवत्कृपाका द्वार सबके लिये खुला है। जो भी चाहे, इसे पा सकता है। क्योंकि भगवान् सबके—जीवमात्रके सुहृद् हैं; कृपामय ही नहीं, मित्र हैं। कृपा तो परायेपर होती है। प्रेममें तो और भी निकटका सम्बन्ध है। बस, यही करनेका प्रयत्न कीजिये।

दैनिक कल्याण-सूत्र

१ दिसंबर शुक्रवार—सगुण-साकार भगवान्में प्रेम न होनेपर उनके ध्यानमें मन लगता नहीं और भगवान्के निर्गुण-निराकार स्वरूपतक मनकी पहुँच नहीं है। ऐसी दशामें भगवन्नामको ही एकमात्र आधार समझकर उसीके परायण हो रहो।

सगुन ध्यान रुचि सरस नहिं, निर्गुन मन ते दूरि।
तुलसी सुमिरहु राम को नाम सजीवन मूरि॥

२ दिसंबर शनिवार—कलियुगमें भगवान्का नाम ही एकमात्र साधन है; और सब साधन कठिन होनेके साथ-साथ स्वल्प फल देनेवाले, अतएव नहींके बराबर हैं। भगवन्नामको छोड़कर दूसरे साधनोंमें समय बितानेसे कुछ भी हाथ नहीं लगेगा; किन्तु यदि भगवन्नामका आश्रय पकड़े रहोगे तो और सब साधन भी कई गुने अधिक फलदायक हो जायँगे।

रामनाम को अंक है, सब साधन हैं सून।
अंक गएँ कछु हाथ नहिं, अंक रहें दस गून॥

३ दिसंबर रविवार—नामस्मरणसे मनुष्यकी सभी कामनाएँ पूर्ण हो सकती हैं और नाम जपनेवालेका कल्याण निश्चित है। नामस्मरणके प्रभावसे निकृष्ट-से-निकृष्ट जीव भी अतिशय पवित्र एवं जगत्पूज्य बन सकता है।

नामु राम को कलपतरु कलि कल्यान निवासु।
जो सुमिरत भयो भाँग तें तुलसी तुलसीदासु॥

४ दिसंबर सोमवार—भगवान्‌के नामका जीभसे भी उच्चारण करके लोग महान् पुण्यात्मा एवं सुखी हो जाते हैं। किन्तु जो लोग इतना भी नहीं कर पाते, उनका विनाश निश्चित है। ऐसी दशा-में जिस किसी प्रकारसे हो, नाम-जप सदा करते रहो।

रामनाम अपि जीहँ जन भए सुकृत सुखसालि।
तुलसी यहाँ जो आलसी, गयो आजु की कालि॥

५ दिसंबर मंगलवार—काशीमें विधिपूर्वक रहकर शरीर छोड़नेसे तथा प्रयागमें हठपूर्वक प्राणत्याग करनेसे जो फल मिलता है, वह नाममें अनुराग करनेसे सहजहीमें प्राप्त हो जाता है। इसलिये सब कुछ छोड़कर केवल नाममें प्रीति करो।

कासीं बिधि बसि तनु तजें, हठि तनु तजें प्रयाग।
तुलसी जो फल, सो सुलभ रामनाम अनुराग॥

६ दिसंबर बुधवार—चाहे तुमने पिछले जन्मोंमें कितने ही पाप क्यों न किये हों, यदि तुम भगवान्‌की शरणमें चले जाओ और कुसङ्ग छोड़कर उनके नामस्मरणमें लग जाओ तो तुम्हारे जन्म-जन्मान्तर-के पाप आज, अभी नष्ट हो सकते हैं।

बिगरी जन्म अनेक की सुधरै अबहीं आजु।
होहि राम को, नाम जपु, तुलसी तजि कुसमाजु॥

७ दिसंबर गुरुवार—यदि कहो कि कलिकाल हमें बहुत सताता है, भजन करने नहीं देता, तो ऐसी हालतमें भी तुम्हें घबड़ानेकी—निराश होनेकी आवश्यकता नहीं है। विश्वास रक्खो कि भगवान्-का नाम कलिके दोषोंको नष्ट कर तुम्हारी वैसे ही रक्षा करेगा जैसे भगवान् नृसिंहने दुष्ट हिरण्यकशिपु-को मारकर अपने भक्त प्रह्लादकी रक्षा की थी।

राम नाम नरकेसरी कनककसिपु कलिकाल।
जापक जन प्रहलाद जिमि पालिहि दलि सुरसाल॥

८ दिसंबर शुक्रवार—यह जीभ तुम्हें भगवान्‌के नाम-गुण-गानके लिये ही मिली है। भगवान्‌के नाम-गुण-गानके अतिरिक्त और सब चर्चा मेढककी टर-टरके समान है। अतः जिह्वाको सदा भगवद्भजन-में ही लगाये रक्खो।

हृदय सो कुलिस समान, जो न द्रवइ हरिगुन सुनत।
कर न राम गुन गान, जीह सो दादुर जीह सम॥

९ दिसंबर शनिवार—तुम्हारा स्वार्थ और परमार्थ दोनों ही श्रीरामके द्वारा सध सकते हैं। फिर तुम्हें इनमेंसे किसीके लिये भी द्वार-द्वार भटकनेकी क्या आवश्यकता है?

स्वारथ परमारथ सकल सुलभ एक ही ओर।
द्वार दूसरें दीनता उचित न तुलसी तोर॥

१० दिसंबर रविवार—जैसे जलको छोड़कर अपने सहित सारा संसार मछलीके लिये वैरीके समान है, उसी प्रकार भगवान्‌को छोड़कर अपने सहित सारे संसारको अपना वैरी समझो; क्योंकि वह तुम्हारे लिये फँसावटका ही कारण होगा।

ज्यों जग बैरी मीनको, आपु सहित, बिनु बारि।
त्यों तुलसी रघुबीर बिनु गति आपनी बिचारि॥

११ दिसंबर सोमवार—जगत्‌में जीना उसीका सफल है, जिसके श्रीराम ही स्नेही हैं, राम ही एकमात्र गति हैं और जिसकी श्रीरामके चरणोंमें ही प्रीति है। अतः ऐसा ही बननेकी चेष्टा करो।

राम सनेही, राम गति, राम चरन रति जाहि।
तुलसी फल जग जनम को दियो बिधाता ताहि॥

१२ दिसंबर मंगलवार—जो लोग भगवान्‌को छोड़कर किसी दूसरेका अथवा विषयोंका भरोसा करते हैं, उन्हें इस लोकमें तो सुख-सम्पत्ति मिलती ही नहीं, मरनेपर भी उनकी बड़ी बुरी गति होती है। अतः और सबका भरोसा छोड़कर एकमात्र भगवान्‌का ही भरोसा करो। भगवान्‌को छोड़कर और सभी सहारे बालूकी भीतके समान हैं।

तुलसी श्रीरघुबीर तजि करै भरोसो और।
सुख संपति की का चली, नरकहुँ नाहीं ठौर ॥

१३ दिसंबर बुधवार—अपने अवगुणोंको और भगवान्‌के दीनवत्सलता, सुहृदता आदि गुणोंको देखते और समझते रहो। केवल इतनेसे ही तुम्हारा इस लोकमें तथा परलोकमें सहज ही कल्याण हो जायगा।

निज दूषनु, गुन राम के समुझें तुलसीदास।
होइ भलो कलिकालहूँ उभय लोक अनयास ॥

१४ दिसंबर गुरुवार—ममता करो तो एक श्रीरामसे ही करो, अन्यथा ममताका सर्वथा परित्याग कर दो। इसीमें तुम्हारा भला है। परन्तु इसमें कहीं भी बनावट अथवा छल न हो।

तुलसी दुइ महँ एक ही खेल, छाड़ि छल, खेलु।
कै करु ममता राम सों, कै ममता परहेलु ॥

१५ दिसंबर शुक्रवार—जो भगवान् वेदोंके लिये भी अगम्य हैं, वे सच्ची चाह होनेपर उतने ही सुगम एवं सुलभ हो जाते हैं जितना जल सबके लिये सुगम है; इसलिये यदि उन्हें प्राप्त करना चाहते हो तो सच्चे हृदयसे उनके लिये छटपटाओ। उन्हें प्राप्त करनेकी इच्छा होना ही कठिन है, उनकी प्राप्ति उतनी कठिन नहीं है।

निगम अगम साहेब सुगम राम साँचिली चाह।
अंबु असन अवलोकिअत सुलभ सबै जग माँह ॥

१६ दिसंबर शनिवार—विषयोंकी ओरसे दृष्टि हटा लेनेपर ही तुम भगवत्प्रेमके मार्गको देख सकोगे। केंचुलीका परित्याग कर देनेपर ही साँपको दृष्टि प्राप्त होती है।

राम प्रेम पथ पेखिऐ दिएँ बिषय तनु पीठि।
तुलसी केंचुरि परिहरें होत साँपहू दीठि ॥

१७ दिसंबर रविवार—तुम कैसे भी क्यों न हो, तुम्हारे स्वामी अत्यन्त दयालु एवं सर्वसमर्थ हैं; पतित-पावन उनका विरद है। ऐसी दशामें तुम्हें घबड़ानेकी आवश्यकता नहीं है। तुम केवल अपनेको उनका मानते रहो। फिर कोई भय अथवा चिन्ताकी बात नहीं है, वे सब सँभाल लेंगे।

जैसो तैसो रावरो केवल कोसलपाल।
तौ तुलसी को है भलो तिहूँ लोक तिहुँ काल ॥

१८ दिसंबर सोमवार—भगवान्‌के भक्तोंको भगवान्‌से भी बड़ा समझो। क्योंकि भगवान् भक्तोंके प्रेमवश उनके अधीन बन जाते हैं।

तुलसी रामहु तें अधिक रामभक्त जियँ जानु।
रिनियाँ राजा राम भे, धनिक भए हनुमानु ॥

१९ दिसंबर मंगलवार—यह निश्चय समझो कि चाहे जलके मथनेसे घी निकल आवे और बालूके पेरनेसे तेल निकल आवे, किन्तु बिना भगवान्‌का भजन किये इस संसाररूपी समुद्रके पार जाना कठिन है।

बारि मथें घृत होइ बरु, सिकता तें बरु तेल।
बिनु हरिभजन न भव तरिअ, यह सिद्धांत अपेल ॥

२० दिसंबर बुधवार—मायासे उत्पन्न दोष-गुण बिना हरिभजनके नहीं जा सकते। इसलिये सब काम छोड़कर केवल श्रीहरिका भजन ही करो।

हरिमाया कृत दोष गुन बिनु हरिभजन न जाहिं।
भजिअ राम सब काम तजि अस बिचारि मन माहिं ॥

२१ दिसंबर गुरुवार—श्रीरामकी कृपासे जब पत्थर भी समुद्रपर तैर गये, तब क्या तुम इस भवसागरके पार नहीं जा सकोगे? क्या तुम पत्थरसे भी अधिक जड हो? इसलिये और सबका आश्रय छोड़कर एकमात्र श्रीरामका ही आश्रय ग्रहण करो। उसीसे तुम्हारा कल्याण हो जायगा।

श्रीरघुबीर प्रताप तें सिंधु तरे पाषान।
ते मतिमंद जो राम तजि भजहिं जाइ प्रभु आन ॥

२२ दिसंबर शुक्रवार—भगवान् भावके वशमें हैं, सुखकी खान हैं और करुणाके सागर हैं। अतः संसारकी ममता, बड़प्पनके अभिमान तथा विद्या, बल, धन तथा रूप आदिके मदको त्यागकर उन्हींका निरन्तर भजन करो।

भाव बस्य भगवान, सुख निधान करुना भवन।
तजि ममता,मद, मान, भजिअ सदा सीता रवन॥

२३ दिसंबर शनिवार—संसारके दुःखोंसे मनुष्य तभी छूटता है, जब भगवान् उसपर कृपा करते हैं। यही वेद, शास्त्र, पुराण तथा संतोंका मत है। अतः उन्हींकी कृपाकी प्रतीक्षा करते हुए निष्कामभावसे उनका भजन करते रहो। कभी-न-कभी उनकी कृपा होगी ही और तब तुम सदाके लिये निहाल हो जाओगे।

कहहिं बिमलमति संत, बेद, पुरान बिचारि अस।
द्रवहिं जानकी कंत, तब छूटै संसार दुख॥

२४ दिसंबर रविवार—साधुओं और गुरुकी सेवा करनेसे तथा उनके बताये हुए मार्गको समझकर उसके अनुसार चलनेसे भक्ति स्थिर हो जाती है, ठीक जैसे कि लड़कपनमें सीखा हुआ तैरना फिर कभी नहीं भूलता। इसलिये साधु-संतों तथा अपने गुरुकी भलीभाँति सेवा करो और उनके उपदेशके अनुसार अपने जीवनको बनाओ।

सेइ साधु, गुरु, समुझि, सिखि राम भगति थिरताइ।
लरिकाई को पैरिबो तुलसी बिसरि न जाइ॥

२५ दिसंबर सोमवार—यदि भूलसे बालक साँपको खिलौना समझकर पकड़ने दौड़ता है अथवा अग्निमें हाथ डालता है तो माता-पिता उसे तुरंत बचा लेते हैं, साँप अथवा अग्निका स्पर्श नहीं करने देते; क्योंकि उनकी दृष्टि सदा उस अबोध बालकपर रहती है। इसी तरह जो भक्त अपनेको अबोध शिशुकी भाँति भगवान्के ऊपर छोड़ देता है, उसकी सँभाल भगवान् स्वयं करते हैं, उसे कभी गड्ढेमें गिरने नहीं देते; भूलसे वह गड्ढेकी ओर जाता भी है तो उसे खींचकर बचा लेते हैं। इसलिये अबोध शिशु जिस प्रकार माताके परायण होता है, उसी प्रकार तुम भगवान्के परायण हो जाओ। फिर तुम्हें किसी प्रकारका भय नहीं रहेगा।

खेलत बालक काल सँग, मेलत पावक हाथ।
तुलसी सिसु पितु मातु ज्यों राखत सिय रघुनाथ॥

२६ दिसंबर मंगलवार—भगवान्की कृपासे असम्भव भी सम्भव हो जाता है; यह मत समझो कि हमारे पाप-ताप भगवान्की कृपासे कैसे नष्ट होंगे।

बिनु ही रितु तरुबर फरत, सिला द्रवति जल जोर।
राम लखन सिय करि कृपा जब चितवत जेहि ओर॥

२७ दिसंबर बुधवार—भगवान् श्रीरामके चरणोंका स्मरण करते रहो; फिर तुम्हें चिन्ता अथवा शोक करनेकी आवश्यकता नहीं है। भगवान्की कृपासे तुम्हारे सारे कष्ट दूर हो जायँगे और तुम्हारी सारी मनोकामनाएँ पूर्ण हो जायँगी।

सिला साप मोचन चरन सुमिरहु तुलसीदास।
तजहु सोच, संकट मिटिहिं, पूजिहि मन की आस॥

२८ दिसंबर गुरुवार—जैसे कोई राजा सपनेमें भिखारी हो जाय और दरिद्र इन्द्र बन जाय तो जागनेपर उसे लाभ-हानि कुछ भी नहीं होती; उसी प्रकार इस संसारमें भी यदि तुम सुखी-दुखी होते हो तो इससे वास्तवमें तुम्हारी कोई लाभ-हानि नहीं होती। आत्मा सुख-दुःख दोनोंके परे निर्लेप है।

सपनें होइ भिखारि नृपु, रंकु नाकपति होइ।
जागें लाभु न हानि कछु, तिमि प्रपंच जियँ जोइ॥

२९ दिसंबर शुक्रवार—तुम्हारी यह जीभ परमार्थका कथन करनेके लिये ही बनायी गयी है, ये कान परमार्थ सुननेके लिये ही रचे गये हैं और तुम्हारा

चित्त प्रेमसहित परमार्थको धारण करनेके लिये ही बनाया गया है। इसलिये इन सबको इन्हीं सब कामोंमें लगाये रक्खो।

कहिबे कहँ रसना रची, सुनिबे कहँ किए कान।
धरिबे कहँ चित हित सहित परमारथहि सुजान॥

३० दिसंबर शनिवार—सम्पत्तिको छायाके समान समझो। यह पीठ देनेसे पीछे लग जाती है और सम्मुख होनेसे भागती है, हाथ नहीं आती। इसलिये धनके चक्करमें न पड़कर जो कुछ भी प्राप्त हो जाय उसीमें सन्तोष किये रहो और भगवान्का भजन करते जाओ।

दिएँ पीठि पाछें लगइ, सनमुख होत पराइ।
तुलसी संपति छाँह ज्यों लखि दिन बैठि गवाँइ॥

३१ दिसंबर रविवार—स्त्रीका रूप दीपककी ज्वालाके समान है; उसके आकर्षणमें न फँसो, नहीं तो पतिंगेकी तरह उसमें जलकर भस्म हो जाओगे। काम और मदको छोड़कर भगवान्का भजन करो और उनके भक्तोंका—सत्पुरुषोंका सङ्ग करो। इसीमें तुम्हारा कल्याण है।

दीप सिखा सम जुबति तन मन जनि होसि पतंग।
भजहि राम तजि काम मद, करहि सदा सतसंग॥

कैवल्य

(लेखक—श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज एम्० ए०, आचार्य, शास्त्री)

सभी भारतीय दार्शनिकोंने संसारमें दुःखका दर्शन किया और अपनी-अपनी सम्मति उस दुःखसे छुटकारा पानेके लिये दी। गीतामें भी 'जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्' कहकर 'अनित्यमसुखं लोकम्' बताया गया है। यद्यपि 'संसारमें सुख है ही नहीं' ऐसा नहीं कहा जा सकता, तथापि यह भी नहीं कहा जा सकता कि सुखका जो कुछ अंश यहाँ उपलब्ध है, वह ऐकान्तिक और आत्यन्तिक है। यह ध्रुव सत्य है कि ऐहिक सुख दुःखमिश्रित है, अनिश्चित है, क्षणिक है, नश्वर है। भौतिक व्यापार, चाहे वे भूमिके स्थूल स्तरसे सम्बद्ध हों अथवा स्वर्गके सूक्ष्म स्तरसे, दुःखसम्भिन्न ही हैं।

जगत्का घोर दुःख देखकर मेधावियोंको बड़ा क्लेश हुआ और उन्होंने यथामति ऐसे सुखका मार्ग बताया, जहाँ दुःखकी गन्ध भी नहीं है। ये मार्ग ही दर्शन-शास्त्र कहलाते हैं।

न्याय-वैशेषिकने तर्कपूर्ण युक्तियोंद्वारा जीवकी ऐसी स्थिति सिद्ध की है, जहाँ कोई दुःख नहीं है, किन्तु उनके इस प्रयत्नमें जीवका सुख भी चला गया। इससे अच्छा क्या बौद्धोंका 'विनाश' नहीं कहा जा सकता? विनाशके मान लेनेपर फिर कुछ प्रश्न आगे चलता ही नहीं। नैयायिकों और वैशेषिकोंकी मुक्तिमें आत्माका सद्भाव है, किन्तु सुख-दुःखविहीन पाषाणकल्प अवस्थामें वह रहता है। मीमांसक आत्माको जड कहता है और अनन्त सुखकी प्राप्तिके लिये भटकते हुए जीवको इस जडात्मसिद्धान्तसे अणुमात्र भी सन्तोष नहीं होता।

सांख्य-योगने कैवल्य-दशा दुःखहीन सिद्ध की है, परन्तु उस दशामें भी उनकी युक्तियोंसे आत्माकी ज्ञानवत्ता उपपन्न नहीं होती। कैवल्यमें आत्मा अपनी शुद्धावस्थामें रहता है, अतएव उसमें ज्ञान नहीं होता; क्योंकि ज्ञान प्रकृतिसे उत्पन्न महत्तत्त्वका विलास माना गया है—

'अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम्।'

और शुद्धावस्थामें प्रकृति एवं उसकी शाखा-प्रशाखाओंसे आत्माका कोई सम्बन्ध नहीं रहता । आनन्द भी इस शास्त्र-युगलकी प्रक्रियाके अनुसार एक कर्मेन्द्रियका विषय है—

'वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानाम् ।'

कैवल्यको स्वरूपस्थिति कह सकते हैं; किन्तु उसमें आनन्द-लाभ होता है, यह सिद्ध नहीं किया जा सकता। जिस सांख्ययोगकी चर्चा यहाँ हो रही है, उसे गीतोक्त सांख्ययोग नहीं समझ लेना चाहिये। प्रतिपाद्य विषय षड्दर्शनशास्त्रान्तर्गत सांख्य-योग हैं, जिनका खण्डन वेदान्तशास्त्रको अभीष्ट है (एतेन योगः प्रत्युक्तः)।

वेदान्तपर दो वाद प्रचलित हैं, एक तो निर्विशेष-वाद और दूसरा सविशेषवाद । निर्विशेषवादद्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तके अनुसार भी आत्माके कैवल्य-भावमें दुःखके साथ-साथ सुखका भी अन्त साधित हुआ है—

'स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि'

ब्रह्मसूत्रपर निर्विशेषपरक भाष्य उदाहरणरूपसे द्रष्टव्य है।

कहनेको सभी पूर्वोक्त दर्शन मुक्तिमें—कैवल्यमें—सुख बताते हैं। परन्तु क्या केवल दुःखोंकी हानि होनेहीसे कभी पूर्ण सुखकी अभिलाषा जाती रहेगी ? क्या रोगीके रोगहीन होनेसे ही वह बलवान् कहा जा सकता है ? रोगोंका नाश मृत्युमें है, क्या वह सुखमयी और आनन्दमयी कही जा सकती है ? सुषुप्तिमें कैसा आनन्द है ? केवल निषेधात्मक न ? यदि निषेधात्मक आनन्द (Negative bliss) ही आनन्द हो, तब तो निर्विशेषवाद मान्य हो सकता है; किन्तु तथ्य तो यह नहीं है।

एक कमरेमें खरबूजेके बीज कुछ दिनसे पड़े हैं, अतएव वहाँ दुर्गन्ध हो रही है। मकान-मालिक सेवकसे बीजोंको हटाकर कमरेको स्वच्छ करनेके लिये आज्ञा देता है। सेवक स्वामीकी आज्ञाका पालन करता है और जाकर कहता है 'स्वामिन्! कमरा अब निर्गन्ध हो गया है।' बताइये, अब क्या स्वामी यह समझ सकता है कि कमरा निर्गन्ध हो गया और पुष्पोंकी सुगन्धसे भी वासित हो गया ? नहीं, सेवकद्वारा कमरेके निर्गन्ध प्रतिपादित होनेपर स्वामी उसके स्वयमेव सुवासित होनेका भाव चित्तमें नहीं ला सकता।

इसी प्रकार आत्मारूपी कमरेसे ज्ञानानन्दादि प्रकृति-जन्य विकाररूपी कूड़े-कर्कटके हटा दिये जानेपर क्या यह समझा जा सकता है कि आत्मामें फिर भी ज्ञानानन्द बने रहेंगे ? नहीं, निर्विशेषवादीके मतसे कदापि नहीं। उसे पाषाणकल्प कैवल्यसे सन्तोष है।

अष्टाङ्गयोगाभ्यासद्वारा निर्विशेष कैवल्य प्राप्त करने-वाले केवली और निर्विशेष वेदान्तद्वारा कैवल्य प्राप्त करनेवाले मुक्तमें क्या अन्तर है ? वे दोनों हैं तो निर्विशेष; किन्तु पहला अपनी व्यष्टिको बनाये रखता है और दूसरा उसे समष्टिमें मिला देता है, जो भी निर्विशेष ही है।

सविशेष वेदान्त क्या है ? ज्ञान और आनन्द आदि गुणोंको आत्माके स्व-गुण मानना, बन्धनमें सत्त्वरजस्तमोमय प्रपञ्चके सान्निध्यसे ज्ञानानन्दादि स्वीय गुणोंमें सङ्कोच-विकास मानना, कैवल्यमें प्रपञ्चके निवृत्त हो जानेके कारण आत्माके ज्ञानानन्दादि गुणोंका इस प्रकार सम्पन्न होना जिस प्रकार कर्दमलिप्त हीरकको जलद्वारा प्रक्षालन करनेपर उसके पूर्वसिद्ध कान्त्यादि गुण सम्पन्न होते हैं—यह सब सविशेषवाद है।

निर्विशेषवादमें ज्ञान आत्म-प्रत्यनीक प्रकृति-तत्त्वके अन्तर्गत है, किन्तु सविशेषवादमें ज्ञान आत्माका स्वगुण माना गया है और प्रकृत्युत्थ मन एवं बुद्धि उस आत्मज्ञानको इन्द्रियद्वारा बाह्य विषयोंतक पहुँचानेके

साधनमात्र स्थापित हुए हैं। चश्मा जिस प्रकार आँखका सहायक है, अथवा 'बल्ब' (bulb) जैसे 'इलेक्ट्रिसिटी' का सहायक है, उसी प्रकार अन्त:करण आत्माका सहायक है। आत्माको इस प्रकारकी सहायताकी आवश्यकता बद्धावस्थामें ही है, मुक्तिमें नहीं। जिस प्रकार सूर्य विना किसी 'बल्ब' के ही जगत्‌को भासित करता है और स्वस्थ दृष्टि जिस प्रकार विना चश्मेके ही देखती है, उसी प्रकार कैवल्यमें आत्मा विना किसी बाह्य उपकरणके ही अपने स्वाभाविक किंवा चिन्मय नेत्रादिकोंसे ही जगत्‌को अपने ज्ञानका विषय बना सकता है।

सविशेष-वेदान्तके अनुसार जीव कैवल्यमें व्यक्तित्वको खो नहीं देता, किन्तु रखता है। वह ऐसा व्यक्तित्व है जिसमें आत्मभिन्न तत्त्वान्तरके साहाय्यकी आवश्यकता नहीं, पूर्ण आनन्दका, पूर्ण ज्ञानका, पूर्ण ऐश्वर्यका आविर्भाव होता है, समस्त लोकोंमें कामचार होता है, त्रिपाद्‌विभूतिमें जानेकी योग्यता होती है, प्रपञ्चमें कर्मबन्धनवश आनेकी बाधा दूर होती है, स्वेच्छया प्रपञ्चमें आनेकी क्षमता बनी रहती है और परात्पर भगवान्‌की महिमाका अनुभव होता है।

हे सुन्दरतम !

(रचयिता—श्रीसत्यभूषणजी 'योगी')

हे सुन्दरतम लीलाधाम,
भावुक, रसमय, तुम्हें प्रणाम !
कुञ्ज-कुञ्जमें वंशी लेकर
गाते गीत सुरीले मनहर,
जीवनको भी जीवन देकर,
भरा नित्य जीवनका जाम !
हे सुन्दरतम लीलाधाम !
वे कैसे सुन्दर सपने थे,
जिनमें सब प्राणी अपने थे !
वे तप स्वयं तपे तपने थे,
था जिनसे चिर मधु विश्राम !
हे सुन्दरतम लीलाधाम !
शुष्क, विरस जीवनके पथपर
काँप-काँप, पग-पगपर डरकर,
नर अनेक आते आँसू भर;
उनको जीवन जड अंजाम !
हे सुन्दरतम लीलाधाम !
मुक्त मधुर जीवन अभिसार !
वह रसमय स्वच्छन्द विहार !
विगत-कलुष वह प्रेम अपार !
वह प्रकाश मोहन, अभिराम !
हे सुन्दरतम लीलाधाम !
तुमने हमें सिखाया जीना,
दी हमको वह वृत्ति अहीना;
सुन पड़ता है झीना-झीना
अब भी वह गायन अविराम !
हे सुन्दरतम लीलाधाम !
यह दुनिया तो क्रीड़ास्थल है,
इसमें सुख-ही-सुख प्रतिपल है;
दुख कल्पित है, मनका छल है;
है क्या फिर रोनेका काम ?
हे सुन्दरतम लीलाधाम !
मधुवनमें वे मधुमय अभिनय !
लय जीवनमें, जीवनमें लय !
भोग-योगका अजब समन्वय !
स्थितप्रज्ञ योगेश-ललाम !
हे सुन्दरतम लीलाधाम,
भावुक, रसमय, तुम्हें प्रणाम !
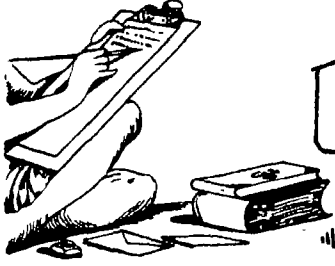
(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

आपने लिखा कि जिस प्रकार डाकगाड़ीमें बैठकर यात्रा करनेसे गन्तव्य स्थानपर जल्दी पहुँचना होता है, उसी प्रकार भगवत्प्राप्तिके लिये उपाय होना चाहिये; सो ठीक है। मेरा भी यही लिखना है कि ऐसा उपाय जल्दी-से-जल्दी होना चाहिये। जो ऐसा चाहेगा, वह इसके अनुसार चेष्टा भी करेगा। पीछे समय बीत जानेपर पछतानेसे काम नहीं चलेगा। चेष्टा होनेपर उपाय होनेमें ढील नहीं हो सकती। सत्सङ्ग-भजन कम होता है, इसका कारण पुरुषार्थकी कमी ही समझना चाहिये। संसारसे भले ही प्रेम बना रहे, परन्तु हर समय भजन-सत्सङ्ग अवश्य होना चाहिये; पीछे कोई चिन्ताकी बात नहीं। संसारका काम चाहे जितना अधिक हो, यदि भगवान्‌के नाममें प्रेम हो तो भजनमें अधिक भूल नहीं हो सकती। काम-काज करते हुए ही भगवन्नामकी अधिक-से-अधिक याद बनी रहे, ऐसी चेष्टा करनी चाहिये।

आपने लिखा कि सङ्गी-साथी साधनाके मार्गमें आगे बढ़ रहे हैं, सो ठीक है। आपको भी चाहिये कि तेजीसे उस काममें लग जायँ और उनका साथ पकड़ लें, बल्कि उनसे भी आगे बढ़नेकी कोशिश करें। जबतक निरन्तर ध्यानसहित भगवन्नाम-जप नहीं होने लगेगा, तबतक तृप्ति कैसे हो सकती है? भगवान्‌के नामका प्रेमसहित जप होने लगे और आनन्दामृतमें मग्न हुए शरीरका ज्ञान न रहे, तभी तृप्ति होगी। यदि दूकानके आदमियोंका तथा अन्य संसारी लोगोंका सङ्ग करनेसे आपका भजन-साधन कम होता है तो आपको उनका सङ्ग कम करना चाहिये। भजन-साधनसे गिरानेवाले मनुष्योंके सङ्गसे बहुत डरना चाहिये, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार प्लेगसे डरा जाता है। यदि भगवान्‌में पूर्ण प्रेम और विश्वास हो जाय तो चाहे जितने और चाहे जैसे आदमियोंका सङ्ग हो, भगवान्‌का स्मरण नहीं भुलाया जा सकता। विश्वास होता है पूर्ण प्रेम होनेपर। भजन और सत्सङ्ग अधिक करनेसे भी विश्वास होता है। इसलिये भजन और सत्सङ्गके लिये विशेष चेष्टा करनी चाहिये। भगवान्‌की कृपा-दया सदा सबपर पूर्णरूपसे बनी हुई है, यह बात जान लेनेपर भगवान्‌को भूला नहीं जा सकता। जो ऐसा जान लेगा, वह भगवान्‌का चिन्तन किस प्रकार छोड़ सकता है?

आपने लिखा कि मुकदमेका काम कभी-कभी लीलामात्र दीखने लग जाता है, यह बड़े ही आनन्दकी बात है। तब तो उस मुकदमेकी फिक्र भी नहीं रहनी चाहिये। एकमात्र नारायणदेवका ही भजन होना चाहिये। अधिक-से-अधिक मुकदमेका चिन्तन मुकदमेके दिन होना चाहिये। अथवा और भी किसी खास समयपर मुकदमेकी याद हो जाय तो कोई बात नहीं। जिनको मुकदमेका भय हरदम बना रहता है, वे उसीसे जलते रहते हैं। इसपर आपको ध्यान देना

चाहिये। याद ही रखना हो तो मुकदमेकी तरह मृत्युको याद रखना चाहिये। और मृत्युके भयसे छुटकारा पानेके लिये नारायणमें मन लगाना चाहिये। सबसे बड़ा मामला तो नारायणके घर है, जिसके न्यायकर्ता वे स्वयं हैं। उनके छोटे हाकिम यमराज हैं, जो उन्हींके स्वरूप हैं। यद्यपि यमराज भी भगवान्‌का ही दूसरा नाम है, फिर भी यमराजकी अदालतमें न जाना पड़े, ऐसी चेष्टा करनी चाहिये। इस शरीरपर मुकदमा चल रहा है। आप कहते हैं कि 'यह मेरा है', परन्तु यह आपका है नहीं। आप ही बताइये यह शरीर आपका है, इसका क्या प्रमाण आपके पास है? किसीके पास कोई प्रमाण नहीं है। इसलिये इस शरीररूपी मकानको एक दिन अवश्य ही खाली कर देना पड़ेगा। यदि राजी-खुशीसे खाली कर देंगे तब तो ठीक है; नहीं तो फजीहत होगी। अतः जो जीते हुए शरीरका आसरा छोड़ देता है, इसे मुर्देकी तरह समझकर अनासक्त हो जाता है, वही जीवन्मुक्त है, वही उत्तम मनुष्य है। जो इस शरीरको मरा हुआ जानकर इसमेंसे अपनेपनका भाव निकाल लेगा तथा नारायणसे अपना सम्बन्ध जोड़ लेगा, वही जीतेगा; नहीं तो बड़ी दुर्दशा होगी। शरीर तो छोड़ना ही पड़ेगा, इसलिये इसका अभिमान पहले ही छोड़ देना अच्छा है। हाँ, जबतक नहीं छोड़ा जाता, तबतक इससे काम ले सकते हैं। अतः जब-तक इसपर आपका अधिकार है, तबतक इससे अच्छी तरह काम ले लीजिये। इस शरीरसे भजन-ध्यान और सत्सङ्गरूपी अमृत तो जल्दी-से-जल्दी निकाल ही लेना चाहिये, ताकि पीछे पछताना न पड़े। ऐसा करनेपर शरीरकी आसक्तिका नाश आप-से-आप हो जायगा।

भगवान्‌के भजन-ध्यान और सत्सङ्गके विना 'मैं' तथा मेरेपनके भावका नाश होना बड़ा ही कठिन है। इसलिये भगवान्‌का भजन-ध्यान और सत्सङ्ग अधिकाधिक हो, इसी बातकी चेष्टा करनी चाहिये; वही चेष्टा आपके काम आवेगी। समय अनमोल है और पुनः उसका मिलना कठिन है—यह बात जो समझ लेगा, वह उसे अनमोल कार्यमें ही बितावेगा। कोड़े लगाकर काम करानेवाला मैं कौन हूँ? आपको ऐसी बात मुझे नहीं लिखनी चाहिये। कोड़ा लगानेका काम गुरुका है; इसलिये आपको किन्हीं सच्चे और निष्काम गुरुकी शरणमें जाना चाहिये, यदि आप उसकी जरूरत समझते हों तो। शरण भी ऐसी होनी चाहिये कि जो कुछ भी किया जाय, गुरुकी आज्ञासे ही किया जाय। प्राण भले ही चले जायँ, परन्तु प्रणको कभी नहीं छोड़ना चाहिये। प्रेमसहित भजन हो, उसमें मग्न हो जाया जाय, शरीरकी सुधि भी न रहे, तो फिर आनन्द-ही-आनन्द है।

भजन-सत्सङ्गकी कमीका कारण पुरुषार्थका अभाव ऊपर बतला चुका हूँ। पुरुषार्थका अभाव आलस्यकी अधिकताके कारण ही होता है। इससे आपको बचना चाहिये। काम-काज करते हुए भजन अधिक होना तभीतक मुश्किल मालूम होता है, जबतक प्रेमकी कमी है। सत्सङ्ग भले ही जल्दी-जल्दी प्राप्त न हो, उसके लिये उत्कट प्रेम होना चाहिये। एक पलका सत्सङ्ग भी बहुत है, यदि उसमें निष्कामभावसे पूर्ण श्रद्धा और प्रेम हो। यदि पूर्ण श्रद्धा-प्रेम न हो तो भी निराश नहीं होना चाहिये; थोड़ा श्रद्धा-प्रेम भी बहुत लाभदायक है, उसे बढ़ाते जाना चाहिये। सत्सङ्ग सब जगह प्राप्त है, उसके लिये तीव्र इच्छा होनी चाहिये। यदि आप प्रेम और विश्वासके साथ सत्सङ्गकी खोज करें तो सब जगह उसे प्राप्त कर सकते हैं; क्योंकि ऐसा कोई स्थान नहीं, जहाँसे उपदेशकी प्राप्ति न होती हो।

आपने लिखा कि निष्कामभावसे सब काम-काज

करने तथा किसी भी मामलेमें सुख-दु:ख नहीं माननेका विचार है, यह बड़ी प्रसन्नताकी बात है। ऐसा विचार यदि पक्का हो जाय तो फिर चिन्ता ही क्या है। ऐसी स्थिति तो ज्ञानवान् पुरुषकी हुआ करती है।

(२)

भगवान्की कृपासे ही सब कुछ होता है; परन्तु भजन किये विना भगवत्कृपा समझमें नहीं आती, समझमें आये विना उसका प्रभाव नहीं जाना जाता, प्रभाव जाने विना प्रतीति नहीं होती और प्रतीति हुए विना उद्धार नहीं होता। इसलिये विश्वास ही सार है, विश्वास हुए विना नारायणमें प्रेम नहीं होता और प्रेम हुए विना नारायण मिलते नहीं। तथा नारायणके मिले विना इस संसारसे उद्धार पानेका और कोई उपाय नहीं है। अत: जिस बातसे नारायणमें एक-दो दिनके लिये भी प्रेम उत्पन्न हो जाय, वही असली बात है। ऐसी बातें शास्त्रोंमें बहुत मिल सकती हैं, इसलिये शास्त्रोंको सुनने और बाँचनेकी चेष्टा करनी चाहिये। यदि दिन-रात निष्काम और प्रेमभावसे भगवन्नामका जप होने लगे तो फिर किसी भी कारणसे संसारके लोभमें नहीं फँसा जा सकता। क्योंकि उस स्थितिमें भगवान्की ओरका लोभ प्रत्यक्षरूपसे दीखने लग जायगा, जिससे आप-ही-आप भजन होने लगेगा, उसके लिये विशेष चेष्टा नहीं करनी पड़ेगी। जबतक भजनमें आनन्दकी अनुभूति नहीं होती, तभीतक भजन करना कठिन प्रतीत हो रहा है। अस्तु,

यदि आप भजन-ध्यान और सत्सङ्गके तीव्र अभ्यासके लिये प्रबल चेष्टा करें तो सब कुछ आप-से-आप सुधर सकता है। इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं दीखता। पिछले पाप तो करोड़ोंकी संख्यामें सबके ऊपर सवार हैं; परन्तु वे सब-के-सब नाम-जपके प्रतापसे भस्म हो सकते हैं। इसलिये डरनेकी कोई बात नहीं। भजन करते जाइये, फिर सारी चिन्ताएँ आप-से-आप नष्ट हो जायँगी। इस दोहेपर ध्यान दीजिये—

जबहीं नाम हृदे धरयो, भयो पापको नास।
जैसे चिनगी आग की परी पुराने घास॥

यह बिल्कुल ठीक बात है, पिछले पापोंका हिसाब-किताब कौन जान सकता है। जाननेकी जरूरत भी नहीं है। वे सब नाम-जपसे भस्म हो जायँगे। *इसलिये प्रबल चेष्टाके साथ नाम-जप करना चाहिये।* इस कलियुगमें नाम-जपके बराबर और कोई कल्याणकारी उपाय नहीं है। केवल नाम-जप ही सार वस्तु है। इसलिये प्रबल चेष्टाके साथ नाम-जप होने लगे, इस उपायमें लग जाना चाहिये।

यदि आपसे जप नहीं होता तो भगवान्में आपका विश्वास ही नहीं है, ऐसा समझा जायगा। आप ही बताइये इसके अतिरिक्त और क्या कारण समझा जाय। अस्तु, एक बार पूर्णरूपसे विश्वास करके भगवन्नामका जप और ध्यान करके तो देखिये। ऐसा करनेसे संसारका लोभ नहीं रह जायगा। जबतक आप सांसारिक आनन्दको आनन्द मान रहे हैं, तभीतक उसमें फँस रहे हैं। आपको विचार करना चाहिये कि 'इस संसारमें आकर मैंने क्या किया? पशुमें और मुझमें क्या अन्तर है? खाना-पीना, सोना और भोग भोगना तो पशु भी जानते हैं; फिर मुझे पशुसे अधिक आनन्द किस बातमें मिला? यदि मैंने भजन नहीं किया तो मेरा जन्म लेना ही वृथा हो गया।' इस प्रकार सोचने-विचारनेसे बड़ा लाभ हो सकता है। अभीतक कुछ बिगड़ा नहीं है, अभी भी चेत जाइयेगा तो सब कुछ बन सकेगा। नहीं तो पीछे पछतानेके सिवा और कुछ भी हाथ नहीं लगेगा तथा उससे गरज पूरी नहीं होगी। *यह बात प्रतिक्षण* याद रखनेकी है कि अन्तकालमें भगवान्के भजन विना और कुछ भी काम नहीं आयेगा, सब कुछ यहीं पड़ा रह *जायगा—यहाँतक कि यह शरीर भी साथ नहीं* जायगा; फिर औरकी तो बात ही क्या है!

[वेङ्कटरमण]

(लेखक—पं० श्रीभुवनेश्वरनाथजी मिश्र 'माधव', एम्० ए०)

सान्द्रानन्दपयोदसौभगतनुं पीताम्बरं सुन्दरं
पाणौ बाणशरासनं कटिलसत्तूणीरभारं वरम् ।
राजीवायतलोचनं धृतजटाजूटेन संशोभितं
सीतालक्ष्मणसंयुतं पथिगतं रामाभिरामं भजे ॥

'जलसे भरे हुए मेघके समान जिनका शरीर श्यामवर्ण एवं आनन्दघन है, जो सुन्दर पीताम्बर धारण किये हुए हैं, जिनके हाथोंमें धनुष और बाण हैं, कमर उत्तम तरकसके भारसे सुशोभित है, कमलके समान विशाल सुमनोहर नेत्र हैं, मस्तकपर जटाजूट धारण किये हैं, उन अत्यन्त शोभायमान, श्रीसीताजी, लक्ष्मणजी-सहित मार्गमें चलते हुए, आनन्द देनेवाले श्रीरामचन्द्रजी-को मैं भजता हूँ।'

भारतवर्षकी परम पावन भूमिमें जिस प्रकार अनादि-कालसे गङ्गा और यमुना बह रही हैं, जिस प्रकार हिमालय और विन्ध्यकी पर्वतमालाएँ इसकी शोभा बढ़ा रही हैं, उसी प्रकार अनादिकालसे संत-महात्माओं-की अखण्ड, अविच्छिन्न धारा इस देशमें अविरलरूपसे प्रवाहित होती आयी है। यहाँके वातावरणमें ही एक दिव्य विद्युत्-धाराका प्रवाह चला करता है, जिसके कारण यहाँके साधारण-से-साधारण प्राणीमें भी भक्ति, ज्ञान और वैराग्यकी त्रिवेणी तरङ्गित होती रहती है। किसी भी मामूली, उजड़े हुए गाँवमें चले जाइये, किसी भी व्यक्तिसे भगवान्‌का प्रसङ्ग छेड़िये, भक्तिकी बात पूछिये, ज्ञानकी चर्चा चलाइये, वैराग्यका महत्त्व जाननेके लिये अपनी आकाङ्क्षा प्रकट कीजिये; बात-ही-बातमें आप देखेंगे कि उसकी सरल निश्छल वाणीमें उसके हृदयकी भक्ति उमड़ी आ रही है। ऐसा प्रतीत होता है मानो इसने अपनी इन आँखोंसे भगवान्‌को देखा है और बराबर देखता ही रहता है। ज्ञान और वैराग्यके संस्कार तो हमारी नस-नसमें माताके दूधके साथ पैठे हुए हैं। 'सबै भूमि गोपालकी' केवल हमारी वाणीपर ही हो, ऐसी बात नहीं; यह तो हमारी रग-रगमें व्याप्त है। इस जगत्‌को 'चिड़िया रैन बसेरा' हम सदासे समझते आये हैं। और ऐसा भी नहीं कि भक्ति, ज्ञान और वैराग्यकी यह दिव्य त्रिवेणी भारतके किसी प्रान्त-विशेषमें ही प्रवाहित हुई हो। भारतभूमिका एक-एक रज:कण, एक-एक परमाणु इसके रससे भिदा हुआ है। बदरीनारायणसे लेकर रामेश्वरम्‌तक और कामाख्यासे लेकर कश्मीरतक समान भावसे इसकी धारा बही है। हाँ, यह और बात है कि उपासनाकी विधियाँ स्थान-स्थानपर अवश्य कुछ-कुछ भिन्न हो गयी हैं—कहीं वैष्णवधारा प्रबल है तो कहीं शैवधारा; कहीं भगवान् कृष्णकी उपासना है तो कहीं भगवान् रामकी; कहीं शिवकी उपासना है तो कहीं शक्तिकी।

दक्षिण भारतकी पश्चिमी सीमापर पहाड़ियोंकी एक पतली रेखा-सी खिंच गयी है। समुद्र इसके चरण-प्रान्तको पखारता रहता है। इतनी सुन्दर उपत्यका संसारमें शायद ही अन्यत्र कहीं हो। यहाँ हरियाली बारहों महीने बनी रहती है। यहीं तुङ्गभद्राके तटपर श्रीरङ्गपुरम् नामका एक छोटा-सा गाँव था—सौ-सवा सौ घरका। इसी श्रीरङ्गपुरम्‌के एक साधारण-से ब्राह्मण-परिवारमें वेङ्कटका जन्म ठीक श्रीरामनवमीके दिन दोपहर-

को हुआ। लगभग ढाई सौ वर्ष पूर्वकी यह घटना है। गाँवमें भगवान् श्रीरामचन्द्रका जन्मोत्सव बड़ी धूमधामसे मनाया जा रहा था। घण्टा, घड़ियाल, शङ्ख, झाँझ, मृदङ्ग, डफ बज रहे थे और बधाइयाँ गायी जा रही थीं। जय-जयकारकी तुमुल ध्वनिसे सारा गाँव गूँज उठा था। आनन्दके फौवारे छूट रहे थे। भाँति-भाँतिके मेवे, मिठाइयाँ और पकवान बँट रहे थे। दही और हल्दीके रंगकी कीच मची हुई थी। ऐसे आनन्दकी बेलामें वेङ्कटने पहली साँस ली।

परिवार छोटा-सा ही था—माता-पिता, दो बहिनें और एक भाई। वेङ्कटको इन सबका प्यार एक साथ मिला और परिवारके परम्परागत संस्कारोंकी छाप उसके कोमल हृदयपर पड़ती गयी। घरके आँगनमें तुलसी-चौतरा था और उसपर सिन्दूरसे पोती हुई श्रीमारुतिकी एक सुन्दर मूर्ति विराजमान थी। चौतरेके एक कोने-पर श्रीमारुतिकी एक विशाल ध्वजा थी, जो ऊँचे आकाशमें फहराती रहती थी। प्रत्येक मङ्गल और शनिवारको रात्रिमें श्रीमारुतिका उत्सव होता, कथा होती, कीर्तन होता और अन्तमें प्रसाद बँटता। गाँवभर-के बड़े-बूढ़े, बालक-युवा, स्त्रियाँ-बच्चे जुटते और बड़े ही उत्साहसे श्रीमारुतिकी पूजा करते। वेङ्कटके पिता कथा बाँचते, कीर्तन कराते। माँ बच्चेको गोदमें लेकर बैठती और कीर्तनमें पीछे-पीछे बोलती। खूब ताल और स्वरके साथ कीर्तन होता। बालक वेङ्कट अभी तुतला ही रहा था कि उसे कीर्तनके कई बोल याद हो गये और उसके मुँहसे 'लघुपति लाघव लाजा लाम' बहुत ही प्यारा, बड़ा ही मीठा लगता था। गाँवके लड़के-लड़कियोंका वेङ्कटके घर दिनमें भी मेला लगा रहता था। 'हाँ, वेङ्कट भैया, कैसे है? बोलो तो जरा 'रघुपति राघव राजा राम'! उनका इतना कहना था कि वेङ्कट प्यारभरी तुतली वाणीमें अपना कीर्तन छेड़ देता। उसके इस कीर्तनपर माता-पिता तो मुग्ध थे ही, गाँवके लोग भी कहते कि वेङ्कट किसी दिन बहुत बड़ा भक्त होगा। अभीसे, इतनी छोटी उम्रमें उसे भगवान्‌के नामका इतना चस्का लग गया है कि जरा-सा छेड़नेपर ही वह भगवान्‌का नाम लेने लगता है और तबतक लेता जाता है जबतक उसे चुप न कराओ।

वेङ्कट चौथे वर्षमें पदार्पण कर चुका था। पिताने उसे भगवान्‌की स्तुतिके कई श्लोक कण्ठस्थ करा दिये थे। वेङ्कट जब कभी अकेले होता या श्रीमारुतिके सामने चबूतरेके पास आता तो यकायक वह उन श्लोकोंकी आवृत्ति करने लगता। इनमेंसे दो श्लोक उसे बहुत ही प्रिय थे, जिन्हें वह स्वरके साथ गा सकता था—

रामाय रामभद्राय रामचन्द्राय वेधसे।
रघुनाथाय नाथाय सीतायाः पतये नमः॥

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

ये दोनों श्लोक उसके प्राणोंमें बस गये थे। प्रति मङ्गल और शनिवारको कथा आरम्भ होनेके पूर्व वेङ्कट इन श्लोकोंको बहुत प्रेमसे गाता और तब कथा शुरू होती। अब वह कीर्तनमें भी बड़े प्रेमसे भाग लेने लगा था और गाँवके सभी लड़कोंको जुटा लाता था। कभी-कभी वह स्वयं अगुआ बनकर कीर्तन कराने लगता था—

राम राम जय राजा राम। राम राम जय सीता राम॥
भयहर दशरथनन्दन राम। जय जय मङ्गल सीता राम॥
रघुपति राघव राजा राम। पतितपावन सीता राम॥
जय रघुनन्दन जय घनश्याम। जानकीवल्लभ सीता राम॥
राम राम जय राजा राम। राम राम जय सीता राम॥

कथामें भी वेङ्कटको विशेष रस आने लगा था। वह बड़े ध्यानसे कथा सुनता। ऐसा मालूम होता कि पूर्वजन्मके संस्कारोंके कारण उसे कथाकी सारी बातें अपने-आप खुलती जाती थीं। एक बार मङ्गलका दिन था। अध्यात्मरामायणके किष्किन्धाकाण्डकी कथा हो रही थी। भगवान् राम अपने प्रिय भाई लक्ष्मणको पूजाकी विधि

बतला रहे हैं। प्रसङ्ग बहुत सुन्दर था। आरम्भमें ही आज एक बात वेङ्कटको बहुत प्यारी लगी। कथारम्भके समय ही पिताने व्यासासनसे श्रीमारुतिके चरणोंमें वन्दना करते हुए यह श्लोक पढ़ा—

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम्।
बाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम्॥

इस श्लोककी व्याख्या करते हुए उन्होंने श्रोताओंको समझाया कि जहाँ-जहाँ प्रभु श्रीरघुनाथजीकी कथा और कीर्तन होता है, वहाँ श्रीहनुमान्‌जी महाराज अवश्यमेव रहते हैं और हाथ जोड़े, आँखोंमें आँसूभरे प्रेमपूर्वक कथा सुनते हैं। श्रीरघुनाथजीको जो प्रसन्न करना चाहे, वह श्रीहनुमान्‌जीको प्रसन्न करे, उनका आशीर्वाद-प्रसाद प्राप्त करे। इस प्रकार बड़ी सुगमतासे, बहुत थोड़े समयमें श्रीमारुतिकी कृपासे श्रीरघुनाथजीके चरणोंमें अविचल भक्ति प्राप्त होती है। श्रीहनुमान्‌जीकी उपासना व्यर्थ नहीं जाती। वे बहुत शीघ्र अपने भक्तपर ढलते हैं और उसे उचित मार्गपर लगाकर रात-दिन बराबर उसकी साधनाकी सँभाल रखते हैं, उसे गिरनेसे बचाते हैं और ऊपर उठाते जाते हैं और अन्तमें उसे भगवान्‌के चरणोंमें युक्त कर देते हैं। श्रीमारुतिने अनेकों भक्तोंको भगवान्‌के चरणोंमें लगाया है और अब भी जो उनकी उपासना करते हैं, वे अवश्यमेव प्रभुके चरणोंमें आश्रय पाते हैं। इसके बाद कथाका प्रसङ्ग चला। भगवान् राम अपने भाई लक्ष्मणको वनमें समझा रहे हैं—'हे रघुकुलनन्दन लक्ष्मण! जगत्‌के प्रपञ्चोंसे मुँह मोड़कर मौन होकर मेरा ध्यान और स्मरण करता हुआ जप करे। फिर प्रीतिपूर्वक मेरा नाम लेकर नाचे, गावे, स्तुतिपाठ करे और हृदयमें मेरी मनोहर मूर्त्तिको धारण-कर पृथिवीपर लोटकर साष्टाङ्ग दण्डवत् करे। मेरे दिये हुए भावनामय प्रसादको 'यह भगवत्प्रसाद है' ऐसी भावनासे सिरपर रक्खे और भक्तिभावमें विभोर हो मेरे चरणोंको अपने मस्तकपर रखकर 'हे प्रभो! इस भीम भयार्णवसे मुझे बचाओ' ऐसा कहकर मुझे प्रणाम करे और मेरा चरणामृत ले। अर्घ्य, आचमन, स्नान, वस्त्र, आभूषण आदिसे अथवा जो कुछ सामग्री मिल सके, उसीसे निष्कपट भावसे मेरी पूजा करे। यदि धनवान् हो तो नित्यप्रति कर्पूर, कुङ्कुम, अगुरु, चन्दन और अत्युत्तम सुगन्धित पुष्पोंसे मन्त्रोच्चारण करता हुआ मेरी पूजा करे तथा नीराजन (पाँच बत्तियोंकी आरती), धूप, दीप और नाना प्रकारके नैवेद्योंद्वारा मेरा अर्चन करे। इस प्रकार की हुई मेरी पूजा शीघ्र ही फल देनेवाली होती है। भक्तके द्वारा श्रद्धापूर्वक निवेदन किया हुआ एक अँजुली जल भी मेरी प्रसन्नताका कारण होता है। फिर गन्ध, पुष्प, अक्षत आदि सामग्रीकी तो बात ही क्या है। मुख्य बात तो है भाव। मैं भावका भूखा हूँ। भावके सहित अर्पण किये हुए तुलसीके दो-चार दल और एक चुल्लू जल ही मुझे खरीद लेनेके लिये पर्याप्त है।'

आजकी कथा वेङ्कटके हृदयमें बैठ गयी। उसने मन-ही-मन निश्चय किया कि अब श्रीमारुतिकी उपासना करके प्रभु श्रीरामचन्द्रजीका दिव्य दर्शन करूँगा, अवश्य करूँगा! कितनी सुन्दर है यह लालसा, कितनी मङ्गलमयी है यह वासना, कितना दिव्य है यह क्षोभ, कितनी प्यारी है यह ललक, कैसा अलौकिक है यह मोह!

श्रीमारुतिरायके सम्बन्धमें अधिकाधिक जाननेकी लालसा वेङ्कटरमणके हृदयमें बढ़ती गयी। रातको जब सब खा-पी लेते तो वह पिताके पास जाकर पूछता—बाबूजी! हमारे श्रीहनुमान्‌जीकी कोई लीला सुनाओ, उनकी कोई कहानी कहो। पिताको बालककी इस जिज्ञासासे बहुत सुख मिलता और वे उसे श्रीहनुमान्‌जीका चरित्र थोड़ा-थोड़ा नित्य सुनाते। हाँ, अच्छा,

यह कैसे, वाह, ऐसा ?—आदि शब्दोंसे वेङ्कट पिताके मनको उल्लसित किये रहता। पिताने बड़े ही प्रेमके साथ बच्चेको यह बतलाया कि चैत्र महीनेके शुक्ल पक्षकी पूर्णिमाको मङ्गलके दिन अञ्जना माताके गर्भसे साक्षात् भगवान् शङ्करने ही दिव्य वानररूपसे अवतार ग्रहण किया। यही हनुमान्‌जी हैं। इनके पिताका नाम केसरी है। बचपनसे ही हनुमान्‌जी बहुत नटखट थे। एक दिन प्रातःकाल ही उन्हें भूख लगी और घरमें खानेकी कोई चीज दीखी नहीं। उनकी दृष्टि उदय होते हुए सूर्यपर पड़ी। उन्होंने सोचा यह तो बहुत सुन्दर लाल-लाल फल है। फिर क्या था, वे आकाशमें उड़ ही तो गये। किसी-किसी तरह सूरजकी जान बची। आरम्भसे ही ये बहुत चपल थे। ऋषियों-के आसन उठाकर पेड़पर टाँग देते, उनके कमण्डलुका जल गिरा देते, उनकी लँगोटी फाड़ डालते। कभी-कभी किसी ऋषिकी गोदमें बैठकर खेलते होते, एकाएक उसकी दाढ़ी नोचकर भाग खड़े होते।

इन कथाओंसे वेङ्कटको अद्भुत सुख मिलता। वह सोचता, कितना अच्छा होता यदि स्वयं मैं ही हनुमान्‌जी होता। मुझमें उड़नेकी शक्ति होती तो मैं बराबर आकाशमें उड़ा ही करता और वृक्षोंकी फुनगीपर बैठता। फिर मेरे बाबूजी और मेरी मैया मुझे बुलाते तो मैं आता, मनमें आता तो नहीं भी आता। ये मेरे पीछे खूब परेशान होते। मैं इन्हें खूब छकाता।

इस प्रकार नित्य कथा होती—कभी कोई प्रसङ्ग, कभी कोई प्रसङ्ग। कभी सुग्रीवसे मिताई करानेकी कहानी तो कभी सीताकी खोजमें कनकभूधराकार शरीरसे समुद्र लाँघनेकी विस्मयकारी लीला। कभी विभीषणसे बातचीतका प्रसङ्ग चलता तो कभी अशोक-वाटिकामें माता जानकीको प्रभु श्रीरघुनाथजीकी मुद्रिका देनेका प्रसङ्ग चलता। लङ्कादहनवाली कथा वेङ्कटको बहुत भाती थी। वह एक-एक बात पितासे पूछता—'हाँ बाबूजी, हनुमान्‌जीने लङ्कामें अपनी पूँछ कैसे बढ़ायी, क्या सब-का-सब कपड़ा उनकी पूँछमें अँट गया ? क्या सैकड़ों मन तेल उसपर छिड़का गया ? फिर इतनी भारी पूँछको लेकर वे इतने ऊँचे कैसे कूदे और एक कँगूरेसे दूसरे कँगूरेपर उछले कैसे ?' पिता अपने प्यारे बच्चेके एक-एक कुतूहलको बड़े प्रेमसे शान्त करते—एक-एक कर सारी बात सुनाते और सुनानेमें उन्हें बड़ा सुख मिलता। वे पूरी कथा कहकर अन्तमें कहते कि 'भगवान् श्रीरामके कामके लिये ही श्रीहनुमान्‌जीका जन्म हुआ और वे निरन्तर भगवान्‌के स्मरणमें ही डूबे रहते थे। आज भी भक्तोंको श्रीहनुमान्‌जीके दर्शन होते हैं। भगवान्‌की अनन्त कृपा और सम्पूर्ण शक्ति मेरे लिये है, यह विश्वास श्रीहनुमान्‌जीके हृदयमें बराबर बना रहता था।'

वेङ्कटके पिता एक दिन अपने बच्चेको बड़े ही प्यारसे यह समझा रहे थे कि श्रीहनुमान्‌जीके जीवनमें यह विशेषता है कि जो इनके सम्पर्कमें आ जाता है, उसे ये किसी-न-किसी प्रकार भगवान्‌की सन्निधिमें पहुँचा ही देते हैं। विभीषणको उन्होंने भगवान्‌से मिलाया, सुग्रीवको भगवान्‌से मिलाया, तुलसीदासको उन्होंने भगवान्‌से मिलाया। उनका एकमात्र काम है भगवान्‌की सेवा और भगवान्‌की शरणमें जानेवालोंकी सहायता। विभीषण और सुग्रीवकी कहानी वेङ्कट पहले सुन चुका था। आज गोस्वामी तुलसीदासजीकी कथा सुननेकी उत्सुकता उसने प्रकट की। पिताने बहुत ही विस्तारके साथ प्रेमपूर्वक यह बतलाया कि एक स्थानपर श्रीरामायणकी कथा नित्य हुआ करती थी। वहाँ एक वृद्ध ब्राह्मणके वेशमें श्रीहनुमान्‌जी नित्य आया करते थे। सबसे पहले आते थे और प्रसाद बँट चुकनेपर सबके जानेके बाद जाते थे। तुलसीदासजीने उन्हें पहचान लिया और उनके चरण पकड़ लिये। फिर क्या था, वे अपने असली रूपमें प्रकट हो गये। फिर

उन्हींकी कृपासे चित्रकूटमें तुलसीदासजीको श्रीराम-लक्ष्मणके दर्शन हुए। मन-ही-मन वेङ्कटको ऐसा प्रतीत हुआ कि वही तुलसीदास है और उसे ही श्रीहनुमान्‌जीकी कृपासे भगवान्‌के साक्षात् दर्शन हुए थे। आज उसे एक ऐसी बात मिली, जिसके कारण उसके हृदयको बहुत ही सुख मिला। वह आज मस्त होकर नाच रहा था। मनमें वह यह समझ रहा था कि अब क्या, अब तो मुझे भगवान्‌के दर्शन होंगे ही; क्योंकि श्रीहनुमान्‌जीकी यही लीला है।

धीरे-धीरे वेङ्कट सयाना हुआ। नवें वर्षमें उसका विधिवत् यज्ञोपवीत संस्कार हुआ। श्रीगुरुमुखसे उसे गायत्री-मन्त्रके साथ-साथ 'ॐहरिः' की दीक्षा मिली। माता-पिताकी आज्ञा और आशीर्वादसे वह गुरुकुलमें शिक्षा प्राप्त करनेके लिये भेजा गया।

मदुराका दक्षिण भारतमें वही स्थान है, जो काशी-का उत्तर भारतमें। काशी प्राचीनकालसे उत्तर भारतका प्रधान विद्यापीठ रही है। समस्त उत्तर भारतके विद्यार्थी यज्ञोपवीत संस्कारके बाद काशीमें ही विद्या-भ्यासके लिये आया करते थे।

आज भी यज्ञोपवीत-संस्कार हो जानेपर बालक अपने माता-पितासे भिक्षा माँगता है—यह कहकर कि माँ! मुझे भिक्षा दो, मैं काशी विद्या पढ़ने जाता हूँ। यह आज भले ही केवल अभिनयके रूपमें हमारे समाजमें रह गया हो; परन्तु है यह हमारे एक बहुत ही पवित्र संस्कारकी परम पावन स्मृति। मदुराके पास ही एक छोटी-सी नदी है—नाम है वाइकै। इसी नदीके तटपर मदुरासे दस-बारह कोसपर एक छोटा-सा आश्रम था, जहाँ वेङ्कट शिक्षा प्राप्त करनेके लिये आया। गुरुजीके चरणोंमें उसने साष्टाङ्ग दण्डवत् किया और उनकी आज्ञा प्राप्तकर वह वहाँ रहने लगा। धीरे-धीरे उसने वेद-वेदाङ्ग, दर्शन, स्मृति, पुराण, इतिहास, ज्यौतिष आदि सम्पूर्ण शास्त्रोंका विधिपूर्वक अध्ययन किया। उसकी मेधा बहुत ही प्रखर थी, बुद्धि बहुत ही विचक्षण। एक बार सुनकर किसी भी बातको स्मरण कर लेना उसके लिये बहुत ही आसान था। गुरुजीके मुखसे कोई भी बात सुनता, उसे सदाके लिये याद कर लेता। गुरुजी उसके गुणोंपर मुग्ध थे, उसकी विद्या और बुद्धिकी विलक्षणतापर विस्मित थे। वे प्रायः पढ़ाते समय विद्यार्थियोंसे कहा करते, ब्रह्मचारी हो तो वेङ्कटरमण-जैसा। इस प्रकार गुरुके आश्रममें पूरे सोलह वर्ष व्यतीत कर वेङ्कट गुरुकी आज्ञासे समावर्तन-संस्कारके अनन्तर घर लौटा। आश्रमकी छाप उसपर पड़ चुकी थी। अखण्ड ब्रह्मचर्यके तेजसे उसका मुखमण्डल जगमगा रहा था। विद्या जब अन्तस्‌में प्रवेश कर जाती है तो वस्तुतः वह अन्त-स्तलको ब्रह्मतेजसे आलोकित कर देती है। जीवके समस्त बन्धन खुल जाते हैं और उसे एक ऐसी 'गुरुकिल्ली' मिल जाती है, जिसके सहारे वह समस्त रहस्योंका उद्‌घाटन कर लेता है। उसके समक्ष समस्त लोकलोकान्तर अपना हृदय खोल देते हैं और तत्त्वोंकी तहमें जो सार-सत्ता है, उसीका आधार लेकर वह अविचल खड़ा रहता है। उसके लिये बाहरी किताबें बंद हो जाती हैं, अंदरके पन्ने खुलने लगते हैं। सारा रहस्य तो भीतर है, बाहर तो अंदरका एक धुँधला प्रतिबिम्बमात्र है। जो कुछ है, वह भीतर है, हृदयके भीतर है और हृदयका द्वार खुले विना परम सत्यका साक्षात्कार नहीं होता। यही बाहरकी दृष्टि जब भीतरकी ओर मुड़ती है तो अपनी निधि खोज लाती है, जिसे खोकर वह जन्म-जन्मसे भटकती आयी है।

वेङ्कटरमणने अपने जीवनका मार्ग निश्चित कर लिया था। समस्त वेद-वेदाङ्ग, उपनिषद्, पुराण आदिकी गहराईमें डूबनेपर उसे 'ॐ हरिः' के ही दर्शन हुए। नैष्ठिक ब्रह्मचर्य और 'ॐ हरिः' का अखण्ड एकतार स्मरण। उसकी इस अनन्यनिष्ठाको देखकर घरवालोंने उसके सम्मुख विवाहका प्रस्ताव ही नहीं रक्खा। पिताको बड़ी प्रसन्नता थी कि उनका

पुत्र सन्मार्गपर बढ़ता चला जा रहा है। उन्होंने किसी प्रकारकी छेड़-छाड़ नहीं की। वेङ्कटरमण नित्य-प्रति प्रातःकाल ब्राह्म मुहूर्तमें उठता, स्नान-सन्ध्या-तर्पणसे निश्चिन्त होकर वेदोंकी कुछ ऋचाओंका तथा उपनिषदोंके कुछ मन्त्रोंका स्वरसे पाठ करता और फिर श्रीमारुतिकी मूर्त्तिके सामने आसन लगाकर एक-निष्ठ होकर बैठ जाता और पूरे छः घण्टे 'ॐ हरिः' का जप करता। दोपहरको घरमें जो कुछ तैयार होता, उसे प्रभुका मधुर प्रसाद समझकर प्राप्त करता और फिर कुछ स्वाध्याय करता। तीसरे पहर वह पुनः जपमें बैठ जाता और चार घण्टेतक श्वासके द्वारा 'ॐ हरिः' का जप करता। जपकी ओर उसकी रुझान बढ़ती ही गयी। निश्चित समयोंमें तो वह विधिवत् जप करता ही था, शेष समय भी वह मन-ही-मन उसीकी बारम्बार आवृत्ति करता रहता था। फल यह हुआ कि रातको सोते समय भी उसके द्वारा जप होता रहता था। इस जपमें उसे किसी भी प्रकारका कोई कष्ट, श्रम या असुविधाका बोध नहीं होता था, वरं उसे इसमें अधिकाधिक रस मिलता था, एक दिव्य सुखानुभूति होती थी।

जपकी ओर मन ज्यों-ज्यों झुकता गया, एकान्तकी चाह भी उसी मात्रामें बढ़ती गयी। कभी-कभी चाँदनी रातमें तुङ्गभद्राके तटपर एकान्तमें बैठकर जब वह 'ॐ हरिः' की धुन लगाता तो ऐसा मालूम होता कि उसके रोम-रोमसे 'ॐ हरिः', 'ॐ हरिः' की कोमल किरणें निकल रही हैं और भीतर-बाहर यह मन्त्र दिव्य ललित अक्षरोंमें लहरा रहा है। कभी-कभी वह इस मन्त्रमें इस प्रकार डूबकर तैरने लगता जैसे मछली महासागरके तलमें जाकर अपनी अलमस्तीमें दाहिने-बायें, ऊपर-नीचे तैरती है। मन्त्रमें वह और उसमें मन्त्र—एक अजीब-सा तमाशा! लोग इसको तमाशा ही कहेंगे; परन्तु वेङ्कटरमणके लिये तो यह एक स्पष्ट सत्य था। कभी-कभी वह नदीकी धारापर पड़ती हुई चन्द्रमाकी स्निग्ध किरणोंकी क्रीड़ा देखा करता—मन्त्रमुग्ध-सा, विस्मित-सा। वहाँपर भी उसे 'ॐ हरिः' की ही ललित लीला दीख पड़ती। कभी-कभी वह आँख उठाकर अनन्त आकाशके असंख्य नक्षत्रोंकी ओर देखता और उसे इन सारे नक्षत्रोंके हृदयलोकमें 'ॐ हरिः' के ही दर्शन होते। अपने हृत्पिण्डकी गति-में उसे स्पष्ट 'ॐ हरिः' सुनायी पड़ता, अपनी साँसोंमें भी वह उसी मन्त्रको सुनता। अपने प्राणोंके प्राणमें भी उसे उसी मन्त्रका आलोक दीखता; आँखें जहाँ जातीं, मन जहाँ जाता, दृश्य जिधर मुड़ता, बुद्धि जो विचारती—सर्वत्र ही केवल 'ॐ हरिः'का स्फुरण उसे मोहे रहता। पूरे ग्यारह वर्ष इस प्रकार इस मधुर साधनामें बीत गये, परन्तु वेङ्कटको मालूम होता अभी कल ही इस मार्गमें प्रवृत्त हुआ हूँ। वस्तुतः है भी यही बात। जो लोग शर्त बाँधकर साधनाके मार्गमें प्रवृत्त होते हैं, वे साधनाका रस क्या जानें? इतना नाम जप लेनेसे, इतने दिन मौन रखनेसे, इतना स्वाध्याय करनेसे, इतनी एकादशी करनेसे, अमुक धर्मग्रन्थका इतना पाठ कर लेनेसे भगवान् मिल जायँगे—फिर साधनासे पिण्ड छूट जायगा—ऐसा सोचकर जो साधनपथमें पैर रखते हैं, उन्हें निराशाके सिवा क्या मिलेगा? भगवान् शर्तोंमें नहीं बँधते, वे बँधते हैं केवल प्रेमसे, एकमात्र अनन्य-प्रेमसे। बिना प्रेम और लगनके की हुई असंख्य वर्षोंकी साधनासे एक पलकी प्रेमपरिप्लुत साधना प्रभुको विशेष प्यारी है। भगवान्में अनुरक्ति होनी चाहिये। मुख्य वस्तु है अनुरक्ति और आसक्ति। हाँ, यह बात और है कि आरम्भमें मन न लगता हो, प्रीति न उपजती हो तो बलात् भी मनको भजनमें लगाना चाहिये। पीछे, धीरे-धीरे, आप ही प्रभुकी कृपासे प्रीति और संसक्तिका उदय होगा और इसके उदय होनेपर फिर बाकी ही क्या रह जाता है?

आज श्रीहनुमान्‌जीकी जयन्ती थी। दिनभर वेङ्कट-के घर बड़ी धूम-धाम रही। आधी राततक जागरण

हुआ—खूब भजन हुआ, पद गाये गये, कथा हुई, धुआँधार श्रीमारुतिरायके नामका जयघोष हुआ, प्रसाद बँटा। सब लोग घर गये। परन्तु वेङ्कटरमणके मनमें एक अजीब तरहका आन्दोलन छिड़ा हुआ था। उत्सव समाप्त होते ही, पञ्चामृत लेकर वह धीरेसे घरसे सरका और नदीकी ओर बढ़ा। चैत शुक्ला पूर्णिमाकी आधीरात, तुङ्गभद्राका सैकत तट, वासन्ती बयारके झोंके, वन्य पुष्पोंकी परागसे मदमाती वायुकी अठखेलियाँ! वेङ्कट अपने इष्टदेव श्रीमारुतिके ध्यानमें बैठ गया। बैठते ही समाधि लग गयी और अन्तस्तलमें उसने श्रीमारुतिरायकी किलकिलाहट स्पष्ट सुनी। फिर देखा कि असंख्य वानरोंकी सेना लेकर वे आगे आ रहे हैं—धीरे-धीरे सभी वानर जाने कहाँ और कब अन्तर्धान हो गये और रह गये केवल श्रीमारुतिराय। वे स्नेहसे भरी दृष्टिसे वेङ्कटकी ओर देख रहे थे और वेङ्कटके सिरपर अपना दाहिना हाथ रखकर उसे आशीर्वाद दे रहे थे। वेङ्कटसे अब रहा नहीं गया। वह प्रभुके चरणोंमें गिर गया और आनन्दके भारसे मूर्च्छित हो गया। उस दिव्य मूर्च्छामें वेङ्कटको यह बोध हुआ कि श्रीहनुमान्‌जी उसके हृदय-पटपर अपनी तर्जनी अँगुलीसे स्वर्णाक्षरोंमें 'ॐ हरिः' लिख रहे हैं। आज वेङ्कटरमणको श्रीमारुतिका दिव्य प्रसाद मिला।

अब प्रायः रात्रिको, जब सब सो जाते, वेङ्कट तुङ्गभद्राके तटपर एकान्तमें श्रीमारुतिसे मिलने लगा। उसे ऐसा लगता मानो श्रीमारुति पहलेसे ही उसकी प्रतीक्षा कर रहे थे। उनके चरणोंमें मस्तक टेकता और आँसुओंसे उनके वक्षःस्थलको भिगो देता। फिर श्रीहनुमान्‌जी उसे अपनी वात्सल्य-धारामें डुबाकर अपने स्वामीके परम धाम श्रीसाकेतलोकमें ले जाते। वहाँ प्रभु श्रीरघुनाथजीके नित्य लीलाधाममें नित्य लीला-विहारका दर्शन होता। वहाँका दृश्य बहुत ही दिव्य और परम मङ्गलमय था—

कल्पवृक्षके नीचे सोनेका महामण्डप है। उसके नीचे अत्यन्त सुन्दर मणिरत्नमय सिंहासन है। उसपर भगवान् श्रीरामचन्द्र श्रीसीताजी सहित विराजित हैं। नवीन दूर्वादलके समान उनका श्यामवर्ण है। कमलदलके समान विशाल नेत्र हैं। बड़ा ही सुन्दर मुखमण्डल है। विशाल भालपर ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक सुशोभित है। घुँघराले काले केश हैं। मस्तकपर करोड़ों सूर्योंके समान प्रकाशयुक्त मुकुट है। मुनिमन-मोहन महान् लावण्य है। दिव्य अङ्गपर पीताम्बर विराजित है। गलेमें रत्नोंके हार और दिव्य पुष्पोंकी माला है। देहपर चन्दन लगा है। हाथोंमें धनुष-बाण लिये हैं। लाल-लाल होंठ हैं। उनपर मीठी मुसकानकी छबि छा रही है। बायीं ओर माता श्रीसीताजी विराजिता हैं। इनका उज्ज्वल स्वर्णवर्ण है। नीली साड़ी पहने हुए हैं और हाथोंमें रक्त कमल धारण किये हैं। दिव्य आभूषणोंसे सब अङ्ग विभूषित हैं। बड़ी ही अपूर्व और मनोरम झाँकी है।

प्रभुकी यह दिव्य झाँकी पाकर वेङ्कटका जीवन धन्य हो गया!

यह लीला-विहार कितने दिन चलता रहा, वेङ्कटको कुछ पता नहीं। एक दिन अञ्जनीकुमार श्रीहनुमान्‌जीने प्रसन्न होकर उससे पूछा—'कहो वत्स! तुम क्या चाहते हो?' वेङ्कटसे कुछ बोला नहीं गया, परन्तु फिर भी मन-ही-मन उसके भीतर यह लालसा जगी कि श्रीहनुमान्‌जीका जो परम प्रिय पदार्थ है, वही देखना चाहिये। श्रीहनुमान्‌जी उसके मनकी समझ गये। उन्होंने कहा, 'अच्छा मेरा परम प्रिय पदार्थ, जो मेरे प्राणोंसे भी प्रिय है, तुम देखो और सुनो।' ऐसा कहकर वे दोनों हाथोंमें करताल लेकर मस्त होकर कीर्तन करने लगे—

जय सीताराम सीताराम सीताराम जय सीताराम।
जय सीताराम सीताराम सीताराम जय सीताराम॥

भक्तराज हनुमान्‌का यह दिव्य कीर्तन त्रिभुवनको

पावन करनेवाला है, वे सदा इसीका कीर्तन किया करते हैं। परन्तु आजका यह कीर्तन केवल वेङ्कटरमण ही सुन रहे हैं और उनकी क्या अवस्था है, यह कोई बड़भागी भक्त ही बता सकता है। कीर्तनकी धुन गाढ़ी होती गयी और धीरे-धीरे शीतल, मधुर प्रकाशकी कोमल किरणें समीप आती दीखीं। साक्षात् प्रभु श्रीरघुनाथजी माता जानकीसहित वहाँ पधारे और अपने मन्द-मन्द मृदुल हास्यसे अपने भक्त श्रीहनुमान्‌को और अपने भक्तके भक्त वेङ्कटरमणको कृतकृत्य कर दिया। वेङ्कटके प्राण प्रभुके प्राणोंमें लीन हो गये।

श्रीभगवन्नाम-जपके लिये प्रार्थना

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

नामैकं यस्य वाचि स्मरणपथगतं श्रोत्रमूलं गतं वा
शुद्धं वाशुद्धवर्णं व्यवहितरहितं तारयत्येव सत्यम्।
तच्चेद्देहद्रविणजनतालोभपाषण्डमध्ये
निक्षिप्तं स्यान्न फलजनकं शीघ्रमेवात्र विप्र॥

(पद्मपुराण)

'भगवान्‌का एक भी नाम जिसकी जबानपर या स्मृतिमें आ गया अथवा कानोंमें पड़ गया, चाहे उसके वर्णोंका उच्चारण ठीक तरहसे हुआ हो या न हुआ हो—उलटा, सीधा जिस क्रमसे हुआ हो—यदि उसके अक्षरोंके बीचमें किसी दूसरे अक्षरका उच्चारण न हुआ तो वह एक ही नाम उस मनुष्यको निश्चय ही तार देगा। अवश्य ही यदि उसका उपयोग हमने शरीर, धन अथवा जनके लिये लोभ अथवा पाषण्डसे प्रेरित होकर किया तो उसका फल हमें जल्दी नहीं मिलेगा, कुछ विलम्बसे मिलेगा—परन्तु मिलेगा अवश्य, अर्थात् कालान्तरमें वह भी हमें तारकर छोड़ेगा।'

तं निर्व्याजं भज गुणनिधे पावनं पावनानां
श्रद्धारज्यन्मतिरतितरामुत्तमश्लोकमौलिम्।
प्रोद्यन्नन्तःकरणकुहरे हन्त यन्नामभानो-
राभासोऽपि क्षपयति महापातकध्वान्तराशिम्॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु)

'हे गुणनिधे! पवित्र करनेवालोंमें भी अतिशय पावन, उत्तम कीर्तिवालोंमें श्रेष्ठ भगवान्‌का निष्कपट-भावसे श्रद्धा एवं भक्तिपूर्वक खूब भजन करो—जिनके नामरूपी सूर्यका आभास भी अन्तःकरणरूपी गुहामें प्रवेशकर बड़े-से-बड़े पापरूपी अन्धकारकी राशिको विदीर्ण कर देता है।'

म्रियमाणो हरेर्नाम गृणन् पुत्रोपचारितः।
अजामिलोऽप्यगाद्धाम किमुत श्रद्धया गृणन्॥

(श्रीमद्भागवत)

'पापियोंमें शिरोमणि अजामिल मरणासन्न अवस्थामें पुत्रके बहानेसे भगवान्‌का नाम लेकर परम धामको चला गया। फिर श्रद्धापूर्वक उसका उच्चारण करनेवालेकी सद्गतिमें तो सन्देह ही क्या है।'

नामचिन्तामणिः कृष्णश्चैतन्यरसविग्रहः।
नित्यशुद्धः पूर्णमुक्तोऽभिन्नत्वान्नामनामिनोः॥

'श्रीकृष्णनाम साक्षात् चिन्तामणि है तथा चैतन्य और आनन्दकी मूर्ति है। भगवान्‌की ही भाँति यह नित्यशुद्ध एवं पूर्णमुक्त है, क्योंकि नाम और नामीमें कोई भेद नहीं है।'

भगवान्‌के नामकी अपार महिमा है। कलियुगमें तो नामके अतिरिक्त और कोई सहारा है ही नहीं। इसीलिये 'कल्याण'के पाठकों और प्रेमियोंमें नाम-जपका अभ्यास बढ़ानेके हेतुसे प्रतिवर्ष २॥ महीने नाम-जप करनेके लिये सबसे प्रार्थना की जाती है।

आनन्दकी बात है कि प्रतिवर्ष कल्याणके ग्राहक और पाठक महोदय 'कल्याण'की प्रार्थना सुनकर स्वयं नाम-जप करते और दूसरोंसे करवाते हैं।

गतवर्ष 'कल्याण' के पाठकोंसे पौष शुक्ल १ से फाल्गुन शुक्ल पूर्णिमातक अर्थात् ढाई महीनेमें उपर्युक्त सोलह नामोंके दस करोड़ मन्त्र-जप करने-करवानेकी प्रार्थना की गयी थी। और बड़े हर्षकी बात है कि प्रेमी पाठक-पाठिकाओंकी चेष्टा और उत्साहसे दस करोड़की जगह लगभग पचीस करोड़ मन्त्रोंका जप हो गया।

इस वर्ष भी फिर उसी प्रकार दस करोड़ मन्त्र-जपके लिये हाथ जोड़कर प्रार्थना की जा रही है। आशा है, भगवद्रसिक पाठक-पाठिकाएँ विशेष उत्साहके साथ नाम-जप करने-करवानेका महान् पुण्यकार्य करेंगे। नियमादि वही हैं।

यह आवश्यक नहीं है कि अमुक समय आसनपर बैठकर ही जप किया जाय। प्रातःकाल उठनेके समय-से लेकर रातको सोनेतक चलते-फिरते, उठते-बैठते और काम करते हुए सब समय इस मन्त्रका जप किया जा सकता है। संख्याकी गिनतीके लिये माला हाथमें या जेबमें रक्खी जा सकती है; अथवा प्रत्येक मन्त्रके साथ संख्या याद रखकर भी गिनती की जा सकती है। बीमारी या अन्य किसी कारणवश जपका क्रम टूट जाय तो किसी दूसरे सज्जनसे जप करवा लेना चाहिये। यदि ऐसा न हो सके तो नीचे लिखे पतेपर उसकी सूचना भेज देनेसे उसके बदलेमें जपका प्रबन्ध करवाया जा सकता है। किसी अनिवार्य कारणवश यदि जप बीचमें छूट जाय, दूसरा प्रबन्ध न हो और यहाँ सूचना भी न भेजी जा सके, तब भी कोई आपत्ति नहीं। निष्कामभावसे जप जितना भी किया जाय, उतना ही उत्तम है। थोड़ी-सी भी निष्काम उपासना अमोघ और महान् भयसे तारनेवाली होती है।

हमारा तो यह विश्वास है कि यदि 'कल्याण'के प्रेमी पाठक-पाठिकागण अपने-अपने यहाँ इस बातकी पूरी-पूरी चेष्टा करें तो आगामी अङ्क प्रकाशित होनेतक ही हमारे पास बहुत अधिक संख्याकी सूचना आ सकती है। अतएव सबको इस पुण्यकार्यमें मन लगाकर भाग लेना चाहिये।

१—किसी भी तिथिसे आरम्भ करें, परन्तु पूर्ति फाल्गुन शुक्ला पूर्णिमाको हो जानी चाहिये।

२—सभी वर्णों, सभी जातियों और सभी आश्रमोंके नर-नारी, बालक, वृद्ध, युवा इस मन्त्रका जप कर सकते हैं।

३—प्रतिदिन कम-से-कम एक मनुष्यको १०८ (एक सौ आठ) मन्त्र (एक माला) का जप अवश्य करना चाहिये।

४—सूचना भेजनेवाले सज्जन केवल संख्याकी ही सूचना भेजें। जप करनेवालोंके नाम भेजनेकी आवश्यकता नहीं। केवल सूचना भेजनेवाले सज्जन अपना नाम और पता लिख भेजें।

५—संख्या मन्त्रकी भेजनी चाहिये, नामकी नहीं। उदाहरणार्थ यदि सोलह नामोंके इस मन्त्रकी एक माला प्रतिदिन जपें तो उसके प्रतिदिनके मन्त्रजपकी संख्या एक सौ आठ होती है, जिसमेंसे भूल-चूकके लिये आठ मन्त्र बाद देनेपर १०० (एक सौ) मन्त्र रह जाते हैं। जिस दिनसे जो भाई मन्त्र-जप आरम्भ करें, उस दिनसे फाल्गुन सुदी पूर्णिमातकके मन्त्रोंका हिसाब इसी क्रमसे जोड़कर सूचना भेजनी चाहिये।

६—संस्कृत, हिन्दी, मारवाड़ी, मराठी, गुजराती, बँगला, अंग्रेजी और उर्दूमें सूचना भेजी जा सकती है।

७—सूचना भेजनेका पता—

नाम-जप-विभाग,
'कल्याण'-कार्यालय,
गोरखपुर।

उर-प्रेरक

(लेखक—पं० श्रीरामनरेशजी त्रिपाठी)

ज्ञानकी अपेक्षा विज्ञान श्रेष्ठ है, क्योंकि वह अनुभवयुक्त ज्ञान है। पुस्तकोंमें पढ़ी हुई या दूसरोंके मुखसे सुनी हुई बातोंसे उन बातोंका महत्त्व अधिक होता है, जो मनुष्यके निजी अनुभवकी होती हैं। मेरे जीवनमें कई एक ऐसी घटनाएँ घट चुकी हैं, जिन्होंने मुझे सन्देहमें डाल दिया है और घटते-घटते उन्होंने मेरी विचारधाराहीको बदल दिया है।

मेरा जन्म एक देहातमें और एक साधारण किसान-परिवारमें हुआ है। मेरे पिता संस्कृतका साधारण ज्ञान रखते थे; पर पूजा-पाठ, भजन-कीर्तनमें वे असाधारण थे। सम्पूर्ण गीता उन्हें कण्ठस्थ थी, दोनों समय सम्पूर्ण गीताका जबानी पाठ करते हुए वे शालग्रामका पूजन करते और ठाकुरजीको भोग लगाकर ही वे अन्न-जल ग्रहण करते थे। उनके विचारोंका मेरे चरित्रपर भी प्रभाव पड़ा होगा; पर उनकी एक कृपाका लाभ तो मैं प्रत्यक्ष ही उठा रहा हूँ। वे मुझे रोज पहर रात रहे अपनी खाटपर बुला लिया करते थे और मुझे रामायणकी चौपाइयाँ और पण्डितराज जगन्नाथकी गङ्गालहरी, जो उन्हें कण्ठस्थ थीं, रटाया करते थे। इससे भी विचित्र बात यह हुई कि जब मैं नौ-दस वर्षका था, तबसे चार बजे उठनेकी मेरी आदत पक्की हो गयी। सुबह चार और पाँच बजेके बीचमें उठते हुए मुझे आज पैंतीस वर्षके लगभग हो गये। परिणाम यह हुआ कि सन् १९१६ के बाद मुझे आजतक कभी ज्वर नहीं आया; जुकाम भी शायद ही कभी हुआ हो; कब्जकी शिकायत तो कभी नहीं हुई। सन् १९३० में डायबिटीज जरूर हुआ; पर वह दिमागसे अधिक परिश्रम लेनेका परिणाम था।

यह शारीरिक लाभ तो मुझे मिला; पर पिताजी मुझे जैसा धार्मिक व्यक्ति बनाना चाहते थे, मैं वैसा नहीं बन सका। लड़कपनहीसे रामायणके प्रति उन्होंने मुझमें अनुराग उत्पन्न कर दिया और उसका मेरे जीवनपर—मेरे चरित्रपर जो प्रभाव पड़ा, मैं उसका अनुभव करता हूँ; पर पिताजीकी तरह मैं मूर्तिपूजक न हो सका और न मुझमें उनकी तरह ईश्वरपर या धार्मिक ग्रन्थोंमें वर्णित अलौकिक कहानियोंपर निश्चल विश्वास ही जम सका। उसका एक कारण था। गाँवके मदरसेमें, जिसमें मैं पढ़ने जाया करता था, एक अध्यापक थे, जो आर्यसमाजी थे। उन दिनों आर्यसमाजियोंको ईश्वरका अस्तित्व, वेदोंका अपौरुषेयत्व, पुनर्जन्म, मूर्तिपूजाकी असारता सिद्ध करना तथा श्राद्ध, पुराण और पुरोहिताईकी खिल्ली उड़ाना बड़ा रुचिकर बोध होता था। मदरसेके आर्यसमाजी अध्यापकने मुझमें कुतर्क करने, पौराणिकोंकी खिल्ली उड़ाने और वेद-शास्त्रके नामसे ऊलजलूल बातें बकनेकी प्रबल शक्ति जगा दी थी। यद्यपि मैं आगे चलकर कभी आर्यसमाजी नहीं हुआ, पर बालकपनमें प्राचीन रूढ़ियोंके प्रति जो घृणा उत्पन्न हुई, वह बहुत वर्षोंतक साथ रही। बीच-बीचमें अतर्क्य घटनाओंके धक्के दिमाग-को लगते रहे और उस घृणाकी दीवारको भी धक्के लगते रहे; पर स्वभावपर जो छाप पड़ चुकी थी, वह बराबर घिसते रहनेपर भी कुछ अंशोंतक लगातार कायम रही।

लगभग पचास वर्षके लंबे जीवनमें, जबसे होश है, अनेक घटनाएँ सामने आयीं और ज्ञात तथा अज्ञात दोनों रूपोंमें अपना प्रभाव छोड़ गयीं। सबकी चर्चा तो फिर कभी करेंगे। सबसे अन्तकी घटना जो मुझपर घटी है, आज उसीकी चर्चा हम 'कल्याण' के ईश्वरभक्त पाठकों-से करेंगे।

जनवरी १९३९ की बात है। मुझे बरेली कालेज-में ग्राम-साहित्यपर भाषण देनेके लिये मेरे एक प्रोफेसर मित्रका आग्रहपूर्वक निमन्त्रण मिला। यद्यपि भाषण देनेकी तिथिसे आठ ही दिन बाद मेरे ज्येष्ठ पुत्रकी तिलक चढ़नेवाली थी और मैं घरके प्रबन्धमें व्यस्त था, परन्तु मेरे मित्रका आग्रह कई वर्षोंसे था और इस वर्ष आनेका मैं वादा भी कर चुका था; इससे मैंने निमन्त्रण स्वीकार कर लिया।

सुल्तानपुरसे सबेरे ९ बजेके लगभग ट्रेनसे चलकर मैं लखनऊ १ बजेके करीब और लखनऊसे रातमें ११ बजे चलकर बरेली पाँच बजे पहुँचता। मैंने सोचा था कि लखनऊमें ८-१० घंटेका समय मित्रोंसे मिलने-जुलनेमें बिता दूँगा। पर भगवान्‌की इच्छा तो मुझे ५ बजे सबेरे बरेली पहुँचने देनेकी थी ही नहीं। लखनऊके प्लेटफार्मपर उतरते ही मेरे मनमें यह बात आयी कि छोटी लाइनसे चलें और रास्तेमें हरगाँव (सीतापुर) सूगर मिलमें मित्रोंके साथ चार-पाँच घंटे बिताकर रातकी ट्रेनसे बरेली चलें, जो सबेरे छः बजे बरेली पहुँचती है। जाड़ेमें ५ बजेकी अपेक्षा छः बजे पहुँचना अच्छा भी है।

मैंने छोटी लाइनके टिकटघरमें जाकर हरगाँव होते हुए बरेलीका टिकट कटाया। और मैं गाड़ीमें जा बैठा। रातमें ८ बजेके लगभग मैं हरगाँव पहुँचा। जिनसे मिलना था, उनकी कोठीपर गया तो मालूम हुआ कि वे तो लखनऊहीमें हैं। और एक पन्द्रह मिनटके बाद उनके बड़े भाई, जो उसी ट्रेनसे आये थे, आये; उनसे मालूम हुआ कि मेरे मित्र तो अपने भाईको पहुँचाने प्लेटफार्मपर आये थे। यदि मैं उनसे प्लेटफार्मपर मिला होता तो अवश्य ही मैं लखनऊ ठहर गया होता और रातकी पूर्वनिश्चित ट्रेनसे बरेली जाता। पर 'उर-प्रेरक'ने तो हम दोनोंको मिलने ही नहीं दिया। मैं डब्बेमें पहुँचते ही बिस्तरे बिछाकर लेट गया था और लेटे-लेटे अखबार पढ़ रहा था, जब गाड़ी चलने लगी थी। अस्तु, मित्रके घर खा-पीकर मैं रातके डेढ़ बजे स्टेशनपर आया। वहाँ गाड़ीकी राह देखते-देखते साढ़े चार बज गये। पूछताछसे मालूम हुआ कि लखनऊमें उस गाड़ीका एञ्जिन ही पटरीपरसे उतर गया था और रास्ता साफ होनेपर दूसरा एञ्जिन गाड़ीको ला रहा है। इस तरह मैं सबेरे छः बजे बरेली पहुँचनेसे रहा।

हरगाँवसे गाड़ी पौने पाँच बजे सबेरे रवाना हुई और मैं ग्यारह बजेके लगभग बरेली जंक्शनपर पहुँचा। एक स्टेशन पहले ही मुसाफिरोंकी बातचीतसे मुझे पता लग गया था कि बरेलीमें बड़े जोरका दंगा हो गया है। स्थिति भयानक है और रास्ता चलना खतरे-से खाली नहीं है। पर मुझे विश्वास था कि मुझे निमन्त्रित करनेवाले मित्र मेरी रक्षाका प्रबन्ध करके स्टेशनपर आये होंगे; यद्यपि मैं सबेरेकी ट्रेनसे नहीं पहुँचा, पर वे दूसरी ट्रेन जरूर देख लेंगे। मैंने उनकी समझपर काफी भरोसा किया, जो धोखा ही निकला।

स्टेशनके बाहर आते ही मुझे ताँगेवालोंने घेर लिया। चारों ओर सन्नाटा था, केवल ताँगे और ताँगेवाले ही वहाँ मौजूद थे। ताँगेवाले सभी मुसलमान थे। दंगेके दिनोंमें मुसलमान ताँगेवाले मौतके सिपाही बन जाते हैं, यह सुना हुआ अनुभव था। एक ताँगेवालेकी मोछें कटी हुई नहीं थीं, मैंने उसे हिन्दू समझा और उसीको कर लिया। मैं सामान रखवाकर उसके ताँगेपर जा बैठा। लेकिन वह दस-पन्द्रह मिनट-तक दूसरे ताँगेवालोंको अलग ले-ले जाकर कुछ फुस-फुस करता रहा। मुझे कुछ सन्देह हुआ; पर मैं तो उसे हिन्दू समझे हुए था, इससे सन्देह टिकने नहीं पाता था।

थोड़ी देर बाद वह एक दूसरे ताँगेवालेको लेकर आया और दूसरा ताँगा दिखाकर कहने लगा—आप इस ताँगेपर चले जाइये, यह भी अपना ही है। मुझे तो दारोगाजीकी सवारीमें जाना है। मैंने कहा—तो तुमने बैठाया क्यों? मैं जाऊँगा तो इसीपर जाऊँगा, नहीं तो जाऊँगा ही नहीं। मैं उतरकर नीचे खड़ा हो गया। दूसरे ताँगेवालेकी सूरत बड़ी ही भयानक थी। मुँह तो बुलडाग-जैसा था। आज भी नहीं भूलता। आँखें सुर्ख; नाक छोटी और शरारतभरी; वह अगर तबतक खून न कर चुका होगा तो आगे कभी-न-कभी

अवश्य करेगा। मैं उसकी सूरत देखकर ही उसके ताँगेपर जानेको राजी न हुआ।

मुझसे निराश होकर पहले ताँगेवालेने कहा—अच्छा, चलिये मैं ही ले चलूँगा।

मैं ताँगेपर बैठा और शहरकी ओर चला। रास्तेमें ताँगेवालेसे बात करके मैंने मालूम कर लिया कि वह मुसलमान है। मैंने पूछा—तुम मुझे ले चलनेसे क्यों इन्कार कर रहे थे? उसने कहा—साहब, रास्तेमें जानका खतरा है और बदनामीका डर है। मैंने कहा—चलो, पुलिसकी चौकीपर चलो; वहाँसे एक सिपाही साथ ले लेंगे। उसने कहा—हाँ, कुतुबखाना (एक महल्ला) में पुलिसकी चौकी है; वहाँसे एक सिपाही साथ ले लीजियेगा तो अच्छा रहेगा, वहीं तो चल ही रहा हूँ।

मैं निश्चिन्त होकर ताँगेपर चला जा रहा था। दो-चार आदमी सड़कपर चलते-फिरते दिखायी पड़ रहे थे, बाकी सुनसान था। जब मैं शहरके पास पहुँचा, तब दो-तीन पतलूनधारी सज्जन ताँगेके आगे पैदल चलते हुए दिखायी पड़े। जब ताँगा उनके आगे निकला, तब मैंने उनका मुँह देखा। उनमेंसे एक मेरे इलाहाबादहीके थे और पहलेसे अच्छे परिचित थे। ताँगा खड़ा करके उनसे मिला और अपने आनेका कारण बताया, तब उन्होंने कहा—हाँ, आज आपके भाषणकी नोटिस बँटी है; पर आप जा कहाँ रहे हैं? मैंने कहा—कुतुबखानामें पुलिसकी चौकीपर। वहाँसे सिपाही साथ लेकर कालेज जाऊँगा। उन्होंने कहा—आप तो कालेजका रास्ता पीछे छोड़ आये। उस रास्तेमें तो कोई खतरा हई नहीं। और कुतुबखानामें पुलिसकी चौकी तो है भी नहीं। मैंने कहा—यह ताँगेवाला तो मुझे वहीं लिये जा रहा है। इसपर उन्होंने ताँगेवालेको कहा—हरामजादा कहींका; क्यों बे, कुतुबखानामें पुलिसकी चौकी कहाँ है?

उन्होंने मेरा ताँगा घुमवाया और अपने बँगलेमें, जो पास ही था, पहुँचकर कहा—आज भगवान्‌हीने आपकी जान बचायी। कुतुबखानाहीमें तो दंगा हो रहा है। वहाँ तो आप मारकर ऐसा गायब कर दिये जाते कि किसीको आपकी लाश भी न मिलती।

मैंने ताँगेवालेके कहे हुए दोनों वाक्य उन्हें बतलाये, तब उन्होंने कहा—दोनों सच हैं। जानका खतरा आपको था और बदनामीका डर उसे। क्योंकि कभी-न-कभी यह रहस्य खुलता कि एक मुसाफिर उसके ताँगेपर गया था और गायब हो गया; तब उसका नाम पुलिसके रजिस्टरमें दर्ज किया जाता।

अब मेरी समझमें आया कि वह क्यों मुझे बुलडाग-के ताँगेपर बैठा रहा था। बुलडाग निर्दय और निर्भय दोनों था। उसे मेरी हत्या करा देनेमें कुछ भी हिचक न होती। स्टेशनपर उनमें जो फुसफुसाहट हुई थी, वह मेरी हत्याहीके लिये थी और मौतके बहुत निकट पहुँचाकर भगवान्‌ने मुझे अपने मित्रके हाथों बचाया। मेरे मित्र यदि दो मिनट भी देर करके अपने बँगलेसे निकलते तो मैं उसी दिन अखबारोंमें छपनेका विषय बन जाता।

अब सम्पूर्ण घटनापर आदिसे अन्ततक विचार करता हूँ तो यही विश्वास दृढ़ होता है कि कोई रक्षक सदा साथ रहता है और वह ऐसे प्रसङ्ग उपस्थित कर देता है जिनसे कुछ-का-कुछ हो जाता है।

मुझपर इस घटनाका काफी प्रभाव पड़ा है। कोई-न-कोई अदृश्य जगत् हमारे पास और है, जहाँसे हमें प्रेरणाएँ मिला करती हैं। हम स्वतन्त्र बिल्कुल नहीं हैं।

चिन्मय शक्ति और आनन्द

(लेखक—श्रीव्रजमोहनजी मिहिर)

जीवके क्रम-विकासका यह अटल सिद्धान्त है कि प्रत्येक वस्तुको उन्नति करनी है, पूर्ण बनना है और आनन्द प्राप्त करना है। इस सत्यको समझनेमें हमारे अंदर भ्रान्ति उत्पन्न होती है। उन्नतिशील आनन्दमय पूर्ण जीवन क्या है, इसे समझनेमें हमलोग प्रायः गलती किया करते हैं। अधिकतर यह होता है कि इस सुखको हम बाहरकी वस्तुओंमें ही तलाश किया करते हैं। बहुत ही स्थूलरूपमें हम अपनी पञ्च कर्मेन्द्रियोंकी सहायतासे संसारके स्थूल पदार्थोंमें इस आनन्दकी खोज करते हैं। पूर्व अभ्यासके कारण हमें यह भासित होता है कि इनका उपभोग ही आनन्दका मुख्य आधार है। इस भ्रान्तिमें निमग्न होकर हम अगणित वस्तुओंके भोगद्वारा अपनी तुष्टि करनेका प्रयत्न करते हैं। बाहरके किसी पदार्थमें आनन्दकी खोज करना असम्भवमें सम्भवकी कल्पना है। प्रायः हम थोड़ी-थोड़ी चीजोंसे प्रसन्न हो जाते हैं और समझने लगते हैं कि हमें किसी वस्तुकी आवश्यकता नहीं है। कुछ समयके लिये यदि रहनेके लिये अच्छे मकान, पहननेके लिये वस्त्र और भोजनके लिये स्वादिष्ट पदार्थोंका प्रबन्ध हो गया तो हम यही समझने लगते हैं कि यही सब कुछ है, इसके अतिरिक्त और किसी वस्तुमें आनन्द नहीं है। मारे खुशीके हम फूले नहीं समाते। अज्ञान इतना अधिक बढ़ जाता है कि कुछ समयके लिये इसके अतिरिक्त और कोई बात सोचना, करना अथवा सुनना हमें पसंद नहीं आता।

इन्द्रिय-उपभोगोंके द्वारा आनन्द प्राप्त करनेकी इच्छा हमारे लिये पहली रुकावट है। लेकिन इस रुकावटको हम बहुत बड़ी रुकावट नहीं समझते, क्योंकि इसमें हम अपनी स्थूल इन्द्रियोंद्वारा संसारके स्थूल सुख-भोगोंका अनुभव किया करते हैं। यह रोग तो कष्टसाध्य है और उचित उपचारद्वारा कुछ समयमें अच्छा हो जाता है। इसके अतिरिक्त सूक्ष्म सुख-भोगरूपी रोग बहुत ही भयङ्कर हैं, जो शरीरके नष्ट हो जानेपर भी नहीं नाश होते। शीघ्र उपचार न होनेसे ये असाध्य हो जाते हैं। मनके द्वारा जिन बातोंका हम चिन्तन किया करते हैं या जो कार्य किया करते हैं, उनका अभ्यास अधिक दृढ़ हो जानेसे वे हमारे सूक्ष्म तन्तुओंपर अपना अचूक प्रभाव डालते रहते हैं। मनकी इस सूक्ष्म क्रियाद्वारा हमारे ज्ञान-तन्तु शून्य हो जाते हैं। ये तन्तु केवल मनके दास हैं। अपनी स्वतन्त्र सत्ता नष्ट करके मनके आदेशसे ये अज्ञानयुक्त अनियन्त्रित कार्योंको करने लगते हैं। थोड़े समय पश्चात् इनका एक दूसरा नवीन रूप बन जाता है और उनको इस प्रकारका नवीन कार्य करनेका अभ्यास हो जाता है। इनका रूप बदल जानेके कारण इनकी स्वतन्त्ररूपसे विचार करनेकी शक्ति जाती रहती है और हम इस नये अभ्यासको बड़ी मुश्किलसे छोड़ पाते हैं और कभी-कभी नहीं भी।

इस प्रकार हमारे मनकी कल्पना हमारे स्थूल शरीरके व्यापारोंसे अधिक सूक्ष्म है और बड़ी कठिनतासे छूटती है। इसपर यदि हम अपनी कड़ी निगाह नहीं रखते तो फिर इसकी दशा उस जलयानकी-सी हो जाती है जो एक बहुत बड़े तूफानके बीचमें पड़कर समुद्रकी वेगवती लहरोंके थपेड़ोंसे डगमगाया करता है, डूबता और उतराता है तथा कभी-कभी उन थपेड़ोंसे न बच सकनेपर अपनी सत्ताको नष्ट कर देता है। इसलिये मनकी प्रगतिशील गति हमारा सुदृढ़ और अन्तिम बन्धन है। हमारी स्थूल इन्द्रियाँ सीमित हैं। असंयत मनकी सहायतासे चाहे हम उनके द्वारा विषयोंका अधिक-से-अधिक उपभोग करें और करना

चाहें, लेकिन थककर ये एक-न-एक दिन हमें जरूर जवाब दे देती हैं। किन्तु मनकी उड़ानमें थकान बहुत देरसे आती है। यह वह बमका गोला है जो स्वयं विनष्ट होकर साथमें अपने साथीको नष्ट करके ही चैन लेता है।

तब क्या यह समझा जाय कि इन स्थूल और सूक्ष्म बन्धनोंके कारण चिन्मय शक्ति बिल्कुल परवश है। नहीं, इसकी सत्ता हमारे मन और शरीरकी सत्तासे बिल्कुल भिन्न है। यह किसीके रोके रुक नहीं सकती। मन और शरीर तो इसके दास हैं। अपने हाथमें बागडोर रखते हुए भी इस शक्तिने मन और शरीरको बहुत ज्यादा स्वतन्त्रता दे रक्खी है। यह स्वतन्त्रता इनको इसलिये दे रक्खी है कि इनकी सहायतासे कर्मबन्धन शीघ्र समाप्त हो जाय। लेकिन कभी-कभी अराजकता करके ये और भी अधिक मुसीबतमें फँस जाते हैं। इनको बहुत बिगड़ा हुआ देखकर चिन्मय शक्तिको इन्हें नष्ट कर देनेकी आवश्यकता होती है। इसीलिये हम अपने मन और शरीरद्वारा चाहे जितने बिगड़ जायँ, लेकिन फिर भी हमें पूर्ण बनना ही होगा, आनन्दमें निवास करना होगा और इस सत्ताको स्वीकार करना होगा।

जब हम यह भली प्रकार समझ लेते हैं कि आनन्द बाहरकी किसी वस्तुमें नहीं है, तो फिर हमें अधिक भटकना नहीं पड़ता। हमारा रास्ता सीधा हो जाता है। इस रहस्यको समझकर पूर्व बन्धनोंके कारण उस आनन्दकी स्थितिमें अवस्थित होनेमें चाहे विलम्ब भले ही हो जाय, लेकिन हमें इस बातकी निश्चिन्तता हो जाती है कि हम उसे अवश्य प्राप्त कर लेंगे। अब प्रश्न यह उठता है कि वह आनन्द क्या वस्तु है, उसको कैसे प्राप्त करें और उसका क्या अभिप्राय है? किन-किन उपायोंद्वारा उसकी प्राप्ति हो सकती है? मनके किस प्रकारके नियन्त्रण, विचार और भावोंद्वारा अनन्त आनन्दकी पूर्णताको हम प्राप्त कर सकते हैं और उसमें निवास कर सकते हैं? निःसन्देह वह एक ऐसी वस्तु है जहाँ पूर्ण शान्ति और सुख है। वहाँ पहुँचकर मनुष्य अपनी पृथक् सत्ताको नष्ट कर देता है।

अपने जीवनके सुख-दुःखका अनुभव ही हमें उसके वास्तविक लक्ष्यकी ओर अग्रसर करता है। लेकिन यह अनुभव अपना ही हो, जिसे हम परोक्ष कार्य और ज्ञानकी सहायतासे प्राप्त करें।

मेरे अनुभवमें जो-जो बातें आयी हैं, उन्हें इस लेखमें अथवा ऐसे और कई लेखोंद्वारा लिखनेकी चेष्टा करूँगा। ऐसा भी हो सकता है कि लेखमें कहीं-कहीं रूखी बातें या किसी एक प्रचलित सम्प्रदायके सिद्धान्तोंके विरुद्ध कोई बात आ जाय; लेकिन इस सम्बन्धमें मेरा यह नम्र निवेदन है कि वे बातें किसीको दुःख पहुँचानेके अभिप्रायसे नहीं लिखी जायँगी। सत्य अथवा आनन्द-जैसे कठिन विषयपर लिखनेके लिये तो अपने ही निजके अनुभवपर निर्भर करना पड़ता है। प्रत्येक प्राणीका विकास अनिवार्य है। जिसे आज हम बहुत गिरी हुई दशामें देखते हैं, वह भी उचित प्रयास करता हुआ विकासके अन्तिम लक्ष्यतक अवश्य पहुँचेगा। विकास-क्रमके अनुसार केवल इतना ही अन्तर हो जाता है कि जिसके मनमें सत्यको जान लेनेके लिये जितनी तीव्र लालसा होगी, वह उसे और लोगोंकी अपेक्षा जो मन्द गतिसे चलते हैं शीघ्र प्राप्त कर लेगा। मनमें अपनी वर्तमान अवस्थाको लेकर जितनी अधिक क्रान्ति होगी, उतना ही शीघ्र उस प्राणीकी उन्नति होगी। मनकी इस प्रकारकी दशासे उचित मार्ग पा लेनेमें बड़ी सहायता मिलती है।

क्या ही अच्छा हो कि हम सब लोग अपने छोटे झरोखेको छोड़कर बड़ी खिड़कीकी ओर आवें और उससे झाँककर मनोग्राही दृश्य देखें, लेकिन देखें सावधान होकर। ऐसा करते समय हमारा मन किसी प्रकारकी भावनासे उद्वेलित न हो उठे, हम किसी प्रकारके

आवेशमें न आ जायँ और न दूसरोंके सुन्दर शब्दोंको सुनकर हम विमोहित हो जायँ। सबसे बड़ी वस्तु आपके पास अपना व्यक्तित्व है। यदि बहुतसे मनुष्य एक कार्यको करते हैं तो आप भी उसीमें विना समझे-बूझे न लग जायँ। आपको अपने उत्थानके लिये स्वयं विचार करना चाहिये। स्वयं विचारकर यदि आप किसी कार्यकी ओर अग्रसर होंगे तो आपकी उन्नति अवश्यम्भावी है। विना विचारे हुए यदि आप दूसरोंके कहनेपर चलेंगे तो आप अपने साथ अन्याय करेंगे और आपका अवश्यमेव अकल्याण होगा।

मन, चित्त और बुद्धि—हमारे शरीरमें तीन प्रवेशी (पहरेदार) हैं। शरीरका समस्त कार्य इन तीनोंकी सहायतासे सम्पन्न होता है। इनके ऊपर एक चैतन्य-शक्ति है, जो इन्हें कार्य करनेके लिये प्रेरित करती है। लेकिन इनमेंसे प्रत्येक अपना-अपना कार्य करनेमें स्वतन्त्र है। जब इन्हें परम स्वतन्त्रता प्राप्त है तो ये अच्छे और बुरे सब काम कर सकते हैं। जीवमात्रको नीचेसे ऊपर उठना पड़ता है। अतः हम सबोंमें तामसिक और राजसिक भाव अधिक होते हैं। यदि हम मनको ठीक मार्गपर चलावें तो यह एक अपार शक्ति हमारे पास है। इसकी उचित सहायतासे हम बराबर आगे बढ़ते जायँगे। यही हमारा सच्चा सहायक और मार्गप्रदर्शक है। मन ही हमारे शरीरपर शासन करता है। इसके उचित कार्यसे हम जितना ऊपर उठते हैं, उतना ही इसके अनुचित कार्योंसे अधोगामी होते हैं। इस प्रकार मन जितना हमारा सच्चा मित्र है, उतना ही यह कट्टर शत्रु भी है। अतः यदि हम इसका उचित उपयोग करें तो यह सदा हमारा सहायक है और हमें ठीक मार्गपर ले चलनेवाला है। इसलिये मनका उचित उपयोग करना चाहिये। यदि हम इसकी लगाम कड़ी रक्खेंगे तो सधे हुए शीघ्रगामी तुरङ्गकी भाँति यह हमें अपने मंज़िले मक़सूदपर बहुत जल्दी पहुँचा देगा।

मन एक बहुत ही बड़ा कार्यकर्ता है। इन्द्रियोंकी सहायतासे इच्छा उत्पन्न करना इसीका काम है। साधनाकी प्राथमिक अवस्थामें इच्छाका तीव्र वेग हमारे उत्थानके लिये बहुत ही सहायक होता है। इच्छा-रहित हमारा सारा जीवन वृक्ष अथवा पाषाणवत् जड है। इच्छासे शरीरमें स्पन्दन उत्पन्न होता है, जिससे हम अपने कार्यमें तल्लीन होते हैं। ऐसी इच्छा सांसारिक इच्छाकी श्रेणीमें नहीं आवेगी। जो इच्छा तदात्मता प्राप्त कराती है, वह इच्छा इच्छा नहीं है, बल्कि आनेवाली दशाकी छाया है।

लेकिन इच्छाओंपर हमारी पूरी आँख होनी चाहिये। हमें बड़ी सावधानीसे देखना चाहिये कि कहीं हमारी इच्छा हमें कुमार्गकी ओर तो नहीं ले जा रही है। यदि हम इसपर थोड़ा कड़ा शासन रक्खेंगे तो वैसा कदापि न होगा, बल्कि उचित इच्छाका वेग हमारे बीहड़ पथको समतल और सुन्दर बना देगा। वह हमारे लिये एक ऐसी सीधी सड़क तैयार करेगा जिसपर हम सरपट दौड़ते हुए चले जायँगे। इस प्रकारकी इच्छा वरणीय है, त्याज्य नहीं है। एक वह समय भी आयेगा जब इसकी भी कोई आवश्यकता नहीं रहेगी; लेकिन उसे अभी छोड़िये। पहले तो अंदर कोई सीधा रास्ता पकड़नेकी धुन होनी चाहिये। लेकिन धुन हमारे अंदर ऐसी होनी चाहिये जिससे हमें शक्ति, दृढ़ता और ठीक पथपर चलनेकी युक्ति प्राप्त हो। इस इच्छामें अपने स्वार्थ अथवा लाभकी इच्छा विषवत् त्याज्य है। इसमें किसी प्रकारके लाभकी आकाङ्क्षा नहीं होनी चाहिये। आप अपनेको दूसरोंके सामने रखनेकी इच्छा या किसीसे अपना कोई स्वार्थ सिद्ध हो ऐसी इच्छा कदापि न करें। ऐसी इच्छाओंसे पथ दुर्गम हो जायगा। आप एक अनजान बटोहीकी तरह मरीचिकामय मार्गमें सारी उमर भटकते रह जायँगे। जिससे आप उन्नति कर सकें, जिससे आपका

मार्ग सीधा हो जाय, जिससे आपको दृढ़ता प्राप्त हो—ऐसी इच्छाएँ करनी चाहिये। साधना-कालमें इस प्रकारकी इच्छा आवश्यक है। इससे आगे बढ़नेमें सहायता और शक्ति स्वयं प्राप्त होती है।

मनहीकी तरह दूसरी वस्तु हमारे पास बुद्धि है। लेकिन इसकी परिधि मनकी तरह बहुत विस्तृत नहीं है। बुद्धि किसीमें अधिक विकसित होती है और किसी-किसीमें कम। अधिक बुद्धि अच्छी वस्तु अवश्य है, लेकिन इसकी कमीसे हमें अधिक हानि नहीं होती। हमें तो केवल इतनी बुद्धिकी आवश्यकता है, जिससे हम अपने साधारण कार्यका भली प्रकार सम्पादन कर सकें, बुरे और भलेकी पहचान कर सकें। कहा भी है कि थोड़ी बुद्धि अपने लिये होती है और बहुत-सी दूसरोंके लिये। थोड़ी-सी उतनी ही बुद्धि होनी चाहिये जिसकी सहायतासे हम बातकी तहतक पहुँच सकें। अपनेको आगे बढ़ानेके लिये यह प्रथम सोपान है। इसलिये आरम्भसे ही हमें इसका प्रयोग करना चाहिये। पहाड़का रास्ता बहुत ही बीहड़, पथरीला और पेचीदा है। पहाड़की सबसे ऊँची चोटीपर पगडंडीके मार्गसे होकर पहुँचना है। चलते समय यदि मन किसी ओर बहका, निगाह जरा भी इधर-उधर हुई, तब फिर खैर नहीं—इतनी जोरसे गिरोगे कि प्राण-पखेरू तो उड़ ही जायँगे, हड्डी-पँसलीका भी कहीं पता न चलेगा। इसलिये जिधर चलते हो, उसी ओर अपनी निगाह सीधी रक्खो—तभी तो बेड़ा पार होगा।

हमारा मार्ग है आनन्दके राज्यकी ओर प्रस्थान करना और उसीमें निवास करना। इसी राज्यको हम सबोंको प्राप्त करना है। इसी आनन्दके राज्यमें हम-लोगोंको सदा निवास करना चाहिये। लेकिन यह वस्तु किसी एक स्थानपर नहीं है। इसे प्राप्त करनेके लिये हमें किसी वनकी यात्रा या विशाल समुद्रतट या नदी-तटपर जाने या किसी शहर, मन्दिर या मसजिदमें जानेकी आवश्यकता नहीं है। यह सौन्दर्यकी राशि तो हमारे पास सदासे है। केवल हमें एक दफा अंदर डुबकी लगाना है। बहुत-से पनडुब्बे समुद्रमें डुबकी लगाते हैं और रत्नोंको प्राप्त कर लेते हैं, उनकी तरह हम भी अंदर प्रवेश करके शान्तिप्रदायक आनन्दको प्राप्त कर सकते हैं। यदि हमारा प्रवेश ठीक हुआ तो उस पनडुब्बेसे भी कम कष्ट हमें उठाना पड़ेगा। बस, आवश्यकता है तन, मन और बुद्धिके एक होनेकी। इन तीनोंके ऐक्यसे आनन्दके राज्यमें हमारा प्रवेश हो जायगा और हम उस आनन्दमय राज्यकी सुरम्य वाटिकामें विहार करने लगेंगे। वहाँकी सुगन्धित समीर हमारे अंदर ऐसी मस्ती लायेगी कि फिर हमें दीन-दुनियाकी, द्वैत-अद्वैतकी, सगुण-निर्गुणकी—किसीकी सुधि न रहेगी, ऐसी मस्ती आयेगी कि दिन-रातका भी ज्ञान नहीं रहेगा।

लेकिन इस बातको ध्यानमें रखना चाहिये कि इस दशाको हम दूसरोंके बताये हुए मार्गपर चलकर नहीं प्राप्त कर सकते। इसे प्राप्त करनेके लिये हमें अपने ही अंदर कोलाहल मचाना पड़ेगा, हमींको सुख-दुःखके बीचसे होकर जाना पड़ेगा। हमें अपने ही सुख-दुःखसे अनुभव प्राप्त करना पड़ेगा। बस, केवल यही एक शर्त है कि हम अपना ही कहना मानें, अपने अंदरकी ही आवाजपर ध्यान दें। बस, हमने ऐसा किया नहीं कि बेड़ा पार है।

नदी पहाड़से निकलकर समुद्रमें गिरती है। जब-तक वह जाकर समुद्रमें मिल नहीं जाती, उसमें स्थिरता नहीं आती। प्रवाहकालमें वह कितने पहाड़की चट्टानों, पत्थरों और वृक्षोंसे टक्कर खाती है, लेकिन उसका प्रवाह रुकता नहीं, बल्कि वह अधिक वेगसे आगे बढ़ती हुई चली जाती है। मार्गकी इन रुकावटोंसे उसमें ग्लानि नहीं आती। उसके अंदर नवीन सङ्गीत-की ध्वनि सुन पड़ती है। उसके अंदर बहुत अधिक

उत्साह होता है। सारे मार्गमें वह ऐसे ही नाचती-गाती, कूदती-फाँदती अदम्य उत्साहके साथ आगे बढ़ती हुई समुद्रमें मिल जाती है। जहाँ कहीं उसके मार्गमें रुकावट आती है वहाँ उसमें गर्जन भी होता है, लेकिन किसी स्थानपर उसका प्रवाह रुकता नहीं है। अपने प्रत्येक सुख-दु:खमें उसे आनन्द मिलता है, अपनी हर एक दशामें वह सौन्दर्यका दर्शन करती है और अपनी शान समझती है। ठीक ऐसी ही दशा उन लोगोंकी भी होती है, जो अनन्तकी ओर अग्रसर होते हैं, जो दुनियाके सारे झगड़े-बखेड़ोंसे छुटकारा पाते हैं। जैसे नदी अपने मार्गकी कठिनाइयोंको प्रियतमके पास पहुँचनेके हेतु खुशी-खुशी सह लेती है, वैसे ही हमें भी दुनियाकी झंझटोंको, यहाँके सुख-दु:खसे होकर जानेको, शिरोधार्य करना चाहिये। नदीकी तरह केवल एक ही ध्यान रखना चाहिये कि हमें अनन्त आनन्दको प्राप्त करना है।

जितना अधिक हमारा सुख-दु:ख होगा, उतना ही तीव्र हमारे मनमें उससे छुटकारा पानेका भाव होगा। उतना ही सुन्दर हमारा अनुभव होगा और उतनी ही शीघ्रतासे हम अपने लक्ष्यको प्राप्त कर लेंगे।

जब हम एक बार इसका रसास्वादन कर लेंगे, जो सब सुखोंका सुख है, जो सब ज्ञानोंका ज्ञान है तो दुनियाकी सारी चीजें हमें फीकी लगने लगेंगी। यहाँकी कोई वस्तु हमें प्रसन्न और सन्तुष्ट न कर सकेगी।

इस स्थितिको प्राप्त करनेके लिये देश, काल, पात्रका कोई विचार नहीं है। युवा-वृद्ध, गृहस्थ-संन्यासी, सबके लिये इसका द्वार समानरूपसे खुला है। अवश्य ही संसारकी समस्त वस्तुओंसे विरक्त होकर, राग-द्वेष छोड़कर इसमें प्रवेश करना होगा। यहाँ 'विरक्त' और 'राग-द्वेष' शब्दोंको तनिक समझ लेनेकी आवश्यकता है। संसारके प्रति विरक्त होनेसे मेरा अभिप्राय यह है कि यहाँकी किसी वस्तुमें हमारी आसक्ति न होनी चाहिये। यदि आज आप किसी वस्तुका उपभोग कर रहे हैं तो उसमें आपकी प्रसन्नता न रहे, उसमें आपकी रुचि न रहे। यदि कारणवश उस वस्तुका भोग आपसे छूट जाय तो आपके मनमें किसी प्रकारका क्षोभ, क्लान्ति और दु:ख न हो। किसी वस्तुका भोग करते समय आपके मनमें यह इच्छा न हो कि अमुक पदार्थका भोग करते ही जायँ। किसी पदार्थके भोग करनेसे यदि आपकी उन्नतिमें अवरोध होता हो तो उसे तुरंत छोड़ देना चाहिये। अपने ऐसे पूर्वके अभ्यासोंको छोड़कर जब हम आगे बढ़ेंगे तो हमें अवश्य आनन्दकी प्राप्ति होगी, जो कि सब सुखोंका सुख है, सब अच्छे-से-अच्छे बोधोंका बोध है। ऐसे आनन्दके मिल जानेपर भला, आप दुनियाकी और चीजें क्यों चाहने लगेंगे? प्रत्येक मनुष्य, जो जीवनमें सचेत है, जिसने उसके रहस्यको समझ लिया है, जो उसके साथ युद्ध कर रहा है, इस स्थितिको अवश्य प्राप्त कर लेगा। जो इस आनन्दको प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें चाहिये कि समय-समयपर उनके अंदर जो आवाज सुन पड़ती है उसका वे अवश्य सत्कार करें और उसकी आज्ञाको मानें।

आनन्द हमारे अंदर है। इसलिये यह बहुत जरूरी हो जाता है कि हम इसे अपने मस्तिष्कसे समझें। भावुकतामें भरकर रोना-हँसना, गाना-चिल्लाना आदि बहुत ही आसान है। आनन्दमें निवास करनेका भाव अपने मस्तिष्कसे विचार करनेपर ही निकलेगा। इससे आपको शक्ति प्राप्त होगी, जो कि आपकी कठिन अवसरोंपर रक्षा करेगी। आनन्दमें निवास करनेपर मनुष्यके अंदर स्वयं विचार करनेकी शक्ति उत्पन्न हो जाती है, जिससे वह सत्यस्वरूप होकर संसारके पदार्थोंमें भेद-बुद्धिको मिटा देता है। उसके अंदरसे द्वैतकी भावना लुप्त हो जाती है।

डाकूबाबा

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

(१)

'आज डाकूबाबाकी चढ़ाई है, देखते नहीं कि मन्दिरसे सब वस्तुएँ हटा ली गयी हैं और पाण्डुरङ्गका साधारण कपड़ोंमें पुजारीजीने श्रृङ्गार किया है ?'

नारायणदासने भगवानसिंहकी इस व्याख्यासे चौंककर पूछा 'डाकूबाबा कौन ? उनकी चढ़ाईमें क्या होता है ?'

'तुम तो पहली बार पण्ढरपुर आये हो,' भगवानसिंह बोले, 'यहाँ डाकूबाबाकी चढ़ाई प्रसिद्ध है। नदीपार उधर पहाड़ोंमें बड़े प्रसिद्ध महात्मा डाकूबाबा रहते हैं। वे एक दिन वर्षमें अपने शिष्योंको लेकर विठोबापर चढ़ाई करते हैं। आज दोपहरको यहीं रहना, मन्दिरके बाहरसे सब कुछ देखते रहना। कहीं भूलसे मार्गमें या मन्दिरमें मत चले जाना, नहीं तो डाकूबाबाके साथी पीट-पीटकर हलवा कर देंगे।'

'अरे वैसे ही पीटेंगे ? मैंने उनका कुछ बिगाड़ा थोड़े ही है। पुलिस भी तो रहती है, वे चाहे जिसे कैसे पीटने लगेंगे ?'

'पुलिसकी भला क्या शक्ति जो उनके सामने पड़े। वे पीटते तो हैं पाण्डुरङ्गको ! तुम्हारी तो क्या चर्चा। पिछले साल वह मन्दिरका बड़ा पुजारी, जो पहलवान है, गर्वसे मन्दिरमें रह गया। उसे डाकूबाबाने इतना पीटा कि कई दिन ज्वर आया।'

'तो क्या पुजारी भी मन्दिर छोड़ देते हैं ?'

'पुजारी तो क्या, कोई भी मन्दिरमें उस समय नहीं रहने पाता। डाकूबाबा आकर सीधे मन्दिरमें चले जाते हैं और वहाँ जो कुछ मिलता है लेकर लौट जाते हैं।'

'बड़े विचित्र महात्मा हैं ! भला महात्मा भी कहीं ऐसे होते हैं ?'

'सिद्ध महात्मा हैं, दर्शन अवश्य करना। कहीं इधर-उधर रह मत जाना।'

'भाई ! दर्शन तो करूँगा, पर मेरी समझमें नहीं आता कि तुमलोग ऐसे व्यक्तिको क्यों महात्मा कहते हो।'

'चुप रहो, महात्माओंकी बातें तुम क्या समझो।'

(२)

'डाकूबाबा ! डाकूबाबा !'

लड़कोंने पहलेसे ही पुकारना प्रारम्भ किया। भगवानसिंह हाथ पकड़कर नारायणदासको नदीकी ओर ले चले। दूरसे उन्होंने दिखलाया 'नदीके उस पार वह डाकूबाबा आगे-आगे आ रहे हैं। उनके पीछे उनके शिष्य हैं।'

दृढ़ एवं पुष्ट शरीर, काला वर्ण, बढ़े हुए केशकी जटाएँ और लम्बी दाढ़ी। शरीरपर एक मैली-सी चद्दर और कमरमें कसा हुआ मृगचर्म। एक हाथमें लम्बी और मोटी लाठी तथा दूसरेमें बड़ी-सी रस्सी। डाकूबाबा लम्बे थे और उनके साथी कुछ ठिगने। वेशभूषा सबकी प्रायः एक-सी ही थी।

'बाबा क्यों—ये तो पूरे डाकू हैं।'

भगवानदासने कहा 'देखो अभी पता लग जाता है।'

नदीका जल बढ़ा हुआ था, धारा इतनी प्रखर थी कि जङ्गली वराह भी पार होनेका साहस न कर सकता था। कोई नौका थी नहीं, पर डाकूबाबा बेधड़क आगे बढ़ते आ रहे थे। इस पार बहुत बड़ी भीड़ किनारे उनके मार्गको छोड़कर उनकी प्रतीक्षा कर रही थी। छोटे बच्चे विशेष उत्सुक दीखते थे।

बाबा साथियोंके साथ किनारे आये और जलमें भी वैसे ही बढ़ते चले आये जैसे पृथ्वीपर ही चल रहे हों।

'अरे ये लोग बहना चाहते हैं क्या ?' आश्चर्यसे नारायणदासने कहा।

नदी उन्हें मार्ग देगी।' भगवानसिंहके उत्तरमें दृढ़ विश्वास था।

सम्भवतः नदी भी डर गयी डाकूबाबाके कठोर एवं उग्र वेशसे। वे जलमें बराबर बढ़ते आये, पर जलकी धारा उनके आगे और पीछे अगाध होनेपर भी उनके समीप घुटनेभर ही जल रहा। भीड़ इस पारसे पुकार रही थी 'डाकूबाबाकी जय!'

डाकूबाबा वैसी ही तीव्र गतिसे जलसे निकलकर मन्दिरकी ओर बढ़े। भीड़ उनके पीछे चली। लोग मार्गकी धूलिपर टूटे पड़ते थे। सिरपर उस धूलिको चढ़ानेमें सब अपना सौभाग्य समझते थे।

भगवानसिंहके संग नारायणदासने भी वह रज मस्तकपर चढ़ायी।

छोटे बच्चे डाकूबाबाको घेरे हुए थे। बाबा बच्चोंकी ओर अपनी झोलीसे कुछ मेवे फेंकते हुए बढ़ रहे थे। लड़के मेवे लूटकर फिर उनके पास दौड़ जाते।

मन्दिरके सामने आकर बाबाने गर्जना की 'हर हर महादेव!' द्वार तो खुला था ही, वे अपने साथियोंके साथ भीतर चले गये। शेष सबलोग और उनका एक साथी बाहर रह गया। वह साथी द्वारपर लाठी लिये ऐसा खड़ा था मानो द्वार-रक्षाको बाबा उसे छोड़ गये हों।

तड़-तड़-पड़-पड़ भीतर लाठियों एवं रस्सियोंके प्रहारके शब्द होने लगे। थोड़ी देरमें बाबा सदल मन्दिरसे बाहर आ गये। उन लोगोंके पास श्रीविग्रहोंके वस्त्र और आरती-पूजाके बर्तन थे। एक पोटली-सी थी। पता नहीं उसमें क्या था।

मन्दिरसे निकलकर भागते हुए बाबा पूर्ववत् नदी पार होकर चले गये। भीड़ मन्दिरमें पहुँची।

शीशे और मिट्टीके पात्र तोड़ दिये गये थे। श्रीविग्रह रस्सीसे बँधे थे, उनके ऊपरके सब वस्त्र बाबा ले गये थे। मन्दिरमें न तो कोई पात्र बचा था, न कोई वस्त्रका टुकड़ा ही।

शीघ्रतासे पुजारीने रस्सियाँ खोल दीं। किसीने पीताम्बर चढ़ा दिया। भक्तोंने लुटे हुए भगवान्‌को जी खोलकर दान किया। उपहारोंका ढेर लग गया। शृङ्गारके लिये पट बन्द हुए। सब लोग बाहर आ गये।

(२)

नर्मदाजीकी तराईमें एक बड़ा भयंकर डाकू रहता था अभयराव। लोग उसके नामसे ही काँपते थे। सूचना देकर दिन-दोपहर अभयका डाका पड़ता था। सशस्त्र फौजोंके देखते-देखते अभयका धावा होता और जादूगरकी भाँति वह अपना कार्य करके चला जाता।

बहुत चेष्टा की गयी, बहुत वीर जासूसोंने प्रतिज्ञा की, पर सब व्यर्थ। अभय बन्दी नहीं हुआ। जासूसोंके छिन्न मस्तक लाकर कई बार वह अधिकारियोंको चुनौती दे चुका था।

एक विशेषता थी, अभयने कभी गरीबोंको लूटा नहीं। वह किसीको भी अकारण तङ्ग नहीं करता था। दुखियोंको उससे आर्थिक सहायता भी मिलती थी। केवल अधिकारियोंको वह तङ्ग करता था। डाके तो वर्षमें एक-दो डालता और सो भी अर्थकी बहुत आवश्यकता होनेपर।

आस-पास कोई साधु-महात्मा आते तो अभय उनकी सेवासे कभी पृथक् न रहता। स्थायी रहनेवाले सभी साधु उसकी प्रशंसा करते थे।

एक विरक्त महात्मा नर्मदा-किनारे घूमते-घामते आये। अभयको पता लगा, वह नियमानुसार महात्माजीके पास फलोंका टोकरा लेकर पहुँचा। फल रखकर प्रणाम किया और फिर चल दिया।

कई दिन इसी प्रकार बीते। महात्माजीने दूसरोंसे

पूछा 'यह नित्य फल लेकर कौन आता है ?' लोगोंने परिचय दिया ।

दूसरे दिन अभय प्रणाम करके चलने लगा तो महात्माजीने पूछा 'भाई ! तुम कहाँ रहते हो ? क्या करते हो ? मेरे पास क्यों आते हो ?'

'महाराज ! कहाँ रहूँ, ये पर्वतकी गुहाएँ ही मेरे गृह हैं । डकैती करके पेट भरता हूँ । केवल दर्शनोंके लिये आता हूँ । मुझे और कुछ चाहिये नहीं ।' नम्रतासे डाकूने उत्तर दिया ।

'तुम डकैती क्यों करते हो ? भला कितनी आत्माएँ तुम्हें अभिशाप देती होंगी । मनुष्य-जीवन इन दुष्कर्मोंमें बितानेके लिये थोड़े ही है । यदि इस जीवनमें प्रभुकी प्राप्ति न हुई तो फिर जीवन व्यर्थ ही गया । पता नहीं फिर कौन-सी योनि मिले ।'

उपदेशने काम किया । भरे नेत्रोंसे डाकू सरदार महात्माजीके चरणोंके समीप बैठ गया । रोते हुए उसने कहा 'गुरुदेव ! पापी पेटके लिये कुछ तो करना ही पड़ेगा । भिक्षा मुझसे तो माँगी जायगी नहीं । दूसरे, मन अब डाका डाले बिना मानेगा भी नहीं । अतः इस कार्यको करते हुए भी यदि मेरे उद्धारका कोई उपाय हो तो अवश्य दया करें ।'

महात्माजी थोड़ी देरके लिये चुप हो गये । कुछ सोचकर वे गम्भीरतापूर्वक बोले 'यदि डाका ही डालना है तो संसारके इन तुच्छ कीटोंपर क्यों हाथ गन्दे करते हो ? भला इन लोगोंके पास धरा ही क्या है ? डाका डालो, पर संसारके स्वामीके घर । उसका डाका डालनेके लिये भी चिन्तन करोगे तो कल्याण हो जायगा ।'

'मेरी समझमें तो कुछ भी नहीं आया । संसारके स्वामी कौन हैं ? उनका घर कहाँ है, जहाँ डाका डालूँ ?' डाकूने पूछा ।

महात्माजी बोले 'पहले प्रतिज्ञा करो कि दूसरोंके घर डाका नहीं डालूँगा ।' अभयने महात्माजीके चरणोंपर हाथ रखकर प्रतिज्ञा की ।

महात्माजीने बताया 'वर्षमें एक बार पण्ढरपुरमें विठोबाके मन्दिरमें डाका डाल लिया करो । केवल एक बार आजके ही दिन । तुम्हें वर्षभर साथियोंके साथ उदरपूर्तिकी सामग्री वहाँसे मिल जाया करेगी । विट्ठलका चिन्तन करो, उनके रूपका स्मरण करो और वर्षभर उनके यहाँ डाका डालनेका उपाय सोचते रहो ।'

महात्माजीने कुछ और भी चुपचाप अभयके कानमें कहा । सम्भवतः वह गुरुमन्त्र होगा । अभय उसी दिन वहाँसे चलकर पण्ढरपुर पहुँचा और उसने मन्दिरको भली प्रकार लूट लिया ।

इसके पश्चात् किसीने अभयराव डाकूका नाम नहीं सुना । पता नहीं वह और उसके साथी कहाँ गये ।

(४)

नदीके उस पार पर्वतकी एक गुफामें ५-७ साधु रहते थे । इनमें जो प्रधान थे, उन्हींको लोग डाकूबाबा कहते थे ।

पण्ढरपुर वर्षमें एक दिन डाकूबाबाका धावा होता था । धावेसे लौटते हुए मन्दिरके द्वारपर वे उच्चस्वरसे कह आते 'आगामी वर्ष पुनः इसी दिन ।'

चाहे पत्थर पड़े या मूसलाधार वर्षा हो, पर डाकूबाबाका धावा ठीक उसी तिथिको होता था । दोपहरसे पूर्व ही वे पहुँच जाते थे । यह नियम उनके जीवनमें कभी नहीं टूटा ।

डाकूबाबाके यहाँ रोगी एवं अर्थार्थी लोगोंकी उस जङ्गलमें भी भीड़ लगी रहती थी । लोग बाबाके यहाँ दूर-दूरसे आते थे । बाबा न तो किसीसे बोलते थे, न किसी ओर देखते थे । उनकी लाठी, जो डाकेके दिन ही काममें आती थी, रक्खी रहती थी; लोग उसी

मठीपर प्रसाद चढ़ाते और वहीं प्रार्थना करते। बाबा तो सर्वदा किसी विचारमें डूबे रहते थे।

जब मनमें आती बाबा उठते और चढ़ाये हुए समस्त प्रसादको इधर-उधर फेंक देते। भक्तलोग बड़ी श्रद्धासे उसे उठा लाते। बाबा किसीका कुछ भी ग्रहण नहीं करते थे।

वर्षमें एक बार डाकेके दूसरे दिन बाबा समीपके बाजारमें जाते और लूटमें लाये मन्दिरके समस्त वस्त्रादि बेच डालते। उससे जो कुछ मिलता उसीके द्वारा बाबा और उनके साथियोंका वर्षभर जीवननिर्वाह होता।

बाबाकी वह पण्ढरपुरपर अन्तिम चढ़ाई थी। उन्होंने साथियोंसे कहा 'आज विठोबा विजयी होगा। मुझे तो उसके जेलमें जाना ही है, तुमलोगोंको भी चलना हो तो साथ चलो।' वे ऐसे-वैसे साथी नहीं थे। उन्होंने कहा 'जब सरदारका साथ अबतक नहीं छोड़ा तो अब क्या छोड़ना ? जहाँ आप, वहाँ हम सब।'

'अच्छी बात।' बाबाने लाठी सम्हाली, चल पड़े। मन्दिरमें गये, बाहर लोग बाबाके लौटनेकी प्रतीक्षा कर रहे थे। सन्ध्या होनेको आयी, बाबा मन्दिरसे निकले नहीं। लोग घबड़ा गये। साहस करके पुजारी भीतर गये।

विचित्र दृश्य था—पाण्डुरङ्गके श्रीचरणोंमें बाबा और उनके समस्त साथियोंके मस्तक पड़े थे। उन लोगोंका शरीर रस्सीसे जकड़ा हुआ था। पुजारी पास गये, पुकारा, उत्तर न मिलनेपर स्पर्श किया। व्यर्थ—अब सदाके डाकू, सदाके लिये उन पावन चरणोंमें बन्दी हो चुके थे।

× × ×

अब डाकूबाबा नहीं रहे। पर उनकी गुफापर जाकर कुछ पुष्प और जल चढ़ानेवाले और इससे अपने सांसारिक कष्टोंसे त्राण पानेवाले भक्तोंकी कमी दक्षिण भारतके उस प्रदेशमें नहीं है।

श्रीदुर्गासप्तशती—प्रथम चरित्रका अर्थ

(लेखक—डाक्टर श्रीहरिहरनाथजी हुक्कू, बी० एस्-सी०, एम्० ए०, डी० लिट्०)

राजा सुरथ अपने धर्मके पालन करनेमें बड़े उत्सुक रहे थे। बड़े दुःख उठाकर उन्होंने अपना खजाना जमा किया था। वे विषयसेवनमें राज्यका धन व्यय नहीं करते थे, बल्कि अपनी प्रजाका पुत्रके समान उन्होंने सदा पालन किया। कालचक्रके निर्दयी क्रमके अनुसार वे थोड़े-से राजाओंद्वारा हरा दिये गये। उनका साथ न प्रजाने दिया न मन्त्रियोंने और वे मृगयाके बहाने अकेले वनको चले गये। सुरथको अपनी गतिपर घोर दुःख हुआ। इसलिये नहीं कि वे अकेले थे या सुसेवक-रहित थे, बल्कि इसलिये कि अब राज्यकी क्या दशा होगी ! कैसे धर्म निभता होगा ! कैसे न्यायका पालन होता होगा ! सुरथके दुःखका कारण यह मोह-सना विश्वास था कि केवल वे ही न्याय, धर्म या प्रजापालन कर सकते हैं। उनके मनमें यह विचार कभी न उत्पन्न हुआ कि जिस मार्गको वे न्याय-धर्म-मार्ग समझते थे, उससे भिन्न भी कोई सन्मार्ग हो सकता था या यह कि उनकी प्रजाके विकासके लिये सुरथकी न्याय-धर्मयुक्त मार्गकी आवश्यकता न होकर किसी दूसरी स्थितिकी आवश्यकता थी, जिसकी पूर्ति सुरथपर विजयप्राप्त राजाओंद्वारा हुई। किसी परिपाटी-की अचल उपयोगिता उसकी वर्त्तमान उत्तमतासे नहीं नापी जा सकती, क्योंकि उपयोगिता स्थितिपर निर्भर है और परिपाटीका अङ्ग नहीं है। स्थितिकी माँग बदलते ही उत्तम रीतियाँ त्याज्य बन जाती हैं, क्योंकि वे आवश्यकतासे अधिक रक्षा करनेके कारण व्यक्तिके विकासमें बाधक होंगी। सुरथके दुःखका कारण एक

मधुर अहङ्कार था, जिसकी मधुरिमा इतनी मोकीभाली थी कि उसने अहङ्कारके गुणकी तीव्रताको मोह लिया। अहङ्कार होते हुए भी अहङ्कारकी बेसुधी, स्वयं दुःखका कारण होते हुए दूसरोंको उसका कारण निश्चित करना—यही महामायाका हास्यमय खेल था। यदि सुरथ इस बातका स्मरण रखते कि जो कुछ होता है केवल माँकी इच्छासे होता है या जो कुछ कोई भी करता है वह वास्तवमें माँकी ही इच्छाका पालन है तो उनको दुःख न होता। लेकिन उन्होंने तो सोचा कि दूसरा राजा उनके अति दुःखसञ्चित कोषको नाश कर रहा होगा और उनके पुरकी दुर्गति हो रही होगी तथा उनके आज्ञाकारी सेवक और उनका हाथी अनेक कष्ट भोग रहे होंगे। उनको समझना चाहिये था कि विजयी राजा तो निमित्तमात्र हैं—परात्पर कारण तो माँकी इच्छा ही है। राजा सुरथ दयालु थे, नीतिज्ञ थे, धर्मात्मा थे; लेकिन सृष्टिके खेलका रहस्य उनके ज्ञानका अङ्ग नहीं बन पाया था। उनका विकास स्थिर हो गया था, क्योंकि एक परम सत्यको वे अपना नहीं पाये थे। उनके विकासको अग्रसर करनेके लिये माँने यह खेल रचा कि उनपर दूसरे राजाओंने चढ़ाई की और सुरथको घर छोड़ना पड़ा। इसका परिणाम कुछ दुःख अवश्य हुआ; लेकिन जितनी मानसिक हानि उनको दुःखने दी, उससे कहीं अधिक लाभ सुरथको उस ज्ञानसे हुआ जो इस दुःखके द्वारा मेधा ऋषिसे मिला। सच्चरित्रता, कर्तव्यपालन, सौजन्य—ये सब अपूर्ण हैं और दुःखका कारण बन सकते हैं जबतक कि हम अपने तईं माँके प्रति अर्पण न कर दें, उनकी इच्छामें अपना महत् कल्याण और परम सुख जानना न सीखें—यह शिक्षा सुरथकी कथासे हमें मिलती है।

× × ×

बन्दर और अदरकके स्वादकी कहावत तो मशहूर है ही। और अनेकों छोटी-मोटी घटनाओंसे हम यह सोचकर सन्तोष कर लेते हैं कि प्रकृतिवश बहुत-से जानवर उन स्वादिष्ट चीजोंका मूल्य नहीं जान पाते हैं जो हमें बड़ी प्रिय हैं। समाधि नामक वैश्यको भी ऐसा ही दृष्टिकोण अपनाना चाहिये था। अगर उसके स्त्री-पुत्र-बन्धु उसके धनका मोल समझते थे और उसका नहीं तो उन्हें सब अपना धन दे डालकर उसे चिन्ता-मुक्त हो जाना चाहिये था। प्रकृतिवश—माँकी परम बलवती इच्छाके अनुसार वे ऐसा करते हैं, यह समाधि-वैश्यने न सोचा। उसकी समझमें यह न आया कि उन पुत्र-स्त्री-बन्धुओंका विकास इसी मार्गसे हो सकता था कि वे धनका लोभ करें और वैश्यका नहीं। अर्थात् उन सबके उस विकास-पथमें, जो परम दयालु सर्वज्ञ माँने निर्माण किया था, धनके लोभका एक विशेष, एक गुप्त, एक रहस्यमय स्थान था। वैश्यका मोह इसमें था कि वह सत्यको अधूरा समझा और माँकी बुद्धि, प्रेम और दूरदर्शिताका मोल उसने कम रक्खा और अपनी बुद्धिमत्ताका अधिक। समाधि वैश्यके दुःखका कारण भी राजा सुरथके दुःखके कारणके समान एक प्रकारका मधुर अहङ्कार और माँके प्रति अधूरा विश्वास तथा अपूर्ण ज्ञान था।

इसलिये जब राजा सुरथ और समाधि वैश्य मेधा ऋषिसे मिले, तब इन्होंने उन लोगोंको वह ज्ञान दिया जिसकी आवश्यकता दोनोंकी दुःखपूर्ण स्थितिने प्रकट कर दी थी। ऋषिने उनको समझाया कि स्वरूपात्मक होकर माँ सर्वाश्रयस्वरूप हैं। जहाँ कहीं सृष्टि, पालन और संहारकार्य होता है, वह माँकी इच्छा और शक्तिसे होता है, जिसका अर्थ यह हुआ कि माँ जानती हैं कब कहाँ किसकी सृष्टि करें, किस हितकर विघ्नकी और किस कल्याणप्रद अवसरकी। वे ही अच्छी और बुरी सब वस्तुओं, आदतों और स्थितियोंका पालन करती हैं ताकि व्यक्ति, जाति अथवा देशका विकास पूर्णरूपसे शीघ्रातिशीघ्र उस गुप्त योजनाके अनुसार हो सके जो

सर्वलोक-कल्याणकारी है लेकिन केवल माँहीको ज्ञात है। जब किसी वस्तुकी उपयोगिता या उसके सौन्दर्य-का ह्रास हो जाता है, तब समय जानकर उसका संहार करके माँ संसारकी मनोहरताकी रक्षा करती हैं। माँ सर्वशक्तिमती हैं। वे महादेवी हैं और महासुरी भी, वे मुक्तिदा महाविद्या हैं और मोहकारिणी महामाया भी—यही माँकी हास्यप्रियता है और उनकी अनुपम लीला। वे इतनी प्रभावशालिनी हैं कि विष्णुभगवान्‌को भी घोर निद्रामें डाल देती हैं; इतनी दयालु हैं कि नित्या, अरूपा होनेपर भी भक्त-वेदना हरण करनेके निमित्त अनित्या और सरूपा हो जाती हैं। और यह सब होते हुए उनका सौन्दर्य अनुपम है और रूप अति मनोहर! कौन ऐसा हृदयहीन होगा जो माँके इन गुणोंको जान-कर उनको न पुकारे?

संयम

(लेखक—श्रीमानिकलालजी सिंघवी, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०)

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥
(गीता २। ६९)

'अज्ञानरूप अन्धकारसे जिनकी बुद्धि आच्छादित है, उनकी रात्रिमें जितेन्द्रिय योगी जागते हैं; और जिस विषयादिरूप दिनमें सम्पूर्ण भूत-प्राणी जागते हैं, वह तत्त्वदर्शी मुनियोंके लिये रात्रि है।'

संसारके प्राणिमात्र मायाके अन्धकारमें पड़े रहते हैं। वे क्षणिक सुखोंके पीछे भटकते रहते हैं और अन्तमें पतिंगेकी तरह विषयोंकी आगमें जल-जलकर मर जाते हैं। पर जो महात्मा एवं महान् पुरुष होते हैं, उनपर दुनियाका जादू नहीं चल सकता। वे सुन्दरीके रूप-यौवनके पीछे छिपी हुई उसकी मांस, मज्जा, रक्त और मलकी घृणामयी मूर्तिको भी प्रत्यक्ष देखते हैं; अतः उसके रूपको देखकर उनके मनमें कोई विकार नहीं उठ सकता, उठे भी तो ठहर नहीं सकता। वे तो प्रतिक्षण अपने लक्ष्य-बिन्दुकी ओर ही ध्यान रखते हैं, इधर-उधर ताकनेका उनको अवकाश ही नहीं मिलता।

संसारमें संयमित जीवन व्यतीत करनेकी बड़ी आवश्यकता है। जबतक हम अपनी आवश्यकताओंको घटायेंगे नहीं तबतक हम सच्चे आनन्दकी ओर बढ़ नहीं सकते। मान लीजिये, एक कक्षामें बीस विद्यार्थी हैं। उनमेंसे पाँच ऐसे हैं जो समझदार हैं। उनको परीक्षामें पास होना है, इसलिये वे खूब जी-तोड़कर परिश्रम करते हैं, जो पाठ उन्हें पढ़ाया जानेवाला है उसकी पहलेसे ही तैयारी करके क्लासमें आते हैं और शिक्षक जो कुछ उन्हें पढ़ाते हैं उसे ध्यानपूर्वक सुनते हैं एवं अपनी शङ्काओंका समाधान कराते जाते हैं। फलतः वे परीक्षामें बड़े अच्छे नंबरोंसे पास होते हैं। दो-चार विद्यार्थी ऐसे हैं, जो सालभर तो मौज उड़ाते हैं पर परीक्षाके दिनोंमें कसकर मेहनत करते हैं और किसी तरह पास हो जाते हैं। परन्तु इनकी सफलता पूर्वोक्त पाँच विद्यार्थियोंकी तरह निश्चित नहीं होती। बाकी सब विद्यार्थी ऐसे हैं जो कभी परिश्रम करते ही नहीं, परिणामतः वे परीक्षामें बुरी तरह फेल होते हैं और अपने भाग्यको कोसते और रोते हैं। पर सच्ची बात तो यह है कि अपनी असफलताके कारण वे स्वयं हैं। यदि पहलेवाले थोड़े-से विद्यार्थियोंकी तरह सब परिश्रम करते तो वह कक्षा कितनी अच्छी होती एवं सबको कितनी अच्छी सफलता मिलती! यही हाल मनुष्य-जीवनका है। जो लोग असावधान रहकर अपने बहुमूल्य समयको यों ही बिता देते हैं, जिनका जीवन असंयत होता है, उनको अन्तमें घोर पश्चात्ताप और दुःखका शिकार होना पड़ता है।

आजकल तो मनुष्य-जीवनका क्या लक्ष्य है, यह जानना भी कठिन हो गया है। संसारकी सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक आदि विभिन्न समस्याएँ जीवनभर मनुष्यको उलझाये रखती हैं। वह इन सबको एक साथ हल करके 'सफल जीवन' व्यतीत करना चाहता है, पर होता प्रायः इसके विपरीत है। जहाँ मनुष्यके अंदर किसी प्रकारकी कमजोरी आयी कि झट उसका अधःपतन हो जाता है। भिन्न-भिन्न कार्यक्षेत्रोंमें भिन्न-भिन्न रुचिके लोग होते हैं। अतः मनुष्यको चाहिये कि वह अपनी रुचिके अनुसार कोई एक कार्यक्षेत्र चुन ले और उस कार्यको परिश्रमपूर्वक करते हुए अपनी सारी शक्ति उसके पूरा करनेमें लगा दे।

बड़े-बड़े कामोंको तो सब कोई करना चाहते हैं, पर यह नहीं जानते कि उनको करनेकी प्रणाली क्या है। बूँद-बूँदसे ही घड़ा या तालाब भरता है। इसलिये पहले छोटे कामोंमें ही संयम करना सीखना चाहिये, तभी आगे चलकर हमसे बड़े-बड़े काम भी हो सकेंगे। जो छोटे-छोटे कामोंमें संयम नहीं रख सकते, उनसे बड़े काम नहीं हो सकते।

संसारमें एक-न-एक दिन हमको सीधे रास्तेपर आना ही पड़ता है, इसलिये पहले ही हम क्यों न सीधा रास्ता पकड़नेकी कोशिश करें? जगत्के सभी पदार्थ विनश्वर हैं; उनमें कहीं भी आनन्द नहीं है, आनन्द तो मनुष्यके भीतर है। यदि हम खाने-पीनेमें संयम नहीं रक्खेंगे तो बीमार पड़ जायँगे या हमारी जीभका स्वाद बिगड़ जायगा, जिससे अच्छी-से-अच्छी चीजके खानेमें भी हमें कोई रस नहीं मिलेगा। जो लोग कभी-कभी हलुआ-पूड़ी या आम-अंगूर खाते हैं, उन्हें उनके खानेमें कितना आनन्द आता है! पर रोज-रोज खानेवालोंको इन चीजोंमें कोई विशेष स्वाद नहीं मिलता। यही बात स्त्रीप्रसङ्गके सम्बन्धमें भी है। मनुष्य यह नहीं जानता कि स्त्रीके साथ विषयभोग करनेमें जो आनन्द आता है, वह उसीके खूनका घूँट है; कुत्तेकी भाँति हड्डी चबाकर वह अपने ही रक्तसे प्रसन्न होता है। वह अपने वीर्य और यौवनकी शक्तिको अपने जीवनके महान् लक्ष्यके साधनमें लगा सकता था, परन्तु मूर्खतावश वह अपने शरीरके सारे बल एवं तेजको निचोड़ डालता है। यदि भूख स्वाभाविक हो तो उसकी तृप्ति साधारण सात्त्विक पदार्थोंसे हो जाती है; परन्तु जहाँ मनुष्य इन्द्रियोंकी तृप्तिके लिये ही जीता है, वहाँ उसकी तृष्णाका कोई अन्त नहीं आता। अनेकों प्रकारके सुस्वादु व्यञ्जनोंको खाकर भी वह अतृप्त ही बना रहता है। अपनी स्त्रीसे सन्तुष्ट न होकर वह गली-गलीमें सुन्दरियोंके पीछे भटकता फिरता है तथा इस मृगतृष्णामें फँसकर अपनी अनमोल जिंदगीको बेकार खो देता है।

आजकल छोटे-छोटे बच्चोंके हृदयोंमें भी इस प्रकारके कुत्सित भाव और गंदे विचार भर दिये जाते हैं कि समयसे पहले ही वे इन्द्रियलोलुप बनकर अपने सर्वस्वसे हाथ धो बैठते हैं। उनके शरीरका पूर्ण विकास हुए बिना ही उनका विवाह कर दिया जाता है और वे गृहस्थ बना दिये जाते हैं। फलतः समाज और देशके उत्थानकी भावना, मातृभूमिपर प्राण निछावर करनेका व्रत एवं भगवान्को प्राप्त करके मनुष्य-जीवनको सफल बनानेका हौसला—सब कुछ धूलमें मिल जाता है। बेचारा वह नवयुवक अपने छोटेसे परिवारमें बँध जाता है और कभी भी समाप्त न होनेवाली चिन्ताएँ उसे घेर लेती हैं। कहाँ ब्रह्मचर्य और कहाँ संसारके विषयभोग! अस्तु,

यदि हम अपना, समाजका एवं देशका सच्चा कल्याण चाहते हैं तो हम सबको संयमपूर्वक जीवन बिताते हुए आत्मचिन्तन करना चाहिये। जिसकी इन्द्रियाँ चारों ओर भटकती रहती हैं, वह आत्मोन्नति तो क्या, संसारके भी किसी कार्यको सफलतापूर्वक नहीं कर सकता है। अतएव हमें आत्मानुभूति प्राप्त किये हुए संत-महात्माओं-की शरणमें जाकर उनसे सच्चा ज्ञान प्राप्त करना चाहिये और फिर अपने जीवनको दृढ़ संयमके परकोटेसे घेर देना चाहिये। संसारके सभी विषयोंके प्रति वैराग्य बढ़ाना चाहिये; इसका अभ्यास ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों आत्मतृप्तिका आनन्द प्राप्त होता जाता है।

सबसे पहले वाणीपर काबू करनेका अभ्यास करना चाहिये। मौनका अधिक-से-अधिक अभ्यास करना चाहिये। जबतक विशेष आवश्यकता न हो तबतक नहीं बोलना चाहिये। सुनो सबकी, पर जो कुछ बोलो खूब सोच-समझकर बोलो। मनको वशमें रखना चाहिये। मनका मौन ही सच्चा मौन है। तत्पश्चात् भोजनपर नियन्त्रण करना चाहिये। प्रातःकाल उठनेपर यह प्रतिज्ञा कर लेनी चाहिये कि आज अमुक मात्रामें ही मुझे भोजन करना है और नियत संख्याकी वस्तुएँ ही खानी हैं। उपवासका भी जीवनमें बड़ा महत्त्व है। इससे शरीर हल्का होता है और मनमें पवित्रताके भाव भरते हैं। तात्पर्य यह कि जबतक इन्द्रियाँ काबूमें न आ जायँ तबतक मनुष्यको पूर्ण सतर्क रहना चाहिये। इन्द्रियाँ बड़ी प्रबल हैं। महर्षि विश्वामित्रकी लाखों वर्षकी तपस्याको भी मेनकाने क्षणभरमें नष्ट कर दिया। इसलिये जबतक इन्द्रियोंपर पूरी तरहसे अधिकार न हो जाय, तबतक किसी भी प्रलोभनका सामना नहीं करना चाहिये। संसारमें रूप-यौवनका आकर्षण बड़ा प्रबल है। इनका सामना होनेपर बिरले ही बच पाते हैं। इसलिये इनसे खूब सावधानीके साथ बचना चाहिये। स्त्रियोंमें अधिक उठना-बैठना नहीं चाहिये और न उनसे बिना प्रयोजन बातचीत ही करनी चाहिये। दूरदर्शी बनना चाहिये। आवेशमें आकर कोई काम नहीं करना चाहिये। एक-एक क्षण आत्मसाधनमें ही बीतना चाहिये। कोई मनुष्य बंबईकी सैर करने जाता है, तीन घण्टेके लिये मोटर किराये करता है, तो वह इस बातका ध्यान रखता है कि इस तीन घण्टेके समयमें खूब घूम-फिर ले। ऐसा न हो कि तीन घण्टे यों ही पूरे हो जायँ और जिस कामके लिये उसने मोटर किराये की है, वह हो ही न पावे। इसलिये वह पल-पलका हिसाब रखता है। यदि रास्तेमें उसे कोई मित्र मिल जाते हैं तो उनके साथ बातचीतमें अधिक समय न लगाकर वह उनसे जल्दी ही छुट्टी ले लेता है। क्योंकि उसे अपना लक्ष्य कभी नहीं भूलता। इसी प्रकार यह मनुष्यशरीर हमको थोड़े ही कालके लिये मिला है। परमेश्वरका भजन ही मनुष्य-जीवनका ध्येय है, उसीसे निःश्रेयस और अभ्युदयकी प्राप्ति होती है। इसलिये अपने चित्तको सदा भगवान्‌के भजन-ध्यानमें ही लगाये रखना चाहिये। जीवनका कुछ भी ठिकाना नहीं है, बहुत थोड़ा समय हाथमें है, इसको सावधानीके साथ पल-पलका ध्यान रखते हुए परमेश्वरकी प्राप्तिमें लगाना चाहिये। संसारके सभी विनाशी भोगोंका त्याग और नित्य-निरञ्जन अविनाशी परमात्माका भजन करना ही सच्चा संयम है। इसलिये प्रत्येक मनुष्यको इसका पालन करना चाहिये।
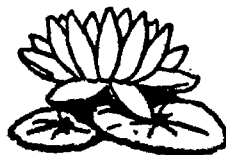
भक्त और भगवान्का सम्बन्ध

(लेखक—डा० राधाकमल मुकर्जी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

देवर्षि नारदने 'भक्तिसूत्र'में प्रेमरूपा भक्तिकी ग्यारह आसक्तियाँ बतलायी हैं, वे हैं—

१—गुणमाहात्म्यासक्ति
२—रूपासक्ति
३—पूजासक्ति
४—स्मरणासक्ति
५—दास्यासक्ति
६—सख्यासक्ति
७—कान्तासक्ति
८—वात्सल्यासक्ति
९—आत्मनिवेदनासक्ति
१०—तन्मयतासक्ति
११—परमविरहासक्ति

इन आसक्तियोंसे भगवान्को भजनेवाले असंख्य भक्त हो गये हैं, होते आये हैं। और उनके कारण दिव्य प्रेमकी अजस्र धारा अभी अखण्डरूपसे प्रवाहित हो रही है। प्रेमा भक्तिके इस पुण्य प्रवाहमें कभी अध्यात्मवादकी दार्शनिकता और कभी लोकसेवाकी विमल भावना मिलती रही, ऐसा केवल भारतवर्षमें ही हुआ हो ऐसी बात नहीं। प्रत्येक देशमें, प्रत्येक धर्ममें ऐसे व्यक्ति हुए हैं और होते रहेंगे जो जानको हथेलीपर लेकर धर्मके पथपर चले हैं और अपने जीवनको खतरेमें डालकर प्रयोग किये हैं; और इस प्रयोगमें कितनोंने मधुरभाव और प्रगाढ़ स्नेहका ही सहारा लिया।

स्पष्टतः भावनात्मक धर्मासक्तिका आविर्भाव विश्वकी विविधता तथा विषमतामें एक आन्तरिक एकता तथा साम्य लानेके लिये ही हुआ। हर देशमें, हर युगमें कुछ ऐसे संवेदनशील प्राणी होते हैं जो सत्यके अन्वेषण-में साम्यस्थापनकी प्रक्रियासे घबड़ाते-से हैं। उनके स्वभावके सर्वथा यह विपरीत पड़ता है और वे प्रायः व्यवहारके क्षेत्रमें पग-पगपर विषमता और विरोधका अनुभव करते हैं। कई ऐसे हैं जो सरल-सादा जीवनका व्रत ले लेते हैं, मौन रखते हैं और एकान्तवास करते हैं इसलिये कि समाजके दायित्वसे वे छूट जायँ और अपनी सारी शक्तियोंको आध्यात्मिक उत्थानमें लगा सकें। ऐसे लोग अपने आप ही अपने भीतर ऐसी मूर्तियाँ और प्रतीक खड़े कर लेते हैं जिससे उनके अंदरकी समग्र वृत्तियोंको परितोष होता रहे और जगत्के साथ जीवनका एक जागरूक सम्बन्ध भी बना रहे। ये प्रतीक मानवीय प्रवृत्तियोंके सूचक होते हैं; क्योंकि उनमें मनुष्यके सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, मिलन-बिछोहकी कथा अङ्कित रहती है। और इनका बड़ा प्रभाव पड़ता है, क्योंकि इनकी शक्ति और प्रेरणा अमोघ होती है।

हृदयकी सारी लालसाएँ, इच्छाएँ एकान्ततः या सामूहिकरूपसे भक्त और भगवान्के बीच मधुर सम्बन्धके भेदसे जगती हैं, क्योंकि इन लालसाओं और इच्छाओंके द्वारा ही भक्त भगवान्को स्पर्श करना चाहता है, पकड़ना चाहता है। इसीलिये भक्तका भगवान्से कई प्रकारका सम्बन्ध होता है। भावना जितनी दृढ़ होती जाती है, धर्मकी जड़ उतनी ही मजबूत होती जाती है। जिसका जैसा भाव होता है उसका भगवान्के साथ वैसा ही सम्बन्ध भी होता है। आरम्भमें तो शारीरिक मिलन-की वासना ही उत्कट होती है और इसलिये दाम्पत्य रतिकी ही प्रधानता होती है—वात्सल्य या दास्यकी नहीं। क्रमशः अङ्गसङ्गकी वासना क्षीण हो जानेपर वात्सल्यकी ओर साधक झुकता है और उस समय उसके हृदयमें नवीन भावनाकी सृष्टि होती है और श्रद्धा तथा समर्पणके भाव मुख्य होते हैं। इस प्रकार मनुष्य एक

भावसे दूसरे भावमें बढ़ता जाता है और भगवान्‌के साथ अधिकाधिक निकटताका सम्बन्ध होने लगता है। हमारे सामाजिक अथवा सांस्कृतिक विकासका भी मुख्य कारण यही है कि हम अपने सम्पर्कमें आनेवाले प्रत्येक व्यक्तिके प्रति जिस प्रकारका सम्बन्ध रखते हैं उसीके अनुकूल भाव भी हमारे भीतर बनते रहते हैं। सम्बन्ध और भावकी एकता ही जीवनकी एक बहुत बड़ी सचाई है। सामाजिक संघटन तथा सांस्कृतिक विकासके अनुपातमें हमारा आध्यात्मिक दृष्टिकोण भी सङ्कुचित अथवा उदार होता रहता है और उसी अनुपातमें हमारे अंदर भावों-का विकास एवं एकीकरण होता रहता है। इस प्रकार हमारा धार्मिक जीवन जो हमारी भावनाओंको पुष्ट करके एक रूप देता है हमारे सामाजिक जीवन तथा अनेक सम्बन्धोंको प्रभावित करता रहता है। इसीसे कहा जाता है कि धर्म समाजको शृङ्खलामें रखता है। धर्मके इस प्रभावसे समाजका अङ्ग-प्रत्यङ्ग प्रभावित होता है। धार्मिक प्रवृत्तियाँ अपने आप तो उदय होती ही हैं, परन्तु उनमें मुख्य प्रेरणा सामाजिक संघटन तथा सांस्कृतिक विकासकी होती है।

इन प्रवृत्तियों और सम्बन्धोंका जितना सुन्दर निराकरण महाप्रभु चैतन्यदेव तथा राय रामानन्दके बीच गोदावरी-तटपर परस्पर संलापमें हुआ है उतना अन्यत्र कहीं नहीं। यह तबकी बात है जब महाप्रभु दक्षिण-भारतमें तीर्थाटनके लिये गये थे।

महाप्रभुने कहा—मनुष्यका जो कर्तव्य है, उसका कथन करिये।

राय महाशयने कहा—अपने-अपने वर्णाश्रमधर्मके अनुकूल कर्म करते रहनेसे मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो सकते हैं। वर्णाश्रमधर्मको छोड़कर भगवान्‌को प्रसन्न करनेका और तो मुझे कोई सरल, सुगम और सुकर उपाय सूझता नहीं।

महाप्रभुने मुसकराते हुए पूछा—राय महाशय! यह आपने बहुत सुन्दर बात कही। मनुष्योंके लिये वर्णाश्रम-धर्मका पालन ही श्रेयस्कर है, परन्तु कोई ऐसा उपाय बताइये कि कभी गिरना न पड़े।

राय रामानन्द—भगवत्प्रीत्यर्थ कर्म करना, निष्काम-भावसे कर्म करना और फलको श्रीकृष्णार्पण कर देना।

महाप्रभु—यह भी ठीक है। इससे भी बढ़कर कुछ और बतलाइये।

राय रामानन्द—सब धर्मोंका परित्याग करके प्रभुके पादपद्मोंकी शरण जाना ही मैं मनुष्य-जीवनका मुख्य कर्तव्य समझता हूँ।

महाप्रभु—राय महाशय! यह शरणापत्तिधर्म सर्व-श्रेष्ठ धर्म है किन्तु यह तो संसार-तापोंसे तपे हुए साधकों-के लिये है। कोई और उपाय बताइये।

राय रामानन्द—प्रभो! मैं समझता हूँ समभावसे अवस्थित रहकर और सत्-असत्‌का विचार करते हुए भगवान्‌की निरन्तर भक्ति करते रहना ही मनुष्यका मुख्य कर्तव्य है।

महाप्रभु—यह तो बहुत ही सुन्दर है, किन्तु कोई सरस-सा उपाय बताइये।

राय रामानन्द—प्रभो! भगवान्‌की विशुद्ध भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ और मनुष्यका मुख्य कर्तव्य है।

महाप्रभु—यह तो मैं स्वीकार करता हूँ, किन्तु भक्ति किस प्रकारसे की जाय यह और बताइये।

राय रामानन्द—मैं समझता हूँ प्रेमपूर्वक भक्ति करनेसे ही इष्टसिद्धि हो सकती है। भगवान् प्रेममय हैं, प्रेम ही उनका स्वरूप है, इसलिये जैसे भी हो सके उस रसार्णवमें घुसकर खूब गोते लगाना चाहिये। उसके प्रति लोलुपता बड़े भाग्यसे प्राप्त होती है।

महाप्रभु—हाँ यह तो ठीक ही है। परन्तु उस रस-का आस्वादन किसी-न-किसी प्रकारके सम्बन्धसे ही किया जा सकता है। इसलिये भगवान्‌के साथ किस

सम्बन्धसे उस रसका आस्वादन किया जाय इसे जाननेकी मेरी बड़ी इच्छा है, कृपा करके इसे और बताइये।

राय रामानन्द—प्रभो! मैं समझता हूँ भगवान्के प्रति दास्यभाव रखना ही सर्वश्रेष्ठ सम्बन्ध है, क्योंकि बिना दास्यभाव हुए प्रेम हो ही नहीं सकता।

महाप्रभु—हाँ ठीक है, मैं इसे अस्वीकार नहीं करता, किन्तु फिर भी दास्यभावमें कुछ सङ्कोच अवश्य रह जाता है। ऐसा कोई सम्बन्ध बताइये जिसमें सङ्कोचका लेश भी न हो।

राय रामानन्द—तब तो प्रभो! मैं सख्य-सम्बन्धको सर्वश्रेष्ठ समझता हूँ।

महाप्रभु—सख्य-प्रेमका क्या कहना? परन्तु प्रेमका ऐसा कोई सम्बन्ध बतलाइये जो हर हालतमें एकरस बना रहे।

राय रामानन्द—एक रस बना रहनेवाला तो वात्सल्य-भाव ही है।

महाप्रभु—इससे आगे भी आप कोई भाव बता सकें तो उसे मुझसे कहिये।

राय रामानन्द—इससे आगे और क्या कहूँ? यह तो कहनेका विषय नहीं। सचमुच एक ही भाव अवशेष है और उसे ही अन्तिम कहा जा सकता है—वह है कान्ताभाव।

महाप्रभु—किन्तु इससे भी ऊँचा कोई भाव जानते हों तो कहिये।

राय रामानन्द—बस प्रभो! इससे आगे स्पष्ट नहीं कह सकता। यह विषय अत्यन्त ही गोप्य है। वह है राधाका प्रेम····। बस, इससे आगे मैं कुछ भी कह न सकूँगा!

ऊपर जितने सम्बन्ध आये हैं उतने सम्बन्धोंसे भक्त भगवान्से मिलता है और इन सम्बन्धोंमें क्रमिक विकासकी स्पष्ट शृङ्खला है।

आध्यात्मिक प्रेममें इन्द्रियाँ हमें भरमाती नहीं, क्योंकि उनका निःशेष समर्पण प्रभुके चरणोंमें हो चुकता है। एकनाथ महाराजने बहुत ही सुन्दर ढंगसे बड़ी ही मार्मिक व्याख्या आध्यात्मिक मनोभावोंकी की है। उनका कथन है—

'इन्द्रियोंके संयमकी हम चेष्टा तो करते हैं, परन्तु संयम-निग्रह हो नहीं पाता। वासनाओंको हम छोड़ते तो हैं परन्तु वे छूटती नहीं। बार-बार वे हमें स्खलित और विचलित कर देती हैं। इसीलिये तो भगवत्प्रेमकी ज्वालाको धर्मने प्रज्वलित किया। इन्द्रियोंके निग्रहकी आवश्यकता नहीं, न इच्छाओंके दमनकी ही आवश्यकता है। भगवत्प्रेमके उदय होनेपर इनका स्वतः निग्रह हो जाता है। भगवत्प्रेमकी यह शक्ति है! यही जाननेकी आवश्यकता है।

तपस्वी तपके द्वारा इन्द्रियोंका दमन करता है परन्तु प्रेमी भक्त अपने सम्पूर्ण अङ्ग, सम्पूर्ण वासनाको श्रीहरिके चरणोंमें चढ़ा देता है। वह इन्हें भगवत्सेवनमें प्रवृत्त कर देता है, साधनाका साधन बना देता है। तपस्वी तपके द्वारा जिन वृत्तियों और वासनाओंको क्षीण करनेकी चेष्टा करता है, प्रेमी उन वृत्तियों और वासनाओंको श्रीकृष्णार्पण कर देता है। तपस्वीको अपने तपका आधार रहता है इसलिये बार-बार उसके तपमें इन्द्रियाँ विघ्न उपस्थित करती हैं परन्तु प्रेमी संतका मार्ग सर्वथा निष्कण्टक होता है क्योंकि उसने अपना सब कुछ प्रभुके चरणोंमें निवेदन कर दिया है, उसका अपना कुछ भी नहीं है और सभी कुछ है।

स्त्री, पुत्र, धन, परिवार, शरीर सब कुछ श्रीचरणोंमें अर्पित कर दो। यही सच्ची पूजा है, इसीका नाम उपासना है।'

भक्त भगवान्के साथ सब प्रकारके सम्बन्ध स्थापित कर लेता है—वह कहता है—'त्वमेव माता च पिता त्वमेव,

त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ।' श्रीकृष्ण ही उसके स्वामी भी हैं, सखा भी हैं, पति भी हैं और सब कुछ हैं, 'सर्वस्व' हैं। सम्बन्ध जितना ही प्रगाढ़ होता जाता है हृदय उतना ही लीन होता जाता है, परस्परका अन्तर उतना ही मिटता जाता है। इस कारण अंदर एक अपूर्व उदार भावना रहती है जिसे प्रोफेसर रायस (Professor Rayce) ने विश्वके नैतिक आचारका आधार माना है। सच्ची श्रद्धामें ही धार्मिक एवं नैतिक आदर्शोंका समन्वय होता है।

इस श्रद्धाका आविर्भाव भिन्न-भिन्न स्थितियोंमें भिन्न-भिन्न सम्बन्धोंसे होता है। भक्त अपनेको भगवान्‌का सेवक मानता है, भगवान्‌का सखा और मित्र मानता है, भगवान्‌का वत्स मानता है या भगवान्‌की कान्ता मानता है—इस प्रकार क्रमशः उसकी श्रद्धा एवं आनन्दानुभूतिमें विशेषता आती रहती है और इसके कारण समाज तथा आस-पासके व्यक्तियोंके प्रति उसके आचरणमें भी परिवर्त्तन होता रहता है। समाजमें जिस प्रकार भिन्न-भिन्न सम्बन्धोंमें भिन्न-भिन्न अनुभूतियाँ एवं आत्मीयता होती हैं उसी प्रकार भगवान्‌के साथ जिसका जितने निकटका सम्बन्ध है उसे उतना ही प्रगाढ़ आनन्द एवं मधुर अनुभूति होती है। श्रद्धाके द्वारा ही इस आत्मीयताका विकास होता है और आगे चलकर मन अपने समस्त सम्बन्ध-सूत्रोंको लेकर भगवान्‌में डूब जाता है। यह भय सर्वथा निराधार है कि भगवत्प्रेमके मार्गमें बढ़नेवाला व्यक्ति समाजके आचार तथा आदर्शोंकी अवहेलना करता है।

सभी धर्मोंमें भगवान्‌के साथ सम्बन्ध-स्थापनकी बात किसी-न-किसी रूपमें आयी है; सुतरां सभी धर्मोंने इसीपर विशेष जोर डाला है। सभी धर्मोंमें प्रचलित प्राचीन कथाएँ, इतिहासकी घटनाएँ इस सम्बन्ध-स्थापन एवं श्रद्धाकी साक्षी हैं जो इस मार्गमें चलनेवालेको बल और प्रेरणा प्रदान करती हैं।

भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाओंसे यह हमें स्पष्ट हो जाता है कि मानवप्रेम दिव्य प्रेममें परिवर्तित हो जाता है और जगत्‌के साथ जो हमारा सम्बन्ध है उन्हीं सम्बन्धोंसे हम भगवान्‌को पा सकते हैं, उन्हें प्रणयके सुमधुर आलिङ्गनमें बाँध सकते हैं। ये इन्द्रियाँ जो जगत्‌के विषयोंमें भटक रही हैं इन्हीं इन्द्रियोंके सूक्ष्म एवं घनीभूत भावसे हम प्रभुको पा सकते हैं और इस बातका अनुभव कर सकते हैं कि भगवान्‌ने मनुष्यके प्रेमके लिये, मनुष्यका दुःख मिटानेके लिये कुछ भी उठा नहीं रक्खा।

भगवान्‌की दया हमारे हृदयके अन्तरतमको यहीं स्पर्श करती है। दिव्य गोलोकको छोड़कर भगवान् श्रीकृष्ण इस धराधामपर आये और यहाँ इस पृथ्वीपर उन्होंने एक अपूर्व गोलोककी सृष्टि की। यमुनाके किनारे गाँवों और जंगलोंमें मनुष्यकी भाँति मनुष्योंमें रहकर उनके सुख-दुःखमें हाथ बँटाया। उनकी सारी लीलाएँ करुणा और प्रीतिसे प्रेरित हैं और उनका अत्यन्त सुन्दर सजीव वर्णन श्रीमद्भागवतमें हुआ है। उत्तरकालीन दर्शनशास्त्रों तथा आध्यात्मिक अनुभूतियोंके द्वारा इन लीलाओंकी अधिकाधिक रसानुभूति हुई और वैष्णव धर्मके भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंमें इसकी जीवन्त एवं रसात्मक परम्परा चली आ रही है।

भगवान् श्रीकृष्ण जबतक इस धराधामपर रहे उनकी भिन्न-भिन्न भावोंसे भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंने उपासना की और सच तो यह है कि सबका उनमें समाहार हुआ। इस प्रकार नाना भाव और वृत्तियोंका इतना सुन्दर समन्वय अन्यत्र कहीं हुआ नहीं। यशोदाका लाल होकर वह उसके आँगनमें खेला। जब गाय चरानेके लिये वह गोप-बालकोंके साथ बाहर जाता है तो माँ उसके एक क्षणका विरह सह नहीं सकती, पागल हो उठती है, उद्विग्न हो जाती है। गोपाल माताके साथ तरह-तरहकी लीलाएँ रचता है और स्नेह-सुधामें डुबा

रहता है। उसकी भुजाओंमें वह आप बँधता और बँधकर आप ही चुपकेसे खिसक जाता है। वह छींके-परसे माखन चुराता है, माँकि भयसे थर-थर काँपता है और माँके दिये हुए दण्डको एक साधारण बालककी तरह खुशी-खुशी स्वीकार करता है। परन्तु वह है तो भगवान् ही न; इसलिये कभी-कभी वह अपने अद्भुत चमत्कारोंसे माँको चकित-स्तम्भित कर देता है और उसके खुले हुए मुँहमें सहस्र-सहस्र ब्रह्माण्ड देखकर माँ डरसे काँप उठती है। वात्सल्य स्नेहमें एक अजीबका जादू होता है और माँ उस स्नेहमें बँधी हुई दिव्य प्रेमका रसास्वादन कर रही है। गोप-बालकोंके साथ खेलता हुआ कन्हैया जाने कैसा-कैसा खेल रचता है, क्या-क्या ऊधम मचाता है। और कितनी घनिष्ठता, कितनी आत्मीयता है इस सख्य मैत्रीमें! अपने सखाओंके लिये कन्हैया क्या-क्या नहीं करता? तरह-तरहका उत्पात मचाता है, उनके रूखे-सूखे छाकमें रस लेता है, उनके साथ मेहनत-मशक़्क़त करता है और गौओंपर स्नेह बरसाता है! यह सब क्यों? उत्तर यही है कि अपने गोपसखाओंको प्रसन्न करनेके लिये, महज उन्हें खुश रखनेके लिये। जब-जब कोई कठिनाई आती है गोपवृन्द उसे ही पुकारते हैं—कन्हैया, कन्हैया—और कन्हैया दौड़ता हुआ पहुँचता है। गाँवके बालक और गाँवकी गायें उसके लिये जान देती हैं।

और प्रेमीके नाते? प्रेमीके नाते तो हमारे हृदयका वह एकमात्र अधीश्वर हो जाता है। इससे बढ़कर उसकी करुणा या अनुकम्पाका प्रमाण हो क्या सकता है कि 'वह' हमारे प्रेमके लिये तड़पता है। जबसे हम उससे बिछुड़े हैं वह वंशी बजा-बजाकर अपने पास बुला रहा है, अपने प्रेमालिङ्गनमें बाँध लेनेके लिये, अपनेमें एक करनेके लिये, परन्तु हाय रे हमारा अभाग्य! इस जीवन, इस जगत्‌का आकर्षण और अहङ्कार हमारे पैरोंमें बेड़ियाँ डाले हुए हैं और इसलिये हम उसकी प्रणयिनी होकर भी उसे पा नहीं पातीं, अपना नहीं पातीं! परन्तु फिर भी वह विकट प्रेमी मानता नहीं, वंशी बजाता ही रहता है, बुलाता ही रहता है! और अपना सारा ईश्वरत्व हटाकर मानवके हृदयको जीतनेके लिये वह क्या-क्या नहीं करता, प्रेमकी कौन-कौन-सी लीलाएँ नहीं रचता? गीतगोविन्दमें इसकी पराकाष्ठा हो गयी है जब भगवान् राधासे निहोरा करते हैं—मनुहारें करते हैं—

देहि मे पदपल्लवमुदारम्।

और, अजीब-अजीब हैं उसकी लीलाएँ! कभी माँ-की गोदमें किलकता है और स्तन पीता है तथा दूसरे ही क्षण उसके भयसे भाग खड़ा होता है! गोपवृन्दों और गौओंके प्रेममें वन-पहाड़की खाक छानता फिरता है! वंशी बजा-बजाकर अपनी प्रणयिनी सखीका आवाहन करता है और क्षणमें ही छिपकर उसके हृदयको मर्मान्तक वेदनासे भर देता है। कुछ ही देरमें मन्द-मन्द मुसकाता हुआ वह उससे एकान्त करीलकुञ्जमें मिलता है और उसकी झिड़कियोंका शिकार होता है। ये सारे भाव प्रेमी संतोंके हृदयकी प्रेमानुभूतियाँ हैं जिनके द्वारा वे प्रभु-मिलनका आनन्दरस लूटते हैं!

वैष्णवशास्त्रोंमें मनुष्यरूपमें आये हुए हरिकी लीलाओं-का तथा उनकी मार्मिक अनुभूतिका बहुत ही सुन्दर एवं मधुर वर्णन हुआ है—इससे मनुष्यका मनुष्यके प्रति प्रेमका दिव्यरूप भी हमारे सामने आता है। मनुष्यका मनुष्यके प्रति जो प्रेम है, मिलकर रहनेकी जो लालसा है वह उस दिव्य प्रेमका ही एक अभिनय है। शेषमें अशेषकी यही क्रीडा है। वेदान्तका 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' तथा वैष्णवोंका 'वासुदेवः सर्वमिति' में क्या भेद है! 'वासुदेव'का अर्थ यही समझना चाहिये कि मानवरूपमें प्रकट होकर भी भगवान् मानवताके बन्धनोंसे मुक्त हैं, क्योंकि 'वह' अनन्त है। प्रेम तभी बढ़ता है जब झुकाव दोनों ही ओरसे हो, इस हृदयकी धड़कन उस

हृदयमें बजती हो ! इस प्रकार मनुष्य जितना भगवान्‌के प्रेमके लिये भूखा-प्यासा है, भगवान् भी मनुष्यके प्रेमके लिये उतने ही भूखे-प्यासे हैं। रसाद्वैतमें इसीलिये अन्ततक द्वैतका आनन्द, प्रिया और प्रियतमका आनन्द बना रहता है और प्रेमी इसे मिटाना चाहता भी नहीं। इसमें दो-के-दो बने ही रहते हैं। भगवान् भी रहते हैं भक्त भी—एक-दूसरेसे मधुरातिमधुर अनन्त मिलनके पाशमें बँधे हुए।

रविबाबूका एक गीत है—

मेरा हृदय-कमल जिसमें हम-तुम दोनों ही बँधे हुए हैं, युग-युगान्तरोंसे खिलता आ रहा है। इसकी पंखुड़ियाँ फैलती ही जायँगी और इसके कोषमें जो मधु है उसका स्वाद इतना मधुर है कि तुम आसक्त मधुप-की तरह इसे पीते ही रहोगे—इसे छोड़कर तुम अन्यत्र जा नहीं सकते ! और इसलिये तुम भी बँधे हो, मैं भी बँधा हूँ, फिर कहाँका मोक्ष और कैसी मुक्ति ?

जीवनका घटना-चक्र

(लेखक—श्रीगोकुलानन्दजी तैलङ्ग "निकुञ्ज" साहित्यभूषण)

अनन्त घटनाओंके सङ्कलनसे यह जीवन बना है। एकसे अनेक और अनेकसे एककी सृष्टि होती है, किन्तु सबका मूलाधार एक ही है और 'एक-अनेक' का विवेचन करते समय उस एककी महत्ताको नहीं भुलाया जा सकता। इसी प्रकार हमारे जीवनमें एक घटना विशेष घटती है और आगे चलकर उसी घटनासे संयोगवश अनन्त घटनाओंको जन्म मिलता है। क्रमागत घटनाओंके जन्मसे उस प्रथम घटनाको क्रमशः बल मिलता है और एक निश्चित समयमें वह पूर्णताको प्राप्त होती है। ये ही पूर्णताको प्राप्त घटनाएँ हमारे जीवनको आगे बढ़ानेमें सहायक होती हैं। इन्हींके धरातलपर हमारे भावीका निर्माण और हमारी सर्वतोमुखी हित-साधनाका प्रारम्भ होता है।

अतएव जीवनको ये दैनिक छोटी-छोटी घटनाएँ, जिन्हें हम सामान्य एवं नगण्य समझकर उपेक्षाकी दृष्टिसे देखते हैं और कभी-कभी उनको अनावश्यक समझ उनके उत्थानमें अवरोध उत्पन्न कर देते हैं, कुछ कालमें आगे चलकर पूर्णताको प्राप्त हो हमारे जीवनके हित-साधक विकासका कारण हो सकती हैं। प्रत्यक्षमें हमारे दृष्टिकोणसे ये अनावश्यक, महत्त्वशून्य एवं उपेक्षणीय प्रतीत हों, किन्तु उनका वस्तुतः हमारे जीवनमें एक विशेष स्थान है। वर्षाकी जिन बूँदोंको हम निरर्थक बहती हुई और जीवोंको कभी-कभी प्रतिकूल परिणाम देती हुई समझते हैं, उन्हीं अनन्त बिन्दुओंके समन्वयसे उस अनन्त जल-राशिपूर्ण सरिताओं, सरोवरों, कूप-वापियों और विशाल सिंधुका पोषण होता है। कण-कणके सुव्यवस्थित संगठनसे एक भव्य उच्च प्रासाद खड़ा हो उठता है। यही नित्य-सत्य हमारे जीवनके घटना-चक्रके स्तरोंमें काम कर रहा है ! अतएव सभी छोटी-बड़ी घटनाएँ हमारे लिये महत्त्वपूर्ण अतएव समादरणीय एवं गम्भीररूपसे विवेचनीय हैं। हमें अपनी विकसित दृष्टिसे इनका सूक्ष्म अध्ययन करना चाहिये और इनसे प्राप्त हो सकनेवाली सार्थकतासे लाभ उठाकर अपने जीवनको आगे बढ़ानेमें समर्थ होना कर्तव्य है !

हमारे जीवनका घटनाचक्र उस अदृष्टके सङ्केतसे, बल्कि उसीके वरद हस्तोंके श्रेयस्कर स्पर्शसे, अनवरत घूम रहा है। एकके बाद दूसरी घटनाके आवागमनका यह क्रम एक पलको भी टूटता नहीं। यदि कहीं यह क्रम-शृङ्खला बीचमें टूट जाय तो जीवनमें ही गति-अवरोध हो जाय। सागरकी लहरोंकी तरह वे एक-दूसरेसे टकराती हुई उठती-बैठती हैं। कभी कोई बड़ी लहर किसी छोटी लहरको अपनेमें लय कर लेती है तो कभी वही छोटी लहर दौड़ती हुई अकेली ही या अन्यान्य लहरोंके संयोगसे विकासको प्राप्त हो जाती है। किन्तु इस उत्थान-पतनसे उस सागरके अन्तःस्थलमें या उसके रूपमें तत्त्वतः किसी प्रकारकी विकृति नहीं होती। वह तो सदा ही गम्भीर, प्रशान्त और अपनी सीमाके अन्तर्गत लहराता रहता है। जो भी विक्षुब्धता या कम्पन होता है, उसका प्रभाव तो उसके तट, सीमा और सतहतक ही केन्द्रित रहता है—उसका अन्तस्तर तो वैसा ही अक्षुण्ण एवं अविकल रहता है; और ये प्रभाव भी अल्पकालीन होते हैं—पुनः वही एकरसता, वही गम्भीरता !!

इसी प्रकार हमें अपने दैनिक जीवनकी सभी छोटी-बड़ी, प्रतिकूल-अनुकूल, सुखद-दुःखद घटनाओं और उनके परिणामोंसे विचलित होकर अपने निश्चित सङ्कल्पके पथसे गिर नहीं जाना चाहिये ! उनको महत्ता प्रदान करते हुए, किन्तु उनके प्रभावसे अलित होकर हमारे लिये अपने कर्तव्य-पथमें अग्रसर रहना ही वाञ्छनीय है ! रणाङ्गणकी ओर प्रधावित होता हुआ एक वीरहृदय अपने आसपासकी छोटी-मोटी मार-काटोंसे अधीर नहीं होता—शत्रुके आघातोंसे नहीं घबड़ाता । किन्तु उसका ध्यान होता है अपने विजय-लक्ष्यकी ओर ! एक पथविशेषपर चलनेवाला पथिक पथरीले मार्ग, कण्टकाकीर्ण भयङ्कर वन, उसमें विचरण करनेवाले हिंस्र जीवोंकी भीषण चीत्कार आदिसे भयभीत नहीं होता, वरं कैसे भी तममय, अटपटे, पाथेयशून्य मार्गको तय करता हुआ उसका लक्ष्य एकमात्र अपने गन्तव्य स्थलकी ओर ही रहता है ! अतएव सभी घटनाओं, सभी परिस्थितियोंमेंसे बढ़ती हुई हमारी आँखें, हमारी ध्येय-धारणा अपने लक्ष्यकी ओर रहें !

अनुकूल-प्रतिकूल घटनाएँ पृथक्-पृथक् नहीं, हमारी कल्पना या धारणासे ही हमें वे वैसी प्रतीत होती हैं । वे सब हमारे कल्याणके लिये ही हैं । उन सबके समन्वयकी मूलाधार-शिलापर हमारे उज्ज्वल भविष्यका निर्माण होगा । जिन घटनाओंको आज हम प्रतिकूल समझते हैं, वे ही कल किसी परिस्थितिविशेषसे अनुकूल मालूम हो सकती हैं और इसी प्रकार आज जो अनुकूल प्रतीत हो रहा है कल वही प्रतिकूल हो सकता है । अतएव हमारी बुद्धिका मापदण्ड सदा ही सत्य है, यह कहा नहीं जा सकता । वह तो परिस्थिति-वातावरण-वश ही वैसा समझ पड़ता है । तत्त्वतः तो अन्ततोगत्वा उस घटनाचक्रमें हमारे जीवनका शेष कल्याण सन्निहित है । एक घटनासे दूसरी भावी घटनाका जोड़-तोड़ मिलानेके लिये—एक जीवनकी घटनासे दूसरे जीवनकी घटनाओंका हित-सम्पादन करनेके लिये—उनमें तारतम्य उत्पन्न कर उन्हें एक निश्चित साँचेमें ढालनेके लिये और कल्याणकर रूप प्रदान करनेको ही वे विभिन्न घटनाएँ तत्तद्रूपोंमें हमारे सामने आती हैं । अनेक उदाहरणोंसे यह सिद्ध हुआ है और अनुभूत भी है कि अनेक प्रतिकूल घटनाएँ समय और परिस्थिति पाकर जीवनमें एक नवीन सुन्दर अध्याय जोड़नेवाली हुई हैं । जिनसे हम अपने भीषण विनाशकी कल्पना करते थे और कुछ अंशोंमें उस समय उनका परिणाम प्रतिकूल हुआ भी, उन्हींसे हमें इतना लाभ हुआ है कि हम उसके परिणामको देखकर, अनुभवकर विधाताके विधान और अव्यक्तकी प्रेरणासे मन्त्रमुग्ध हो चकित-से रह जाते हैं !!

अनुकूल घटनाएँ तो सुखद एवं लाभकारी होती ही हैं किन्तु प्रतिकूल भासमान घटनाएँ भी हमारे जीवनमें बड़ी सहायक होती हैं । इनसे हमें बल मिलता है—स्फूर्ति और कर्मशीलताका हममें विकास होता है । ठोकरें खा-खाकर हममें उठने और बढ़नेकी क्षमता उत्पन्न होती है । वृक्ष-वल्लरियोंकी कलम काट देनेसे उनमें पुनः नवीन पल्लव आकर और भी लहलहा उठते हैं । हमारा जीवन भी एक नवीन जागृति और ज्योतिसे चमक उठता है । कण्टकोंमें फूल बिछ जाते हैं—सन्तप्त प्रबल प्रभञ्जन त्रिविध समीरमें परिवर्तित हो जाता है । अन्धकारका ज्योतिमें पर्यवसान हो जाता है—उस धूमिल वातावरणमें भी एक प्रकाशकी उज्ज्वल रेखा दीख पड़ती है और ज्यों-ज्यों दृढ़ साधनासे एकरस-तन्मय होकर हम आगे बढ़ते हैं त्यों-त्यों हमें अपना लक्ष्य क्रमशः स्पष्ट दिखायी देने लगता है ।

हमारी इस जीवन-यात्राका भी कहीं पर्यवसान होता है और वह उस अनन्तके सन्निधानमें ! समस्त चराचर जगत् उसी अनादि, अनन्त, अदृष्ट शक्ति-राशिका एक कणमात्र है ! हम सभी प्राणी उसी अनन्तकी गोदमेंसे उसकी लीला-सृष्टिमें सहायक होनेके लिये अपने लिये निर्दिष्ट कर्तव्य-कर्मको पूरा करने अंशरूपमें इस भूतलपर समुद्भूत हुए हैं । जिस अदृष्टकी गोदमेंसे हमारा उद्भव हुआ है, उसी गोदमें अपनी जीवन-यात्रा पूर्ण होनेपर सो जाना हमारे जीवनका लक्ष्य है । हम उस पूर्णतम शक्तिके एक अंश होते हुए भी हममें उसके पूर्ण रूपको प्राप्त होनेकी क्षमता एवं शक्ति भी विद्यमान है । जगत्के प्रत्येक सरल और कठिन कार्य करने-की सामर्थ्य हममें सदा ही सन्निहित है क्योंकि हमारी और उस अदृष्टकी रूप-रेखामें विभेद रहनेपर भी हममें उसीके तत्त्व एवं परमाणु विद्यमान हैं । अतएव कोई भी अनुकूल या प्रतिकूल घटना हमारे कर्तव्य-पथपर किसी भी प्रकारका बाधक प्रभाव नहीं डाल सकती—यदि हम अपने स्वरूपको पहचान, उन तत्त्वोंको विकसित कर अपनेमें विश्वास और अपनी रग-रगव्यापिनी शक्तिमें निष्ठा रखें ।

आज हम अपने-आपको भूल चुके हैं और अनिष्ट, आशङ्का, विनाश, भय आदिकी विघ्नकारिणी भावनाओंने हमारे मार्गके पद-पदपर डेरा डाल रखा है । यही कारण है

कि हम अपनी इन कल्पनाप्रसूत चिन्ता, द्विविधा, पश्चात्ताप, अधीरता आदिकी निर्मूल धारणाओंके कारण अपने लक्ष्यसे बहुत दूर आ पड़े हैं। हमारे जीवनमें इन दैनिक घटनाओंसे उत्पन्न संकल्प-विकल्पोंके कारण एक भीषण हलचल पैदा हो गयी है। अनुकूल घटनाओंसे उल्लसित होकर—प्रतिकूल घटनाओंसे परास्त होकर हमारे हृदयकी वह नैसर्गिक चिरशान्ति—अन्तस्तलकी वह दिव्य-सङ्गीत-झङ्कार मिट-सी चुकी है। हमारे अन्तरतममें ही जो दिव्य आत्मिक शान्ति-सुखका अनन्त समुद्र लहरा रहा है—मीठे मादक भावोंका अभिगुञ्जन हो रहा है; उससे विमुख होकर शान्ति, सुख और मिठासकी खोजमें बावले होकर हम जगतीके सुखमय भासमान नश्वर पदार्थोंसे एकान्तरूपेण अपने चित्तकी प्रवृत्तिको एकीभूत कर रहे हैं! संसारमें रहकर संसारके पदार्थोंसे किसी एक निर्धारित सीमातक ही सम्पर्क रखना और उनमें रहते हुए भी उनसे अलिप्त रह अपने लक्ष्यको न भूलना ही हमारे निश्चित कल्याणकी साधना है!!

अपने मानवोचित कर्तव्यको पूरा करते हुए उसके फलकी आशा न कर और उसके प्राप्त होनेपर उसके अनुकूल या प्रतिकूल प्रभावसे अविकृत रह अपने आपको उस अव्यक्तके हाथोंमें समर्पित कर देना ही हमारा चरम और परम मानव-धर्म है। फिर हमारे जीवनमें चाहे जैसी घटनाएँ घटा करें, हमें उनके लिये चिन्तित क्यों होना? अब हमारी पृथक् सत्ता ही न रह गयी, तब हम अपने लिये चिन्ता भी क्यों करें? हमारी सारी चिन्ता—कल्याणकी उत्तरदायिता तो उसीको होगी, जिसके हाथमें हमारे जीवनकी डोरी है। हमारे हृदय और मनकी ऐसी कोटिकी दशामें हमें कितनी सरस शान्ति, अटूट सन्तोष, चिर निश्चिन्तता होगी, हम इसका अनुभव करें!! जीवनकी ऐसी भूमिकापर पहुँच जानेके अनन्तर उस समय हमें ये दैनिक घटनाचक्र अपने लक्ष्यकी प्राप्तिसे विमुख नहीं करा सकते। फिर हमारे जीवनका घटनाचक्र किसी भी रूप-रेखामें हमारे सामने घूमे, हम उससे प्रभावित न होकर सदा एकरसता—चिर शान्ति—चिर आनन्दका अनुभव कर उस साधन-मार्गपर ही अपनेको अपने सर्वोपरि लक्ष्यमें लय पावेंगे!!

हम किस ओर जा रहे हैं?

(लेखक—श्रीशुकदेवसिंहजी 'सौरभ')

आधुनिक विश्वको यह गर्व है कि हम उन्नति और सभ्यताकी चूडान्त सीमापर हैं। क्या यह सत्य है? वस्तुतः इसकी चहलपहल और धूमधाम हृदयाकर्षक-सी है। जब हम वैज्ञानिक आविष्कारों—वायुयान, टेलिफोन, रेडियो तथा अन्यान्य यन्त्रोंपर दृष्टि डालते हैं, तो आँखें चौंधिया जाती हैं। योरोपके इंगलैंड-सरीखे देशमें, किसी व्यावसायिक प्रदर्शनीके अवसरपर, आँखोंको आश्चर्य-मुग्ध हो जाना पड़ता है; और बीसवीं शताब्दीका हृदय दर्पसे कह उठता है—'वाह रे हम! हमारे अज्ञ पूर्वजोंने तो इन विभूतियोंका कभी स्वप्न भी न देखा होगा। अपनी प्रचुर वैज्ञानिक शक्तिसे हम विशाल साम्राज्यके शासक हैं और चाहें तो किसी भी राष्ट्रका मान मर्दनकर उसका मस्तक अपने आगे झुका दें। हम पानी बरसा लेते हैं, विषैली गैससे हजारों मनुष्योंका बात-की-बातमें संहार कर सकते हैं और वायुयान-द्वारा आकाश-मार्गसे गोले बरसा रोम-जैसे नगरको मटिया-मेट कर सकते हैं।'

भिक्षुके मनुष्य! अभी इतना भी न जाना कि वास्तविक उन्नति और सभ्यता क्या है। संसार न कभी बढ़ता है न कभी घटता है। जिसे तुम उन्नति कहते हो वह केवल परिवर्तन है। सृष्टिकी समस्त शक्तिका योग सर्वदा समान रहता है। यह तो दार्शनिक विषय है, इसे छोड़ो। माना कि तुम अपनी मशीनोंसे असंख्य सैनिकोंका वध कर सकते हो और अपनी कूटनीतिसे क्रान्ति मचा कृतकृत्य हो सकते हो। तुम्हारी आँखोंसे क्रोधाग्निकी चिनगारियाँ निकलने लगती हैं तो सभी भयभीत हो जाते हैं। परन्तु यह तो कहो, तुम्हारी इन आँखोंमें कभी दो बूँद आँसू भी आये हैं, कभी तुम्हारे इन संहारकारी हाथोंने किसी निरीहके घावोंपर पट्टी भी बाँधी है, कभी तुम्हारे वायुयानोंने पुष्पकी भी वर्षा की है, कभी तुम्हारे मन्त्रीने सिकन्दरके मन्त्रीकी भाँति, तुम्हारे पूछनेपर कहा है कि अशेष देश विजय करनेपर भी आप आत्म-साम्राज्यके स्वामी नहीं हैं। धिक्कार है इस विजयको! कभी नहीं। जिसे तुम उन्नति कहते हो, उसे हम भौतिकताका रोग कहते हैं। हमारा भारतवर्ष इस छूतके रोगसे बहुत दूर था, परन्तु आज यह भी उससे ग्रस्त होने लगा।

इस भीषण रोगका निदान क्या है? एकाङ्गी शिक्षा।

मनुष्यमें प्रायः दो महान् तत्त्व होते हैं—हृदय और मस्तिष्क । आधुनिक शिक्षाका एक बहुत बड़ा दोष यह है कि वह मस्तिष्कको ही समुन्नत करनेमें लगी रहती है । हृदयपर कोई ध्यान नहीं दिया जाता । एक पिताके दो पुत्र हैं । एक, पक्षपाती और मूर्ख पिताके कारण मक्खन, मलाई और दूध खा हृष्ट-पुष्ट और बलवान् हो जाता है और दूसरेको शुष्क चबैनेका भी ठिकाना नहीं; वह निराहार रह दुर्बल हो जाता है । वह उद्दण्ड अपने भाईको घरसे निकाल देता है । वह सुशील, निर्बल भाई कुछ नहीं कहता, आँखोंमें आँसू भरे निकल जाता है । चलते समय कहता है—'भैया ! मेरे ऊपर कृपा रहे । कभी इस दासकी आवश्यकता पड़े तो स्मरण कीजियेगा ।' पिता अपने पुत्रका निर्वासन देख हँसता है । वह दिन आता है जब पिता मृत्युशय्यापर आहें भरता है । उसका प्रिय पुत्र उसकी ओर देखता भी नहीं । वह एक घूँट पानीके लिये तड़पता है, परन्तु उसकी समस्त आशाओंका केन्द्र, उसका लाड़ला बेटा अपने रंगमें मस्त हो कहता है—'बुड्ढा मरता भी नहीं !' पितृस्नेहवञ्चित पुत्रको शोकसंवाद मिलता है । वह शीघ्र आ जाता है । आँखोंमें आँसू भर पिताकी सेवा-शुश्रूषा करने लगता है । पिताके अन्तिम क्षण आ जाते हैं । वह सजल नेत्र और अवरुद्ध कण्ठसे कहता है—'हाय ! मैंने तुम्हारे साथ बड़ी निर्दयता की, ईश्वरके लिये मुझे क्षमा करना ।' वह चल बसता है । लाड़ला बेटा उसके शवको छूता-तक नहीं । वह रोते-रोते उसकी अन्त्येष्टि क्रिया करता है ।

मस्तिष्क समुन्नत हो जाता है । फल क्या होता है ? आविष्कार, प्रतारणा, स्वार्थपरता । मस्तिष्क और हृदय, बिना दोनोंको संस्कृत किये हम अपने ध्येयपर नहीं पहुँच सकते । केवल मस्तिष्ककी उन्नति करनेसे हमारी वही दशा होगी जो उस पक्षपाती पिताकी हुई । मस्तिष्क केवल तर्क कर सकता है । इसके बाहर वह नहीं जा सकता । हृदय दैवी प्रेरणाका स्थान है, उसमें दिव्यताका आविर्भाव होता है । सहृदयता, सहानुभूति, दया और प्रेमादि हृदयसे ही उद्भूत होते हैं । मस्तिष्कके उन्नतिकी पराकाष्ठापर पहुँचनेपर भी हमारे प्रकाण्ड विद्वान् होते हुए भी, हम इन अमूल्य निधियोंसे हीन हो सकते हैं और एक मूर्ख भी इनसे संयुक्त हो सकता है । परन्तु क्या वे विद्वान् सुख-शान्तिके अधिकारी हो सकते हैं ? कदापि नहीं । वे युद्ध करते-करते नष्ट हो जायँगे । वे मूर्ख, जिन्हें वास्तवमें विद्वान् कहना चाहिये, वास्तविक सुखके अधिकारी होंगे । हमारे पूर्वजोंमें, जो निरक्षर और मूर्ख कहे जाते हैं, प्रेम और सहानुभूतिकी मात्रा अधिक थी, वे सुख-शान्तिके अधिकारी थे; परन्तु हम शिक्षित होते हुए भी वैमनस्य और द्वेषकी प्रचण्ड ज्वालामें जलते हैं । हृदयको परिष्कृत किये बिना सदाचार सम्भव नहीं और सदाचार बिना वास्तविक सुख सम्भव नहीं । हमारी दशा दीपशिखामें जाते हुए शलभकी-सी है, हमारा आमोद-प्रमोद भी उसीका-सा है । भौतिकता-की प्रखर शिखा ! हम उसके शलभ !

हमारे गर्वका प्रधान कारण है आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कार । क्या विज्ञान जीवनकी समस्याओंको सुलझा सकता है ? हम जानते थे कि जल एक तत्त्व है । वैज्ञानिक गवेषणा कहती है—तुम क्या जानो ? जलमें दो तत्त्व हैं—'आक्सिजन और हाइड्रोजन ।' जहाँ एक वस्तु अविज्ञात थी, वहाँ अब दो हुईं । यह बतानेवाला कोई नहीं कि क्या आक्सिजन है और क्या हाइड्रोजन । 'टर्नर' जलकी बूँद कागजपर फैला देता है । 'टिण्डल' उसे तौलता है और दूरबीनद्वारा उसकी विवेचना करता है । ओह ! उसमें अगणित कृमि मिलते हैं सब चैतन्य और अपने ध्येय-की ओर अग्रसर । वह आश्चर्य-मुग्ध हो जाता है । विज्ञान दुःशासन प्रकृति-पाञ्चालीका वस्त्रापहरण करता है—उसे नग्न करता है । परन्तु वहाँ तो अशेष पर्त्त हैं—एक-से-एक सुन्दर और आश्चर्यजनक !

पटपर पट उठता जाये पर, रह जायगा शेष अशेष ।
कौन प्रकृति-पाञ्चालीका यों, लख सकता है वेश ॥

चाहे हम अपनी सभी आवश्यकताएँ मशीनोंसे पूरी कर लें; यही नहीं, चाहे हम नया आकाश रचकर नये तारे और सूर्य-चन्द्र अवस्थित कर दें, वायुको बाँध लें, आकाश-को छिपा लें, क्षणभरमें विश्वकी परिक्रमा कर आयें और सार्वभौम साम्राज्यके सम्राट् हो जायँ; परन्तु इससे होता क्या है ? जीवनकी समस्या इससे तो सुलझती नहीं । हम क्या जानते हैं कि हमारी पृथ्वी जिसपर हम लघु कृमि रेंग रहे हैं, विधि-प्रपञ्चका लक्षांश भी नहीं—सागरका एक बूँद भी नहीं ? न्यूटन-सरीखे विज्ञानविशारदका कहना है—'ओह ! मैं विज्ञान-महासागरके प्रक्षुब्ध तटपर खेलते हुए उस अबोध बालकके सदृश हूँ, जो लहरोंके द्वारा फेंके हुए शंबुक और शुक्तिको रख समझ प्रमुदित हो जाता है ।'

चक्रवर्ती सम्राट् विशाल ऐश्वर्यके बीच, मृत्युशय्याशेषी हो जाता है । सभी चिकित्सक हार मान जाते हैं । पिंजड़ा

रह जाता है, पंछी उड़ जाता है। कोई नहीं कह सकता कि वह बोलता पंछी क्या था और कहाँ उड़ गया। लोग विज्ञानसे पूछते हैं। वह बहरा बन जाता है। लावण्यवती तरुणी विप्रलम्भसे रोती है, उसका वैज्ञानिक पति कहता है—'क्यों रोती हो? इन आँसुओंमें क्या है! मैंने इनकी मीमांसा की है। इनमें अमुक-अमुक तत्त्व हैं।' हृदय कह उठता है—'शिक्षित मूर्ख! तुम इन आँसुओंका मूल्य क्या जानो? रोनेवाला मैं हूँ।' मस्तिष्ककी पराकाष्ठा यही है। इसकी दशा उस बालककी-सी है जो अमूल्य रत्नोंसे भरे हुए भवनकी भित्तियोंके सुन्दर चित्रों और द्वारके रंग-बिरंगे परदोंको देखनेमें उलझा रह जाता है और रत्नोंतक नहीं पहुंच पाता।

मस्तिष्क और हृदयके संघर्षमें हमें हृदयका ही अनुसरण करना चाहिये। मानव आदर्शकी परिनिष्ठा समुन्नत मस्तिष्क और हृदयका सङ्गीतपूर्ण सम्मिश्रण है। सदाचारी मूर्ख अशिष्ट विद्वान्से कहीं अच्छा है और उसका अपने ध्येयपर पहुँचना अनिवार्य है। आधुनिक विश्व राष्ट्रीय दौड़में वेगसे दौड़ रहा है। उससे हृदय कहता है—'तुम्हारे मार्गमें धोखेकी टट्टी है, सँभलकर दौड़ो।' परन्तु वह सुनता ही नहीं। यदि सौजन्य, वास्तविक सभ्यता और विनम्रता वास्तविक शौर्य है, तो जान लो कि यह विश्व पतनकी ओर जा रहा है। यदि इतना भीषण प्रयत्न और अध्यवसाय मानव-जातिको सहृदय, सहिष्णु और उदार बनानेमें किया गया होता, तो आज विश्वमें कितनी सुख-शान्ति होती! वह शिक्षा कैसी जो हमें उदार, सहृदय और नम्र नहीं बनाती; उलटे स्वार्थपरता, कूटनीति और प्रतारणा पढ़ाती है!

सारांश यह नहीं कि मस्तिष्क कारावासमें बन्द कर दिया जाय और विज्ञान पङ्गु हो बैठ रहे; नहीं, वह अपना कार्य करे, उत्साहसे करे। परन्तु अखिलेशके अनुरागमें ओत-प्रोत हो जाता रहे—

जानेको भटक रहा हूँ, तेरे ही निभृत निलयमें।
अनुराग एक व्यञ्जित है, स्मित-अश्रु, पराजय-जयमें॥
अति दुर्गम शैल, सघन तम, नैराश्य-सिन्धु है मगमें।
प्रिय प्राण-सखा तू मेरा, बस तू मेरा इस जगमें॥

गुरु ही ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर हैं!

[कहानी]

(लेखक—मुखिया श्रीविद्यासागरजी)

विन्ध्याचलकी एक चोटीपर खड़े हुए महात्मा कपिलजीने अपने शिष्य नन्दनसे कहा—

कपिल—तुम क्या चाहते हो?

नन्दन—भगवान्का निरन्तर दर्शन!

कपिल—तो, त्रिगुणकी तिकड़मसे बचकर रहना सीखो।

नन्दन—त्रिगुण किसे कहते हैं, गुरुदेव?

कपिल—सत्त्व, रज और तम।

नन्दन—वे क्यों त्याज्य हैं?

कपिल—सत्त्वगुण मारता है, कीर्तिद्वारा। रजोगुण मारता है, धनके द्वारा और तमोगुण मारता है, स्त्रीद्वारा। कामिनी-काञ्चन-कीर्ति, यही त्रिगुणकी तिकड़म है। यही तीन निशाचर जीवात्माका सत्यानाश किया करते हैं।

नन्दन—इस त्रिगुणको बनाया किसने, महाराज?

कपिल—मायाने! मायासे बचकर चलना ही जीवात्माका पुरुषार्थ है। त्रिगुणात्मक माया ही जीवात्माकी समझकी परीक्षाभूमि है। अगर त्रिगुणके त्रिशूलकी एक भी नोक छू ली, तो फिर सफ़ाई समझना। गुरुका काम है—ज्ञान देना। इसलिये मैं यही ज्ञान देता हूँ कि गुणातीत बनो। अब मैं जाता हूँ।

नन्दन—जाते हैं? कहाँ जाते हैं आप? गुरुदेव, आपके लिये तो मैंने माता-पिता त्यागे; क्या आप भी नसीब न होंगे?

कपिल—मैं सदा तुम्हारे पास हूँ। सद्गुरु, परमात्मा और माया—ये तीनों हर जगह हैं। निश्चयके साथ जब जहाँ याद करोगे, मैं प्रकट हो जाऊँगा। वैसे भी मैं तुम्हारी रक्षा करता रहूँगा। पर—साथ नहीं रहूँगा।

नन्दन—क्यों?

कपिल—योग, भोग और भोजन—ये तीन काम एकाकी करने चाहिये । मैं गङ्गासागरपर तप करने जाता हूँ । तुम इसी विन्ध्याचलकी चोटीपर तप करो । फिर भी मुझे दूर मत समझना । माया, संत और परमात्माके लिये दूरी नामक कोई चीज नहीं होती ।

नन्दन—मायाकी व्यापकता क्या किया करती है ?

कपिल—त्रिगुणके द्वारा, जीवात्माको भुलाये रखती है । मुसाफिरको मंजिलतक न पहुँचने देना ही उसका जीवन-व्रत है ।

नन्दन—संतकी व्यापकता क्या किया करती है ?

कपिल—प्रत्येक जीवात्माको अच्छाई और बुराईकी तमीज दिया करती है ।

नन्दन—परमात्माकी व्यापकता क्या काम करती है ?

कपिल—माया और संतकी करतूत देखा करती है और दोनोंको अपनी सत्तासे जीवित रखती है ।

नन्दन—क्या संतका काम परमात्मा नहीं कर सकता ?

कपिल—नहीं ।

नन्दन—क्यों महात्माजी ?

कपिल—परमात्मा वक्ता नहीं है—द्रष्टा है । वह देख सकता है, मगर बोल नहीं सकता । बोलनेका काम संतके अधीन किया गया है ।

नन्दन—क्या परमात्मामें बोलनेकी शक्ति नहीं है ?

कपिल—उसमें सब शक्तियाँ हैं । वे बोल सकते हैं—पर बोलना नहीं चाहते । उन्होंने अपनेको आप ही मूक बना दिया है । इसका कारण वही जानें ! उनके अवतार बोला करते हैं, पर वे स्वयं नहीं बोलते ।

नन्दन—न बोलना परमात्माकी एक अदा है ?

कपिल—जो समझो ।

(२)

महात्मा कपिलजीके चले जानेके एक महीने बाद, एक दिन, नन्दन बाबा पहाड़ीपर घूम रहे थे । दैवात् एक स्थानपर उनको सोनेकी एक खान मिल गयी ।

सोनेकी खान देखते ही भगतजीकी नीयत बदल गयी । आप कहने लगे—'गुरुजीने त्रिगुणसे बचनेका उपदेश दिया है । मगर, उनके प्रवचनमें परिवर्त्तनकी गुंजाइश है । मान लो कि मुझे आज कञ्चन मिल गया है । यदि मैं इस कञ्चनद्वारा बुरे कर्म करूँ तो यह हानिकर प्रमाणित हो सकता है । उस अवस्थामें कञ्चन त्याज्य ठहराया जा सकता है । पर, इसी कञ्चनसे अगर अच्छे काम करूँ, तो यह धन कैसे जहर बन जायगा ? गुरुजीके निर्णयमें यही आलोचना हो सकती है कि धन बुरा नहीं, किन्तु उसका उपयोग बुरा हो सकता है ।'

भगत नन्दनदासजीने मजदूरोंको बुलाया । राजलोग अपनी कन्नी-बसूली लेकर आ मौजूद हुए । भगतजीने उनको समझाया—'देखो, इस जगह एक मन्दिर बनेगा । उसमें भगवान् कपिलजी और शिवजीकी स्थापना होगी । तुमलोग जगद्गुरु कपिलजीको अभी नहीं पहचानते हो । पुरुष, प्रकृति और जीवके कर्तव्योंका निर्देश करनेवाले कपिलजी ही हैं । तीनोंकी स्थिति तो बहुतोंने मानी और जानी है । परन्तु तीनोंका व्यावहारिक प्रोग्राम किसीने नहीं बतलाया । बोलो—जगद्गुरु कपिलजीकी जय !

राजों और मजदूरोंने देखा कि यहाँपर गहरा हाथ लगेगा । उन्होंने श्रद्धा न होते हुए भी बड़ी जोरसे नारा लगाया !

भगतजीने सोचा—'अब गुरुजीकी नाराजी मिट जायगी । इस प्रान्तमें अपनी जय-जयकार सुनकर भला, कौन ऐसा गुरु होगा, जो द्रवित न हो जाय ।'

भगतजीने राजोंसे कहा—'केवल मन्दिर बनानेसे ही तुमको छुट्टी न मिल जायगी । मन्दिरके सामने कुआँ भी बनाना होगा ।'

राजोंने कहा—'बनाना होगा । जरूर बनाना होगा । बिना कुएँका मन्दिर किस मसरफका ?'

भगतजी बोले—'केवल मन्दिर और कुआँ बनाकर ही तुमलोग न भाग सकोगे । एक धर्मशाला भी बनानी पड़ेगी ।'

राजोंने कहा—'धर्मशाला भी बनानी पड़ेगी । जरूर बनानी पड़ेगी । अरे भाई, गुरुजीके दर्शनोंके लिये जो सारा आलम उमड़ पड़ेगा, वह ठहरेगा कहाँ !'

भगतजीने देखा—'गुरुजीके दर्शनके लिये जो अखिल ब्रह्माण्ड उमड़ेगा, तो धर्मशाला विशाल होनी चाहिये।'

भगत—यह धर्मशाला कम-से-कम एक मीलके घेरेमें बनेगी। तीन मंजिलका किला रचकर खड़ा कर दो। सब काम पत्थरसे लिया जाय। यहाँ पत्थरकी कोई कमी नहीं है।

राजलोगोंमें एक काना राज उनका मुखिया था। उसने कहा—'न पत्थरकी कमी और न पैसेकी कमी। जहाँ जगद्गुरु कपिल हैं, जहाँ नन्दनदास-से पूरे भगत हैं वहाँ पैसेकी कौन कमी? पैसा कम नहीं, तो पत्थर कैसे कम हो जायगा?'

दिनभर कुछ काम नहीं हुआ। केवल इमारतोंके नक्शे जमीनपर बनाये और बिगाड़े गये। इसी सिलसिलेमें काने राजने यह राज भी हासिल कर लिया कि सोनेकी खान किस जगहपर मिली है। खुशीके मारे बाबाजीने यह नहीं सोचा कि वे क्या कह गये। फिर, उस खानमेंसे सोना निकालेंगे तो मजदूर ही। छिपानेसे क्या फायदा?

रात हुई। काने राजने सबको अपने आदेशमें कर लिया। बाबाजीको पकड़कर एक पेड़से बाँध दिया गया। उनके सामने ही, चाँदनी रातमें, सोनेकी खान लूट ली गयी। सबलोग सोना ले-लेकर चंपत हुए। किसीने बाबाजीको बन्धन-मुक्ततक न किया। प्रातः जब चरवाहेलोग आये, तब उन्होंने बाबाजीके बन्धन खोले।

भगतजी जमीनपर बैठ गये और कहने लगे—'गुरुके प्रवचनमें जो परिवर्तन करता है, उसकी यही हालत होती है। कञ्चनके अच्छे और बुरे उपयोग तो दूरकी बात है। मैं कहता हूँ कि कञ्चनको देखना ही महापाप है और कञ्चनका नाम लेनातक पाप है। राम! राम! कहाँ भटक गया था! जरूर ही त्रिगुणकी तिकड़मसे दूर रहना चाहिये। हरे हरे—

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।

जो लोग गुरु-वचनपर विश्वास नहीं करते, उनका कल्याण नहीं होता। रातभर पेड़से बँधा रहा। सुबह न मन्दिर रहा, न कुआँ रहा और न धर्मशाला रही। अखिल ब्रह्माण्डकी जय-जयकार भी सुनायी न पड़ी। अगर चरवाहेलोग न आते तो शामतक भूखों मर जाता। धत तेरे कञ्चनकी ऐसी-तैसी! आजसे मैं कभी त्रिगुणकी तिकड़ममें न पड़ूँगा।'

इस घटनाके तीन महीने बादका समाचार सुनिये। एक दिन बाबाजी व्यायाम कर रहे थे, इतनेहीमें एक यक्षिणी वहाँ आयी।

यक्ष-जातिकी स्त्रियाँ परम सुन्दरी हुआ करती हैं। उस रमणीका शरीर गोरा था। पद्मिनी जातिकी थी। शरीरसे कमलकी महक आती थी। उसे देखते ही भगतजीकी नीयत बदल गयी। उमर थी पन्द्रह सालकी।

भगतजी—तुम कौन हो?

स्त्री—मेरा नाम चातकी है। मैं कुबेरलोकमें रहती हूँ। मेरे पिताने आज्ञा दी है कि मैं स्वयं ही अपने लिये पति खोजूँ। बस, मैंने अपना पति खोज लिया!

भगतजी—किसे खोज लिया?

स्त्री—आपको!

भगत—हुश्! मुझे विवाह करना होता तो अपने घरमें न करता? जमींदारका लड़का हूँ। पढ़ा-लिखा हूँ। कुछ मूर्ख थोड़े ही हूँ।

चातकी—आप मेरे साथ विवाह करें अथवा न करें, मैंने आपके साथ विवाह कर लिया!

नन्दन—कैसे?

चातकी—इच्छासे। इच्छाका विवाह ही स्वयंवर कहलाता है। फिर, हमलोग यक्ष हैं। इच्छाको ही प्रधान मानते हैं।

नन्दन—मैं तुमको छू नहीं सकता।

चातकी—छूनेके लिये किसने कहा—आपसे? छूनेकी कोई जरूरत नहीं है। आप भजन कीजिये—मैं कन्द-मूल, फल-फूल लाकर आपकी पूजा किया करूँगी। छूनेकी तो बात ही नहीं है। छूना ही तो छूत है।

नन्दन—मैं तुमको अपने पास नहीं रख सकता!

चातकी—क्यों, स्वामी?

नन्दन—मुझे स्वामी मत कहो!

चातकी—क्यों, प्रियतम ?

नन्दन—प्रियतम भी मत कहो !

चातकी—क्यों, इष्टदेव !

नन्दन—हुश् ! पगली ! वही बात कहे जाती है जिसे मैं सुनना नहीं चाहता ! कह दिया कि तुमको साथ नहीं रख सकता—बस, चुपचाप अपना रास्ता नापो ।

चातकी—आखिर इसका कारण ?

नन्दन—मैं ब्रह्मचारी हूँ ।

चातकी—फिर वही बात ? जो लोग यह कहते हैं कि गृहस्थाश्रममें ब्रह्मचर्यका पालन नहीं किया जा सकता, वे दुर्बल मनुष्य हैं । अविवाहित रहकर ब्रह्मचर्यका पालन किया तो क्या किया ? शङ्करजीकी तरह पत्नीके साथ रहकर ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये । विष्णुजी लक्ष्मीजीके साथ रहते हुए ब्रह्मचारी हैं । रामजी सीताजीके साथ रहकर भी ब्रह्मचारी हैं । कृष्णजी राधाजीको सङ्ग रखते हुए भी पूर्ण ब्रह्मचारी हैं । जिस बातके नमूने मौजूद हैं उस काममें आनाकानी कैसी ?

नन्दन—नहीं, नहीं । मेरे गुरुने मना किया है ।

चातकी—क्या कहा था—गुरुजीने ?

नन्दन—कहा था कि कामिनीसे दूर रहना ।

चातकी—जैसे गुरु आपके वैसे मेरे । गुरुका कहना जरूर करना चाहिये । मैं भी तो नहीं कहती कि आप मुझे छुआ करें ।

नन्दन—मैं किसी भी स्त्रीसे प्रेम नहीं कर सकता ।

चातकी—मैं कब कहती हूँ कि आप मुझसे प्रेम करें । प्रेम तो आपको एक भगवान्‌से ही करना चाहिये ।

नन्दनने सोचा—गुरुजीकी इस तालीममें कि औरतका साथ न करो, कुछ तरमीमकी गुंजाइश है । औरत बुरी नहीं । उसका उपयोग बुरा हो सकता है । मैं इसके साथ गृहस्थीका सम्बन्ध ही न रक्खूँगा । इसको भी परमात्माका भगत बना दूँगा ।

दोनों साथ-साथ रहने लगे । जब फूस और आग इकट्ठे होते हैं तब आग जलती ही है ।

प्रथम तो कुछ दिनोंतक वह अलग ही रहती रही । फिर एक दिन उसने शास्त्रोंके प्रमाणसे यह प्रमाणित कर दिया कि अपने स्वामीकी चरण-सेवा करना स्त्रीका प्रधान कर्तव्य है । प्रमाणरूपमें लक्ष्मीजीका उदाहरण पेश किया । वे तो दिन-रात अपने ब्रह्मचारी पतिकी चरण-सेवा किया करती हैं । मैं तो केवल रातमें एक घण्टेके लिये अपना यह जन्मसिद्ध अधिकार चाहती हूँ । नन्दनजीने उसका यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया ।

धीरे-धीरे उस यक्षिणीने नन्दनजीके मन और शरीर दोनोंपर पूरा-पूरा अधिकार कर लिया । उनके सारे बन्धन टूट गये । अब तो वे पूरे गृहस्थ बन गये । उनकी चौबीस वर्षकी तपस्या नष्ट हो गयी । उनका ब्रह्मचर्य-व्रत भङ्ग हो गया । इस प्रकार उनकी साधनाको चौपटकर वह यक्षिणी एक दिन नन्दनजीको छोड़कर अपने लोकको चली गयी ।

भगत नन्दनदास रो उठे । हाय ! मेरी साधना भी गयी और यह भी हाथसे गयी । न राम मिले, न माया ही रही । न योग सधा, न भोग ही भोग पाया । सच है, जिन्हें गुरुके वचनोंमें विश्वास नहीं, वे मेरी ही तरहसे रोया करते हैं । कञ्चनके सम्बन्धमें जो मैंने परिवर्त्तनकी गुंजाइश देखी तो वह हाल हुआ और कामिनी सम्बन्धी गुरुकी आज्ञामें जो मैंने तरमीमकी गुंजाइश देखी तो यह हाल हुआ । अब कीर्तिका जहर देखना बाकी रह गया । तीनोंकी परीक्षा लेकर ही अब भक्ति करूँगा । चाहिये तो था मुझे गुरु-वचनपर अटल रहना; परन्तु अब तो त्रिगुणकी पूरी तिकड़म देखकर ही अनुभव प्राप्त करूँगा । गुरुजीकी जब दो बातें सच हुईं, तब तीसरी भी सच होगी, यह मानी हुई बात है ।

मगर—उसे भी आँखोंसे क्यों न देख लिया जाय ? सचमुच यही सिद्धान्त ठीक है कि—

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः !

(४)

इस घटनाके बाद, बारह सालतक मौन रहकर, नन्दनजीने घोर तपस्या की। शीतकालमें जलमें खड़े होकर और ग्रीष्मकालमें पञ्चधूनी तपकर एवं वर्षाकालमें वर्षामें खड़े होकर उन्होंने 'नमः शिवाय' का अखण्ड जप किया। भूख, प्यास, मृत्यु और जीवन इन चारों शङ्काओंको उन्होंने त्याग दिया। नन्दनजी सिद्ध हो गये। जगत्को सुखी बनानेके लिये तराईमें उतर गये। जिसे जिस कामके लिये अपने सिरका एक बाल तोड़कर दे देते, उसका भला हो जाता। लोगोंने कहा—'एक सिद्ध महात्मा प्रकट हुए हैं। अब भी कोई दुखी रहे तो उसकी मरजी। चलो—एक-एक बाल ले आवें।'

चार-पाँच हजार आदमियोंने उनको घेर लिया। बाबाजीको बाल तोड़नेकी मशक्कत क्यों दी जाय, इस विचारसे पबलिकने बाल उखाड़नेका काम अपने जिम्मे ले लिया। बाबाजी मूर्च्छित हो गये ! क्योंकि सब लोगोंने जबरन उनके सब बाल उखाड़ डाले। होशमें आते ही बाबाजी वहाँसे भागे और उसी चोटीपर चढ़कर बोले—'त्रिगुण त्याज्य हैं ! इनकी तिकड़ममें कोई भूलकर भी न पड़ना।'

परो धर्मः

(लेखक—श्रीयुत विनयकुमार सान्याल, बी० ए०)

श्रीमद्भागवतका श्लोक है—

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति ॥

मनुष्यका परम धर्म एकमात्र अधोक्षज भगवान् श्रीकृष्णकी भक्ति है—वह भक्ति जो अहैतुकी है, स्वार्थ-गन्धसे शून्य है, जो अबाध गतिसे श्रीहरिके चरणोंमें प्रवाहित होती रहती है और जिससे आत्माकी प्रसन्नता प्राप्त होती है।

तो क्या भक्ति एक 'भाव' मात्र है ? नहीं, भक्ति एक जीवन-सिद्धान्त है, एक सक्रिय साधना है। भक्ति-का धात्वर्थ है भजन, सेवा। परन्तु मनुष्य जो चारों ओरसे सीमाओंमें बँधा हुआ है, असीमकी, अनन्तकी सेवा कैसे कर सकता है, भजन कैसे कर सकता है ? जो इन्द्रियातीत है उसे हम इन्द्रियोंसे कैसे पा सकते हैं ? इस प्रश्नके उत्तरमें यही कहा जा सकता है कि हमारी इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि उस परात्पर तत्त्वको अपने बलसे नहीं पा सकतीं। वह अदृश्य सत्ता जब स्वयं कृपापरवश होकर अपार अनुग्रहके कारण अवतरित होती है तभी वह क्रमशः हमारी बुद्धि फिर मन और अन्तमें हमारी इन्द्रियोंके संस्पर्शमें आती है और तभी हम उसकी साक्षात् सेवा कर सकते हैं।

परन्तु वह अदृश्य, अव्यक्त सत्ता अवतरित क्यों होती है, उतरती क्यों है ? हमारे हृदयमें 'उसे' प्यार करने, उसे सर्वथा अपनानेकी जो उत्कट साध है—उस साध, उस लालसाके कारण ही वह 'पर्दानशीन' पर्देके बाहर आता है। जिस प्रकार अपने प्यारेकी चर्चासे प्रणयिनीके हृदयमें एक अदम्य उत्कण्ठा जगती है, उससे मिलनेकी स्निग्ध वासना हृदयको मथने लगती है—ठीक उसी प्रकार जब प्राणधन श्रीहरिकी कथा श्रद्धापूर्वक सुनी जाती है तो सहज ही संसारकी समस्त

वासनाओंसे चित्त फिर जाता है और हृदयमें विमल वैराग्यका उदय होता है—'जनयत्याशु वैराग्यम्' । विषयान्धकारसे हटकर ज्ञानके तेजोमय लोकमें हम प्रवेश करते हैं। यहाँ हमारी आत्मा, अपने एकमात्र 'आश्रय'के लिये, अपने प्राणाधार 'सर्वस्व' से मिलनेके लिये छटपटा उठती है; इस छटपटाहट, इस 'लौल्य' के कारण ही वह परात्पर तत्त्व अवतरित होकर मिलनेके लिये, भूखी-प्यासी आत्माका आलिङ्गन करनेके लिये, मचल उठता है—

'तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ।'

अतएव इस मङ्गल-मिलनके मूलमें श्रद्धा ही काम करती है। 'श्रद्धा'का अर्थ है वेद, स्मृति और आचार्यों-के वचनोंमें सहज विश्वास। श्रद्धा कहीं बाहरसे नहीं लायी जाती, वह हृदयमें स्वतः स्फुरित होती है, वह जीवमात्रके हृदयमें स्वभावतः विद्यमान रहती है—'श्रद्धा-मयोऽयं पुरुषः'। श्रद्धाके विना कोई जी ही नहीं सकता। मिट्टीमें, जलमें, हवामें, सूर्यमें, मेघोंमें, वृष्टिमें, किंबहुना दरवाजोंमें, खिड़कियोंमें, छतमें, दीवारमें, पुलमें, किश्ती-में, रेलगाड़ीमें—सभी वस्तुओंमें जिनसे हमारा सम्बन्ध है, प्रकृतिके समस्त विधानोंमें जिनका हमारे जीवनपर प्रभाव है, हम विश्वास करते हैं, उन्हें मानते हैं। हमारे मनमें कदापि ऐसा सन्देह नहीं होगा कि पूरबके बदले पश्चिममें सूरज निकल आवे। हम यह मान नहीं सकते कि पानीसे हमारी प्यास नहीं बुझेगी, अन्नसे हमारी भूख शान्त न होगी, अथवा आकाश हमारे सिरपर फट पड़ेगा। यदि ऐसी बातोंको लेकर हमारे मनमें सन्देह होने लगे तो बहुत शीघ्र हमारे पागल-खानेमें रहनेकी नौबत आ जायगी। बालकमें भी यह स्वाभाविक श्रद्धा होती है, उसीके कारण वह अपने आप्तों—शुभचिन्तकोंकी बात मान लेता है और न माननेपर कष्ट एवं असुविधाका अनुभव करता है, जिससे उसका विश्वास और भी बढ़ता है। इसी प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्रमें भी साधकको अपने गुरुजनों, अपने आप्तजनों—शुभचिन्तकोंपर विश्वास करके ही साधनाके मार्गमें आगे बढ़ना पड़ता है। आरम्भमें गुरुजनोंका आज्ञापालन और उनके वचनोंमें अखण्ड विश्वास अनिवार्य है। विज्ञानका विद्यार्थी विज्ञानके कुछ मौलिक सिद्धान्तोंको माने विना वैज्ञानिक प्रयोगोंमें कैसे प्रवृत्त हो सकता है?

जबतक साक्षात् सेवाका जो जीवनका सर्वोच्च ध्येय है—सुयोग न मिले साधकको चाहिये कि वह शास्त्रा-नुमोदित साधन-भक्ति—परोक्ष सेवामें लगा रहे। प्रभुके सगुण-साकार विग्रहके अभावमें वह शास्त्रानुकूल किसी सुन्दर प्रतिमा अथवा चित्रपट शालग्राम-शिला या किसी यन्त्रविशेषमें उस निर्गुण-निराकार परात्पर सर्वव्यापक प्रभुका आवाहन करे और प्रणय-विह्वल हृदयकी प्रीति-अनुरक्तिसे अभिसिञ्चित उत्तम-से-उत्तम पदार्थोंकी भेंट चढ़ावे। भगवान् ऐसी भेंटको सहर्ष स्वीकार करते हैं—स्वयं उन्होंने ही गीतामें कहा है—

'तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ।'

छान्दोग्य उपनिषद्का वचन है कि भगवान् हमारे हृदयके कमलकोषमें निवास करते हैं, यह उनका अत्यन्त प्रिय विहारस्थल है। स्वयं भगवान्ने कहा है—'सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः'—मैं सबके हृदयमें बसता हूँ। अतएव उनकी उपासनाके लिये सबसे सुन्दर 'यन्त्र' हमारा हृदय ही है। और यदि हम 'उन्हें' अपने हृदय-में खोजें तो उन्हें अवश्यमेव—अवश्य-अवश्य पा लेंगे;—इतना ही नहीं, उन्हें हम अपने हृदयमें सदाके लिये बन्दी बना लेंगे—'सद्यो हृद्यवरुध्यते'। यहाँ प्रणयकी डोरीमें बँधकर 'वह' भाग नहीं सकता, भागना चाहेगा भी नहीं—

'प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः ।'

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या हम-जैसे कलि-मल-ग्रसित पातकी जीव भी प्रभुको पा सकते हैं ? भागवत तो स्पष्ट कहती है कि वे पुण्यात्माजन जो हरि-कथामें रस लेते हैं वे ही 'उन्हें' बन्दी बना सकते हैं—'कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात् ।' हम अधमजन पुण्यको क्या जानें ? परन्तु इसमें निराश होनेकी कोई बात नहीं है । स्वयं श्रीभगवान्ने गीतामें कहा है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

महान्-से-महान् पापी भी, जो भगवान्का अनन्य-भावसे भजन करता है, साधु हो जाता है । और भागवत स्पष्ट बतलाती है कि किस प्रकार भगवान् हमारे पापों और कल्मषोंको धो डालते हैं—

शृण्वतां स्वकथाः कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तनः ।
हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम्॥

हम उस प्रभुकी कथा सुनते जायँ—'वह' स्वयं हमारे पापोंको नष्ट कर देंगे। क्या उनकी अभय वाणीसे हमें बल नहीं मिलता ? क्या हम उनकी प्रतिज्ञाको भूल गये ?—

'तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।'

इस प्रकार 'परो धर्मः' के मार्गमें हमें दुहरा लाभ है—पहला यह कि भगवान् स्वयं हमें जन्म-मृत्युके बन्धनसे छुड़ा देते हैं और दूसरा यह कि हम 'उन्हें' अपने हृदयकी कोठरीमें बन्द कर सकते हैं—उनपर ऐसा जादू कर सकते हैं कि 'वह' बाहर जानेका कभी नाम भी न लें—

'विसृजति हृदयं न यस्य साक्षाद्धरिः ।'

'परो धर्मः' का यह मार्ग अत्यन्त स्वाभाविक है, क्योंकि यह हमारी आत्माका मार्ग है, इसलिये यह सबसे सहज और सुखद है । इसी मार्गका संकेत करते हुए वेद कहते हैं—

'धर्मः सर्वेषां प्राणिनां मधु ।'

और इस 'मधु' का स्रोत, मधुका झरना कहाँ है ? वेद कहते हैं—

'विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः'

—भगवान् विष्णुके चरणकमलोंमें समस्त मधुका निर्झर है । फिर इस साधनमार्गमें कोई कठिनाई है क्या ? कोई नहीं, बिलकुल नहीं । इसे भगवान्ने 'सुसुखं कर्तुम्'—करनेमें अत्यन्त सुखद और सरल कहा है । स प्रकार साधनाका यह मार्ग केवल सुगम ही नहीं है, अपितु सुखावह भी है । ठीक जिस प्रकार सुस्वादिष्ट भोजन करते समय एक-एक ग्रासपर तुष्टि-पुष्टि प्राप्त होती है और क्षुधाकी निवृत्ति होती है—

'तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम्'

उसी प्रकार इस मार्गमें चलनेवालेको पग-पगपर सुख-शान्ति और आनन्दका अनुभव होता है, एक अद्भुत सुखानुभूतिका रस मिलता रहता है । सबसे विलक्षण बात तो यह है कि इस मार्गमें पग-पगपर प्रभुकी प्रीतिका रसास्वादन होता रहता है; 'उधर'से भी स्वीकृतिसूचक एक इशारा मिलता रहता है । और इस कारण साधककी साधना रसमयी होती जाती है । सूर्योदयके पूर्व जिस प्रकार प्रभातकी सुखद सुहावनी बेला होती है, उसी प्रकार इस मार्गमें साधनाका एक-एक पग सुखावह और सुहावना होता है ।

और क्या यह भी बतलानेकी आवश्यकता है कि ये 'अधोक्षज' कौन हैं ? ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् नारायण—इन तीनोंका एक समग्ररूप—वह है हमारा प्राणवल्लभ, कमलकी-सी बड़ी-बड़ी आँखोंवाला वृन्दावनविहारी वंशीधारी श्रीकृष्ण !

* कल्याणके नियम *

उद्देश्य—भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचार-समन्वित लेखोंद्वारा जनताको कल्याणके पथपर पहुँचानेका प्रयत्न करना इसका उद्देश्य है।

नियम

(१) भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्यादि ईश्वर-परक, कल्याणमार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेपरहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख भेजनेका कोई सज्जन कष्ट न करें। लेखोंको घटाने-बढ़ाने और छापने अथवा न छापनेका अधिकार सम्पादकको है। अमुद्रित लेख बिना माँगे लौटाये नहीं जाते। **लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदाता नहीं हैं।**

(२) इसका डाकव्यय और विशेषांकसहित अग्रिम वार्षिक मूल्य भारतवर्षमें ४ℐ) और भारतवर्षसे बाहरके लिये ६।ℐ) नियत है। बिना अग्रिम मूल्य प्राप्त हुए, पत्र प्रायः नहीं भेजा जाता।

(३) 'कल्याण' का **वर्ष** अंगरेजी **अगस्त** माससे आरम्भ होकर जुलाईमें समाप्त होता है, अतः ग्राहक अगस्तसे ही बनाये जाते हैं। वर्षके किसी भी महीनेमें ग्राहक बनाये जा सकते हैं, किन्तु अगस्तके अङ्कसे। कल्याणके बीचके किसी अङ्कसे ग्राहक नहीं बनाये जाते; छः या तीन महीनेके लिये भी ग्राहक नहीं बनाये जाते। 'कल्याण' **प्रति मास अंगरेजी महीनेकी पहली तारीखको निकलता है।**

(४) इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी दरमें स्वीकारकर प्रकाशित नहीं किये जाते।

(५) कार्यालयसे 'कल्याण' दो-तीन बार जाँच करके प्रत्येक ग्राहकके नामसे भेजा जाता है। यदि किसी मासका 'कल्याण' न पहुँचे तो अपने डाकघरसे लिखा-पढ़ी करनी चाहिये। वहाँसे जो उत्तर मिले, वह हमें भेज देना चाहिये। डाकघरका जवाब शिकायती पत्रके साथ न आनेसे दूसरी प्रति बिना मूल्य मिलनेमें बड़ी अड़चन होगी।

(६) पता बदलनेकी सूचना कम-से-कम १५ दिन पहले कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये। **लिखते समय ग्राहक-संख्या, पुराना और नया नाम-पता साफ-साफ लिखना चाहिये।** महीने-दो-महीनेके लिये बदलवाना हो तो अपने पोस्टमास्टरको ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये।

(७) अगस्तसे बननेवाले ग्राहकोंको रंग-बिरंगे चित्रों-वाला अगस्तका अङ्क (चालू वर्षका विशेषांक) दिया जाता है। विशेषांक ही **अगस्त तथा वर्षका पहला अङ्क** होता है। फिर जुलाईतक महीने-महीने नये अङ्क मिला करते हैं। 'कल्याण' के सातवें वर्षसे ग्यारहवें वर्षतक भाद्रपद-अङ्क परिशिष्टाङ्करूपमें विशेषाङ्कके अन्तमें प्रतिवर्ष दिया गया है।

(८) चार आना (एक संख्याका मूल्य) मिलनेपर नमूना भेजा जाता है। ग्राहक बननेपर वह अङ्क न लेवें तो ।) बाद दिया जा सकता है।

आवश्यक सूचनाएँ

(९) 'कल्याण' में किसी प्रकारका कमीशन या कल्याणकी किसीको एजन्सी देनेका नियम नहीं है।

(१०) पुराने अङ्क, फाइलें तथा विशेषाङ्क कम या रियायती मूल्यमें प्रायः नहीं दिये जाते।

(११) ग्राहकोंको अपना नाम-पता स्पष्ट लिखनेके साथ-साथ **ग्राहक-संख्या** अवश्य लिखनी चाहिये।

(१२) पत्रके उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है।

(१३) **ग्राहकोंको चन्दा मनीआर्डरद्वारा भेजना चाहिये** क्योंकि वी० पी० के रुपये प्रायः देरीसे पहुँचते हैं।

(१४) ग्राहकोंको **वी० पी० मिले, उसके पहले** ही यदि **वे हमें रुपये भेज चुके** हों तो तुरन्त हमें एक कार्ड देना चाहिये और हमारा (फ्री डिलेवरीका) उत्तर पहुँचने-तक वी० पी० रोक रखनी चाहिये, नहीं तो हमें व्यर्थ ही नुकसान सहना होगा।

(१५) प्रेस-विभाग और कल्याण-विभाग अलग-अलग समझकर अलग-अलग पत्र-व्यवहार करना और रुपया आदि भेजना चाहिये।

(१६) सादी चिट्ठीमें टिकट कभी नहीं भेजना चाहिये।

(१७) मनीआर्डरके कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, ग्राहक-नम्बर, पूरा पता आदि सब बातें साफ-साफ लिखनी चाहिये।

(१८) प्रबन्धसम्बन्धी पत्र, ग्राहक होनेकी सूचना, मनीआर्डर आदि **'व्यवस्थापक "कल्याण" गोरखपुर'** के नामसे और सम्पादकसे सम्बन्ध रखनेवाले पत्रादि **'सम्पादक "कल्याण" गोरखपुर'** के नामसे भेजने चाहिये।

(१९) स्वयं आकर ले जाने या एक साथ एकसे अधिक अङ्क रजिस्ट्रीसे मँगानेवालोंसे कुछ कम नहीं लिया जाता।

(२०) 'कल्याण' गवर्नमेण्टद्वारा यू० पी०, आसाम, बिहार, उड़ीसा, बम्बई प्रेसीडेन्सी और सी० पी० आदि प्रान्तीय शिक्षा-विभागके लिये स्वीकृत है। उक्त प्रान्तोंकी संस्थाओंके सञ्चालकगण (तथा स्कूलोंके हेडमास्टर) संस्थाके फण्डसे 'कल्याण' मँगा सकते हैं।

Regd. No. A. 1724.

श्रीहरिः

भगवान्‌का भक्त कौन है ?

जो पुरुष अपने वर्ण-धर्मसे विचलित नहीं होता, अपने सुहृद् और विपक्षियोंके प्रति समान भाव रखता है, किसीका द्रव्य-हरण नहीं करता तथा किसी जीवकी हिंसा नहीं करता, उस अत्यन्त रागादिशून्य और निर्मलचित्त व्यक्तिको भगवान् विष्णुका भक्त जानो। जिस निर्मलमतिका चित्त कलिकल्मष-रूप मलसे मलिन नहीं हुआ है और जो अपने हृदयमें श्रीजनार्दनको बसाये हुए है, उस मनुष्यको भगवान्‌का श्रेष्ठ भक्त जानो। जो एकान्तमें पड़े हुए दूसरेके सोनेको देखकर भी उसे अपनी बुद्धिद्वारा तृणके समान समझता है और निरन्तर भगवान्‌का अनन्यभावसे चिन्तन करता है, उस नरश्रेष्ठको विष्णु-का भक्त जानो। कहाँ तो स्फटिकगिरि-शिलाके समान अति निर्मल भगवान् विष्णु और कहाँ मनुष्योंके चित्तमें रहनेवाले राग-द्वेषादि दोष ! चन्द्रमाके किरणजालमें अग्नि-तेजकी उष्णता कभी नहीं रह सकती। जो व्यक्ति निर्मल-चित्त, मात्सर्यरहित, प्रशान्त, शुद्धचरित्र, समस्त जीवोंका सुहृद्, प्रिय और हितवादी तथा अभिमान एवं मायासे रहित होता है, उसके हृदयमें भगवान् वासुदेव सर्वदा विराजमान रहते हैं। उन सनातन भगवान्‌के हृदयमें विराजमान होनेपर पुरुष इस जगत्‌में सौम्यमूर्ति हो जाता है।

(श्रीविष्णुपुराण)

कल्याण

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ (गीता १८ । ६६)

वर्ष १४ | गोरखपुर, जनवरी १९४० | संख्या ६ पूर्ण संख्या १६२

सबहि अंगको बाँको

गिरिधर सबहि अंगको बाँको ।
बाँकी चाल चलत गोकुलमें छैल छबीलो काको ॥
बाँकी भौंह, चरन-गति बाँको, बाँको हिरदय ताको ।
परमानन्ददासको ठाकुर कियो खोर ब्रज साँको ॥

—परमानन्ददास

परमहंस-विवेकमाला

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

[मणि १४]

(गतांकसे आगे)

लोकशङ्कर—हे देवि ! कल आपने कैवल्य उपनिषद्की ब्रह्मविद्या सुनायी थी, आज जाबालोपनिषद्में कथन किया हुआ परमहंस संन्यासियोंका आचार सुनाइये !

देवी—हे सौम्य ! जाबाल उपनिषद्में पाँच खण्ड हैं; उनमेंसे प्रथम तीन खण्डोंमें उपासना और जपके सम्बन्धमें प्रश्न हैं, चौथे और पाँचवें खण्डमें परमहंस संन्यासियोंका वर्णन है । उन्हीं पिछले दोनों खण्डोंका अभिप्राय मैं तुझे सुनाती हूँ, ध्यान देकर सुन—

देवताओंके गुरु बृहस्पतिका संवर्तक ऋषि नामका एक भाई था । महाभारत अश्वमेधपर्वमें इस महात्मा मुनिका वर्णन है । पूर्वमें इसीने परमहंस संन्यास धारण किया था । अरुण ऋषिके पुत्र आरुणि जिनका दूसरा नाम उद्दालक है, उनके पुत्र श्वेतकेतुने भी पूर्वमें संन्यास ग्रहण किया था । महादेवके अंशावतार दुर्वासा ऋषि, ब्रह्माके मानस पुत्र ऋभु ऋषि, निदाघ ऋषि, जडभरत, दत्तात्रेय, रैवतक और भारद्वाज आदि ऋषि-मुनियोंने पूर्वमें परमहंस संन्यास ग्रहण किया था ।

हे वत्स ! उपर्युक्त संवर्तकादि महान् परमहंस संन्यासी नियमपूर्वक मुण्डन नहीं कराते थे, जटाएँ धारण नहीं करते थे, एक दण्ड अथवा त्रिदण्ड भी धारण नहीं करते थे और श्वेत अथवा रक्त वस्त्र भी नियमसे नहीं धारण करते थे । अर्थात् उनके संन्यासके समस्त चिह्न अव्यक्त थे—लोकोंके जाननेमें नहीं आते थे । उनका आचार भी अव्यक्त था । जिन्होंने परमहंस संन्यास ग्रहण किया था, वे महात्मा ऋषि लोगोंको भिन्न-भिन्न रूपसे प्रतीत होते थे । कभी-कभी वे सर्व पदार्थोंकी इच्छासे रहित प्रतीत होते थे, कभी-कभी इच्छावाले प्रतीत होते थे । कभी-कभी सर्व अर्थके ज्ञाता प्रतीत होते थे, कभी-कभी अज्ञानी-जैसे प्रतीत होते थे । कभी-कभी पण्डित जान पड़ते थे, कभी-कभी मूढ दिखायी देते थे । कभी-कभी पागलोंकी-सी चेष्टा करते थे और कभी-कभी चेष्टासे रहित हो जाते थे । कभी-कभी बावालके समान अनेक प्रकारके शब्दोंका उच्चारण करते थे और कभी-कभी मौन हो जाते थे । कभी-कभी अत्यन्त प्रीतिवाले और कभी-कभी रागसे रहित लोगोंको देखनेमें आते थे । हे वत्स ! इस प्रकार वे परमहंस संन्यासी अव्यक्त चिह्न और अव्यक्त आचार धारण करके अपने इच्छानुसार जगत्में विचरते थे । उनके चिह्न और आचार अव्यक्त होनेसे कोई उनको पहचान नहीं सकता था कि यह साधु है, असाधु है । पण्डित है, मूर्ख है, अथवा महात्मा संन्यासी है । सामान्य पुरुषोंकी तो बात ही क्या, बुद्धिमान् पुरुष भी उनको पहचान नहीं सकते थे कि यह गृहस्थ है, संन्यासी है, मूढ है, विद्वान् है, ब्राह्मण है अथवा चाण्डाल है । शास्त्रमें कहा है—

> यं न सन्तं न चासन्तं नाश्रुतं न बहुश्रुतम् ।
> न सुवृत्तं न दुर्वृत्तं वेद कश्चित्स ब्राह्मणः ॥

अर्थात् यह संत है, असंत है, अश्रुत है, बहुश्रुत है, सुवृत्त है कि दुर्वृत्त है—इत्यादि स्वरूपसे जो जाना न जा सके, वही ब्रह्मवेत्ता विद्वान् ब्राह्मण है, ऐसा जानना चाहिये । ऐसे ब्रह्मवेत्ता परमहंस संन्यासियोंके आचारको बुद्धिमान् पुरुष भी जान नहीं सकते, यह बात दत्तात्रेयसंहितामें भी कही है ।

एक वस्त्र धारण किये हुए, युवावस्थावाले, एक हाथमें दण्ड और दूसरे हाथमें मदिराका प्याला लिये हुए, नर्मदा नदीके बीचमें खड़े हुए, मदसे चूर नेत्रवाली एक सुन्दर तरुणी स्त्रीके मुखकी ओर बारंबार देखते हुए और हँसते हुए भगवान् दत्तात्रेयको देखकर पूर्वमें सहस्रार्जुन राजा आश्चर्यसे चकित हो गया था। ऐसे अत्यन्त निन्द्य और गुह्य आचारको देखकर राजा विस्मयको प्राप्त हुआ हो, इतना ही नहीं, परन्तु उनके स्वरूपको समझ न सका।

डोरूशङ्कर—हे देवि! उपर्युक्त निन्द्य वेष धारण करनेका क्या प्रयोजन था? ऐसे वेषमें देखकर राजाको विस्मय होना ही चाहिये था; इसमें आश्चर्य ही क्या है? परमहंस संन्यासी होकर ऐसे महात्माने ऐसा निन्द्य वेष क्यों धारण किया होगा?

देवी—हे वत्स! परमहंस संन्यासी लोकसमुदायसे इसलिये दूर रहते हैं कि उनके मनकी स्थिरताको लोग क्षुभित न करें; इसीलिये ऐसे निन्द्य स्वरूपको भी वे कभी-कभी धारण कर लेते थे। यदि उनका माहात्म्य लोगोंके जाननेमें आ जाय, तो लोग उनके पीछे-पीछे फिरकर उनके ब्रह्मसाक्षात्कार करानेवाली चित्तकी एकाग्रतामें बाधा पहुँचाये विना न रहें; परन्तु जब लोग उनको उपर्युक्त वेषमें देखें, तो उनके पास जावें ही नहीं, जिससे स्वच्छन्दरूपसे जगत्में विचरते हुए भी वे अपनी एकाग्रता रख सकें। ऐसे-ऐसे हेतुओंसे महात्मा पुरुष पूर्वमें कभी-कभी लोकनिन्द्य आचारको अङ्गीकार करके विचरते रहते थे। शास्त्रमें कहा है—

अभिमानं सुरापानं गौरवं घोररौरवम्।
प्रतिष्ठा सूकरी विष्ठा त्रीणि त्यक्त्वा सुखी भवेत्॥

अर्थात् अभिमान सुरापानके समान है, गौरव घोर नरक-जैसा है और प्रतिष्ठा सूकरी विष्ठाके सदृश है। इसलिये इन तीनोंको त्यागकर सुखी होवे।

इसी हेतुसे वे स्वयं शुद्ध आचार और शुद्ध मनवाले होकर भी लोगोंको विचित्र और विपरीत आचारसे देखनेमें आते थे। कभी-कभी लोकप्रवृत्तिरूप विक्षेपकी निवृत्तिके लिये, कभी-कभी अधिकारी शिष्योंकी श्रद्धाकी परीक्षा लेनेको और कभी-कभी लोगोंका स्वरूप जाननेके लिये वे परमहंस संन्यासी ऐसे विपरीत आचारको ऊपरसे धारण करते थे। ब्रह्मविद्याके अपूर्व प्रभावके कारण इनमेंका कोई भी दोष उनको स्पर्श नहीं कर सकता था।

हे वत्स! दत्तात्रेयादि महात्माओंकी ऐसी सिद्ध अवस्था थी कि जिसको कोई पहुँच नहीं सकता। साधारण जीवोंको हजारों जन्म लेनेपर भी ऐसी अवस्था प्राप्त नहीं होगी। इन महात्माओंके विपरीत आचारका अनुकरण करनेवाले अनुभवरहित मूढ पुरुष तो नष्ट ही होते हैं। सर्वलोकोंकी रक्षा करनेके लिये महान् योगी भगवान् शङ्करने अपने योगबलसे महान् हलाहल विषका पान किया था, किन्तु उनका दृष्टान्त लेकर कोई दूसरा पुरुष विषपान करने लगे तो तत्काल ही मरणकी शरण हो जाय। इसलिये महात्मा पुरुषोंके ऊपरके असत् आचरणको देखकर अज्ञानी मनुष्योंको उनके आचरणोंका अनुकरण करनेकी कभी भी बुद्धि नहीं करनी चाहिये। हे सोम्य! दत्तात्रेयादि परमहंस संन्यासियोंको, 'हम ब्रह्मरूप हैं' इस प्रकारके आत्मसाक्षात्कारके प्रभावसे ब्रह्मभावकी प्राप्ति होनेसे किसी प्रकारका आचार-विचार बाधा नहीं पहुँचा सकता था। नैष्कर्म्य-सिद्धिको प्राप्त हुए वे महात्मा पुरुष पुण्य-पापरूप कर्मसे यत्किञ्चित् भी लिप्त नहीं होते थे। ब्रह्मवेत्ता पुरुषोंके ऊपर जो लोग भक्ति रखते हैं, उनको उनके पुण्यकर्मोंका फल मिलता है और जो दुष्ट पुरुष ब्रह्मवेत्ताओंसे द्वेष करते हैं, उनको उनके पापकर्मका फल मिलता है। शास्त्रमें कहा है—

'सुहृदः साधु कृत्यं द्विषतः पापकृत्यम्।'

ब्रह्मवेत्ताओंकी सेवा करनेवालोंको उनके पुण्य प्राप्त होते हैं और द्वेष करनेवालोंको पाप प्राप्त होते हैं, ब्रह्मवेत्ता स्वयं असङ्ग होनेसे निर्लेप रहता है।

हे प्रियदर्शन! यद्यपि परमहंस संन्यासी स्वेच्छानुसार बर्तते हैं, तो भी उनको कोई कर्म लिप्त नहीं कर सकता। कभी-कभी वे उन्मत्तके समान चिल्लाने लगते हैं। कभी-कभी अनेक बालकोंके साथ खेल करते हैं, कभी-कभी पुष्कल भोजन कर लेते हैं, कभी-कभी भूखे ही घूमते रहते हैं। चन्दन और कीचड़ दोनोंका लेप समान मानते हैं, सर्पमें और मालामें भेद नहीं मानते और दोनोंमें समान बर्तते हैं, कभी-कभी ठहाका मारकर हँसते हैं, कभी-कभी बिना कारण ही रोने लगते हैं और शरीरका भान भी नहीं रखते! उनके ऐसे आचरण अंदरसे नहीं होते, ऊपरसे लोगोंको मोहित करनेको और अपने चित्तकी एकाग्रतामें विक्षेप न आवे, इसलिये वे जान-बूझकर इस प्रकार बर्तते हैं। योगशास्त्रमें वैराग्यवाले पुरुषके लिये ऐसा उन्मत्त आचरण करनेका उपदेश किया है। शास्त्रमें कहा है—

तथा चरेत वै योगी सतां धर्ममदूषयन्।
जना यथावमन्येरन् गच्छेयुर्नैव सङ्गतिम्॥

संसारी लोग अपनेसे दूर रहें, इस प्रकार योगीको रहना चाहिये; क्योंकि लोगोंके सङ्गसे, मानसे और अपमानसे चित्त बहिर्मुख हो जाता है। लोगोंके मानापमानसे दूर रहनेके लिये योगी लोग जान-बूझकर, लोगोंको विपरीत लगे, ऐसा बर्ताव करते हैं; परन्तु मन, वाणी और कर्मसे वे कभी भी विपरीत नहीं करते, किन्तु शास्त्रविहित धर्मका ही पालन करते हैं। जैसे प्रज्वलित अग्नि सूखी-गीली सब लकड़ियोंको जला डालता है, उसी प्रकार ब्रह्मवेत्ता पुरुषका ज्ञान भी उनके शुभ-अशुभ सब कर्मोंको जलाकर भस्म कर डालता है। इसलिये वे सर्व कर्मोंसे निर्लेप रहते हैं। पूर्वमें हुए महात्मा संन्यासियोंके बर्तावको आजकलके जो कर्म-भ्रष्ट संन्यासी बर्तने लग जाते हैं तो वे तुरंत ही स्वधर्मसे गिर जाते हैं। महापुरुषोंका-सा बर्ताव तो उनसे हो नहीं सकता, इसलिये वे कर्मभ्रष्ट पापकर्मके भोगनेवाले होकर नरकमें पड़ते हैं।

हे वत्स! ब्रह्मवेत्ता पुरुषको विद्वत्संन्यास किसी शास्त्रकी विधिसे नहीं प्राप्त होता, किन्तु स्वतः ही प्राप्त होता है। संन्यासमें भी वे कर्तव्य-बुद्धि नहीं रखते और बहिरङ्ग तथा अन्तरङ्ग साधनोंमें भी कर्तव्यबुद्धि नहीं करते; क्योंकि जहाँतक कर्तव्यबुद्धि रहती है, वहाँतक ही पुरुषको बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग साधनोंका भाव होता है और जब कर्तव्यबुद्धि टल जाती है, तब वैसा भाव ही नहीं होता। शास्त्रोंमें उनके लिये स्नानका, शौचका अथवा समाधिका कोई विधान नहीं है; क्योंकि वे शास्त्रकी प्रणालीसे भी बाहर निकल गये होते हैं। सोते हुए, बैठते हुए, भोजन करते और दौड़ते हुए भी वे तो मनकी एकाग्रतारूप समाधिमें ही स्थित होते हैं; इसलिये उनको आसनादिकी भी आवश्यकता नहीं रहती। शास्त्रका वचन है—

देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि।
यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः॥

अर्थात् अद्वितीय ब्रह्मका साक्षात्कार होनेसे जिसका अभिमान गल गया है, ऐसे विद्वान् योगी-का मन जहाँ-जहाँ जाता है, वहाँ-वहाँ उसकी समाधि ही होती है।

महात्मा संन्यासी सर्वत्र अस्ति-भाति-प्रियरूप अद्वितीय ब्रह्मको ही देखते हैं। जैसे पाँच वर्षके बालकके लिये शास्त्रके विधि-निषेध नहीं हैं, उसी प्रकार परमहंस संन्यासियोंके लिये भी शास्त्रके विधि-निषेध नहीं हैं। जिनकी भेददृष्टि नष्ट हो गयी है और जिनकी बुद्धिकी वृत्ति ब्रह्माकार हो गयी है, उनको शास्त्रके विधि-निषेध लागू नहीं हो सकते।

अपने देहमें और श्वानकी विष्ठामें उनको कोई भेद दिखायी नहीं देता। परमहंस संन्यासी पुष्प-चन्दनादिके द्वारा पूजनसे और मिष्टान्नके भोजनसे आनन्दको नहीं प्राप्त होते। यदि उनको मारा जाय, उनका तिरस्कार किया जाय अथवा अन्य प्रकारसे उनको दुःख दिया जाय, तो भी उनको खेद नहीं होता; क्योंकि वे देहको अपना नहीं मानते और अपने-पराये, भक्तजनोंके तथा दुष्टजनोंके आत्मामें भेद नहीं देखते, एक ही आत्माको सर्वत्र व्याप्त देखते हैं। ऐसे महात्माओंको इस जगत्में कोई प्रिय अथवा अप्रिय नहीं होता, कोई शत्रु अथवा मित्र नहीं होता और उनको किसीसे राग-द्वेष भी नहीं होता। हिरण्यगर्भसे लेकर चींटीपर्यन्त सर्व प्राणियोंमें वे समान भाव रखते हैं। जाड़ा, गर्मी और वर्षा उनको दुःख नहीं दे सकते; क्षुधा-पिपासा उनको तंग नहीं करतीं; शोक-हर्षका उनपर असर नहीं होता। अथवा जन्म तथा मरणमें भी, जिनमें दूसरोंको हर्ष-शोककी पराकाष्ठा दिखायी देती है, उनको आनन्द अथवा भय उत्पन्न नहीं होता। शरीरको अपनेसे भिन्न जाननेवाले वे महात्मा लोग सुख-दुःख और शीतोष्णको अपने धर्म नहीं मानते, किन्तु सब देहके धर्म हैं—ऐसा जानकर उनसे हर्ष और शोकको प्राप्त नहीं होते; इस सम्पूर्ण दृश्यमान प्रपञ्चको वे अपनेसे भिन्न मानकर उससे अलग और निर्लेप रहते हैं।

हे सौम्य! जिसकी बुद्धि सम नहीं है, उसपर मान-अपमानका असर होता है और उसीको दुःख होता है। एक कालमें और एक साथ ही संसारकी कोई वस्तु नहीं प्राप्त हो सकती, तो ज्ञान और ब्रह्माकार वृत्ति-जैसी परम दुर्लभ अवस्था एक कालमें एक साथ ही कौन सिद्ध कर सकता है? धैर्य, सत्कर्म और गुरुकी कृपासे ही परम आनन्द-स्वरूप अवस्थाकी प्राप्ति हो सकती है और इस अवस्थाकी प्राप्तिके लिये ऐसे महात्माओंके चरित्रोंको श्रवण करनेकी आवश्यकता है।

हे वत्स! जो कोई उपर्युक्त परमहंस संन्यासियोंके समान अव्यक्त लिङ्गवाला, अव्यक्त आचारवाला, उन्मत्त न होकर भी उन्मत्तके समान आचरण करता हुआ, त्रिदण्ड, कमण्डलु, शिखा, यज्ञोपवीत—इन सबको 'भूः स्वाहा' कहकर जलमें त्याग कर आत्माको प्राप्त करनेकी इच्छा करता है और जातरूपधर यानी नग्नरूपसे विचरता है, न कोई ग्रन्थ पास रखता है, न पढ़ता है, परिग्रहरहित होकर ब्रह्ममार्गमें सम्यक् सम्पन्न और शुद्धमन होकर विचरता है, प्राणधारणके अर्थ यथोक्त कालमें भिक्षा करता है, उदरके सिवा अन्य पात्र नहीं रखता, लाभ-अलाभमें समान रहता है, शून्य घर, देव-मन्दिर, फूसकी कुटी, वल्मीक, वृक्षके मूल, कुलालके घर, अग्निहोत्रीके घर, नदीतट, पुल, गिरिगुहा, कन्दरा, निर्झर-प्रान्त आदि स्थानोंमें पड़ा रहता है, घररहित और यत्नरहित होता है, ममतारहित होता है, शुक्लध्यानपरायण, अध्यात्म-निष्ठ, अशुभ कर्म निर्मूल करके संन्याससे देहत्याग करता है, वह परमहंस संन्यासी है, वह परमहंस संन्यासी है। (इति १४ वाँ मणि समाप्त)

पूज्यपाद स्वामी श्रीउड़िया बाबाजी महाराजके उपदेश

(प्रेषक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

१—जिसे अपना कल्याण-साधन करना हो, उसे तीन काम करने चाहिये—जप, ध्यान और स्वाध्याय। इन तीनों कार्योंको नित्य नियमपूर्वक करते रहनेसे भक्ति, ज्ञान, वैराग्यकी सिद्धि हो जायगी। इसलिये इन तीनों कार्योंमें कमर कसकर लग जाना चाहिये।

२—लोग पूछते हैं कि भगवान् कैसे मिल सकते हैं? क्या यह पूछनेकी बात है? भगवान्से कौन मिलना चाहता है? सब तो स्त्री, पुत्र, धन इत्यादिमें ही आसक्त रहना चाहते हैं। इन सबकी आसक्ति छोड़कर प्रत्येक श्वाससे भगवान्का स्मरण करो, उनके बिना अधीर हो जाओ; फिर देखो भगवान् कैसे नहीं मिलते।

३—जगत्का चिन्तन करते हुए यदि तुम ज्ञानी और भक्त बनना चाहो तो यह त्रिकालमें भी नहीं हो सकता। ज्ञान और भक्तिकी साधना करनेवालेको जगत्का चिन्तन छोड़ना ही होगा। जगत्के चिन्तनको छुड़ानेका उपाय अखण्ड भगवन्नाम-जप है। श्रीगुरु नानक साहबने क्या ही अच्छा कहा है—

> अलिफ़ अलाह नु याद करि, गफलत मन ते बिसार।
> स्वासा पलटै नाम बिनु, धिग जीवन संसार॥

४—यदि तुम भक्तिमार्गी हो तो यह सृष्टि भगवान्की सृष्टि है; इस दृष्टिसे तुम किसीकी निन्दा नहीं कर सकते। यदि तुम ज्ञानमार्गी हो तो यह सृष्टि तुम्हारी सृष्टि है, किसीकी निन्दा करके तुम अपनी बुराई नहीं कर सकते। तात्पर्य यह है कि दोनों ही मार्गोंमें निन्दाके लिये स्थान नहीं है।

५—विचारवान् पुरुषके लिये निन्दा और स्तुति दोनों ही फूलकी तरह हैं। निन्दा भी फूल है, स्तुति भी फूल है। दोनोंकी माला बनाओ और अनासक्त-भावसे पहनकर चलो।

६—भगवान्को ज्ञानी और भक्त दोनों ही समानरूपसे प्यारे हैं। एक पुत्र ज्ञानी है, एक पुत्र भक्त है। जब ज्ञानी अच्छा काम करता है तो उसे प्यारा कह देते हैं और जब भक्त अच्छा काम करता है तब उसे प्यारा कह देते हैं। उनके यहाँ किसीके साथ कोई भेद-भाव नहीं है।

७—सबसे पहले हमें अपने चित्तकी चिकित्सा करनी चाहिये, काम-क्रोधादिसे चित्त ही तो जल रहा है; अतएव उसीको शान्त करना चाहिये।

८—जो संसारकी भक्ति करते हैं, उन्हें संसार मिलता है; जो भगवान्की भक्ति करते हैं, उन्हें भगवान् मिलते हैं। पुरुषार्थ है, इसे चाहे जिधर लगा दो।

९—जिसकी भजनमें आसक्ति नहीं हुई है, उसे एकान्तमें नहीं रहना चाहिये। उसके लिये एकान्त दुःखदायी हो जायगा; क्योंकि एकान्त पाकर उसका मन उसपर शासन करने लगेगा। उसे सत्सङ्ग करना चाहिये।

ब्रह्मचर्य

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

ब्रह्मचर्यका यौगिक अर्थ है ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये वेदोंका अध्ययन करना। प्राचीन कालमें छात्रगण ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये गुरुके यहाँ रहकर सावधानीके साथ वीर्यकी रक्षा करते हुए वेदाध्ययन करते थे। इसलिये धीरे-धीरे 'ब्रह्मचर्य' शब्द वीर्यरक्षाके अर्थमें रूढ़ हो गया। आज हमें इसी वीर्यरक्षाके सम्बन्धमें कुछ विचार करना है। वीर्यरक्षा ही जीवन है और वीर्यका नाश ही मृत्यु है। वीर्यरक्षाके प्रभावसे ही प्राचीनकालके लोग दीर्घजीवी, नीरोग, हृष्ट-पुष्ट, बलवान्, बुद्धिमान्, तेजस्वी, शूरवीर और दृढ़सङ्कल्प होते थे। वीर्यरक्षाके कारण ही वे शीत, आतप, वर्षा आदिको सहकर नाना प्रकारके तप करनेमें समर्थ होते थे। ब्रह्मचर्यके बलसे ही वे प्राणवायुको रोककर शरीर और मनकी शुद्धिके द्वारा नाना प्रकारके योग-साधनोंमें सफलता प्राप्त करते थे। ब्रह्मचर्यके बलसे ही वे थोड़े ही समयमें नाना प्रकारकी विद्याओंको सीखकर अपने ज्ञानके द्वारा अपना और जगत्का लौकिक एवं पारमार्थिक दोनों प्रकारका कल्याण करनेमें समर्थ होते थे। शरीरमें सार वस्तु वीर्य ही है। इसीके नाशसे आज हमारा देश रसातलको पहुँच गया है। ब्रह्मचर्यके नाशके कारण ही आज हमलोग नाना प्रकारकी बीमारियोंके शिकार हो रहे हैं, थोड़ी ही अवस्थामें कालके गालमें जा रहे हैं। इसीके कारण आज हमलोग अपने बल, तेज, वीरता और आत्मसम्मानको खोकर पराधीनताकी बेड़ीमें जकड़े हुए हैं और जो हमारा देश किसी समय विश्वका सिरमौर और सभ्यताका उद्गमस्थान बना हुआ था, वही आज दूसरोंके द्वारा लाञ्छित और पददलित हो रहा है। विद्या-बुद्धि, बल-वीर्य, कला-कौशल—सबमें आज हम पिछड़े हुए हैं। इसीके कारण आज हम चरित्रसे भी गिर गये हैं। सारांश यह है कि किसी भी बातको लेकर आज हम संसारके सामने अपना मस्तक ऊँचा नहीं कर सकते। वीर्यका नाश ही हमारी इस गिरी हुई दशाका प्रधान कारण मालूम होता है। वीर्यके नाशसे शरीर, बल, तेज, बुद्धि, धन, मान, लोक, परलोक—सबकी हानि होती है। परमात्माकी प्राप्ति तो वीर्यकी रक्षा न करनेवालेसे कोसों दूर रहती है।

ब्रह्मचर्यके विना कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता। रोगसे मुक्त होनेके लिये, स्वास्थ्यलाभके लिये, बल-बुद्धिके विकासके लिये, विद्याभ्यासके लिये तथा योगाभ्यासके लिये भी ब्रह्मचर्यकी बड़ी आवश्यकता है। उत्तम सन्तानकी प्राप्ति, स्वर्गकी प्राप्ति, सिद्धियोंकी प्राप्ति, अन्तःकरणकी शुद्धि तथा परमात्माकी प्राप्ति—ब्रह्मचर्यसे सब कुछ सम्भव है और ब्रह्मचर्यके विना कुछ भी नहीं हो सकता। सांख्ययोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, राजयोग, हठयोग—सभी साधनोंमें ब्रह्मचर्यकी आवश्यकता होती है। अतः लोक-परलोकमें अपना हित चाहनेवालेको बड़ी सावधानी एवं तत्परताके साथ वीर्यरक्षाके लिये चेष्टा करनी चाहिये।

सब प्रकारके मैथुनके त्यागका नाम ही ब्रह्मचर्य है। मैथुनके निम्नलिखित प्रकार शास्त्रोंमें कहे गये हैं—

(१) *स्मरण*—किसी सुन्दर युवती स्त्रीके रूप-लावण्य अथवा हाव, भाव, कटाक्ष एवं शृङ्गारका स्मरण करना, कुत्सित पुरुषोंकी कुत्सित क्रियाओंका स्मरण करना, अपने द्वारा पूर्वमें घटी हुई मैथुन आदि क्रियाका स्मरण करना, भविष्यमें किसी स्त्रीके साथ मैथुन करनेका सङ्कल्प अथवा भावना करना, माला, चन्दन, इत्र, फुलेल, लवेंडर आदि कामोद्दीपक एवं शृङ्गारके पदार्थोंका स्मरण करना, पूर्वमें देखे हुए किसी सुन्दर स्त्री अथवा बालकके चित्रका अथवा गंदे चित्रका स्मरण करना—ये सभी

मानसिक मैथुनके अन्तर्गत हैं। इनसे वीर्यका प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्षरूपमें नाश होता है और मनपर तो बुरा प्रभाव पड़ता ही है। मन खराब होनेसे आगे चलकर वैसी क्रिया भी घट सकती है। इसलिये सर्वाङ्गमें ब्रह्मचर्यका पालन करनेवालेको चाहिये कि वह उक्त सभी प्रकारके मैथुनका त्याग कर दे, जिससे मनमें कामोद्दीपन हो ऐसा कोई सङ्कल्प ही न करे और यदि हो जाय तो उसका तत्काल विवेक एवं विचारके द्वारा त्याग कर दे।

(२) *श्रवण*—गंदे तथा कामोद्दीपक एवं शृङ्गार-रसके गानोंको सुनना, शृङ्गाररसका गद्य-पद्यात्मक वर्णन सुनना, स्त्रियोंके रूप-लावण्य तथा अङ्गोंका वर्णन सुनना, उनके हाव, भाव, कटाक्षका वर्णन सुनना, काम-विषयक बातें सुनना—ये सभी श्रवणरूप मैथुनके अन्तर्गत हैं। ब्रह्मचारीको चाहिये कि वह उक्त सभी प्रकारके श्रवणका त्याग कर दे।

(३) *कीर्तन*— अश्लील बातोंका कथन, शृङ्गार-रसका वर्णन, स्त्रियोंके रूप-लावण्य, यौवन एवं शृङ्गार-की प्रशंसा तथा उनके हाव, भाव, कटाक्ष आदिका वर्णन, विलासिताका वर्णन, कामोद्दीपक अथवा गंदे गीत गाना तथा ऐसे साहित्यको स्वयं पढ़ना और दूसरोंको सुनाना तथा कथा आदिमें ऐसे प्रसङ्गोंको विस्तारके साथ कहना—ये सभी कीर्तनरूप मैथुनके अन्तर्गत हैं। ब्रह्मचारीको चाहिये कि वह इन सबका त्याग कर दे।

(४) *प्रेक्षण*—स्त्रियोंके रूप-लावण्य, शृङ्गार तथा उनके अङ्गोंकी रचनाको देखना, किसी सुन्दरी स्त्री अथवा सुन्दर बालकके चित्रको देखना, शृङ्गार-रसके नाटक-सिनेमा देखना, कामोद्दीपक वस्तुओं तथा सजा-वटके सामानको देखना, दर्पण आदिमें अपना रूप तथा शृङ्गार देखना—यह सभी प्रेक्षणरूप मैथुनके अन्तर्गत है। ब्रह्मचारीको चाहिये कि वह जान-बूझकर तो इन वस्तुओंको देखे ही नहीं; यदि भूलसे इनपर दृष्टि पड़ जाय तो इन्हें स्वप्नवत्, मायामय, नाशवान् एवं दुःखरूप समझकर तुरंत इनपरसे दृष्टि हटा ले, दृष्टिको इनपर ठहरने न दे।

(५) *केलि*—स्त्रियोंके साथ हँसी-मजाक करना, नाचना-गाना, आमोद-प्रमोदके लिये क्लब वगैरहमें जाना, जलविहार करना, फाग खेलना, गंदी चेष्टाएँ करना—ये सभी केलिरूप मैथुनके अन्तर्गत हैं। ब्रह्मचारीको इन सबका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

(६) *शृङ्गार*—अपनेको सुन्दर दिखलानेके लिये बाल सँवारना, कंघी करना, काकुल रखना, शरीरको वस्त्राभूषणादिसे सजाना, इत्र, फुलेल, लवेंडर आदिका व्यवहार करना, फूलोंकी माला धारण करना, अङ्गराग लगाना, सुरमा लगाना, उबटन करना, साबुन-तेल लगाना, पाउडर लगाना, दाँतोंमें मिस्सी लगाना, दाँतोंमें सोना जड़वाना, शौकके लिये बिना आवश्यकताके चश्मा लगाना, होठ लाल करनेके लिये पान खाना—यह सभी शृङ्गारके अन्तर्गत है। दूसरोंके चित्तको आकर्षण करनेके उद्देश्यसे किया हुआ यह सभी शृङ्गार कामोद्दीपक, अतएव मैथुनका अङ्ग होनेके कारण ब्रह्मचारीके लिये सर्वथा त्याज्य है। कुमारी कन्याओं, बालकों, विधवाओं, संन्यासियों एवं वानप्रस्थोंको भी उक्त सभी प्रकारके शृङ्गारसे सर्वथा बचना चाहिये। विवाहित स्त्री-पुरुषोंको भी ऋतुकालमें सहवासके समय-के अतिरिक्त और समयमें इन सभी शृङ्गारोंसे यथासम्भव बचना चाहिये।

(७) *गुह्यभाषण*—स्त्रियोंके साथ एकान्तमें अश्लील बातें करना, उनके रूप-लावण्य, यौवन एवं शृङ्गारकी प्रशंसा करना, हँसी-मजाक करना—यह सभी गुह्य-

भाषणरूप मैथुनके अन्तर्गत है, अतएव ब्रह्मचारीके लिये सर्वथा त्याज्य है।

(८) *स्पर्श*—कामबुद्धिसे किसी स्त्री अथवा बालकका स्पर्श करना, चुम्बन करना, आलिङ्गन करना, कामोद्दीपक तथा कोमल पदार्थोंका स्पर्श करना तथा स्त्रीसङ्ग करना—यह सभी स्पर्शरूप मैथुनके अन्तर्गत, अतएव ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करनेवालेके लिये त्याज्य है।

उपर्युक्त बातें पुरुषोंको लक्ष्यमें रखकर ही कही गयी हैं। स्त्रियोंको भी पुरुषोंके सम्बन्धमें यही बात समझनी चाहिये। पुरुषोंको परस्त्रीके साथ और स्त्रियों-को परपुरुषके साथ तो इन आठों प्रकारके मैथुनका त्याग हर हालतमें करना ही चाहिये, ऐसा न करनेवाले महान् पापके भागी होते हैं और इस लोकमें तथा परलोकमें महान् दुःख भोगते हैं। गृहस्थोंको अपनी विवाहिता पत्नीके साथ भी ऋतुकालकी अनिन्दित रात्रियोंको छोड़कर शेष समयमें उक्त आठों प्रकारके मैथुनसे बचना चाहिये। ऐसा करनेवाले गृहस्थ होते हुए भी ब्रह्मचारी हैं। बाकी तीन आश्रमवालों तथा विधवा स्त्रियोंके लिये तो सभी अवस्थाओंमें उक्त आठों प्रकारके मैथुनका त्याग सर्वथा अनिवार्य है।

परमात्मप्राप्तिके उद्देश्यसे किये गये उपर्युक्त ब्रह्मचर्य-के पालनमात्रसे मनुष्यका कल्याण हो सकता है, यह बात भगवान् श्रीकृष्णने गीताके आठवें अध्यायके ११ वें श्लोकमें कही है। भगवान् कहते हैं—

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये॥

'वेदके जाननेवाले विद्वान् जिस सच्चिदानन्दघनरूप परमपदको अविनाशी कहते हैं, आसक्तिरहित यत्नशील संन्यासी महात्माजन जिसमें प्रवेश करते हैं और जिस परमपदको चाहनेवाले ब्रह्मचारी लोग ब्रह्मचर्यका आचरण करते हैं, उस परम पदको मैं तेरे लिये संक्षेपमें कहूँगा।'

कठोपनिषद्में भी इस श्लोकसे मिलता-जुलता मन्त्र आया है—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपांऽसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदऽसंग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥
(१।२।१५)

'सारे वेद जिस पदका वर्णन करते हैं, समस्त तपोंको जिसकी प्राप्तिका साधन बतलाते हैं तथा जिसकी इच्छा रखनेवाले ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं, उस पदको मैं तुम्हें संक्षेपसे बताता हूँ—'ओम्', यही वह पद है।'

उक्त दोनों ही मन्त्रोंमें परमपदकी इच्छासे ब्रह्मचर्यके पालनकी बात आयी है, इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि परमात्माकी प्राप्तिके उद्देश्यसे किये गये ब्रह्मचर्यके पालनमात्रसे मनुष्यका कल्याण हो सकता है। क्षत्रिय-कुलचूडामणि वीरवर भीष्मकी जो इतनी महिमा है, वह उनके अखण्ड ब्रह्मचर्य-व्रतको लेकर ही है। इसीके कारण उनका 'भीष्म' नाम पड़ा और इसीके प्रतापसे उन्हें अपने पिता शन्तनुसे इच्छामृत्युका वरदान मिला, जिसके कारण वे संसारमें अजेय हो गये। यही कारण था कि वे सहस्रबाहु-जैसे अप्रतिम योद्धाकी भुजाओंका छेदन करनेवाले तथा इक्कीस बार पृथ्वीको निःक्षत्रिय कर देनेवाले, साक्षात् ईश्वरके आवेशावतार भगवान् परशुरामसे भी नहीं हारे। इतना ही नहीं, परात्पर भगवान् श्रीकृष्णको भी इनके कारण महाभारत युद्धमें शस्त्र न लेनेकी अपनी प्रतिज्ञा तोड़नी पड़ी। उनकी

यह सब महिमा ब्रह्मचर्यके ही कारण थी। वे भगवान्के अनन्य भक्त, आदर्श पितृभक्त तथा महान् ज्ञानी एवं शास्त्रोंके ज्ञाता भी थे; परन्तु उनकी महिमाका प्रधान कारण उनका आदर्श ब्रह्मचर्य ही था। इसीके कारण वे अपने अस्त्रविद्याके गुरु भगवान् परशुरामके कोप-भाजन हुए, परन्तु विवाह न करनेका अपना हठ नहीं छोड़ा। धन्य ब्रह्मचर्य! भक्तश्रेष्ठ हनुमान्, देवर्षि नारद, सनकादि मुनीश्वर, महामुनि शुकदेव तथा बालखिल्यादि ऋषि भी अपने ब्रह्मचर्यके लिये प्रसिद्ध हैं।

ब्रह्मचर्यकी रक्षासे लाभ और उसके नाशसे हानियाँ

ब्रह्मचर्यकी रक्षासे शरीरमें बल, तेज, उत्साह एवं ओजकी वृद्धि होती है, शीत, उष्ण, पीड़ा आदि सहन करनेकी शक्ति आती है, अधिक परिश्रम करनेपर भी थकावट कम आती है, प्राणवायुको रोकनेकी शक्ति आती है, शरीरमें फुर्ती एवं चेतनता रहती है, आलस्य तथा तन्द्रा कम आती है, बीमारियोंके आक्रमणको रोकनेकी शक्ति आती है, मन प्रसन्न रहता है, कार्य करनेकी क्षमता प्रचुरमात्रामें रहती है, दूसरेके मनपर प्रभाव डालनेकी शक्ति आती है, सन्तान दीर्घायु, बलिष्ठ एवं स्वस्थ होती है, इन्द्रियाँ सबल रहती हैं, शरीरके अङ्ग-प्रत्यङ्ग सुदृढ़ रहते हैं, आयु बढ़ती है, वृद्धावस्था जल्दी नहीं आती, शरीर स्वस्थ एवं हलका रहता है, काम-वासना कम होती है, स्मरणशक्ति बढ़ती है, बुद्धि तीव्र होती है, मन बलवान् होता है, कायरता नहीं आती, कर्तव्यकर्म करनेमें अनुत्साह नहीं होता, बड़ी-से-बड़ी विपत्ति आनेपर भी धैर्य नहीं छूटता, कठिनाइयों एवं विघ्न-बाधाओंका वीरतापूर्वक सामना करनेकी शक्ति आती है, धर्मपर दृढ़ आस्था होती है, अन्तःकरण शुद्ध रहता है, आत्मसम्मानका भाव बढ़ता है, दुर्बलोंको सतानेकी प्रवृत्ति कम होती है, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष आदिके भाव कम होते हैं, क्षमाका भाव बढ़ता है, दूसरोंके प्रति सहिष्णुता तथा सहानुभूति बढ़ती है, दूसरोंका कष्ट दूर करने तथा दीन-दुखियोंकी सेवा करनेका भाव बढ़ता है, सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है, वीर्यमें अमोघता आती है, परस्त्रीके प्रति मातृभाव जागृत होता है, नास्तिकता तथा निराशाके भाव कम होते हैं, असफलतामें भी विषाद नहीं होता, सबके प्रति प्रेम एवं सद्भाव रहता है तथा सबसे बढ़कर भगवत्प्राप्तिकी योग्यता आती है, जो मनुष्य-जीवनका चरमफल है, जिसके लिये यह मनुष्यदेह हमें मिला है।

इसके विपरीत ब्रह्मचर्यके नाशसे मनुष्य नाना प्रकारकी बीमारियोंका शिकार हो जाता है, शरीर खोखला हो जाता है, थोड़ा-सा भी परिश्रम अथवा कष्ट सहन नहीं होता, शीत, उष्ण आदिका प्रभाव शरीरपर बहुत जल्दी होता है, स्मरणशक्ति कमजोर हो जाती है, सन्तान उत्पन्न करनेकी शक्ति नष्ट हो जाती है, सन्तान होती भी है तो दुर्बल एवं अल्पायु होती है, मन अत्यन्त दुर्बल हो जाता है, सङ्कल्पशक्ति कमजोर हो जाती है, स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है, जरा भी प्रतिकूलता सहन नहीं होती, आत्मविश्वास कम हो जाता है, काम करनेमें उत्साह नहीं रहता, शरीरमें आलस्य छाया रहता है, चित्त सदा सशङ्कित रहता है, मनमें विषाद छाया रहता है, कोई भी नया काम हाथमें लेनेमें भय मालूम होता है, थोड़े-से भी मानसिक परिश्रमसे दिमागमें थकान आ जाती है, बुद्धि मन्द हो जाती है, अधिक सोचनेकी शक्ति नहीं रहती, असमयमें ही वृद्धावस्था आ घेरती है और बड़ी ही अवस्थामें मनुष्य कालके गालमें चला जाता है, चित्त स्थिर नहीं हो पाता, मन और इन्द्रियाँ वशमें नहीं हो पातीं और मनुष्य भगवत्प्राप्तिके मार्गसे कोसों दूर हट जाता है। वह न इस लोकमें सुखी रहता है और न परलोकमें ही सुखी होता है। ऐसी अवस्थामें मनुष्यको चाहिये कि बड़ी सावधानीसे वीर्यकी रक्षा करे। वीर्यरक्षा ही जीवन है और वीर्यनाश ही

मृत्यु है, इस बातको सदा स्मरण रक्खे। गृहस्थाश्रममें भी केवल सन्तानोत्पादनके उद्देश्यसे ऋतुकालमें अधिक-से-अधिक महीनेमें दो बार स्त्रीसङ्ग करे।

ब्रह्मचर्यरक्षाके उपाय

उपर्युक्त प्रकारके मैथुनके त्यागके अतिरिक्त निम्नलिखित साधन भी ब्रह्मचर्यकी रक्षामें सहायक हो सकते हैं—

(१) भोजनमें उत्तेजक पदार्थोंका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। मिर्च, राई, गरम मसाले, अचार, खटाई, अधिक मीठा और अधिक गरम चीजें नहीं खानी चाहिये। भोजन खूब चबाकर करना चाहिये। भोजन सदा सादा, ताजा और नियमित समयपर करना चाहिये। मांस, मद्य, भाँग आदि अन्य नशीली वस्तुएँ तथा केशर, कस्तूरी एवं मकरध्वज आदि वाजीकरण औषधोंका भी सेवन नहीं करना चाहिये।

(२) यथासाध्य नित्य खुली हवामें सबेरे और सायंकाल पैदल घूमना चाहिये।

(३) रातको जल्दी सोकर सबेरे ब्राह्म मुहूर्तमें अर्थात् पहरभर रात रहे अथवा सूर्योदयसे कम-से-कम घंटेभर पूर्व अवश्य उठ जाना चाहिये। सोते समय पेशाब करके, हाथ-पैर धोकर तथा कुल्ला करके भगवान्‌का स्मरण करते हुए सोना चाहिये।

(४) कुसङ्गका सर्वथा त्याग कर यथासाध्य सदाचारी, वैराग्यवान्, भगवद्भक्त पुरुषोंका सङ्ग करना चाहिये, जिससे मलिन वासनाएँ नष्ट होकर हृदयमें अच्छे भावोंका संग्रह हो।

(५) पति-पत्नीको छोड़कर अन्य स्त्री-पुरुष अकेलेमें कभी न बैठें और न एकान्तमें बातचीत ही करें।

(६) रामायण, महाभारत, उपनिषद्, श्रीमद्भागवत तथा भगवद्गीता आदि उत्तम ग्रन्थोंका नित्य नियमपूर्वक स्वाध्याय करना चाहिये। इससे बुद्धि शुद्ध होती है और मनमें गंदे विचार नहीं आते।

(७) आलस्य और प्रमादमें समय नहीं बिताना चाहिये। मनको सदा किसी-न-किसी अच्छे काममें लगाये रखना चाहिये।

(८) मूत्रत्याग और मलत्यागके बाद इन्द्रियको ठंढे जलसे धोना चाहिये और मल-मूत्रकी हाजतको कभी नहीं रोकना चाहिये।

(९) यथासाध्य ठंढे जलसे नित्य स्नान करना चाहिये।

(१०) नित्य नियमितरूपसे किसी प्रकारका व्यायाम करना चाहिये। हो सके तो नित्यप्रति कुछ आसन एवं प्राणायामका भी अभ्यास करना चाहिये।

(११) लँगोटा या कौपीन अवश्य रखना चाहिये।

(१२) नित्य नियमितरूपसे कुछ समयतक परमात्माका ध्यान अवश्य करना चाहिये।

(१३) यथाशक्ति भगवान्‌के किसी भी नामका श्रद्धा एवं प्रेमपूर्वक जप तथा कीर्तन करना चाहिये। कामवासना जागृत हो तो नाम-जपकी धुन लगा देनी चाहिये, अथवा जोर-जोरसे कीर्तन करने लगना चाहिये। कामवासना नाम-जप और कीर्तनके सामने कभी ठहर नहीं सकती।

(१४) जगत्‌में वैराग्यकी भावना करनी चाहिये। संसारकी अनित्यताका बार-बार स्मरण करना चाहिये। मृत्युको सदा याद रखना चाहिये।

(१५) पुरुषोंको स्त्रीके शरीरमें और स्त्रियोंको पुरुषके शरीरमें मलिनत्व-बुद्धि करनी चाहिये। ऐसा समझना चाहिये कि जिस आकृतिको हम सुन्दर समझते हैं, वह वास्तवमें चमड़ेमें लपेटा हुआ मांस, अस्थि, रुधिर, मज्जा, मल, मूत्र, कफ आदि मलिन एवं अपवित्र पदार्थोंका एक घृणित पिण्डमात्र है।

(१६) महीनेमें कम-से-कम दो दिन अर्थात् प्रत्येक एकादशीको (सम्भव हो तो निर्जल) उपवास करना चाहिये और अमावास्या तथा पूर्णिमाको केवल एक ही समय अर्थात् दिनमें भोजन करना चाहिये ।

(१७) भगवान्‌की लीलाओं तथा महापुरुषों एवं वीर ब्रह्मचारियोंके चरित्रोंका मनन करना चाहिये ।

(१८) यथासाध्य सबमें परमात्मभावना करनी चाहिये ।

(१९) नित्य-निरन्तर भगवान्‌को स्मरण रखनेकी चेष्टा करनी चाहिये ।

ऊपर जितने साधन बताये गये हैं, उनमें अन्तिम साधन सबसे उत्तम तथा सबसे अधिक कारगर है । यदि नित्य-निरन्तर अन्तःकरणको भगवद्भावसे भरते रहनेकी चेष्टा की जाय तो मनमें गंदे भाव कभी उत्पन्न हो ही नहीं सकते । किसी कविने क्या ही सुन्दर कहा है—

जहाँ राम तहँ काम नहिं, जहाँ काम नहिं राम ।
सपनेहुँ कबहुँक रहि सकैं रबि रजनी एक ठाम ॥

जिस प्रकार सूर्यके उदय होनेपर रात्रिके घोर अन्धकारका नाश हो जाता है, उसी तरह जिस हृदयमें भगवान् अपना डेरा जमा लेते हैं, अर्थात् नित्य-निरन्तर भगवान्‌का स्मरण होता है, वहाँ कामका उदय भी नहीं हो सकता । भगवद्भक्तिके प्रभावसे हृदयमें विवेक एवं वैराग्यका अपने-आप उदय हो जाता है । पद्मपुराणान्तर्गत श्रीमद्भागवतके माहात्म्यमें ज्ञान और वैराग्यको भक्तिके पुत्ररूपमें वर्णन किया गया है । अतः ब्रह्मचर्यकी रक्षा करनेके लिये नित्य-निरन्तर भगवान्‌का स्मरण करते रहना चाहिये । भगवत्स्मरणके प्रभावसे अन्तःकरण सर्वथा शुद्ध होकर बहुत शीघ्र भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है, जो मनुष्य-जीवनका चरम लक्ष्य और ब्रह्मचर्यका अन्तिम फल है । भगवान्‌ने स्वयं गीताजीमें कहा है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥
(८ । १४)

चेतावनी

पावन प्रेम रामचरन कमल जनम लाहु परम ।
राम-नाम लेत होत, सुलभ सकल धरम ॥
जोग मख बिबेक बिरति, बेद-बिदित करम ।
करिबे कहँ कटु कठोर, सुनत मधुर नरम ॥
तुलसी सुनि, जानि बूझि, भूलहि जनि भरम ॥
तेहि प्रभुकी तू सरन होहि, जेहि सबकी सरम ॥

—गोस्वामी तुलसीदासजी

कामके पत्र

(१)

जीवनका उद्देश्य और उसकी पूर्तिके उपाय

आप ········घंटे जप और········घंटे स्वाध्याय कर रहे हैं, सो बड़ी अच्छी बात है। श्रीभगवान्‌के प्रेमकी प्राप्तिको छोड़कर जीवनका और कोई भी उद्देश्य न रहे तथा जीवनमें प्रतिक्षण होनेवाली प्रत्येक चेष्टा इसी उद्देश्यके लिये हो। जैसे गङ्गाका प्रवाह स्वाभाविक ही समुद्रकी ओर जाता है, उसी प्रकार जीवन-प्रवाह भगवान्‌की ओर ही चले—ऐसा प्रयत्न हमलोगोंको करना चाहिये। इस प्रयत्नमें प्रधान बातें हैं—भगवान्‌की अहैतुकी कृपामें विश्वास, भगवान् ही एकमात्र प्राप्त करनेयोग्य सर्वश्रेष्ठ परम वस्तु हैं—यह निश्चय, भगवान्‌की ओरसे हटानेवाले अत्यन्त प्रिय-से-प्रिय और आवश्यक-से-आवश्यक पदार्थमें तुच्छ और त्याज्य-बुद्धि, भगवान्‌की नित्य-निरन्तर स्मृति बनाये रखनेकी भरपूर चेष्टा, भगवान्‌के पवित्र नामोंका निरन्तर उच्चारण और भगवत्-सेवाके भावसे ही शरीर, मन और वाणीसे क्रिया करना।

भगवान्‌की कृपा ऐसी अमोघ और अनिवार्य शक्ति है कि वह असाध्यको भी साध्य बना देती है। अपनी तमाम इच्छाओंको, तमाम भावनाओंको भगवत्कृपाके अर्पण कर देना चाहिये। भगवत्कृपा सभीपर है, परन्तु हमने अपनेको निर्भरताके साथ भगवत्कृपाके प्रति अर्पण नहीं कर दिया है। अर्पण ही—सब कुछ भगवान्‌को पूर्णरूपसे सौंप देना ही भगवत्कृपाके परमलाभकी प्राप्तिका प्रधान साधन है। बड़ी सीधी-सी बात है, यदि मनुष्य कर सके। भगवान्‌की कृपा तैयार खड़ी है हमारे सामने, हमारा कल्याण करनेके लिये—बस, विश्वास करके उसपर निर्भर हो जाइये।

मनुआ महाराजकी बात आपने लिखी सो बहुत ठीक है। मन बड़ा ही बलवान् और चञ्चल है। वह कामनाओंसे भरा है और ज्यों-ज्यों कामनाओंकी पूर्ति होती है, त्यों-ही-त्यों उसकी कामनाका क्षेत्र बढ़ता जाता है। उसका बल और उसकी चञ्चलता इसमें सहायता करती हैं। यदि कामनाओंका दमन कर लिया जाय—एकमात्र भगवत्कृपाके ऊपर ही सब कुछ छोड़ दिया जाय, तो यही मन अपना सारा बल इसी काममें लगा देगा और चञ्चलता तो कामनाओं-का त्याग करनेमें ही नष्ट हो जायगी। फिर रह जायगी अखण्ड शान्ति और अपार आनन्द। याद रखना चाहिये, कामनाकी पूर्तिमें—वासनाकी तृप्तिमें दुःख बढ़ते हैं। आनन्द तो, सच्चा आनन्द तो वासना-कामना-पर विजय प्राप्त करनेपर प्राप्त होता है। कामनाओंकी पूर्तिसे होनेवाले आनन्दमें और कामनाओंके विजयसे होनेवाले आनन्दमें बड़े महत्त्वका भेद है; परन्तु हमें तो उस आनन्दका अनुभव ही नहीं है, इसीसे हम कामनापूर्तिके आनन्दको आनन्द मानकर—जो वस्तुतः सच्चे आनन्दका सच्चा आभास भी नहीं है—विषयोंके पीछे भटक रहे हैं। आप चेष्टा कीजिये मनको श्रीभगवान्‌के चिन्तनमें लगानेकी। निरन्तर ऐसा विचार और निश्चय कीजिये कि भगवान्‌से बढ़कर सुन्दर, मधुर, ऐश्वर्यपूर्ण पदार्थ कोई है ही नहीं। यदि मन केवल उन्हींकी कामना करने लगेगा तो वह निहाल हो जायगा। आपको भी निहाल कर देगा। फिर तो आप आनन्दमें गर्क हो जाइयेगा।

(२)

सच्चा एकान्त और भगवत्प्रेम

मनुष्य कुछ सोचता है, होता वही है जो श्रीनन्दनन्दनने रच रक्खा है। 'जो कछु रचि राख्यो

नँदनंदन मेटि सकै नहिं कोय।' वस्तुत: बाहरी एकान्तका महत्त्व भी क्या है ? सच्चा एकान्त तो वह है, जिसमें एक प्रभुको छोड़कर चित्तके अंदर और कोई कभी आवे ही नहीं। शोक-विषाद, इच्छा-कामना आदिकी तो बात ही क्या, मोक्षसुख भी जिस एकान्तमें आकर बाधा न डाल सके। जबतक चित्तमें नाना प्रकारके विषयोंका चिन्तन होता है, तबतक एकान्त और मौन दोनों ही बाह्य हैं और इनका महत्त्व भी उतना ही है जितना केवल बाहरी दिखावेके लिये होनेवाले कार्योंका होता है। उन महापुरुषोंको धन्य है, जो एकमात्र श्रीकृष्णके ही रंगमें पूर्णरूपसे रँग गये हैं, जिनका चित्त जगत्‌के विनाशी सुखोंकी भूलकर भी खोज नहीं करता, जिनकी चित्तवृत्ति संसारके ऊँचे-से-ऊँचे प्रलोभनकी ओर भी कभी नजर नहीं डालती, जिनकी आँखें सर्वत्र श्यामसुन्दरके दिव्य स्वरूपको देखती हैं और जिनकी सारी इन्द्रियाँ सदा केवल उन्हींका अनुभव करती हैं। सच्चा एकान्तवास और सच्चा मौन उन्हीं महात्माओंमें है।

....

........मेरे बाबत भ्रान्तिपूर्ण धारणा किसीके हृदयमें नहीं होनी चाहिये। इस प्रकारकी भ्रान्ति रहनेसे आगे चलकर भ्रान्तिनाश होनेपर या किसी भी कारणवश भाव बदल जानेपर मनमें बड़ा पश्चात्ताप हुआ करता है कि 'हाय! हम बड़ी भूलमें रहे। यदि इतना प्रेम श्रीभगवान्‌में करते—इतना उनकी ओर झुकते तो न मालूम कितना लाभ उठाया होता।' और वास्तवमें है भी ऐसी ही बात। भगवान्‌के साथ मनुष्यकी तुलना ही कैसी—चाहे कोई कितना ही बड़ा महात्मा क्यों न हो? हवाके एक जरा-से झोंकेसे गिर जानेवाली बालूकी भीतका सहारा किस कामका? मनुष्यमें न मालूम कितने और कैसे-कैसे संस्कार भरे रहते हैं। उनमेंसे यदि कभी कोई उभड़कर सामने आ जाता है तो हम जिसे अच्छा पुरुष मानते चले आते हैं, उसके प्रति भी हमारी घृणा हो सकती है। किसी कारणवश हमारी धारणा भूलसे भी बदल सकती है। निर्दोष तो एक श्रीभगवान् हैं और उनमें धारणा बदलनेका भी कोई कारण नहीं है; अतएव अपनी सारी श्रद्धा, भक्ति और भावुकताको उन्हींके प्रति समर्पण करना चाहिये। फिर मैं तो महात्मा भी नहीं हूँ।............

आपका प्रेम भगवान्‌की ओर मुड़ जाय, इसका उपाय यही है कि भगवान्‌का महत्त्व कुछ समझिये। मुझमें जो आपका इतना प्रेम है, उसके मूलमें भी तो यही भावना है न कि आप मुझमें किसी अंशमें भगवत्प्रेमका आभास पाते हैं—चाहे वह आपकी भूल धारणा हो? फिर आप मूलकी क्यों अवहेलना करना चाहते हैं? उनके प्रेमका अधिकारी प्रत्येक जीव है। 'नरकका कीड़ा' क्या उस स्नेहमयी माताके अतिरिक्त—जिसका हृदय अपने प्रत्येक बच्चेके लिये सदा ही स्नेहसे भरा रहता है—किसी दूसरी माँसे पैदा हुआ है? आप इस बातको भूल जाइये। भगवान्‌का प्रेम सबको प्राप्त हो सकता है, इसमें जरा भी सन्देह नहीं है। हाँ, होनी चाहिये उस प्रेमकी प्राप्तिके लिये सच्ची चाह। भगवत्प्रेमकी चाह अपने-आप ही नरकसे निकालकर वैकुण्ठमें ले जायगी। तमाम दूषित भावनाएँ, तमाम पाप-ताप भगवत्प्रेमकी चाहकी प्रचण्ड आगमें जलकर खाक हो जायँगे। चाह कीजिये। उनके प्रेमको पानेकी इच्छा जागृत कीजिये। सङ्कल्प पढ़ते थे, अब मनसे सङ्कल्प कर लीजिये कि उनका प्रेम प्राप्त होगा ही।

(३)

भगवत्कृपापर विश्वास

मान और धनकी चाह किसको नहीं होती? संसारमें साधारणतया सभीको होती है। जिनको नहीं होती, वे अतिमानव हैं—महापुरुष हैं। इस दृष्टिसे यदि

आपको धन-मानकी चाह है और वह आजकल और भी बलवती हो रही है तो इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। आश्चर्य तो तब होता जब अंदर छिपी हुई चाह अंदर-ही-अंदर दबकर मर जाती, उसका अस्तित्व ही नष्ट हो जाता।

जीवके अनन्त जन्मोंके भोगोंके संस्कार मनमें रहते हैं, उन संस्कारोंको लिये हुए वह मनुष्य शरीरमें आता है; यहाँ आनेपर यहाँकी परिस्थितिके अनुसार किसी-किसीके वे संस्कार प्रतिकूल नये संस्कारोंसे दब जाते हैं और किसी-किसीके अनुकूल नये संस्कारोंका बल पाकर विशेषरूपसे बढ़ जाते हैं। यह स्मरण रखना चाहिये कि अनुकूल सहायता और शक्ति मिलनेसे पूर्व संस्कारोंका बल और विस्तार बहुत बढ़ जाता है, क्योंकि उनकी सारी शक्तियोंको चारों ओरसे विकसित होनेका अवसर और सुभीता मिल जाता है। परन्तु प्रतिकूल बाधक शक्तिका सामना होनेपर पूर्व संस्कारोंका बल बहुत क्षीण हो जाता है। कारण, उनको बाधक शक्तिका सामना करना पड़ता है, जिससे उनकी शक्तिका क्षय होता है और इस युद्धमें अपनी शक्तिके स्वाभाविक विकास और विस्तारका अवसर और सुभीता नहीं मिलता। यही नियम सबके लिये लागू होता है। अतएव हमारे सञ्चित कुसंस्कार यहाँ जब सत्सङ्ग, स्वाध्याय, सच्छिक्षा, सद्विचार, सद्वस्तुसेवन और भगवान्‌के भजनके प्रतापसे कुछ दब जाते हैं, तब हम समझ बैठते हैं कि हमारे सब कुसंस्कारोंका नाश हो गया और हम सर्वथा शुद्ध हो गये। होता यह है कि कुसंस्कार नष्ट नहीं होते, वे दब जाते हैं, दुबक जाते हैं, छिप जाते हैं और अनुकूल शक्तिका सहारा न मिलनेसे प्रतिक्षण क्षीण होते चले जाते हैं। ऐसी अवस्थामें यदि सत्सङ्ग, सद्विचार, भजन आदि उपर्युक्त साधन चालू रहते हैं तब तो कुसंस्कारोंको सिर उठानेका मौका नहीं मिलता और अन्तमें वे भगवत्-शरणागति या तत्त्वज्ञानोदयके प्रभावसे मर जाते हैं; परन्तु जबतक ऐसा नहीं होता तबतक साधन न होनेसे अनुकूल वातावरण पाते ही उन्हें सिर उठानेका और बाधा न पाने तथा बाहरी सहायता मिल जानेसे प्रबलरूपसे आक्रमण करके अपनी अबाध सत्ता जमानेके लिये कोशिश करनेका मौका मिल ही जाता है। ऐसी दशामें बड़े-बड़े नामी-गिरामी तपस्वी और साधकोंका पतन देखा जाता है, हमलोग तो किस बागकी मूली हैं!

मनुष्यको भगवान्‌ने एक विवेकशक्ति दी है, जिसके द्वारा वह भले-बुरेका निर्णय कर सकता है। यह विवेकशक्ति मनुष्यमात्रमें होती है, चाहे उसके पूर्व-सञ्चित कर्म कितने ही अशुभ क्यों न हों। मनुष्यको परमात्माकी यह खास देन है। यह विवेकशक्ति भी परिस्थितिके अनुसार जाग्रत्-सुप्त और तीव्र-मन्द हुआ करती है। जिस मनुष्यके आचरण जितने ही शुद्ध होते हैं, जिसके इन्द्रियद्वार जितने ही सत्‌के सेवनमें लगे रहते हैं, उनकी विवेकशक्ति उतनी ही जाग्रत् और तीव्र रहती है। जरा-सा बुरा सङ्कल्प मनमें उठते ही यह विवेकशक्ति उसे यथार्थरूपमें उस सङ्कल्पका स्वरूप बतलाकर उसे कार्यान्वित न करनेका आदेश करती है। इसीको 'अन्तर्ध्वनि' या 'आत्माकी ध्वनि' कहते हैं। कभी पहले-पहल कोई मनुष्य कुसङ्गवश चोरी या व्यभिचार करनेका मन करता है, तब अंदरकी यह आत्माकी आवाज उससे कहती है—'यह पाप है, बुरा कर्म है; इसे न करो।' परन्तु उस मनुष्यका वर्तमान कुसङ्ग यदि बलवान् होता है तो वह उसके प्रभावमें आकर अन्तरात्माकी इस आवाजकी अथवा विवेकशक्तिके निर्णय और आदेशकी अवहेलना करके उस असत् कर्मको कर बैठता है। जहाँ एक बार ऐसा हुआ, वहीं उसका नया संस्कार उत्पन्न होकर विवेकशक्तिसे लड़ने लगता है। कुछ समयतक तो ऐसा चलता है; परन्तु यदि कुसङ्ग और कुकर्म चालू रहते

हैं तो विवेकशक्ति मन्द पड़ जाती है, वह सो-सी जाती है, ठीक निर्णय नहीं कर पाती और न ठीक आदेश या परामर्श देनेकी शक्ति रखती है। यही गीतोक्त राजसी बुद्धि है, जो धर्म-अधर्म और कर्तव्य-अकर्तव्यका यथार्थ निर्णय नहीं कर पाती। इसके बाद होते-होते नवीन असत्संस्कारोंका समूह एकत्र होकर इस विवेक-बुद्धिको सर्वथा छिपा देता है और पूर्वजन्मार्जित कुसंस्कारोंको जगाकर—दोनों मिलकर एक नयी मोहाच्छादित बुद्धि उत्पन्न करते हैं, जो प्रत्येक कुसंस्कार और कुकर्मको सत्संस्कार और सत्कर्म बतलाकर उनका समर्थन करती है। यही गीतोक्त तामसी बुद्धि है, जिसकी महिमाका बखान करते हुए भगवान् कहते हैं—

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसाऽऽवृता।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥
(१८।३२)

'हे अर्जुन! जो बुद्धि तमोगुणसे ढकी हुई अधर्मको धर्म बतलाती है और सभी बातोंमें उलटा निर्णय करती है, वह तामसी है।' इस तामसी बुद्धिके राज्यमें मनुष्य विपरीतगामी स्वभावतः ही हो जाता है, उसे अपने दोषपूर्ण काममें दोष नहीं दीखता। कहीं पूर्वके शुभ संस्कार कभी मौका पाकर चुपके-से उसे चेताते हैं। दबे हुए सच्चे हितैषीकी भाँति उसे सावधान करते हैं, तब क्षण-कालके लिये उसे दुःख होता है, वह मोहसे निकलना चाहता है; परन्तु तामसी बुद्धि उससे सहजमें ऐसा होने नहीं देती। वह बड़े सुन्दर-सुन्दर मोहक दृश्य दिखा-दिखाकर उसे अपने ही आदेशके अनुसार चलनेके लिये ललचाती है और वह मनुष्य उसीको उत्तम और लाभप्रद मानकर उसी मार्गपर चलने लगता है। पहलेके किये हुए अपने शुभ आचरणोंको वह 'भूलमें जीवन व्यर्थ खोया गया' समझता है और वर्तमानके अशुभ आचरणोंको 'जीवनका वास्तविक लाभ'। पूर्वके बुरे संस्कारोंकी पूर्ण जागृति और सात्त्विक बुद्धि अथवा विवेकशक्तिकी लुप्तप्राय स्थितिके साथ ही तामसी बुद्धिके पूर्ण प्रभावकी इस शोचनीय अवस्थासे भगवान्‌की कृपासे ही मनुष्य निस्तार पा सकता है।

इधर कई बातें ऐसी हो गयीं जिन्होंने आपके कुसङ्ग और कुविचारोंकी पुष्टि की (चाहे वह अज्ञान-कृत ही हो)। इस स्थितिमें आप तो क्या, अच्छे-अच्छे लोगोंका मन डगमगा जाना सम्भव है। परन्तु विचारशील पुरुषको यहीं तो अशुभके साथ युद्ध करना है। यही तो लड़ाईका मौका है। इस लड़ाईमें विजय पाना ही पुरुषार्थ है। यही परम साधन है। 'क्या तुच्छ धन या मानकी इच्छा भगवान्‌के पथपर चढ़े हुए पुरुषको वापस लौटाकर नीचे गिरा सकती है?' ऐसा मनमें प्रश्न करके आत्माके निश्चयसे यह दृढ़ उत्तर देना चाहिये '<u>नहीं गिरा सकती</u>'। बुद्धि कितनी ही तामसी हो जाय, यदि आत्मा जागृत रहे, बुद्धिके साथ न मिल जाय, तो बुद्धिका तमोगुण ठहर नहीं सकता।

आप घबराइये नहीं, भगवान्‌का भरोसा रखिये। आत्मामें सत्साहस और आत्मनिर्भरता पैदा कीजिये। प्रलोभनोंको पछाड़िये। भगवान् मङ्गलमय हैं। उनके कल्याणमय वरद हस्तको अपने मस्तकपर देखिये, अनुभव कीजिये वे रक्षा करनेको तैयार हैं। घबराकर उनका तिरस्कार न कीजिये। वे सतत आपके साथ हैं—कहते हैं,

'मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।'

—फिर डर काहेका? हाँ, हिम्मत हार दी तो जरूर

डर है। ये मनमें घुसे हुए चोर भाग जायँगे, यदि आपको भगवान्‌के आश्रयमें जाते देखेंगे। वे आपको रोकना चाहेंगे, लोभ और भय दिखाकर पथभ्रष्ट करना चाहेंगे; परन्तु यदि आप सजग, सावधान और निश्चयपर अटल रहे तो वे निराश होकर आपके हृदयको छोड़कर कोई दूसरा घर ढूँढ़ेंगे।

भगवान्‌का नाम किसी भी भावसे लीजिये। मनमें प्रसन्नताका अनुभव कीजिये, भगवान्‌की कृपाको अपने ऊपर बरसते देखकर! देखिये, देखिये—अनवरत अपार वर्षा हो रही है, भगवत्कृपाके सुधासिन्धुके मधुर जलकी! देखकर शीतल, शान्त हो जाइये—नहाकर सारे पाप-तापोंको धो डालिये। पीकर अमृतमय—आनन्द-मय, शान्तिमय स्वयं बन जाइये। विश्वास कीजिये—ऐसी ही बात है, इसमें तनिक भी बनावट नहीं है; सत्य है—सदा सत्य है। जो विश्वास करेगा, वही निहाल हो जायगा।

निजधर्ममें दृढ़ता

(लेखक—महात्मा बालकरामजी विनायक)

श्रीराममिश्रजी महात्मा पुण्डरीकाक्षजीकी सेवामें गये। बोले-'भगवन्! मेरे मनमें स्थिरता नहीं है। इसका कारण मैंने यह निश्चय किया है कि मेरी निजधर्ममें दृढ़ता नहीं है। इसलिये आप कृपापूर्वक यह बतावें कि धर्ममें दृढ़ता किस प्रकार प्राप्त होती है?'

उपर्युक्त संतने कहा-'जिस उपायसे दृढ़ता प्राप्त होती है, उसे आप कर नहीं सकते; इसलिये उसका बताना व्यर्थ ही है।'

मिश्रजीने फिर कहा-'आप उसे बतावें, मैं अवश्य करूँगा। जिस किसीने जो उपाय मुझे बताया है, उसे मैंने अवश्य किया है। आप सङ्कोच न करें। इसके लिये मैं सर्वस्व-त्याग करनेको भी तैयार हूँ।'

श्रीपुण्डरीकाक्ष-'आपने अभीतक अन्धोंसे ही यह बात पूछी है, आँखवालोंसे नहीं। अन्धोंकी लकड़ी पकड़कर भला आजतक कोई गन्तव्यस्थानपर पहुँचा है?'

मिश्रजी-'हाँ, ऐसा ही हुआ है। मैंने ठोकर खाकर इसका अनुभव किया है। तभी तो आँखवालेके पास आया हूँ।'

श्रीपुण्डरीकाक्ष-'आपके उस अनुभवमें एक बातकी कसर रह गयी है। आपमें आँखवालोंकी पहचान नहीं है, नहीं तो मेरे पास क्यों आते?'

मिश्रजीके बहुत अनुनय-विनय करनेपर आचार्य पुण्डरीकाक्षजीने उसे छः महीने पीछे बतानेको कहा। जब अवधि बीतनेपर मिश्रजी फिर आये, तब संतने कहा—'दूसरोंका पाप छिपाने और अपना पाप कहनेसे धर्ममें दृढ़ता प्राप्त होती है।'

इस सुन्दर उपदेशको सुनकर मिश्रजीने गद्गद स्वरसे कहा—'भगवन्! कृपाके लिये धन्यवाद। मुझे अपने सदाचारीपनका बड़ा गर्व था और दूसरोंकी बुराइयाँ सुनकर उन्हें मुँहपर फटकारना एवं भरी सभामें उन्हें बदनाम करना अपना कर्त्तव्य समझता था। इसी अन्धेकी लकड़ीको पकड़कर मैं भवसागरको पार करना चाहता था। कैसी उलटी समझ थी!'

अपनी भूल समझकर पश्चात्ताप करनेसे जीवनकी घटनाओंपर विचार करनेका दृष्टिकोण ही बदल जाता है। तब मनुष्य अपनी अल्पज्ञतासे सधे हुए दृष्टिकोणको छोड़कर भगवदीय दृष्टिकोणसे देखने और विचार करने लगता है।

राम-रहस्य

(लेखक—पूज्य श्रीभोलानाथजी महाराज)

हम लोगोंका स्वभाव कुछ इस तरहका हो गया है कि प्रत्येक पदार्थके बाह्य रूपको देखकर हम उसके अंदरके मर्मको बिल्कुल ही भूल जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि हम अकसर बड़े-बड़े सुखोंसे वञ्चित रह जाते हैं। दृष्टान्तके तौरपर अगर एक जगह 'राम' लिखा है और हम कभी उसके भीतरी भावको जाननेका प्रयत्न नहीं करते तो इसका मतलब यह होता है कि हम एक ऐसे शब्दको देख रहे हैं कि जो 'र', 'आ' और 'म' से बना है। लेकिन अगर उसके भीतरी भावको देखें तो हमें ज्ञान हो सकता है कि 'राम' केवल वह वस्तु नहीं कि जो सिर्फ 'र', 'आ' और 'म' से बनी है, बल्कि यह वह तत्त्व है कि जिससे कुल संसार प्रकट हुआ है, जिसमें जगत्‌की स्थिति और लय होता है। पहले तो 'राम' की केवल यह सूरत होती है—'रा' और 'म'; उसके पश्चात् जब हम ध्यान देते हैं तो मालूम होता है कि 'राम' वह तत्त्व है कि जो सर्वत्र है और जो सच्चिदानन्दस्वरूप है। 'सर्वत्र' शब्दसे हमको यह ज्ञान होता है कि 'राम' सब जगह है; लेकिन जब हम और गहरी दृष्टिसे देखते हैं तो यह मालूम होता है कि 'सर्वत्र' कहनेसे दो पदार्थोंका बोध होता है—एक तो देश और दूसरा उसमें रहनेवाला। 'सर्वत्र' कहनेसे व्याप्य-व्यापक-भाव सम्बन्धका बोध होता है, जिससे दो पदार्थोंका होना निश्चय होता है। लेकिन जब हम इस बातपर ध्यान देते हैं कि Unlimited, अपरिच्छिन्न, असीमका भाव क्या है तो फ़ौरन पता लग जाता है कि असीम तत्त्व वह होता है कि जिसके साथ कोई दूसरा न रह सके; क्योंकि अगर कोई वस्तु उसके साथ है तो वह उससे सीमित हो जायगा। दृष्टान्तके रूपमें—अगर 'अ' कार एक स्थानसे चलकर दूसरे स्थानपर खत्म होता है तो वहाँ 'उ' कारका चलना या होना सम्भव हो सकता है। किन्तु अगर 'अ' कार एक सिरेसे शुरू होकर किसी दूसरे सिरेपर खत्म न हो तो इसके माने यह हुए कि उसके साथ कभी दूसरा हो ही नहीं सकता। जब रामको हम असली रूपमें देखते हैं तो संसारका अस्तित्व केवल इतना रह जाता है कि जितना जलमें बुदबुदेके नाम-रूपका।

> आबमें ढूँढ़से हरगिज़ बुलबुला मिलता नहीं।
> और गर मिलता भी है तो वह जुदा मिलता नहीं॥

अर्थात् जलमें अगर हम बुदबुदेको ढूँढ़ने लगें तो वह कभी मिल नहीं सकता। और अगर किसी स्थानपर वह मिल भी जाता है तो वह जलसे भिन्न नहीं मिल सकता। जब हम 'राम' की खोज करते हैं तो उसकी खोज करते-करते जगत् और 'राम' की खोज करनेवालेका भी पता नहीं चलता।

> मन शमए जाँ गुदाज़म, तो सुबहे दिल कुशाई।
> सोज़म गरत न बीनम, मीरम चू रुख़ नुमाई॥
> नज़दीकत-ईं चुनीनम, दूर-आँ चुनाँ कि गुफ़्तम।
> ना ताबे वस्ल दारम, ना ताक़ते जुदाई॥

यानी मैं तो एक दीपकके समान हूँ और 'वह' प्रातःकाल है कि जिसके प्रकाशसे चित्तको शान्ति मिलती है। लेकिन अफ़सोस तो यह है कि तेरे वियोगमें यानी जबतक कि तुझको नहीं देखता मैं जलता रहता हूँ, और जब तू सामने आता है तो मैं बुझ जाता हूँ (प्रातःकालसे पहले दीपक बुझा दिये जाते हैं)। नजदीक तो तेरे मैं इतना हूँ कि तुझमें और मुझमें कोई भेद नहीं और दूर इतना कि कह नहीं सकता। इससे न तो संयोगकी शक्ति मुझमें है और न वियोग सहनेकी ही ताक़त है।

दीपक और सूरजका कुछ ऐसा सम्बन्ध है कि वास्तवमें दोनोंके गुण एक हैं। यानी दाहकता, उष्णता, प्रकाशकता दोनोंमें एक-सी है। लेकिन एक रातमें जीता है और दूसरेके आनेसे रात ही नहीं रहती। दोनोंमें सजातीय भाव होनेसे दोनोंमें स्नेहकी अग्नि एक दूसरेके लिये स्वभावत: जलती रहती है। एक छोटा है, दूसरा बड़ा। एक फूँकसे बुझ जाता है और दूसरा किसीके मेटे नहीं मिट सकता। जब इस व्यष्टिरूपको अपने समष्टिरूपसे मिलनेका ख़्याल पैदा होता है तो असम्भवता सामने आकर हँस जाती है कि 'ऐ दीपक! जबतक तू है, रात है, अर्थात् सूर्य नहीं है। और जब सूर्य सामने आयगा, रात गुम हो जायगी, जिससे तेरा अस्तित्व ही बेकार हो जायगा। इसलिये उससे पहले ही तुझको बुझा दिया जाता है। गोया जबतक तू है वह नहीं; और जब वह आयगा तू न रहेगा।'

जब वह आया तो गुम गये बस, हम।
उसके जलवेमें यह असर देखा॥

मगर शायद किसीको यह मालूम न हो कि यह मिटना ही तो उस प्रीतमसे मिलना है। दीपकके बुझ जानेसे उसका प्रकाश कहीं चला थोड़े जाता है, अपने इष्टदेवमें लीन हो जाता है। इस प्रेमका काम यह है कि जिसके दिलमें आता है, उसको उसका अस्तित्व रहते तो उसके प्रीतमसे मिलने नहीं देता; और जब उसको मिटा देता है तो प्रीतम खुद प्रेमी बन जाता है।

लेकिन हम तो किसी और तरफ़ आ गये। हमको तो यह देखना था कि 'राम' के साथ दूसरा कोई रह भी सकता है या नहीं। लेकिन हाँ, इसके दरजे, Stages, सीढ़ियाँ हैं। पहले मनुष्यको यह ज्ञान होता है कि इस संसारसे भिन्न भी कोई पदार्थ है, जिसका ज्ञान दो तरहसे होता है—एक तो अपने अनुभव (Experience) से और दूसरे शास्त्रों और महात्माओंके कहनेसे। लेकिन इसको उसके वास्तविक स्वरूपका कुछ ज्ञान नहीं होता। बस, यह कहता रहता है कि संसारमें एक ऐसा भी पदार्थ है कि जो बहुत बड़ा है, सुखोंकी खान है, अति सुन्दर है, बड़ा प्यारा है, दयालु है, कृपालु है। लेकिन जब उससे कोई पूछता है कि वह कहाँ है तो वह कहता है कि 'वह है तो, इतना तो अनुभव मुझको होता है; लेकिन वह है कहाँ, इसका मुझको ज्ञान नहीं। हाँ, वह है, लेकिन कहीं संसारसे बहुत दूर है।' इसमें रामका अस्तित्व तो ज़रूर माना गया, लेकिन संसारसे कहीं दूर, आकाशके ऊपर या संसारके बाहर। इसमें रामका अस्तित्व बहुत ही सीमित (Limited)-सा है—न तो वह हममें है और न इस संसारमें, लेकिन उसकी शक्ति ऐसी है कि जो हर समय मनुष्यके साथ रहती है।

दूसरा दरजा यह है कि राम है तो, लेकिन वह हर जगह है, कहीं दूर नहीं, द्रष्टा और दृश्य दोनोंमें मौजूद है। इसमें रामजी बड़े हो गये, लेकिन जगह अभी भी उनके लिये तंग है। कहीं मैं हूँ, कहीं यह है, कहीं वह है, कहीं पृथ्वी है, कहीं आकाश है, कहीं सूरज, चन्द्रमा और तारागण हैं, कहीं कुछ है, कहीं कुछ है; लेकिन इन सबके होते हुए राम भी है।

लेकिन तीसरा दरजा यह है कि न मैं हूँ न तू है, न यह है न वह है, केवल राम-ही-राम है। यह वह दरजा है कि जिसमें ढूँढनेवाला खुद भी नहीं रहता।

गयी बूँद लेने समुंदरकी थाह। यकायक लिया मौजने उसको खा॥
हुई आप ही गुम तो पाये किसे? बताये वह क्या और जताये किसे?

प्रश्न—जब केवल राम-ही-राम है तो यह सब कुछ कहाँसे आया और यह दरजे वग़ैरह कहाँसे कायम हो गये?

उत्तर—हमको यह बिल्कुल नहीं देखना है कि ये

कहाँसे आये। हमको तो यह देखना है कि ये दूर किस तरह हो सकते हैं और असली तत्त्वकी प्राप्ति कैसे हो सकती है। यह सब कुछ कहाँसे आया, कैसे आया, क्यों आया—इससे हमको कोई प्रयोजन नहीं और न हम यह सब जान ही सकते हैं। क्योंकि जहाँसे और जैसे यह आया है वहाँपर बुद्धिकी पहुँच नहीं है; और जहाँ बुद्धिकी पहुँच नहीं वहाँ प्रश्नोत्तर बनता नहीं। इसलिये यह सब कुछ उसी तरह है कि जिस तरह है।

बस, हमको अपने-अपने आन्तरिक भावोंको जानकर ईश्वरका सुमिरन उसी तरह करना चाहिये, यह नहीं कि एक दूसरेकी नक़ल की जावे। मुझसे कई पूछा करते हैं कि भक्ति दुरुस्त है या ज्ञान ? उस समय मैं कहा करता हूँ कि यह सब कुछ अपनी-अपनी जगहपर ठीक है। हर मनुष्यको अपने क्लासकी किताबों और शिक्षाओंसे सम्बन्ध रखना चाहिये, न कि दूसरेकी किताबोंसे। जिसका मन जैसे दरजेपर है या जिस भावमें है, वह उसी भावकी परिपक्वतासे भगवान्‌को पा लेगा। बस, न तो यह जाननेकी कोशिश करनी चाहिये कि यह सब कुछ कैसे और क्यों हुआ और न यह कि किसका दरजा ठीक और बड़ा है। हमको तो केवल अपने आन्तरिक शुद्ध भावोंद्वारा भगवान्‌को जाननेकी कोशिश करते रहना चाहिये।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥

यानी जो मुझको जिस भावसे स्मरण करता है, मैं उसको उसी तरह मिलता हूँ। और वास्तवमें तो सब लोग मेरी ही तरफ़ चले आ रहे हैं।

इस श्लोकके समझ लेनेसे तो कुल झगड़े ही मिट जाते हैं।

प्रश्न—यह कैसे पता लगे कि हमारे लिये कौन-सा भाव ठीक है ?

उत्तर—आपको यह कैसे पता लगता है कि आपको प्यास है, भूख है ? जिस तरह भूख और प्यासका अपने-आप ज्ञान हो जाता है, उसी तरह जिस मनुष्यकी जैसी प्रकृति होती है उसको उसीके अनुसार अपने भावोंका ज्ञान हो जाता है। एक प्रेमी प्रेममें लीन हो जाता है, ज्ञानी ज्ञानमें, भक्त भक्तिमें, योगी योगमें। पतंगेको कौन सिखलाता है कि तू दीपकसे प्यार कर ? बुलबुलको फूलसे प्रेम करना कौन सिखलाता है ?

जौहरे ज़ाती बशरका है, जिसे कहते हैं इश्क़।
सीखनी है कोई फ़न्ने आशिक़ी उस्तादसे ?

जैसे लोहेको चुम्बकका और चुम्बकको लोहेका ज्ञान होता है, उसी तरह ध्याता और ध्येयका हाल है। लेकिन प्रेम और ज्ञानमें इतना-सा फ़र्क़ जरूर है कि एकमें तो प्रेमी और प्रियतम दोनोंका अस्तित्व रहता है और दूसरेमें ज्ञेयके जान लेनेपर ज्ञानी ख़त्म हो जाता है। गोया, ज्ञानी कोई बन ही नहीं सकता। क्योंकि ज्ञानी वह है, जिसको ज्ञान हो और जिसको ज्ञान हो गया, वह रहा कैसे ? क्योंकि ज्ञानमें पहली बात यह होती है कि जाननेसे पहले या जानते ही जाननेवालेका नामोनिशान उड़ जाता है। एक महात्माने हाथीको अपनी झोंपड़ीमें निमन्त्रित किया। जब हाथी उस झोंपड़ीमें दाख़िल होने लगा तो झोंपड़ीके तिनके उड़ गये। महात्माने कहा—ख़ूब ! हाथीको झोंपड़ीकी सही-सलामतीके साथ कौन बुला सकता है ? हाँ, प्रेमी भी तो अन्तिम सीढ़ीपर पहुँचकर ख़त्म हो जाता है। लेकिन जहाँतक प्रेमका शब्द है, वहाँतक द्वैतको स्थान रहता है और रहना भी चाहिये। गो बूँद और समुंदरमें भेद नहीं, लेकिन कहनेको तो दो बने ही रहते हैं। और कुछ उन लोगोंको इस द्वैतमें इस प्रकारका आनन्द आता है कि उनको अद्वैतभावसे भय हो जाता है। वे लोग खाँड़ नहीं बनना चाहते, खाँड़के चखैया बने रहना चाहते हैं। असल बात तो यह है कि प्रेम और ज्ञान दो वस्तु नहीं। प्रेमकी भी अन्तिम सीढ़ी यह है कि प्रेमी ख़त्म हो जावे। क्योंकि जबतक पतंगा जले

नहीं और जलकर राख न हो जावे, उसको प्रेमी कहे कौन ? और वह प्रेमी बने कैसे ?

प्रेम कहता है 'तू ही तू है ।' ज्ञान कहता है 'मैं ही मैं हूँ ।'

अजब बात है कि दोनोंहीमें दो नहीं रहते । एकमें 'मैं' नहीं, एकमें 'तू' नहीं । प्रेम और ज्ञान पहुँचते तो एक ही स्थानपर हैं; लेकिन एक हृदयद्वारा चलता है, दूसरा बुद्धिद्वारा । मार्ग भिन्न-भिन्न हैं, लक्ष्य-स्थान एक है । लेकिन प्रेममें कुछ अजब मजा है । खाँड़ और उसके खिलौनोंमें अन्तर तो कुछ होता नहीं, लेकिन खिलौने भले जरूर लगते हैं ।

यूँ तो, ऐ सैयाद ! आज़ादीमें हैं लाखों मज़े;
दामके नीचे फड़कनेका तमाशा और है ।

'ऐ शिकारी (अज्ञान) ! यूँ तो आजादी (मोक्ष) में आनन्द बहुत है, लेकिन उसके प्रेमके जालमें फँसकर फड़फड़ानेका आनन्द तो विचित्र ही है ।'

प्रेमीका हृदय तो ऐसा हो जाता है कि जब एक दफ़ा वह उस प्रेममें जलकर राख हो जाता है तो फिर चाहता है कि फिर उसका अस्तित्व क़ायम हो और फिर उस प्रीतमके सरसे अपने आपको निछावर करे ।

मज़ा रखता है ज़ख़्मे ख़ंजरे इश्क़ ।
कभी ऐ बुल हवस खाया तो होता !

'यह प्रेमका ज़ख़्म एक अजीब मजा रखता है । ऐ लालची स्वार्थी, कभी तो इस आनन्दका अनुभव कर ।'

पतंगे दीपकसे प्रेम करें, बुल्बुल फूलोंसे, लोभी-स्वार्थी अपने-अपने पदार्थोंसे; पर हाय ! यह क्या ? मनुष्यका हृदय कि जो साक्षात् प्रभुके लिये था, उसको अपने प्रभुसे प्रेम करते इस क़दर हिचकिचाहट क्यों होने लग गयी ? उफ़, लोहा चुम्बकके सामने है और खिंचता नहीं ! शायद इस लोहेपर ज़ंगार चढ़ गया है, जो कि रगड़नेसे दूर हो सकेगा । इसी तरह मनपर जो मायाके प्रभावका रंग चढ़ गया है, वह प्रभुप्रेममें मन नहीं लगने देता । उसका उपाय केवल एक है कि उसको सत्सङ्ग और ईश्वर-प्रेमियोंकी सङ्गतसे साफ़ करे ।

मुझसे एक दिन किसीने पूछा कि प्रभु किस तरह मिलते हैं । मैंने कहा, भूख पैदा कीजिये । उन्होंने पूछा, भूख कैसे लगे ? तो मैंने कहा भूखोंसे मिला कीजिये । और मार्ग ही क्या है ? यह एक ऐसा छूतका (contagious) रोग है कि जो एकसे दूसरेको लगता है । यही तो कारण है कि शिष्यको गुरुसे उसकी प्राप्ति होती है ।

लेकिन ज्ञानकी उच्च धारामें जो कि तीसरी श्रेणीसे सम्बन्ध रखती है, द्वैतको तो जगह ही नहीं मिलती । अगर सच पूछा जावे तो वहाँ एकको भी स्थान नहीं है, क्योंकि एक भी तो दोतक क़ायम रहता है । मुझे एक प्रेमीने पूछा—महाराज, क्या आप अद्वैतवादी हैं ? तो मैंने कहा—'यह कैसे हो सकता है, जब एक दोके बग़ैर रह ही नहीं सकता ?' तो उन्होंने फिर पूछा—तो क्या आप द्वैतवादी हैं ? तो मैंने कहा—'वह भी कैसे हो सकता है जब द्वैत अद्वैतके बग़ैर नहीं हो सकता ?' उन्होंने पूछा—तो फिर आप क्या हैं ? मैंने कहा—'मैं वह हूँ जो कुछ कि हूँ । जहाँ मन-वाणीका सम्बन्ध है, वहाँ एक दोसे और दो एकसे क़ायम हो सकेंगे, वरना नहीं ।'

मगर जहाँ एक और दोका सम्बन्ध है—वह किसी भी अपेक्षासे हो—एक-ही-एक रह सकता है । यह है ज्ञानकी उच्च और तीसरी दृष्टि ।

मुझसे एक प्रेमीने पूछा—महाराज, जब एक-ही-एक है तो मैं किसीके मुँहपर चाँटा लगाऊँ तो क्या हर्ज है ? मैंने कहा कि यह बात आप अद्वैत-दृष्टिसे करेंगे या द्वैतमें ? तो उन्होंने कहा कि द्वैतमें । मैंने जवाब दिया कि जब किसीको मारोगे तो मार खा भी लेना; क्योंकि जो दूसरा होगा, वह ज़रूर कुछ जवाब देगा । तो वह झट ही बोल

उठे—नहीं, महाराज ! मैं तो अद्वैत-दृष्टिसे ऐसा कह रहा हूँ। तो मैंने हँसकर कहा—'भाई, अद्वैत-दृष्टिमें मुँह और चाँटा कहाँ है ? इसलिये जबतक द्वैत-दृष्टि क़ायम है, तबतक इस प्रश्नका उत्तर यह है कि कर्म और उसका फल नष्ट नहीं हो सकता और अद्वैतमें यह प्रश्न और भावनाएँ ही गुम हो जाती हैं।'

मगर अद्वैत-दृष्टि भी कर्मकी विरोधी नहीं, क्योंकि उसका सिद्धान्त है कि तत्त्व एक है या एक भी नहीं। जो कुछ है, वह नित्य है। हाँ, जब माया-की दृष्टिको क़ायम करके संसारकी कल्पना कर ली जाती है या यह समझ लिया जाता है कि वह एक तत्त्व ही खुद अपनी मायासे अनेक-सा बना हुआ अपनी लीला कर रहा है तो उसमें हमको सब कुछ नियमानुसार करना पड़ता है। किसी ऐक्टरको अपना पार्ट खराब करनेका अधिकार इसलिये नहीं है कि वह लीला कर रहा है या वह एक ऐसे खेलको खेल रहा है कि जिसका वास्तविक रूप कुछ नहीं। हाँ, जिस वक्त संसारकी दृष्टि क़ायम हो चुकी तो इसमें झूठसे नफ़रत, सत्यसे प्रेम, बुराईसे घृणा, अच्छाईसे प्यार, संसारसे हटना, ईश्वरसे लगना एक जबरदस्त नियम (laws) बन जाते हैं, बल्कि होते हैं।

खैर, कुछ भी सही, कर्मके चक्करमें अच्छाई, भलाई, नेकी ही एक ऐसा पदार्थ है कि जिससे परम शान्तिकी प्राप्ति हो सकती है। वह असली नेकी क्या वस्तु है ? ईश्वरको जानो, प्रभुसे प्रेम करो, संसारके कामोंको उसका समझकर किये चले जाओ, फलेच्छाका त्याग करो और अगर यह इच्छा त्याग किये हटती नहीं तो भी फलमें माँगो कि ईश्वरका प्रेम मिले; इसके मिलनेपर बाक़ी सब कुछ आप ही मिल जायगा। यीशू साहबने भी फरमाया है:—

'But seek ye first the kingdom of heaven and His righteousness and all other things shall be added unto you.'

लोगोंका यह ख़्याल है कि ईश्वरीय प्रेम और उसकी प्राप्ति सांसारिक बाधाओं और नुक़सानका कारण होती है। किन्तु यह गलत बात है। क्योंकि जिसका बादशाह होता है, प्रजा उसीकी होती है। जो बागको खरीदता है, साया उसीको मिलता है; जो ईश्वरको पाता है, संसार उसीका होता है। सांसारिक तरक्क़ीका एकमात्र कारण ईश्वरकी समीपता है, और कुछ नहीं। माया भगवान्‌की है, न कि आपकी और मेरी। बस, यह भगवान्‌के मिले बग़ैर किसे मिल सकेगी ?

प्रश्न—जो लोग भगवान्‌को नहीं मानते, उनके पास माया क्योंकर है ?

उत्तर—आप नहीं जानते कि 'मानने' का अर्थ क्या है। 'मानना' केवल इतना ही नहीं कि ज़ुबानसे राम-राम करते जायँ और रामका भाव हमारे चित्तपर कुछ भी न हो, हमें इतना भी पता न हो कि रामका महत्त्व क्या है। पुत्रका नाम लेनेसे शान्ति मिले, पिताके स्मरणसे सुख प्राप्त हो, अच्छे स्थानोंकी यादसे आराम मिले और भगवान्‌के सुमिरन-चिन्तनसे सिवा ज़ुबान और दिमाग़ थकनेके कुछ प्राप्त ही न हो ! क्या यही रामको मानना है ? रामका नाम तो वह है कि जिसके एक दफ़ा सुमिरन करनेसे कुल कष्ट मिट जायँ, रोम-रोमसे अमृत बहने लगे, अशान्ति हमेशाके लिये मुँह छिपा ले, दुःख फिर आनेका नाम न ले। क्योंकि राम तो आरामका खज़ाना है। देखिये, 'आराम' खुद कह रहा है—आ, राम। मगर यह भी 'राम' का कहना है कि जिससे न तो भय जाय और न लालच ही मिटे, न बन्धनोंसे मुक्ति हो और न मुक्तिकी इच्छा जाय ? इसलिये इस तरहका राम-राम कहकर सफलताको प्राप्त न होना इस बातका प्रमाण नहीं कि राम कहनेसे हमें कुछ भी प्राप्त नहीं होता। इसका तो अर्थ यह है कि हमने 'राम' कहा ही नहीं।

असली सिद्धान्त तो यह है कि 'राम' कहनेवाले और उसके जाननेवालेको किसी और सफलता की आवश्यकता ही नहीं। उसके सुमिरनसे बढ़कर वह किसी और वस्तुको समझता ही नहीं। और अगर आवश्यकता रह भी जावे तो वह पूर्ण न हो, यह आश्चर्यजनक बात है!

किसी महात्मासे किसीने जाकर पूछा कि 'महाराज! मुझे इस तरह रामका नाम लेना सिखलाइये कि जिस तरह महात्मा लोग लिया करते हैं।' उन्होंने हँसकर कहा 'अजीब बात है! राम कहते हो और फिर रामका नाम लेनेका तरीका पूछते हो?' उसने कहा 'महाराज! यह तो सच है, लेकिन मैं उस तरह राम कहना चाहता हूँ कि जिस तरह आप या और महात्मा कहा करते हैं।' उन्होंने मुस्कुराकर अपने एक शिष्यसे कहा कि 'अच्छा जाओ, इसको हमारे एकान्त स्थानमें ले जाओ और वहाँ इससे कहो कि राम कहे।' जब उसने वहाँ जाकर महात्माके कहे मुताबिक 'राम' कहा तो उसका दम निकल गया! गोया उसके अहङ्कारका नाश हो गया। क्योंकि 'राम' कहनेपर फिर वह खुद कहाँ रह सकता है! राम तो ऐसे हैं कि हृदयमें बहुत ही छोटे बनकर आते हैं, लेकिन जब फैलते हैं तो इस क़दर कि मेहमान-निवाज़का खात्मा करके उसको अपनेमें मिला लेते हैं!!

> हसीनाने जहाँ उजड़ी हुई महफ़िलमें रहते हैं।
> जिन्हें बरबाद करते हैं, उन्हींके दिलमें रहते हैं॥

यह एक सिद्धान्त है कि प्रभुके पा लेनेपर अव्वल तो किसी और सफलताका ध्यान ही नहीं रहता, और अगर रहता भी है तो किसी प्रकारकी कमी नहीं रह सकती। विभीषणने रामकी शरण रावणकी लात खानेके बाद ली, नतीजेमें लङ्का भी पीछे दौड़ी आयी। रावणने लङ्काको लेकर रामसे मुँह फेरा, नतीजेमें लङ्का भी गयी। संसारमें असली कामयाबी (success) का रहस्य केवल इतना है कि रामको दिलमें रक्खे, दुनिया पीछे दौड़ेगी। जिस वक्त आप सूरजकी तरफ मुँह करके चलेंगे, साया आपके पीछे दौड़ेगा।

और यदि कुछ लोग मुँहसे 'राम' न कहकर भी सफलताको प्राप्त होते हैं तो इसका अर्थ यह समझना चाहिये कि वे भी 'राम' कह रहे हैं या उन्होंने 'राम' कहा है, लेकिन उस जुबानमें कि जिसको हम नहीं समझ सकते और शायद उस नामको लेनेवाले खुद भी नहीं समझ सकते। और यदि कुछ ऐसे लोग भी हैं जो असली मानेमें 'राम' कहकर भी असफलताके शिकार बने रहते हैं, तो इसका अर्थ यह है कि उनकी सफलता उनकी दृष्टिमें कोई और होती है, वह नहीं कि जिसको हम सफलता समझते हैं। किसीने कहा है—

> ख़ानए तनकी ख़राबीका मैं करता फ़िक्र क्या?
> गौहरे जाँपर फ़क़त इक ख़ाकका अंबार था।

शरीररूपी घरकी खराबीका मुझे शोक क्यों हो, जब कि आत्मारूपी हीरेपर यह एक मिट्टीका ढेर चढ़ा हुआ था।

अगर किसीके ज़ख़्मपर बँधे हुए रेशमी कपड़े इसलिये उतारे जायँ कि वह भर गया है तो देखने-वालोंको तो इसलिये अफ़सोस होता है कि रेशमी कपड़ोंको उतरता देखते हैं और ज़ख़्मवालेको इसलिये उनके उतरने-की खुशी होती है कि उसका ज़ख़्म भर गया है।

बहरहाल सफलताका रहस्य केवल राम है, और कुछ नहीं। इस बातकी गवाही विभीषण दे सकते हैं, जिन्होंने रामकी तरफ़ मुँह करके पारमार्थिक और सांसारिक दोनों प्रकारकी सफलताको प्राप्त किया।

इस बातपर बहसकी जरूरत नहीं। केवल यही करके देख लें कि राम दिलमें हो, और फिर देखें कि क्या होता है। तीन क़िस्मके पुरुष होते हैं—

(१) जो भगवान्‌से संसारके लिये प्रेम करते हैं,

(२) जो भगवान्‌से अपना संसार रखकर प्रेम करते हैं, और

(३) जो संसारको खोकर भगवान्‌से प्रेम करते हैं।

पहले लोगोंकी सफलता केवल सांसारिक पदार्थोंका ज्यादा मिलना है।

दूसरे लोगोंकी सफलता सांसारिक पदार्थ और ईश्वर-प्रेमका इकट्ठे रहना है।

तीसरे लोगोंकी सफलता उसके प्रेममें सब कुछ नाश कर देना है।

पतंगा दीपकसे क्या लेता है? अपने-आपको उसे सौंप देता है। इस श्रेणीके लोग कहते हैं—हे प्रभो!

मुझको अम्मीअते खातिर है परेशाँ होना।
लाख सामान है इक बे सरो सामा होना॥

यानी हे प्रभो! तेरे प्रेममें मेरा सर्वस्व नाश हो जाता, यही मेरे चित्तकी शान्ति है। और तेरी यादमें मेरे पास कुछ न रहना, यहाँतक कि अपने-आपका भी न रहना एकमात्र उन्नति है।

अब सफलताका लक्ष्य हर दरजेमें अपना-अपना है। विभीषणकी सफलताका पता लङ्काके मिलनेपर लगता है और मीराकी सफलताका पता उनके सर्वस्वनाशसे चलता है। इसलिये जिसको जिस प्रकारकी सफलताकी आवश्यकता हो, वह 'राम' कहे और उसको ले ले।

मायाके चाहनेवालोंको सच्चे ईश्वर-भक्त मन, वचन और कर्मसे बन जाना चाहिये। माया अवश्य मिलेगी। लोग मायाको बुरा कहते हैं। वह बुरी कैसे हुई? वह तो भगवान्‌की शक्ति है। लेकिन हाँ, वह माया अच्छी नहीं कि जो भगवान्‌से हटा दे और वह माया—भगवान्‌से हटानेवाली—तभी हमें भगवान्‌से हटाती है कि जब हम मायाको उसके वास्तविक रूपसे भिन्न देखने लगते हैं। भगवान्‌को दिलमें रक्खो, माया आराम देगी। भगवान्‌को खोकर मायाको रखना वैसा ही है कि जैसे रामविरोधी होकर रावणने माता सीताको चुरा लिया था। ऐसी माया रावणको नष्ट किये बगैर न रहेगी।

माया इसीलिये तो दुःख देती है कि मनुष्य किसी-न-किसी तरह उसके पतिदेवकी याद करे। उसको अपने पतिकी तरक्की देखकर बड़ी खुशी होती है। और जो यह माया ईश्वरभक्तिमें बाधा देती है, वह इसलिये नहीं कि वह अपने पतिकी स्तुति नहीं सुनना चाहती। वह तो यह देखना चाहती है कि उसके पतिके भक्त कहाँतक सच्चे और वफ़ादार हैं। और जब वह उनको आजमाइशमें पक्का पाती है तो फिर हमेशाके लिये उनको सुखी बना देती है, बल्कि उनके नामतकपर निछावर हो जाती है। फिर माया बुरी कैसे हुई? हाँ, बुरी तो तुम्हारे मनकी वह गति है कि जो मायाको जबरदस्ती करना सिखलाती है।

धौल-धप्पा उस सरापा नाज़का शेवा नहीं।
हम ही कर बैठे थे ग़ालिब पेशदस्ती एक दिन॥

उसमें तो सख़्ती है नहीं, सिर्फ हमारी ग़लतीको दुरुस्त करनेके लिये उसने ऐसा किया था। डाक्टरका आपरेशन मरीजके फ़ायदेके लिये ही होता है।

रामको ऊपरी दृष्टिवाले केवल एक शब्द समझते हैं।

और ध्यानसे देखनेवाले उसको एक तत्त्व समझते हैं कि जो बहुत दूर है।

और नजदीकवाले उसको सामने और सर्वत्र देखते हैं।

और आख़िरी दृष्टिवाले उसको अपना आपा खोकर देखते हैं। ये कहते हैं कि 'तू-ही-तू है, हम नहीं।' 'राम' का शब्द अपने अन्तिम अर्थमें खुद अकेला ही रह जाता है और बताता है कि संसारमें शान्तिका स्वरूप केवल मैं हूँ।

ॐ शम्

प्रगति

(लेखक—श्रीनलिनीकान्त गुप्त)

प्रगति, सच्ची प्रगति, किसे कहते हैं ?

× × ×

विकासवादके सिद्धान्तके अनुसार, एक समय था जब कि मनुष्य पत्थरका हथियार काममें लाता था—इस पत्थरके हथियारको बनाना और चलाना सीखकर ही बनमानुस मनुष्यके रूपमें परिणत हुआ था। फिर मनुष्यने जब लोहेके हथियारका आविष्कार किया, तब मनुष्यके राज्यमें एक और नया परिवर्तन हुआ—मनुष्यकी प्रगति हुई, मनुष्य सभ्य हुआ।

आज मनुष्यके हाथमें आया है बाष्पका, विद्युत्का हथियार—इसी कारण कहा जाता है कि आजकलका मनुष्य प्रगतिके शिखरपर पहुँच गया है, उसकी सभ्यताकी तुलना नहीं की जा सकती।

क्या यह बात ठीक है ? क्या मनुष्यके हथियारके द्वारा ही उसके मनुष्यत्वका परिचय मिलता है ? फिर क्यों आजकलके दो-एक जन-नेताओंका रूप आदि-कालके गदाधारी 'नेयाण्डरटाल' (Neanderthal) मनुष्यका स्मरण करा देता है ?

× × ×

प्रगतिका असली परिचय हथियारसे नहीं मिलता, भीतरकी चेतनासे मिलता है। प्रगतिका माप इस बातसे किया जाता है कि चेतना कितनी गभीर हुई है, कितनी विस्तृत हुई है और कितनी ऊँची उठी है। और इस चेतनाकी महानताके साथ हथियारकी सरलता भी हो सकती है।

चेतनाकी गभीरता, प्रशस्तता, समुन्नताका अर्थ ज्ञान-विज्ञानका समारोह नहीं है। ज्ञान-विज्ञानका समारोह, विद्या-चातुरी भी हथियारका ही उत्कर्ष है—मन-बुद्धिके हथियारका उत्कर्ष है। मन-बुद्धि सहज, सरल—अपण्डित—होनेपर भी चेतना गभीर, प्रशस्त और समुन्नत हो सकती है।

दुर्योधनने जिस समय नारायणी सेनाको माँगा था, उस समय उसने हथियारको ही पसंद किया था; अर्जुनने श्रीकृष्णको पाकर चेतनाकी महानताको प्राप्त किया था।

श्रेष्ठतर हथियार मनुष्यको अधिक समर्थ पशु बना सकता है, परन्तु उसकी प्रवृत्ति या प्रकृतिको किसी प्रकार उन्नत नहीं बना सकता।

× × ×

अपनी प्रवृत्ति और प्रकृतिको शुद्ध करनेसे मनुष्यका मनुष्यत्व और देवत्व विकसित होता है—उसकी चेतना प्रशस्तता, गभीरता और समुन्नताको प्राप्त होती है। और यही है सच्ची प्रगति—प्रगतिका अर्थ केवल अप्रगति नहीं, बल्कि साथ ही प्रकृष्ट गति भी है। ऊर्ध्वतर दृष्टि, गभीरतर अनुभव और विशालतर प्रेरणाके द्वारा मनुष्यकी सत्ता और जीवनको निरन्तर गढ़ते रहना ही प्रगतिका मूल रहस्य है।

इस प्रकार पूर्णत्व प्राप्त किये हुए मनुष्योंके अतिरिक्त और किसी बातसे मनुष्य-जातिकी रक्षा या उन्नति नहीं हो सकती। अभी तो मनुष्य जो कुछ है, वह टूटा-फूटा, टेढ़ा-बाँका, हलका-छिछला है।

× × ×

जो मनुष्य अपने-आपको सुधारनेका प्रयत्न करता है—अपने-आपको समर्थ, पूर्णाङ्ग बनाता है, वही मानव-समाजका सबसे बड़ा कल्याण करनेवाला है। यह आत्मशुद्धिका कार्य स्वयं अपनेको करना होगा,

दूसरा कोई नहीं कर सकता—अपनेद्वारा ही अपना उद्धार करनेके सिवा, स्वयं अपने अपना प्रकाश होनेके सिवा कोई दूसरा रास्ता नहीं है।

इस महाव्रतको ग्रहण करनेवाले सभी लोग एकत्र हों। उनके द्वारा भविष्यका पूर्णतर मानवसमाज निर्मित हो।

शरीरका जो शरीर है, उसीको यदि नहीं पाया तो फिर इस शरीरके द्वारा और क्या होगा?

प्राणका जो प्राण है, वही यदि नहीं आया तो फिर इस प्राणको लेकर हम क्या करेंगे?

और मनका जो मन है, वही यदि जीवनमें प्रस्फुटित न हो सका तो फिर यह मन किस कामका?

× × ×

तो फिर ऐसा वह कौन है—यह मनका मन, प्राणका प्राण, शरीरका शरीर कौन है?

वह बृहत्तर ज्ञान है, महत्तर सामर्थ्य है, गहनतर सत्ता है—वह चिन्मय, तपोमय, सन्मय पुरुष है—वह हमारा 'मैं', हमारा दिव्य स्वरूप, हमारे अंदर भगवान्‌का प्रकाश है।

× × ×

मनको स्वयं अपने अंदर डूब जानेको कहो—प्राणको भी स्वयं अपने अंदर डुबकी लगानेको कहो—शरीरको भी स्वयं अपने स्वरूपके अंदर डूब जानेको कहो।

दिव्य जीवनको प्राप्त करनेके लिये डुबकी लगाओ। विश्वसृष्टिरूपी सागरके तहमें जो यह मोती तैयार हुआ पड़ा है, उसे निकाल लाओ पृथ्वीके ऊपर, सूर्यके आलोकमें।

एक महातपस्वीका महाप्रयाण

(लेखक—श्रीहरिजीवनजी ब्रह्मचारी)

श्रीतपोनिधि ब्रह्मनिष्ठ श्रीअवधूत केशवानन्दजी महाराज करीब ४० वर्षसे सर्वस्व त्यागकर ऋषिकेश, उत्तरकाशी, गङ्गोत्तरी, यमुनोत्तरी आदि पवित्र तीर्थ-स्थानोंमें रहकर तपश्चरण करते थे। आपका जन्म पंजाब-प्रान्तान्तर्गत लुधियाना जिलेके छपार गाँवमें एक पवित्र जमींदारके घरमें हुआ था। आप अपने पिताके इकलौते पुत्र थे। युवावस्थासे ही आप साधु-महात्माओंकी सङ्गति किया करते थे। आप ३५ वर्षकी आयुमें ही ऋषिकेश आ गये थे और ३० वर्षतक आपने निरन्तर ऋषिकेश और हिमालयमें ही निवास किया। सन् १९२४में जब गङ्गाकी बड़ी भारी बाढ़ आयी थी, उस समय ऋषिकेशके लगभग २५० महात्मा बह गये थे। उनमें आप भी थे। आप छः दिनतक पानीमें रहे और सातवें दिन बाहर आये। उस समयकी अद्भुत ईश्वरीय घटना आप अपने मुखसे कभी-कभी सुनाया करते थे। इसके बादसे चातुर्मास्य आप उत्तरकाशी और गङ्गोत्तरीमें बिताने लगे। लेकिन १९२७ में जब आप मार्कण्डेय ऋषिकी गुफामें—जो गङ्गोत्तरीसे दस मील नीचे है—खड़े होकर अनुष्ठान कर रहे थे, ठीक मध्याह्नके समय गोपाष्टमीके दिन एक गाय उनके पास आकर खड़ी हो गयी और उनके शरीरका स्पर्श किया। तब उन्होंने कहा कि 'माता तू इस समय कहाँ आ गयी? मैं तो अनुष्ठान कर रहा हूँ।' गौके नेत्रोंसे अश्रुपात होते देखकर श्रीअवधूत महाराजके नेत्रोंसे भी अश्रुपात होने

लगा। वे बोले—माँ, मैं क्या करूँ ? भारतवर्षमें तो कोई क्षत्रिय रहा ही नहीं, जो तेरे दुःखको दूर कर सके। न इस देशमें हिन्दूराज्य है और न मेरी इतनी उग्र तपस्या है कि जिससे मैं आपकी रक्षा कर सकूँ।' परन्तु अवधूतजीने उसी दिनसे जलमें खड़े होकर देश, जाति और धर्मके कल्याणके लिये तप करनेका व्रत ले लिया। ठीक बारह वर्षतक आप तपश्चरणमें लगे रहे। और गोपाष्टमीके दो ही दिन पहले आपका देहावसान पुण्यक्षेत्र उत्तरकाशीमें हुआ।

आप इस वृद्धावस्थामें भी रातके १२—१ बजेके बीचमें उठ जाया करते थे और शीतकालमें प्रातः ५ बजे हिमालयके अत्यन्त शीत जलमें खड़े होकर उग्र तपस्या किया करते थे। गर्मीके दिनोंमें ज्येष्ठमासतक ऋषिकेशमें पवित्र गङ्गाजीके तटपर धूपमें खड़े होकर तप करते थे। अर्थात् रात्रिके १बजेसे लेकर दूसरी रातके ९बजेतक अनुष्ठानमें संलग्न रहते थे। आप शरीरपर कपड़ा नहीं रखते थे। रातको फूसकी झोंपड़ीमें जमीनपर घास बिछाकर सोते थे। एक जलपात्र और लँगोटीके सिवा किसी चीजको ग्रहण नहीं करते थे। आपको बहुत अंशोंमें वाक्-सिद्धि हो गयी थी। आजकल जो महासमर हो रहा है, उसके विषयमें आजसे चार वर्ष पहले आपने महामना श्रीमालवीयजी महाराज, त्यागमूर्ति गोस्वामी श्रीगणेशदत्तजी तथा सेठ जुगलकिशोरजी बिड़लासे कहा था। आपके पास अनेकों बीमार आया करते थे। भारतवर्षके बड़े प्रसिद्ध राजा-महाराजा, दानी-सत्सङ्गी आपके पास आया करते थे। महामना पूज्य मालवीयजी महाराज, त्यागमूर्ति गोस्वामी गणेशदत्तजी, दानवीर सेठ जुगलकिशोरजी बिड़ला तथा महाराजा पटियालाकी आपपर अपार श्रद्धा थी। ये लोग बराबर आपके दर्शनके लिये आया-जाया करते थे। गरीबोंके ऊपर आपकी सदा कृपादृष्टि रहा करती थी। साथ ही विद्यार्थियों और ब्रह्मचारियोंपर आपकी विशेष कृपा रहती थी। सनातनधर्मकी उन्नति देखकर बहुत प्रसन्न होते थे और शुभाशीर्वाद दिया करते थे।

हरिद्वारमें श्रीमहाराजाधिराज दरभंगाके सभापतित्वमें जो अखिलभारतीय सनातनधर्मसम्मेलन हुआ था, उसमें आप स्वयं पधारे थे। सन् १९३६में आपने श्रीबिड़ला-जीसे ऋषिकेशमें यज्ञ कराया था, जिसपर २०,०००) रुपया व्यय हुआ था। यह यज्ञ उन्होंने देश, जाति और धर्मकी रक्षाके लिये करवाया था। आपने अपनी जन्मभूमिमें तालाब, मन्दिर और महात्माओंके लिये कुटियाका निर्माण कराया। लाहौरमें श्रीस० ध० प्रतिनिधि-सभा पंजाबके भवनका शिलान्यास करनेके लिये आप रुग्ण होते हुए भी पधारे थे। धर्मकार्योंमें आपका बड़ा उत्साह था। यद्यपि इस बार आपको कई बार ज्वर आया, परन्तु फिर भी अपना तप करते ही रहे। परन्तु अकस्मात् कार्तिक बदी अष्टमी शनिवारको आप बीमार हो गये और दस दिन बाद अपना भौतिक शरीर छोड़कर ब्रह्मभूत हो गये।

आपने योगियोंकी तरह शरीर छोड़ा। शरीरमें कोई विकृति नहीं आयी। कार्तिक शुक्ला पञ्चमी बुधवारको आपकी अरथी निकली। साथमें उत्तरकाशीके वृद्ध तपस्वी, साधु-महात्मा तथा प्रसिद्ध व्यक्ति थे। आपका जलप्रवाह संस्कार उत्तरकाशीके पवित्र तीर्थ ब्रह्मकुण्डमें हुआ। शरीर छोड़नेसे आठ दिन पहले आपने श्रीगोस्वामीजीसे देश, जाति और धर्मसम्बन्धी बहुत-सी बातें कही थीं, जो गोपनीय हैं, इस समय प्रकट नहीं की जा सकतीं।

श्रीमानसका अनुपम महत्त्व

(लेखक—श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी)

कलकत्तेके कुँ० श्रीश्रीनिवासदासजी पोद्दारको श्रीभगवान्‌की कृपासे यह प्रेरणा हुई है कि कलियुगके वर्तमान भयानक कालमें यदि आगामी चैत्रके नवरात्रके अवसरपर सवा लाख पाठकोंद्वारा श्रीरामचरितमानसके सवा लाख पारायण नवाह्निक पाठके नियमसे हो सकें तो जगत्‌का बड़ा ही कल्याण हो तथा श्रीमानस-पाठका और भी अधिक प्रचार हो। इस सम्बन्धमें उक्त सेठजीका एक लेख मेरठसे निकलनेवाले 'संकीर्तन' पत्रमें छपा था और उन्होंने उस लेखके कुछ पैंफ्लेट भी अलगसे छपवाकर स्थान-स्थानके मानस-भक्तोंमें वितरण कराये थे। सेठजीने उसकी एक प्रति इस 'दीन' के पास भी भेजनेकी कृपा की और यह इच्छा प्रकट की कि इस 'दीन' के द्वारा श्रीमानस-महिमापर एक लेख तैयार होकर चैत्र मासके पहले-पहले 'कल्याण' के किसी अङ्कमें निकल जाय, जिसके प्रकाशनकी स्वीकृति 'कल्याण' -सम्पादकने दे दी है। संयोगवश वह सूचना गत आश्विन मासके नवरात्रके पूर्व ही इस 'दीन' को प्राप्त हो गयी थी। उसे देखकर कुछ मानस-भक्तोंको बड़ा आह्लाद हुआ और उसी नवरात्रमें इस प्रस्तावित पारायणका आरम्भ कर दिया गया। इस 'दीन' की जानकारीमें २७ सज्जनोंने नवाह्न-पारायण पूरा किया। इसी प्रकार पोद्दारजीकी उस अपीलके अनुसार और भी अनेकों स्थानोंपर अनेकों पाठकोंने श्रीमानसका नवाह्न-पारायण किया होगा, जिसकी सूचना 'संकीर्तन' में प्रकाशित होगी। परन्तु गत नवरात्रमें जितने भी पारायण हुए होंगे, कम ही हुए होंगे; इसलिये आगामी चैत्रके नवरात्रमें समस्त भारतके मानस-भक्तोंको केवल सवा लाख ही नहीं, उससे भी कई गुनी अधिक संख्यामें श्रीमानस-पारायणकी धूम मचा देनी चाहिये।

पोद्दारजीका जो लेख 'संकीर्तन' में निकल चुका है, उसको पढ़नेपर पाठकोंको यह ज्ञात हो गया होगा कि भाषा-काव्य होते हुए भी श्रीरामचरितमानसने श्रीकाशीपुरीके बड़े-बड़े संस्कृत-विद्याविशारदोंपर अपनी क्या-क्या महिमा प्रकट की, उसके द्वारा आरम्भसे ही कैसे-कैसे जीवोंका उद्धार हुआ है तथा अब भी वह किस प्रकार कलिकालके कुटिल, विद्या-बुद्धिहीन एवं दीनदशाको प्राप्त हुए अगणित जीवोंके लौकिक एवं पारलौकिक कल्याणका एकमात्र आधार बना हुआ है। इसी प्रकार श्रीरामचरितमानसके सम्बन्धमें इस 'दीन' की भी जो निजी धारणा एवं निष्ठा है, वह आजसे आठ वर्ष पूर्व ही 'कल्याण' के छठे वर्षके तीसरे अङ्कमें पृष्ठ ६४० पर प्रकाशित 'श्रीगोस्वामीजीकी अन्तिम अभिलाषा' शीर्षक लेखमें प्रकट की जा चुकी है।

इस 'दीन' के विश्वासानुसार श्रीमानसजी भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धाम*—इन चार दिव्य विग्रहोंमेंसे लीला-विग्रहके साक्षात् ग्रन्थरूप अवतार हैं। जिस प्रकार त्रेतायुगमें धर्मकी स्थापनाके लिये श्रीअयोध्याधाममें चैत्र शुक्ला नवमीको माता कौसल्याके निमित्तसे श्रीरामजीके रूप-विग्रहका आविर्भाव हुआ था, ठीक उसी प्रकार कलियुगमें धर्मका ह्रास और अधर्मकी वृद्धि होते देखकर अपने विरदकी रक्षा करनेवाले प्रभुने संवत् १६३१ की उसी चैत्र शुक्ला नवमी तिथिको, उसी अयोध्यापुरीकी पवित्र भूमि श्रीतुलसीचौरापर भक्तचूड़ामणि गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीको निमित्त बनाकर श्रीरामचरितमानसके रूपमें अपने लीला-विग्रहको अवतारित

---

* रामस्य नाम रूपञ्च लीला धाम परात्परम्।
एतच्चतुष्टयं नित्यं सच्चिदानन्दविग्रहम्॥

किया । इसका प्रमाण स्वयं श्रीरामचरितमानस है, जिसके आरम्भमें ये वचन मिलते हैं—

संबत सोरह सै एकतीसा । करउँ कथा हरि पद धरि सीसा ॥
नौमी भौमबार मधुमासा । अवधपुरीं यह चरित प्रकासा ॥
जेहि दिन राम जनम श्रुति गावहिं। तीरथ सकल तहाँ चलि आवहिं

× × × ×

बिमल कथा कर कीन्ह अरंभा । सुनत नसाहिं काम मद दंभा ॥

अस्तु, जिस प्रकार त्रेतायुगमें प्रभुके रूपावतारद्वारा रावण, कुम्भकर्ण आदि असुरोंका विध्वंस, विभीषणादिका उद्धार तथा धर्मकी स्थापना हुई, ठीक उसी प्रकार इस घोर कलिकालमें प्रभुके लीलावतार श्रीमानसद्वारा मोह-मदादिका पराभव होकर धर्मकी रक्षा हो रही है तथा जीवमात्रका उद्धार हो रहा है । यह बात विनय-पत्रिकामें स्पष्ट कर दी गयी है । पद-संख्या ५८के संकेतपर विचार कीजिये—

मोह दसमौलि, तद्भ्रात अहंकार, पाकारिजित काम विश्रामहारी।
लोभ अतिकाय, मत्सर महोदर दुष्ट, क्रोध पापिष्ट बिबुधांतकारी॥

× × × ×

जीव भवदंघ्रि सेवक बिभीषण बसत मध्य दुष्टाटवी ग्रसित चिंता।
नियम जम सकल सुरलोक लोकेस लंकेस बस नाथ अत्यंत भीता॥

इसके अतिरिक्त श्रीगोस्वामिपादके हस्तलिखित मानस-बीजककी चतुर्थ प्रतिके अनुसार संवत् १९५३ में श्रीवेङ्कटेश्वर स्टीम प्रेससे जो मानस प्रकाशित हुआ है, उसके अन्तमें आरतीके पहले एक छप्पय है, जो श्रीतुलसीकृत ही है । उसमें भी श्रीमानसको साक्षात् रामरूप अर्थात् उनके लीला-विग्रहका अवतार सिद्ध किया गया है । यथा—

बालकांड प्रभु पाय, अयोध्या कटि मन मोहै ।
उदर बन्यो आरन्य, हृदय किष्किंधा सोहै ॥
सुंदर ग्रीव, मुखारबिंद लंका कहि गायो ।
जेहि महँ रावन आदि निसाचर सर्ब समायो ॥
उत्तर मस्तक मानि हरि, एहि बिधि तुलसीदास भन।
आदि अंत लों देखिऐ श्रीमन्मानस राम तन ॥

भगवान् शिवने भी इसे लीला-विग्रह मानकर ही वह स्थान दिया है, जहाँ उनके इष्टदेव श्रीरामजीके सिवा और किसीके लिये जगह ही नहीं है । यथा—

रचि महेस निज मानस राखा ।...................... ॥
तातें रामचरितमानस बर । धरेउ नाम हियँ हेरि हरषि हर ॥

यदि यह रामचरितमानस श्रीरामजीका लीला-विग्रह न होता तो इसको 'संकर मानस राजमराला'का स्थान कैसे मिलता, जब कि 'संकर हृद पुंडरीक निवसत हरि चंचरीक' (बिनयपत्रिका) तथा 'जय महेस मन मानस हंसा' (श्रीरामचरितमानस) आदि प्रमाणोंसे श्रीशङ्करजीके हृदयमें केवल श्रीरामजीके ही निवास करनेकी बात निश्चितरूपसे सिद्ध होती है ?

अतएव जब सब प्रकारसे सिद्ध हो जाता है कि श्रीरामचरितमानस श्रीरामजीके लीलावताररूपमें प्रकट है, तब जिस प्रकार त्रेताकालीन भाग्यवान् भक्तोंने—यथा विश्वामित्र, सुग्रीव, विभीषण आदिने प्रभुके रूपावतार-विग्रहकी शरणागतिद्वारा अधर्मियोंके अत्याचारसे अपने धर्मकी रक्षा की एवं कल्याण प्राप्त किया, उसी प्रकार इस कलिकालमें भी जो भाग्यशाली नर-नारी श्रद्धा, विश्वास और प्रीतिपूर्वक भगवान्‌के लीलावतार श्रीरामचरित-मानसरूप प्रकट विग्रहकी सच्ची शरणागति स्वीकार करेंगे, उनसे डंकेकी चोट यह कहा जा सकता है कि उन्हें कभी भी माया-कटकसे संघर्ष नहीं करना होगा, वे निश्चय ही दारुण अविद्याजनित पञ्चविकारोंसे मुक्त कर दिये जायँगे । इसका प्रमाण भी ग्रन्थके अन्तमें दिया गया है—

छं०—रघुबंस भूषन चरित यह नर कहहिं सुनहिं जे गावहीं ।
कलिमल मनोमल धोइ बिनु श्रम राम धाम सिधावहीं ॥
सत पंच चौपाईं मनोहर जानि जो नर उर धरै ।
दारुन अबिद्या पंच जनित बिकार श्रीरघुबर हरै ॥

उत्तरकाण्डके उपर्युक्त अन्तिम वचन बालकाण्डके उन आरम्भिक वाक्योंके सम्पुट हैं, जो भगवान् शङ्करके प्रसादके द्योतक हैं । यथा—

सुमिरि सिवा सिव पाइ पसाऊ । बरनउँ रामचरित चित चाऊ ॥
भनिति मोरि सिव कृपाँ बिभाती। ससि समाज मिलि मनहुँ सुराती

जो एहि कथहि सनेह समेता। कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता॥
होइहहिं राम चरन अनुरागी। कलिमल रहित सुमंगल भागी॥
दो०—सपनेहुँ साचेहुँ मोहि पर जौं हर गौरि पसाउ।
तौ फुर होउ जो कहेउँ सब भाषा भनिति प्रभाउ॥

अस्तु, पाठक महानुभाव! केवल श्रद्धा-विश्वासकी कसर है। नीचेके दोहेके 'जौं हर गौरि पसाउ' इन शब्दोंको और ऊपरकी चौपाईके 'सुमिरि सिवा सिव पाइ पसाऊ' इस वाक्यको मिलाइये और फिर विचार कीजिये! इससे अधिक लिखनेका प्रयोजन नहीं और न इसके लिये अवसर ही है। 'खाइ सोइ पै जानै!'

वैसे तो श्रीरामचरितमानस अपने महत्त्वसूचक वचनोंसे ठौर-ठौरपर भरा पड़ा है, वे महत्त्वसूचक वचन स्वयं ही पाठकर्ताओंको पाठ करते समय मिलेंगे। परन्तु बालकाण्डके आरम्भमें जो एक ही स्थानपर ५२ उपमाओंद्वारा श्रीमानसकी महिमा कही गयी है, जिनमें—

निज संदेह मोह भ्रम हरनी। करउँ कथा भव सरिता तरनी॥

—से लेकर—

राम कथा मंदाकिनी चित्रकूट चित चारु।
तुलसी सुभग सनेह बन सिय रघुबीर बिहारु॥

—तक २० उपमाएँ स्त्रीलिङ्गमें और—

रामचरित चिंतामनि चारू। संत सुमति तिय सुभग सिंगारू॥

—से लेकर—

रामचरित राकेस कर सरिस सुखद सब काहु।
सज्जन कुमुद चकोर चित हित बिसेषि बड़ लाहु॥

—तक ३२ उपमाएँ पुँल्लिङ्गमें हैं; उनको ध्यानपूर्वक पढ़ लेनेपर स्वयं पता चल जायगा कि मानस-पाठकको श्रीमानसके सिवा और कहीं भी जानेकी जरूरत नहीं है, वह प्रत्येक बड़े-से-बड़े लाभको श्रीमानसकी कृपासे प्राप्त कर सकेगा। अतः 'कल्याण' के प्रत्येक पाठक महानुभावसे यह 'दीन' भिक्षा माँग रहा है कि आप श्रीमानस-महिमाकी ओर श्रद्धा-विश्वासपूर्वक दृष्टिपात करें और उनसे अधिकाधिक लाभ उठावें। जो प्रेमी अभीतक श्रीमानसका नवाह्न-पाठ न कर सके हों, वे अभीसे उसका अभ्यास शुरू कर दें, ताकि आगामी चैत्रके नवरात्रमें सुविधापूर्वक एवं नियमतः श्रीमानसका नवाह्न-पारायण हो सके। ऐसा करके पाठकगण न केवल अपना अनन्त उपकार करेंगे, बल्कि उनके इस पुण्यकार्यसे समाज एवं देशका भी बड़ा भारी कल्याण होगा। उत्तम तो यह होगा कि जो महानुभाव आगामी चैत्र मासके नवरात्रमें श्रीमानसका नवाह्न-पारायण करनेका निश्चय कर लें, वे अपने उस पवित्र सङ्कल्पको अपनेहीतक सीमित न रक्खें, बल्कि अपने हित-मित्रों, कुटुम्बियों और मिलने-जुलनेवाले प्रेमियोंमें भी ऐसा सङ्कल्प पैदा करनेकी पूर्ण चेष्टा करें। ऐसा करनेसे ही सवा लाखके स्थानपर उससे भी अधिक संख्यामें श्रीमानसके पारायण हो सकेंगे। इसलिये प्रत्येक पाठक महानुभावसे हाथ जोड़कर प्रार्थना है। यह 'दीन' चाहता है कि गीताप्रेस, गोरखपुरमें 'नाम-जप-विभाग' की तरह 'मानस-पाठ-विभाग' भी खुल जाय तो प्रत्येक वर्ष उसके कार्य-कलापकी सूचना 'कल्याण' में प्रकाशित होती रहे। यह तभी होगा, जब पाठकगण अपनी-अपनी श्रीमानस-पाठ-संख्याको अपने नाम-पतेसहित गीताप्रेसमें भेजते रहेंगे। श्रीमानसजीके नाते निजत्ववश 'कल्याण' के पाठक महानुभावोंसे यह ढिठाई की जा रही है, अतएव पाठकगण कृपापूर्वक क्षमा करें।

श्रीमानस-महिमासम्बन्धी उपर्युक्त ५२ उपमाओंवाले प्रसङ्गके प्रत्येक पद तथा शब्दमें गूढ़ रहस्य भरे पड़े हैं, यह 'दीन' श्रीरामजीकी कृपासे कभी अवसर पाकर उनका भावार्थ लिखनेकी सेवा करेगा। इस समय यहीं विदाई ली जा रही है।

मन करि बिषय अनल बन जरई। होइ सुखी जो एहिं सर परई॥
भति हरिकृपा जाहि पर होई। पाउ देइ एहिं मारग सोई॥

सियावर रामचन्द्रकी जय!
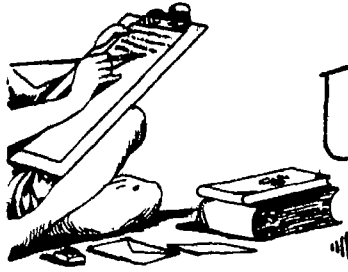
(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

तुमने लिखा कि वास्तवमें तो मुझे किसी बातकी चिन्ता नहीं होनी चाहिये, परन्तु मायाका प्रभाव इतना बलिष्ठ है कि उससे बलात् राग-द्वेष एवं सुख-दुःख हुए विना नहीं रहते, सो ठीक है। यह सब कुछ त्रिगुणात्मिका मायाका ही कार्य है। तुमने इससे बचनेका उपाय पूछा, सो भगवान्‌के प्रति निष्काम प्रेम तथा गुप्तभावसे उनके नामका निरन्तर ध्यानसहित जप ही प्रधान उपाय है। श्रीगीताजीमें यही बात लिखी गयी है —

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥
(७। १४)

अर्थात् हे अर्जुन! मेरी यह त्रिगुणमयी एवं अलौकिक योगमाया बड़ी दुस्तर है, परन्तु जो पुरुष मेरा निरन्तर भजन करते हैं, वे इस मायाका उल्लङ्घन करके संसार-सागरसे तर जाते हैं।

अतएव भाई! माया वास्तवमें अत्यन्त दुस्तर है, परन्तु साथ ही उसको पार करनेका उपाय भी भगवान्‌ने बता दिया है। भगवान्‌की शरण ग्रहण करनेके बाद उनकी माया दुस्तर नहीं रह जाती। यदि तब भी किसीके लिये दुस्तर रह जाय तो यह कहना चाहिये कि उस व्यक्तिने भगवान्‌का प्रभाव ही नहीं जाना। अतः विश्वासपूर्वक भली प्रकार भगवान्‌के नामकी शरण ग्रहण करनी चाहिये, फिर कोई चिन्ताकी बात नहीं। श्रीहरिके नामका प्रभाव सदा-सर्वदा है, परन्तु कलियुगमें विशेषरूपसे है और वह प्रकट ही है। इस समय यदि कोई हरिका नाम लिये विना उनकी मायासे पार पाना चाहे तो बड़ा कठिन है। श्रीगोस्वामीजीने कहा है—

हरिमाया कृत दोष गुन बिनु हरिभजन न जाहिं।
भजिअ राम सब काम तजि अस बिचारि मन माहिं॥

तुमने लिखा कि जबतक शरीरमें अहंता एवं संसारमें सत्ताकी भावना रहती है, तबतक अकारण ही मनुष्य अपने ऊपर किसी वस्तुका भार मान लेता है; सो ठीक है। तुम्हारा यह लिखना भी कि अन्तःकरण शुद्ध हुए विना इन सबको मिथ्या मानना असम्भव है, ठीक ही है। अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये ही शास्त्रोंमें भगवन्नामका जप, परमात्माका ध्यान, सत्सङ्ग, निष्काम कर्म आदि उपाय बताये गये हैं। दो-एक उपाय और भी लिखे जाते हैं, इनपर ध्यान देना चाहिये।

१—नाम-जपके समय शरीरसे पृथक् होकर, यह शरीर मेरा नहीं, यह शरीर मैं नहीं—इस प्रकारकी भावनाको दृढ़ करते रहनेसे एक दिन शरीरमें अहंभावका अभाव हो जाता है।

२—एक सच्चिदानन्द परमात्मा ही सर्वत्र व्याप्त हैं, उनके सिवा कहीं कुछ भी नहीं है—इस भावका विस्तार करके संसारको मिथ्या, स्वप्नवत् एवं कल्पित देखनेका अभ्यास करनेसे भी संसारकी सत्ता तथा शरीरके अहंभावका अभाव हो सकता है।

(२)

आपने लिखा कि भगवान्का भजन निरन्तर होने लगे, इसका अभ्यास जल्दी होना चाहिये; सो ठीक है। आपकी यह इच्छा बहुत ही उत्तम और प्रशंसा करनेयोग्य है। यदि इस प्रकारकी इच्छा तीव्र हो जाय तो भजनका निरन्तर अभ्यास होना कोई बड़ी बात नहीं।

आपने लिखा कि भजन-ध्यानमें भूलें बहुत होती हैं, सो ठीक है। संसारकी बातोंका अभ्यास बहुत दिनोंसे किया गया है, इसीलिये भजन-ध्यानमें भूलें होती हैं। यदि ये भूलें बर्दाश्त न हों तो वे आप-से-आप कम हो जायँगी। जबतक भगवान्में पूर्ण प्रेम नहीं है, तभीतक ये भूलें बनी हुई हैं। आपने भगवान्के चरणोंमें प्रेम होनेकी बात लिखी, सो मेरा भी यही लिखना है कि अवश्यमेव प्रेम होना चाहिये। यदि आपकी यह चाह बनी रही तो प्रेममें ढील होनेका कोई कारण नहीं दीखता। भगवान्का गुणानुवाद करने, बाँचने, सुनने और चेष्टापूर्वक भजन-ध्यानका तीव्र अभ्यास करनेसे हर समय भगवच्चिन्तन हो सकता है।

भगवान्के स्वरूपका ध्यान रहते हुए नाम-जप होने लगे, इसके लिये आपने उपाय पूछा; सो इसका उपाय भजन-ध्यान और सत्सङ्ग ही है। भजन-ध्यान और सत्सङ्गके अभ्याससे भगवान्का प्रभाव जाना जा सकता है और प्रभाव जान लेनेपर ही ध्यानसहित नाम-जप हो सकता है। इसलिये सबसे उत्तम भजन-ध्यान और सत्सङ्गको मानकर इनका अभ्यास करना चाहिये। पीछे आप-से-आप भगवान्का चिन्तन होने लगेगा।

आपने लिखा कि भजन-ध्यान करते समय भगवान्का ध्यान छूट जाता है और बलात् संसारका चिन्तन होने लगता है, सो ठीक है। संसारका चिन्तन सर्वनाश करनेवाला है। जो संसारका चिन्तन करते हुए मरेगा, उसको संसारकी तथा जो भगवान्का चिन्तन करते हुए मरेगा, उसको भगवान्की प्राप्ति होगी। यह भेद समझ लेनेपर संसारका चिन्तन कभी भी बर्दाश्त नहीं हो सकता और उसके बाद यदि पूर्वके अभ्यासके कारण संसारका चिन्तन होगा भी तो बहुत कम होगा। जिसको संसारके चिन्तनसे चोटकी तरह दर्द होगा, उसको तो आप-से-आप चेत हो जायगा। चोटको जितना सहन किया जायगा, उतनी ही चोट अधिक लगेगी। मतलब यह है कि आप जबतक संसारके चिन्तनको बर्दाश्त कर रहे हैं, तभीतक वह बना हुआ है।

आपने हर समय भगवान्का प्रेमपूर्वक स्मरण होनेका उपाय पूछा, सो ठीक है। जो हर समय भगवान्का स्मरण करेगा, उसको तो प्रेम होगा ही। इसलिये हर समय भगवान्का चिन्तन होते रहना चाहिये। समय बीता जा रहा है, इसलिये जल्दी ही निरन्तर चिन्तनके लिये कोशिश करनी चाहिये। हर समय चिन्तन होना ही उत्तम उपाय है। भगवान्के चिन्तनके सिवा और कुछ भले ही मत हो, उसके लिये चिन्ता नहीं करनी चाहिये। बीता हुआ समय फिर लौटकर नहीं आता, वह बहुत अनमोल है; इसलिये उसको अनमोल कार्यमें ही लगाना चाहिये। जो अपने अनमोल समयको अनमोल कार्य अर्थात् भजन-ध्यान और सत्सङ्गमें लगायेगा, उसको फिर कभी पछताना नहीं पड़ेगा। समयकी कीमत पहचान लेनेपर भजनमें ढील नहीं हो सकती।

(३)

आपने लिखा कि मैं आपको कोई कड़ा उपदेश लिखूँ, सो इस प्रकारकी बात नहीं लिखनी चाहिये। काम-काज करते हुए आपने ध्यान करनेकी बात पूछी, सो ठीक है। ध्यान दो प्रकारका होता है—एक भगवान्के

निर्गुण रूपका, दूसरा सगुण रूपका। निर्गुण रूपका ध्यान इस प्रकार करना चाहिये—

चलते-फिरते, उठते-बैठते अपनेको सर्वव्यापक परमात्मामें स्थित समझना चाहिये। इस संसारको मिथ्या मानना चाहिये तथा विनश्वर शरीरसे अलग होकर द्रष्टा एवं साक्षीरूपसे रहते हुए अपनेको सच्चिदानन्द परमात्माके ही स्वरूपमें लीन करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

यदि आपकी प्रीति भगवान्‌के सगुण रूपमें हो तो आप काम-काज करते हुए उनका ध्यान कर सकते हैं। उसकी प्रणाली यह है—

मान लीजिये आपको श्रीकृष्ण भगवान्‌का ध्यान करना है। उनकी मनोमोहिनी मूर्तिको सब जगह देखनेकी चेष्टा करते हुए काम-काज करना चाहिये। जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री अपने पतिदेवको सामने देखते हुए उनकी मर्जीके अनुसार काम करती है, उसी प्रकार वृन्दावनविहारी मोरमुकुटधारी भगवान् श्रीकृष्णकी माधुरी मूर्तिको अपने नेत्रोंके सामने देख-देखकर काम-काज करना चाहिये। जहाँ-जहाँ जिस-जिस वस्तुपर दृष्टि पड़े, वहाँ-वहाँ उस-उस वस्तुमें वासुदेव श्रीश्यामसुन्दरकी ही भावना करनी चाहिये और जहाँ-जहाँ मन जाय, वहाँ-वहाँ उसे उस स्थान अथवा वस्तुरूप आनन्दमय भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रमें ही लगाकर सांसारिक कर्म करते रहना चाहिये।

इस प्रकार जो पतिव्रता स्त्रीकी तरह अपने मनको पतिरूप भगवान्‌में रखते हुए संसारका काम करता है, उसकी साधना परिपक्व हो जाती है। उसको एकमात्र भगवान् श्रीकृष्णके सिवा और कुछ भी नहीं भासता। वह आनन्दमें इस प्रकार मग्न हो जाता है कि उसे अपने शरीरका भी होश नहीं रहता। उसकी दशा गोपियोंकी-सी हो जाती है और वह मुग्ध हो जाता है।

ऐसे भगवान्‌से दोस्ती करना छोड़कर जो संसारकी तुच्छ वस्तु स्त्री अथवा अपने शरीरका दास बना हुआ है, उनमें प्रेम करता है, वह मनुष्य नहीं, पशु है। इसलिये भाई! सावधान हो जाइये। संसारकी जितनी भी वस्तुएँ देखनेमें आती हैं, सब मिथ्या और नाशवान् हैं। उनसे प्रेम करना छोड़कर एकमात्र भगवान्‌से ही सच्चा प्रेम करना चाहिये। भगवान् प्रेमार्णव हैं, वे केवल प्रेम ही चाहते हैं।

(४)

संसारका मोह चाहे जितना प्रबल हो, उससे डरने अथवा निराश होनेकी कोई बात नहीं है। नारायणके नामका जप निरन्तर प्रेमसहित करते रहना चाहिये, यही आत्म-सुधार तथा कल्याण-साधनका सबसे सुन्दर और सरल मार्ग है। इसकी साधना करते रहनेसे अन्तमें निष्कामभावसे भी भजन-ध्यान होने लग सकता है। भगवान्‌के गुणानुवाद और प्रभावकी बातोंको सत्सङ्गद्वारा सुननेकी चेष्टा करनी चाहिये। पहलेके कुसंस्कारोंका चाहे जितना जोर हो, यदि नारायणके नामका निरन्तर जप होता रहे तो सब-के-सब कुसंस्कार नष्ट हो सकते हैं। भजनके बिना और कोई उपाय नहीं है, यहाँतक कि भजनके बिना भगवान् भी कुछ नहीं करते। यदि भजन न होता हो तो उसका कारण अपने प्रयत्न अथवा सत्सङ्गका अभाव ही समझना चाहिये। इसमें तो पुरुषार्थ और प्रेम ही प्रधान है। इस संसारमें पुरुषार्थ-हीन मनुष्यका उद्धार भगवान् भी नहीं करते। भजन न होनेका दूसरा कारण मिथ्या संसारका सङ्ग भी हो सकता है, जिसे आप ही दूर कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त भजन न होनेका और कोई कारण मेरी समझमें नहीं आता।

सत्सङ्ग सब जगह मिल सकता है, उसकी खोज होनी चाहिये। यदि सत्सङ्ग प्राप्त करनेकी प्रबल इच्छा हो और उसके लिये प्रबल चेष्टा की जाय तो वह अवश्य ही मिलेगा। हाँ, हाथ-पर-हाथ रखकर घरमें बैठे रहनेपर जब प्रारब्ध होगा, तभी सत्सङ्ग मिल सकता है, अन्यथा नहीं। इसलिये सत्सङ्ग प्राप्त करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

सांसारिक प्रेमके लिये कोई चिन्ताकी बात नहीं। भगवान्‌में प्रेम होनेपर संसारका प्रेम आप-से-आप कम

हो जायगा। संसारका प्रेम हटानेके लिये भगवत्प्रेमसे बढ़कर और कोई साधन नहीं है। अन्तःकरणकी शुद्धि भगवान्‌के भजन, उनके स्वरूपके ध्यान तथा सत्सङ्गसे ही हो सकती है। यदि निरन्तर गुप्त और निष्कामभावसे भगवान्‌के नामका जप और स्वरूपका ध्यान होता रहे तो उससे अन्तःकरण शुद्ध होनेकी बात कौन कहे, उस पुरुषका दर्शन करनेसे लोगोंके पाप नाश हो जायँ और उसके द्वारा कितनोंके अन्तःकरण शुद्ध हो जायँ। अधिक क्या लिखा जाय ? इस कलियुगमें भजनके बराबर और कोई भी साधन नहीं है। यदि इस बातपर आपको विश्वास हो तो आपको ऐसी ही चेष्टा करनी चाहिये, जिससे आपके द्वारा हर समय भजन ही होने लगे। जितने भी बड़े-बड़े भक्त हुए हैं, सब भजनके ही प्रतापसे कृतकार्य हुए हैं।

ग्यारह पालनीय नियम

१. गीताके अनुसार सात्त्विक जीवन बनाना।

२. भगवान्‌को हर समय याद रखते हुए निष्कामभावसे भगवत्प्रीत्यर्थ उत्साहपूर्वक काम करनेकी चेष्टा करना।

३. सबमें भगवान्‌को देखनेकी चेष्टा करना।

४. काम, क्रोध, लोभ, भय, विषाद, ईर्ष्या, द्वेष, मत्सर, वैर, हिंसा, असत्य, असूया, परनिन्दा, परदोषदर्शन—इन चौदह दोषोंसे बचना।

५. गरीबोंके साथ सहानुभूति रखना।

६. आपसमें खूब प्रेम बढ़ाना। जैसे अपने मनके प्रतिकूल होनेपर हमें दुःख होता है, उसी प्रकार दूसरोंके प्रतिकूल होनेपर उनको होता है; अतएव अपने प्रतिकूल भले ही हो जाय, दूसरेके प्रतिकूल-से बचाना चाहिये। ऐसा होगा, मनसे खयाल रक्खा जायगा, तो प्रेम बढ़ेगा।

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

'धर्मके सर्वस्वको सुनो, और सुनकर धारण करो; वह यह है कि जो अपने मनके प्रतिकूल हों, वैसी बातें दूसरोंके लिये न करो।' जैसे अपनेको अपमान, तिरस्कार, बात न मानना, शरीर-मनके आराममें बाधा पहुँचना आदि बुरा लगता है, वैसे ही दूसरोंको भी लगता है—यह समझकर किसीके साथ भी उन्हें प्रतिकूल लगे, ऐसा व्यवहार नहीं करना।

७. प्रेम बढ़ानेका एक उपाय है—सबको मान देना, स्वयं अमानी होना सच्चे मनसे। सबका हित चाहना और करना।

८. दूसरेके द्वारा अच्छे बर्तावकी बाट न देखकर पहलेसे ही अपने अच्छा बर्ताव करना।

९. भगवान्‌के नामकी कम-से-कम २५ माला—(होनी तो चाहिये कम-से-कम ६४) रोज जरूर फेरना नियमपूर्वक।

१०. अपनी भूलोंके लिये डायरी रखना।

११. रोज भगवान्‌की प्रार्थना करना।

भक्त-गाथा

लीलावती

(लेखक—पं० श्रीभुवनेश्वरनाथजी मिश्र, 'माधव', एम्० ए०)

> दोर्भ्यां दोर्भ्यां व्रजन्तं व्रजसदनजना-
> ह्वानतः प्रोल्लसन्तं
> मन्दं मन्दं हसन्तं मधुमधुरवचो
> मेति मेति ब्रुवन्तम्।
> गोपालीपाणितालीतरलितवलय-
> ध्वानमुग्धान्तरालं
> वन्दे तं देवमिन्दीवरविमलदल-
> श्यामलं नन्दबालम्॥

अभी-अभी वह घुटनोंके बल चलना सीख रहा है। नन्ही-नन्ही, प्यारी-प्यारी दो कोमल भुजाओंके सहारे जब वह यशोदाका लाड़ला लाल आँगनमें किलकारियाँ छोड़ते हुए चलता है तो देखनेवाले मन्त्रमुग्ध-से देखते ही रह जाते हैं। नँदरानी उसे अपनी गोदमें छिपा लेना चाहती हैं, परन्तु वह भला चुप बैठनेवाला है? कोई ग्वाल चुटकियाँ बजाकर उसे इधर बुलाता है, तो कोई ग्वालिनी तालियाँ बजाकर उसे उधर बुलाती है। वह प्रसन्न हो जाता है। मन्द-मन्द मुसकाता है, उस समय उसकी दो-दो दँतुलियाँ कितनी सुहावनी लगती हैं! मीठी-मीठी तोतली बोलीमें 'माँ', 'माँ' कहता है। कभी इधर चलता है कभी उधर, कभी इस ओर देखता है कभी उस ओर। कभी माँकी ओर झाँक लेता है। ताली बजा-बजाकर, चुटकियाँ बजा-बजाकर गोपियाँ उसे बुलाती हैं—ओ कन्हैया, ओ लल्ला, अरे भैया! इधर आ, इधर। तुम्हारी चुम्मियाँ लूँ, बलैया लूँ। ताली और चुटकीके साथ उनके कङ्कण भी तो बज उठते हैं। क्यों, ये कङ्कण क्यों बज उठते हैं? और फिर कन्हैयाका क्या पूछना। कङ्कणोंकी मधुर ध्वनिसे वह मन-ही-मन मुग्ध हो जाता है। बड़ा नटखट है न। शायद वह जानता है कि आज इनकी चुटकियोंपर मैं नाच रहा हूँ, कभी मेरी चुटकियोंपर ये नाचेंगी। और वह नाच ऐसा-वैसा नहीं होगा। वह जानता है कि आज इनके बुलानेपर मैं दौड़ा आ रहा हूँ, कभी बिना बुलाये ही ये मेरे प्रणयपाशमें आप-ही-आप बँध जानेके लिये तरसेंगी, ललकेंगी। आज वह नाच रहा है कभी नचानेके लिये। और कैसा है उसका सुन्दर रूप! निर्मल नील कमलके दलके समान कोमल, नील मणिकी तरह प्रकाशमान और नीले मेघके समान रसभरा वह श्यामसुन्दर, त्रिभुवनमोहन नन्दनन्दन! उसके प्यारे-प्यारे चरणोंको चूमनेको बरबस जी करता है। उन लाल-लाल तलवोंकी रजको आँखोंमें लगानेके लिये हृदय ललकता है!

आज एक ऐसे ही ललकते हुए हृदयकी तस्वीर हमारी नजरोंके सामने नाच उठी है। चन्दरनगरके पास एक छोटा-सा गाँव है मधुपुर। इसी गाँवमें लगभग दो सौ वर्ष पूर्व एक ब्राह्मण-दम्पति रहती थी, वास्तविक अर्थमें ब्राह्मण। नाम था नारायणकान्त और रत्नेश्वरी। गाँवमें एक संस्कृतपाठशाला थी, उसीमें नारायणकान्त अध्यापन-कार्य करते थे और यदृच्छासे जो कुछ प्राप्त हो जाता था, उसीमें पति-पत्नी सुखसे जीवन-यापन करते थे। आवश्यकताएँ कम थीं, जीवन सादा था। ब्राह्मणीने आँगनमें कपासके कुछ बिरवे लगा रक्खे थे। उनसे इतनी रूई हो जाती थी कि जिससे सूत कातकर ब्राह्मणी गाँवभरके अपने यजमानोंके लिये यज्ञोपवीत तैयार कर लेती थी। यही ब्राह्मणीका मनोरञ्जन भी था। ब्राह्मणदेवता जब पाठशाला जाते तो ब्राह्मणी चरखा लेकर बैठ जाती। चरखेसे उधर दूधकी पतली धाराकी तरह सफ़ेद सूत निकलता और इधर ब्राह्मणी मन-ही-मन गुनगुनाती—

> **मेरो मन रामहि राम रटै रे।**
> **राम नाम जप कीजै मनुआँ, कोटिक पाप कटै रे॥**

सन्ध्या-समय नारायणकान्त जब पाठशालासे लौटते तो रत्नेश्वरी लपककर उनके पास जाती, उनकी चादर और पोथी सँभाल लेती, दौड़कर जल लाती और उनके पैर धोकर आँचलसे पोंछ देती। इस कार्यमें उसे बड़ा सुख मिलता था। दिनभरके एकाकीपनको वह इस क्षणकी प्रतीक्षा और लालसामें सुखसे सह लेती। ब्राह्मणीको यदि दुःख था तो बस, एक बातका। वह यह कि उन्हें कोई सन्तान न थी। दाम्पत्य-जीवन व्यतीत करते उन्हें कई वर्ष हो चुके थे। ब्राह्मणको अपने जीवनसे पूर्णतः सन्तोष था, क्योंकि वे भगवान्‌के विधानमें ही अपना परम मङ्गल मानते थे। ब्राह्मणीको भी अपने जीवनसे खीझ या वितृष्णा तो नहीं थी, परन्तु हृदयके एक कोनेमें उदासीकी छाया अवश्य थी। वह सन्ध्या-समय तुलसी-चौतरेपर जब घीका दीपक जलाने जाती तो प्रायः नित्य मन-ही-मन तुलसीके चरणोंमें अपना विषाद निवेदित करती। सोचती, कितना सुन्दर होता यदि हमें एक सन्तान होती। दिनभर मैं उसके साथ खेलती, शामको जब मैं तुलसी महारानीको दीप दिखाने आती तो वह पीछेसे मेरे अञ्चलका छोर पकड़े-पकड़े आता, माँ-माँ पुकारता और मैं उसे देखकर, उसे खिलाकर, उसके साथ खेलकर सुखी हो जाती। नारायणकान्तको स्वप्नमें भी अपने किसी अभावका स्मरण नहीं होता। वह सब प्रकार सुखी और निश्चिन्त थे। ब्राह्मणका परमधन सन्तोष है, यह उनके पास प्रचुर मात्रामें था।

परन्तु ब्राह्मणीके हृदयकी उदासी अब हाहाकारके रूपमें पलटती गयी। एक दिन उसने बरबस अपने पतिसे प्रस्ताव कर ही दिया कि किसी साधु-फकीरसे तदवीर पूछनी चाहिये, जिसमें कोई सन्तान हो; नहीं तो हम दोनोंकी उम्र ढलती जा रही है। ब्राह्मणने उसकी बात सुनी-अनसुनी कर दी; कहा कैसी पगली हो! कहीं साधु-फकीर सन्तान देते हैं? देनेवाले तो एकमात्र प्रभु श्रीहरि हैं। इसलिये धैर्य धारणकर उनकी इच्छामें सुख मानो। उन मङ्गलमयकी समस्त इच्छाओं और क्रियाओंमें हमारा परम मङ्गल भरा है। उनके प्रति कभी मन मैला न करो। लेकिन ब्राह्मणीको इन बातोंसे शान्ति नहीं मिली। उसने तुरत ही प्रेमभरे शब्दोंमें कहा, अच्छा तो फिर उसी प्रभु श्रीहरिके चरणोंमें ही क्यों न हम अपनी विनय सुनावें। सुनती हूँ वे सबकी सुनते हैं। इस गाँवकी कई औरतोंने कहा है कि श्रीवैद्यनाथधाममें रहकर जो अनुष्ठान करता है, उसे या तो सन्तानका वरदान मिलता है या स्वप्न हो जाता है कि तुम्हें इस जन्ममें सन्तान नहीं होगी। ब्राह्मणीका हठ कारगर हो गया। ब्राह्मणदेवताने यह स्वीकार कर लिया कि श्रीवैद्यनाथधाममें चलकर तपस्या की जाय।

वे दिन रेल, मोटर या वायुयानके नहीं थे। सैकड़ों मीलका लम्बा रास्ता पाँव-पयादे तै करना था। सुतरां चन्दरनगरसे वैद्यनाथधाम पहुँचते ब्राह्मण-दम्पतिको लगभग तीन महीने लग गये। श्रीवैद्यनाथधाम पहुँचकर भगवान् वैद्यनाथके मन्दिरके पास ही ये लोग ठहरे। तपस्या शुरू हुई। चौबीस घण्टेमें बस, एक बार दोपहरको वे थोड़ा-सा दूध और फल लेते। नारायणकान्त श्रीगोपालसहस्रनामके पाठ करते और रत्नेश्वरी ध्यानसे सुनती। यह क्रम पूरे पाँच सप्ताह चला। पाँचवें सप्ताहकी समाप्तिपर इन लोगोंने यथाशक्ति हवन तथा ब्राह्मण-भोजन कराया। रातको इन्हें स्वप्न हुआ कि अब तुमलोग घर लौट जाओ। आजके ग्यारहवें महीने तुम्हारे घर एक बहुत ही सुन्दर सुयोग्य धर्मशीला कन्या होगी। वह मैके और ससुराल दोनों ही कुलोंके लिये धर्मज्योति होगी। दूसरे दिन जागनेपर नारायणकान्त और रत्नेश्वरीके हृदयमें स्वप्नवाली बातसे आशाकी अमरवल्लरी लहलहा उठी थी। उन्होंने आनन्दके उल्लासमें मधुपुरकी ओर प्रयाण किया।

समय पाकर रत्नेश्वरीकी कोखसे एक कन्या उत्पन्न हुई। देवताके प्रसादस्वरूप इस कन्याके जन्म-समय गाँवभरमें खूब आनन्द-बधाइयाँ मनायी गयीं। नाम

रक्खा गया लीलावती । लीलावती लीलावती ही थी । बचपनमें ही उसमें कई विलक्षण गुण पाये गये । रोती बहुत कम थी । ब्राह्मणदेवता सायं-प्रातः जब पूजामें बैठे होते तो वह चुपचाप उनके शालग्रामजीको निहारा करती । सायंसमय जब माँ तुलसी महारानीको दीप दिखाने जाती तो वह भी घुटनोंके बल तुलसी-चौतरेतक पहुँच जाती और माँके आँचलका छोर पकड़कर लड़खड़ाती हुई खड़ी हो जाती । माँ प्यारसे उसे गोदमें उठा लेती, उसीके हाथ दीप रखाती और उसका मस्तक तुलसीके चौतरेपर झुकाकर मातासे यह आशीर्वाद माँगती कि यह अच्छे घर पड़े और इसे सुन्दर निर्मल बुद्धि प्राप्त हो ।

धीरे-धीरे लीलावती सयानी हुई, घरमें शालग्रामकी उपासना थी । स्नान-सन्ध्यासे निश्चिन्त होकर पिता पूजामें बैठते । लीलावती फूल चुन लाती । माला गूँथ लेती और माला लेकर पिताके पास पहुँचती । नारायणकान्त नित्य नियमपूर्वक श्रीविष्णुसहस्रनामका पाठ करते थे । लीलावती बैठे-बैठे ध्यानसे सुनती । अनुष्टुप्छन्दके सीधे-सादे कई श्लोक उसे कण्ठस्थ हो गये । परन्तु सबसे प्यारी और मीठी तो उसे लगती थी माँकी प्रातःकालीन नाम-धुन । ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर माँ उसे अपनी गोदमें सुला लेती और बड़े ही मधुर स्वरसे श्रीहरिके नामोंका गायन करती—

हरे राम, हरे राम, हरे राम हरे । भज मन निशिदिन प्यारे ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥
नारायण नारायण जय गोविन्द हरे ।
नारायण नारायण जय गोपाल हरे ॥
राधाकृष्ण जय कुञ्जविहारी । मुरलीधर गोवर्धनधारी ॥
श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे । हे नाथ नारायण वासुदेव ॥
राजा राम राम राम, सीता राम राम राम ॥
जय राम जय राम जय जय राम ।
श्रीराम जय राम जय जय राम ॥

बाल-बच्चोंके लिये जमीन-जायदाद रख जानेवाले माँ-बाप कितने नहीं हैं ? दुर्लभ तो हैं वे जो अपनी सन्ततिके लिये भगवद्भक्तिकी सम्पत्ति छोड़ जाते हैं । नारायणकान्त तथा रत्नेश्वरीके प्यारमें भगवद्भक्ति लबालब भरी थी और इसी कारण लीलावतीकी जीवन-धारा भी सहज ही भक्तिकी ओर मुड़ती गयी । समय पाकर उसका विवाह हुआ और सौभाग्यसे उसे एक सुसम्पन्न परिवार मिला । कन्याको ससुराल भेजते समय माँका हृदय किस गम्भीर व्यथासे भर जाता है, यह माताका ही हृदय जानता है । शकुन्तला जब दुष्यन्तके घर जाने लगी थी तो तपोधन कण्वका हृदय भी छलछला आया था । उसी प्रकार आज नारायणकान्त और रत्नेश्वरीके हृदयमें अपार व्यथा थी । उसका घर फिर सूना हो जायगा, यह सोचते ही माँ विलखने लगती; परन्तु तुरत फिर स्मरण हो आता—बेटी तो दूसरेही-के घरकी शोभा है । आज मेरी लीला पतिके घर जा रही है । मैं इसे जाती देख दुःख क्यों मानूँ ! अन्तमें बिदाके समय माताने उसे हृदयसे लगाया, पिताने अशेष आशीर्वाद और प्यारकी वर्षा की ।

× × ×

मगर, वाह रे दुनिया ! बड़े-बड़े तुम्हारी चपेटमें आ जाते हैं । कितना भी सयाना क्यों न हो, काजल-की कोठरीमें जाते ही एक-न-एक लीक तो लग ही जायगी । कोई विरला ही इस काजलकी कोठरीसे बेदाग निकल पाता है । कोई कहीं अटक जाता है, कोई कहीं । कञ्चनकी परिधि तोड़ो तो कामिनीका जाल बिछा हुआ है, इस जालको भी काटो तो कीर्तिकी विषवल्लरी अपनी छायामें बुलाने लगती है । ससुरालमें आनेके बाद लीलावतीपर यह दुनियाका नशा इस प्रकार छा गया कि वह पहलेके संस्कारोंको एक प्रकार सर्वथा भुला बैठी । पतिदेव राजपुरोहित थे । घरमें लक्ष्मीका विलास था । किसी बातकी कमी थी नहीं । दास-दासियाँ सेवा-शुश्रूषाके लिये थीं । लीलावती भोगके इन प्रलोभनोंके सामने झुक गयी, झुक ही गयी ! बड़ा कठिन है इन प्रलोभनोंको जीतना ।

पाँच-सात वर्षके भीतर दो सन्तान भी हो गयीं—गोपालकृष्ण और कालिन्दी। बस, पतिके भोग-विलासका साधन जुटाना और बच्चोंको सुखमें भुलाये रखना—इसके सिवा लीलावतीके लिये अब कोई कार्य नहीं रह गया। देरतक सोती रहती, घरका सारा काम-धंधा दास-दासियोंपर छोड़े रहती। पतिदेव भी उसके इशारेपर नाचनेवाले जीव थे। वह जो कहती, वे वही करते। जो भौंरा सूखे काठको स्वयं कुरेद डालता है, वह कोमल कमलके बीचमें आकर प्रीतिकी रीतिमें लग जाता है। केसरको जरा भी धक्का नहीं लगने देता।

इन्द्रियोंका नियमन नहीं, मुखमें नाम नहीं—ऐसा जीवन तो भोजनके साथ मक्खी निगल जाना है। ऐसे भोजनसे भला, कहीं सुख मिल सकता है? और बड़ी विचित्र बात तो यह है कि जगत्के भोग-विलासमें डूबे हुए लोग भी अपनेको सुखी नहीं मानते; उनके भीतर अभावकी भट्टी सदा जला करती है। 'यह है तो वह नहीं' बना ही रहता है। आज कुछ, कल कुछ। कारण, यह जीव जगत्के विलासोंसे तृप्त हो नहीं सकता, हो नहीं सकता। भीतरका हंस परमहंस बननेके लिये व्याकुल है; वह जगत्के गंदे पदार्थोंमें रम नहीं सकता, बँध नहीं सकता। इसीलिये तो हम जीवनके प्रत्येक पगपर जगत्के भोग-विलासोंमें डूबे हुए भी अपनेको दुखी और अभावग्रस्त पाते हैं। हमारा अभाव, हमारा एकाकीपन प्रभुको पाये विना मिट नहीं सकता। उसी साजनके लिये अन्तरका सारा कोलाहल है, एक उसीके लिये हृदयमें कलक है। परन्तु इस बातको मनुष्य तबतक नहीं समझता, जबतक वह अच्छी तरह ठोकरें नहीं खा लेता। लीलावती दुनियाके राग-रंगमें बेसुध बही जा रही थी, बिलकुल बेसुध। यकायक एक दिन उसकी कालिन्दीको हैजा हुआ। गोपालकृष्ण भी हैजेकी पकड़में आ गया। दोनोंके ही प्राण अब-तब थे। लीलावती निरुपाय रो रही थी। कोई भी दवा-दर्पण काम नहीं दे रहा था। आधी रात हुई। लीलावती अपने बच्चोंकी खाटके पास बैठी हुई आँसू बहा रही है। एक-एक क्षण गिन रही है। मनुष्य दुःखोंसे घिरकर जब चारों ओरसे असहाय हो जाता है तो स्वभावतः ही उसे भगवान्की याद आती है। बड़े-बड़े नास्तिक भी ऐसे समय 'हे प्रभो! हे भगवन्!' पुकार उठते हैं। आज लीलावती भी दुःखोंसे घिरकर तथा चारों ओरसे निरुपाय हो प्रभुको कातर स्वरमें पुकार रही है; रोती जा रही है और प्रभुको पुकारती जा रही है। 'हाय! सुखोंमें मैं तुम्हें भुला बैठी थी। आज दुःखोंने चारों ओरसे जब घेर लिया है तो तुम्हारी ही यादका एकमात्र सहारा रह गया है। हे प्रभो! मेरे इन बच्चोंको बचा लो।' लीलावतीकी प्रार्थना विफल नहीं गयी। प्रार्थनामें एक अद्भुत, दिव्य शक्ति है। सच्ची प्रार्थनामें प्रभुका स्पर्श मिलता ही है।

भगवान् भक्तको गृह-प्रपञ्च करने ही नहीं देते। सब झंझटोंसे अलग रखते हैं। यदि उसे वैभवशाली बनावें तो गर्व उसे धर दबावेगा। गुणवती स्त्री यदि उसे दें तो उसीमें उसकी आशा लगी रहेगी। इसलिये कर्कशा उसके पीछे लगा देते हैं। और उनकी विरद ही यह है कि जिसे एक बार भी अपना लेते हैं, जिसकी बाँह पकड़ लेते हैं, उसे एक क्षणके लिये भी छोड़ते नहीं। वे ऊँच-नीच नहीं देखा करते। भक्ति जहाँ देखते हैं, वहीं ठहर जाते हैं। दासीपुत्र विदुरके यहाँ उन्होंने केलेके छिल्के खाये, दैत्यके यहाँ प्रकट होकर प्रह्लादकी रक्षा की। रैदासके साथ वे चमड़ा रँगा करते थे और कबीरसे छिपकर उनके वस्त्र बुन दिया करते थे। धर्माके घर पानी भरते थे और नरहरि सोनारके साथ सुनारी करते थे। जनाके साथ गोबर बटोरते थे और नामाके साथ निःसङ्कोच होकर भोजन करते थे। एकनाथके घर श्रीखंड्या बनकर चौका-बर्तन करते थे और ज्ञानदेवकी भीत

खींचते थे। ईश्वर अपने भक्तसे बार-बार यही कहता है कि तू दुनियासे विमुख होकर मेरी ओर आ। विना मेरी ओर आये तुझे सच्ची शान्ति और सुख नहीं मिलेगी, कबतक तू मुझसे भागता फिरेगा, कबतक मुझसे विमुख रहेगा? और जिस क्षण भक्त प्रभुका सर्वभावसे आश्रय ले लेता है, उसी क्षण परमेश्वर उसकी रक्षा, योग-क्षेमका सारा भार अपने ऊपर ले लेते हैं।

लीलावतीको अपने गत जीवनपर घोर अनुताप हुआ। इतने दिन विस्मरणमें बीते—यह सोच-सोचकर वह धाड़ मारकर रोती और छाती पीटती। सच्चा अनुताप ही जीवनको निर्मल बनानेका एकमात्र अमोघ साधन है। इस अनुतापसे बढ़कर हृदयके लिये क्या सहारा है? जगत्के प्रलोभन और आकर्षणकी मदिरा पीकर मदमत्त जीव जब बेसुध हो जाता है तो दुःखोंकी प्यारभरी मारसे प्रभु उसे होशमें लाते हैं और अनुतापके तीर्थमें नहला देते हैं। अनुताप करते हुए जीव कहता है, 'मैं तो अनाथ हूँ, अपराधी हूँ, कर्महीन हूँ, मन्दमति और जडबुद्धि हूँ। हे कृपानिधे! हे मेरे माता-पिता! अपनी वाणीसे मैंने तुम्हें कभी याद नहीं किया। तुम्हारा गुणगान भी न सुना, न गाया। अपना हित छोड़ विषयव्यामोहमें मारा-मारा फिरा। संतोंका सङ्ग मुझे कभी अच्छा नहीं लगा। दूसरोंको पीड़ा पहुँचानेमें कभी दया नहीं आयी। केवल इस पिण्डके पालनमें रात-दिन एक किये रहा। कुछ समझ नहीं पड़ता क्या बोलूँ, क्या याद करूँ। मैंने अपना आप ही सत्यानाश किया, मैं अपना आप ही बदला लेनेवाला वैरी बना। हे भगवन्! तुम दयाके निधान हो, मुझे इस भवसागरके पार उतारो।' इस अनुतापके तीर्थ-सलिलमें स्नान कर चुकनेपर जीवका सारा नशा उतर जाता है और उसकी सारी चिन्ता प्रभुके चरणोंमें निवेदित हो जाती है।

आजका प्रभात लीलावतीके लिये वस्तुतः जीवन-प्रभात था। उसने सबेरे-ही-सबेरे देखा एक अलमस्त फकीर अपने तंबूरेपर गाता हुआ निकला जा रहा है—

राम कहत चलु, राम कहत चलु, राम कहत चलु भाई रे!
नाहिं तो भव बेगारीमें परचे, छूटत अति कठिनाई रे॥

सचमुच यह 'भव-बेगारी' बड़ी बुरी बला है। संसार जब बेगारीमें पकड़ लेता है तो जल्दी छोड़ता नहीं, प्राण ले लेता है, आखिरी साँसतक बेगार लिये जाता है। रीछनीकी तरह गुदगुदाकर प्राण ले लेता है। इससे पिण्ड छुड़ानेका बस, एकमात्र साधन है राम-नाम—

श्रीराम जय राम जय जय राम।
श्रीराम जय राम जय जय राम!

लीलावतीकी आँखें अब खुल चुकी थीं, अन्तरकी आँखें। बाहरका सारा खेल बाहरकी आँखें देखती हैं और भीतरकी लीला भीतरकी आँखें। जिसे भीतरकी ओर देखनेका चसका लग जाता है, वह बाहरके इन बनते-मिटते चित्रोंसे आँखें फेर लेता है। और सच्चा देखना तो वही है। लीलावतीके पुराने संस्कार जागृत हो आये—पिताका श्रीविष्णुसहस्रनामका पाठ और माताकी नारायण-नारायणकी नाम-धुन—सब एक-एक कर जाग उठे—ठीक जैसे मेघोंका आवरण हटाकर सूर्य्य झाँकने लगता है। अन्तस्तलमें जब सूर्यनारायणका उदय हो जाता है तो फिर जन्म-जन्मान्तरोंका सञ्चित अन्धकार सदाके लिये भाग जाता है। लीलावतीने भगवान् श्रीबालकृष्णकी एक स्वर्ण-प्रतिमा बनवाकर प्राण-प्रतिष्ठा करायी। प्रातःकाल बहुत तड़के वह स्नानादिसे निश्चिन्त हो भगवान्को स्नान कराती और फिर षोडशोपचारसे पूजन करती। पतिकी सेवामें, बच्चोंके लालन-पालनमें कहीं कोई शिथिलता नहीं आयी—हाँ, इन सबकी गति प्रभुके चरणोंकी ओर मुड़ गयी। अब वह भोजन बनाती तो इस उत्साहसे कि प्रभुको भोग लगाना है। वह सारा कार्य पहलेसे अधिक मनोयोग और उल्लाससे करती; हाँ उन समस्त कर्मोंका केन्द्र अब स्वयं श्रीभगवान् थे, जगत् नहीं था। यही तो करना पड़ता है। कर्म तो करने ही पड़ते हैं, कर्मोंसे मुक्ति कहाँ है? हो ही कैसे सकती है? जगत्के विषय-प्रपञ्चमें उलझे जीव जगत्के केन्द्रमें

कोल्हूके बैलकी तरह चक्कर लगाते ही रह जाते हैं, परन्तु भव-बन्धनसे वियुक्त जीव इन समस्त कर्मोंको तथा उनके फल-परिणामको प्रभु श्रीहरिके चरणोंमें निवेदित कर उनके आशीर्वाद-प्रसादका आनन्द लाभ करते हैं। विषयी और मुक्तमें यही अन्तर है।

लीलावती अपना सम्पूर्ण कार्य करती, बड़े ही उल्लाससे करती। पतिकी सेवा, बच्चोंकी सँभाल—कहीं किसी बातमें उससे अब चूक नहीं होती। और यह सब कुछ होता श्रीहरिके प्रीत्यर्थ। पहलेकी अपेक्षा एक ही बातमें अब अन्तर हो गया था—वह था भगवान्‌के नाम-स्मरणका चसका। श्रीविष्णुसहस्रनामका पाठ तो किया ही करती थी, पर इससे भी अधिक उसने यह किया कि अखण्ड नाम-स्मरणका चसका लगा लिया। यही उसका साधन-सर्वस्व था। नाम-स्मरणका चसका लगना है बड़ा ही कठिन; पर एक बार जहाँ यह चसका लगा वहाँ फिर एक पल भी नामसे खाली नहीं जाता। नाम-स्मरण यह है कि चित्तमें रूपका ध्यान हो और मुखमें नामका जप हो। अन्तःकरणमें ध्यान जमता जाय, ध्यानमें चित्त रँगता जाय, चित्तकी तन्मयता हो जाय। यही वाणीमें नामके बैठ जानेका लक्षण है। चित्तमें ध्यान न हो तो न सही, पर वाणीमें तो हो—यह नामस्मरणकी पहली सीढ़ी है। फिर वाणीको नामका चसका स्वयं लग जाता है। नामका रस एक बार जब अच्छी तरह मिल जाता है तो फिर छुड़ाये भी नहीं छूटता। यही नामका स्वारस्य है।

लीलावतीकी स्थिति धीरे-धीरे प्रगाढ़ होती गयी। वाणीमें नाम और चित्तमें रूप अच्छी तरह उतर आया था। उसके हृदयके आँगनमें वही श्रीबालकृष्ण अहर्निश किलकता रहता था। कभी चाँद-खिलौनाके लिये बढ़ता था तो कभी स्तन-पानके लिये। माँ भीतर-ही-भीतर कभी उसकी चुम्मियाँ लेती, कभी उसकी काली लटें सुलझाती और चोटी गूँथती। अंदर-ही-अंदर उसकी सेवा-परिचर्यामें, उसीके लाड़-प्यारमें लगी रहती—इतना अधिक कि बाहरके कार्य-भार धीरे-धीरे शिथिल होते गये। लड़के-लड़कियाँ सयानी हो चुकी थीं। जगत्‌के समस्त दायित्वसे वह मुक्त हो चुकी थी। पतिदेव भी उसकी इस प्रगाढ़ भक्तिसे अपनेको कृत-कृत्य मानते थे। लीलाकी उत्कट साधनाके कारण समस्त परिवारमें, समस्त वातावरणमें भगवद्भक्तिकी सुगन्ध भर रही थी।

देवोत्थान एकादशीकी रात थी। घरमें प्रभु श्रीबालकृष्ण-की झाँकी सजायी गयी थी। आधीराततक सबने जागरण किया, फिर चरणामृत बँटा। लीलावतीके हृदयमें आज कुछ अजीब तरहकी लहरें उठ रही थीं। उसने कन्हैयाको हृदयमें जकड़ रक्खा था और यह ठान लिया था कि आज उसे अपना स्तन-पान कराऊँगी ही। धीरे-धीरे वह क्या देखती है कि बालकृष्णकी सुवर्ण-प्रतिमा, जो आज अनुपम ढंगसे सजायी गयी है, किलकारियाँ छोड़ने लगी है। लीलावतीके स्तनोंमें दूध उमड़ आया है वात्सल्य-प्यारके उभारमें। दूध उमड़ा और उसके वक्षःस्थलको भिगोने लगा। फिर क्या देखती है कि वह यशोदाका लाल माँ लीलावतीका स्तन पान करनेके लिये आगे बढ़ता है। वह बरबस दौड़कर उसे छातीसे चिपटा लेती है और स्तनपान कराती है। मातृस्तनमें मुँह लगाते ही माताकी छातीमें दूध भर आता है। माँ-बच्चे दोनों ही लाड़ लड़ाते हुए एक-दूसरेकी इच्छा पूरी करते हैं।

दूसरे दिन प्रातःकाल पूजाघरका द्वार जब खोला गया तो देखा गया कि लीलावती भगवान् श्रीबालकृष्ण-की मूर्तिको गोदमें चिपटाये बेहोश पड़ी है—सदाके लिये बेहोश। वह बेहोशी जो होशकी चरम सीमा है और जिसे पाकर फिर इस दुनियाकी होश और होशियारीसे सदाके लिये पल्ला छुट जाता है। उसी बेहोशीमें लीलाने सदाके लिये गोता लगा लिया।

बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय!

एकादशी-व्रतोपवास

(लेखक—श्रीअविनाशचन्द्र लाहिड़ी)

भारतवर्षमें बहुतेरे हिन्दू नर-नारी, विशेषतः स्वल्प संख्यामें ब्राह्मण और अधिकांशमें विधवाएँ आजतक एकादशीका व्रतोपवास करती आ रही हैं। परन्तु यह व्रतोपवास क्यों और कबसे किया जा रहा है तथा यह तिथि क्यों इतनी पवित्र है—इस सम्बन्धमें, दुःखकी बात है कि, व्रत करनेवालोंमें बहुत-से कुछ भी नहीं जानते। अधिकांश ब्राह्मण, पण्डित, गुरु तथा पुरोहित स्मृतियोंके दो-चार श्लोक या प्रमाण उद्धृत कर एकादशीके नित्यत्व तथा अन्नग्रहण-निषेधका उपदेश करते हैं और बतलाते हैं कि दशमीसंयुक्त एकादशीको व्रतोपवास नहीं करना चाहिये; तथा असमर्थके लिये हविष्य और फल-मूल-भोजन-का गौण विधान करके उसके माहात्म्यका लोप करते हैं। बहुतेरे वैष्णव एकादशीको हरिवासर (विष्णु-दिवस) कहकर पवित्र दिन या अनध्याय (Holiday) मानते हैं, अथवा श्रीविष्णु भगवान्‌के प्रीत्यर्थ इस व्रतोपवासका विधान करते हैं तथा अपने स्मृतिग्रन्थ श्रीश्रीहरिभक्तिविलासके कुछ श्लोकोंको पढ़कर और यह निर्देश करके कि परम्परासे द्वादशीसंयुक्त एकादशीका व्रतोपवास महाजनोंद्वारा अनुष्ठित हुआ है, अतएव सबको ऐसा ही करना चाहिये—यह निश्चय करते हैं। कोई ज्यौतिषशास्त्रकी दुहाई देकर चन्द्र-कलाकी ह्रास-वृद्धिके साथ मनुष्यके स्वास्थ्य और गतिके सम्बन्धका उल्लेख करते हैं तथा बहुतेरे आधुनिक विचार-वाले कहते हैं कि आयुर्वेदके मतसे बीच-बीचमें उपवासके द्वारा पेटको विश्राम देनेसे शरीर स्वस्थ रहता है। परन्तु इन सबके अतिरिक्त इसके साथ जिन-जिन प्रसिद्ध भगवान्‌-की लीलाओंका सम्बन्ध है, वे आर्य ऋषिगणके द्वारा प्रणीत धर्मग्रन्थ, इतिहास (महाभारतादि) और पुराणादिमें लिपिबद्ध हैं। बहुतोंको इनका (जातीय शिक्षाके अभावमें) ज्ञान न होनेके कारण भारतव्यापी इस प्रधान व्रतका मूलस्रोत (origin) क्रमशः मृतप्राय और विस्मृत हो गया तथा यह केवल निर्जीव प्रथाके रूपमें चलती रही। यह एकादशीका उपवास शाक्त, वैष्णव, शैव, गाणपत्य प्रभृति सभी हिन्दू-सम्प्रदायोंके द्वारा मान्य है। परन्तु इस व्रतका पालन करते हुए भी बहुतोंको यह ज्ञात नहीं कि इस व्रतकी अधिष्ठात्री देवी एकादशी देवी हैं तथा अधिष्ठातृ देवता श्रीविष्णु हैं। यह कितने दुःखकी बात है। धर्मशास्त्रोंके पढ़नेसे ज्ञात होता है कि प्रत्येक व्रतके देवता होते हैं और उनका ज्ञान प्राप्तकर पूजादि करना आवश्यक है।

> परिचीय पुरा देवं ततः पूजापरो भवेत्।
> देवे परिचयो नास्ति यद् पूजा कथं भवेत्॥

पूजाविधिके लिये—

'गणेशादीन् नवग्रहांश्चैव पूजयेत्, ततो व्रतदेवतां पूजयेत्'—

ऐसा व्रततत्त्वमें लिखा है।

जो लोग पुरीधामके श्रीश्रीजगन्नाथजीके मन्दिरमें और श्रीद्वारकाधाममें गये हैं, उन्होंने सम्भवतः एकादशी देवीका दर्शन किया होगा और उन्हें विष्णुकन्याके नामसे सुना होगा। मुंगेर जिलेमें इस देवीकी काले पत्थरकी प्राचीन मूर्ति है तथा बंग देशमें भी त्रिपुरा जिलेमें ब्राह्मणबाड़ियाके अधीन नाटघर ग्रामके शिवमन्दिरमें भी इस देवीकी काले पत्थरकी मूर्ति वर्तमान है और उसकी पूजादि होती है। तथापि देशके दुर्भाग्यसे बहुतोंको इस एकादशी देवीकी कथा और नामतकका भी ज्ञान नहीं। इनकी लीलाके विषयमें कोई खोज नहीं करना चाहता। जब भारतवर्ष स्वाधीन था, तब इस देवीकी और तिथिकी पवित्रताके तथा महोत्सवादिके सम्बन्धमें सबको जानकारी थी। तन्त्रों, पुराणों और महाभारतमें इस देवीके और तिथिके माहात्म्यके विषयमें बहुत बातें मिलती हैं। अब अनेकों कारणोंसे धर्मकी अवनति होनेके कारण तथाकथित अंग्रेजी शिक्षाके पुजारी—यही क्यों, ब्राह्मण पण्डित भी धर्मके विषयमें जिज्ञासु होना अनावश्यक समझते हैं। इस प्रकारकी अज्ञानताके कारण ही हिन्दुओंमें नाना प्रकारकी सम्प्रदाय-सृष्टिके साथ-साथ कलह-विवाद बढ़ते जा रहे हैं।

वेद हिन्दुओंका, आर्य जातिका प्राण है। वेद-वाणीकी अवज्ञा कोई हिन्दू नहीं कर सकता। एकादशीका व्रतोपवास एक प्रधान वैदिक नित्य कर्म है, इसके न करनेसे दोष लगता है। इसका उपवास अष्टम वर्षसे लेकर अस्सी वर्षकी अवस्थापर्यन्त प्रत्येक स्त्री-पुरुषके लिये अवश्यकर्तव्य है, ऐसा रघुनन्दनकृत स्मृतिशास्त्रमें स्पष्ट उल्लेख है। ज्यौतिष-शास्त्रमें लिखा है कि चन्द्रकी एकादश कलाओं अथवा अंशोंके सूर्यमण्डलमें प्रवेश करते समय 'कृष्ण एकादशी' तथा इन कलाओंके सूर्यमण्डलसे बाहर निकलते समय 'शुक्ल एकादशी' घटित होती है। यह नित्य और सनातन है तथा इसके देवता श्रीविष्णु या हरि हैं।

वाराहपुराणके देखनेसे ज्ञात होता है कि शुक्लपक्षकी एकादशी तिथि श्रीविष्णु भगवान्‌को अत्यन्त प्रिय है, वे इस तिथिके अन्तिम चरण और द्वादशीके प्रथम चरणमें आविर्भूत होकर युग-युगमें जगत्‌का कल्याण करते हैं; इसी कारण इसका 'हरिवासर' नाम प्रसिद्ध है। अगहन या मार्गशीर्ष मास (पहले वर्ष-गणना इसी महीनेसे प्रारम्भ होती थी) से भाद्रमासपर्यन्त दस महीनोंकी शुक्ला एकादशीको क्रमशः मत्स्य-कूर्मादि दस अवतारोंका आविर्भाव हुआ था (यही विष्णुजन्मोत्सव या जयन्ती है) तथा आश्विन मासमें पद्मनाभ और कार्तिकमें उत्थान या कौमुदी एकादशीका व्रत होता है। भविष्यपुराणमें लिखा है—

> एकादश्यां निराहारो यो भुङ्क्ते द्वादशीदिने।
> न स दुर्गतिमाप्नोति नरकाणि न पश्यति॥
> एषा तिथिः परा पुण्या विष्णोरीशस्य तुष्टिदा।
> तस्यामेव जगन्नाथो ह्यमूर्तो मूर्तिमान् स्थितः॥
> तेन सा सर्वपापघ्नी सर्वदुःखविनाशिनी।
> या सा विष्णुमयी शक्तिरनन्ता व्याप्य संस्थिता।
> सा तेन तिथिरूपेण द्रष्टव्यैकादशी सती॥

अव्यक्त ब्रह्म साधकोंके हितार्थ, दुष्कृत-विनाशार्थ तथा धर्मसंस्थापनार्थ युग-युगमें देव-देवी, महावीर या महापुरुषके रूपमें संसारमें अवतीर्ण होकर नाना प्रकारकी लीलाएँ करते हैं— यह हिन्दुओंके अनेकों धर्मग्रन्थोंमें (विशेषतः वेद, चण्डी, गीता, भागवत, महाभारत, तन्त्र और रामायणादिमें) प्रकट है।

> सनातनमेनमाहुरुताद्यस्यात्पुनर्नवः। (अथर्ववेद)
> इन्द्रारिव्याकुलं लोके मृडयन्ति युगे युगे। (भागवत)
> परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
> धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥ (गीता)
> यदा यदा सतां बाधा दानवोत्था भविष्यति।
> तदा तदावतीर्याहं करिष्याम्यरिसंक्षयम्॥ (चण्डी)
> दानवानां विनाशाय धास्ये नानाविधास्तनूः॥ (तन्त्र)

अव्यक्त ब्रह्मकी उपासना अत्यन्त क्लेशप्रद होती है। जैसे—

> क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्। (गीता)
> अनुग्रहाय भूतानां मानुषीं तनुमाश्रितः।
> भजते तादृशीः क्रीडा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्॥ (भागवत)
> चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः।
> साधकानां हितार्थाय ब्रह्मणो रूपकल्पना॥

यह अवतारवाद ही हिन्दूधर्मके अनुष्ठानोंका तथा व्रत-पूजादिका मूलस्रोत है। महान् व्यक्तिका सम्मान करना सार्वभौम, सार्वजनीन, सार्वकालिक सनातन धर्म है। 'पूजा' शब्दका अर्थ है—'गौरविते प्रीतिहेतुः क्रिया' अर्थात् गौरवयुक्त पुरुषमें प्रीति उत्पन्न करनेवाली क्रियाएँ। एकादशीके प्रीत्यर्थ उपवासकी विधि ही ब्रह्माके द्वारा निर्दिष्ट हुई है, यही ब्रह्माकी आज्ञा वाराहपुराणमें देखनेमें आती है।

समयके सद्व्यवहारसे ही धर्म होता है। काल (समय) की शक्ति काली है। काल और कालकी शक्ति अदृश्य है, इनका कोई लिङ्ग नहीं। ये अच्छेद्य हैं, किन्तु काल क्रियाके द्वारा प्रकाशित होता है; इसी कारण काली शक्तिका बीज है 'क्रीं' अर्थात् कर्म। मनुष्यके कर्मोंद्वारा ही कालकी अभिव्यक्ति होती है, समय कर्मका ही समष्टि स्वरूप है, ये दोनों अभिन्न हैं (Time in Action and Action in Time are indivisible.)। समय या तिथिका अपना निजी कोई कृतित्व या प्रधानत्व नहीं, जिससे इनकी प्रसिद्धि चिर-स्मरणीय हो (सभी तिथियोंका नित्यत्व है)। परन्तु निर्दिष्ट तिथि-नक्षत्रमें जब कोई जगत्‌का कल्याण करनेवाली असाधारण अलौकिक घटना या लीला किसी देवता-देवी या महापुरुषके द्वारा सङ्घटित होती है, तब वह तिथि विशेष स्मारक या पुण्यजनक (Holiday) बन जाती है। जिन स्थानोंमें वह होती है, वे पुण्यतीर्थ (Sacred, holy place) समझे जाते हैं तथा जिन पुरुषोंके द्वारा वे कर्म सम्पन्न होते हैं, सभी देशोंमें वे त्राता (Saviour) रूपमें कीर्तित होते हैं। एवं वे ही अमर ('कीर्तिर्यस्य स जीवति'के अनुसार) होकर देश और समाजके स्मृति-पटपर जाग्रत रहते हैं।

> वही धन्य नरकुलमें, नहिं जग जिसे भुलाता।
> सदा-सर्वदा मन-मन्दिरमें सेव्य बनाता॥

आद्याशक्ति एकादशी देवी एकादशी तिथिमें किसी सुदूर अतीत युगमें भारतमें हिमालय पर्वतकी एक गुहामें आविर्भूत हुई। प्रबल पराक्रमी नाड़ीजंघके पुत्र मरुदैत्यके अत्याचारसे देव और मानव त्राहि-त्राहि करते हुए संघबद्ध होकर उद्धारकी चेष्टामें श्रीक्षीरशायी नारायणके निकट गये। पुराणोंमें लिखा है कि श्रीनारायणने उस दैत्यके साथ युद्धमें असफल होकर हिमालय पर्वतकी एक गुहामें आत्मरक्षार्थ आश्रय लिया। वहाँ भी इस मरुनामक दैत्यने उनका पीछा किया। श्रीनारायणने अनन्य चित्तसे महाशक्तिका आवाहन किया। उनके अंश मन (एकादशेन्द्रिय) से एक देवीका आविर्भाव हुआ, उसने कृत्या (खड्ग) से उस दैत्यका वध किया। उस दिन एकादशी तिथि थी, अतएव इनका नाम एकादशी पड़ा। श्रीनारायणके मन वा एकादश इन्द्रियसे उत्पन्न होनेके कारण यह उनकी मानसी कन्या एकादशी देवीके नामसे प्रसिद्ध हुई। उस दिन अनाहार रहकर

विष्णु भगवान्ने उस दैत्यके साथ युद्ध किया था तथा देवीकी कृतकार्यतासे अत्यन्त सन्तुष्ट होकर उनका सम्मान किया और वर माँगनेपर 'यह दिन 'निष्पाप' हो' ऐसा कहा। इसी कारण यह दिन 'हरिवासर' के नामसे अति पवित्र पुण्य-दिवसके रूपमें प्रसिद्ध हुआ। एकादशी देवीका आविर्भाव (जयन्ती) और मरुदैत्यके वधके बाद उनका तिरोभाव (स्मरन्ती) क्रमशः एकादशी तिथिके अन्त और द्वादशी तिथिके प्रथम चरणमें घटित होनेके कारण यह समय पुण्य-जनक है, और दैत्यनाशके द्वारा जगत्में शान्ति स्थापन होनेके कारण सब लोग उस पुण्यकीर्ति और भगवत्-लीलाका प्रचार कर स्वेच्छापूर्वक इस देवी और तिथिका अत्यन्त सम्मान करते हैं। पृथ्वी इस तिथिको निष्पाप हो जायगी, इस वरको सुनकर मूर्त्तिमान् पाप भयभीत होकर अनेकों स्थानोंमें अनेकों द्रव्यों और जीवोंके निकट आश्रय खोजता है। कोई पापको आश्रय नहीं देता, परन्तु अन्न पापको आश्रय देकर पापका भागी बनता है; इसी कारण इस दिन अन्न-भोजन करनेसे पाप-भक्षण करना होता है। जैसे—

यानि कानि च पापानि ब्रह्महत्यादिकानि च।
अन्नमाश्रित्य सर्वाणि तिष्ठन्ति हरिवासरे॥
अघं स केवलं भुङ्क्ते यो भुङ्क्ते हरिवासरे॥

एकादशी तिथिके अन्त और द्वादशीके प्रथम चरणकी 'हरिवासर' संज्ञा है। भक्त प्रह्लादके रक्षार्थ श्रीविष्णु नृसिंह-रूपसे हिरण्यकशिपुका वध करनेके समय इसी प्रकार आविर्भूत होकर अपना कर्तव्य पूर्णकर द्रुतगतिसे अन्तर्हित हो गये थे।

प्राचीनकालमें जब भारत स्वाधीन था, उस समय हिन्दू सम्राट्गण इन लीलाओंको चिरकालतक जाग्रत रखनेके लिये ही आहार-निद्राका त्याग करते थे, दिन-रात महोत्सव करते थे। सम्राट् अम्बरीष और रुक्माङ्गदके हरिवासरके दिन किये गये व्रतोपवास और महोत्सवकी अक्षय कीर्ति आज भी इस देशमें प्रचरित है। यह पापके ऊपर पुण्यका विजयोत्सव (Victory celebration) है। आजकलके समान यह खिचड़ीका महोत्सव नहीं है। उस समय धर्मयुद्ध ही महोत्सव माना जाता था, जैसे 'चण्डी' (दुर्गासप्तशती) में लिखा है—'तस्मिन् युद्ध-महोत्सवे'। तथा 'युद्धयज्ञ' में असुरोंकी आहुति दी जाती थी, 'युद्धयज्ञे स्वयं शुम्भो निशुम्भश्च' इत्यादि। प्राचीन-कालमें मरु दैत्यके वधकी कथा सबको ज्ञात थी और श्रद्धापूर्वक इस दिवसके आनन्दोत्सवमें वे आहार-निद्राका त्याग कर मस्त हो जाते थे। आजकल समयके प्रभावसे उसके मर्मको हम भूल गये हैं और यह व्रत प्राणहीन प्रथाके रूपमें चल रहा है। वैष्णव लोग जो शुक्ल एकादशी तिथिके दिन इस देवीकी अत्यन्त श्रद्धा एवं सम्मान करते हैं, इसका कारण वाराहपुराणमें स्पष्ट मिलता है। यह देवी विष्णु और रामके सहित द्वारकाधाममें परमानन्दपूर्वक वास करती हैं; यह बात इस पुराणके १२९ अध्यायके ८७ श्लोकमें लिखी है, जैसे—

अहं रामेण सहितः सा च ह्येकादशी शुभा।
त्रीणि तत्रैव तिष्ठामो द्वारकायां यशस्विनि॥
तस्मिन् क्षेत्रे महाभागे त्रयो मोदामहे वयम्॥

शैव भी एकादशी देवीके व्रतोपवासका पालन करते हैं, इसका उल्लेख देवीभागवत पुराणमें पाया जाता है। देवताओं-की कार्यसिद्धिके लिये और जगत्के हितार्थ त्रिपुरासुरके निहन्ता भगवान् महादेव विभिन्न समयोंमें एकादश बार रुद्र-अवतार ग्रहण करते हैं। इन रुद्रगणकी अधिष्ठात्री देवी एकादशी देवी हैं; वे इनकी मातारूपसे पूजा करते हैं, एकादशी तिथिको दिन-रात उपवास करके रात्रिमें संकीर्तनादि-के द्वारा इस देवीकी उपासना करते हैं। एकादश रुद्रोंके नाम इस प्रकार हैं—अज, पिनाकी, शम्भु, महेश्वर, त्र्यम्बक, वृषाकपि, एकपाद्, अहिर्बुध्न्य, ईश्वर, हरण और अपराजित। त्र्यम्बकका इतिहास कालिकापुराणमें देखा जा सकता है।

शाक्तोंकी उपास्या आद्याशक्ति स्वयं कृष्णपक्षकी एकादशी देवी हैं, तथा ये विभिन्न देश-कालमें विभिन्न नाम और मूर्त्तियोंद्वारा प्रकाशित होकर नाना प्रकारकी लीला करती हैं। यह आद्याशक्ति महामाया ही सती, सीता, काली, दुर्गा, कात्यायनी, माहेश्वरी, एकादशी, अन्नपूर्णा प्रभृतिरूपमें अवतीर्ण होकर अनेकों असुरों और दैत्योंका नाश करती हैं। जैसा कि ब्रह्मयामल तन्त्रमें ब्रह्मा और नारदके संवादमें आद्याशक्ति-स्तोत्रमें लिखा है—

नवमी शुक्लपक्षस्य कृष्णस्यैकादशी परा।
'कुरुक्षेत्रे भद्रकाली·····················
कालिका वङ्गदेशे च···················· ।
दक्षस्य दुहिता देवि दक्षयज्ञविनाशिनी।
रामस्य जानकी त्वं हि रावणध्वंसकारिणी॥
चण्डमुण्डवधे देवि रक्तबीजविनाशिनी।
व्रजे कात्यायनी परा'—
'वैकुण्ठे सर्वमङ्गला' इत्यादि।

कालिकापुराणके ६० वें अध्यायमें महामाया षोडशभुजा देवीकी पूजाके अनुष्ठानके सम्बन्धमें उल्लेख है—कन्याराशिस्थ सूर्य (आश्विनमास) के कृष्णपक्षकी एकादशीके दिन उपवास

करके द्वादशीको एक समय भोजन करे, दूसरे दिन रात्रि-जागरण करे, चतुर्दशीको गीत-वाद्यादिके द्वारा देवीका प्रबोधन करे और शुक्ला नवमीपर्यन्त पूजा करके दशमीको श्रवण नक्षत्रके शेष भागमें विसर्जन करे। जैसे—

यदा तु षोडशभुजां महामायां प्रपूजयेत्।
कन्यायां कृष्णपक्षस्य ह्येकादश्यामुपोषितः।
द्वादश्यामेकभुक्तं तु नक्तं कुर्यात्परेऽहनि॥
(श्लोक ११)

उक्त पुराणके उसी अध्यायके श्लोक ३० में देखा जाता है कि शुक्ला नवमीके दिन महामायाकी अद्भुत कीर्ति रावण-वध और तत्पश्चात् विजयोत्सव होता है—

रामेण घातयामास महामाया जगन्मयी।
निहते रावणे वीरे नवम्यां सकलैः सुरैः॥
—इत्यादि।

इस देवीके यथार्थ परिचयके विषयमें जो आभासमात्र यहाँ अति संक्षेपमें दिया गया है, उससे पाठकोंकी समझमें आ जायगा कि प्राचीनकालमें भारतके प्रायः समस्त स्त्री-पुरुष इस देवीकी कृपासे प्रबल अत्याचारियोंके अत्याचारसे मुक्त होकर इनका जयगान करते थे तथा देशके श्रेष्ठ मनीषिगणके स्वेच्छापूर्वक इस विजयोत्सवमें सम्मिलित होनेके कारण यह व्रतके नामसे प्रसिद्ध हुआ। एकादशी तिथिके दिन अमूर्त जगन्नाथ मूर्तिमान् होकर देवीके रूपमें प्रकट हुए थे, तथा निरीह प्रजाको—यही क्यों, नारायणको भी उन्होंने विपद्से मुक्त किया था। इस पुण्यस्मृतिकी रक्षाके लिये समस्त भारतमें इस देवीका त्राणकर्त्री (Saviour) सर्वदुःख-विनाशिनी, सर्वपापनाशिनीके रूपमें प्रचार किया गया। तथा आहार-निद्राका त्याग कर इस विजयोत्सवको आनन्दपूर्वक समाप्त किया जाता था, यह बात उपर्युक्त भविष्यपुराणके श्लोकोंसे स्पष्ट होती है। आधुनिक संकीर्ण चित्तवाले साम्प्रदायिकों—शैव, वैष्णव और शाक्तोंके कलह और विवाद इसी सर्वमान्या देवीकी उपासनाके द्वारा ह्रासको प्राप्त होंगे और उनको साधनमें सफलता मिलेगी।

हिन्दुस्तानमें अवतारोंकी पूजा और व्रतादिको उनके तिरोभाव होनेके अनन्तर प्रतिमाद्वारा संजीवित (संस्मृत) रक्खा जाता है। भगवान्‌की जीवन्त मूर्ति या प्रतीक अवतारोंमें ही प्राप्त होता है। आर्य ऋषिगण निर्गुण, अव्यक्त ब्रह्मकी पूजा-उपासनाको अत्यन्त कष्टकर समझकर सगुण, साकार, अवतारमूर्तिकी पूजाका विधान करते हैं। भक्ति ही भगवान्‌के गुणोंको संचारित कर जीवन्मुक्तरूपसे ब्रह्मत्व-प्राप्तिमें हेतु बनती है। कहा भी है—'कृष्णभक्ति कृष्णगुण सकल संचरे।' एकादशी देवीकी इस लीलाके साथ श्रीनारायण और देवताओंकी विपन्नावस्था, (जो समय-समयपर असुरोंके द्वारा हुई है), तथा उससे मुक्ति, जो विभिन्न अवतारोंके द्वारा सम्पन्न हुई है, एवं इन लीलाओंकी ख्याति तत्कालीन सम्राटों और प्रसिद्ध महापुरुषोंके द्वारा विभिन्न उत्सवोंके रूपमें देशमें प्रचारित होनेके कारण आजतक ये सब उत्सव स्मृतिचिह्न (Anniversary) के रूपमें प्रतिवर्ष मनाये जाते रहे हैं। वर्षभरकी २४ (जिस साल मलमास होता है, उस साल इनकी संख्या २६ हो जाती है) एकादशियोंमें ४ सबसे प्रधान हैं, जिनका पालन और स्मरण-मनन करना सबके लिये अनिवार्य है—(१) भैमी एकादशी, (२) देवशयनी (३) पार्श्वपरिवर्तनी और (४) उत्थान-एकादशी।

उपर्युक्त चारों एकादशियोंमें निर्जल उपवास अवश्य-कर्तव्य है। क्योंकि इन चारों एकादशियोंके व्रतोपवासद्वारा इस जगत्‌का अक्षय कल्याण सिद्ध हुआ है। स्वयं श्रीभगवान्‌ने इनकी वैधता और पालनके विषयमें जोर दिया है, जैसे—

मच्छयने मदुत्थाने मत्पार्श्वपरिवर्तने।
फलमूलजलाहारी हृदि शल्यं ममार्पयेत्॥

बंगालमें एक कहावत है—

उठा शोया पाश मोड़ा, तार मध्ये भीमा छोड़ा।
दुई छेलेर जन्मतिथि, पागलार चौद्द पागलीर आठ।
एई निया जनम काट।
ताओ यदि ना पारिस्, मगार खाले डूबे मरिस्॥

अर्थात् देवोत्थान, देवशयनी, पार्श्वपरिवर्तनी, भीमा—ये चारों एकादशी और दोनों बालकों (श्रीराम और श्रीकृष्ण) की जन्मतिथियाँ—रामनवमी और जन्माष्टमी, पगलेकी—महादेवकी शिवचतुर्दशी और पगली दुर्गाकी दुर्गाष्टमी—इनमें व्रतोपवास करते हुए जन्म व्यतीत करे; और यदि यह भी पार न लगे तो जाकर नदीमें डूब मरे। सारांश यह है कि ये तिथियाँ हिन्दुओंके लिये अवश्य पालनीय हैं।

भैमी एकादशी—इसके सम्बन्धमें वाराहपुराण, मत्स्य-पुराण, महाभारत, चण्डी, श्रीमद्भागवत तथा अन्यान्य पुराणोंमें उल्लेख है। इसकी पुण्यशीलता और चिरस्मरणीयता-का कारण इन धर्मग्रन्थोंका पाठ करनेसे ही स्पष्ट ज्ञात होगा। कहा गया है कि प्राचीनकालमें प्रबल पराक्रमी हिरण्याक्ष दैत्यके अन्याय और अत्याचारसे पृथ्वीके देव और

मानव जर्जरित हो गये, पृथ्वी पापभारसे रसातलको जाने लगी तथा हिरण्याक्षके भयसे सूर्यदेव भी भाग चले, अर्थात् उस समय घोर अन्धकार छा गया। पातालस्थ देव-मानवोंका आर्त्तनाद त्राणकर्ता विष्णु भगवान्‌के पास पहुँचा और माघमास (उत्तरायण) के शुक्लपक्षकी एकादशी तिथिको भगवान् विष्णुने श्वेत वाराहमूर्तिसे अवतीर्ण होकर पृथ्वीको दाँतोंसे ऊपर उठाया (उद्धार किया) तथा हिरण्याक्ष दैत्यका वध करके फिर चन्द्र-सूर्यद्वारा इसे आलोक प्रदान किया। यह पृथ्वीका उद्भव या उद्धार महाशक्ति वाराहरूपिणी नारायणीके द्वारा सम्पन्न हुआ। हिन्दूजाति उपर्युक्त घटना या लीला जिसके द्वारा और जिस कालमें सम्पन्न हुई, उसकी स्मृतिको चिरस्थायी बनाये रखनेके लिये ही पुण्यानुष्ठान व्रतोपवासादि करती आ रही है। मत्स्यपुराणमें भीमसे भगवान् कहते हैं—

> यदष्टम्यां चतुर्दश्यां द्वादश्यामथ भारत।
> अन्येष्वपि दिनर्क्षेषु न शक्तस्त्वमुपोषितुम्॥
> ततः पुण्यामिमां भीम तिथिं पापप्रणाशिनीम्।
> उपोष्य विधिनानेन गच्छेर्विष्णोः परं पदम्॥
> भीमतिथिं भीमतिथित्वेन ख्याताम् एकादशीम्।
> माघमासे सिते पक्षे सोपवासो जितेन्द्रियः।
> द्वादश्यां षट्तिलाचारं कृत्वा पापात्प्रमुच्यते॥

वाराहपुराणके ४१वें अध्यायका और पुरोहित-दर्पणादि ग्रन्थोंका पाठ करनेपर ज्ञात होता है कि इस एकादशीमें उपवास करके द्वादशीमें सोनेकी बनी हुई भगवान् वराहकी मूर्तिका पूजन आवश्यक है। जिस किसीकी सोनेकी मूर्त्ति बनाकर नहीं पूजी जाती। आज भी हमारे अनुकरणके फलस्वरूप सभ्य और स्वाधीन देशोंमें महावीर और गुणी पुरुषोंके सम्मानार्थ नाना प्रकारके धातुओंकी मूर्त्तियाँ प्रसिद्ध स्थानोंमें रक्खी हुई हैं, तथा उनके जन्म और मृत्युके दिवसकी वार्षिक स्मृति (Anniversary) मनायी जाती है। जैसे अमेरिकामें ४ जुलाईको वाशिंगटन-दिवस (Washington Day) विभिन्न स्थानोंमें वाशिंगटनकी मूर्तिके सामने और गिरजाघरोंमें आज भी प्रार्थना और उत्सवादि करके मनाया जाता है। क्योंकि सन् १७७६ ई० की चौथी जुलाईको वाशिंगटनने अमेरिकाकी स्वतन्त्रताकी घोषणा की थी। इसी कारण जनता उसके प्रति त्राता (Saviour) के रूपमें श्रद्धा प्रकट करती है। इसी प्रकार एकादशीके दिन भी अतीत कालमें अनेक चिरस्मरणीय घटनाएँ और लीलाएँ संघटित हुई हैं, अतएव यह तिथि पूज्य और अमर हो गयी है। भैमी एकादशीके अवतार यज्ञ-वराहके सम्बन्धमें वैष्णव कवि जयदेव लिखते हैं—

> वसति दशनशिखरे धरणी तव लग्ना, शशिनि कलङ्ककलेव निमग्ना,
> केशव धृतशूकररूप, जय जगदीश हरे।

तथा चण्डीमें लिखा है—

> गृहीतोग्रमहाचक्रे दंष्ट्रोद्धृतवसुन्धरे।
> वराहरूपिणि शिवे नारायणि नमोऽस्तु ते॥

नारायण और नारायणी तत्त्वतः एक ही हैं, शक्ति और शक्तिमान्‌में कोई भेद नहीं।

देवशयनी एकादशी—आषाढ़ मासकी शुक्ला एकादशीको उपवास करके, दूसरे दिन द्वादशीको व्रत-पूजादि समाप्त करके श्रीवसुदेव-देवकीने श्रीकृष्णको पुत्ररूपमें प्राप्त किया था (वाराहपुराणके ४६ वें अध्यायमें देखिये)। भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाका उल्लेख हिन्दुओंके प्रत्येक धर्मग्रन्थमें है, अतएव यहाँ लिखनेकी आवश्यकता नहीं। आषाढ़ माससे आश्विन मासतक चातुर्मास्य होता है। यह समय (दक्षिणायन) देवताओंकी निद्राका समय है। इसी कारण इस एकादशीको देवशयनी एकादशी कहते हैं। इस व्रतका पालन करनेसे उत्तम पुत्रकी प्राप्ति होती है, अतएव यह प्रत्येक गृहस्थके लिये कर्त्तव्य है।

पार्श्वपरिवर्तनी एकादशी—इसके सम्बन्धमें वाराहपुराणके ४८वें अध्यायमें लिखा है कि भाद्रमासके शुक्लपक्षकी एकादशीको उपवास करके प्राचीनकालमें विशाल नामक एक सम्राट्ने शत्रुओंका नाश करके उनका राज्य छीन लिया था। तथा इसी दिन कल्कि-अवतार होनेके कारण दूसरे दिन कल्कि-द्वादशीका व्रत भी उस सम्राट्ने बड़े समारोहके साथ किया था।

देवोत्थान-एकादशी—वैष्णवोंके स्मृतिशास्त्र श्रीहरिभक्ति-विलासमें लिखा है कि कार्तिक मासकी शुक्ला एकादशीके दिन, अनेकों असुरों और दैत्योंके संहारके अन्तमें, बड़े ही धूमधामसे भक्त प्रह्लादने विष्णुभगवान्‌की रथयात्राका महोत्सव मनाया था। इसे प्रबोधिनी और जागरण-एकादशीके नामसे पुकारते हैं। आजकल भी मेदिनीपुर जिलेमें चन्द्रसोमार गाँवमें बर्दमानके राजाकी सहायतासे इस एकादशीको रथयात्राका महोत्सव मनाया जाता है।

'रथे तु वामनं दृष्ट्वा पुनर्जन्म न विद्यते।'

—इस महावाक्यके आध्यात्मिक दृष्टिसे अनेक अर्थ होते हैं। तथापि दैत्याधिपति परमभक्त राजा बलिने अपने पितामह प्रह्लादका अनुसरण करते हुए इसी तिथिको रथयात्रा या असुर-विजय-यात्राका उत्सव किया था। इस उत्थान-एकादशीका मन्त्र है-उठो, जागो (उत्तिष्ठत जाग्रत, Arise, awake), फिर लौटना मत, धर्मयुद्धमें अग्रसर

हो (Be a hero in the strife) । ('उत्थानम्' शब्दका अर्थ है—उद्+स्था+अनम्=सैन्यम्, युद्धम्, पौरुषम्, उद्यमः, उद्गमः, चिन्ता च—देखिये शब्दकल्पद्रुम।) इस विवरणपर विचार करनेसे ज्ञात होता है कि आजकलके निर्जीव एकादशी-व्रतोपवासमें भी सजीव वीरपूजा (Hero-worship) का भाव निहित है। बाहरके शत्रुओंपर विजय प्राप्त करनेके लिये जिस शक्ति और वीर्यकी आवश्यकता है, कामादि अन्तःशत्रुओंपर विजय प्राप्त करनेके लिये तदपेक्षा अधिक संयम, साहस और भगवत्-साधनाकी आवश्यकता है।

उपवास-विधि—इस विषयमें भी आर्य-ऋषियोंने विचार और गवेषणापूर्वक यह सिद्धान्त निश्चय किया है कि सत्सङ्कल्पकी दृढ़ता और शक्तिवृद्धिके लिये उपवास ही परम तपस्या है। उपवाससे चित्तशुद्धि होती है और कामादि रिपुओंका ज़ोर कम हो जाता है, इसे सब धर्मावलम्बी मानते हैं। कभी-कभी उपवास (fasting) करनेसे स्वास्थ्य भी ठीक रहता है, और अनेकों रोग दूर होते हैं। उपवासकी अमोघ और अव्यर्थ शक्तिको बहुत-से लोगोंने देवालयोंमें धरना देकर प्रत्यक्ष किया है। 'कार्यं वा साधयामि देहं वा पातयामि' (To do or die)—इस प्रकारकी दृढ़ प्रतिज्ञा करके बहुतेरे योगियों और ऋषियोंने तपस्या आरम्भ-कर ब्रह्मत्व या भगवत्-साक्षात्कार प्राप्त किया है। इसी कारण हिन्दुओंके प्रत्येक धर्मग्रन्थमें 'नास्ति मातृसमो गुरुः, नानशनात्परं तपः' इस प्रकारकी घोषणाएँ मिलती हैं। चण्डीमें लिखा है—

स च वैश्यस्तपस्तेपे देवीसूक्तं परं जपन्।
निराहारौ यताहारौ तन्मनस्कौ समाहितौ॥
परितुष्टा जगद्धात्री प्रत्यक्षं प्राह चण्डिका।
रक्षां करोति भूतेभ्यो जन्मनां कीर्तनं मम॥
युद्धेषु चरितं यन्मे दुष्टदैत्यनिबर्हणम्॥

अर्थात् हमारे जन्म और वृत्तान्तका कीर्तन करनेसे और युद्धमें दैत्योंका नाश करनेवाले मेरे कार्यकलापका श्रवण करनेसे पापोंका नाश होकर मनुष्य कल्याणको प्राप्त होता है।

निराहार रहनेसे चित्त विषयोंसे हटता है, जैसे गीतामें लिखा है—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

इसी कारणसे उपवासको उपासनामें सहायक बतलाया जाता है।

मनुष्यजीवनका चरम उद्देश्य भगवान्‌के समान शुद्ध, बुद्ध और मुक्त होना है। यही शिक्षा देनेके लिये समय-समय-पर भगवान् जगद्गुरुके रूपमें अवतीर्ण होकर दुष्टोंका दमन और शिष्टोंका पालन करते हैं, जिससे हम भी उनकी लीलाका श्रवण कर तन्मय होकर भागवत शरीर प्राप्तकर सिद्ध हो सकें। इसीलिये मनुष्यको तपस्या और व्रत-पूजादिकी आवश्यकता है। चित्तकी स्थिरता, मनःसंयम और सङ्कल्प-की दृढ़ताकी वृद्धिके लिये उपवास अत्यन्त ही आवश्यक है। इसी कारण इस महाशक्तिकी प्रसन्नताके लिये इस दिन उपवासका विधान किया गया है। आन्दोलनकी तीव्रता और प्रतिज्ञामें बलवृद्धिके लिये बंगालियोंने संघटित होकर १९०५ ई०में उपवास करके बंगविच्छेद (Partition of Bengal)के विरोधमें 'अरन्धन व्रत' ग्रहण कर वर्षों आन्दोलन चलाया, फलतः बंग-विच्छेद रुक गया। यदि सामान्य भौतिक विषयोंमें आहार-निद्राका त्यागकर एकाग्रचित्तसे प्रार्थना करनेपर सफलता प्राप्त होती है तो आध्यात्मिक विषयोंमें उपवासादिके द्वारा आत्मिक शक्तिकी वृद्धि होनेमें सन्देह ही क्या है? गीताके १७वें अध्यायमें सात्त्विक, राजस और तामस भेदसे उपवास या तपस्याके तीन भेद बतलाये गये हैं। लोकशिक्षाकी दृष्टिसे दम्भाहंकारसंयुक्त, अशास्त्र-विहित उपवास राजस है और यह उपहासजनक हो जाता है। तामस उपवास, जैसे—

'कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थम्' इत्यादि।

तामस उपवास करनेवाले आत्मघाती होते हैं। श्रद्धा-पूर्वक अनासक्तभावसे शास्त्रविधिके अनुसार सात्त्विक उपवास करनेसे भगवत्प्राप्ति होती है। शास्त्रविधिका त्याग करके जो कर्म अश्रद्धापूर्वक किया जाता है, वह असत् है। अतएव एकादशीमें उपवास, और दिन-रात इस तिथिके देवता विष्णु और देवी एकादशीकी लीलादिका चिन्तन और संकीर्तनके द्वारा जागरण करनेका विधान है।

वैष्णवतन्त्रके श्रीहरिभक्तिविलासमें लिखा है—

एकादशी महापुण्या विष्णोरीशस्य वल्लभा।
तस्यामुपोषितो यस्तु द्वादश्यां पूजयेद्धरिम्॥
तस्य पापानि नश्यन्ति विष्णोर्भक्तिश्च जायते॥

'उपवास' शब्दका अर्थ है, उप=समीपे (भगवत्सान्निध्ये) वासः=स्थितिः।

सारे विषयोंसे विरत होकर एकादश इन्द्रिय, मनको भगवान्‌के चरणोंमें बसाये, लीन किये रखना ही उपवास है। जैसे,

उपावृत्तस्य पापेभ्यो यस्तु वासो गुणैः सह ।
उपवासः स विज्ञेयः सर्वभोगविवर्जितः ॥
अथवा,
उप समीपे यो वासो जीवात्मपरमात्मनोः ।
उपवासः स विज्ञेयो न तु कायस्य शोषणम् ॥
—वाराहोपनिषद् ।

जिस प्रकारसे हो सके, पुण्यजनक एकादशीमें भगवान्के समीप वास करनेसे महाफलकी प्राप्ति होती है और इस तिथिको इस देवीका ध्यानादि करते हुए उपवासकी अवस्थामें यदि मृत्यु हो जाय तो निश्चय ही मुक्ति हो जाती है। तथा कृष्णा एकादशीको पितरोंके श्राद्ध-तर्पणादि करनेसे अनन्त फलकी प्राप्ति होती है। स्मृतिशास्त्रोंमें एकादशीके उपवासके द्वारा 'दृष्टादृष्टोभयार्थ' सिद्धिका उल्लेख है। दृष्ट फल यदि स्वास्थ्यको ही मान लें, तो यही क्या कम है ! अदृष्टफलसे स्वर्गप्राप्ति और शान्तिलाभ तथा उपासनामें सहायताकी प्राप्ति है। दशमीसंयुक्त एकादशीको अवैध बतलाया जाता है, अतः उसमें उपवासका निषेध है। वसिष्ठमुनिने बतलाया है कि उसमें उपवास करनेसे सन्तानकी हानि होती है। गान्धारीको सौ पुत्रोंका वियोग इसी कारणसे हुआ था। जैसे—

दशम्येकादशी यत्र तत्र नोपवसेद् बुधः ।
अपत्यानि विनश्यन्ति स्वर्गलोकं न गच्छति ॥

कहा जाता है कि सीताजीको दशमीसंयुक्त एकादशीके कारण ही चिरकालतक दुःख भोगना पड़ा था। इसी आशङ्काके कारण सधवा स्त्रियाँ दशमीयुक्त एकादशीको उपवास नहीं करतीं। अर्थात् पलमात्र दशमीयुक्त रहनेपर भी उसे त्यागकर द्वादशीयुक्त एकादशीका उपवास करना चाहिये—

तस्मादेकादशी त्याज्या दशमीपलसंयुता ।
उपोष्या द्वादशी शुद्धा त्रयोदश्यां च पारणम् ॥

आठ वर्षकी उम्रसे लेकर अस्सी वर्षकी उम्रतक सभी वर्ण और आश्रमवालोंको तथा स्त्रियोंको भी एकादशीका उपवास कर्त्तव्य है—

वर्णानामाश्रमाणाञ्च स्त्रीणाञ्च वरवर्णिनि ।
एकादश्युपवासस्तु कर्त्तव्यो नात्र संशयः ॥
एकादश्यां न भुञ्जीत पक्षयोरुभयोरपि ।
न भोक्तव्यं न भोक्तव्यं सम्प्रासे हरिवासरे ॥

वैधोपवासमें भोजन-चतुष्टय और विहारकी निवृत्ति कही गयी है। अर्थात् उपवासकी पूर्व रात्रि और उपवासके उपरान्त दूसरे दिन पारणकी रात्रिमें आहार और मैथुन त्याज्य हैं। जैसे—

ब्रह्मचर्यं तथा शौचं सत्यमामिषवर्जनम् ।
व्रतेष्वेतानि चत्वारि वरिष्ठानीति निश्चयः ॥
देवीपुराणमें लिखा है—
तद्ध्यानं तज्जपः स्नानं तत्कथाश्रवणादिकम् ।
उपवासकृतो ह्येते गुणाः प्रोक्ता मनीषिभिः ॥

अर्थात् एकादशीका उपवास करनेवालेको एकादशी देवीका ध्यान, जप, कथाश्रवण तथा स्नान करना चाहिये।

ब्रह्मवैवर्त्तपुराणमें लिखा है कि यदि व्रती उपवासमें असमर्थ हो तो मन्त्र-जपके द्वारा, स्वल्प भिक्षान्न या जलपानके द्वारा समय व्यतीत कर रात्रिमें एक ब्राह्मणको भोजन कराकर कुछ दक्षिणा दे।

ब्रह्माण्डपुराणमें लिखा है कि प्रत्येक मन्त्रकी अधिष्ठात्री देवी श्रीएकादशी देवीका ध्यान-जप तथा कथा-कीर्तनका श्रवण अत्यावश्यक है।

देवीरहस्यमें लिखा है—
'गायत्री हि यथा सर्वपापपञ्जरभेदिनी ।
एकादशी तथा सर्वपापपञ्जरभेदिनी ॥'

जिस प्रकार गायत्री-जपसे समस्त पापोंका समूह नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार एकादशीका जप करनेसे भी समस्त पापराशि नष्ट हो जाती है। पद्मपुराणमें लिखा है—

सर्वत्रैकादशी कार्या द्वादशीमिश्रिता नरैः ।
गीतं वाद्यञ्च नृत्यञ्च पुराणपठनं तथा ।
फलमर्घ्यञ्च श्रद्धा च दानमिन्द्रियनिग्रहः ॥
यामे यामे महाभागे कुर्यादारात्रिकं हरेः ।
एतैर्गुणैः समायुक्तं कुर्याज्जागरणं हरेः ॥
सत्यान्वितं विनिद्रञ्च मुद्रायुक्तं क्रियान्वितम् ।
साश्चर्यञ्चैव सोत्साहं पापालस्यादिवर्जितम् ॥
—इत्यादि ।

'सदा द्वादशीमिश्रित एकादशी करनी चाहिये। रात्रिके समय गाना, बजाना, नृत्य तथा पुराणोंका पाठ करना चाहिये। भगवान्को फलका भोग लगाना चाहिये और अर्घ्य देना चाहिये, ब्राह्मणोंको दान देना चाहिये तथा इन्द्रियोंका निग्रह करना चाहिये। पहर-पहरमें भगवान्की आरती करनी चाहिये। इस प्रकार भगवान्के लिये रात्रि-जागरण करना चाहिये। सत्यका पालन करते हुए, निद्रा, आलस्य एवं पापके त्यागपूर्वक उत्साह एवं उमंगके साथ एकादशीका उत्सव करना चाहिये।' पेटभर भोजन करनेसे निद्रा-तन्द्राकी अधिकता होती है, इसी कारण अनाहार रहकर हलके शरीरसे व्रत-पूजा करनेका विधान किया गया है।

श्रीएकादशी-व्रतकथा—महाभारतके शान्तिपर्वमें लिखा है कि गालव नामक मुनिके भद्रशील नामक एक पुत्र थे। वे प्रत्येक मासकी कृष्णा और शुक्ला एकादशीका तथा शिव-चतुर्दशी, दुर्गाष्टमी, रामनवमी तथा कृष्ण-जन्माष्टमीका उपवास करते और क्षीरजलसे देवमन्दिरका मार्जन करते थे। जब गालव मुनिने इसका कारण पूछा तो जातिस्मर होनेके कारण उस बालकने बतलाया कि पूर्वजन्ममें वह जम्बूद्वीपमें सोमवंशीय धर्मकीर्ति नामक चक्रवर्ती राजा था और प्रजापर अत्याचार करता था। एक दिन सेनाके साथ आखेटके लिये वन गया, वहाँ एक मृग दिखलायी दिया। उसने सब सैनिकोंसे कहा कि यदि मृग किसीके सामनेसे भागा तो उसका सवंश उच्छेद कर दिया जायगा। इसपर मृगने विचार किया कि सेनाके सम्मुख होकर भागनेसे बहुतेरे आदमी मारे जायँगे, इसलिये राजाके सामनेसे ही भागना श्रेयस्कर है। अतः वह उसी ओरसे दौड़ा, राजा भी उसके पीछे दौड़ा और दिनभर उसे उसके पीछे निराहार रहना पड़ा। रातको विवश होकर उसे एक वृक्षके नीचे ठहरना पड़ा। वहाँ भयभीत होकर वह रातभर भगवान्‌की प्रार्थना करता रहा, रातके बीतते-बीतते अचानक उसका प्राणान्त हो गया। यमदूत उसको लेकर धर्मराज यमके पास गये। यमने दूतोंसे कहा कि 'यह राजा सर्वपापोंसे मुक्त हो गया है, क्योंकि इसने दिनभर उपवास करके रात्रिको आर्त्तभावसे भगवान्‌का स्मरण कर देहत्याग किया है। विशेषतः एकादशी तिथि होनेके कारण तथा राजा होकर भी इसने दास्यभावसे हरिमन्दिरका मार्जन किया है—इसलिये यह स्वर्गमें जायगा। इसी प्रकार जिसका उपर्युक्त पुण्य दिवसको उपवासके साथ नामस्मरणपूर्वक देहत्याग होगा, वह सब पापोंसे मुक्त होकर स्वर्गवास करेगा।' यह घोषणा करते हुए राजाको सशरीर दिव्यरथमें स्वर्गको भेज दिया। राज्यमें इसका प्रचार होनेपर सभी एकादशीके उपवासकी महिमाको जानकर इसका पालन करने लगे। फिर राजाने करोड़ों युगोंतक स्वर्गवास करके पुण्यके क्षीण होनेपर जातिस्मर रूपमें गालव मुनिका औरस पुत्र होकर जन्म ग्रहण किया और बाल्यावस्थासे ही समस्त व्रतोपवासोंका श्रद्धापूर्वक पालन करते हुए अन्तमें सदाके लिये स्वर्गमें निवास प्राप्त किया।

कृष्णा एकादशीको श्राद्ध करनेका माहात्म्य—परलोकगत पितरोंके उद्देश्यसे श्राद्ध-तर्पणादि हिन्दुओंके लिये अवश्य कर्तव्य हैं। अन्यान्य धर्मावलम्बी भी अपने पूर्वजोंके आत्माकी तृप्तिके लिये दान और प्रार्थनादि करते हैं। स्मृतिशास्त्रमें, महाभारतमें उल्लेख है कि यदि किसी कारणसे पितरोंकी मृत्युतिथिमें श्राद्धसे च्युत हो जाय तो कृष्ण एकादशीके दिन उसे कर ले। कृष्णा एकादशी स्वयं आद्याशक्ति है और इस तिथिके अधिष्ठातृ देवता स्वयं विष्णु हैं; तथा एकादशीके दिन ही रुद्र, विष्णु और कालीका आविर्भाव होनेके कारण यह तिथि पुण्यदिवस है। भूलोकमें जब कृष्ण और शुक्लपक्षको मिलाकर एक मास होता है, तब चन्द्रलोकमें एक दिन-रात होते हैं। अतएव कृष्णपक्ष चन्द्रलोकका दिन है। (इसे ज्यौतिषशास्त्र और आधुनिक विज्ञान भी मानता है)। इस समय पितर और देवता जाग्रत रहते हैं। योगियोंके प्रयाणके समय यदि दक्षिण नासासे श्वास निकले तो कृष्ण-पक्षके अभिमानी देवता योगियोंके आतिवाहिक सूक्ष्मशरीरको लेकर चन्द्रलोकमें गमन करते हैं, यह पितृयान पथ है। इस मार्गसे गृहस्थ, प्रवृत्तिपरक इष्टापूर्त्त कर्मोंके अनुष्ठाता देहको त्यागकर चन्द्रलोकमें गमन करते हैं; वहाँ भी सूक्ष्मदेह चिरकालतक रहता है (गीता और श्रीमद्भागवतका नवम स्कन्ध देखिये)। वहाँ रहते हुए दस तिथियाँ बीत जानेपर अथवा कृष्णपक्षके १५ दिनका ⅔ अंश बीत जानेपर, यानी चन्द्रलोकके दिनके ⅔ अंश गत होनेपर अर्थात् दोपहरके बाद अपराह्णमें भोजनका समय होता है। इसी कारण भूलोकमें दिया हुआ श्राद्ध-पिण्डका अन्न उनके सूक्ष्मदेहको प्राप्त होता है। पद्मपुराणमें लिखा है कि पितर पिण्ड और अन्नादिका ग्रहण सूक्ष्मशरीरमें प्राणके द्वारा करते हैं। महाभारतमें लिखा है कि भीष्मदेवके पिताने सूक्ष्मशरीरसे श्राद्धान्न ग्रहण किया था तथा सीतादेवीके श्राद्धान्नको राजा दशरथने सूक्ष्म शरीरद्वारा ग्रहण किया, यह उन्होंने प्रत्यक्ष किया था (देखिये रामायण)। श्राद्धान्नको प्राणद्वारा ग्रहण करनेसे उपवास नष्ट नहीं होता। श्रद्धापूर्वक दान करना ही श्रेष्ठ है और इस तिथिमें करनेसे उसका विशेष फल होता है।

उपसंहारमें प्रार्थना—इस व्रतके पूर्ण होनेपर या पारणके अशन (जलपान) के समय—

> अज्ञानतिमिरान्धस्य व्रतेनानेन केशव।
> प्रसीद सुमुखो नाथ ज्ञानदृष्टिप्रदो भव॥

—इस मन्त्रका पाठ करे। सर्वमङ्गलकारिणी यह देवी माताके समान हितकारिणी तथा सर्व अमङ्गलहारिणी हैं। प्रेमसे मनःप्राणको हरनेवाले हरि अथवा प्रणवात्मक ब्रह्म जगत्‌के हितार्थ विश्वमें रहनेवाले प्राणियोंको ज्ञानदृष्टि प्रदान-कर अपनी यथार्थ सेवा-भक्ति, पूजा तथा उत्सवके लिये उत्साह बढ़ाकर शान्ति स्थापन करें। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः !!

भागवतके प्रसिद्ध वक्ता त्यागमूर्ति पण्डित श्रीमाधवरामजी अवस्थी व्यास

(लेखक—आचार्य श्रीराधाकृष्णजी गोस्वामी)

पूज्य पण्डितजीका जन्म संवत् १९२६ या १९२७ में ब्रह्मावर्तान्तर्गत कानपुर जिलेके साद ग्राममें कान्यकुब्ज-कुलोत्पन्न पं० श्रीकामताप्रसादजी अवस्थीके घर हुआ था। आप बड़े ही सच्चरित्र, सुशील, कर्मनिष्ठ तथा विद्वान् थे। आपके पिता (पं० कामताप्रसादजी) श्रीमद्भागवतके बड़े विद्वान् थे। कानपुरमें आपके एक श्रोता शिष्यने आपको एक मकान भेंट किया, तबसे आप गृहस्थीसहित कानपुरमें ही निवास करने लगे। आर्थिक स्थिति आपकी प्रायः शोचनीय-सी ही रहा करती थी। हमारे चरित्रनायकका विवाह पुरानी चालके अनुसार १२ वर्षकी ही अवस्थामें हो गया था। जब आपकी १८ वर्षकी अवस्था हुई तब आप वैराग्यकी भावना-से प्रेरित हो चुपचाप पैदल ही श्रीवृन्दावन चल दिये। आपकी एक विचित्र आदत थी, आप नेत्र बंद किये अर्धचेतन अवस्थामें मार्ग तै किया करते थे। एक बार नेत्र खोलकर मार्गका मोड़ देख लेते थे, फिर मोड़पर ही नेत्र खोलते थे। आप गलेमें मालाकी झोली लिये हुए, जिसमें हजार मनियेकी माला रहती थी, तथा उसीपर भगवन्नामका जप करते हुए तेजीसे मार्ग तै कर रहे थे। रात्रिका समय था। आप दो रातके जगे भी थे। मार्ग भूल गये, पर आपको भान न हुआ। वृन्दावन कुछ ही दूर रह गया था। रास्तेमें इन्हें एक एकादशवर्षीय बालक मिला। उसने इनसे कहा—'भाई! क्या तुम श्रीवृन्दावन जाना चाहते हो? तुम मार्ग भूल गये हो; उधर नहीं, इस रास्ते होकर जाना चाहिये।' आपने नेत्र खोलकर देखा। हृदयमें यह बात उठी कि जिसकी खोजमें हम वृन्दावन जा रहे हैं, वे यहीं मिल गये। आगे कुछ विचार भी न कर पाये थे कि वे पथप्रदर्शक वहीं अन्तर्धान हो गये। ये वहीं वृक्षके नीचे बैठ गये और विचार करने लगे—'ओह! कैसा सुन्दर लावण्यमय शरीर था! क्या प्रभु फिर दर्शन देकर कृतार्थ करेंगे? आज तो हम वैसे ही ठगे गये, जैसे बिल्वमङ्गल ठगे गये थे।

बाँह छुड़ाए जात हो, निबल जानि कै मोहि।
हिरदय ते जब जाहुगे, मर्द बदौंगो तोहि॥

—इतना कहकर उठ खड़े हुए और बतलाये हुए मार्गपर चल दिये।

कुछ दिन आप वृन्दावनमें भ्रमण कर अयोध्या होते हुए चित्रकूट चले आये। वहाँ कामदनाथजीकी परिक्रमामें जो 'भरत-मिलाप' (पर्णकुटी) स्थान है, वह आपको बहुत ही प्रिय लगा। अतएव आप वहीं रहने लगे। एक बार कानपुरके कुछ रईस चित्रकूट गये, उन्होंने इन्हें देख लिया; पर आप उन्हें न देख पाये, नहीं तो स्थान बदल देते। उन लोगोंने इनके पिताको तार देकर बुला लिया। पिता तार पाते ही वहाँ पहुँच गये और इनसे मिलकर तथा बहुत समझाकर इन्हें कानपुर लौटा लाये। वहाँ आकर आपने श्रीमद्भागवतद्वारा शहरके रईसोंमें भक्तिकी मन्दाकिनी बहा दी।

कानपुरमें प्रयागनारायणजीके मन्दिरके पास मोहाल खास बाजारमें श्रीविहारीजीका मन्दिर है; उसके अध्यक्ष निम्बार्क-सम्प्रदायाचार्य श्री १०८ गोस्वामी माधवलालजी महाराज (लेखकके पितामह) को आप अपना गुरु मानते थे, तथा श्रीविहारीजीको अपना इष्टदेव।

जब आपने कथा प्रारम्भ की तो सर्वप्रथम भागवतादि ग्रन्थोंका पारायण कर श्रीविहारीजी और महाराज-जीको सुनाया। बादमें और जगह बाँचकर काफी

धनोपार्जन किया। यहाँतक कि आपकी एक-एक कथामें दो-दो हजार, तीन-तीन हजार रुपया चढ़ा। कुछ दिनों बाद श्रीमहाराजजी (गो० श्रीमाधवलालजी) की आज्ञा मानकर आपने कथापर चढ़ा धन लेना बन्द कर दिया और अपना कुल रुपया और मकान अपने कुलपूजित श्रीराधिका-कृष्णजीके नाम कर लड़कोंको दे दिया और उन्हें केवल इतना ही अधिकार दिया कि भगवान्‌की सेवा करो और भोग लगाकर प्रसाद पाओ। कुछ रुपया अपने लिये बैंकमें जमा कर रक्खा था, जिसका कि दस रुपया ब्याज आता था। उसीमेंसे आप उदर एवं वस्त्रादिकी पूर्ति करते थे। मासिक व्ययसे जो कुछ बच रहता था, उसे आप धार्मिक आपत्तियों (जैसे विधवोद्वाह, असवर्णविवाह, मन्दिर-प्रवेशादिके निवारण) में सभा करने, पुस्तक छपाने एवं तीर्थाटन आदिमें व्यय करते थे। आप चौबीस घंटेमें एक बार सूर्यास्तके प्रथम भोजन करते थे। दुग्ध आप बिल्कुल नहीं लेते थे। गर्मियोंमें भीगी चनेकी दाल, नोन और अजवाइन मिलाकर और जाड़ोंमें केवल मूँगकी दाल और रोटी खाते थे। अनुष्ठानमें वह भी नहीं लेते थे, केवल फल ही पाते थे।

आप सिला हुआ वस्त्र नहीं धारण करते थे। क्षौर (हजामत) आप प्रतिवर्ष माघ मासमें प्रयाग जाकर ही बनवाते थे। आपने कई सभाओंकी स्थापना और अनेक संस्कृतग्रन्थोंका सरस काव्यमें भाषानुवाद किया—जैसे श्रीमद्भागवत, गीता, रामायण, महाभारत, सत्यनारायण-व्रतकथा आदि, आदि। इनके अतिरिक्त आपने उपदेशरत्नाकर, भजनरत्नमाला, उपदेशरत्नमाला, उपदेशहोली, भजनद्वादशाक्षरी, युगलछटा, दिव्यप्रयाग-वर्णन तथा भक्ति-प्रेम-पुष्पाञ्जलि, तीर्थयात्रासागर, दया-विचार, जगदीश्वरस्तोत्र, जगदम्बास्तोत्र, विज्ञान-लेख-उपदेश, पतिव्रता नारी व नर ब्रह्मचारी, विधवा-विवाह-खण्डन, भजन-रत्नावली, हरिकीर्तनावली आदि कई भक्ति-ज्ञान-उपदेशपूर्ण स्वतन्त्र भाषाकाव्योंकी भी रचना की थी।

आपके पद बड़े ही भावपूर्ण होते थे। लेख-विस्तार-भयसे यहाँ केवल एक ही पद दिया जाता है:—

भजन

डरते रहो यह ज़िन्दगी बेकार न हो जाय।
सपनेमें किसी जीवका अपकार न हो जाय॥
पाया है तन अमोल सदाचारके लिये।
विषयोंमें फँसके तुमसे अनाचार न हो जाय॥
सेवा करो सब देवको, शुभ कर्म, हरि भजन।
इतना भी करके तुमको अहंकार न हो जाय॥
मंजिल असल मुकामकी तै करनी है तुम्हें।
जग ठग-नगरमें फँसके गिरफ्तार न हो जाय॥
'माधव' लगी है बाजी माया-मोह-जालकी।
धोखेमें पड़के अबकी कहीं हार न हो जाय॥

आपको सङ्गीतका अच्छा ज्ञान था, भजन और कीर्तन बड़े ही प्रेमसे किया करते थे। सङ्गीतका अध्ययन लेखकके पिता (पूज्यचरण श्री १०८ गोस्वामी मुरलीधरजी) से किया था। इस नाते उन्हें भी गुरु मानते थे। ग्रन्थ-रचनाके बाद प्रथम उन्हें सुनाकर उनसे सही करा लेते थे, तब छपनेको देते थे। हमारे चरित्रनायकने कई बार इक्कीस-इक्कीस लक्ष गायत्रीका अनुष्ठान किया तथा कई बार चारों धामका तथा अन्य सभी तीर्थोंका भ्रमण किया था। बदरिकाश्रमकी तो आपने नौ बार यात्रा की थी, अन्तिम यात्रामें आपका शरीर बड़ा ही अर्जरित हो

गया था। बदरिकाश्रमसे लौटनेके छः मास पश्चात् सं० १९९० में आपने इस नश्वर शरीरको त्यागकर इहलीला समाप्त की।

लेखकके प्रति आपका बड़ा ही घनिष्ठ स्नेह था, लेखकने आपहीसे संस्कृतका अध्ययन किया था। इस नाते आप लेखकके विद्यागुरु थे।*

---

* पूज्य अवस्थीजी महाराजके दर्शनोंका सौभाग्य हमें भी प्राप्त हो चुका है। पण्डितजी वास्तवमें एक बहुत ऊँची कोटिके संत, विद्वान् एवं त्यागी पुरुष थे। आपकी कथा बड़ी मधुर, चित्ताकर्षक एवं प्रभावोत्पादक होती थी। उसमें भक्ति, ज्ञान, वैराग्य तीनोंका पुट रहता था। भक्तिके खास-खास प्रसङ्गोंको तो आप बड़े ही मार्मिक ढंगसे कहते थे, जिन्हें सुनकर श्रोताओंके हृदयोंमें अपूर्व रसका सञ्चार होने लगता था। पत्थर-सा हृदय भी उनको सुनकर एक बार पसीज जाता था। जहाँ कहीं आपकी कथा होती थी, सैकड़ों नर-नारी वहाँ खिंचे हुए चले आते थे और बड़े-से-बड़ा स्थान भी श्रोताओंसे ठसाठस भर जाया करता था। आपका स्वर बड़ा मधुर था और आपकी वाणीमें बड़ी सरसता एवं कड़क थी, जिसके कारण लोग हजारोंकी संख्यामें उसे अच्छी तरह सुन सकते थे। बीच-बीचमें रोचक आख्यान तथा स्वरचित ललित पदोंको कहकर आप अपनी कथाको बहुत ही सरस बना देते थे। वेदान्तके गूढ़ विषयोंको भी आप बड़े ही सरल ढंगसे समझाया करते थे, जिसके कारण आपकी कथा विद्वानों तथा सर्वसाधारण दोनोंको ही बहुत भाती थी। एक बार भी जो उनकी कथा अथवा उपदेशको सुन लेता था, वह उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहता था, उसके हृदयपर उसकी अमिट छाप पड़ जाती थी। सनातनधर्मके सिद्धान्तोंको भी आप बड़े ही उत्तम ढङ्गसे समझाया करते थे और बड़े-बड़े तार्किकोंको भी उनकी व्याख्याओंसे बड़ा सन्तोष होता था। आपके उपदेश बड़े ही सरल एवं स्वाभाविक होते थे जिस समय आप बोलते थे मालूम होता था आपकी वाणीमें साक्षात् सरस्वती आ विराजी हैं। एक-एक शब्द जो आप बोलते थे, वह मानो उनके हृदयसे ही निकलता था, उसमें कृत्रिमताका गन्ध भी नहीं होता था। आप लगातार घंटों बोल सकते थे। श्रीमद्भागवत तथा तुलसीकृत रामायण तो प्रायः आपको कण्ठस्थ थी। अन्य पुराणों तथा रामायण-महाभारतका भी आपने अच्छा अनुशीलन किया था। श्रीमद्भागवतके सप्ताहमें आप पाठ-श्रवणपर अधिक जोर देते थे और कहते थे कि बिना अर्थ समझे भी उसके श्रवण-मात्रका महान् फल है। इसीलिये वे प्रातःकालसे मध्याह्नतक पचास अध्यायका पाठ सुनाया करते थे और अपराह्णमें कथा कहते थे। इस क्रमसे वे मुख्य-मुख्य प्रसङ्गोंको ही विस्तारसे कह पाते थे और शेष कथानकको संक्षेपमें ही कह जाया करते थे। पाठके समय वे श्रोताओंको अपने पास पुस्तक नहीं रखने देते थे।

तितिक्षा, त्याग, तपस्या एवं वैराग्यकी तो आप मूर्ति ही थे। सर्दी-गर्मी, बारहों महीने आप जमीनपर ही सोया करते थे। जाड़ोंमें भी आप पक्के फर्शपर एक पतली-सी कम्बल बिछाकर सोते थे और एक वैसी ही कम्बल ओढ़ते थे। तकियेके स्थानमें ईंटेका व्यवहार करते थे। दिनमें तो प्रायः एक सूती रामनामी चद्दर ही शरीरपर रखते थे। आप सबेरे तीन बजेके करीब रोज उठ जाते थे और शौचादिसे निवृत्त होकर बड़े सबेरे ठंडे जलसे स्नान करते थे और फिर अपने नित्यकर्ममें बैठ जाते थे। आपका यह बारहों महीनेका नियम था। कँटीली तथा कँकड़ीली पहाड़ी जमीनपर, बदरीनाथकी बर्फीली चट्टानोंपर तथा बीकानेरकी गरम बालूपर भी आप नंगे पाँव ही चलते थे। बदरीनाथकी चढ़ाईमें भी आप हाथमें लकड़ी नहीं रखते थे और जहाँ साधारण यात्रियोंके लिये वहाँ तीन दिन ठहरना भी भारी हो जाता है, वहाँ ये जितनी बार बदरीनाथकी यात्रा करते थे, श्रीमद्भागवतका एक सप्ताह पारायण श्रीबदरीनाथजीको अवश्य सुनाते थे। भागवतका सप्ताह-पारायण करते समय आप केवल फलाहार करते थे। इस प्रकारके पारायण अपने लिये तथा दूसरोंके निमित्त आपने जीवनमें न मालूम कितनी बार किये थे। यही कारण था कि श्रीमद्भागवत आपको प्रायः कण्ठस्थ हो गयी थी। दूध आप इसीलिये नहीं लेते थे कि आजकल प्रायः सभी गाय रखनेवाले बछड़ेका अंश स्वयं ले लेते हैं और उसके लिये नाममात्रका ही दूध छोड़ते हैं। जलके सम्बन्धमें आपका यह नियम था कि गङ्गाजीके किनारे रहनेपर वे उसीका जल व्यवहारमें लेते थे, गङ्गाके अभावमें और किसी नदीका जल भी उपयोगमें ले लेते थे। जहाँ नदी नहीं होती थी, वहाँ तालाब अथवा बावलीका जल काममें लेते थे और इस प्रकारका कोई साधन न होनेपर ही आप कुएँ आदिका जल ग्रहण करते थे। स्नानके सम्बन्धमें

दैनिक कल्याण-सूत्र

१ जनवरी सोमवार—नित्य प्रेमपूर्वक श्रीभगवान्‌का स्मरण करो। इससे तुम्हें सदा शुभ शकुन होंगे, तुम्हारा सब प्रकारसे मङ्गल होगा और आदि, मध्य तथा परिणाममें सब समय भला होगा।

तुलसी सहित सनेह नित सुमिरहु सीताराम।
सगुन सुमंगल सुभ सदा आदि मध्य परिनाम॥

२ जनवरी मंगलवार—यह मनुष्यशरीररूपी सुन्दर खेत बड़े पुण्यसे मिला है, इसमें रामनामकी खेती करो; अर्थात् नामरूपी बीज बोकर उन्हें प्रेमाश्रुओंके जलसे निरन्तर सींचते रहो। ऐसा करनेसे रोमाञ्चरूपी अङ्कुर प्रकट होंगे और बहुत जल्दी आनन्दकी खेती लहलहा उठेगी।

बीज राम गुन गन, नयन जल, अंकुर पुलकालि।
सुकृती सुतन सुखेत बर बिलसत तुलसी सालि॥

३ जनवरी बुधवार—रामराज्य कहीं चला नहीं गया है, न श्रीराम ही कहीं चले गये हैं। आज भी सर्वत्र उन्हींका राज्य है, वे ही घट-घटमें रम रहे हैं। आवश्यकता है चित्त-रूपी चक्षुसे उनकी ओर निहारते रहनेकी। फिर तुम सदा अपनेको उन्हींकी छत्रछायामें पाओगे, तुम्हारे सभी कार्य शुभ हो जायँगे और यह कलियुग भी तुम्हारे लिये अत्यन्त सुखदायी हो जायगा।

रामचंद्र मुख चंद्रमा चित चकोर जब होइ।
राम राज सब काज सुभ, समय सुहावन सोइ॥

४ जनवरी गुरुवार—गङ्गातटपर रहकर गङ्गाजलका पान करो और भगवान्‌का नाम रटते रहो। कलियुगमें पाषण्ड और पापोंकी मात्रा बहुत अधिक बढ़ जानेके कारण मनुष्यके निस्तार-के केवल ये दो ही उपाय रह गये हैं।

कलि पाषंड प्रचार, प्रबल पाप पाँवर पतित।
तुलसी उभय अधार, राम नाम, सुरसरि सलिल॥

५ जनवरी शुक्रवार—श्रीरामगुणगानरूपी अग्निको सदा प्रज्वलित रक्खो। फिर कलियुगरूपी जाड़ा तुम्हारा कुछ नहीं कर सकेगा। कुपथ, कुतर्क, कुचाल तथा कपट, दम्भ एवं पाषण्ड—ये सब उस आगमें जलकर भस्म हो जायँगे।

कुपथ कुतरक कुचालि कलि कपट दंभ पाषंड।
दहन राम गुन ग्राम जिमि इंधन अनल प्रचंड॥

६ जनवरी शनिवार—धर्मके चार चरण हैं—सत्य, दया, तप और दान। इनमेंसे कलियुगमें दान ही प्रधान है। जिस किसी प्रकार दान देनेसे मनुष्यका कल्याण होता है। इसलिये अपनी शक्तिके अनुसार दान देते रहो।

भी आपका यही नियम था। यह नियम आपने इसीलिये लिया था कि जहाँतक हो सकता था आप ऐसे ही वस्तुका उपयोग करना चाहते थे जिसपर किसीका व्यक्तिगत स्वत्व न हो।

अभिमान तो आपको छूतक नहीं गया था। सरलताकी आप मूर्ति थे। आपका हृदय बड़ा कोमल था। दूसरोंको अपनी वाणीद्वारा भी कष्ट न पहुँचे, इस बातकी आप सदा चेष्टा रखते थे। दूसरोंका वास्तविक कल्याण किस तरह हो, इसके लिये आप सदा चिन्तित रहा करते थे। त्यागवृत्ति भी आपकी अनुपम थी। एक बार आपकी कथामें किसीने चोरीसे कुछ द्रव्य चढ़ा दिया था, इससे आपको हार्दिक कष्ट पहुँचा था। किसीसे किसी भी प्रकारकी सेवा स्वीकार करनेमें उन्हें बड़ा संकोच होता था। अपना काम प्रायः वे अपने हाथसे ही किया करते थे। नाम-जप उनका कथा, सत्सङ्ग आदिके अतिरिक्त और समयमें प्रायः अखण्ड चलता रहता था। तात्पर्य यह है कि सभी दृष्टियोंसे आपका जीवन एक आदर्श जीवन था। घरमें अपने बाल-बच्चोंके साथ रहते हुए भी आप एक संन्यासीकी भाँति रहते थे।

—सम्पादक

प्रगट चारि पद धर्मके कलि महुँ एक प्रधान।
जेन केन बिधि दीन्हें दान करइ कल्यान॥

७ जनवरी रविवार—निन्दा तथा सब प्रकारके कष्टोंको सहकर एवं अन्याय और अपमानको भी अङ्गीकार करके अपने धर्मको न छोड़ो। अच्छे पुरुष ऐसी बात केवल कह ही नहीं गये हैं, बल्कि करके भी दिखला गये हैं।

सहि कुबोल, साँसति सकल, अँगइ अनट अपमान।
तुलसी धरम न परिहरिअ, कहि करि गये सुजान॥

८ जनवरी सोमवार—जिनका हृदय युवतियोंके कटाक्षरूपी बाणसे न बिंधा हो और जो संसारके कठिन मोहपाशमें न बँधे हों, ऐसे महापुरुषोंको संसारके थपेड़ोंसे त्राण पानेके लिये अपना कवच बना लो। फिर देखोगे कि यह संसार तुम्हें भयभीत न कर सकेगा।

छिद्यो न तरुनि कटाच्छ सर, करेउ न कठिन सनेहु।
तुलसी तिन की देह को जगत कवच करि लेहु॥

९ जनवरी मंगलवार—वचन सदा ऐसे बोलो जो सुननेमें मधुर और परिणाममें हितभरे हों। क्रोधसे भरे कटुवचन बोलनेकी अपेक्षा तो तलवारको म्यानसे बाहर निकालना कहीं अच्छा है।

रोष न रसना खोलिऐ, बरु खोलिअ तरवारि।
सुनत मधुर, परिनाम हित बोलिअ बचन बिचारि॥

१० जनवरी बुधवार—यदि किसीके मनसे वैरको जड़से निकाल देना चाहते हो तो उसे हित-भरे वचन कहो। यदि दूसरेका प्रेम प्राप्त करना चाहते हो तो उसकी सेवा करो और यदि अपना कल्याण चाहते हो तो सबसे विनयपूर्वक सम्भाषण करो।

बैर मूलहर हित बचन, प्रेममूल उपकार।
दो हा सुभ संदोह सो तुलसी किएँ बिचार॥

११ जनवरी गुरुवार—याद रक्खो—परमार्थ-पथके पथिकके लिये झगड़ा करनेकी अपेक्षा समझौता—मेल कर लेना अच्छा है; दूसरेको जीतने—नीचा दिखानेकी अपेक्षा हार जाना अच्छा है; दूसरेको धोखा देनेकी अपेक्षा स्वयं धोखा खाना अच्छा है।

जूझे तें भल बूझिबो, भली जीत तें हार।
डहके तें डहकाइबो, भलो जो करिअ बिचार॥

१२ जनवरी शुक्रवार—किसीको कटु वचन कहकर दबानेकी चेष्टा न करो, उपकारके द्वारा उसे वशमें करो। वाग्युद्धमें दूसरेसे हार जाना ही हजार बार जीतनेके समान है और जीतनेमें ही हार है।

बोल न मोटे मारिऐ, मोटी रोटी मारु।
जीति सहस सम हारिबो, जीते हारि निहारु॥

१३ जनवरी शनिवार—यदि अज्ञानरूपी अन्धकारका नाश चाहते हो तो हृदयमें भगवद्भजनरूपी सूर्यको ला बिठाओ। विना सूर्यका प्रकाश हुए जिस प्रकार रात्रिके अन्धकारका नाश नहीं होता, उसी प्रकार विना भगवद्भजनके अज्ञानका नाश होना असम्भव है।

राकापति षोडस उअहिं, तारा गन समुदाइ।
सकल गिरिन्ह दव लाइअ, रबि बिनु राति न जाइ॥

१४ जनवरी रविवार—ब्रह्माकी सृष्टिमें गुण और दोष दोनों भरे हैं। तुम्हारा काम है नीर-क्षीर-विवेकी हंसकी भाँति दोषोंका त्याग करके केवल गुणोंको ग्रहण करना। ऐसा करनेसे तुम दोषोंसे सर्वथा छूटकर भगवान्‌के परम-पदके अधिकारी हो जाओगे।

जड़ चेतन गुन दोषमय बिस्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुन गहहिं पय, परिहरि बारि बिकार॥

१५ जनवरी सोमवार—सत्पुरुषोंका सङ्ग मोक्षकी

ओर ले जानेवाला है और कामी पुरुषोंका सङ्ग आवागमनकी ओर। वेद-पुराण, साधु-संत, पण्डित-ज्ञानी—सभी एक स्वरसे ऐसा कहते हैं। अतः यदि मोक्षके मार्गपर अग्रसर होना चाहते हो तो विषयी पुरुषों-का सङ्ग त्यागकर सत्पुरुषोंका सङ्ग करो।

संत संग अपबर्ग कर, कामी भव कर पंथ।
कहहिं साधु कबि कोबिद श्रुति पुरान सदग्रंथ॥

१६ जनवरी मंगलवार—काम, क्रोध और लोभ—ये तीन मनुष्यके बड़े प्रबल शत्रु हैं। ये बड़े-बड़े ज्ञानी मुनियोंके भी मनको विचलित कर देते हैं। अतः इनसे सदा सावधान रहो। इनके साथ कभी रिआयत न करो। इन्हें कभी मनमें आश्रय न दो।

तात तीनि अति प्रबल खल, काम, क्रोध अरु लोभ।
मुनि बिग्यान धाम मन करहिं निमिष महँ छोभ॥

१७ जनवरी बुधवार—आशा ही परम दुःख है और निराशा ही परम सुख है। अतः जगत्की ओरसे निराश होकर—भोगोंकी आशा छोड़-कर एकमात्र भगवान्की ही आशा करो। फिर तुम्हारे लिये सब ओर सुख-ही-सुख है।

तुलसी अद्भुत देवता आसा देवी नाम।
सेयँ सोक समर्पई, बिमुख भएँ अभिराम॥

१८ जनवरी गुरुवार—विश्वास करो, भगवान्की कृपा समस्त मङ्गलोंकी खान है; उसने केवट, निशाचर तथा पशु-पक्षियोंतकको साधु एवं सम्मानका पात्र बना दिया। अतः तुम सब ओरसे दृष्टि हटाकर एकमात्र उस कृपापर ही निर्भर हो रहो; फिर तुम्हारे लिये मङ्गल-ही-मङ्गल है।

केवट निसिचर बिहग मृग साधु किए सनमानि।
तुलसी रघुबर की कृपा सकल सुमंगल खानि॥

१९ जनवरी शुक्रवार—श्रीरामकी कृपासे शिला नारी बन गयी, पत्थर तैर गये और मरे हुए वानर जी उठे। फिर क्या तुम्हारा कल्याण न होगा ? विश्वास करो, उनकी कृपासे असम्भव भी सम्भव हो सकता है।

सिला सुतिय भइ, गिरि तरे, मृतक जिए जग जान।
राम अनुग्रहँ सगुन सुभ, सुलभ सकल कल्यान॥

२० जनवरी शनिवार—दीनोंकी रक्षा करना भगवान्-का विरद है। उन्होंने दीन बने हुए सुग्रीवको मित्ररूपमें ग्रहण किया और महान् बलशाली बालिसे उसकी रक्षा की। अतः तुम भी दीन होकर उनकी कृपाके पात्र बन जाओ। वे कामादि प्रबल शत्रुओंसे सहज ही तुम्हें बचा लेंगे।

बालि बली बलसालि दलि, सखा कीन्ह कपिराज।
तुलसी राम कृपालु को बिरद गरीबनिवाज॥

२१ जनवरी रविवार—जिस प्रकार सूर्यके दूर हट जानेपर छाया लंबी हो जाती है और सूर्यके निकट आनेपर वह पैरों तले आ जाती है, उसी प्रकार चित्त जब भगवान्से दूर हट जाता है तो संसारी माया उसे घेर लेती है और भगवान्को हृदयमें स्थित देखकर वह छिप जाती है। अतः यदि मायाके आक्रमण-से बचना चाहते हो तो एक क्षणके लिये भी भगवान्को न भूलो। फिर माया तुम्हारी छायाको भी न छू सकेगी।

राम दूरि माया बढ़ति घटति जानि मन माँह।
भूरि होति रबि दूर लखि, सिर पर पगतर छाँह॥

२२ जनवरी सोमवार—याद रक्खो, राम-नामका आश्रय लिये विना परम तत्त्वको पानेकी आशा करना उसी प्रकार निरर्थक है, जिस प्रकार वर्षाकी बूँदोंको पकड़कर आकाशमें चढ़नेकी इच्छा करना।

राम नाम अवलंब बिनु परमारथ की आस ।
बरसत बारिद बूँद गहि चाहत चढ़न अकास ॥

२३ जनवरी मंगलवार—विश्वास करो, प्रेम और विश्वासपूर्वक नाम-जपरूपी यत्न करनेसे विधाता अनुकूल हो जाते हैं और अभागा भी भाग्यवान् बन जाता है ।

तुलसी प्रीति प्रतीति सों राम नाम जप जाग ।
किएँ होइ बिधि दाहिनो, देइ अभागेहि भाग ॥

२४ जनवरी बुधवार—सबसे प्रेम हटाकर एकमात्र श्रीरामसे ही प्रेम करो । अपने मनको बार-बार यही उपदेश देते रहो, इसीमें तुम्हारा भला है ।

रे मन ! सब स निरस ह्वै, सरस राम सों होहि ।
भलो सिखावन देत है निसि दिन तुलसी तोहि ॥

२५ जनवरी गुरुवार—अपने मनको बार-बार समझाते रहो कि जब तुम्हारा स्वार्थ और परमार्थ दोनों एक भगवान्‌के द्वारा ही सिद्ध हो सकते हैं, तब तुम्हें दूसरी ओर ताकनेकी क्या आवश्यकता है ।

स्वारथ सीता राम सों परमारथ सिय राम ।
तुलसी तेरो दूसरे द्वार कहा कहु काम ॥

२६ जनवरी शुक्रवार—विश्वास करो—अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष—चारों पुरुषार्थोंका अन्तिम फल श्रीसीता-रामके चरणोंमें अहैतुक प्रेम है । बड़े-बड़े संतोंका यही मत है ।

स्वारथ परमारथ रहित सीता राम सनेह ।
तुलसी सो फल चारि को फल हमार मत एह ॥

२७ जनवरी शनिवार—याद रक्खो, परमात्मा अंशी है और जीव उसका अंश है । अंशके अंशीसे विमुख हो जानेमें अंशकी हानि-ही-हानि है । गङ्गाजीका जल यदि गङ्गाजीके प्रवाहसे विच्छिन्न हो जाता है तो शास्त्र कहते हैं कि वह मदिराके समान हो जाता है ।

तुलसी रामहि परिहरें निपट हानि सुनु ओझ ।
सुरसरि गत सोई सलिल सुरा सरिस गंगोझ ॥

२८ जनवरी रविवार—याद रक्खो—सामर्थ्यवान् पुरुषोंको सुख पहुँचाने तथा उनसे प्रेम करनेवाले तो सभी होते हैं, परन्तु असमर्थोंसे प्रेम करनेवाला और उनका हित चाहनेवाला श्रीरामको छोड़कर कोई नहीं है । यह बात संतोंने विचारपूर्वक कही है ।

सबइ समरथहि सुखद प्रिय, अच्छम प्रिय हितकारि ।
कबहुँ न काहुहि राम प्रिय तुलसी कहा बिचारि ॥

२९ जनवरी सोमवार—जो लोग काम, क्रोध, मद, लोभ आदिमें रत हैं और दुःखरूप संसारमें आसक्त हैं, वे मूढ़ श्रीरामके स्वरूपको नहीं जान सकते । अतः यदि श्रीरामके तत्त्वको जानना चाहते हो तो इन सब दुर्गुणोंको त्यागकर संसारसे ममता और आसक्तिको हटाओ । तभी तुम भगवान्‌के स्वरूपको ठीक तरह समझ सकोगे ।

काम क्रोध मद लोभ रत, गृहासक्त दुखरूप ।
ते किमि जानहिं रघुपतिहि मूढ़ परे तम कूप ॥

३० जनवरी मंगलवार—याद रक्खो—जिस प्रकार जलके बिना नाव नहीं चल सकती, चाहे कोई करोड़ उपाय क्यों न करे, उसी प्रकार सन्तोष किये बिना शान्ति और सुख नहीं मिल सकता ।

कोउ बिश्राम कि पाव, तात ! सहज संतोष बिनु ।
चलै कि जल बिनु नाव, कोटि जतन पचि पचि मरिअ ॥

३१ जनवरी बुधवार—एकाङ्गी प्रेमका पाठ सीखना हो तो पपीहेसे सीखो । बादल चाहे ओले बरसावे, चाहे बिजली गिरावे, पपीहा उसे छोड़ दूसरी ओर भूलकर भी नहीं ताकता ।

उपल बरषि गरजत तरजि, डारत कुलिस कठोर ।
चितव कि चातक मेघ तजि कबहुँ दूसरी ओर ॥

नारी

(पाश्चात्त्यसमाजमें और हिन्दूसमाजमें)

[पूर्वप्रकाशितसे आगे]

(लेखक—श्रीचारुचन्द्र मित्र एटर्नी-एट्-लॉ)

हम पिछले अङ्कोंमें दिखला चुके हैं कि पाश्चात्त्य देशोंमें कितनी अधिक संख्या कुमारियोंकी चिरकालतक अविवाहित अवस्थामें कामोपभोग करनेके लिये बाध्य होती है तथा उसके बुरे फलको भोगती है एवं क्रमशः मातृत्वके लिये अनुपयोगी हो जाती है। उनके लिये मातृत्व कष्टप्रद प्रतीत होने लगता है और धीरे-धीरे मातृत्वसे उनकी विरक्ति हो जाती है। इन कारणोंसे कितनी अधिक संख्यामें पाश्चात्त्य स्त्रियाँ कामोपभोग करते हुए भ्रूणहत्या करनेके लिये बाध्य होती हैं, यह बात प्रसिद्ध पाश्चात्त्य समाजतत्त्ववेत्ताओंके लेखके आधारपर दिखलायी जायगी।

लिंडसे (Lindsay) साहबने लिखा है कि अमेरिकाके संयुक्त राज्योंमें प्रतिवर्ष १५ लाख भ्रूणहत्याएँ होती हैं, डीन आइंज साहब कहते हैं बीस लाख। फ्रांसमें बूसीकॉल्ट (Boucicault) अस्पतालमें जितने जीवित बच्चे जन्म लेते हैं, उनसे ढाई गुने गर्भस्रावके रोगी आते हैं। सुप्रसिद्ध समाजतत्त्ववेत्ता बर्टरैंड रसेल (Bertrand Russel) साहबने अपनी Marriage and Morals (विवाह और सदाचार) नामक पुस्तकमें लिखा है—जूलियस वुल्फ (Julius Wolf) ने बहुत खोजपूर्वक बतलाया है कि जर्मनीमें प्रतिवर्ष छः लाख भ्रूणहत्याएँ होती हैं। बर्टरैंड रसेल कहते हैं कि इँगलैंड और स्कॉटलैंडमें मिलाकर छः लाखसे भी अधिक भ्रूणहत्याएँ होती हैं। पाश्चात्त्य देशोंमें अनगिनत अस्पताल हैं, इन सब कामोंके लिये अनगिनत सेवासदन हैं, हमारे देशमें उनका सहस्रांश भी नहीं है। अतएव हमारे देशमें जो तरुणी कन्याएँ गर्भवती होंगी, उनकी क्या दशा होगी? कामोपभोग करते रहनेपर बहुतोंका गर्भवती हो जाना अवश्यम्भावी है। अधिक उम्रतक विवाह न होनेपर वे कहाँतक प्रकृतिके निग्रहको सह सकेंगी, यह भी निश्चित है। पाश्चात्त्योंके समान उतनी गर्भनिरोधकी प्रथाएँ भी इस देशकी स्त्रियोंको ज्ञात नहीं तथा उनके प्रयोग करनेकी सामर्थ्य और कौशल भी बहुतोंमें नहीं है; अतएव पाश्चात्त्योंकी अपेक्षा सैकड़े पीछे कहीं अधिक स्त्रियाँ गर्भवती हो जायँगी। ऐसी अवस्थामें वे कौन-सा उपाय करेंगी? संरक्षकोंके पास धनकी अधिकता होनेसे कन्याओंके चरित्र-दोषको दबाकर उसका दुष्परिणाम बहुत कुछ हल्का किया जा सकता है; परन्तु हमारे देशमें सैकड़े पीछे एक पुरुषमें भी धनकी वैसी बहुतायत नहीं है।

समस्त बंगालमें केवल ४५ हजार आदमी प्रतिवर्ष २०००) से ऊपर आयपर इन्कमटैक्स देते हैं। यदि खेतीके योग्य जमीनकी आयसे और भी चार या पाँच लाख आदमियोंकी इतनी आय मान ली जाय तो भी सैकड़े पीछे केवल एक आदमीकी आय २०००) वार्षिक पहुँचती है। दो हजार रुपये वार्षिकसे कई गुनी आय न होनेके कारण कन्याओंके चरित्र-दोषको दबाकर उसका दुष्परिणाम हलका नहीं किया जा सकता। अतएव इन गर्भवती युवतियोंका अनभिज्ञ दाइयोंके द्वारा गर्भपात करानेसे बहुतेरी मर जायँगी और प्रायः सबको ही गर्भपातकी दारुण यन्त्रणा भोगनी पड़ेगी—उनमेंसे बहुतोंको चिरकालतक रोगग्रस्त होना पड़ेगा, बहुतोंको बाध्य होकर शिशुहत्या करनी पड़ेगी या शिशुके परित्यागकी व्यवस्था करनी पड़ेगी। जो भ्रूणहत्या या सन्तानका त्याग करनेमें समर्थ नहीं होंगी, उनको जारज-सन्तानका पालन करते हुए वेश्यावर्गमें अपनी गिनती करानी पड़ेगी। वेश्या होनेपर भी बहुतोंके भोजन-वस्त्रकी व्यवस्था नहीं होती। इसके अतिरिक्त उन्हें दासीका काम करना पड़ता है, जो सदा सभीके देखनेमें आता है।

आज भी पाश्चात्त्य स्त्रियोंके लिये सदुपायसे जीविकोपार्जन करना अत्यन्त कठिन है। हमारे देशकी स्त्रियोंके लिये वेश्यावृत्ति और दासीका काम छोड़कर दूसरा काम करनेका कोई रास्ता नहीं है, यह कहना ही पड़ेगा। उनमेंसे ९७ प्रतिशत निरक्षर हैं। प्राथमिक शिक्षा इस देशमें ९२ प्रतिशत पुरुष भी नहीं प्राप्त करते। प्राथमिक या माध्यमिक शिक्षा प्राप्त कर लेनेसे भी जीविकोपार्जनमें कोई विशेष सुविधा नहीं होती। विश्वविद्यालयकी शिक्षा प्राप्त करके भी पुरुषलोग कोई विशेष काम नहीं कर सकते, यह हम बराबर देखते हैं। ऐसी अवस्थामें हमारी युवती स्त्रियोंकी क्या दशा होगी, क्या सुधारक लोग एक बार इसके ऊपर विचार करेंगे? वास्त-

विवाहके दोषोंको कल्पनाके द्वारा अनुमानसे दिखलाया जाता है। न्यायशास्त्रसम्मत एक भी प्रमाण कोई नहीं दिखलाता। क्या इस कल्पित दोषके साथ युवतियोंकी उपर्युक्त दशासे आप तुलना करेंगे? पाश्चात्त्य देशोंमें समाज-गठनसम्बन्धी दोषोंके कारण सन्ततिनिरोधके उपायोंका अवलम्बन करते हुए भी इँगलैंड, फ्रांस, जर्मनी तथा अमेरिकाके संयुक्त राज्योंमें प्रतिवर्ष छः से लेकर पन्द्रह-बीस लाखतक भ्रूणहत्याएँ करनेके लिये स्त्रियाँ बाध्य होती हैं। बहुतेरे प्रदेशों और शहरोंमें ४ से २० प्रतिशततक जारज सन्तान पैदा होती है। हमारे देशकी अवस्थाको देखते हुए उससे भी कई गुना अधिक होनेकी सम्भावना है। इन बातोंपर विचार किये बिना ही हमारे देशके सुधारक पाश्चात्त्योंके व्यामोहमें पड़कर उसी प्रकारका समाज-गठनकर स्त्रियोंकी और देशकी उन्नतिकी आशा करते हैं और यही करनेके लिये कमर कसे हुए हैं!

आजकल पाश्चात्त्य देशोंकी यह हालत है कि भ्रूण-हत्याको दोष नहीं माना जाता। सन् १९३१ ई० के पहले तीन महीनोंमें इँगलैंडमें १,५९,८२० बच्चे जीवितावस्थामें पैदा हुए थे; इस हिसाबसे प्रतिवर्ष ६,३९,२८० बच्चे पैदा होते हैं, ऐसा माना जा सकता है। परन्तु हमने दिखलाया है कि वहाँ छः लाखसे अधिक प्रतिवर्ष भ्रूणहत्याएँ होती हैं, अर्थात् प्रायः आधी गर्भवती स्त्रियाँ भ्रूणहत्या करती हैं। हमारे सुधारक इसपर कह उठेंगे कि जो बच्चोंका ठीक-ठीक पालन-पोषण नहीं कर सकतीं, अथवा पालन करनेमें जिनको कष्ट भोगना पड़ता है, बच्चोंको भी कष्ट होता है, उनके लिये भ्रूणहत्या करना ही ठीक है, इसी कारण पाश्चात्त्य लोग भ्रूणहत्या करते हैं।

हमारे देशमें प्रतिवर्ष केवल दो-चार हजार विधवाएँ भ्रूणहत्या करती हैं। गर्भजात शिशुका सम्यक् पालन नहीं हो सकेगा, अथवा उसके लिये अत्यन्त कष्ट भोगना पड़ेगा, शिशुकी भी दुर्गति होगी—इन्हीं कारणोंसे तो वे भ्रूणहत्या करती हैं। ऐसी हालतमें देखा जाता है कि नये सिद्धान्तवाले हिन्दूसमाजको नारियोंपर अत्याचार करनेवाला कहकर ढोल पीटते हैं। जज और मजिस्ट्रेट आदि भी हिन्दुओंको गाली देकर वक्तृता देनेका सुअवसर नहीं छोड़ते। परन्तु जहाँ दो-चार हजारके बदले पाश्चात्त्य समाजकी आधी गर्भवती स्त्रियाँ—क्या कुमारी, क्या विधवा, क्या सधवा, इस प्रकार भ्रूणहत्या करती हैं, तब वे इस भ्रूणहत्याको ठीक बतलाते हैं! क्या यही नारी-स्वत्वाधिकारके प्रसारका—स्त्रियोंकी उन्नतिका चिह्न है? जिस पाश्चात्त्य समाजगठनके कारण, जिस जीवनादर्शके कारण देशकी आधी स्त्रियाँ इस प्रकार भ्रूणहत्या करनेके लिये बाध्य होती हैं, क्या वैसा ही समाज-गठन करनेके लिये, वैसे ही आदर्शका अनुसरण करनेके लिये तरुणवर्गको प्रोत्साहित किया जा रहा है?

जो लोग सम्यक्रूपसे सन्तानके पालनमें असमर्थताके कारण भ्रूणहत्याको ठीक मानते हैं, उनसे हम पूछते हैं कि उनके 'सम्यक्रूप'का क्या अर्थ है? इस 'सम्यक्'का मानदण्ड क्या है? हमलोग जिसे 'सम्यक् पालन' कहते हैं, हमसे बड़े आदमी उसे वैसा नहीं कहते और गरीब उसे अनुचित व्यय समझते हैं। यदि इस सिद्धान्तको हम स्वीकार कर लें तो हमारे देशकी प्रतिशत ९५ स्त्रियोंका भ्रूणहत्या करना उचित समझा जायगा। क्योंकि किसी सभ्य समाजके मानदण्डसे इस देशकी प्रतिशत ९५ गर्भवती स्त्रियाँ बच्चेका सम्यक्रूपसे पालन नहीं कर सकतीं। अतएव गरीबोंमें—हममेंसे अधिकांश अत्यन्त गरीब हैं—सबके लिये भ्रूणहत्या करना वैध हो जायगा। यदि माता-पिताको गर्भस्थ शिशुकी हत्या करनेका अधिकार है, तो सन्तानके कुछ बड़े होनेपर जब माता-पिता यह देखेंगे कि उनकी अवस्था गिर गयी है और अपनी उस सन्तानका सम्यक् पालन करनेमें वे असमर्थ हैं, तब उस अल्पवयस्क सन्तानकी हत्या भी उनके लिये वैध हो जायगी—गर्भके भीतर रहने और बाहर रहनेमें भेद करना भी कुसंस्कार ही समझना चाहिये। और यदि माता-पिता उनकी हत्या न करना चाहें, तो क्यों नहीं उस कामको गवर्नमेंटके द्वारा ही कराया जाय? गरीब लोग तो प्रायः पृथ्वीके सभी सुखोंसे वञ्चित रहते हैं। सन्तानके पालन करनेमें—उनको पुचकारनेमें, प्रेम करनेमें जो सुख है, जिसके कारण स्वयं न खाकर वे अपने शिशुको खिलाते हैं, उस सुखसे भी गरीबोंको वञ्चित किया जाय। हिन्दू-समाजमें लोग चाहे कितने ही गरीब क्यों न हों, आज भी वे पति तथा स्त्री-पुत्रादिके प्रेमको प्राप्त करते हैं, अस्वस्थ दशामें अथवा बुढ़ापेमें उनकी सेवा, सहायता और सहानुभूति पानेकी आशा करते हैं तथा पाते भी हैं। यही कारण है कि सभी सन्तानकी कामना करते हैं और उसके उद्देश्यसे षष्ठी-पूजा तथा व्रतादि करते हैं।

सुधारकलोग उन्नतिकी कामनासे क्या उन्हें उस सुखसे

भी वञ्चित करनेकी चेष्टा नहीं करते ? क्या दूसरे शब्दोंमें उनसे यह नहीं कहा जाता कि 'तुम गरीब हो, अतः विवाह न करना; यदि कामोपभोग करते हो तो खयाल रखना कि बच्चा न पैदा होने पावे; यदि गर्भ रह जाय तो स्वयं ही भ्रूणहत्या करो, सावधान ! इसके लिये धनियोंको तंग न करना' ? प्राणी और मशीनमें अन्तर केवल यही है कि प्राणी बच्चा पैदा करनेमें समर्थ होता है । बच्चेको प्यार करना, उसे दूध पिलाना, चूमना-पुचकारना तथा उससे प्रेम और सेवा प्राप्त करना ही मनुष्य-जीवनका, विशेषतः नारियोंका एक प्रधान सुख है । ऐसी अवस्थामें क्या उनसे यह नहीं कहा जाता कि 'वह सुख तुम्हारे लिये नहीं है, वह केवल धनियोंके लिये है; तुम केवल मशीनके समान आजीवन धनियोंके लिये काम करते रहो; तुम यदि अपनी अस्वस्थ दशामें या बुढ़ापेमें अपनी स्त्री (अथवा पति), पुत्र, कन्यादिके द्वारा सेवा पानेकी आशा करते हो, तो उस आशाको त्यागनेकी शिक्षा ग्रहण करो; वह आशा केवल मृगतृष्णा है । उन्नत पाश्चात्त्य समाजमें माता-पिताकी सेवा-सहायता कोई विरले ही करते हैं । हमको उसी उन्नत आदर्शपर चलना चाहिये, भारतवर्षके सारे प्राचीन आदर्शोंका त्याग किये बिना हमारी उन्नतिकी कोई आशा नहीं है ! ये सब हमारे पुराने कुसंस्कार हैं, इसी कारण हममेंसे बहुत लोगोंने उनका त्याग कर दिया है; अब इस युगमें मातृ-पितृभक्ति नहीं चल सकती । अपनी सेवा-शुश्रूषाका काम आप सँभालना पड़ेगा, सबको स्वावलम्बी होना पड़ेगा । यदि स्वयं न हो सके तो गवर्नमेंटके द्वारा यह सब काम कराया जायगा । यद्यपि आज हमलोग वैसा करनेमें समर्थ नहीं हैं, किन्तु निश्चय ही समझ लो कि क्रमशः हम उसे कर लेंगे—किन्तु किस सुदूर भविष्यमें, यह प्रश्न अनावश्यक है । इस समय यदि तुम गरीब सन्तान बिना छोड़े मर जाओगे तो गरीबोंकी संख्या शीघ्र ही कम हो जायगी और तब इस प्रकारका प्रबन्ध हम सहज ही कर सकेंगे ।'

सुधारकलोग चाहे जो कुछ करना वैध बतलावें, हममेंसे साधारण लोग इतने उन्नत नहीं हैं कि उनके उपदेशके अनुसार चलनेसे देश कितना जल्दी कितना उन्नत हो जायगा—अल्पसंख्यक निवासियोंसे युक्त, अप्सराओंकी अमृतमयी वाणीसे प्रतिध्वनित नन्दनकानन बन जायगा—यह बात सामान्य कल्पनाशक्तिसे हीन होनेके कारण उन्हें नहीं सूझती । हममेंसे साधारण लोगोंके मनकी गति और प्रकृति आज भी उन्नत पाश्चात्त्य आदर्शमें नहीं ढल सकी है । इसी कारण जो सन्तान अपने रक्तसे परिपुष्ट होती है, उसके प्रति माताका हृदय स्वभावतः आकर्षित हो जाता है । पाश्चात्त्योंके समान उन्नत, परिमार्जित बुद्धि, सुदूरदर्शिता और सहानुभूतिकी अधिकता न होनेके कारण, धनकी प्रचुरता और भोगवासनाकी पूर्ति ही जीवनका प्रधान लक्ष्य है—इस विश्वासपर चलना न सीखनेके कारण तथा उस लक्ष्यकी पूर्तिके लिये हृदयकी वृत्तियोंको बलि देनेके लिये प्रस्तुत न होनेके कारण, गर्भस्थ शिशुकी हत्या या त्याग करनेके लिये हमारी माताओंकी प्रवृत्ति नहीं होती । ऐसा करनेमें उनके हृदयको बड़ी चोट लगती है । यह स्वत्वाधिकारका प्रसार उनकी समझमें नहीं आता । आज भी इस असभ्य देशमें भ्रूणहत्या नरहत्याके ही समान महापाप समझा जाता है । गर्भस्राव होनेपर भ्रूणहत्या प्रचुर धन-व्ययसाध्य उपाय न होनेपर (उन सब उपायोंको करनेकी सामर्थ्य हममेंसे सैकड़े पीछे एकमें भी नहीं है) अत्यन्त ही कष्टप्रद होती है । एक बार गर्भस्राव या भ्रूणहत्या करनेसे पुनः गर्भ रहनेपर अपने-आप ही गर्भपात हो जानेकी अधिक सम्भावना रहती है, स्वास्थ्य बिगड़ जाता है, बहुधा मृत्यु भी हो जाती है । अपने परमशत्रुकी भी पहलेसे ही प्रबन्ध करके हत्या करना सर्वत्र ही सबसे बढ़कर सामाजिक अपराध और पाप माना जाता है । इस प्रकारकी हत्या करनेमें मनुष्यमात्र झिझकते हैं । जिसे अपना रक्त प्रदान कर पुष्ट किया, जिसे स्तन पान कराती हैं, पूरे हृदयसे प्रेम करती हैं, जिसके ऊपर माताके जीवनका प्रधान उपभोग और सार्थकता है, उसी गर्भस्थ शिशुकी, पहलेसे ही प्रबन्ध करके, अपने अवश्यम्भावी भयानक शारीरिक कष्ट और स्वास्थ्य-हानिके होते हुए भी, पाश्चात्त्य समाजकी आधी गर्भवती स्त्रियाँ प्रतिवर्ष हत्या करनेके लिये प्रेरित या बाध्य होती हैं—इसे बड़े-बड़े पाश्चात्त्य समाजतत्त्ववेत्ता कहते हैं । किस

प्रकारके भयङ्कर दण्डके भयसे, किस प्रकारके वातावरण और शिक्षाके कारण, किस प्रकार विकृतआयु होनेके परिणामस्वरूप स्त्रियाँ इस प्रकारके भीषण नृशंसताके कार्य करनेके लिये बाध्य होती हैं, क्या इसपर हमारे सुधारक और युवक-युवतियाँ विचार करेंगे ! जिस समाज-सङ्गठनके यन्त्रमें समाजकी प्रायः आधी स्त्रियाँ प्रकृति-प्रदत्त मातृभावको पीसकर बाहर निकाल देती हैं, अपने हृदयको पाषाणके रूपमें परिणत कर अपनी ही सन्तानकी हत्यारूप घोर नृशंसताका कार्य करनेके लिये बाध्य होती हैं, उसी पाश्चात्त्य समाजको हमारे सुधारक और राजनैतिक नेता 'नारी-स्वत्वाधिकारका प्रसारक', 'अबलाओंका बन्धु', 'स्त्रियोंकी पूजा करनेवाला' आदि नामोंसे युवकोंमें प्रचार करते हैं; और समझाते हैं कि पाश्चात्त्योंके उसी उच्च आदर्शमें अपने समाजका सङ्गठन किये बिना हमारी उन्नति नहीं हो सकती; और इसीलिये कमर कसकर अपने समाज-गठनको तोड़नेके लिये तैयार हैं। शारदा ऐक्ट पास हो गया; लेकिन बालविवाहके ऊपर लगाये गये दोष कितने निराधार हैं, रजस्वला कन्याके अविवाहित रखनेसे उसकी कैसी दुर्गति होती है, पाश्चात्त्य समाजगठन हमारे लिये कितना अनुपयोगी है, उसकी अपेक्षा हमारा समाज-गठन कितना उत्कृष्ट है, इत्यादि बातोंके प्रकाशनके लिये अपने सम्पादित समाचार-पत्रोंमें वे स्थान नहीं देते। सभाकी योजना कर यदि इन बातोंको समझाया जाय तो वे इनका खण्डन कर अपनी स्वदेशभक्ति, व्यक्तिगत मतवाद, स्वतन्त्रता-प्रियता तथा जनतन्त्रके प्रति अपनी नयी प्रीतिको प्रदर्शित करने लगते हैं ! अनेक शिक्षिता महिलाएँ तथा स्कूलमें पढ़नेवाली लड़कियाँ भी इन अत्यन्त अकल्याणकारक कार्योंमें योग दे रही हैं। क्या वे समझती हैं कि पाश्चात्त्य ढंगके नारी-स्वत्वाधिकारकी वृद्धिसे वहाँकी स्त्रियाँ इतनी सुखी हो रही हैं कि उस सुखकी अधिकता उनको असह्य हो रही है ? क्या इसीलिये वे वहाँके स्त्रीपूजकोंके साथ बहुत समयतक एकत्र नहीं रह सकतीं, बीच-बीचमें उस सुखका विराम आवश्यक हो जाता है ? क्या यही कारण है कि प्रतिवर्ष विवाह-विच्छेद (तलाक) की संख्या बढ़ती जा रही है (अमेरिकाके किसी-किसी प्रदेशमें प्रतिवर्ष जितने विवाह होते हैं, उनकी प्रायः आधी संख्या विवाह-विच्छेद (तलाक) की हो जाती है) और वे फिर नये स्त्री-पूजकोंकी पूजाकी तैयारी करती जा रही हैं; उनके यदि सन्तान होती है तो वह भी नये पिताके प्रेम एवं सेवाको प्राप्तकर अपनी माताके समान ही मधुमय जीवन बिताती है और उसे देखकर माताएँ अत्यन्त सुखी होती हैं ? क्या उनको नहीं सूझता कि जितनी ही पाश्चात्त्य ढंगके नारी-स्वत्वाधिकारकी वृद्धि हो रही है तथा स्त्री-शिक्षाका विकास हो रहा है, उतना ही स्त्री और पुरुषमें ऐसा द्वेषभाव बढ़ता जा रहा है, जैसा कि प्राणिवर्गमें कहीं नहीं देखा जाता और न कहीं इतिहासमें ही सुना जाता है ? क्या वे यह कहना चाहती हैं कि स्त्री और पुरुषका सहज प्राकृतिक सम्बन्ध ही साँप और नेवलेके समान विद्वेषपूर्ण है, आजतक स्त्रियोंका भयानक उत्पीडन हुआ है, वे मूर्खा थीं, अतएव उन्होंने इस यथार्थ सम्बन्धको अबतक नहीं समझा था और पुरुषोंसे प्रेम करके वे सुखी और कृतार्थ होती थीं; अब वे शिक्षिता हो गयी हैं, यथार्थ सम्बन्धको समझ गयी हैं, पुरुषोंको पहचान गयी हैं—इसी कारण स्त्रियोंके प्रति अत्याचार जितना ही कम होता जाता है नारी-स्वत्वाधिकार बढ़ता जा रहा है, जितना ही शिक्षाका विस्तार हो रहा है उतना ही स्त्री-पुरुषोंमें द्वेषभाव बढ़ता जा रहा है ?

क्या पाश्चात्त्योंके अनुसार समाज-गठन और लोकाचारके होनेपर पाश्चात्त्योंके ५० प्रतिशतके बदले जब हमारे देशमें ९० प्रतिशत गर्भवती स्त्रियाँ भ्रूणहत्या करने लगेंगी, तब पाश्चात्त्योंकी अपेक्षा हमारी उन्नति और भी अधिक और शीघ्र होगी और उन्हें हम मात कर सकेंगे ? क्या यही कारण है कि नवीन साहित्यमें, विवाहके अत्यन्त सङ्कीर्ण मार्गके बाहर नग्न प्रेमके उपभोगके उज्ज्वल चित्रोंसे चित्रित उपन्यास और कहानियाँ लिखकर एक दल नवीन साहित्य-संसारकी हृदयहीनता और नीचाशयतासे अनभिज्ञ युवतिगणको बहका रहा है और जटा-वल्कल धारण करनेवाले, अर्द्धनग्न ऋषियोंके स्वार्थ-ज्ञानशून्य, अशिक्षिता सती सीता, सावित्री प्रभृतिके आदर्शके बदले विवाहके बन्धनसे मुक्त, उन्नत स्वाधीन प्रेमके आदर्शको स्थापन करनेकी चेष्टा कर रहा है ? परन्तु उस उन्नत प्रेमकी अधिकता जिस

प्रकार कुछ दिनके बाद असह्य हो जाता है, तब प्रायः सभी स्त्रियाँ, विशेषतः यौवन बीत जानेपर (दो चार धनी कन्याओंको छोड़कर, पाश्चात्त्योंकी तुलनामें जिनकी संख्या इस देशमें नगण्य ही है) परम रमणीय मृत्तिकासे निर्मित आश्रममें, अपने समान ही उच्च आदर्शका अनुसरण करनेवाली दूसरी स्त्रियोंके उच्चस्वरसे किये हुए मधुर आलापको सुनकर और बहुधा मकान-मालिकिन और दूकानदार आदिके थोड़े-से पैसोंके लिये अति मधुर सम्भाषणसे सन्तुष्ट होकर स्वाधीन स्त्रीके उच्च आदर्शका जीवन व्यतीत करना पड़ता है। बहुधा योनिसम्बन्धी रोगोंसे ग्रस्त होनेके सुखका भी उपभोग करना पड़ता है। तथा लोकहितकर दूसरोंकी सेवा (दासीवृत्ति) में जीवन उत्सर्ग करना पड़ता है। उस आदर्श जीवनके कारण जब सन्तान कभी अपने साथियों या पड़ोसियोंके आदरपूर्ण व्यवहारकी बातें सजल नेत्रोंसे तथा छाती ऊँची करके मातासे निवेदन करती है, तब वे उन्हें सुनकर जिस प्रकार अपने जीवनको धन्य मानती हैं तथा सार्थक जीवनकी सुखस्मृतिका रातमें अकेले उपभोग करती हैं; उनके सम्मानकी अतिशयताके कारण, बीमार पड़नेपर उनके पास आनेका किसीको साहस नहीं होता, मृत्युपर्यन्त स्वावलम्बनका आदर्श दिखलाकर इहलोकका त्याग करती हैं—आदर्श जीवनके अन्तिम अध्यायोंका यह सच्चा चित्र यदि सुधारकोंके निपुण हाथोंसे असली रूपमें चित्रित होता तो युवतियाँ दोनों भिन्न आदर्शोंकी सम्यक् तुलना कर सकतीं और वह चित्र बहुत ही मनोरञ्जक होता; तथा वह आदर्श वाञ्छनीय है या नहीं, कामोपभोगकी स्वतन्त्रता स्त्रियोंके लिये और इस देशके लिये कल्याणप्रद है या नहीं—इन बातोंकी सम्यक् विवेचना युवतियाँ कर सकतीं।

प्रायः सभी समाजोंमें स्त्रियोंके एक दलने चिरकालसे इस स्वाधीन प्रेमके उच्च आदर्शका अनुसरण किया है—सारे सामाजिक नियमोंकी अवहेलना की है, अतएव इस स्वाधीन प्रेमके आदर्शमें कोई नवीनता नहीं है—यह अत्यन्त ही प्राचीन है। केवल बीसवीं शताब्दीकी पाश्चात्त्य सभ्यताके तीव्र वैद्युतिक प्रकाशमें इसका अभिनव महत्त्व देखनेमें आता है और इस प्रकाशसे आँखें चकाचौंध हो उठती हैं। इस उच्च महान् आदर्शके अनुसरणके कारण परिणामतः (दो-चार धनी नारियोंको छोड़कर—जिनकी संख्या हमारे देशमें बहुत ही नगण्य है) प्रायः सभीको जो वेश्या-जीवन यापन करनेके लिये बाध्य होना पड़ता है, अन्तिम जीवन अत्यन्त निराश्रय, कष्टप्रद एवं नीरस हो जाता है—इसे देख न सकनेके कारण, इसके परिणामकी ओर न देखकर, इस प्रकार स्वाधीन प्रेमकी क्षणस्थायी मादकताके विशद चित्रोंको दिखलाकर संसारकी हृदयहीनता, नीचाशयता, शठता तथा मनकी गतिकी परिवर्तनशीलतासे अनभिज्ञ युवतियोंको उसका उपभोग कराना स्त्रियोंके नवीन स्वत्वाधिकारके प्रसारके नामपर उनको सर्वनाशके पथपर अग्रसर होनेके लिये प्रस्तुत करनेकी प्रत्यक्ष प्रेरणामात्र है!

पाश्चात्त्य ढंगके नारी-स्वत्वाधिकारकी वृद्धिके साथ जब पाश्चात्त्योंमें सर्वत्र ही विवाह-विच्छेदकी संख्या बढ़ती जा रही है—क्या कुमारी, क्या विधवा, क्या सधवा, सभी उत्तरोत्तर अधिक संख्यामें मातृत्वका निरोध करनेवाले उपायोंका अवलम्बन और भ्रूणहत्या करती जा रही हैं—स्त्री-पुरुषके बीच द्वेष और प्रतियोगिताके भाव दृष्टिगोचर हो रहे हैं और उत्तरोत्तर बढ़ते जा रहे हैं—तब स्त्री और पुरुषके सम्बन्ध तथा समाजमें स्त्रीके स्थान और कार्यके विषयमें कोई मौलिक भूल है, यह बात स्पष्ट प्रतीत हो जाती है। मौलिक भूल न होनेपर इस प्रकारके विषमय फल नहीं हो सकते थे। हमने पहले बतलाया है कि स्त्री और पुरुषमें भेद मातृत्वके कारण है, अतएव मातृत्व ही स्त्रीत्व है और यही स्त्रियोंका स्वत्व है। मातृत्वके अङ्ग उनके प्रधान अङ्ग हैं—मातृत्वके ऊपर ही सृष्टि अवलम्बित है; इसी कारण प्रकृतिने स्त्रियोंकी हृदयवीणाके तारको 'माँ'के स्वरसे बाँध रक्खा है—'माँ'के स्वरसे ही उसमें मधुर स्वर-लहरी झंकृत हो उठती है और सबको तृप्त कर सकती है। कुछ दिन व्यवहार न करनेपर उसमें मोर्चा लगने लगता है और वह क्षणभङ्गुर हो जाता है। पाश्चात्त्य समाज-सङ्गठनके दोषसे और नारी-स्वत्वके प्रसारके नामसे स्त्रियाँ जिस प्रकारके कामोंमें उत्तरोत्तर प्रवृत्त हो रही हैं, उससे उनका

वह मातृत्व स्वयं ही क्रमशः क्षीण होता जा रहा है; अतएव इससे उनकी यातना ही बढ़ती आ रही है, जिससे उनका जीवन अशान्तिमय हो रहा है—पुरुषोंको भी शान्ति-प्रदान करनेकी क्षमता क्रमशः क्षीण होती जा रही है और शान्ति-प्रदान करनेमें वे असमर्थ हो रही हैं। इसके कारण विवाह-विच्छेद इतना बढ़ रहा है कि माता-पिता सबका ही अन्तिम जीवन नीरस होता जा रहा है, सभी अशान्तिमय जीवन व्यतीत कर रहे हैं। अर्थ ही जीवनके उपभोगकी एकमात्र वस्तु बन गया है। यही कारण है कि पाश्चात्त्य देशोंमें सर्वत्र ही विरोध है—देश-देशमें, सम्प्रदाय-सम्प्रदायमें, स्त्री-पुरुषमें, माता-पिता और सन्तानमें—सर्वत्र ही विरोध है। हमारे शिक्षित सुधारक अपने समाजके तिल-समान दोषको पाश्चात्त्योंके प्रभावमें आकर ताड़के रूपमें देखते हैं और उसका ढोल पीटते हैं, परन्तु पाश्चात्त्य समाजके पर्वतके समान दृष्टिका अवरोध करनेवाले दोषोंको पाश्चात्त्य संस्कृतिके मोहके कारण देख नहीं पाते, पाश्चात्त्योंके समान समाज-गठन करके अपने देश और स्त्रियोंकी उन्नतिकी कामना करते हैं!

सेवा

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

'सेनापति! कभी तुम भी राजपूत थे, तुममें भी राजपूती रक्त है; तुम समझ सकते हो कि कोई राजपूत इस प्रकारका अपमान कैसे सह सकता है। उन्होंने जो भी किया, अपनी मर्यादाके लिये। उनकी रक्षा तुम्हारे हाथों है, तुम भूले नहीं होगे कि मैं सम्बन्धमें तुम्हारी बहिन होती हूँ। अभी परसों मेरी शादी हुई है, आज ही मुझे विधवा मत बनाओ। तुम मेरे भाई हो, अतः इतना भी कहते बना। तुम्हारी बहिन····'

सेनापति बहरामखाँने पत्रको कई बार पढ़ा। कुछ देरतक वे सोचते रहे। 'ऐसा नहीं हो सकता। मुझे स्वामीकी आज्ञाका पालन तो करना ही होगा।' पत्रवाहकको कहला दिया 'विचार करूँगा'। स्वयं शिविरसे बाहर टहलने लगे।

सरदार रामसिंहको प्राणदण्डकी आज्ञा मिल चुकी थी। सेनापति चाहते तो अपने आग्रहसे उनकी रक्षा कर सकते थे, किन्तु उन्होंने उपेक्षा की। शृङ्खलाओंसे जकड़े हुए उस राजपूत सिंहका वधिकोंने सिर उतार लिया। बागी सरदारका मस्तक देखकर बादशाह प्रसन्न हुआ।

पिछले दिनों विवाहके लिये बादशाहसे छुट्टी लेकर रामसिंह सेनासे पृथक् हुए थे। संयोगवश उन्हें लौटनेमें देर हुई। वे दरबारमें गये, बादशाहने एक दिनकी देरीपर कोई ध्यान नहीं दिया। पर घटनाक्रम यहीं समाप्त नहीं हुआ। अपने पदपर काम करनेके लिये जब वे उपसेनापतिके पास पहुँचे तो उसने इन्हें गालियाँ दीं। राजपूत वीर अपमान नहीं सह सकता। उन्होंने तलवार निकाली और उपसेनापतिको काटकर दो कर दिया।

अपराध तो इतना ही था। फिर तो आत्मरक्षाके लिये जो दो, चार, दस सैनिक झपटे, उनका भी वध करना पड़ा। रामसिंह वहाँसे सीधे अपने निवासस्थानपर चले आये। यदि वे उस समय भी सेनापतिके समीप चले जाते तो सम्भवतः इतना भयङ्कर परिणाम न होता।

बादशाहको समाचार मिला। उसने सोचा 'रामसिंह विद्रोही हो गया है।' सेनापतिको उसका मस्तक लानेकी आज्ञा हुई। बहरामखाँने सेना लेकर रामसिंहके भवनपर चढ़ाई की और उन्हें बंदी कर लिया। बेचारी नववधू और कर भी क्या सकती थी, उसने सेनापतिको पत्र लिखा।

(२)

राजपूत रमणी पतिके साथ सती न हो सकी। कुलगुरुने पता नहीं क्यों उसे ऐसा करनेसे रोक दिया। वह राजभवनसे रात्रिमें एकाकी ही निकली और कहीं चली गयी। फिर किसीको रामसिंहकी विधवा पत्नीका पता नहीं चला। उसे किसीने कभी नहीं देखा।

स्वयं बहरामखाँको बादशाहके विरुद्ध संयोगवश विद्रोह करना पड़ा। बहरामखाँने जब विद्रोह किया तो वह दिल्लीसे बाहर था। बादशाहकी विशाल सेना युवराजके सेनापतित्वमें विद्रोही सेनापतिका दमन करने भेजी गयी। भयङ्कर संग्राम आरम्भ हो गया।

नित्य सन्ध्याको संग्रामभूमिमें कुछ सफेद नकाबपोश आते और घायल सैनिकोंको उठा ले जाते। जब वे सैनिक अच्छे होकर लौटते थे तो बतलाते कि 'पास ही किसी वनमें कुछ सुन्दर शिविर हैं। वहाँ रोगियोंके उपचारकी सब सामग्री प्रस्तुत रहती है। कुछ नकाबपोश रोगियोंकी बड़े प्रेमसे शुश्रूषा करते हैं। कोई भी वहाँका सेवक कभी मुख नहीं खोलता। वहाँकी स्वामिनी युद्धकी देवी कही जाती हैं। वे एक बार आती हैं और सबको देख जाती हैं। बहुत पूछनेपर भी उनके विषयमें कोई कुछ न जान सका। उन्हें खुले मुख किसीने कभी नहीं देखा है।'

पता लगानेपर भी उस वनका पता नहीं लगा। आँखोंपर पट्टी बाँधकर वहाँके सेवक घायलोंको ले जाते और अच्छे हुए सैनिकोंको छोड़ जाते थे। वहाँसे सैनिकोंको एक ही शिक्षा मिलती थी—'शत्रुका भी सम्मान करो और उसकी परिस्थितिको समझकर तब उसपर क्रोध करो।' 'युद्धकी देवी' यह नाम बड़ी श्रद्धाकी वस्तु हो गया था। कोई भी देवीके आदमियोंको रोकने या उनके कार्यमें बाधा देनेका साहस नहीं कर सकता था। लोग सचमुच उसे देवी समझते थे।

सहसा एक दिन भयङ्कर युद्ध होने लगा। युवराज स्वयं युद्ध सञ्चालन कर रहे थे। बहरामखाँ घायल होकर हाथीसे नीचे गिरा। निकट ही था कि शाही सैनिक उसे मार डालते, पर इसी समय एक श्वेत घोड़ा दौड़ता हुआ आया। श्वेत नकाबपोशको देखकर सैनिक ठिठक-से गये। नकाबपोशने कहा 'बस, लड़ाई बंद करो। मैं हूँ युद्धकी देवी।' युवराज नहीं चाहते थे कि सेनापति इस प्रकार हाथसे निकल जावे। लेकिन देवीको रोकनेका उनमें साहस भी नहीं था। कोई सैनिक भी साथ न देता, विवश थे।

(३)

बहरामखाँ बार-बार सोचता 'मैं कहाँ हूँ? ये लोग कौन हैं? युद्धमेंसे मेरे प्राण बचानेवाली वह देवी कौन है? वह कहाँ रहती है?' सेनापति देखते कि देवी दिनमें कई बार आकर वहाँके सेवकोंसे कुछ पूछ जाती है। जब भी सेनापतिने कुछ पूछा, उन्हें प्रत्येकसे उत्तर मिला 'हम सेवक हैं, सेवा करना ही हमारा कार्य है। अच्छा हो यदि आप भी शत्रुकी परिस्थिति समझा करें और यथासम्भव पीड़ितोंकी सेवा किया करें।'

कई दिनोंमें जाकर जड़ी-बूटियोंके उपचारसे सेनापति अच्छे हो सके। उन्हें वहाँसे नेत्र बंद करके

एक पुरुष घोड़ेपर कहीं छोड़ आया। उन्होंने अपनेको उस स्थानसे दूर पाया।

युवराजने सेनापतिकी सेनाको बंदी कर लिया था। वे सेनापतिकी प्रतीक्षामें थे। बहरामखाँ भी इस परिस्थितिको जानते थे। वे अवसरसे लाभ उठाकर बंगालकी ओर चले गये। कुछ दिन प्रतीक्षा करके युवराज भी दिल्ली लौट आये।

सेनापतिने मार्गमें सेना एकत्र करके बंगालके विद्रोही नवाबको पराजित किया। उससे कर लेकर दिल्ली भेज दिया। बादशाह इस बातसे बहुत प्रसन्न हुआ। उसने सेनापतिको क्षमा कर दिया। सेनापति दिल्ली आकर पूर्ववत् अपने पदपर कार्य करने लगे।

(४)

एक बहरामखाँ ही बेगमके मार्गमें बाधक थे। बेगम चाहती थी अपने पुत्र खुसरोको सिंहासनासीन बनाना और सेनापति पक्षपाती थे बड़े युवराजके। बादशाह युवराजको चाहते हुए भी राज्ञीके परवश थे। भावी शाहजहाँ इस प्रकार गद्दीसे वञ्चित किया जानेवाला था ?

एक षड्यन्त्र नूरजहाँने रचा। सोते हुए सेनापतिका वध करनेके लिये एक सेनापतिका विश्वस्त सेवक प्रस्तुत हो गया। उसे विश्वास दिलाया गया था कि वह सेनापति बना दिया जावेगा। लोभके वश मनुष्य क्या-क्या पाप नहीं करता ?

सेनापति अपने शयनागारमें शयन कर रहे थे। रात्रिके प्रथम प्रहरमें द्वारपालने देखा कि एक नकाबपोश सम्मुख खड़ा है। 'कौन ?' 'युद्धकी देवी, मार्ग छोड़ दो।' द्वारपालने तनिक हिचकिचाहटके साथ मार्ग छोड़ दिया।

सेनापति नींदसे जगाये जानेके कारण चौंक पड़े। उन्होंने पूछा—'आप कौन हैं ?' 'युद्धकी देवी।' झटपट पलँगसे उतरकर सेनापति घुटने टेककर नीचे बैठ गये और बोले 'मेरे लिये कुछ आज्ञा है ?' 'हाँ, तुम अपने वस्त्र यहीं छोड़कर ऊपरके कमरेमें जाकर सो जाओ। रात्रिमें इस कमरेकी ओर मत आना।' आज्ञाका पालन हुआ।

(५)

सेनापतिको देवीकी बातसे बड़ा कुतूहल हो रहा था। वे प्रातः सर्वप्रथम अपने शयनागारमें पहुँचे। दूरसे वहाँका दृश्य देखते ही स्तम्भित-से हो गये। पलँगपर मुख ढके, उनके उसी रात्रिको छोड़े वस्त्रोंमें कोई सो रहा है। रात्रिमें किसीने उसका खून कर दिया। रक्तसे वस्त्र एवं भूमि लथपथ है। निकट जाकर देखनेसे पता लगा, वह कोई स्त्री है।

सेनापतिने ध्यानसे देखा। एक बंद लिफाफा मिला। खोलकर उसमेंसे पत्र निकालकर पढ़ने लगे। 'सेनापति ! राज्ञीने तुम्हारे वधका षड्यन्त्र रचा था। मैं तुमसे बता सकती थी, पर मुझे उस वधकर्ताके प्राण भी बचाने थे। प्रतिशोध मत लेना, या लेना ही हो तो मुझसे सीख लो। तुमने मेरे पतिको प्राणदान नहीं दिया था। मुझे विधवा बना दिया था। यह उसका प्रतिशोध है। सेवा ही सच्चा प्रतिशोध है। मैंने अपने भाईकी सेवा की है। यह मेरा कर्तव्य था। तुम्हारी बहिन····'

पत्र हाथसे छूटकर गिर पड़ा। सेनापति उस महिलाके चरणोंपर मस्तक रखकर फूट-फूटकर रोने लगे। उन्हें पश्चात्ताप हो रहा था, आत्मग्लानि हो रही थी। परिस्थिति भी विकट थी। वे जैसे-के-तैसे उठे और एक पत्र लिखकर राज्ञीके पास भिजवा दिया।

दूतने जाकर पत्र पहुँचवाया। उसमें लिखा था—'षड्यन्त्र विफल रहा। पर अच्छा होता यदि वह सफल हो गया होता। इस नीचकी रक्षाके लिये एक स्वर्गकी देवी बलिदान हो गयी। मैं अब बाधा नहीं दूँगा; मुझे आज्ञा मिले, मैं हजको आज ही जाना चाहता हूँ।'

महिलाका कोमल हृदय दहल उठा। राज्ञी चुपचाप गुप्तद्वारसे रक्षकोंके साथ सेनापतिके यहाँ पधारीं। उन्होंने उस देवीके शवको देखा, वह पत्र देखा और देखा पागल हुए बहरामको। रोती हुई बेगमने बहरामसे क्षमा माँगी। उस देवीके शवका ब्राह्मणोंसे संस्कार कराकर अन्त्येष्टि करायी गयी। बहरामखाँका मन फिर सेनाके कार्यमें नहीं लगा। वह राज्ञीको हृदयसे क्षमा भी न कर सका। फिर विद्रोही होकर भागा और मक्केकी यात्रा करने चला गया।

(६)

दिल्लीके किलेके पास नूरजहाँ बेगमकी बनवायी हुई वह समाधि अब भी है। परिस्थितिवश वह एक कोनेमें पड़ गयी है। पर अब भी कुछ जाननेवाली वृद्धाएँ उसे सतीका चबूतरा कहती हैं। वहाँ हिन्दू, मुसल्मानका कोई भेद नहीं है। सब उसे प्रणाम करते हैं। स्त्रियाँ कभी फूल-बताशे भी चढ़ा आती हैं। कोई कभी दीपक भी रख आती हैं।

कहते हैं कि वहाँपर छोटे बच्चोंको ले जाकर प्रणाम करानेसे उनके रोग नष्ट हो जाते हैं। कुछ लोग उसे पीरकी कब्र भी कहते हैं। सम्भवतः उसे मुसल्मानोंके द्वारा सम्मानित देखकर लोगोंकी ऐसी भावना हो गयी होगी।

अमर अभिलाषा

(१)

तुम आओ, न आओ, यहाँ तुमको
निशि-वासर ही मैं बुलाया करूँ।
तेरे नामकी माला सदा मैं सखे!
मनके मनकोंपै फिराया करूँ॥
जिस पंथ पै पाँव धरो तुम, मैं
पलकें उस पंथ बिछाया करूँ।
भर लोचनकी गगरी नित ही,
पद-पंकज पै ढलकाया करूँ॥

(२)

तुम आओ कभी यदि भूल यहाँ,
दृग-नीरसे पाँव पखारा करूँ।
मन-मन्दिरको कर स्वच्छ सखे!
उर आसन पै पधराया करूँ॥
मृदु मंजुल भावकी माला बना,
तेरी पूजाका साज सजाया करूँ।
अब और नहीं कुछ पास मेरे,
नित प्रेम-प्रसून चढ़ाया करूँ॥

(३)

तुम जान अयोग्य बिसारो मुझे,
पर मैं न तुम्हें बिसराया करूँ।
गुणगान करूँ, नित ध्यान धरूँ,
तुम मान करो, मैं मनाया करूँ॥
तव प्रेम-पुजारियोंकी पद-धूलि
सदा निज शीश चढ़ाया करूँ।
तेरे भक्तोंकी भक्ति करूँ मैं सदा,
तेरे चाहनेवालोंको चाहा करूँ॥

—श्रीहेमवती

यह दुर्बलता क्यों ?

(लेखक—श्रीरामनाथ 'सुमन')

हमारे जातीय जीवनकी समस्या केवल राजनीतितक ही समाप्त नहीं है। राजनीतिक चेतना और स्वाधीनता-का प्रश्न चाहे जितना महत्त्वपूर्ण हो, वस्तुतः वह हमारी किञ्चित् प्रच्छन्न-सी आध्यात्मिक समस्याका ही एक अङ्ग है। जबतक हम आत्मविस्मृत, मूर्च्छित और अचेत-से प्रवाहमें बहे जा रहे हैं, तबतक कोई शक्ति हमारे हाथमें स्थिर न रहेगी। व्यक्ति और जातिके जीवनका जो मूल स्रोत है, वह जबतक सूख रहा है, तबतक जीवन उसमें कैसे आवेगा, प्रकाशका अभिषेक कैसे होगा, आत्माका अमृतत्व उसमें कैसे पल्लवित होगा ? राजनीतिक दृष्टिसे हममें कुछ चेतना भी है, परन्तु आध्यात्मिक दृष्टिसे तो हमारा जीवन अपंग ही हो रहा है। गांधीजीका यह कथन पूर्णतः सत्य है कि जबतक भारत अपनी आध्यात्मिकताको ग्रहण न करेगा, उसका पुनर्जीवन असम्भव है।

राजनीतिके क्षेत्रमें जितनी प्रवञ्चनाएँ हैं, आध्यात्मिक साधनाके मार्गमें उससे कुछ कम नहीं हैं। अनेक प्रलोभन, अनेक वासनाएँ, अनेक प्रवञ्चनाएँ इसमें आती हैं। कभी-कभी होता यह है कि जब हम समझ रहे होते हैं कि हम ठीक मार्गपर हैं, तब वस्तुतः हम अत्यन्त भ्रमात्मक एवं असत् धारणाओंको लेकर चल रहे होते हैं। ऐसी कुछ बातें जीवनमें मैंने स्वयं अनुभव की हैं, प्रत्येक साधक करता ही है। यहाँ हम एक ऐसी प्रवञ्चनाकी, जो प्रायः औसत साधकोंमें देखी जाती है, किञ्चित् चर्चा करेंगे।

आध्यात्मिक साधनाके नामपर आजकल आत्म-ताड़नाकी एक अवाञ्छनीय भावना समाजमें फैल रही है। 'मैं पापी हूँ, मैं नीच हूँ, मैं क्षुद्र और अपदार्थ हूँ' यह इस भावनाका सार है। इसको लेकर जीवनमें निष्क्रियता और दैन्यका प्रसार हो रहा है। इससे साधकोंकी अपनी हानि तो जो कुछ होती है वह होती ही है, पर समाजमें भी इसकी एक बुरी प्रतिक्रिया पैदा होती है। नवशिक्षित सम्प्रदाय सम्पूर्ण आध्या-त्मिक प्रवृत्तियोंके प्रति उदासीन होने लगता है। मैं कहना चाहता हूँ कि यह एक अत्यन्त खेदजनक अवस्था है।

जब मैं ऐसा कह रहा हूँ, तब मैं यह अनुभव करता हूँ कि इस तरहकी भावना भगवान्‌के चरणोंमें सर्वस्वार्पणकी भावनासे एक सर्वथा भिन्न वस्तु है। कम-से-कम यह उसका एक अत्यन्त विकृत प्रयोग है। जैसे अहिंसा और कायरताका रूप ऊपरसे बहुत मिलता-जुलता होनेपर भी दोनों एक-दूसरेसे सर्वथा भिन्न, बल्कि विपरीत हैं, वैसे ही शुद्ध आत्मार्पण और इस प्रकारके दैन्यमें आकाश-पातालका अन्तर है।

गीताके तत्त्वरूपमें भगवान्‌ने जिस आत्मार्पणका आदेश किया है, वह तो सर्वश्रेष्ठ आत्म-साधना है। उसके मूलमें आत्माकी तात्त्विक एकताका भी सङ्केत है। उसमें किसी प्रकारका आग्रह और स्पृहा नहीं है। उसमें केवल सर्वस्वार्पण है। उसके 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' में निश्चेष्टता नहीं है, बल्कि सर्वश्रेष्ठ कर्मका आदेश है। गीताके हृदयमें पैठनेपर इसका अर्थ यही लग सकता है कि तुम्हारा जो कुछ भी है, सब भगवान्‌के चरणोंमें अर्पण कर दो। तुम्हारा कुछ नहीं है, जो है सब उन्हींका है; जो होता है, वह उन्हींके द्वारा होता है। भिन्न-भिन्न कर्मोंको करते समय कर्तृत्वकी अहंताका जो भाव है, वह झूठा है; उसे त्याग दो और उनमें तुम्हारी जो आसक्ति और फलाकाङ्क्षा है, उसका भी त्याग करो; तब तुम भगवान्‌के

प्रति अर्पित होनेका अनुभव कर सकोगे और वे कृपापूर्वक तुम्हें सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर देंगे। आसक्ति सम्पूर्ण दूषणों, दुःखों एवं पापोंका मूल है। वह आत्मा और ब्रह्मकी एकत्वानुभूतिमें बाधक मायावरण है। उसका त्याग करते ही एक ओर भगवान्‌में निमग्नता-की और दूसरी ओर सब पापों और बन्धनोंसे छूटनेकी अनुभूति होती है।

यह एक भ्रम है कि भक्तके लिये इस प्रकारका दैन्य आवश्यक है। जहाँ आत्मार्पण है, वहाँ कोई अपेक्षा ही नहीं है; वहाँ भक्ति स्वयंसिद्ध है, वहाँ साधनमें ही सिद्धि है। इस प्रकार जो सब कुछ भगवान्‌के चरणोंमें अर्पण कर चुका है, वह सब आसक्तियों और पापोंसे छूट जाता है। वह प्रभुमय हुआ अपने भीतर-बाहर चतुर्दिक् आनन्दसे परिपूर्ण होकर अद्भुत शान्तिका अनुभव करता है।

भक्ति मायाके आवरणको तोड़नेवाली है। यह अन्तःशक्तिवाहिनी है। यह परम शुद्ध और सात्त्विक भावनाओंसे पूर्ण है। इसमें आलस्य नहीं; इसमें अपेक्षा और लालसा नहीं; इसमें तीव्र दंश और पीडा नहीं; केवल देना-ही-देना है और मिलनकी अनुभूतिका आनन्द है। जहाँ वियोगकी अनुभूति है, वहाँ भी वस्तुतः मिलनकी ही आंशिक अनुभूति है; वियोग मिलनकी उलटी अनुभूतिमात्र है।

इस प्रकारकी दैन्य-भावनामें सर्वस्वार्पण नहीं है, उलटे अपेक्षा और आग्रह है। इसमें आत्म-स्वरूपपर आवरण है। यह अत्यन्त तामसिक है। सच्ची भक्ति या उपासनामें भी अहंताकी अनुभूतिका अभाव है; पर उसमें आत्माकी दीनताका भाव नहीं है, उसमें आत्मानुभूति है। भक्तिमें ज्ञानका विरोध नहीं है, सच्चे ज्ञानका जागरण है। इस प्रकारकी तुच्छताकी भावना हिन्दू-तत्त्वज्ञानकी प्रधान धारामें कभी नहीं थी। यह एक वैदेशिक भावना हमारी विचारधारामें आकर सम्मिलित हो गयी है। वैदिक एवं उपनिषद्-कालकी सम्पूर्ण प्रार्थनाएँ देख जाइये; कहीं इस प्रकारकी अपदार्थता एवं दैन्यका परिचय नहीं मिलेगा। उनमें यदि कहीं अपनी दुर्बलताकी अनुभूति है, तो उसके ऊपर उठने, उस दुर्बलताको विजय करनेकी प्रयत्नशीलताका आभास भी है। वहाँ जीवनके तत्त्वोंसे पलायन नहीं है वरं अपने उत्तरदायित्वको वहन करनेकी तैयारी है। वहाँ साधक केवल सहायता एवं पथ-प्रदर्शन चाहता है। कुछ उदाहरण लीजिये—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥

'आँखोंमें चकाचौंध पैदा करनेवाले स्वर्णमय आवरणसे सत्यका मुख ढक गया है। हे जगत्‌के पोषक! मुझ सत्यशोधकको सत्यका मुख दिखायी पड़े, इसलिये तू यह ढकन, यह आवरण, दूर कर दे।'

परमपदकी साधनाके लिये आवश्यक शर्तोंका वर्णन करते हुए ऋषि कहते हैं—

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्॥

'विज्ञान जिसका रथ-चालक हो और जिसका अपने मनरूपी लगामपर नियन्त्रण हो, वह (संसाररूपी) मार्गका अतिक्रमण करके श्रेष्ठ विष्णुपद प्राप्त कर लेता है।'

आध्यात्मिक साधनाके मार्गकी दुरूहताका वर्णन करते हुए ऋषि साधकको सब प्रकार जागरूक रहनेका आदेश करते हैं—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया
दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति॥

उठो, जागो और श्रेष्ठ पुरुषोंके पास जाकर ज्ञान प्राप्त करो। विद्वज्जन कहते हैं कि छुरेकी तीक्ष्ण धारके

ऊपर चलना जिस प्रकार कठिन है, उसी प्रकार इस विकट मार्गसे जाना भी कठिन है ।

प्रभुको खोजने भक्तको कहाँ जाना है ? वे क्या उससे दूर हैं ? प्रभु तो आत्मस्थ हैं । ज्ञानी भी यही कहता है और भक्त भी यह अनुभव करता है—

तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ।

जो प्रभुको आत्माके अंदर स्थित देखता है, उसीको शाश्वत शान्ति मिलती है । और वह—

तरति शोकं तरति पाप्मानं
गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति ।

शोकसे तर जाता है, पापसे तर जाता है, हृदयके बन्धनोंसे छूटकर अमृत हो जाता है । तथा—

एतं हि वाव न तपति किमहं साधु नाकरवम् । किमहं पापमकरवमिति ।

यह सत्कृत्य मैंने नहीं किया, यह पाप मैंने किया—इस प्रकारका पश्चात्ताप करनेका प्रसङ्ग ही उसके लिये नहीं उपस्थित होता ।

आत्मताड़नाका जो अंश हमारी विचार-प्रणालीमें आ गया है, वह वस्तुतः ईसाई-धर्मसे आया हुआ जान पड़ता है । यह ठीक है कि मध्ययुगके कुछ भारतीय संतोंकी वाणीमें भी इसका स्वर है । परन्तु यदि हम इन संतोंके समस्त भक्तिकाव्य या प्रार्थना-पदोंपर ध्यान दें तो मालूम हो जायगा कि जितने भी ऐसे पदांश हैं, वे इन संतोंके मूर्च्छना-क्षणमें लिखे गये हैं । जीवनमें सत् और असत्का, पाप-पुण्यका सङ्घर्ष प्रतिक्षण चल रहा है । कभी-कभी ऐसा होता है कि परिस्थिति और मानसिक दुर्बलताके कारण निराशा हमें घेर लेती है । जीवन सूना और शिथिल हो जाता है । अनुभव होता है कि हम पाप-तापके, दुर्बलताके एक आकरमात्र हैं । असत्प्रवृत्तियाँ प्रबल हो जाती हैं और हम अपनेको उनके सामने बेबस पाते हैं । स्वभावतः ऐसे क्षणोंमें जो विचार या वाणी निकलती है, वह उसी निराशा और शिथिलताका परिणाम होती है । यह आत्माकी वाणी नहीं, शरीरका स्वर है । इसमें भक्ति नहीं, तामसिक आग्रह एवं मोह है । आत्माकी वाणीमें निराशा और शिथिलता नहीं होती, तेज और प्रकाश होता है; क्योंकि आत्मा मुक्त, शुद्ध और आनन्दमय है । जहाँ उसके स्वरूपकी अनुभूति है, वहाँ दंश और पीड़ाका अनुभव नहीं हो सकता । भक्ति मानवको निश्चेष्ट और शिथिल नहीं बना सकती । भक्ति तो मुक्तिकी, आनन्दकी विद्युत्-धारा बहाती हुई चलती है; वह तो हृदयके बन्धनोंको खोलती है । उसमें आत्माके जागरणका स्वर होता है । उसमें कर्मसे पलायन नहीं है, फलासक्ति और आग्रहका त्याग है । यह भी कह सकते हैं कि उसमें उदात्त कर्मोंकी आत्यन्तिकता है, क्योंकि उसमें अहंताका त्याग और सर्वस्वार्पण है । जहाँ आत्मार्पण है, वहाँ प्रभुसे एकत्वकी अनुभूति भी है । तब भक्तमें आत्माके आनन्दमय शुद्ध स्वरूपकी जगह अन्धकाराच्छन्न तामसिक लालसाओं तथा असत् और प्रेय-भावनाओंका तूफ़ान क्यों आवेगा ?

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ॥

'जिसे पाकर फिर किसीको प्राप्त करनेकी इच्छा नहीं रह जाती', उसे पाकर वा उसकी साधनाके पथमें जाकर, उसके सान्निध्यका अनुभव करते हुए कैसे कोई कह सकता है कि मैं पापी हूँ, मैं नीच हूँ । यह तो आत्मा और आत्मस्थ प्रभु या परमतत्त्वका उपहास है । उसके चरम विस्मरणमें ही यह अवस्था हो सकती है । निराशा या आत्मदौर्बल्य नास्तिकताके दूसरे नाम हैं । भक्तिमें जीवन-सत्त्वका केन्द्रीकरण है, इसमें हीनता और शून्यता नहीं है ।

मैं ऊपर कह चुका हूँ कि संतोंके इस प्रकारके पद उनके मूर्च्छनाके क्षणोंमें लिखे हुए प्रतीत होते हैं ।

जब तुलसीदास कहते हैं कि 'मैं प्रसिद्ध पातकी हूँ, मैं दुर्बल हूँ' तब वह मानसिक शिथिलता और निराशाकी अवस्थामें होते हैं । तामसिक भावनाएँ क्षणभरके लिये प्रबल हो उठती हैं, पर प्रभुकी कृपासे यह अवस्था शीघ्र समाप्त हो जाती है । भक्तिकी महिमा ही यह है । वह नीचे गिरते हुएको ऊपर उठा लेती है; पर साधक स्वयं ऊपर उठनेकी चेष्टा जबतक न करे, तबतक उसमें सच्ची भक्तिका उदय भी नहीं होता । शिथिलताकी, निराशाकी अवस्थामें ही ऊपर उठनेके लिये छटपटाते हुए तुलसीदासका मानस यों व्यक्त हुआ है—

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो ।
श्रीरघुनाथ कृपालु कृपा तें संत सुभाव गहौंगो ॥
जथालाभ संतोष सदा, काहू सों कछु न चहौंगो ।
परहित निरत निरंतर मन क्रम बचन नेम निबहौंगो ॥
परुष बचन अति दुसह श्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो ।
बिगत मान, सम सीतल मन, पर गुन अवगुन न कहौंगो ॥
परिहरि देहजनित चिंता दुख सुख समबुद्धि सहौंगो ।
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि अबिचल हरिभक्ति लहौंगो ॥

निराशाके ऊपर आशा और विश्वासका आवरण चढ़ रहा है । इसमें संसारकी विषम वासनाओंके बीच आगे बढ़ते हुए प्रयत्नशील साधककी वाणी है, जो आगे चलकर निश्चय और सङ्कल्पमें बदल जाती है—

'अब लौं नसानी, अब न नसैहौं ।'

जब संतके मुखसे निकला था—

'मो सम कौन कुटिल खल कामी ।'

तब वह भगवान्‌में केन्द्रित वा पूर्णार्पित नहीं था । यह उसने प्रभुकी ओर देखकर नहीं, अपनी ओर देखकर कहा था; वह अपनी ओर अधिक झुक गया था । अहंताका लोप इसमें नहीं है; इसमें अहंताकी तामसिक अनुभूतिमात्र है । भक्तके मानसमें अन्धकार और निराशा नहीं है; जहाँ प्रभुका सहारा है, वहाँ वीरवृत्तिके साथ वासनाओंसे युद्ध और विजय है । कबीरने इसी प्रकारका भाव प्रकट करते हुए कहा था—

सूर संग्रामको देख भागै नहीं,
देख भागै सोई सूर नाहीं ।
काम औ क्रोध मद लोभसे जूझना,
मँडा घमसान तहँ खेत माहीं ॥
सील औ सौच संतोष साही भए,
नाम समसेर तहँ खूब बाजै ।
कहै कबीर कोइ जूझिहै सूरमा,
कायराँ भीड़ तहँ तुरत भाजै ॥

जिसने प्रेम और भक्तिका पथ अङ्गीकार किया है, उसको निराश नहीं होना है, उसको रोना नहीं है । भक्तिका विज्ञान-रूप नित्य जागरूकता है । 'आशिक होकर सोना क्या' और 'कहत कमाल प्रेमके मारग सीस दिया तब रोना क्या' में यही बात कही गयी है । जिसने प्रभुके चरणोंमें आत्मार्पण किया है, जो उसकी शरणमें आ गया है, उसके हृदयमें शङ्का और सन्देह रह नहीं सकता । नानक इसी अनुभवको व्यक्त करते हैं—

उतरि गयो मेरे मन को संसा,
जब तेरो दरसन पायो ।

इस प्रकारके उदाहरण समस्त संत-साहित्यमें भरे हुए हैं । साधक यदि इनकी गहराईमें पैठें तो असीम लाभ उठा सकते हैं । इनके अतिरिक्त जहाँ संतोंने अपनी दुर्बलताका वर्णन किया भी है, वहाँ विरोधद्वारा अपनी दुर्बलताकी जगह प्रभुकी असीम दयालुताका वैभव दिखाना ही उनका इष्ट रहा है ।

जिसने आध्यात्मिकताका पथ अङ्गीकार किया है, उसके लिये तो मोह-निशामें जागरण अनिवार्य है । वह निराशा और मानसिक दुर्बलताको स्वीकार नहीं कर सकता । वे आवें तो वह उनसे लड़ेगा, उनका प्रतिकार करेगा । जहाँ प्रभुके अस्तित्वकी घोषणा है, वहाँ निराशा और दुर्बलताकी स्वीकृति कैसे हो सकती

है ? जहाँ सूर्य है, वहाँ अन्धकार मानना दुःसाहस है। जहाँ निराशा और अन्धकार है, वहाँ मोह और आग्रह है; वहाँ आस्तिककी श्रद्धा और विश्वास नहीं है। जब कोई कहता है—'मैं पापी हूँ, मैं अपदार्थ हूँ' और यह कहकर शिथिलगात्र, शिथिलमानस कर्मसे पलायन करता है, तब वह निश्चितरूपसे देहस्थ है, देहसे अपनेको अभिन्न समझे हुए है; कम-से-कम वह आत्मस्थ तो नहीं है।

भ्रमके इस दंशने सैकड़ों साधकोंके मानसको विषाक्त किया है; अनेकको अँधेरी खाँइयोंमें ले जाकर गिरा दिया है; सैकड़ोंको मोहावेश और तमस्में लुप्त कर दिया है। यह याद रखना चाहिये कि भारतीय अध्यात्म-साधनाके जितने भी मार्ग हैं—कर्म, भक्ति या ज्ञान—और जितनी भी शाखाएँ हैं, सब आत्मवादका अनुगमन करती हैं और इस प्रकारकी भ्रमात्मक विचार-प्रणाली निश्चितरूपसे अनात्मवादिनी है। साधकोंको सावधान होकर और इसे समझकर आगे बढ़ना चाहिये।

विशाल तारा-जगत्

(लेखक—श्रीधर्मराजजी वेदालङ्कार)

१. भूलभरी समझ

अँधेरी अमावसकी रातको किसी दिन ऊपर आकाशकी तरफ़ दृष्टिपात करनेपर कोई भी सहृदय पुरुष ऐसा न होगा, जिसके अन्तःकरणमें आश्चर्य और जिज्ञासाका भाव पैदा न हो। बालक भी इस दृश्यको देखकर प्रफुल्लित होते हैं और साथ-साथ वे इस नयी दुनियाका रहस्य भी जानना चाहते हैं। बहुधा हमारे देशकी माताएँ बच्चोंकी ज्ञान-कलीको यह कहकर मसल देती हैं कि 'लल्ला, ये सब तारे रामजीकी गौएँ हैं; जब हमारे यहाँ सूर्यदेवके अस्त होनेपर सायङ्काल होता है, तब स्वर्गमें सवेरा होनेसे वहाँकी सब गौएँ चरनेके लिये इस विस्तृत गगन-भूमिमें छोड़ दी जाती हैं। फिर जब हमारे यहाँ प्रातःकाल होता है, तब स्वर्गमें साँझ होती है। जैसे यहाँ साँझके समय गौएँ चर-चुरके लौट आती हैं, वैसे ही रामजीकी गौएँ भी स्वर्गमें साँझ होनेपर अपने-अपने घर लौट जाती हैं और इसीलिये भोर होनेपर तारारूपी इन गौओंको हम नहीं देख सकते।'

इन भोलीभाली व्याख्याओंसे सन्तुष्ट न रहकर यदि विज्ञान और शास्त्रकी दृष्टिसे नक्षत्र-तत्त्वका विचार किया जाय तो सम्भवतः जगन्नियन्तामें हमारी श्रद्धा और अधिक दृढ़ हो सकती है।

२. विश्वज्ञानका आध्यात्मिक साधन

हमारे प्राचीन ऋषियोंके ज्ञानका मुख्य साधन उनकी अन्तर्मुखी वृत्ति थी। वे बाह्य यन्त्र दूरबीन आदिका अधिक आश्रय न लेकर अपने अन्तरात्माको ही ज्ञानका सच्चा अधिवास समझते थे। 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' इस वाक्यके अर्थका उन्होंने प्रत्यक्ष दर्शन किया था। मुनियों और योगियोंकी यह अटल धारणा थी कि 'तस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति' यदि उसको जान लिया तो सब कुछ जान लिया; क्योंकि समस्त पदार्थ 'तन्मय' हैं। ऋषियोंने आकाशमें एकसे ऊपर एक, इस प्रकार सात—क्रमशः अधिकाधिक सूक्ष्म लोकोंका दर्शन किया था। मनुष्य यदि अपने आत्माको समुन्नत करे—ज्ञानप्राप्ति करे, तो वह धीरे-धीरे इन सब लोकोंको प्राप्त कर सकता है। इन्हीं सात लोकोंके समरूप हमारे अपने अंदर भी

प्राणमय, विज्ञानमय, आनन्दमय आदि सूक्ष्मातिसूक्ष्म लोक विद्यमान हैं। अस्तु, आजकलके जमानेमें इस Mysticism अथवा योगसमाधिकी बातोंकी बहुत कदर नहीं है। जो वस्तु स्थूल यन्त्रोंके द्वारा अनुभवमें न आवे, उसे अब अधिकांश विद्वान् स्वीकार नहीं करते।

३. वर्तमान विज्ञान तथा विश्व-विस्तार

परन्तु यह सब होते हुए भी वर्तमान विज्ञानने नक्षत्रविद्यामें जो प्रगति की है, वह किसी प्रकार भी उपेक्षणीय नहीं हो सकती। आधुनिक विज्ञानने ज्योतिषविद्याको साधारण लौकिक पुरुषोंके क्षेत्रमें लानेका स्तुत्य प्रयत्न किया है।

हम नीचे भक्तशिरोमणि गोस्वामी तुलसीदासजीका एक पद्य देकर फिर विज्ञानके अनुसार नक्षत्र-जगत्के परिमाण और विस्तारका दिग्दर्शन करानेका प्रयत्न करेंगे। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने अपनी माताको अपने शरीरमें विश्वरूपका दर्शन कराया था, इस विषयका वर्णन करते हुए गोस्वामीजी लिखते हैं—

देखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखंड।
रोम रोम प्रति राजहिं कोटि कोटि ब्रह्मंड॥

श्रीरामचन्द्रजीके विशाल शरीरके एक-एक रोममें कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड विराज रहे थे। आधुनिक विज्ञान-के पास पर्यवेक्षणके साधन दूरबीन आदि जितने अधिक सूक्ष्म होते जाते हैं, उतना ही विज्ञानके लिये विश्वका विस्तार बढ़ता जाता है। आजसे पचास वर्ष पूर्व नक्षत्रोंकी गणना करोड़ोंमें की जाती थी, परन्तु अब अरबों और खरबोंमें की जाती है। अपने यन्त्रोंकी दृष्टिसे भले ही हम नक्षत्र-जगत्की अवधि निश्चित कर लें, परन्तु यह अवधि केवल हमारे यन्त्रोंकी मर्यादा-को ही सूचित करती है।

४. ग्रहोंकी दूरी

समीप-से-समीप यदि कोई आकाशीय पिण्ड है तो वह हमारा चाँद है। परन्तु इसकी दूरी भी यहाँसे २½ लाख मील है और पृथ्वीके ५०वें हिस्सेसे छोटा यह भी नहीं है। चन्द्र उपग्रह है; परन्तु ग्रहोंमें मङ्गल, शुक्र और बुधको छोड़कर शेष सब पृथ्वीसे बड़े हैं। और गुरुकी तो अन्वर्थकता ही इस बातमें है कि उसमें हमारी पृथ्वीके समान आकारवाले तेरह सौ पिण्ड समा सकते हैं। इसी प्रकार शनि भी कुछ कम विशाल नहीं है। शनिमें सात सौ पृथिवियाँ आ सकती हैं और सूर्यका भी यदि विचार किया जाय तो उसमें तो हमारे-जैसे तेरह लाख भूलोक आसानीसे छिप जायँगे।

दूरीके विषयमें हम यों भी कह सकते हैं कि यदि ६० मील प्रति घंटेकी चालसे कोई डाकगाड़ी सूर्यकी तरफ विना कहीं ठहरे प्रयाण करे तो उसे १७५ वर्ष लग जायँगे और गुरुतक पहुँचते-पहुँचते ९०० वर्ष, शनितक १६३३ वर्ष, यूरेनसतक ३४०० वर्ष, नेप्चूनतक ५२५० वर्ष लग जायँगे; इससे भी आगे यदि सौरमण्डलके अन्तिम ग्रह प्लूटोतक जाना हो तो १०,००० वर्षकी मुद्दत चाहिये। अगर हम महाभारत-युद्धके समय इस कल्पित डाकगाड़ीपर चढ़ गये होते तो अब इन दिनों नेप्चून ग्रहतक पहुँच चुके होते; और हिन्दुस्तानमें अंग्रेजोंके आनेके वक्त यदि इस गाड़ीपर सवार हो जाते तो आज हमारा क़याम सूर्यलोकमें होता। मनकी ये सब उड़ानें लेते हुए याद रखना चाहिये कि हम 'शतायुर्वै पुरुषः' श्रुतिकी इस उक्तिको भूल गये हैं।

५. तारोंकी दूरी

अबतक हमने केवल सूर्यके आसपास घूमनेवाले ग्रहोंके सम्बन्धमें बात की; किन्तु सचमुच यदि हमारा इरादा प्रतिदिन दृश्यमान सूर्यसे स्वतन्त्र गति रखनेवाले तारामण्डलमें प्रवेश करनेका हो तब तो नज़दीक-से-नज़दीकवाले तारेतक इस रेलगाड़ीद्वारा पहुँचनेके लिये ५,००,००,००० पाँच करोड़ वर्ष

चाहिये। इस अवधिको इतिहासकी घटनाओंसे मापना भी मुश्किल है। हाँ, यदि वैदिक और आर्ष इतिहासकी गवेषणा करके वेदोंको पौने दो अरब वर्ष पुराना सिद्ध कर दिया जाय तो बेशक इस अवधिको इतिहासवेत्ता ऐतिहासिक घटनाओंसे नाप सकेंगे।

६. स्वाती-रथ

इस प्रकार निकटतम तारेतक पहुँचनेमें ही अगर पाँच करोड़ वर्ष लग जायँ तो इस अवस्थामें तारामण्डलकी सैरका इरादा छोड़ देना होगा। ज्योतिषियोंने इस समस्याको हल करनेके लिये एक और सवारीकी कल्पना की है—वह है स्वाती नक्षत्र। चातकके सम्बन्धसे स्वाती प्रसिद्ध है। स्वाती नक्षत्र अपने-आप एक सेकंडमें २०० मील चलता है; यदि इसपर आदमी सवार हो जावे तो उसकी यात्रा कितनी जल्दी होने लगेगी! परन्तु पृथ्वीसे इस स्वातीकी दूरी इतनी ज्यादा है कि इसे जानकर कान खड़े हो जाते हैं। स्वाती हमारे यहाँसे १,००,००,००,००,००,००,००० एक पद्म मील दूर है। अब यदि इस दूरीको अनवरत चलनेवाली रेलगाड़ीसे तै करना हो तो कैसे करें? अच्छा, खैर, समझ लीजिये कि हम स्वातीपर जैसे-तैसे रामवाक्यसे पहुँच ही गये; लेकिन फिर भी मालूम होना चाहिये कि इस मनोहर और द्रुतगामी यानके द्वारा भी निकटतम नक्षत्र (जिसका नाम मित्र है और जिसे आजकल Alpha Centauri कहते हैं) तक जाते हुए हमारी जिन्दगी मार्गमें ही कबकी खतम हो जायगी और हमारा स्वाती-रथ खाली ही आगे-आगे भागता जायगा; क्योंकि इस निकटतम नक्षत्रतक जानेमें प्रति सेकंड २०० मील चलते हुए भी उसे ४,००० वर्ष लग जायँगे। शरद्-ऋतुमें रात्रिको दक्षिण दिशामें समस्त तारा-जगत्‌में तेजस्वितम नक्षत्र व्याध (Sirius) दिखलायी देता है। आकाशकी तरफ दृष्टिपात करते ही अपनी विशिष्ट भास्वरताके कारण व्याध हमारे ध्यानको हठात् आकृष्ट कर लेता है। हाँ, तो इस व्याधपर चरणक्षेप करनेकी आकाङ्क्षा हो तो शीघ्रगामी स्वाती-यानके द्वारा गमन करते हुए भी ८,७५० वर्षसे कम न लगेंगे; और यदि कौबेरी दिशामें विराजमान तपस्वी और प्रभुभक्त ध्रुवके दर्शनका सौभाग्य प्राप्त करना हो तो हमें परमात्मासे प्रार्थना करनी चाहिये कि हमारी आयु ४०,००० चालीस हजार वर्ष हो जाय। हममेंसे कितने ही धर्मप्रेमी और प्राचीनताके पोषक तो वसिष्ठ, अङ्गिरा, अत्रि, पुलस्त्य आदि तपोनिष्ठ महर्षियोंके साथ अन्वासन करनेके लिये लालायित होंगे; परन्तु यह जानकर उनके दिलको धक्का पहुँचेगा कि इन इष्टदेवोंके पास पहुँचनेके लिये उन्हें इतना अधिक पुण्य सञ्चित करनेकी आवश्यकता है कि उनकी उम्र भगवान् दो लाख वर्ष कर दें।

७. किरणयान और प्रकाशवर्ष

मनुष्य क्रियात्मकरूपसे कुछ करे या न करे, परन्तु उसकी उमङ्ग और कल्पनामें बड़ी भारी शक्ति है। वैज्ञानिकोंने स्वाती-नक्षत्र अथवा आशुगामी धूमकेतुको छोड़कर सबसे तेज चलनेवाली प्रकाश-किरणको आकाशयात्राका साधन कल्पित किया है। प्रकाश सिर्फ एक सेकंडमें एक लाख छियासी हजार मील अर्थात् स्वातीकी अपेक्षा लगभग हजारगुनी चालसे चलता है। योगदर्शनमें लिखा है कि योगी सूर्यरश्मियोंका आलम्बन करके सूर्यलोकमें और चन्द्रकी रश्मियोंद्वारा चन्द्रलोकमें पहुँच जाता है। यदि यह बात सच हो तब तो हम भी समाधिस्थ होकर कुछ ही घंटोंमें शनि, गुरु, नेप्चून, प्लूटो आदि ग्रहोपग्रहोंमें होते हुए सकल सौरमण्डलकी परिक्रमा कुछ ही घंटोंमें कर सकेंगे। सूर्य पृथ्वीसे ९ करोड़, ३० लाख मीलके अन्तरपर है। प्रकाश-किरणद्वारा सिर्फ ८$\frac{1}{3}$ मिनिटमें सूर्यतक पहुँचा जा सकता है, परन्तु नभोमार्गमें दीखनेवाला प्रत्येक तारा हमारे यहाँसे इतना

दूर है कि प्रकाश-किरणपर आरोहण करके जानेमें भी कुछ मिनिट अथवा घंटे नहीं प्रत्युत कई वर्ष लगते हैं। पुनर्वसु नक्षत्रके चार तारोंमें जो सबसे अधिक चमकता है, उसका नाम प्रश्वन् अथवा Procy one है; इसकी गिनती समीपवर्त्ती तारोंमें है। इसतक प्रकाश-किरण-द्वारा जानेमें भी जब दस वर्ष लगते हैं तो अन्दाज किया जा सकता है कि अन्य तारोंकी दूरीकी अवधि कितनी ज़्यादा होगी। प्रकाशकी गति इतनी अधिक है कि इसके बारेमें यदि ऐसा कहें कि यह मीलोंको निगलता जाता है तो अत्युक्ति न होगी। प्रकाशकी गतिद्वारा सेकंडके केवल ८ वें हिस्से-जितने समयमें भूमण्डलकी प्रदक्षिणा की जा सकती है। इतने तीव्रगामी साधनको भी जब समीपस्थ तारेतक जानेमें कई वर्ष लगते हैं तो मनुष्य इस हालतसे परिचित होकर सिवा आश्चर्यचकित होनेके और कुछ नहीं कर सकता। आँखसे किसी वस्तुको तभी देखा जा सकता है, जब उस वस्तुका प्रकाश हमारी आँखोंमें आकर पड़े। प्रकाश इतनी तेज़ीसे चलता है कि हमें मालूम भी नहीं हो पाता कि कब यह वस्तुसे हमारी तरफ़ चलनेके लिये प्रवृत्त हुआ और कब इसके द्वारा उस वस्तुका हमने चाक्षुष प्रत्यक्ष किया। साधारण व्यवहारके अनुसार हम ऐसा समझते हैं कि बिजलीका बटन दबाते ही कमरा आलोकित हो जाता है। शास्त्रीय दृष्टिसे बटन दबानेके बादसे मकानके प्रकाशित होनेतक कितने ही क्षण गुज़र जाते हैं, जिनकी उपेक्षा करना कुछ हदतक सम्भव है, लेकिन दृश्यमान तारोंके सम्बन्धमें इस उपेक्षाके लिये स्थान नहीं है। तारे तो इतनी दूर हैं कि उनका प्रकाश यहाँतक आनेमें वर्षों लग जाते हैं। किसी तारेके प्रकाशको पृथिवीपर आनेमें जितना वक्त लगता है, वर्तमान पद्धतिके अनुसार यह उस तारेकी प्रकाश-वर्षके पैमानेके मुताबिक़ दूरी कहलाती है। उदाहरणके लिये ध्रुवतारेकी दूरी ४० प्रकाश-वर्ष (Light-Year) है; इसका अभिप्राय यह हुआ कि जिस प्रकाशके द्वारा आज हम ध्रुवतारेको देख रहे हैं, वह अबसे ४० वर्ष पूर्व ध्रुवसे हमारी ओर चला था। अथवा दूसरे शब्दोंमें यदि प्रकाश-किरणका अवलम्बन करके हमें ध्रुवपर जाना हो तो इस यात्रामें चालीस वर्ष लगेंगे।

८. अगस्त्य और रायगल

सर्दियोंमें शामके समय दक्षिण गगनमें दृष्टि दौड़ायें तो एक बहुत चमकता हुआ तारा दिखायी देता है। इसका नाम 'अगस्त्य' (Canopus) है। शास्त्रमें लिखा है कि 'अगस्त्योदये नद्यः शुष्यन्ति', अगस्त्यका उदय होनेपर नदियाँ सूख जाती हैं। यह बात बिल्कुल ठीक है। अगस्त्य शरदृतुके आरम्भमें उदित होकर ग्रीष्मके लगभग मध्यमें अस्त हो जाता है। यह जानकर शायद हम जँभाई लेने लग जायँगे कि जिस ज्योतिःकिरणके आँखोंमें पड़नेसे आज हम अगस्त्य महाराजका दर्शन कर रहे हैं, वह ज्योतिःकिरण अगस्त्य-जीके शरीरसे तब निकली थी जब शाहनशाह अकबरका तमाम हिन्दुस्तानमें दबदबा था। मृगशीर्ष (Orion) नक्षत्र बहुत प्रसिद्ध है; इसमें नील-श्वेत वर्णका एक तेजस्वी तारा है, जिसे अंग्रेजीमें 'रायगल' (Rigel) कहते हैं। इसके प्रकाशको हमारे यहाँतक आनेमें ३०० वर्ष लगते हैं। यह स्मरण रहे कि ९ करोड़, ३० लाख मील दूर स्थित सूर्यके प्रकाशको जब सिर्फ ८½ मिनिट लगते हैं, इस अवस्थाको देखते रायगलकी दूरीका ख़याल हैरतमें डालनेवाला है। एक सेकंडमें एक लाख, छियासी हज़ारके हिसाबसे एक वर्षमें प्रकाश ५८⅔ खरब मील (6 Billion Miles) चलता है, ५८⅔को ३००से गुणा करनेपर जो राशि आयेगी, उतने खरब मील दूरी रायगलकी है। इतनी दूरीका हिसाब गणितशास्त्री भले ही कर सकें, परन्तु इसे मनमें बैठाना मनुष्यके अनुभवसे बाहर है।

९. आकाशगङ्गा तथा तारामेघ

गगनमण्डलमें आकाशगङ्गाके समान मनोहर दृश्य और क्या हो सकता है ? वर्तमान समयके प्रख्यात ज्योतिषी प्रोफेसर साइमन न्यूकॉम्बकी सम्मतिमें इस आकाशगङ्गाका कोई भी भाग ३२०० प्रकाश-वर्षसे कम दूर नहीं है । आकाशगङ्गामें कितने ही स्थानोंपर हलका-हलका श्वेत बादल-सा दिखलायी देता है । यह बादल वस्तुतः अगणित तारोंका समूह है, अत्यन्त दूर होनेसे इसमें एक-एक तारा अलग नहीं देखा जा सकता । इस प्रकारके बादलको 'ग्लोबुलर क्लस्टर' (Globular Cluster) कहते हैं । इस क्लस्टरकी दूरीका अनुमान २० हजारसे ४५ हजार प्रकाश-वर्षोंमें किया गया है । कई बहुत ज़्यादा हलके दीखनेवाले क्लस्टर एक लाख प्रकाश-वर्ष दूर हैं, सबसे अधिक दूरीपर स्थित क्लस्टर २,५०,००० ढाई लाख प्रकाश-वर्ष दूर है । ढाई लाख प्रकाश-वर्षका अभिप्राय है—

२,५०,०००×५८,५०,००,००,००,०००

=१४,६२,५०,००,००,००,००,००,०००

मील पृथ्वीसे दूरी ।

सामान्यतः हमें प्रतीत नहीं होता, परन्तु हमारा सूर्य आकाशगङ्गाका एक अङ्ग है और रात्रिके पूर्व तथा अपर भागमें समानरूपसे तारोंका प्रकाश देखे जानेके आधारपर अनुमान किया गया है कि हमारे सूर्यकी स्थिति आकाशगङ्गाके लगभग मध्यमें है। पृथ्वीकी दृष्टिसे दूरतम तारापुञ्जका अन्तर जब २½ लाख प्रकाश-वर्ष है तो आकाशगङ्गाकी समस्त लंबाई २½ लाख और २½ लाख अर्थात् ५ लाख प्रकाश-वर्ष है । आकाशगङ्गाके एक सिरेसे दूसरे सिरेतक प्रकाश-किरणद्वारा यात्रा करनेमें ५ लाख वर्षके बीत जानेकी सम्भावना है ।

आकाशगङ्गा यहाँसे खचाखच तारोंसे भरी हुई हमें मालूम होती है, परन्तु इसके किन्हीं दो तारोंमें करोड़ों मीलकी दूरी है । दिखायी देनेवाले प्रत्येक तारेके चारों ओर शून्यताका महान् आवरण विद्यमान है । ६०० वर्गफुटके कमरेमें उड़ते हुए छोटे-से-छोटे तथा खुर्दबीनद्वारा देखे जानेयोग्य धूलिकणके समान शून्य आकाशमें एक वैयक्तिक तारेकी स्थिति है । तारोंके इतने पास-पास दीखनेका एकमात्र कारण उनकी नितान्त दूरी है । इससे कल्पना की जा सकती है कि परिदृश्यमान जगत् कितना विशाल और महिमामय है । लेकिन क्या यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि तारा-जगत्की अन्तिम परिधि आकाशगङ्गा है ? वर्त्तमान ज्योतिषियोंने सूक्ष्मदर्शक यन्त्रोंकी मददसे आकाशगङ्गाके परले पार विद्यमान तारामेघका आभास प्राप्त किया है । इसे 'स्पाइरल नेबुली' (Spiral nebulae) का पारिभाषिक नाम दिया गया है । हिसाब लगानेसे परिणाम निकलता है कि इस प्रकारके तारामेघोंकी दूरी लाखोंमें नहीं बल्कि करोड़ों प्रकाश-वर्षोंमें है ।

१०. सप्तलोकी

अबतक हमने जो कुछ कहा है, उस सबका साधारण प्रत्यक्ष यन्त्रोंद्वारा किया जा सकता है। परन्तु यन्त्र मर्यादित हैं, बुद्धि और अन्तःकरणकी पहुँच यन्त्रोंकी अपेक्षा कहीं दूरतक है । जहाँ प्राचीन ऋषि-मुनियोंने इस दृश्यमान लोकसे ऊपर भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम् आदि सात लोकोंको अपनी योग-चक्षुओंके साधनसे देखा था, वहाँ आधुनिक विज्ञान भी दिमागी तर्क-वितर्कका आश्रय लेकर स्थूलरूपसे दीखनेवाले जगत्तक सीमित न रहते हुए इससे परे अनेक भुवनोंकी कल्पना करता है; लेकिन वह दिन अभी दूर है जब कि भौतिक दूरबीनें इन सुन्दर भुवनोंको अपनी मर्यादामें ला सकेंगी । तबतक हमें शास्त्रों और श्रुतियोंके कथनोंपर श्रद्धापूर्वक विश्वास करना पड़ेगा या हमें स्वयं ही योगसाधनाकी

तैयारीमें लग जाना होगा। यह सब हुई प्राकृतिक जगत्की बात।

वेदके पुरुषसूक्तमें लिखा है—

त्रिपादूर्ध्वमुदैत्पुरुषः
पादोऽस्येहाभवत् पुनः।

'इस प्राकृतिक जगत्में परम पुरुषका चतुर्थांश ही है, तीन चौथाई भाग इससे ऊपर है।'

जिस तरहकी सप्तलोकीका हमने ऊपर जिक्र किया है, उस तरहकी न जाने कितनी अगणित सप्तलोकियाँ प्राकृतजगत्में मौजूद हों। इन सब तथ्योंके आधारपर गोस्वामीजीके 'रोम रोम प्रति राजहिं कोटि कोटि ब्रह्मंड' इस वाक्यकी मर्मज्ञता आसानीसे समझमें आ सकती है।

११· सृष्टि और प्रलय

शास्त्रार्थ-महारथी समय-समयपर सृष्टि और प्रलयके विषयमें विवाद करते हैं, उन्हें नहीं मालूम कि हर क्षण लाखों ब्रह्माण्डोंका सृजन और लाखोंका प्रणाश हो जाता है। एक ब्रह्माण्ड जो तारेकी शक्लमें हमें दीखता है और जिसका प्रकाश सैकड़ों वर्षोंमें यहाँ आता है, यदि उसमें प्रलय हो जाय तो हमारे ऊपर अधिक-से-अधिक इतना ही असर होगा कि हमारे दृष्टिक्षेत्रमें विद्यमान हजारों तारोंमेंसे एक तारा गायब हो गया और यह ज्ञान भी हमें नहीं, बल्कि हमारी पीढ़ीमें पीछे आनेवाले अन्य लोगोंको सैकड़ों वर्ष बाद होगा। इसी तरह पृथ्वीका स्थान संसारमें इतना तुच्छ है कि यदि इसका प्रलय हो जाय तो सिवा सौरमण्डलके अन्यत्र कहीं भी इस महती दुर्घटनाकी ओर किसीका ध्यान आकृष्ट न होगा।

१२· ब्रह्महृदय, आर्द्रा, मङ्गलारि

पुराणों तथा कुरानमें भी लिखा है कि प्रलयके समय पहले समस्त पृथ्वी सलिलमय हो जायगी और इसके पश्चात् इतने ज्यादा पानीको सुखानेके लिये द्वादश आदित्य उदित होंगे। हमारी दृष्टिमें भौतिक तेजस्विताकी यदि कोई पराकाष्ठा है तो वह रोज आँखोंके सामने आनेवाला सूर्य ही है, इसीलिये अनेक देशोंमें सूर्यकी अर्चना भगवान्के रूपमें की जाती है। परन्तु ज्योतिषियोंकी नजरमें हमारा सूर्य इतना तुच्छ है कि उसका विश्वमें एक रजःकणके बराबर भी स्थान नहीं। उत्तर दिशामें 'ब्रह्महृदय' (Copella) नामक रक्तवर्णका तारा है। यह 'ब्रह्महृदय' ४,००० सूर्योंके बराबर है, इसका व्यास एक करोड़, चालीस लाख मील है। इसके अतिरिक्त स्वाती, जिसके विषयमें पर्याप्त कहा जा चुका है, हमारे सूर्यसे घनफलमें ३,५०,०००—साढ़े तीन लाख गुना है। स्वातीका व्यास छः करोड़, बीस लाख मील है। एक और तारा, जिसे आर्द्रा (Betelgeux) कहते हैं, सूर्यसे साढ़े तेरह लाख १३,५०,००० गुना परिमाणमें बड़ा है। यह याद रखना चाहिये कि सूर्य स्वयं इतना विशाल है कि इसमें हमारी पृथ्वी-जैसे बारह-तेरह लाख पिण्ड समा सकते हैं; इस हालतमें सूर्यकी अपेक्षा भी १३½ लाख गुना बड़े पिण्डका विस्तार तो सचमुच गजबनाक होगा। आर्द्रासे भी बृहत्तर एक और तारा ज्येष्ठा नक्षत्रके तीन तारोंमेंसे बीचका तारा है। इसका वर्ण इतना लाल है कि मङ्गलका प्रतिद्वन्द्वी प्रतीत होनेसे इसे 'मङ्गलारि' (Antares) कहा है। इस मङ्गलारिके विस्तारके विषयमें ऐसा कहा जाता है कि सूर्यके चारों ओर पृथ्वीके परिक्रमण-मार्गमें जितना स्थान घिरता है, उससे दुगुनेसे भी अधिक स्थानको घेरनेवाला यह तारा है। सूर्य और पृथ्वीका अन्तर नौ करोड़, तीस लाख मील है। यह अन्तर पृथ्वीके परिभ्रमण-वृत्तका व्यासार्द्ध हुआ। इस व्यासार्द्धका *दुगुना करनेसे अठारह करोड़, साठ लाख मील हुआ।* इसे फिर द्विगुणित करनेसे मङ्गलारिका व्यास सैंतीस करोड़, बीस लाख मील हुआ। इतने अधिक व्यासवाला पदार्थ सूर्यसे करोड़ों गुना महान् होना चाहिये।

१३. सूर्यकी प्रगति

सूर्य पृथ्वी आदि सकल परिवारको साथ लेकर प्रति घंटे ७८० मीलकी चालसे शौरि (Alpha Hercules) नामक तारेकी तरफ अग्रेसर हो रहा है और यह शौरि अपने-आप अभिजित् (Vega) की ओर जा रहा है; परन्तु हमें ये सब बातें प्रतीत नहीं होतीं । जैसे कोई चींटी रेलगाड़ीके डिब्बेमें दौड़ लगा रही हो, उसे रेलगाड़ीके आगे-पीछे जानेका कुछ भी भान नहीं होता, इस विश्वमें हमारी स्थिति भी इस चींटीसे बेहतर नहीं, बल्कि और अधिक हीन ही है । जिस पृथ्वीपर हम निवास करते हैं, उस पृथ्वीकी अठारह मील प्रति सेकंड-जैसी अनुपेक्षणीय गतिको भी हम अनुमान-प्रमाणद्वारा ही जान पाते हैं ।

१४. ज्यौतिषका महत्त्व

प्राचीन लोग ज्यौतिषका वेदाङ्गके रूपमें अध्ययन करते थे । उन्होंने कहा था—'ज्योतिषामयनं चक्षुः', ज्यौतिष शास्त्रोंमें आँखके समान है । जिस प्रकार मनुष्यके शरीरमें मार्गदर्शक नेताके रूपमें नेत्र या नयन हैं, उसी प्रकार शास्त्रोंमें नेतृत्वका—नयनका—कार्य ज्यौतिष करता है । ज्यौतिषसे मनुष्यकी आँखें खुलती हैं, प्रत्येक विषयको उदारताके साथ समझनेकी मनोवृत्ति विकसित होती है । अहङ्कारको दूर करनेके साथ-साथ विश्वनियन्ता स्वयम्भू परमात्मामें श्रद्धा उत्पन्न करनेमें ज्यौतिषका ज्ञान जादूका काम करता है । ज्योतिषीके लिये निखिल संसार प्रभुद्वारा की हुई काव्य-रचना है—इस प्रकारकी काव्य-रचना जो कभी पुरानी अथवा निस्तेज नहीं होती, सदा अमर रहती है । ज्योतिर्विद्के अन्तःकरणमें निम्न श्रुतिका गूढार्थ स्फुरित होता है—

'पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति ।'

अहं ब्रह्मास्मि

(लेखक—श्रीसत्यभूषणजी 'योगी')

'यह तो चक्कर है, चलेगा ही; अभागे मानवको इसमें बेबस होकर घूमना ही पड़ेगा, पिसना ही पड़ेगा !'

नहीं, नहीं, झूठ; सबको नहीं घूमना पड़ेगा । ऐ दैवको बलवान् बतलानेवाले कवि ! मुझे तेरी इन बातोंपर विश्वास नहीं है । तू झूठ कहता है, निःसन्देह झूठ कहता है !

मानव सर्वशक्तिमान् है, वह जो चाहे कर सकता है । वह आसमानके तारे तोड़ सकता है, पर्वतोंको धूलिसात् कर सकता है, समुद्रोंको सोख सकता है !

अरे, मुझे मत कहो कि मानव दीन-हीन है । ओह ! मत कहो, मैं यह सुनना ही नहीं चाहता । मैं ऐसा करनेवालोंका मुँह बंद कर दूँगा—बलसे नहीं, प्रेमसे ।

सर्वशक्तिमती जगन्माताकी सर्वश्रेष्ठ प्रतिकृति मानव है । इसको दीन कहना उस माँका तिरस्कार करना है । अरे, चक्रवर्ती सम्राट्को प्रतिकृति भिखारी कैसे हो सकती है ?

मानव ! तेरी शक्ति अनन्त है, अपरिमेय है । आश्चर्य होता है—हाँ, आश्चर्य होता है, जब तू छोटे-छोटे बन्धनोंमें बँधता है, निःसार भौतिक प्रेम एवं आकर्षणोंसे खिंचता है !

मानव ! अपने अंदर देख, तू शक्तिका भण्डार है ! तू जब अपनेको जान जायगा तो आश्चर्य करेगा कि मैं अबतक किन बेवकूफियोंमें पड़ा हुआ था । सच, तुझे अपनेपर ही हँसी आयेगी !

आँख खोलकर देख, तेरे दिव्य सौन्दर्यको देखकर उषा मुसकुरा रही है। डालोंपर झूल-झूलकर अपनेको भूले-से रंग-बिरंगे सुन्दर फूल तेरे स्वागतमें नृत्य-गान कर रहे हैं। ये चञ्चल पक्षी तेरी ही कीर्तिका गान गा रहे हैं! सन्ध्या तेरी ही सुषमाको देखकर लजा जाती है! रजनी—यह काली-काली सलोनी रजनी पुजारिन-सी अगणित पूजा-दीप लिये तेरी ही आरती उतारती है! सूरज और चाँद तेरा शुभ दर्शन करनेके लिये ही इधर-से-उधर और उधर-से-इधर घूमा करते हैं! झर-झर झरते झरने और कल-कल करती सरिताएँ तेरे ही गुणोंको गाती इठलाती चलती हैं! ये पर्वत सिर उठाये निर्निमेष नेत्रोंसे किसकी राह देख रहे हैं, किसकी प्रतीक्षामें आँख बिछाये हैं? तेरी ही; और किसकी?

हे मानव! तू महान् है, तेरी शक्ति अनन्त है। देख, ये दिशाएँ अनन्त हैं, यह नीलाकाश अनन्त है, अनन्त हैं झिलमिलाते सितारे। समुद्र अनन्त हैं। यह सृष्टिव्यापी सत्य-शिव-सुन्दर गान अनन्त है और अनन्त है तू!

तू इन छोटे-छोटे बन्धनोंमें बँधा है! आश्चर्य! अत्यन्त आश्चर्य!! अनन्त आश्चर्य!!! अनन्त सान्तमें बँधा है। ओह! अब समझा—अनन्त सान्तमें नहीं बँधा, अपितु अनन्तने सान्तका हाथ पकड़ रक्खा है और भ्रममें—नशेमें सोचता है कि सान्तने मुझे पकड़ रक्खा है, जकड़ रक्खा है।

तो फिर अनन्त मानव! उठ, छोड़ इन सान्त बन्धनोंको; हँस, कूद, गा, नाच; देख, सारी दुनिया हँस रही है, ऊपर आसमानमें भासमान सितारे खिलखिला रहे हैं!

हे मानव! तू हँस; तू निर्बन्ध है, निःसीम है, अनन्त है; तू ऐसा ही रह! छोटे-छोटे बन्धनोंको स्वेच्छया अपने साथ बाँधकर व्यर्थ न रो। सर्वशक्तिमती सुन्दरी जगन्माताको बदनाम न कर।

हाँ, तो हँस और खूब हँस; अपने अनन्त रूपको जान; फिर तू कह उठेगा—

'अहं ब्रह्मास्मि।'

'अयमात्मा ब्रह्म।'

'मैं ब्रह्म हूँ।' 'यह आत्मा ब्रह्म है।' और—

'हन्ताहं पृथिवीमिमां निदधानीह वेह वा कुवित्सोमस्यापामहम्।'

'हन्त, मैं इस पृथिवीको उठाकर यहाँ रक्खूँ कि वहाँ? जहाँ कहो वहीं रख दूँ! आज मैं मस्त हूँ, नशेमें झूम रहा हूँ; अमित शक्तिका निःसीम प्रवाह मेरे अंदर भर गया है; मैंने खूब सोम पिया है। मैं अनन्त हो गया हूँ, मैं निःसीम हो गया हूँ, मैं जो चाहे कर सकता हूँ।'

ऐ ब्रह्म, भ्रमको छोड़; फिर अपने विभ्रम और विक्रमको देख! छोड़ इन छोटे-छोटे बन्धनोंको, भौतिक चीजोंके आकर्षणोंको!

तू सर्वशक्तिमान् है, जगन्माताकी प्रतिकृति है! अपने गुलामोंकी गुलामी करके तू व्यर्थ ही क्यों दुःख पा रहा है? तू प्रेममयी जगन्माताका अवतार है, ब्रह्म है। मस्त होकर गा—

'अहं ब्रह्मास्मि।'

लीलाओंमें चमत्कार

(लेखक—श्रीशिवनारायणजी 'योगी')

श्रीवृन्दावनमें श्रीकृष्णलीला जो अनेक मण्डलियोंद्वारा आजकल दिखलायी जाती है, उसका इतिहास क्या है ? और उसमें तत्त्व क्या है ?—इन दो प्रश्नोंपर आज विचार करना है। ऐसे ही प्रश्न किसी समय मेरे हृदयमें भी उठा करते थे। और भी बहुत-से लोगोंने ऐसे ही प्रश्न मुझसे किये थे। मैं इतिहास और तत्त्व दोनोंकी खोज करके इस विषयमें जिस निर्णयपर पहुँचा हूँ, उसे पाठकोंकी सेवामें उपस्थित करूँगा; यदि सम्पूर्ण रहस्य लिखा जाय तो एक विस्तृत ग्रन्थ बन जाय। इस समय अत्यन्त संक्षेपमें दिग्दर्शनमात्र कराना है। आशा है, भक्तोंको इतनेसे ही बहुत कुछ लाभ होगा।

इतिहास

श्रीमद्भागवतमें रासलीलाके समय भगवान्के अन्तर्धान हो जानेपर परम भक्तिमती गोपियोंने ही लीलानुकरणका श्रीगणेश किया था—ऐसा वर्णन है। प्रेममयी गोपियोंद्वारा हो इसकी सृष्टि हुई और प्रेमियोंके लिये भगवल्लीला-दर्शन-सुखका अपूर्व लाभ सदाके लिये सुलभ हो गया। उसके पश्चात् श्रीघमण्डदेवजी महाराजको भगवान्ने दर्शन दिया और एक मुकुट तथा एक चन्द्रिका भी प्रसादरूपमें दी। इन्होंने वही भगवान्की दी हुई दिव्य चन्द्रिका तथा मुकुट लेकर भगवान्की आज्ञासे रासलीलाके लिये मण्डलीकी योजना की। रासलीलाकी पद्धति प्रारम्भ हुई। उसमें बड़ा ही आश्चर्य हुआ! ठाकुरजी आदि स्वरूप जो बनाये गये थे, वे सहसा अन्तर्धान हो गये। तदनन्तर भगवान्ने आज्ञा दी कि मेरी इच्छासे ही ऐसा हुआ है; अब और मण्डलियाँ बनाओ, वे अदृश्य नहीं होंगे। श्रीघमण्ड-देवजी महाराजका 'रासमण्डल' श्रीललिताजीकी जन्म-भूमि 'करहला' नामक ग्राममें है। अब भी यह बरसानेके पास है। इस प्रकार कई भक्तोंने मण्डलियाँ बनायीं और अनेक भक्तोंने लीलाओंकी रचना की। उन्हीं भक्तोंकी वाणियोंके आधारपर अब भी श्रीकृष्ण-लीलाएँ होती हैं। जिस समय अनेक मण्डलियाँ बनायी गयीं और लोगोंने लीलानुकरणका बढ़ता हुआ प्रचार देखा, तब अधर्मियोंने उसे धर्मप्रचारकी वृद्धिका साधन देखकर बन्द करानेकी कोशिश की। मुसलमानी राज्य था। चारों ओर हिन्दूधर्मके मूलपर कुठाराघात किया जा रहा था। यहाँकि राजा जयसिंहके पास शिकायत की गयी कि ऐसी लीलाएँ करना शास्त्रविरुद्ध है। श्रीजयसिंहने इस परिपाटीको बन्द करनेके अभिप्रायसे एक अठारह हाथ ऊँचा सिंहासन बनवाया। सभी मण्डलियोंको बुलाया गया। राजासाहब यह चाहते थे कि कंसको मारनेके समय जैसे भगवान् ऊँचे सिंहासन-पर कूद गये थे, वैसे ही आज भी कूदें। इस बातको जानकर भयके कारण मण्डलीवाले घबड़ा गये। 'करहला' ग्रामकी एक मण्डली थी। उस मण्डलीके ठाकुरजीका शृङ्गार किया गया। श्रीठाकुरजीने एक छलाँग मारी और सत्ताईस फुट ऊँचे सिंहासनपर जा विराजे। राजासाहब चकित और परम प्रसन्न हुए और बोले, भगवान्की यह लीला आज भी दिव्य है। आज यदि ऐसा न होता तो मैं सब मण्डलियाँ तुड़वा देता। परन्तु अब इसकी निन्दा करनेवाले मूर्खोंको सजा दी जायगी। ऐसा कहकर भगवान्को अपने कन्धेपर चढ़ाकर ले गये। और मण्डलीवालोंसे कहा—'तुम जो माँगो वही इस समय दूँगा।' मण्डलीवालोंने कहा—'हमारे पास भगवान् हैं। हमें कुछ नहीं चाहिये।' यह २५० वर्ष पूर्वकी बात है। यही इसका संक्षिप्त इतिहास है। राजा जयसिंह जयपुरके राजा

थे । इन्होंने इस घटनाके स्मारकरूपमें 'जयसिंहघेरा' वृन्दावनमें बनवाया था, जो अब भी है ।

तत्त्व

आजकल अनेक नयी शैलीके लोग कहा करते हैं कि इस प्रकारकी लीलाओंमें कोई तत्त्व नहीं है । यह उनकी भूल है, कारण कि मैंने स्वयं इन लीलाओंमें प्रत्यक्ष चमत्कार देखे हैं । मेरा विश्वास है कि 'यदि सच्चे भावसे (स्वरूपोंमें भगवद्भाव रखते हुए) दर्शन किया जाय, तो भगवान् तत्काल आविर्भूत हो जाते हैं ।' एक तात्कालिक चमत्कार देखिये—

एक सज्जन वृन्दावन आये । ब्रह्मचारीके मन्दिरमें लीला सन्ध्या-समय सदैव होती है । वे वहाँ लीला देखने गये । उन्होंने देखा कि मण्डलीके आदमीने पान इत्यादि श्रीठाकुरजीको पर्दा करके भोग लगाये । दूसरे दिन वे सज्जन बहुत सुन्दर पान लगवाकर लाये और उनको कपड़ेसे छिपाकर बगलमें दबा लिया । उनका किसीसे परिचय था नहीं, भय-सङ्कोचसे कुछ कहा भी नहीं । जिस समय भोग लगानेके लिये पर्दा करके मण्डलीका आदमी नित्यकी भाँति भोग लगाने गया, तब ठाकुरजीने कहा—'आज यह पान नहीं लिये जायँगे । उस स्थानसे उस मनुष्यको बुलाओ ।' उन सज्जनको फौरन बुलाया गया । श्रीठाकुरजीने उनकी बगलमेंसे छिपे हुए पान निकाले और कहा—'डरो मत ! तुम तो अपने ही हो, रोज पान ले आया करना ।' तबसे वे सज्जन आजतक वृन्दावनमें विराजमान हैं ।

कुब्जा-उद्धार

सत्ताईस वर्ष हुए लाहौरकी एक सौभाग्यशालिनी स्त्री वृन्दावनमें आयी । धन-धान्यसे पूर्ण थी, किन्तु उसके कूबड़ निकला हुआ था । एक दिन वह रासलीला देखने गयी । वहाँ कुब्जा-लीला हो रही थी । उसमें कृत्रिम कूबड़ी बनकर आयी, उसको भगवान्ने सीधा कर दिया । यह लीला देखकर लाहौरकी कूबड़ी भी कूदकर आगे आ गयी और बोली—'महाराज ! मुझे भी सीधी कर दीजिये ।' श्रीठाकुरजी पहले तो बहुत हँसे, पीछे अपने चरणसे उसका पैर दबाया और करकमलोंसे खींचकर उसे सीधा कर दिया । बड़े आश्चर्यकी बात है कि वह जन्मकी कूबड़ी क्षणमात्रमें कूबड़से रहित सुन्दरी हो गयी । उसने वृन्दावनमें मकान बनवाया और रासमण्डलियोंकी खूब सेवा की । लगभग सात वर्ष हुए उसका गोलोकवास हो गया । उसका लड़का 'ठाकुरदास' आज भी विद्यमान है ।

हार-प्रदान

इसी प्रकारकी एक घटना और देखिये । महात्मा श्रीकार्ष्णि गोपालदासजी महाराज रँगीले कृष्णभक्त थे । वे अपनेको विष्णुभक्त वैष्णव नहीं कहते थे । वे कहा करते थे कि हम तो कृष्णभक्त हैं, इसलिये हम कार्ष्णि हैं । एक बार ये जगन्नाथघाटपर जगन्नाथ-मन्दिरमें (जो टिकारी-मन्दिरके पास है) ठहरे हुए थे । श्रावणका महीना था । ब्यालू करके वे टिकारी-मन्दिरमें रात्रिके आठ बजे रासलीला देखने चले । उनसे मिलने एक संन्यासीजी आये हुए थे । जैसे ही हमारे 'कार्ष्णि' जी धुरन्धर विद्वान् थे, वैसे ही वे संन्यासीजी भी वेदान्तके चूडान्त पण्डित थे । संन्यासीजी लगे वेदान्त बरसने, बोले—'क्या आप भी इतने बड़े बुद्धिमान् होकर लड़कोंका नाच देखने जाते हैं ?'

श्री 'कार्ष्णि' जीने कहा—'आप निर्गुणोपासक हैं, इसलिये ऐसे कटु शब्द प्रयोग करते हैं । भक्तोंका यह सिद्धान्त है कि 'वे महान् विराट् ब्रह्मको सगुण नराकार रूपमें दिव्य भावसे भजते हैं ।' जैसे त्राटक सिद्ध करनेवाला योगी यदि चारों ओर देखता रहे तो कभी भी उसका त्राटक सिद्ध नहीं होगा । उसको एक श्याम बिन्दुपर ही दृष्टिको स्थिर करना होगा । हमारे भावसे तो वह रासधारीका लड़का नहीं, बल्कि परात्पर

ब्रह्म है। जबतक वे मोर-मुकुट धारण करके लीला करते हैं, तबतक तो उनकी शानके खिलाफ कोई शब्द मैं सुनना नहीं चाहता।'

संन्यासी—यदि उसको ईश्वर मानते हो तो कोई ईश्वरता भी होनी चाहिये। अन्धविश्वास करना अज्ञानियोंका काम है।

श्री'कार्ष्णि'जी—आप क्या ईश्वरता चाहते हैं?

संन्यासी—मैं चाहता हूँ कि उस लड़केसे कुछ न कहा जाय और वह अपने गलेकी माला उतारकर मुझे पहनाये। मैं चलता हूँ रासमें। यदि ऐसा न हुआ तो आपको सगुणोपासना छोड़ देनी पड़ेगी। और यदि ऐसा हो गया तो मैं निर्गुणोपासना त्याग दूँगा।

'शर्त स्वीकार है' कहकर कार्ष्णिजी तथा संन्यासीजी चल दिये। रासलीला हो रही थी। भीड़-भाड़ अधिक थी। ये लोग एक ओर जा बैठे। लीलाके बीचमें ही सहसा ठाकुरजी चौंक पड़े और अपने गलेसे माला उतारकर दोनों हाथोंमें ले ली। और सम्पूर्ण दर्शकोंके बीचमेंसे कूदते-फाँदते हुए जाकर उस संन्यासीके गलेमें माला पहना दी। ओह! यह देखकर उन संन्यासीको देहानुसन्धान न रहा। वह विह्वल होकर रोने और पृथ्वीपर लोटने लगे। कार्ष्णिजी भी प्रेममें विभोर होकर एक ओर रो रहे थे। दर्शकवृन्द इस रहस्यको जानकर गद्गद कण्ठसे जय-जयकार करने लगे। उन संन्यासीकी विचित्र दशा हो गयी और वह पूर्ण भक्त हो गये। यह घटना १२ वर्ष पहलेकी है।

दिव्य दर्शन

महात्मा श्रीहरिदासजी महाराजके शिष्य श्रीविट्ठलविपुलदेवजी बड़े ही गुरुभक्त थे। जिस समय गुरुदेवजीने समाधि ले ली, उसी समयसे इन्होंने नेत्रोंपर पट्टी बाँध ली कि गुरुदेवके बिना आजन्म किसी मनुष्यका दर्शन नहीं करेंगे। एक बार वृन्दावनमें रासलीला हो रही थी। विट्ठलविपुलदेवजी भी पधारे। कुछ विनोदी संतोंने श्रीराधाजीको सिखला दिया कि 'लीलाके समय इनसे दर्शन करनेका आग्रह करना; देखें ये क्या करते हैं।' लीला प्रारम्भ हुई। सहसा श्रीराधाजीने आकर इनका हाथ पकड़ लिया और कहा—'मेरा दर्शन करो।' इन्होंने कहा—'किशोरीजी! मेरा हाथ जो आपने पकड़ा है अब छोड़ना नहीं।' ऐसा कहकर इन्होंने नेत्रोंसे पट्टी खोली। उसी समय श्रीराधाजीका विग्रह तेजोमय हो गया। इन्होंने दर्शन करके तत्क्षण प्राणोंको त्याग दिया। ये महात्मा सिद्ध पुरुष थे। रासलीलाके बड़े प्रेमी थे। इनके बनाये पद अब भी रासलीलाओंमें गान किये जाते हैं।

कालिय-मर्दन

मध्यभारतमें एक दतिया नामकी रियासत है। वहाँके राजासाहब एक बार वृन्दावन पधारे थे। उन्होंने अपने यहाँ लीलाका आयोजन किया। कालियदमनकी लीला शुरू हुई। मण्डलीवालोंने एक कपड़ेका नाग बनाया। यह देखकर राजासाहबने कहा—'फौरन लीला बंद कर दो। कपड़ेके नागपर मैं झूठी लीला नहीं देखना चाहता।'

मण्डलीवालेने कहा—'राजन्! यह आप क्या कहते हैं? ये यदि मेरे सच्चे ठाकुर हैं, यदि मेरा भाव सच्चा है, तो आप सच्चा नाग मँगवाइये, हमारे भगवान् उसीको नाथेंगे।'

राजा साहबने जंगलसे एक भयङ्कर नाग पिंजड़ेमें पकड़वाकर मँगवाया, और लीलाका आयोजन किया। लीला प्रारम्भ हुई। नाग पिंजड़ेसे खोल दिया गया और वह फुफकारता हुआ दौड़ा। श्रीकृष्णजीने उसके फणपर कई बार चरणोंका प्रहार किया और उसका मर्दन करके उसे बाँध लिया। राजा यह लीला देखकर मूर्च्छित हो गये। सारी जनता आनन्दसे उल्लसित होकर जय-जयकी ध्वनिसे आकाशको गुँजाने लगी। वे राजा परम भक्त हुए। उन्होंने एक मन्दिर वृन्दावनमें

बनवाया, जो विद्यमान है; वह 'दतियावाला मन्दिर' के नामसे आज भी प्रसिद्ध है।

इस प्रकार अनेकों प्रत्यक्ष घटनाएँ देखी गयी हैं और छोटे-छोटे चमत्कार तो नित्य ही देखनेमें आ रहे हैं। अभी कुछ महीने हुए वृन्दावनकी एक मण्डली अजमेर गयी थी। वहाँपर एक पर्वतमें एक महात्मा चालीस दिनकी समाधि लगाये बैठे थे। उन्हीं दिनों उनको आदेश हुआ कि 'तुम क्या इस चक्करमें पड़े हो ? हमारा दर्शन करना चाहो तो अजमेरमें मेरी लीला देखो।' वे गुफासे निकलकर आये और पूछने लगे कि 'अजमेरमें कैसी लीला हो रही है ?' लोगोंने पता लगाया, तब वे महात्मा अजमेरमें आकर रासलीलामें प्रत्यक्ष दर्शन करके कृतार्थ हो सके।

इसलिये मेरी प्रार्थना है कि भक्तवृन्द 'रासलीला' और 'रामलीला' आदिको कोई खेल-तमाशा समझकर न देखें। अन्यथा बड़ी भारी रक़म खो जायगी। इन लीलाओंने सैकड़ों नास्तिकोंको भक्त बनाया है। हिन्दूमात्रका कर्तव्य है कि वह इन लीलाओंको शुद्ध भावसे, धर्म-भक्ति-प्रचारकी दृष्टिसे देखकर इनका महत्त्व बढ़ावे और दिव्य रसकी, दिव्य दर्शनकी प्रत्यक्ष अनुभूति करे।

अहम्-नाश

(गीत)

जीवनकी इस विषम नदीमें, ज्ञान-भक्तिसे मुखड़ा मोड़,
अपने आप भरोसे ऊपर, मैंने दी निज नैया छोड़॥
धीरे-धीरे चली नाव जब, उठा हृदयमें अहम्-स्वभाव।
लेकर डाँड़ ईशके करसे, नाविक बना बढ़ाकर चाव॥
चली आ रही निकट घाटके, नौका चलती अपने-आप।
पूर्ण खिवैया बना आप ही, मनमें किया गर्व-आलाप॥
प्रभुके आसनपर जा बैठा, समरथ अपनेको ही मान।
एक ओर नीरव बैठे थे, भावुक शान्त विचार-निधान॥
जब मम नाव धारमें पहुँची, प्रकट हो गया मम अज्ञान।
रुकती नहीं रोक मेरी से, नाव बही जाती भगवान॥
शेष भरोसा एक रामका, कहता और बजाता हूँ।
अपना अहङ्कार सब छोड़ा, व्यथितहृदय घबड़ाता हूँ॥
पर यह क्या? वे सहज भावसे, उठे डाँड़ लेकर निज हाथ।
कुछ भी बुरा न माना मुझसे, है ज्ञानी साथीका साथ॥
मैं अज्ञानी वे विज्ञानी, बुरा मानते क्यों श्रीमान।
भिक्षामें शिक्षा दे मालिक, रक्षा करते कृपानिधान॥
जीवन-नैया पार लगायी, समरथ सतगुरु श्रीभगवान।
मालिकसे जो करै दुश्मनी, उसका नाश करै अज्ञान॥

—श्री'नयन'

श्रीहरिः

संयम ही तप है

जो संयमी है, उसे वनकी क्या आवश्यकता ? और जो असंयमी है, उसे वनमें जानेसे लाभ क्या ? संयमी जहाँ भी रहे, उसके लिये वही वन है और वही आश्रम है। पड़ोसके घरमें चोरी होनेकी बात सुनकर अपने घरका प्रबन्ध किया जाता है, यह उचित ही है। किन्तु घर-घरसे प्रतिदिन मनुष्योंको पकड़कर ले जाते हुए कालसे क्या कुछ भी भय नहीं होता ? अतएव हे मनुष्यो ! अब भी सावधान हो जाओ। रागीको वनमें भी दोषोंकी जागृति हो जाती है और घरमें रहकर भी पाँचों इन्द्रियोंका संयम किया जाय तो वह तप ही है। जो निर्दोष कर्ममें प्रवृत्त होता है, उस विरक्त पुरुषके लिये घर भी तपोवन ही है।

ॐ
कल्याण
वर्ष १४
अङ्क ७

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियराम ॥
रघुपति राघव राजा राम। पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ आगारा ॥

[संस्करण ५६१००]

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

वार्षिक मूल्य
भारतमें ४ॐ)
विदेशमें ६॥ॐ)
(१० शिलिङ्ग)

साधारण प्रति
भारतमें ।)
विदेशमें ।ॐ)
(८ पेंस)

Edited by H. P. Poddar and C. L. Goswami, M. A., Shastri.
Printed and Published by Ghanshyamdas Jalan at the Gita Press, Gorakhpur (India).

श्रीहरिः

'कल्याण' फरवरी सन् १९४० की

विषय-सूची

श्रीहरिः

मानसांक प्रथम खण्डका चौथा संस्करण

मानसांकका पहला संस्करण ४०६०० प्रतियोंका था। उस समय घाटेके कारण यह सोचा गया था कि दुबारा मानसांक नहीं छापा जाय, परन्तु वह संस्करण बहुत जल्दी समाप्त हो गया और ग्राहकोंकी माँग ज्यों-की-त्यों बनी रही। तब घाटेका खयाल छोड़कर १०५०० प्रतियाँ पुनः छापी गयीं। वे सब प्रतियाँ बिक गयीं और माँगका जोर बहुत अधिक रहा। ऐसी अवस्थामें मानसांकको फिरसे छापनेमें बड़ी कठिनाई होनेपर भी तीसरी बार ५००० प्रतियाँ छापनेकी व्यवस्था की गयी और जब वे भी सब-की-सब समाप्त हो गयीं तब 'कल्याण' में सूचना छाप दी गयी कि अङ्क अब बिल्कुल समाप्त हो गये हैं; अतः कोई सज्जन आर्डर देनेकी कृपा न करें।

इतनेपर भी लोगोंकी माँग बराबर आ रही है, ग्राहकगण एक संस्करण और छापनेके लिये बहुत आग्रह कर रहे हैं। ऐसी अवस्थामें कागज, स्याही और आर्टपेपर आदिके दाम इतने अधिक बढ़े हुए होनेपर भी ५००० प्रतियोंका एक संस्करण और छापनेका विचार किया गया है जो लगभग दो मासमें तैयार हो जानेकी आशा है। जिन सज्जनोंने मनीआर्डरसे रुपये भेज दिये हैं, उन्हें धीरज रखकर प्रतीक्षा करनी चाहिये।

मानसांक छप चुकनेपर सबसे पहले रजिस्ट्रीद्वारा उन्हींको भेजा जायगा जिनके रुपये आ चुके होंगे। वी० पी० से मँगानेवालोंको अङ्क देरसे मिलेगा, अतएव रुपये मनीआर्डरसे भेज देनेमें ही सुविधा है। जो महाशय पहले वी० पी० के लिये लिख चुके हों और फिर रुपये भेजें, उनसे प्रार्थना है कि वे मनीआर्डरके कूपनपर यह बात स्पष्ट लिख दें कि, "हम पहले वी० पी० के लिये लिख चुके हैं" नहीं तो उनके नाम रजिस्ट्री और वी० पी०से दो अङ्क चले जानेकी सम्भावना है।

यदि कार्यालयकी भूलसे किन्हीं सज्जनके नाम दो अङ्क चले जायँ तो कृपापूर्वक लौटावें नहीं, कुछ चेष्टा करके वहीं अपने किसी मित्रके द्वारा वी० पी० छुड़वा लें।

मानसांक केवल प्रथम खण्ड, जो सातोंकाण्ड रामायण सटीक और सुन्दर-सुन्दर लेखोंके सहित पृष्ठ ६२८, सुनहरी और तिरंगे चित्र ५४, दुरंगे चित्र ८ और सैकड़ों सादे चित्रोंसे विभूषित है, उसका मूल्य केवल ३॥) है।

जिन सज्जनोंने पहले आर्डर भेजे-भिजवाये थे, परन्तु स्टाकमें न रहनेके कारण उन्हें मानसांक नहीं जा सके थे। उनकी सेवामें निवेदन है कि अब दुबारा आर्डर भेज दें।

व्यवस्थापक—कल्याण, गोरखपुर

जगद्धात्री महालक्ष्मी

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ (गीता १८ । ६६)

वर्ष १४ | गोरखपुर, फरवरी १९४० | संख्या ७ / पूर्ण संख्या १६३

विनय

हम बालक, तुम माय हमारी । पल पल माहिं करौ रखवारी ॥
निसि दिन गोदीही में राखौ । इत उत बचन चितावन भाखौ ॥
बिषयन ओर जान नहिं देओ । दुर दुर जाऊँ तो गहि गहि लेओ ॥
मैं अनजान कछू नहिं जानूँ । बुरी भली को नहिं पहचानूँ ॥
तुम्हरो इच्छाही से जीऊँ । नाम तुम्हारो अमृत पीऊँ ॥
दिष्टि तिहारी ऊपर मेरे । सदा रहूँ मैं सरनें तेरे ॥
मारौ, झिड़कौ तो नहिं जाऊँ । सरक सरक तुम ही पै आऊँ ॥
चरनदास है सहजो दासी । हो रच्छक पूरन अबिनासी ॥

परमहंस-विवेकमाला

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

[मणि १५]

(गताङ्कसे आगे)

मायातीतं गुणातीतं हेयोपादेयवर्जितम् ।
सर्वाधारं निराधारं ब्रह्मात्मानमुपास्महे ॥

भोलेशङ्कर—हे देवि ! आज मैं नादयोग सुनना चाहता हूँ; कृपया जिस उपनिषद्में नादयोगका वर्णन हो, वह उपनिषद् मुझे सुनाइये ।

देवी—हे वत्स ! हंसोपनिषद्में गौतम और सनत्कुमारका संवाद इस प्रकार है—

गौतम—हे भगवन् ! आप सब धर्मोंके जाननेवाले और सर्वशास्त्रविशारद हैं; मैं आपसे सविनय प्रार्थना करता हूँ कि ब्रह्मविद्याका प्रबोध जिस उपायसे होता है, वही उपाय मुझे बताइये—

सनत्कुमार—हे गौतम ! पिनाकी शिवजीने समस्त वेदोंके मतको जानकर और विचारकर जिस तत्त्वको गिरिराजकुमारी पार्वतीसे कहा था, उसी तत्त्वको मैं तुझसे कहता हूँ, ध्यान देकर सुन । यह तत्त्व अकथनीय है और कोष यानी खजानेके समान योगियोंके लिये गुह्य रखने योग्य है । हंसकी आकृतिका विस्तार भुक्ति और मुक्ति दोनों फलोंका देनेवाला है । अब हंस और परमहंसका निर्णय मैं तुझसे कहता हूँ । ब्रह्मचारी, शान्त, दान्त, गुरुभक्त जन ही इस हंस उपनिषद्के अधिकारी हैं । ऐसे अधिकारियोंको ही यह विद्या देनी चाहिये । जैसे काष्ठमें अग्नि और तिलोंमें तेल रहता है, उसी प्रकार 'हंस', 'हंस' ऐसा ध्यान करता हुआ मनुष्य सर्वदेहोंमें व्याप्त होकर—पूर्ण होकर वर्तता है । इस हंसको जानकर अधिकारी पुरुष मृत्युको उलाँघ जाता है ।

षट्चक्रनिरूपण—इस मनुष्यके देहमें (१) आधारचक्र, (२) स्वाधिष्ठानचक्र, (३) मणिपूरकचक्र, (४) अनाहतचक्र, (५) विशुद्धिचक्र और (६) आज्ञाचक्र—ये छः चक्र गुदासे लेकर भ्रूकुटीतक वर्तमान हैं । चक्रका दूसरा नाम पद्म है । (१) आधारचक्र गुदाके ऊपर और लिङ्गके नीचे स्थित है । इसका रंग लाल है । यह चक्र चार दलका है, निर्वाण-मार्गका मूल है और कुण्डलीके आधारवाला है यानी कुण्डली इसका आधार है । इसलिये विद्वान् इस चक्रको मूलाधार कहते हैं । गणपति इस चक्रके देवता हैं । (२) लिङ्गमें स्वाधिष्ठान नामका मनोहर चक्र छः दलवाला प्रकाशमान सिन्दूरके-से उज्ज्वल रंगका है । यह स्वाधिष्ठान महापद्म प्राणका और हंसका स्थान है और बिजलीके समान प्रभावाला है । प्रजापति इसके देवता हैं । (३) नाभिमें मणिकी प्रभावाला मणिपूरकचक्र दश दलवाला है और नील मेघके समान स्वच्छ और उज्ज्वल है; विष्णु इसके देवता हैं । (४) हृदय-देशमें अनाहत नामका चक्र बारह दलवाला और बन्धूक-कुसुमके समान अथवा दूधके समान श्वेत रंगवाला है । चन्द्रमा इसके देवता हैं । इस अनाहतमें आठ दलका कमल स्थित है, जो सर्वकामनाओंका देनेवाला और शिवयुक्त नित्य जीवस्थान है । रुद्र इसके देवता हैं । (५) विशुद्धि नामका चक्र कण्ठमें है । यह महाप्रभावाला, मनको शुद्धि देनेवाला, सोलह दलका धूमके-से रंगका है; यह जीवात्माके रहनेका स्थान है । (६) आज्ञाचक्र भ्रुकुटियोंके मध्यमें विराजमान है, यहाँपर परमात्माको प्रकाश करनेवाली गुरु-आज्ञा मिलती है । यह लाल रंगका, दो पत्रवाला है;

परमात्मा इसके देवता हैं। यह मोक्ष देनेवाला परम तीर्थ है, यहाँपर प्रकाशमान प्रणव नामका महाबीज विराजमान है।

मस्तकमें सहस्र पत्रवाला सहस्रार नामका चक्र है। यह चक्र दशम द्वारको पूर्ण करता है और उसमें जीवात्मारूपी हंस रहता है। गुदाको दबाकर आधारसे वायुको उठावे, स्वाधिष्ठानकी तीन प्रदक्षिणा करके मणिपूरकमें जाकर अनाहतको उलाँघकर विशुद्धिचक्रमें प्राणोंको रोककर आज्ञा-चक्रका ध्यान करता हुआ ब्रह्मरन्ध्रका ध्यान करे। 'मैं त्रिमात्र हूँ' इस प्रकार सर्वदा ध्यान करे। आधारसे ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त जो शुद्ध स्फटिकके समान नाद है, वही ब्रह्म परमात्मा कहलाता है। इस ग्रन्थका हंस ऋषि है, अव्यक्त गायत्री छन्द है, परमहंस देवता है, 'अहम्'बीज है,'सः' शक्ति है और 'सोऽहम्' कीलक है। जो पक्षी जैसा शब्द उच्चार करता है, वही उसका नाम रक्खा जाता है। जैसे 'का', 'का' कहनेवाले पक्षीको काक कहनेमें आता है, उसी प्रकार श्वास-प्रश्वासमें 'हंस', 'हंस' ऐसा उच्चार होनेसे जीवात्माको हंस कहते हैं। रात-दिन-में मनुष्य २१६०० श्वास-प्रश्वास लेता है। उनमेंसे बाहर निकलनेवाला श्वास 'हकार' उच्चार करता है और भीतर जानेवाला श्वास 'सकार' उच्चार करता है, अर्थात् श्वास-प्रश्वासमें 'हंस' ऐसी ध्वनि हुआ करती है और रात-दिन इसीका जप होता रहता है।

जीवरूप हंसका वर्णन—हे गौतम! जैसे पक्षी पिंजरेमें रहता है, उसी प्रकार यह जीवरूप हंस भी मनुष्यदेहरूपी पिंजरेमें रहता है। इस जीव-रूप हंसके अग्नि और सोम दो पक्ष हैं। अग्नि भोक्तारूप है और सोम भोग्यरूप है। ॐकाररूप प्रणव-मन्त्र इस जीवरूप हंसका मस्तक है। मूल शक्तिका क्रियाशक्तिवाला परिणामविशेष जो बिन्दु है, वह जीवरूप हंसका हृदय है। सूर्य, अग्नि और सोम—ये तीन जीवरूप हंसके नेत्र हैं। जीवरूप हंसका एक पैर रुद्ररूप है और दूसरा पैर रुद्राणीरूप है। 'त्वम्' पदका अर्थ जो जीवरूप हंस है, वही 'तत्' पदका अर्थरूप परमात्मदेव है। निरुपाधिक दृष्टिसे यह जीवरूप हंस निर्गुण ब्रह्म-रूप है और सोपाधिक दृष्टिसे सगुण ब्रह्मरूप है। सगुण ब्रह्म वाम भागमें अग्निरूप है और दक्षिण भागमें सोमरूप है। जीवरूप हंस अति चञ्चल और तेजस्वी है। जैसे तोता पिंजरेमें इधर-उधर फिरता रहता है, उसी प्रकार जीवरूप हंस सम्पूर्ण शरीरमें घूमा करता है। जब जीव हृदय-कमलके भिन्न-भिन्न विभागोंके ऊपर बैठता है, तब उसमें भिन्न-भिन्न वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। जब जीव हृदय-कमलके मध्यभागमें बैठता है, तब जैसे हंस क्षीर और नीरको भिन्न-भिन्न कर देता है, उसी प्रकार जीवरूप हंस भी सत्य-असत्यको स्पष्ट करके दिखला देता है। जब जीव हृदयकी केसरों-पर बैठता है, तब जाग्रत् अवस्थामें व्यवहार करता है; जब हृदय-कमलकी कर्णिकाओंके ऊपर बैठता है, तब स्वप्न अवस्थामें विहार करता है; और जब हृदयके मध्यदेशमें जाकर बैठता है, तब उसको सुषुप्ति प्राप्त होती है। जब पूर्वदलपर बैठता है, तब पुण्यबुद्धि होती है; जब आग्नेयदलपर बैठता है, तब निद्रा, आलस्य आदि होते हैं; जब याम्य यानी दक्षिणदलपर बैठता है, तब क्रूर बुद्धि होती है; जब नैर्ऋतदलपर बैठता है, तब पापबुद्धि होती है; जब पश्चिमदलपर बैठता है, तब क्रीडाबुद्धि होती है; जब वायव्यदलपर बैठता है, तब चलने-फिरनेको जी चाहता है; जब उत्तरदलपर बैठता है, तब रतिमें प्रीति होती है और जब ईशान दल-पर बैठता है, तब द्रव्य ग्रहण करनेकी बुद्धि होती है और जब मध्यके दलपर बैठता है, तब वैराग्य होता है। जब जीवरूप हंस 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसी पूर्ण दृष्टि करके हृदय-कमलको त्याग देता है, तब पुरुष तुरीयावस्थाको प्राप्त होता है। ज्ञाता, ज्ञान और

ज्ञेय तथा ध्याता, ध्यान और ध्येय-इस त्रिपुटीके भानवाली ब्रह्माकारवृत्तिसे युक्त समाधिकी अवस्थाको तुरीयावस्था कहते हैं। सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात भेदसे समाधि दो प्रकारकी है। जिसमें ऊपर बतायी हुई त्रिपुटीका भान रहे, वह सम्प्रज्ञात समाधि है और जिसमें त्रिपुटीका भान न रहे, वह असम्प्रज्ञात समाधि है। जिसको ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तथा ध्याता, ध्यान और ध्येयका भान रहे, उसको योगवाला कहते हैं और जिसको त्रिपुटीका भान न रहे, उसको निद्रालु कहते हैं। त्रिपुटीके भानवाली सम्प्रज्ञात समाधिमें ही योगी वृत्तियोंको ब्रह्माकार करते हैं और जिस समाधिमें त्रिपुटीको अद्वितीय ब्रह्मस्वरूप नादमें लय कर दिया जाता है, उसको तुरीयातीत अवस्था कहते हैं।

हे गौतम! ॐकाररूप प्रणवमें अ, उ, म्, बिन्दु और नाद-ये पाँच अवयव हैं। पहले तीन अवयव विश्व, तैजस और प्राज्ञके वाचक हैं और अर्धमात्रारूप बिन्दु और नाद-ये दोनों ब्रह्मवाचक हैं। बिन्दु अवयव सविशेष ब्रह्मवाचक है और नाद निर्विशेष ब्रह्मवाचक है। समाधिमें प्राप्त होनेवाली प्रणवस्वरूप तुरीयातीत अवस्था लाखों योगियोंमेंसे किसी एक योगीको प्राप्त होती है। इस अवस्थाको प्राप्त करनेके लिये योगी प्राणवायुको आकर्षण करके प्रथम उसको आधारचक्रमें स्थिर करता है, फिर एक-एक ऊपरके चक्रमें लाता हुआ अन्तके आज्ञाचक्रमें और दशम द्वारमें ले जाकर उसको वहाँ रखता है। योगाभ्यासके बलसे इस प्रकार प्राणवायुको दशम द्वारमें प्रवेश करानेके पीछे योगी जीवरूप हंसको ध्याता और ब्रह्मरूप नादको पाँचवाँ तन्त्रीनाद, छठा तालनाद, सातवाँ वेणुनाद, आठवाँ भेरीनाद, नवाँ मृदङ्गनाद और दसवाँ मेघनाद अन्तरमें सुननेमें आता है। मेघनादके श्रवणसे वैराग्य प्राप्त होता है, इसलिये योगी नौ नादोंको त्यागकर बारंबार मेघनादको श्रवण करता है। ऐसा करनेसे सङ्कल्प, विकल्प और विक्षेप आदि मनके सम्पूर्ण धर्म लयभावको प्राप्त हो जाते हैं और मन ब्रह्माकार हो जाता है। ब्रह्माकारताको प्राप्त हुए योगीको आनन्दस्वरूप आत्माका स्वप्रकाश चैतन्यस्वरूपसे प्रत्यक्ष दर्शन होता है और पीछे वह योगी उसी आनन्दमें मग्न रहता है। नादोंके लिङ्ग इस प्रकार हैं—प्रथम नादमें शरीरमें चिञ्चिणी होती है, दूसरेमें गात्र-भञ्जन होता है, ध्येय बनाकर 'हंस' मन्त्रका एक करोड़ संख्यातक जप करता है। जब इतना जप हो जाता है, तब उसको योगसिद्धिमें विश्वास उत्पन्न करनेवाले नाद सुननेमें आते हैं। प्रथम चिणिनाद, दूसरा चिञ्चिणिनाद, तीसरा घण्टानाद, चौथा शङ्खनाद, तीसरेमें पसीना आता है, चौथेमें सिर काँपता है, पाँचवेंमें तालु चूता है, छठेमें अमृत बहता है, सातवेंमें गूढ़ विज्ञान, आठवेंमें परा वाणी, नवेंमें देह अदृश्य तथा दृष्टि दिव्य और अमल हो जाती है, दसवेंमें ब्रह्मात्मकी सन्निधिमें परब्रह्म हो जाता है। वहाँ मन लय हो जाता है, पुण्य-पाप जल जाते हैं और सदाशिव, शक्त्यात्मा, सर्वत्रस्थित, स्वयंज्योति, शुद्ध, बुद्ध, नित्य, निरञ्जन और शान्त आत्मा प्रकाशता है। इति वेदप्रवचनम्, इति वेदप्रवचनम्॥

(१५ वाँ मणि समाप्त)

ब्रह्मचर्य

(लेखक—महात्मा गांधी)

ब्रह्मचर्यकी जो व्याख्या मैंने की है, वह अब भी कायम है। अर्थात् जो मनुष्य मनसे भी विकारी होता है, समझना चाहिये कि उसका ब्रह्मचर्य स्खलित हो गया है। जो विचारमें निर्विकार नहीं, वह पूर्ण ब्रह्मचारी कभी नहीं माना जा सकता। चूँकि अपनी इस व्याख्यातक मैं नहीं पहुँच सका, इसलिये अपनेको मैं आदर्श ब्रह्मचारी नहीं मानता। पर अपने आदर्शसे दूर होते हुए भी मैं यह मानता हूँ कि जबसे मैंने इस व्रतका आरम्भ किया तब मैं जहाँपर था, उससे आगे बढ़ गया हूँ। विचारकी निर्विकारता तबतक आती ही नहीं, जबतक कि 'पर' का दर्शन नहीं होता। जब विचारके ऊपर पूरा काबू हो जाता है, तब पुरुष स्त्रीको और स्त्री पुरुषको अपनेमें लय कर लेती है। इस प्रकारके ब्रह्मचर्यके अस्तित्वमें मेरा विश्वास है, पर ऐसा कोई ब्रह्मचारी मेरे देखनेमें नहीं आया। ऐसा ब्रह्मचारी बननेका मेरा महान् प्रयास जारी अवश्य है। जबतक यह ब्रह्मचर्य प्राप्त नहीं हो जाता, मनुष्य उतनी अहिंसातक, जितनी कि उसके लिये शक्य है, पहुँच नहीं सकता।

ब्रह्मचर्यके लिये आवश्यक मानी जानेवाली बाड़को मैंने हमेशाके लिये आवश्यक नहीं माना है। जिसे किसी बाह्य रक्षाकी जरूरत है, वह पूर्ण ब्रह्मचारी नहीं। इसके विपरीत जो बाड़को तोड़नेके ढोंगसे प्रलोभनोंकी खोजमें रहता है, वह ब्रह्मचारी नहीं, किन्तु मिथ्याचारी है।

ऐसे निर्भय ब्रह्मचर्यका पालन कैसे हो? मेरे पास इसका कोई अचूक उपाय नहीं, क्योंकि मैं पूर्ण दशाको नहीं पहुँचा हूँ। पर मैंने अपने लिये जिस वस्तुको आवश्यक माना है, वह यह है—

विचारोंको खाली न रहने देनेकी खातिर निरन्तर उन्हें शुभ चिन्तनमें लगाये रहना चाहिये, रामनामका इकतारा तो चौबीसों घंटे, सोते हुए भी, श्वासकी तरह स्वाभाविक रीतिसे चलता रहना चाहिये। वाचन हो तो सदा शुभ और विचार किया जाय तो अपने कार्यका ही। कार्य पारमार्थिक होना चाहिये। विवाहितोंको एक दूसरेके साथ एकान्त-सेवन नहीं करना चाहिये, एक कोठरीमें एक चारपाई-पर नहीं सोना चाहिये। यदि एक दूसरेको देखनेसे विकार पैदा होता हो तो अलग-अलग रहना चाहिये। यदि साथ-साथ बातें करनेमें विकार पैदा हो जाता हो, तो बातें नहीं करनी चाहिये। स्त्रीमात्रको देखकर जिसके मनमें विकार पैदा होता हो, वह ब्रह्मचर्य-पालनका विचार छोड़कर अपनी स्त्रीके साथ मर्यादा-पूर्वक व्यवहार रक्खे; जो विवाहित न हो, उसे विवाहका विचार करना चाहिये। किसीको सामर्थ्यके बाहर जानेका आग्रह नहीं रखना चाहिये। सामर्थ्यसे बाहर प्रयत्न करके गिरनेवालोंके अनेक उदाहरण मेरी नजरके सामने आते रहते हैं।

जो मनुष्य कानसे बीभत्स या अश्लील बातें सुननेमें रस लेते हैं, आँखसे स्त्रीकी तरफ़ देखनेमें रस लेते हैं, जो अश्लील चीजें पढ़ते हैं, अश्लील बातें करनेमें रस लेते हैं, वे सब ब्रह्मचर्यका भङ्ग करते हैं। अनेक विद्यार्थी और शिक्षक ब्रह्मचर्य-पालनमें जो हताश हो जाते हैं, इसका कारण यह है कि वे श्रवण, दर्शन, वाचन, भाषण आदिकी मर्यादा नहीं जानते और मुझसे पूछते हैं, 'हम किस तरह ब्रह्मचर्य-का पालन करें?' प्रयत्न वे जरा भी नहीं करते। जो पुरुष स्त्रीके चाहे जिस अङ्गका सविकार स्पर्श करता

है, उसने ब्रह्मचर्यका भङ्ग किया है, ऐसा समझना चाहिये। जो ऊपरी मर्यादाका ठीक-ठीक पालन करता है, उसके लिये ब्रह्मचर्य सुलभ हो जाता है।

आलसी मनुष्य कभी ब्रह्मचर्यका पालन नहीं कर सकता। वीर्यसंग्रह करनेवालेमें एक अमोघ शक्ति पैदा होती है। उसे अपने शरीर और मनको निरन्तर कार्यरत रखना ही चाहिये। अतः हरेक साधकको ऐसा सेवा-कार्य खोज लेना चाहिये कि जिससे उसे विषय-सेवन करनेके लिये रंचमात्र भी समय न मिले।

साधकको अपने आहारपर पूरा काबू रखना चाहिये। वह जो कुछ खाये, केवल ओषधिरूपमें शरीर-रक्षाके लिये—स्वादके लिये कदापि नहीं। इसलिये मादक पदार्थ, मसाले वगैरह उसे खाने ही नहीं चाहिये। ब्रह्मचारीको मिताहारी ही नहीं, अल्पाहारी भी होना चाहिये। सब अपनी मर्यादा बाँध लें।

उपवासादिके लिये ब्रह्मचर्य-पालनमें अवश्य स्थान है। पर आवश्यकतासे अधिक महत्त्व देकर जो उपवास करता और उससे अपनेको कृतकृत्य हुआ मानता है, वह भारी गलती करता है। निराहारीके विषय उस बीचमें क्षीण भले ही हो जायँ, पर उसका रस नष्ट नहीं होता। शरीरको नीरोग रखनेमें उपवास बहुत सहायक है। अल्पाहारी भी भूल कर सकता है, इसलिये उपवास करनेमें लाभ ही है।

क्षणिक रसके लिये मैं क्यों तेजहीन होऊँ? जिस वीर्यमें प्रजोत्पत्तिकी शक्ति भरी हुई है, उसका पतन क्यों होने दूँ और इस तरह ईश्वरकी दी हुई बख्शीसका दुरुपयोग करके मैं ईश्वरका चोर क्यों बनूँ? जिस वीर्यका संग्रह कर मैं वीर्यवान् बन सकता हूँ, उसका पतन करके वीर्यहीन क्यों बनूँ!—इस विचारका मनन यदि साधक नित्य करे और रोज ईश्वर-कृपाकी याचना करे, तो सम्भवतः वह इस जन्ममें भी वीर्यपर काबू प्राप्तकर ब्रह्मचारी बन सकता है। इसी आशाको लेकर मैं जी रहा हूँ।

(हरिजन-बन्धु)

मैं कौन हूँ?

(लेखक—स्वामीजी श्रीविज्ञानहंसजी महाराज)

मैं कौन हूँ, सर्वत्र दृश्यमान स्थूल प्रपञ्चसे मेरा कोई प्रभेद है या नहीं, मेरी सत्ता पञ्चभूत-विकारमय संसारके नाशके साथ ही नष्ट हो जायगी अथवा इसके अतिरिक्त कोई अविनाशी भाव क्षणभङ्गुर विश्वके बीचमें सदा ही विद्यमान रहेगा—इस प्रकारके प्रश्न न जाने किस अन्तर्लोकविहारी परोक्ष पुरुषकी कृपासे स्वतः ही जीवके अन्तःकरणमें उदय होने लगते हैं। विषय-मदिरा-पानोन्मत्त जीव तमोगुणके अन्धकूपमें निमज्जित रहनेपर भी मदोन्मादकी अत्यन्त दुःखमय प्रतिक्रिया-दशामें इस प्रश्नको अपनेसे पूछे बिना रह नहीं सकता। दुर्भिक्षपीड़ित भिखारी भी जीवनयात्राकी कठिनताकी ओर दृष्टिपात करके इस प्रश्नके उत्तरके लिये निज हृदयके अन्तरतम प्रदेशको टटोलता रहता है। स्नेह-पाशबद्ध विरहकातर माता-पिता भी संसारकी अनित्यताको देखकर इसी प्रश्नको अपने हृदयमें पूछते रहते हैं। उन्नत प्रकृतिके राज्यमें विचरणशील साधकके लिये तो यह विचार आध्यात्मिक जीवनका स्वरूप ही है।

भगवती श्रुति भी गम्भीरभावसे आत्मदर्शनकी परमावश्यकताका उपदेश कर रही है—

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यस्तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

'आत्माका दर्शन करना चाहिये, उसके विषयमें श्रवण-मनन-निदिध्यासन करना चाहिये। आत्माको जाननेसे ही जीव मृत्युको अतिक्रमण करके निःश्रेयस-पदवीपर प्रतिष्ठा-लाभ कर सकता है, घोर संसार-सिन्धुसे पार होनेके लिये आत्मदर्शनके सिवा और कोई भी उपाय नहीं है।'

भगवान् श्रीमनुजी कहते हैं—

सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम्।
प्राप्यैतत्कृतकृत्यो हि द्विजो भवति नान्यथा॥
यथोक्तान्यपि कर्माणि परिहाय द्विजोत्तमः।
आत्मज्ञाने शमे च स्याद्वेदाभ्यासे च यत्नवान्॥

'इन सबमें आत्मज्ञान श्रेष्ठ कहा गया है, इसे प्राप्तकर ब्राह्मण कृतकृत्य हो जाता है। ब्राह्मणको चाहिये कि वह उपर्युक्त कर्मोंका त्याग करके भी आत्मज्ञान, चित्तकी शान्ति तथा वेदाभ्यासके लिये यत्न करे।'

महर्षि याज्ञवल्क्यने कहा है—

इज्याऽऽचारदयाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम्।
अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्॥

'यज्ञ, शुभ आचरण, दया, अहिंसा, दान, स्वाध्याय आदिमें भी योगके द्वारा आत्मदर्शन ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है।'

सामवेदीय तलवकारोपनिषद्में भी कहा है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥

'इसी जन्ममें यदि आत्माको जान लिया, तब तो ठीक है; किन्तु इस जन्ममें उसे यदि नहीं जाना तो महान् हानि है। विद्वान् लोग समस्त प्राणियोंमें उसे ढूँढ़कर इस संसारसे विदा होनेके बाद अमर हो जाते हैं।'

तदेतत् प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात् सर्वस्मादन्तरो यदयमात्मा।

'हमारे अंदर रहनेवाला जो यह आत्मा है, वह पुत्रसे भी अधिक प्यारा है, धनसे भी अधिक प्यारा है, अन्य सभी वस्तुओंसे अधिक प्यारा है।'

संसारमें कोई भी शब्द निरर्थक नहीं है। शब्द भावका ही प्रकाशक होनेके कारण प्रत्येक शब्दके मूलमें कोई-न-कोई भाव या अर्थ अवश्य रहता है। अतः 'आत्मन्' और 'अहम्' शब्दका भी कोई-न-कोई अर्थ होगा ही। साधारणतः नैयायिक आचार्योंके मतमें आत्मा अहंप्रत्ययगम्य है। 'मैं हूँ' यह अनुभव आत्मविषयक है। घट-पटादि अहंप्रत्ययगम्य नहीं हैं, यह स्पष्ट ही विदित होता है। 'अहम् इदं जानामि' (मैं यह जानता हूँ)—यह अनुभव सर्वजनप्रसिद्ध है। इस अनुभवसे निश्चय होता है कि 'अहम्' और 'इदम्' एक पदार्थ नहीं हैं। 'मैं' और 'यह' भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं। 'मैं' ज्ञानका कर्ता है और 'यह' ज्ञानका विषय है। 'मैं यह जानता हूँ' इसमें 'मैं' ज्ञाता है और 'यह' ज्ञेय है। ज्ञाता और ज्ञेय एक पदार्थ नहीं हो सकते। अतः जो 'अहम्' प्रत्ययका विषय है, वही आत्मा है। 'अहमस्मि' (मैं हूँ)—इस सर्वजनप्रसिद्ध अनुभवसे ही आत्माका अस्तित्व सिद्ध होता है। यदि आत्मा न होता तो 'नाहमस्मि' (मैं नहीं हूँ) इस प्रकारके अनुभवकी तथा 'अहमस्मि न वा' (मैं हूँ या नहीं) इस प्रकारके सन्देहकी भी सम्भावना रहती; परन्तु ऐसा कहीं देखनेमें नहीं आता, अतः आत्माका अस्तित्व स्वतःसिद्ध है। अनुभवद्वारा स्वतःसिद्ध आत्माका निराकरण नहीं हो सकता; क्योंकि जो निराकरण करनेवाला है, वही आत्मा है। निराकर्ता है नहीं और निराकरण हो रहा है, अथवा निराकर्ता अपना ही निराकरण कर रहा है—इससे अधिक

हास्यजनक बात और क्या हो सकती है ? अतः आत्मा स्वतःसिद्ध है ।

श्रुतिमें कहा है—

न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति ।

'सबके लिये सब प्रिय नहीं होता, आत्माके लिये ही सब प्रिय होता है ।'

यदि आत्मा न होता तो किसके लिये विषयमें प्रीति होती ? इष्ट-साधनता-ज्ञान ही प्रवृत्तिका हेतु है । इससे मेरी इष्टसिद्धि होगी, इस प्रकारका ज्ञान न होनेसे किसीकी किसी विषयमें प्रवृत्ति नहीं होती । 'मेरी इष्टसिद्धि' इन शब्दोंके द्वारा आत्माका अस्तित्व प्रतिपन्न हो रहा है । आत्माके न होनेपर 'आत्माकी इष्टसिद्धि होगी' इस प्रकारका ज्ञान असम्भव है । जिसको ज्ञान हो रहा है कि मेरी इष्टसिद्धि होगी, वही आत्मा है । और भी विचार करनेकी बात यह है कि ज्ञेय पदार्थ ज्ञानाधीन होकर सिद्ध होता है । लोग ज्ञेय पदार्थको ही जाननेकी इच्छा करते हैं, ज्ञानको जाननेकी इच्छा नहीं करते । अतः ज्ञान अत्यन्त प्रसिद्ध है । ज्ञानके अत्यन्त प्रसिद्ध होनेसे ज्ञाताको भी अत्यन्त प्रसिद्ध होना चाहिये; क्योंकि ज्ञाता है नहीं, परन्तु ज्ञान है—ऐसा हो नहीं सकता । अतः आत्मा स्वतःप्रसिद्ध है ।

आत्मा है, इस विषयमें प्रमाण क्या है—इस प्रकारका प्रश्न भी अकिञ्चित्कर है; क्योंकि आत्माका अस्तित्व स्वतःसिद्ध है, स्वतःसिद्ध विषयमें प्रमाण निष्प्रयोजन है । आत्माका अस्तित्व प्रमाणाधीन नहीं है, क्योंकि आत्माके विना प्रमाणका प्रमाणत्व ही नहीं हो सकता । प्रमाका जो करण है, उसे प्रमाण कहते हैं; यथार्थ अनुभवका नाम प्रमा है । अनुभव करनेवालेके विना अनुभव नहीं हो सकता, अनुभवके विना प्रमाणका प्रमाणत्व नहीं है; अतः प्रमाताके विना प्रमाणमें प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती । जिस आत्माकी कृपासे प्रमाणका प्रमाणत्व है, वह आत्मा प्रमाणके अधीन होकर सिद्ध नहीं है, किन्तु प्रमाणके पहले ही सिद्ध है । प्रमाण-प्रमेय-व्यवहार आत्माके प्रयोजनसम्पादनके लिये है, आत्मा स्वतःसिद्ध है । आत्माके अस्तित्वके विषयमें प्रमाण क्या है, इस प्रकारके प्रश्नके द्वारा ही आत्माका अस्तित्व सिद्ध हो जाता है; क्योंकि इसमें प्रश्नकर्ता ही आत्मा है । प्रश्नकर्ता है नहीं और प्रश्न हो रहा है, इस तरह कहना सर्वथा असङ्गत है । वादीके अस्तित्वके विना वाद-प्रतिवाद नहीं चल सकता । अतः आत्माका नास्तित्व प्रमाणित नहीं हो सकता; क्योंकि जो आत्माका नास्तित्व प्रमाणित करना चाहेगा, वही आत्मा है । अतः शून्यवाद मिथ्या—कपोल-कल्पनामात्र है और आत्माका अस्तित्व सर्वजन-प्रसिद्ध स्वतःसिद्ध अविसंवादित सत्य है; परन्तु आत्माका अस्तित्व सिद्ध होनेपर भी 'कोऽहम्' (मैं कौन हूँ) इस प्रश्नके अनेक प्रकारके उत्तर संसारमें पाये जाते हैं । इन सब विषयोंका विचार फिर कभी किया जा सकता है ।

कल्याण

भगवान्‌में विश्वास करनेवाले सच्चे वे ही हैं, जिनका विश्वास विपत्तिकी अवस्थामें भी नहीं हिलता। जो सम्पत्तिमें भगवत्कृपा मानते हैं और विपत्तिमें नहीं, वे सच्चे विश्वासी नहीं हैं।

विपत्तिमें धैर्य न खोकर जो लोग भगवत्कृपाके विश्वासपर डटे रहते हैं और सत्यके पथसे जरा भी नहीं डिगते, उनकी विपत्ति बहुत ही शीघ्र महान् सम्पत्तिके रूपमें बदल जाती है। और क्लेश तथा अशान्ति तो उन्हें किसी अवस्थामें भी नहीं होते।

जो विपत्तिमें भगवत्कृपाका दर्शन करते हैं, वे ही भगवत्कृपाके यथार्थ अधिकारी हैं।

× × × ×

किसीसे कुछ भी न माँगोगे, लोग तुम्हें देनेके लिये तुम्हारे पीछे-पीछे फिरेंगे। मान न चाहोगे, मान मिलेगा। स्वर्ग न चाहोगे, स्वर्गके दूत तुम्हारे लिये विमान लेकर आवेंगे। इतनेपर भी तुम इन्हें स्वीकार न करोगे तो भगवान् तुम्हें अपने हृदयसे लगा लेंगे।

उस मनुष्यका जीवन पापमय है जो यश, मान, पूजा, प्रतिष्ठा आदिके लिये भगवान्‌को भूला रहता है। और वह तो इससे भी बहुत ही नीचा है, जो शरीरके आराम और इन्द्रियोंके भोगके लिये भगवान्‌को भूलकर धनादिके संग्रहमें लगा रहता है। निर्दोष तो वह भी नहीं है, जो धर्मके नामपर भगवान्‌को भूल जाता है; क्योंकि जो धर्म भगवान्‌को भुलाता है, वह निर्दोष धर्म ही नहीं है। सच्चे धर्म और भगवान्‌का तो वैसा ही सम्बन्ध है, जैसा शरीर और प्राणोंका! भगवान्‌से रहित धर्म तो प्राणहीन शरीरके समान मुर्दा है।

× × × ×

बीती हुई बातके लिये न रोओ; आगे क्या होगा, इसकी भी चिन्ता न करो; बस, वर्तमानको सुधारो। साहस, उत्साह, श्रद्धा, तत्परता, संयम और विवेकके द्वारा भगवत्कृपाके बलपर डटकर लग जाओ—वर्तमानको कल्याणमय बनानेमें। फिर भविष्य तो अपने-आप ही कल्याणमय बन जायगा।

जो वर्तमानके सुधारकी परवा न करके भविष्य सुखके सपने देखते हैं और भूतके लिये रोते हैं, उनके हिस्सेमें तो रोना ही आया है।

× × × ×

संसारकी किसी वस्तुको पाकर अहङ्कार न करो, सभी विषयोंमें एक-से-एक बढ़कर पड़े हैं। अपनेको छोटा मानकर नम्रता और विनयके साथ सबसे सम्मान-युक्त व्यवहार करो। तभी सच्ची राह मिलेगी। जो अहङ्कारमें अंधे हो रहे हैं, वे तो पथभ्रष्ट हैं।

सबका सम्मान करो, सबका हित करनेकी चेष्टा करो, सबको सुख पहुँचानेका ध्यान रक्खो। फिर तुम्हारा हित और तुम्हारा सुख तो तुम्हारे सङ्गी ही बन जायँगे।

"शिव"

विश्वास

(लेखक—श्रीअनिलवरण राय)

विश्वासमें बड़ा बल है। कहते हैं, विश्वास पहाड़को भी हिला सकता है। मानव-प्रकृतिको दिव्य प्रकृतिमें परिणत करनेका महान् और कठिन कार्य केवल सच्चे और सजीव विश्वासके बलपर ही पूरा किया जा सकता है।

जो दीपशिखा हवाके प्रत्येक झोंकेपर झिलमिलाया करती है, वह हमें बहुत दूरतक रास्ता नहीं दिखा सकती। अगर हमें अपनी दिव्य सम्भावनाओंपर जीता-जागता विश्वास न हो तो हम कभी अपनी मानुषी सीमाओंसे ऊपर नहीं उठ सकते। जो विश्वास हमारी सत्ताके प्रत्येक भागमें नहीं प्रवेश करता और हमारे समस्त जीवनपर, हमारे सारे विचारों और कार्योंपर अपना प्रभाव नहीं डालता, जो विश्वास निष्क्रिय, दुर्बल और अस्थिर होता है, वह किसी भी महान् या गौरवपूर्ण वस्तुको प्राप्त करानेमें असमर्थ होता है।

इसलिये हमें अपने अंदर सच्चे और शुद्ध विश्वासकी एक ऐसी मशाल जला रखनी चाहिये जो हमें सदा तीव्र प्रकाश देती रहे। जब कभी सन्देह और अविश्वास हमें अभिभूत करें, झट हमें यह समझ लेना चाहिये कि वे अज्ञानके कार्य हैं और दृढ़ताके साथ उन्हें अपने अंदरसे निकाल बाहर करना चाहिये। जब कभी हमें अपने विश्वासकी लौ धीमी पड़ती हुई मालूम हो, तुरंत हमें अपने-आपको माँ भगवतीके सामने खोलकर रख देना चाहिये, जिनसे समस्त अग्नि और प्रकाश चिरदिन प्रवाहित होते रहते हैं। सन्देह और अविश्वास, कामना-वासना और निम्नजीवनके प्रति आसक्ति, अहङ्कारपूर्ण महत्त्वाकाङ्क्षाएँ, स्वार्थपूर्ण सङ्कीर्णता तथा ईर्ष्या इत्यादि हमारी उन्नतिके महान् शत्रु हैं; हमें इनसे ऊपर उठना चाहिये और निरन्तर विश्वास, प्रकाश और भक्तिकी विशुद्ध चेतनामें निवास करना चाहिये। मनुष्य ठीक वैसा ही बनता है, जैसा उसका विश्वास होता है। अगर हम सच्चा विश्वास और विशुद्ध अभीप्सा निरन्तर बनाये रक्खें तो हम अवश्यमेव दिव्य जीवनकी महानताकी प्राप्तिकी ओर लगातार अग्रसर होते रहेंगे।

दीन पुकार

मोसम पतित न और गुसाईं !
औगुन मोते अजहुँ न छूटत, भली तजी अब ताईं ॥
जनम-जनम योंहीं भ्रमि आयो, कपि-गुंजाकी नाईं।
परसत सीत जात नहिं क्योंहू, लै लै निकट बनाईं ॥
मोह्यो जाइ कनक-कामिनिसों, ममता मोह बढ़ाई।
रसना स्वादु मीन ज्यों उरझी, सूझत नहिं फंदाई ॥
सोवत मुदित भयो सुपनेमें, पाई निधि जो पराई।
जागि परयो कछु हाथ न आयो, यह जगकी प्रभुताई ॥
परसे नाहिं चरन गिरिधरके, बहुत करी अनिआई।
सूर पतितको ठौर और नहिं, राखि लेहु सरनाई ॥

—सूरदास

धर्मके नामपर पाप

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

कलियुग अपना प्रभाव सर्वत्र दिखा रहा है। प्रायः सभी क्षेत्रोंमें दिखौआपन आ गया है। मिथ्याचारी लोग प्रायः सभी क्षेत्रोंमें घुसकर अपना स्वार्थ सिद्ध कर रहे हैं। दम्भी मनुष्य अनेक रूप बनाकर, अनेक वेष धारणकर लोगोंको ठगनेमें लगे हुए हैं। धार्मिक क्षेत्रमें, जहाँ अधिकांश बातें विश्वाससे सम्बन्ध रखनेवाली होती हैं, दम्भके लिये अधिक गुंजाइश रहती है। इसीसे धर्म-ध्वजीलोग धर्मका बाना ग्रहणकर भोलीभाली जनताको अनेक प्रकारके प्रलोभन देकर, सब्ज बाग दिखाकर ठगा करते हैं और इस प्रकार अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं। भक्तिके नामपर भी लोग इसी प्रकार भोलेभाले लोगोंको अपने चंगुलमें फँसाकर उनका धन अपहरण करते हैं। स्त्रियाँ इन बगुले भक्तोंके हथकंडों-की अधिक शिकार होती हैं, क्योंकि वे विवेक-शक्तिसे कम काम लेती हैं और विश्वासकी मात्रा भी उनमें अधिक होती है। इसीसे वे बहुत जल्दी धोखेमें आ जाती हैं और अपना धन तथा सतीत्वको भी, जो भारतीय स्त्रियोंकी सबसे बड़ी सम्पत्ति है, खो बैठती हैं। तीर्थोंमें, देवालयोंमें, धर्मस्थानोंमें आये दिन इस प्रकारकी घटनाएँ हुआ करती हैं। इसीसे आज धर्म और ईश्वरके प्रति लोगोंकी आस्था कम होती जा रही है। जगत्में बढ़ती हुई नास्तिकता तथा धर्मके प्रति उदासीनताके लिये ऐसे ही लोग अधिक जिम्मेवार हैं, जो अपनेको आस्तिक तथा धर्मप्रेमी कहकर अपने आचरणोंद्वारा धर्म और आस्तिकताकी जड़पर कुठाराघात करते हैं। जनताको चाहिये कि ऐसे धर्मध्वजी लोगोंसे खूब सावधान रहे।

स्त्रियोंको इस सम्बन्धमें विशेष सावधानी रखनेकी आवश्यकता है। उनमें प्रायः बुद्धिकी अपेक्षा श्रद्धाकी मात्रा अधिक होती है। यद्यपि अध्यात्ममार्गमें श्रद्धाकी अधिक आवश्यकता है, परन्तु विवेकरहित श्रद्धा बहुधा हानिकारक होती है, इसीलिये हमारे शास्त्रोंमें स्त्रियोंको स्वतन्त्रता नहीं दी गयी है। स्त्रियोंके लिये पति ही परमेश्वर है, पति ही परम देवता है, पति ही तीर्थ है, पति ही गुरु है। सौभाग्यवती स्त्रीके लिये पतिकी सेवासे बढ़कर और कोई साधन नहीं है। पतिकी अवहेलना करके व्रत-उपवास, तीर्थसेवन, देवदर्शन, गङ्गास्नान आदि करनेसे स्त्रीको कोई पुण्य नहीं होता। विधवा स्त्रीके लिये भी यही उचित है कि वह घरसे बाहर किसी तीर्थ अथवा देवालयमें, गङ्गा-स्नान आदिके लिये अथवा कथा-कीर्तन आदिमें जाय तो अपने घर-वालोंसे पूछकर घरवालोंके साथ जाय, उनकी आज्ञा लेकर भी अकेले कहीं न जाय। भगवान् मनु कहते हैं—

बालया वा युवत्या वा वृद्धया वापि योषिता।
न स्वातन्त्र्येण कर्तव्यं किञ्चित्कार्यं गृहेष्वपि॥
बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत्पाणिग्राहस्य यौवने।
पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत् स्त्री स्वतन्त्रताम्॥
नास्ति स्त्रीणां पृथग् यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषणम्।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते॥

(मनुस्मृति ५। १४७,१४८,१५५)

'लड़की, जवान या वृद्ध स्त्रीको भी घरोंमें भी कोई कार्य स्वतन्त्र होकर न करना चाहिये। बाल्यावस्थामें स्त्री पिताके अधीन रहे, जवानीमें पतिके अधीन और पतिके मर जानेपर पुत्रोंके अधीन होकर रहे। स्त्रियोंको पतिके *विना अलग यज्ञ, व्रत और उपवास करनेका अधिकार नहीं है।* स्त्री तो केवल पतिकी सेवासे ही स्वर्गमें आदर पाती है।'

पुनश्च—

सूक्ष्मेभ्योऽपि कुसङ्गेभ्यः स्त्रियो रक्ष्या विशेषतः ।
द्वयोर्हि कुलयोः शोकमावहेयुररक्षिताः ॥
(मनु० ९।५)

'थोड़े कुसङ्गसे भी स्त्रियोंकी रक्षा यत्नपूर्वक करनी चाहिये; क्योंकि अरक्षित स्त्रियाँ पिता और पति दोनोंके कुलोंको सन्तापित करती हैं।'

सुना गया है आजकल बंबई, कलकत्ता, लाहौर, लखनऊ आदि बड़े-बड़े नगरोंमें कीर्तन-भजनके नामपर बड़ा पाप फैलाया जा रहा है। कलकत्तेमें तो कुछ स्त्रियाँ गङ्गास्नानके अथवा देवदर्शनके बहाने टोलियाँ बनाकर कुछ निर्दिष्ट स्थानोंपर एकत्र होती हैं, नाचती-गाती हैं और कीर्तन करती हैं। आगे चलकर उनके आचरणोंमें इतनी अश्लीलता आ जाती है, जिसका स्पष्ट शब्दोंमें उल्लेख नहीं किया जा सकता। वहाँ बहुत-सी ऐसी स्त्रियाँ हैं जिन्होंने गीता आदि धार्मिक ग्रन्थ पढ़ाना और इसी बहाने भले घरोंकी स्त्रियोंको अपने यहाँ एकत्रित कर उन्हें कुमार्गमें प्रवृत्त करना—यही पेशा बना लिया है। हमारे भाइयोंको चाहिये कि वे ऐसी स्त्रियोंसे सावधान हो जायँ, अपने घरकी स्त्रियोंको किसी दूसरेके घर किसी निमित्तसे अकेले न जाने दें और न इस प्रकारकी स्त्रियोंको गीता आदि पढ़ानेके बहाने अपने घरोंमें आने दें। सुननेमें तो यहाँतक आया है कि कुछ स्त्रियाँ इस प्रकारकी पेशेवर स्त्रियोंके बहकावेमें आकर अपने पिता, पुत्र, पति आदिका विरोध करके भी उपर्युक्त स्थानोंपर जाती हैं और वहाँ धर्म और भक्तिके नामपर अनर्थ होता है।

जो लोग इस प्रकार कथा-कीर्तनके बहाने परायी स्त्रियोंको अपने घरपर बुलाकर पाप करते हैं, उनके सम्बन्धमें तो क्या कहा जाय ? वे मूढ़ तो अपने ही हाथों अपने लिये नरकका द्वार खोलते हैं। उन्हें यह सोचना चाहिये कि 'बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी स्त्रियोंके सङ्गमें रहकर अपनेको नहीं बचा सके; फिर हम मनुष्य-कीटोंकी तो बात ही क्या है, जो कामके किङ्कर बने हुए हैं! स्त्रियोंके सङ्गकी तो बात ही क्या है, शास्त्रोंने तो स्त्रियोंका सङ्ग करनेवालोंके सङ्गको भी त्याज्य बताया है—

स्त्रीणां स्त्रीसङ्गिनां सङ्गं त्यक्त्वा दूरत आत्मवान्।
(श्रीमद्भा० ११ । १४ । २९)

—उसी भागवतमें अन्यत्र स्त्रियोंका सङ्ग करनेवालोंके सङ्गको नरकका द्वार बतलाया गया है—तमोद्वारं योषित्सङ्गिसङ्गम्। ऐसी दशामें ऐसा कौन मनुष्य है जो स्त्रियोंके सङ्गमें रहकर अपनेको पवित्र रख सके।' ऊपर कहे हुए लोग तो वास्तवमें बड़े दयनीय हैं, वे तो धर्मकी आड़में पाप कमाते हैं। उनपर तो कामका भूत सवार है। जैसे रोगग्रस्त मनुष्य विषयासक्तिके वशीभूत होकर कुपथ्य कर बैठता है और पीछे रोता है, उसी प्रकार ये लोग भी बुरी नीयतसे अधर्माचरणरूपी कुपथ्यका सेवन करते हैं और अन्तमें जब वे इस मनुष्यशरीरसे हाथ धो बैठेंगे, उस समय रोनेके सिवा और कुछ भी उनके हाथ नहीं आनेका। जो पुरुष कथा-कीर्तन आदिके नामपर, भक्ति और धर्मकी आड़में पाप करता है वह तो महान् नीच है; उसके तो दर्शन करनेवालेको पाप लगता है। अतः सभी भाइयोंको चाहिये कि इस प्रकारके घोर पापसे अपनी माता-बहिनोंको बचानेकी तत्परतापूर्वक चेष्टा करें। इस कार्यमें साम, दान, दण्ड, भेद, सभी प्रकारकी नीति व्यवहारमें लायी जा सकती है। जिस किसी प्रकारसे भी हो, समाजको इस महान् पतनसे बचानेकी पूरी चेष्टा करनी चाहिये।

सौभाग्यवती स्त्रियोंके लिये सबसे बड़ा कर्तव्य है पातिव्रत-धर्मका पालन करना—शरीर और मनसे पतिके अनुकूल आचरण करना, सब तरहसे पतिको प्रसन्न करनेकी चेष्टा करना और उसीकी आज्ञासे, उसीकी प्रसन्नताके लिये घरके और लोगोंकी तथा अतिथियोंकी श्रद्धा और प्रेमपूर्वक सेवा करना। ईश्वर-भक्ति, सद्गुण-सदाचारका सेवन, दुर्गुण-दुराचारका त्याग

तथा सेवा—इसमें सबका अधिकार है । परन्तु सौभाग्यवती स्त्रियोंके लिये तो पतिको ही ईश्वरका प्रतिनिधिरूप मानकर पातिव्रत-धर्मका पालन ही मुख्य कर्तव्य है । उपर्युक्त साधनोंसे जिस वस्तुकी प्राप्ति होती है, सौभाग्यवती स्त्रीको ईश्वरबुद्धिसे केवल पतिकी सेवा करनेसे ही वह वस्तु प्राप्त हो जाती है । ऐसी दशामें पतिको छोड़कर सौभाग्यवती स्त्रीको कहीं अन्यत्र जानेकी आवश्यकता नहीं है । उसके लिये पति ही सब कुछ है । भगवान्‌की पूजा-अर्चा आदि भी उन्हें घरहीमें रहकर करना चाहिये । भक्तिमें कहीं दिखौआपन नहीं आना चाहिये ।

पुरुषके लिये परस्त्रीके साथ और स्त्रीके लिये परपुरुषके साथ एकान्तवास, परस्पर हँसी-मजाक या कामबुद्धिसे दर्शन, स्पर्श, सम्भाषण आदि भी व्यभिचार ही माना गया है । इसलिये कल्याण चाहनेवालोंको इन सबसे परहेज रखना चाहिये । स्त्रियोंके साथ पुरुषोंको और पुरुषोंके साथ स्त्रियोंको किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं रखना चाहिये । अत्यावश्यक होनेपर परस्पर अत्यन्त पवित्रभावसे बातचीत और प्रणामादि व्यवहार हो सकता है । इससे अधिक सम्बन्ध वाञ्छनीय नहीं है । मनुजी महाराजने तो अपनी माता, बहिन, पुत्री आदिके साथ भी एकान्तमें बैठनेतकको मना किया है । क्योंकि यद्यपि इन सबके साथ हमारा स्वाभाविक ही परम पवित्र सम्बन्ध है, फिर भी इन्द्रियाँ बड़ी दुर्दान्त हैं; वे बड़े-बड़े मनस्वी तथा विचारवान् पुरुषोंके मनको भी बिगाड़ देती हैं—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत् ।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥
(मनु० २।२१५)

ऐसी दशामें स्त्रियोंको परपुरुषसे और पुरुषोंको परस्त्रीसे अलग ही रहना चाहिये । इसीमें दोनोंका भला है ।

उपर्युक्त कथनसे कोई यह न समझे कि मैं स्त्रियोंके लिये भजन-ध्यान, व्रत-उपवास आदि करना तथा कथा-कीर्तन आदिमें सम्मिलित होना बुरा समझता हूँ । इन्हें बहुत उत्तम मानता हुआ भी मैं इस बुरे समयको और पुरुषजातिकी नीच प्रवृत्तिको देखकर एक स्थानपर बहुत-सी स्त्रियोंका एकत्र होना तथा किसीके घरपर, देवालयमें अथवा तीर्थस्थानपर एकत्र होकर स्वतन्त्रतापूर्वक कथा-कीर्तनके उद्देश्यसे भी गाने, बजाने, नाचने आदिका विरोध करता हूँ; क्योंकि इसका परिणाम बहुधा विपरीत होता है । स्त्रियोंके लिये मैं यही ठीक समझता हूँ कि वे अपने घरहीमें रहकर इन सब साधनोंको करें; कहीं अन्यत्र जायँ तो अपने घरवालोंके साथ जायँ, अकेले कहीं न जायँ । वर्तमान युग स्त्रियोंके लिये विशेष भयानक है । उनके लिये पद-पदपर खतरा है । ऐसी स्थितिमें उनके सतीत्वकी रक्षाके लिये विशेष सावधानीकी आवश्यकता है ।

जो भोलेभाले मनुष्य अच्छे भावसे भी स्त्रियोंको इकट्ठा करके गाना, बजाना, नाचना आदि करते हैं, वे भी भूल करते हैं । प्रारम्भमें शुद्धभाव रहनेपर भी आगे चलकर उनमें भी दोष आ जानेकी बहुत सम्भावना रहती है । ऐसी स्थितिमें उन्हें स्त्रियोंके सङ्गसे सर्वथा बचना चाहिये । जो लोग अपनी इस अनधिकार चेष्टाके समर्थनमें यह दलील पेश करते हैं कि ब्याह-शादीके अवसरोंमें भी तो स्त्रियाँ एकत्र होकर गाना, बजाना, नाचना आदि करती हैं, बल्कि गालियोंके रूपमें गंदे गीत भी गाती हैं, दामादके साथ अश्लील बातें करती हैं; फिर यदि वे भगवद्भजन-कीर्तन आदिके लिये एकत्र हों तो इसमें क्या आपत्ति है । इसका उत्तर यह है कि ब्याह-शादीके अवसरोंपर भी स्त्रियोंका एकत्र होकर गाना, बजाना, नाचना आदि प्रमाद ही है । उसे मैं ठीक नहीं समझता । गंदे गीत गाना और किसी भी पुरुषके साथ अश्लील बातें करना तो बड़ा भारी प्रमाद

है और व्यभिचारमें सहायक होनेके नाते एक प्रकारका व्यभिचार ही है। ऐसी स्थितिमें उसका उदाहरण देकर स्त्रियोंके एक स्थानपर एकत्र होकर गाने, बजाने, नाचने आदिका समर्थन करना कदापि युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता। फिर जो लोग महंत बनकर स्त्रियोंसे पैर पुजाते हैं, उन्हें अपने शरीरका धोवन, पादोदक अथवा उच्छिष्ट देते हैं तथा अपना फोटो पूजाके लिये देते हैं, अथवा स्वयं कृष्ण बनकर स्त्रियोंके साथ रासलीला करते हैं, वे तो महान् पाप करते हैं और अपना तथा अपनी पूजा करनेवालोंका महान् अहित करते हैं। अपने गुरुको छोड़कर किसी दूसरेका चरणोदक आदि लेना, उसके शरीरकी अथवा फोटोकी पूजा करना अत्यन्त निषिद्ध है। और स्त्रियोंके लिये तो अपने पतिको छोड़कर किसी भी दूसरे पुरुषके शरीरका स्पर्श करना, चरणोदक लेना सर्वथा वर्जित है। सतीशिरोमणि जगज्जननी जानकीने तो हनुमान्-जैसे आदर्श यति तथा परम भक्तके द्वारा भी लङ्कासे श्रीरामके पास ले जाया जाना इसीलिये अस्वीकार कर दिया कि वे जान-बूझकर किसी भी परपुरुषका स्पर्श नहीं कर सकतीं, चाहे वह अपना पुत्र ही क्यों न हो। यह कथा वाल्मीकि-रामायणमें आती है। ऐसी दशामें स्त्रियोंका अपने पतिको छोड़कर किसी भी दूसरे पुरुषका स्पर्श करना तथा चरणोदक अथवा उच्छिष्ट लेना कदापि न्याय-सङ्गत नहीं कहा जा सकता। इसका जहाँतक हो सके खूब विरोध करना चाहिये। बहुत जगह तो ऐसा होता है कि स्त्रियाँ अपने सम्बन्धियोंके यहाँ—मामा, बहिन आदिके यहाँ—अथवा ससुरालसे नैहर और नैहरसे ससुराल जाने तथा देवालय, तीर्थ आदिमें जानेका बहाना करके इस प्रकारके गुट्टोंमें शामिल होती हैं और इसका परिणाम प्रायः महान् भयङ्कर होता है।

इस प्रकार धर्मकी आड़में जब पाप होने लगता है, आस्तिकताके नामपर नास्तिकताका ताण्डवनृत्य होने लगता है, तब स्वयं भगवान् अथवा उनकी विभूतियाँ धर्म तथा आस्तिकताको शुद्ध रूपमें प्रकट करनेके लिये धर्म एवं आस्तिकताका विरोध तथा अधर्म एवं नास्तिकता-का प्रचार करने लगते हैं। भगवान् बुद्धके अवतारका उद्देश्य भी यही था। जब यज्ञ-यागादिके नामपर हिंसा-का प्रचार बहुत अधिक हो गया, तब भगवान्‌ने बुद्धावतार धारणकर यज्ञोंका और उनके प्रतिपादक वेदोंका घोर विरोध किया। उनका वास्तविक तात्पर्य यज्ञों अथवा वेदोंका विरोध करनेमें नहीं था, अपितु उनके नामपर होनेवाली हिंसाका विरोध करनेमें था। इसी प्रकार जब देवालयोंमें तथा तीर्थस्थानोंमें भक्ति तथा धर्मके नामपर पाप होने लगा, स्वयं पुजारियों-द्वारा भगवान्‌के आभूषण चुराये जाने लगे, तब स्वामी दयानन्द आदिने देवालयों, तीर्थों तथा प्रतिमापूजन आदिका विरोध करना शुरू कर दिया। इसी प्रकार आज जब कथा-कीर्तन आदिके नामपर जगह-जगह व्यभिचारको आश्रय दिया जाने लगा है, ऐसे समयमें यदि कोई कथा-कीर्तनका विरोध करे तो वह अनुचित नहीं कहा जायगा। ऐसे लोग भी वास्तवमें कथा-कीर्तनका विरोध नहीं करते बल्कि उसके नामपर होनेवाले पापाचरणका विरोध करते हैं।

ऐसी स्थितिमें देश और समाजका हित चाहनेवाले प्रत्येक व्यक्तिका यह कर्तव्य है कि वह धर्मके नामपर होनेवाले ऐसे पापोंको रोकनेकी पूरी चेष्टा करे। किसी भी बहाने अपने घरकी स्त्रियोंको दूसरोंके यहाँ न जाने दे, तीर्थों और देवालयोंमें तथा अपने विश्वासपात्रके घर भी अकेले न जाने दे। जो स्त्रियाँ मूर्खतावश ऐसा करती हैं, उन्हें सब प्रकारकी नीतिसे समझानेकी चेष्टा करे। गड्ढेमें गिरते हुए अपने स्वजन-सम्बन्धीको बलपूर्वक बचाना भी कर्तव्य होता है। जिस किसी प्रकारसे भी हो, उनकी बुद्धिमें इस बातको जचा देनेकी आवश्यकता है कि स्त्रियोंका स्वतन्त्रतापूर्वक

एकत्र होना उनके लिये खतरेसे खाली नहीं है, पतिको छोड़कर किसी भी पुरुषका चरणोदक अथवा उच्छिष्ट लेना पाप है। देश, धर्म और समाजके नेताओं, सुधारकों, महात्माओं तथा देश और समाजकी सेवा करनेवाले उत्साही नवयुवकोंसे मेरी अपील है कि जहाँ कहीं वे इस प्रकारका अत्याचार देखें वहीं वे इसका जोरके साथ विरोध करें। जिस किसी प्रकारसे हो, नारीजातिकी पवित्रताकी रक्षा करना, समाजको पापसे बचाना हमलोगोंका प्रधान कर्तव्य है। सतीत्व ही नारीका भूषण है। याद रखना चाहिये सती स्त्रियाँ ही देश और धर्मकी रक्षा करनेवाली वीर एवं धार्मिक सन्तान उत्पन्न कर सकती हैं।

स्त्रियोंका पुरुषोंके साथ स्वतन्त्ररूपसे घूमना, सैर-सपाटेके लिये बाहर जाना, नाटक-सिनेमा आदिमें जाना, पार्टियोंमें सम्मिलित होना, ताश, चौपड़, शतरंज आदि खेलना, क्लबोंमें जाना, युवक अध्यापकों-द्वारा युवती कन्याओंका पढ़ाया जाना, युवक-युवतियोंका एक साथ पढ़ना आदि तो और भी खतरनाक है। पाश्चात्त्योंकी देखा-देखी हमारे शिक्षित समाजमें भी धीरे-धीरे स्त्री-पुरुषोंका संसर्ग बढ़ता जाता है, जो देशके लिये कभी हितकर नहीं कहा जा सकता। पाश्चात्त्य देशोंमें स्त्रियोंको सब प्रकारकी स्वतन्त्रता देनेका जो भयङ्कर दुष्परिणाम दृष्टिगोचर हो रहा है, उससे हमें शिक्षा लेनी चाहिये और हम भी उसका कटु अनुभव करें इससे पहले ही हमें चेत जानेकी आवश्यकता है। हम लोगोंको चाहिये कि सभी बातोंमें पाश्चात्त्योंका अनुकरण न कर केवल उनके गुणोंको ग्रहण करें। इसीमें हमारा कल्याण है। ऐसा न कर यदि हम अंधाधुंध पाश्चात्त्योंका सभी बातोंमें अनुकरण करनेमें ही लगे रहे तो भगवान् जानें हमलोगोंकी क्या दशा होगी, हमलोग पतनके किस गर्तमें गिरेंगे। इसलिये बुद्धिमानी इसीमें है कि हमलोग समय रहते चेत जायँ और अपनी प्राचीन संस्कृतिके महत्त्वको समझकर उसे पुनर्जीवित करनेकी चेष्टा करें।

'अन्तिम प्रयाण'

हमकौं ओढावै चदरिया, चलती बिरिया।
प्रान राम जब निकसन लागे,
उलटि गई दोउ नैन पुतरिया॥ १॥
भीतरसे जब बाहर लाये,
छूट गई सब महल अटरिया।
चार जने मिलि खाट उठाइनि,
रोवत ले चले डगर डगरिया॥ २॥
कहत कबीर सुनो भाई साधो
संग चली यह सूखी लकरिया॥ ३॥

—कबीरदास

भक्त नीलाम्बरदास

श्यामं हिरण्यपरिधिं वनमाल्यबर्ह-
धातुप्रवालनटवेषमनुव्रतांसे ।
विन्यस्तहस्तमितरेण धुनानमब्जं
कर्णोत्पलालककपोलमुखाब्जहासम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । २३ । २२)

श्रीयमुनाजीके तीरपर अशोकवृक्षोंके नये-नये पत्तोंसे सुशोभित कालिन्दीकुञ्जमें भगवान् श्रीकृष्ण अपने सखाओंके साथ विराज रहे हैं। उनका श्याम वर्ण नवीन मेघके समान हृदयहारी है। श्याम शरीर-पर सुवर्णवर्ण पीतपट ऐसा जान पड़ता है मानो श्याम घनघटामें इन्द्रका धनुषमण्डल सुशोभित हो। गलेमें मनोहर वनमाला है। मोर-पंख, धातुओंके अद्भुत-अद्भुत रंग और नये-नये चित्र-विचित्र पल्लवोंसे शरीरको सजाये हुए भगवान्‌का नटवररूप देखने ही योग्य है। आप एक सखाके कंधेपर दाहिना हाथ रक्खे, बायें हाथसे कमलका फूल घुमा रहे हैं। कानोंमें कमलके फूल हैं और कपोलोंपर काली-काली अलकें शोभा पा रही हैं। प्रफुल्ल मुखकमलपर हँसीकी शोभा अवर्णनीय है !

गङ्गा और सरयूके बीचका दोआबा बहुत प्राचीन कालसे अनेकानेक संत-महात्माओंकी लीलाभूमि रहा है और आज भी वह स्थान इतना दिव्य और मनोहर है कि वहाँ सहज ही भगवत्स्मृति स्फुरित होती है, चित्तमें एक अद्भुत पवित्रताका सञ्चार होता है। हृदय अनायास हरिचरणोंमें अनुरक्त होने लगता है और जीमें आता है कि यहाँ अधिक-से-अधिक समय बीते। पवित्र वातावरणमें, जहाँ संत-महात्माओंकी चरण-रज पड़ी है, जहाँ साधनाके परमाणु विद्यमान हैं, मनको एकाग्र करनेमें और उसे श्रीहरिके चरणोंमें लय करनेमें प्रयास नहीं करना पड़ता—यह हम सभीका अनुभव है। वहाँ जाते ही, जाने कैसे और क्यों हृदय अपने-आप ही अपने अन्तस्‌के देवताका दर्शन करने लगता है। जिस प्रकार हमें साँस लेनेमें कोई प्रयास नहीं करना पड़ता, उसी प्रकार वहाँ वृत्तियाँ अखण्डैकरसमें अपने-आप ही जा डूबती हैं। प्रातः-काल ब्राह्ममुहूर्त्तमें जब आकाश नक्षत्रोंसे जगमग रहता है, आपने कभी गङ्गाजीमें गोता लगाया है ? और यदि लगाया है तो आपके हृदयमें एक अजीब तरहकी गुदगुदीकी, एक कोमल, मसृण, मधुर रसकी अनुभूति नहीं हुई है ? क्या गोता लगाते ही ऐसा नहीं मालूम हुआ कि शरीरके साथ ही हृदय भी उस ब्रह्मद्रवमें विहार करने लगता है ? इतना ही क्यों ? स्नान कर चुकनेपर आप गङ्गाकी गोदमें खड़े-खड़े भगवान् सूर्यनारायणको अर्घ्य देने लगते हैं, उधरसे बालारुणकी कोमल किरणें गङ्गाकी लहरोंपर अठखेलियाँ और किल्लोल करती आपतक पहुँच रही हैं। क्या उस समय आप अर्घ्यदानके साथ ही अपना हृदय भी देवताके चरणोंमें नहीं चढ़ा देते ? एक अजीब तरहकी

सिहरन और गुदगुदीसे अन्तर-बाहर आप्लावित हो जाता है, पुलकित हो उठता है, लोक-परलोक सब कुछ भूल जाता है; रह जाता है तो बस, देवताके श्रीचरणोंमें लोटता हुआ पागल, अल्हड़, विह्वल हृदय ! समस्त संसार उस आनन्दसागरमें डूब जाता है ! और यह गङ्गा क्या आजकी हैं ! अनादिकालसे शिवकी जटासे छूटकर यह भूमण्डलको पावन करनेके लिये उतरी हैं। कोटि-कोटि जीव इनकी गोदमें शान्ति पा चुके हैं, पा रहे हैं और पाते रहेंगे। आज हम एक ऐसे ही भक्तके चरित्रका अनुशीलन करना चाहते हैं, जिसने गङ्गास्नान और सूर्यनारायणकी उपासनासे अपने-आपको धन्य कर दिया ! और आज हम उसके स्मरणसे अपनेको धन्य मान रहे हैं।

इसी गङ्गा और सरयूके बीच एक साधारण-से गाँवमें एक कायस्थके घर नीलाम्बरका जन्म हुआ। परिवार बहुत ही प्रतिष्ठित और समृद्ध था; और नीलाम्बर अपने माता-पिताकी एकमात्र सन्तान था। बचपन बहुत लाड़-प्यारमें बीता, खूब लाड़-प्यारमें। जमींदारीकी गहरी आमदनी थी; माता-पिताकी आँखोंका तारा था यह नीलाम्बर। फिर क्या पूछना था ! प्यार-दुलारमें वह आठों पहर डूबा रहता था ! शिक्षाका समय आया। पिताने चाहा कि लड़केको गाँवकी पाठशालामें दाखिल करा दिया जाय, परन्तु माँ तो एक क्षणका भी बिलगाव सह नहीं सकती थी। इसलिये यही तै रहा कि घरपर ही अध्यापक आकर पढ़ा जायँ। अध्यापक आने लगे, परन्तु नीलाम्बरका मन पढ़नेमें लगता ही न था। वह कोई-न-कोई बहाना बनाकर भीतर चला जाता और माताके पास बैठ रहता। इसी तरह बहुत दिन निकल गये। अध्यापक बेचारे उसे किसी प्रकार भी अध्ययनकी ओर प्रवृत्त नहीं कर सके। मार तो वे सकते ही न थे, क्योंकि वह लड़का माता-पिताको प्राणोंसे भी प्रिय था। रह गयी प्यारसे पढ़ाने, फुसलाकर पढ़ानेकी तरकीब—सो इससे भी कोई सफलता नहीं हासिल हुई। निदान निराश होकर गुरुजीने पितासे शिकायत की। पिताने माताको समझाया कि इतना दुलार करोगी तो लड़का कौड़ी कामका न रहेगा। परन्तु माताको किसी प्रकार भी समझाया न जा सका। वह अपने नीलाम्बरको एक क्षणके लिये भी आँखोंकी ओटमें नहीं रख सकती थी। परिणाम वही हुआ जो ऐसोंके साथ होता है। नीलाम्बर निरक्षर ही रहा। पिताने सोचा—चलो जमींदारी है, क्या चिन्ता है; न पढ़ा तो न सही। घरमें इतनी जायदाद है कि यह मजेमें रहेगा और कभी कोई अभाव नहीं होने पायेगा।

जवानी जब आती है तो एक तूफान लिये आती है। इस तूफानमें सारा-का-सारा अस्तित्व आन्दोलित हो उठता है और पथ-अपथकी सुधतक नष्ट हो जाती है। यह एक ऐसा नशा है जो सत्यानाशकी खाईमें ला पटकता है। इस मधुमें एक ऐसा विष घुला हुआ है जो पीनेवालेकी जान ले लेता है। लगता है बहुत मीठा-मीठा-सा; परन्तु जब इसका जहर चढ़ता है तो फिर मनुष्य कहींका नहीं रहता, सब कुछ खो बैठता है। और यौवनके साथ जब धन-सम्पत्तिका भी सहयोग होता है तब तो कुछ कहना ही नहीं। एक तो तितलौकी, दूसरे चढ़ी नीमपर ! यौवन हो, धन हो और अविवेकता भी हो, फिर क्या देर लगती है। नीलाम्बरके साथ भी यही बदा था। युवा हुआ, पढ़ा-लिखा कुछ नहीं और सारी जमींदारीकी आमदनी उसके पास आने लगी। तिसपर मिल गयी बुरी सोहबत। सर्वनाशका सब सामान जुट गया। जवानीकी उमंग, दुनियाका नशा—फिर रास्ता छूटते क्या देर लगती है ! नीलाम्बर बह चला यौवनके ज्वारमें। ऐसा है यह प्रखर प्रवाह कि उसमें बड़े-बड़े पहाड़ ढह

जाते हैं, छोटी-छोटी शिलाओं और कूल-कछारके साधारण वृक्षोंकी कौन कहे !

दुनियामें घुसना जितना आसान है, निकलना उतना ही मुश्किल । धीरे-धीरे एक-एककर सारी बातें आने लगीं । पञ्चमकारोंकी उपासना होने लगी । गंदे कामोंमें धन पानीकी तरह बहाया जाने लगा । यार-दोस्तोंकी संख्या भी दिन दूनी, रात चौगुनी बढ़ती गयी । खूब दावतें दी जाने लगीं । वेश्याओंकी रुमझुम-से सारा बँगला दिन-रात मुखरित रहता । पैमानेपर पैमाना ढलता रहता । और ताश-शतरंजके साथ कहकहाका एक समाँ बँधा रहता । पिता वृद्ध हो चुके थे । पुत्रकी इन सारी करतूतोंपर वे बैठे-बैठे कुढ़ा करते । टोकते तो लेने-के-देने पड़ जाते । नीलाम्बर डपट देता—'तुम्हें इससे क्या मतलब, मुझे जो रुचेगा करूँगा—तुम पड़े-पड़े सड़ा करो । इस बूढ़े खबीसको मौत भी नहीं आती !' माता और बहू घरमें अपने भाग्यको कोसा करतीं, किसीका कुछ वश न चलता । नीलाम्बरके मौज-मजेमें खलल डालनेका साहस करना भी अपने लिये आफत बुलाना था । अन्तमें हुआ वही जो ऐसोंको होता है । लक्ष्मीके पर लग गये और वह देखते-देखते सरक गयीं । यार-दोस्त भी खिसक गये, नाच-तमाशे बंद हुए और अभागा नीलाम्बर, दाने-दानेका मुहताज नीलाम्बर भीख माँगने लगा । माता-पिता मर चुके थे । बहू गाँवके किसी परिवारमें भोजन बनाकर अपना निर्वाह कर लेती थी और नीलाम्बर गाँव-गाँव टुकड़ोंके लिये मारा-मारा फिरने लगा । किसी दिन कुछ मिल जाता, किसी दिन कुछ भी नहीं । पुरानी बातें याद आतीं और नीलाम्बर धाड़ मार-मारकर रोता, छाती पीटता, सिर पटकता । संसार दुःखरूप है, यही तो शास्त्रका सिद्धान्त है और यही जीवमात्रका अन्तिम अनुभव है । जन्म-मरणके महादुःखोंके बीचमें घूमनेवाले इस संसार-में जो भी आया, वह दुःखोंका मेहमान हुआ ।

सन्ध्या हो रही थी । दिनभर गाँव-गाँव घूमते नीलाम्बर थककर चूर-चूर हो रहा था । चारों ओर अँधियारी छायी थी, भीतर भी बाहर भी । कहीं कुछ सूझ नहीं रहा था । एक गाँवके पास ही एक पीपलके पेड़के नीचे बैठा-बैठा वह रो रहा था । जाड़ेके दिन थे, शरीरपर लज्जा ढकनेभरके भी वस्त्र नहीं थे । दाँत किटकिटा रहे थे । इधर कुछ दिनोंसे नीलाम्बरको गलित कुष्ठके आसार दीखने लगे थे । पैरोंमें और हाथोंमें झिनझिनी बनी रहती थी, सूजन भी होती आ रही थी । अङ्ग सुन्न होते जा रहे थे । शरीर पिञ्जर-मात्र रह गया था । आँखें धँस गयी थीं । शरीरसे बड़ी दुर्गन्ध आने लगी थी । कोई पास आनेका नाम नहीं लेता था । जहाँ जाता था दुरदुराया जाता था ! चारों ओरसे निःसहाय, निरुपाय, दीन-हीन, अकिञ्चन नीलाम्बर अपने अतीतको बिसूरता और फिर रोता, रोता और फिर बिसूरता । वे यार-दोस्त याद आते, वे रँगरेलियाँ याद आतीं और फिर आजकी यह विपन्नावस्थाका तीव्र दंशन ! वह कराह उठता—'हे प्रभो ! मैंने बहुत पाप किया, उसका फल भी मुझे हाथोंहाथ मिल गया । अब तुम इस शरीरको उठा लो, मुझसे अब यह दुःख सहा नहीं जाता ।' सन्ध्या रातमें पलट गयी और आधी रात होनेको आयी । नीलाम्बरको नींद कहाँ ! वह सिसक रहा था, अपने भाग्यको कोस रहा था । आशाके लिये कहीं कोई आधार रह नहीं गया था । दुःखके अतल सागरमें वह डूब रहा था, डूबता जा रहा था ! जब हम चारों ओरसे निराश और निराश्रित होकर प्रभुको सच्चे हृदयसे पुकारते हैं, तब हमारी टेर व्यर्थ नहीं जाती । भगवान् दीनबन्धु हैं, अशरणशरण हैं । जिसका कोई नहीं होता, उसका

वही प्रभु होता है। जबतक जगत्का आसरा-भरोसा बना हुआ है, तबतक हम प्रभुके आश्रयसे वञ्चित ही रहते हैं और जिसे उनका आश्रय प्राप्त होनेको होता है, उसके लिये जगत्के समग्र आश्रयस्थान नष्ट हो जाते हैं। प्रभुका आश्रय छोड़कर जो जगत्के आश्रयमें सुख, सन्तोष और तृप्ति खोजते हैं, वे आगसे शीतलताकी आशा करते हैं। जगत्के आश्रयमें तो दुःख-ही-दुःख है। यहाँ सुख है कहाँ जो किसीको कोई प्रदान कर सके ! सुख तो है एकमात्र श्रीहरिके पादपद्मोंमें।

और वह दीनबन्धु हरि सभीको अपनी ओर बुला रहा है–किसीको किसी इशारेसे, किसीको किसी इशारेसे। इशारे देता रहता है, स्थिति भी वैसी उत्पन्न करता रहता है जब हम चारों ओरसे असहाय होकर उसे ही, बस उसे ही 'अपना' समझें और उसके ही, एकमात्र उसके ही द्वारको खटखटावें। आज नीलाम्बर चारों ओरसे अपनेको एकाकी पाकर प्रभुका द्वार खटखटा रहा है। यहाँ, इस दरवाजेपरसे कोई खाली हाथ नहीं लौटता। यहाँ सुनवाई होती ही है, होती ही है। आजतक कोई खाली नहीं गया, कभी कोई खाली नहीं जायगा। यही उस मालिकका विरद है। कितनी लंबी है उसकी बाँह ! वह सब जगह पहुँच जाती है। चींटीके पैरोंकी चापतक वह सुनता है—एक-एककी सुध रखता है, सबको दाना-पानी पहुँचाता है। नीलाम्बरको एक हलकी तन्द्राने आ दबोचा और उस तन्द्रामें वह अस्पष्ट और अस्फुट सुन रहा है—'बेटा, तुम बहुत भरमे, बहुत मारे-मारे फिरे, बहुत ठोकरें खायीं; यही कर्मभोग है। परन्तु अब वह समाप्त हो रहा है, घबड़ाओ मत। मेरा हाथ सदा तुम्हारी पीठपर है। अच्छा, मेरी अब एक बात सुनो। गाँव-गाँव घूमना बंद करो और चलो गङ्गातटपर। वहाँ प्रातः-सायं गङ्गा-स्नान करो और सूर्यनारायणको दण्डवत् करो। यदृच्छासे जो कुछ प्राप्त हो जाय, प्रभुका प्रसाद समझकर पा लो और फिर मस्त होकर उनका नाम लो। तुम्हारा सारा दुःख-दारिद्र्य मिट जायगा, तुम निहाल हो जाओगे।'

नीलाम्बरकी तन्द्रा टूटी तो देखता क्या है कि पूर्वदिशामें लाली दौड़ आयी है, पक्षी चहचहा रहे हैं और जगत्में एक अपूर्व आनन्दका उल्लास छा रहा है। इस आनन्दोल्लाससे उसका अन्तर्लोक भी भर गया था और पिछले दुःखके दिन एक अतीत स्वप्नकी धुँधली स्मृतिके समान विलीन होते जा रहे थे। वह उठा—एक नवीन चेतना, एक नवीन स्फूर्ति, एक नवीन जीवनका आवाहन पाकर और सीधे चला गङ्गाजीकी ओर। आज वह चारों ओरसे अपनेको निरपेक्ष पा रहा था; न कोई इच्छा ही शेष रह गयी थी, न कोई वासना ही। सुख और दुःख दोनोंके ही मीठे-खट्टे अनुभव आकर चले गये थे। रह गयी थी दोनोंकी अब धुँधली-सी छाया।

सुखके बाद दुःख, दुःखके बाद सुख—यही इस जगत्का चक्कर है। दुःखकी भाँति सुख भी सहनेही-की चीज है। उठना तो है दोनोंसे ही ऊपर, दुःख और सुख दोनोंकी ही परिधियाँ पार करनी पड़ेंगी। तभी हम आनन्दमयकी आनन्दमयी गोदमें आनन्दका अमृत पी सकेंगे। सुख आता है, क्षण-भरके लिये हमारा हृदय सहला जाता है; दुःख आता है, हमें रुला जाता है। सुख और दुःख दोनोंके ही आक्रमणोंको दृढ़ताके साथ स्वस्थ होकर सहना है, उस आनन्दामृतका पान करनेके लिये; परन्तु उस सुखकी अपेक्षा वह दुःख ही वरणीय है, जिसमें प्रभुकी स्मृति है। कुन्तीने इसीलिये 'विपदः सन्तु नः शश्वत्' का वरदान माँगा था और कबीरने इसीलिये 'सुखके माथे सिल पड़ो' कहा था।

नीलाम्बरकी दिनचर्या दिव्य हो चली थी। गङ्गातटपर एक पीपलके नीचे उसका स्थान था। प्रात:काल ब्राह्ममुहूर्तमें वह उठता, गङ्गा-स्नान करता, खूब तैरता और फिर सूर्यनारायणको अर्घ्य देकर पूरे एक-सौ आठ साष्टाङ्ग दण्डवत् करता। फिर चुपचाप अपने स्थानपर आकर सूर्यनारायण और गङ्गाजीकी ओर मुख करके बैठता और 'हरि: शरणम्', 'हरि: शरणम्' रटता। अतीतका दु:ख और दु:खके पहलेका सुख—सभी कुछ भूल गया था। रास्ता चलते उसे कभी कोई कुछ खिला जाता, कोई कुछ। कोई कुछ पूछता तो वह कुछ बोलता ही न था—केवल 'हरि: शरणम्', 'हरि: शरणम्' कहता और अपनी अपात्रता तथा भगवान्की दयाका स्मरण कर अविरल आँसू बहाता। सोचता—मैं कहाँ बहा जा रहा था, तुमने हाथ पकड़-कर मुझे उबार लिया, बलात् अपनी ओर खींच लिया। प्रभुकी इस अहैतुकी करुणाका स्मरण कर वह बार-बार रो पड़ता। देखनेवाले कुछ समझ नहीं पाते। सोचते, होगा कोई पागल।

दीपक हाथमें ले लेनेसे घरमें सब जगह उजाला हो जाता है। वैसे ही भगवान्का नाम जब हृदयमें अपनी आभा फैलाने लगता है, तब समग्र लोक उस आलोकसे जगमगा उठता है, समस्त जडवर्ग चेतन हो जाता है। भगवान्की मूर्त्तिका दर्शन, स्पर्श, भजन-पूजन, कथन-कीर्तन, मनन-चिन्तन करते रहनेसे वह उपास्यदेव ध्यानमें बैठकर चित्तमें खेलने लगता है और स्वप्न देकर आदेश सुनाता है। ऐसी प्रतीति होती है कि उसका हाथ हमारी पीठपर है और उसका प्रेम बढ़ता ही जाता है। तब उससे मिलनेके लिये जी छटपटाने लगता है और फिर प्रत्यक्ष दर्शन भी होते हैं तथा यह अनुभूति होती है कि वह निरन्तर हमारे समीप है। और अन्तमें यह अवस्था आती है कि अंदर-बाहर वही-वह है और वही सब भूतोंके हृदयमें है। उसे छोड़ ब्रह्माण्डमें और कोई है ही नहीं; मेरे अंदर वह है और उसके अंदर मैं। ये समस्त अनुभूतियाँ भगवान्के नामका एकान्त आश्रय लेनेसे अपने-आप होने लगती हैं।

गङ्गास्नान और सूर्यनमस्कार चलता रहा। नीलाम्बरके अन्तस्तलमें नामकी 'हरि: शरणम्', 'हरि: शरणम्'की दिव्य क्रीड़ाएँ अखण्डरूपसे होती रहतीं। प्राय: सदा ही वह नाममें डूबा रहता। अब रोना बंद हो चुका था, केवल हँसना-ही-हँसना था—सब बातोंपर केवल हँसना। जो कुछ प्रसाद मिला, पा लिया और गङ्गाजीका जल पी लिया। सारा समय 'हरि: शरणम्' में व्यतीत होता। पहले जागतेभरमें अखण्ड चला, अब सोते हुए भी 'हरि: शरणम्'का तार नहीं टूटता। भीतर-बाहर सब प्रकारका अपरिग्रह, मौन और एकान्त; इसपर अखण्ड नामस्मरण! संतोंने इसीसे तो श्रीहरि-की शपथ लेकर कहा है कि नामको छोड़कर उद्धारका और कोई मार्ग है नहीं, है नहीं।

इस मधुर अनुभूतिमें लगभग बीस-बाईस वर्ष बीत गये—मालूम हुआ एक क्षणकी तरह। साधनामें जब रस आने लगता है तो ऐसा ही होता है—सब कुछ प्रेम और आनन्दके साथ, एक अजीब आत्मीयता और प्रीतिके साथ होता चलता है और कोई भी साधना कठिन या भाररूप नहीं प्रतीत होती। प्यारेका प्यार पानेके लिये जो कुछ भी किया जाय, थोड़ा ही है। नीलाम्बर इस आनन्द-मधुमें छका रहता, रात और दिन। कहाँ क्या हो रहा है, कुछ पता नहीं था। अब पीपलके नीचेसे उठकर गङ्गातटपर ही पड़ा रहता। 'मैया', 'मैया' चिल्लाता और फिर 'हरि: शरणम्', 'हरि: शरणम्'में गोते लगाता।

प्रयाणकी शुभ वेला, पिया-मिलनकी मङ्गलमयी पूर्णिमा आयी। चाँदनी बरस रही थी। समस्त वसुन्धरा

पुलकित थी, परन्तु उससे भी अधिक आलोकित और पुलकित था नीलाम्बरका अन्तर्लोक । आँखें बंद थीं अंदरका रास-दर्शन करनेके लिये, प्राण-प्राणमें प्रियतमकी झङ्कार थी और वही झङ्कार जब कुछ विशेष मुखरित हुई तो नीलाम्बरके प्राण भी उसमें तल्लीन होकर, तन्मय होकर प्राणधनमें सदाके लिये लीन हो गये । दूसरे दिन लोगोंने देखा कि नीलाम्बरका शरीर गङ्गातटपर प्राणहीन पड़ा हुआ है और उसके समस्त शरीरपर मानो किसीने बिजलीके अक्षरोंमें 'हरिः शरणम्', 'हरिः शरणम्' लिख दिया है !

बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय !
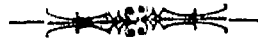
दैनिक कल्याण-सूत्र

१ फरवरी गुरुवार—संतोंके माहात्म्यको सुन और समझकर प्रेमसे उनका सङ्ग करो । ऐसा करनेसे तुम्हें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—चारों पदार्थोंकी प्राप्ति इसी जीवनमें हो सकती है ।

सुनि समुझहिं जन मुदित मन मज्जहिं अति अनुराग ।
लहहिं चारि फल अछत तनु साधु समाज प्रयाग ॥

२ फरवरी शुक्रवार—संसारमें जड-चेतन जितने भी जीव हैं, उन सबको श्रीरामका—अपने इष्टदेवका ही स्वरूप समझकर मन-ही-मन प्रणाम करो । गुसाईंजीके निम्नलिखित शब्दोंपर ध्यान दो—

जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि ।
बंदउँ सब के पद कमल सदा जोरि जुग पानि ॥

३ फरवरी शनिवार—जिन्हें अपना गुरु बना लिया, पथ-प्रदर्शक मान लिया, उनसे किसी प्रकारका छिपाव न करो । गुरुके साथ छिपाव करनेसे हृदयका अज्ञानरूपी अन्धकार दूर नहीं होता, वेद-पुराण तथा संतोंका यही मत है ।

संत कहहिं असि नीति प्रभु श्रुति पुरान मुनि गाव ।
होइ न बिमल बिबेक उर गुर सन किएँ दुराव ॥

४ फरवरी रविवार—भगवान्‌के अलौकिक चरित्रोंके सम्बन्धमें किसी प्रकारकी शङ्का न करो । अज्ञानीलोग ही मोहवश उनके सम्बन्धमें गलत धारणा बना लेते हैं ।

अति बिचित्र रघुपति चरित जानहिं परम सुजान ।
जे मतिमंद बिमोह बस हृदयँ धरहिं कछु आन ॥

५ फरवरी सोमवार—तुम्हारे लिये विधाताने जो कुछ रच दिया है, वह होकर रहेगा—उसे कोई भी पलट नहीं सकता । ऐसा समझकर भविष्यकी चिन्तासे मुक्त हो जाओ । देवर्षि नारदजीके निम्नलिखित उपदेशपर ध्यान दो—

कह मुनीस हिमवंत सुनु जो बिधि लिखा लिलार ।
देव दनुज नर नाग मुनि कोउ न मेटनिहार ॥

६ फरवरी मङ्गलवार—भगवान्‌की सब लीलाओंका भूलकर भी अनुकरण न करो, उनके उपदेशके अनुसार अपने जीवनको बनानेकी चेष्टा करो । जो लोग अज्ञानवश भगवान्‌की दिव्य लीलाओंका अनुकरण करने जाते हैं, वे मूढ़ अधोगतिको प्राप्त होते हैं ।

जौं अस हिसिषा करहिं नर जड़ बिबेक अभिमान ।
परहिं कलप भरि नरक महुँ जीव कि ईस समान ॥

७ फरवरी बुधवार—योगक्षेमकी चिन्ता छोड़कर श्रीभगवान्‌को ही अपने चिन्तनका एकमात्र विषय बनाओ । जिन्होंने तुम्हें पैदा किया है, वे ही सब प्रकारसे

तुम्हारा कल्याण भी करेंगे। पर्वतराज हिमाचलकी निम्नलिखित शिक्षापर ध्यान दो—

> प्रिया सोचु परिहरहु सबु सुमिरहु श्रीभगवान।
> पारबतिहि निरमयउ जेहिं सोइ करिहि कल्यान॥

८ फरवरी गुरुवार—भगवान्‌के जिस स्वरूपको तुमने अपना इष्टरूप मान लिया है, उसमें अनन्यभावसे प्रीति करो। उसमें यदि कोई दोष भी दिखलावे तथा दूसरे किसी रूपकी विशेषता बतलावे तो उसके शब्दोंपर ध्यान न दो। दूसरे किसी रूपकी अवज्ञा न करते हुए अपने इष्टसे ही प्रयोजन रक्खो, दूसरी ओर भूलकर भी न ताको। अनन्य-निष्ठा देवी पार्वतीके निम्नलिखित वचनोंको सदा याद रक्खो—

> महादेव अवगुन भवन बिष्नु सकल गुन धाम।
> जेहि कर मनु रम जाहि सन तेहि तेही सन काम॥

९ फरवरी शुक्रवार—जगत्‌में कोई भी ऐसा जीव नहीं है, जिसे माया मोहित न कर सके। इसलिये यदि मायाके प्रभावसे बचना चाहते हो तो मायाके अधीश्वर श्रीभगवान्‌के शरण हो जाओ। फिर माया तुम्हारा कुछ भी न कर सकेगी—

> सुर नर मुनि कोउ नाहिं जेहि न मोह माया प्रबल।
> अस बिचारि मन माहिं भजिअ महामाया पतिहि॥

१० फरवरी शनिवार—केवल बाहरी वेश तथा सुन्दर उपदेशसे ही किसीको संत न समझ बैठो। बाहरी वेशको देखकर अकसर अच्छे-अच्छे लोग धोखा खा जाते हैं, साधारण लोगोंकी तो बात ही क्या है।

> तुलसी देखि सुबेषु भूलहिं मूढ़ न चतुर नर।
> सुंदर केकिहि पेखु बचन सुधासम असन अहि॥

११ फरवरी रविवार—यदि सांसारिक विपत्तियोंसे छूटना चाहते हो तो श्रीभगवान्‌के चरणोंका स्मरण करो। वे सबके हृदयकी बात जानते हैं, वे अवश्य ही तुम्हारी विपत्तिको दूर करेंगे। ब्रह्माजीके निम्न-लिखित उपदेशको याद रक्खो—

> धरनि धरहि मन धीर कह बिरंचि हरि पद सुमिरु।
> जानत जन की पीर प्रभु भंजिहि दारुन बिपति॥

१२ फरवरी सोमवार—यदि पापोंका नाश चाहते हो, मनको वशमें करना चाहते हो और भगवान्‌की कृपा चाहते हो तो श्रद्धा एवं भक्तिपूर्वक भगवान्‌के दिव्य मङ्गलमय चरित्रोंका श्रवण करो। गोस्वामी-जीके निम्नलिखित वचनोंको याद रक्खो—

> कलि मल समन दमन मन राम सुजस सुख मूल।
> सादर सुनहिं जे तिन्ह पर राम रहहिं अनुकूल॥

१३ फरवरी मङ्गलवार—इस कलियुगमें न तो धर्मका ही ठीक-ठीक अनुष्ठान हो सकता है, न ज्ञानका ही साधन बन सकता है, न योगाभ्यास हो सकता है और न विधिवत् मन्त्रोंका जप ही हो सकता है। इस समय तो कल्याणका एकमात्र उपाय—और सब साधनोंका भरोसा छोड़कर भगवान्‌का भजन करना ही है। अतः और सबका भरोसा छोड़कर भगवान्‌का भजन करो। उन्हींकी शरण ग्रहण करो। इसीमें चतुराई है।

> कठिन काल मल कोस धर्म न ग्यान न जोग जप।
> परिहरि सकल भरोस रामहि भजहिं ते चतुर नर॥

१४ फरवरी बुधवार—यदि अपने हृदयमें सदाके लिये भगवान्‌को बसाना चाहते हो, उसे भगवान्‌का मन्दिर बनाना चाहते हो तो मन, वचन तथा कर्मसे उन्हींके परायण हो जाओ और निष्काम-भावसे उनका भजन करो। उनकी प्रतिज्ञा है—

> बचन कर्म मन मोरि गति भजनु करहिं निःकाम।
> तिन्ह के हृदय कमल महुँ करउँ सदा बिश्राम॥

१५ फरवरी गुरुवार—यदि भगवान्‌को सहज ही अपने वशमें करना चाहते हो तो मन, वचन तथा कर्मसे ब्राह्मणोंकी निष्कपट सेवा करो। भगवान् स्वयं इस बातको घोषित करते हैं—

मन क्रम बचन कपट तजि जो कर भूसुर सेव।
मोहि समेत बिरंचि सिव बस ताकें सब देव॥

१६ फरवरी शुक्रवार—काम, क्रोध, लोभ और मद—ये सब अज्ञानके बहुत बड़े सहायक हैं। इनमें भी काम सबसे अधिक दुःखदायक है। अतः कामपर विजय पानेकी निरन्तर चेष्टा करो।

काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि।
तिन्ह महँ अति दारुन दुखद मायारूपी नारि॥

१७ फरवरी शनिवार—यदि विना किसी कठिन साधनके—अनायास ही भगवान्‌की भक्ति प्राप्त करना चाहते हो तो वाणीसे उनके पावन चरित्रोंका गान करो और कानोंसे उन्हींकी कथाओंको सुनो।

रावनारि जसु पावन गावहिं सुनहिं जे लोग।
राम भगति दृढ़ पावहिं बिनु बिराग जप जोग॥

१८ फरवरी रविवार—यदि त्रितापोंकी ज्वालासे बचना चाहते हो तो भगवान् शङ्करकी आराधना करो। उन्होंने विषकी ज्वालासे जलते हुए देवताओंकी रक्षा की थी, क्या वे तुम्हारी रक्षा नहीं करेंगे? गोस्वामीजीके निम्नलिखित उपदेशको याद रक्खो—

जरत सकल सुर बृंद बिषम गरल जेहिं पान किय।
तेहि न भजसि मन मंद को कृपाल संकर सरिस॥

१९ फरवरी सोमवार—यदि भगवान्‌का अनन्यभावसे भजन करना चाहते हो तो विश्वके समस्त चराचर जीवोंको उन्हींकी मूर्तियाँ समझो और अपनेको उन सबका दास समझो। अनन्यभक्तोंका यही लक्षण कहा गया है—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

२० फरवरी मङ्गलवार—जीवनमें तुमने कितने ही अपराध क्यों न किये हों, यदि तुम एक बार भी सच्चे मनसे भगवान्‌के शरण हो जाओ तो वे तुम्हारे सारे अपराधोंको भुलाकर तुम्हें सदाके लिये अपनी गोदमें बिठा लेंगे। वे दयाके समुद्र हैं।

प्रनतपाल रघुनायक करुनासिंधु खरारि।
गएँ सरन प्रभु राखिहैं तव अपराध बिसारि॥

२१ फरवरी बुधवार—अभिमानकी उत्पत्ति अज्ञानसे होती है, वह बुद्धिको आवृत करनेवाला तथा समस्त दुःखोंका हेतु है। अतः यदि दुःखोंसे छूटना चाहते हो तो अभिमान छोड़कर दयाके समुद्र भगवान्‌की शरणमें चले जाओ। वे तुम्हें सारी विपत्तियोंसे छुड़ा देंगे।

मोह मूल बहु सूलप्रद त्यागहु तम अभिमान।
भजहु राम रघुनायक कृपासिंधु भगवान॥

२२ फरवरी गुरुवार—भगवान्‌की कृपासे तुम कठिन-से-कठिन कार्यको कर सकते हो, असम्भवको भी सम्भव बना सकते हो। अतः सब प्रकारसे उन्हींकी कृपापर निर्भर हो रहो। श्रीहनुमान्‌जीका श्रीरामके प्रति वचन है—

ता कहुँ प्रभु कछु अगम नहिं जा पर तुम्ह अनुकूल।
तव प्रभावँ बड़वानलहि जारि सकइ खलु तूल॥

२३ फरवरी शुक्रवार—शरणमें आये हुएका कदापि त्याग न करो, चाहे उसकी रक्षासे तुम्हारी लौकिक हानि भी होती हो। शरणागतका परित्याग करनेवालोंकी शास्त्रोंमें बड़ी निन्दा की गयी है।

सरनागत कहुँ जे तजहिं निज अनहित अनुमानि ।
ते नर पावँर पापमय तिन्हहि बिलोकत हानि ॥

२४ फरवरी शनिवार—यह कलिकाल पापोंका घर है । इसमें भगवन्नामके अतिरिक्त कोई दूसरा सहारा नहीं है । इसलिये विचारपूर्वक भगवन्नामका ही आश्रय पकड़े रहो ।

२५ फरवरी रविवार—यदि भगवान्‌के प्रिय बनना चाहते हो तो उनके सगुणरूपकी उपासना करो, दूसरोंकी भलाईमें लगे रहो, नीति तथा सदाचारके नियमोंका दृढ़तापूर्वक पालन करो और ब्राह्मणोंकी भक्ति करो । उन्होंने स्वयं विभीषणजीसे कहा है—

सगुन उपासक परहित निरत नीति दृढ़ नेम ।
ते नर प्रान समान मम जिन्ह कें द्विज पद प्रेम ॥

२६ फरवरी सोमवार—यदि लौकिक सम्पत्ति अथवा राज्य चाहते हो तो उसके लिये भी भगवान्‌की ही शरण लो, वे सब कुछ देनेमें समर्थ हैं । उन्होंने विभीषणको विना माँगे—अनायास ही वह अतुल सम्पत्ति दे दी, जिसे रावणने बड़े कष्टसे प्राप्त किया था, और तिसपर भी मनमें संकुचित हुए कि मैंने इसे कुछ भी नहीं दिया ।

जो संपति सिव रावनहि दीन्हि दिएँ दस माथ ।
सोइ संपदा बिभीषनहि सकुचि दीन्हि रघुनाथ ॥

२७ फरवरी मङ्गलवार—भगवान् शङ्कर और भगवान् विष्णु अथवा श्रीराममें कोई अन्तर न समझो, दोनों एक ही भगवान्‌के रूप हैं । शङ्करका भक्त होकर जो श्रीरामसे विरोध रखता है, अथवा श्रीरामका दास कहलाकर जो शिवजीसे द्रोह करता है, उसकी बड़ी दुर्गति होती है । श्रीरामने स्वयं कहा है—

संकरप्रिय मम द्रोही सिवद्रोही मम दास ।
ते नर करहिं कलप भरि घोर नरक महुँ बास ॥

२८ फरवरी बुधवार—समस्त चराचर विश्वको भगवान्‌का ही रूप समझो । ये जितने भी लोक हैं, वे सब उन्हींकी विराट् मूर्तिके अङ्ग हैं ।

बिस्वरूप रघुबंसमनि करहु बचन बिस्वासु ।
लोक कल्पना बेद कर अंग अंग प्रति जासु ॥

२९ फरवरी गुरुवार—यदि तुम किसी भयसे पीड़ित हो तो आर्तभावसे भगवान्‌को पुकारो, उनसे रक्षाके लिये प्रार्थना करो । वे तुम्हारी प्रार्थनाको अवश्य सुनेंगे और तुम्हें भयसे मुक्त कर देंगे ।

प्रनतपाल रघुबंसमनि त्राहि त्राहि अब मोहि ।
आरत गिरा सुनत प्रभु अभय करैगो तोहि ॥

विरहकी पीर

पिया, तैं कहाँ गयौ नेहरा लगाय ॥
छाँडि गयौ अब कहाँ बिसासो, प्रेम की बाती बराय ॥१॥
बिरह-सँमद मे छाँडि गयौ, पिय, नेह की नाव चलाय ।
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर, तुम बिन रह्यो न जाय ॥२॥

—मीराबाई
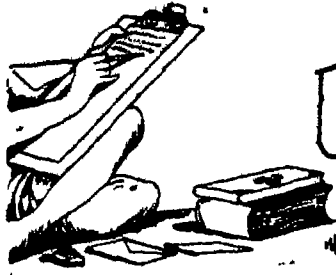
परमार्थ पत्रावली

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

आपने पूछा कि जब एकमात्र आनन्द-ही-आनन्द है, उसके सिवा और कुछ है ही नहीं, तब यह संसार क्यों दीख पड़ता है। सो ठीक है। जिस समय एकमात्र आनन्द-ही-आनन्द रह जाता है, उसके सिवा और कुछ नहीं रह जाता, उस समय यह संसार किञ्चित् भी नहीं भासता। परन्तु ऐसी स्थिति यों ही नहीं, साधनाके द्वारा प्राप्त होती है। वह साधना है निरन्तर संसारके अभावका अनुभव करते हुए एकमात्र परमात्माकी सत्ताको सर्वत्र देखना। इसी साधनाका अभ्यास करनेसे उपर्युक्त स्थिति प्राप्त होती है। साधनावस्थामें जो कल्पितरूपसे संसार दीखता है, सो आनन्दमयको ही दीखता है। आनन्दमय जिस कालमें द्रष्टा होकर संसारको देखता है, संसार दीखने लग जाता है; और जब नहीं देखता तब स्वयं आनन्दमय ही रह जाता है, संसारका अत्यन्ताभाव हो जाता है; क्योंकि संसार वास्तवमें है नहीं। अथवा यों कहें कि जब आनन्दमय द्रष्टा होकर कल्पना करता है, तब बिना हुए ही संसार भासने लगता है और जब वह संसारको कल्पनामात्र जानकर अपना सङ्कल्प छोड़ देता है, तब संसारका अभाव होकर केवल आनन्दमय ही रह जाता है।

आपने पूछा कि 'मैं कौन हूँ ?' इसका उत्तर यह है कि जबतक भ्रम है तबतक आप जीव हैं। जब यह भ्रम मिट जाता है, तब 'मैं' का सर्वथा अभाव हो जाता है और एकमात्र आनन्दमय ही रह जाता है। परमात्माकी प्राप्ति दो प्रकारसे होती है—एक सगुणरूपसे, दूसरे निर्गुणरूपसे। सगुणकी भिन्नरूपसे और निर्गुणकी अभिन्नरूपसे प्राप्ति की जाती है। अस्तु,

यह सब ध्यानमें रखकर आपको विशेषरूपसे साधनकी चेष्टा करनी चाहिये। साधनकी चेष्टा धन कमानेकी चेष्टासे अत्यधिक बलवती होनी चाहिये। साधनकी चेष्टाके लिये एक बार ही विशेषरूपसे प्रयत्न करना होगा, फिर तो उसमें आनन्दका अनुभव होनेके बाद आप-से-आप तीव्र चेष्टा होने लगेगी।

(२)

आपने लिखा कि अमुक स्थानमें ध्यानकी जैसी स्थिति थी, वैसी अब नहीं है; सो इसके कारणपर आपको स्वयं विचार करना चाहिये और जो त्रुटियाँ हों उन्हें दूर करके पुनः वैसी स्थिति, बल्कि उससे भी अधिकाधिक अच्छी स्थिति प्राप्त करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। भगवान्‌का गुणानुवाद करने, उनके प्रभाव-रहस्य आदिकी बातें बाँचने-सुनने तथा नाम-जप करनेका अभ्यास निरन्तर हो—इसके लिये उत्कण्ठापूर्वक तीव्र चेष्टा होनी चाहिये। इस चेष्टाके लिये यदि आपके पास निजका बल कम है, तो कोई चिन्ताकी बात नहीं। नारायणके चरणोंका आश्रय लेकर, हृदयमें विश्वास रखकर प्रयत्न करते रहिये; फिर भगवत्कृपासे आप-से-आप सब ठीक हो सकता है।

आपने लिखा कि अमुक स्थानमें ध्यान-धारणाकी जैसी स्थिति थी, वह आपके पुरुषार्थकी नहीं थी; सो ठीक है। ऐसा समझना बहुत उत्तम है। परन्तु आप अपनी ध्यान-धारणाकी उस स्थितिको जिसकी कृपाका फल समझते हैं, उसकी पूर्ण कृपा तो अब भी उसी प्रकार बनी हुई है। फिर वे आपको ध्यान-धारणाकी उसी स्थितिमें क्यों न ला देंगे? यदि नहीं लाते तो न लावें, आप अपनी ओरसे जहाँतक हो सके उन श्रीनारायण-देवके भजन-ध्यानकी ही चेष्टा करते रहिये; क्योंकि आपका कर्तव्य यही है। फिर आपका यह सतत कर्तव्य-पालन ही आगेकी स्थिति सुधार देगा। क्योंकि श्रीनारायणदेव कर्तव्यपरायण अथवा पुरुषार्थी व्यक्तिकी चिन्ता स्वयं रखते हैं।

आप भक्ति-ज्ञान-वैराग्यविषयक पुस्तकोंको देखनेकी चेष्टा करते हैं, सो ठीक है। जब-जब भजन-ध्यानमें अधिक भूलें हों, तब-तब सद्ग्रन्थोंको बाँचने-सुनने तथा भगवद्भक्तोंका सत्सङ्ग करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। वास्तवमें प्रेमके अभावके कारण ही भूलें अधिक होती हैं। सो विश्वासपूर्वक भजन और सत्सङ्ग करते रहना चाहिये, फिर उन्हींके द्वारा भूलोंका निवारण और प्रेमका उदय हो सकता है। आपका यह लिखना कि भजन-ध्यानकी स्थिति रखनेमें काम-काज नहीं होता और सांसारिक काम-काज करते रहनेपर भजन-ध्यानमें भूलें अधिक होती हैं, ठीक है। इसका एकमात्र उपाय नारायणका स्मरण है। कोई भी स्थिति हो, चिन्ता नहीं करनी चाहिये; बल्कि सब कुछ नारायणकी ही मर्जीसे हो रहा है, ऐसा मानकर प्रसन्न मनसे भजन-साधन करते रहना चाहिये।

शरणागतिकी बातें गीताके अध्याय १८ के श्लोक ६२ और ६३में हैं, उन्हें देखना चाहिये। चिट्ठीमें विशेष विस्तार करनेसे सम्भवतः उनका प्रभाव कम हो सकता है, फिर भी कुछ बातें लिखी जाती हैं। शरणागति चाहनेवालेको मनसे भगवान्‌के सच्चिदानन्द-घनस्वरूपका चिन्तन, बुद्धिसे सर्वत्र नारायणकी ही सत्ताका विचार, श्वाससे भगवन्नामका जप, वाणीसे भगवान्‌का गुणानुवाद, कानोंसे भगवत्कथा-कीर्तनका श्रवण, नेत्रोंसे भगवद्भक्तोंका दर्शन और शरीरसे संत-महात्माओं, गुरुजनों एवं सर्वभूतरूप भगवान्‌की सेवा-शुश्रूषा करनी चाहिये। यह समझना चाहिये कि माता, पिता, भाई, बन्धु, स्त्री, पुत्र, धन इत्यादि सब कुछ नारायणका ही है; मेरा कुछ भी नहीं है—यहाँतक कि मेरा शरीर भी उन्हींका है। फिर ऐसा समझते हुए जो कुछ करना चाहिये, भगवत्सेवाके भावसे करना चाहिये। आसक्ति किसी पदार्थमें नहीं रखनी चाहिये। अपनी इच्छाका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये, उन्हींकी इच्छामें अपनी इच्छा मिला देनी चाहिये। संसार वास्तवमें मिथ्या है; परन्तु यदि यह सत्य मालूम पड़ता है तो उसीमें आनन्द मानना चाहिये। सर्वत्र लीलाका भाव करना चाहिये। प्रणव अर्थात् 'ॐ' परमेश्वरका स्वरूप है, उसके अर्थ अर्थात् सत्-चित्-आनन्दघनकी शरण ग्रहण करनी चाहिये। सच्चिदानन्दघनके सिवा कुछ है ही नहीं, इसकी धारणा करनी चाहिये। अनन्त, अपार, अचिन्त्य आनन्दमें मग्न हो जाना चाहिये। संसारमें जो कुछ भासता हो, उसे स्वप्नवत् मानकर अविचल, अपार, शान्त, व्यापक एवं सम्पूर्ण आनन्दको कभी भूलना नहीं चाहिये। शरीर एवं संसारके समस्त पदार्थ सर्वथा मिथ्या हैं, इनके लिये हर्ष-शोक नहीं करना चाहिये। ममता, मोह, लोभ, स्वार्थ, अहङ्कार, कर्तृत्वाभिमान आदि सबको छोड़ देना चाहिये। पासमें जो कुछ हो, उसे नारायणके लिये न्योछावर कर देना चाहिये। उनके स्मरण-चिन्तनमें अपनेको विलीन कर देना चाहिये। इस प्रकार शरणागतिकी बहुत-सी बातें हैं। इन सबकी साधना अनन्यभावसे करनी चाहिये। फिर कोई चिन्ताकी बात नहीं।

(३)

इतने दिन हो गये, अभीतक आपने भगवान्की प्राप्ति नहीं की; तब फिर क्या लिखा जाय ! किस बलपर आप निश्चिन्त होकर बैठे हैं ? विश्वास कीजिये—जीवनका कुछ भी ठिकाना नहीं है, यह शरीर किसी भी क्षण मिट्टीमें मिल जानेवाला है, संसारके अन्य समस्त पदार्थ भी विनष्ट होनेवाले हैं; फिर आप इन विनश्वर वस्तुओंके लिये अपने अनमोल समयको क्यों बिता रहे हैं ? परमात्माकी प्राप्तिके प्रयत्नोंमें आनन्द-ही-आनन्द है; परन्तु यदि कुछ समयके लिये कष्ट ही उठाना पड़े और उससे सदाके लिये भगवत्प्राप्तिद्वारा अपार आनन्द हो जाय तो उस कष्टका प्रसन्नतापूर्वक वरण करना चाहिये । इस मिथ्या संसारके थोड़े समयके आरामसे यदि चौरासी लाख बार गलेमें फाँसी पड़ती हो तो उसे तत्काल छोड़ देना चाहिये । इस क्षणभङ्गुर शरीरमें यदि चार-पाँच सेर मिट्टी अधिक हो जाय तो क्या और कम हो जाय तो क्या ? अच्छे कपड़े पहननेको मिले तो क्या और बुरे कपड़े पहननेको मिले तो क्या ? सूखी रोटी खायी तो क्या और बढ़िया-बढ़िया पकवान खाये तो क्या ? बहुमूल्य मखमलके बिछौनेपर सोये तो क्या और चटाईपर सोये तो क्या ? जो इन सबको समान मानता है, जिसके दिन नारायणके प्रेममें बीतते हैं, जिसका चित्त नारायणके स्मरण-चिन्तनमें रमा हुआ है, वही मनुष्य धन्यवादके योग्य है; नहीं तो मानव-जन्म व्यर्थ है, बल्कि उस मनुष्यसे पशु भी अच्छे हैं । अतः अबसे भी चेतिये । मैं यह बार-बार कहूँगा कि जिसने मनुष्यका शरीर पाकर नारायणको नहीं भजा, उनकी प्राप्ति नहीं की, उसे मानव-जन्म ग्रहण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं थी ।

(४)

आपका पत्र मिला । भजन करनेके चार साधन लिखे जाते हैं । इनको ध्यानमें रखना चाहिये—

(१) श्वासद्वारा भगवन्नामका जप करना चाहिये ।

(२) जिसके नामका जप करें, उस नामीके स्वरूपका चिन्तन भी करना चाहिये; अर्थात् स्वरूपके ध्यान-सहित नामका जप करना चाहिये । यदि सगुण-वाचक नाम हो तो सगुणरूपका ध्यान करते हुए अथवा निर्गुणवाचक नाम हो तो निर्गुण ब्रह्मके सत्-चित्-आनन्द आदि विशेषणोंका ध्यान करते हुए नाम-जप करना चाहिये ।

(३) सर्वव्यापक परमात्माके स्वरूपमें स्थित रहते हुए समष्टि बुद्धि और ज्ञानचक्षुओंद्वारा शरीर, कर्म तथा विकारहीन अन्तःकरणका नित्य साक्षी रहना चाहिये । अहङ्कार और कर्तृत्वाभिमानका त्याग कर देना चाहिये । इन्हींसे अन्तःकरणमें राग-द्वेषादि विकारोंका उदय होता है । और जबतक अन्तःकरणमें इन विकारोंका अनुमान हो तबतक सर्वव्यापी परमात्माके स्वरूपमें स्थित होनेमें बाधाएँ समझनी चाहिये ।

(४) चित्तको सदा प्रफुल्ल रखना चाहिये । बिना हुए भी प्रफुल्लताका अनुभव करना चाहिये ।

चौथी बात प्रथम श्रेणीके अर्थात् नये साधकके लिये है । ऊपरकी तीनों स्थितियोंमें स्थित रहनेसे स्वतः प्रसन्नता बनी रहती है; साथ ही हृदयमें निर्मलता, शरीरमें हल्कापन, दृश्य जगत्‌में सत्ताका अभाव, इन्द्रियोंमें चेतनता, आलस्यका अभाव, वैराग्यकी वृद्धि इत्यादि बातें भी आप-से-आप आ जाती हैं ।

भजन जितना हो, बहुमूल्य होना चाहिये । जो भजन निष्कामभाव तथा गुप्तरीतिसे और ध्यानके साथ निरन्तर होता है, वही बहुमूल्य भजन है । सो निष्काम भाव और गुप्तरीतिकी दृष्टिसे तो आपलोगोंका भजन ठीक ही मालूम पड़ता है, केवल सच्चिदानन्दघन

भगवान्‌के निरन्तर ध्यानाभ्यासमें त्रुटि दीख पड़ती है। उसकी पूर्तिके लिये शीघ्रातिशीघ्र प्रबल चेष्टा करनी चाहिये।

आपने कड़ी बात लिखनेके लिये लिखा, सो आपका प्रेम है; परन्तु मैं इसका अधिकारी नहीं हूँ। कड़ी बातें तो गुरुजन ही लिख सकते हैं। हाँ, आप सबके प्रेमके बलपर सीधी-सादी भाषामें मैं अवश्य लिखता और कहता आया हूँ कि समयका मूल्य पहचानना चाहिये, उसे व्यर्थ नहीं गँवाना चाहिये। मूर्खता और मोहवश अपने अनमोल समयको क्षणभङ्गुर भोग्य पदार्थों, झूठी मान-बड़ाइयों तथा किसीके भी मुलाहजेमें नहीं बिताना चाहिये। भगवान्‌ने कृपा करके जिस कामके लिये मनुष्यका शरीर दिया है, उसीको सबसे पहले करना चाहिये। उसके अर्थात् भगवद्भजनके समान और कोई भी आवश्यक काम नहीं है। इसलिये जबतक इस शरीरका नाश नहीं हो जाता, तबतक जो करना हो कर लेना चाहिये। यदि इस शरीरको मिट्टीमें ही मिलाना है तो भगवत्प्राप्तिके लिये ही मिलाना चाहिये, जिससे फिर कभी इस तुच्छ शरीरको धारण करके इसे मिट्टीमें मिलानेकी नौबत न आये।

सखा-भाव

(लेखक—मुखिया विद्यासागरजी)

रामहि केवल प्रेम पिआरा। जानि लेउ जो जाननिहारा॥
—रामचरितमानस

हिंदू-उपासनामें भगवान् और जीवका सम्बन्ध नौ प्रकारका माना जाता है। उसीको 'नवधा-भक्ति' कहते हैं। परन्तु इस्लामी उपासनामें सखाभावपर ही अधिक जोर दिया गया है। इस लेखमें इस्लामी भक्तोंके सखा-भावका दिग्दर्शन कराया जायगा।

एक भक्त कहता है—या मालिक! मेरे प्यारे महबूब! ऐ मेरे माशूक़! जबसे मैंने तुम्हारे साथ मुहब्बतका बरताव शुरू किया, तबसे मेरे दिलकी अजब हालत हो रही है। सुनिये जनाब—

तुम्हारे इश्क़ने मुझको सिखायी तीन बातें हैं।
कभी हँसना, कभी रोना, कभी बेहोश हो जाना॥

एक भक्त कहता है—मेरा माशूक़ बड़ा आदमी है। बहुत बड़ा आदमी है! उसके चाहनेवाले भी हजारों हैं! कहीं ऐसा न हो कि मैं ही उसे प्यार करते-करते मर मिटूँ, और वह जालिम—मग़रूरीकी वजहसे—इधर नजर भी न डाले। मगर नहीं—

तासीर इश्क़ होती है दोनों तरफ़ जनाब।
मुमकिन नहीं है दर्द यहाँ हो, वहाँ न हो॥

एक भक्त कहता है—मेरे मीत! मेरे प्रियतम! तुम प्रेम भी खूब देते हो—और सजा भी खूब देते हो। जहाँ मैंने कोई नाजायज हरक़त की, वहीं तुमने अपनी किसी-न-किसी अदाके हंटरसे मेरी मरम्मत की। सुनिये—

मुहब्बत ख़ूब करते हो, सज़ा भी ख़ूब देते हो।
कि बादामोंके शरबतमें मिरच काली मिला दी है॥

एक भक्त कहता है—ऐ मेरे दोस्त! मैंने तुम्हारे लिये अपनी सारी दौलत लुटा दी। जान रह गयी थी, सो मैं उसे भी देनेके लिये तैयार हूँ। मगर नहीं—

हुआ जो इश्क़में मुफ़लिस, वही ज़रदार होता है।
कटाये सर जो उलफ़तमें, वही सरदार होता है॥

एक भक्त कहता है—ऐ मेरे हबीब! क्या यह प्रेम भी कोई मदरसा है? तुम्हारी इस प्रेम-पाठशालामें जो लड़के पढ़ते हैं, वे खूब पीटे जाते हैं; मगर कोई भी शिकायत नहीं करता। मदरसेकी ही मार जायज होती है। न तो कोई मदरसेकी मारकी शिकायत

करता है और न कोई प्रेमकी मारकी शिकायत करता है। इसलिये मालूम होता है कि प्रेम भी कोई एक मदरसा है। सुनिये साहब—

इश्क़के मक़तबकी क्या हालत कहीं जावे भला ।
मार खाते हैं पड़े, लेकिन शिकायत है मना ॥

एक भक्त कहता है—ऐ मेरे दिलदार ! मैंने आपके खिलाफ़—आपकी तीव्र आलोचनाका दफ़्तर तैयार किया था। मगर—

था सोचा मैंने कि अब मिलेंगे,
तब यह कहूँगा औ वह कहूँगा।
मगर जब वह आ गये सामने,
कोई शिकायत रही न बाक़ी ॥

एक भक्त कहता है—मेरे प्यारे भगवान् ! जबतक मैंने तुमको देखा नहीं था, तबतक तो देखनेकी इच्छा ही सताया करती थी। मगर जबसे देखा है, तबसे—

जब तलक देखूँ न तेरी शक्ल, कल पड़ती नहीं ।
सच बताओ यार ! तुमने कौन जादू कर दिया ?

एक भक्त कहता है—ऐ मेरे माशूक़ ! यों तो तुम्हारी समस्त हरकतें मनोहर होती हैं। मगर जब तुम मेरी किसी नाजायज़ बातपर रुष्ट होकर अपनी भौंहें चढ़ाते हो, तब तुम्हारी वह अदा निहायत नफ़ीस लगती है—

एकसे हैं एक बेहतर सब अदाएँ आपकी ।
जान लेती है मगर तेवर चढ़ानेकी अदा ॥

एक भक्त कहता है—मेरे मालिक ! यह मेरा बड़ा भारी सौभाग्य है कि मैंने केवल तुझीसे मुहब्बत की, इधर-उधर मारा-मारा न फिरा। यानी—

हमारी ख़ुशनसीबी है जो इस दरबारमें आये ।
कि जिस सरकारके हम थे, उसी सरकारमें आये ॥

एक भक्त कहता है—मेरे प्यारेको देखनेके लिये हज़रत मूसा तूर नामक पहाड़पर गये थे, यारका जल्वा देखते ही वह बेहोश हो गये। हज़रत मूसासे मेरी यह अर्ज़ है कि जब आप उस महबूबके दाहिने पैरके अँगूठेके नाख़ूनको देखते ही बेहोश हो गये, तब आगे आप क्या देख सकेंगे। यानी—

तूरने हँसके कहा—ग़शमें पड़े हो, मूसा !
झलकपर यारका क्या ख़ाक तमाशा देखा ?

एक भक्त कहता है—मेरी जान ! तुम यही चाहते हो न कि मैं अपनी इच्छा छोड़ दूँ और तुम्हारी ही इच्छाको अपनी इच्छा मान लूँ ? तो यही सही—

मालिक ! तेरी रज़ा रहे, और तू-ही-तू रहे ।
बाक़ी न मैं रहूँ, न मेरी आरज़ू रहे ॥

एक भक्त कहता है—ऐ मेरे दिल ! तू अभीतक अनेककी पूजामें लगा हुआ है। यही कुफ़्र है ! सावधान—

एक गुलपर हो फ़िदा, बुलबुल ! तू हरजाई न बन ।
ख़ुद तमाशा बन, मगर दुनियाँ तमाशाई न बन ॥

एक भक्त कहता है—ऐ दिल ! ग़रूर छोड़ दे। मालिकको ग़रूर ज़रूर नापसंद है। यारको ग़रूरसे नफ़रत है। सुनो और सोचो—

मिटा दे अपनी हस्तीको, अगर कुछ मरतबा चाहे ।
कि दाना ख़ाकमें मिलके गुले गुलज़ार बनता है ॥

एक भक्त कहता है—ऐ मेरे सनम ! जबसे मैंने तुमसे प्रेम किया, तबसे मैं एक अजीब तरहका मरीज़ हो गया हूँ। यानी—

मुहब्बतके जो क़ैदी हैं, नहीं कुछ काम कर सकते ।
तड़पते हैं, सिसकते हैं, न जीते हैं न मरते हैं ॥

एक भक्त कहता है—मेरे माशूक़ ! तुम्हारी मुहब्बतसे मेरा दिल पाक और साफ़ हो गया है—

रोते-ही-रोते इश्क़में हम पाक हो गये ।
धोये गये हैं इतने कि अब साफ़ हो गये ॥

एक भक्त कहता है—ऐ मेरे दिलबर ! मैंने सपनेमें आपको देखा था। तबसे हर जगह आप-ही-आप नज़र आ रहे हैं—

ख़्वाबमें जिस वक़्से तस्वीर पायी आपकी ।
ज़र्रे-ज़र्रेमें मुनव्वर तेरा चेहरा हो गया ॥

एक भक्त कहता है—ऐ मेरे दोस्त ! ये जो हिंदू-मुसलमान अपने-अपने मजहबको लेकर एक-दूसरेसे लड़ रहे हैं, सो उन्हें अगर तुम्हारा इश्क़ होता तो वे ऐसा न करते। ये लोग इश्क़ हक़ीक़ीसे कोसों दूर हैं। क्योंकि—

हर सिम्त तेरा जल्वा या रब ! नज़र आता है ।
बुतख़ानेकी सूरतमें क़ाबा नज़र आता है ॥

यानी बुत अर्थात् साकारमें—प्रत्येक साकारमें—क़ाबा अर्थात् निराकार उपस्थित है। जब प्रत्येक जानदारमें मेरा महबूब रहता है, तब किसीसे दोस्ती और किसीसे दुश्मनीके क्या मानी ?

एक भक्त कहता है—ऐ मेरे महबूब ! अगर तुम मायाका पर्दा हटा दो तो संसार ही नष्ट हो जाय ! तुम्हारे बाहिर होते ही महाप्रलय हो जायगी। शमारूपी शक्ति और परवानेरूप जीव तभीतक हैं कि जबतक तुम पर्दा डाले हो। यानी—

तुम अदासे गर उठा दो अपने चहरेसे नक़ाब ।
शमआ महफ़िलमें रहे बाक़ी, न परवाना रहे ॥

एक भक्त कहता है—ऐ मेरे प्यारे ! जो लोग तुमको निराकार कहते हैं और तुम्हारे साकारका खण्डन करते हैं, वे पक्के बेवक़ूफ़ हैं। क्योंकि—

तस्वीरे सनम दिलमें हमने जो तसव्वर की ।
क़ाबेमें भी छोटा-सा बुतख़ाना बना डाला ॥

एक भक्त कहता है—ऐ मेरे हमदम ! मैंने तुम्हारे लिये किसीकी भी परवाह नहीं की। मगर फिर भी तुम मुझसे बोलते नहीं हो—

ज़मानेसे बिगाड़ी है तुझे अपना बनानेको ।
मगर ज़ालिम तुझे बिलकुल तरस मुझपै न आता है ॥

एक भक्त कहता है—वह कौन-सी जगह है, जहाँपर मेरा प्राणप्यारा, आँखोंका तारा मौजूद नहीं है ! तुम लोगोंको रातमें रतौंधी आती है और दिनमें दिनौंधी आती है। तुम्हें दिखायी ही नहीं देता। आँख रहते अंधे हो। सुनिये ज़रा—

कौन-सी जा है, जहाँ जलवए माशूक़ नहीं ।
शौक़ दीदारका गर है तो नज़र पैदा कर ॥

एक भक्त कहता है—ओ निराकारवादियो ! जबतक तुम किसी साकारको इष्ट बनाकर परमात्माका ध्यान नहीं करोगे, तबतक तुम भ्रष्ट रहोगे। ज़रा सोचिये तो—

क़ाबा आना अगर, बुतख़ाना होकर आना ।
दूर इस राहसे अल्लाहका घर कुछ भी नहीं ॥

एक भक्त कहता है—मेरे प्राणनाथ ! देखो तो ज़रा कि तुम्हारे लिये मैंने सर्वस्व स्वाहा कर दिया। मुझे कुछ चाहिये नहीं। सिर्फ़ इतनी आरज़ू है कि मुझे एक बार अपनी छातीसे लगा लेते तो जलन मिट जाती। हाय—

दिल लिया, चैन लिया, सब्रो राहत न बची ।
और फिर वस्लसे इन्कार किये जाते हो ?

एक भक्त कहता है—मेरे प्यारे ! तुमने जो यह जगत् बनाया तो प्रत्येक जानदारके बदनमें मौतको क्यों बिठला दिया ? जो पैदा होता है—मौतको लेकर ! मामला क्या है ?

इलाही ! ख़ैर हो, यह क्या तमाशा होनेवाला है ?
जिसे देखो, क़फ़न बाँधे हुए घरसे निकलता है ॥

एक भक्त कहता है—ऐ मेरे माशूक़ ! तुम जिसपर आशिक़ हो जाते हो, उसके लिये बेचैन हो जाते हो; मगर मैं तुमपर जो आशिक़ हो गया हूँ, उसकी तुम्हें कोई परवाह ही नहीं है ! क्योंकि—

जो अपनी लगी तो लगी दिल्लगी है ।
परायी लगी दिल्लगी सूझती है ॥

एक भक्त कहता है—मेरे माशूक़को चाहनेवालो ! ज़रा होश-हवासमें रहना। चेताये देता हूँ—

सँभल कर बैठना, अकवा मुहब्बत देखनेवालो !
तमाशा ख़ुद न बन जाना तमाशा देखनेवालो !!

एक भक्त कहता है—ऐ मेरे दोस्त ! हैं आप पूरे विचित्र ! संसारी माशूक लोग जो किसीका दिल हरते हैं तो लुभाकर ! मगर तुम ऐसे माशूक हो कि दिल जला-जलाकर दिलको छीनते हो । यानी—

किसीने दिल लिया तो भी लुभा-लुभाके लिया ।
मगर हुज़ूरने ख़ंजर चला-चला के लिया ॥

एक भक्त कहता है—ऐ माशूक ! तुम्हारे आशिक लोग जब तुम्हारी शिकायत करते हैं, तब क्या होता है ! ग़ौर कीजिये—

कलेजा थामकर जब दिलजले फ़रियाद करते हैं ।
तो सुननेवालेके दिलसे सुराख़ शोले निकलते हैं ॥

एक भक्त कहता है कि जीवरूपी आशिक और परमात्मारूपी माशूक कुछ भी नहीं कर सकते कि जबतक दोनोंके दरम्यान गुरुरूपी दूती न हो । मुलाहिजा कीजिये—

लाचार है आशिक भी, औ मज़बूर है माशूक ।
दोनोंकी जान रक्खी है क़ासिदके हाथमें ॥

एक भक्त कहता है—ऐ मेरी जान ! आपके कारण मेरा क्या हाल हुआ है, सो जरा सुनिये तो—

अगह बाक़ी न दुनियामें क़दम रखनेको भी हरगिज़ ।
तुम्हारे इश्क़ने मुझको बहुत बदनाम कर डाला ॥

एक भक्त कहता है—ओ अमीरो ! ईश्वरके भक्तोंपर कृपा रक्खा करो । आप लोगोंसे प्रार्थना है कि—

ख़ुदाके दोस्तोंपर चाहिये नज़रे इनायत ही ।
फटे कंबल सिवा सामाँ नहीं कुछ और बाक़ी है ॥

एक भक्त कहता है—ऐ मेरे मित्र ! संसारके लोग मुझे तरह-तरहके इष्टदेवोंका प्रलोभन देते हैं । मगर मैं साफ़ तौरपर सबसे यही कह देता हूँ कि—

औरपर क्यों जान दें, क्यों औरपर क़ुरबान हों ।
जिसपै आशिक़ हो गये, हम उसपै आशिक़ हो गये ॥

एक भक्त कहता है—ऐ मेरे मित्र परमात्मा ! जबतक मैं इश्क़ मजाज़ीमें पड़ा रहा, तबतक नरक भोगता रहा और जबसे मैंने इश्क़ हक़ीक़ीमें क़दम रक्खा, तबसे स्वर्गमें रहता हूँ—

दिलहीकी बदौलत रंजिश है, दिलहीकी बदौलत राहत है ।
यह दुनिया जिसको कहते हैं, दोज़ख़ भी है और जन्नत भी ॥

एक भक्त कहता है—ऐ मेरे दोस्त ईश्वर ! इस इश्क़ मजाज़ीको बारंबार धिक्कार देता हुआ मैं तो यही कहता हूँ कि—

मजाज़ी इश्क़के बदले हक़ीक़ी इश्क़ हो जाता ।
न रहती नाव चक्करमें, तो बेड़ा पार हो जाता ॥

एक भक्त कहता है—ऐ मेरे पाक परवरदिगार ! मेरी भक्ति इस प्रकारकी है कि—

झुका दो सर उसीको, सामने आ जाय जो कोई ।
कि जब सिजदा ही करना है, तो अच्छा सबमें रहता है ॥

एक भक्त कहता है—ऐ मेरे प्रियतम ! लोग कहते हैं कि मेरा इश्क़ मिट जायगा, मेरी भक्ति कुछ ही दिनोंमें नष्ट हो जायगी । सुनिये तो—

लोग कहते हैं कि रफ़्ता-रफ़्ता मिट जायेगा ग़म ।
दिल यह कहता है कि बुझनेकी यह चिनगारी नहीं ॥

एक भक्त कहता है—ऐ मेरे यार ! यह तुम्हारी ही करतूत है कि जो मेरा दिल संसारसे फिर गया—

तुम्हारे सामने रख दूँ दिले नाशादके टुकड़े ।
इन्हीं टुकड़ोंमें हों शायद तुम्हारे तीरके टुकड़े ॥

एक भक्त कहता है—ऐ मेरे दिलदार ! आपका छिपाव भी बड़ा विचित्र है—

ख़ूब परदा है कि परदेसे लगे बैठे हो ।
साफ़ छिपते भी नहीं, सामने आते भी नहीं ॥

एक भक्त कहता है—ऐ मेरे मालिक ! जबसे तुमसे मेरी मुहब्बत हुई है, तबसे मेरा अजीब हाल है—मेरी हस्ती मिट गयी है—

ज़ाहिरमें गो कि बैठा लोगोंके दरमियाँ हूँ ।
पर यह ख़बर नहीं है—मैं कौन हूँ, कहाँ हूँ ॥

इस प्रकार सखाभावके माननेवाले इस्लामी भक्तोंने खूब ही गाया है । पाठक देख सकते हैं कि सखाभावके विचार कितने लजीज और अजीज होते हैं । ये लोग अपनेको आशिक़ और ख़ुदाको माशूक़ कहते हैं । गुरुको क़ासिद और साकारको बुत कहते हैं । क़ाबेसे उनकी मुराद निराकारसे होती है । इस्लामी भक्तोंकी शायरीको लोग इश्क़ मजाजीमें भी खींच ले जाते हैं, मगर है वह इश्क़ हक़ीक़ीकी ही चीज ! उर्दू-साहित्यमें इश्क़ हक़ीक़ीकी कविताएँ बहुत हैं । मगर उसको न समझनेवाले उसे इश्क़ मजाजीकी चीज समझते हैं । इस्लामका कथन है कि अगर परमात्माको प्रेमसे पकड़ना है तो सखाभाव आवश्यक है । क्योंकि मातृभावना, पितृभावना और गुरुभावना संकोचको लिये हुए होती है; परन्तु सखाभावमें संकोच नहीं होता और जो कुछ कहना होता है, साफ़-साफ़ कह दिया जाता है । पाठक देखेंगे कि इस लेखमें जो-जो विचार इस्लामी भक्तोंने प्रकट किये हैं, वे अन्य प्रकारकी उपासनाओंमें व्यक्त नहीं किये जा सकते । एक भक्त कहता है कि प्रेम बुरी चीज जरूर है, मगर उसे परमात्मा भी पसंद करता है—

मुहब्बत साँप है, ज़हर है, बला है ।
मगर-मुहब्बतमें ख़ुदा ख़ुद मुब्तिला है ॥

भगवान् शङ्कर भी यही कहते हैं कि परमात्माको प्रेम ही सबसे ज्यादा पसंद है—

हरि व्यापक सर्बत्र समाना । प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना ॥
—रामचरितमानस

भगवान्‌की एक भक्तपर प्रत्यक्ष कृपा ।

किसी देशी राज्यके दीवानका निम्नलिखित पत्र मिला है । उसे पाठकोंके लाभार्थ प्रकाशित किया जाता है—

'श्रीयुत ········ रिटायर्ड तहसीलदार और उनकी धर्मपत्नी प्रारम्भसे ही भगवान्‌पर अटल विश्वास तथा श्रद्धा रखते हैं । वास्तवमें उनका सम्पूर्ण जीवन भगवद्भक्तिमें ही व्यतीत हुआ है । गत मार्चमें उनके ज्येष्ठ पुत्र एफ्. ए. (Intermediate) की परीक्षामें सम्मिलित हुए थे । उसमें वे उत्तीर्ण भी हो गये । परीक्षाके प्रारम्भकालमें तहसीलदार साहब और उनकी पत्नी घरपर उपस्थित न थे । किन्तु जिस समय वे लौटकर आये, उन्हें ज्ञात हुआ कि उनके पुत्रकी स्मरणशक्ति अधिक परिश्रमके कारण मन्द हो गयी है । उन्होंने दो पर्चे भी खराब कर दिये हैं । यह जानकर दम्पतिको विशेष दुःख हुआ । उन्होंने पुत्रकी सफलताके निमित्त भक्तवत्सल भगवान्‌से प्रार्थना की । परिणामस्वरूप इसके अनन्तर जबतक पुत्रकी परीक्षा होती रही, तहसीलदार साहबको प्रतिदिन परीक्षासे तीन घंटे पहले ही ध्यानावस्थामें मालूम होता कि उनके कानोंमें कोई पर्चा प्रश्नवार बतला रहा है, जिसको वे अपने पुत्रको बतला दिया करते थे और वे उसको परीक्षासे पहले याद कर लिया करते थे । इस प्रकार सभी पर्चे समाप्त हो गये । पुत्रको पिताके बताये तथा परीक्षकके प्रश्नोंमें कभी कोई अन्तर न मिला ।

'*यह घटना अक्षरशः सत्य है । अभीतक यह गुप्त रक्खी गयी थी, किन्तु अब एक संतकी प्रेरणासे आपके पास परोपकारार्थ कल्याणमें प्रकाशित करनेके लिये भेजी जाती है । इस घटनासे बड़े-बड़े सुशिक्षित तथा सुयोग्य व्यक्ति भी परिचित हैं ।*'

भगवान्से—

(रचयिता—श्रीसत्यभूषणजी 'योगी')

उरकी धड़कन-धड़कनमें मैं सुनता, प्रिय, संगीत तुम्हारा !

१

आगे, दाएँ, बाएँ, पीछे, मेरे तन-मनके स्पन्दनमें
गाते हो तुम, प्राण-तरङ्गें उठती हैं मेरे कण-कणमें
तुम कितना भी धीमे गाओ, सुनता हूँ विस्पष्ट उसे मैं
क्यों न सुनूँ ? जब तुम मुझमें हो, प्रियतम, और रमा तुममें मैं !
एक हमारी तन्त्री, प्यारे, एक राग-अनुराग हमारा !
उरकी धड़कन-धड़कनमें मैं सुनता, प्रिय, संगीत तुम्हारा !

२

हे मेरे अभिराम राम ! तुम मेरे पास नहीं आते हो !
गाते तुम, मैं आता, चुपकेसे, हे छलिया, छिप जाते हो !
हे रसिया, हे मोहन, इतना क्यों तुम मुझसे शरमाते हो ?
प्रिय ! तुम अपने भोलेपनसे ही मुझको यों तड़पाते हो !
ओ प्रकाश, छाया है मेरे चारों ओर घना अँधियारा !
उरकी धड़कन-धड़कनमें मैं सुनता, प्रिय, संगीत तुम्हारा !

३

याद रखो, तुम याद रखोगे, ऐसा तुमसे बदला लूँगा !
कभी पकड़में आये तो मैं सब हिसाब पूरा कर लूँगा !
जकड़ूँगा भुज-पाश कठिनमें, प्राण, न फिर भगने पाओगे ।
छलिया, भूल सभी चालाकी अपनी पलभरमें जाओगे !
तभी छुटोगे, जब कि कहोगे मुसका, तुम जीते, मैं हारा !
उरकी धड़कन-धड़कनमें मैं सुनता, प्रिय, संगीत तुम्हारा !

४

तुम्हें पकड़नेका कोई, प्रिय, साधन मेरे पास नहीं है !
इसीलिये है यह मनमानी, सच कहना, यह बात नहीं है ?
यही सही, मैं क्यों घबराऊँ ? दो दिनकी ही बात रही है ।
आज पवनने चुपकेसे आ श्रोत्र निकट यह बात कही है—
बाँध तुम्हें सकती है मेरी गरम-गरम आँसूकी धारा !
उरकी धड़कन-धड़कनमें मैं सुनता, प्रिय, संगीत तुम्हारा !

५

लेकिन मेरे उरमें जलती रहती हैं भीषण ज्वालाएँ ।
बन जाती हैं बाष्प दृगोंतक आती आँसूकी धाराएँ ।
गरम-गरम वे बाष्प कपोलोंको आ कर देते हैं रक्तिम;
और समझते हो तुम, मैं मुसकाता हूँ, हे मेरे प्रियतम !
कहूँ तुम्हें क्या, भोले ? मैं ही हूँ दुखिया किस्मतका मारा !
उरकी धड़कन-धड़कनमें मैं सुनता, प्रिय, संगीत तुम्हारा !

६

अपनी पहली तड़पनमें थे मैंने कितने अश्रु बहाये !
किन्तु तुम्हारे कवि-नयनोंमें झिलमिल मोती मंजु कहाये !
अब जलते हैं गाल, समझते हो तुम प्रिय, मैं मुसकाता हूँ !
प्रियतम, बातें ठीक-ठीक मैं दिलकी बता नहीं पाता हूँ !
क्या मुखसे कहना होगा मैंने तुमपर अपनेको वारा !
उरकी धड़कन-धड़कनमें मैं सुनता, प्रिय, संगीत तुम्हारा !

७

पर कुछ भी हो, निश्चय मुझे कभी-न-कभी तुम, प्राण, मिलोगे!
मेरे सपनोंकी दुनियाके एकमात्र अरमान, मिलोगे !
मेरी कविता, मेरे कवि, हे मेरे दिलके गान, मिलोगे !
मेरे मन्दिर, मेरी प्रतिमा, हे मेरे भगवान, मिलोगे !
नहीं व्यर्थ जा सकता प्रेमीका यह जप, तप, साधन सारा !
उरकी धड़कन-धड़कनमें मैं सुनता, प्रिय, संगीत तुम्हारा !

धारण करने योग्य ५१ बातें

१–रोज प्रातःकाल सूर्योदयसे पहले उठो। उठते ही उषापान करो। ठंढे जलसे आँखें धोओ।

२–पेशाब-पाखानेकी हाजतको कभी न रोको। पेटमें मल जमा न होने दो।

३–रोज दतुअन करो; भोजन करके हाथ, मुँह, दाँत अवश्य धोओ।

४–प्रतिदिन प्रातःकाल स्नान करके सूर्यको अर्घ्य दो।

५–दोनों समय (प्रातः और सन्ध्या) नियमपूर्वक श्रद्धाके साथ भगवत्प्रार्थना या सन्ध्या करो।

६–हो सके तो प्रातःकाल शुद्ध वायुका सेवन अवश्य करो।

७–भूखसे अधिक न खाओ, जीभके स्वादके वशमें न होओ; पवित्रतासे बना हुआ–पवित्र कमाईका अन्न खाओ; किसीका भी जूठा कभी न खाओ, न किसीको अपना जूठा खिलाओ; मांस-मद्यका सेवन कभी न करो।

८–भोजनके समय जल न पीओ, या बहुत थोड़ा पीओ।

९–पान, तम्बाकू, सिगरेट, बीड़ी, चाय, काफी, भाँग, अफीम, गाँजा, चरस, ताश, चौपड़, शतरंज आदिका व्यसन न डालो; दवा अधिक सेवन न करो। पथ्य, परहेज, संयम, युक्ताहार-विहारका अधिक ध्यान रक्खो।

१०–दिनमें न सोओ, रातमें अधिक न जागो। छः घंटेसे अधिक न सोओ।

११–नियमितरूपसे धर्मग्रन्थोंका कुछ स्वाध्याय अवश्य करो।

१२–रोज नियमितरूपसे कम-से-कम २५००० भगवान्‌के नामोंका जप अवश्य करो।

१३–संतोंके चरित्र और उनकी दिव्य वाणीका अध्ययन करो।

१४–जूआ कभी न खेलो, बाजी न लगाओ, होड़ न बदो।

१५–सिनेमा, स्त्रियोंका नाच आदि न देखो।

१६–कपड़े सादे पहनो और साफ रक्खो, मैले न होने दो; परन्तु फैशनका खयाल बिलकुल न रक्खो। कपड़े बिगाड़कर भी न पहनो, बहुत कीमती कपड़े न पहनो।

१७–हजामत और नख न बढ़ने दो। परन्तु शौकसे दिनमें दो बार बनाओ भी नहीं।

१८–अपने शरीरको सुन्दर दिखलानेका प्रयत्न न करो।

१९–किसी भी हालतमें यथासाध्य उधार न लो, उधार लेकर खर्च करनेसे आदत बिगड़ जाती है; जबतक उधार मिलता है, खर्च बढ़ता ही जाता है; पीछे बड़ी कठिनाई और बेइज्जती होती है।

२०–तकलीफ सहकर भी आमदनीसे कम खर्च करो, अधिक खर्च करनेवालों या अमीरोंको आदर्श न मानकर मितव्ययी पुरुषों और गरीबोंकी ओर ध्यान दो। मितव्ययी पुरुष आमदनीमेंसे कुछ बचाकर अपनी ताकतके अनुसार दुःखियोंकी सेवा कर सकता है, चाहे एक पैसेसे ही हो; खरी कमाईसे बचे हुए एक पैसेके द्वारा भी की हुई दीनसेवा बहुत महत्त्वकी होती है। मितव्ययी पुरुषके बचाये हुए पैसे उसके गाढ़े वक्तपर काम आते हैं। जो अधिक खर्च करता है, उसकी

आदत इतनी बिगड़ जाती है कि वह बहुत अधिक आमदनी होनेपर भी एक पैसा बचाकर दीनोंकी सेवा नहीं कर सकता। वह अपने खर्चसे ही परेशान रहता है और आमदनी न होने या कम होनेकी सूरतमें उसपर कष्टोंके पहाड़ टूट पड़ते हैं। मितव्ययी और अच्छी आदतवाले पुरुष ऐसी अवस्थामें दुखी नहीं हुआ करते।

२१—नौकरोंसे दुर्व्यवहार न करो, दुःखमें उनकी सेवा-सहायता करो। उनका तिरस्कार-अपमान न करो। उनकी आवश्यकताओंका खयाल रक्खो और अपनी परिस्थितिके अनुसार उन्हें पूरा करनेकी चेष्टा करो।

२२—अपरिचित मनुष्यसे दवा न लो, जादू-टोना किसीसे भी न करवाओ।

२३—नोट दूना बनानेवाले, आँकड़ा बतानेवाले, सोना बनानेवाले, सट्टा बतलानेवाले लोगोंसे सावधान रहो; ऐसा करनेवाले लोग प्रायः ठग होते हैं।

२४—किसी अनजानको पेटकी बात न कहो; जाने हुए भी सबसे न कहो। परन्तु अपने सच्चे हितैषी बन्धुसे छिपाओ भी नहीं।

२५—जहाँ भी रहो, किसी वयोवृद्ध अनुभवी पुरुषको अपना हितैषी जरूर बना लो। विपत्तिके समय उसकी सलाह बहुत काम देगी।

२६—प्रेम सबसे रक्खो, परन्तु बहुत ज्यादा सम्बन्ध स्थापित न करो। अनावश्यक दावतोंमें न जाओ, और न दावत देनेकी ही आदत डालो।

२७—जो कुछ काम करो, अच्छी तरहसे करो। बिगाड़कर जल्दी करनेकी अपेक्षा सुधारकर थोड़ा करना भी अच्छा है। परन्तु आलस्य-प्रमादको समीप न आने दो।

२८—जोशमें आकर कोई काम न करो।

२९—किसीसे विवाद या तर्क न करो, शास्त्रार्थ न करो। अपनेको सदा विद्यार्थी ही समझो। समझदारीका अभिमान न करो। सीखनेकी धुन रक्खो।

३०—मीठा बोलो, ताना न मारो, कड़वी जबान न कहो; बीचमें न बोलो, बिना पूछे सलाह न दो; सच बोलो, अधिक न बोलो, बिल्कुल मौन भी न रहो; हँसी-मजाक न करो; निन्दा-चुगली न करो, न सुनो, गाली न दो, शाप-वरदान न दो।

३१—नम्र और विनयशील रहो, झूठी चापलूसी न करो; ऐंठो नहीं; मान दो, पर मान न चाहो।

३२—दूसरेके द्वारा अच्छा बर्ताव होनेपर ही मैं उसके साथ अच्छा करूँगा, ऐसी कल्पना न करो। अपनी ओरसे पहलेसे ही सबसे अच्छा बर्ताव करो, जो अपनी बुराई करे उसके साथ भी।

३३—गरीबोंके साथ सहानुभूति रक्खो।

३४—किसी फार्ममें, संस्थामें या किसी व्यक्तिके लिये काम करो—नौकरी करो तो पूरी वफादारीसे करो। सदा तन-मन-वचनसे उसका हित-चिन्तन ही करते रहो।

३५—जहाँ रहो अपनी ईमानदारी, वफादारी, होशियारी, कार्यकुशलता, मीठे वचन, परिश्रम और सचाईसे अपनी जरूरत पैदा कर दो। अपना स्थान स्वयं बना लो।

३६—प्रत्यक्ष लाभ दीखनेपर भी अनुचित लोभ न करो। अपनी ईमानदारीको हर हालतमें बचाये रक्खो। दूसरेका हक किसी तरह भी स्वीकार न करो। ईमान न बिगाड़ो।

३७—आचरणोंको—चरित्रको सदा पवित्र बनाये रखनेकी कोशिश करो।

३८—विना ही कारण मान-बड़ाईके लिये न तरसो। गरीबीसे न डरो, बेईमानी और बुरी आदतोंसे अवश्य भय करो।

३९—परायी स्त्रीको जलती हुई आग या सिंहसे भी अधिक भयानक समझो। स्त्री-सम्बन्धी चर्चा न करो, स्त्री-चिन्तन न करो, स्त्रियोंके चित्र न देखो, स्त्रियोंके सम्बन्धकी पुस्तकें न पढ़ो। यथासाध्य स्त्री-सहवास अपनी स्त्रीसे भी कम करो।

४०—सदा अशुभ भावनाओंसे अपनेको न घिरा रहने दो। उनसे न डरो।

४१—विपत्तिमें धीरज और सत्य न छोड़ो, दूसरेपर दोष न दो।

४२—जहाँतक हो क्रोध न आने दो। क्रोध आ जाय तो उसका कुछ प्रायश्चित्त करो।

४३—दूसरोंके दोष न देखो, अपने देखो। किसीको छोटा न समझो। अपना दोष स्वीकार करनेको सदा तैयार रहो।

४४—अपने दोषोंकी एक डायरी रक्खो; रातको उसे रोज देखो और कल ये दोष नहीं होंगे, ऐसा दृढ़ निश्चय करो।

४५—वासना-कामनाओंको जीतनेकी चेष्टा करो। कामनापूर्तिकी अपेक्षा कामनाओंको जीतनेमें ही सुख है।

४६—अहिंसा, सत्य और दयाको विशेष बढ़ाओ।

४७—जीवनका प्रधान लक्ष्य एक ही है, यह दृढ़ निश्चय कर लो। वह लक्ष्य है 'भगवान्‌की उपलब्धि।'

४८—विषयचिन्तन, अशुभचिन्तनका त्याग करके यथासाध्य भगवच्चिन्तनका अभ्यास करो।

४९—भगवान् जो कुछ दें, उसीको आनन्दके साथ ग्रहण करनेका अभ्यास करो।

५०—इज्जत, मान और नामका मोह न करो।

५१—भगवान्‌की कृपामें विश्वास करो।

श्रीमानस-शङ्का-समाधान

(लेखक—श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी)

शङ्का—लक्ष्मण-मेघनाद-युद्धके प्रसङ्गमें यह दोहा आया है—

मेघनाद सम कोटि सत जोधा रहे उठाइ।
जगदाधार सेष किमि उठै चले खिसिआइ॥

इसका अर्थ यह है कि 'श्रीलक्ष्मणजीके मूर्च्छित शरीरको मेघनादके समान सौ करोड़ योद्धा उठा रहे थे। परन्तु जगत्‌के आधार शेषजी (लक्ष्मणजी) उनसे कैसे उठ सकते थे? इसलिये वे सब योद्धा लजाकर चले गये।'

यहाँ यह शङ्का होती है कि केवल मेघनाद ही एक बहुत बड़ा वीर और विशालकाय योद्धा था, फिर उसके समान सौ करोड़ योद्धा किस प्रकार एक साथ श्रीलक्ष्मणजीके शरीरको उठानेमें लग गये? यदि यह कहा जाय कि उन्होंने पृथक्-पृथक् उठाया तो उतने समयतक श्रीरामदलके लोग श्रीलक्ष्मणजीकी ओरसे बेखबर रहे? क्या मेघनादके समान सौ करोड़ योद्धा लङ्कामें थे? जिस मेघनादकी समतामें श्रीलक्ष्मणजीके सिवा किसी औरको नहीं ठहराया गया, जिस मेघनादसे इन्द्रादि देवगण भी पराजय पा चुके थे, जो मेघनाद लङ्कामें एक ही वीर गिना जाता था, उसके समान सौ करोड़ योद्धा और कहाँसे आ गये और उन्होंने किस प्रकार श्रीलक्ष्मणजीके शरीरमें हाथ लगाया?

समाधान—प्रश्न ठीक है। बालकाण्डके रावण-दिग्विजय-प्रकरणमें भी ये चौपाइयाँ आती हैं—

अतिबल कुंभकरन अस भ्राता । जेहि कहुँ नहिं प्रतिभट जग जाता॥

× × × ×

बारिदनाद जेठ सुत तासू । भट महुँ प्रथम लीक जग जासू ॥

इसलिये यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि मेघनादके समान सौ करोड़ योद्धा कहाँसे आ गये और उन्होंने किस प्रकार श्रीलक्ष्मणजीके शरीरको उठानेकी चेष्टा की । परन्तु ऐसी शङ्काएँ तभीतक उत्पन्न होती हैं जबतक हम केवल अपनी मानवीय बुद्धिसे तात्पर्य निकालनेकी चेष्टा करते हैं; फलतः जहाँ अपनी बुद्धि काम नहीं करती, वहाँ हम अतिशयोक्ति मान लेते हैं । श्रीमानसजीके यथार्थ अर्थका बोध तो तभी होता है, जब श्रद्धा-विश्वास-पूर्वक उनकी शरण ग्रहण कर ली जाती है । तब तो श्रीमानसजीकी कृपासे विनयपत्रिकाकी 'असुझ सुझाव सो' और मानसकी 'सो जानइ जेहि देहु जनाई' ये पङ्क्तियाँ स्वभावतः चरितार्थ हो जाती हैं । अस्तु,

इस शङ्काके समाधानमें मुझ 'दीन'की ओरसे जो कुछ निवेदन किया जायगा, उसका आधार श्रीमानसजीकी कृपा ही है । मेरी समझसे रावण-दिग्विजय-प्रकरणकी उपर्युक्त चौपाइयोंके नीचेकी चौपाई और दोहेपर ध्यान देनेसे सब बातें स्पष्ट हो जाती हैं । उनको पढ़नेपर यह विदित हो जाता है कि संसारके और किसी भागमें कुम्भकर्ण और मेघनादके समान कोई वीर नहीं था, परन्तु लङ्कामें उनके-जैसे अगणित वीर थे । यथा—

जेहि न होइ रन सनमुख कोई । सुरपुर नितहिं परावन होई॥
दुमुख अकंपन कुलिसरद धूमकेतु अतिकाय ।
एक एक जग जीति सक ऐसे सुभट निकाय ॥

तात्पर्य यह है कि रणमें मेघनादका सामना कोई भी नहीं कर सकता था, स्वर्गमें तो उसके भयसे नित्य भगदड़ मची रहती थी; लेकिन भीमकाय कुम्भकर्ण और महाबली मेघनादके अतिरिक्त भी दुर्मुख, अकम्पन, वज्रदन्त, धूमकेतु, अतिकाय आदि ऐसे अनेक योद्धा थे, जो अकेले ही सारे जगत्‌को जीत सकते थे । अतः दोहेका 'ऐसे सुभट निकाय' पद 'मेघनाद सम कोटि सत जोधा' इस उक्तिकी सत्यता सिद्ध कर देता है । अब उसकी पुष्टिके लिये कुछ और खोज कीजिये । लङ्काकाण्डका निम्नलिखित छन्दार्द्ध और उसके बादका दोहा (दोहा १०१) देखिये—

श्रीराम रावन समर चरित अनेक कल्प जो गावहीं ।
सत सेष सारद निगम कबि तेउ तदपि पार न पावहीं ॥
ताके गुनगन कछु कहे जड़मति तुलसीदास ।
जिमि निज बल अनुरूप ते माछी उड़इ अकास ॥

श्रीराम-रावण-युद्ध केवल ३२ दिनतक हुआ था । लेकिन हजार मुखवाले सैकड़ों शेषनाग, अमित वाग्विशारदा सरस्वती, अनुपम-शक्तिसम्पन्न अपौरुषेय वेद और शुकादि मनीषिगण यदि उस श्रीराम-रावण-युद्धका कथन बत्तीस वर्ष नहीं, बत्तीस युग नहीं, अनेक कल्पोंतक अहर्निश करते रहें तब भी पार नहीं पा सकते—यह क्यों ? इसलिये कि असीमकी सीमा, अथाहकी थाह और अमितकी मिति नहीं हो सकती । उदाहरणार्थ श्रीरामदल और रावणदलकी संख्या तथा बलविषयक उक्तियोंको देखिये—

श्रीरामदलकी संख्या—*'सो मूरुख जो चिय चह लेखा ।'*

रावणदलकी संख्या—*'गनै को पार निसाचर जाती ।'*

श्रीरामदलका बल— *'अस कपि एक न सेना माहीं ।*
जो न तुम्हहि जीतै रन माहीं ॥'

रावणदलका बल—

'एक एक जग जीति सक ऐसे सुभट निकाय ।'

इन उक्तियोंसे स्पष्ट हो जाता है कि श्रीरामदल

तथा रावणदलकी संख्या और बलका वर्णन नहीं किया जा सकता। न तो संख्याकी कोई गणना है और न एक-एक वीरके बलकी कोई इति है। सब अकथनीय है। इसीलिये ग्रन्थकार श्रीतुलसीदासजीने दोहेमें 'कछु' शब्द देकर यह व्यक्त किया है कि उस समर-चरित्रकी केवल दो बातें ही कही जा सकी हैं, अर्थात् श्रीरामदलमेंसे केवल दो वीर—अङ्गद और हनुमान्, तथा रावणदलमेंसे भी केवल दो वीर—कुम्भकर्ण और मेघनाद—ले लिये गये और प्रधानतया उन्हींके समर-चरित्रका वर्णन करनेकी इच्छा हुई। लेकिन जब देखा गया कि उनके भी पूर्ण पुरुषार्थका वर्णन नहीं हो सकता तब उनके एक-एक अङ्गविशेषका चरित्र ले लिया गया; अर्थात् श्रीअङ्गदजीके केवल पद (लात) का बल, श्रीहनुमान्जीके हाथकी मुट्ठी (मुष्टिक) का बल और इसी प्रकार कुम्भकर्णका एकमात्र शारीरिक बल तथा मेघनादका केवल मायिक बल वर्णन किया गया और उसीका बड़ा विस्तार हो गया। अब क्रमशः इन सबके प्रमाण देख लिये जायँ। पहले अङ्गदजीके पदबलका प्रमाण—

'सभा माझ पन करि पद रोपा।'
'जौं मम चरन सकसि सठ टारी।'
'भूमि न छाँड़त कपि चरन।'
'अस कहि अंगद मारेउ लाता।'
'गहि भूमि पारेउ लात मारेउ बालिसुत प्रभु पहँ गयो।'

अब श्रीहनुमान्जीके मुष्टिकबलका प्रमाण लीजिये—

'मुष्टिक मारि चढ़ा तरु जाई।'
'मुठिका एक ताहि कपि हनी।'
'तब मारुतसुत मुठिका हनेऊ।'
'मुठिका एक ताहि कपि मारा।'

इस प्रकार श्रीहनुमान्जीके मुष्टिकबलके अनेकों प्रमाण हैं। अब कुम्भकर्णके एकमात्र शारीरिक बलका प्रमाण देखिये—

'कुंभकरन दुर्मद रन रंगा। चला दुर्ग तजि सेन न संगा॥'
'नाथ भूधराकार सरीरा। कुंभकरन आवत रनधीरा॥'
'मुरयो न मनु तनु टरयो न टारयो। जिमि गज अर्क फलनिको मारयो'
'कोटिन्ह गहि सरीर सन मर्दा। कोटिन्ह मीजि मिलाएसि गर्दा॥
'धरनि धसइ धर धाव प्रचंडा। तब प्रभु काटि कीन्ह दुइ खंडा॥

कुम्भकर्णका सिर कट गया था, परन्तु फिर भी उसका धड़ दौड़ रहा था और उससे पृथ्वी धसकती जाती थी। जब उस धड़को श्रीरामचन्द्रजीने काटकर दो खण्ड कर दिया तब उसकी मृत्यु हुई। इतना पराक्रमशाली था कुम्भकर्णका शरीर! अब मेघनादके मायाबलका प्रमाण शेष है—

'उठि बहोरि कीन्हिसि बहु माया। जीति न जाइ प्रभंजन जाया॥'
(सुंदरकांड)
'देखि प्रताप मूढ़ खिसिआना। करै लाग माया बिधि नाना॥'
(लंकाकांड)
'जासु प्रबल माया बस सिव बिरंचि बड़ छोट।
ताहि दिखावइ रजनिचर निज माया मति खोट॥
'कपि अकुलाने माया देखें। सब कर मरन बना एहि लेखें॥'
'एक बान काटी सब माया। जिमि दिनकर हर तिमिर निकाया॥'
'मेघनाद मायामय रथ चढ़ि गयउ अकास।
गर्जेउ अट्टहास करि भइ कपि कटकहि त्रास॥'
'अवघट घाट बाट गिरि कंदर। मायाबल कीन्हेसि सर पंजर॥

अस्तु, दोनों दलोंके असंख्य सेनानियोंमेंसे केवल दो-दो वीरोंके एक-एक अङ्गके बलका यत्किञ्चित् वर्णन करनेके कारण ही 'ताके गुनगन कछु कहे जड़मति तुलसीदास' कहा गया है। इतनेसे 'कछु' का भाव तो प्रकट हो गया, अब अपनेको 'जड़मति' क्यों कहा गया—इसपर विचार करना है। श्रीग्रन्थकारका भाव यह

है कि 'मैं स्वामी श्रीरामजीका सेवक हूँ। मुझे अपने स्वामीके ऐश्वर्य अथवा माधुर्यका वर्णन करना था तो उचित यह था कि अधिकाधिक उत्तमताके साथ साङ्गोपाङ्ग वर्णन करता। क्योंकि उच्च बुद्धिवाले सेवक अपने स्वामीके बल-वैभवको बढ़ा-चढ़ाकर ही कहते हैं। परन्तु मेरे-जैसे साधारण बुद्धिवालेने, बढ़ा-चढ़ाकर कहनेकी बात कौन कहे, अपने स्वामीके वास्तविक चरित्रका कोट्यंश भी नहीं कहा। इसलिये ऐसा अयोग्य कार्य करनेके नाते मैं अवश्य ही 'जड़मति' हूँ।

अतएव इन सब प्रसङ्गोंको ध्यानपूर्वक पढ़नेसे निःसन्देह यह सिद्ध हो जाता है कि लङ्कामें मेघनादके समान करोड़ों (अगणित) योद्धा थे। और इसीलिये 'मेघनाद सम कोटि सत जोधा रहे उठाइ' कहा गया है।

अब रही यह शङ्का कि केवल मेघनाद ही एक बड़े वीर और विशालकाय योद्धा थे, उनके-जैसे करोड़ों योद्धाओंने एक साथ कैसे श्रीलक्ष्मणजीके शरीरको उठानेकी चेष्टा की। इसका समाधान यह है कि श्रीलक्ष्मणजी साक्षात् श्रीशेषके अवतार थे। उनके दिव्य विग्रहको बढ़ने-घटने आदिकी सामर्थ्य थी। उन प्रभुने यदि अपना विस्तार बढ़ाकर एक साथ करोड़ों राक्षसोंके सामने ऐश्वर्य प्रकट किया और इस प्रकार उनका मान-मर्दन किया तो इसमें आश्चर्य करनेकी कोई बात नहीं है। लीला ही करनेके लिये प्रभु अवतरित हुए थे। और प्रभुके लिये कोई लीला असाध्य नहीं है। असाध्य है उनकी लीलाओंका पार पाना! इसलिये हमें प्रभुकी लीलामें किसी प्रकारका सन्देह नहीं करना चाहिये।

श्रीलक्ष्मणजीके शरीरको सब राक्षसोंने एक साथ ही उठानेकी चेष्टा की। पृथक्-पृथक् उठानेका प्रसङ्ग ही नहीं है। पृथक्-पृथक् उठानेका अर्थ करनेसे शरीरकी गुरुताका ऐश्वर्य प्रकट नहीं होता और तभी यह शङ्का पैदा होती है कि एक-एक करके उन सभी राक्षसोंके उठानेतक श्रीराम-दलके लोग श्रीलक्ष्मणजीकी ओरसे क्यों और कैसे बेखबर रहे! यह शङ्का सर्वथा निर्मूल है। श्रीरामजीको अपने दलकी खबर बराबर रहती थी। ज्यों ही दल लौटा है, त्यों ही 'लछिमन कहाँ बूझ करुनाकर' और 'तब लगि लै आये हनुमाना' आया है। इससे सिद्ध होता है कि श्रीरामदलके लोग क्षणभरके लिये भी श्रीलक्ष्मणजीकी ओरसे बेखबर नहीं थे।

सियावर रामचन्द्रकी जय!

चेतावनी

पापिन को सँग छाँड़ि जतन कर।
जिन के वचन बान सम लागत,
सहज मिलन दरसन परसन डर॥
सुख को लेस कहाँ परमारथ,
विषय लीन नित रहत अधम नर।
जुगलप्रिया जिनि बिमुख मिलै भव,
रहूँ नर्क में चहै कल्प भर॥

प्रियतमकी खोजमें

(लेखक—श्रीहरिश्चन्द्रजी अष्ठाना, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०)

वृन्दावनकी कुञ्जोंमें मैं भटकती फिरी········।

लताओंने धीरेसे पूछा—'कहाँ, कहाँ, ओ बावली ! कहाँ जा रही हो ?'

हवाने मेरा अञ्चल हिलाया, 'कहाँ चली जा रही हो, किसकी खोजमें ?'

पक्षियोंने पूछा, 'क्यों कहाँ भटक रही हो, किस दिलवरकी टोहमें ?'

गायोंने, बछड़ोंने उत्सुक नयनोंसे पूछा 'ओ राही, आज यह कौन-सी राह तुमने पकड़ी है ?'

सबके लिये मेरे पास एक ही उत्तर था, 'दोस्तो ! मैं 'उस' को खोज रही हूँ, जिसे मैं जानती नहीं ।'

'यह वन बड़ा बीहड़ है, इसके ओर-छोरका कहीं पता नहीं है । तुम्हारे साथ कोई साथी भी तो नहीं है ।'

'क्यों ? यह एकाकीपन ही हमारा साथी है ।'

'और सम्बल ।'

'सम्बल है आशा ।'

'रक्षक ?'

'रक्षक है मेरा विश्वास ।'

'तब जा, जा, चली जा, ओ बावली ! तुम्हारी यात्रा सफल हो, मङ्गलमय हो ।'

सखियोंकी शुभकामना लेकर मैं उन कलित कुञ्जोंमें, जहाँ-जहाँ मेरा हृदय ले जाता गया, चुपचाप चलती गयी ।

चलती रही, चलती ही रही । देरतक, बहुत देरतक । थककर एक सघन वल्लरीके नीचे बैठ गयी । वह वल्लरी एक वृक्षसे लिपटी पेंच खा रही थी । वृक्षके तनेमें एक कोटर था । कोई उसमेंसे झाँक रहा था । कितना प्यारा था उसका मुखड़ा, छोटा-सा, किञ्चित् खुला हुआ । जकी-ठगी मैं उसके समीप पहुँची । अरे यह ! यह तो मेरे प्यारेकी प्यारी है, प्राणनाथकी सहचरी है । बहुत प्यारसे, स्नेहसे, दुलारसे मैंने उसे कोटरसे बाहर निकाला और अपनी गोदमें छिपाकर थपथपाने लगी । मौन भंग करती हुई मैं बोल उठी—'अरी सखी ! तू यहाँ अकेले क्यों छिप बैठी है ?' वह हँस दी और मुसकुराती हुई बोली, 'क्या बताऊँ, यहाँ क्यों अकेली हूँ ! उस प्यारेके प्रेमियोंके मारे कहीं भी तो रह नहीं पाती ।' आह भरते हुए मैंने कहा—ना, ना, मेरे मुखसे निकल पड़ा, 'कितने निठुर हैं वे !'

परन्तु वह क्यों चुप रहती ? तुरत ही, एक क्षण भी बीत नहीं पाया था, वह बोली—'ना सखी, उसे 'निठुर' न कहो । यह तो उसका एक खिलवाड़ है—आँखमिचौनी है ।'

'कितना प्रगाढ़ है तुम्हारा प्यार !' मैंने सहज ही कहा ।

सिर हिलाते हुए उसने कहा, 'कैसे कहूँ । हाँ ! ! ! ! !'

और कितनी हठीली है 'उस' की प्रीति !

'सो कैसे कहूँ आली ? मेरा हृदय उसपर आसक्त है, उसके विना प्राण रह नहीं सकते । मैं कह नहीं सकती वे मेरे आलिङ्गनमें बँधे हुए हैं या मैं उनके आलिङ्गनमें बँधी हुई हूँ । हाँ आली, सच मानो ! परन्तु·······ओह ! कितना मधुर ! कितना सुन्दर ! उनके नेक-से स्पर्शमें मैं अपने-आपको खो बैठती हूँ । फिर पता नहीं क्या-क्या और कैसे-कैसे होता है ! तुम्हीं कहो न, मैं फिर कैसे बतलाऊँ कौन किसे प्यार

करता है !' ये रसमसी बातें हो ही रही थीं कि वह आनन्दातिरेकमें बेसुध हो गयी।

भीतर-ही-भीतर मैं अपने-आपसे कह रही थी—'कितने कठिन, कितने कठोर, कितने बेवफ़ा !' परन्तु इतना-सा मेरा कहना था कि यकायक वह चौंकी और चिल्ला उठी—'बस-बस ! ऐसी बातें न करो, जुबानपर ऐसी बात लाओ नहीं !' वे निर्दय, निठुर, बेवफा ? ना, ना, कहा सो कहा। अरी वे तो प्रेम-ही-प्रेम, प्रेम-ही-प्रेम, बस प्रेम-ही-प्रेम हैं।'

उसकी विरह-व्यथा मुझसे सही न गयी। मैंने उसके पागल प्यारके लिये बहुत कुछ सुनाया। वह चुप थी, मेरी बातोंका मन-ही-मन रस ले रही थी। कुछ क्षण विरमकर फिर बोली, 'परन्तु, एक बात सुनो। वह सदा मुझे अधरोंसे लगाये रहता है।'

'ऐं ! और फिर तुम्हें छोड़ भी देता है ?' मैं पूछ बैठी।

'हाँ बहिन ! 'वह' ऐसा ही करता है। जब मैं मानसे भर जाती हूँ; जब मैं यह समझने लगती हूँ कि 'उसे' पाकर मैं 'पूर्ण' हो गयी हूँ, उसमें 'एक' हो गयी हूँ और उस बदहोशीमें मैं प्यार करना भी भूल जाती हूँ; जब मैं गर्व करने लगती हूँ कि गोपियाँ मेरे लिये ही नाच नाचती हैं, मैं ही उन्हें नचाती हूँ; मुझमें कहाँसे रस-सञ्चार हो रहा है, प्राण-सञ्चार हो रहा है—यह सब भूल-भुलाकर जब मैं अपने-आपपर इतराने लगती हूँ; जब गोपियाँ 'उसे' भुलाकर मुझे ही प्यार करने लगती हैं—तब, तब········वह मुझे अपने अधरोंसे अलग कर देता है, हटा देता है।

'कितनी असहिष्णु है वह !' यकायक मेरे मुखसे निकल पड़ा।

'मैं तुम्हें हाथ जोड़ती हूँ, तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ, उसके विरुद्ध कुछ भी न बोलो। तुम उसे क्या जानो ? वह प्रेमी भी है, प्रियतम भी है। वह स्वामी भी है, सेवक भी। पिताका प्यार, माताकी ममता, गुरुकी गम्भीरता—सब कुछ उसी एकमें समाया हुआ है। बार-बार, कई बार उसने मुझसे कहा—'अपना सब कुछ मुझे दे दो'। मैंने वही किया। प्यारेने मुझे अधरोंसे लगा लिया। मुझे कुछ मान हो आया, अभिमान हो आया। मैं सोचने लगी 'कितनी भाग्यशालिनी हूँ मैं, स्वामीने मुझे कितना अधिक आदर दिया ! और मुझमें उन्हींका स्वर जो बजता है; जो कुछ मैं गाती हूँ, वह उनका ही गीत है।' इतना सोचना था कि हरिने मुझे अपने अधरोंसे अलग कर दिया। गोपियोंने मुझे यहाँ इस कोटरमें ला छिपाया है। इसका कारण जानती हो ? मेरे कारण वे नन्दलालको भली-भाँति देख नहीं पाती थीं, उनका चित्त बँट जाता था। अपने आत्मीय प्रियजनोंको हरिका यही आदेश है।'

प्रश्न तो था कुछ बेतुका-सा ही पर मुझसे पूछे विना रहा न गया—'अच्छा यह तो बतला सखी ! तुमने हरिको क्या अर्पित किया ? तुमने क्या त्याग किया और स्वामीके चरणोंमें क्या चढ़ाया ?'

'अरी, ओ बावली ! मेरे पास था ही क्या कि मैं अर्पण करती ? मेरे पास कोई धन-सम्पत्ति थी नहीं—प्रभु धन-सम्पत्ति नहीं चाहते। मैं हूँ भी दीन-हीन वंशकी। मेरा जन्म बाँससे हुआ, न वहाँ अन्न था न जल, न छाया थी न घनी हरियाली, न फूल न फल। मैं देती तो क्या ? सखी ! मेरे कृष्णको इन सारी बातोंकी आवश्यकता भी नहीं है। वह तो बस, इतना ही चाहते हैं कि तुम अपनी इच्छाएँ—तमन्नाएँ उनके चरणोंमें निछावर कर दो, अपनी सारी आसक्ति-ममता-प्रीति उन्हें सौंप दो। क्या धनी, क्या गरीब, सभी यह कर सकते हैं। मैंने भी यही किया और हरिने हँसते हुए मुझे अपना लिया।'

'मामला टेढ़ा है'—मैंने मन मसोसते हुए कहा।

'हाँ, टेढ़ा तो अवश्य है। परन्तु साथ ही, सोचो तो सही, कितना सरल है! कहींसे कुछ माँगना नहीं पड़ता, उधार नहीं लेना पड़ता, बाहर कहीं कुछ ढूँढ़ना नहीं पड़ता। जो कुछ, जितना कुछ उनके चरणोंपर चढ़ाना है, सब तुम्हारे भीतर है। क्यों है न यह बहुत ही मामूली बात?'

'हाँ' न जाने क्यों मैंने सिर हिला दिया। तत्काल ही मैंने देखा कि मेरे भीतर संशयकी लहरें जो मेरे मनको क्षुब्ध किये हुई थीं, शान्त हो रही हैं, मिट रही हैं।

कुछ ही क्षण बीते थे। मुझसे रहा नहीं गया और मैं पूछ बैठी—'क्या अब भी तुझे कंगाल रहना ही पसंद है?'

उत्तरमें वह बोली, 'तुझे क्या बतलाऊँ? मुझमें न इच्छा ही है न अनिच्छा ही। परन्तु देखो न, तुम भूलती हो। मैंने अपना सर्वस्व गँवाकर 'सर्वस्व' पा लिया है। पहले मेरे पास था क्या? अब तो सब कुछ मेरा है और सबके लिये मैं हूँ। मुझे अब सोचने-विचारनेका समय ही कहाँ है? मेरा 'मैं' तो लुट गया है, वह हो तब न सोचूँ। मैं अब केवल एक 'उन्हें' ही जानती हूँ। मैं उन्हें ही सबमें और सबको उनमें ही देखती हूँ। मेरी प्यारी सखी, उन्हें जानो, फिर कुछ भी जानना रह न जायगा। मैं अब उनके चरणोंकी चेरी हूँ, उनकी इच्छाओंकी दासी हूँ। अब तो मेरे भीतरसे गोपालकी ही वाणी निकलती है।' 'गो-पा-ल' इतना बस, कहना था कि वह आनन्द-सिन्धुमें डूब गयी। मैंने सोचा शायद मेरी बातोंसे यह ऊब उठी है। इसलिये मैं चुप रही।

बड़ी देरतक मैं सोचती रही कि आखिर यह बात क्या है। यकायक मेरे कानोंमें रुमझुमकी आवाज आयी और फिर वाणी सुन पड़ी, जो क्रमशः अधिकाधिक स्पष्ट होती गयी—'राधे, ओ राधे, ला दे मेरी बाँसरी।' फिर क्या देखती हूँ कि मुसकानों और हर्षोल्लासकी झड़ी लग रही है। राधारानी भागी जा रही थी और साँवरा पीछा कर रहा था। बाँसरी मैंने अपने हाथोंमें उठा ली और जोरसे पुकार उठी—लो, ऐ गोपाल, लो अपनी बाँसरी। चपला-सी चपल गतिसे आकर राधा मेरे हाथोंसे बाँसरी छीन ले गयी। मैं भौंचक्की-सी खड़ी रह गयी। देखती क्या हूँ कि थोड़ी ही दूरपर राधा हाथमें वंसी लिये मंद-मंद मुसकरा रही है—हँसी उसके अधरोंपर खेल रही है। मनुहारके शब्दोंमें कृष्ण बोले—'रा····धे····!' उनका यह कहना था कि राधाने अपने हाथ बढ़ाये और कहा, 'अच्छा, यह हुई गोविन्दको मेरी ओरसे भेंट।' कृष्णने उसे आलिङ्गनपाशमें बाँध लिया और अपनी विरहिणी बाँसुरीको बार-बार चूमा। वे दोनों उन्मुक्त हँसी हँसने लगे। मेरा हृदय आनन्दमें थिरकने लगा। फिर उस बाँसकी बाँसरीसे रसमय स्वरकी धारा छूट पड़ी, जिससे सारा वनप्रान्त आप्लावित हो उठा। बाँसरी अब गा रही थी—मैं स्पष्ट सुन रहा था।

बावरी? क्यों भरमावै है?

प्रीति पुरानी साँवरो जानै, (तूँ) क्यों शरमावै है?

सङ्गीतकी मोहनीसे मुग्ध हो मैं उनकी ओर दौड़ा। उस आकर्षणने मेरी सारी सुध-बुध हर ली थी। पेड़की एक डालीसे मेरा सिर टकराया और मैं बेहोश होकर गिर पड़ी। मेरे कानोंमें कोई सायँ-सायँ कर रहा था—'अरी ओ बावली! तू कितनी अजान है, कहाँ दौड़ी जा रही है? अपनी हृदय-कुञ्जोंमें उन्हें ढूँढ़ो। हृदयमें तो तूने दुनियाभरकी चीजें बटोर रक्खी हैं—

'वे' आवें तो कैसे ? कोई रास्ता भी हो, कोई स्थान भी हो। देख मैं तुम्हें दिखलाता हूँ इसमें कितनी गंदगी भरी पड़ी है। उसने मुझे पकड़ लिया, वह और मैं एक साथ ही हृदयमें जा डूबे। 'देख, देख यह इच्छाओंकी राशि, यहाँ आसक्तिकी दुर्गन्ध ! और देख, देख, उस कोनेमें ज्ञानकी कैसी अग्नि प्रज्वलित हो रही है ! सरकार आवें तो कैसे और कहाँ ?' और हृदयके केन्द्र बिन्दुको दिखलाकर वह बोला—अरे अभी तो तुम्हारे हृदयका भक्ति-स्रोत बंद ही पड़ा है—एक-आध बूँद उसमेंसे झर रही है। मैं स्तब्ध उसकी ओर बस, एकटक देखती रही। फिर वह बोला, 'यदि *तुम्हारा भक्तिका स्रोत उमड़ पड़ता तो ये सारी गंदगी* उसमें बह जाती और तुम्हारा सारा हृदय निर्मल हो गया होता। परन्तु यह तो है बंद। इसलिये ज्ञानकी अग्नि भड़कने दो, यह सारी वस्तुओंको जला देगी। तब प्रीतिका सोता फूट पड़ेगा और हृदयके कोने-कोनेको धो-धाकर निर्मल कर देगा। तब तुम्हारे हृदयमें हरि पधारेंगे, अवश्य पधारेंगे।'

यों कहकर मेरा साथी जाने कहाँ छिप गया। मैंने ज्ञानकी अग्निमेंसे एक चिनगारी लेकर इच्छाओं और आसक्तियोंकी राशिमें लगा दी। फिर क्या था, इनके मिटते ही भक्तिका स्रोत उमड़ा और सारा हृदय परिप्लावित हो गया। वहाँ कुछ रह ही नहीं गया। 'अहं' भी वहाँसे भाग गया। तब मैं क्या देखती हूँ कि प्रभु मंद-मंद मधुमाती चालसे आ रहे हैं। 'वह' आये और उनके साथ आयीं राधारानी। उन्होंने भीतर प्रवेश किया और, ऐं ! यह स्रोत सूख चला। आनन्दकी बेहोशीमें मैं बोल उठी—'राधे, ओ राधे, देख, देख, हरि आये हैं। वे आज मेरे हृदयमें बंदी हैं।' इतना कहकर मैंने अपना हृदय राधाके सामने खोल दिया। राधा मुसकुराई और उसने भी अपना हृदय खोल दिया यह कहते हुए, 'हाँ, हाँ सखी ! वे यहाँ भी हैं।' मैं देखती रह गयी—अपलक। देखती क्या हूँ कि वही छलिया वहाँ भी बंसरी लिये खड़ा है। संशय हुआ और मैंने अपने हृदयके भीतर झाँका, देखती हूँ यहाँ भी सरकार वैसे ही खड़े मुसकुरा रहे हैं। मैं हैरान थी। फिर मैं विस्मयभरी दृष्टिसे राधाकी ओर देखने लगी। हरि हँस पड़े। मंद-मंद मुसकानोंकी फुलझड़ी छोड़ते हुए वे बोले, 'यह विस्मय क्यों, हैरानी कैसी ? मैं यहाँ भी हूँ, वहाँ भी हूँ, जहाँ देखो वहीं हूँ।' तुरंत बंसरी गा उठी—

बावरी, क्यों भरमावै है ?
प्रीत पुरानी साँवरो जानै, 'तूं' क्यों शरमावै है ?

× × ×

गाड़ीका एक झटका लगा, मेरा शरीर बुरी तरह हिल गया। मैं जग पड़ा। मैं अपनी आँखें मलकर उठा और सहज ही मेरे मुखसे ये शब्द निकल पड़े—'साँवरेने बंसरी पायी और मैंने साँवरेको पाया।' मेरे एक मित्र—जो सामनेकी बर्थपर लेटे हुए थे—आश्चर्यमें पूछने लगे, 'प्रेम ! यह तुम क्या कह गये ?' मैंने कहा, 'नहीं, कुछ नहीं, यों ही·······'। गाड़ी प्लैटफार्मपर आ चुकी थी, एक साथ ही आगरा-आगराकी आवाजोंसे समस्त वातावरण भर गया। मैंने बिस्तर सँभाला, उतरा और इस जगत् तथा जीवनके भीषण कोलाहलमें डूब गया।

मेरा वह आनन्दमोहन जाने कहाँ जा छिपा। हृदयमें रह-रहकर हूकें उठती हैं ! दिल बुरी तरह कचोटता है !!

श्रीभगवन्नाम-दोहावली

(रचयिता—कुं० श्रीश्रीनिवासदासजी पोद्दार)

सोरठा

बंदौं श्रीगुरुदेव, महामंत्र दै जिन्ह कह्यो।
राधेस्यामहि सेव, करयो कृतारथ दास को ॥ १ ॥

दोहा

राम नाम रटतो रहै, साँसै साँस सँभार।
आनि मिलैं प्रभु एक दिन, सफल होय संसार ॥ १ ॥

साँसै साँस सँभारना, होना नहीं निरास।
मृगतृष्णा मिट जायगी, पूरी होगी आस ॥ २ ॥

राम नाम आधार ले, क्यों तू करता रार।
रात दिवस इकतार जप कर देगा भव पार ॥ ३ ॥

निसि बासर सुमिरन करौ, नामहि सौं कर हेत।
गुरु किरिपा मिलिहैं अवसि, रघुबर प्रीति समेत ॥ ४ ॥

राम नाम जपु रात दिन, तजि कै दूजो ध्यान।
याही बिधि अभ्यास तें पावैगो सत ग्यान ॥ ५ ॥

राम नाम जपु रात दिन, हृदय माहिं धरु ध्यान।
बौरे जनि घबराय तू, मिलि जैहैं भगवान ॥ ६ ॥

राम नाम मन ल्याइ लै, जब लग घट में प्रान।
को जानै कवनै घरी करिहैं प्रान पयान ॥ ७ ॥

राम नाम रसने रटौ, कटिहैं पाप महान।
बेद सास्त्र को मत यहै, जानत सकल जहान ॥ ८ ॥

राम नाम हिरदै धरौ, कर लौ जनम सुधार।
कामिनि कंचन संग बसि भूल न जगदाधार ॥ ९ ॥

राम नाम चित ल्याइ लै, दै भ्रम दूरि निकार।
निराकार साकार सब, केवल नाम गँवार ॥ १० ॥

जीव! जगत में आइ कै छिन छिन जपु श्रीराम।
अंतकाल महँ पाहुगे याही ते हरिधाम ॥ ११ ॥

चंचल चित चहुँ दिसि चलै, चेतत क्यों न अचेत।
मनमोहन को मनन कर मधुर मधुर, चित चेत ॥ १२ ॥

चाख्यो चाहै मधुर रस, मधुर नाम कर जाप।
मधुर मधुर के मिलन तें, मधुर बनैगो आप ॥ १३ ॥

नाम मधुर मूरति मधुर, जाप मधुर पुनि जोय।
मधुर नाम हिय धरत ही तन मन मधुरो होय ॥ १४ ॥

अति सुंदर बिग्रह मधुर, मधुर माधुरी पूर।
नाम मधुर के गान तें मिलै मधुर पुरनूर ॥ १५ ॥

मधुर मधुर नर्तन करै, लै लै मधुरो नाम।
जग में वाको फल मधुर, मधुर अंतको ठाम ॥ १६ ॥

कृपा करौ दोउ मिलि सदा, हे गुरु गोबिंद देव।
कृष्णतनय तव दास को परै नाम की टेव ॥ १७ ॥

नैया मेरी पार कर, पागल करै पुकार।
नाहिं त यह डूब्यो चहै, भव सरिता मँझधार ॥ १८ ॥

राम नाम के आसरे करौ न दूषित कर्म।
है अपराधी नाम को, नसिहै सिगरो धर्म ॥ १९ ॥

पागल नाव समुद्र में अटक रही बल खाय।
राम नाम के लेत ही निहचै पार लगाय ॥ २० ॥

निरगुन सगुनहिं भेद यह, मन महुँ लेहु बिचार।
निरगुन ब्याप्यो बिस्व महँ, सगुन करै भव पार ॥ २१ ॥

मन में हरि सुमिरन करै, नाचै दै कर ताल।
नाम प्रेम की प्यास लखि द्रवैं अवसि नँदलाल ॥ २२ ॥

बिनु बिलंब रीझैं अवसि कीर्तन तें नँदलाल।
प्रेम छाक सों छाकि कै, मेटहिं भव जंजाल ॥ २३ ॥

दया करौ मो दीन पै, हे दयाल नँदलाल।
हृदय भगति बरदान दौ, करि रसना जपमाल ॥ २४ ॥

राम नाम जपि पवनसुत है गए बंद्य जहान।
रिनियाँ ताके राम हैं, तुलसीदास प्रमान ॥ २५ ॥

चित्त भरम के कारनै पहचान्यो नहिं संत।
कबहुँ दया करि द्रवित है मिलि हैं श्रीभगवंत ॥ २६ ॥

साधु संत को मान दै, राम नाम हिय धार।
तज निरखन खोटो खरो, जदि चाहसि निस्तार ॥ २७ ॥

राम नाम सुमिरन करै सब पापनको नास।
मिटै अबिद्या तिमिर अरु, कट जावै जम फाँस ॥ २८ ॥

जनम जनम भरमत फिर्‍यो, तन धन सों करि हेत।
बिगरी दसा बिचारि कै अजहूँ चेत, अचेत ॥ २९ ॥

बिघन टरैं पथ तें तुरत, निकसत ही मुख राम।
जपै निरंतर नाम जो, मिलै परम सुखधाम ॥ ३० ॥

नाम रटत नर के कटैं पाप ताप अति घोर।
नयनन ते घनस्याम लखि नाचि उठै मन मोर ॥ ३१ ॥

नित्य नेम अरु प्रेम तें भजै जो सीताराम।
अंतकाल प्रभुपद मिलै, पूरन हों सब काम ॥ ३२ ॥

जागे नाम मधुर रटै, मधुरै रटि पुनि सोय।
आठों जाम मधुर मधुर निहचै जन मन होय ॥ ३३ ॥

मधुर मूर्ति मन में बसा, चित न चला कहुँ आन।
परम मंत्र जपि जपि करहु मधुराधिप पहिचान ॥ ३४ ॥

श्रीहरि नाम प्रभाव तें जड़ चेतन है जाय।
पाथर सागर महँ तिरै, गरल अमिय बन भाय ॥ ३५ ॥

राम नाम भज रे मना, कछू न अइहै काम।
समय गए पछितायगो, रहि जैहै धन धाम ॥ ३६ ॥

सुक पढ़ाय गनिका तरी, राम नाम आधार।
त्यागि बृथा बकवास नर, करु हिय माँहि बिचार ॥ ३७ ॥

काम क्रोध मद लोभ को अहंकार है मूल।
राम नाम मन ते जपहु, मिटि जइहै सब सूल ॥ ३८ ॥

चार दिनों की हाट यह, लै ले नाम पुकार।
आन बनिज खोटो सबै, देइ डुबा मँझधार ॥ ३९ ॥

सुख सागर हरिभजन है, दुख सागर संसार।
चाहत उतरन पार जो, गहौ नाम आधार ॥ ४० ॥

नर नारायन सुमिरि लै, भल औसर, भल दाव।
चूक हूक हो जायगी, जब जम करिहैं न्याव ॥ ४१ ॥

राम नाम अवलंब ते अति लघु हुए महान।
जातुधान पावन किए अंक भेंटि भगवान ॥ ४२ ॥

राम नाम हिय धारि कै केते नर भए पार।
बिषय जाल महँ जे फसे, ते डूबे मँझधार ॥ ४३ ॥

राम नाम जो चित धरै, बिषयन कहँ दै त्याग।
महाभाग वह धन्य नर, फिरै सदा बिनु राग ॥ ४४ ॥

राम नाम सुमिरन करै, दया धरम हिय धार।
वाको प्रभु भवजलधि सों छन महँ करिहैं पार ॥ ४५ ॥

राम भजन बिनु जगत में नहिं दूजो आधार।
मूढ़ मनुज भटकत फिरैं, कैसे होवैं पार ॥ ४६ ॥

पाप ताप सों मति डरै, राम नाम मन ल्याव।
संत बचन चित दै सदा, मन बिस्वास दृढ़ाव ॥ ४७ ॥

अपराधी हरि भजन को कहूँ न पावे ठौर।
है अनन्य सुमिरन करै, खुलै तुरत प्रभु पौर ॥ ४८ ॥

अनायास मुख तें कढ़यो, नाम मोच्छ को द्वार।
निसि दिन सुमिरन तें मिलै प्रभुपद सर्वाधार ॥ ४९ ॥

राम नाम है अनल सम, पातक है ज्यों घास।
चिनगी हू लगि जाय तो, होय रासि को नास ॥ ५० ॥

काम क्रोध अरु लोभ हैं, त्रिबिध ब्याधि जग माहिं।
राम नाम रस के पियें वे छिन में बिनसाहिं ॥ ५१ ॥

लख चौरासी जोनि महँ भटकि मिल्यो यह देह।
राम भजन बिन बावरे, बृथा करत कत नेह ॥ ५२ ॥

मानव तन अनमोल है, वाको मोल न तोल।
राम नाम भज बावरे, नाहिं त निकसै पोल ॥ ५३ ॥

महा घोर रौरव नरक, सास्त्र कहैं समुझाय।
याको भय नसि जाइहै, राम नाम गहु धाय ॥ ५४ ॥

बड़े भाग यह तन मिल्यो, अन धन लगि मत खोय।
अंतकाल केवल सुखद राम नाम धन होय ॥ ५५ ॥

गुरु ब्रह्मा, गुरु बिष्नु हैं, गुरु सिव परम दयाल।
गुरु चरनन की सरन लै, पल में होहु निहाल ॥ ५६ ॥

बंदौ गुरु पद पदुम रज, जो नासै भव फंद।
नररूपी गुरुदेव हरि लेहु सरन मतिमंद ॥ ५७ ॥

सास्त्र कहैं हरिनाम बिनु, कलि उपाय नहिं कोय।
एक बार हरि के कहें कोटि जग्य फल होय ॥ ५८ ॥

भवसागर अति कठिन है, व्यापक अगम अगाध ।
नाम तरनि महँ बैठि कै पार उतरु निरबाध ॥ ५९ ॥
संत समागम नाम जप, अरु श्रीहरि को ध्यान ।
मानुष तन को फल यहै, सब सदग्रंथ प्रमान ॥ ६० ॥
राम नाम अवलंब लै, मन जनि करै बिचार ।
बिना भजन श्रीराम के दुरलभ है उद्धार ॥ ६१ ॥
बैठत मुख सों राम कहु, उठत राम कहु राम ।
सोवत जागत राम कहु, बनिहै सिगरो काम ॥ ६२ ॥
खावत पीवत राम कहु, चलत फिरत पुनि राम ।
बृथा जनम न तु जायगो, अरु बिगरै सब काम ॥ ६३ ॥
राम नाम के जापकन केते कहौं गिनाय ।
अगनित भव तरि तरि गए, सरन नाम की जाय ॥ ६४ ॥
ध्रुव नारद प्रहलाद सुक जानैं नाम प्रभाव ।
जपैं निरंतर नाम ये सहित प्रेम सत भाव ॥ ६५ ॥
बिनय सुनौ निज दास की, हे रघुबीर दयालु ।
भव ब्याधिहि ते ब्यथित हौं, करुना करहु कृपालु ॥ ६६ ॥
राम नाम रट रे मना, लहि मानुष की देह ।
दिन दस को चहचाट यह, बहुरि खेह की खेह ॥ ६७ ॥
राम नाम गुन गान तें पतितन को उद्धार ।
होत सदा, बड़ नाम ही परम पदारथ सार ॥ ६८ ॥
नाम उचारै कंठ ते, रसना के अभ्यास ।
हिय महँ पुनि सुमिरन करै, घट महँ होत प्रकास ॥ ६९ ॥
बंदन करि रघुनाथ को, हरि को नाम उचार ।
लै ब्रत यह नित नेम सों, रामै राम पुकार ॥ ७० ॥
बिषय बासना त्यागि कै, गहै आसरो नाम ।
सो नर, कहते कृष्ण हैं, पहुँचै मेरे धाम ॥ ७१ ॥
नाभि मध्य के कमल तें, राम नाम लै गोय ।
सफल साधना के भएँ रोम रोम धुनि होय ॥ ७२ ॥
भव अति ब्याल कराल है, क्यों गहि रह्यो गँवार ।
राम नाम मनि हृदय धरि, पीवहि अमृत सार ॥ ७३ ॥
राम नाम हिय में सुमिरु, चढ़ै जो काट्यो फाँस ।
तरयो मलेच्छ 'हराम' कहि, राम नाम आभास ॥ ७४ ॥

लखपति ताको जानिये, जपै तीनि लख नाम ।
अलख सुलख सबही लखै, लखि पावै श्रीराम ॥ ७५ ॥
तीनि लाख 'हरिदास' जपि भए जवन तें सुद्ध ।
करत परीछा पातकी, गनिका हू भइ बुद्ध ॥ ७६ ॥
भूल सुघर तन बदन को, भूल, भूल, तू भूल ।
प्रभु की किरिपा तें मनुज होय नाम मसगूल ॥ ७७ ॥
सुघर नार के तार महँ गाँठ परै नहिं एक ।
नामहि तार लगाय लै, प्रभु राखैंगे टेक ॥ ७८ ॥
राम नाम जप अनवरत, क्यों नर खोवै साँस ।
मनुज जनम को फल यहै, पहुँचै प्रभु के पास ॥ ७९ ॥
नाम प्रेम बारिधि उमड़ि बरसैं जब घन नैन ।
मन मयूर नाचै तबै, है साँचो सुख ऐन ॥ ८० ॥
राम नाम के प्रेम में बरसाते निज नैन ।
है मदमत्त भजन रत संत फिरैं दिन रैन ॥ ८१ ॥
नाम प्रेम जैसो मधुर, वैसो मधुर न कोय ।
नाम माधुरी सामुहैं सब रस फीको होय ॥ ८२ ॥
राम नाम रस छाकि लै, और रसन दै धूर ।
पागल, प्रभु के प्रेम में लख चौरासी दूर ॥ ८३ ॥
राम नाम मन ल्याय लै, डोरी सुरति बँधाय ।
धेनु चरत ज्यों बिपिन मधि, मन बछरा सों ल्याय ॥ ८४ ॥
राज बिधरमी छाँड़ि कै अनत न सकै जो जाय ।
धरम करम सब लुप्त हों, राम नाम सदुपाय ॥ ८५ ॥
पिता लिख्यो यह पुत्र को, नाम हृदय में धार ।
साँसै साँस सम्हार लै, दया करैं करतार ॥ ८६ ॥
यहि असार संसार में नाम सार सो जान ।
अन्य सार सब खार हैं, नामै सार प्रधान ॥ ८७ ॥
सार बतावै लोह को, जामें कछू न सार ।
है असार संसारमें राम नाम ही सार ॥ ८८ ॥
तेलहि सोखै बर्तिका, नाम साँस लै साथ ।
अजपा जाप समान सो दे प्रकास रघुनाथ ॥ ८९ ॥
रामहि लै घट, राम रट, रामहि में पुनि डट्ट ।
नाम सुधा गट गट पियै, होय नाम धन भट्ट ॥ ९० ॥

मरे नाम मद, रूप मद, मदमाते हों नैन ।
तबै सबै मद नासि कै प्रभु पद पावै चैन ॥ ९१ ॥
अरथबाद हरिनाम महँ भूलहु भाखै जोय ।
ताको सास्त्र पुरान कह, महापातकी सोय ॥ ९२ ॥
महिमा नाम अगाध है, गाय सकै नहिं कोय ।
रामहु कथन न करि सकैं, तुलसी बरनत सोय ॥ ९३ ॥
दीन्हि असीस सुहाग की, तुलसी लखि सतनारि ।
प्रबल पराक्रम नाम को, मृत पति दियो उबारि ॥ ९४ ॥
है अनन्य चिंतन करै, सतत जपै हरिनाम ।
पारथ प्रति प्रभु उक्ति यह, सुलभ होउँ तेहि ठाम ॥ ९५ ॥
नहीं बास बैकुंठ महँ, जोगिन उर महँ नाहिं ।
गावैं जहँ जन भगति सों, हरि तेहि संगति माहिं ॥ ९६ ॥
नित्य जुक्त है जो भजै, राखै उरमें ध्यान ।
जोग छेम हित ताहि के नियत सदा हरि जान ॥ ९७ ॥
राम नाम धुनि जो सुनै, उर धरि मधुरो ध्यान ।
लय उपजै कछु काल महँ, मिलै प्रेम को दान ॥ ९८ ॥
प्रनव नाम श्रुति लेत है, गावैं सास्त्र पुरान ।
उपनिषदनको मत यहै, नाम प्रताप महान ॥ ९९ ॥
अधमहु जो चित दै भजै, है अनन्य हित साथ ।
ताको गनि कै संत प्रभु गहैं प्रेम सों हाथ ॥१००॥
कृष्न कहैं मम भजन ते परम सांति मिलि जाय ।
हे अरजुन सच जानि लै, कहूँ न भक्त नसाय ॥१०१॥
तीन नाम लै राम को, मृतक जियायो एक ।
कबिरा कह्यो कमाल तें, प्रभु राखत हैं टेक ॥१०२॥
जैसे कीटहि लै भ्रमर गुंजारै दिन रात ।
तैसे नाम उचार ते निज सरूप मिलि जात ॥१०३॥
भ्रमर नाम धुनि नित करै, कहै न दूसर बैन ।
कीट बनै जिमि भ्रमर तिमि, मिलै रामपद चैन ॥१०४॥
राम नाम रट बावरे, नामहि परम दयाल ।
नाम जबै घट संचरै, रसना होय रसाल ॥१०५॥
सबै चराचर जगत सों राग-द्वेष ते हीन ।
प्रानहि सों नित जो भजै, हो हरि में लयलीन ॥१०६॥
नारकीय हू जीव जो सुनैं राम को नाम ।
परम कृतारथ होइहैं, पावैं प्रभु को ठाम ॥१०७॥
प्रभु सरूप चित धारि कै जिह्वा जपै जु नाम ।
जगत काज बनि जाय सब, अंत मिलै हरिधाम ॥१०८॥
गिरत परत धा खेल महँ अनायास लै नाम ।
नसै न नाम प्रभाव कँ, कबहुँक देवै काम ॥१०९॥
भूलहु निकस्यो नाम मुख, निहचै देवै काम ।
अंत राम मुख ते कढ़ै, अवसि मिलै हरिधाम ॥११०॥
अंत काम आवै नहीं, पड़ा रहै धन धाम ।
जो तू चाहै परम फल, सुमिर रामको नाम ॥१११॥
विद्या पढ़िबे को सकल जाय बृथा श्रम सोय ।
भनै 'कृष्नसुत' जो नहीं नाम प्रेम चित होय ॥११२॥
प्रभु के नाम अनेक हैं, सास्त्र कहैं समुझाय ।
एकहु को चित धारि कै गाय परम पद पाय ॥११३॥
अहै परम कल्यानप्रद, कलिमल नासन नाम ।
पावन तें पावन महत, मोच्छ पंथ सुखधाम ॥११४॥
मोच्छ मार्ग पाथेय यह, सब धरमन को बीज ।
संतन को जीवन अहै, गुप्त रखन की चीज ॥११५॥
नाम रटन अभिलाष तें काँपैं पाप पहार ।
राम राम के कहत ही होयँ छनक महँ छार ॥११६॥
कलि में दोष अनेक हैं, गुन है केवल एक ।
परम धामप्रद सुखद अति, रामनाम सों टेक ॥११७॥
प्रायस्चित बिन नाम के सबही अहैं असार ।
नाम सहित जब होत तब, प्रभु करते निस्तार ॥११८॥
अचल नहीं कबहूँ रहै, सचल सुभावहि पाय ।
नाम रटन दै जीव को निस्चल माहिं समाय ॥११९॥
बुरे अहैं कारे सबै, जिमि कजरारे नैन !
स्यामरूप औ नाम तें नींद न आवे रैन ॥१२०॥
जगत हलाहल है महा, याते रहै न होस ।
नाम रटन कल्यानप्रद, दूर करै सब दोस ॥१२१॥
गाय नाम महिमा सदा, जपै नाम मन माहिं ।
बेद पुरानन के मते, या समान कछु नाहिं ॥१२२॥

नाम नरेस दयालु बड़, घर पठवत हैं संत।
पापिन के उद्धार हित, लगे रहैं भगवंत ॥१२३॥
कहै टेरि ऋगवेद यह, नामहि जपै सुभायँ।
साधन बर यह मुक्ति को, या समान कछु नायँ ॥१२४॥
सामबेद परिसेष महँ कह्यो एकमत गाय।
हरि दरसन हित नाम सम, कलि नहिं आन उपाय ॥१२५॥
जजुरबेद मत हू यहै, मुक्ति धाम हैं राम।
ब्रह्मग्यान के साधननि नाम परम अभिराम ॥१२६॥
बेद अथरबन कहत नित, अंतज हू को गात।
राम नाम जपके किये बिमल नवल है जात ॥१२७॥
खीर खाय नव दिन जपै राम नाम धरि मौन।
'रूपकलाजू' कहि गये, कृपा करैं सुखभौन ॥१२८॥
बैठि एक आसन जपै, उदय अस्त परजंत।
पुरस्चरन गुरुमंत्र यह, हो जावै बड़ संत ॥१२९॥
ब्रह्मचरज साधन करै, जपै सतत हरिनाम।
होय सफल मानव जनम, रहै सेष नहिं काम ॥१३०॥
भोग रोग को घर अहै, सुख को कारन नाहिं।
भोग बासना रोग ज्यों भजन किये बिनसाहिं ॥१३१॥
भोग छाड़ि, हिय महँ सुमिरि, जपै रात दिन नाम।
हो रघुबर पद पद्म में मन मधुकर को धाम ॥१३२॥
मन क्रम बच जो लगि रहैं भगति साधना माहिं।
राम नाम अवलंब ते प्रेम परम पद पाहिं ॥१३३॥

मन मोहि अरपित करि सदा रहे प्रेम मद मस्त।
क्रीतदास हौं ताहि कर, खड़ो लगाऊँ गस्त ॥१३४॥
राम नाम सम तत्त्व नहिं, सबै सास्त्र यह गाय।
लहैं सिद्धि एहि साधनै, मुनि ममत्व बिलगाय ॥१३५॥
राम नाम दै मुक्ति नित, कासीधाम बनाय।
नाम बीज पहचानि कै सिव हू करैं सहाय ॥१३६॥
जेहि थल महँ सिय राम धुनि सतत होत दिन रात।
प्रभु आवैं निहचै तहाँ, साधक अलख अगात ॥१३७॥
जपै नाम एकतान तें, आपनपौ बिसराय।
प्रेम बढ़त है नित नयो, अंतहि प्रभुपद पाय ॥१३८॥
कोटि जनम अभ्यास तें बिषयन राख्यो छाय।
इन ते जो छूट्यो चहौ, राम नाम लौ धाय ॥१३९॥
सतत जाप बड़ जोग है, आपनपौ बिसराय।
प्रभु प्रतच्छ करि देत है, परम धाम निवसाय ॥१४०॥
मन करि मज्जत नित फिरै, मद मत्सर नद माहिं।
मनमोहन के मनन तें सब मल जरि बिनसाहिं ॥१४१॥
निराकार है बिस्व महँ नाम रूप तें हीन।
नाम सकारहि जो रटै, हो हरिपद में लीन ॥१४२॥
ध्रुव प्रह्लादहि तारि कै राखी गज की टेक।
नाम गरीब नेवाज प्रभु, कृपा करहु तुम नेक ॥१४३॥
तन में ब्यापी कामना, हे प्रभु नाम दयाल।
षटरिपु त्रास दिखावते, करौ तुरत प्रतिपाल ॥१४४॥

कामके पत्र

(१)

आपका कृपापत्र मिले बहुत दिन हो गये। महीनों बीत गये। मैं उत्तर नहीं दे सका, इसके लिये क्षमा करेंगे।

आपके प्रश्नोंमेंसे कुछ प्रश्न तो मैंने छोड़ दिये हैं, उनका आंशिक उत्तर आपके दूसरे प्रश्नोंके उत्तरमें आ जायगा। संक्षेपमें पहले आपके तीन प्रश्नोंको ही लिखकर फिर उनका उत्तर लिखता हूँ।

प्रश्न १—एक महात्मा हैं, उनमें मेरी श्रद्धा है। मैंने देखा है, उनके पास स्त्रियाँ भी आजकल बहुत आती हैं। स्त्रियोंमें युवतियाँ भी होती हैं। स्त्रियाँ उनके चरण छूती हैं, चरण-रज लेती हैं, चरण धोकर पीती हैं, मिठाई-फल खिलाकर उच्छिष्ट प्रसाद लेती हैं, चरण दबाती हैं, पञ्चोपचारसे पूजा करती हैं, इत्र लगाती हैं, आरती उतारती हैं और श्रद्धाके कारण कभी-कभी उन्हें मुकुट-पीताम्बर पहनाकर श्रीकृष्ण सजाकर पालनेमें झुलाकर आनन्द लेती हैं। महात्मा निर्विकार रहते हैं। ये सब बातें एकान्तमें होती हैं। स्त्रियाँ भी बड़ी श्रद्धासे यह सब शुद्ध भावसे करती हैं। यह कोई छिपी बात भी नहीं है। परन्तु अश्रद्धालु लोग निन्दा करते हैं। क्या इसमें वास्तवमें कोई दोष है? क्या महात्माओंकी निन्दा करने और श्रद्धालु भले घरोंकी मा-बहिनोंमें दोष देखनेवाले पापके भागी नहीं होते?

२—श्रीकृष्ण महापुरुष थे, सिद्ध महात्मा थे। गोपियाँ परस्त्रियाँ थीं, उन्होंने उनको उपपति-भावसे चाहा था। और श्रीकृष्णने गोपियोंको स्वीकार भी किया था। अगर इसमें श्रीकृष्ण और गोपियोंको दोष नहीं लगा तो एक काम-क्रोधपर विजय पाये हुए महात्मामें, और श्रद्धा रखनेवाली स्त्रियोंमें यदि परस्पर शुद्ध भाव रखते हुए गुरु-शिष्याके रूपमें व्यवहार हो तो इसमें क्या दोष है? वे स्त्रियाँ सचमुच उनमें श्रीकृष्ण-की ही भावना करती हैं। इसमें क्या कोई आपत्ति है?

३—गीतामें भगवान्‌ने सब धर्मोंका त्याग करके शरण आनेकी बात कही है। इस सब धर्मोंके त्यागका आप क्या अर्थ मानते हैं? धर्मोंका त्याग न? और यदि यही अर्थ है तथा भगवान्‌की भक्तिमें सभी धर्मोंका त्याग आवश्यक है, तो फिर एक लौकिक धर्मकी परवा न करके और लोकनिन्दासे न डरकर गुरु-सेवनमें क्या आपत्ति है? क्या स्त्रियोंको गुरु नहीं करना चाहिये? और यदि करना चाहिये तो क्या उनके लिये दूसरा धर्म है?

यह आपके प्रश्नोंका सार है। आपके इन प्रश्नोंका उत्तर देनेकी मुझमें योग्यता नहीं है और इन विषयोंमें बहुत मतभेद भी है; परन्तु आपकी आज्ञा न टाल सकनेके कारण जो कुछ मुझे ठीक मालूम होता है, वह लिख रहा हूँ। आपको न रुचे तो क्षमा कीजियेगा। उत्तर आप ही तक रहता तब तो इतनी बात नहीं थी। आपने 'कल्याण'में प्रकाशित करनेकी आज्ञा दी है, 'कल्याण'में प्रकाशित होनेपर उसे लाखों आदमी पढ़ सकते हैं और सबकी रुचि एक-सी होती नहीं। कोई अनुकूल समझेंगे, कोई प्रतिकूल। मैं हाथ जोड़कर इसीलिये पहले ही यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि मेरा उत्तर किसीपर आक्षेप करनेके लिये नहीं है—जो कुछ मनमें जँचती है, वही लिख रहा हूँ। न मैं किसीका भी जरा भी जी दुखाना चाहता हूँ। तथापि यदि इससे किन्हींको दुःख हो तो मैं उनसे विनम्रभाव-से क्षमा-प्रार्थना करता हूँ।

प्रश्न १ का उत्तर—निन्दा तो निन्दनीय पुरुषकी

भी नहीं करनी चाहिये, फिर निर्विकार महात्माओंकी निन्दा तो सर्वथा दोषरूप है। निन्दा करनेमें दूसरोंके दोषोंका चिन्तन और उनकी आलोचना करनी पड़ती है। जैसा चिन्तन और कथन होता है, अन्तःकरणमें वैसे ही संस्कार-चित्र अङ्कित होते जाते हैं, जो भविष्यमें निमित्त बनकर मनुष्यसे वैसा ही कर्म करवा सकते हैं। निन्दामें वाणीका अपव्यय तो होता ही है, वाणी अशुद्ध भी होती है। निन्दा यदि झूठी हो, तब असत्यभाषणके दोषके साथ ही निर्दोषपर दोषारोपण करानेवाली और उसके चित्तमें द्वेष और दुःख उत्पन्न करनेवाली होती है। द्वेषका परिणाम वैर, क्रोध और हिंसा होता है। अतएव किसीकी भी किसी प्रकारकी निन्दा बुद्धिमान् पुरुषको नहीं करनी चाहिये। फिर किसी महात्माकी या भले घरोंकी मा-बहिनोंकी निन्दा तो अत्यन्त ही गर्हित है।

परन्तु यह विषय विचारणीय अवश्य है। निश्चय ही सच्चे महात्मा पुरुष—चाहे सुन्दरी रमणियोंसे घिरे हुए रहें या भयानक भूत-प्रेतोंसे, उनकी पुष्पोंसे पूजा हो या उनपर जूतियाँ बरसें, उनकी विस्तृत स्तुति हो या अकारण ही गालियोंकी वर्षा हो—सदा निर्विकार ही रहते हैं, उनका इनसे कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं। वे अपनी स्थितिमें अटल, अचल स्थित रहते हैं। ये सब चीजें सम्बन्ध रखती हैं नाम-रूपसे, और वे नाम-रूपके मायिक स्तरको लाँघकर बहुत ऊँचे उठे हुए होते हैं—परमात्मामें! तथापि यह आदर्श कदापि नहीं है। महात्माके निर्विकार रहनेपर भी ये दूसरोंके पतनका हेतु हो सकती हैं। महात्माकी देखा-देखी कोई भी दाम्भिक मनुष्य अपने किसी नीच स्वार्थकी सिद्धिके लिये महात्मा सजकर ऐसा कर सकता है। बूढ़े महात्मा गाँधी युवती स्त्रियोंके कन्धोंपर हाथ रखकर शुद्ध भावसे चला करते थे, लोग नकल करने लगे। आखिर महात्मा गाँधीजीने अपनी भूल स्वीकार की। इसीलिये महात्माओंपर भी एक दायित्व माना जाता है कि उन्हें, जबतक उनकी बाह्य संज्ञा लोप न हो गयी हो, वे देहकी सुधि सर्वथा न भूल गये हों, ऐसा कोई काम नहीं करना चाहिये, जिसकी नकल करके लोग पापके भागी हों। लोकालयमें रहनेवाले महात्मा तो जगत्के लिये आदर्श होते हैं—वे रास्ता दिखानेवाले होते हैं, अपने पवित्र कर्मों और आदर्श आचरणोंद्वारा! आपने जिन महात्माकी बात लिखी है, मुझे पता नहीं वे कौन और कैसे हैं; परन्तु यदि वे पहुँचे हुए महात्मा हैं, तब तो उनके श्रीचरणोंमें मेरी यह विनीत प्रार्थना है कि वे इस विषयपर एक बार पुनः विचार करें। और यदि उनके ध्यानमें ठीक जँचे तो वे कम-से-कम महात्माओंके आदर्शकी रक्षाके लिये ही अपने भक्तोंको समझा दें कि उनके पास स्त्रियाँ न आने पावें। उनके भक्त भी हों और बात भी न मानें—ऐसे भक्तोंसे तो दूर रहना ही चाहिये। और यदि वे साधक पुरुष हैं तो मैं नम्रताके साथ उन्हें सावधान कर देना चाहता हूँ कि वे गम्भीरतासे विचार करें, अपनी साधनाको यों नष्ट न करें और अपने गहरे पतनके लिये खाई खोदना बंद कर दें। और यदि कोई दम्भी हैं, तब तो कुछ भी कहना नहीं है; क्योंकि न तो वे मेरी प्रार्थना सुनेंगे और न सुनना उन्हें वस्तुतः इष्ट ही है।

उन भोली बहिनोंके लिये क्या कहा जाय, जो इस प्रकारसे बुरा आदर्श उपस्थित कर रही हैं। वे ऐसा करके स्वयं तो दोष करती ही हैं, उन महात्मापर भी लोकापवादका दोष लगाने और उनके आदर्शको नीचा गिरानेमें कारण बनती हैं। मेरी समझसे तो स्त्रियोंके लिये दो ही पुरुष ऐसे हैं, जिनसे वे ऐसा व्यवहार कर सकती हैं—एक अपना पति, जिसके साथ अग्निकी साक्षीमें विवाह हुआ है, और दूसरे अखिल ब्रह्माण्डोंके एकमात्र स्वामी, विश्वात्मा जगत्पति श्रीभगवान्! इन दोके अतिरिक्त किसीसे भी एकान्तमें स्त्रीको नहीं मिलना

चाहिये। नहीं तो, बहुत भयानक परिणाम होता है। पहले नहीं मालूम होता, शुद्ध व्यवहार ही दीखता है; परन्तु आगे चलकर बड़ी बुराइयाँ पैदा हो जाती हैं। प्रकृतिकी रचना ही कुछ ऐसी ही है। शास्त्रकार तो कहते हैं—माँ-बहिन-बेटीके पास भी पुरुषको एकान्तमें नहीं रहना चाहिये। बलवान् इन्द्रियाँ विद्वान्‌के मनमें भी क्षोभ पैदा कर देती हैं—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥

अस्तु, और जो लोग कृष्णका स्वाँग सजकर गोपीभावसे स्त्रियोंसे पूजा कराते हैं, मेरी तुच्छ समझसे वे बड़ी भारी गलती करते हैं। यह सत्य है कि यह सारा जगत् परमात्माकी अभिव्यक्ति है, इसके निमित्तोपादान कारण परमात्मा ही होनेसे यह परमात्मस्वरूप ही है, और इस दृष्टिसे देवता-मनुष्य, पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग, सभीको परमात्माका स्वरूप समझना आवश्यक है; परन्तु परमात्माका यह पूर्ण रूप नहीं है। यह तो अंशमात्र है। यद्यपि सब कुछ परमात्मा है, किन्तु परमात्मा यह 'सब कुछ' ही नहीं है—परमात्मा इस 'सब कुछ'से परे अनन्त है। और वह अनन्त परमात्मा श्रीकृष्णका ही स्वरूप है, इससे श्रीकृष्णसे ही सब व्याप्त हैं—यह ठीक ही है।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।

भगवान् श्रीकृष्णने कहा ही है, 'मेरी अव्यक्त मूर्तिसे (परमात्मा-विभुसे) सारा जगत् व्याप्त है।' परन्तु यही (जगत् ही) श्रीकृष्ण नहीं है। अतएव श्रीकृष्णका स्वाँग रासलीलाके खेलमें चाहे आ सकता है, परन्तु कोई मनुष्य वस्तुतः श्रीकृष्ण बनकर लोगोंसे अपनेको पुजवावे, यह तो बहुत ही अनुचित है और पूजनेवाले भी बड़ी भूल करते हैं। माना कि स्त्रियाँ श्रद्धालु हैं, भले घरोंकी हैं और शुद्ध भावसे ही ऐसा करती हैं; परन्तु यह चीज वास्तवमें आदर्शके विरुद्ध और हानिकारक है। यह भी माना कि महात्मा निर्विकार हैं, परन्तु उनका भी आदर्श तो बिगड़ता ही है। और यदि साधक हैं तो इस निर्विकारताका बहुत दिनोंतक टिकना भगवान्‌की असीम कृपासे ही सम्भव है। ऐसी स्थितिमें जो लोग शुद्ध भावसे इस कार्यका प्रतिवाद करते हैं, वे न तो कोई दोष करते हैं और न अनुचित ही करते हैं। मेरी समझसे यदि उनका भाव द्वेषरहित और शुद्ध है तो वे पापके भागी नहीं होते।

प्रश्न २ का उत्तर—श्रीकृष्ण मेरी समझमें महापुरुष या सिद्ध महात्मा ही नहीं हैं; वे साक्षात् परब्रह्म, पूर्णब्रह्म, सनातन पुरुषोत्तम भगवान् हैं। उनका शरीर पाञ्चभौतिक—मायिक नहीं है; वे नित्य सच्चिदानन्दविग्रह हैं। और गोपीजन भी दिव्यशरीरयुक्ता साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णकी स्वरूपभूता ह्लादिनी शक्तिकी घनीभूत दिव्य मूर्तियाँ हैं। पद्मपुराणमें श्रीगोपीजनोंके सम्बन्धमें कहा है—

गोप्यस्तु श्रुतयो ज्ञेया ऋषिजा देवकन्यकाः।
गोपकन्याश्च राजेन्द्र न मानुष्यः कदाचन॥

'गोपियोंको श्रुतियाँ, ऋषिगण, देवकन्या और गोपकन्या जानना चाहिये। वे मनुष्य कभी नहीं हैं।'

अखिलरससागर रसराजशिरोमणि जगत्पति श्रीभगवान्‌की प्रेयसी इन महाभाग्यवती दिव्यविग्रहधारिणी गोपियोंमें कुछ तो 'नित्यसिद्धा' थीं जो अनादिकालसे भगवान् श्रीकृष्णके साथ दिव्य लीला-विलास करती हैं। कुछ पूर्वजन्ममें श्रुतियोंकी अधिष्ठात्री देवता थीं, जो 'श्रुतिपूर्वा' कहलाती हैं; कुछ दण्डकारण्यके सिद्ध ऋषि थे, जो 'ऋषिपूर्वा'के नामसे ख्यात हैं; और कुछ स्वर्गमें रहनेवाली देवकन्याएँ थीं, जो 'देवीपूर्वा' कहाती हैं। पिछले तीनों वर्गकी गोपिकाएँ 'साधनसिद्धा' हैं। नित्य-सिद्धा गोपीजनोंमें श्रीराधाजी मुख्य हैं और चन्द्रावलीजी, ललिताजी, विशाखाजी आदि उन्हींकी कायव्यूहरूपा हैं; ये 'गोपकन्या' कहलाती

हैं। साधनसिद्धा गोपियाँ पूर्वजन्ममें श्रीकृष्ण-सेवा-लालसासे साधनसम्पन्न होकर इस जन्ममें गोपीगृहोंमें अवतीर्ण हुई थीं और नित्यसिद्धा गोपीजनोंके सत्सङ्ग, सहयोग और सेवनसे दिव्यरूपताको पाकर इन्होंने श्रीकृष्णका दिव्य चरण-सेवाधिकार प्राप्त किया था। न तो ये गोपियाँ परस्त्रियाँ थीं, और न अखिल विश्वब्रह्माण्ड-के स्वामी, आत्माओंके आत्मा भगवान् श्रीकृष्ण ही पर-पुरुष या उपपति थे। प्रेम-रसास्वादनके लिये—प्रेम-मार्गके साधनकी अत्युच्च भूमिकाके शिखरपर महात्माओं-को भगवत्कृपासे जो सिद्धिरूपा चरमानुभूति होती है, उसी अतुलनीय दिव्य प्रेमका वितरण करनेके लिये 'जगत्पति'ने 'उपपति'का और उनकी नित्यसङ्गिनी नित्यकान्तास्वरूपा शक्तियोंने 'परस्त्री'का साज सजा था। यह रास—यह गोपी-गोपीनाथका मिलन हमारे मलिन मिलनकी तरह गंदे कामराज्यकी चीज नहीं है, पाञ्च-भौतिक देहोंके गंदे काम-विकारका परिणाम नहीं है। यह तो परम अद्भुत, परम विलक्षण—जिसकी एक झाँकीके लिये बड़े-बड़े आत्मज्ञानी कैवल्यको प्राप्त महापुरुषगण तरसते रहते हैं—दिव्य लीला है। इसका अनुकरण कोई भी मनुष्य कदापि नहीं कर सकता, चाहे वह कितनी ही ऊँची स्थितिमें हो। इस लीलाका अनुकरण करने जाकर जो परस्त्री और परपुरुष परस्पर प्रेमका सम्बन्ध जोड़ना चाहते हैं, वे तो घोर नरक-यन्त्रणाकी तैयारी करते हैं। सचमुच उनमें सच्चा प्रेम है ही नहीं। वे तो तुच्छ कामके गुलाम हैं, और प्रेमके नामको कलङ्कित करते हैं। सच्चा प्रेम तो एक श्रीभगवान्में ही होता है। प्रेममें प्रेमके सिवा और कोई कामना-वासना रहती ही नहीं। और जगत्में परोपकार-तकके काममें आत्मतृप्तिकी एक वासना रहती है। जगत्का कोई भी जीव आत्मेन्द्रियतृप्तिकी इच्छा बिना—चाहे वह अत्यन्त ही क्षीण हो—किसीसे प्रेम नहीं करता! और जिसमें आत्मेन्द्रिय-तृप्तिकी वासना है, वह प्रेम प्रेम नहीं है। आत्मेन्द्रिय-तृप्तिकी इच्छासे रहित एकनिष्ठ प्रेम तो आत्माओंके आत्मा, हमारे आत्माके भी आत्मा श्रीकृष्णमें ही हो सकता है। जो परस्त्री और परपुरुष इन्द्रिय-तृप्तिकी इच्छासे—चाहे वह बहुत सूक्ष्म वासनाके रूपमें ही हो—प्रेमका स्वाँग सजते हैं, वे वस्तुतः अपना महान् अनिष्ट करते हैं। वासना बढ़कर प्रबल रूप धारण करते देर नहीं लगाती। आगमें ईंधन डालनेसे जैसे आग बढ़ती है, वैसे ही भोग्य वस्तुकी प्राप्तिसे भोगतृष्णा बढ़ती है। और उसके परिणाममें इस लोक और परलोकमें प्राप्त होते हैं—निन्दा, भय, क्लेश, कष्ट और अनन्त नरक-पीड़ा।

शास्त्र कहते हैं—

'यस्त्विह वै अगम्यां स्त्रियं पुरुषः, अगम्यं वा पुरुषं योषिदभिगच्छति, तावमुत्र कशया ताडयन्त-स्तिग्मया शूर्म्या लोहमय्या पुरुषमालिङ्गयति स्त्रियञ्च पुरुषरूपया शूर्म्या।'

अर्थात् कोई पुरुष यदि अगम्या स्त्रीमें गमन करता है अथवा कोई स्त्री अगम्य पुरुषसे गमन करती है (अगम्य वही है, जिससे विवाह न हुआ हो) तो उनके मरनेपर यमदूत उनको मारते हुए ले जाते हैं और वहाँ जलती हुई लोहेकी स्त्रीमूर्तिसे पुरुषका और पुरुषमूर्तिसे स्त्रीका आलिङ्गन कराते हैं। इस नरकका नाम 'तप्तशूर्मि' है।

इसके बाद जब स्थूलदेहमें जन्म होता है तो उन्हें कई जन्मोंतक नाना प्रकारके भयानक रोगोंसे पीड़ित रहना पड़ता है।

अतएव इस मायिक जगत्में श्रीकृष्णकी और गोपियोंकी दिव्य लीलाका अनुकरण कदापि नहीं हो सकता, न करना ही चाहिये।

हाँ, जिनके अन्तःकरण परम विशुद्ध हो गये हैं, इस लोक और परलोकके भोगोंकी तमाम वासना जिनके मनसे मिट चुकी है, जो मुक्तिका भी तिरस्कार कर

सकते हैं, ऐसे पुरुषोंमें यदि किन्हीं महत्पुरुषकी कृपासे श्रीकृष्णसेवाकी लालसा जग उठे और भुक्ति-मुक्तिकी सूक्ष्म वासनातकका सर्वथा अभाव होकर शुद्ध प्रेम-भक्ति प्राप्त हो, तब संभव है गोपियोंकी भाँति श्रीकृष्ण उन्हें उपपतिके रूपमें प्राप्त हो सकें। अतएव यदि गोपियोंको आदर्श मानकर उनका अनुकरण करना हो तो वह परम पुरुष श्रीकृष्णके लिये करना चाहिये, न कि हाड़-मांसके घृणित पुतले परपुरुष या परस्त्रीके लिये।

शरीरसे तो अनुकरण कोई भी नहीं कर सकते। परन्तु भावसे भी, जिनमें जरा भी निजेन्द्रिय-तृप्तिकी वासना है, जो पवित्र और परम वैराग्यकी स्वच्छ भूमिकापर नहीं पहुँच गये हैं, वे पुरुष या स्त्री यदि श्रीगोपी-गोपीनाथकी लीलाओंका अनुकरण करना चाहेंगे तो उनकी वही दशा होगी, जो सुन्दर फूलोंके हारके भरोसे अत्यन्त विषधर नागको गलेमें पहननेवालोंकी होती है। पाञ्चभौतिकदेहधारी स्त्री-पुरुषोंको तो श्रीकृष्णकी लीलाकी तुलना अपने कार्योंसे करनी ही नहीं चाहिये।

इससे मेरा कदापि यह कहना नहीं है कि जिनकी बात लिखी है, उन महात्मामें और उनमें श्रद्धा रखनेवाली स्त्रियोंमें परस्पर शुद्ध भाव नहीं है या कोई अनुचित सम्बन्ध है। मैं तो इतनी बातें इसलिये लिख गया हूँ कि आपके दूसरे प्रश्नोंमें कुछ ऐसी बातें पूछी गयी थीं। और श्रीकृष्ण तथा गोपियोंके नामपर गुरु-शिष्याके रूपमें कम अनर्थ नहीं हुआ और अब भी कम नहीं हो रहा है। यह सत्य है कि वास्तवमें काम-क्रोधपर विजय पाये हुए यथार्थ महात्माको किसी स्त्रीके साथ दूरसे मिलनेमें कोई खतरा नहीं है। परन्तु आदर्श तो बिगड़ता ही है। और एक बात यह भी है कि अमुक पुरुष काम-क्रोधपर विजय पाये हुए ही हैं, इसका क्या प्रमाण है। सत्सङ्ग, भजन और सद्विचारोंके प्रभावसे दीर्घकालतक काम-क्रोध दबे रहते हैं, क्षीण होकर छिप रहते हैं—डरे और दुबके हुए चोरोंकी तरह, और कुसङ्ग पाते ही बेतरह भड़क उठते हैं और साधकको दबा लेते हैं—वैसे ही, जैसे बहुत दिनोंका भूखा बाघ किसी शिकारको दबोचता है! आज ही मुझे एक पत्र मिला है, जिसमें एक वयोवृद्धा विदुषी देवीने अपने खूब प्रसिद्धि पाये हुए अप्रतिम विद्वान् संन्यासी पुत्रके पतनका हाल लिखा है। यदि वह संवाद सत्य है तो बड़ा ही भयानक है, और संन्यासियोंको स्त्रियोंके साथ मिलने-जुलनेका, उनके सम्पर्कमें आनेका कितना बुरा परिणाम होता है—इसको स्पष्ट सिद्ध करनेवाला है। कुछ समय पहलेकी बात है—एक बहुत बड़े प्रसिद्ध महात्मा किसी समय जिन महाराष्ट्र वयोवृद्ध सज्जनको गुरु मानते थे, उनके अंदर वृद्धावस्थामें बुरी तरह विकार पैदा हो गया था और वे बड़ी बुरी मौतके मुँहसे भगवत्कृपासे ही बच पाये थे। इसलिये—जहाँतक हो सके—गुरु-शिष्याके रूपमें भी पुरुषोंका और स्त्रियोंका, चाहे कितना ही पवित्र भाव हो, मिलना-जुलना भयप्रद है और आदर्शका नाशक तो है ही। खास करके सर्वत्यागी संन्यासियोंके लिये तो यह प्रत्यक्ष अधर्म ही है। श्रीचैतन्य महाप्रभुने तो अपने बहुत प्रिय शिष्य छोटे हरिदासको एक वृद्धा भक्त-स्त्रीसे चावल माँग लानेके अपराधमें आश्रमसे निकाल दिया था।

इसके अतिरिक्त स्त्रियोंका किसी भी महात्मामें श्रीकृष्णकी भावना करना तो और भी खतरनाक है। श्रीकृष्णके साथ ही गोपियोंका सम्बन्ध आ जाता है और इस सम्बन्धको लेकर—अज्ञान और विषयासक्तिवश गिरते देर नहीं लगती। अतएव मेरी समझसे तो यह व्यवहार सर्वथा आपत्तिजनक ही है!

प्रश्न ३ का उत्तर—गीतामें कहे हुए भगवान्के 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' का अर्थ बहुत प्रकारसे किया जाता है। परन्तु मैं मान लेता हूँ कि इसका अर्थ 'सब धर्मोंका त्याग' ही है और वस्तुतः मैं मानता भी यही

है । भगवच्छरणागतिकी एक ऐसी स्थिति होती है, जिसमें भक्त धर्माधर्मके स्तरसे बहुत ऊपर उठ जाते हैं । उनका धर्म ही होता है—धर्माधर्मसे ऊपर उठकर केवल श्रीभगवान्‌के हाथका यन्त्र बने रहना । भगवान् जो करावें सो करना, जैसे नचावें वैसे ही नाचना । परन्तु यह स्थिति सहज ही नहीं प्राप्त होती । पूर्ण वैराग्य होनेपर ही इस स्थितिकी ओर साधक चल सकता है । श्रीमद्भागवतमें श्रीभगवान्‌ने कहा है—

तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता ।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ॥

'जबतक इस लोक और परलोकके समस्त भोगोंसे वैराग्य न हो जाय और भगवान्‌की लीलाओंके श्रवण-कीर्तन आदिमें ही सर्वार्थ-सिद्धिका विश्वास न हो जाय, तबतक कर्म करने चाहिये ।' इससे यह सिद्ध है कि पूर्ण वैराग्य तथा भक्तिनिष्ठाकी प्राप्ति हुए विना जो विधि-निषेध बतलानेवाले शास्त्रोंके शासनका तथा शास्त्रोंके अनुसार कर्तव्य-धर्मका त्याग कर देते हैं, वे बड़ी गल्ती करते हैं और परिणाममें उन्हें बहुत कष्ट भोगना पड़ता है । यह सत्य है कि सर्व धर्माधर्मसे ऊपर उठकर श्रीभगवान्‌की अहैतुकी भक्ति पाना ही मुख्य कर्तव्य है । भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

आज्ञायैवं गुणान् दोषान् मयादिष्टानपि स्वकान् ।
धर्मान् सन्त्यज्य यः सर्वान् यो भजेत् स च सत्तमः ॥

'उत्तम (श्रेष्ठ) वही है जो मेरे बतलाये हुए समस्त धर्माचरणरूप गुणों और अधर्माचरणरूप दोषोंको भलीभाँति त्यागकर मुझको ही भजता है ।'

परन्तु ऐसी अवस्था सहसा नहीं प्राप्त होती । इसके लिये अर्जुनकी भाँति अनासक्त और निष्काम होनेकी सतत साधना करनी पड़ती है । स्त्री अपने पतिको क्यों पूजती है ? शिष्य गुरुकी सेवा क्यों करता है ? भगवान्‌को पानेके लिये पति और गुरुको भगवान्‌का प्रतिनिधि या प्रतीक मानकर ! पति या गुरुमें भगवान्‌के दर्शन करके उनकी पूजा की जाती है तभीतक, जबतक जगत्पति नहीं मिल जाते । परन्तु जगत्पतिके मिलनेके लिये इनकी पूजा आवश्यक है । जब पूजा सिद्ध हो जाती है, प्रत्यक्ष जगत्पति मिल जाते हैं, तब इनकी पूजाका कोई प्रयोजन नहीं रह जाता । फिर गोपियोंकी भाँति लज्जा, धैर्य, कुल, मान, भय—सबका त्याग कर, धर्माधर्मसे ऊपर उठकर श्रीकृष्णको ही परम प्रियतम घोषित करनेमें आपत्ति नहीं होती । परन्तु पहले ऐसा नहीं किया जाता । पहले तो उनका प्रतिमापूजन ही होता है । अवश्य ही जो स्त्री भगवान्‌को भूलकर पतिकी या जो शिष्य भगवान्‌की परवा छोड़कर गुरुकी सेवा करते हैं, वे पति या गुरुकी सेवाके फलमें नश्वर वस्तु ही पाते हैं, भगवान्‌को नहीं पाते । इसलिये उनका भी उद्देश्य तो भगवत्प्राप्ति ही होना चाहिये । तथापि छतपर चढ़नेके लिये जैसे सीढ़ियोंकी जरूरत होती है, वैसे ही 'सर्वधर्मत्याग'-रूपी धर्मतक पहुँचनेके लिये धर्मपालनकी आवश्यकता होती है । इसलिये जबतक भोगोंमें पूर्ण वैराग्य नहीं है और जबतक भक्तिमें पूर्ण श्रद्धा नहीं है, तबतक सर्वधर्मत्यागकी कल्पना नहीं की जा सकती । गुरु-सेवन तो उत्तम है, परन्तु धर्मको मानते हुए—धर्मकी रक्षा करते हुए ही । लोकनिन्दा यदि धर्मसम्मत है, तो लोकनिन्दासे डरना ही चाहिये । मेरी समझसे तो स्त्रीको गुरु करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है । पति और श्रीभगवान् ही उसके गुरु हैं । और गुरु करना नितान्त आवश्यक ही हो तो पतिकी आज्ञासे धर्मसङ्गत, शास्त्रसम्मत प्रकारसे ही करना चाहिये । आजकल जमाना बहुत खराब है । बहुत सँभलकर, फूँक-फूँककर पग धरना चाहिये । चारों ओर गरीब भेड़की खालमें खूँखार भेड़िये भरे हैं । इसीसे ब्रह्मज्ञान और भक्तिके नामपर व्यभिचार और पाप बढ़े जा रहे हैं ।

(२)

एक 'राजपूत युवक' भाईका पत्र मिला है। नाम-ग्रामका पता कुछ भी नहीं है। ये भाई लिखते हैं—'मेरी पत्नीका विवाहसे पूर्व और विवाहके बाद भी कुछ समयतक नैहरमें कुछ दुश्चरित्र पुरुषोंके साथ अनुचित सम्बन्ध रहा है। इससे मेरे मनमें बहुत ही दुःख, ग्लानि और क्रोध है। क्रोधके आवेशमें कभी-कभी तो बड़ा उग्र काम कर डालनेको भी जी चाहता है। मेरा जीवन सदा सात्त्विक रहा है, मैंने किसी पर-स्त्रीको कभी बुरी निगाहसे नहीं देखा। मेरी बुद्धि इस समय भ्रमित है, अब मुझे क्या करना चाहिये।' यही उनके पत्रका सार है।

ज्यों-ज्यों युवती-विवाहका प्रचार, स्त्री-स्वातन्त्र्य, परपुरुषोंके साथ युवतियोंका एकान्त-मिलन, पातिव्रत-धर्म और सतीत्वके प्रति अनास्थाका भाव आदि बढ़ रहा है, त्यों-ही-त्यों इस प्रकारके पापोंकी संख्या भी बहुत जोरसे बढ़ रही है। नैहरमें ऐसे पापोंकी सम्भावना स्वाभाविक ही अधिक रहती है। इसीलिये हिन्दू-सदाचारमें अधिक दिनोंतक युवती स्त्रीका नैहरमें रहना बहुत भयदायक और निषिद्ध माना गया है। महाराजा उग्रसेनकी पत्नी बड़ी ही सच्चरित्रा थीं, परन्तु दीर्घकालतक नैहरमें रहीं और शृङ्गार न छोड़ा, इसीसे एक दिन एक राक्षसके द्वारा बलपूर्वक उनका सतीत्व भङ्ग किया गया और उसीके फलस्वरूप 'कंस' जैसा महान् उग्र स्वभावका पापाचारी पुत्र हुआ! अतएव ऐसे पापोंकी संख्या घटानेके लिये हिन्दू आदर्शके अनुसार नीचे लिखी बातोंपर ध्यान देना चाहिये।

१—युवती-विवाहका निषेध।

२—लड़के-लड़कियोंके एक साथ पढ़नेका (सहशिक्षाका) निषेध।

३—परपुरुषोंके साथ युवतियोंके मिलनेका निषेध।

४—एकान्तमें तो परस्त्री और परपुरुषको थोड़े क्षणोंके लिये भी एक जगह नहीं रहना चाहिये। ऐसे पाप बहुधा 'एकान्त'के कारण ही होते हैं।

५—सधवा युवती स्त्रियोंको नैहरमें अधिक न रहना और जबतक रहें बड़ी सादगीसे संयमपूर्वक रहना।

६—पातिव्रत-धर्म और सतीत्वकी महिमाका प्रचार।

७—पुरुषोंका सदाचारी होना और परस्त्रीको माँ-बहिनके समान मानना।

ये तो सबके कामकी बातें हुईं। अब उन पत्रलेखक 'युवक' भाईसे यह निवेदन है कि आपने जो कुछ लिखा है, वह यदि सत्य है तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि आपके चित्तमें क्षोभ, दुःख, क्रोध और उग्र प्रतिहिंसाके भावोंके उत्पन्न होनेके लिये यथेष्ट कारण हैं। तथापि आपको संयम तथा शान्तिपूर्वक विवेकसे ही स्थितिका सामना करना चाहिये।

आपकी स्त्री जब अपने सारे अपराधोंको (जिनका आपको पूरा पता भी नहीं था) स्वीकार करके पश्चात्ताप करती हुई आपसे क्षमा चाहती हैं तो अपनी ओरसे अवश्य ही उनको क्षमा कर देना चाहिये। हिन्दू-स्त्रियाँ तो अपने पतियोंके ऐसे-ऐसे अपराधोंको जीवनभर सहती हैं और तब भी अपना धर्म नहीं छोड़तीं, और न पतिका अमङ्गल ही चाहती हैं। यह बहुत ही आनन्दकी बात है कि आपका चरित्र सात्त्विक और शुद्ध है तथा आपने किसी भी परस्त्रीको कभी बुरी निगाहसे नहीं देखा। अब आप अपनी बुद्धिमत्ता, सावधानता और सच्चे प्रेम-युक्त सद्व्यवहारके द्वारा अपने विशुद्ध और सात्त्विक चरित्रका अपनी पत्नीके हृदयपर भी प्रभाव डालिये, जिससे एक पतनकी ओर जाते हुए जीवका कल्याण हो। और आप पति हैं, इसलिये आपका तो यह कर्तव्य भी है। यह विश्वास रखना चाहिये कि अच्छे वातावरण, शुभ सङ्ग, पतिके प्रेम और संयमकी धर्मशिक्षाके द्वारा (प्रारम्भिक जीवनमें

बहुत बिगड़े हुए चरित्रकी स्त्रीका भी) आगे चलकर शुद्ध और परम पवित्र जीवन हो सकता है। ऐसी अवस्थामें यदि आप उन्हें त्याग देंगे तो इसका बहुत अंशमें यही फल होगा—आपकी असह्य बदनामी होगी और उनका जीवन अत्यन्त गंदा और क्लेशपूर्ण वेश्या-जीवन बन जायगा। आप इस समय बुद्धिमानी, संयम और प्रेमके साथ विवेकसे काम लेकर उनके जीवनको सुधारकर स्वयं शान्ति, सुख और पुण्यको प्राप्त हो सकते हैं। श्रीभगवान्‌की कृपासे ऐसा होना कुछ भी असम्भव नहीं है।

'कल्याण'के गत वर्षकी दसवीं संख्यामें प्रकाशित 'स्त्रीका अपराध' शीर्षक लेखको (जिसका आपने अपने पत्रमें उल्लेख किया है) एक बार फिर पढ़ जाइये और उसका अन्तिम अंश अपनी पत्नीको भी पढ़ाइये।

उनके लिये सबसे बड़ा प्रायश्चित्त है—'महान् पश्चात्ताप और जीवनभर धर्मरक्षाकी अटल प्रतिज्ञा।' इसीके साथ-साथ यदि हो सके तो उन्हें कम-से-कम तीन सालतक रोज—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

—इस महामन्त्रकी दस (१०) मालाका जाप करना चाहिये।

आप उनके लिये इसी दण्डकी व्यवस्था करें, (बलपूर्वक नहीं, उनके हृदयमें पश्चात्तापकी आग अपने सद्व्यवहारके द्वारा, जलाकर) जिससे ऊपर लिखा प्रायश्चित्त वे शुद्ध हृदयसे जरूर ही करें।

जिन दुश्चरित्र दुष्टमति मनुष्योंने यह पापकार्य किया है, उनके लिये क्या लिखा जाय? उन्होंने तो अपने ही हाथों अपने लिये नरककी भीषण खाई खोद ली है। शास्त्रके अनुसार यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वे इस पापका बहुत बुरा फल पावेंगे और लम्बी नरकयन्त्रणा भोगेंगे। मनुष्यकी कैसी मति मारी जाती है कि वह भीषण परिणामको भूलकर क्षण-सुखके लिये अपने-आपको दुःख और दुर्भाग्यके गहरे गड्ढेमें डालकर सुखकी आशा करता है। पहले पता नहीं लगता; कुसङ्ग, कुविचार और कुकर्मोंसे बुद्धिपर परदा पड़ा रहता है। जब इसका फल सामने आवेगा तब छाती पीट-पीटकर रोयेंगे कि हाय! हमने क्या किया; परन्तु उस समय रोनेसे उनका छुटकारा नहीं होगा। केवल नरक-यन्त्रणा ही नहीं, न मालूम कितनी योनियोंमें कैसे-कैसे दुःख भोगने पड़ेंगे।

आप शान्तचित्तसे श्रीभगवान्‌का चिन्तन कीजिये और किसीका भी बुरा न चाहकर भगवान्‌से यही प्रार्थना कीजिये कि वे यथायोग्य विधानके द्वारा सबका मङ्गल करें। हिंसा और क्रोधके वशमें होकर कुछ भी नहीं करना चाहिये। विवेकपूर्वक किये हुए कार्यका ही अच्छा फल हुआ करता है।

(३)

श्रीमती जुही नामकी एक बहिनका लम्बा पत्र मिला है। उनके पत्रका सार है—'मेरे पतिदेवका चरित्र अच्छा नहीं है; वे यद्यपि मुझे कष्ट नहीं देते, परन्तु आर्थिक संकोचके कारण कष्ट तो रहता ही है। मैं उनके बुरे आचरणोंके कारण शर्मके मारे मरी जा रही हूँ।

वृद्ध रोगबस जड़ धनहीना। अंध बधिर क्रोधी अति दीना॥

—ऐसे पतिका भी अपमान नहीं करना चाहिये, मैं इस बातको जानती और मानती हूँ। मैं उनसे किसी प्रकारका भी सांसारिक सुख नहीं चाहती। चाहती हूँ, मेरा धर्म बचा रहे। मैं कहीं उनके इस रास्तेपर न घसीटी जाऊँ। उनकी बुद्धि सुधरे और वे सुखी हों। मैंने उनके सुधारके लिये कई धर्म-पुस्तकें मँगवायीं; परन्तु वे उन्हें पढ़ना ही नहीं चाहते। कहते हैं यह तो संन्यासियोंका काम है। मैंने यह भी सुना है कि मनुष्य-शरीर बहुत दुर्लभ है, इसको पाकर भगवद्भजन करना चाहिये। परन्तु क्या करूँ, मेरा मन भगवान्‌में स्थिर नहीं होता। गुरु करना चाहती हूँ, भाईके साथ कहीं सत्सङ्गमें जाना चाहती हूँ, तो वे आज्ञा नहीं देते।

वहाँका वातावरण अच्छा नहीं है, ऐसी हालतमें मैं क्या करूँ ?

पत्र बड़ा ही करुणाजनक और हिन्दू स्त्रीके त्यागकी महत्ताका द्योतक है। त्यागमूर्ति हिन्दू स्त्री किसी भी हालतमें पतिका अमङ्गल नहीं चाहती, यह उसका कितना ऊँचा आदर्श है ! ऐसे आदर्शको माननेवाली देवियोंका जो पुरुष अपमान करते हैं, इन्हें दुःख पहुँचाते हैं, वे कितना बड़ा अपराध करते हैं ! इन बहिनसे यही प्रार्थना है कि आप अपने आदर्शपर दृढ़ रहिये और आर्तभावसे श्रीभगवान्‌से प्रार्थना कीजिये। आर्त प्रार्थना भगवान् अवश्य सुनते हैं। पापियोंकी मण्डलीमें घिरी हुई असहाया द्रौपदीने भगवान्‌को आर्त-स्वरसे पुकारा था, श्रीभगवान्‌ने उनकी लाज रक्खी थी। आप अपने कल्याण और पतिकी बुद्धिके सुधारके लिये श्रीभगवान्‌से करुण प्रार्थना कीजिये। इस विश्वासके साथ प्रार्थना कीजिये कि भगवान् मेरी प्रार्थना अवश्य सुनेंगे, और मेरा विश्वास है कि वे अवश्य सुनेंगे। गुरु भी आप श्रीभगवान्‌को ही बनाइये। आपको कहीं भी जानेकी आवश्यकता नहीं है। मन-ही-मन उन्हें गुरु-रूपमें वरण कर लीजिये। वे तो जगद्गुरु हैं ही। आपके परमेश्वर, आपके दयालु भगवान् ही आपके गुरु होकर ऐसी प्रेरणा करेंगे जिससे आपका मनोरथ सफल होगा। मेरी समझमें भगवान्‌के सामने आर्त प्रार्थनाके समान उत्तम और कोई भी उपाय आपके लिये नहीं है। इसीपर विश्वास कीजिये। भगवान् आपका मङ्गल करेंगे।*

उपासना

(लेखक—डा० श्रीहरिहरनाथजी हुक्कू, बी-एस्० सी०, एम्० ए०, डी० लिट्०)

उपासना मनुष्यका स्वाभाविक धर्म है। नदी समुद्रसे मिलनेको मचलती है, और मानव-हृदय उस अनन्तसे एक होनेके लिये बेचैन रहता है जिसने इसे मानवता प्रदान की। जैसे कलीके लिये खिलकर फूल बनना स्वाभाविक है, वैसे ही हमारे लिये यह भी स्वाभाविक है कि अपनी मानवतासे ढके असीमपनको विकसित होकर दिखा दें। उपासना विकास है। सङ्कुचितको सीमारहित करना, स्वार्थको छोड़ परार्थकी ओर अग्रसर होना, 'मैं' और 'मेरा' छुड़ाकर 'हम' और 'हमारे' की आदत डाल देना—यह है विकसित होना, और यही है उपासनाका फल। वह प्रेम सच्चा प्रेम नहीं, जिसने भिखारीसे दानी न बनाया; वह पूजा असली पूजा नहीं, जिसने अरूप, गुणातीतकी तस्वीर आँखोंमें न खींच दी; और उपासना तो झूठी ही रही, अगर छोटे-से मानव-हृदयमें उसने असीम अनन्तको न बंद कर दिखाया।

मानव रहते हुए मानवताकी सीमाको भेदकर मनुष्यको देवस्वरूप बना देना उपासनाका ही कार्य है। अपने व्यक्तित्वको छोड़कर 'वह' हो जाना, जिसकी खोज है वही स्वयं बन जाना—यही उपासना है। साक़ीसे अर्ज है कि मस्ताना बना दे, लेकिन अब खुद ही प्याला बन गये तो कैसा साक़ी और क्या माँगना ! फिर न फिराक़ है न खोज; न ग़म न ग़म पस्त करनेकी फ़िकर; न विरह न वेदना। ज्वाला शीतल हो जाती है।

यही सुख है और उपासना इसका सर्वोपरि उपाय। जबतक उपासना नहीं तबतक मस्ती कहाँ, और अगर हृदयमें मस्ती नहीं तो मिलनकी लालसा कच्ची ही है। परवाना जलकर मरते हुए यही दुआ माँगता है कि विधाता ! अगर परवानेको फिर जन्म दे तो इस शमओंके लिये। और सच्चा उपासक भी यही चाहता है कि अगर फिर जन्म मिले तो प्यारेकी चाह दिल मस्त बनाये रक्खे।

* ये तीनों ही पत्र ऐसे हैं, जिनमें पत्र-लेखकोंने अपना यथार्थ नाम-पता नहीं दिया है और 'कल्याण'द्वारा उत्तर चाहा है। पिछले दो पत्र तो ऐसे हैं, जिनको मैं 'कल्याण'में प्रकाशित करना नहीं चाहता था, परन्तु नाम-पता न रहनेसे 'कल्याण'में उत्तर देना पड़ा। भविष्यमें कोई भाई या बहिन इस प्रकारकी कोई बात पूछें तो पूरा पता लिखें, जिससे उनको डाकसे उत्तर लिख दिया जाय। ऐसे पत्र छापनेका विचार नहीं है। —उत्तर-लेखक

क्योंकि सच्चा उपासक जलने या मर मिटनेसे डरता नहीं। अगर वह जलता है तो किसके लिये? 'उस'के लिये। और अगर मरता है तो उसके लिये, जिसके लिये मरना ही जीना है। उपासकके लिये जीवनका उद्देश्य एक ही है—प्यारेसे मिलना, और यही है जीवनका मूल्य। इस मिलनेके लिये कौन-सा कष्ट असाध्य है, कौन-सा कष्ट कष्ट है!

उपासना घंटे या दो घंटेकी बात नहीं है, न किसी कोनेमें बैठकर पाठ करने अथवा मौन-व्रत धारण करनेका नाम ही उपासना है। उपासना तो चौबीसों घंटेका खेल है—हर समयका, एक-एक क्षणका। सच्चा उपासक महादुखी हो जाता है, अगर उसका ध्यान कुछ समयके लिये 'उस' ओरसे हटकर और किधर ही चला जाय। उसकी तो यह प्रार्थना होती है कि हे विधि! जो क्षण प्यारेके चिन्तनमें न लगे हों, उनको जीवनके लेखेमें न गिनना।

यह सब क्यों? इसलिये कि उपासकके लिये संसारमें दोका ही अस्तित्व होता है—उपास्यदेवका और अपना। और धीरे-धीरे ये दो भी नहीं रहते; बस, एक ही रह जाता है। संसार इस एकका और यह एक ही सब संसार।

और सब किसीको छोड़कर केवल एकको पहचानना; केवल एक यही है, और कोई है ही नहीं—इससे आरम्भ करके अपने अस्तित्वको भी उसीमें विलीन होने देना; और जब अपना अस्तित्व मिट चुके, जब केवल एक ही रह जाय, तब इसका अनुभव करना कि संसारमें एक नहीं है, अनेक हैं, और ये अनेक उस एकके ही रूप हैं, और वह एक भी वही है जो मैं हूँ—कैसा मधुर रूपान्तर है यह! पहले सब संसारको सङ्कुचित करके दोमें विभक्त करना—अपनेमें और प्यारेमें; फिर इस जोड़ीमेंसे एकको विलीन करके केवल एकहीको रहने देना; और जब एक ही रह जाय तो उसका एकदम प्रसार करके अनेक कर देना; और संसारको अगणित व्यक्तियोंसे भरकर सबमें उस एकको, और निजको देखना उपासनाका सुन्दर खेल है। सच्चा ज्ञान तो उपासना ही दे पाती है।

क्योंकि उपासनामें ज्ञान केवल मानसिक विषय नहीं रहता। वह अनुभवसिद्ध सत्य हो जाता है।

उपासकके लिये न मालाकी आवश्यकता है न पाठकी, न दूर-दूर तीर्थयात्रा करते हुए भटकनेकी। उपास्यदेवके रूपका अटूट चिन्तन करना ही ध्यान है, उसका निरन्तर गुणगान ही मालाका जाप है, उसकी लीलाओंकी कथा पाठका स्थान ले लेती है, उसका धाम उपासकका एकमात्र तीर्थस्थान है।

उपासना-भावकी प्रखरता हमारी मानवताका परिचय है। उपासना मनकी भूख है। इसे बुझाये विना मन मान नहीं सकता। और कुछ न मिलेगा तो मन किसी सुन्दरीको ही देवी बनाकर उसकी पूजा करके शान्तिका प्रयत्न करेगा। अधिकतर लोग अपने इस अरमानको इसी प्रकार पूरा कर लेते हैं। लेकिन जो तत्त्वज्ञ हैं, जो इस मायाके खेलके रहस्यको समझते हैं, वे प्राकृतिक नारीकी मोहिनीसे प्रभावित नहीं होते। वे बचकर निकल जाते हैं। लेकिन आँखें तो ढूँढ़ा ही करती हैं, दिलकी प्यास तो विना पूजाके बुझती नहीं। जो बुद्धिमान् हैं, वे देवीको ही देवी समझकर पूजते हैं; स्वार्थ-प्रेरित होकर, सुकुमार देहके लोभमें पड़कर किसी कामिनी-को हृदय-रानी बनाकर उसे देवीकी प्रतिष्ठा नहीं देते।

उपासना-मार्ग बड़ा कठिन है—जितना मृदुल लगता है, उतना ही कठोर। उपासनामें स्वार्थ त्याग देना पड़ता है, उपासनामें ठोकरें खाना सीखना पड़ता है, उपासनामें कड़ुवेको मीठा समझकर धीरे-धीरे उसका स्वाद लेना जानना पड़ता है। उपासनामें आँसू लुटाने पड़ते हैं, उपासनामें दूसरेका बनकर रहना पड़ता है। उपासना-में व्यक्तित्व नहीं रह पाता, राधा कृष्णमय हो जाती है।

दाम्पत्य-जीवनके कुछ मन्त्र

(लेखक—श्रीताराचन्द्रजी पाण्ड्या)

(१) पति और पत्नी दोनोंके धर्म, अर्थ और कामकी साधनाके लिये गृहस्थाश्रम है ।

(२) पति-पत्नी दोनोंको एक-दूसरेकी सहायता करनी चाहिये, एक-दूसरेको साथी व मित्र समझना चाहिये, एक-दूसरेके सद्गुणोंकी वृद्धि करना चाहिये तथा संयम, सहनशीलता, स्वार्थत्यागका अभ्यास करना चाहिये ।

(३) पतिको चाहिये कि वह अपनी पत्नीको मित्रके समान समझे और उसके साथ वैसा ही बर्ताव करे। उसे अपनी पत्नीके शारीरिक स्वास्थ्यकी तथा मानसिक और आत्मिक गुणोंकी रक्षा एवं वृद्धिका सदा ध्यान रखना चाहिये । तभी वह भरतार—पालन-पोषण करनेवाला—कहे जानेके योग्य है । तभी वह सन्तानके प्रति भी अपने कर्तव्योंका ठीक तरहसे पालन कर सकेगा ।

(४) पत्नीको चाहिये कि वह अपने-आपको पतिकी दासीके समान समझे और उसको हर तरहसे सुख और शान्ति पहुँचावे । परन्तु अगर पति कुमार्गगामी हो तो पत्नीको चाहिये कि वह धर्मको न छोड़े किन्तु निर्भयता, दृढ़ता और नम्रतासे पतिको सुमार्गपर लानेकी चेष्टा करे । पति-पत्नी दोनों यह न भूलें कि पत्नीको अपने पतिके प्रति हितैषी मित्रका भी कर्तव्य अदा करना पड़ता है, उसे माता, गृहलक्ष्मी और कुलवधूके भी दायित्व निबाहने पड़ते हैं तथा इस दुर्लभ मानवजीवनमें दोनोंका अपनी तथा दूसरेकी आत्माके प्रति भी कर्तव्य है ।

(५) दुनियाके सब रिश्तोंसे धर्म बढ़कर है; क्योंकि दुनियाके रिश्ते विनाशी और स्वार्थमय हैं, केवल धर्म ही स्थिर रहनेवाला और अपना सच्चा हित करनेवाला है ।

(६) सदा प्रसन्न रहना; ईर्ष्या, द्वेष, अहङ्कार, कटुवचनका त्याग करना; सांसारिक भोगोंसे उदासीनता; दयाभाव और परोपकार—ये धर्मके मुख्य अङ्ग हैं ।

(७) गृहस्थाश्रमकी सफलताकी तीन ही निशानियाँ हैं—

(१) स्वस्थ, तेजस्वी, सच्चरित्र और परमार्थ-ज्ञान तथा लोकव्यवहारमें निपुण सन्तान छोड़ जाना ।

(२) न्यायसे कमाई हुई सम्पत्तिसे भरा घर छोड़ जाना, ताकि परिवारके मनुष्य शान्ति और स्वाधीनतासे तथा धर्म एवं समाजकी रक्षा करते हुए आजीविका साध सकें ।

(३) स्वाधीनता यानी सांसारिक वस्तुओंसे उदासीनताकी तरफ बढ़ना ।

इन तीन निशानियोंमेंसे दूसरीसे पहली ज्यादा महत्त्वपूर्ण है और तीसरी सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण और सारभूत है ।

(८) वही गृहस्थाश्रम धन्य है, जिसमें ईमानदारीसे धन-सम्पत्ति कमायी जाती है, जिसमें सत्पात्रों व दु:खितोंकी सहायता की जाती है और जिसमें इन्द्रिय-दमनका लक्ष्य आँखोंके सामने रक्खा जाता है ।

(९) उसी परिवारमें प्रेम, शान्ति तथा उन्नति स्थिर हो सकती है जिसमें सबको धर्म, अर्थ, कामकी तथा अपनी-अपनी योग्यता दिखानेकी उचित सुविधा दी जाती हो । और जिसमें एक-दूसरेके प्रति निष्पक्षता, निष्कपटता, सहनशीलता, सहानुभूति, उदारता तथा सज्जनताका बर्ताव करनेका ध्यान रक्खा जाता हो ।

(१०) बाहरी वस्तुएँ सदा अपने इच्छानुसार नहीं हो सकतीं, परन्तु उनसे सुख और शान्ति पाना सदा अपने हाथमें है—अपने मनपर ही निर्भर है। दुनियामें एक-से-एक बढ़कर दुखी—अतृप्त इच्छाओंवाले हैं। और अपना हित वासनाओंकी तृप्तिमें नहीं किन्तु कर्तव्यपालनमें है। इन तीन मन्त्रोंको—सत्योंको—जिसने समझ लिया है, वह कब दुखी होगा ! वह किसे अपने प्रेमका अपात्र समझेगा ! उसका प्रेम कब अस्थिर होगा !

(११) अपनी विवाहिता स्त्रीके सिवा विश्वकी अन्य सब स्त्रियोंको (चाहे वे मनुष्यजातिकी हों या देवजातिकी या तिर्यक्-जातिकी) आजीवन अपनी माँ-बहिनके समान समझना और अपने विवाहित पुरुष (पति) के सिवा विश्वके अन्य सब पुरुषोंको (चाहे वे किसी जातिके हों) आजीवन अपने पिता या भाईके समान समझना—इस पवित्र सन्तोष-सुखको जो अपनाते हैं, वे ही पवित्र हैं; उन्हींका चित्त स्थिर है; वे ही सच्चे गृहस्थी हैं।

(१२) 'ढाई अक्षर प्रेमका पढ़ै सो पण्डित होय।'

विशुद्ध प्रेममें न तो विषय-वासना होती है और न स्वार्थ होता है। यही प्रेम टिकाऊ होता है। यह प्रेम रूप, यौवन आदि शारीरिक गुण या धन-सम्पत्ति, वेश-भूषा, मस्तिष्कीय ज्ञान आदि अस्थिर वस्तुओंके आधार नहीं रहता। प्रेम खुद ही आनन्दरूप है और इस आनन्दके ही आसरे रहता है। प्रेम बदला नहीं चाहता। साथ ही उसमें दीनता नहीं होती, इतनी गुलामी या अंधापन भी नहीं होता कि जो अपने प्यारेको खोटी राहसे न रोके या न लौटावे। क्योंकि प्रेम प्रबुद्ध है, प्रेममें सेवा-भाव—अपने प्यारेकी हित-कामना भी है।

हे भगवान्, शरणमें लो !

(लेखक—श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्म्मा)

नरकमय संसार

दिलमें जैसे छाला-सा पड़ गया है। ऐसी निराशा और ऐसा अन्धकार मालूम होता है कि हे प्रभो ! तुम्हीं पार लगाओ। कभी-कभी जी ऐसा घबड़ा उठता है—चाहता है कि सिर पीट लें और मर जायँ ! हे भगवन्, संसारमें कितना कष्ट है ! जीवनकी कितनी जटिल, कितनी विषम, कितनी महान् समस्याएँ हैं ! उलझनोंके बीचमें लगा-लिपटा जीवन कितना निरुद्देश्य है !

मनुष्य कितना मूर्ख, कितना अंधा, कितना जड़ है ! कोई वनमें उछलता चल रहा है। कोई अपनी टूटी-फूटी झोंपड़ीमें सिसक रहा है। कोई ठाटसे अकड़ता हुआ, अपने गठीले शरीरपर इठलाता चला जा रहा है। कोई बीमारीमें पड़ा मौतकी घड़ियाँ गिन रहा है। कितना वैषम्य है ! कैसी खिचड़ी है ! हाड़-मांस, आँख-कान सबके एक-जैसे हैं। पर जङ्गलका जानवर भी अपनी जातिके जानवरोंको देखकर जितनी खुशीसे दुम हिलाता होगा, उतनी सजातीयता, उतना प्रेम हममें नहीं है। बीमारकी बीमारी हमें यह नहीं याद दिलाती कि हम भी इसी तरह बीमार हो सकते हैं। दरिद्रकी दरिद्रता हमें सचेत नहीं करती कि वह गरीब भी आदमी है और कभी हम दोनों एक दूसरेकी जगहपर पहुँच सकते हैं। श्मशानसे मुर्दा फूँककर लौटनेके बाद हम पहले-जैसी ही मुस्तैदीके साथ स्त्री और वेश्या—मदिरा और मादक द्रव्योंके सेवनमें लग जाते हैं और यह भूल जाते हैं कि कल हमको भी इसी जगह एक नव कमीनके घेरेमें धूलमें मिलना

होगा । हम सब कुछ देखकर भी आँख बंद कर लेते हैं या समझनेकी कोशिश नहीं करते ! क्यों करें—चला जाता है, चला जायगा । समय बीतता है, बीत जायगा !

और हम सबसे अधिक धोखा तो अपनेको देते हैं । किसीको अनायास पीट दिया—मनको समझा दिया कि उसीके फ़ायदेके लिये ऐसा किया है । झूठ बोल गये, धोखा दे डाला—मनको तसल्ली दे दी जाती है कि 'मौक़पर यही ज़रूरी था ।' नौकर चाहता है कि मालिकका जेब काट लें । मालिक चाहता है कि नौकरका ख़ून भी सोख लें । न किसीको किसीसे हमदर्दी है, न मुहब्बत ! सिर्फ़ एक स्वार्थका भयङ्कर आवरण फैला है । एक भयङ्कर नीचताने हम सबको मस्त कर रक्खा है ।

भगवान्‌को धोखा न दो

हम भगवान्‌को भी धोखा देते हैं । उसके नामपर न जाने क्या-क्या कर डालते हैं । उसकी उपासनाके बहाने क्या-क्या कर्म नहीं हो जाते । भाई भाईसे लड़ रहा है । बाप बेटेसे लड़ रहा है । बेटा बापका गला काटना चाहता है । स्त्री पतिसे स्वार्थवश प्रेम करती है । थोड़े-से निःस्वार्थ प्राणी हमारेद्वारा हर तरहसे दुःख उठा रहे हैं । मालूम ऐसा होता है कि जितना ही पाप करो, उतना ही सुख मिलता है । साधु, ऋषि-मुनियोंकी वाणी कानमें नहीं जाती । शुद्ध सनातनधर्मका अमर उपदेश हमारे पासतक नहीं पहुँचता ।

इस प्रकार, संसारकी यह दशा देखकर किसे क्षोभ न होता होगा ! किसके मनमें एक भयङ्कर उथल-पुथल न मच जाती होगी ! ऐसा मालूम पड़ता है कि जैसे कभी कोई तरीक़ा ही न मालूम होगा, जिससे संसारका कल्याण हो सके । आदमी फिर आदमी बने । दुनिया फिर 'कर्मभूमि' बने । मनुष्य फिरसे अपनेको ईश्वरका सबसे पवित्र प्राणी समझे—और एक बार फिर आदमीको यह सचमुच याद हो जावे कि 'लाख कमाओ, लाख धूर्तता करो, लाख कष्ट उठाओ, लाख बीमार रहो, लाख धर्म-अधर्म करो—सबका अन्त एक है—'मर जाना ।' यह मत भूलो कि अन्तमें मर जाना ही होगा । सब वासनाएँ, सब वैभव एक ओर—और हमारी धधकती हुई चिता दूसरी ओर । चिताकी लपटें बार-बार हमको-आपको बुला रही हैं और कह रही हैं कि 'हे मूर्ख ! तू कितना ही बड़ा षड्यन्त्र क्यों न रचे, मैं तुझे ले ही जाऊँगी । चाहे तू महलमें रह, या झोंपड़ेमें । मैं तुझे तेरे भगवान्‌के पास ले जाकर ही छोड़ूँगी !'

सङ्घर्षमय जीवन

जीवन सङ्घर्षमय है । निरन्तर सङ्घर्ष हो रहा है । इस सङ्घर्षका कोई ठिकाना नहीं । हरेक दूसरेको गिराकर उसके सिरपर पैर रखकर चलना चाहता है । एकका पतन, दूसरेका उत्थान । कौन कहता है कि उद्योग मत करो, शरीरको सुखी मत रक्खो, धनी मत बनो । पर, अपनी आत्माको मत भूलो । तुम्हारी ही आत्मा सबमें व्याप्त है । उसको मत भूलो । अंधे मत बनो । अगर मुझको रौंदकर तुम आज सुखी हो गये तो कल मेरी आह तुमको नष्ट कर देगी । अपने कर्तव्यको मत भूलो—भगवान् तुम्हारा भला करेंगे । याद रक्खो, मित्रो—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥

अर्थात् इन्द्रियोंसे भी महान् उनके विषय हैं, विषयोंसे भी महान् मन है, मनसे महान् बुद्धि है और बुद्धिसे भी आत्मा महान् है । और परम महान् है पुरुष—

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥

सबसे महान् 'पुरुष' है—परमपुरुष भगवान्! जीवन-संघर्षमें भगवान्को भूलकर मनुष्य कितने दिन चल सकता है! हो सकता है कि कुछ समयतक उसके बिना बड़ा सुख मिले। पर इस नरक-ऐसे जीवनमें, माँके उदरमें, कितनी बार आना-जाना चाहते हो? गर्भका कष्ट याद है? संसारका जीवन क्या बड़ा सीधा—सादा है? रोज काँटे चुभते हैं—रोज। रोज जानकी बाजी लगती है—रोज। कबतक यह अंधेर चलेगा?

जीवनको निर्दोष बनानेके लिये तीन चीजें ही तो चाहिये—'सहनशीलता, सन्तोष, सत्य!' यदि ये तीन वस्तु हमारे-तुम्हारे पास हैं तो हमारा बाल भी बाँका न होगा। दुनियाका ऐश्वर्य भोग लेंगे—और किसीके मुखपर आँच भी न आयेगी!

और यदि हम—

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं पिबेज्जलम्।
सत्यपूतां वदेद्वाणीं मनःपूतं समाचरेत्॥

—मनको, वाणीको, दृष्टिको पवित्र रखकर जीवन-यापन करें तो क्या हम आदमी नहीं बन सकते? क्या अपने कष्टोंको देखकर हमने इस ओर कभी भी ध्यान दिया है? यदि नहीं, तो क्यों?

कविवर बिस्मिलका क़लाम है:—

हस्तीको ज़लील कर रहे हैं, जीनेके लिये जो मर रहे हैं।
...
ग़फ़लतमें वो काम कर रहे हैं, मरनेके लिये जो मर रहे हैं॥

हम यह क्यों भूल जाते हैं कि—

पीता-खाता, प्यासा-भूखा,(अब)सभी एक घर जाना है।
जब एक पलककी एक झपटमें सबको ही चल जाना है॥
ले सभी चिताका साज देख—
होनी कुछ हो—यह होना है!!

अगर हम अपने दिलको धोखा नहीं देना चाहते तो हमारे लिये यही जरूरी है कि संसारकी हरेक वस्तुको अपना शत्रु समझें और मनमें निश्चय कर लें कि—

'मतलब ग़रज़ है, फ़कत सुख़ई, नहीं दुश्मन।
मेरा जहानमें कोई नज़र नहीं आता॥'

अपनेको इतना परवश समझकर, इतना निःसहाय समझकर क्यों नहीं कार्य करते?

हमारा एकमात्र सहारा

जो संसारकी वेदनाओंसे ऊबकर अपना सब मोह त्याग देता है, उसे एक ही बात सूझती है। वह देखता है कि उसके चारों ओर भयङ्कर गर्त, भयङ्कर खाई है। केवल एक सहारा है—वह है भगवान्का। वह भगवान्से वैराग्य नहीं माँगता। धन नहीं माँगता। बल नहीं माँगता। पुत्र-कलत्र नहीं माँगता। उसे उस पितासे केवल एक ही वस्तु चाहिये—उसके चरणोंमें भक्ति। भगवान्के द्वारपर, भगवतीके चरणोंमें—जगत्पिता या जगदम्बाकी प्रतिमाके कमल-ऐसे चरणोंमें मस्तक झुकाकर वह केवल यही कहता है—

मत्समः पातकी नास्ति पापघ्नी त्वत्समा न हि।
एवं ज्ञात्वा महादेवि यथायोग्यं तथा कुरु॥

यानी मेरे ऐसा पापी नहीं, तेरे समान पापनाशिनी नहीं। ऐसा समझकर हे माँ, जैसा उचित समझ, वैसा कर!

भगवतीमें—भगवान्में ऐसी अनन्यतासे ही संसार-का बन्धन कटता है। देवर्षि नारदका वचन है कि 'उस परम प्रेमास्पद प्रभुमें अनन्यता हो और उसके विरोधी जो भाव हों, उनसे चित्त उदासीन हो जावे।'

तस्मिन्ननन्यता तद्विरोधिषूदासीनता च।

और यह 'अनन्यता' उसीको प्राप्त होती है जो ईश्वरेतर अन्य सभी वस्तुओंका त्याग कर देता है, जिसका सहारा वही सबका मालिक—सच्चिदानन्द भगवान् होता है—

'अन्याश्रयाणां त्यागो अनन्यता।'

—देवर्षि नारद

और भगवान्में अविरल भक्ति रखना ही सबसे बड़ा कवच है, जो संसारसे बचा सकता है। क्योंकि ये काम-क्रोधादि विकार प्रारम्भमें तरंगके समान छोटे होनेपर भी दुःसंग पाकर समुद्रके समान विशाल हो जाते हैं—

'तरंगायिता अपीमे संगात्समुद्रा यान्ति ।'

इसलिये, भगवान्के साथ तादात्म्य प्राप्त करनेसे ही इस भयंकर संसारसे छुटकारा मिलेगा। पर इसके लिये धन-जनका गर्व छोड़कर उस प्रभुके सामने महादीन बन जाना होगा। भगवान् दीनोंको ही दर्शन देते हैं—

जन्मश्रुततपःश्रीभिरेधमानमदः पुमान् ।
नैवार्हत्यभिधातुं वै त्वामकिंचनगोचरम् ॥

छोड़ दो इस संसारके झूठे आडम्बरको। चलो, हम-आप सत्संग करें—भगवान्का भजन करें। तभी हमारा-आपका कल्याण होगा। ध्यान रखिये—

'यश्चाण्डालोऽपि रामेति वाचं ब्रवीति, तेन सह संवदेत्, तेन सह संवसेत्, तेन सह भुञ्जीयात् !'

नाम ही भगवान् है !

(लेखक—स्वामी श्रीरामदासजी महाराज)

भगवान् और भगवन्नाम दो भिन्न पदार्थ नहीं हैं। स्वयं नाम ही भगवान् है। नाम-स्मरण करते ही हृदय भगवान्से भर जाता है। भगवान्में मन लगानेका एकमात्र और सबसे सरल उपाय यही है कि हम बराबर उनका नाम लेते रहें और यदि प्रेमके साथ लें, तब तो फिर कहना ही क्या ? चित्त इधर-उधर भागता हो तो तुरंत जोर-जोरसे नाम लेने लगना चाहिये। थोड़ी ही देर बाद हृदयके भीतर प्रेम, आनन्द और शान्ति उमड़ आती है, एक अपूर्व, अकथनीय शान्तिमें हृदय डूब जाता है। कारण कि नाममें वह शक्ति है जो भगवान्को खींच लाती है, हृदयके दिव्य प्रेमको उद्‌बुद्ध कर देती है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि जोर-जोरसे नाम लेनेकी अपेक्षा मन-ही-मन, चुपचाप, भीतर-ही-भीतर नामस्मरण करना अधिक लाभदायी है; परन्तु कभी-कभी जोर-जोरसे नाम लेनेपर जो आनन्दानुभूति होती है, उसका वर्णन करना कठिन है। वह मिठास कुछ और है। नामकी धुन लगनेपर साधकका सारा अस्तित्व जब उस आनन्दमें विभोर हो जाता है तो उसे एक प्रेम-समाधिकी अवस्था प्राप्त होती है और वह अपने अन्तस्तलमें यह अनुभव करता है कि नाम ही ब्रह्म है।

भगवान् सगुण भी हैं और निर्गुण भी। नाम भी भगवान्की ही भाँति सगुण भी है और निर्गुण भी, व्यक्त भी है और अव्यक्त भी। जिस प्रकार भगवान् सर्वव्यापक, अनन्त, अविनाशी, शान्त और अचल हैं, उसी प्रकार उनका नाम भी सर्वव्यापक, अनन्त, अविनाशी शान्त और अचल है। और जिस प्रकार सगुण-साकार भगवान् घट-घटमें व्यापक हैं, उसी प्रकार नाम भी सर्वत्र, सब जीवोंमें, चरमें, अचरमें, यावत् पदार्थमें ओतप्रोत है। नाम भगवान्की तरह सगुण, साकार है और निर्गुण, निराकार भी।

समस्त सृष्टिका आदि स्रोत है भगवान्का नाम। और यह विश्व भी नामका ही रूपान्तर है। यह नाम ही जीवको मायाके बन्धनसे छुड़ा सकता है। नामके द्वारा ही प्रभुके साथ जीवका आध्यात्मिक मिलन होता है। और इसके द्वारा ही आध्यात्मिक साधनाकी चरम सीमापर पहुँचा जाता है। जीवकी अन्तर्दृष्टि नामके द्वारा ही खुलती है और ऐसा प्रतीत होता है जैसे

अन्धेको दिव्य दृष्टि प्राप्त हो गयी हो। नामके द्वारा समस्त विश्वके अणु-अणुमें, परमाणु-परमाणुमें श्रीहरिका साक्षात् दर्शन हो सकता है। नामके द्वारा मनुष्य अचिन्त्य साधनाके लोकमें सहज ही—बिना प्रयास प्रवेश कर जाता है। आत्मज्ञानके द्वार उसके लिये खुल जाते हैं।

नामकी शक्ति अजेय है। नामसे मन तुरंत वशमें किया जा सकता है। नामके द्वारा जीव शिव हो जाता है। नाम लेते ही मनकी दौड़-धूप बन्द हो जाती है और वह बेचारा जैसा कहो वैसा करने लगता है। नामकी शरण लेनेसे असम्भव भी सम्भव हो जाता है। मृत्यु डरकर भाग जाती है। समस्त प्रकृति उसकी चेरी बन जाती है और उसकी आज्ञाकी बाट देखती रहती है। वह जब चाहे जैसा चाहे कर सकता है। नामके द्वारा मनुष्य प्रेम और आनन्दकी मूर्ति बन सकता है। नामके द्वारा मनुष्य सान्तसे अनन्त हो जाता है। नामके द्वारा मूढ़ जीव भगवत्स्वरूप हो जाता है।

जहाँ भगवान्‌के नामका संकीर्तन होता है, वहाँका समस्त वातावरण पवित्रता, शान्ति और आनन्दसे ओतप्रोत हो जाता है। नामके द्वारा प्रेमका प्रकाश दिग्-दिगन्तमें फैल जाता है। नाम स्वतः परिपूर्ण है। नामस्मरण ही ध्यानकी प्रगाढ़ अवस्था है। नामस्मरणसे जो आनन्द प्राप्त होता है, वही समाधि है। नाम ही प्रेम है, नाम ही ज्योति है, नाम ही शक्ति है, नाम ही आनन्द है।

मैं विश्वासपूर्वक यह कह सकता हूँ कि और किसी भी साधनाका आश्रय न लेकर यदि केवल राम-नामका ही सहारा लिया जाय तो उसीसे भगवत्प्राप्ति हो सकती है; उसे सर्वत्र हरि-ही-हरि दीखने लगेंगे और वह सदाके लिये प्रेम और आनन्दमें डूब जायगा।

भगवन्नामके अतिरिक्त और कोई साधना नहीं है जो सर्वत्र, सब देश और सब कालमें सब व्यक्तियोंके द्वारा समानरूपसे की जा सके और न इसके समान ऐसा कोई सरल साधन ही है जिसके द्वारा भगवत्प्राप्ति हो सके। एक संतका वचन है कि जो निरन्तर भगवन्नामका उच्चारण करता है, वह वस्तुतः जीवन्मुक्त है।

इसलिये आप चाहे जिस जातिके हों, जिस किसी देशके हों, जिस किसी वर्ण या सम्प्रदायके हों, भगवान्‌के नामका आश्रय लीजिये, इसके रसमें डूबिये, इसमें अहर्निश गोता लगाइये, अपनी आत्माको बराबर इस अमृतसिन्धुमें नहलाइये। इससे आप बाहर-भीतर केवल पवित्र ही नहीं होंगे, वरं आप प्रभुके सर्वव्यापक और सर्वज्ञ प्रेमकी धारामें स्नान कर सदाके लिये निहाल हो जायँगे। नामस्मरणके निरन्तर अभ्याससे प्रभुके चरणोंमें शरण मिलती है। आरम्भिक कालमें जब साधक नामका अभ्यास लगन, श्रद्धा एवं एकाग्रताके साथ करने लगता है तो उसके चेहरेपर एक दिव्य कान्ति छा जाती है, उसका सारा शरीर दमक उठता है। उसकी बुद्धिमें ज्ञान चमक उठता है और हृदय प्रेमसे उमड़ आता है। इसका कारण है सत्त्वगुणकी वृद्धि। बादमें जब अभ्यास उसी प्रकार निष्ठापूर्वक चलता रहता है तो साधकके सामने समग्र जगत् नारायणस्वरूप हो जाता है और तब वह स्वयं भगवदाकार होकर सर्वत्र केवल भगवान्‌को ही देखने लगता है।

निस्सन्देह नाम ही भगवान् है!

महात्मा श्रीउग्रानन्दजी महाराज

(लेखक—भक्त रामशरणदासजी)

हम आज अत्यन्त हर्षके साथ कल्याणके पाठकोंके सम्मुख सुप्रसिद्ध संतशिरोमणि, आजाद भिक्षु, मस्त महात्मा, पूज्यपाद प्रातःस्मरणीय श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य ब्रह्मनिष्ठ श्रीस्वामी उग्रानन्दजी महाराजका संक्षिप्त जीवनवृत्तान्त रख रहे हैं। हमें उक्त महात्माके सम्बन्धमें जो कुछ भी बातें मालूम हुई हैं, वे पूज्यपाद श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीस्वामी पूर्णानन्दतीर्थ (श्रीउड़ियाबाबाजी) महाराजसे मालूम हुई हैं। एतदर्थ हम उनके श्रीचरणोंके अत्यधिक आभारी हैं।

पूज्यपाद प्रातःस्मरणीय श्रीस्वामी उग्रानन्दजी महाराज एक बहुत उच्च कोटिके महात्मा थे। आपका जन्म पंजाबके किसी ग्राममें हुआ था। साधु होनेके बाद आप प्रायः गङ्गा-किनारे ही विचरा करते थे। बहुत दिनोंसे तो आप भगवानपुर, अनूपशहर, कर्णवास, रामघाट आदि-आदि स्थानोंमें पतितपावनी भगवती भागीरथीके किनारे-किनारे विचरा करते थे। एक जगह नहीं रहते थे। यद्यपि आप कुछ संस्कृत तथा हिन्दी भी जानते थे, किन्तु जन्मसे पंजाबी होनेके नाते आप फारसीके बहुत बड़े विद्वान् थे और सत्सङ्गमें भी प्रायः आप फारसीकी ही कविता आदि अधिक बोला करते थे, जो बड़े मार्केकी होती थीं।

पहले आपका यह नियम था कि आप केवल त्रैवर्णिक—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—के यहाँकी ही भिक्षा किया करते थे। शूद्रादिके यहाँका अन्न-जल नहीं लेते थे। परन्तु एक बार जब आप श्रीहरिद्वारमें ठहरे हुए थे, वहाँपर आपको बुखार हो गया। आपके पास जितने भी साधु-महात्मा वहाँपर ठहरे हुए थे, वे सभी आजाद भिक्षु थे। उन आजाद भिक्षु-महात्माओंने ही उस समय आपकी सेवा-शुश्रूषा की और आपको अपने हाथकी सबकी माँगी हुई दाल खिला दी। बस, अच्छे हो जानेपर आप भी उसी दिनसे सब वर्णोंकी भिक्षा लेने लगे, आजाद भिक्षु हो गये। अब तो कोई कुछ भी भिक्षा ले आता, उसीको मिट्टीके प्यालेमें ले लेते और पा लेते। साथ ही आपका एक नियम यह भी था कि जो भी पहले भिक्षा ले आता, उसीको लेकर पा लेते थे और बादमें जो कोई कुछ और भोजन या फलादि उनके सामने लेकर जाता तो उसके हाथ नहीं लगाते थे और उससे कहा करते थे कि अरे भाई! हमें तो कोई-न-कोई खिला ही देगा, तू यदि ब्राह्मणोंको खिलाता तो कितना पुण्य होता! जो ऐसा कहनेसे वह लानेवाला लौट जाता तब तो ठीक; किन्तु यदि वह न लौटता, बहुत आग्रह करता, तो अपनेसे बहुत दूर वह सामान अलग रखवा लेते और जब कोई सत्सङ्गी आता तो आप उससे कहते कि 'भाई देख, उसमेंसे प्रसाद ले ले। हमने उसके हाथ नहीं लगाया है, अलग रक्खा हुआ है।' इसी प्रकार सब बाँट दिया करते थे। और अपने पास तो केवल एक गुदड़ी, एक गोल मिट्टीका प्याला और एक लँगोटी रखते थे। इसके अतिरिक्त आप अपने पास कभी कुछ भी नहीं रखते थे और मस्तीमें इसी प्रकार विचरा करते थे।

यद्यपि आप सभी वर्णोंके यहाँकी भिक्षा ले लेते थे, परन्तु औरोंको ऐसा करनेका कभी उपदेश नहीं देते थे। आप सबको वर्णव्यवस्था, जात-पाँत, छुआछूत आदि माननेका ही उपदेश दिया करते थे और कहा करते थे कि 'तुम यह न समझ लेना कि स्वामीजी तो सबके यहाँ भिक्षा ले लेते हैं, हम भी अगर ले लें तो

क्या हर्ज है। तुम अगर ऐसा करोगे तो नष्ट हो जाओगे।' एक बार आप श्रीगङ्गाजीके किनारे पड़े हुए थे। उन दिनों अछूतोद्धारका आन्दोलन बड़े जोरसे चल रहा था। कुछ लोग यह सुनकर कि स्वामीजी महाराज सब वर्णोंके यहाँकी भिक्षा ले लेते हैं और वह छुआछूतका कुछ भी विचार नहीं करते, और उन्हें अच्छा समझकर उनके पास गङ्गाजीपर आये। आकर उन्हें प्रणामादि करके वे सब उनके पास बैठ गये। स्वामीजीने आनेका कारण पूछा, तो उन्होंने कहा कि स्वामीजी! हमने आपकी बड़ी प्रशंसा सुनी है। सुना है कि आप भी हमारी तरह सबके हाथकी भिक्षा ले लेते हैं और छुआछूत आदिका भी कुछ विचार नहीं करते। हमलोग भी सब अछूतोद्धारके काममें लगे हुए हैं, हम भी छुआछूत आदि कुछ नहीं मानते।

पूज्यपाद स्वामीजीने यह सुनकर उनको बहुत फटकारा और कहा कि 'तुमलोगोंका कल्याण कभी नहीं होगा। क्योंकि तुम शास्त्रके विरुद्ध कर रहे हो। देखो, हमारा मार्ग दूसरा है और तुम्हारा मार्ग दूसरा है। तुम्हें खान-पानमें आचार-विचारका अवश्य पालन करना चाहिये, नहीं तो तुम्हारा पतन हो जायगा।' वे लोग यह सुनकर चुपचाप वहाँसे उठकर चल दिये।

आप पूरे अद्वैतवादी, ब्रह्मज्ञानी, मस्त महात्मा तो थे ही। उसी मस्तीमें आप माघ-पूसके जाड़ेमें भी बिल्कुल नग्न गङ्गाके किनारे रेतीमें या जंगलकी घोर झाड़ियोंमें पड़े रहा करते थे। जाड़ा है, काँटे हैं, सर्प आदि जीव-जन्तु हैं, इसकी आप कुछ भी परवा नहीं करते थे। एक बार आप गँवैमें ठहरे हुए थे। वहाँपर भी आप उसी प्रकार बिल्कुल नंगे पड़े रहते थे। जाड़ोंके दिन थे। एक दिन रातको ऐसा जाड़ा पड़ा कि आपका मुख टेढ़ा हो गया। परन्तु आपने इसकी भी कुछ परवा नहीं की और फिर भी उसी प्रकार पड़े रहे। गँवैके श्रीकुन्दनलालजी साधु-संतोंके बड़े भक्त थे। उन्होंने जो यह सुना कि स्वामीजीका मुख जाड़ेसे टेढ़ा हो गया है तो वे स्वामीजीके पास दौड़े हुए आये और आपसे और स्थानपर चलनेकी बहुत प्रार्थना की, परन्तु आपने इसे स्वीकार नहीं किया। फिर कुन्दनलालजीने बहुत कोशिश की कि स्वामीजीका किसी प्रकार इलाज हो जाय। उन्होंने एक आदमी डाक्टरको बुलानेके लिये भेजा। स्वामीजीको जब यह मालूम हुआ कि डाक्टर बुलाया जा रहा है तो वे अगले ही दिन वहाँसे प्रातःकाल अँधेरे-अँधेरे ही भाग गये और इलाज नहीं करवाया। आखिर थोड़े दिन बाद उनका मुँह बिना इलाजके ही अच्छा हो गया।

इसी प्रकार आपको एक बार संग्रहणीका रोग हो गया। उन दिनों आप अनूपशहरमें गङ्गा-किनारे ठहरे हुए थे। अनूपशहरके वैद्योंने आपसे दवा खानेकी बहुत प्रार्थना की। पहले तो आप मना करते रहे, परन्तु जब वैद्योंने नहीं माना तो उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। दवा खाने लगे, परन्तु जो उन्होंने परहेज बतलाया था वह परहेज आपने बिल्कुल नहीं किया। वैद्योंने फिर प्रार्थना की कि महाराज! परहेज करिये, तो आपने वैद्योंसे कहा कि तुम हमें दवा खिलाते जाओ तथा और लोग भिक्षा कराते जायँ। अर्थात् आपने परहेज नहीं किया। थोड़े ही दिन बाद स्वयं संग्रहणी जाती रही।

एक बार आप किसी ग्रामके जंगलमें पड़े हुए थे। वहाँ आपको बड़ी भारी तकलीफ हो गयी, यहाँतक कि उठने-बैठनेतककी भी ताकत न रही। जब उस गाँवके कुछ भक्तोंने आपकी तकलीफका समाचार सुना तो दौड़े हुए स्वामीजीके पास आये और स्वामीजीसे कहा कि महाराज! आपको बहुत तकलीफ है, आप हमारे साथ गाँवमें चलिये। आपने उनसे कहा कि

अरे, कोई मैं शरीर थोड़े ही हूँ । क्या मुझे कभी तकलीफ हो सकती है ? मैं और चीज, यह शरीर और चीज । जब सबने यह देखा कि स्वामीजी ऐसे नहीं जायँगे तो उन सबने कहा कि 'स्वामीजी ! इस शरीरको आप अपना नहीं मानते तो न सही, हम तो इसे अपना मानते हैं; यह शरीर हमारा है, हम इसे कष्ट पाते नहीं देख सकते ।' यह कहकर सबने उन्हें उठा लिया और गाँवमें ले गये । वहाँपर जब कुछ-कुछ फायदा होनेको आया तो एक दिन वे चुपचाप उठकर वहाँसे चल दिये ।

आप दयाकी तो साक्षात् मूर्ति ही थे । एक बार आप उन्नाव जिलेके किसी ग्राममें पहुँचे । सन्ध्या हो गयी थी । आप ब्रह्मानन्दकी मस्तीमें नग्न एक पेड़के तले गुदड़ी बिछाकर लेट गये । रात्रिमें उसी गाँवमें किसी किसानके बैलको चोर चुराकर ले गये । गाँवमें थोड़ी देर बाद ही हल्ला मचा और सबने कहा कि चलो, बैलको ढूँढ़ें; कहीं चोर जाता हुआ मिल ही जायगा । ऐसा विचारकर बहुत-से गाँववाले लाठी ले-लेकर बैल ढूँढ़ने निकले । ढूँढ़ते-ढूँढ़ते वे उस जगहपर आये जहाँ स्वामीजी पेड़के नीचे सो रहे थे । उनमेंसे एक आदमीको स्वामीजी दिखायी दिये । उसने सबको पास बुलाकर कहा कि 'लो, चोरका पता तो लग गया । देखो, यह जो पेड़के नीचे पड़ा हुआ है, इसके साथी तो आगे बैल लेकर भाग गये हैं और यह यहीं रह गया है ।' ऐसा कहकर उन सबोंने स्वामीजीको चोर समझकर पकड़ लिया, उनकी गुदड़ी छीन ली और सबने मिलकर उन्हें खूब मारा । लेकिन स्वामीजी बिल्कुल शान्त रहे और कुछ भी नहीं बोले । मारते-मारते स्वामीजीके मुखसे खूनतक बहने लगा । वे फिर उन्हें बाँधकर गाँवमें ले आये और उन्हें किसी चौपालपर ले जाकर एक कोठरीमें बन्द करके डाल दिया । जब प्रातःकाल हुआ तो सबने उन्हें उस कोठरीमेंसे निकाला और पकड़कर उन्हें थानेमें ले जाने लगे । थानेदार स्वामीजीको अच्छी तरहसे जानता था और वह स्वामीजीका बड़ा प्रेमी था । जब गाँववाले उन्हें लेकर वहाँ पहुँचे तो थानेदारने दूरसे इन्हें देख लिया । वह कुर्सी छोड़कर भागा हुआ आया और स्वामीजीके पैरोंमें पड़कर प्रणाम किया । थानेदारको प्रणाम करते देखकर गाँववाले बहुत घबड़ाये कि यह क्या बात है । थानेदारने सिपाहियोंको बुलाकर कहा कि मारो इन दुष्टोंको, ये स्वामीजीको क्यों पकड़कर लाये हैं ? किसानलोग थर-थर काँपने लगे । जब सिपाही उन्हें पकड़ने चले तो स्वामीजीने उन्हें ऐसा करनेसे रोका और फिर थानेदारसे कहा कि देख, जो तू मेरा प्रेमी है तो तू इन्हें कुछ भी दण्ड न दे और इन्हें छोड़ दे तथा सबको मिठाई मँगवाकर खिला । थानेदारने बहुत कुछ कहा, परन्तु स्वामीजी नहीं माने । उन्होंने थानेदारसे मिठाई मँगवाकर उन्हें खिलवायी और तब लौट जानेकी आज्ञा दी । थानेदार यह देखकर दंग रह गया और बोला कि मैंने ऐसा महात्मा तो आजतक कभी नहीं देखा ।

इसी प्रकारकी एक दूसरी घटना और भी हुई थी । एक बार ये किसी नहरके किनारे लेटे हुए थे । उसके पासके गाँवमें कुछ डाकुओंने एक परचा लिखकर चिपका दिया था कि हमलोग अमुक तारीखको गाँवमें डाका डालेंगे । गाँववालोंने जाकर पुलिसमें इत्तला की, जिससे गाँवमें डिप्टी, तहसीलदार तथा और भी बहुतसे हाकिम गारदको साथ लेकर आ गये । एक दिन सिपाही उन डाकुओंकी तलाशमें घूम रहे थे । घूमते-घूमते वे लोग नहरकी तरफ आ निकले । वहाँपर उन्होंने स्वामीजीको पड़े हुए देखा और आपसमें कहा कि लो, एक डाकूका तो पता लगा । इसे पकड़कर ले चलो । स्वामीजीको उन्होंने पकड़ लिया और उन्हें वे तहसीलदारके पास ले गये । तहसीलदार स्वामीजीको

जानता था । उसने स्वामीजीको पकड़ा देखकर सिपाहियोंको खूब बुरा-भला कहा । स्वामीजीने तहसीलदारको समझाया और कहा कि इनका कोई अपराध नहीं है, ये लोग तो डाकू समझकर ही हमें पकड़ लाये हैं । तहसीलदार भी यह देखकर आश्चर्यमें डूब गया । इतनी सहनशीलता !

आपके पास जो गुदड़ी थी, वह भी न जाने कितने सालकी थी । गुदड़ी झीड़-झीड़ हो गयी थी, परन्तु तो भी आप उसे नहीं छोड़ते थे । एक बार आप गङ्गा-किनारे झाड़ियोंमें ब्रह्मानन्दमें मग्न मस्त पड़े हुए थे । जिरौली, जिला अलीगढ़के एक पण्डितजी तथा उनके साथ एक ठाकुर साहब, दोनों झाड़ियोंमें स्वामीजीके पास पहुँचे और स्वामीजीसे हाथ जोड़कर उन्होंने प्रार्थना की कि महाराज ! यह गुदड़िया बहुत पुरानी हो गयी है और सब फट भी गयी है; हम नयी लाये देते हैं, उसे ले लो । आपने नयी लानेको मना कर दिया । जब दोनोंके बार-बार प्रार्थना करनेपर भी स्वामीजी राजी नहीं हुए तो उन दोनोंने स्वामीजीसे जबर्दस्ती वह गुदड़िया छीन ली और रात-ही-रातमें नयी गुदड़िया सीकर उन्हें ला दी । बड़े ऊँचे दर्जेका त्याग था ।

आपके अंदर एक यह भी विशेषता थी कि आपके सत्सङ्गसे जिज्ञासुको तीव्र वैराग्य हो जाता था । उपदेश देनेकी भी आपकी बड़ी विचित्र शैली थी । एक बार एक मास्टर आपके पास दर्शन करने आये और उन्हें प्रणामादि करके उनके पास बैठ गये । फिर उन्होंने पूछा कि स्वामीजी महाराज ! कृपा करके हमें कुछ उपदेश दीजिये । आपने कहा कि भाई ! देख, हमारा तो यही उपदेश है कि 'तू खुदा, तेरा बाप खुदा, तेरी लुगाई खुदा, तेरा बेटा खुदा, सब खुदा-ही-खुदा । जा, बस, यही तेरे लिये उपदेश है ।' फिर बोले—

'हम हैं खुद खुदा, न वह हमसे जुदा ।
जो जाने जुदा, सो न पावे खुदा ॥'

अगर आपसे कोई भक्ति और ज्ञानविषयक प्रश्न करता कि महाराज ! इनमें कौन ठीक है, तो आप कहा करते कि भैया ! पहले बहू बनो, तब सास आप ही बन जाओगे; बिना बहू बने सास कैसे हो जाओगे ? अर्थात् पहले भक्ति करो, ज्ञान आप ही हो जायगा । यह नहीं कि पहले ही ज्ञानी बन जाओ, ऐसा कैसे हो सकता है ? भक्ति करनेकी भी पहले जरूरत है ।

आप एक बहुत उच्च कोटिके जीवन्मुक्त महापुरुष थे । ऐसे विरक्त महात्मा आजकल तो प्रायः कम ही देखनेमें आते हैं । आपके जीवनकी बहुत-सी घटनाएँ हैं, जिनमेंसे दो-ही-चार यहाँपर दी गयी हैं । बाकी स्थानाभावके कारण नहीं दी जातीं । आप इसी प्रकार अन्त समयतक अपनी मस्तीमें विचरते रहे । अपने सत्सङ्गसे भी आपने सैकड़ों-हजारों जीवोंका कल्याण कर दिया । इस प्रकार आपने श्रीपतितपावनी भगवती भागीरथीके पवित्र तटपर लगभग ७-८ वर्ष हुए अपना पाञ्चभौतिक शरीर त्याग दिया और निज स्वरूपको प्राप्त हो गये ।

अब हम जो पूज्यपाद श्रीस्वामीजी महाराज सत्सङ्गमें या और भी समय-समयपर अपनी मस्तीमें दोहा-छन्दमें या फारसीमें कुछ गाया करते थे, उनमेंसे दो-चार नीचे उद्धृत करते हैं—

करे ख़ाना बदोशी की ख़ुदा खुद कार सामानी ।
नया मंज़िल, नया बिस्तर, नया दाना, नया पानी ॥

अपने-अपने मतकी कोइ नाहिं चाहत हानि ।
जो ईश्वर सर्वव्यापक है, (तो) क्यों है खैंचा-तानि ॥

चाहिये तुझको अगर बस्ले सनम ।
घरको ख़ाली ग़ैरसे कर एक क़लम ॥

आँख, कान, मुख मूँदके नाम निरंजन लेय ।
भीतरके पट जब खुलें, (तब) बाहरके पट देय ॥

बोलो संत और उनके भगवान्‌की जय !

ब्रह्मलीन ब्रह्मचारी श्रीब्रह्मानन्दजी महाराजके उपदेश

(प्रेषक—श्रीसीयारामशरणदासजी)

१—मनुष्य वह है, जिसमें प्रकृतिका गुण-दोष पहचानने तथा आत्मोन्नति करनेकी शक्ति हो।

२—सांसारिक उन्नतिके लिये तो बहुत लोग प्रयत्न करते हैं, परन्तु आत्मोन्नतिकी ओर विरलोंका ही ध्यान जाता है। आत्मोन्नति ही सच्ची उन्नति है। जो इसके लिये उद्योग करता है, वही जागरूक है।

३—आत्मोन्नतिका मूल आचरणकी पवित्रता है। मनुष्यके हृदयमें निवास करनेवाला आत्मारूपी हंस प्रतिपल पवित्रताका ही सेवन करता है, वह अपवित्रताकी गन्धसे भी घृणा करता है। इसलिये आत्मोन्नति चाहनेवाले प्रत्येक व्यक्तिको पवित्राचरणका पालन करना चाहिये।

४—मनुष्यकी पापबुद्धि उसे पापोंकी ओर और धर्मबुद्धि धर्मकी ओर खींचती है। इसलिये चेतन पुरुष वही है, जो क्रमशः पापोंका त्याग करके धर्मका संग्रह करता है।

५—पापनाशका सर्वोत्तम साधन गायत्री अथवा भगवान्के नामका जप है। याद रखिये कि इन्द्रियाँ कभी सन्तुष्ट नहीं होतीं। इन्हें आप ज्यों-ज्यों विषय-भोगद्वारा सन्तुष्ट करनेकी चेष्टा करेंगे, त्यों-ही-त्यों इनकी भूख बढ़ती जायगी। इसलिये इनको विषय-भोगोंकी ओरसे मोड़कर भगवान्में लगाइये और इस प्रकार अपना सच्चा कल्याण कीजिये।

६—जहाँ स्वार्थबुद्धि है, वहाँ कर्म-अकर्मका बोध नहीं रहता। जैसे राहुके द्वारा सूर्यका प्रकाश आच्छादित हो जाता है, वैसे ही मोह-ममत्वादि विकारोंसे मनुष्यके विवेकपर परदा पड़ जाता है।

७—अन्तःकरणकी शुद्धि होनेपर ही सद्बुद्धिका उदय होता है तथा उससे पाप-पुण्यकी पहचान होती है। जिस प्रकार बिना पतवारकी नाव नदीके प्रवाहमें बह जाती है, उसी प्रकार सद्बुद्धिसे मन और इन्द्रियोंको न रोकनेपर मनुष्य नाना भाँतिके विषयोंकी धारामें बहते-बहते आसुरी सम्पदाको प्राप्त हो जाता है।

८—आत्माका स्वरूप सच्चिदानन्दमय, सर्वव्यापी एवं विकाररहित है। जो इसे अपने दोषोंसे ढकता है, वह इसकी महान् शक्तिको छिन्न-भिन्न करनेका अपराध करता है।

९—यह जगत् सच्चिदानन्दतत्त्वसे ओत-प्रोत है। इसलिये जिस प्रकार किसी तालाबके गम्भीर एवं शान्त जलमें आघात करनेपर सारा-का-सारा जल हिल उठता है, उसी प्रकार किसी भी जीवात्माको आघात पहुँचानेपर समस्त सच्चिदानन्दतत्त्वको आघात पहुँचता है।

१०—जो मनुष्य अपने हृदय-चक्षुके सामने पड़े हुए अज्ञानरूपी परदेको संयमके शस्त्रसे फाड़कर फेंक नहीं देता, वह देखता हुआ भी अंधेके समान है।

११—मनुष्य-जीवनका चरम ध्येय ईश्वरप्राप्ति ही है। इसकी अभिलाषा रखनेवालोंको अपने समयका हिसाब-किताब रखना चाहिये, उन्हें यह देखते रहना चाहिये कि उनका कितना समय ईश्वरप्राप्तिके अभ्यासमें और कितना समय संसारके कार्योंमें व्यर्थ व्यतीत होता है। यह बात प्रतिक्षण स्मरण रखनेकी है कि ईश्वरप्राप्तिकी कामना रखनेवालोंको लौकिक सुखोंका त्याग करना ही पड़ता है।

१२—अभ्यासके द्वारा सब कुछ साध्य हो सकता है। केवल कहने-सुननेसे कुछ नहीं होता। इसलिये आलस्य और प्रमादको छोड़कर ईश्वरप्राप्तिके लिये अभ्यास करना चाहिये। श्रद्धा, प्रेम, विश्वास और लगनके साथ किया गया अभ्यास अवश्य ही सफलता प्रदान करेगा।

मीठा-मीठा गप, कड़वा-कड़वा थू

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

'बं शंकर, काँटा लगै न कंकर' कहकर लंबी दम लगाते हुए एकने दूसरेको गाँजेकी चिलम दी। उसने भी एक दम जोरसे खींचा और चिलम तीसरेको पकड़ा दी। पास ही कुछ लोग घोट-छान रहे थे। उधर भी गिलास प्रस्तुत हुआ—'जय विजया महारानी, मरे दुश्मनकी नानी।' दूसरेने कहा 'दाऊ व्रजके राजा, भंग पिये तो आ जा।'

वहीं एक साधु और बैठे थे, उनसे भी सबने आग्रह किया; पर उन्होंने अस्वीकार कर दिया। किसीने कहा 'यह नया साधु हुआ होगा।' दूसरेने कहा 'अरे शङ्करजीका प्रसाद है, तनिक इसका आनन्द भी तो देखो।' साधुने चुपचाप कह दिया 'शङ्करजीका प्रसाद पचानेकी मुझमें शक्ति नहीं। यह प्रसाद तो चाहे पचा भी लूँ, पर हलाहल कौन पचावेगा ?' किसीने भी उनकी बातपर ध्यान नहीं दिया। उलटे वे अपमानित ही हुए।

'आजकल मस्तरामका रंग है। क्या पूछना, वह सिद्ध महात्मा है।' दूसरेने कहा 'सिद्ध तो चाहे होता रहे, पर माल गहरे उड़ते हैं।' 'उँह ! संसार तो अंधा है, किसी एकने बड़ाई कर दी तो फिर सब उसके पीछे पड़ जाते हैं।' 'भाई ! हम तो अब मस्तरामके साथ रहेंगे। अब उनके संगमें ही आनन्द है। यहाँ तो दिनमें चार बार स्नान करो; यह करो, वह करो। सारा दिन खटरागमें ही बीतता है। पर वहाँ कुछ भी करना-धरना नहीं है; चाहे स्नान करो या मत करो; पूजा-पाठका तो बखेड़ा ही नहीं है। चाहे जो भी खाते रहो। खाओ और पड़े रहो। हम तो वहीं जायँगे।' कईने एक साथ कहा—'तब हमी क्यों यहाँ रहने लगे ?' कुछने कहा—'पर वह तो धर्म-कर्महीन है।' व्यङ्ग कसा गया—'आप बड़े धर्मात्मा हैं !' बहुत थोड़ी देरतक इस प्रश्नपर विवाद चला, सर्वसम्मतिसे मस्तरामके यहाँ चलनेका निश्चय हुआ। यह पूरी मण्डली वहाँ जा धमकी।

वे दूसरे साधु कई दिनसे बाबा मस्तरामके दर्शनके लिये उत्कण्ठित थे। वे इस प्रदेशके रहनेवाले तो थे नहीं, उन्होंने केवल मस्तरामजीका नाम सुना था। इस दूसरी मण्डलीके साथ ही सुयोग देखकर वे भी उनके दर्शन करने पहुँचे।

(२)

बाबा मस्तराम एक महान् सिद्ध पुरुष थे। सचमुच वे मस्तराम ही थे। न शरीरका पता रहता था, न संसारका। घोर शीतमें रात्रिको खुले आकाशमें नंगे बैठ गये तो बैठे ही हैं; नदीमें उतर गये स्नान करने तो वहीं खड़े हो गये। गर्मीमें धूपमें बैठ गये तो उठनेका ध्यान ही नहीं। किसीने स्मरण कराकर भोजन नहीं कराया तो दो दिन भोजनका ही स्मरण नहीं।

किसीने शाल या दुशाला शरीरपर डाल दिया तो पड़ा है, किसीने रेशमी वस्त्र पहना दिया तो पहने हैं। जहाँ वस्त्र गिर गये, उठाता कौन है; आप फिर दिगम्बर। भोजन करने बैठे और कोई रोके नहीं तो बराबर मुखमें डालते ही जाते हैं। दाल पीना आरम्भ किया तो उसे ही पी डाला; रोटी या चावल—जो हाथमें आया, उदरस्थ हो गया। कभी चटनी या शाकका ही ग्रास सही, फलोंमें छिलके और बीज हुए तो वे भी पेटमें चले गये।

किसीने तंग करनेके लिये गोबर देकर खानेको कहा तो उसे भी खा लिया, किसीने गाँजेकी चिलम दी तो दम लगा लिया, किसीने भंग दी तो उसे भी

पी गये। सुराका प्याला और दूध उन्हें समान थे। उन्हें स्वयं पता ही न था कि शरीरसे क्या हो रहा है। दूसरोंने जैसी प्रेरणा की, वह हो गया। किसी भी बाह्य क्रियाका उनपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। वे अपने-आपमें सदा मस्त रहते थे। प्रत्येक दशामें प्रसन्न थे।

मस्तरामजीका कोई दैनिक कृत्य तो था ही नहीं। जहाँ बैठे रहते वहीं आवश्यकता होनेपर मल-मूत्र त्याग देते। नहीं करते तो महीनों स्नान न करते और जलमें उतरते तो निकलना ही भूल जाते। जिस सर्दीमें जल-को हाथ लगाते हृदय काँपता था, उसीमें वे नदीके शीतल जलमें दिनभर पड़े रहते। बहुत पुकारनेपर सन्ध्याको निकलते। गर्मीमें चार महीनेभर मनमें नहीं आया तो स्नानका नाम न लिया। उन्हें जाड़ा, गर्मी, वर्षा—सब एक-से थे।

कोई किसी कामको रोकता तो या तो छोड़ देते, या कहते 'अरे देखने तो दे कि इसमें क्या सुख है।' सर्दीके स्नानमें लोगोंने जलसे निकलनेको कहा तो कहने लगे 'स्नानका मजा ले रहा हूँ।' गर्मीमें स्नान करनेको कहनेपर बोल पड़े 'मैंने गधा थोड़े ही छुआ है।' मनमें आता तो दूधको भी अस्वीकार कर देते, और नहीं तो विजया भी पी लेते।

यह प्रसिद्ध था कि मस्तराम बाबा जिसे जो कह देते हैं, वह हो जाता है। नाना प्रकारकी कामनाओंसे लोग आते। बाबा किसीको कुछ कहते तो थे नहीं, पर वे लोग बाबाकी सेवा करते और स्वभावतः उनके मुखसे निकले शब्दोंका श्रद्धाके अनुसार अर्थ कर लेते। उनके विश्वासके अनुसार उन्हें फल भी होता था। फलतः बाबाके यहाँ बहुत भीड़ रहने लगी। उपहारोंका बाहुल्य हो गया।

(३)

जहाँ गुड़ होगा, वहाँ चींटे पहुँचेंगे ही। बाबाके पास बेकार खाने-उड़ानेवालोंकी मण्डलियाँ एकत्र हो गयीं। सच्चे भक्त एवं साधु तो एक-दो ही आये, पर केवल दम लगानेवालोंकी जमात जुट गयी। इनमें अधिकांश चलते पुर्जे भी थे। इन लोगोंने उपहारमें आनेवाली वस्तुओंका संग्रह आरम्भ किया। अपने भोगकी सामग्री प्रस्तुत करने लगे।

बाबाको क्या पता कि कौन क्या कर रहा है। आनेवाले श्रद्धालु भक्तोंने इन लोगोंको बाबाका सेवक, शिष्य तथा भक्त समझा। ये लोग अपने-आप बाबा और आगन्तुक भक्तोंके बीचमें मध्यस्थ बन बैठे। बाबाके नामपर अपनी आवश्यकताओंकी माँग होने लगी। 'बाबा-के लिये दूध चाहिये, गाँजा नहीं रहा, सबेरे बाबाको भंगकी आवश्यकता होती है, थोड़े रेशमी वस्त्र चाहिये। बाबाने इतने कम्बलोंकी आज्ञा दी है, इतना साधुओंको दान करो तो तुम्हारा कार्य सफल होगा—यह कहा है।'

इस प्रकार बाबाके नामपर प्रपञ्च बढ़ने लगा। खूब बढ़ा-चढ़ाकर बाबाके नित्य नये चमत्कारोंका ये लोग वर्णन भी करते थे। प्रकट रीतिसे ये अपनेको बाबाका परम भक्त बतलाते थे और उनके प्रति तनिक भी उपेक्षा प्रकट करनेवालेसे झगड़ा करनेको उद्यत हो जाते थे। श्रद्धालु लोग इनकी बातोंपर विश्वास करते थे। इनकी माँगोंको पूर्ण करते थे।

इन बनावटी सेवकोंके मारे बाबाके पास हर एक व्यक्ति पहुँच भी नहीं सकता था। बाबातक पहुँचनेके लिये इन्हें प्रसन्न करना ही पड़ता था। इनके व्यूहको तोड़कर वहाँतक पहुँचना सरल नहीं था। कोई पहुँच भी गया तो ये उसे बाबाके सामने ही कुछ कहनेसे रोक देते थे। आवश्यकता पड़नेपर चले जानेको कहते तथा डाँटते भी थे। बाबा मना भी करते तो उनकी बातोंकी उपेक्षा कर जाते।

बाबाको इन प्रपञ्चोंसे क्या मतलब ? उन्हें इन सब

बातोंका पता भी नहीं लगता था । जिसे शरीरका ही पता नहीं, वह छल-कपटको क्या समझे ? बाबाका व्यवहार पूर्ववत् चलता रहा । शिष्य लोगोंके सामने तो उनकी पूजा करते और पीछे उन्हें जल देनेका भी ध्यान नहीं रखते थे । बाबाको तो मान-अपमान एक-से प्रतीत होते थे । इनमें दो-चार अच्छे भी थे । उन्हें बड़ी कठिनाई उठानी पड़ती थी । वे चुपचाप अपनी आवश्यक सामग्री लेकर एक कोनेमें पड़े भजन-पूजन किया करते। उन्हें कोई जानता भी न था। उनके इस पूजा-पाठमें भी उनके साथी विघ्न डालते । सदा उन्हें भगा देनेकी चेष्टामें रहते ।

(४)

एक दिन मनमें आयी, बाबा उठे और एक ओर चल दिये । जितने श्रद्धालु लोग साथ थे, संग हो लिये। आश्रमके सब लोग भी चले । ये सेवक कुछ साथ लेना भूल गये । उन्होंने सोचा 'बाबा किसी गाँवमें चलेंगे, आज वहीं माल उड़ेगा ।' पर बाबाने थोड़ी दूर चलकर ही मार्ग बदल दिया, वे गंगाजीकी रेतीमेंसे चलने लगे।

सबेरेसे चलते-चलते तीसरा पहर हो गया, पर बाबा बैठनेका नाम नहीं लेते थे । जब कोई बैठनेको कहता तो कह देते 'आज चलनेका मुहूर्त है ।' सबने हठ किया, दुराग्रह किया; पर वे न माने । आज उनपर कोई धुन सवार थी । सेवकोंने बहाने बनाकर लौटना चाहा, पर उन्हें साथ आनेके लिये बाबाने बार-बार स्पष्ट निर्देश किया । बाहरके लोग साथ थे, अतः सबके सामने बाबाकी आज्ञाकी मर्यादा भी रखनी थी। संकोच-के मारे वे लौट भी न सके । मनमें तो बाबाको भला-बुरा कह ही रहे थे ।

प्यासके मारे मुख सूख गया था, भूखों दम निकला जा रहा था, न तो एक चिलम तम्बाकू मिला और न एक प्याला भंग । शरीर थककर चूर हो रहा था । सहसा बाबा एक गाँवकी ओर मुड़े । थोड़ी आशा हुई, पर व्यर्थ । गाँव क्या था, श्वपचोंके कुछ झोंपड़े थे । बाबाने देखा कि एक श्वपच जूठी पत्तलोंका अन्न टोकरेमें सुखा रहा है । वहाँ जाकर उसमेंसे एक ग्रास उठाकर मुखमें डाल लिया । भूखे सेवकोंको एक बहाना हाथ आ गया । 'जब गुरु ही ऐसा करने लगे तो सेवक पीछे क्यों रहें ?' वे लोग पूरे टोकरेका अन्न चट कर गये । भूखकी तीव्रतामें विचार नष्ट हो चुका था । बाबा आगे बढ़े और थोड़ी दूरपर जो कलारकी दूकान थी, उसमें घुस गये । सबके देखते-देखते ताड़ीका एक प्याला चढ़ा गये । सेवकोंने सोचा चलो, आज यही नशा सही । उन्होंने भी बाबाका अनुसरण किया ।

बाबाने दोनों बार बड़ी तीक्ष्ण दृष्टिसे उन लोगोंकी ओर देखा । कोई भी बाबाकी इस दृष्टिका अर्थ न समझ सका । बाबाके साथ जो दूसरे श्रद्धालु गृहस्थ आये थे, वे कैसे इस भोजन-पानमें सम्मिलित होते ? उनके अतिरिक्त जो आश्रमके कुछ पूजा-पाठ करनेवाले भक्त थे, वे भी तटस्थ ही रहे । उन्होंने भी इन कृत्योंमें भाग नहीं लिया ।

कुम्हारने बर्तन पकनेके लिये लगा रक्खे थे, अग्निका स्तूप दहक रहा था । बाबा दौड़कर उस ज्वालापुञ्जके ऊपर बैठ गये । सबने आश्चर्यसे देखा, वे बड़े-बड़े अंगारे मुखमें डाल रहे हैं । बाबाने सेवकों-को डाँटकर कहा—आओ, इस अरुण फलका भी स्वाद लो । उन लोगोंने हाथ जोड़कर कृत्रिम नम्रतासे कहा 'भला, हम तुच्छ लोग आपकी समता कर सकते हैं !'

बाबा अग्निसे बाहर निकल आये । उन्होंने कहा, 'श्वपचके अन्न तथा ताड़ीमें तो तुम मेरी समता कर सकते हो और यहाँ तुच्छ जीव हो गये ! 'मीठा-मीठा गप और कड़वा-कड़वा थू ।' जाओ, तुम सब तो भ्रष्ट हो ।' बाबाने उन सात्त्विक भक्तोंको हृदयसे लगाते हुए कहा, 'सचमुच तुमने ही धर्मके तत्त्वको समझा है । तुम्हीं मेरे वास्तविक अनुयायी हो ।'

बाबाके नामपर दोनों प्रकारके लोगोंने सम्प्रदाय चलाये । एक तो सात्त्विक हैं और दूसरे दूसरोंके अनुरूप ।

प्रकाशकी खोजमें ईश्वरानुभूति

(महात्मा टाल्स्टाय)

तार्किक ज्ञानके भ्रमकी चेतनाने मेरी व्यर्थके युक्तिवाद या विवादके प्रलोभनसे छुड़ानेमें सहायता की। यह विश्वास कि सत्यका ज्ञान तदनुकूल आचरण-से ही हो सकता है, मेरे अंदर अपनी जीवन-विधिके औचित्य और सचाईमें सन्देह पैदा करनेका कारण हुआ; लेकिन मेरी रक्षा केवल इस कारण सम्भव हुई कि मैं अपने अलग-अलग रहने और अपनेको एक विशिष्ट वर्गका मान लेनेके भावको छोड़ सका और देहातके लोगों, मेहनत-मजदूरी करनेवालोंके वास्तविक जीवनको देख सका तथा यह समझ सका कि केवल यही सच्चा जीवन है। मैंने समझ लिया कि यदि मैं जीवन और उसके अर्थ या प्रयोजनको समझना चाहूँ तो मुझे परान्नजीवीकी नहीं बल्कि सच्ची जिंदगी बितानी चाहिये और सच्ची मानवताने जीवनको जो अर्थ प्रदान किया है, उसे ग्रहण करना और अपनेको उस जीवनमें निमग्न करके उसको पहचानना चाहिये।

उस जमानेमें मेरे ऊपर जो गुजरी, उसकी दास्तान यों है। पूरे सालभरतक जब प्रतिक्षण मेरे मनमें यह प्रश्न उठता था कि क्यों न मैं गोली या फाँसीकी रस्सीसे सारे झगड़ेका खात्मा कर दूँ, तभी उन विचारधाराओंके साथ-साथ (जिनका ऊपर मैंने जिक्र किया है) मेरा हृदय एक वेदनामयी अनुभूतिसे दब रहा था। इसे मैं ईश्वरकी खोजके सिवा और कुछ कहनेमें असमर्थ हूँ।

मैं कहना चाहता हूँ कि ईश्वरकी इस खोजमें तर्क नहीं, अनुभूति थी। क्योंकि यह खोज मेरे विचार-प्रवाहसे नहीं पैदा हुई थी (उसमें तो इसका प्रत्यक्ष विरोध था), बल्कि हृदयसे उद्भूत हुई थी। यह किसी अज्ञात प्रदेशमें अनाथ और इकले पड़ जाने और किसीसे सहायता पानेकी आशाकी भावना थी।

यद्यपि मुझे पूरा विश्वास था कि ईश्वरके अस्तित्वको सिद्ध करना असम्भव है (कांटने दिखा दिया था और मैं उसकी बातको समझता भी था कि उसे सिद्ध या प्रमाणित नहीं किया जा सकता); फिर भी मैं ईश्वरकी प्राप्तिकी चेष्टामें लगा रहा। मैंने आशा रक्खी कि वह मुझे प्राप्त होगा और पुराने स्वभाववश उस ईश्वरके प्रति प्रार्थना और विनय करता रहा, जिसकी मुझे खोज थी पर जिसे अभीतक मैंने पाया न था। कांट और शॉपेनहारने जिन तर्कोंके द्वारा ईश्वरके अस्तित्वको प्रमाणित करना असम्भव बताया था, उन सबपर मैं मनमें विचार करने लगा; मैंने उनकी जाँच शुरू की और उनका खण्डन करने लगा। मैंने अपने तईं कहा कि 'कारण' या हेतु काल एवं देशकी भाँति कोई वस्तु नहीं है। यदि मेरा अस्तित्व है तो इसका कोई कारण अवश्य होगा और फिर इन कारणोंका भी कोई कारण होगा। और सबका जो प्रथम या मूल कारण है, उसे ही लोगोंने 'ईश्वर' कहा है। मैं इस विचारपर रुका और अपनी सारी शक्तिके साथ उस आदि कारणकी सत्ताको अनुभव करनेकी कोशिश की। और ज्यों ही मैंने स्वीकार किया कि कोई ऐसी शक्ति अवश्य है, जिसके वशमें मैं हूँ, त्यों ही मैंने अनुभव किया कि अब मेरे

लिये जीना सम्भव है। लेकिन फिर मैंने अपनेसे प्रश्न किया—'वह कारण या शक्ति क्या है ? उसका चिन्तन मुझे किस प्रकार करना चाहिये ? उस शक्तिके साथ, जिसे मैं 'ईश्वर' कहता हूँ, मेरा सम्बन्ध क्या है ?' इन सवालोंका मुझे वही पूर्वपरिचित उत्तर मिला—'वह स्रष्टा और पालक है।' इस उत्तरसे मुझे सन्तोष नहीं हुआ और मैंने अनुभव किया कि जिस चीजकी मुझे अपने जीवनके लिये आवश्यकता है, उसे मैं अपने अंदर-ही-अंदर खो रहा हूँ। मैं डर गया और जिस ईश्वरकी खोजमें मैं था, उसीसे प्रार्थना करने लगा कि वह मेरी सहायता करे। लेकिन मैं जितनी ही प्रार्थना करता था, उतना ही मुझे यह स्पष्ट होता गया कि 'वह' मेरी नहीं सुनता तथा और कोई ऐसा है नहीं, जिसके सामने मैं अपनी पुकार करूँ। तब हृदयकी गहरी निराशाके साथ मैंने कहा—'प्रभो ! मुझपर कृपा करो, मेरी रक्षा करो। हे नाथ ! मुझे ज्ञान दो।' परन्तु किसीने मुझपर कृपा नहीं की और मैं अनुभव करने लगा कि मेरे जीवनकी गति रुक रही है।

लेकिन हर तरफसे टकराकर बार-बार मैं इस नतीजेपर पहुँचता कि बिना किसी कारण या हेतु या प्रयोजनके इस संसारमें मेरा आगमन सम्भव नहीं है; मैं पक्षीके उस बच्चेकी तरह नहीं हो सकता जो यकायक अपने घोंसलेसे नीचे गिर पड़ा हो। और यदि मैं मान भी लूँ कि बात ऐसी ही है और मैं पीठके बल लंबी घासोंपर पड़ा हुआ चीख रहा हूँ, तब भी तो मैं चीखता इसीलिये हूँ कि मैं जानता हूँ कि एक माँने मुझे अपने पेटमें बढ़ाया, सेया, जन्म दिया और चारा चुगा-चुगाकर मुझे बड़ा किया है तथा वह मुझे प्यार करती है। तब वह—वह माँ कहाँ है ? अगर मुझे त्याग दिया गया है तो वह कौन है, जिसने मुझे त्यागा है ? मैं अपनेसे यह बात छिपा नहीं सकता कि किसी-न-किसीने मुझे जन्म दिया, पाला और मुझे प्रेम किया है। तब वह 'कोई' कौन है ? फिर वही उत्तर—'ईश्वर' ! तब वह मेरी खोज, मेरी निराशा और मेरे संघर्षको देख रहा है।

तब मैंने अपने मनमें कहा—'उसका अस्तित्व है।' इसे स्वीकार करनेके क्षणभरमें ही मेरे अंदर जीवन जाग उठा और मुझे जीवनके आनन्द और सम्भवनीयताका अनुभव हुआ। पर फिर वही बात हुई; ईश्वरके अस्तित्वकी इस स्वीकृतिके बाद फिर मैं उसके साथ अपने सम्बन्धका पता लगाने चला……… बस, वह जगत् और ईश्वर मेरी आँखोंके सामने ही बर्फके टुकड़ेकी तरह पिघलकर बह गया; उसका कोई चिह्न नहीं रह गया; और फिर मेरे अंदर जीवनका वह स्रोत सूख गया। निराशासे मेरा मन भर गया और मैंने अनुभव किया कि सिवा अपना अन्त कर डालनेके अब मैं और कुछ नहीं कर सकता और सबसे बुरी बात तो यह थी कि मैं अनुभव करता था कि मैं अपनी हत्या भी नहीं कर सकता।

केवल दो या तीन बार नहीं, बल्कि सैकड़ों बार मेरी यही दशा हुई—पहले आनन्द एवं उल्लास और फिर जीवनकी असम्भवनीयताकी चेतना और निराशा।

मुझे याद है, वसन्तके आरम्भके दिन थे। मैं वनमें अकेला चुपचाप बैठा उसकी ध्वनि सुन रहा था। जैसा कि मैंने बराबर पिछले तीन वर्षोंमें किया था, उसी विषयपर मैं ध्यान लगाकर सोच रहा था। मैं पुनः ईश्वरकी खोजमें था।

मैंने झुँझलाकर अपनेसे कहा—'अच्छा, मान लो कोई ईश्वर नहीं है; कोई ऐसा नहीं है, जो मेरी

कल्पनाके बाहरकी वस्तु हो और मेरे सम्पूर्ण जीवनकी तरह वास्तविक हो। उसका अस्तित्व नहीं है और कोई चमत्कार उसके अस्तित्वको प्रमाणित नहीं कर सकते। क्योंकि चमत्कार तो मेरी ही कल्पनाके अन्तर्गत हैं; फिर वे बुद्धिग्राह्य भी नहीं हैं।

'लेकिन जिस ईश्वरकी मैं खोज करता हूँ, उसके प्रति मेरा यह अन्तर्बोध, मेरी यह अन्तर्धारणा ? यह अन्तर्बोध कहाँसे आया ?' बस, यह सोचते ही फिर मेरा अन्तस् जीवनकी आनन्दमयी लहरोंसे भर गया। मेरे चतुर्दिक् जो कुछ था, सब जीवनसे पूर्ण और सार्थक हो उठा। लेकिन मेरा यह आनन्द अधिक समयतक स्थिर न रह सका। मेरा मन फिर अपनी उधेड़-बुनमें लग गया।

मैंने अपने मनमें कहा—'ईश्वरकी धारणा तो ईश्वर नहीं है। धारणा तो वह चीज है, जो मेरे ही अंदर जन्म लेती है। ईश्वरकी धारणा तो एक ऐसी चीज है, जिसे हम अपने अंदर बना सकते या बननेसे रोक सकते हैं। यह तो वह चीज नहीं है, जिसकी खोजमें मैं हूँ। मैं तो उस चीजकी खोज कर रहा हूँ, जिसके बिना जीवन सम्भव ही न हो।' बस, फिर मेरे बाहर-भीतर जो कुछ था, मानो सब निर्जीव होने लगा और फिर मेरे मनमें अपनेको खत्म कर देनेकी इच्छा पैदा हुई।

किन्तु तब मैंने अपनी नजर अपनेपर और मेरे अंदर जो कुछ चल रहा था, उसपर डाली और जीवनकी गतिके बंद होने और फिर प्रफुल्लता तथा स्फूर्तिका प्रवाह जारी होनेकी उन क्रियाओंका स्मरण किया, जो मेरे अंदर सैकड़ों बार घटित हो चुकी थीं। मुझे याद आया कि मुझमें सिर्फ तभीतक जीवनकी अनुभूति हुई है जब-जब मैंने ईश्वरमें विश्वास रक्खा है। जो बात पहले थी, वही अब भी है; जीनेके लिये मुझे सिर्फ ईश्वरके अस्तित्वके निश्चयकी जरूरत है; और ज्यों ही मैं उसे भूलता हूँ या उसमें अविश्वास करता हूँ, त्यों ही मेरी मृत्यु निश्चित है।

तब स्फूर्ति और मृत्युके ये अनुभव क्या हैं ? जब ईश्वरके अस्तित्वमें मेरे विश्वासका लोप हो जाता है, तब मानो मेरी जीवन-शक्तिका अन्त हो जाता है; तब मैं अपनेको जीता हुआ नहीं महसूस करता। अगर मेरे अंदर उसे पानेकी एक धुँधली-सी आशा न होती तो अबतक कभी मैं अपनी हत्या कर चुका होता। अपनेको सचमुच जीता हुआ तो मैं तभीतक अनुभव करता हूँ, जबतक मुझे 'उस'की अनुभूति होती रहती है और मुझे उसकी खोज रहती है। 'तुम और क्या खोजते हो ?' मेरे अंदर एक आवाज हुई। 'यही वह है। 'वह' वह है जिसके बिना कोई जी नहीं सकता। ईश्वरको जानना और जीवित रहना एक ही बात है। ईश्वर ही जीवन है।'

'ईश्वरकी खोज करते हुए जिओ, तब तुम्हारा जीवन ईश्वरहीन न होगा।' तब मेरे अंदर और बाहर जो कुछ था, सब प्रकाशसे पूर्ण हो उठा और उस प्रकाशने फिर मुझे परित्याग नहीं किया।

इस प्रकार मैं आत्महत्यासे बच गया। यह मैं नहीं कह सकता कि कब और कैसे यह परिवर्तन हुआ। जैसे धीरे-धीरे मेरे अंदरकी जीवन-शक्ति नष्ट हो गयी थी और मेरे लिये जीना असम्भव हो उठा था, जीवनकी गति बंद हो गयी थी और मुझे आत्महत्या करनेकी आवश्यकता प्रतीत होती थी, उसी तरह धीरे-धीरे मेरे अंदर जीवन-शक्तिका प्रत्यागमन हुआ।............

मैं पुन: उसी अवस्थामें पहुँच गया, जो बचपन और किशोरावस्थाके प्रारम्भिक दिनोंमें थी। पुन: मेरे हृदयमें उस सङ्कल्प-शक्ति (ईश्वरेच्छा) के अंदर विश्वास हुआ जिसने मुझे उत्पन्न किया और जो मुझसे कुछ आशा रखती है। मैं पुन: इस विश्वासपर पहुँचा

कि मेरे जीवनका प्रधान और एकमात्र उद्देश्य पहलेसे अधिक अच्छा होना अर्थात् ईश्वरेच्छाके अनुकूल जीवन व्यतीत करना है।………मतलब यह कि मैं ईश्वरमें, नैतिक पूर्णतामें और जीवनके प्रयोजनकी परम्परामें विश्वास करने लगा। दोनों अवस्थाओंमें अन्तर इतना ही था कि उस समय ये सब बातें बिना ज्ञानके स्वीकार किये हुए था, किन्तु अब मैं जान गया था कि इसके बिना मेरा जीवन ही असम्भव है।

मुझपर जो बीती, वह कुछ इस तरहकी बात थी। मैं एक नावमें (मुझे याद नहीं है कब) चढ़ा दिया गया और किसी अज्ञात किनारेसे धक्का देकर नदीकी ओर बढ़ा दिया गया; दूसरे किनारेकी तरफ़ इशारा करके गन्तव्य स्थानका एक धुँधला-सा आभास मुझे दे दिया गया और मेरे अनभ्यस्त हाथोंमें डाँड पकड़ा देनेके बाद लोगोंने मुझे अकेले छोड़ दिया। मैंने अपनी शक्तिभर खेकर नावको आगे बढ़ाया; लेकिन ज्यों-ज्यों मैं मध्यधाराकी ओर बढ़ा, त्यों-त्यों प्रवाह तीव्र होता गया और वह बार-बार मुझे मेरे लक्ष्यसे दूर बहा ले जाने लगा। अपनी तरह मैंने और भी बहुत-से लोगोंको धारामें बह जाते देखा। कुछ ऐसे नाविक थे, जो बराबर खेते भी जा रहे थे; दूसरे कुछ ऐसे थे, जिन्होंने अपनी पतवार डाल दी थी। वहाँ मैंने आदमियोंसे भरी हुई अनेक बड़ी-बड़ी नावें देखीं। कुछ धारासे संघर्ष करती थीं; कुछने उसके आगे आत्मसमर्पण कर दिया था। जितना ही आगे मैं बढ़ता गया, उतना ही मेरा ध्यान अपनी दिशा भूलकर धाराकी ओर बहे जाते हुए लोगोंकी ओर अधिकाधिक आकर्षित होता गया और उतना ही मैं अपना मार्ग और लक्ष्य, जिधर जानेका संकेत मुझे किया गया था, भूलता गया। ठीक मध्यधारामें, जहाजों और नावोंकी उस भीड़में जिन्हें धारा बहाये लिये जा रही थी, मैं अपनी दिशा बिल्कुल भूल गया और मैंने भी अपनी पतवार डाल दी। मेरे चारों तरफ़ हँसते और उल्लास मनाते हुए वे सब लोग थे, जो धाराके साथ बहे जा रहे थे; वे सब लोग मुझे तथा एक-दूसरेको यह विश्वास दिला रहे थे कि और किसी दिशामें जाना सम्भव नहीं है। मैंने उनका विश्वास कर लिया और उनके साथ बहने लगा। बहुत दूरतक बहता हुआ चला गया—इतनी दूरतक कि मुझे नदीकी तीव्र धाराओंके गिरनेका ज़ोरदार शब्द सुनायी पड़ने लगा और मैंने समझ लिया कि अब मेरा नाश निश्चित है। मैंने उस प्रपातमें नावोंको टुकड़े-टुकड़े होते देखा। मैंने अपना होश-हवास दुरुस्त करनेकी चेष्टा की। एक अर्सेसे मैं यह समझनेमें असमर्थ था कि मेरे साथ क्या घटनाएँ घटित हुई हैं। मुझे अपने सामने सिवा उस विनाशके और कुछ दिखलायी न देता था, जिसकी ओर मैं तेज़ीसे बहता चला जा रहा था और जिसका भय मेरे प्राणोंमें समा गया था। मुझे कहीं रक्षाका कोई स्थान दिखायी न पड़ता था और मैं नहीं जानता था कि मुझे क्या करना चाहिये। किन्तु जब मैंने पीछेकी ओर दृष्टि फेरी तो यह देखकर आश्चर्यचकित रह गया कि असंख्य नौकाएँ श्रमपूर्वक लगातार धाराको काटकर बढ़ रही हैं और तब मुझे किनारेका, डाँडोंका और अपनी दिशाका स्मरण आया और मैंने पीछे लौटकर और धाराको चीरकर तटकी ओर बढ़नेमें अपनी शक्ति लगायी।

यह तट ईश्वर था; दिशा परम्परा थी; और तटकी ओर बढ़ने तथा ईश्वरसे मिलनेकी जो स्वतन्त्रता मुझे दी गयी थी, वही पतवार थी। इस प्रकार ईश्वरकी अनुभूति पाकर, जीवनकी शक्ति पुनः मेरे अंदर जाग्रत् हुई और पुनः मैंने जीना आरम्भ किया।

(अनु० श्रीरामनाथ 'सुमन')

इच्छा प्रवृत्तिकी जननी है

(लेखक—श्रीब्रजमोहनजी मिहिर)

अपनी आदतोंपर गौर करनेका हमलोगोंको कोई ध्यान नहीं रहता। हमारे समस्त कार्य आदतकी प्रेरणासे होते हैं। इसमें अच्छे और बुरे दोनों प्रकारके कार्य सम्मिलित हैं। वासनाके रहते हुए, चाहे हम उसपर विचार करें या न करें, कर्मके अनुसार उसका फल अवश्य होता है। जिस काममें हमारा मन लगता है, चाहे वह अच्छा काम हो या बुरा, उसके करते हुए हमारा ध्यान उसके परिणामकी ओर नहीं जाता। इस समय फलकी इच्छा गुप्तरूपसे मनमें निहित रहती है। कार्यकी समाप्तिके पश्चात् वासनायुक्त मन उसके फल अथवा परिणामकी विशेष उत्सुकतासे बाट जोहता है, लेकिन निन्दनीय कार्यकी समाप्तिपर फलकी कोई वाञ्छा नहीं करता। मेरे विचारसे तो वासनायुक्त कार्य—चाहे वे अच्छे हों या बुरे—सभी अपूर्ण हैं, अतएव त्याज्य हैं।

वासनायुक्त मन ही कार्यकी पुनरावृत्ति करता है। इच्छाके वशीभूत होकर सुखकी लालसासे बारंबार किया हुआ कार्य कालान्तरमें मनुष्यका स्वभाव बन जाता है। बादमें तो किसी कामकी आदत हो जानेसे मनुष्य अनायास ही वह काम करने लगता है। आदतको अच्छाई और बुराईसे कोई सरोकार नहीं रहता। इन्द्रियोंके सुखकी लालसा स्वभावसे कार्य करा लेती है। यही कारण है कि आदतपर जिन्दगीकी बहुत कुछ बातें निर्भर करती हैं। बुरी आदत तो खराब है ही, लेकिन किसी अच्छे कामको करनेकी भी जब आदत पड़ जाती है तो उसके किये बिना चैन नहीं पड़ता। अतः आदत चाहे अच्छी हो या बुरी, वासनासे रञ्जित होनेपर वह बन्धनरूप है और दुःखका मुख्य कारण है। कुछ अच्छी या बुरी बातोंकी आदत पड़ जानेसे बहुत-सी आवश्यकीय बातें, जिनका जीवनके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है, गम्भीर विचारसे रहित हो जाती हैं। हमारी आदतें जीवनके मार्गमें रुकावट डालती हैं। ये हमें जो वस्तु जैसी है, उसे उसी ढंगसे नहीं समझने या देखने देतीं। आदतका यह चक्र हमें जीवनकी आवश्यकीय बातोंके जाननेसे बच जानेका एक बहाना सामने रख देता है। इससे सबसे बड़ा अनिष्ट यह होता है कि हमारी बहुत-सी समस्याएँ, जिनके कारण प्राणी अपनी वास्तविक दशाको नहीं समझ पाता, यों ही पड़ी रह जाती हैं। इससे बादमें दुःख होता है और अशान्ति भी। जीवन फीका हो जाता है, नैराश्य छा जाता है, लेकिन चैन फिर भी नहीं मिलता। मनकी चञ्चलतामें वासनाकी बागडोर सदा ढीली रहा करती है। निराशाके घने बादलोंके अंदर हम आशाके झिलमिलाते हुए प्रकाशकी छबि देखना चाहते हैं।

वर्षा-ऋतुके घने बादलोंसे होकर कभी-कभी सूर्यरश्मियाँ क्रीडा करती हुई हमारे सम्मुख आती हैं और अपनी दिव्य ज्योतिके प्रकाशमें आनेका हमें निमन्त्रण देती हैं। लेकिन ज्यों ही उनके सुखके आँचलमें बैठनेकी मैं चेष्टा करता हूँ, वे हमें निराश कर अपने प्रियतम काले घने बादलोंके अङ्कमें जा छिपती हैं। मैं देखता-का-देखता रह जाता हूँ, लेकिन उनका कहीं पता नहीं चलता। बादमें उनके प्रियतम कृष्ण मेघोंकी छबि मेरे नेत्रोंके सामने रह जाती है। मैं उन्हींको निर्निमेष नेत्रोंसे देखता हूँ और मन-ही-मन यह आशा करता हूँ कि शायद कभी मुझे इन मेघोंकी कृपासे अपनी प्रेयसीके दर्शनका सौभाग्य प्राप्त हो जाय।

उसीकी कल्पनामें, उसीकी प्रत्याशामें मेरी आँखें मिचने लगती हैं। थोड़ी ही देर बाद मैं घोर निद्रामें निमग्न हो जाता हूँ। बहुत देरतक मुझे होश नहीं रहता। इस प्रकार वर्षा-ऋतुभर घने मेघोंके बीच सूर्यरश्मियोंकी यह क्रीड़ा होती रहती है। बहुत समय बाद जब मेरी आँखें खुलती हैं तो मैं देखता हूँ कि वे काले बादल अब नहीं हैं और मैं दिव्य प्रकाशका जी भरकर दर्शन करता हूँ। मेरी दुनिया फिरसे आरम्भ होती है।

सुखकी लालसासे प्रेरित होकर जितना हम जीवनकी बातोंको समझनेसे भागेंगे, उतना ही हमारे अंदर अज्ञान बढ़ेगा और साथ-ही-साथ भय भी। सुख और भय दोनों सहोदर भाई हैं। सुखकी लालसामें पहलेकी उत्पन्न की हुई आदतोंके बलपर जीवनकी नयी समस्याओंको भी हम दबा देना चाहते हैं।

जब दुःख और अशान्ति बहुत बढ़ जाती हैं तो बुद्धि अपनी ढाल-तलवारके साथ आगे आती है, उसका विश्लेषण करती है, कारण तलाश करती है और किसी युक्तिसे समझौता करानेकी कोशिश करती है, ताकि उस समयका विद्रोह किसी प्रकार शान्त हो जाय। बुद्धिको अपनी सूझपर गर्व होता है और मनको भी सन्तोष हो जाता है। तमसाच्छादित बुद्धि और मन अपने कौशलसे वास्तविक बातको सामने नहीं आने देते। सच्ची बातका सामना करनेमें उन्हें सदा भय मालूम होता है। बुद्धिके कौशलद्वारा बचावकी वह युक्ति ही हमारी आदत बन जाती है। जीवनके दुःख और सुखकी नींव बराबर दृढ़ होती जाती है।

इन सबोंके मूलमें भय है। हमें इसके क्रमको समझना चाहिये। समझसे हमारा अभिप्राय बुद्धिकी सूझसे नहीं है। हमें उन सब बातोंका पूरा ज्ञान होना चाहिये जो कि जीवनमें नित्यप्रति घटित होती रहती हैं। नित्यप्रति क्या होता रहता है, इसे हमें भली प्रकार समझना चाहिये—लेकिन किसी बाह्य तर्क अथवा प्रकरणसे नहीं। कार्यको समझनेसे हमारा यह अभिप्राय है कि उसके क्रममें हमारे सामने उसका सच्चा चित्र अङ्कित हो जाय। इसे जाननेके लिये मन्त्रकी भाँति हमें कोई काम नहीं करना चाहिये। किसी वस्तु-विशेषकी वास्तविकता तथा उसके अस्तित्वका सम्पूर्ण चित्र हमारे सामने होना चाहिये।

जिन-जिन उपायोंद्वारा हम अपने भीतरकी बातोंको दबाते जाते हैं, उनके अन्तरालमें हमारी अन्तर्निहित गुप्त इच्छाएँ हैं, जो हमें किसी मुख्य अभिप्रेतकी ओर आकर्षित कर लेती हैं। इन सबोंका हमें पता हो जाना चाहिये। घटनाओंके थपेड़ोंसे हमारी अज्ञाननिद्रा भग्न तो हो जाती है, लेकिन यही सब कुछ नहीं है। हमें जानना तो यह है कि किसकी सहायतासे अज्ञानका पहिया घूमा करता है। कौन-सी चीज पहियेमें धुरेका काम करती है, जिससे पहियेको जल्दी-जल्दी घूमनेमें सहायता मिलती है। दुःखके अवसरपर कोई बचत ढूँढ़ लेना तो केवल उस युक्तिकी सफलताका परिणाम है। इससे दुःखमें कोई कमी नहीं होती, बल्कि उसकी नींव मजबूत पड़ती जाती है।

किसी पुरानी की हुई बातके दृष्टिकोणसे नयी बातोंको समझना या करना लोगोंके विचारमें अनुभव कहलाता है। किसी नयी बात या कामको करनेके पूर्व लोग ऐसे प्राचीन अनुभवका आश्रय ग्रहण करते हैं और उसके आधारपर नयी बातोंका निर्णय करते हैं। लेकिन अनुभव सदा नवीन है। किसी पुरानी बातके आधारपर किसी नयी बातकी कल्पना असत्य है, वह तो केवल पुरानी बातोंको दोहराना या यों कह सकते हैं कि पूर्वके किये हुए अपूर्ण कार्यको पूर्ण करना रहता है। अधूरा काम या अनुभव बुद्धिकी

अपूर्णताका परिचायक है । प्राचीन अनुभवको नयी बातोंके लिये आधाररूप समझना भ्रान्तिसे खाली नहीं है । अनुभव तो बुद्धिकी पूर्णता और सजगता है । किसी प्राचीन आधारके आश्रित बननेसे यह बात नहीं होती, बल्कि सही बात तो यह है कि सजग बुद्धिके द्वारा सदा पूर्ण कार्य हुआ करता है । उसे भूतकालके किसी अनुभवकी आवश्यकता नहीं होती । सजग बुद्धि सदा वर्तमानमें निवास करती है, वर्तमान ही उसके लिये सब कुछ है; क्योंकि वह किसी कामको भविष्यके अनुभवके लिये अपूर्ण नहीं छोड़ती। किसी स्वार्थके भावसे या अपनी किसी इच्छाकी पूर्तिके हेतु हम पुराने अनुभवोंको आगे लाते हैं । ऐसे अनुभव तो हमारी पुरानी इच्छाको दृढ़ करते हैं या उसे नष्ट करके नयी इच्छा उत्पन्न करते हैं । प्राचीन अनुभवके आधारपर किसी नये कार्यके करनेको लोग आन्तरिक प्रेरणा कह दिया करते हैं । यह भी केवल मनका भ्रम और उसकी क्रीड़ा है, इच्छाकी पूर्तिके लिये एक युक्ति है ।

युक्ति तो केवल सन्तोष प्राप्त करने या सत्य बातपर पर्दा छोड़ देनेके लिये होती है, जो कि आगामी जीवनमें रुकावटका काम करती है और भयका निर्माण करती है । नवीन युक्ति अंदरके भयका परिणाम है और रक्षाके लिये किसी मार्गकी खोज है, जो कि कुछ नियमकी बातोंको सामने रखकर अपने कार्यकी पुष्टि करती है । दो असङ्ग बातोंमें कहनेके लिये कुछ नहीं रहता । इच्छाकी पुष्टि हम चाहे जितनी जोरदार बातोंके आधारपर क्यों न करें, लेकिन वह गुप्त इच्छा और भयका ही परिणाम है ।

कुछ लोगोंको तो अपनी इच्छा और भयका पता रहता है और वे उसे उचित प्रयासद्वारा समाप्त कर देनेकी चेष्टा भी करते हैं; लेकिन ऐसोंकी संख्या बहुत कम है । इन दोनों घातक बातोंकी जानकारी हो जानेके बाद भी अक्सर लोग सोया करते हैं । और यदि कभी कोई प्रयास किया भी तो उसके अनुचित होनेसे ध्येयकी पूर्ति नहीं होती, अपितु उसके बलपर पुरानी इच्छाको नष्ट करके नवीन इच्छाकी सृष्टि की जाती है । बस, यही सदा होता रहता है ।

किस उपाय, आदर्श और नियमकी सहायतासे हम उन्हें नष्ट कर दें—उसे जाननेके पहले हमें यह जानना चाहिये कि वह कौन-सी बलवती इच्छा है, जो हमें अपनी ओर उसकी पूर्तिके लिये खींच लेती है और उसके सम्पादनके लिये प्रेरित करती है । यह केवल बुद्धिद्वारा समझ लेनेकी बात नहीं है, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य इस बातको जानता है और कहता है कि इन्द्रियोंका सुख हमें अपनी ओर आकर्षित कर लेता है । यह तृष्णा इतनी प्रबल होती है कि मन अनायास उनके सुखसम्पादनमें लग जाता है । दुःखको समझना तो वह सत्य है, जिसका सम्बन्ध हमारे नित्यके जीवनमें प्रतिक्षणकी बातोंसे है । अर्थात् यदि हमें रहनेका ढंग मालूम हो जाय, यदि हम उसके लिये सब समय जाग्रत् हो जायँ कि वह तृष्णा कैसे कार्य कराती है, तो बहुत सम्भव है कि एक दिन हमें उससे छुट्टी मिल जाय । इसलिये हम यह अपने दुःखोंसे समझ लें कि इसे उत्पन्न करनेवाली सुखकी इच्छा, भय और आशा है । अब हमें करना यह चाहिये कि जैसे हमने अपनी इच्छाओंके बलपर आदतोंका निर्माण किया है, वैसे ही धीरे-धीरे उचित प्रयासद्वारा उनका विच्छेद करें । इस लगनमें जितना वेग होगा, उतनी ही जल्दी कार्य होगा । कभी-कभी तो घंटों और मिन्टोंमें काम बन जाता है । असफलता होनेपर भी लगनमें कोई कमी न आयेगी । यदि हमारा काम इसमें सिर्फ यह हो कि एक इच्छाको नष्ट करके दूसरी इच्छाको स्थान देते रहें तो उसमें सदा रुकावट आती रहेगी, जो हमें जीवनके रहस्यको कभी न समझने देगी ।

इच्छा भयको उत्पन्न करती है, भय इच्छाको उत्पन्न करता है; इसलिये जीवनकी समस्या और कठिनता सदा नवीन रहती हैं। ये दोनों हमें नयी-नयी आशा बँधाती हैं। जिस समय कोई नया सुख सामने आता है, मनमें तुरन्त भयकी उत्पत्ति होती है और वह यह सोचने लगता है कि कहीं इसका अन्त न हो जाय। स प्रयासमें वह सामने और भी रुकावट खड़ी कर देता है। मनको भागनेके लिये जब कोई चारा नहीं रहता तो बुद्धि सजगता उत्पन्न करती है और जीवनको सही रास्तेपर चलनेका मौका मिलता है।

केवल बुद्धिद्वारा इन्हें हटानेकी जबतक युक्ति सोची जायगी, तबतक हमारे सामने अवरोध है। भयसे छुटकारा पानेके लिये हम उसके रहस्यपर कभी विचार नहीं करते। बुद्धिद्वारा कोई युक्ति ही सोच लेते हैं, जिससे ऐसा मालूम होने लगता है कि अब भयके लिये कोई स्थान नहीं रह गया है। इतना करनेसे उस समयके लिये बात टल जाती है।

जीवनको समझनेके लिये इन युक्तियोंका कोई स्थान नहीं है, इनका कोई महत्त्व नहीं है। कृत्रिम प्रेमद्वारा भी हम इसका नाश नहीं कर सकते। इसका अन्त कर देनेके लिये केवल एक ही उपाय है और वह है जीवनके साथ सच्चा प्रेम। इस धारणाके उत्पन्न हो जानेसे हमें इसकी बातें समझमें आने लगेंगी। प्रेम किसी परिस्थितिको दबाने या नवीन इच्छाको उत्पन्न करनेके लिये नहीं है और न है यह किसी वस्तु-विशेष या किसी व्यक्तिके प्रति। यह जीवनकी एक शुद्ध अवस्था है, जो सब प्रकारके राग-द्वेषसे रहित है। यह किसी स्थितिपर विजय प्राप्त करनेके लिये भी नहीं है। जीवनकी यह पूर्णावस्था है, अतः सब प्रकारके भावोंसे रहित है। इसमें मैंपन अथवा अभिमानका नितान्त तिरोभाव है।

चूनरी पीली रँग, रँगरेज़!

(गीत)

चूनरी पीली रँग-रँगरेज़!
कोई कहता—हरी रँगाओ,
हरे! हरे!! घरमें छा जाओ;
कोई कहता—लाल रँगा लो,
अपना रुतबा रूप जगा लो;
कोई कहता—काली रँग ले,
काली काली करनी कर ले;
ओ चूनरके रँगनेवालो,
पीला प्रेम—रंग रँग डालो;
चमक उठे गुलबदन हमारा—खिले पियाकी सेज!
चूनरी पीली रँग, रँगरेज़!!

—श्रीशिवनारायण वर्मा

श्रीहरिः

मानस-पारायण

इस समय संसारमें सर्वत्र अशान्ति-ही-अशान्ति दीख पड़ती है। जहाँ देखिये वहीं एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तिको, एक समाज दूसरे समाजको, एक जाति दूसरी जातिको, एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रको, एक देश दूसरे देशको हड़प जानेकी ताकमें लगा हुआ है। पशुता और दानवताका नग्न ताण्डव हो रहा है और मानवता पग-पगपर पददलित हो रही है। बल, बुद्धि, समय और धनका उपयोग ध्वंसके ही कार्योंमें हो रहा है। जो शक्ति एक दूसरेकी सेवा-सहायतामें खर्च होकर सुख और शान्तिका कारण बन सकती है, वह एक दूसरेको नीचा दिखानेमें, पददलित करनेमें व्यय हो रही है। योरोपमें और एशियाके पूर्व भागमें युद्धकी विभीषिकासे प्रजा पीड़ित हो रही है तो कहीं बाढ़, महामारी और भूकम्प आदि दैवी विपत्तियोंसे मनुष्योंका संहार हो रहा है। अभी हालमें तुर्कीमें प्रलयकारी भूकम्प हुआ, जिससे हजारों मनुष्य कुछ ही क्षणोंमें मर गये और करोड़ोंकी सम्पत्ति नष्ट हो गयी।

प्राचीनकालमें भी विश्वपर ऐसे सङ्कटके अवसर आये हैं। हमारे ऋषि-मुनियों तथा संत-महात्माओंने डंकेकी चोट बतलाया है कि सामूहिक ईश्वरप्रार्थना, भगवन्नामका जप-कीर्तन, पाठ-पूजा आदि भगवत्सम्बन्धी कार्योंसे ही जगत्में सुख, शान्ति और प्रेमकी वृद्धि होती है और उस दिव्य वृष्टिमें जगत्का समस्त पाप धुल जाता है, सारी अशान्ति, सारे वैर-विरोध बह जाते हैं।

उन्हीं संत-महात्माओंकी दिव्य वाणीका अनुसरण करते हुए ऐसा विचार किया गया है कि आगामी चैत्र शुक्ला १ से चैत्र शुक्ला ९ तक (अर्थात् ८ अप्रैलसे १६ अप्रैलतक) 'कल्याण' के पाठक-पाठिकाओंद्वारा श्रीरामचरितमानसके सवा लाख पारायणोंका आयोजन किया जाय। कार्य है भी बहुत आसान। भगवान्की दयासे इस समय 'कल्याण' के पचास हजारसे ऊपर ग्राहक हैं और हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि हमारे सभी पाठक इस भगवत्कार्यमें सहर्ष भाग लेना चाहेंगे। बड़े भाग्यसे ऐसे पुण्य अनुष्ठानका अवसर आता है। यदि 'कल्याण'का प्रत्येक ग्राहक उक्त समयमें रामायणका एक पूरा पाठ करनेका सङ्कल्प कर ले और अपने परिवार तथा मित्रवर्गमेंसे कम-से-कम दो साथियोंको और सम्मिलित कर ले तो यह कार्य सहजहीमें हो सकता है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि श्रीरामचरितमानस एक आशीर्वादात्मक ग्रन्थ है और उसका प्रत्येक पद एक-एक मन्त्र है तथा उसके पाठसे जगत्भरका और पाठ करनेवालोंका महान् कल्याण होगा।

जो लोग इस पारायणरूप स्वाध्याय-यज्ञमें सम्मिलित हों, वे कृपया निम्नलिखित पतेसे सूचना भेजनेकी अवश्य कृपा करें। पाठके लिये नियम वही हैं जो 'कल्याण' के पाँचवें अङ्कमें दिये गये हैं।

विनीत—

सम्पादक, 'कल्याण' गोरखपुर

Regd. No. A. 175.

श्रीहरिः

कामनाका नाश ही मुक्ति है।

इस जगत्में एक ही बन्धन है, वह है कामना। इसके अतिरिक्त और कोई बन्धन नहीं है। जो पुरुष कामनाके बन्धनसे मुक्त हो जाता है, वह पुरुष ब्रह्मरूप हो जाता है। जिस प्रकार धुमैले मेघोंमेंसे चन्द्रमा निकलता है, वैसे ही वह सब पापोंसे मुक्त होकर प्रकाशित होता है। वह पुरुष धैर्यपूर्वक जीवन व्यतीत करता है; न वह यही चाहता है कि मेरा मरण हो जाय और न यही चाहता है कि मेरी आयु लंबी हो जाय। जैसे कुम्हारके चाकपरसे बर्तन उतार लेनेपर भी चक्करपर चढ़ा हुआ चाक अवधि न आनेतक घूमता ही रहता है, ठीक वैसे ही कर्मोंका नाश हो जानेपर भी जीवन्मुक्त पुरुष निष्कर्मी रहकर जगत्में विचरता है। समुद्रमें चारों ओरका जल आकर भरता रहता है, तब भी वह उछलता नहीं। ऐसे ही सब कामनाएँ जिस पुरुषमें प्रवेश करके समा जाती हैं, वही पुरुष शान्ति पाता है। भोगोंकी इच्छा रखनेवाला पुरुष शान्ति नहीं पाता। वह अहर्निश वासनाकी अग्निमें जलता रहता है।

(महाभारत, शान्तिपर्व)

ॐ
कल्याण
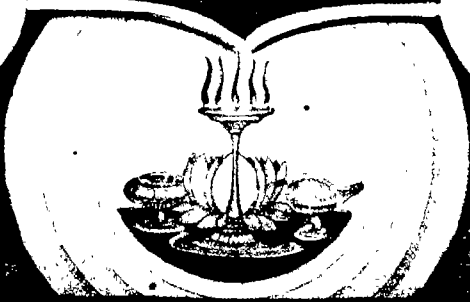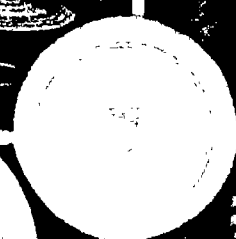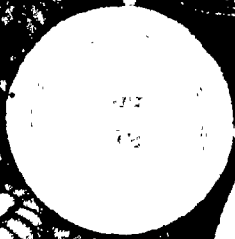
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियराम॥
रघुपति राघव राजा राम। पतितपावन सीताराम॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ आगारा॥

[संस्करण ५६१००]

वार्षिक मूल्य
भारतमें ४≡)
विदेशमें ६।≈)
(१० शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत् चित् आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

साधारण प्रति
भारतमें ।)
विदेशमें ।≡)
(८ पेंस)

Edited by H. P. Poddar and C. L. Goswami, M. A., Shastri.
Printed and Published by Ghanshyamdas Jalan at the Gita Press, Gorakhpur (India).

श्रीहरिः

सवा लाख मानस-पारायणके लिये प्रार्थना

'कल्याण' के पिछले पाँचवें और सातवें अङ्कोंमें पाठक-पाठिकाओंसे यह निवेदन किया जा चुका है कि वर्तमान युग बड़े सङ्कटका युग है। सारा संसार अशान्तिकी आगमें जल रहा है। सर्वत्र किसी-न-किसी बातको लेकर कुहराम मचा हुआ है। महायुद्धकी भीषण ज्वाला तो मानो प्रलयका ही दृश्य उपस्थित करना चाहती है। अतुल सम्पत्तिका व्यय करके ऐसे-ऐसे सांघातिक अस्त्र-शस्त्र तैयार किये जा चुके हैं और तैयार किये जा रहे हैं, जिनसे यह सम्पूर्ण जगत् बात-की-बातमें श्मशान बनाया जा सकता है। ऐसी स्थितिमें प्रत्येक मनुष्यका यह कर्तव्य है कि वह ऐसे उपायोंका अवलम्बन करे, जिनसे जगत्में सुख-शान्ति फैले।

कृपालु पाठक-पाठिकाओंसे यह भी निवेदन किया जा चुका है कि प्राचीन कालमें देश तथा विश्वके सामने जब-जब ऐसे सङ्कट आये हैं, तब-तब हमारे ऋषि-मुनियोंने अखिल लोकमहेश्वर भगवान्की ही शरण लेकर देशकी तथा विश्वकी रक्षा की है। भारतवर्षका इतिहास तो ऐसी घटनाओंसे भरा पड़ा है। भगवान्के दिव्य अवतारों तथा महापुरुषोंका पावन प्राकट्य ऐसे ही समयोंमें हुआ है। इसलिये प्रत्येक नर-नारीको वर्तमान सङ्कटसे त्राण पानेके लिये भगवान्का ही आश्रय ग्रहण करना चाहिये। भगवान्के प्रीत्यर्थ स्थान-स्थानपर कातर भावसे सामूहिक प्रार्थना, जप-कीर्तन, पूजा-पाठ इत्यादि होना चाहिये। इन्हीं कार्योंसे देश-विदेश सर्वनाशसे बचाये जा सकेंगे तथा संसारमें सुख-शान्तिका विस्तार हो सकेगा।

रामचरितमानस तो साक्षात् श्रीभगवान्का वाङ्मय अवतार ही है। उसने अपने प्रणयन-कालसे लेकर अबतक न जाने कितने चमत्कार दिखलाये हैं। उसका एक-एक पद कल्याणकारी सिद्ध हुआ है। ऐसा विश्वास केवल हमारा ही नहीं, बड़े-बड़े अनुभवी संत-महात्माओंका है। इसीलिये हमने वर्तमान सङ्कटकालमें अपना कर्तव्य समझकर 'कल्याण' के पाठक-पाठिकाओंसे यह प्रार्थना की है कि वे आगामी चैत्र मासके नवरात्रमें रामचरितमानसके सवा लाख पारायण करें। उनके इस पुण्यकार्यसे निश्चय ही जगत्का बड़ा भारी उपकार होगा। यह कार्य कुछ भी कठिन नहीं है। 'कल्याण'के ग्राहकोंकी संख्या इस समय भगवान्की दयासे आधे लाखसे ऊपर है। वे सब-के-सब यदि मानस-पारायण-यज्ञमें सम्मिलित हो जायँ और अपने-अपने साथ कम-से-कम दो-दो अन्य व्यक्तियोंको भी उसमें सम्मिलित कर लें तो इतनेहीसे डेढ़ लाख पारायण हो जाते हैं। इसलिये हमारे पाठक-पाठिकाओंको अत्यधिक उत्साह एवं श्रद्धा-विश्वासके साथ इस लोक-कल्याणकारी पारायण-यज्ञमें भाग लेना चाहिये। आशा है, प्रतिवर्ष की जानेवाली नाम-जपकी प्रार्थनाके अनुसार हमारी यह प्रार्थना भी सफल होगी।

मानस-पारायणकी पूरी विधि 'मानसाङ्क'के पृष्ठ १०-११ पर प्रकाशित है। उसके अतिरिक्त 'कल्याण' के पिछले पाँचवें अङ्ककी विषय-सूचीके पृष्ठपर भी प्रस्तावित मानस-पारायणके नियमादि छपे हैं। उन सबको देखकर उनके अनुसार हमारे पाठक-पाठिकाओंको अपने-अपने स्थानपर मानस-पारायण-यज्ञकी धूम मचा देनी चाहिये तथा पारायण समाप्त हो जानेके बाद उसकी सूचना हमारे पास भेजनी चाहिये।

विनीत—

सम्पादक 'कल्याण' गोरखपुर

ज्ञेय तथा ध्याता, ध्यान और ध्येय-इस त्रिपुटीके भानवाली ब्रह्माकारवृत्तिसे युक्त समाधिकी अवस्थाको तुरीयावस्था कहते हैं । सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात भेदसे समाधि दो प्रकारकी है। जिसमें ऊपर बतायी हुई त्रिपुटीका भान रहे, वह सम्प्रज्ञात समाधि है और जिसमें त्रिपुटीका भान न रहे, वह असम्प्रज्ञात समाधि है। जिसको ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तथा ध्याता, ध्यान और ध्येयका भान रहे, उसको योगवाला कहते हैं और जिसको त्रिपुटीका भान न रहे, उसको निद्रालु कहते हैं । त्रिपुटीके भानवाली सम्प्रज्ञात समाधिमें ही योगी वृत्तियोंको ब्रह्माकार करते हैं और जिस समाधिमें त्रिपुटीको अद्वितीय ब्रह्मस्वरूप नादमें लय कर दिया जाता है, उसको तुरीयातीत अवस्था कहते हैं।

हे गौतम! ॐकाररूप प्रणवमें अ, उ, म्, बिन्दु और नाद-ये पाँच अवयव हैं। पहले तीन अवयव विश्व, तैजस और प्राज्ञके वाचक हैं और अर्धमात्रारूप बिन्दु और नाद-ये दोनों ब्रह्मवाचक हैं। बिन्दु अवयव सविशेष ब्रह्मका वाचक है और नाद निर्विशेष ब्रह्मका वाचक है। समाधिमें प्राप्त होनेवाली प्रणवस्वरूप तुरीयातीत अवस्था लाखों योगियोंमेंसे किसी एक योगीको प्राप्त होती है। इस अवस्थाको प्राप्त करनेके लिये योगी प्राणवायुको आकर्षण करके प्रथम उसको आधारचक्रमें स्थिर करता है, फिर एक-एक ऊपरके चक्रमें लाता हुआ अन्तके आज्ञाचक्रमें और दशम द्वारमें ले जाकर उसको वहाँ रखता है । योगाभ्यासके बलसे इस प्रकार प्राणवायुको दशम द्वारमें प्रवेश करानेके पीछे योगी जीवरूप हंसको ध्याता और ब्रह्मरूप नादको ध्येय बनाकर 'हंस' मन्त्रका एक करोड़ संख्यातक जप करता है। जब इतना जप हो जाता है, तब उसको योगसिद्धिमें विश्वास उत्पन्न करनेवाले नाद सुननेमें आते हैं। प्रथम चिणिनाद, दूसरा चिञ्चिणिनाद, तीसरा घण्टानाद, चौथा शङ्खनाद, पाँचवाँ तन्त्रीनाद, छठा तालनाद, सातवाँ वेणुनाद, आठवाँ भेरीनाद, नवाँ मृदङ्गनाद और दसवाँ मेघनाद अन्तरमें सुननेमें आता है। मेघनादके श्रवणसे वैराग्य प्राप्त होता है, इसलिये योगी सभी नादोंको त्यागकर बारंबार मेघनादको श्रवण करता है । ऐसा करनेसे सङ्कल्प, विकल्प और विक्षेप आदि मनके सम्पूर्ण धर्म लयभावको प्राप्त हो जाते हैं और मन ब्रह्माकार हो जाता है। ब्रह्माकारताको प्राप्त हुए योगीको आनन्दस्वरूप आत्माका स्वप्रकाश चैतन्यस्वरूपसे प्रत्यक्ष दर्शन होता है और पीछे वह योगी उसी आनन्दमें मग्न रहता है । नादोंके लिङ्ग इस प्रकार हैं—प्रथम नादमें शरीरमें चिञ्चिणी होती है, दूसरेमें गात्र-भञ्जन होता है, तीसरेमें पसीना आता है, चौथेमें सिर काँपता है, पाँचवेंमें तालु चूता है, छठेमें अमृत बहता है, सातवेंमें गूढ़ विज्ञान, आठवेंमें परा वाणी, नवेंमें देह अदृश्य तथा दृष्टि दिव्य और अमल हो जाती है, दसवेंमें ब्रह्मात्मकी सन्निधिमें परब्रह्म हो जाता है। वहाँ मन लय हो जाता है, पुण्य-पाप जल जाते हैं और सदाशिव, शक्त्यात्मा, सर्वत्रस्थित, स्वयंज्योति, शुद्ध, बुद्ध, नित्य, निरञ्जन और शान्त आत्मा प्रकाशता है। इति वेदप्रवचनम्, इति वेदप्रवचनम् ॥

(१५ वाँ मणि समाप्त)

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ (गीता १८ । ६६)

वर्ष १४ } गोरखपुर, मार्च १९४० { संख्या ८
पूर्ण संख्या १६४

श्यामसुन्दरका सखा-प्रेम

रीझत ग्वाल, रिझावत स्याम ।
मुरली बजावत, सखनि बुलावत सुबल, सुदामा कै लै नाम ॥ १ ॥
हँसत सखा कर तारी दै दै, नाम हमारो मुरली केत ।
स्याम कहत अब तुमहुँ बुलावहु, अपने कर तें ग्वालनि देत ॥ २ ॥
मुरली लै लै सबै बजावत, काहू पै नहिं आवत रूप ।
'सूरस्याम' तुमरेहि मुख बाजति कैसें देखो राग अनूप ॥ ३ ॥

—सूरदासजी

परमहंस-विवेकमाला

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

[मणि १६]

(गताङ्कसे आगे)

चैत्यवर्जितचिन्मात्रे पदे परमपावने ।
अक्षुब्धचित्तं विश्रान्तं जीवन्मुक्तं नमाम्यहम् ॥

होरूशङ्कर–हे देवि ! जिस उपनिषद्को सुनकर वैराग्य उत्पन्न हो, वह उपनिषद् आज सुनाइये । क्योंकि वैराग्य विना ज्ञान यानी मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती ।

देवी—हे सौम्य ! परमहंस संन्यासकी प्राप्तिका साधन वैराग्य ही है, वैराग्य विना संन्यासकी प्राप्ति नहीं हो सकती और अधिकारीके सिवा दूसरेको वैराग्यकी भी प्राप्ति नहीं हो सकती । ब्रह्मासे लेकर चींटीपर्यन्त जितने शरीर हैं, वे सब पञ्चमहाभूतोंके कार्य हैं और श्रोत्रादि इन्द्रियोंके आश्रयवाले हैं; इसलिये वे सब समान हैं, उनमें किसी प्रकारका भेद नहीं है । आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी–ये पाँच महाभूत कहलाते हैं । ये पाँचों भूत स्थूल-सूक्ष्मभेदसे सर्व शरीरोंमें स्थित हैं । सूक्ष्म पञ्चमहाभूतोंसे प्रथम सूक्ष्मशरीरकी उत्पत्ति होती है । आकाशके सात्त्विक अंशसे श्रोत्र, वायुके सात्त्विक अंशसे त्वचा, तेजके सात्त्विक अंशसे चक्षु, जलके सात्त्विक अंशसे रसना और पृथिवीके सात्त्विक अंशसे घ्राण-इन्द्रिय उत्पन्न हुई है । श्रोत्रादि इन्द्रियाँ शब्दादि विषयोंके ज्ञानमें कारणरूप हैं, इसलिये विद्वान् श्रोत्रादि इन्द्रियोंको ज्ञानेन्द्रिय कहते हैं । उपर्युक्त पञ्चमहाभूतोंके राजस अंशसे क्रमशः वाक्, पाणि, पाद, उपस्थ और पायु–ये पाँच इन्द्रियाँ उत्पन्न हुई हैं; विद्वान् इनको कर्मेन्द्रिय कहते हैं । सर्व मनुष्योंके हृदय-कमलमें ज्ञानशक्तिवाला अन्तःकरण है । यह अन्तः-करण वृत्तिभेदसे मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार–चार प्रकारका है । पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण और चार प्रकारका अन्तःकरण—इन सबका समुदाय सूक्ष्मशरीर कहलाता है । सूक्ष्म-शरीरका दूसरा नाम लिङ्ग-शरीर है । यह लिङ्ग-शरीर नेत्रादि इन्द्रियोंका अविषयरूप है । पञ्चीकृत स्थूल पञ्चमहाभूतोंसे स्थूलशरीर उत्पन्न होता है ।

हे प्रियदर्शन ! स्थूल और सूक्ष्म शरीर अध्यात्म और अधिदैव–दो प्रकारके भेदवाले हैं । समष्टि-सूक्ष्मरूप हिरण्यगर्भ अधिदैवरूप सूक्ष्मशरीर है और समष्टि-स्थूलरूप विराट् अधिदैवरूप स्थूल-शरीर है । अतल, वितल, सुतल, तलातल, महा-तल, रसातल और पाताल–ये सात लोक विराट् भगवान्के पदरूप हैं । ऊपरके सात लोकोंमेंसे प्रथम भूलोक विराट् भगवान्का जघनरूप है, अन्तरिक्षलोक नाभिरूप है । स्वर्गलोक हृदयरूप है, महर्लोक मुखरूप है, जनलोक अक्षिरूप है, तपलोक ललाटरूप है और सत्यलोक विराट् भगवान्का शीर्षस्थानीय है । इस प्रकार चौदह लोक विराट् भगवान्के शरीरमें स्थित हैं । 'अहम्', 'मम' इत्याकारक अभिमानका विषयरूप जो व्यष्टि-सूक्ष्म व्यक्ति है, उसका नाम अध्यात्म सूक्ष्मशरीर है । शास्त्रवेत्ता उसको 'तैजस' भी कहते हैं । 'अहम्', 'मम' इत्याकारक अभिमानका विषयरूप जो व्यष्टि-स्थूल व्यक्ति है, उसका नाम स्थूलशरीर है । उसको शास्त्रवेत्ता 'विश्व' भी कहते हैं । जब अध्यात्मरूप स्थूल और सूक्ष्म शरीर अपरोक्षरूपसे प्रतीत होते हैं, तब उनको अधिभूत कहते हैं । जब देहके अध्यात्मको अधिभूतके साथ मिलाकर व्यवहार होता है, तब स्थावर-जङ्गमभेद होता है । परन्तु वे स्थावर-जङ्गम शरीरोंसे भिन्न नहीं हैं किन्तु स्थूल-

सूक्ष्म शरीरोंके अन्तर्भूत ही हैं। जैसे चैत्र पुरुषका शरीर चैत्र नामकी अपेक्षासे अध्यात्मरूप है और चैत्र नामके पुरुषकी अपेक्षासे अधिभूतरूप है।

पञ्चमहाभूतोंका व्यापार तथा स्वरूप

उपर्युक्त चार प्रकारके शरीरोंमें अवकाश रखना आकाशका कार्य है, पदार्थोंका परस्पर संयोग करना वायुका व्यापार है, अन्नादिकको पकाना तेजका व्यापार है, वस्तुओंको नरम करना जलका गुण है और उनको धारण करना पृथिवीका स्वभाव है। शब्द ग्रहण करना आकाशजन्य श्रोत्रेन्द्रियका व्यापार है, स्पर्शग्रहणरूप कार्य वायुजन्य त्वचा-इन्द्रियका व्यापार है, रूप ग्रहण करना तेजजन्य चक्षु-इन्द्रियका व्यापार है, रस ग्रहण करना जलजन्य रसना-इन्द्रियका व्यापार है और गन्ध ग्रहण करना पृथिवीजन्य घ्राण-इन्द्रियका व्यापार है। बोलना वाणीका व्यापार है, पकड़ना हाथका व्यापार है, चलना पादका व्यापार है, पुत्रादि उत्पन्न करना और आनन्द लेना उपस्थ-इन्द्रियका व्यापार है और मलादि त्यागना पायु-इन्द्रियका व्यापार है। मुख-नासिकाद्वारा बाहर आना और भीतर आना प्राणवायुका कार्य है, मलादिको नीचे उतारना अपानवायुका कार्य है। अन्नके रसको नाड़ियोंमें पहुँचाना व्यानवायुका कार्य है, रसोंको ऊँचा चढ़ाना उदानवायुका कार्य है और जठराग्निको प्रदीप्त करना और शरीरमें सर्वत्र स्थित रसको बहाना समानवायुका कार्य है। उद्गार नागका, नेत्र मूँदना कूर्मका, छींक लेना कृकलका, जँभाई लेना देवदत्तका और मरणके पीछे शरीरको फुलाना धनञ्जयका कार्य है। संशय करना मनका धर्म है, निश्चय करना बुद्धिका धर्म है, स्मरण करना चित्तका धर्म है और हुङ्कार करना अहङ्कारका धर्म है। अवकाशरूप छिद्र आकाशका स्वरूप है, चलना वायुका स्वरूप है, उष्णता और प्रकाश तेजका स्वरूप है, द्रवता, स्नेह जलका स्वरूप है और कठिनता पृथिवीका स्वरूप है। शब्दगुण आकाशका तटस्थ लक्षण है; शब्द और स्पर्श—ये दो गुण वायुके तटस्थ लक्षण हैं; शब्द, स्पर्श और रूप—ये तीन गुण तेजके तटस्थ लक्षण हैं; शब्द, स्पर्श, रूप और रस—ये चार गुण जलके तटस्थ लक्षण हैं और शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच गुण पृथिवीके तटस्थ लक्षण हैं। पञ्चमहाभूत, पञ्चमहाभूतके कार्यरूप इन्द्रियाँ, प्राण और अन्तःकरणादि सब व्यष्टिस्वरूपसे अध्यात्मरूप सूक्ष्मशरीरमें वर्तते हैं और समष्टिरूपसे अधिदैवरूप सूक्ष्मशरीरमें वर्तते हैं। ये सब पदार्थ अतिसूक्ष्म होनेसे नेत्रादि इन्द्रियोंसे जाननेमें नहीं आते।

डोरूशङ्कर—हे देवि ! आकाशादि महाभूतोंकी सूक्ष्मताका क्या कारण है ?

देवी—हे सौम्य ! आकाशादिमें पञ्चीकरणका अभाव ही सूक्ष्मताका कारण है; जिसके द्वारा पञ्चभूतोंकी सूक्ष्मता और स्थूलता जाननेमें आवे, उसको विद्वान् पञ्चीकरण कहते हैं। पञ्चीकरणका स्वरूप इस प्रकार है—प्रत्येक भूतमें मिश्रित हुए अन्य चारों भूत पञ्चीकरण कहलाते हैं।

डोरूशङ्कर—हे देवि ! यदि वायुमें अन्य चार भूतोंके अंश मिले हुए हों तो चारों भूतोंसहित वायु प्रतीत होना चाहिये, परन्तु ऐसा नहीं होता यानी अकेला वायु ही प्रतीत होता है। इसका क्या कारण है ?

देवी—हे वत्स ! उपर्युक्त प्रकारसे दूसरे-दूसरे भूतोंका अंश मिला होनेपर भी मूल महाभूतका मुख्य भाग विद्यमान होता है, इसलिये वह अपने स्वरूपसे प्रतीत होता है। थोड़ा जल मिला हुआ दूध जैसे दूधरूप ही प्रतीत होता है, उसी प्रकार पृथिवी आदिसे मिला हुआ आकाश भी आकाशरूपसे ही प्रतीत होता है। जैसे शुद्ध सुवर्ण ताँबे और चाँदीके अंशके मिलनेपर भी सुवर्ण ही देखनेमें आता है, उसी प्रकार पञ्चमहाभूत अपने-अपने

बड़े भागके और दूसरेके छोटे अंशसे बने हुए होनेसे अपने मूलस्वरूपसे ही प्रतीत होते हैं। ब्रह्मसूत्रमें भगवान् व्यासदेवने कहा है—'वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः।' अर्थात् पञ्चमहाभूतोंमें यद्यपि एक-दूसरेका अंश स्थित है, तो भी अपने अंशकी अधिकता होनेके कारण वे अपने स्वरूपसे ही भासते हैं। सर्व स्थूलशरीर इन पञ्चीकृत पञ्चमहाभूतोंके कार्य हैं, इसलिये पाँचों भूतोंके गुण सर्वशरीरोंमें विद्यमान हैं।

शब्दविवरण—ध्वनिरूप शब्द और वर्णरूप शब्द—दो प्रकारका शब्द-गुण शरीरमें है। ध्वनिरूप शब्दके षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद—ये सात भेद हैं। इस ध्वनिरूप शब्दके सम्बन्धमें नारदमुनिने कहा है—

षड्जं रौति मयूरस्तु गावो नर्दन्ति चर्षभम्।
अजा नर्दन्ति गान्धारं क्रौञ्चो नर्दति मध्यमम्॥
पुष्पसाधारणे काले कोकिला रौति पञ्चमम्।
अश्वस्तु धैवतं रौति निषादं रौति कुञ्जरः॥

अर्थात् मयूर षड्ज स्वरमें बोलता है, गौएँ ऋषभ स्वरमें बोलती हैं, बकरियाँ गान्धार स्वरमें बोलती हैं, क्रौञ्च पक्षी मध्यम स्वरमें बोलती है, वसन्त ऋतुमें कोयल पञ्चम स्वरमें बोलती है, घोड़ा धैवत स्वरमें बोलता है और हाथी निषाद स्वरमें बोलता है। श्रीराग, वसन्त, पञ्चम, भैरव, मेघ और नटनारायण—ये छः राग हैं। प्रत्येक राग षड्ज आदि ध्वनिसे सात प्रकारसे गाया जाता है। इन रागोंमेंसे प्रत्येक रागकी छः-छः स्त्रीरूप रागिनियाँ हैं। इस प्रकार छः राग, छत्तीस रागिनियाँ और सात ध्वनियाँ शरीरमें रहती हैं; तो भी उनको सब मनुष्य नहीं जान पाते, कोई-कोई योगी ही जानते हैं। गान करनेवालोंको केवल तीन ध्वनियोंका ही ज्ञान होता है, उन्हींसे वे अनेक राग-रागिनियाँ गाते हैं, परन्तु योगी पुरुष तो अनहद शब्द आदिरूपसे सब ध्वनियोंका अनुभव करते हैं।

शारीरिक विवरण—इस मनुष्यशरीरके भीतर रस, रुधिर, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और वीर्य—ये सात धातुएँ हैं। भोजन तथा पानमें लिया हुआ अन्न-जलका जठराग्नि और पित्तसे परिपाक होकर रस बनता है, रसका रुधिर बनता है, रुधिरका मांस बनता है, मांसका मेद बनता है, मेदकी अस्थि, अस्थिकी मज्जा और मज्जाका वीर्य बनता है। प्रत्येक धातु चार-चार दिनतक पककर उत्तर-उत्तर धातु बनती है। वीर्य सबसे अन्तकी और बलवान् धातु है, इसलिये उसका प्रयत्नपूर्वक रक्षण करना चाहिये। इसीलिये शास्त्रकारोंने ब्रह्मचर्यका विधान किया है। वीर्य ही महान् बल है। संसारी और योगी दोनोंको ही वीर्यसे अभीष्ट साधनोंमें पूर्ण सहायता मिलती है। मस्तकसे लेकर पैरतक शरीरमें १०७ मर्मस्थान हैं। ११ मांसमर्म, ४१ शिरामर्म, २७ स्नायुमर्म, ८ अस्थिमर्म और २० सन्धिमर्म हैं; ये उनके पाँच भाग हैं। इन मर्मस्थानोंमेंसे कितने ही मर्म ऐसे कोमल हैं कि उनमें आघात होते ही मनुष्य मर जाता है, कितने ही ऐसे हैं कि उनमें आघात होनेसे भयङ्कर व्याधि उत्पन्न हो जाती है और कितने ही ऐसे हैं कि उनमें आघात होनेसे परिणाममें अवश्य मरण होता है। अस्थियोंके सन्धिस्थान १८० हैं, ९०० स्नायु हैं और रोम तथा रोमकूपकी संख्या साढ़े तीन करोड़ है। जीभ बारह पलके परिमाणकी है और हृदय-कमल आठ पलके परिमाणका है। एक प्रस्थके बराबर शरीरमें पित्त रहता है। इसी प्रकार सातों धातुएँ भी अपने-अपने परिमाणसे शरीरमें रहती हैं। सब जीवोंके शरीर अस्थियोंसे बँधे हुए हैं। पीठकी हड्डीके दोनों ओरसे निकली हुई सोलह-सोलह पसलियोंसे शरीरकी रचना हुई है। जैसे वृक्षमें पत्तोंका विस्तार है, उसी प्रकार शरीरमें नाड़ियोंका विस्तार है। हृदय-कमलमेंसे वृक्षके स्कन्धके समान एक

सुषुम्णा नामकी बड़ी नाडी निकली है। इसमेंसे छोटी-छोटी दूसरी सौ नाडियाँ निकलती हैं और उनमेंसे बहुत सूक्ष्म नाडियाँ निकलती हैं। इस प्रकार शरीर-प्रदेशमें ७२००० नाडियाँ फैली हुई हैं। प्रत्येक मनुष्यका शरीर उसके हाथसे छयानबे अंगुलके परिमाणका होता है। शरीरके मध्यभागमें तप्त सुवर्णके समान अग्नि रहता है, जो नाडियों-द्वारा सम्पूर्ण शरीरमें व्याप्त होकर रहता है। आगमशास्त्रमें भगवान् महादेवजीने कहा है—

सर्वेषामपि जन्तूनां मूर्ध्नि तिष्ठति चन्द्रमाः।
अधोभागे रविः प्रोक्तो मृत्युकाले विपर्ययात्॥

अर्थात् सब जीवोंके मस्तकमें चन्द्रमा और नीचेके भागमें रवि रहता है; परन्तु मृत्युकालमें इससे विपरीत होता है यानी चन्द्र नीचे आ जाता है और सूर्य ऊपर चढ़ जाता है।

शरीरके भीतर स्थित तेज, जिसको अग्नि अथवा शक्ति कहते हैं, अत्यन्त सूक्ष्म है और सर्व जीव उसीसे जीते हैं। अग्निका स्थान एक अंगुल परिमाणवाला है और पायु-इन्द्रियके ऊपर और उपस्थके दो अंगुल नीचे स्थित है। जीवात्मा नाभिचक्रमें भ्रमण करता है। यद्यपि जीवात्माका तत्त्व सम्पूर्ण शरीरमें है, तो भी मस्तक और अन्य मर्मस्थान उसके मुख्य वासस्थान समझे जाते हैं। नाभिके समीप आधारचक्र है। आधारचक्रके समीप सर्पाकार कुण्डली है, यह कुण्डली प्राण-वायुसे उछाली हुई शरीरको जीता रखती है और शब्द किया करती है। जीवोंके उदरमें रहनेवाला प्राणवायु दशम द्वारसे होकर ब्रह्मलोकमें आनेके लिये सर्वदा उद्यम करता रहता है; परन्तु कुण्डली उसको रोके रखती है। दशम द्वारमेंसे प्राणवायुके बाहर निकलनेका मार्ग सुषुम्णा नाडी है; परन्तु मार्गके मुखके ऊपर कुण्डली बैठी हुई है, वह प्राणवायुको बाहर निकलने नहीं देती। योगसमाधिसे चलाया हुआ प्राणवायु जब कुण्डलीको जगाता है, तब वह हृदयाकाशकी ओर जाकर प्राणवायुको ब्रह्मलोकमें आनेके लिये मार्ग देती है। शरीरके मध्यभागमें मांसका पिण्डरूप एक कन्द है, वहाँपर अनेक छोटी-छोटी नाडियोंसे घिरी हुई सुषुम्णा नाडी रहती है। सुषुम्णाके आस-पास इडा, पिङ्गला, सरस्वती, कुहू, वारणा, यशस्विनी, पूषा, पयस्विनी, शंखिनी, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, विश्वोदरा और अलम्बुषा नामकी चौदह मुख्य नाडियाँ हैं। इन सबमें सुषुम्णा, इडा, पिङ्गला—तीन नाडियाँ मुख्य हैं और तीनोंमें भी सुषुम्णा मुख्य है।

ब्रह्मलोककी प्राप्तिके लिये सुषुम्णा नाडी मुख्य है, इसलिये यह नाडी मुक्तिका मार्ग मानी गयी है। हस्तिजिह्वा, विश्वोदरा, कुहू, वारणा और यशस्विनी—ये पाँच नाडियाँ शरीरके अग्रभागमें प्रथम पङ्क्तिमें हैं। इडा, पिङ्गला और सुषुम्णा दूसरी पङ्क्तिमें हैं; गान्धारी, यशस्विनी, सरस्वती और पूषा तीसरी पङ्क्तिमें पृष्ठभागमें हैं और चौदहवीं अलम्बुषा नाडी उपर्युक्त मांस कन्दके नीचेके प्रदेशमें है। सुषुम्णा नाडी मांसपिण्डमेंसे निकलकर मस्तकमें जाकर सर्व विश्वको धारण करती है। इडा और पिङ्गला—ये दो नाडियाँ वाम और दक्षिण नासिकाके छिद्रोंमें जाकर गन्धग्रहणरूप व्यापार करती हैं। गान्धारी और पूषा दोनों नेत्रोंमें जाकर रूप-ग्रहणरूप व्यापार करती हैं। शंखिनी और यशस्विनी कर्णपर्यन्त जाकर श्रवणरूप व्यापार करती हैं। सरस्वती नाडी जिह्वामें जाकर रसका स्वाद लेती है। हस्तिजिह्वा और पयस्विनी वाम-दक्षिण पादाङ्गुष्ठतक जाकर गमनरूप व्यापार करती हैं। कुहू नाडी उपस्थमें जाकर विषयानन्दका भोग करती है। विश्वोदरा और वारणा नाडियाँ वाम-दक्षिण हाथोंमें जाकर ग्रहणरूप व्यापार करती हैं।

शरीरमें पाँच वायुओंके स्थान—शरीरमें पाँच वायु हैं। उनमेंसे मुख्य प्राणवायु नाडियोंमें, कन्दमें, मुखमें, नासिकामें, हृदयमें, नाभिमें और अङ्गुष्ठादि स्थानोंमें रहता है। नाभिसे लेकर जङ्घापर्यन्तके देशमें अपान-वायु रहता है। इसके पायु और उपस्थ—ये दो स्थान

मुख्य हैं। श्रोत्र, चक्षु, हस्त, पाद, गुल्फ, कोहनी, कटि और उर—इन स्थानोंमें व्यानवायु रहता है। शरीरकी सब सन्धियोंमें तथा हाथ और पैरमें उदानवायु रहता है। समान नामका पाँचवाँ वायु सम्पूर्ण शरीरमें रहता है और अन्नके रसको समस्त शरीरमें पहुँचाता है। इन सबके व्यापार ऊपर कहे जा चुके हैं।

हे श्रेयःसाधक! गर्भोपनिषद्में पिप्पलाद ऋषि कहते हैं कि आकाशादि पञ्चभूत, श्रोत्रादि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, वागादि पञ्चकर्मेन्द्रियाँ, शब्दादि पाँच ज्ञानेन्द्रियोंके विषय, वाणी आदि पाँच कर्मेन्द्रियोंके विषय, चार अन्तःकरण, पाँच प्राण, पाँच उपप्राण, सात धातु, एक सौ आठ मर्मस्थान, बहत्तर हजार नाड़ियाँ, वात, पित्त, कफ तथा कण्ठ, हृदय, रोम आदि कनिष्ठ वस्तुओंके समुदायसे यह शरीर बना हुआ है। ऐसे निन्द्य शरीरमें मनुष्यको आत्मबुद्धि करना योग्य नहीं है। नरकादिकमें रहनेवाले निन्द्य पदार्थ इस दुष्ट मनुष्यशरीरमें रहते हैं।

वैराग्यका वर्णन—हे सौम्य! इस जगत्में जन्म लेनेको विवेकी पुरुष दुःखका कारण मानते हैं। पिताके वीर्य और माताके रक्तसे यह शरीर उत्पन्न होता है। सात धातु और दूसरे मल शरीरमें एकत्र होते हैं और गर्भमें वृद्धि पाकर दस मासमें शरीर उत्पन्न होता है। जो माता-पितासे उत्पन्न होते हैं, ऐसे शरीर योनिज कहलाते हैं। क्षण-क्षणमें विशीर्ण होनेवाला होनेसे यह कलेवर 'शरीर' कहलाता है। जठराग्नि, जिज्ञासा और विषयलोलुपता—इन तीन अग्नियोंके कारण यह शरीर सर्वदा घिसता रहता है। भोजनादिकसे जठरकी तृप्ति होती है, परन्तु भोजनादिककी चिन्तारूप प्रथम अग्नि निरन्तर रहनेसे शरीरको शीर्ण करती है; लौकिक-पारलौकिक ज्ञानकी चिन्तारूप दूसरी अग्नि शरीरको शीर्ण करती है और विषयोंकी लोलुपतारूप तीसरी अग्नि सदा जीर्ण करती है।
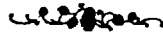
जिह्वाको उपदेश

रुचिर रसना! तू राम राम क्यों न रटत।
सुमिरत सुख-सुकृत बढ़त, अघ-अमंगल घटत॥
बिनु श्रम कलि कलुष जाल कटु कराल कटत।
दिनकर के उदयँ जैसें तिमिर तोम फटत॥
जोग, जाग, जप, बिराग, तप, सुतीर्थ अटत।
बाँधिबे को भव गयंद रज की रजु बटत॥
परिहरि सुर मुनि सुनाम गुंजा लखि लटत।
लालच लघु तेरो लखि तुलसि तोहि हटत॥

—गोस्वामी तुलसीदासजी

पूज्यपाद श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके उपदेश

(प्रेषक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

१—एक बार मुझसे एक मुसलमान सज्जन मिले थे। उन्होंने पूछा कि 'क्या आपके सनातन-धर्मके अनुसार खुदा मुझे मिल सकते हैं? यदि मिल सकते हैं तो कैसे?' मैंने कहा कि 'हाँ, मिल सकते हैं। खुदाको पानेका सर्वसुलभ उपाय प्रेम है। उनके यहाँ हिन्दू-मुसलमानका कोई सवाल नहीं है। जो कोई चाहे, उन्हें प्राप्त कर सकता है। हाँ, हिंसा करनेवालेको—चाहे वह हिन्दू हो या मुसलमान—भगवान् कभी नहीं मिल सकते।'

२—भोगबुद्धिको नष्ट कर देना, उसे उखाड़कर फेंक देना ही उत्तम ब्रह्मचर्यका लक्षण है। वासनाओंका मुख्य कारण भोगबुद्धि ही है, इसलिये ब्रह्मचारियोंको सावधान होकर उसका निराकरण करना चाहिये। प्रत्येक इन्द्रियका अपना-अपना ब्रह्मचर्य है। अच्छी बातें कहना वाणीका ब्रह्मचर्य है, अच्छी बातें सुनना कानोंका ब्रह्मचर्य है और अच्छी चीजें देखना आँखों-का ब्रह्मचर्य है। इन सब इन्द्रियोंको वशमें रखकर ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये। इन्द्रियोंको स्वच्छन्द रखना ठीक नहीं। इसीलिये श्रीसूरदासजी-ने अपनी आँखोंको फोड़ लिया था।

३—उपासना करनेसे क्या नहीं हो सकता? ऐसा कोई कार्य नहीं जो उपासनाद्वारा सिद्ध न हो सके। परन्तु भगवान्के सच्चे भक्त उपासनाकी शक्तिका प्रयोग अपने किसी स्वार्थके लिये नहीं करते। एक उदाहरण लीजिये। स्वामी श्रीहीरादासजी महाराज जब श्रीवृन्दावनमें निवास करते थे, तब वे नित्य-प्रति गोपालसहस्रनामके सौ पाठ किया करते थे। उन्होंने लगातार पंद्रह वर्षतक ऐसा किया। पीछे जब वे भगवानपुर आये, तब उन्हें कुष्ठ रोग हो गया। यदि वे चाहते तो गोपालसहस्रनामके एक ही पाठसे अपने उस कुष्ठ रोगको दूर कर सकते थे। परन्तु उन्होंने अपने इस तुच्छ शरीरके लिये ऐसा नहीं किया। करते भी क्यों? उन्हें तो उस कुष्ठ रोगमें भी भगवान्के स्पर्शकी आनन्दानुभूति होती थी।

४—काशीमें पहले हर किसी ब्राह्मणको दण्ड ग्रहण नहीं कराया जाता था; जो ब्राह्मण विद्वान् होते थे, वे ही दण्डके अधिकारी समझे जाते थे। एक साधारण ब्राह्मणको दण्ड ग्रहण करनेकी इच्छा हुई। वह कई साधु-संन्यासियोंके पास गया। किसीने उसे दीक्षा नहीं दी। अन्तमें भगवत्कृपासे उसको एक महात्मा मिल गये। उन्हें ब्राह्मणके ऊपर दया आ गयी। उन्होंने ब्राह्मणसे कहा कि 'लो, मैं तुम्हें दण्ड ग्रहण कराता हूँ; किन्तु तुमको ये तीन काम करने होंगे—पहला काम हर समय प्रणव (ॐ) मन्त्रका जप करना, दूसरा प्रतिदिन काशीकी पंच-कोसी प्रदक्षिणा करना और तीसरा भिक्षा माँगकर खाना। ब्राह्मण श्रद्धालु तो था ही, वह लगनके साथ गुरुदेवके आज्ञापालनमें लग गया। पचीस वर्षके बाद, निरन्तर प्रणव-मन्त्रका जप करते रहनेके कारण उस संन्यासीके रोम-रोममें प्रणव लिखा हुआ दिखायी पड़ने लगा। फिर तो बड़े-बड़े विद्वान् उनके सामने हाथ जोड़े खड़े रहते थे। यह है भजनका फल! इसी प्रकार नाम-जप करनेवालेके रोम-रोममें भगवन्नाम भर जाता है।

५—एक बार मैं दो-चार आदमियोंके साथ ऋषिकेश गया था। वहाँकी झाड़ियोंमें मुझे एक विरक्त महात्मा मिले थे। वे बड़े विद्वान् और त्यागी

थे। फिर भी बड़ और पीपलके पत्तोंको इकट्ठा करके उनपर कोयलेकी स्याही और सरकंडेकी कलमसे बराबर भगवन्नाम लिखते रहते थे। यही उनका काम था। वे कहीं नहीं जाते थे। एक साधु भिक्षा लाकर उन्हें दे जाया करते थे। हमने उनसे पूछा कि 'महाराज, भजन करना कब छोड़ देना चाहिये ?' उन्होंने उत्तर दिया कि 'जब भजन करनेकी शक्ति न रह जाय, अर्थात् भजन करनेवाला इतना मुग्ध हो जाय कि उससे भजन किया ही न जाय, तब उसे भजन छोड़ देना चाहिये।' कितनी सुन्दर बात है! परन्तु आजकलके लोग प्रायः क्या करते हैं ? थोड़ा-सा भजन किया नहीं कि कहने लगते हैं—'अब क्या करना है, मैंने तो भजन कर लिया !' ऐसे लोगोंको उपर्युक्त महात्माका उपदेश ध्यानमें रखना चाहिये।

६—मैं एक बात दावेके साथ कह सकता हूँ। यदि कोई व्यक्ति श्रद्धा-विश्वासपूर्वक—

मंगल भवन अमंगल हारी। द्रवउ सो दसरथ अजिर बिहारी॥

—इस चौपाईका सम्पुट लगाकर श्रीरामचरितमानसका एक सौ आठ बार पाठ करे तो वह श्रीरामचरितमानसमय हो जाता है। फिर उसे किसी बातकी कमी नहीं रह सकती। इसी प्रकार यदि कोई विधिपूर्वक कम-से-कम पचास लाख गायत्रीमन्त्रका जप कर ले, तब उसे भगवान्‌का प्रकाश प्राप्त हो जाता है। यह निश्चित बात है।

पूज्यपाद श्रीरमणमहर्षिके उपदेश

प्रश्नकर्ता—यदि मूलमें परमतत्त्व एक ही है तो इस दृश्यकी प्रतीति किसको, कबसे और क्यों हुई ?

महर्षि—यह प्रश्न करनेवाला कौन है ?

प्र०—जिज्ञासु।

म०—जिज्ञासु किसे कहते हैं ?

प्र०—जिसे ज्ञानकी इच्छा हो।

म०—जिसे ये ज्ञान और अज्ञान होते हैं, उसका अनुभव होनेपर यह प्रश्न ही नहीं हो सकता।

प्र०—ठीक है, अनुभव होनेपर तो प्रश्न नहीं हो सकता; परन्तु जबतक अनुभव नहीं है और उसे अनुभव करनेकी इच्छा है, तबतक तो यह प्रश्न बन ही सकता है और तब इसका कोई उत्तर भी होना चाहिये।

म०—इसका कोई उत्तर नहीं है—यही इसका उत्तर है। वास्तवमें यह प्रश्न बन नहीं सकता। जिसे ज्ञान और अज्ञान होते हैं, उसे ही जानना चाहिये। उसे जान लेनेपर स्वयं वही रह जायगा।

प्र०—उसे कैसे जान सकते हैं ?

म०—इस प्रश्नपर विचार करते रहनेसे ही उसका अनुभव हो जायगा। जबतक अनुभव नहीं होता, तबतक ऐसी उत्सुकता रहनी अच्छी ही है।

× × ×

प्र०—ध्यान करते समय वृत्ति ध्येयमें स्थिर न होकर जो तरह-तरहके विचार आने लगते हैं, उनकी निवृत्ति कैसे हो सकती है ?

म०—अनात्म वस्तुओंमें आसक्ति रहनेसे ही चित्त इधर-उधर भटकता है। अतः चित्तको उनकी ओरसे हटाकर आत्मचिन्तनमें ही लगानेका प्रयत्न करना चाहिये। यह चिन्तन करनेवाला कौन है—इसपर विचार करनेसे अन्यचिन्तन निवृत्त हो सकता है।

प्र०—विचारसे यह निश्चित हो जानेपर भी कि हमारा देहादि अनात्म पदार्थोंसे कोई सम्बन्ध नहीं है, चित्त उन्हींके विषयमें चिन्तन करने लगता है। इसका

क्या कारण है और किस प्रकार इसकी निवृत्ति हो सकती है ?

म०—इसमें अभ्यास और वैराग्यकी कमी ही कारण है और उनकी दृढ़तासे ही इसकी निवृत्ति हो सकती है ।

प्र०—अभ्यासकी दृढ़ता कैसे हो ?

म०—अभ्यास करते रहनेसे ।

× × ×

प्र०—आत्माका ध्यान करते समय क्या चिन्तन करना चाहिये ?

म०—आत्माका ध्यान कौन करेगा ? इस प्रकार तो ध्याता ही ध्येय हो जायगा ।

प्र०—यदि आत्माका ध्यान नहीं किया जायगा तो उसके स्वरूपका ज्ञान कैसे होगा ?

म०—तुम हो, इतना तो तुम जानते ही हो । जिस समय विचारके द्वारा तुम वास्तविक तत्त्वको जान लोगे, उस समय तुम्हें अपने स्वरूपका भी ज्ञान हो जायगा ।

× × ×

प्र०—साधकको यह कब समझना चाहिये कि अब मुझे परमार्थकी उपलब्धि हो गयी ?

म०—जबतक यह जाननेकी इच्छा है, तबतक परमार्थकी उपलब्धि नहीं समझनी चाहिये । परमार्थका ज्ञान होनेपर ऐसी इच्छा ही नहीं रहती ।

× × ×

प्र०—क्या नामजप भी परमार्थकी उपलब्धिमें सहायक है ?

म०—अवश्य ।

प्र०—और निष्काम कर्म ?

म०—हाँ, निष्काम कर्म भी ।

प्र०—नामका स्वरूप और परमार्थके साथ उसका सम्बन्ध क्या है ?

म०—नाम और नामीका अभेद होता है । नाम और रूप एक ही हैं । नाम ही रूप है और रूप ही नाम है । नामजपसे रूप अर्थात् नामीकी उपलब्धि होती है । जिनकी किसी भी भगवन्नाममें दृढ आस्था नहीं होती और यह जाननेकी इच्छा रहती है कि मैं कौन हूँ, उन्हें 'अहं' पदका ही विचार करना चाहिये । 'अहं' भी एक नाम ही है । इसका विचार भी एक प्रकारका नामचिन्तन ही है ।

प्र०—जापकको किस नामका चिन्तन करना चाहिये ?

म०—किसी भी भगवन्नामका जप किया जा सकता है । सभी समान हैं ।

× × ×

प्र०—यह जानते हुए भी कि इन लौकिक पदार्थोंसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है जब कभी हानि-लाभ, मान-अपमान या सुख-दुःखकी प्राप्तिका प्रसङ्ग आता है तो चित्तकी समता नष्ट हो जाती है और चित्त राग-द्वेष एवं हर्ष-शोकादि द्वन्द्वोंके अधीन हो ही जाता है । इसका क्या कारण है ? और किस प्रकार इसकी निवृत्ति हो सकती है ?

म०—इसका कारण निष्ठाकी कमी ही है । जब कभी इन राग-द्वेषादिका आवेश हो, उस समय ऐसा चिन्तन करना चाहिये कि जिसे ये हो रहे हैं वह कौन है और उसका इनसे क्या सम्बन्ध है । इस प्रश्नपर विचार करते रहनेसे चित्त अन्तर्मुख होगा और इस दोषोंका वेग भी शान्त हो जायगा ।

माताजीसे वार्तालाप

हमारे योगका उद्देश्य और अधिकार

(अनुवादक—श्रीमदनगोपालजी गाड़ोदिया)

[श्रीअरविन्दाश्रममें सर्वयोग-समन्वयात्मक जिस 'पूर्णयोग' या 'विज्ञानमय योग' की साधना की जाती है, उसके विषयमें प्रातः-वन्दनीया श्रीमाताजीसे जो १५ वार्तालाप हुए थे, वे अंग्रेजीमें 'Conversations with the Mother' नामसे पुस्तकाकार छप चुके हैं (यह पुस्तक माताजीकी दयासे ही प्राप्त होती है)। हिन्दी-भाषाभाषियोंका यह बड़ा सौभाग्य है कि अब 'कल्याण' द्वारा सब पाठकोंके लिये इसका हिन्दी रूपान्तर सुलभ करनेकी अनुमति माताजीने प्रदान कर दी है। अतः इस अङ्कसे आरम्भकर हम इन वार्तालापोंको धारावाहिकरूपसे 'कल्याण' के पाठकोंको भेंट कर सकेंगे। इस बार पहला अध्याय प्रकाशित किया जाता है। प्रत्येक अध्यायके ऊपर पाठकोंकी सुविधाके लिये एक शीर्षक दे दिया गया है, जो मूल पुस्तकमें नहीं है। हम यह अनुभव करते हैं कि बड़े यत्नसे किया हुआ यह अनुवाद आखिर अनुवाद ही है। परन्तु हम पूर्ण आशा रखते हैं कि इसके द्वारा प्रतिबिम्बित होती हुई माताजीकी इस दिव्य वाणीद्वारा सत्पाठकोंका अवश्य कल्याण होगा।

—हिन्दी-भाषान्तरकार]

'तुम योग-साधना किसके लिये करना चाहते हो ?'

शक्ति प्राप्त करनेके लिये ? शान्ति और स्थिरताकी प्राप्तिके लिये ? मानव-जातिके कल्याणके लिये ?

इनमेंसे कोई भी भाव इस बातका पर्याप्त द्योतक नहीं है कि तुम इस योग-मार्गके लिये हो।

जिस प्रश्नका तुमको उत्तर देना है, वह तो यह है। क्या तुम भगवान्‌के लिये योग-साधना करना चाहते हो ? क्या भगवान् ही तुम्हारे जीवनका परम सत्य है, यहाँतक कि तुम्हारी ऐसी अवस्था हो गयी है कि उनके बिना तुम रह ही नहीं सकते ? क्या तुम यह अनुभव करते हो कि तुम्हारे जीवनका कारण ही एक-मात्र भगवान् हैं और उनके बिना तुम्हारे जीवनका कोई अर्थ ही नहीं है ? यदि ऐसा है तो ही यह कहा जा सकता है कि इस योग-मार्गके लिये तुम्हारे अंदर पुकार है।

जो बात सबसे पहले आवश्यक है वह यही है—भगवान्‌के लिये अभीप्सा।

दूसरी बात जो तुम्हें करनी है, वह है इस अभीप्साको सतत बनाये रखना—उसे सदा जीवन्त, ज्वलन्त और जाग्रत् रखना। और इसके लिये जिस बातकी आवश्यकता है, वह है एकाग्रता—भगवान्‌में एकाग्रता, जो उनके सङ्कल्प और अभिप्रायके प्रति पूर्ण और निरपेक्ष आत्मसमर्पणके भावसे की गयी हो।

हृदय-केन्द्रमें अपने-आपको एकाग्र करो। हृदयमें प्रवेश करो, उसके अंदर जाओ, उसकी गहराईमें उतरो और दूरतक चले जाओ—इतनी दूर, जितनी दूरतक तुम जा सको। अपनी चेतनाके बाहरकी ओर बिखरे हुए समस्त तारोंको एकत्र कर लो, उन्हें समेटकर उनकी एक लच्छी बना लो और फिर अंदर डुबकी लगाओ और तहमें जाकर बैठ जाओ।

वहाँ हृदयकी गभीर शान्तिमें एक अग्नि जल रही है। यही है तुम्हारे अन्तरमें रहनेवाले भगवान्‌का दिव्य अंश—तुम्हारी सत्य सत्ता (हृत्पुरुष)। इसकी ध्वनिको सुनो और इसके आदेशका पालन करो।

एकाग्रताके लिये दूसरे केन्द्र भी हैं; उदाहरणार्थ, एक केन्द्र मस्तिष्कके ऊपर है (सहस्रार), दूसरा भ्रूमध्यमें है (आज्ञा)। इनमेंसे हरेकका अपना प्रभाव है और ये सभी तुम्हें एक विशिष्ट लाभ पहुँचावेंगे। परन्तु हृत्पुरुषका स्थान हृदय है और हृदयसे ही समस्त कैन्द्रिक प्रवृत्तियाँ निकलती हैं—यहींसे समस्त गति-शीलता, रूपान्तरके लिये अनुरोध और आत्मदर्शन करनेकी शक्ति प्रसूत होती है।

जिसको योग-साधना करनेका अधिकारी बनना हो, उसे क्या करना चाहिये ?

पहले तो उसको सचेतन होना चाहिये। अपनी सत्ताके अत्यन्त तुच्छ भागसे ही हम सचेतन हैं, इसके अधिकांश भागसे हम अचेतन हैं। यह अचेतनता ही हमको अपनी प्रकृतिके अपरिमार्जित भागके साथ नीचेकी ओर बाँधे रखती है और उसके

परिवर्तन या रूपान्तरको अटकाती है। इस अचेतना-द्वारा ही अदिव्य शक्तियाँ हमारे अंदर घुस आती हैं और हमको अपना गुलाम बना लेती हैं। तुम्हें अपने-आपसे सचेतन होना चाहिये, अपनी प्रकृति और प्रवृत्तियोंके प्रति तुम्हें जाग्रत् होना चाहिये, तुमको यह जानना चाहिये कि तुम क्यों और कैसे किन्हीं कार्योंमें प्रवृत्त होते, किन्हीं बातोंका अनुभव अथवा विचार करते हो। तुम्हें अपने प्रेरक भावों, आवेशों और अपनी गुप्त या प्रकट शक्तियोंका, जिनकी प्रेरणासे तुम कार्य करते हो, ज्ञान होना चाहिये; वास्तवमें तुमको अपनी सत्तारूपी यन्त्रके पुरजे-पुरजेको जुदा-जुदा करके भलीभाँति जान लेना चाहिये। एक बार जहाँ तुम सचेतन हो गये, तुममें यह योग्यता आ जाती है कि तुम विवेक कर सको, खरे और खोटेकी परख कर सको, यह देख सको कि कौन-सी शक्तियाँ तो तुम्हें नीचेकी ओर खींचती हैं और कौन-सी शक्तियाँ तुम्हें ऊपर उठनेमें सहायता करती हैं। और जब तुममें उचितको अनुचितसे, सत्यको असत्यसे, दिव्यको अदिव्यसे अलग करके जान लेनेकी योग्यता आ जाती है, तब तुमको अपने इस ज्ञानका कठोरताके साथ अनुसरण करना चाहिये, अर्थात् एकका दृढ़ता-पूर्वक त्याग तथा दूसरेको स्वीकार करना चाहिये। पग-पगपर ये द्वन्द्व तुम्हारे सामने उपस्थित होंगे और पग-पगपर तुम्हें इनमेंसे एकको वरण कर लेना होगा। तुम्हें धैर्य रखना होगा, लगन लगाये रहना होगा और चौकन्ना रहना होगा—योगियोंकी भाषामें 'जागते रहना' होगा; जो कुछ भी दिव्य हो, उसे स्वीकार करना और जो कुछ अदिव्य हो, उसे किसी भी प्रकारका मौका देनेसे इनकार करना होगा।

'क्या यह योग मनुष्यजातिके लिये है ?'

नहीं, यह भगवान्के लिये है। हमारी साधनाका ध्येय मनुष्यजातिका कल्याण नहीं है, हमारी साधनाका हेतु है भगवान्की अभिव्यक्ति। हम भगवान्के सङ्कल्पको कार्यमें परिणत करनेके लिये यहाँ हैं; बल्कि यह कहना अधिक सत्य होगा कि हम इसलिये यहाँ हैं कि भगवान्का सङ्कल्प हमें अपने काममें लगा ले, जिससे कि पुरुषोत्तमको उत्तरोत्तर मूर्तिमान् करने और उनके राज्यकी पृथ्वीपर स्थापना करनेके निमित्त हम उसके यन्त्र बन सकें। मानवजातिका जो भाग इस भागवत पुकारका प्रत्युत्तर देगा, केवल वही उनके प्रसादको प्राप्त करेगा।

प्रत्यक्षरूपसे यदि न भी हो तो अप्रत्यक्षरूपसे ही सही, इस योगद्वारा सामूहिकरूपमें मानवजातिको लाभ होगा या नहीं—यह बात मानवजातिकी अपनी अवस्थापर निर्भर करेगी। इस विषयका निर्णय यदि मानवजातिकी वर्तमान अवस्थाओंसे किया जाय तो बहुत अधिक आशा नहीं दिखायी देती। जिसको मनुष्यजातिका प्रतिनिधि कहा जा सके, ऐसे एक औसत मनुष्यको ले लो; उसका आज क्या भाव है ? क्या यह ठीक नहीं है कि विशुद्धरूपसे भगवान्का अंश धारण करनेवाली किसी भी वस्तुके सम्पर्कमें आते ही वह क्रोधसे काँप उठता या विद्रोह करता है ? क्या वह यह नहीं अनुभव करता कि भगवान्का अर्थ ही है उसकी पाली-पोसी हुई सम्पत्तिका नाश ! क्या वह भगवान्की इच्छा और सङ्कल्पका साफ-साफ इनकार करके उसके सामने अपनी आवाज नहीं उठाता ? भगवान्के आविर्भावसे कुछ भी लाभ उठानेकी आशा कर सके, इसके लिये मानवजातिको बहुत कुछ परिवर्तित होना होगा।

हम सभी लोग पूर्वजन्मोंमें मिल चुके हैं, नहीं तो इस जन्ममें हमलोग एक साथ न होते। हम सब एक ही परिवारके हैं और भगवान्की विजय तथा पृथ्वीपर उनकी अभिव्यक्तिके लिये हमलोगोंने युग-युगमें काम किया है।

शरणागति और प्रेम

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके एक व्याख्यानके आधारपर)

भगवान्‌की शरणमें रहनेसे साधकको बड़ी शक्ति मिलती है। फिर उसमें दुर्गुण-दुराचार रह ही नहीं सकते। जिस प्रकार सूर्यकी सन्निधिमें रहनेवालेके पास शीत और अन्धकार नहीं फटक सकते, उसी प्रकार जिसके हृदयमें श्रीभगवान् विराजमान हैं उसके पास दुर्गुण नहीं आ सकते। यही नहीं, जिस तरह सूर्यके आश्रयसे अनायास ही गर्मी और प्रकाशका सुख प्राप्त होता है, वैसे ही भगवान्‌के आश्रयसे भी स्वतः ही सद्गुण और सदाचारकी वृद्धि होने लगती है। भगवदाश्रयका सुदृढ़ निश्चय होनेपर ही ऐसा होता है। ऐसे शरणागत भक्तको यदि कभी किसी दुर्गुणसे बाधा होगी भी तो उसके 'हे नाथ! हे नाथ!' ऐसा पुकारते ही वह दुर्गुण दूर चला जायगा। यदि निर्भरताकी कमीके कारण कभी ऐसा जान पड़े कि हमारे हृदयमें कोई कुविचार प्रवेश करना चाहता है, तो हमें कातर स्वरसे 'हे नाथ! हे नाथ!' इस प्रकार पुकारना चाहिये। प्रभुका आश्रय लेनेसे चिन्ता, भय, शोक एवं सब प्रकारके दुर्गुण-दुराचार मूलसहित नष्ट हो जाते हैं तथा सद्गुण, सदाचार एवं शान्ति आदिका स्वतः ही विकास होता है।

इन सारे गुणोंकी प्राप्ति भगवच्छरणागतिसे हो जाय—इसमें तो कहना ही क्या, ये सब तो भगवान्‌के प्रेमियोंके सहवाससे भी प्राप्त हो सकते हैं। जो पुरुष भगवत्कृपाके रहस्यको समझ जाता है उसमें दया, गम्भीरता, शान्ति और सरलता आदि सद्गुण स्वयं ही आ जाते हैं। उसके हृदयमें आनन्दका समुद्र उमड़ने लगता है तथा दृष्टिमें सर्वत्र समताका साम्राज्य छा जाता है। हमलोग भगवद्दर्शनके लिये बहुत उतावले रहते हैं; परन्तु भगवान् कभी अपात्रको दर्शन नहीं देते। यदि हम पात्र होंगे तो हमारे सामने प्रभु आप ही प्रकट हो जायँगे। इसके लिये अनन्य प्रेमकी आवश्यकता है। जो सच्चे प्रेमी होते हैं, वे यदि कहीं भगवच्चर्चा या भगवन्नामकीर्तन सुनते हैं तो उनकी बड़ी विचित्र अवस्था हो जाती है। जैसे कामिनीके नूपुरोंकी झनकार सुनकर कामी पुरुषके हृदयमें काम जाग्रत् हो उठता है, वैसे ही यदि प्रेमीके कानोंमें भगवन्नामकीर्तनकी ध्वनि पड़ जाती है तो वह प्रेममें विभोर हो जाता है। वह यदि किसी भगवद्रसिक महापुरुषके दर्शन कर लेता है तो उसके नेत्र गुलाबके फूलकी तरह खिल उठते हैं और उनसे झर-झर अश्रुपात होने लगता है। हमलोग तो प्रेमका केवल नाम लेते हैं, असली प्रेम तो दूसरी ही चीज है। वह सर्वथा अलौकिक और अनिर्वचनीय है। उसतक मन और वाणीकी पहुँच नहीं है। बुद्धि भी उसका स्पर्श तो करती है, परन्तु पूरा-पूरा पता नहीं लगा सकती।

जो एक बार प्रेमसे घायल हो जाता है, उसपर कोई भी औषध काम नहीं करती। हमलोगोंको निरन्तर प्रेमकी वृद्धि करनी चाहिये—यहाँतक कि उससे बाध्य होकर प्रभुको आना पड़े। प्रेमीको प्रभु त्याग नहीं सकते। प्रेमकी लोग ठीक-ठीक कदर नहीं करते। प्रेमियोंकी बड़ी आवश्यकता है। प्रेमी बहुत कम मिलते हैं—प्रायः मिलते ही नहीं। सर्वस्व समर्पण करनेपर यदि एक रत्तीभर प्रेम मिले तो सर्वस्व दे डालना चाहिये। सच्चा प्रेमी ऐसा ही करता है। रत्नका वास्तविक मूल्य जौहरी ही जानता है। यदि भीलनीके सामने एक लाख रुपयेका हीरा रक्खा जाय तो वह उसके बदलेमें चार पैसे भी देना नहीं चाहेगी, कहेगी कि यह काँचका टुकड़ा मेरे किस कामका। परन्तु जौहरी उसके लिये खुशी-खुशी अपना सर्वस्व दे डालेगा। इसी प्रकार प्रेमका मूल्य भी कोई विरले ही जानते हैं। प्रेमके लिये जो जितना कम मूल्य देना चाहते हैं, वे प्रेमके तत्त्वको उतना ही कम जानते

हैं' प्रेम तो स्वार्थत्यागसे ही मिलता है। सच्चे प्रेमी सिरकी बाजी लगाकर भी प्रभुका प्रेम प्राप्त करते हैं।

प्रेमी लोग सर्वदा वही किया करते हैं, जिससे भगवान्‌की प्रसन्नता हो। यदि उन्हें कोई भगवान्‌का प्यारा मिलता है तो उसके भजन-ध्यानादिमें सहायक होकर वे बदलेमें प्रभुकी प्रसन्नता प्राप्त करते हैं। जब दो प्रेमी मिलते हैं तो एक अपूर्व आनन्दकी बाढ़-सी आ जाती है। ऐसे प्रेमसम्मेलनको देखकर प्रभु भी उनके हाथ बिक जाते हैं। जो उनकी छोटी-से-छोटी आज्ञाका पालन करनेके लिये अपने सर्वस्वको निछावर करनेको तैयार रहते हैं, भगवान् उनके ऋणी हो जाते हैं। इस विषयमें अतिथिप्रेमी महाराज मयूरध्वजकी कथा प्रसिद्ध ही है। जिस समय ब्राह्मण बने हुए भगवान्‌की आज्ञासे राजा अपने शरीरको अपनी रानी और कुमारके द्वारा आरेसे चिरवाकर सिंहको देनेके लिये तैयार होते हैं, उस समय उनकी यही भावना रहती है कि इस प्रकार सिंहकी तृप्ति होनेसे ब्राह्मणदेवताकी तृप्ति होगी, और ब्राह्मणदेवताकी तृप्ति होनेसे भगवान् तृप्त होंगे। उनकी इतनी उदारता तो छद्मवेषधारी भगवान्‌के लिये थी, यदि प्रभु अपने निजरूपसे उनके सामने आते तो न जाने वे क्या करते। नामदेवजीके सामनेसे कुत्ता रोटी लेकर भागा तो वे उसके पीछे घी लेकर चले कि 'भगवन्! अभी रोटी सूखी है, इसे चुपड़ देने दीजिये।' इस प्रकारकी भगवन्निष्ठा भगवान्‌को बलात्कारसे अपना ऋणी बना लेती है।

गोपियोंके विचित्र प्रेमकी बात सबपर प्रकट ही है। उद्धवजी श्यामसुन्दरका सन्देश लेकर आते हैं, उन्हें तरह-तरहसे उपदेश देकर धैर्य बँधानेका प्रयत्न करते हैं। परन्तु अन्तमें उनका अद्भुत प्रेमोन्माद देखकर स्वयं भी उन्हींके चरणकिङ्कर होनेकी कामना करने लगते हैं। अहा! अपने प्यारेकी यादमें कितना मिठास है? कोई पुरुष प्यारेका पत्र लेकर आता है तो हम उतावले हो जाते हैं, पहले उससे पूछते हैं 'क्यों जी, क्या तुम उससे मिले थे?' उसके 'हाँ' कहनेपर हम आनन्दमग्न हो जाते हैं। फिर पूछते हैं, 'कुछ मेरी भी बात हुई थी?' वह स्वीकार करता है तो हम उछलने लगते हैं। फिर कहते हैं, 'क्या कुछ भेजा है?' वह कहता है, 'हाँ, पत्र भेजा है' तो इतना आनन्द होता है कि पत्रको लेकर स्वयं पढ़नेकी भी सामर्थ्य नहीं रहती। पत्रके ऊपर प्यारेके हाथका लिखा हुआ सिरनामा देखकर हृदयमें अपूर्व आनन्द छा जाता है। यह सब लौकिक प्रेमकी बात है। ऐसा ही प्रेम जब प्रभुके चरणोंमें हो तो क्या कहना है?

महात्माओंसे सुना है 'भगवान् प्रेमीके अधीन हो जाते हैं।' किन्तु आज हमारी क्या दशा है? हम जगह-जगह जाते हैं, भगवान्‌की स्तुति और प्रार्थनादि भी करते हैं; परन्तु वे मिजाज किये बैठे हैं, आते ही नहीं। कारण क्या है? हमारे अंदर प्रेम नहीं है। इसीसे वे खुशामद करनेपर भी नहीं आते। यदि प्रेम होता तो स्वयं वे ही हमारे पीछे-पीछे घूमते। इस विषयमें एक दृष्टान्त दिया जाता है। मान लीजिये कई मिलवाले मंदे भावमें गन्ना खरीद रहे हैं। इसी समय कोई बुद्धिमान् धनी पुरुष सोचता है कि यदि गन्नेके दाम बढ़ाकर इस प्रान्तका सारा गन्ना मैं खरीद लूँ तो पीछे इनसे मनमाना दाम ले सकता हूँ। यह सोचकर वह गन्नेका खेला करता है। जिस समय उसके पास रुपयेमें चार आनेभर गन्ना था, मिलके मैनेजर उसके दलालसे बात भी नहीं करते थे। अब जब उसने सारा गन्ना अपने हाथमें कर लिया और मिलको उसकी जरूरत पड़ी तो साहबको चिन्ता हुई। दलाल भेजे गये तो उसने कह दिया अभी गन्ना बेचना नहीं है। साहबने स्वयं मिलनेके विषयमें पुछवाया तो कह दिया 'अभी बेचनेकी गरज नहीं है, जब गरज होगी तब मिल लेंगे।' साहब विना बुलाये स्वयं ही आये तो उन्हें बाहर ठहराकर भोजनादिसे निवृत्त होनेपर मिले। साहब पूछते हैं, 'सेठजी, ऐसा क्या अपराध हुआ?

आप तो बात करनेका भी मौका नहीं देते!' तो सेठजी कहते हैं, 'सब समयकी बात है। आपके पास कितनी बार दलाल भेजते थे, किन्तु आप बात भी नहीं करते थे; अब आपको स्वयं ही आना पड़ा। गन्ना तो आपका ही है, आपको जितना चाहिये ले जाइये।' हमारे भगवान् भी ऐसे ही मिजाजी हैं। वे साधारण स्तुति-प्रार्थनासे काबूमें आनेवाले नहीं हैं। उन्हें तो प्रेमकी प्यास है। हमलोग यदि प्रेम संग्रह कर लें तो उन्हें विवश होकर आना पड़ेगा। अतः जिस भावमें भी मिले उसी भावमें प्रेम खरीदो। यदि हमारे पास प्रेमका संग्रह होगा तो भगवान्का सब मिजाज ढीला पड़ जायगा। प्रेमके बिना भगवान्का काम नहीं चलता, उनके सब कल-कारखाने बंद हो जाते हैं। भगवान्का नाम ही प्रेम खरीदनेकी पूँजी है। इसलिये निरन्तर नाम-जपका अभ्यास करना चाहिये।

संसारमें ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो प्रेमके बदले न दी जा सके। तन, मन, धन, प्राण—सभी इसपर निछावर किये जा सकते हैं। प्रह्लादको देखिये। उन्हें न राज्यकी परवा है न प्राणोंकी। उन्हें तरह-तरहके कष्ट दिये जाते हैं—बार-बार मार पड़ती है, पर्वतशिखरसे गिराया जाता है, साँपोंसे डसाया जाता है, हाथियोंसे खुँदवाया जाता है, अग्निमें गिराया जाता है, तो भी वे अपनी टेक नहीं छोड़ते—प्राणोंकी बाजी लगाकर भी भगवत्प्रेमकी रक्षा करते हैं। आखिर भगवान् प्रकट होते हैं और आनेमें विलम्ब हुआ, इसके लिये प्रह्लादसे क्षमा माँगते हैं। जिस समय ब्राह्मणवेषधारी भगवान्ने अपने सिंहके लिये मयूरध्वजसे उसका शरीर माँगा तो राजा बड़े हर्षसे कहता है, 'महाराज! आप कोई चिन्ता न करें, मैं प्रसन्नतापूर्वक यह शरीर बाघको देनेको तैयार हूँ। यह बाघ तो साक्षात् नारायणका स्वरूप है। इनकी सेवाका सौभाग्य फिर कब प्राप्त होगा?' देखिये, कैसी ऊँची दृष्टि है! शरीरकी भिक्षा माँगनेवालेमें भी राजाको साक्षात् श्रीहरिकी ही झाँकी होती है। भगवान् ऐसे प्रेमियोंके ऋणसे किस प्रकार उऋण हो सकते हैं? हमें तो प्रभुकी प्राप्तिके लिये घरसे कुछ भी नहीं देना पड़ता। भगवान्की ही चीजें उनको भेंट कर देनी हैं। इसमें हमारा क्या लगता है? यह धन-ऐश्वर्य विचारवानोंकी दृष्टिमें कोई ऊँची चीज नहीं है। इसके तो त्यागमें ही सुख है। इसमें ममता करना तो अपनेको व्यर्थके बन्धनमें डालना ही है। कोई भी विवेकी पुरुष इसके मोहमें नहीं फँसते। हमारे प्रान्त (राजपूताने) में एक बड़े अच्छे महात्मा थे। एक बार एक भक्त उनके लिये आसामसे एक अंडी (रेशमी चद्दर) गेरुआ रँगवाकर ले गये। एक दिन वे उसे ओढ़े हुए बैठे थे कि एक पण्डितजी बोल उठे, 'बाबाजी! यह अंडी तो बहुत बढ़िया है।' बाबाजीने उसे उसी समय उतारकर पण्डितजीको दे दिया। वे बोले—'बढ़िया चीज हम साधुओंके कामकी नहीं होती। तुम्हारी इसमें प्रीति है, इसलिये अब इसे तुम्हीं रक्खो। जिस वस्तुमें दूसरेका राग हो, उसे साधुको नहीं रखना चाहिये।'

गृहस्थाश्रममें भी अपने सुखकी दृष्टिसे किसी वस्तुका सेवन करना उचित नहीं है। यदि किसी चीजको चार आदमी खरीद रहे हों तो रुपयेवालेको बीचमें पड़कर उसे स्वयं नहीं खरीदना चाहिये। घरमें पाँच फल आवें तो पहले अतिथि-अभ्यागत और घरके अन्य व्यक्तियोंको खिलाकर पीछे गृहस्वामीको खाना चाहिये और उसके बाद गृहस्वामिनीको। यही यज्ञशिष्ट है। यह अमृत है। जो स्वादके लोभमें पड़कर पहले स्वयं खाता है, वह अमृतके भ्रमसे विष सेवन करता है। बलिवैश्वदेवका भी यही रहस्य है। ऐसा ही नियम साधु-संन्यासियोंके लिये भी है। जब रसोईघरका धूआँ बंद हो जाय, उस समय उन्हें भिक्षाके लिये जाना चाहिये, जिससे कि उनके निमित्तसे गृहस्थको अलग भोजन न बनाना पड़े। उस समय भी यदि किसी

द्वारपर पहलेसे दूसरा भिखारी खड़ा हो तो वहाँ न जाय। ऐसा न हो कि दोनोंको देनेसे फिर गृहस्थके लिये अन्नकी कमी हो जाय। इन सब नियमोंमें शास्त्रका लक्ष्य क्या है, उसपर विचार करना चाहिये। इन सभीमें स्वार्थत्यागकी भावना भरी हुई है। यदि कोई चीज बाँटकर खानी है तो उसमें भी अपने लिये अधिक रखनेकी प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये। बहुत-से लोग मुखसे तो कहते रहते हैं कि हमारा कुछ नहीं है, सब भगवान्‌का ही है, परन्तु चित्तसे एक-एक तिनकेको पकड़े रहते हैं। यह कहनेका त्याग भी अच्छा है, परन्तु वास्तविक लाभ तो सच्चे त्यागसे ही होता है। इस प्रकार कहनेवालोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ तो वही हैं जो समय पड़नेपर अपना सर्वस्व प्रभुके लिये निछावर करनेको तैयार रहते हैं। जो सच्चे दानी होते हैं, उन्हें तो दान देनेका कोई अभिमान ही नहीं होता। कहते हैं, किसी दानीके दानकी प्रशंसा की गयी तो वह रोने लगा। उससे रोनेका कारण पूछा गया तो वह बोला, 'धन उसका, देनेवाला वह, मैं तो केवल निमित्तमात्र हूँ। लोग मुझे दानी कहते हैं, भला मैं उसके सामने क्या मुँह दिखाऊँगा ?'

अतः यदि भगवत्प्राप्तिकी इच्छा है तो वास्तविक त्याग कीजिये। हृदयसे अपना सर्वस्व प्रभुका समझिये। प्रभुके लिये ही सारे काम कीजिये। ममता, अहंता और आसक्तिको जड़से उखाड़ डालिये। इस प्रकार यदि आपकी सारी चेष्टाएँ प्रभुके ही लिये होंगी और आप अपने तन, मन, धन सबकी सार्थकता प्रभुकी प्रसन्नतामें ही समझेंगे, प्रभुकी प्रसन्नताके लिये उनके त्यागमें तनिक भी संकोच नहीं करेंगे तो प्रभुको विवश होकर आपकी खुशामद करनी होगी। ऐसी बात होनेपर भी आपको तो प्रभुकी ही प्रसन्नतामें प्रसन्न रहना चाहिये, उनसे अपनी खुशामद करानेकी इच्छा रखना भी एक प्रकारका स्वार्थ ही है।

साँची सगाई

साँची स्यामा-स्याम-सगाई।

और जिते सम्बन्ध कहावत, ते सब वृथा बन्ध दुखदाई ॥ १ ॥

नातो नेह स्याम ही सौं नित स्यामा-चरन-सरन सुखदाई।

स्यामा-स्याम-रूप-रस माते रहैं नयन नयनन भरलाई ॥ २ ॥

स्याम हमारो साँचो सरबसु, स्यामा-अंक-रंक हम भाई।

स्यामा-स्याम-कृपाबल सौं हम बदत न कछु कलि-कटक-सहाई ॥ ३ ॥

साधन-सिद्धि और कछु नाहीं, है इक उर आस सुहाई।

निरखहिं नित नव तृषित नयन वह ललित लाडिली-लाल-लुनाई ॥ ४ ॥

—श्रीमुनिलाल

क्रिया, भावना और बोध

(लेखक—पं० श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी)

'भगवन्, कुछ उपदेश कीजिये ।'

'पहले तुम यह निश्चय करो कि तुम्हारे लिये क्या सुनना आवश्यक है । जो आवश्यक जान पड़े, उसके भीतर प्रवेश करो, उसके सम्बन्धमें विचार करो । यदि कोई ऐसी समस्या तुम्हारे सामने आ जाय, जिसे तुम हल न कर सको, तो उसका उत्तर पूछो । इससे प्रश्नकर्त्ताके अधिकारका पता चल जाता है और उत्तर देनेवाला उसी भूमिके अधिकारीके उपयुक्त उत्तर देता है । भूखके अनुसार ही भोजनकी व्यवस्था होनेसे हित होता है । जिज्ञासाके अनुसार ही समाधान होना चाहिये ।'

'महाराज, इतनी इच्छाएँ हैं और उनकी इतनी उलझनें हैं कि यह पता ही नहीं चलता कि मैं क्या चाहता हूँ । सबसे पहले मेरे लिये यह आवश्यक है कि मैं अपनी एकमात्र प्रधान इच्छाको पहचानूँ, इसका क्या उपाय है ?'

'एकान्तमें बैठकर भगवान्‌के आश्रय और शक्तिसे समस्त इच्छाओं और सङ्कल्पोंको दबानेकी, उनके निर्मूल करनेकी चेष्टा करनी चाहिये । अदम्य उत्साह और वीरताके साथ निःसङ्कल्प होनेकी चेष्टा करनेपर सब इच्छाएँ पराभूत हो जायँगी । एक वही इच्छा रह जायगी, जो अनादि कालसे अबतकके असंख्य जीवनोंमें कभी पूरी नहीं हुई और जो केवल भगवत्प्राप्तिसे ही पूरी हो सकती है ।'

'तब क्या, अबतक केवल भगवत्प्राप्तिकी इच्छा ही पूर्ण नहीं हुई है, और सब इच्छाएँ पूरी हो चुकी हैं ?'

'हाँ, ऐसी ही बात है । अनादि कालसे विभिन्न योनियोंमें असंख्यों बार जन्मते-मरते रहनेसे सांसारिक इच्छाएँ अनेकों बार पूरी हो चुकी हैं । परन्तु भगवत्प्राप्ति की इच्छा पूर्ण तो कैसे होती, वह सचाईके साथ कभी हुई ही नहीं । नहीं तो वह भी पूर्ण हो गयी होती और हम शोक, मोह आदिसे मुक्त हो गये होते ।'

'प्रभो, क्या यह भगवत्प्राप्तिकी इच्छा ही भक्ति है ?'

'यह भी भक्ति है । परन्तु इतनेसे ही भक्तिकी व्याख्या पूरी नहीं होती । क्योंकि यह तो केवल साधन-कालकी भक्ति है । इसमें भक्तकी प्रत्येक क्रिया और भावना भगवान्‌को लक्ष्य करके होती है । इसे अभी भगवान् प्राप्त नहीं हैं । परन्तु भक्ति तो उनकी प्राप्तिके बाद भी होती है । एकमें उनके मिलनकी तीव्र लालसा है तो दूसरेमें उनके मिलनका दिव्य रस । विरह और मिलन दोनों ही भक्ति हैं, यदि वे भगवान्‌से हों ।'

'इस दृष्टिसे तो भक्ति भावमात्र सिद्ध होती है, क्योंकि विरह और मिलन दोनों ही भाव हैं—क्या ऐसा सोचना ठीक है ?'

'भक्ति भाव और रस दोनों है । साधनावस्थाका भाव ही परिपक होकर रस हो जाता है । परन्तु रस भावका परिणाम नहीं है, प्रत्युत भाव ही रसका विवर्त है । इसलिये ऐसा समझना चाहिये कि जीवका भगवान्‌से मिलन तो स्वतःसिद्ध है, केवल पार्थक्यका परदा दूर करना पड़ता है । यदि यह संयोग कृत्रिम हो तो फिर वियोग अवश्यम्भावी है । परन्तु भगवान् तो मिले हुए ही हैं, इसलिये उनका मिलन नित्य रस है और उसके सम्बन्धकी इच्छा, जिसे भाव कहते हैं, मिलनरूप होनेके कारण रसका विवर्त, वस्तुतः रस ही है ।'

'इस रसकी अनुभूतिका उपाय क्या है ?'

'नित्यसिद्ध रसका बोध और उसकी भावना ।'

'उपायोंमें आपने कर्मकी परिगणना नहीं की ?'

'कर्म भावनाके अन्तर्गत है। बिना भावनाके कर्मका कोई महत्त्व नहीं है। जिस निष्काम कर्मकी महिमा गायी जाती है, उसमें निष्कामता भावना ही है और उसीके कारण कर्म साधन है। जो भावनाके स्तरमें नहीं पहुँचे होते, उनके लिये साधनके रूपमें किसी विशेष कर्मका निर्देश होता है। वह कर्म इसीलिये साधन है कि वह एक विशेष प्रकारकी भावना उत्पन्न करता है। जो कर्म भावनाहीन है और भावना उत्पन्न भी नहीं करता, वह व्यर्थ है। उससे न स्वर्ग होगा न नरक। इसीसे बुद्धिमान् पुरुष कर्मके स्वरूपपर नहीं, उसके उद्देश्यपर ध्यान रखते हैं। एक अच्छी क्रिया भी उद्देश्यकी निकृष्टतासे पतनका कारण बन सकती है और देखनेमें निकृष्ट क्रिया भी भावकी पवित्रतासे उन्नतिका कारण बन सकती है। इसलिये कर्मकी स्वतन्त्र गणना न करके उसे भावनाके अन्तर्गत कहा गया है।'

'क्या केवल सेवाकर्म साधन नहीं हो सकता ?'

'इसका उत्तर हो गया है। स्पष्ट समझ लीजिये। यदि सेवाकर्म सेवाभावसे युक्त है, तब तो परमात्माकी प्राप्तिका साधन है। सेवाभावसे रहित है तो आगे चलकर सेवाभाव उत्पन्न करेगा। यदि सेवाकर्म करनेवालेके मनमें कोई दूसरा भाव है तो वही होगा। धोखा देनेका भाव हो, तब तो वही पतनका हेतु होगा।'

'कर्म करनेकी विधि क्या है ?'

'फलासक्ति, कर्मासक्ति और कर्तृत्वाभिमानसे रहित होकर प्रत्येक प्राप्त कर्तव्यको, भगवान्‌की ओर लक्ष्य रखते हुए, करते जाना—यही कर्मकी विधि है।'

'फलासक्तिका न होना तो ठीक है, यह कर्मासक्ति क्या है ?'

'फलकी इच्छा न होनेपर भी किसी विशेष कर्ममें राग होना कर्मासक्ति है। साधकके कर्मका उद्देश्य कर्मकी पूर्णता नहीं है, जीवनकी पूर्णता है। इसलिये वह सर्वदा अपने प्रभुकी ओर देखा करता है कि वे कब क्या इशारा करते हैं। कर्म अधूरा रहे या पूरा हो जाय, वह तो उनके सङ्केतसे—इङ्गितसे उसमें लगा है। जब वे हटाते हैं तब क्यों न हटेगा ? इस प्रकार निरन्तर उनके आदेशकी प्रतीक्षा करते रहना ही कर्मासक्तिका त्याग है।'

'कर्तृत्वअभिमानका राहित्य तो ज्ञानसे ही सम्भव है, भक्त इससे रहित कैसे हो ?'

'आत्मसमर्पण अथवा शरणागतिसे ही भक्त कर्तृत्वाभिमानसे भी मुक्त हो जाता है। यदि विचार करके देखा जाय तो भगवान्‌के महान् कर्तृत्वके सामने जीवका कर्तृत्व इतना क्षुद्र और अल्प है कि किसी प्रकार उसकी सत्ताका निश्चय नहीं होता। भक्तकी जब इस बातपर दृष्टि जाती है तब वह पहले तो अपनेको कर्ता मानता ही नहीं ! यदि उसे 'कर्ता' की प्रतीति होती है तो उसे वह अपने भगवान्‌को समर्पित कर देता है। वह सोचता है—जगत्‌का अणु-अणु तो उसीके द्वारा सञ्चालित हो रहा है। चराचरके शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, आत्मा सबकी सत्ता भगवान्‌से है—भगवान्‌में है। ऐसी कोई वस्तु नहीं, ऐसा कोई सङ्कल्प नहीं, जो प्रभुके सङ्कल्पके विपरीत हो। इसलिये सम्पूर्ण जगत्, सम्पूर्ण जीव और सम्पूर्ण मैं—जैसा कभी था, है या होगा—सब-का-सब प्रभुकी शरणमें है—कभी शरणसे बाहर हो नहीं सकता—रह नहीं सकता। 'शरण' क्रिया या भाव नहीं है, सत्य है। शरण स्वतःसिद्ध है। कर्तृत्व और भोक्तृत्व मेरा एक भ्रम था, जिसके कारण मैं रो रहा था, दुखी था। वह भी मेरे खिलाड़ी प्रभुकी एक प्रेमभरी लीला थी—आज उन्होंने अपनी लीलाका दूसरा पहलू सामने कर दिया। आज मैंने देखा कि उनके अतिरिक्त कोई कर्ता नहीं है—मैं

देखनेवाला भी नहीं; केवल वही और केवल वही हैं, यह कहना भी नहीं बनता। ऐसा निश्चय हो जानेपर कर्तृत्वाभिमानका लेश भी नहीं रहता। भक्तकी बुद्धि, मन, प्राण, शरीर आदि भगवान्‌के द्वारा प्रेरित होकर—भागवत सत्तासे एक होकर—यथास्थिति व्यवहार करते रहते हैं। ज्ञानीका 'वह' 'मैं' हो जाता है और भक्तका 'मैं' 'वह' में समा जाता है। रहता है एक ही।'

'फिर ज्ञानी और भक्तमें अन्तर क्या रहा ?'

'साधनका फल तो सब अन्तरोंको मिटा देना है। साधनकालमें मार्गमें अवश्य ही अन्तर रहता है—सिद्धिमें सब एक हैं। ज्ञानीकी दृष्टिमें प्रपञ्चकी पारमार्थिक सत्ता नहीं रहती। इसलिये उसका प्रारब्धके अनुसार व्यवहार मानना स्वाभाविक है। परन्तु भक्तकी दृष्टिमें तो यह दृश्यमान जगत् भी प्रभुमय ही है—उनकी लीला ही है। वह सब कुछ उन्हींके द्वारा प्रेरित–सञ्चालित देखता है। दोनोंकी ही दृष्टिमें अपना कर्तृत्व नहीं है। दोनों-का ही व्यवहार परप्रेरित है।'

'यह मान लिया कि भावनाके द्वारा भी कर्तृत्वा-भिमान शान्त हो जाता है। पर बोधके द्वारा वह किस प्रकार शान्त होता है ?'

'अन्तःकरणकी किसी स्थितिको भावना कहते हैं। निर्विकल्प समाधिपर्यन्त सभी अन्तःकरणकी ही स्थितियाँ हैं। अन्तःकरणको एक स्थितिसे दूसरी स्थितिमें ले जाना भावना है। जो स्पष्ट पत्थर दीख रहा है, उसे देवता मानना भावना है। यह उपयोग और लाभकी दृष्टिसे है। परन्तु सत्यका बोध हानि-लाभकी परवा नहीं करता। वह वस्तुको ज्यों-का-त्यों दिखा देता है। वह कोई अन्तःकरणकी स्थिति नहीं है। अन्तःकरण रहे, न रहे, चाहे जैसा रहे, वह एकरस ही रहता है। बोधस्वरूप अनन्त शान्त चिद्वस्तु ही केवल सत्य है। उसके अज्ञानसे नानात्वकी प्रतीति हो रही है। इसलिये प्रतीत-अप्रतीत जो कुछ भाव-अभाव और उभयातीत है, सब निर्विशेष परमात्मा ही है। इसमें न कर्ता है न कर्म और न उनका फलसंयोग ही। इस सत्यके साक्षात्कार-से किसी प्रकारके अभिमानके लिये कहीं अवसर ही नहीं रहता। कर्तृत्वाभिमानकी निवृत्तिके लिये किसी भी क्रिया, भावना अथवा स्थितिकी अपेक्षा नहीं रहती। निरपेक्ष निर्विकल्प बोध ही है—यही सत्य है।'

'बोधको भी वृत्तियोंकी ही एक अवस्था क्यों न मानें ?'

'वृत्तियाँ परिणामिनी हैं और बोध एकरस है। बोधमें वृत्तियोंका अस्तित्व ही नहीं है। बोधकी उपलब्धि ही समस्त वृत्तियोंका निषेध और अन्तमें निषेधका भी निषेध कर देनेपर होती है। इस अनिर्वचनीय नित्योप-लब्ध साक्षात् अपरोक्ष 'स्व' को—जिसकी वृत्तियों, स्थितियों और इनके परेके निर्वचनोंसे पृथक्ता स्वयंसिद्ध है—वृत्तियोंकी ही एक अवस्था कैसे कहा जा सकता है।'

'जब समस्त स्थूल-सूक्ष्म प्रपञ्चका कारण अज्ञान बताया जाता है, तब यह प्रश्न स्वतः ही उठता है कि अज्ञान किसको हुआ, क्यों हुआ ?'

'यहाँ यह प्रश्न उठता है कि अज्ञान अथवा मायाका स्वरूप ज्ञात है या अज्ञात ? यदि अज्ञात है, तब तो यही कहना पड़ेगा कि जिसको अज्ञानका स्वरूप ही अज्ञात है वह उसके आश्रय और कारणको कैसे जान सकता है ? यदि अज्ञानका स्वरूप ज्ञात हो, तब तो वह अज्ञान नहीं ज्ञान ही है। क्योंकि अज्ञान और उसका स्वरूप–ये दो वस्तु तो हैं नहीं, परमार्थतः एक ही वस्तु है। दूसरी बात यह है कि कहीं भी अज्ञानका वस्तुरूपसे वर्णन नहीं हुआ है। वह तो वस्तु-में—अधिष्ठानमें अध्यस्त है। विवेकदृष्टिसे अध्यस्तकी अपेक्षा अधिष्ठान पृथक् है—परन्तु अधिष्ठानकी अपेक्षा अध्यस्त पृथक् नहीं है। इसीसे जिनकी दृष्टिमें दृश्यमान

प्रपञ्च सत्य है, उनकी कारणविषयक जिज्ञासाका समाधान करनेके लिये अज्ञान अथवा मायाका अध्यारोप किया गया है, अध्यारोप केवल समझानेके लिये है। बात समझ लेनेपर उसका अस्तित्व ही नहीं रह जाता। इसीसे आचार्योंका यह उत्तर सर्वथा सङ्गत है कि जो पूछता है, उसे ही अज्ञान है। ये ज्ञान-अज्ञान किसे होते हैं? इस प्रश्नका उत्तर यदि अन्तर्दृष्टिसे स्वयं सोचा जाय तो दोनोंके अधिष्ठान चिद्वस्तुका बोध हो जाय और अज्ञानके सम्बन्धमें कोई प्रश्न ही न उठे।'

'क्या ज्ञान होनेपर ऐसी स्थिति नहीं हो जाती कि जगत्‌की प्रतीति ही न हो?'

'प्रतीतिसे ज्ञानका कोई विरोध नहीं है। ज्ञानका विरोध है उस अज्ञानसे, जो प्रतीतिमें कार्य-कारणभावको सत्यता देकर आत्मस्वरूपको तिरोहित-सा कर देता है। गगनकी नीलिमाका मिथ्यात्व-निश्चय हो जानेपर उसकी प्रतीति रहती ही है। जपाकुसुमके सान्निध्यसे स्फटिककी प्रतीयमान रक्तिमा उसके श्वेतिमाका ज्ञान होनेपर भी रहती ही है। केवल उसमें सत्यत्व बुद्धि नहीं होती। इसीसे परमार्थ-सत्यको निर्विकल्प स्थितिकी आवश्यकता नहीं है। वह तो ज्यों-का-त्यों है। ज्ञान होनेपर किसीको समाधि लग जाय तो ठीक, और न लगे तो भी ठीक। ज्ञान समाधि-सापेक्ष नहीं है।'

'जब वस्तुस्थिति ऐसी है, तब 'ज्ञानी' शब्दका क्या अर्थ है?'

'वस्तु ज्ञानस्वरूप है। वह किसीका अवयव नहीं है। अतः परमार्थतः ज्ञानस्वरूप ही है, ज्ञानी नहीं है। शास्त्रोंने जिज्ञासुओंके हितार्थ ही वस्तुमें ज्ञानीका अध्यारोप किया है। जिन क्रियाओं, भावनाओं, सद्गुणों और सद्विचारोंसे जिज्ञासुका कल्याण होता है, उनका ज्ञानीमें रहना आवश्यक है और शास्त्रोंने उन्हींका वर्णन भी किया है। साधकोंकी रुचि, प्रवृत्ति, स्वभाव आदिके अनुसार किसी विचारवान् पुरुषमें श्रद्धा हो जाती है और उन्हें उसीमें सब लक्षण मिल जाते हैं। वस्तु तो निर्गुण है— श्रद्धा और प्रेम ही गुणोंकी सृष्टि करते हैं।'

'तब ज्ञानीके अन्तःकरणमें स्वभावसे ही रहनेवाले जिन गुणोंका उल्लेख मिलता है, उनकी क्या सङ्गति है?'

'जैसे जीवन्मुक्तका लक्षण बताया है—

> रागद्वेषभयादीनामनुरूपं चरन्नपि ।
> योऽन्तर्व्योमवदत्यच्छो जीवन्मुक्तः स उच्यते ॥

'उसे जीवन्मुक्त कहते हैं जो राग, द्वेष, भय आदिके अनुरूप व्यवहार करनेपर भी अन्तःकरणमें आकाशके समान निर्मल रहता है। उसके अन्तःकरणकी निर्मलता दूसरे जान नहीं सकते। जिसकी श्रद्धा होगी, वह उसके आचरणको लीला कहेगा। जो अश्रद्धालु होगा, वह उसे पतनका हेतु कहेगा। वास्तवमें जिज्ञासुकी केन्द्रीभूत श्रद्धा ही महापुरुष है। महापुरुषोंके लक्षण श्रद्धावेद्य हैं और उनका वर्णन भी उनके लिये नहीं, साधकोंके लिये ही है जिससे कि वे प्रयत्न करके वैसे गुण सम्पादन करें। वास्तवमें जीवन्मुक्त महापुरुष सच्चिदानन्दघन परमात्मासे एक होता है, इसलिये उसके सम्बन्धमें कुछ कहना बनता ही नहीं। वह स्वयं ही स्थूल और सूक्ष्म शरीरसे ऊपर उठनेकी प्रेरणा करता है, इसलिये उसका लक्षण स्थूल-सूक्ष्म शरीरके अंदर आबद्ध नहीं होता। वह समस्त क्रियाओं और भावनाओंसे ऊपर होता है।'

'पहले यह बात कही गयी थी कि भावना और बोध दोनोंसे ही कर्तृत्वाभिमानकी निवृत्ति होती है और दोनोंका ही फल एक है। परन्तु इस निरूपणसे तो ऐसा मालूम पड़ता है कि बोध सत्य है और भावना एक वृत्तिमात्र है।'

'इसमें कोई आपत्तिकी बात नहीं है। क्योंकि भावना दो प्रकारकी होती है। एक तो बोधसिद्ध वस्तुके अनुकूल और दूसरी प्रतिकूल। सिद्ध वस्तुके प्रतिकूल भावना अनर्थका हेतु है। परन्तु जो

भावना ज्ञान न होनेपर भी ज्ञानसिद्ध वस्तुके अनुकूल है, वह ज्ञानसे न्यून नहीं है। उदाहरणार्थ—ज्ञानसे यह सिद्ध है कि विज्ञानानन्दघन परमात्माके अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं है, सब परमात्मा ही है। ऐसी वस्तुस्थितिका ज्ञान और निश्चय न होनेपर भी यदि कहीं परमात्माकी भावना होती है, तो वह परमात्माकी भावना होनेके कारण ज्ञानानुकूल ही है। उस एक वस्तुमें परमात्माकी भावना दृढ होनेपर उसका स्वरूप अनन्त हो जायगा। भावना प्रारम्भमें वृत्तिमात्र होनेपर भी अन्तमें बोधका स्वरूप धारण कर लेती है। परन्तु सिद्ध वस्तु परमात्मामें यदि कुछ भिन्न वस्तु होनेकी भावना की जाय तो यह प्रतिकूल भावना है और द्वैत, जडता एवं दुःखकी जननी है। भावना वृत्तिमात्र होनेपर भी ज्ञानीकी दृष्टिमें तो ज्ञानस्वरूप ही है। इसलिये वह बोधसे पृथक् नहीं है।'

'वृत्तिको बोध कहनेका क्या तात्पर्य है?'

'वेदान्तकी प्रक्रिया ऐसी है कि पहले तत्त्वोंसे आत्माको पृथक् करते हैं और यह आत्मा नहीं, यह आत्मा नहीं—इस प्रकार साक्षीरूपसे स्वरूपका निर्णय करते हैं। परमार्थदृष्टिसे यह निखिल 'इदम्' और 'अहम्' वृत्तियोंका साक्षी भी कारणात्मकवृत्ति ही है। इसका बाध ही स्वरूपविवेककी अन्तिम सीमा है और यहीं विचार समाप्त होकर ज्ञान हो जाता है—स्वरूप-साक्षात्कार हो जाता है। इस साक्षात्कारका अर्थ है बाधका भी बाध। अर्थात् साधनके लिये तो बाधकी आवश्यकता होती है, परन्तु सिद्ध वस्तुमें बाधवृत्तिका भी बाध होकर—अपवादका भी अपवाद होनेपर यथास्थित वस्तु ही रह जाती है और वह केवल निर्विशेष बोध है। इसलिये ज्ञानीकी दृष्टिसे, वृत्ति आदि जो कुछ है सब बोधस्वरूप है।'

शारीरिक रोगोंपर भगवन्नामका प्रयोग

(लेखक—पं० श्रीबटुकनाथजी शर्मा, एम्० ए०, साहित्योपाध्याय)

इस लेखके शीर्षकसे ही लोग चौंक उठेंगे। कोई कुछ सोचने लगेगा, कोई कुछ। आजकी बहुरंगी दुनियामें सर्वत्र बुद्धिका ही बोलबाला है और कई लोगोंको तो बुद्धिका अजीर्ण हो गया है। ऐसोंसे कुछ भी कहना पानीपर लकीर खींचना है। अपने विज्ञ पाठकोंसे आज एक ऐसी बात कहनेके लिये क्षमा चाहता हूँ जिसपर अभी विज्ञानकी मुहर नहीं लगी है। मैं यह जानता हूँ कि आजकल कोई भी बात जो तर्कसम्मत नहीं होती सुनी नहीं जाती, उलटे यार लोग उसपर फबतियाँ कसते हैं। इसलिये आरम्भमें ही मुझे यह निवेदन कर देना है कि मैं अपनी बात, जिसपर भले ही विज्ञानकी मुहर न पड़ी हो, वैज्ञानिक दृष्टिकोणसे ही उपस्थित करूँगा। आशा है, उसमें तर्कपन्थियोंको भड़कानेवाली कोई बात न होगी।

प्रश्न हमारे सामने यह है—क्या भगवन्नामके द्वारा किसी ऐसे आदमीका भी रोग दूर हो सकता है, जिसे भगवन्नाममें नाममात्रकी आस्था है और उसके प्रभावमें कतई कोई विश्वास नहीं है? दूसरे शब्दोंमें क्या भगवन्नामके बार-बार दोहरानेमात्रसे—वह धीरे-धीरे हो या जोर-जोरसे—कोई भी रुग्ण व्यक्ति सर्वथा नीरोग और भला-चंगा हो सकता है? मेरा तथा मेरे ही-जैसे विचार रखनेवालोंका तो उत्तर यही होगा—'हाँ, अवश्य।' इस निर्णयके लिये प्रमाण? प्रमाण लो है अनुमानकी वही वैज्ञानिक प्रक्रिया, जिसमें हम कई

उदाहरणोंको एकत्र करके उनके आधारपर एक सामान्य नियमकी स्थापना करते हैं। ऐसे उदाहरणोंसे सहज ही हम अपने उक्त निर्णयपर पहुँचते हैं। यहाँ-वहाँकी बात बनानेकी अपेक्षा उत्तम यही होगा कि मैं कुछ उदाहरण अपने पाठकोंके सामने उपस्थित करूँ। इसमें कुछ अपनी निजी बातें आ जायँगी, इसके लिये मैं पाठकोंसे क्षमा चाहता हूँ। मैं अपने ही उदाहरणसे प्रारम्भ करूँगा।

अप्रेल सन् ३५ की घटना है। यकायक मैं बुरी तरह बीमार पड़ गया। अजीब तरहकी बीमारी थी। हृदयकी धड़कन बेतरह बढ़ गयी थी, सारे शरीरमें एक अजीब-सी वेदना हो रही थी। सारा शरीर भीतर-ही-भीतर थरथरा रहा था, यद्यपि बाहरसे कँपकँपीके कोई आसार नहीं थे। रीढ़की हड्डीमें एक अजीब ऐंठन-सी मालूम दे रही थी। मस्तिष्कमें मानो उत्ताल तरंगें उठतीं और शान्त हो जाती थीं। रीढ़का ऊपरी हिस्सा इस तरह फड़क रहा था कि बारी-बारीसे वह सिकुड़ और फैल रहा था। मैं अब गया, तब गया—ऐसे भाव आ रहे थे। मन-ही-मन कूचकी तैयारी कर रहा था। रक्तकी गति भी बहुत द्रुत हो गयी थी। परन्तु एक बड़ी विचित्र बात यह रही कि शरीरसे या मनसे मैं किसी खास दुर्बलताका अनुभव नहीं कर रहा था। मैंने अपनी बीमारीके बारेमें किसीसे कुछ कहा नहीं। अपने डाक्टर मित्रोंके सामने तो इसका प्रसङ्ग ही न चले इसकी मैंने खास तौरपर चेष्टा की। उन दिनों बनारसमें बेरी-बेरी रोगका उपद्रव जोरोंपर था। दो ही महीने पूर्व, मेरे एक सम्मान्य शिक्षक, जिनके साथ पीछे मुझे काम करनेका भी सौभाग्य प्राप्त हुआ था, इसी रोगके शिकार होकर इस असार संसारसे चल बसे थे। मनमें इसलिये एक भय तो अवश्य बना रहा कि लोग शायद मेरी इस विचित्र बीमारीको कुछ-का-कुछ समझ बैठें। हमारे अधिकांश डाक्टरोंकी नीयत तो अच्छी होती है, परन्तु उनमेंसे कोई-कोई अपनेको लगाते बहुत हैं। प्रत्येक रोगीके सम्बन्धमें जो उनसे चिकित्सा करावेगा वे कुछ-न-कुछ करेंगे अवश्य, चाहे परीक्षाके लिये क्यों न हो। किन्तु मनुष्यका जीवन खिलवाड़ तो है नहीं। मेरी बीमारी कुछ बेढंगी-सी थी। स्पष्ट ही मेरी रीढ़ और मस्तिष्कमें कोई विकार हो गया था। पर भगवान् जाने मेरे लायक डाक्टर दोस्त इसे क्या ठहराते। कुछ ऐसे ही कारणोंसे मैंने चुप रहना ही उत्तम समझा और किसीसे कुछ कहा नहीं। परन्तु साथ ही इसका बुरे-से-बुरा परिणाम जो हो सकता था उसके लिये अपनेको मैं तैयार कर रहा था।

मेरी इस तैयारीमें 'रामनाम' का उच्चारण मेरे मुखसे स्वाभाविक तौरपर, बल्कि एक प्रकारसे अपने बिना किसी चेष्टाके होने लगा। रातको जब मैं बिस्तरपर पड़ा था, मेरी छाती इतनी जोरसे धड़क रही थी कि उसकी धड़कनसे मुझे ऐसा मालूम होता था कि मेरी खटिया दलदला उठी है। यकायक मैं यह भावना करनेकी चेष्टा करने लगा कि हृदयकी धड़कनमें 'राम-राम' का उच्चारण हो रहा है—हृदय 'राम-राम' रट रहा है। फिर क्या था। तत्काल मुझे कुछ आराम मिला। अनायास ही मुझे एक बहुत बड़ी चीज प्राप्त हो गयी। आशाकी कोमल किरणें हृदयमें फिरसे जगमगाने लगीं। मदरसेके एक अच्छे छात्रकी तरह हृदयराम एक बार फिर मेरे काबूमें आ गये और उनकी सारी शरारतें और उछल-कूद बंद हो गयीं। एक अपूर्व शान्ति और शीतलताका बोध होने लगा। सारे शरीरकी वेदना मानो छू-मंतर हो गयी। जूनके अन्ततक मैं बिलकुल भला-चंगा हो गया। एक बात यहाँ स्पष्टरूपमें समझ लेनेकी है। वह यह कि 'राम-राम'का उच्चारण करते समय मेरे मनमें कोई राम-नामके प्रति प्रेमका भाव नहीं था। मेरा ध्यान तो

हृदयकी धड़कनपर था। सारी क्रिया परीक्षाके रूपमें यन्त्रवत् चलती रही।

यह बात मैंने अपने और मित्रोंको, जो हृदय रोगसे आक्रान्त थे, सुझायी। परन्तु मुझे यह बात कहनी पड़ती है कि उनमेंसे बहुतोंने इसका प्रयोग करनेको कहा तो था, परन्तु उन्होंने एक बार भी इसकी परीक्षा नहीं की। उन्हें यह बात शायद कुछ जादू-टोने-सी लगी। परन्तु यह उनका सर्वथा भ्रम था। कुछ मित्र मेरे बताये हुए प्रयोगको काममें लाये और उन्हें तत्काल लाभ हुआ। उनपर इसका बहुत प्रभाव पड़ा।

मेरे मनमें कुतूहल हुआ। क्या यह प्रयोग मेरे ही रोगमें सफल हुआ या सबके लिये समानरूपमें उपयोगी सिद्ध हो सकता है? मैंने ऐसे कई उदाहरण संग्रह कर रक्खे हैं और उनमेंसे कुछ खास-खास उदाहरणोंका यहाँ उल्लेख करूँगा। वे उदाहरण इतने स्पष्ट हैं कि उनपर मेरी ओरसे कोई टीका-टिप्पणीकी आवश्यकता न होगी।

१. एक सज्जन थे। वे अब संसारमें नहीं हैं। जब भी उन्हें ज्वर चढ़ता और कँपकँपी छूटती, वे उस कम्पनके साथ 'राम-राम'की ध्वनिको जोड़ लेते। कुछ ही देर बाद उनका ज्वर उतर जाता, कँपकँपी बंद हो जाती। ज्वरकी हालतमें एक बार वे शान्त, स्थिर, निश्चेष्ट लेटे हुए थे। जब मैंने पूछा, आप क्या कर रहे हैं, तब उन्होंने सारी बात मुझे बतलायी।

२. एक विद्वान् सज्जन हैं। तीस वर्ष पूर्व उनके खखारकी परीक्षा करनेपर डाक्टरोंने उसमें भयानक टी० बी० (राजयक्ष्मा) के कीटाणु बतलाये थे। फिर तो वे बेचारे उसके आतङ्कसे ही गलने लगे और लगे जहाँ-तहाँकी खाक छानने। सभी प्रमुख डाक्टर-वैद्य-हकीमोंको दिखलाया और एक-एककर सब प्रकारकी चिकित्साओंसे आजिज आ गये। रुपया तो उन्होंने पानीकी तरह बहाया ही, साथ ही उनका धैर्य और शान्ति भी क्रमशः जाती रही; परन्तु बीमारीने फिर भी उनका पीछा नहीं छोड़ा। दिन-दिन हालत खराब होती जा रही है, यह देख वे एकदम निराश हो गये। और लोगोंको छूत न लग जाय—इस विचारसे बिना किसीको कुछ कहे-सुने, उन्होंने घरसे भाग जानेकी चेष्टा की। कुछ ही दूर गये थे कि थक गये और हारकर कहीं पड़ रहे। उसी रास्ते कुछ साधु जा रहे थे—और चिमटे बजा-बजाकर जोर-जोरसे 'सीताराम, सीताराम' गा रहे थे। उक्त सज्जनने अपनी सारी बची-खुची शक्ति बटोरकर 'सीताराम, सीताराम' कहना शुरू किया। घरवाले उनका पता लगाकर उन्हें ले आये, परन्तु फिर भी उनका 'सीताराम, सीताराम' नहीं छूटा। लाख मना करनेपर भी वे 'सीताराम, सीताराम' रटते ही रहे। कुछ ही दिन बाद उनकी हालत सुधरने लगी। अब वे बिल्कुल ठीक हैं। उन्होंने शपथ खा ली है कि अब जीवनभर कोई भी दवा, जिसे वे 'जहर' कहते हैं, ग्रहण नहीं करेंगे।

३. एक आदमीके सिरमें भयानक पीड़ा थी। दर्दके मारे वह कराह रहा था। उसका एक मित्र उसे सलाह दे रहा था, 'इतना घबड़ा क्यों रहे हो? सिरमें जो दर्द उठ रहा है, उसके साथ 'राम-राम' की ध्वनि क्यों नहीं जोड़ लेते?' मुझे स्मरण नहीं उस आदमीने यह प्रयोग किया कि नहीं। मैं भी इस बातको भूल गया था। परन्तु उपर्युक्त प्रयोगके बाद मुझे यह बात याद पड़ी और तबसे मैंने इस प्रयोगको कई बार किया है और मुझे तुरंत फ़ायदा पहुँचा है। पाठकोंसे मेरा अनुरोध है, वे एक बार इसे करके देखें। हानि तो कोई होगी नहीं।

४. मेरे मित्र प्रोफेसर बलदेव उपाध्यायने मुझे

एक घटना सुनायी है। एक वृद्ध मुंशीजी हैं। बचपनसे ही इन्हें शराबकी लत थी। वे बेचारे चाहते तो बहुत थे कि इससे पिण्ड छूटे, परन्तु छोड़ नहीं सकते थे। लाचार थे। शराबखोरी उनका स्वभाव बन गया था। एक बार एक साधु बाबा उन्हें मिले। उन्होंने सलाह दी कि 'राम-राम' जपा करो। मुंशीजीको बात लग गयी। उन्होंने 'राम-राम' कहना शुरू किया। धीरे-धीरे उनकी शराबके प्रति आसक्ति कम होती गयी और अब वे इससे पूर्णतः मुक्त हैं तथा उन्हें पीनेकी यादतक नहीं आती। उनकी उम्र इस समय सत्तर सालकी है। उनके स्वास्थ्यमें कोई अन्तर नहीं पड़ा है।

५. कुछ वर्ष पहलेकी बात है, मुझे भी एक ऐसा ही उदाहरण मिला। एक सेठजी थे। गाँजा पीनेकी पुरानी आदतसे लाचार थे। एक बार वे एक संन्यासीके पास जाकर उनसे प्रार्थना करने लगे, 'महाराज, कोई ऐसी तदबीर बतलाइये जिससे मैं भगवान्‌के मार्गमें लग सकूँ।' स्वामीजीको जब यह मालूम हुआ कि सेठजी सवा रुपयेका गाँजा रोज फूँक जाते हैं तो उन्होंने विना बात किये ही उन्हें विदा कर दिया। दूसरे दिन सेठजी फिर आये और लगे स्वामीजीके चरणोंमें गिरकर गिड़गिड़ाने, 'महाराज, मैंने बड़ी कोशिशें कीं, परन्तु यह व्यसन छूटता नहीं, क्या करूँ?' सेठजीकी आँखोंमें आँसू भर आये थे। सेठजीकी यह अवस्था देखकर स्वामीजीने कहा, 'अच्छा, रातको रोज सोनेके पहले दस हजार रामनाम ले लिया करो।' सेठजीने स्वामीजीकी बात मान ली और महीनेभरमें ही उनकी वह बुरी आदत एकदम छूट गयी। हमलोगोंने स्वामीजीसे ही यह बात सुनी। स्वामीजी अब सेठजीपर बहुत प्रसन्न थे। स्वामीजीने जिस समय यह बात कही, उस समय सेठजी भी वहीं थे।

६. एक और ऐसी ही घटना मुझे याद आ गयी है। एक दूसरे मुंशीजी थे। वे किसी बड़े अच्छे ओहदेपर थे। लेकिन थे पुराने पियक्कड़। स्व० श्रीश्यामाचरण लाहिड़ीसे एक बार उनकी मुलाकात हुई। लाहिड़ी महाशयने मुंशीजीसे कहा, 'भाई, रामनाम कहा करो, और कोई रास्ता नहीं है।' फिर क्या था, मुंशीजीने वैसा ही किया। सदाके लिये बोतलसे छुट्टी पायी।

ऐसे और भी कई उदाहरण हैं। परन्तु मैं उनका उल्लेख कर लेखका कलेवर बढ़ाना नहीं चाहता। आज-कलके उद्‌भ्रान्तचित्त पुरुषोंको यह सब नवीन 'भक्तमाल' सा लगेगा। लेकिन मैं तो शुरूहीमें कह आया हूँ कि मेरा अभिप्राय कुछ और है। मुझमें, सच पूछिये तो, भगवन्नामके सम्बन्धमें उठनेवाले इन सब प्रश्नोंको हल करनेकी क्षमता नहीं है—यह तो अध्यात्मक्षेत्रकी सबसे बड़ी, सबसे ऊँची वस्तु है। यह वह वस्तु है जो मनुष्यमें सर्वश्रेष्ठ भावोंको जगाकर उसे दिव्य चेतन बना देती है और दुखी-आर्त हृदयोंको इससे बराबर सान्त्वना मिलती आयी है।

संसारके अधिकांश व्यक्ति किसी-न-किसी दैवी सत्तामें विश्वास करते हैं। उस सत्ताका नाम चाहे जो हो। बड़े-बड़े बुद्धिमान् लोग भी 'उस'से इनकार नहीं कर सके। ये सब-के-सब वज्रमूर्ख हैं, ऐसा मान लेना हमारी नादानी नहीं तो और क्या है? इस मार्गपर चलनेवालोंके लिये वे महापुरुष स्थान-स्थानपर मार्ग-प्रदीप छोड़ गये हैं। इन महापुरुषोंके मार्गप्रदर्शन तथा निश्चित धारणाके कारण ही थके हुए, भटकते हुए पथिकोंको बल एवं प्रोत्साहन मिलता है और यह विश्वास बँधता है कि जिस लक्ष्यकी ओर हम जा रहे हैं, वह सत्य है। वह लक्ष्य एक है, नाम उसके भिन्न-भिन्न हैं, वहाँ पहुँचनेके मार्ग भी भिन्न-भिन्न हैं, और इस कारण अनुभूतियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं; परन्तु

यह लक्ष्य है सत्य-सनातन, अद्वितीय और चिर प्रकाशमान।

एक सर्वसमर्थ, सर्वज्ञ और सर्वव्यापक प्रभुकी सत्ताको स्वीकार करते ही यह स्वीकार करना ही पड़ता है कि उसके चिन्तन-स्मरणसे हम भीतर-बाहर पवित्र हो जाते हैं। परन्तु शब्दका आधार लिये विना उसका चिन्तन कैसे किया जाय? इसलिये उस नामहीनके नाम हुए जो सर्वरूप होते हुए भी सारे नामों और रूपोंसे परे है। और कैसी है महिमा उस नामकी! एक ओरसे हम सुनते हैं—'पावनं राम! नाम ते'। दूसरी ओरसे सुनते हैं—'Sanctificatur Namen Tuum.'—दोनोंहीका अर्थ है—कितना पवित्र है तुम्हारा नाम! विज्ञजनोंके इस महान् सङ्गीतमें कभी कोई विसंवादी स्वर नहीं सुना गया। नाम एक ऐसा स्पर्शमणि है जिसके छुआते ही हमारे हीन एवं दुर्बल विचारोंमें एक दिव्य चेतनता और अदम्य शक्तिका स्फुरण होने लगता है। हृदयकी प्रयोगशालामें भावकी बैटरी जलाकर शब्द-लहरियोंके सहारे एक ऐसी शक्तिका आविर्भाव किया जाता रहा है जिसके सामने विज्ञान मूक है। वहाँ तो स्वयं वह परात्पर शक्ति अवतरित हो आती है—जिसके विषयमें हमारा ज्ञान सर्वथा अधूरा है, उसका वर्णन तो हम कर ही क्या सकते हैं? भगवान्‌के असंख्य नामोंमेंसे किसी एकका भावपूर्वक बारंबार उच्चारण करनेसे ध्वनिकी लहरियाँ उत्पन्न होती हैं। नामस्मरणके प्रभावके सम्बन्धमें नामरसके अनुभवी सज्जनोंको कभी कोई सन्देह हुआ ही नहीं—क्षणमात्रके लिये भी नहीं। सन्देह होता भी क्यों? अन्तरमें नामाकारितवृत्तिके द्वारा 'नामी'के साथ उनका इतना घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया है कि नाममें उनकी आस्था सर्वथा सुदृढ़ हो गयी है। इसलिये नामसाधनामें प्रवृत्त और नामरसप्राप्त पुरुषके प्रशान्त गम्भीर हृदयमें सन्देहके बुदबुदे कभी उठते ही नहीं और न कभी विपरीत भाव ही आते हैं। शङ्काएँ तो मुझ-जैसे अनाड़ी लोगोंके मार्गमें आती हैं, जिन्हें सन्देहोंके तरङ्ग-आवर्त और बुदबुदोंको चीरकर, नाना प्रकारके संशयोंकी अँधियारी घाटियाँ पारकर उस मधुमय लोकमें पहुँचना है जहाँ चिरवसन्त है, जहाँ हरियाली-ही-हरियाली है।

एक ऐसे पुरुषके लिये जिसे न तो वास्तविक ज्ञान है और न इस विषयका अनुभव है, यह बतलानेकी चेष्टा करना दुःसाहसमात्र है कि भगवान्‌का नाम किस प्रकार जादूका असर करता है। नाम हमारी अन्तश्चेतना और सुप्तचेतनाको किस प्रकार जगा देता है, यह तो कोई मनोविज्ञानविशारद ही बतला सकता है। पिछले कुछ वर्षोंमें मनोविज्ञानने काफी तरक्की की है, परन्तु तो भी, जैसा कि मनोविज्ञानके पण्डित भी स्वीकार करते हैं, अभी मनोविज्ञान अन्तश्चेतनाके क्षेत्रसे आगे नहीं बढ़ा है। इस कारण, मनोविज्ञानके क्षेत्रमें जितना कुछ अनुसन्धान हो चुका है, हम उसके आधारपर चेतनाके क्षेत्रसे ऊपर उठ ही नहीं सकते। अबतकके हमारे अनुसन्धान भौतिक क्षेत्रतक ही सीमित रहे हैं। वहाँ भी तो सवाल यह है कि हम बाह्य विषयोंके जितना सम्पर्कमें रहते हैं उतना अपने अन्तस्‌का बोध कहाँ रखते हैं! यह बाह्य जगत् भी तो सूक्ष्म जगत्‌का ही स्थूलरूप है। ऐसी हालतमें उन वस्तुओंके सम्बन्धमें जिनका तर्कसे निर्णय नहीं हो सकता, सहसा विश्वास कर लेनेकी अपेक्षा उनके विषयमें शङ्कालु होना स्वाभाविक ही है और सचाईका द्योतक है।

अच्छा, तो अब इसके बाह्य रूपपर ही विचार किया जाय। परन्तु वह होगा मानवजीवनका एकाङ्गी एवं अपूर्ण अध्ययन। स्थिति ऐसी हो गयी है, हमारी मनोवृत्ति ही ऐसी बन गयी है कि अपने अन्तस्तलमें जानेकी अपेक्षा बाह्यदृष्टि हमारे लिये अधिक स्वाभाविक

हो गयी है। इसीलिये तो मैंने कुछ ऐसी घटनाओंका उल्लेख किया है जिनका सम्बन्ध स्थूलशरीरसे है और इससे मुझे आशा है, मेरे पाठक इस अचूक औषधका प्रयोग करके स्वयं मेरी बातकी सचाईकी परीक्षा कर लेंगे।

एफ्. टी. ब्रुक्सने टेनिसनके सम्बन्धमें एक बड़ा मनोरञ्जक बात लिखी है। वह लिखते हैं कि टेनिसन स्वयं अपने ही नाम 'आल्फ्रेड' का कई बार उच्चारण कर समाधिकी अवस्थामें चला जाता था। फिर हम अपने सुपरिचित, चिर-अभ्यस्त नामोंका उच्चारण करके उस प्रकारकी अवस्थाका अनुभव क्यों नहीं कर सकते? यह बात बिल्कुल युक्तिसङ्गत है कि कोई भी ध्वनि जिसे हम बार-बार सुनेंगे या उच्चारण करेंगे, हमारे समग्र स्नायुजालको अवश्यमेव प्रभावित करेगी। ऊपर जिन घटनाओंका उल्लेख मैंने किया है, उनमें अधिकांश रोग स्नायुसम्बन्धी ही थे और स्नायुओंपर बल पड़ने तथा एक प्रक्रियाविशेषके कारण ही रोगोंसे मुक्ति मिली। हम आजकल कुछ ऐसी परिस्थितिमें रह रहे हैं कि कोई भी घटना हमारे मस्तिष्कको, हमारी संवेदनशक्तिको तुरंत प्रभावित कर देती है और उसका हमारे स्नायुओंपर गहरा असर पड़ता है। स्नायुविकृति आजकलकी एक आम शिकायत है। मेरा तो यह दृढ विश्वास है कि भगवन्नामका बार-बार उच्चारण करनेसे हम किसी भी तरहके स्नायविक विकारको दूर कर सकते हैं। कहा नहीं जा सकता, हमारे पूर्वजोंने यह जड़ी कहाँसे खोज निकाली। यह जड़ी हर देशकी हर भाषामें पायी जाती है। हाँ, यह सच है कि भगवान्‌के नामका जितना प्रभाव हमारी अन्तश्चेतना तथा स्नायुओंपर पड़ता है उतना और किसी शब्दका नहीं। सोनेके पूर्व, धीरे-धीरे, शान्तिपूर्वक भगवान्‌का नाम कुछ ही देर, कुछ ही क्षण लेनेपर एक अजीब तरहका जादूका असर होता है। थका हुआ मनुष्य तुरंत निद्रादेवीकी मीठी गोदमें चला जाता है और स्नायुओंमें एक ऐसी स्वस्थताका बोध होता है कि दूसरे दिन सबेरे जागनेपर ऐसा मालूम पड़ता है मानो मैं नवीन शक्तियोंका अक्षय भण्डार हूँ। आजके डाक्टरी विज्ञानको इसे अभी प्रमाणित करना है। परन्तु हमारे पूर्वपुरुष—हमारे ऋषि इस बातको भलीभाँति जानते थे। भारतवर्षके सर्वश्रेष्ठ चिकित्सक नारायणावतार भगवान् धन्वन्तरिके ये वचन हम कैसे भूल सकते हैं!—

> अच्युतानन्तगोविन्दनामोच्चारणभेषजात्।
> नश्यन्ति सकला रोगाः सत्यं सत्यं वदाम्यहम्॥

अर्थात् 'मैं सत्य-सत्य कह रहा हूँ कि अच्युत, अनन्त, गोविन्द—इन नामोंके उच्चारणमात्रसे सभी रोग नष्ट हो जाते हैं।' क्या मैं आशा करूँ कि मेरे कृपालु पाठक इस प्रयोगको कुछ दिन ईमानदारीसे करके आजमायेंगे? इतना तो मैं विश्वास दिला सकता हूँ कि इससे उन्हें कोई हानि न होगी। यदि उन्हें कुछ भी लाभ प्रतीत हो तो उत्तम होगा कि वे ऐसे प्रयोगोंको जनताके सामने उपस्थित करें—जिससे लोगोंमें, जिस कारण भी हो, भगवन्नामकी अमोघतामें विश्वास जमे।

कृपालु संत, महात्मा, भक्त और विद्वान् लेखकोंसे प्रार्थना

साधनाङ्क

आगामी अगस्तमें आपका 'कल्याण' चौदहवाँ वर्ष समाप्तकर पंद्रहवें वर्षमें प्रवेश करेगा। अचिन्त्य लीलामय भगवान्‌की कृपा, प्रेरणा और शक्तिसे 'कल्याण' के द्वारा विश्वरूप भगवान्‌की किसी अंशमें जो कुछ पूजा-अर्चा हो रही है, उसका कुछ-कुछ हम सभीको अनुमान है। इस समय 'कल्याण' ५६१०० छप रहा है। भारतके प्रायः सभी प्रान्तोंमें सभी सम्प्रदायोंके लोग 'कल्याण' को बड़े चावसे पढ़ते हैं और अनेकों नर-नारी उसमें प्रकाशित सामग्रीसे लाभ उठाकर अपने जीवनको उन्नत, सदाचारसम्पन्न और भगवन्मुखी बनानेका यत्न कर रहे हैं। 'कल्याण' के विशेषाङ्क तो लोगोंको विशेषरूपसे प्रिय होते हैं।

इस पंद्रहवें वर्षके आरम्भमें 'कल्याण' का साधना-विषयक विशेषाङ्क निकालनेका निश्चय हुआ है। यह अङ्क ईश्वराभिमुख सभी सम्प्रदायों, प्रवृत्तियों और विचारोंके लोगोंके लिये उपयोगी होगा; क्योंकि सब प्रकारकी मुख्य-मुख्य साधनाओंके स्वरूप, उनकी विभिन्न विधियाँ और उनसे प्राप्त होनेवाली सिद्धियाँ, इन सबका ही यथासम्भव विस्तृत विवरण देनेका आयोजन किया जा रहा है। भारतकी साधनाओंके विस्तृत विवरणके साथ अन्य देशोंकी साधनाओं-का भी यथासम्भव इसमें समावेश करनेकी चेष्टा की जायगी। केवल प्राचीन ही नहीं, मध्यकालीन और वर्त्तमान समयकी साधनाओंपर भी प्रकाश डालनेका प्रयत्न किया जायगा। वैदिक, तान्त्रिक, हठ, मन्त्र, लय, राज, ज्ञान आदि सभी साधनमार्गोंका इसमें अन्तर्भाव होगा। इस पत्रके साथ इस साधनाङ्ककी जो विषय-सूची दी जा रही है, उससे इसके व्यापक तथा साधनोपयोगी स्वरूपका यथेष्ट परिचय मिलेगा। 'कल्याण' के इस मङ्गलमय सङ्कल्पके पूर्ण करनेवाले भगवान् ही हैं, वे ही सब कुछ करते-कराते हैं; तथापि ऐसे कार्योंमें निमित्त मुख्यतया आप-जैसे कृपालु एवं आदरणीय महानुभाव, महात्मा, भक्त और विद्वान् ही हुआ करते हैं। अतः आपकी सेवामें सविनय एवं सानुरोध प्रार्थना है कि आप इस महत्त्वपूर्ण और सर्वोपयोगी विशेषाङ्ककी सामग्री सजानेमें इस विषय-सूचीमेंसे किसी विषयपर, अथवा 'साधना' के अन्तर्गत आपके विचारमें जो कोई अन्य महत्त्वपूर्ण विषय हो—जो इस सूचीमें न हो—उसपर लेख अथवा साधन-विशेषका परिचय देनेवाला कोई चरित्र, उपदेश, अथवा चित्र भेजकर हमारी सहायता करें। जो लोग साधनके मार्गपर चल रहे हों, वे अपने अथवा दूसरोंके साधनसम्बन्धी अनुभव भी लिख भेजेंगे तो उनकी बड़ी कृपा होगी। कहना न होगा कि इस प्रकारके अनुभवोंके पढ़नेसे साधनाके मार्गपर चलनेवालोंको विशेष लाभ होगा। अवश्य ही ऐसे साधक अपने साधनसम्बन्धी अनुभवोंको गुप्त रखना चाहेंगे, जो स्वाभाविक तथा उचित भी है। उन्हें हम विश्वास दिलाते हैं कि हम उनका नाम प्रकाशित नहीं करेंगे। लेख या विवरण बड़ा नहीं होना चाहिये, यथासंभव संक्षिप्त हो और पूर्ण हो, जिसमें विषयके सभी अङ्गोंके पूर्ण विवरणके लिये यथेष्ट स्थान रहे। चित्रोंके बनवाने तथा भेजने आदिमें जो खर्च पड़ेगा, उसे 'कल्याण' सहर्ष स्वीकार करेगा। इस विशेषाङ्कको अधिक-से-अधिक उपयोगी तथा रोचक बनानेमें और भी किसी प्रकारकी सहायता हो सके तो आप अवश्य करेंगे, ऐसी आशा है।

पोस्ट-आफिसके नियमानुसार साधनाङ्कको अगस्तके प्रारम्भमें ही निकालना अनिवार्य होगा। इस प्रकार सारी सामग्री तैयार करने और उसे छपानेके लिये अबसे केवल छः ही महीने बाकी हैं, जिसमेंसे लगभग ५६१०० प्रति छापनेके लिये कम-से-कम तीन महीने तो छपाईके लिये ही चाहिये। फिर लेखोंके चुनने, अन्य भाषाओंके लेखोंका अनुवाद करने, चित्रोंके तैयार कराने और उनके ब्लॉक आदि बनवानेके लिये भी पर्याप्त समय चाहिये। अतः विशेषाङ्क समयपर निकल सके, इसके लिये यह आवश्यक है कि सब लेख मार्च मासके अन्ततक आ जायँ। अतः आपसे प्रार्थना है कि आप अपना लेख आगामी चार सप्ताहोंके भीतर ही भेजनेका कष्ट उठावें तो बड़ी कृपा होगी और काममें सुभीता होगा।*

विनीत—

हनुमानप्रसाद पोद्दार

---

* लेख संस्कृत, मराठी, बँगला, गुजराती, हिन्दी, अंग्रेजी इनमेंसे किसी भी भाषामें भेजे जा सकते हैं।

साधनाङ्ककी विषय-सूची

साधनके साथ साधक तथा सिद्धिका सम्बन्ध-निर्णय ।

साधनके प्रकारभेद ।

साधन और भजनका परस्पर भेद ।

साधनमें अधिकारभेद ।

वैदिक साधन—

उद्गीथविद्या ।

संवर्गविद्या ।

दहरविद्या ।

शाण्डिल्यविद्या ।

उपकोसलविद्या ।

भूमविद्या ।

मधुविद्या ।

अग्निविद्या ।

मन्थविद्या ।

—इत्यादि

आत्मज्ञानकी सिद्धिमें श्रौतकर्मोंका उपयोग ।

इन्द्रादि देवोंकी उपासना ।

तान्त्रिक साधन—

दक्षिण, समय, कौलादि मार्गभेदसे साधनभेद ।

मन्त्र-चैतन्य ।

भूतशोधन ।

चित्तशोधन ।

घटशोधन ।

न्यासतत्त्व (अङ्गन्यास, करन्यास, मातृकान्यास, नक्षत्रन्यास, राशिन्यास प्रभृतिका रहस्य) ।

मन्त्र तथा यन्त्रके साथ देवताओंका सम्बन्ध ।

चक्रनिर्माण तथा चक्रसंहार ।

पीठरहस्य (कामरूप, पूर्णगिरि, जालन्धर, उड्डीयान पीठका स्वरूप-चिन्तन ।)

पीठशक्तियोंका स्वरूपविचार ।

शुद्धविद्याका प्रभाव ।

प्रणव, बीज तथा अवान्तर मन्त्रोंसे शुद्धविद्याका सम्बन्ध ।

मातृकायन्त्रसे मन्त्रोंका उद्धरणक्रम ।

मन्त्रविचार (प्रसङ्गतः अ क थ ह, अ क ड म, ऋणि-धनि, नक्षत्र, राशि, कुलाकुल, सिद्धारि प्रभृति चक्रोंका विचार ।)

शक्तिपातरहस्य ।

दीक्षाका स्वरूप तथा प्रकारभेद ।

दीक्षा—आणवी, शाक्ती, शाम्भवी, कलावती, स्पार्शी, मान्त्री, हौत्री, मानसी तथा चाक्षुषी ।

अङ्कयन्त्र (शिवताण्डवादि तन्त्र-ग्रन्थवर्णित विभिन्न मातृका-अङ्क-यन्त्रोंका फल-निर्देशसहित विवरण) ।

पुरश्चरणरहस्य ।

उद्धारविधि ।

कुलकुण्डलिनी तथा अकुल-कुण्डलिनीका स्वरूप ।

कुण्डलिनी-प्रबोधनका क्रम ।

चक्रभेद ।

अन्तःप्राणायाम ।

ग्रन्थिमोचन (ब्रह्मग्रन्थि, विष्णु-ग्रन्थि, रुद्रग्रन्थि तथा अन्य अवान्तर ग्रन्थियोंका मोचन) ।

चिजड-ग्रन्थिभेद ।

कर्मसाम्यसे अथवा मलपाकसे शक्तिपातका सम्बन्ध ।

दिव्यचक्षुका उन्मीलन ।

दिव्यचक्षु अथवा ज्ञानचक्षुका क्रमिक उत्कर्ष ।

बिन्दुसाधन ।

साधनकी सकल, सकल-निष्कल तथा निष्कल भूमियोंका विवरण ।

बिन्दु, नाद तथा कलाका स्वरूप-वर्णन ।

अर्द्धचन्द्र, निरोधिका, नादान्त, व्यापिनी, समना, उन्मना शक्तियोंके लक्षण, विकास तथा परिणामका विचार ।

निर्वाणकलाका विचार ।

षोडशी अथवा अमृतकलाका विचार ।

पञ्चदशकलात्मक पञ्चदशतिथिरूपी नित्याओंका विचार ।

श्रीकुल तथा कालीकुलका परस्पर सम्बन्ध ।

कादि विद्या, हादि विद्या तथा कहादि विद्याका विस्तृत विवरण ।

महाविद्याका स्वरूप ।

सिद्धविद्याका स्वरूप ।

दश महाविद्या (प्रत्येक महाविद्यामें उसके अवान्तर भेद, जैसे कालीमें—महाकाली, आद्या काली, दक्षिणा काली, वामा काली, श्मशानकाली, भद्रकाली, गुह्यकाली प्रभृति; तारामें—उग्रतारा, एकजटा आदि । प्रत्येक महाविद्याके वर्णनमें देवीका ध्यान, मन्त्र-साधन-प्रणाली तथा फल-श्रुतिका उल्लेख) ।

शिष्यके प्रकारभेद (अवान्तर भेद-सहित) ।

साधक तथा पुत्रकभेदसे शिष्यभेद ।

वर्ण, पद, मन्त्र, कला, तत्त्व, भुवन—इस षडध्वाका विवरण ।

दीक्षामें अध्वशुद्धिका प्रकार ।

अष्टपाशका विवरण ।

पाशमुक्ति ।

योजनिका-रहस्य ।

पशुका सकल, प्रलयाकल और विज्ञानाकल भेदसे प्रकारभेद ।

परमेश्वरका नित्य पञ्चकृत्य ।

माया, महामाया तथा योगमायाका भेद ।

षट् कञ्चुकका विवरण तथा उसकी निवृत्तिका उपाय ।

आणवमल, मायामल तथा कर्ममलका विवरण ।

बोधरहित स्वातन्त्र्य तथा स्वातन्त्र्यरहित बोधके भेदसे आणवमलका विभाग ।

शुद्ध तथा मलिन भेदसे विज्ञानकैवल्यका प्रकारभेद ।

मन्त्र, मन्त्रेश्वर तथा मन्त्र-महेश्वर भेदसे अनुग्रह-व्यापारमें अधिकारियोंका भेद (प्रसङ्गतः मन्त्रोंका साञ्जन-निरञ्जनादि भेदविचार) ।

योगसाधन—

१-हठयोगसाधन ।

आसनके लक्षण, प्रकार तथा उपयोग ।

चौरासी आसनोंके नाम तथा फलनिर्देशसहित स्वरूपवर्णन ।

नाडीशुद्धि ।

नाडी-चक्रोंका सविशेष विवरण ।

इडा, पिङ्गला, सुषुम्ना, वज्रिणी, चित्रिणी, ब्रह्मनाडी तथा अलम्बुषा, पयस्विनी, हस्तिजिह्वा, गान्धारी, कुहू, शंखिनी प्रभृति अवान्तर नाडियोंका विवरण ।

नाडीशुद्धिका लक्षण तथा फल ।

प्राणायामके प्रकारभेद ।

कुम्भकका सविशेष वर्णन (प्रसङ्गतः सहित तथा केवल कुम्भकका विचार और उज्जायी, सूर्यभेदी, शीतली, भ्रामरी, भस्त्रिका, मूर्च्छा तथा प्लावनी कुम्भकका वर्णन) ।

मुद्रा ।

मुद्राबन्ध (विपरीतकरणी, महामुद्रा, योनिमुद्रा, नभोमुद्रा, माण्डवी, ताडागी, शक्तिचालनी, अश्विनी, मातङ्गी, काकी, भुजङ्गी, पाशिनी प्रभृति मुद्राओं तथा मूलबन्ध, जालन्धर, उड्डीयान, महाबन्ध, महावेध प्रभृति बन्धोंका विवरण) ।

हठयोगके षट्कर्म ।

नेति ।

धौति ।

अन्तर्धौति—वातसार, वारिसार, वह्निसार और बहिष्कृति ।

दन्तधौति—दन्तमूल, जिह्वामूल, कर्णरन्ध्र तथा कपालधौति ।

हृद्धौति—दण्डक, वमन तथा वासः ।

मूलशोधन ।

वस्ति—जलवस्ति, शुष्क वस्ति ।

नौलि (लौलिकी) ।

त्राटक, वातक्रम, व्युत्क्रम, शीत्क्रम, कपालभाति प्रभृतिका अवान्तर भेदसहित विवरण ।

खेचरी तथा शाम्भवीका परस्पर सम्बन्ध ।

गजकरणी ।

फलसहित पञ्चामरयोग (रुद्रयामलानुसार)—

नेतियोग ।

दन्तियोग ।

वस्तियोग ।

क्षालनयोग ।

पञ्चधारणा (पार्थिव, जलीय, तैजस आदि) ।

मार्कण्डेयप्रवर्तित प्राचीन हठयोगसे मत्स्येन्द्रनाथप्रवर्तित नवीन हठयोगका भेद ।

वज्रोली, अमरोली तथा सहजोलीका रहस्य ।

देहस्थ विभिन्न वायुओंके नाम तथा कार्य ।

स्वरसाधन तथा स्वरविज्ञानरहस्य ।

योगके अन्तराय ।

२-राजयोग ।

षडङ्ग तथा अष्टाङ्ग राजयोग ।

व्युत्थित चित्तके क्रियायोग तथा समाहित चित्तके समाधियोगमें परस्पर भेद ।

अभ्यास तथा वैराग्यका स्वरूपवर्णन ।

परापर-भेदसे वैराग्यके प्रकारभेद ।

चित्तके संस्थानभेदसे भूमिभेदका निर्देश ।

क्लिष्ट तथा अक्लिष्ट वृत्तियोंका स्वरूपज्ञान ।

प्रज्ञोत्पत्तिका क्रम ।

प्रज्ञाकी सप्त भूमियाँ ।

विवेकख्यातिका परमोत्कर्ष तथा उसका फल ।

योगसाधनजन्य विभूतियोंका आविर्भाव ।

इन्द्रियजय ।

भूतजय ।

प्रधानजय ।

योगीका प्रकारचतुष्टय ।

धर्ममेघ समाधि ।

सत्त्वशुद्धि ।

सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात समाधिका भेद ।

विवेकज ज्ञान ।

३-मन्त्रयोग ।

मन्त्रसे देवताका सम्बन्ध ।

मन्त्रशक्ति वा मन्त्रवीर्य ।

मन्त्रोच्चार ।

प्राणसञ्चार ।

प्राणमें अध्वाओंकी स्थिति ।

हंसोच्चार ।

सप्तशून्यका विवेचन ।

सात प्रकारकी विषुवत्का विवेचन ।

सात प्रकारके सामरस्यका विवरण ।

पदार्थभेदन ।

भावप्राप्ति ।

व्याप्तित्रय—आत्मव्याप्ति, विद्याव्याप्ति, शिवव्याप्ति ।

नादानुसन्धान ।

(२) पूर्णाभिषेकसे प्रथम अधिकार-लाभ—मन्त्रयोग ।

(३) क्रमदीक्षासे द्वितीय अधिकार—हठयोग ।

(४) साम्राज्यदीक्षासे तृतीय अधिकार—भक्तियोग ।

(५) महासाम्राज्यदीक्षासे चतुर्थ अधिकार—लययोग ।

(६) योगदीक्षासे पञ्चम अधिकार—लक्ष्ययोग ।

(७) पूर्णदीक्षासे षष्ठ अधिकार—क्रियायोग ।

(८) महापूर्णदीक्षासे सप्तम अधिकार—राजयोग ।

(९) विरजादीक्षासे अष्टम अधिकार—ज्ञानयोग ।

(१०) संन्यासदीक्षासे नवम अधिकार-वासनायोग ।

(११) निर्विकल्पदीक्षासे पराधिकार—राजाधिराजयोग ।

५-ज्ञानयोग ।

अनुबन्ध-चतुष्टय (साधन-चतुष्टय, षट्सम्पत्ति, अधिकार आदिका विवेचन) ।

श्रवण, मनन, निदिध्यासनकी आवश्यकता ।

श्रवणसे अपरोक्षानुभूतिका उदय-क्रम ।

प्रतीकोपासना ।

अहंग्रहोपासना ।

वेदान्तोपदिष्ट सविकल्प तथा निर्विकल्प समाधिका विवेचन ।

महावाक्य तथा अवान्तर वाक्योंका निरूपण ।

पञ्चकोशविवेक ।

साक्षितत्त्वविवेचन ।

६-भक्तियोग ।

श्रवणादि नवधा साधन-भक्तियोंका विवेचन ।

साधनभक्तिके मुख्य तथा गौण फलका निरूपण ।

फलरूपा पराभक्तिका निरूपण ।

साधनभक्ति तथा पराभक्तिका परस्पर सम्बन्ध ।

भक्तिका परमपुरुषार्थत्वविवेचन ।

भुक्ति, मुक्ति तथा भक्तिका परस्पर-सम्बन्धनिर्णय ।

द्वैतभक्तिसे अद्वैतभक्तिका स्वरूपगत विशेष ।

ज्ञान-भक्ति-समन्वय ।

वैधी (मर्यादा) तथा रागात्मिका (पुष्टि) भक्तिका विवरण ।

रागानुगा (कामानुगा तथा सम्बन्धानुगा) भक्तिका परिचय ।

सकामभक्तिसे निष्काम भक्तिका उत्कर्ष ।

सकाम और सगुण भक्तिसे निष्काम और निर्गुण भक्तिमें प्रवेश ।

भगवद्भक्तिका परमोत्कर्ष तथा नित्यत्व ।

मुक्त पुरुषोंका भगवद्भजन ।

नाम-साधन (प्रसङ्गतः नामाभास तथा नामापराधोंका विवरण) ।

नामसे नामीका वाच्य-वाचक-सम्बन्धमूलक सम्बन्ध ।

कीर्त्तनका सविशेष विवरण ।

नामकीर्त्तनसे रसकीर्त्तनका लक्षण तथा फलमें भेद ।

भावोत्पत्तिक्रम ।

प्रवृत्ति, साधन तथा सिद्धिके भेदसे नाम, मन्त्र, भाव, प्रेम तथा रस—इन पाँच आश्रयोंका स्वरूपविचार ।

पञ्चदेवोपासना ।

सर्वदेवसाम्यवाद ।

श्रीभगवान्‌की नित्यलीला तथा प्रकटलीला ।

अप्राकृत भगवद्धामोंका विवेचन ।

स्वयं भगवान्‌के पूर्ण, पूर्णतर, पूर्णतम स्वरूपका विचार ।

योगमायासे लीलाविचार ।

श्रीभगवान्‌के स्वरूप, विग्रह, नाम, गुण, धाम तथा लीलाओंका चिन्मयत्व-निरूपण ।

शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य—इन पाँच भावोंके भेदसे भगवद्भक्तिका भेदनिरूपण ।

शरणागति अथवा प्रपत्तिमार्ग ।

आर्त्त तथा दृप्त शरणागतिका परस्पर भेद ।

अवतारविज्ञान ।

भगवान्‌की अर्चा, व्यूह, अवतार तथा परमरूपका तत्त्वनिर्णय ।

बौद्धोंका आध्यात्मिक साधन—

रूपध्यानका प्रकारभेद ।

रूपधातुस्थ अष्टादश देवलोकोंका रूपध्यानके साथ सम्बन्धविचार ।

अरूपध्यान ।

क्लेशनिवृत्तिके विषयमें दृष्टिमार्ग तथा भावनामार्गका परस्परभेद ।

ब्रह्मविहार (मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा) ।

चार प्रकारके आर्यसत्यका विवरण ।

कुशलमूलका आविर्भाव तथा विकास ।

सास्रव तथा अनास्रव ज्ञान ।

उपसम्पदाविचार ।

संयोजनोंका नाम तथा निवृत्तिका उपाय ।

क्लेशक्षयके लिये क्षणिक भावना तथा नैरात्म्य या शून्यभावनाका उपयोग ।

सम्यक् सम्बोधि ।

बोधिसत्त्वमार्गमें पारमितासाधन ।

श्रावकयान, प्रत्यक् बुद्धयान, बोधिसत्त्वयानके स्वरूप और लक्षण ।

स्रोत-आपन्न, सकृदागामी, अनागामी तथा अर्हत—साधककी इन चार अवस्थाओंका विवरण ।

विभिन्न निर्गुण सम्प्रदायोंकी साधनगत विशेषता ।
पिण्ड, ब्रह्माण्ड तथा विशुद्ध चैतन्यका परस्पर सम्बन्ध ।
पिण्डसे ब्रह्माण्डमें तथा ब्रह्माण्डसे विशुद्ध चैतन्य-देशमें उठनेका उपाय ।
शून्य, महाशून्य, अतिशून्य प्रभृतिका विवरण ।
भ्रमरगुहाका स्वरूप तथा कार्य-निर्णय ।
बंकनालका सविशेष विवरण ।
भूमिभेदसे देवता, सिद्ध, ऋषि तथा संतोंका भेद ।
बाउल सम्प्रदायका त्रिचन्द्रसाधन ।
रस-साधना (रसेश्वर संप्रदायकी) ।
रसके अष्टादश संस्कार ।
रस-साधनसे हरगौरीतनुका आविर्भाव ।
ब्रह्मसाधनके लिये रसादिसे सिद्ध-देहकी आवश्यकता ।
वज्रसाधन ।
श्रीअरविन्दयोगसाधन ।
वर्ण तथा आश्रमोंके भेदसे साधनभेद ।
गृहस्थके पञ्चमहायज्ञका विवरण ।
त्यागियोंके विभिन्न साधन ।
विविदिषा तथा विद्वत् भेदसे संन्यासका भेदनिर्णय ।
उपनिषदुक्त कुटीचक, बहूदक तथा हंस संन्यासियोंके साधन ।
आतुर संन्यासकी व्यवस्था ।
त्रिदण्डी, एकदण्डी, अचेलक, आजीवक प्रभृति सम्प्रदायोंके विशिष्ट साधन ।
विहङ्गममार्ग ।
शेषमार्ग ।
पिपीलिकामार्ग ।
निष्काम कर्मका स्वरूप ।

निष्काम उपासनाका स्वरूप ।
हनुमदुपासना ।
भैरवोपासना ।
ऋषि-उपासना ।
महापुरुषोपासना ।
वीरोपासना ।
नवग्रहोपासना ।
उपग्रहोपासना ।
गायत्र्युपासना ।
प्रणवोपासना ।
गन्धर्वोपासना ।
पितृ-उपासना ।
यक्षोपासना ।
योगिनीसाधन ।
अग्निसाधन ।
पञ्चभूतसाधन ।
सङ्कल्पशक्तिका विकास-साधन ।
अन्तःप्रेरणाकी जागृतिका साधन ।
नवदुर्गारहस्य ।
शक्तिके तीन प्रधान स्वरूप—महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती ।
आत्मशक्तिका विकास-साधन ।
श्रीरामानुज, श्रीमध्व, श्रीनिम्बार्क, श्रीवल्लभ, श्रीगौड़ीय, श्रीरामानन्दीय आदि विभिन्न वैष्णव-सम्प्रदायोंको उपासनापद्धति ।
विभिन्न शैव-सम्प्रदायोंकी उपासना-पद्धति ।
विभिन्न शाक्त-सम्प्रदायोंकी उपासनापद्धति ।
कबीरपंथी, दादूपंथी, चरणदासी, नाथसम्प्रदायी आदि सम्प्रदायोंकी उपासनापद्धति ।
सिक्खसम्प्रदायकी उपासनापद्धति ।
स्वामिनारायण-सम्प्रदायकी उपासना-पद्धति ।
आर्यसमाजकी उपासनापद्धति ।

ब्राह्मसमाज, प्रार्थनासमाज, धर्म-समाज, थियासोफी आदिकी उपासना-पद्धति ।
राधास्वामी-मतकी उपासनापद्धति ।
पारसीधर्मकी उपासनापद्धति ।
प्रार्थना-साधन, प्रार्थनाका स्वरूप और प्रार्थनासे लाभ ।
सत्य-साधन ।
धर्म-साधन ।
तप-साधन ।
सत्सङ्ग-साधन ।
वर्णाश्रमधर्म-साधन ।
साधुसेवा-साधन ।
पातिव्रतधर्म-साधन ।
तीर्थसेवा-साधन ।
राष्ट्रसेवा-साधन ।
दीनसेवा-साधन ।
आर्तसेवा-साधन ।
जनसेवा-साधन ।
भूतसेवा-साधन ।
समाजसेवा-साधन ।
गोसेवा-साधन ।
सदाचार-साधन ।
शक्ति-साधन ।
वीर्य-साधन ।
प्रेम-साधन ।
मौन-साधन ।
कीर्ति-साधन ।
धृति-साधन ।
इन्द्रियजय-साधन ।
लौकिक उन्नतिके साधन ।
यौगिक आसनोंसे स्वास्थ्यलाभ ।
यौगिक क्रियाओंसे स्वास्थ्य और चित्तकी स्थिरता-प्राप्ति ।
शरीर, धन, विद्या, बुद्धि आदिके द्वारा परमार्थसाधनके प्रकार ।
मैस्मेरिज्म, हिप्नॉटिज्म आदि साधन ।
परलोकविद्या-साधन ।
साधनाके विभिन्न स्तरोंमें साधकोंके अनुभव ।

दैनिक कल्याण-सूत्र

१ मार्च शुक्रवार—भगवान्से कुछ भी न माँगो । यदि माँगो तो यही माँगो कि 'तुम्हारे चरणोंमें अविचल भक्ति हो और तुम्हारे भक्तोंका सङ्ग मिलता रहे ।' भगवान् शङ्करकी निम्नलिखित प्रार्थनापर ध्यान दो—

बार बार बर मागउँ हरषि देहु श्रीरंग ।
पद सरोज अनपायनी भगति सदा सतसंग ॥

२ मार्च शनिवार—यदि तुम गृहस्थ हो, बाल-बच्चे-वाले हो तो तुम्हें घर छोड़नेकी आवश्यकता नहीं; घरहीमें रहकर भगवान्का दृढ़ विश्वासके साथ नियमपूर्वक भजन करते रहो । भगवान्को सब जगह सब रूपोंमें देखो और उन्हें सबका हितू जानकर उनसे प्रेम करो । श्रीरामने अपने सखा वानरोंको यही आज्ञा दी थी—

अब गृह जाहु सखा सब भजेहु मोहि दृढ़ नेम ।
सदा सर्बगत सर्बहित जानि करेहु अति प्रेम ॥

३ मार्च रविवार—यदि भगवान्के प्यारे बनना चाहते हो तो निन्दा और स्तुतिको समान समझो—निन्दासे रुष्ट मत होओ और स्तुतिसे फूलो मत—और भगवान्के चरणोंको अपनी एकमात्र सम्पत्ति जानो । ऐसा करनेसे समस्त गुण अपने-आप तुम्हारे अंदर आ बसेंगे और तुम आनन्दरूप बन जाओगे । भगवान्की घोषणा है—

निंदा अस्तुति उभय सम ममता मम पद कंज ।
ते सज्जन मम प्रानप्रिय गुन मंदिर सुख पुंज ॥

४ मार्च सोमवार—भगवान्की माया अतिशय प्रबल है । वह ब्रह्मा, शिव आदिको भी मोहमें डाल देती है; फिर औरोंकी तो बात ही क्या है ! इसलिये मायाके चक्करसे छूटना चाहते हो तो मायाके स्वामी भगवान्की शरण ग्रहण करो ।

सिव बिरंचि कहुँ मोहइ को है बपुरा आन ।
अस जियँ जानि भजहिं मुनि मायापति भगवान ॥

५ मार्च मंगलवार—भगवान्को भक्त सबसे अधिक प्रिय होते हैं । अतः मन, वाणी, शरीरसे उन्हींके चरणोंमें दृढ़ अनुराग करो । भगवान् श्रीरामने भक्तवर काकभुशुण्डिको यही उपदेश दिया है—

मोहि भगत प्रिय संतत अस बिचारि सुनु काग ।
कायँ बचन मन मम पद करेसु अचल अनुराग ॥

६ मार्च बुधवार—भगवान्की भक्तिमें सबका समान अधिकार है । जो कोई भी कपट छोड़कर सर्वभाव-से उन्हें भजता है, वही भगवान्का प्यारा बन जाता है । अतः तुम सब प्रकारसे भगवान्के शरण हो जाओ । भगवान् स्वयं कहते हैं—

पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ ।
सर्बभाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ ॥

७ मार्च गुरुवार—जिससे तुम्हारा वास्तविक हित-साधन होता हो, वह चाहे लोकदृष्टिमें अत्यन्त नीचा ही क्यों न हो, उससे छल छोड़कर प्रेम करो । वेदोंकी यही आज्ञा है और संतोंका भी यही मत है । स्वयं काकभुशुण्डिजीने गरुड़जीसे कहा है—

पन्नगारि असि नीति श्रुति संमत सज्जन कहहिं ।
अति नीचहु सन प्रीति करिअ जानि निज परम हित ॥

८ मार्च शुक्रवार—याद रक्खो—सत्ययुग, त्रेता और द्वापरमें जो गति क्रमशः पूजा, यज्ञ और योगसे प्राप्त होती है, वही कलियुगमें भगवान्के नामसे प्राप्त होती है । अतः इस युगमें नामका आश्रय ही परम कल्याणकारक है ।

कृतजुग त्रेताँ द्वापर पूजा मख अरु जोग ।
जो गति होइ सो कलि हरिनाम ते पावहिं लोग ॥

९ मार्च शनिवार–विश्वास करो, कलियुगके समान कोई दूसरा युग नहीं है। इसमें केवल भगवान्‌के गुणोंका गान करनेसे ही मनुष्य अनायास भव-सागरसे तर जाता है।

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥

१० मार्च रविवार–भगवान् मेरे स्वामी हैं और मैं उनका सेवक हूँ, इस प्रकारके स्वामि-सेवकभाव बिना संसारसागरके पार जाना अत्यन्त कठिन है। अतः भगवान्‌को स्वामी मानकर उनके चरणोंका भजन करो। काकभुशुण्डिजीने गरुड़जीके प्रति यह सिद्धान्त-वाक्य कहा है—

सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।
भजहु राम पद पंकज अस सिद्धांत बिचारि॥

११ मार्च सोमवार–यदि भगवान्‌के चरणोंमें प्रेम करना चाहते हो अथवा जन्म-मरणके चक्करसे छूटना चाहते हो तो उनके दिव्य चरित्रोंका आदरपूर्वक श्रवण करो। इसीसे तुम्हारा मनोरथ पूर्ण हो जायगा।

राम चरन रति जो चह अथवा पद निर्बान।
भाव सहित सो यह कथा करउ श्रवन पुट पान॥

१२ मार्च मंगलवार–भगवान्‌से प्रार्थना करो कि जिस प्रकार कामी पुरुषको कामिनी प्यारी होती है और लोभीको धन प्यारा लगता है, उसी प्रकार वे तुम्हें निरन्तर प्यारे लगें। गुसाईंजी महाराजकी निम्न-लिखित प्रार्थनाको याद रक्खो—

कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम॥

१३ मार्च बुधवार–यदि तुम सदाके लिये कृतकृत्य होना चाहते हो, सब प्रकारके क्लेशोंसे मुक्त होना चाहते हो, तो श्रीभगवान्‌के चरणोंमें प्रेम करो और यह उनकी कृपा अथवा उनके भक्तोंकी कृपासे ही सम्भव है। देवी पार्वतीके निम्नलिखित वचनोंको याद रक्खो—

मैं कृतकृत्य भइउँ अब तव प्रसाद बिस्वेस।
उपजी राम भगति दृढ़ बीते सकल कलेस॥

१४ मार्च गुरुवार–उस कुलको महान् श्रेष्ठ, जगत्पूज्य एवं परम पवित्र समझो, जिसमें भगवान्‌का भक्त उत्पन्न हुआ हो। भगवान् शङ्कर स्वयं श्रीपार्वती-जीसे कहते हैं—

सो कुल धन्य उमा सुनु जगत पूज्य सुपुनीत।
श्रीरघुबीर परायन जेहिं नर उपज बिनीत॥

१५ मार्च शुक्रवार–याद रक्खो, सत्पुरुषोंके सङ्गके समान संसारमें और कोई लाभ नहीं है; तथा ऐसे पुरुषोंका सङ्ग भगवान्‌की कृपासे ही प्राप्त होता है, और किसी उपायसे नहीं। वेद, पुराण सभी इस बातको एक स्वरसे कहते हैं और स्वयं शङ्करजी इसकी साक्षी देते हैं—

गिरिजा संत समागम सम न लाभ कछु आन।
बिनु हरिकृपा न होइ सो गावहिं बेद पुरान॥

१६ मार्च शनिवार–भगवान्‌का नाम आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक–तीनों प्रकारके तापोंका नाश करनेके लिये तथा आवागमनरूपी रोगको जड़से मिटानेके लिये एकमात्र अचूक औषध है। यदि संतोंसे कुछ माँगो तो यही माँगो कि 'जिनके नाममें ऐसी शक्ति है, वे दयालु भगवान् हमपर सदा प्रसन्न रहें।' काकभुशुण्डिजीने गरुड़जीको यही आशीर्वाद दिया है—

जासु नाम भव भेषज हरन घोर त्रय सूल।
सो कृपाल मोहि तो पर सदा रहउ अनुकूल॥

१७ मार्च रविवार–भगवान्‌के स्वरूपकी भाँति भगवान्‌के चरित्र भी अनन्त हैं, उनकी कोई थाह लगाना चाहे तो नहीं लगा सकता। इसलिये ऐसा न समझो कि भगवान्‌के जिन चरित्रोंका वर्णन शास्त्रोंमें मिलता है, उतने ही चरित्र उनके हैं। स्वयं काकभुशुण्डिजीने गरुड़जीसे कहा है—

नाथ जथामति भाषेउँ राखेउँ नहिं कछु गोइ।
चरित सिंधु रघुनायक थाह कि पावइ कोइ॥

१८ मार्च सोमवार—चाहे मनुष्य कितना ही दीन-हीन क्यों न हो, जिसे सत्पुरुषोंका सङ्ग मिल गया उसे धन्य हो गया समझो; उसे भगवान्‌का विशेष कृपापात्र—उनका निजजन जानो। भगवान् जिसे निजजन मानते हैं, अथवा निजजनके रूपमें स्वीकार करना चाहते हैं, उसीको सत्पुरुषोंका—अपने भक्तोंका सङ्ग देते हैं। स्वयं गरुड़जीने काकभुशुण्डिजीसे अपने सम्बन्धमें ऐसी बात कही है—

आजु धन्य मैं धन्य अति जदपि सब बिधि हीन।
निज जन जानि राम मोहि संत समागम दीन॥

१९ मार्च मंगलवार—यह संसाररूपी समुद्र अत्यन्त दुस्तर है, अपने बलसे इसके पार जाना अत्यन्त कठिन है। इसलिये अनायास ही इससे तरना चाहते हो तो भगवान्‌का भजन करो, उनके चरणरूपी नौकाको दृढ़तापूर्वक पकड़ लो। फिर निश्चय समझो अवश्य ही तुम इसे लाँघ जाओगे; इसमें तनिक भी सन्देह न करो। संतशिरोमणि काकभुशुण्डिजीने डंकेकी चोट इस बातकी घोषणा की है—

विनिश्चितं वदामि ते न अन्यथा वचांसि मे।
हरिं नरा भजन्ति येऽतिदुस्तरं तरन्ति ते॥

२० मार्च बुधवार—भगवान् सब कुछ कर सकते हैं; वे छोटे-से-छोटे जीवको ब्रह्मा बना सकते हैं, ऊँचे-से-ऊँचा पद दे सकते हैं और महान्‌से भी महान् पुरुषको अत्यन्त छोटा बना सकते हैं। वे 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्' समर्थ हैं। इसलिये चाहे तुम कितने ही दीन-हीन क्यों न होओ, अपने उद्धारके विषयमें किसी प्रकारकी शङ्का न करो और सन्देह-रहित होकर भगवान्‌का भजन करो।

मसकहि करइ बिरंचि प्रभु अजहि मसक ते हीन।
अस बिचारि तजि संसय रामहि भजहिं प्रबीन॥

२१ मार्च गुरुवार—नारीमात्रको साक्षात् भगवान् विष्णुकी माया समझकर प्रणाम करो। उन्हें भोग्या समझनेपर बड़े-बड़े विवेकी एवं त्यागी पुरुष भी उनके रूप-जालमें फँसकर अपना आपा खो बैठते हैं, विवेक-वैराग्यको भूल जाते हैं। स्वयं काकभुशुण्डि-जी गरुड़जीसे कहते हैं—

सोउ मुनि ग्याननिधान मृगनयनी बिधु मुख निरखि।
बिबस होइ हरिजान नारि बिष्नुमाया प्रगट॥

२२ मार्च शुक्रवार—हमारा दूसरोंसे वैर-विरोध तभीतक रहता है, जबतक हमारी भगवान्‌के चरणोंमें प्रीति नहीं हो जाती। भगवान्‌के चरणोंमें प्रीति हो जानेपर काम, क्रोध और अभिमान नष्ट हो जाते हैं, और वैर-विरोध इन्हीं तीन कारणोंको लेकर होता है। फिर तो सारा संसार हमारे लिये प्रभुमय हो जाता है, वैर करें तो कैसे और किससे? भगवान् शङ्कर देवी पार्वतीसे कहते हैं—

उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥

२३ मार्च शनिवार—जिस प्रकार वैराग्य तथा गुरुके उपदेश विना ज्ञान नहीं हो सकता, उसी प्रकार भगवद्भक्तिके विना सुख नहीं मिल सकता—यह निश्चय समझो। वेद, पुराण सभी एक स्वरसे इस बातको स्वीकार करते हैं।

बिनु गुर होइ कि ग्यान ग्यान कि होइ बिराग बिनु।
गावहिं बेद पुरान सुख कि लहिअ हरिभगति बिनु॥

२४ मार्च रविवार—सगुण भगवान्‌की दिव्य लीलाओंमें जो सुख है, उसके सामने ब्रह्मानन्द भी अत्यन्त फीका है। जिन भाग्यवान् जनोंको इस सुखका प्रत्यक्ष अनुभव होता है, उनकी तो बात ही क्या, जिन्हें एक बार स्वप्नमें भी उस सुखका तनिक भी

आस्वाद मिल गया, वे भी ब्रह्मसुखको उस सुखके सामने हेय समझते हैं। स्वयं काकभुशुण्डिजी गरुड़जीसे कहते हैं—

सोइ सुख लवलेस जिन्ह बारक सपनेहुँ लहेउ।
ते नहिं गनहिं खगेस ब्रह्मसुखहि सज्जन सुमति॥

२५ मार्च सोमवार—मायाको भगवान्‌की चेरी जानो। यद्यपि ज्ञान हो जानेपर इसकी सत्ता नहीं रह जाती, किन्तु भगवान्‌की कृपा हुए विना इससे छुटकारा पाना भी असम्भव है। काकभुशुण्डिजी गरुड़जीसे निश्चयपूर्वक इस बातको कहते हैं—

सो दासी रघुबीर कै समुझें मिथ्या सोपि।
छूट न रामकृपा बिनु नाथ कहउँ पद रोपि॥

२६ मार्च मंगलवार—भक्तलोग भगवान्‌के प्रेमको छोड़कर मुक्ति भी नहीं चाहते। वे भगवान्‌से यही माँगते हैं कि 'चाहे हमें बार-बार जन्म लेना पड़े, किन्तु तुम्हारे चरणोंमें प्रेम कभी न घटे।' तुम भी भगवान्‌से यही माँगो। मुनि वसिष्ठजीके निम्नलिखित शब्दोंको याद रक्खो—

नाथ एक बर मागउँ राम कृपा करि देहु।
जन्म जन्म प्रभु पद कमल कबहुँ घटै जनि नेहु॥

२७ मार्च बुधवार—धर्म वही है जो हमें भगवान्‌के समीप पहुँचा दे। योग, यज्ञ, व्रत, दान आदि जितने भी साधन हैं, वे सभी भगवान्‌की प्राप्तिके लिये हैं। नीचे-से-नीचा कर्म भी यदि हमें भगवान्‌की प्राप्ति करानेमें सहायक होता है, तो वह हमारे लिये सबसे बड़ा धर्म हो जाता है। मुनि वसिष्ठजी इस विषयमें प्रमाण हैं। उनके सम्बन्धमें गुसाईंजी कहते हैं—

तब मुनि हृदयँ बिचारा जोग जग्य ब्रत दान।
जा कहुँ करिअ सो पैहउँ धर्म न एहि सम आन॥

२८ मार्च गुरुवार—जो भाग्यवान् जन ममता, मद और मोहको त्यागकर श्रीभगवान्‌के नाम-गुणगानमें सदा रत रहते हैं, उनके आनन्दका वर्णन नहीं किया जा सकता। उसे वही जानते हैं, जो उसका अनुभव करते हैं। भगवान् श्रीराम स्वयं अपने श्रीमुखसे इस बातको स्वीकार करते हैं—

मम गुन ग्राम नाम रत गत ममता मद मोह।
ता कर सुख सोइ जानइ परानंद संदोह॥

२९ मार्च शुक्रवार—यदि भगवान्‌की भक्ति प्राप्त करना चाहते हो तो उनके भक्तोंकी आराधना करो। भक्तोंकी आराधना किये विना भगवान्‌की भक्ति मिलना बड़ा कठिन है। भगवान् श्रीराम स्वयं कहते हैं कि शङ्करजीके भजन विना मेरी भक्ति नहीं प्राप्त हो सकती—

औरउ एक गुपुत मत सबहि कहउँ कर जोरि।
संकर भजन बिना नर भगति न पावइ मोरि॥

३० मार्च शनिवार—भगवान्‌के चरित्र इतने हृदयहारी और दिव्य हैं कि बड़े-बड़े जीवन्मुक्त ब्रह्मनिष्ठ पुरुष भी समाधि-सुखको त्याग कर उन चरित्रोंको सुननेके लिये लालायित रहते हैं। ऐसे सुमधुर चरित्रोंको सुननेमें जिनकी प्रीति नहीं है, वे लोग वास्तवमें हृदयहीन हैं।

जीवनमुक्त ब्रह्मपर चरित सुनहिं तजि ध्यान।
जे हरिकथाँ न करहिं रति तिन्ह के हिय पाषान॥

३१ मार्च रविवार—गुण और दोष दोनों ही मायाके कार्य हैं। इसलिये दोनोंकी ओरसे दृष्टि हटाकर केवल भगवान्‌को देखो। यही सबसे बड़ा विवेक है। गुणदृष्टि और दोषदृष्टि दोनों ही अविवेकके अन्तर्गत हैं, क्योंकि दोनों ही राग-द्वेषमूलक होती हैं। भगवान् स्वयं कहते हैं—

सुनहु तात मायाकृत गुन अरु दोष अनेक।
गुन यह उभय न देखिअहिं देखिअ सो अबिबेक॥

मानसकी एक अर्द्धाली

(लेखक—'मानस-शम्बुक')

गत वर्षके मार्गशीर्षके 'कल्याण' में प्रो० श्रीहरिहरनाथजी हुक्कूका 'मानसकी अर्द्धाली' शीर्षक एक लेख प्रकाशित हुआ है, जिसमें 'मानस' के टीकाकारोंद्वारा किये गये—

बिसमय हरष रहित रघुराऊ। तुम्ह जानहु सब राम प्रभाऊ॥
(अयोध्याकाण्ड, ११वें दोहेके बाद)

—अर्द्धालीके अर्थपर आपत्ति करते हुए लेखकने एक नवीन अर्थ उपस्थित किया है। अधिकतर टीकाकारोंने इस अर्द्धालीका अर्थ इस प्रकार किया है—

'श्रीरघुनाथजी विषाद और हर्षसे रहित हैं, आप तो श्रीरामजीके सब प्रभावको जानती ही हैं।'

इस अर्थपर प्रोफेसर साहबकी दो आपत्तियाँ हैं—(१) 'सरस्वतीजीके बारेमें यह कहना कि वे श्रीरामचन्द्रजीके सब प्रभावको जानती हैं, उस अनन्त लीलाकारके प्रभावको तुच्छ कर देता है जिसने राम-अवतार लिया....' (२) 'सरस्वतीजीसे यह कहना कि तुम श्रीरामजीके सब प्रभावको जानती हो, गोस्वामीजीकी उस बानीको झूठा साबित करता है जिसके द्वारा उन्होंने हमें बार-बार यह विश्वास दिलाया है कि—

सारद श्रुति सेषा रिषय असेषा जा कहुँ कोउ नहिं जाना।'
—आदि-आदि।

प्रस्तुत लेख प्रोफेसर साहबका विरोध करनेके उद्देश्यसे नहीं प्रत्युत उनके सत्यान्वेषणके प्रयत्नमें सहयोगकी भावनासे लिखा जा रहा है। जहाँतक उपर्युक्त आपत्तियोंका प्रश्न है, यही कहना पर्याप्त होगा कि यदि ये आपत्तियाँ ठीक मान ली जायँ तो इसी प्रकार और भी प्रसङ्ग 'मानस' में आये हैं, जिनमें यही आपत्तियाँ समानरूपेण लागू हो सकती हैं, जबतक कि उनका भी अर्थ पलट न दिया जाय; यथा—

(१) महिमा जासु जान गनराऊ।
प्रथम पूजिअत नाम प्रभाऊ॥

इस अर्द्धालीमें, जिस 'राम-नाम' को गोस्वामीजीने 'ब्रह्म राम ते नाम बड़' लिखा है, उसीकी महिमाका जाननेवाला गणेशजीको बतलाया गया है, जो प्रोफेसर साहबके मतानुसार असङ्गत ही हो जायगा।

(२) इसी प्रकार अरण्यकाण्डमें भगवान्‌के प्रति महर्षि अगस्त्यका वचन—

तुम्हरें भजन प्रभाव अघारी। जानउँ महिमा कछुक तुम्हारी॥

इसमें भी स्पष्ट दिखलाया गया है कि भजनके प्रभावसे भक्त भगवान्‌की महिमाके जाननेका अधिकारी हो जाता है। प्रोफेसर साहबके मतसे इस अर्द्धालीपर भी उपर्युक्त दोनों आपत्तियाँ की जा सकती हैं।

मेरे विचारसे गोस्वामीजीने भगवान् श्रीरामचन्द्रको 'गिरा ग्यान गोतीत' निरूपण करते हुए भी उन्हें पूर्णरूपेण 'अज्ञेय' रखनेकी चेष्टा नहीं की है। भगवान् 'ज्ञानातीत' होते हुए भी किसी सीमातक ज्ञानगम्य हैं और जानते हुए भी उन्हें जान लेनेका कोई भी दावा नहीं कर सकता। 'ज्ञानातीत' का ज्ञानगम्य होना उसी प्रकार सम्भव है जिस प्रकार—

ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद।
सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या कें गोद॥

होना।

अतएव इस अर्थसे कि 'आप (सरस्वतीजी) तो श्रीरामचन्द्रजीके सब प्रभावको जानती हैं' न तो भगवान्‌का प्रभाव ही कम होता और न गोस्वामीजीकी वाणी ही झूठ साबित होती है।

यहाँतक तो संक्षेपमें प्रोफेसर साहबकी आपत्तियोंपर विचार हुआ, अब हम उनके द्वारा किये गये नवीन अर्थपर विचार करते हैं। प्रोफेसर साहबका अर्थ इस प्रकार है—

'हे सरस्वतीजी! तुम जानती हो कि सब (अर्थात् जो कुछ है, जिसे मन या इन्द्रियोंद्वारा हम अनुभव कर सकते हैं, यह सब संसार) 'राम प्रभाऊ' है, रामचन्द्रजीका प्रभाव है। निःसन्देह शब्दोंसे यह अर्थ लगाया तो जा सकता है, किन्तु यह अर्थ प्रकरणके अनुकूल नहीं पड़ता। देवताओंके कहनेका आशय तो यह है कि श्रीरामचन्द्रजी हर्ष-विषादसे रहित हैं (उन्हें राज्य-लाभसे हर्ष या राज्य-त्यागसे विषाद उत्पन्न ही नहीं हो सकता), आप तो उनके प्रभावको जानती हैं। भगवान्‌का राज्याभिषेक न होनेसे उन्हें तो कोई दुःख होगा ही नहीं, हाँ, हमारा कार्य अवश्य सिद्ध हो जायगा। प्रकरण देखते हुए टीकाकारोंद्वारा किया गया अर्थ ही उपयुक्त प्रतीत होता है। इसमें श्रीरामचन्द्रजीका प्रभाव कम होने या गोस्वामीजीकी बानी झूठ साबित होनेकी आशङ्का भी मेरी तुच्छ बुद्धिमें अनावश्यक है, क्योंकि यहाँ प्रधानता तो श्रीरामचन्द्रजीके 'हर्ष-विषादरहित' स्वभावके जाननेकी है, जिसे देवता भी जानते हैं और वे सरस्वतीजीसे कहते हैं कि आप भी जानती हैं। जान पड़ता है अर्द्धालीके 'सब' शब्दको प्रोफेसर साहबने आवश्यकतासे अधिक महत्त्व दिया है। फिर ये तो स्वार्थी देवताओंके वाक्य हैं; वे सर्वथा निर्भ्रान्त एवं अतिशयोक्तिसे शून्य हों, यह आशा भी क्यों की जाय! अस्तु,

यदि प्रोफेसर साहबकी आपत्तियाँ ठीक मान ली जायँ तो प्रकरणका विचार करते हुए इस अर्द्धालीका अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है—

'हे सरस्वतीजी! श्रीरामचन्द्रजी तो हर्ष-विषादसे रहित हैं; और 'तुम्ह जानहु सब राम प्रभाऊ' का अर्थ होगा कि 'यह सब आप श्रीरामजीके ही प्रभावसे जानती हैं।' यह अर्थ यद्यपि प्रकरणके विशेष अनुकूल नहीं है, पर इसमें यह बात अवश्य है कि यह प्रकरणके प्रतिकूल भी नहीं है और इससे प्रोफेसर साहबकी आपत्तियोंका निराकरण भी हो जाता है।

राम-फगुआ

(रचयिता—महात्मा श्रीजयगौरीशङ्कर सीताराम)

राम-भजन सुखदाई, रे मनवाँ॥

मंदिर तेरा भया पुराना, काल घटा नियराई, रे मनवाँ।
पाँच रतनका मंदिर बना है, निसि दिन रखो सफाई, रे मनवाँ॥
पाँच चोर मंदिर बिच बैठे, सब धन लेत चोराई, रे मनवाँ।
इस मंदिरका तजो भरोसा, अंत समय दुखदाई, रे मनवाँ॥
इस मंदिरकी रचना अनुपम, समझो प्रेम लगाई, रे मनवाँ।
इस मंदिरका स्वामी निसिदिन, चाहत तोर भलाई, रे मनवाँ॥
जो सुख चाहो यहाँ, वहाँ भी, संतन करो मिताई, रे मनवाँ।
'कलकत्तास' चिंता सब तजिके, भजन करो मन लाई, रे मनवाँ॥

हिन्दूधर्म क्या है ?

(लेखक-श्रीबसन्तकुमार चटर्जी, एम्० ए०)

यों तो ऊपर-ऊपरसे देखनेवालेको हिन्दूधर्ममें परस्परविरोधी बातें इतनी अधिक मिलती हैं कि वह समझ नहीं पाता कि हिन्दूधर्म वस्तुतः है क्या, उसकी असली रूप-रेखा क्या है। शैव, शाक्त, वैष्णव और फिर वैष्णवोंमें भी कई भेद-प्रभेद—सब-के-सब तो हिन्दूधर्ममें ही परिगणित होते हैं। परन्तु इन दीख पड़नेवाली विषमताओंके कारण यह समझ लेना कि हिन्दूधर्म चोंचोंका मुरब्बा है—निरी मूर्खता नहीं तो क्या है ? यह जान लेना चाहिये और स्मरण रखना चाहिये कि इन भिन्न-भिन्न मत-सम्प्रदायोंके मूलमें आधारभूत जो सिद्धान्त है, वह एक है और वही है हिन्दूधर्मकी आत्मा। हिन्दूधर्ममें इतने जो मत-पंथ और सम्प्रदाय हैं, इसका मुख्य कारण यह है कि लोगोंकी प्रकृति भिन्न-भिन्न होती है, धारण करनेकी क्षमता भी भिन्न-भिन्न होती है; इसलिये प्रकृति और धारण-शक्तिको देखकर ही अधिकारभेदसे सबके लिये भगवान्का मार्ग सुगम और सुलभ किया गया है—जिसमें कोई भी परमार्थ-साधनसे वञ्चित न रह जाय। इससे यह न समझ लेना चाहिये कि लोगोंको भरमाने या बहकानेके लिये विविध साधन-मार्ग हैं। मार्ग तो योग्यता, शक्ति, संस्कार आदिके कारण भिन्न-भिन्न होंगे ही। हाँ, यह भूलना नहीं चाहिये कि सभी मार्ग ठीक हैं और सभी मार्ग अन्तमें जाकर भगवान्में मिल जाते हैं।

हिन्दूधर्मका आधार है वेद। वेद अनादि हैं, अनन्त हैं—सृष्टि और प्रलयका उनपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। प्रलयके समय केवल श्रीभगवान् रह जाते हैं। जब उनके अंदर सृष्टि रचनेकी कामना होती है तो वे पहले प्रजापति ब्रह्माको रचते हैं और फिर ब्रह्माको वेदका उपदेश करते हैं। तदनन्तर ब्रह्मा वेदोंके अनुसार सृष्टि-रचना करते हैं। समय-समयपर ब्रह्मा विशेष-विशेष ऋषियोंका सृजन करते हैं, जो वेदोंके विशिष्ट मन्त्रोंको धारण कर सकते हैं। इस प्रकार हमारे ऋषियोंको मन्त्र-दर्शन होता है।

वेद कभी अनृत हो नहीं सकते। और चूँकि इस जगत्का सृजन वेदोंके आधारपर हुआ है, इसलिये वेद और सृष्टिमें कभी कहीं विरोध आ नहीं सकता। इसलिये वेद ऋत हैं, सत्य हैं। वेद ही हमारे धर्मके मूलभूत आधार हैं; अतएव हिन्दूधर्म सत्य है, सनातन है, चिरशाश्वत है। यही कारण है कि हम हिन्दूधर्मको सनातनधर्म कहते हैं।

वेदोंका आश्रय एवं आधार लेकर ही हम आत्मा और परमात्माकी व्याख्या करते हैं और आत्मा किस प्रकार परमात्माको प्राप्त कर सकता है, यह बात भी हम वेदोंके प्रकाशमें ही समझ पाते हैं। आत्मा-परमात्माके मिलनमें क्या स्थिति होती है, कैसा आनन्द बरसता है—यह बात भी हम वेदोंसे ही जान पाते हैं। हर स्थितिमें हमारा कर्त्तव्य क्या है, यह जाननेके लिये भी हमें वेदोंका ही आश्रय लेना पड़ता है। गर्ज यह कि हर बातके लिये हम वेदोंमें ही अपना प्रकाश ढूँढ़ते और पाते हैं। हमलोगोंका 'धर्म' शब्द इतना व्यापक है कि दूसरे धर्मवाले इसको बड़ी कठिनाईसे समझ पाते हैं और समझते भी हैं तो

आंशिक रूपमें ही। 'धर्म' शब्दका अर्थ है कर्त्तव्य। व्यक्तिका परिवारके प्रति, समाजके प्रति, देशके प्रति, मानवमात्रके प्रति, जीवमात्रके प्रति, देव, ऋषि और पितरोंके प्रति—इन सारे सम्बन्धोंमें हमारा जो कर्त्तव्य है, उसका नाम है धर्म। लोग प्रायः ऐसा समझकर भूल करते हैं कि सामाजिक नियमोंका धर्मसे कोई वास्ता नहीं। सच तो यह है कि सामाजिक रूढियाँ आत्माके पतनका भी कारण हो सकती हैं और उत्थानका भी। जिन बातोंसे, समाजकी जिन रूढियों-से मनुष्यकी आत्मा गिरती हो, वे अधार्मिक कहलाती हैं। और जिन बातोंसे आत्मा ऊपर उठती हो, वे धार्मिक कहलाती हैं। वेदोंमें धर्म-मार्ग बतलाया गया है। समाजके जो नियम, जो आचार-विचार वेदमूलक हैं, वे सभी युगोंके मानवमात्रके लिये कल्याणकारी हैं, केवल हिन्दुओंके लिये ही नहीं। मनुने इस सम्बन्धमें बहुत स्पष्ट शब्दोंमें घोषणा की है—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

'इस देशके ब्राह्मणोंसे संसारके सभी लोग आचार-की शिक्षा पायेंगे।'

मनुष्य-स्वभाव सर्वत्र एक-सा है। इसलिये समाज-विशेषके लिये जो नियम हितकर होंगे, वे अन्य समाजोंके लिये भी हितकर होंगे।

ऊपर कह आया हूँ कि हिन्दुओंका धर्म, उनके आचार-विचार और रीति-रिवाज वेदोंके आधारपर स्थित हैं। परन्तु प्रश्न सामने यह आता है कि वेदोंको कितने लोग समझ सकते हैं? और इसके सिवा वेदोंके कई अंश अब उपलब्ध नहीं हैं। इन सारी दिक्कतोंको हमारे पूर्वपुरुषोंने पहले ही भाँप लिया था और इसीलिये उन्होंने वेदोंके सार-तत्त्वको लेकर पुराण, इतिहास (रामायण और महाभारत) और धर्मशास्त्रों-की रचना की—महज इसलिये कि वेदोंका ज्ञान हिन्दूमात्रके अंदर सदा बना रहे, कभी उसका लोप न होने पावे। हिन्दुओंके धर्मशास्त्र ये ही हैं और इन्हें प्रामाणिक माना जाता है। सर्वोपरि तो वेद हैं ही।

हिन्दूधर्मकी सामान्य एवं सर्वसम्मत बातोंका निदर्शन यहाँ आवश्यक है। यहाँ उन्हीं मुख्य बातोंकी चर्चा की जा रही है, जो सभी सम्प्रदायोंमें समान रूपसे मानी जाती हैं। हिन्दूमात्रके लिये यह सर्वथा अनिवार्य है कि वह वेद, पुराण, इतिहास और धर्मशास्त्रोंको प्रामाणिक माने, आप्तवचन समझे। हमारे ऋषि-महर्षियोंने सत्यका जिस रूपमें साक्षात्कार किया, उसे उसी रूपमें इन शास्त्र-ग्रन्थोंमें अङ्कित कर दिया। इसलिये ये वचन सदाके लिये सबके लिये समान रूपसे सत्य हैं। इनकी सत्यताके विषयमें कोई शङ्का नहीं कर सकता, उनपर कोई अँगुली नहीं उठा सकता। शास्त्रोंके वास्तविक तात्पर्यको समझनेके लिये तर्कका भी आश्रय लिया जा सकता है। परन्तु शास्त्रके वचन सत्य हैं या अन्यथा, इसका निर्णय यदि हम तर्कके बलपर करने चलेंगे तो हमें समझ लेना चाहिये कि हम औचित्यकी सीमासे बाहर जा रहे हैं।

हिन्दूधर्मके सभी प्रमुख आचार्योंने इस तथ्यको अक्षरशः स्वीकार किया है। शङ्कराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य, निम्बार्काचार्य आदि सभीने इसे एक स्वरसे माना है। इससे हिन्दूधर्मकी सामान्य बातों-को हम जान सकते हैं। उदाहरणतः वेदोंमें यह बताया गया है कि जगत्की सृष्टि भगवान्के सङ्कल्पमात्रसे होती है और प्रलयके समय पुनः यह सृष्टि भगवान्में ही लय

हो जाती है। सृष्टि और प्रलयका यह चक्कर अनादि कालसे चलता आया है, मनुष्य बार-बार जन्मता और मरता आया है और अपने पूर्वजन्मके किये हुए शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार भिन्न-भिन्न योनियोंमें भरमता आया है। उत्कट पुण्य-कर्मोंके कारण मनुष्यको स्वर्ग मिलता है। घोर पाप-कर्मोंके कारण उसे रौरव नरककी यातना भोगनी पड़ती है। बराबरके लिये स्वर्ग या बराबरके लिये नरक (Eternal Hell or Eternal Heaven) की बात हिन्दूधर्म स्वीकार नहीं करता। हिन्दूधर्मका यह सिद्धान्त है कि कर्मोंके अनुसार ही स्वर्ग और नरकमें रहनेका समय भी परिमित है। और स्वर्ग-नरक भोग लेनेके बाद जन्म-मरणके चक्करमें फिर पड़ना पड़ता है। कर्म शुभ वे ही हैं, जो शास्त्रानुमोदित हैं। शास्त्रविरोधी जो भी कर्म हैं, वे निषिद्ध अथवा अशुभ कर्म हैं। इस सिद्धान्तको—जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं—शङ्कर, रामानुज, वल्लभ आदि सभी आचार्य मानते हैं। आचार्योंके मतमें जितना कुछ भेद या अन्तर दीखता है, वह जीवात्मा और परमात्माके स्वरूपको लेकर है। इस सम्बन्धमें भी उनके विचार वेद और शास्त्रमूलक ही हैं। हाँ, शास्त्रोंकी व्याख्या वे अपने-अपने ढंगसे करते हैं। जहाँतक आचार-विचारकी बात है, क्या भक्ष्य है क्या अभक्ष्य, कौन स्पृश्य है कौन अस्पृश्य, विवाह, जाति, वर्ण आदिके नियम और विधान क्या हैं, विधवाके क्या धर्म हैं—इन सारी बातोंमें शास्त्रोंके नियम स्पष्ट हैं और उनके बारेमें मतभेदके लिये कोई गुंजाइश ही नहीं है। इस प्रकार इन सामाजिक प्रश्नोंको लेकर हिन्दूधर्मावलम्बियोंमें कोई दो मत नहीं हैं।

इधर कुछ दिनोंसे हिन्दुओंमें कुछ ऐसे सुधारकोंकी बाढ़-सी आ गयी है, जो यह कहते हैं कि शास्त्रकी वे ही बातें ग्राह्य हैं जो युक्तियुक्त हैं अथवा जिनके लिये हमारी आत्मा गवाही देती है। जिन बातोंके लिये उनकी आत्मा गवाही नहीं देती, उन्हें माननेके लिये वे तैयार नहीं हैं। इसका साफ अर्थ यह हुआ कि वे अपनी बुद्धिको शास्त्रोंसे ऊपर मानते हैं। दूसरे शब्दोंमें कहना चाहें तो यों कह सकते हैं कि वे अपनेको शास्त्रकारोंसे अधिक बुद्धिमान् समझते हैं। राग और द्वेषके कारण मनुष्यका ज्ञान प्रायः ढक जाता है और हम सत्यासत्यका निर्णय नहीं कर सकते। बड़े-से-बड़ा प्रतिभाशाली अथवा उदार विचारका मनुष्य भी राग-द्वेषसे मुक्त नहीं होता। इसलिये ऐसे पुरुषोंकी वे बातें जो शास्त्रविरोधी हैं मानी नहीं जा सकतीं। शास्त्रोंकी रचना करनेवालेमें (जो परमेश्वरके अतिरिक्त कोई दूसरा नहीं है) कहीं राग-द्वेषका लेश भी नहीं है और उसीकी दृष्टि वास्तविक दृष्टि है।

अपनेको जो अच्छा लगे, उतना ही अंश शास्त्रका ग्रहण करना और शेषकी अवहेलना करना शास्त्रोंका सरासर अपमान करना है। इतना तो एक मुसल्मान या ईसाई भी करता है। वह भी तो हिन्दू-धर्मशास्त्रोंकी वे बातें जो उसे रुचिकर एवं प्रिय लगती हैं स्वीकार करता है और बाकीको छोड़ देता है। इसीलिये ऐसा कहा गया है कि जो हिन्दू शास्त्रवचनोंको सर्वांशमें प्रमाण नहीं मानता, वह अलीक हिन्दू है—अर्थात् नाममात्रको हिन्दू है, वास्तविक हिन्दू नहीं।

इस प्रकारके अलीक हिन्दूका हिन्दूधर्मशास्त्रोंके प्रति प्रायः वही भाव होता है, जो उसका बाइबिल या कुरानके प्रति होता है। वह बाइबिल और कुरानकी भी बहुत-सी बातोंको स्वीकार कर लेगा और केवल उन्हीं बातोंको अस्वीकार करेगा जो उसे ठीक नहीं मालूम

होती । हिन्दू-धर्मशास्त्रोंके प्रति भी ठीक यही भाव उसके होते हैं ।

परन्तु एक सच्चा मुसल्मान कुरानकी सारी बातोंको ज्यों-की-त्यों ग्रहण करता है । इसी प्रकार एक सच्चा ईसाई बाइबिलकी एक-एक बातमें पूरी आस्था एवं श्रद्धा रखता है । ठीक इसी तरह एक सच्चा हिन्दू शास्त्रोंकी प्रत्येक बातको अक्षरशः सत्य मानेगा । शास्त्रों-की हर एक बातको वह अपने जीवनमें न उतार सके, यह दूसरी बात है । इसका एकमात्र कारण यह है कि उसकी शक्तियाँ सीमित हैं । यदि वह शास्त्रकी सारी बातोंका पालन कर सकता तब तो वह पूर्ण ही हो जाता । अपनी कचाइयों और कमजोरियोंके कारण वह शास्त्रकी एक-एक आज्ञाका पूर्णतः पालन चाहे न कर सके, परन्तु शास्त्रकी किसी भी आज्ञाकी वह अवज्ञा या अवहेलना कदापि न करेगा । वह यह कभी नहीं कह सकता कि शास्त्रकी अमुक आज्ञा हानिकर है, अथवा शास्त्रविरुद्ध अमुक आचरण ठीक है ।

तुलसीदास, चैतन्य, रामकृष्ण परमहंस आदि हिन्दू संतोंके जीवन तथा उपदेशोंका यदि हम ठीक-ठीक अनुशीलन करें तो हमें मालूम होगा कि वे सब इस विषयमें एकमत हैं ।

कभी-कभी कुछ लोगोंके मुँहसे यह भी सुननेमें आता है कि समयके अनुसार समाजके नियम भी बदलते रहने चाहिये । परन्तु यह धारणा ठीक नहीं है । माता-पिताकी आज्ञा मानो, दीन-दुखियोंकी सहायता करो, सत्य बोलो—क्या इन नियमोंको समयके अनुसार बदलते रहना चाहिये ? इसी प्रकार समयकी गतिके अनुसार ब्रह्मचारीके कर्तव्य, विवाहिता स्त्रीके कर्तव्य अथवा विधवाओंके कर्तव्य भी बदलते रहें—इसकी आवश्यकता नहीं है । हाँ 'नियोग'-जैसी प्रथा, जो प्राचीन कालमें प्रचलित थी, आजकलकी दूषित मनोवृत्तिको देखते हुए कभी भी हितकर नहीं हो सकती; इसीलिये इस युगके लिये वह निषिद्ध है । ऐसे ही कुछ विषयोंमें अधिक प्रतिबन्ध करनेके अतिरिक्त शास्त्रोंके नियम हमारे लिये उतने ही लागू हैं जैसे पहले कभी थे । किसी विषयमें कोई प्रतिबन्ध पहले लगाया गया हो और उसे अब हटा दिया गया हो, ऐसा एक भी उदाहरण नहीं मिलता ।

संक्षेपमें कहना यह है कि हिन्दूधर्मके आधार हैं वेद, पुराण तथा इतिहासोंकी रचना वेदोंकी शिक्षाको जनसाधारणतक पहुँचानेके निमित्त ही हुई और वेदोंमें आत्मा तथा परमात्माके सम्बन्धमें कई बातें स्पष्टरूपमें कही गयी हैं, जिनके विषयमें हमारे आचार्योंमें कोई मतभेद नहीं है । कुछ अन्य बातोंमें मतभेद है, जो तत्सम्बन्धी शास्त्रवचनोंकी व्याख्या करनेकी पद्धति-के भेदको लेकर है । सामाजिक नियमोंके सम्बन्धमें शास्त्रोंके आदेश स्पष्ट हैं और उनको लेकर हिन्दूधर्मके भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंमें कोई मतभेद नहीं है । आधुनिक मनोवृत्ति शास्त्रोंकी किन्हीं बातोंको स्वीकार और किन्हीं बातोंको अस्वीकार करती है । यह सनातनधर्मकी मर्यादा-के अनुकूल नहीं है और इसके मूलमें सरासर पश्चिमकी नकल करनेकी इच्छा वर्तमान है ।

भक्त ललिताचरण

(लेखक-पं० श्रीभुवनेश्वरनाथजी मिश्र 'माधव', एम० ए०)

अंसालम्बितवामकुण्डलधरं मन्दोन्नतभ्रूलतं
किञ्चित्कुञ्चितकोमलाधरपुटं साचिप्रसारेक्षणम्।
आलोलाङ्गुलिपल्लवैर्मुरलिकामापूरयन्तं मुदा
मूले कल्पतरोस्त्रिभङ्गललितं ध्यायेज्जगन्मोहनम्॥

—श्रीलीलाशुक

वह त्रिभङ्गललित जगन्मोहन श्यामसुन्दर! कितनी प्यारी है उसकी छबि! कंधेतक लटकते हुए सुन्दर कुण्डल धारण किये हुए हैं। भौंहें कुछ ऊपरकी ओर तनी हुई हैं। किञ्चित् सिकुड़े हुए अत्यन्त कोमल अधर-पुट हैं। तिरछी और विशाल आँखें हैं। कल्पवृक्षके नीचे खड़ा हुआ वह रासरसेश्वर रसिकशिरोमणि अपनी सुकोमल अँगुलियोंको धीरे-धीरे नचाता हुआ प्रसन्न मुख-से वंशी बजा रहा है। अपने इस हृदयधनको छोड़कर अन्यत्र मन कहाँ जाय, क्यों जाय?

वह मनमोहन कितना स्नेहमय है! अपनी मनो-हारिणी मुरलिकाकी मन्द-मन्द रसीली तानसे गोकुलको विवश तथा व्याकुल कर रहा है। वह साँवरा सलोना, जिसके रोम-रोमसे सौन्दर्यकी किरण-धाराएँ निकल-निकलकर भक्तजनोंके चित्तको प्रेमसे, आनन्दसे परिप्लावित कर रही हैं—युवतियोंका चित्त चुरानेवाला वह नट-नागर—मनोहर रूपवाला वह मुरलीमनोहर—गोपियोंका वह परम प्रियतम हमारे चित्तमें नित्य निवास करे!

अनादि कालसे वह बाँसुरी बजती आ रही है। जगत्-के भीषण कोलाहलमें हम उसे सुन नहीं पाते। अपने हृदयके वृन्दावनमें हम प्रवेश नहीं करते, फिर सुनें तो कैसे? वह परम प्रेमी अपने दिव्य शब्द, दिव्य स्पर्श, दिव्य गन्ध, दिव्य रूप और दिव्य रससे जीवमात्रको अपनी ओर आकृष्ट कर रहा है; जाने कबसे आकृष्ट करता आ रहा है। मोहन मुरलीमें मूर्त्तिमान् शब्द; कमलके समान कोमल मसृण अङ्गोंमें तथा वनमालाकी शीतलता एवं स्निग्धतामें मूर्त्तिमान् स्पर्श; दिव्य अङ्ग-गन्धमें तथा मृगमद, चन्दन और अगरके तिलकमें मूर्त्तिमान् गन्ध; पीताम्बरमें तथा मयूरपिच्छ और मकर-कुण्डल, वलय, नूपुरादि अलङ्कारोंमें मूर्त्तिमान् रूप और त्रिभङ्ग रसराजकी बाँकी चितवनमें मूर्त्तिमान् रस छलक रहा है। इस भाव-पथमें कभी भगवान्का रूप, कभी रस, कभी स्पर्श, कभी गन्ध और कभी शब्द भक्तोंके हृदयको अपनी ओर आकृष्ट कर उसे सर्वथा विवश कर देता है। कभी उसके नूपुरोंकी रुमझुम सुन पड़ी तो कभी कुण्डलकी झलमल ज्योति हृदयमें प्रकाशकी किरणें बिखेर गयी, कभी घनी काली घुँघराली अलकोंमें प्राण उलझ गये तो कभी बाँकी भौंहोंमें हृदय अटक गया। जिसे एक बार वह देख लेता है, वह सदाके लिये निहाल हो जाता है, बिक जाता है। आज एक ऐसे ही प्रेमी भक्तकी जीवन-गाथासे अपने हृदयको प्रेमके

अमृतमें नहला रहा हूँ। प्रेमी पाठक हृदय खोलकर इस रसको पियें, इस प्रेम-हृदमें डूबें।

चित्रकूटकी परम पावन भूमिमें आज भी एक दिव्य आध्यात्मिक वातावरणका अनुभव भक्तोंको होता है। वह एक सिद्ध भूमि है और साधनाके लिये अत्यन्त उत्कृष्ट मानी जाती है। अनेक संतों और भक्तोंको वहाँ अब भी भगवान्‌की दिव्य लीलाओंके साक्षात् दर्शन होते हैं। अनसूयाजीका तप आज भी वहाँ प्रज्वलित है और मन्दाकिनीका स्नान श्रद्धालुओंको शीघ्र फल देनेवाला है। इसी चित्रकूटके समीप एक छोटे-से गाँवमें आजसे कई सौ वर्ष पूर्व एक वैश्यपरिवारमें ललिताचरणका जन्म हुआ—ठीक भादों बदी अष्टमीके दिन। भादोंकी अष्टमी हिन्दूमात्रके लिये अत्यन्त पुनीत है। उसके साथ साधकोंके हृदयका अत्यन्त मधुर सम्बन्ध है, क्योंकि इस तिथिको वे अन्तरका पट हटाकर अपने अंदर प्राणवल्लभ हरिका साक्षात् दर्शन करते हैं और लाड़ लड़ाते हैं। ऐसे ही पुण्य-पर्वपर ललिताचरणने माताकी कोखको धन्य किया! भक्तके चरणोंका स्पर्श पाकर यह मेदिनी हर्षसे पुलकित हो उठती है, माता-पिता कृतार्थ हो जाते हैं, वह देश और कुल धन्य हो जाता है।

ललिताचरण अपने माता-पिताका एकमात्र लाड़ला लाल था। इस कारण उनका अमित स्नेह और अपार दुलार उसपर अहर्निश बरसता रहता। वह उनकी आँखोंका तारा था। उसका एक क्षणका भी बिछोह उनके लिये असह्य था। पिता दूकानपर रहते और माता घरका काम-काज करती। प्रातःकाल स्नानादिसे निवृत्त होकर पिता श्रीहनुमानचालीसाका पाठ करते और माता तुलसीके थालेमें जल देती, सूर्यनारायणको अर्घ्य देती और फिर श्रीहनुमान्‌जीको पत्र-पुष्प तथा प्रसाद चढ़ाती। यही उनका नित्य-नियम था। ललिता भी माताके साथ ही लगा रहता और उसके सभी कृत्योंको एक कुतूहल-भरी दृष्टिसे देखता। बचपनमें जो संस्कार पड़ जाते हैं, वे कच्चे घड़ेपर खिंची हुई रेखाके समान कभी मिटते नहीं। ललिताको पाँच-सात वर्षकी उम्रमें ही श्रीहनुमानचालीसा कण्ठस्थ हो गया और वह बड़े प्रेमसे अपनी माताके साथ बैठकर श्रीहनुमान्‌जीको एक पाठ सुनाता। बच्चेकी प्यारभरी मीठी वाणीमें श्रीहनुमानचालीसाका पाठ माता-पिताको बहुत ही प्रिय लगता। वे श्रद्धा-भक्तिके साथ श्रीहनुमान्‌जीके चरणोंमें मस्तक रखकर यही प्रार्थना करते कि मेरे बच्चेकी मति भगवान्‌के चरणोंमें हो। भगवान्‌के चरणोंमें सच्चे भावसे निवेदित की हुई कोई भी प्रार्थना विफल नहीं जाती। लौकिक अथवा पारलौकिक, कोई भी वासना भगवान्‌के चरणोंमें निवेदित होकर दिव्य एवं मङ्गलमयी हो जाती है। और यदि भगवान्‌के चरणोंमें भक्ति और प्रीतिकी प्रार्थना की जाय तब तो पूछना ही क्या? भक्ति और प्रीतिका वरदान देते हुए भगवान्‌का हृदय हर्षसे भर जाता है।

और हनुमान्‌जी तो कृपाके समुद्र हैं। भक्तोंका कल्याण करना तथा उन्हें यथाधिकार प्रभु-चरणोंमें पहुँचा देना ही उनका एकमात्र कार्य है। वे रात-दिन इसी टोहमें रहते हैं कि कौन भक्त भगवान्‌के लिये व्याकुल है। व्याकुलता एवं सच्ची लगन देखकर वे करुणापरवश होकर साधकके हृदयको भगवान्‌के चरणोंमें जोड़ देते हैं। मध्यस्थका कार्य जैसा श्रीहनुमान्‌जी करते हैं, वैसा कोई नहीं कर सकता। कारण कि वे रात-दिन भक्तोंकी टोहमें ही रहते हैं और उनकी प्रीतिको भगवच्चरणोंमें दृढ़ करते रहते हैं, अपनी कृपाकी छाया उनपर बराबर बनाये रखते हैं, अनिष्टसे रक्षा करते हैं, इष्टकी ओर प्रवृत्त करते हैं और हृदयके समग्र भाव-प्रवाहको भगवान्‌की ओर मोड़ देते हैं। भक्तके योगक्षेमका सारा भार अपने ऊपर ले लेते हैं, उसे सहारा दिये रहते हैं, प्रोत्साहित करते रहते हैं। श्रीहनुमान्‌जीके चरणोंका आश्रय ले लेनेपर फिर कुछ भी करना-धरना नहीं पड़ता।

सारा-का-सारा कार्य वे चुटकी बजाकर कर देते हैं। भक्तोंका यही अनुभव है।

ललिताचरणकी प्रीति श्रीहनुमान्‌जी तथा श्रीहनुमान-चालीसामें बढ़ती गयी। प्रात:काल स्नान करके स्वच्छ धुले हुए वस्त्र पहनकर वह पूजा-घरमें चला जाता और प्रेमगद्गद वाणीसे पाठ करता। कभी-कभी पाठ करते हुए उसे ऐसा बोध होता कि साक्षात् श्रीहनुमान्‌जी उसके मस्तकपर हाथ रक्खे हुए हैं और उसे अपनी अमृतमयी स्नेहदृष्टिसे नहला रहे हैं। ऐसे समय स्वभावत: ही ललिताचरणकी आँखोंसे प्रेमाश्रुओंकी अविरल धारा बहने लगती—पाठ बंद हो जाता और एक विचित्र दिव्योन्मादमें घंटों निकल जाते। माता-पिताको अपने बच्चेकी इस भगवत्प्रीतिसे अपार आनन्द मिलता।

एक बारकी बात है कि ललिताचरणके गाँवके पास ही एक गाँवमें रासलीला हो रही थी। संयोगसे ललिताचरण भी पहुँच गया था। उस दिन गोपियोंकी विरह-लीलाका प्रसङ्ग था। भगवान् श्रीकृष्ण वृन्दावनसे मथुरा जा रहे हैं। एक सखी इस हृदयको हिला देनेवाले समाचारको लेकर श्रीमती राधिकाजीके पास जाती है। उसे सुनते ही राधिकाजी किंकर्तव्यविमूढ़ होकर प्रलाप करने लगती हैं—'मैं क्या करूँ, कहाँ जाऊँ? कुछ अच्छा नहीं लगता। अरे ये निष्ठुर प्राण भी तो नहीं निकलते! प्रियतमके लिये मैं किस देशमें जाऊँ? रजनी बीतनेपर प्रात:काल किसके मुखको देखकर जी ठंढा करूँगी? प्यारे तो दूर देशमें जा रहे हैं, मैं उनके विरहको कैसे सहूँगी? समुद्रमें कूदकर प्राण गँवा दूँगी, जिससे लोगोंकी दृष्टिसे ओझल रह सकूँ। नहीं तो अपने प्राणप्यारेको गलेकी माला बनाकर देश-विदेशोंमें योगिनी बनकर घूमती फिरूँगी। जो रात-दिन अपने साथ रहा, जिसके सम्मिलनमें मैंने रातको रात और दिनको दिन नहीं समझा, जिसके साथ रहकर भाँति-भाँतिके सुख भोगे, विविध प्रकारके आनन्दका उपभोग किया, वही एकदम जानेके लिये तैयार खड़ा है! हा हन्त!' इस तरह नाना प्रकारके आर्तवचनोंको कहती हुई और लोक-लाज आदिकी परवा न करती हुई वे व्रजकी स्त्रियाँ ऊँचे स्वरसे चिल्ला-चिल्लाकर 'हा गोविन्द! हा दामोदर!! हा माधव!!!' कह-कहकर रुदन करने लगीं!

उधर गोपियाँ रो रही थीं, इधर ललिताचरण रो रहा था। आज यकायक उसने अपनेको गोपीभावमें तल्लीन पाया। घंटों उसकी विचित्र दशा रही। आँसुओंसे उसका वक्ष:स्थल भीग गया। आहों और सिसकियोंका ताँता लग गया। हृदयमें सोया हुआ विरह जाग पड़ा। उसकी दशा ठीक उस प्रेम-दीवानी मीराकी-सी हो गयी—

> हे री मैं तो प्रेम-दिवानी, मेरो दरद न जानै कोय ॥टेक॥
> सूली ऊपर सेज हमारी, किस बिध सोना होय।
> गगन-मँडल पै सेज पियाकी किस बिध मिलना होय ॥
> घायलकी गति घायल जानै, की जिन लाई होय।
> जौहरीकी गति जौहरी जानै, की जिन जौहर होय ॥
> दरदकी मारी बन-बन डोलूँ, बैद मिला नहिं कोय।
> मीराकी तब पीर मिटै जब बैद साँवलिया होय ॥

सचमुच उस पुरुषके हृदयको वज्रके समान, फौलादके सदृश समझना चाहिये, जिसके नेत्रोंमें श्रीहरिके नाम-स्मरणमात्रसे जल न भर आता हो, शरीरमें रोमाञ्च न हो जाते हों और प्राण उस परम प्रियतमसे मिलनेके लिये तड़फड़ा न उठते हों। ललिताचरणका हृदय आज अपने प्राणधनके लिये व्याकुल होकर तड़प रहा है। क्षणमें श्रीकृष्ण उसके हृदयमें प्रकट होते हैं और दूसरे ही क्षण छिप जाते हैं। वह आज उस 'छलिया' को पकड़ना चाहता है। परन्तु 'वह' किसकी पकड़में

आया ! यह तो विरहकी भट्ठी धधकानेके लिये ही क्षण-भरके लिये हृदयमें प्रकट होता है—ठीक जैसे निर्मल आकाशमें पूर्णिमाका चाँद उग रहा हो—और क्षणभरमें ही वह छिपकर प्राणोंमें अनन्त कालके लिये हाहाकार-की आँधी उठा देता है। बलात् प्रकट होता है—लुभाने-के लिये, तरसानेके लिये, तड़पानेके लिये। उसे पकड़-ने दौड़ो तो जाने कहाँ छिप जाता है। यह लुका-छिपी जीवके साथ वह अनादिकालसे खेलता आया है, अनन्त कालतक खेलता रहेगा।

रासलीला चल रही थी। गोपियोंकी दशा देखकर ऊधौजी मथुरा लौटकर आ गये हैं और बड़े ही करुणस्वरसे राधिकाजीकी दशाका वर्णन कर रहे हैं—

चित दै सुनौ स्याम प्रवीन।
हरि ! तुम्हारे बिरह राधा मैं जु देखी छीन॥
तज्यो तेल तमोल भूषन, अंग बसन मलीन।
कंकना कर बाम राख्यो, गाढ भुज गहि लीन॥
जब सँदेसो कहन सुंदरि गवन मो तन कीन।
खसि मुद्रावलि चरन अरुझी, गिरि धरनि बलहीन॥
कंठ बचन न बोल आवै, हृदय अँसुवनि भीन।
नैन जल भर रोइ दीनो, ग्रसित आपद दीन॥
उठी बहुरि सँभारि भट्ठ ज्यों, परम साहस कीन।
'सूर' प्रभु कल्यान ऐसे जियहि आसा कीन॥

हे कृष्ण ! राधिकाकी दशा क्या पूछते हो ? उसकी तो दशा ही विचित्र है। घरके भीतर घूमती रहती है। बिना बात ही खिलखिलाकर हँसने लगती है। चेतन, अचेतन सबके सामने तुम्हारे ही सम्बन्धके उद्गार निकालती रहती है। कभी धूलिमें लोट जाती है, कभी थर-थर काँपने लगती है। हे हरि ! मैं क्या बताऊँ, वह विधुवदनी राधा तुम्हारे विषम विरह-दु:खमें विभ्रान्त-सी हुई विचित्र ही चेष्टाएँ करती है।'

ललिताचरणको मालूम हुआ यह राधाकी दशा उद्धवजी श्रीकृष्णसे निवेदन नहीं कर रहे हैं अपितु साक्षात् श्रीहनुमान्जी ही अपने प्रिय भक्त ललिताकी विरहव्यथा श्रीकृष्णको सुना रहे हैं। रासलीलामेंसे लौट आनेपर भी कई दिनतक ललिताचरण उसी दिव्य प्रेमोन्मादमें रहा। खाना-पीना कुछ भी अच्छा नहीं लगता था। न किसीसे कुछ कहता, न किसीकी कुछ सुनता। रात-दिन रोता ही रहता। हाँ, बीच-बीचमें श्रीहनुमानचालीसाका पाठ चलता रहता, क्योंकि उसके हृदयमें यह दृढ़ विश्वास था कि यह सब कुछ श्रीहनुमान्जी-की कृपासे ही प्राप्त हुआ है। रातको उसे एक दिन स्वप्न हुआ 'अब वृन्दावन जाकर श्रीरङ्गनाथजीके दर्शन करो—वहाँ तुम्हारी मुरादें पूरी हो जायँगी। भगवान्ने अपने चरणोंमें तुम्हें स्वीकार कर लिया है'। स्वप्न टूटने-पर ललिताचरणने श्रीहनुमान्जीके संकेतको स्पष्ट समझ लिया और वह अब वृन्दावनकी तैयारी करने लगा। तैयारी क्या करनी थी ? इस पथमें तो अपनी तैयारी कुछ भी काम नहीं देती। सारा-का-सारा आकर्षण उधरसे ही होता है और जब यह आकर्षण प्रबल हो उठता है तो घर-बार, माता-पिता आदिका बन्धन टूटते क्या देर लगती है ! ललिताचरणके हृदयमें बस, अब एक ही बात चक्कर लगा रही थी—'हे चरणो ! अब वृन्दावन चलो। हे नेत्रो ! वृन्दावनकी शोभा निहारो। हे जिह्वे ! कानोंसे सुनी हुई वृन्दावनकी गुणावलीका गान कर। हे घ्राण ! वृन्दावनकी सुगन्धका अनुभव कर और हे शरीर ! तू इस वृन्दावनके भीतर कृष्णके क्रीडास्थलोंमें पुलकित होकर बारंबार लोट। वृन्दावनकी ललित निकुञ्जोंमें घूम-घूमकर स्वर्ण और नीलमणिके समान कान्तिवाली श्रीराधा-माधवकी अति अद्भुत और प्यारी युगल जोड़ीको याद कर-करके मैं कब सब कुछ भूल जाऊँगा ! श्रीवृन्दावनकी गलियोंमें विचरता हुआ किशोर और किशोरीजीकी अति अद्भुत श्याम-गौर वर्णवाली

एक प्राणमयी दोनों मूर्तियोंको सम्मुख देदीप्यमान हुई देखकर मैं कब प्रेमावेशमें मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़ूँगा ?' जो दिन-रात प्रीतमके प्रेममें मतवाला रहता था, वह कितने दिनतक उसका वियोग सह सकता था!

> कौन-सी है वह जुदाईकी घड़ी, जो उम्र भर
> आरज़ूए वस्लमें यह दिल भटकता ही रहा।

ललिताने निश्चय कर लिया कि यह घर-द्वार छूटना ही है। वृन्दावनकी तैयारी कर ली। रातको फिर स्वप्नमें श्रीहनुमान्‌जीने प्रकट होकर द्वादशाक्षरी श्रीवासुदेव-मन्त्र उसके कानमें चुपकेसे सुनाया और एक तुलसीकी माला छोड़ गये। दूसरे दिन सवेरे ही ललिता वृन्दावनकी ओर चल पड़ा। प्यारे प्रीतमके प्रेमकी लहर चारों तरफ लहरा रही है। देखकर आँखें सहम-सी गयी हैं—

> दरियाए इश्क़ बह रहा लहरोंसे बेशुमार

वृन्दावनमें पहुँचते ही ललिताकी दशा कुछ और हो गयी—जैसे युगोंकी बिछुड़ी हुई पत्नी अपने पतिके घर आ गयी हो। जीवमात्र उस सनमसे मिलनेके लिये व्याकुल है। वह यहाँ रुकता है, वहाँ रुकता है। परन्तु यहाँ-वहाँकी किसी भी चीज़से उसे तसल्ली नहीं होती—

> भूली जोबन मद करै भरी बावरी बाम।
> यह नैहर दिन दोय को अंत कंत से काम॥

ललिता सीधे श्रीरङ्गनाथजीके मन्दिरमें पहुँचा। शरीर धूलसे भरा है! केशोंमें लटें पड़ गयी हैं—परन्तु प्रेमीको शरीरसे क्या नाता? मजनूँ लैलीके प्रेममें अपना सब कुछ भुला बैठा—राहका भिखारी हो गया। फिर भगवत्प्रेमियोंका तो कहना ही क्या! और प्रेम जितना ही गुप्त होता है, उतना ही गहरा घाव करता है। प्रकट कर देनेसे तो उसका सौन्दर्य धूमिल हो जाता है।

दिनभर ललिता श्रीरङ्गनाथजीके मन्दिरकी सीढ़ियों-पर बैठा रहता और रातको नगरसे दूर करीलकी कुञ्जोंमें चला जाता। वहाँ उसे भगवान्‌की लीलाओंके दर्शन होते—कभी गोपाल कृष्णकी माखनचोरी देखता तो कभी गोपियोंके साथ नृत्य करता, कभी रासका दर्शन करता तो कभी चीरहरणका। एक-एककर सारी लीलाएँ उसके सामने खुलती जातीं। कभी-कभी वह स्वयं रासमें सम्मिलित होकर भगवान्‌के साथ नाचता—दाहिना हाथ भी श्रीकृष्णके हाथमें, बायाँ हाथ भी श्रीकृष्णके हाथमें। कहाँ रहता है, क्या खाता-पीता है—इसे कोई जानता न था। वह स्वयं भी नहीं जानता था कि कहाँसे यह सब हो रहा है। एक वृद्ध महात्मा रोटी और छाछ उसे पहुँचा आया करते थे—वह चुपचाप उसे लेकर यमुनाजीके किनारे चला जाता और उसे पाकर फिर दो-चार चुल्लू यमुनाजल पीकर अलमस्तीमें डोला करता था। हनुमान्‌जीकी दी हुई तुलसीकी माला गलेमें थी और उनका दिया हुआ वासुदेव-मन्त्र हृदयमें—अखण्ड-रूपसे जाग्रत्! आँखोंके सामने आनेवाला समस्त रूप, कानोंको सुन पड़नेवाला समस्त नाम—एकमात्र श्रीकृष्ण-का ही रूप और श्रीकृष्णका ही नाम हो गया था; सभी रूप उसी अपरूप रूपमें घुल गये थे, सभी नाम उस दिव्य नाममें लय हो चुके थे। कानोंसे जो कुछ सुनता, उसमें श्रीकृष्ण ही सुनायी पड़ते; आँखोंसे जो कुछ देखता, उसमें श्रीकृष्ण ही दिखायी पड़ते।

> यारको हमने जा-बजा देखा,
> कहीं ज़ाहिर कहीं छिपा देखा।

एक बार भी जब उस रूपकी बाँकी झाँकी हृदय-मन्दिरमें हो जाती है तो फिर सारा नक़्शा ही बदल जाता है। उसके बाद फिर और कुछ सुहाता ही नहीं। उस यारकी सूरत आँखोंमें, हृदयमें, मनमें, प्राणमें झूलती रहती है—

> तेरी सूरतसे नहीं मिलती किसीकी सूरत।
> हम जहाँमें तेरी तस्वीर लिये फिरते हैं॥

पंद्रह-सोलह वर्ष इस जल्वये इश्कमें एक क्षणकी भाँति बीत गये। एक भाव, एक रसमें सारा समय! ललिता अब ललिताचरण नहीं था, वह अब साक्षात् ललिता सखी बन गया था। रात-दिन एकमेक होकर साजनकी सुखभरी सेजका आनन्द ले रहा था—

> रमते रहते हैं सदा, देखते लीला उसकी।
> कल कहीं आज कहीं, प्रात कहीं रात कहीं॥

देखते-देखते विवाहकी शुभ घड़ी आ गयी। यह प्रणय-परिणय साधकोंके आनन्दकी चरम सीमा है, जहाँ वह अपने प्यारेमें सदाके लिये खो जाता है। इस रातको साधक अपना पूर्ण शृङ्गार करता है; क्योंकि आजकी रात उसके लिये मिलनकी, महा मिलनकी मङ्गलमय, मधुमय रात होती है। और सारा शृङ्गार तो भीतरका है। आज ललिता वस्तुतः 'ललिता' बन गया था—सोलहों शृङ्गारसे सजी हुई। प्रेमियोंकी यह शादी! प्रिया-प्रियतमका यह मधु-मिलन! आज रासका अपूर्व समारोह है। समस्त वृन्दावनकी कुञ्जोंमें दिव्य उन्माद नृत्य कर रहा है—ललित त्रिभङ्गी श्यामसुन्दरने वंशी बजायी। मेघमालाको छिन्न-भिन्न कर ऊपर पहुँचकर गन्धर्वराज तुम्बुरुको आश्चर्यमें डालता हुआ, सनन्दनादि योगियोंको ध्यानसे विचलित कर, ब्रह्माजीको स्तब्ध करता हुआ और नीचेकी ओर पातालमें पहुँचकर राजा बलिको अत्यन्त उत्कण्ठित एवं चञ्चल करके नागराज अनन्तदेवको कम्पित करता हुआ भगवान्का वेणुनाद ब्रह्माण्ड-कटाहकी दीवार भेदकर सब ओर असीम अनन्तमें फैल गया।

अपनी प्रमुख अष्ट सखियोंके साथ श्रीकृष्ण रासस्थलीमें पधारे! फिर सहस्र-सहस्र गोपियाँ पधारीं! धन्य हैं वे, जो भगवान्की इस दिव्य वंशीध्वनिके आवाहनको सुनते हैं और सुनकर लोक और कुलकी मर्यादाका भङ्गकर सदाके लिये प्राणधनके प्रणयपथमें चल देते हैं। फिर तो मिलन होता ही है, अवश्यमेव होता है। आज ललिताने भी हृदय खोलकर हरिके वंशीपथका अनुसरण किया। रासमण्डलीमें उसे भगवान्ने सम्मिलित कर लिया और फिर भगवान्ने सखी ललिताजीको संकेत किया; उन्होंने भगवान्का गुप्त संकेत समझकर ललिताको अपने हृदयमें छिपा लिया। ललिता ललितामें लीन हो गया—भगवान्की प्रणयिनीका पद पा गया!

उसके बाद वृन्दावनमें श्रीरङ्गनाथजीकी सीढ़ियोंपर वह पागल फिर नहीं दिखायी दिया। दीखता कहाँसे? वह तो अपने 'स्वरूप' में प्रवेश कर गया था!

बोलो भक्त और उनके भगवान्की जय!!

त्रिगुणकी तिकड़म

(गीत)

(१)

कामिनि-कंचन-कीर्ति-तीन से!
 कामिनि तमो-जगतकी रानी,
 कंचन-ध्वनि रज मध्य समानी,
 कीर्ति-ध्वजा सतमें फहरानी,
 यही त्रिगुणने तिकड़म तानी।
जीवित उसमें जीव मीन-से!
कामिनि-कंचन-कीर्ति-तीन से!

(२)

जो सौभाग्य-निकेतन प्यारे,
जो सतगुरुके बने दुलारे,
जिनके घटमें आसन मारे,
सदा विराजें पिया हमारे,
सहज सुखी-पर बने दीन-से!
कामिनि-कंचन-कीर्ति-तीन से!

—श्रीशिवनारायण वर्मा

श्रीमानस-शङ्का-समाधान

(लेखक—श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी)

प्रश्न—श्रीरामचरितमानसके विभिन्न स्थलोंमें ये चौपाइयाँ मिलती हैं—

आकर चारि जीव जग अहहीं। कासीं मरत परम पद लहहीं॥

× × × ×

जा मज्जन ते बिनहिं प्रयासा। मम समीप नर पावहिं बासा॥

× × × ×

जे रामेस्वर दरसनु करिहहिं। ते तनु तजि सुरलोक सिधरिहहिं॥

इन चौपाइयोंसे यह स्पष्ट है कि काशीमें मरने, सरयूमें स्नान करने और रामेश्वरका दर्शन करनेसे सब प्रकारके मनुष्योंको, चाहे वे कुकर्मी भी क्यों न हों, मुक्ति मिल जाती है। तब उसी रामायणमें—

करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फलु चाखा॥

—इस चौपाईद्वारा कर्मकी प्रधानता क्यों बतलायी गयी है? इससे तो यही सिद्ध होता है कि सब लोग अपने-अपने कर्मोंके अनुसार ही फल प्राप्त करते हैं। फिर ऊपरके वचनोंसे इस वचनका क्या मेल है? यदि हम ऊपरके ही वचनोंको ठीक मानें तब भी तो यह शङ्का उत्पन्न होती है कि जबसे काशी, सरयू नदी तथा रामेश्वरका अस्तित्व है, तबसे न जाने कितने असंख्य नर-नारी उनके द्वारा आवागमनसे छुटकारा पा गये होंगे; फिर भी भारतवर्षकी जनसंख्यामें कमी नहीं आयी, इसका क्या कारण है?

उत्तर—प्रश्नकर्ताकी पहली शङ्का कि काशीमें मरने, सरयूजीमें स्नान करने और रामेश्वरका दर्शन करनेसे यदि सब लोग परमपद प्राप्त कर लेते हैं, तब कर्म-फल-भोगका प्राधान्य क्यों बतलाया गया है, इसका समाधान उसी प्रसङ्गमें है, जिसमें कर्मानुसार फल-भोग करनेकी बात बतायी गयी है। पूरा प्रसङ्ग इस प्रकार है—

जद्यपि सम नहिं राग न रोषू। गहहिं न पाप पूनु गुन दोषू॥
करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फलु चाखा॥
तदपि करहिं सम बिषम बिहारा। भगत अभगत हृदय अनुसारा॥
अगुन अलेप अमान एकरस। रामु सगुन भए भगत पेम बस॥

(अयो० २१८। १, २)

इस प्रसङ्गको पढ़नेपर यह प्रकट है कि भगवान्‌को स्वतः न किसीसे राग है, न रोष है। उन्होंने इस जगत्‌में सामान्यतः कर्मको ही प्रधान बना रक्खा है; अतएव जो जैसा कर्म करता है, वह वैसा ही फल भोगता है। परन्तु फिर भी जो लोग कर्तृत्वाभिमान त्यागकर भगवान्‌की शरण ग्रहण कर लेते हैं, जो अपनेको भगवान्‌के चतुर्विध विग्रह—नाम, रूप, लीला, धामकी सेवा तथा उनके आज्ञापालनादिमें लगा देते हैं, उन भक्तोंके लोक-परलोककी रक्षाका भार भगवान् स्वयं अपने हाथोंमें ले लेते हैं। गीतामें यह बात स्पष्टरूपसे कही गयी है—'योगक्षेमं वहाम्यहम्।' इसलिये भगवद्भक्तोंकी बात न्यारी है, वे इस जगत्‌के नियमोंमें नहीं बँध सकते। 'जो जस करइ सो तस फलु चाखा' यह नियम उन लोगोंके लिये है, जिनको अपने कर्मोंका अभिमान है; और ऐसे लोगोंसे सारा संसार भरा पड़ा है, इसलिये 'करम प्रधान बिस्व करि राखा' की बात सर्वथा ठीक है। अस्तु,

काशीमें मरण, सरयूजी (अयोध्या) में स्नान और रामेश्वरका दर्शन उन्हीं भाग्यवान् जनोंको प्राप्त होता है, जो कर्तृत्वाभिमान छोड़कर प्रभुके दास बन जाते हैं; फलतः उनकी मुक्ति हो जाती है। रही बात कुकर्मियोंके मुक्त होनेकी, सो यही तो भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धामका विरद और ऐश्वर्य है। इसीलिये—

'अधमउ मुकुत होइ श्रुति गावा।'

'काश्यां हि मरणान्मुक्तिः ।'

—इत्यादि वचन कहे गये हैं। यदि काशी, अयोध्या, रामेश्वर, सरयू, गङ्गा आदिके द्वारा केवल निष्पाप ही मुक्त होते तो फिर उनकी महिमा ही क्या रह जाती !

इसी प्रसङ्गमें प्रश्नकर्ताकी दूसरी शङ्का यह है कि यदि काशी, सरयू, रामेश्वर आदिके द्वारा सब प्रकारके लोग मुक्त होते रहते तो भारतवर्षकी जनसंख्या बहुत कम हो गयी होती या समाप्त हो गयी होती ! इसका समाधान यह है कि जीव-तत्त्व अप्रमेय और असंख्य है, उसका हिसाब नहीं लगाया जा सकता। जीवोंकी बात तो अलग है, अनन्त-अनन्त जीवोंका एक-एक ब्रह्माण्ड होता है; उन ब्रह्माण्डोंकी भी गणना नहीं की जा सकती। श्रुतियोंका कहना है कि यदि कोई चाहे तो रज-कणोंकी गणना भले ही कर सके, परन्तु अनन्त ब्रह्माण्डोंकी गणना नहीं हो सकती। यथा—

'रजसामपि संख्या चेद् विश्वानां न कदाचन।'

ऐसी स्थितिमें अनन्त ब्रह्माण्डगत अनन्त जीवोंका हिसाब-किताब कैसे लगाया जा सकता है ? और जब हिसाब नहीं लगाया जा सकता, तब उनके अभाव अथवा वृद्धिके सम्बन्धमें कैसे कोई बात कही जा सकती है ? इसके अलावा यह भी तो कोई नियम नहीं है कि भारतवर्षके जीव भारतवर्षमें ही जन्म ग्रहण करें। न जाने कितने अनन्त जीव कहाँ-कहाँ उत्पन्न होते और मरते रहते हैं। इसलिये प्रश्नकर्ताकी दूसरी शङ्का जीवोंकी अपरिमितताकी दृष्टिसे अनावश्यक है।

प्रश्न—यह दूसरा प्रश्न भी प्रायः वैसा ही है, जैसा ऊपरका है। फिर भी इसे अलगसे पूछ रहा हूँ। बालकाण्डमें शङ्करजीने सती-मोहके प्रसङ्गमें यह कहा है—

होइहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावै साखा॥

फिर किष्किन्धाकाण्डमें शङ्करजी और काकभुशुण्डिजीके ये वचन मिलते हैं—

उमा दारु जोषित की नाईं। सबहि नचावत रामु गोसाईं॥
नट मरकट इव सबहि नचावत। रामु खगेस बेद अस गावत॥

इन सब वचनोंको देख-सुनकर भी लोग पाप-पुण्यके पचड़ेमें क्यों पड़ते हैं ? क्यों नहीं निश्चिन्त होकर बैठ रहते ? परन्तु उपर्युक्त वचनोंके आधारपर निश्चिन्त होकर बैठ रहना भी कैसे ठीक है, जब कि लक्ष्मणजी 'नाथ ! दैव कर कवन भरोसा' तथा 'दैव दैव आलसी पुकारा' कहकर उपर्युक्त वचनोंका खण्डन कर देते हैं ! कृपया इन सब बातोंका स्पष्टीकरण कीजिये।

उत्तर—श्रीशिवजीका यह विचार कि—

होइहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावै साखा॥

—उस समयका है, जब उन्होंने सतीजीको समझाते-बुझाते समय यह जान लिया कि इनके ऊपर हरिमाया-का प्रभाव पड़ रहा है, इसलिये अब इनके द्वारा उसीके अनुसार कार्य होगा। इनकी भावीको मेटना हमारे मानका नहीं है, क्योंकि उसमें हरि-इच्छा सम्मिलित होनेके कारण वह बलवान् हो रही है।

हृदयँ बिचारत संभु सुजाना। हरि इच्छा भावी बलवाना॥

यथा—

लाग न उर उपदेसु जदपि कहेउ सिवँ बार बहु।
बोले बिहसि महेसु हरिमाया बलु जानि जियँ॥

अस्तु, हरिमायाकी प्रबलता देखकर और यह विचार कर कि—

मोरेहु कहें न संसय जाहीं। बिधि बिपरीत भलाई नाहीं॥

—जब शङ्करजी अधिक चिन्तित होने लगे, तब

उन्होंने यह निश्चय कर लिया कि 'जाने दो, भगवान् श्रीरामने जो रच रक्खा है, वही होगा। क्योंकि उन्हींकी मायाकी प्रेरणासे सतीद्वारा यह लीला हो रही है, इसलिये इसमें कौन कुतर्क करने और शाखा-प्रशाखा निकालने जाय।' ऐसा निश्चय करके श्रीशङ्करजी श्रीराम-नामका जप करने लगे—

अस कहि लगे जपन हरिनामा। गईं सती जहँ प्रभु सुखधामा॥

तात्पर्य यह कि शङ्करजीका—

होइहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावै साखा॥

—यह वचन जीवमात्रके लिये नहीं है, बल्कि केवल सतीके सम्बन्धमें है। इसके अतिरिक्त यह वचन उस स्थितिमें उनके मुँहसे निकला है जब उन्हें यह अनुभव हो चुका है कि भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने सतीके साथ जो लीला रच रक्खी है, उसका कोई खास उद्देश्य है और वह होकर ही रहेगी। इसलिये श्रीशङ्करजीके इस वचनको जीवमात्रपर घटाना ठीक नहीं। वैसे तो और भी भगवद्भक्त, जो निश्चितरूपसे प्रारब्धपर निर्भर रहते हैं, ऐसा कह सकते हैं और उनका ऐसा कहना अनुचित नहीं होगा; क्योंकि प्रारब्धका भोग अटल एवं अवश्यम्भावी होता है। परन्तु इसका यह मतलब नहीं कि प्रारब्धपर निर्भर रहकर और कुछ किया ही न जाय। जो भगवद्भक्त प्रारब्धपर निर्भर रहते हैं, वे भी कर्तव्य कर्म (भजन-ध्यानादि परमार्थसाधन) तो करते ही रहते हैं। अतः प्रारब्धपर निर्भर रहनेवालोंको भी अपना कर्तव्य कर्म करते रहना चाहिये। जितने भी पुण्य-कर्म हैं—जैसे यज्ञ, दान, तप इत्यादि, सभी कर्तव्य कर्म हैं और इनको कर्तव्य-बुद्धिसे करते रहना ही उचित है। तथा इनको करते हुए प्रारब्ध भोगोंको, जो भगवान् श्रीरामजीकी आज्ञासे पूर्वकर्मानुसार रचे जा चुके हैं तथा अटल और अवश्यम्भावी हैं, अनासक्तभावसे भोगना चाहिये। अस्तु,

इस प्रकार विचार करनेसे श्रीशङ्करजीके 'होइहि सोइ जो राम रचि राखा' तथा श्रीलक्ष्मणजीके 'दैव दैव आलसी पुकारा' इन वचनोंमें कोई पारस्परिक विरोध नहीं प्रतीत होता। एकका वचन प्रारब्ध कर्मके सम्बन्धमें है और दूसरेका क्रियमाण कर्मके सम्बन्धमें। श्रीलखनलालजीने समुद्रपार होनारूप कर्तव्य कर्मके उपस्थित होते ही अपने उपर्युक्त दोनों वचनोंका प्रयोग किया है।

रहे किष्किन्धाकाण्डमें तथा उत्तरकाण्डमें आये हुए श्रीशङ्करजी तथा काकभुशुण्डिजीके उपर्युक्त वचन, सो उनका रहस्य बड़ा गम्भीर है। यदि भगवान्‌की कृपासे अवकाश मिला तो कभी विस्तारपूर्वक उन वचनोंके रहस्यपर विचार किया जा सकता है। यहाँ उनका उल्लेख हो जानेके कारण उनके सम्बन्धमें इतना ही संक्षिप्त निवेदन कर दिया जाता है कि—

नट मरकट इव सबहि नचावत। रामु खगेस बेद अस गावत॥

× × ×

उमा दारु जोषित की नाईं। सबहि नचावत रामु गोसाईं॥

—ये दोनों चौपाइयाँ अपने-अपने प्रसङ्गमें ईश्वरके उस स्वरूपके प्रमाणमें आयी हैं, जो अरण्यकाण्डमें श्रीलक्ष्मणजीके प्रश्न करनेपर भगवान् श्रीरामचन्द्रजीद्वारा कथित हुआ है। वहाँ भगवान्‌ने अपने श्रीमुखसे ब्रह्मका निरूपण इस प्रकार किया है। यथा—

माया ईस न आपु कहुँ जान कहिअ सो जीव।
बंध मोच्छ प्रद सर्बपर माया प्रेरक सीव॥

अर्थात् ईश्वर, जीव और माया—इन तीनों तत्त्वोंमें ईश्वर इसीलिये सर्वपर हैं कि वे जीवको बन्धन-मोक्षके दाता तथा मायाके भी प्रेरक हैं। अस्तु, यहींपर उल्लिखित 'बंध मोच्छ प्रद' की पुष्टि 'नट मरकट इव सबहि नचावत' से तथा 'माया प्रेरक' की पुष्टि 'उमा दारु जोषित की नाईं। सबहि नचावत रामु गोसाईं' द्वारा की गयी है।

सियावर रामचन्द्रकी जय!

अद्वैतकी व्यापकता

(लेखक—दीवान बहादुर श्री के० एस्० रामस्वामी शास्त्री)

आचार्य शङ्करके दृष्टिकोणकी महती व्यापकता और उदारता उनके निम्नलिखित महान् और विशिष्ट वक्तव्यमें दिखायी देती है—

'तेषां (द्वैतिनां)······द्वैतदृष्टिरस्माकमद्वैतदृष्टिः। तैः········अस्मदीयोऽयं वैदिकः सर्वानन्यत्वादात्मैकत्वदर्शनपक्षो न विरुद्ध्यते।'

(माण्डूक्य-कारिका-भाष्य ३ । १८, १७)

इस विचारका अनुगमन करते हुए आनन्दगिरि कहते हैं—

'द्वैतमद्वैतकार्यम्। न च कारणं तत्कार्यप्रतिभासैर्विरुद्ध्यते, कार्यस्य कारणातिरेकेण सद्भावात्। अतो द्वैतपक्षैरद्वैतपक्षो विरुद्धो न भवति।'

इससे स्पष्ट है कि भिन्न दिखायी पड़नेवाले परमात्मा, जीव और जगत्के एकत्वकी परम अनुभूतिको मानते हुए भी श्रीशङ्करका अद्वैत अपने विस्तृत क्षेत्रमें अनन्त आध्यात्मिक अनुभवोंको स्थान देता है।

श्रीशङ्कराचार्यके मायावादकी बहुत टीका-टिप्पणी और हँसी भी हुई है। परन्तु वस्तुतः यह सरल और सुदृढ़ आधारपर स्थित है। अतः भारतीय विचारधारापर इसका गहरा प्रभाव है। शङ्कर यह नहीं कहते कि विश्व माया है वरं उनका कहना है कि वह ब्रह्मसे अनन्य है। वे यह नहीं कहते कि जगत् ब्रह्म है, यह सर्वेश्वरवाद हो जायगा। न वे यही कहते हैं कि जगत्का अस्तित्व नहीं है। जैसे मिट्टीका पात्र मिट्टीसे अभिन्न है (मृत्तिकेत्येव सत्यम्), वैसे ही जगत् ब्रह्मसे अभिन्न है।

'यस्य च यस्मादात्मलाभो भवति स तेनाविभक्तो दृष्टः, यथा घटादीनि मृदा।'

(बृहदारण्यक-भाष्य ३ । ५)

जैसे तरङ्ग समुद्रसे अभिन्न है, वैसे ही जगत् ब्रह्मसे अभिन्न है।

सलिलफेनदृष्टान्तेन परिहृतत्वम्।

(बृहदारण्यक-भाष्य ३ । ५)

'न च तेषाम् (फेनतरङ्गादीनां) इतरेतरभावानापत्तावपि समुद्रात्मनोऽन्यत्वं भवति।'

(ब्रह्मसूत्र-भाष्य २ । १ । १३)

इसी प्रकार एक स्वर्णाभूषण स्वर्ण ही है और एक चिनगारी अग्नि ही है। कार्यरूपमें दिखायी पड़नेपर भी कारणके अस्तित्वका लोप नहीं हो जाता। इसलिये न तो आप कार्यकी आपेक्षिक वास्तविकतासे इन्कार कर सकते हैं, न कारणकी निरपेक्ष वास्तविकताको ही अस्वीकृत कर सकते हैं। क्या गौ खड़ी या बैठी रहनेपर ही गौ रहती है और सोते समय घोड़ा या और कोई पशु हो जाती है!

'न हि लोके गौस्तिष्ठन् गच्छन् वा गौर्भवति शयानस्त्वश्वादि जात्यन्तरम्।'

(बृहदारण्यक-भाष्य २ । १ । २०)

जब आप किसी लकड़ीके हाथीमें हाथीकी भावना करते हैं तब आपकी चेतनासे लकड़ीका लोप हो जाता है, यद्यपि लकड़ीका अस्तित्व बराबर बना रहता है; और जब आप उसमें लकड़ीकी भावना करते हैं तब हाथी गायब हो जाता है। पर लकड़ी वहाँ बराबर मौजूद रहती है, सदा रही है और रहेगी।

दन्तिनि दारुविकारे दारु तिरोभवति सोऽपि सर्वत्र।
जगति तथा परमात्मा परमात्मन्यपि जगत्तिरोधत्ते॥

वस्तुतः श्रीशङ्कर स्पष्ट शब्दोंमें कहते हैं कि श्रुति

संसारको उसी रूपमें ग्रहण करती है, जिस रूपमें हम उसे देखते हैं और इसके बाद ब्रह्मसे उसके अभेदको बतलाती है। यह संसारकी सत्ताको न स्वीकार करती है, न अस्वीकार करती है—

(संसारस्य) सत्यतामसत्यतां वा नाचष्टे न च वारयति। (बृहदारण्यक-भाष्य २।१।२०)

मायाके लिये प्रयुक्त किये जानेवाले प्रसिद्ध विशेषण 'अनिर्वचनीय' का वास्तविक अर्थ यही है। शङ्कराचार्य पुनः कहते हैं—

'अहो अतिगम्भीरा दुरवगाह्या विचित्रा माया चेयम्' (कठोपनिषद्-भाष्य १।३।१२)

'यह माया अत्यन्त गहन, दुस्तर एवं विलक्षण है।' जगत् न तो असत् है, न सत् (ब्रह्मकी भाँति अपरिवर्तनीय सत्य) है। यह एक आश्रित और आपेक्षिक सत्य है, जो ब्रह्मकी अनुभूति करनेवालेकी दृष्टिमें बाधित हो जाता है। ब्रह्म ही इस आपेक्षिक सत्यका कारण है और वही इसका आधार तथा पोषक है—

अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम्।
आद्यत्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्॥

जब हम उनके मतपर तीसरे दृष्टिकोणसे विचार करते हैं तो पता चलता है कि जिसे वे माया कहते हैं, वह नामरूपात्मक व्यक्त जगत्की पूर्वावस्थामात्र है।

'परमेश्वराधीना त्वियमस्माभिः प्रागवस्था जगतोऽभ्युपगम्यते······अव्यक्ता हि सा माया।'

(ब्रह्मसूत्र-भाष्य १।४।३)

जिस प्रकार बीजमें वृक्षकी शक्ति निहित है, उसी प्रकार अव्यक्तावस्थामें समस्त व्यक्त जगत्की सम्भावना निहित है।

'वटकणिकायामिव वटवृक्षशक्तिः······'

(कठोपनिषद्-भाष्य १।३।११)

इसका अस्तित्व ब्रह्मसे है, परन्तु ब्रह्म इससे निर्लेप है। इस प्रकार सांख्यके 'प्रधान' से इसका समीकरण नहीं किया जा सकता, जो 'पुरुष' के समकक्ष है। अपने मूलरूपमें यह ब्रह्मसे अभिन्न है। पर नाम, रूप और कार्यकी समष्टिके रूपमें—जिन्हें हमारा मन अलग-अलग देखता है—इसकी ब्रह्मके साथ एकताकी अनुभूति नहीं होती। इसकी परिच्छिन्नता और ब्रह्मके साथ इसकी भिन्नताका यह भाव ही इसके तात्त्विक मिथ्यात्वका स्वरूप है, जो इसकी आपेक्षिक सत्यताको प्रकट करनेका प्रकारान्तरमात्र है। माया 'परिणामी नित्य' है और ब्रह्म 'कूटस्थ नित्य' है। यही ब्रह्मका ऐश्वर्य है और इसके संयोगको पाकर ही ब्रह्म 'ईश्वर' हो जाता है। इसीलिये श्वेताश्वतरोपनिषद्में कहा है—

'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।'

भगवद्गीता भी कहती है—

'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥'

वस्तुतः हमारे इस पिण्डमें जिस प्रकार जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—ये तीन अवस्थाएँ होती हैं, उसी प्रकार ब्रह्माण्डमें भी स्थूल, सूक्ष्म और कारण—ये तीन अवस्थाएँ हैं। ये तीनों अवस्थाएँ कारणरूप ब्रह्मसे ही उद्भूत होती हैं। यह माया विश्व-शक्ति अथवा ब्रह्म-शक्ति है। कहीं-कहीं शङ्कराचार्य इसे 'अविद्या' भी कहते हैं; परन्तु यह हमारी उस व्यष्टि अविद्या अथवा अध्याससे भिन्न है, जो हमारी परिच्छिन्न मानसिक अवस्थामें ब्रह्मपर नाम-रूपका आरोप करती है। व्यष्टि अविद्याका विद्यासे बाध हो सकता है; परन्तु समष्टि माया या अविद्या ब्रह्मकी शक्ति है और व्यष्टि विद्यासे उसका बाध अथवा निराकरण नहीं किया जा सकता। यदि एक वामदेव अथवा शुकदेवकी मुक्ति हो गयी तो इससे संसारका अभाव नहीं हो जाता। मूल विद्या या

मूल मायाका अस्तित्व फिर भी बना रहता है और बना रहेगा। मायामें दो शक्तियाँ हैं—'आवरणशक्ति' (जो ब्रह्मके वास्तविक स्वरूपको आच्छादित कर देती है) और 'विक्षेपशक्ति' (जो जगत्का विकास करती है)। मुक्तिसे प्रथम (आवरणशक्ति) का अभाव हो जाता है, परन्तु दूसरी (विक्षेपशक्ति) का अभाव नहीं होता। माया भावरूपा है, असत् या अभावरूपा नहीं है। यह केवल मनोमय अथवा कल्पनात्मक ही नहीं है, मनका विषय भी है। इसे माया, प्रकृति, शक्ति या समष्टि अविद्या—कुछ भी कह लीजिये; यह जगत्का उपादान कारण है, हमारी कल्पनाकी चीज अथवा मिथ्या नहीं है।

इस प्रकार आपेक्षिक विभेदके बीच रहनेवाली ब्रह्मके साथ जगत्की पूर्ण अभिन्नताका सम्बन्ध स्थापित करनेके पश्चात् श्रीशङ्करने इसी पद्धतिका जीवात्माओंके सम्बन्धमें प्रयोग किया है। प्रत्येक जीवात्मा दूसरे जीवात्मासे भिन्न है, ठीक वैसे ही जैसे जड़ प्रकृतिका प्रत्येक अणु दूसरेसे भिन्न है। किन्तु जैसे जड़ प्रकृतिके प्रत्येक अणुकी सत्ता और अस्तित्व केवल अभिन्न ब्रह्मसे है, इसी प्रकार प्रत्येक जीवात्माका अस्तित्व और सत्ता केवल ब्रह्मको लेकर है। मन, इन्द्रिय और शरीर उपाधियाँ हैं, ठीक वैसे ही जैसे जड़ प्रकृतिके लिये उसके भौतिक गुण उपाधिरूप होते हैं। वही जीवात्मा पञ्चकोशोंके साथ तादात्म्य स्थापित करनेमें अपनेको कर्ता और भोक्ता मान लेता है और वृत्तिज्ञानके प्रवाहसे युक्त हो जाता है— जिससे उसका वास्तविक स्वरूप, जो ब्रह्मसे अभिन्न है, छिप जाता है। इसी अध्यासके कारण उसे दुःख-सुखका अनुभव होता है, जो वस्तुतः प्रकृतिके राज्यकी चीजें हैं। इस बातको भगवान् श्रीकृष्णने गीताके तेरहवें अध्यायमें स्पष्ट कर दिया है, जहाँ वे इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात, चेतना और धृतिको भी महाभूतोंके साथ 'क्षेत्र' की कोटिमें रखते हैं और अपनेको 'क्षेत्रज्ञ' कहते हैं।

हमारे जीवनमें नित्य प्रकट होनेवाली जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति नामक तीन अवस्थाओंका शङ्करने जो उत्कृष्ट विश्लेषण किया है, उससे भी उनकी अनुपम महत्ताका पता चलता है। ये तीनों अवस्थाएँ ही तीन पुर (त्रिपुर) हैं, जो तुरीयावस्थाकी सिद्धिके द्वारा विजय की जाती हैं। जाग्रत् अवस्थामें हम समयके अविराम, अविश्रान्त प्रवाहमें बहते हुए पदार्थों एवं उनको ग्रहण करनेवाली इन्द्रियोंकी पुरातनताके कारण दीख पड़नेवाली चित्रमयी और प्रगतिशील विविधताके क्षेत्रमें होते हैं। स्वप्नावस्थामें प्रत्येक स्वप्न देखनेवाले जीवके लिये समयका विस्तार रुक जाता है। उसका क्रम उलट जाता है; उसकी गति बढ़ जाती है, उसका क्षेत्र विस्तृत या सङ्कुचित हो जाता है—यद्यपि बाहरी घटनाओंका प्रगतिमान् प्रवाह जारी रहता है। अपने जाग्रत् जीवनकी वासनाओंको लेकर जीवका मन नयी-नयी कल्पनाएँ करता रहता है। परन्तु प्रगाढ़ निद्रामें यह भीतरी क्रिया भी बंद हो जाती है। उस समय प्रत्येक जीव अपनी वास्तविक और स्वरूपभूत ब्राह्मी अवस्थामें पहुँच जाता है; परन्तु वह जाग्रत् और स्वप्न अवस्थाओंके भावी विस्तारकी सम्भावना लिये हुए चतुर्दिग्व्यापी अज्ञानसे घिर जाता है और पुनः अपने पञ्चावरण, वृत्तिज्ञान और भावी संसारकी सम्भावनासे युक्त व्यष्टिभावमें मग्न हो जाता है।

परन्तु ब्रह्म जीवसे कुछ भिन्न वस्तु नहीं है। अगर जीव अपनेको आवरणोंसे मुक्त कर ले तो जो कुछ बच जाता है, वह शून्य नहीं, अभाव नहीं, अपितु ब्रह्म ही होता है—जो शुद्ध चैतन्य, शुद्ध सच्चिदानन्द-स्वरूप, शुद्ध और अनन्त सत्य एवं ज्ञान है। वह नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव है। यह शुद्ध नित्य अनन्त ब्रह्म

जब प्रकृतिकी भाँति जीवके द्वारा भी आंशिकरूपमें ही व्यक्त होता है। यह आन्तर और बाह्यके सम्पूर्ण भेदसे परे है। यह नाम, रूप, उपाधि, विकार तथा सब प्रकारके भेदसे शून्य है। मन और इन्द्रियोंकी गति बहिर्मुख है, अतः अन्तरतम सत्यको देखनेमें वे असमर्थ हैं।

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भू-
स्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।

(कठोपनिषद् २।१।१)

मन और ज्ञानेन्द्रियाँ नाम-रूपकी विविधताके हेतु हैं। यदि हम वातायनके बहुरंगी शीशोंके भीतरसे आकाशको देखें तो आकाश बहुरंगी नहीं हो जाता वरं उसी प्रकार सदैव अपनी अनन्त नीलिमा बनाये रखता है। हम नाम-रूपमें सदैव चक्कर काटते रह सकते हैं अथवा चाहें तो कार्यावस्थासे ऊपर उठकर शुद्ध कारणावस्थामें पहुँचनेके लिये उनका सीढ़ीके रूपमें उपयोग कर सकते हैं।

तब अपने वास्तविक स्वरूप ब्रह्मत्वकी सिद्धितक पहुँचनेका क्या उपाय है? श्रीशङ्करका अद्वैत साधनाओं अर्थात् सदाचारमय जीवन और भगवद्भक्तिपर जोर देता है—कम-से-कम उतना ही जितना दुनियाका कोई भी धर्म देता है। एकात्मताकी सर्वोच्च अनुभूतिका निकटतम मार्ग प्रेम है। प्रेमकी सर्वोच्च अवस्थामें प्रेमीको प्रेमपात्रसे अपनी भिन्नताका बोध नहीं रहता। इसी प्रकार भक्तिमें भी ईश्वरसे हमारी भिन्न सत्ताके बोधका लोप हो जाता है। जिस अविद्याके कारण हमारी भिन्न सत्ताकी बुद्धि उत्पन्न हुई है, वह विद्यासे दूर हो जाती है। बन्धन और मुक्ति दोनोंके साधन [कनकरेणुवत्] एक दूसरेका बाध कर देते हैं और शुद्ध ब्रह्मका अपरिमेय और अनन्त आनन्दमात्र रह जाता है। क्या हम जीवात्माके अंदर स्वयं बंदी हुए परमात्माको मुक्त करके प्रकट नहीं कर सकते? और क्या हमें वैसा नहीं करना चाहिये? श्रीशङ्कर कहते हैं—

'जीवः परमात्मांश एव सन् तिरस्कृतज्ञानैश्वर्यो भवति।'

'जीव परमात्माका ही अंश है, किन्तु उसका ज्ञान और ऐश्वर्य छिपा रहता है।'

(ब्रह्मसूत्र-भाष्य ३।२।६)

'किं पुनर्जीवस्येश्वरसमानधर्मित्वं नास्त्येव। न नास्त्येव। विद्यमानमपि तिरोहितमविद्यादि-व्यवधानात्। तत् पुनस्तिरोहितं सत् परमेश्वरम-भिध्यायतो यतमानस्य जन्तोर्विधूतध्वान्तस्य—तिमिरतिरस्कृतेव दृक्शक्तिरौषधवीर्यात्—ईश्वर-प्रसादात् संसिद्धस्य कस्यचिदेवाविर्भवति न स्वभावत एव सर्वेषां जन्तूनाम्।'

(ब्रह्मसूत्र-भाष्य ३।२।५)

'तो क्या जीव ईश्वरका समानधर्मी नहीं है? नहीं है, सो बात नहीं है। अविद्यादिके व्यवधानसे यह समानधर्मिता होते हुए भी छिपी रहती है। यह छिपी हुई समानधर्मिता ईश्वरके ध्यानपूर्वक यत्न करनेवाले किसी विरले ही जीवमें, जिसका हृदयान्धकार ईश्वरकी कृपासे दूर हो जाता है और जिसे अपने प्रयत्नमें सिद्धि प्राप्त हो जाती है, उसी प्रकार प्रकट होता है जैसे औषधके प्रभावसे अंधेको दृष्टि मिल जाती है; स्वभावतः सभी जीवोंको ऐसा नहीं होता।'

इससे यह प्रकट है कि शङ्कर अदृष्टवादी अथवा नियतिवादी (डिटरमिनिस्ट) नहीं थे। वे हमारी प्रकृतिका निर्माण करनेवाली हमारी वासनाओं और हमारे कर्मोंकी शक्तिको जानते और प्रकट करते हैं। परन्तु आत्मामें असीम सामर्थ्य है। अगर हमारे प्रयत्नसे इसे उद्बुद्ध किया जा सके तो यह सामर्थ्य हमारी वासनाओंके बन्धनको तोड़कर उसी प्रकार बाहर आ

जायगी, जैसे चारों ओर फैले हुए धुएँको भेदकर अग्नि-शिखा ऊपर आ जाती है, और शीघ्र ही धुएँका स्थान अग्नि ले लेगी। प्रतिपक्षभावना, सदाचारपूर्ण जीवन और भगवान्को प्राप्त करनेकी इच्छासे इसी संसारमें और इसी क्षण जीव अपनी क्षुद्र अहंतासे मुक्त होकर ईश्वर-साक्षात्कार एवं ब्रह्मके साथ अभेदको प्राप्त कर सकता है ('अत्र ब्रह्म समश्नुते')। भगवद्गीतामें उच्चतर प्रयत्न (संसिद्धि) का क्रम इस प्रकार बताया गया है—निष्काम कर्म, ध्यानयोग, भक्ति और ज्ञान। हमें दैवी सम्पदाका अर्जन तो करना ही होगा। हमें भगवान्की विभूतियोंका ध्यान करना होगा और फलतः विश्वरूप-दर्शन प्राप्त करना होगा। अद्वैतीका जीवन अकर्मण्यता, आरामतलबी अथवा भाग्यके भरोसे बैठे रहनेका जीवन नहीं है वरं कठोर साधनाका जीवन है—जो साधना जबतक सर्वोच्च 'अवगति' या 'अनुभूति' की सिद्धि नहीं हो जाती अथकरूपसे चलती रहती है।

श्रीशङ्करने अपने सिद्धान्तमें ईश्वरको बहुत ऊँचा स्थान दिया है। क्योंकि उनके मतमें ईश्वर ही जगत्के कर्ता, भर्ता और संहर्त्ता हैं और वही कर्मानुसार जीवोंको पुरस्कार वा दण्ड देते हैं—

'स हि सर्वाध्यक्षः सृष्टिस्थितिसंहारान् विचित्रान् विदधद् देशकालविशेषाभिज्ञत्वात् कर्मिणां कर्मानुरूपं फलं सम्पादयतीत्युच्यते।'

(ब्रह्मसूत्र-भाष्य ३। २। ३८)

निस्सन्देह कहीं-कहीं वे यह भी कहते हैं कि ईश्वर 'अविद्याकल्पित' हैं। एक प्रसिद्ध श्लोक है—

चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः।
उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना॥

कहीं-कहीं तो शङ्करने दूसरे मतोंको अग्राह्य कर निश्चितरूपसे लिखा है कि ब्रह्मका केवल एक ही रूप है।

'ब्रह्मण एकरूपत्वादेकरूपत्वाच्च' (ब्रह्मसूत्र-भाष्य ३। ३। १)

परन्तु दूसरी जगह वे कहते हैं—

'द्विरूपं हि ब्रह्मावगम्यते नामरूपविकारभेदोपाधिविशिष्टं तद्विपरीतञ्च सर्वोपाधिविवर्जितम्।'

(ब्रह्मसूत्र-भाष्य १। १)

'ब्रह्मके दो रूप हैं—एक तो वह जो नाम, रूप, विकार और भेदरूप उपाधियोंसे विशिष्ट है और दूसरा वह जो सब प्रकारकी उपाधियोंसे रहित है।'

उपनिषद् बारंबार घोषणा करते हैं कि ब्रह्म मूर्त और अमूर्त दोनों है। वे ईश्वरकी सत्ताको उतने ही प्रबलरूपमें उद्घोषित करते हैं जितने जोरसे वे निर्गुण अथवा निराकार ब्रह्मकी सत्ताको स्वीकार करते हैं।

श्रीशङ्करका ब्रह्म शून्य अथवा कल्पनामात्र नहीं है। वह सच्चिदानन्द, सत्य, नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव है। यही उसका स्वभाव अथवा स्वरूप है। सत्, चित् (बोध) और आनन्द एक ही वस्तु हैं। यही सब वस्तुओंका कारण है। कारणका कार्योंकी उत्पत्तिसे अन्त नहीं हो जाता। कार्य परस्पर भिन्न होते हुए भी कारणसे अभिन्न हैं। पारमार्थिक दृष्टिसे जगत्की परिवर्तनशीलता उसकी अवास्तविकता (असत्यता) है। आपेक्षिक दृष्टिसे देखें तो यही उसकी आपेक्षिक सत्यता है। किन्तु ब्रह्म अपरिणामी और परिपूर्ण है, अतः वही एकमात्र सत्य है। जैसे एक अभिनेता अपनी इच्छासे ग्रहण किये हुए पार्टसे प्रभावित नहीं होता, वैसे ही ब्रह्म नाम-रूपसे प्रभावित नहीं होता। यह हर्बर्ट स्पेंसरका अज्ञेय तत्त्व नहीं है। यहाँ और इसी कालमें इसकी अनुभूति, इसका साक्षात्कार हो सकता है और यही अन्तिम सत्य है—

'दृष्टिं ज्ञानमयीं कृत्वा पश्येद् ब्रह्ममयं जगत्।'

नारी

पाश्चात्त्य समाजमें और हिन्दूसमाजमें

(लेखक—श्रीचारुचन्द्र मित्र ऐटर्नी-एट्-लॉ)

(पूर्वप्रकाशितसे आगे)

पहले दिखलाया गया है कि मान्धाताके समयके नारीद्रोही अर्द्धनग्न ऋषियोंके द्वारा स्थापित हमारे समाज-गठनको वर्तमान उन्नत युगमें अव्यवहार्य समझकर हमारा शिक्षित समाज जिस नारीस्वत्वप्रसारक पाश्चात्त्य समाज-गठन-प्रणालीका अनुकरण कर रहा है, उसी प्रणालीका अनुसरण करनेवाले उन्नत पाश्चात्त्य समाजकी प्रायः आधी गर्भवती स्त्रियाँ भ्रूणहत्या करनेको बाध्य होती हैं और करती हैं। डा० मेरी स्टोप्स अपने 'सन्तति-निरोध' ('On Contraception') नामक पुस्तकके ५ वें पृष्ठमें 'American Journal of Obstetrics and Gyraecology, 1922' से उद्धृत कर लिखती हैं कि एक न्यूयार्क शहरमें प्रतिवर्ष ८० हजार गर्भवती स्त्रियाँ कानूनके अनुसार दण्डनीय भ्रूणहत्याएँ करती हैं। इसके सिवा और भी बहुतेरी गर्भवती स्त्रियाँ स्वास्थ्यके लिये भ्रूणहत्या करती हैं। समस्त बंगालमें प्रतिवर्ष दो-चार सौसे लेकर हजारतक भ्रूणहत्याएँ होती हैं। परन्तु इस बातको हिन्दू-समाजके नारी-निग्रही (स्त्रियोंपर अत्याचार करनेवाला) होनेका सबसे बड़ा नमूना कहकर उसकी डौंडी पीटी जाती है। दूसरी ओर जब पाश्चात्त्य समाजकी प्रायः ५० प्रतिशत गर्भवती स्त्रियाँ इस प्रकारकी भ्रूणहत्या करती हैं, तब क्या पाश्चात्त्योंके समान ही (पर्याप्त संख्यामें) भ्रूणहत्या करनेकी सुविधा प्राप्त करनेको ही सुधारक लोग स्त्रियोंके लिये विशेष अधिकारके कुछ अंशकी प्राप्ति समझते हैं ? राजाओंको विना अपराध भी किसी मनुष्यके वधकी क्षमता होती है, परन्तु उसको भी वे जनसमाजमें व्यवहृत नहीं कर सकते। पाश्चात्त्य स्त्रियाँ वहाँके अत्यन्त उत्कृष्ट व्यक्तिप्रधान एवं अर्थप्रभावसे ग्रस्त समाजगठनके कारण अपनी सन्तानको निरपराध वध करनेका अधिकार पाकर भी उसका सर्वसाधारणमें व्यवहार कर अत्यन्त सुखपूर्वक बेधड़क विचरण करती हैं—इसे देखकर क्या उस अधिकारको यहाँकी स्त्रियोंको देनेके उद्देश्यसे ही हमारे सुधारक अपने समाजगठनको तोड़नेके लिये उद्यत हो रहे हैं !

हमें यह भी याद रखना होगा कि अमेरिका, इँगलैंड प्रभृति देशोंकी अपेक्षा हम अनेकों गुने—तीस-चालीस गुने दरिद्र हैं। हम यहाँ यह दिखलाते हैं कि १९२६–२९६० के अंदर बंगालमें तथा इँगलैंडमें कितने लोगोंने कितने आयपर इन्कमटैक्स दिया। इससे स्थूलरूपसे इन दोनों देशोंकी आर्थिक दशाकी तुलना हो सकती है। यहाँ जो तालिका दी जाती है, वह बंगालके Income-tax की Administration Report तथा इँगलैंडके Statistical Abstract से ली गयी है—

बंगाल १९२६-२७

वार्षिक आय	कितने आदमी इन्कमटैक्स देते हैं
२००० से २४९९ रुपये	७३०४
२५०० ,, २९९९ ,,	४८८४
३००० ,, ३४९९ ,,	३८८६
३५०० ,, ४९९९ ,,	६७७१
५००० ,, ७४९९ ,,	६१२७
७५०० ,, ९९९९ ,,	३४१३
१०००० ,, १२४९९ ,,	२०८२
१२५०० ,, १४९९९ ,,	९५१
१५००० ,, १९९९९ ,,	१२९२
२०००० ,, २४९९९ ,,	७१८
२५००० ,, २९९९९ ,,	३९८
३०००० ,, ३९९९९ ,,	४६०
४०००० ,, ४९९९९ ,,	२००
५०००० से ऊपर	५२५
विविध (unclassified)	२४०
	३९२५१

इँगलैंड १९२८-२९

२००० से २५०० पौंड	२४६०२
२५०० ,, ३००० ,,	१६८१६
३००० ,, ४००० ,,	१९८०३
४००० ,, ५००० ,,	११०६७

५००० ,, ६००० ,,	६८७३
६००० ,, ७००० ,,	४५४२
७००० ,, ८००० ,,	३३१२
८००० ,, १०००० ,,	४२२९
१०००० ,, १५००० ,,	४६६६
१५००० ,, २०००० ,,	१८५९
२०००० ,, २५००० ,,	९४८
३०००० ,, ३५००० ,,	५३५
३५००० ,, ४०००० ,,	५९६
४०००० ,, ५०००० ,,	२७१
५०००० ,, ७५००० ,,	२६१
७५००० ,, १०००००,,	१०६
१००००० पौंडसे ऊपर—	१३०
	१००६१६

१९३२—३३ ई० की बंगाल और बिहार-उड़ीसाके Income-tax की तालिका भी दी जाती है—उस समय १००० रु० वार्षिक आयवालोंको भी इन्कमटैक्स देना पड़ता था।

आय	बंगाल कर देनेवालों-की संख्या	बिहार-उड़ीसा कर देनेवालों-की संख्या
१०००– १४९९ रुपये	२४६१८	१०३०२
१५००– १९९९ ,,	१४१५५	५२३९
२०००– २४९९ ,,	७२०६	२५७८
२५००– २९९९ ,,	४४१९	१५७९
३०००– ३४९९ ,,	३२२७	१३९०
३५००– ४४९९ ,,	५७८७	२३२०
५०००– ७४९९ ,,	५५३८	१८२८
७५००– ९९९९ ,,	२७९५	७८३
१००००–१२४९९ ,,	८४५	२२०
१५०००–१९९९९ ,,	९३९	३०१
२००००–२४९९९ ,,	४९३	१३७
२५०००–२९९९९ ,,	२७३	८०
३००००–३९९९९ ,,	२६४	७३
४००००–४९९९९ ,,	११३	३४
५००००–९९९९९ ,,	११४	४१
१००००० से ऊपर ,,	९३	१९
	७०८७९	२६९२४

इस आँकड़ेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि हम कितने गरीब हैं और हमारे लिये पाश्चात्योंका अनुकरण करना नौकरके लिये सब बातोंमें मालिकका अनुकरण करनेके समान सर्वनाशकारी और केवल पागलपन है। ऐसा करनेसे ही हमारी उन्नति होगी, स्त्रियोंकी उन्नति होगी—इत्यादि बातें युवतियोंको समझायी जाती हैं और यही करनेके लिये हम तुले हुए हैं! पाश्चात्य आदर्शका अनुकरण करने और अपने समाजगठनके टूट जानेपर वहाँकी अपेक्षा भी कहीं अधिक—९० से ९५ प्रतिशत गर्भवती स्त्रियोंको भ्रूणहत्या करनी पड़ेगी। इसके परिणामस्वरूप उनकी शारीरिक और मानसिक यन्त्रणाका बढ़ना भी अनिवार्य है। इसके कारण बहुतोंकी मृत्यु हो जायगी और बहुतोंको सदाके लिये स्वास्थ्यसे हाथ धो लेना पड़ेगा। क्योंकि पाश्चात्य स्त्रियाँ जिन खर्चीले उपायोंका अवलम्बन कर सकती हैं, हममेंसे बहुत कम स्त्रियाँ वैसा कर सकती हैं। हमारे देशमें कई हज़ार वर्ष पहलेसे सम्मिलित परिवारकी प्रथा चली आती थी और अब भी उसका प्रभाव है—वही हमारे समाजगठनकी मूलभित्ति है। पाश्चात्य आदर्शके अनुसार जितनी ही हमारी भोगासक्ति बढ़ती जा रही है, जितना ही हम पाश्चात्योंके व्यक्तिवादकी प्रथाका अवलम्बन करते जा रहे हैं, उतना ही हमारी दुर्दशा बढ़ती जा रही है—उतना ही चारों ओर हाहाकार मच रहा है, सभी दुश्चिन्ताओंमें ग्रस्त हो रहे हैं, जीवन आनन्दहीन, स्फूर्तिहीन और शान्तिहीन होता जा रहा है। दिल खोलकर हँसना इस देशसे लुप्त होता जा रहा है। देश नित्य नयी व्याधियोंका घर बनता जा रहा है। हमलोग अब जिस आदर्शके अनुसार स्त्री-पुत्रादिका पालन करना चाहते हैं, वैसा करना बहुत ही कम लोगोंके लिये सम्भव है—इस ओर हमारा ध्यान नहीं जाता।

विवाहकी अवस्था इस देशमें बहुत ही द्रुतगतिसे बढ़ती जा रही है, स्त्री-पुत्रादिका पालन करनेमें सामर्थ्यकी कमीके कारण कुमारों (अविवाहितों) की संख्या भी बढ़ रही है। स्त्रियोंको इस बीचमें किशोरावस्था और यौवनका कितना ही अंश बाल-विधवाके समान स्वामी-सहवासके सुख और प्रेमसे वञ्चित रहकर व्यतीत करना पड़ता है। तथा भविष्य जीवनकी अनिश्चितता भी उन्हें इस बीचमें पीड़ित करती रहती है—दूसरोंकी गुलामी प्राप्त करना ही उनका अभीष्ट होता है। हमलोग जिस

द्रुतगतिसे पाश्चात्योंका अनुकरण कर रहे हैं, उससे थोड़े ही दिनोंमें २-३ प्रतिशत बालविधवाओंके स्थानमें ३०-४० प्रतिशत चिरकुमारी रहनेवाली युवतियाँ हो जायँगी और उनको इस दुरवस्थाका भोग करना पड़ेगा—इसको हम नहीं विचारते। बंगालमें ही सब प्रान्तोंसे अधिक अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग हैं; यही प्रान्त सबमें अधिक उन्नत है; बंगालमें ही (कुछ-कुछ बिहारमें भी) जमीनका इस्तेमरारी बन्दोबस्त होनेके कारण अन्य प्रान्तोंकी अपेक्षा अपने उत्पन्न किये धनका हम अधिक उपभोग कर सकते हैं—उसे सरकार नहीं ले सकती। इसी कारण हम पहले अधिक धनी थे, हमारे यहाँके साधारण लोगोंकी अवस्था अच्छी थी; परन्तु अब जितना ही पाश्चात्य शिक्षा और उसका प्रभाव बढ़ रहा है, उतना ही क्रमशः हमारी दुर्दशा भी बढ़ती जा रही है। हमारे सारे व्यवसाय, सारे कला-कौशल हमारी अपेक्षा अल्पशिक्षित अन्य देशवासियोंके हाथमें चले जा रहे हैं; और अब देशकी जमीन भी हमारे हाथसे छूटने लगी है।

हमारी दुर्दशा देखकर और उसके दूर होनेका कोई उपाय सामने न देखकर अनेकों युवक रूस देशके साम्यवादकी ओर ललचायी आँखोंसे देख रहे हैं और समझ रहे हैं कि इस देशमें भी उसी प्रकारके उपायोंका अवलम्बन किये बिना काम न चलेगा। इसके लिये यत्नशील होनेका परिणाम यह हो रहा है कि हम विपत्तिके समुद्रमें डूबते जा रहे हैं, कानूनकी कठोरता क्रमशः बढ़ती जा रही है। पाश्चात्य जीवनके आदर्श और शिक्षाके अनुसार पाश्चात्य उपायोंका अवलम्बन करनेसे उन्नतिके बदले हमारी अवनति ही हो रही है, सबका जीवन दूभर होता जा रहा है। 'हमने पार लगनेकी आशासे पाश्चात्यों-का अनुगमन किया, लेकिन उलटे अगाध जलमें गिर पड़े।' पाश्चात्योंका अनुकरण करनेसे ही हमारी दुर्दशा बढ़ती जा रही है, अतएव अपने देशकी ज्ञानराशि और आदर्शकी ओर हम सबका ध्यान आकर्षित करते हैं। देखा जाय कि उससे कुछ लाभ होता है या नहीं।

हमारे समाजकी मूलभित्ति सम्मिलित परिवारकी प्रथा है। हमारे एक-एक सम्मिलित परिवार मानो पृथक्-पृथक् Commune हैं। जिन मूलसूत्रों या मूलतत्त्वोंके ऊपर साम्यवाद प्रतिष्ठित है, वे हैं—'From each according to his ability—to each according to his needs.' जिससे जितना हो सके सबके कल्याणके लिये काम करे, जिसको जितनी आवश्यकता हो उतना उसे प्राप्त हो—इसी मूलभित्तिपर हमारी सम्मिलित-परिवार-प्रथा भी प्रतिष्ठित है। रक्तके आकर्षण और एकत्र वासके कारण पारस्परिक प्रेमका होना, सम्मिलित परिवारके सभी लोगोंके कल्याणके लिये यथासाध्य चेष्टा करना जितना सहज है, उतना देशके सभी लोगोंके लिये करना कभी सम्भव नहीं हो सकता—क्योंकि मनुष्य इतने उन्नत नहीं हुए और न भविष्यमें होनेकी सम्भावना है। इसी कारण इस प्रकारकी व्यवस्था चलानेके लिये रूसमें अत्यन्त कठोर नीतिका अवलम्बन करना पड़ा है। वहाँ व्यक्तिगत स्वाधीनता प्रायः विलुप्त हो गयी है, नित्य नये परिवर्तन करने पड़ते हैं और किसी भी व्यवस्थासे अभीष्ट फलकी प्राप्ति नहीं होती—प्रकृतिविरुद्ध होनेके कारण यह हो भी नहीं सकता।

इस मूल-तत्त्वको पृथ्वीपर जहाँतक सम्भव है, वहाँतक कार्यमें परिणत करनेके उद्देश्यसे ही हमारे आर्य ऋषियोंने देशको मानो असंख्य कम्यूनोंमें विभक्त किया था। प्रत्येक सम्मिलित परिवार ही एक-एक कम्यून था। इस प्रकारका छोटा कम्यून होनेपर ही उसमें प्रेम और सहयोगकी प्रथाकी सहायता प्राप्त होती है, इसी कारण इसमें रूसके साम्यवादियोंके मूल-तत्त्व पूर्णरूपसे कार्यान्वित हुए थे। इसीलिये हमारी व्यक्तिगत स्वाधीनता नष्ट नहीं होती थी और इसी कारण हम कई हजार वर्षतक सुख और शान्तिसे जीवन-यापन करनेमें समर्थ हो सके—पराधीनताके होते हुए भी जीवनका सुख और शान्ति नष्ट नहीं होती थी। हमारी स्त्रियोंका जीवन भी सुखप्रद था—सभीके जीवनमें आनन्द था। सब स्त्रियोंका हम आजीवन पालन कर सकते थे। (All women were endowed for all times.) नारी-स्वत्व-प्रसारक सुसभ्य पाश्चात्य-देशवासी आज भी केवल गर्भवती स्त्रियोंके लिये गर्भके अन्तिम दिनों और प्रसवके बाद थोड़े दिनोंके लिये भी पालनका भार नहीं ले सकते; परन्तु नारीद्रोही असभ्य ऋषियोंने स्त्रियोंके आजीवन प्रतिपालनका प्रबन्ध—

> भर्तृभ्रातृपितृज्ञातिश्वश्रूश्वशुरदेवरैः ।
> बन्धुभिश्च स्त्रियः पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः ॥*

* पति, भाई, पिता, कुटुम्बके लोगों, गुरुजनों, श्वशुर, देवर तथा बान्धवोंका कर्तव्य है कि वे स्त्रियोंका आभूषण, वस्त्र तथा भोजनके द्वारा सम्मान करें।

—इस आदेशवाणीद्वारा किया था। और उनका अबतक अपने स्वजनोंके द्वारा प्रतिपालन हुआ भी। अब हम सुसभ्य होकर, स्त्रियोंकी उन्नतिके अभिलाषी बनकर उस आदेशवाणीका उल्लङ्घन कर रहे हैं और अपनी आत्मीय स्त्रियोंका भी प्रतिपालन नहीं करते। इसी कारण स्त्रियोंकी दुर्गति हो रही है, दूसरोंके दासत्वकी फजीहतसे स्त्रियोंको मुक्त करनेके भीषण अपराधके कारण ही हिन्दू-समाज भयङ्कर नारी-निग्रही (स्त्रियोंपर अत्याचार करनेवाला) है—यह युवकोंको समझाया जाता है और युवक भी इसे ध्रुव सत्य मान रहे हैं!

पाश्चात्त्य देशके लोग स्त्रियोंका प्रतिपालन नहीं कर सकते, इसी कारण उनको पुरुषोंके साथ विषम प्रतियोगितामें स्वास्थ्य और चरित्रको नष्ट करनेवाले अर्थोपार्जनसम्बन्धी कार्योंके करनेके लिये बाध्य होना पड़ता है तथा जिसके कारण पुरुष और स्त्रीमें भेद है, जिससे स्त्रीका स्त्रीत्व है, उसी मातृत्वके निरोध करनेके लिये वे बाध्य होती हैं। इसके फलस्वरूप उनके स्नायु विकृत हो जाते हैं—मातृभाव नष्ट हो जाता है, वे भ्रूणहत्या करनेके लिये विवश हो जाती हैं, उनको यही समझकर सन्तोष करना पड़ता है कि पुरुषकी कामवासना चरितार्थ करनेकी सामग्री होकर रहनेमें ही नारी-जीवनकी सफलता है, उनका अन्तिम जीवन कारावासके समान असहाय हो जाता है—बहुतेरी स्त्रियोंकी दातव्य अस्पतालों या कारखानोंमें मृत्यु होती है।

इस सम्मिलित परिवार-प्रथाके द्वारा हम प्रायः सभी स्त्रियोंका आजीवन प्रतिपालन करते रहे। उनके कर्मक्षेत्रको पुरुषके कर्मक्षेत्रसे पृथक् करके हमने पुरुषोंके साथ विषम प्रतियोगिताके कष्टोंसे उन्हें मुक्त किया था। स्वार्थमय (egoistic) कर्म, सारे अर्थोपार्जनके कर्म पुरुषोंके लिये ही थे; परार्थमय (altruistic) कर्म प्रायः स्त्रियोंके ऊपर अवलम्बित थे, प्रायः सभी स्त्रियाँ मातृत्वका उपभोग कर सकती थीं। वन्ध्याएँ और बालविधवाएँ भी, जिनकी संख्या दो-तीन प्रतिशतसे अधिक नहीं होती थी, वे अपने स्वजनोंकी सन्तानका पालन करती थीं और उनकी भक्ति और श्रद्धा प्राप्त करके मातृत्वका उपभोग कर सकती थीं; स्त्रियोंका प्रकृतिप्रदत्त मातृभाव स्वार्थमय अर्थोपार्जनसम्बन्धी कार्योंसे छुटकारा पाकर पूर्ण विकसित होता था और वे उस मातृत्वके अङ्गीभूत परार्थपरता, सेवा-शुश्रूषा तथा स्नेहके शान्तिजलसे सबको सींचकर शान्त और पवित्र करती थीं—सबके जीवनमें अर्थकष्टके होते हुए भी सुख, शान्ति, प्रीति और आनन्द था।

हमलोग दूषित पाश्चात्त्यशिक्षाके फलरूपमें—व्यक्तिगत स्वाधीनताके नामसे अपने देशमें प्रचलित सारे विधि-निषेधोंकी अवज्ञा करते हैं तथा इस बातपर हमें गर्व होता है कि हम पुराने कुसंस्कारोंका त्याग कर रहे हैं। हम भूल जाते हैं कि इन विधि-निषेधोंमेंसे अधिकांश हमारे दीर्घ जातीय जीवनके अनुभवसे उत्पन्न हुए हैं और वे हमारे कर्त्तव्यको बतलाते हैं। अतएव इन विधि-निषेधोंकी उपेक्षा करके हम अपने कर्त्तव्योंकी ओरसे आँखें मूँद लेते हैं। हम सभी जिस वस्तुको प्राप्त करने योग्य समझते हैं, उसको पूर्णतः प्राप्त करना चाहते हैं; किन्तु हमारे लिये प्राप्त करनेयोग्य वस्तु क्या है, हमारा अधिकार क्या और कितना है, विरोधी अधिकारोंका सामञ्जस्य किस प्रकार हो सकता है—इसका कोई स्थिर सिद्धान्त नहीं। हमारे लिये देय (ऋण) कितना और क्या है, इस ओरसे भी हम आँखें मूँदे हुए हैं। अतएव क्या राजनीतिक क्षेत्रमें, क्या समाजमें, क्या घरमें—सर्वत्र ही अशान्ति, विरोध और मनमानी देखी जाती है। हम नहीं विचारते कि घरमें, अपने परिवारमें, प्रत्येक अपने-अपने अधिकारको पूर्णतः प्राप्त करना चाहे तो कोई उसे प्राप्त न कर सकेगा; इससे केवल विरोध, मनमानी और अशान्ति ही पैदा होगी। ऐसा ही करनेके कारण प्रायः सम्मिलित परिवार टूटते जा रहे हैं; और इससे सबकी, विशेषतः स्त्रियोंकी दुर्दशा बढ़ती जा रही है तथा इसका और भी बढ़ना अनिवार्य है। इसी कारण सम्मिलित परिवार सबके सुख, शान्ति और प्रेमका आधार न बनकर मनोमालिन्य, द्वेष और कलहके मूलस्रोतमें परिणत हो गया है। इसी बीचमें माता-पिता और सन्तानका प्रेम-सम्बन्ध भी विषाक्त हो गया है, बहुतेरे माता-पिताओंके हृदय सन्तानके व्यवहारसे व्यथित हो रहे हैं। आत्मीय स्वजनोंके साथ व्यवहार करनेमें हमें अपने अधिकारका खयाल न करके यही देखना पड़ता है कि घरमें प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्त्तव्यका पालन करता है या नहीं, दूसरोंका जो हक है वह चुकाया गया या नहीं—और उसे चुकानेके लिये यत्नशील होना पड़ता है; ऐसा करनेसे प्रायः अपने अधिकारकी भी कोई विशेष हानि नहीं होती तथा परिवारके सब लोगोंकी भक्ति, श्रद्धा, प्रेम और सहायता अधिक रूपमें प्राप्त होती है—इस दृष्टिसे अनेक स्थलोंमें वास्तविक लाभ ही होता है। ऐसा करनेसे तथा करनेकी सबको

शिक्षा देनेसे सम्मिलित-परिवार-प्रथाकी पुनः प्रतिष्ठा सहज ही हो सकती है; उसकी सारी सुविधाएँ, सारे शुभ फल पूर्णरूपेण प्राप्त हो सकते हैं; स्त्रियोंकी दुर्दशा दूर हो सकती है; परिवारके सब लोगोंके सहयोग और चेष्टासे भयानक दारिद्र्य और भविष्यकी अनिश्चितताके कारण होनेवाली दुश्चिन्ताओंके भारसे छुटकारा मिल सकता है तथा जीवनमें शान्ति और प्रेमका उपभोग किया जा सकता है । हम पाश्चात्त्य सभ्यताके व्यामोहमें भूलकर, दूषित पाश्चात्त्य शिक्षाके परिणामस्वरूप तथा जातीय अनुभवकी अवहेलनाके कारण अपने ही द्वारा खोदे हुए कुएँमें गिरते जा रहे हैं, उन्नतिके नामसे रसातलकी ओर चले जा रहे हैं ।

व्यक्तिगत स्वाधीनताके लिये प्रयास करनेवाले मनुष्य अपने कर्त्तव्योंकी ओर ध्यान न देकर केवल अपने अधिकार और स्वाधीनताका पूर्ण मात्रामें उपभोग करनेकी चेष्टा करते हैं; इसी कारण हमारी चारों ओर दुर्गति हो रही है, यह उनकी समझमें नहीं आता ! इटलीके स्वातन्त्र्य-युद्धके नेता, स्थितप्रज्ञ और जगत्पूजित वीर महात्मा जोज़ेफ़ मैज़िनी (Guiesppe Mazzini) की 'The Duties of Man' (मनुष्यके कर्त्तव्य) नामक पुस्तकके पढ़नेसे, जिसकी गणना जगत्‌की सर्वश्रेष्ठ पुस्तकोंमें है, ज्ञात होता है कि जनताकी कर्त्तव्यपरायणतासे ही उनका अधिकार सुरक्षित होता है, केवल अधिकारकी ओर दृष्टि रखकर कार्य करनेसे अधिकार सुरक्षित नहीं होता—(Rights cannot exist except as a consequence of duties fulfilled.) ८०-९० वर्ष पूर्वकी इटलीकी अवस्था और हमारी वर्तमान अवस्थामें विशेष सादृश्य पाया जाता है । मैज़िनीने आजीवन देशकी स्वतन्त्रताके लिये युद्ध किया था । देशकी उन्नतिके लिये मुख्यतः कर्त्तव्यपरायणताकी ही आवश्यकता है, अधिकारको दृष्टिमें रखकर कार्य करनेसे कोई विशेष लाभ नहीं होता—यह बात उन्होंने बतलायी है । हमारा जातीय अनुभव भी यही बतलाता है ।

हमारे यहाँ बहुत दिनोंतक सारी शिक्षा कर्त्तव्यपरायणताको ही आधार मानकर दी जाती रही । रामायण, महाभारत, पुराणादिमें विभिन्न उपाख्यानोंके द्वारा यह दिखलाया गया है कि अवस्थाविशेषमें कष्ट सहकर किस प्रकार कर्त्तव्यकी रक्षा की जाती है । लोगोंमें कर्त्तव्यपरायणता बढ़ानेके उद्देश्यसे ही इन उपाख्यानोंका प्रचार कथाओं, नाटकों, कहानियों तथा व्रतकथाओंमें किया गया था, जिनसे निरक्षर स्त्री-पुरुष उत्साहित होते थे । यही हमारी जातीय शिक्षा थी और इसीके प्रभावसे इतने दिनोंतक हमारे जीवनमें सुख और शान्ति रही । हम 'शिक्षित' होकर भी अपनी जातीय शिक्षाके महान् उद्देश्यको नहीं समझते; इस शिक्षासे कितना सहजमें कितना लाभ होता है, यह समझनेकी भी शक्ति हममें नहीं है; इस शिक्षाका हम प्रसार नहीं करते; राम, लक्ष्मण, भरत, सीता, सावित्री, दमयन्तीको भोले और अहमक कहते हुए हमें लज्जा नहीं आती । जातीय शिक्षाकी अवहेलना करनेके कारण ही हमारे कर्त्तव्यपालनमें शिथिलता आ गयी है; हमलोग सभी अपने-अपने अधिकारको, जिसे हम अपना समझते हैं, पानेकी ही चेष्टा करते हैं; व्यक्तिगत स्वाधीनताके नाम सब बातोंमें उच्छृङ्खल हो रहे हैं । यही कारण है कि चारों ओर मनमानी, द्वेष-भाव और अशान्ति फैली हुई है; सब प्रकारकी उन्नतिके मूलकारण कर्त्तव्यपरायणताके अभावमें किसी प्रकारकी उन्नति नहीं हो सकती—यह समझनेकी भी शक्ति हममें नहीं है ।

पाश्चात्त्य स्त्रियाँ अपने-अपने अधिकार, सुविधा और स्वाधीनताको ही सामने रखकर उनका जो वास्तविक अधिकार है—जिसके उपभोगके लिये उनके सारे अङ्ग गठित हैं और लालायित रहते हैं, उसी मातृत्वसे क्रमशः वञ्चित होती जा रही हैं, इससे उनके स्नायु विकृत होते जा रहे हैं और जीवन अशान्त हो रहा है—जीवनमें केवल विलासिता और क्षणिक उत्तेजना ही उनके लिये आनन्दकी वस्तु रह गयी है । क्षणस्थायी कामवासनाके द्वारा उत्पन्न मोहको ही वे प्रेम समझ रही हैं, पुरुषोंको शान्ति प्रदान करनेकी सामर्थ्य भी उनकी सुप्त होती जा रही है, शान्तिदायिनी होनेके बदले वे शान्तिनाशिनी बन रही हैं—सबका अन्तिम जीवन असहाय बन रहा है । इसके बदलेमें उन्होंने प्राप्त की है चरित्र और स्वास्थ्यका नाश करनेवाली नाना प्रकारकी दूसरोंकी गुलामी । हमलोग स्त्रियोंकी उन्नतिकी कामनासे उन्हें इसी घृणित गुलामीके अधिकारको दिलानेके लिये व्यस्त हो रहे हैं और सब प्रकारसे पाश्चात्त्य प्रथाका अनुकरण करनेके लिये चेष्टा कर रहे हैं ! पाश्चात्त्य प्रथाका अनुसरण करनेसे उन्हें और भी कितने प्रकारके दुःख भोगने पड़ते हैं तथा हमारी स्त्रियोंको उसकी अपेक्षा कितना अधिक दुःख भोग करना पड़ेगा—इस बातको हम आगे दिखाते हैं ।

पाश्चात्य देशोंके पुरुष अपने समाजगठन और जीवनादर्शके दोषसे यौवनारम्भके बाद भी बहुत दिनोंतक अविवाहित रहते हैं, बहुतेरे तो विवाह ही नहीं करते। इसीलिये हमारे देशके अनेकों सुधारक युवकोंको पाश्चात्य देशका अनुयायी बननेका उपदेश देते हैं। वे कहते हैं कि जबतक स्त्री-पुत्रादिके सम्यक् प्रतिपालनकी सामर्थ्य न हो जाय तबतक किसीको भी विवाह करना उचित नहीं। युवकोंने इस उपदेशवाणीको शिरोधार्य कर लिया है। यही कारण है कि अर्थसम्पन्न पिताओंके पुत्र भी यौवनारम्भके बहुत दिन बादतक विवाह करनेके लिये अनिच्छुक दीख पड़ते हैं। उन्होंने अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त की है, अंग्रेजी उपन्यासादि पढ़ते हैं, पाश्चात्योंके भोग-विलासकी अधिकता तथा नाना प्रकारके बहुव्ययसाध्य आमोद-प्रमोदके वर्णन पढ़ते हैं तथा उसी प्रकारके आमोद-प्रमोदका उपभोग करनेकी इच्छा भी उनमें बढ़ती है। धनी पिता भी बहुधा अपनी सामर्थ्यके बाहर खर्च किया करते हैं। यदि न करें तो युवक उन्हें कृपण, बूढ़ा बंदर (Old fool) समझें। इधर युवक देखते हैं कि पिताकी मृत्युके बाद अपने हिस्सेमें आनेवाले धनसे, पिता भी जिस प्रकार व्यय करते आ रहे थे, जिस अर्थसम्पन्न दशामें उनका पालन हुआ था, उस प्रकार व्यय करनेकी सामर्थ्य उनमें नहीं है। अतएव उन्हें सुधारकोंकी उपदेशवाणी अत्यन्त ही सारगर्भित जान पड़ती है। देशमें प्रचलित अल्पावस्थाकी विवाहपद्धतिको वे अत्यन्त मूर्खता और अदूरदर्शितापूर्ण समझते हैं।

उनकी स्त्रियाँ आकर सांसारिक काम—दासी और रसोइयाका काम करें, यह उनको सहन नहीं होता; इस प्रकारके काम करानेमें वे अपनी स्त्रियोंका अपमान समझते हैं। वे चाहते हैं कि उनके नौकर-चाकर, दास-दासी, रसोइया, मोटर, बिजलीकी रोशनी और पंखा हो, उनकी स्त्रियाँ नित्य नये सुन्दर वेष-भूषामें सज्जित रहें, उनके साथ मधुर प्रेमालाप करें, उनके समान ही पढ़ी-लिखी होकर समाचारपत्रोंमें उठाये गये प्रसङ्गोंमें योग दें, नाना प्रकारके उपन्यासादिके चरित्रोंका विश्लेषण करें, कलासम्बन्धी चर्चा करें, थियेटर-बायस्कोप देखने जायँ, इस प्रकार हँसते-खेलते हुए घूमें-फिरें। इसी कारण सभी—यहाँतक कि गरीब क्लर्क भी कन्याओंको अंग्रेजी स्कूलोंमें भेजते हैं, गाना-बजाना सिखलाते हैं, नाचनेकी शिक्षाका भी आरम्भ हो गया है। इस प्रकारकी शिक्षा देनेसे उन्हें गृहकार्यकी शिक्षा प्राप्त करनेका अवसर ही नहीं मिलता, वे गृहकर्मको रसोइया और नौकरके कामके समान हेय कर्म समझते हैं। कन्याके पितादिको खर्च भी अधिक करना पड़ता है, वे दहेजकी कुप्रथा तथा पुत्र-पुत्रीकी शिक्षाके खर्चके कारण दुश्चिन्तासे ग्रस्त होकर किंकर्तव्यविमूढ़ हो रहे हैं। पहले-पहल इस प्रकारकी शिक्षिता कन्याओंका—जब उनकी संख्या नगण्य थी तब—सुपात्रके साथ विवाह अपेक्षाकृत सहज था। इसी कारण स्त्रीशिक्षाकी आवश्यकता समझकर सभी लोग कन्याओंको स्कूल भेजने लगे। इनकी शिक्षा भी प्रायः बालकोंके समान ही होती है। परन्तु अब बी॰ ए॰, एम्॰ ए॰ पास कन्याओंके लिये सुपात्र वर नहीं मिलता, बल्कि उनके लिये वरका मिलना और भी कठिन हो गया है। इसी कारण उनको युवकोंके चित्तका आकर्षण करनेवाली विद्याओंकी शिक्षा देनेकी आवश्यकता हो रही है। गाने-बजानेकी शिक्षा भी दी जाती है। इस गरीब देशमें कितनी स्त्रियाँ आगे संगीत-विद्याकी चर्चा करनेका अवकाश और सुविधा पा सकती हैं, इसको कोई नहीं देखता। इससे भी कन्याओंके विवाहमें कोई सुविधा नहीं हो रही है और न हो सकती है—इसका कोई विचार नहीं करता। इस बीचमें ही कन्याओंके विवाहकी अवस्था बीससे अधिक हो गयी है—थोड़े ही दिनोंमें पाश्चात्य देशोंकी अपेक्षा और भी अधिक उम्रवाली कन्याओंका विवाह न हो सकेगा, बहुतोंको सदा कुमारी ही रहना पड़ेगा। पाश्चात्य स्त्रियोंके समान अपने-अपने लिये वर खोजनेकी चेष्टामें भटकना पड़ेगा। उस समय इनकी क्या अवस्था होगी, यह आगे दिखलाया जायगा।

जिस शिक्षाके लिये कन्याएँ स्कूल भेजी जाती हैं, उसके शतांशकी ही आवश्यकता अगले जीवनमें पड़ती है। किन्तु उसके कारण बहुतोंको शारीरिक श्रमसे विमुख होना पड़ता है और स्वास्थ्यसे हाथ धोना पड़ता है। बहुतोंको आशा होती है कि वे अपना जीविकोपार्जन कर सकेंगी। वह जीविकोपार्जन सदुपायोंसे कर पाना कितना कठिन है और कितनी अल्पसंख्यक कन्याओंको इस प्रकारका अवसर मिलता है तथा वह भी उनके लिये कितना कष्टप्रद होता है, इसका कोई भी विचार नहीं करता। परन्तु शिक्षापर अत्यधिक व्यय हो जानेके कारण, घरके मालिककी मृत्युके उपरान्त स्त्री-पुत्र-कन्यादि राहके भिखारी हो जाते हैं। अपने आत्मीय (सम्बन्धी) जनोंकी सहायता पानेकी आशा

भी निर्मूल होती आ रही है और हो गयी है। अपनी बाहरी मान-मर्यादाके बचाये रखनेकी चेष्टा ही प्रायः सबके लिये कष्टप्रद हो रही है। देशके साधारण लोगोंकी आर्थिक अवस्था और अर्थोपार्जनकी स्थितिको देखकर ही निश्चित किया जाता है कि हमें किस प्रकार खर्च करना चाहिये। इस प्रकारका ज्ञान हममेंसे बहुत कम लोगोंको है। केवल अपनी तात्कालिक आयको देखकर व्यय करना तथा तदनुकूल आराम और भोग-विलासमें रहना यथार्थमें अपने स्त्री-पुत्रादि-के साथ अन्याय करना है; क्योंकि वे उस प्रकारके आराम और भोगविलासके अभ्यस्त हो जाते हैं और उतना अर्थोपार्जन करना तो उनके लिये असम्भव होता ही है।

उपर्युक्त इन्कमटैक्सकी तालिकासे यह स्पष्ट हो जाता है कि बंगालमें केवल ३९२५१ आदमियोंकी आय १६६ रु० मासिकसे ऊपर है। इनमें अंग्रेज, मारवाड़ी, गुजराती और यहूदियोंका भी समावेश है और इनमेंसे बहुतेरे जीवनके अन्तमें इन्कमटैक्स देना प्रारम्भ करते हैं। कृषकोंकी जमीनसम्बन्धी आयसे यदि और भी चार-पाँच लाख आदमियोंकी आय १६६ रु० मासिकसे अधिक मान लें तो भी ऐसे लोगोंकी संख्या एक प्रतिशतसे अधिक न होगी। सारे बंगालमें केवल ७०० जमींदार ऐसे होंगे जिनकी वार्षिक आय दस हजार रुपयेसे अधिक होगी। अतएव अंग्रेजी-शिक्षित समुदाय जिस प्रकारका जीवन व्यतीत करना चाहता है, वैसा जीवन व्यतीत करनेमें प्रतिलाख एक आदमी भी समर्थ होगा या नहीं—इसमें सन्देह ही है। अतएव हमारे लिये विषयतृष्णा और व्यसनोंके कम करने-की आवश्यकता हो गयी है; किन्तु दुःखकी बात है कि हम इन्हें क्रमशः बढ़ाते ही जा रहे हैं; और हमारा खर्च भी बराबर बढ़ता जा रहा है। अपनी स्थितिसे अधिक विषय-तृष्णाके बढ़ने और सम्मिलित परिवारसे सहायता पानेकी आशा न रहनेके कारण युवक विवाह करनेकी इच्छा नहीं करते।

परन्तु यौवनारम्भके बाद कुछ समयतक अविवाहित रहनेपर बहुत कम लोग कामोपभोगसे अपनेको बचा सकते हैं। पाश्चात्त्य देशोंमें युवक अविवाहित अवस्थामें क्या करते हैं, और हमारे देशके युवक क्या करनेके लिये बाध्य होंगे—यह बात फ्रांसके जगत्प्रसिद्ध उपन्यासलेखक गी दे मोपाँसाँ (Guy De Maupassant) की 'पुत्र' (Son) नामक कहानीसे जानी जा सकती है। इस पुस्तकमें दो भाइयोंका—जिनमें एक फ्रांसीसी विद्वत्परिषत् (French Academy) का सदस्य और दूसरा राष्ट्रसभा (Senate) का सदस्य है—वार्तालाप दिया गया है। एक आदमी किसी दूसरेसे कहता है कि 'मैंने १८ वर्षसे ४० वर्षकी उम्रवाली २०० से ३०० तक स्त्रियोंके साथ सहवास किया है। कौन कह सकता है कि इनमें एकसे भी मैंने सन्तानोत्पत्ति नहीं की और वह पुत्र दुष्कर्मोंमें आसक्त होकर रास्तेमें या वेश्यालयमें भद्रपुरुषोंकी (अर्थात् हमीं लोगोंकी) चोरी और डकैती नहीं करता; अथवा वह कन्या वेश्यालयमें नहीं गयी या माताके द्वारा घरसे निकाली जानेपर रसोइयाका काम नहीं करती ?' ये दोनों आदमी सभ्य और पदाधिकारी हैं। उन्होंने इतनी नारियोंके साथ सहवास किया है—ऐसा सभी करते और सभी जानते हैं, इसी कारण गी दे मोपाँसाँने इस सम्बन्धमें इस कहानीकी रचना की है। अतएव यौवना-रम्भके बाद बहुत समयतक अविवाहित रहनेसे अनेकों स्त्रियोंके साथ सहवास करना अनिवार्य हो जाता है।

इससे यह ज्ञात हो जाता है कि स्त्रियोंकी अधिक प्रतिष्ठा करनेवाले पाश्चात्यदेशवासी और उनके अनुयायी भारतीय युवक अपनी निजी और स्त्रीकी सम्मिलित चेष्टासे स्त्री-पुत्रादिका सम्यक् पालन करनेमें असमर्थ होनेके कारण विवाह नहीं करते, परन्तु वे स्वच्छन्दतापूर्वक ऐसे कार्य करते हैं जिनके फलस्वरूप अनेकों हतभागिनी स्त्रियोंको अपनी औरस सन्तानका अकेले ही पालन-पोषण करनेके लिये बाध्य होना पड़ता है तथा इससे उन स्त्रियोंको और उन सन्तानोंको भयङ्कर दुर्गति उठानी पड़ती है, उनकी जीविकाके लिये कोई उपाय नहीं रहता, वे भोजन और पथ्यके अभावमें मरती हैं, उन्हें कोई शिक्षा नहीं मिलती, उन्हें चोरी, भिक्षा और वेश्यावृत्ति करनी पड़ती है; परन्तु इन सब बातोंकी ओर देखनेकी आवश्यकता वे नहीं समझते। यह कैसा विलक्षण स्त्रियोंकी प्रतिष्ठाका ज्ञान और अपने कर्तव्यका ज्ञान है!

मुसलमान बहुविवाह करते हैं, हमलोगोंमें भी कुछ लोग करते हैं—इसके लिये हमलोगोंको नारी-निग्रही (स्त्रियोंपर अत्याचार करनेवाला) कहा जाता है। परन्तु इस प्रकार अनेकों स्त्रियोंके साथ सहवाससे स्त्रियोंको जो तदपेक्षा कहीं अधिक कष्ट सहना पड़ता है, इस ओर किसीका ध्यान नहीं जाता। बहुविवाह करनेवाले स्त्रियोंके तथा उनके गर्भसे उत्पन्न हुई सन्तानके पालनका भार लेते हैं, उनकी सम्पत्तिके वे

उत्तराधिकारी बनते हैं । नारियोंकी अधिक प्रतिष्ठा करनेवाले और पुरुष निकलते आ रहे हैं और स्त्री-सन्तानादिके पालनके भारसे मुक्त होकर विलासिताकी ओर बढ़ते चले जा रहे हैं, उनकी अर्थसम्पन्नता इन समस्त हतभागिनी स्त्रियों तथा उनके गर्भसे उत्पन्न हुई सन्तानकी अत्यन्त दुर्गतिका कारण बन रही है—यह बात उन्हें नहीं सूझती ।

दूसरी बात यह है कि इस प्रकार अनेक स्त्रियोंके साथ सहवास होनेसे बहुतोंको यौन व्याधिसे ग्रस्त होना पड़ता है । पाश्चात्योंमें अधिकांश मनुष्य चिरकालतक अविवाहित रहते हैं, इसी कारण वहाँ यौन व्याधियाँ (Venereal diseases) प्रायः देशव्यापी हो रही हैं । कोलम्बसके नाविकोंने अमेरिकाकी आदिम अविवाहितिनियोंके साथ सम्भोग किया था, उसीके फलस्वरूप उपदंश (Syphilis) रोगकी उत्पत्ति हुई–ऐसा अनेक डाक्टरोंका मत है । उन्हींके द्वारा इस रोगका देश-विदेशमें प्रसार हुआ । जहाँ पाश्चात्य लोगोंका शुभागमन होता है, वहीं इस रोगका दर्शन और वृद्धि होती है । यह पाश्चात्त्य सभ्यताकी देन है । इतने ही दिनोंमें हमारे देशमें इसका इतना विस्तार हो गया है । इसी प्रकार अधिक समयतक विवाह न करनेसे इस भीषण रोगका और भी द्रुतगतिसे प्रसार होना अनिवार्य है । सुप्रसिद्ध जर्मन डाक्टर ब्लॉक (Bloch) साहबने अपने 'उपदंशका इतिहास' नामक पुस्तकमें लिखा है कि 'प्रशामें प्रतिदिन एक लाख ऐसी स्त्रियाँ हैं, जो संक्रामक यौन व्याधिसे ग्रस्त हैं; तथा जिनका विवाह तीस वर्षकी अवस्थाके बाद होता है, उनमेंसे प्रत्येकको दो बार प्रमेह रोगका शिकार होना पड़ा है । तथा उनमें प्रति चार-पाँच आदमियोंमेंसे एकको उपदंश रोगसे ग्रस्त होना पड़ा है ।' हैवलॉक एलिस साहब (Havelock Ellis) अपनी 'Psychology of Sex' नामक प्रसिद्ध पुस्तकमें लिखते हैं कि 'केवल न्यूयार्क शहरमें प्रतिवर्ष २२५०० आदमी यौन व्याधिसे ग्रस्त रहते हैं ।' उसी शहरके चर्मरोगके एक प्रधान डाक्टर कहते हैं कि 'कुलीन परिवारके प्रत्येक तीन लड़कोंमेंसे एकको उपदंश रोग हुआ है । जर्मनीमें प्रतिवर्ष आठ लाख आदमी यौन व्याधिसे ग्रस्त होते हैं तथा बड़े-बड़े विश्वविद्यालयोंके छात्रोंमें २५ प्रतिशत प्रतिसत्र (term) में यौन रोगसे ग्रस्त होते हैं । प्रतिवर्ष जर्मन सैनिकोंमें यौन रोगसे ग्रस्त होनेके कारण जितने आदमी बेकार हो जाते हैं, उनकी संख्या १८७० ई० के जर्मन-फ्रांस-युद्धके घायलोंकी संख्याका तृतीयांश है । तथापि जर्मन सैनिकोंमें अंग्रेज सैनिकोंकी अपेक्षा कम लोग यौन रोगसे ग्रस्त होते हैं ।' भारतवर्षकी देशी पलटनमें जितने लोगोंको यौन व्याधि होती है, उससे दस गुना अधिक गोरे सैनिकोंको होती है ।

एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका (Encyclopoedia Britannica) में Prostitution (व्यभिचार) के सम्बन्धमें जो लिखा गया है, उससे स्पष्ट है कि प्रशामें, जहाँ सबसे अधिक प्रयत्न करके तथ्य-संग्रह किया गया है, प्रायः पाँच लाख आदमी प्रतिवर्ष यौन व्याधिसे ग्रस्त होते हैं । जेम्स मर्चेंट (James Merchant) कृत 'Master Problem' नामक ग्रन्थमें लिखा है कि डा० डगलस ह्वाइट (Dr. Douglas White) ने सन् १९१८ के Royal Commission में कहा था कि केवल लंदन शहरमें प्रतिवर्ष १२२५०० आदमियोंको नयी यौन व्याधि होती है, इँगलैंड और स्कॉटलैंडमें प्रतिवर्ष ८००००० मनुष्य यौन व्याधियोंसे पीड़ित होते हैं, जिनमें ११४००० उपदंशके रोगी होते हैं । हैवलॉक एलिस लिखते हैं कि उड रगल्स (Wood Ruggles) के मतसे अमेरिकामें सवा लाख मनुष्योंमें प्रतिशत ७५ से ८० तक प्रमेह रोगसे ग्रस्त हैं । लैंसलट लौटन (Lancelot Lowton) साहब अपनी 'Russian Revolution' नामक पुस्तकमें लिखते हैं कि रूस देशके सभी आदमी उपदंश रोगसे ग्रस्त हैं । यही बात वहाँके स्वास्थ्यविभागके प्रधान, डा० सिमेस्को (Dr. Siemasko) कहते हैं, तथा सरकारी कागज़ातसे भी यही बात प्रकट होती है । अधिक उम्रतक अविवाहित रहनेका अवश्यम्भावी परिणाम यौन व्याधिसे ग्रस्त होना है । इसी अवश्यम्भावी फलका उपभोग कराकर हमारे देशकी उन्नति होगी, स्वास्थ्यकी उन्नति होगी, स्त्रियोंकी उन्नति होगी—यही हमारे युवकोंको समझाया जा रहा है । युवक भी इसी आशाका पोषण कर रहे हैं !

सभी विषयोंमें रूस और अमेरिकाके युक्तप्रदेशका अनुकरण करना ही उन्नतिका एकमात्र उपाय है, यही सुधारक लोग समझ रहे हैं और वहाँकी प्रथाका अनुकरण करनेकी इच्छा कर रहे हैं । परन्तु ये ही दोनों देश सब देशोंकी अपेक्षा अधिक यौन व्याधिसे ग्रस्त हैं । इधर हमारे देशमें भी यौन व्याधि जोरोंसे बढ़ रही है । श्रद्धेय डा० रमेशचन्द्र रायने स्वास्थ्यके सम्बन्धमें, विशेषतः स्कूल और

कालेजके छात्रोंके स्वास्थ्यके सम्बन्धमें, विशेष अनुसन्धान किया है। वह कहते हैं कि कालेजके छात्रोंमें प्रतिशत ३० से ऊपर छात्र इस रोगके शिकार हो रहे हैं। यौन व्याधिके समान भीषण रोग कोई नहीं है। यह संक्रामक रोग है और उपदंशका दुष्परिणाम वंशपरम्परामें संक्रामित होता है।

कुछ लोग समझते हैं कि Salversan injection द्वारा उपदंश रोगकी चिकित्सा सहजसाध्य हो गयी है, किन्तु वास्तविक बात ऐसी नहीं है। इस इंजेक्शनके बाद भी ५–६ महीनेके अन्तरसे बार-बार इंजेक्शन लेना पड़ता है तथा बहुत समयतक—तीन-चार वर्षतक दूसरी औषधोंका सेवन करना पड़ता है तथा इस बीचमें स्त्रीगमन करनेसे सन्तानको भी इसका फल भोगना पड़ता है। फ्रांसीसी विद्वत्परिषद्के सदस्य यूगेन ब्रिये (Eugene Brieux) साहबकृत 'Damaged Goods' (जिसका फिल्म दिखलाया जाता है) के पढ़नेसे ज्ञात होता है कि इसका दुष्परिणाम कितना चिरस्थायी होता है तथा सन्तानको इसका कैसा कुफल भोगना पड़ता है और इससे किस प्रकार पारिवारिक सुख-स्वातन्त्र्य नष्ट हो जाता है। प्रसिद्ध फ्रांसीसी डाक्टर डाकले (Dachalet) साहब कहते हैं कि सारे रोगोंमें उपदंशके समान सांघातिक कोई रोग नहीं होता। हैवलक एलिस साहब लिखते हैं कि जैसे-जैसे दिन बीतते जाते हैं, इसका विष शरीरमें भिनता जाता है, और इसका दुष्परिणाम कब और कैसे प्रकट होगा, यह नहीं कहा जा सकता। और यद्यपि इसका कोई बाहरी लक्षण नहीं दीख पड़ता, तथापि यह निश्चित नहीं किया जा सकता कि इससे कब बिल्कुल छुटकारा मिल जायगा। इस रोगका संक्रमण केवल सहवाससे स्त्रीमें और उससे उत्पन्न सन्तानमें ही नहीं होता, बल्कि स्पर्श और उच्छिष्ट पात्रके द्वारा भी यह रोग दूसरे लोगोंमें संक्रामित होता है। इस रोगसे ग्रस्त पुरुष और उनकी सन्तान बहुधा मूक, बधिर, दृष्टिहीन, बुद्धिहीन, मृगीरोग, पक्षाघात, उन्माद, कुष्ठ आदि महाव्याधियोंसे ग्रस्त होती हैं। बहुतेरे स्वास्थ्यहीन तथा अनेकों दुःसाध्य रोगोंसे ग्रस्त हो जाते हैं, प्रजननशक्तिका लोप या नाश हो जाता है; गर्भस्रावकी अधिकता भी इसी रोगका फल है। इन सब कारणोंसे उनका और उनके सन्तानादिका जीवन अत्यन्त अशान्ति और दुश्चिन्तासे युक्त हो जाता है। मैंने एक आदमीको देखा है जो जीवनमें केवल एक बार वेश्यागमन करनेके कारण इस रोगका शिकार हो गये हैं। चिकित्सा करानेके बाद उन्होंने समझ लिया था कि वह रोगमुक्त हो गये, लेकिन कुछ दिनके बाद क्रमशः उनकी श्रवण और दृष्टि-शक्ति इतनी क्षीण हो गयी कि उन्हें असमयमें ही कंपनीकी नौकरीसे छुट्टी लेनी पड़ी। और भी एक आदमी जो यौवनारम्भमें ही बहुत उच्छृङ्खल थे, एक बार २२-२३ वर्षकी उम्रमें इस रोगसे ग्रस्त हुए, फिर स्वस्थ होनेके बाद उन्होंने वेश्यागमन नहीं किया; लेकिन ५०–५५ वर्षकी अवस्थामें वह पागल हो गये और ८–१० वर्ष पागल रहनेके बाद मर गये। डाक्टरोंने बतलाया कि मस्तिष्कमें उपदंशकी उत्कटता (Syphilitic Eruption) के कारण ही वह पागल हुए थे। थोड़ी उम्रके जितने पक्षाघातके रोगी मिलते हैं, उनमें ९० प्रतिशत इसी भयानक रोगका फल भोगते हैं। १८११ ई० के Census Report Vol. 1, Part 1 के पृष्ठ १४६ में लिखा है कि भारतकी अपेक्षा इँगलैंडमें प्रतिलाख १८ गुने अधिक पागल हैं। इन्साइक्लोपीडिया ऑव् सोशल रिफार्म (Encyclopoedia of Social Reform) नामक पुस्तकमें लिखा है कि १८९८ से १९०८ ई० तक इँगलैंडमें पागलोंकी संख्यामें प्रतिशत २३७ वृद्धि हुई है। इस प्रकार पागलोंकी संख्यावृद्धिका कारण अधिकांशमें उपदंश रोग ही है, यह बात स्वीकार की जा सकती है। रेवरेंड उशर (Rev. Usher) ने अपनी 'Neo-Malthusianism' नामक पुस्तकमें लिखा है कि 'विवाहकी सुविधा न होनेके कारण समाजमें वेश्यावृत्ति और यौन व्याधिका अत्यन्त प्रसार हो रहा है। इस समय ६० प्रतिशत आदमी उपदंश रोगका फल भोगते हैं, बहुतोंके मतसे यह संख्या ७५ प्रतिशत है। हैवलक एलिस साहब लिखते हैं कि अंग्रेज-जातिके स्वास्थ्यकी अवनतिका मूल कारण यही उपदंश रोग है। लेफ्टिनेंट-कर्नल लामकिन साहब लंदनके सैनिकोंके यौन व्याधिके अस्पतालके प्रधान हैं। वह कहते हैं कि अंग्रेजोंकी स्वास्थ्यसम्बन्धी अवनतिका मूल कारण यह यौन रोग है, इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। पति और पुत्र जब इस रोगसे ग्रस्त रहते हैं, तब स्त्रीको, माताको कैसी मर्मान्तक व्यथा होती है, गरीबीकी हालतमें कैसी भीषण दुर्गतिका सामना करना पड़ता है—क्या युवक-युवतिवृन्द एक बार विचार करेंगे ?

पाश्चात्य देशोंमें इस भयानक रोगकी वृद्धि और दुष्परिणामको रोकनेके उद्देश्यसे अनेकों सरकारी तथा दातव्य औषधालय हैं। वेश्यागमनके पश्चात् किस प्रक्रियाका

अवलम्बन करना चाहिये, इसके प्रचारार्थ अनेकों स्थानोंपर विज्ञापन दिये जाते हैं—जो ओषधियाँ सेवन करनी चाहिये, वे भी बहुत जगह मुफ्त मिलती हैं। इन बातोंमें कई करोड़ रुपये प्रतिवर्ष व्यय होते हैं। हमारे देशमें इसके लिये कोई व्यवस्था नहीं—किसी अस्पतालमें Salversan Injection मुफ्त देनेकी व्यवस्था नहीं है। अर्थाभावके कारण सुदूर भविष्यमें भी इस प्रकारकी व्यवस्थाकी कम ही आशा की जा सकती है। साधारण लोगोंमें इस भयङ्कर रोगकी चिकित्सा करानेकी सामर्थ्य भी नहीं होती, यह हम समझते हैं। इसकी ओषधि बहुत समयतक सेवन की जाती है और उसमें बहुत व्यय होता है। अतएव थोड़े ही दिनोंमें इस भयानक संक्रामक रोगका विस्तार होगा ही और वंशपरम्परातक इसका फल लोग भोगेंगे। हमारा देश पाश्चात्त्य देशोंके समान स्वास्थ्यप्रद नहीं है। मलेरिया, अजीर्ण, कालाज्वर, रक्तपित्त, पेशाबकी तकलीफ, बेरीबेरी, हैजा, चेचक प्रभृति व्याधियाँ बराबर हमारे देशमें होती रहती हैं। इनके अतिरिक्त इस भयानक व्याधिके देशव्यापी होनेपर तथा इसके द्वारा अन्य अनेकों दुःसाध्य रोगोंके कारण इस देशकी जो अत्यन्त स्वास्थ्योन्नति होगी—लोग साँडोंके समान बलशाली हो जायँगे, यह बात केवल कुसंस्कारग्रस्त दृष्टि होनेके कारण प्राचीन पथके अनुयायियोंको नहीं सूझती! स्त्रियाँ भी इस प्रकारके रोगग्रस्त पुरुषोंके सहवाससे इसी प्रकारके रोगोंसे ग्रस्त हो जायँगी और इसी प्रकारके रोगोंसे ग्रस्त सन्तानका पालन करती हुई परम सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करेंगी !!

प्रेम और कर्त्तव्यवश पति और सन्तानकी सेवा करनेसे हृदयमें सुख और तृप्ति होती है, इसी कारण बहुतसे बड़े आदमियोंकी स्त्रियाँ भी अपने हाथसे अपने पति और सन्तानके लिये भोजन बनाती हैं, उनकी सेवा करती हैं; अर्थके लिये वैसा करनेमें उन्हें तृप्ति नहीं होती, बल्कि लाञ्छना और कष्ट ही होता। युवकोंके विवाह न करनेपर ९०-९५ प्रतिशत युवतियोंको पति-पुत्रकी सेवा और भोजन बनानेके स्थानमें दूसरोंकी गुलामी करनी पड़ेगी—कारखानोंमें मजदूरी, दूसरोंकी दासीका काम, रसोइयाका काम करना पड़ेगा; अर्थके लिये शरीर बेचना पड़ेगा; इसके अतिरिक्त अन्य किसी उपायसे एक प्रतिशत स्त्रियोंके लिये भी जीविकोपार्जनमें समर्थ होना दुष्कर है। हमारे देशमें सैकड़े पीछे ७६ मनुष्य कृषिपर अवलम्बित रहते हैं, ७ व्यवसायसे जीवननिर्वाह करते हैं, ८ शिल्पसे; १.६ से २ तक डाक्टरी, वकालत, इंजीनियरिंग प्रभृतिसे, १.६ से २ तक कंपनीकी नौकरीसे पेट पालते हैं; शेष नौकरी, भिक्षा अथवा वेश्यावृत्तिसे जीवनयापन करते हैं। (देखिये Census Report 1921,Vol.i,chap. xii.)

नयी रोशनीके लोग समझते हैं और युवकोंको समझाते हैं कि जो ब्राह्मणलोग समर्थ होते हुए भी अपने भरण-पोषणके लिये केवल भिक्षा और दूसरेके दिये हुए दानके ऊपर ही निर्भर करते थे और अर्थोपार्जनके सभी अच्छे उपायोंको—व्यवसाय, वाणिज्य, शिल्प, कृषि प्रभृतिको अन्य लोगोंके हाथोंमें दे रक्खा था, वे ही निम्नजातियों और स्त्रियोंके प्रति घोर अत्याचारी हैं, उन ब्राह्मणोंने जिसमें अपनी सुविधा देखी वैसा ही किया। इसी कारण उनके रचे हुए शास्त्रोंका नाम सुनते ही नयी रोशनीवाले बौखला उठते हैं। उनकी समझमें नहीं आता कि हमारे सुदीर्घ जातीय जीवनका अनुभव शास्त्रोंमें निहित है। हमारी कालपर भी विजय प्राप्त करनेवाली सभ्यताकी जीवनीशक्ति हमारे समाजगठनमें निहित है तथा जिन महापुरुषोंने गीता, उपनिषद्, योगशास्त्रादिका प्रणयन किया था, जिनकी ज्ञानगरिमाके सामने बड़े-बड़े पाश्चात्त्य पण्डित नतमस्तक हो रहे हैं—हमारे समाजका गठन उन्हीं महापुरुषोंके द्वारा स्थापित और अनुमोदित हुआ है। जिनका अद्वैतज्ञान विकसित हुआ था, वही महापुरुष नारियोंके प्रति अत्याचारी हैं—इस प्रकारकी बातें हमारे युवकोंको सिखलायी जाती हैं। और जिन लोगोंमें ७५–८० प्रतिशत यौन व्याधिसे ग्रस्त हैं तथा जिनके ये रोग स्त्रियों और उनकी सन्तानमें संक्रामित होकर उनका कल्याण-साधन करते हैं—जो लोग अपनी काम-सहचरी स्त्री और अल्पवयवाली कन्याओंके अतिरिक्त और किसी स्त्रीको घरमें स्थान नहीं देते—वे ही पाश्चात्त्य देशवासी स्त्रियोंके बन्धु और उनके स्वत्वप्रसारक हैं तथा उन्हींके मार्गका अनुसरण करके स्त्रियोंकी और देशकी उन्नति होगी—यह सुधारकोंका स्थिर सिद्धान्त हो गया है और इसे ही कार्यान्वित करनेके लिये हमारे शिक्षित समाजने कमर कस ली है।

अन्नदोष

(लेखक—पं० श्रीद्वारकाप्रसादजी चतुर्वेदी)

कल्याणके १३ वें भागकी १२ वीं संख्यामें श्री-भगवतीप्रसाद सिंहजी एम्० ए० के लिखे 'अन्नदोष' शीर्षक लेखको पढ़कर हमें परम सन्तोष हुआ। भारतकी आधुनिक रेजीडेंशल यूनिवर्सिटियोंके स्नातकोंद्वारा आजकल आर्यसभ्यता एवं आर्यसंस्कृतिके प्रति बात-बातमें घृणा और अश्रद्धा प्रकट की जाती है। किन्तु लेखक महोदय विश्वविद्यालयके डिग्रीधारी होनेपर भी आर्यसभ्यता, आर्यसंस्कृति और प्राचीन आचार-विचारके पक्के समर्थक हैं। अतः हम-जैसे 'लकीरके फ़कीरों' और 'दकियानूसी' विचारवालोंके लिये यह परम सन्तोषकी बात है। 'कल्याण' वैसे तो भगवद्भक्तिका प्रवाह प्रवाहित कर अनेक भारतीयोंके अन्तस्तलमें भगवद्भक्तिका अङ्कुर उत्पन्न कर ही रहा है; साथ ही विश्वविद्यालयके स्नातकोंके ऐसे लेख प्रकाशित करनेका गौरव भी इसी पत्रको प्राप्त है। श्रीमनुभगवान्के मतानुसार विप्रकी मृत्युके कारणोंमें एक कारण अन्नदोष भी है। यथा—

अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात्।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति॥

अन्नदोषकी व्याख्या जो विद्वान् लेखकने की है, वह तो ठीक है ही। किन्तु उस व्याख्याके अतिरिक्त अन्नदोष और भी अनेक प्रकारके हैं। इस जमानेमें हम कहें तो कह सकते हैं कि निर्दोष अन्नका मिलना असम्भव नहीं तो अति कष्टसाध्य तो अवश्य ही है। कारण यह है कि इस अर्थप्रधान युगमें लोग अन्नके गुणकी ओर ध्यान न देकर अन्नके परिमाणकी ओर अधिक आकृष्ट होते हैं। उनको यह पसंद नहीं कि उनके खेतोंमें कम वजनका निर्दोष अन्न पैदा हो। प्रत्युत वे वजनमें अधिक और दोषोंसे पूर्ण अन्न पैदा करनेको लालायित रहते हैं। जिस जमानेमें इस देशमें गोधनका सर्वाधिक महत्त्व समझा जाता था और यहाँके यवन बादशाह भी गोधनके महत्त्वको समझ गोरक्षाका ऐलान करते थे, उस जमानेमें गोमयकी खादसे तैयार किये खेतोंमें जो अन्न उत्पन्न होता था, उसको खानेवाले मनुष्य केवल शरीरसे हृष्ट-पुष्ट ही नहीं होते थे, प्रत्युत उनके विचारोंमें पवित्रता भी होती थी और शास्त्रीय आदेशोंपर उनका अटल विश्वास होता था।

किन्तु जबसे इस देशमें गोवंशका ह्रास प्रारम्भ हुआ और गोमयकी खादके स्थानको हड्डियों और मनुष्योंके मल-मूत्रने अधिकृत कर लिया, तबसे खेतोंमें अन्नकी पैदावार तो अवश्य बढ़ गयी, किन्तु अन्नमें वे गुण जो पहले थे नामके लिये भी न रहे। उधर गोवंशका ह्रास हुआ और इधर भारतीय क्षेत्रोंको अपवित्र करनेके लिये उनके समीपकी भूमिमें लाखों मुर्दे दफनाकर क्षेत्रोंकी उत्पादन-शक्ति दूषित कर दी गयी। इस दूषित शक्तिसे अन्न दोषपूर्ण उत्पन्न होने लगा, जिसका प्रत्यक्ष फल यह है कि हमारा भारतवर्ष यावत् संक्रामक रोगोंका आलय बन गया है। जिन रोगोंका कभी नामतक लोगोंने नहीं सुना था, उन रोगोंसे आज गाँव-के-गाँव नष्ट हो रहे हैं। भारतीय जनतामें रोगोंकी वृद्धिके साथ-साथ इस दूषित अन्नने लोगोंकी मानसिक शक्तिको घटा दिया। इस ह्राससे ही ये लोग अनुकरणप्रिय बन गये। विचार, विवेक, दूरदर्शिता, पूर्वपुरुषोंके द्वारा अनुष्ठित आचार-विचारोंके प्रति श्रद्धासे ये लोग सर्वथा वञ्चित हो गये। हमारे मनु, याज्ञवल्क्य, अत्रि, अङ्गिरा, शङ्ख, लिखित आदि स्मृतिकार जो कुछ लिख गये हैं, उनमें इनको सिवा दोषोंके हितकी एक भी बात नहीं सूझ पड़ती। रस्किन, टालस्टाय, इमरसन आदि पाश्चात्योंका मत इन लोगोंको सर्वथा ग्राह्य है, पर भारतीय त्रिकालदर्शी ऋषि-मुनियोंका ग्राह्य नहीं है। इन सब विकृतियोंके मूलमें अन्नदोष ही

तो है। अपने देशकी वस्तुओंसे, आचारों-विचारोंसे, आर्यसंस्कृतिसे भारतीय शिक्षितंमन्य जनतामें आज जो घृणा एवं अश्रद्धा उत्पन्न हो रही है, उसका मूलकारण अन्नदोष ही है। क्षेत्रोंमें उत्पन्न दूषित अन्नसे बचनेके लिये प्राचीन कालके ऋषि-महर्षिगण फल-मूलोंके अतिरिक्त उस अन्नको काममें लाते थे, जो विना बोये-जोते क्षेत्रोंमें स्वयं उत्पन्न होते थे। मुनिगण शिलोञ्छवृत्तिसे प्राप्त यवादिको प्रथम गौको खिलाते थे और जब यव गोमयमें निकलते, तब उनको स्वच्छ कर अपने काममें लाते थे। शुद्ध अन्नका भारतके ऋषि-मुनियोंको बड़ा विचार रखना पड़ता था। तभी वे अपने अप्रतिम बुद्धिबलसे जो कुछ लिख गये हैं, उसका महत्त्व आज भी ज्यों-का-त्यों बना हुआ है। भारतवासियोंके भारतीयपनके नाश होनेका प्रधान कारण इस युगमें अन्नदोष ही है। देशके, जातिके और भविष्यके वंशधरोंके कल्याणके लिये निर्दोष अन्न प्राप्त करना प्रत्येक भारतहितैषी एवं जातिहितैषीका मुख्य कर्तव्य होना चाहिये।

विद्वान् लेखकने प्रसङ्गवश भोजनके समय दृष्टि-दोषका भी अपने लेखमें उल्लेख किया है। वैष्णवोंमें पर्देके भीतर बैठकर प्रसाद पानेकी प्रथाका मुख्य हेतु अवाञ्छनीयोंकी दृष्टिके दोषको बचाना ही तो है। इन पङ्क्तियोंके क्षुद्र लेखकको एक बार दृष्टि-दोषका शिकार स्वयं बनना पड़ा था। क्यों और किस प्रकार? इन प्रश्नोंका उत्तर उन लोगोंके लिये कदाचित् शिक्षाप्रद हो, जो अपने मनमाने सिद्धान्तोंके लिये दुराग्रही नहीं हैं और युक्तियुक्त प्रमाण मिलनेपर अपने सिद्धान्तोंका संशोधन करनेको सदा प्रस्तुत रहते हैं। यह घटना बहुत वर्ष पूर्वकी है।

एक बार सीतामऊ जाते समय मुझे रातभर मंदसौर रहना पड़ा। वहाँ एक मन्दिरमें ठहरा था। मन्दिरमें अयोध्यावासी एक साधु रहते थे। ये वास्तवमें बड़े साधु थे। रात्रिमें असमय एक अतिथिको देखकर ये अनखाये नहीं, प्रत्युत मेरी बड़ी आवभगत की। मेरे सोने आदिका यथेष्ट प्रबन्ध कर दिया और भोजन करनेका आग्रह किया। किन्तु रात्रि अधिक हो जानेके कारण मैंने भोजन नहीं किया। सबेरे स्नानादि कर ज्यों ही सीतामऊ जानेको मैं तैयार हुआ त्यों ही महात्माजीने बड़े प्रेमके साथ कहा—'रात भी भोजन नहीं किया और अब भी आप विना प्रसाद पाये जाना चाहते हैं। यह तो शिष्टाचारके विरुद्ध है।'

मैं महात्माजीके आग्रहको टाल नहीं सका और खिचड़ी बनानेका विचार किया। महात्माजीने अपने हाथोंसे सब तैयारी कर दी। मैं चावल, दाल, नमक इत्यादि बटलोहीमें छोड़कर बैठा ही था कि एक युवती लाल धोती पहने आयी और उसने मुझसे 'देवता' देनेको कहा। मैं उसकी बात न समझ सका। तब उसने चूल्हेमें जलती हुई आगकी तरफ इशारा किया। इसपर मैंने कहा—'जबतक भगवान्‌का भोग न लग जाय तबतक आग देनेकी हमारे यहाँ चाल नहीं है।' मेरे इन्कार करनेपर भी उसने गिड़गिड़ाकर आग देनेकी पुनः प्रार्थना की। मैं अब विवश था, अतः चूल्हेसे कुछ अँगारे निकालकर उसके अग्निपात्रमें डाल दिये। वह प्रसन्न होकर चली गयी।

उसका जाना था कि चूल्हेके समीप खूँटीपर लटकती हुई जल भरनेकी मेरी सूतकी डोरी जल उठी और पानीसे बुझानेपर भी न बुझी। जलकर भस्म हो गयी। उधर खिचड़ीमें उफान आया। मैंने चूल्हेके पास जा जो बटलोही खोली तो खिचड़ीका रंग रक्तकी तरह लाल पाया। कुछ ही क्षण पूर्व खिचड़ीका रंग पीला था। इतना ही नहीं, चौकेमें बैठे-ही-बैठे मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि मेरे हाथों और पैरोंमें सूजन आ गयी है और क्रमशः बढ़ रही है।

बाल्यावस्थामें मुझे अपने पितासे सूर्यग्रहण एवं चन्द्र-ग्रहणके अवसरोंपर 'वासुदेव-द्वादशाक्षरी' तथा 'सुदर्शन-षडक्षरी' की दीक्षा मिली थी। मैंने सुदर्शन-षडक्षरी मन्त्रसे घीकी आहुति देकर उस उपद्रवको शान्त किया। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि वह खिचड़ी जमीनमें गड्ढा खोदकर गड़वा दी गयी।

पाठकोंको यह बतलाना अनावश्यक होगा कि मेरे ऊपर जो विपत्ति आयी थी, उसका कारण 'दृष्टि-दोष' ही था। इसीसे पुराने लोगोंने दृष्टि-दोष बचानेको आड़में रसोई बनाने और प्रसाद पानेकी प्रथा चलायी है। इन प्राचीन प्रथाओं और रूढ़ियोंके तत्त्वको समझनेके लिये सूक्ष्म बुद्धि चाहिये। किन्तु आजकलके जड विज्ञानने हमारे देशके विश्वविद्यालयोंमें शिक्षाप्राप्त नवयुवकोंकी बुद्धिको जड बना दिया है। अतः वे इन प्रथाओं और रूढ़ियोंके रहस्यको न समझकर निम्नलिखित वाक्यानुसार—

न वेत्ति यो यस्य गुणप्रकर्षं
स तस्य निन्दां सततं करोति।

—इन बातोंको 'अन्धविश्वास,' 'पोपलीला', 'ढुकरिया-पुराण' आदि बतलाकर सदा दिल्लगी उड़ानेहीमें अपनी विद्वत्ताकी पराकाष्ठा समझते हैं। भोजन-विज्ञानमें अन्नदोषके साथ-ही-साथ दृष्टि-दोष तथा भिन्न-भिन्न जातियोंके लोगोंके साथ एक पङ्क्तिमें बैठकर भोजन करनेका आचार-मयूखमें निषेध किया गया है। यथा—

न ह्येकपङ्क्त्या भुञ्जीत सम्बन्धैः स्वजनैरपि।
को हि जानाति किं कस्य प्रच्छन्नं पातकं भवेत्॥

अपना कल्याण चाहनेवालोंको उचित है कि वे किसी भी प्रथा या रूढ़िके औचित्यानौचित्यकी परीक्षा करनेके लिये निम्न आदेशको दृष्टिमें रक्खें—

आप्तोपदेशः प्रत्यक्षमनुमानं च युक्तिकम्।
चतुर्विधा परीक्षा स्यादाप्तवाक्यमसंशयम्॥

अर्थात् परीक्षा लेनेके चार विधान हैं—(१) आप्त-वाक्य, (२) प्रत्यक्षप्रमाण, (३) अनुमान और (४) हेतु; किन्तु इन चारोंमें आप्तवाक्यसे जो परीक्षा ली जाती है, वही अभ्रान्त है। क्योंकि—

आप्तः सत्य ऋषिप्रोक्तो दिव्यज्ञानसुसंयुतः।
रागद्वेषादिभिर्मुक्तो भ्रमादिदोषविच्युतः॥

अर्थात् ऋषिप्रोक्त वचन आप्त होनेसे सत्य है। क्योंकि उसका आधार दिव्यज्ञान है। फिर उस आप्तवाक्यमें राग-द्वेषकी गन्ध भी नहीं है और भ्रमादि दोषोंका भी उसमें स्पर्श नहीं होता। वास्तवमें आज-कलकी परिस्थिति ही कुछ विचित्र है। अपनी बुद्धिके सामने आजकलके लोग बृहस्पतिको भी अल्पज्ञ समझते हैं। इसका परिणाम जो हो रहा है, वह प्रत्यक्ष है। जीवन्मुक्तिविवेकका निम्न वचन आजकल पूर्णरूपसे चरितार्थ हो रहा है—

पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः।
न पापफलमिच्छन्ति पापं कुर्वन्ति यत्नतः॥

'लोग पुण्यका फल (सुख) चाहते हैं, परन्तु पुण्य करना नहीं चाहते। इसी प्रकार वे पापका फल (दुःख) नहीं चाहते, किन्तु पाप यत्नपूर्वक करते हैं।'

कामके पत्र

(१)

कर्मोंका भगवान्‌में अर्पण

तुम्हारा पत्र मिला। उपदेश देनेका तो मैं अधिकारी नहीं हूँ। सलाहके तौरपर यही कह सकता हूँ कि आलस्य, असंयम और अविश्वासका त्याग करके श्रीभगवान्‌का नाम-जप करना चाहिये तथा नाम-जप करते हुए भगवत्सेवाके भावसे कर्तव्यकर्म करनेकी आदत डालनी चाहिये। कर्मसे भागना नहीं चाहिये। कर्म बन्धन करनेवाला नहीं है, बन्धन करनेवाला नीचा भाव है। भगवान्‌के कथनानुसार, यदि यज्ञार्थ कर्म हो तो उससे बन्धन नहीं होता। भगवान्‌ने कहा है—'जो कुछ भी कर्म करो, सब मेरे अर्पण करो। इस प्रकार करनेसे तुम शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाओगे और अन्तमें मुझको ही प्राप्त होओगे। (गीता ९। २७-२८)' भगवान्‌ने कर्मका निषेध नहीं किया; कर्म करनेकी तो आज्ञा दी, परन्तु सब कर्मोंका अर्पण अपनेमें (भगवान्‌में) करनेको कहा। कर्म किये बिना मनुष्य रह ही नहीं सकता। जो कर्मसे भागता है, उसे भी कर्म करना पड़ता है। और जबतक कर्ममें आसक्ति है, तबतक उसके कारण बन्धनका भय है। बड़े-बड़े प्रलोभनोंको लात मारकर आये हुए विद्वज्जन भी छोटे-छोटे प्रलोभनोंमें फँसकर गिरते देखे-सुने जाते हैं। असली चीज तो है भाव और उस भावसे होनेवाला भजन। भाव न भी हो तो भजन करना चाहिये। कलियुगमें तो नाम-भजन ही मुख्य है।............

स्नेह और कृपा तो भगवान्‌की सबपर है, सदा ही है और अनन्त है। शरणमें रखनेकी सामर्थ्य भी उनमें ही है। उन्हींके शरण होना चाहिये।

(२)

दो बड़ी भूलें

श्रीभगवान्‌का भजन करना चाहिये। एक क्षणके लिये भी भगवान्‌की विस्मृति नहीं होनी चाहिये। जीवनके प्रत्येक क्षणकी, प्रत्येक चेष्टाकी धारा भगवान्‌की तरफ ही बहनी चाहिये। भगवान्‌के सिवा और कोई भी लक्ष्य नहीं होना चाहिये। तथा लक्ष्यकी विस्मृति किसी समय नहीं होनी चाहिये। मनुष्य जिस कामसे बार-बार तकलीफ उठाता है, बार-बार उसीको करता है—यह उसकी बड़ी भूल है। विषयोंमें बार-बार दुःखका अनुभव होता है; फिर भी लोग विषयोंके पीछे ही भटकते हैं, सोचते हैं मौका आनेपर भजन करेंगे। मौका आता है, बार-बार आता है। मनुष्यजीवन भी तो एक मौका ही है, परन्तु इस मौकेको हम हाथसे खो देते हैं। न करनेयोग्य कष्टदायक कामको पुनः-पुनः करना और करनेयोग्य भजनका मौका खो देना—यही दो बहुत बड़ी भूलें हैं। सावधानीके साथ सबको इन दोनों भूलोंका त्याग करना चाहिये।

(३)

भावका भगवान्‌में अर्पण

आपका पत्र मिला। उसमें प्रेम और आपके हृदयकी भावुकता भरी है।........मेरा इतना ही निवेदन है कि इस भावुकता और अनुरक्तिके प्रवाहका मुख श्रीनन्दनन्दनकी ओर मोड़ दीजिये। आप धन्य हो जायँगे। मैं तो क्षुद्र प्राणी हूँ, मुझमें जो आपको इतनी महानता दीखती है, यह आपकी सरल भावना है।........मैं तो यह समझता हूँ—जिस प्रकारका भाव आप मुझ तुच्छ प्राणीके प्रति दिखलाते हैं, ऐसा उस प्रेमके समुद्र, दयाके झरने, सुख, शान्ति और आनन्दके खजाने श्रीश्यामसुन्दरके प्रति रक्खें तो निश्चय ही आप उनके प्रियपात्र हो जायँ। आपकी सारी अयोग्यताएँ, सारी त्रुटियाँ उनकी पलकके

इशारेमात्रसे महान् दिव्य गुणोंके रूपमें पलट जायँ। वे योग्यता नहीं देखते, त्रुटियाँ तो अपने हाथों दूर कर देते हैं—पापोंका बोझा अपने सिरपर उठाकर उसे समुद्रमें बहा आते हैं; वे तो चाहते हैं सिर्फ हृदयका सच्चा भाव। उनको सच्चे भावसे अपनी बाँह गहा दीजिये। भाव देखते ही वे स्वयं आकर बाँह पकड़कर अपने हृदयसे लगा लेंगे। उनका एक स्वभाव है—वे जिसे ग्रहण कर लेते हैं, उसे छोड़ना नहीं जानते। चाहे वह कोई—कैसा ही क्यों न हो। उसमें अगर कोई पाप-ताप रहता है तो स्वयं उसे दूर करके उसको निर्मल बना लेते हैं। भाव निर्मल हों, भावोंके प्रवाहका मुख भगवान्की ओर मुड़े—इसके लिये उनके नामका जप कीजिये। आपने दो बातें पूछी थीं। दोनों ये हैं—वस्तु है भावको भगवान्में अर्पण करना और करनेके लिये उपाय है नाम-जप।

(४)

अङ्गोंका भगवान्को अर्पण और निर्भरता

'अङ्गोंके अर्पण' और 'निर्भरता'के सम्बन्धमें पूछा सो आपकी कृपा है। इन प्रश्नोंका उत्तर वस्तुतः दिया ही नहीं जा सकता। ये तो अनुभवकी चीजें हैं; फिर, थोड़ा-बहुत वे पुरुष समझा सकते हैं, जिनका सब कुछ भगवान्के अर्पण हो चुका है और जो सब प्रकारसे एकमात्र भगवान्पर ही निर्भर करते हैं। मेरे-सरीखा प्राणी इन प्रश्नोंका उत्तर क्या दे? तथापि हरिचर्चाके बहाने कुछ लिखनेका प्रयत्न करता हूँ। अङ्गोंका अर्पण भगवान्के प्रति ऐसा ही होना चाहिये, जैसा इस समय भोगोंके हो रहा है। सभी अङ्ग अपने-अपने विषयोंमें लगे हैं। इसी प्रकार सभी अङ्गोंके विषय एक भगवान् ही हो जायँ। आगे चलकर तो ऐसी स्थिति भी हो जाती है कि प्रत्येक अङ्ग भगवान्के संस्पर्शका अनुभव करता है; परन्तु पहले इस प्रकार विचारद्वारा निश्चय कर लेना होगा कि इन्द्रियोंके तथा अन्य तमाम अङ्गोंके द्वारा जो कुछ भी किया जाता है, सो सब श्रीभगवान्के लिये ही किया जाता है। नेत्रके द्वारा किसी वस्तुको देखते हैं तो भगवान्के लिये देखते हैं, कानसे कुछ भी सुनते हैं तो भगवान्के लिये सुनते हैं, मनसे कुछ भी सोचते हैं तो भगवान्के लिये सोचते हैं। जैसे धनके प्रयत्नमें लगा हुआ मनुष्य प्रत्येक क्रियामें धन बचाने और धन कमानेका लक्ष्य रखता है, उसका देखना, सुनना, सोचना सब जैसे उसी लक्ष्यकी पूर्तिके अङ्ग बन जाते हैं, उसी प्रकार भगवान्को लक्ष्य बनाकर तमाम अङ्गोंकी प्रत्येक क्रिया भगवत्प्रीत्यर्थ होती है—ऐसा निश्चय करना और प्रत्येक क्रियामें इसका अनुभव करना होगा। कुछ अर्पण हो जानेपर फिर विचारद्वारा अनुभव करनेकी आवश्यकता नहीं रहेगी—स्वाभाविक ही तमाम क्रियाएँ भगवदर्थ होंगी। इसके बाद यह पता लगेगा मानो तमाम क्रियाएँ भगवान्का संस्पर्श करानेवाली होती हैं। प्रत्येक चेष्टामें भगवान्के सङ्ग-सुखका अनुभव होगा। इसके बाद पूर्ण अर्पण हो जानेपर भगवान्का ही सब अङ्गोंपर स्वामित्व हो जायगा। फिर भगवान् ही सब कुछ करें-करावेंगे। यहाँ 'अहङ्कार' का भी पूर्ण अर्पण हो जायगा। ऐसे अर्पणकी तैयारी कर रखनी पड़ती है, फिर भगवान् उसे स्वयं ही ग्रहण कर लेते हैं। पहले, भगवान्के लिये करना; फिर, भगवान्को ही देखना-सुनना, स्पर्श करना; तदनन्तर क्रिया करनेवाली इन्द्रियों और अङ्गोंका तथा जिसके इन्द्रिय और अङ्ग थे, उस 'अहङ्कार' का भी प्रभुके अर्पण हो जाना—यही संक्षेपमें अर्पणका स्वरूप है। इसके बहुत-से स्तर हैं, बहुत लंबी व्याख्या हो सकती है; परन्तु उसके लिये न समय है और न मेरी योग्यता ही है।

निर्भरता कहते हैं एकमात्र भगवान्पर ही पूर्णरूपसे अपनेको ढाल देनेको। भगवान् जो कुछ करें-करावें,

जो दें-लें, भगवान् मेरेलिये जो ठीक या बे-ठीक समझें, भगवान् जिस बातमें अनुकूलता या प्रतिकूलता देखें, भगवान् जैसा भी विधान करें, भगवान् जिस किसी स्थितिमें रक्खें, न तो अपने मनसे उसके विपरीत कुछ चाहना और न किसी अन्यकी सहायताकी अपेक्षा रखना—यह निर्भरता है।

विपत्ति और प्रलोभन प्राप्त होनेपर निर्भरताका पता लगता है। जो विपत्तिसे घबराता है, प्रलोभनकी ओर खिंचता है, विपत्तिमें किसी दूसरेकी सहायताकी अपेक्षा करता है, प्रलोभनमें किसी वस्तुको स्वीकार कर लेता है, वह निर्भर नहीं है। 'प्रलोभनकी जड़ कट जाती है और विपत्तिका भय समूल नष्ट हो जाता है—भगवान्‌की निर्भरतामें।' निर्भरताके साधनमें मनुष्यकी परीक्षा होती है—दूसरोंके द्वारा अनायास ही महान् सम्पत्ति सामने रक्खी जाकर और धधकती हुई आगकी भट्टीमें सोनेकी भाँति विपत्तिकी प्रचण्ड ज्वालाओंमें जलाकर। यह परीक्षा डिगानेके लिये, मार्गच्युत करनेके लिये नहीं होती; होती है उसे और भी पक्का करनेके लिये, पूर्णरूपसे निर्भर बनानेके लिये।

पति कितना ही कष्ट दे, भरी सभामें चाहे कितना ही अपमान या तिरस्कार करे, पतिव्रता स्त्रीका आदर्श है—किसी भी हालतमें पतिके आश्रयका त्याग न करना। जैसे विपत्तिमें वह पतिका त्याग नहीं करती, वैसे ही किसीके भी द्वारा कितना भी महान् लालच दिये जानेपर भी वह पतिसे विमुख होकर उसकी ओर नहीं ताकती। इसी आदर्शके अनुसार निर्भर भक्त भगवान्‌का आश्रय नहीं छोड़ता। पतिव्रताका उदाहरण भी सिर्फ समझानेके लिये ही है। निर्भर भगवद्भक्तकी स्थिति तो अत्यन्त विलक्षण होती है।

जो विपत्तिमें विपत्तिके नाशके लिये दूसरोंकी ओर ताकता है, उसकी तो बात ही क्या—जो विपत्तिको विपत्ति समझता है, वह भी सच्ची निर्भरतासे हटा हुआ है। इसी प्रकार जो सम्पत्ति किसीके द्वारा मिलनेपर स्वीकार कर लेता है या किसीसे चाहता है, उसकी तो बात ही क्या है—जो सम्पत्तिकी चाह भी करता है, वह भी असली निर्भर नहीं है। जिस चीजके बिना प्राण और लज्जारक्षणका काम भी नहीं चलता, उस चीजके अभावमें भी यह दृढ़ अनुभव हो कि 'मेरे कल्याणके लिये ही भगवान्‌ने यह विधान किया है—' इसीका नाम निर्भरता है। नित्य पुण्य करते भी दुःख मिले और उसमें भगवान्‌का विधान समझकर आनन्द हो—यह निर्भरता है। मतलब यह कि भगवान्‌में अनन्य ममत्व और अनन्य विश्वास हो और अपनेको सब प्रकारसे भगवान्‌पर ही छोड़ दिया जाय। समझानेके लिये निर्भरताका यही स्वरूप है। परन्तु यह भी बाह्य ही है।

इससे नीचेके स्तरमें वे भी निर्भर भक्त हैं 'जो अपना यथार्थ कल्याण तो चाहते हैं, परन्तु चाहते हैं केवल भगवान्‌से ही। और रात-दिन अपने सब अङ्गोंसे भगवान्‌का ही सेवन करते हैं।'

इससे भी नीचेके स्तरमें वे भी निर्भर ही कहे जाते हैं—'जो सांसारिक भोगपदार्थ या विपत्तिका नाश तो चाहते हैं, परन्तु चाहते हैं एकमात्र भगवान्‌से ही, दूसरेकी ओर नहीं ताकते। और यह दृढ़ भरोसा तथा विश्वास रखते हैं कि भगवान् अवश्य ही हमारा मनोरथ पूर्ण करेंगे एवं पूर्ण न होनेपर उसे भगवान्‌की ऐसी मङ्गल इच्छा मानकर जो भगवान्‌पर रोष नहीं करते।' यह नीचे दर्जेकी निर्भरता है। और भी अनेकों स्तर हैं; स्थूलरूपसे ये तीन ही स्तर समझने चाहिये। एक महात्माने कहा है, 'भगवान्‌पर निर्भर रहनेके तीन लक्षण हैं—

(१) दूसरेसे कुछ भी न माँगना, (२) मिले तो भी न लेना, (३) मजबूर होकर लेना ही पड़े तो बाँट देना।'

मतलब यह कि भगवान्‌के विधानपर जरा भी सन्देह न करके अपनेको उसपर सब प्रकारसे छोड़ देना और निरन्तर सारी इन्द्रियोंसे उन्हींका भजन करना निर्भरता है। ये सब ऊँचे आदर्शकी बातें हैं। अवश्य ही कल्पना नहीं हैं, और न असाध्य ही हैं, परन्तु बहुत कठिन हैं। आजकलके प्राणी बहुत कम कर सकते हैं। तथापि इस आदर्शको सामने रखना और भरसक इसके अनुसार निरन्तर अथक प्रयत्न करते रहना चाहिये। उससे बहुत लाभ होगा। और सीधे तीन काम हैं—(१) भगवान्‌का नाम-जप, (२) बाहरी पापोंका बिल्कुल त्याग और (३) भगवान्‌की दयापर विश्वास। इनसे सारी बातें आप ही ठीक हो जायँगी। इनमें भी तीनों न हों तो दो करें, नहीं तो कम-से-कम एक भगवन्नामका जप-स्मरण निरन्तर करते रहनेकी कोशिश करनी चाहिये। कलियुगमें केवल क्रियासे तारनेवाला, महान् फल देनेवाला भगवन्नाम ही है। और सारे साधनोंमें भावकी आवश्यकता है। नाम भावसे, कुभावसे—कैसे भी लिया जाय, कल्याणकारी ही है। अवश्य ही भावका तिरस्कार नहीं करना चाहिये। प्रत्येक क्रियामें, जहाँतक हो, ऊँचे-से-ऊँचा भाव, पूरी विधि तथा बाहरी क्रिया—तीनोंका ही खयाल रखकर तीनों ही करने चाहिये। 'हारेको हरिनाम' है।

असलमें तो भगवान्‌का भजन करना चाहिये। जो भजन करता है, वही संसारसे तरेगा और उसीको सुख-शान्ति प्राप्त होगी। बाहरी स्वाँगसे तो अन्तमें दुःख ही मिलेगा। झूठमूठ धनी सजनेपर जैसे अशान्ति और दुःख बढ़ते हैं, झूठे गर्भसे जैसे यादववंशका नाश करनेवाला मूसल पैदा होता है, वैसे ही बाहरी स्वाँगसे—दम्भसे तो दुःख ही पैदा होता है। मनुष्य-का एकमात्र सच्चा कर्तव्य होना चाहिये भगवान्‌में प्रेम करना। भगवान्‌को छोड़कर किसी भी वस्तुमें अनुराग न हो। तथा निरन्तर भगवान्‌का भजन होता रहे। अनुराग होनेसे आप ही भजन होगा।

'जिन खोजा तिन पाइयाँ'

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

कहते हैं कि कोई राजा शत्रुसे पराजित होकर भागा। उसने कई बार सैन्य एकत्र करके शत्रुपर आक्रमण किया, पर सफल न हो सका। भागकर वह जिस गुफामें छिपा था, उसमें एक मकड़ी एक स्थानपर अपना तन्तु लगाकर दूसरे स्थानको उछाल मार रही थी। वह अपना तन्तु वहाँतक पहुँचाना चाहती थी। राजा चुपचाप मकड़ीको देखने लगा। मकड़ी उछलती और विफल होकर गिर जाती। बार-बार यही क्रम चलता रहा। अन्तमें मकड़ीने अपनी विफलताओंपर विजय पाया। वह एक उछालमें उस लक्ष्यतक पहुँच ही गयी। भूपतिने मकड़ीसे शिक्षा ली, उन्होंने निराशा त्यागकर शत्रुपर प्रत्याक्रमण किया। संयोगवश इस बार विजयलक्ष्मीने वरमाला उन्हींके गलेमें डाली।

जरासन्ध मथुराकी सत्रह चढ़ाइयोंमें बुरी तरह पराजित हुआ, पर उसने भी अन्तमें विजय लेकर छोड़ी। मैंने अपनी आँखों देखा है कि लोग प्रयागमें त्रिवेणीजीके गम्भीर जलमें पैसे छोड़ते हैं और मछुए डुबकी लगाकर उन्हें निकाल लेते हैं। एक, दो, चार, दस—चाहे जितनी डुबकियाँ लगानी पड़ें, वे पैसेको निकाल ही लेते हैं। पाश्चात्य लोगोंने उस धधकते हुए मरुस्थल सहरा (अफ्रीका) में नील नदीका उद्गम ढूँढ निकाला। अपने सिरपर चमकते हुए उस

अलग-अलग तारे (मङ्गल) का पता पा लिया । जब लोग इतनी कठिन-कठिन वस्तुओंको प्राप्त कर लेते हैं तो क्या मैं अपने लक्ष्यको नहीं पा सकता ? देखूँ असफलता कबतक मेरा पीछा करती है । या तो मैं ही रहूँगा या यह विफलता ही ।

लगातार पाँच वर्षसे इस ओर लगा हूँ । न दिनको चैन, न रात्रिमें विश्राम । कभी जंगलोंमें, कभी पर्वतोंपर, कभी नगरोंमें, कभी नदियोंके किनारे—सभी प्रकारके स्थानोंमें गया । मेरी रात्रि कभी घोर वनमें शिलाके ऊपर, कभी धर्मशालामें, कभी किसी सूने मन्दिरमें और कभी किसी पथके वृक्षतले बीतती है । सभी रंगके साधुओंको देखा—लाल, पीले, गेरुए, सफेद और राजाओं-जैसे ऐश्वर्यवान् तथा नंगे भभूतिये भी । मुझे 'बं शङ्कर' की दम लगानेवाले, 'जय मैया' का प्याला चढ़ानेवाले और केवल फलाहारी या दुग्धाहारी भी मिले । भोगी, योगी, सिद्ध, पाषण्डी, भक्त, ज्ञानी, याज्ञिक प्रभृति सबके दर्शन हुए । सब हुआ, पर मुझे मेरे योग्य गुरु न मिले । न मेरा भटकना बंद हुआ और न मुझे मेरे अनुरूप कोई मिला ही ।

बहुतोंने मुझपर दया की, दीक्षा देनेको भी बहुत तत्पर थे । जिनके दर्शनोंको लोग तरसते हैं, वे महापुरुष, सिद्ध योगी भी मेरे ऊपर प्रसन्न हुए । मैं चाहता तो वे भी मुझे अपने चरणोंमें रख लेते, पर मैं चाहता तब तो ! मैं जो चाहता था, वह वहाँ भी मुझे नहीं मिला । मेरी अभीष्टसिद्धि वहाँ भी दिखायी न दी !

आप सोचते होंगे कि मैं ऐसी क्या विशेषता चाहता था । मैं सिद्ध या त्रिगुणातीतके फेरमें नहीं था । बात यह है कि मैं न तो अपनेपर विश्वास करता और न अपने मनपर । सभी महापुरुष साधन बतलाना चाहते थे—'साधन करो, आत्मोद्धार होगा ।' बात तो ठीक थी, पर साधन करे कौन ? मुझे विश्वास नहीं कि मैं साधन कर सकूँगा । मैं तो एक ऐसा गुरु चाहता था, जो कह दे 'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि', जो मेरा पूरा उत्तरदायित्व ले ले । चाहे साधन करावे या तपस्या, पर मनको उस साधनमें प्रवृत्त रखनेका भार उसपर हो । जो भी कराना हो करावे, पर मैं न अपने अच्छे कर्मोंका उत्तरदायी रहूँ न दुष्कर्मोंका । मुझसे साधन हो तो ठीक और मैं अहङ्कारी रहूँ तो ठीक । सब वही जाने, मैं कुछ न जानूँ । ऐसा उत्तरदायित्व लेनेवाला मुझे कोई कहीं भी नहीं मिला ।

(२)

निराश हो चुका था । भटकता हुआ व्रजमें पहुँचा । कई दिनका भूखा था, मुझे पता नहीं किसने लाकर वे रोटियाँ दीं । वे एक वृद्ध महात्मा थे, इतना ही जानता हूँ । बिना माँगे वे रोटियाँ लेकर आये और बोले—'तुम बहुत भूखे हो; लो, इन्हें पा लो ।' मैंने रोटियाँ ले लीं, उस शाकके संग मुझे रोटियोंमें अमृतका स्वाद आया । मैं पूछ भी न सका, भोजन करके देखता हूँ तो महात्माजी दिखायी नहीं दिये ।

गोवर्धन आया और वहाँसे चन्द्रसरोवर गया । एक वृद्ध महात्मा वहाँ रहते थे । इतने प्रेमसे मिले मानो मैं उनका चिरकालसे वियुक्त पुत्र होऊँ । उनके प्रेमने हृदयके बाँधको तोड़ दिया । मैं उनके चरणोंके समीप बैठकर फूट-फूटकर रोने लगा । उन्होंने मुझे आश्वासन दिया, आँसू पोंछे और रोनेका कारण पूछा । धीरे-धीरे मैंने अपने भटकनेका सारा वृत्तान्त कह सुनाया, अपने उद्देश्यको भी निवेदन किया । वे थोड़ी देर मौन रहे । कुछ सोचकर कहने लगे—'भटकना व्यर्थ है; मैं यह तो नहीं कहता कि महापुरुषोंमें तुम्हारे उद्देश्यको पूर्ण करनेकी शक्ति नहीं है, पर ऐसे महापुरुषोंको इस प्रकार भटकनेसे नहीं पाया जा सकता । ऐसे महापुरुषोंको पाना और श्यामसुन्दरको पाना एक ही बात है । इस गिरिराजकी तलहटीमें बहुतोंने उस नन्दनन्दनको पाया है । तुम भी अन्वेषण

करो, सम्भव है पा सको। तुम्हारा अभीष्ट सिद्ध होगा। यदि गुरु ही चाहिये तो उसका पता वही बता सकेंगे। मुझे कोई दूसरा मार्ग तो दीखता नहीं।'

महात्माजीको प्रणाम करके मैं उनके स्थानसे लौट आया। अब मेरा एक ही काम रह गया—प्रातः नेत्र खुलते ही चल देना, जहाँ जल मिले वहीं नित्यकर्म करके दिनभर गिरिराजकी परिक्रमा करते रहना। यदि कोई कुछ विना माँगे खानेको दे दे तो ग्रहण कर लेना। मुझे स्मरण नहीं कि वहाँ कभी उपवास करना पड़ा हो।

मैं सीधे मार्गसे परिक्रमा तो करता न था, कभी आसपासकी कुञ्जोंको ढूँढ़ता और कभी गिरिराजके ऊपर चढ़कर इधर-उधर देखता। कभी पीछे लौट पड़ता। वहाँके लोग मुझे पागल समझने लगे। मैं रात्रिमें किसी शिलापर लेट रहता, जैसे ही नेत्र खुलते, रात्रिमें भी इधर-उधर कुञ्जोंको देखने चल देता। फिर नींद आती तो किसी भी शिलापर सो रहता।

मुझे इस प्रकार पूरे दो महीने बीत गये। जी ऊबने लगा। निश्चय किया कि अब तो उनके दर्शन करके ही अन्न या जल ग्रहण करूँगा। यदि शरीरको छूटना ही हो तो यहीं छूटे। भूखे-प्यासे चलना कठिन तो अवश्य हो गया; फिर भी जितना हो सकता था, चलता था। इस प्रकार भी छः दिन व्यतीत हो गये।

(३)

रात्रिके बारह बजे होंगे। मेरी नींद खुली, पूर्णिमाके चन्द्रमाकी ज्योत्स्नासे वनभूमि आलोकित हो रही थी। मैं शिलापरसे उठ बैठा। एक बहुत सुन्दर-सा बछड़ा आया और मेरी शिलाको सूँघकर उछलता हुआ एक ओर दौड़ गया। मैंने सोचा किसीका बछड़ा छूट गया होगा; पर दृष्टि उठाते ही बहुत-सी गायें और बछड़े चरते हुए दीख पड़े। 'इतनी रात्रिमें कौन गायें चरा रहा है!' मैं चरवाहेको देखने उठा।

पता नहीं मेरी अशक्ति कहाँ चली गयी थी। शरीरमें विलक्षण स्फूर्ति थी। मैं गायोंके पास गया, पर वहाँ कोई चरवाहा नहीं दिखायी पड़ा। एक कुञ्जसे कुछ शब्द आ रहे थे, मैं उधर ही बढ़ गया। मैंने बाहरसे ही पुकारा—'अरे इतनी रात्रिको कौन गायें लाया है?' कुछ लड़के कुञ्जसे निकल आये। वे लड़के कैसे थे? कैसे बताऊँ? देवता भी इतने सुन्दर होते होंगे? सन्देह ही है। उनमें एक साँवले रंगका बालक था, उसे तो देखकर दृष्टि वहीं रुक गयी। उसीने व्रजभाषामें कहा 'कहा है? गायन ने तो हम ल्याये हैं, पै तू इतनी रात कूँ इतै क्यों डोल रह्यो है?' और वे सब मेरे समीप आ गये।

एकने कहा—'दादा! यो बावरो भूखो सो लगै, याकूँ कछु खवावौ।' उनमेंसे एक जो सबसे बड़े थे, गोरे-गोरे-से, उन्होंने कहा—'अच्छो, तू दूध तौ पी ले।' मैंने सिर हिला दिया। 'क्यों? तोय भूख नाय लगी?' 'भूख तो लगी है, पर मैंने प्रतिज्ञा कर रक्खी है।' वे सब हँस पड़े। उस साँवले कुमारने कहा—'प्रतिज्ञा कहा करी है?' उनमें कुछ ऐसा आकर्षण था कि मैं उन बच्चोंसे भी कुछ छिपा न सका। अनावश्यक था, फिर भी मैंने अपनी सारी दशा कही, अपनी प्रतिज्ञा भी सुनायी।

ताली बजाकर वे सब हँस पड़े। ओह! उनके हास्यमें कितना आनन्द था! 'बावरो है, बावरो।' फिर उस साँवलेने हँसते हुए कहा—'तू मोकू गुरू बनाय ले। क्यों मोय गुरु बनावैगो? देख इतै उतै बावरो सो डोलियो नहीं, दादा ते कह दूँगो, बहुत मारैगो। हाँ! मैं जो कछु कहूँगो सो तोय करनो परैगो। करनो तो कछु नायँ, मेरे ढोरनने घेर लायो करियो। खेलनमें तोकूँ छुट्टी। अच्छा ले, दादा! या कूँ दूध प्या। ना पीवै तो चाँटा मारकै प्या।' वह हँसने लगा। 'देख, तू बावरो मत बनै। दादा

तोय अपने संग राखैगो।' मैं उस चरवाहेकी बातोंको सुन रहा था। उसके बचपनपर मुझे बरबस हँसी आ गयी।

सचमुच उनके दादा (बड़े भैया) ने दूधका बर्तन मेरे मुँहसे लगा दिया। वह गुदगुदाने लगा। अजी दूध भी कहीं इतना स्वादिष्ट होता है? वह अमृत होगा—अमृत! पता नहीं मैं कितना पी गया। मुझे तो ऐसा लगता है कि दो-चार सेर अवश्य पी गया होऊँगा। भर पेट पिया। दूध पिलाकर उन्होंने एक बछड़ेको, जो दूर भाग गया था, घेर लानेको कहा। मैं उस बछड़ेको लौटाने चला।

चञ्चल बछड़ा मुझे देखते ही चौकड़ी भरकर भागा। मैं उसके पीछे दौड़ा। सहसा किसी वृक्षकी ठोकर लगी, मैं धड़ामसे गिर पड़ा। वे दौड़े उठानेको।

(४)

सहसा नींद खुल गयी। 'अरे क्या यह सब स्वप्न था?' हुआ करे। मैंने प्रभुको प्रणाम किया। अवश्य ही उन्होंने मुझे इस विशाल स्वप्नमें आदेश दिया है—

'उद्योग करो, सफलता तो निश्चित ही है। करना-कराना सब हमारे हाथमें है। प्रयत्न छोड़ो मत। हताश होनेका कोई कारण नहीं। मैं तुम्हारे साथ हूँ।'

'जिन खोजा तिन पाइयाँ!'

जीवनमें श्रद्धा और टालसटाय

(लेखक—श्रीरामनाथ 'सुमन')

टालसटाय उन्नीसवीं सदीके एक महान् विचारक थे। उनकी नैतिक और दार्शनिक विचारधाराने जगत्के ऊपर अपनी छाप डाली है। उनका समस्त साहित्य एक अद्‌भुत आत्मिक तेज और गहरी अनुभूतिसे भरा हुआ है। जीवनके अन्धकारमें प्रकाश और सत्यकी खोज उनके जीवनका ध्येय था। इस आत्मशोधमें उन्होंने अपनी निर्दय परीक्षा करनेमें भी कमी संकोच नहीं किया। इसीलिये उनकी रचनाएँ सैकड़ोंको ऊँचा उठानेमें समर्थ हुई हैं। उनमें विवेक और अनुभूतिका अद्‌भुत समन्वय है। वास्तवमें वे एक सच्चे आत्मसाधक थे।

आजका युवक जब कुछ समझने योग्य होता है तो वह देखता है कि उसके चारों ओर अनेक विचारधाराएँ परस्पर टकरा रही हैं। इनमें सत्यासत्यका ऐसा मिश्रण होता है, प्रकाश-अन्धकारकी ऐसी आँखमिचौनी होती है कि वह किंकर्तव्यविमूढ हो जाता है। उसमें इतना तेज और शक्ति नहीं होती कि वह प्रकाशसे आँख मिला सके; और अन्धकारसे भी उसे भय लगता है। इसलिये सिवा आत्मवञ्चनाके, सत्यकी ओरसे आँख मूँद लेनेके, उसके सामने कोई चारा नहीं रह जाता। इस आत्मवञ्चनाके बीच भी अनेक घटनाएँ उसकी हृदयकी बंद आँखोंके दरवाजेको खटखटाती हैं। अपनेको धोखा देना सरल नहीं है;- एक असह्य वेदना और सङ्घर्षसे मन भर जाता है। पर सत्यको खोजनेका श्रम और प्रकाशको अपनानेका साहस कौन करे? परम्पराको बिना किसी श्रद्धाके अपनाये हुए आजकी सन्तति चल रही है। उसमें इतना साहस नहीं कि इस परम्पराके बोझको फेंक दे; न उसके संस्कार ऐसे हैं कि वह श्रद्धाको अपनाकर जीवनको मधुर और तृप्त कर ले। गहरी अतृप्ति, सन्देह, अविश्वास और शङ्काओंके बीच आधुनिक सन्तति निर्बल, जीवनहीन और आत्मविश्वासशून्य हो रही है। लगभग सौ वर्षसे विश्वके जीवनका यह क्रम चल रहा है।

टाल्सटायने जब शिक्षा समाप्त करके अपना जीवन आरम्भ किया तो अपनेको इसी विषम स्थितिमें पाया। वह उच्च, समृद्ध कुटुम्बके बच्चे थे। बड़ी जमींदारी, स्वास्थ्य, मित्र, धन और बादमें अपनी रचनाओंसे नाम और गौरव भी उन्होंने पाया था। पर उनके चारों ओरका वातावरण अनात्मवादितासे भरा था; उसमें गहरी प्रवञ्चना थी। सुशिक्षित टाल्सटायने बहुत दिनोंतक ईश्वरसे आँखें मूँदकर चलना चाहा। पर उनके अंदर बार-बार प्रश्न उठने लगा—'यह जीवन क्या है ? उसका प्रयोजन क्या है और उसका परिणाम क्या है ? मुझे क्यों जीना चाहिये ?'

इसके लिये उन्होंने विविध विज्ञानोंका अध्ययन किया, अनेक दार्शनिक विचारधाराओंका ऊहापोह किया; पर कहीं उन्हें जीवनके प्रश्नका उत्तर न मिला। तार्किक ज्ञानका मार्ग जीवनकी अस्वीकृतिका मार्ग था और श्रद्धाका मार्ग बुद्धिकी अस्वीकृतिके बिना अपनाया नहीं जा सकता था, जिसके लिये टाल्सटाय तैयार न थे। इस मनःस्थितिमें आजकी अधिकांश शिक्षित सन्तति पड़ी दिखायी देती थी। इसलिये इस सम्बन्धमें टाल्सटायने अपनी स्थिति और अनुभूतिका जो वर्णन किया है, वह अत्यन्त उपयोगी है। वह लिखते हैं:—

'पण्डितों और विद्वानोंद्वारा पेश किया जानेवाला तार्किक या बुद्धिसम्मत ज्ञान जीवनके अर्थ या प्रयोजनसे इन्कार करता है; परन्तु मनुष्योंकी बहुत बड़ी संख्या, करीब-करीब सारी मनुष्यजाति, इस अर्थको अतार्किक ज्ञानमें प्राप्त करती है। और यह अतार्किक ज्ञान ही श्रद्धा है—वह वस्तु जिसे अस्वीकार किये बिना मैं रह नहीं सकता था। यही ईश्वर है·······। पर इन सब बातोंको मैं उस वक्ततक स्वीकार नहीं कर सकता था जबतक मेरी बुद्धि सही-सलामत है।

मेरी स्थिति बड़ी भयङ्कर थी। मैं जान चुका था कि तार्किक ज्ञानके रास्तेपर चलकर तो मैं जीवनकी अस्वीकृतिके सिवा और कुछ प्राप्त नहीं कर सकता; और उधर श्रद्धाके पक्षमें बुद्धिकी अस्वीकृतिके सिवा दूसरी कोई बात नहीं थी, जो मेरे लिये जीवनकी अस्वीकृतिकी अपेक्षा कहीं असम्भव थी। तार्किक ज्ञानसे तो यह प्रकट होता था कि जीवन एक बुराई है और लोग जानते हैं कि न जीना स्वयं उन्हींपर निर्भर है; फिर भी उन्होंने अपनी जिंदगीके दिन पूरे किये और आज भी वे जी रहे हैं। खुद मैं जी रहा हूँ, यद्यपि बहुत दिनोंसे मुझे इस बातका ज्ञान है कि जीवन अर्थहीन और एक दूषण है। श्रद्धाद्वारा यह प्रकट होता है कि जीवनके प्रयोजनको समझनेके लिये मुझे अपनी बुद्धिका तिरस्कार करना चाहिये— उसी वस्तुका जिसके लिये जीवनका अर्थ जाननेकी जरूरत है।

इस प्रकार जो सङ्घर्ष और परस्परविरोधी स्थिति पैदा हुई, उससे निकलनेके दो मार्ग थे—या तो यह कि जिसे मैं बुद्धि कहता हूँ, वह इतनी तर्कसङ्गत नहीं है जितनी मैं माने बैठा हूँ; अथवा यह कि जिसे मैं अबौद्धिक और अतार्किक समझता हूँ, वह इतना अबौद्धिक और तर्कविरोधी नहीं है जितना मैं समझता हूँ। तब मैं अपने तार्किक ज्ञानकी तर्क-प्रणालीपर विचार और उसकी छान-बीन करने लगा।

अपने बौद्धिक ज्ञानकी तर्क-प्रणालीपर विचार करनेपर मुझे वह बिल्कुल ठीक मालूम हुई। यह निष्कर्ष अनिवार्य था कि जीवन शून्यवत् है; किन्तु मुझे एक भूल दिखलायी पड़ी। भूल यह थी कि मेरा तर्क उस सवालके अनुरूप नहीं था जो मैंने पेश किया था। प्रश्न था—'मैं क्यों जीऊँ ?' अर्थात् 'मेरे इस स्वप्नवत् क्षणिक जीवनसे क्या वास्तविक और स्थायी परिणाम निकलेगा ? इस असीम जगत्में

मेरे सीमित अस्तित्वका प्रयोजन क्या है ?' इसी प्रश्नका जवाब देनेके लिये मैंने जीवनका अध्ययन किया था।

जीवनके सब सम्भव प्रश्नोंके हल मुझे सन्तुष्ट न कर सके; क्योंकि मेरा सवाल यद्यपि यों देखनेमें सीधा-सादा था, परन्तु इसमें सीमित वस्तुको असीमके रूपमें और असीमको सीमित वस्तुके रूपमें समझनेकी माँग शामिल थी।

मैंने पूछा—'काल, कारण और अवकाशके बाहर मेरे जीवनका क्या अर्थ है ?' और मैंने इस प्रश्नका यों उत्तर दिया—'काल, कारण और अवकाशके अंदर मेरे जीवनका क्या अर्थ है ?' बहुत सोच-विचारके बाद मैं यही उत्तर दे सका कि कुछ नहीं।

अपने तर्कोंमें मैं बराबर सीमितकी सीमितके साथ और असीमकी असीमके साथ तुलना करता रहा। इसके सिवा और मैं कर ही क्या सकता था ? इसी तर्कके कारण मैं इस अनिवार्य निष्कर्षपर पहुँचा—शक्ति शक्ति है, पदार्थ पदार्थ है, सङ्कल्प सङ्कल्प है, असीम असीम है, शून्य शून्य है। इससे ज्यादा और किसी परिणामपर पहुँचना सम्भव न था।

यह बात कुछ वैसी ही थी जैसी गणितके क्षेत्रमें उस समय होती है जब हम किसी समीकरणको हल करनेका विचार करते हुए यह देखते हैं कि हम समान संख्याओंको ही हल कर रहे हैं। यह तर्क-प्रणाली तो ठीक है; लेकिन उत्तरमें इसका परिणाम यह निकलता है कि 'क' 'क' के बराबर है, या 'ख' 'ख' के बराबर है, या 'ग' 'ग' के बराबर है। अपने जीवनके प्रयोजनवाले प्रश्नके विषयमें तर्क करते समय भी मेरे साथ यही बात हुई। सब प्रकारके विज्ञानोंद्वारा इस प्रश्नका एक ही उत्तर मिला।

और सच तो यह है कि शुद्ध वैज्ञानिक ज्ञान (वह ज्ञान जो डेकार्टेकी भाँति प्रत्येक वस्तुके विषयमें पूर्ण सन्देहके साथ शुरू होता है) श्रद्धाद्वारा स्वीकृत सब प्रकारके ज्ञानको अस्वीकार करता है और प्रत्येक वस्तु-का बुद्धि, तर्क और अनुभवके नियमोंके आधारपर नवीनरूपसे निर्माण करता है, और जीवनके प्रश्नके विषयमें उसके अलावा और कोई जवाब नहीं दे सकता जो मैं पहले ही प्राप्त कर चुका था—यानी एक अनिश्चित उत्तर। शुरू-शुरूमें तो मुझे ऐसा प्रतीत हुआ था कि विज्ञानने मुझे एक निश्चयात्मक उत्तर दिया है—यह उत्तर जो शॉपेनहारने दिया था, यानी जीवनका कोई अर्थ नहीं है और वह एक बुराई है। किन्तु इस विषयकी भलीभाँति परीक्षा करनेपर मैंने देखा कि यह उत्तर निश्चयात्मक नहीं है, केवल मेरी अनुभूतिने उसे इस रूपमें प्रकट किया है। ठीक तौरसे उसे व्यक्त किया जाय तो जवाब अनिश्चित या एक-सा मिलता है—वही 'क' बराबर 'क' अथवा जीवन कुछ नहीं है। इस प्रकार यह दार्शनिक ज्ञान किसी वस्तुको अस्वीकार तो नहीं करता किन्तु यह उत्तर देता है कि इस प्रश्नको हल करना उसकी शक्तिके बाहर है और उसके लिये हल अनिश्चित ही रहेगा।

इसे समझ चुकनेके बाद मैंने यह देखा कि तार्किक ज्ञानके द्वारा अपने प्रश्नका कोई उत्तर खोज निकालना सम्भव नहीं है और तार्किक ज्ञानके द्वारा मिलनेवाला उत्तर केवल इस बातका सूचक है कि इस प्रश्नका उत्तर प्रश्नके एक भिन्न वक्तव्यके द्वारा और तभी प्राप्त हो सकता है जब उसमें असीमके साथ सीमितके सम्बन्धको शामिल कर लिया जाय। और मैंने समझा कि श्रद्धा एवं विश्वासद्वारा मिलनेवाला उत्तर चाहे कितना ही तर्कहीन और विकृत हो, किन्तु उसमें ससीमके साथ असीमके सम्बन्धकी भूमिका होती है, जिसके बिना कोई हल सम्भव नहीं है।

मैंने जिस रूपमें भी इस सवालको रक्खा, यह असीम और ससीमके बीचका सम्बन्ध उत्तरमें अवश्य प्रतिध्वनित हुआ। मुझे किस प्रकार रहना चाहिये ?—

ईश्वरीय नियमोंके अनुसार। मेरे जीवनसे क्या वास्तविक परिणाम निकलेगा? अनन्त कष्ट या अनन्त आनन्द। जीवनमें जीवनका वह कौन-सा अर्थ है, जिसे मृत्यु नष्ट नहीं करती?—अनन्त प्रभुके साथ सम्मिलन।

इस प्रकार उस तार्किक या बौद्धिक ज्ञानके अलावा, जिसतक मैं ज्ञानकी इति समझता था, अनिवार्यरूपसे मुझे एक दूसरी ही बात स्वीकार करनेके लिये बाध्य होना पड़ा कि समस्त जीवित मानवताके पास एक दूसरे प्रकारका ज्ञान—अतार्किक ज्ञान—भी है, जिसे श्रद्धा या निष्ठा कहते हैं और जो मनुष्यका जीना सम्भव कर देती है। अब भी यह श्रद्धा या निष्ठा मेरे लिये उसी प्रकार अबौद्धिक या अतार्किक है, जैसे वह पहले प्रतीत होती थी; पर अब मैं यह स्वीकार किये विना नहीं रह सकता कि सिर्फ इसीके जरिये मनुष्यजातिको जिंदगीके इस सवालका जवाब मिल सकता है; और इसलिये इसीके कारण जिंदगी सम्भव है। तार्किक ज्ञानने हमें यह स्वीकार करनेको विवश किया था कि जीवन अर्थहीन है; उसकी वजहसे मेरी जिंदगीमें एक रुकावट पैदा हो गयी थी और मैं अपना अन्त कर देना चाहता था। पर इसी बीच मैंने अपने चारों तरफ़ फैली मनुष्यजातिपर निगाह डाली और देखा कि लोग जीते हैं और इसकी घोषणा भी करते हैं कि उनको जीवनका अर्थ मालूम है। मैंने अपनी तरफ़ देखा; मैंने भी तभीतक अपने अंदर जीवन-प्रवाहका अनुभव किया था, जबतक मुझे जीवनके किसी प्रयोजन-का ज्ञान था। इस प्रकार न केवल दूसरोंके लिये बल्कि खुद मेरे लिये भी श्रद्धाने जीवनको सार्थक कर दिया और मेरे लिये जीना सम्भव हुआ।

जब मैंने दूसरे देशोंके लोगों, अपने समकालिकों और उनके पूर्वजोंपर ध्यान दिया तो वहाँ भी मुझे यही बात दिखायी पड़ी। जबसे पृथ्वीपर मनुष्यका जन्म हुआ तबसे जहाँ कहीं भी जीवन है, मनुष्य इस श्रद्धाके कारण ही जी सका है और इस श्रद्धाकी प्रधान रूप-रेखा सब जगह मिलती है और सदा एक रहती है।

श्रद्धा चाहे कुछ हो, वह चाहे जो उत्तर देती हो और चाहे जिन्हें वह उत्तर दे, पर उसका प्रत्येक उत्तर मनुष्यके सीमित अस्तित्वको एक असीम तात्पर्य या प्रयोजन प्रदान करता है—वह तात्पर्य जिसका कष्ट, विपत्ति और मृत्युसे अन्त नहीं होता। इसका मतलब यह है कि सिर्फ श्रद्धामें ही हम जीवनके लिये एक अर्थ और एक सम्भावना प्राप्त कर सकते हैं। तब यह श्रद्धा क्या है? विचार करके मैंने समझा कि श्रद्धा या निष्ठा 'अदृश्य वस्तुओंका प्रमाण' मात्र नहीं है, न केवल दैवी प्रेरणा है (इससे श्रद्धाका एक निर्देशमात्र होता है), न सिर्फ ईश्वरके साथ मनुष्यका सम्बन्ध है; यह सिर्फ उन बातोंको मान लेना ही नहीं है जो बतायी गयी हों (यद्यपि श्रद्धा या निष्ठाका आम तौरपर यही अर्थ लिया जाता है); श्रद्धा तो मानव-जीवनके प्रयोजन या तात्पर्यका वह ज्ञान है जिसके फलस्वरूप मनुष्य अपना नाश नहीं करता बल्कि जीता है। श्रद्धा जीवनका बल है। अगर कोई आदमी जीता है तो वह किसी-न-किसी वस्तुमें श्रद्धा या विश्वास रखता है। यदि उसका यह विश्वास नहीं है कि किसी चीजके लिये उसे जीना चाहिये तो वह जी न सकेगा। यदि वह ससीमकी मिथ्या प्रकृतिको नहीं देख और पहचान पाता तो वह ससीममें विश्वास करता है; यदि वह ससीमकी मिथ्या प्रकृतिको समझ लेता है तो फिर उसके लिये असीममें विश्वास रखना जरूरी हो जाता है। विना श्रद्धा या विश्वासके तो वह जी ही नहीं सकता।…………

जब मैंने प्रयोगात्मक विज्ञानोंमें जीवनके सवालका जवाब ढूँढ़ना शुरू किया, तब मैं क्या कर रहा था? मैं जानना चाहता था कि मैं क्यों जीता हूँ और इसके लिये मैंने उन सब चीजोंका अध्ययन किया जो

मेरे बाहर हैं। इसमें सन्देह नहीं कि मैंने बहुत-सी बातें सीखीं; पर जिस चीजकी मुझे जरूरत थी, वह न मिली।

जब मैंने दार्शनिक विज्ञानोंमें जीवनके सवालका जवाब ढूँढ़ा तब मैं क्या कर रहा था ? मैं उन लोगोंके विचारोंका अध्ययन कर रहा था, जिन्होंने अपनेको मेरी ही स्थितिमें पाया था और जो इस सवालका कि 'मैं क्यों जीता हूँ ?' कोई जवाब न पा सके थे। इस खोजमें मैं उससे ज़्यादा कुछ न जान सका जो मैं स्वयं जानता था—यानी यह बात कि कुछ भी जाना नहीं जा सकता।

मैं क्या हूँ ? अनन्तका एक अंश। इन थोड़े शब्दोंमें सारी समस्या धरी पड़ी है।............

अनन्त ईश्वर, आत्माका दैवत्व, ईश्वरसे मानवीय बातोंका सम्बन्ध, आत्माका ऐक्य और अस्तित्व, नैतिक पाप-पुण्यकी मानवीय धारणा—ये सब ऐसी धारणाएँ हैं जो मानवीय चिन्तनकी प्रच्छन्न असीमतामें निर्मित होती हैं;—ये वे धारणाएँ हैं जिनके बिना न जीवन, न मेरा अस्तित्व ही सम्भव है। फिर भी सम्पूर्ण मानव-जातिके उस सारे श्रमका तिरस्कार करके मैं उसे नये सिरेसे और अपने मनमाने ढंगपर बनाना चाहता था।

यह ठीक है कि उस वक्त मैं इस तरह सोचता नहीं था, पर इन विचारोंके अङ्कुर तो मेरे अंदर उग ही चुके थे। तब मैंने यह अनुभव किया कि हमारे सारे तर्क धुरी और दाँतेसे अलग हो जानेवाले पहियेकी तरह एक भ्रमपूर्ण वृत्तमें ही घूम रहे हैं। चाहे हम कितना ही और कैसी भी अच्छी तरह तर्क करें, हमें उस सवालका जवाब नहीं मिल सकता; वहाँ तो सदा 'क' 'क' के बराबर ही रहेगा; इसलिये सम्भवतः हमारा यह मार्ग ग़लत है। दूसरी बात जो हमारी समझमें आने लगी, यह थी कि श्रद्धा एवं विश्वासने इस सवालके जो उत्तर दिये हैं, उनमें गम्भीरतम मानवज्ञान एवं विवेक सञ्चित है और यह भी कि मुझे तर्कके नामपर उनको अस्वीकार करनेका कोई अधिकार न था और वे ही ऐसे उत्तर हैं जो जिंदगीके सवालका जवाब दे पाते हैं।'

अब दिलमें हलकापन आया !

वे दूर-दूर, सब दूर भार !
ये झनक रहे उर मन्द्र तार !!
चिर युगसे सोये गायनको फिर मैंने निज उरमें पाया !
अब दिलमें हलकापन आया !
जो मुझे घेर घन अन्धकार
था करता व्याकुल बार-बार,
वह दूर भगा; पूरबमें, देखो, बाँका सूरज मुसकाया !
अब दिलमें हलकापन आया !
वह बन्धन भीषण गया छूट,
सम्बन्ध रहा जिससे अटूट;
था बन्धनको मैंने बाँधा, थी सारी मेरी ही माया !
अब दिलमें हलकापन आया !

—श्रीसत्यभूषण 'योगी'

श्रीहरिः

प्रपञ्चसे छूटनेके उपाय

गुरु और शास्त्रके वचनोंपर विश्वास रखना, भागवत धर्मका आचरण करना, भजनमें हृदयकी पूर्ण तन्मयता होना, यम, नियम आदिमें तत्पर रहना, योगेश्वर परमात्माकी उपासना करना, नित्य उनके पवित्र चरित्रोंको सुनना, धनकी प्राप्ति तथा इन्द्रियोंकी तृप्तिमें संलग्न पुरुषोंकी सङ्गतिको सर्वथा त्याग देना, एकान्तवासमें प्रेम रखना, आत्मस्वरूपमें संतोष एवं आनन्द मानना, श्रीहरिकी कथारूप अमृतका पान करते रहना, हिंसा न करना, यदृच्छासे जो कुछ प्राप्त हो जाय उसीमे निर्वाह करना, श्रीहरिके नाम, रूप, लीला और धामका प्रेमपूर्वक सेवन करना, अपने वास्तविक हितका ध्यान रखना, स्नान-सन्ध्या आदि नियमोंका विधिपूर्वक पालन करना, अन्य मार्ग या अन्य देवताकी निन्दा न करना, शीत, उष्ण, क्षुधा, तृषा आदि द्वन्द्वोंको सहना, सदैव श्रीहरिके गुणानुवादोंका उच्चारण करना। इस साधनासे सहज ही जीव जगत्के विषय-प्रपञ्चोंसे छूट जाता है और अनायास ही उसकी भगवच्चरणोंमें दृढ़ भक्ति और अनन्य प्रीति हो जाती है।

(श्रीमद्भागवत)
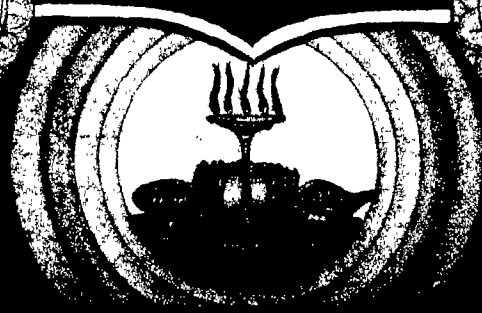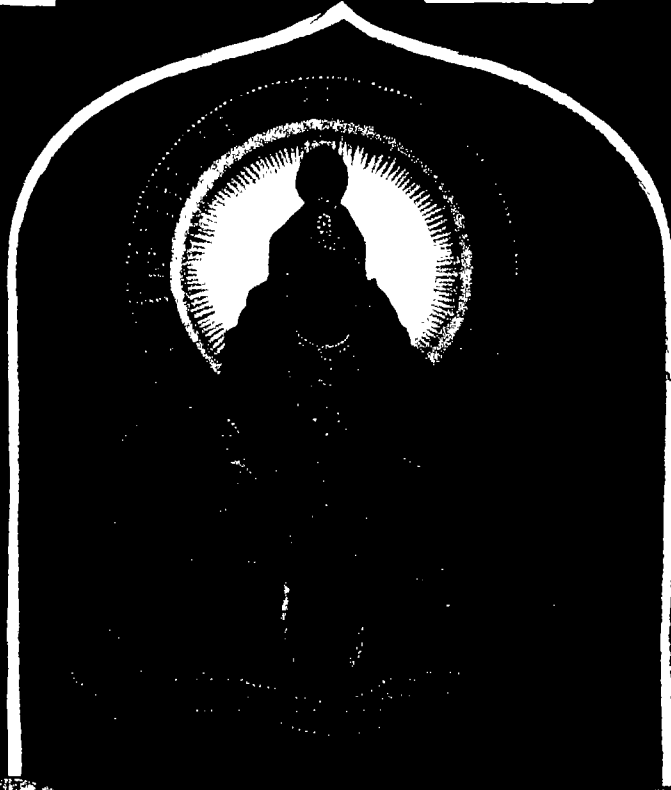
ॐ
कल्याण
वर्ष १४
अङ्क ९

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियराम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ आगारा ॥

[संस्करण ५६१००]

वार्षिक मूल्य भारतमें ४≡) विदेशमें ६॥≈) (१० शिलिङ्ग)	जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित आनँद भूमा जय जय ॥ जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन जय जय ॥ जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥	साधारण प्रति भारतमें ।) विदेशमें ।≡) (८ पेंस)

Edited by H. P. Poddar and C. L. Goswami, M. A., Shastri.
Printed and Published by Ghanshyamdas Jalan at the Gita Press, Gorakhpur (India).

श्रीहरिः

मानसाङ्क (प्रथम खण्ड) का चौथा संस्करण छप गया

केवल ५००० प्रतियाँ छापी गयी हैं। जिनकी माँगें रुकी हुई थीं, उन्हें अङ्क जाने शुरू हो गये हैं। माँग अच्छी आ रही है, अतः अङ्क शीघ्र समाप्त होनेकी आशा की जा सकती है।

जिन सज्जनोंको लेना हो, वे ३।।) मनीआर्डरसे भेजकर मँगा लें अथवा वी० पी० भेजनेकी आज्ञा दें। सजिल्दका दाम ४) है।

—मैनेजर, 'कल्याण' गोरखपुर।

कल्याण अप्रैल सन् १९४० की

विषय-सूची

आवश्यक सूचना

कल्याणका सम्पादकीय विभाग गोरखपुरसे बाहर जा रहा है। इसलिये 'कल्याण' और अंगरेजी 'कल्याण-कल्पतरु' के सम्पादकीय विभागसे सम्बन्ध रखनेवाले सब पत्र, लेख, पारसल, समाचारपत्र आदि दूसरी सूचना न मिलनेतक निम्नलिखित पतेपर भेजनेकी कृपा करें।

हनुमानप्रसाद पोद्दार
P. O. RATANGARH
(Bikaner)

श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारद्वारा सम्पादित

सचित्र, संक्षिप्त भक्त-चरित-मालाके चार नये पुष्प

प्राचीन भक्त

यह इस मालाका १० वाँ पुष्प है। इसमें भक्त मार्कण्डेय मुनि, भक्त महर्षि अगस्त्य और राजा शङ्ख, भक्त कण्डु मुनि, भक्त मुनि उतङ्क, भक्त आरण्यक मुनि, भक्त पुण्डरीक, भक्त चोळराज और ब्राह्मण विष्णुदास, ब्राह्मण देवमाली, भक्त भद्रतनु और उनके गुरु दान्त, भक्त राजा रत्नग्रीव, रामभक्त राजा सुरथ, दो मित्र भक्त, भक्त राजा चित्रकेतु, दानवराज वृत्रासुर और निर्लोभी भक्त तुलाधार शूद्र—इन पन्द्रह भक्तोंकी बहुत ही रोचक, उपदेशप्रद और भक्ति बढ़ानेवाली जीवनियाँ हैं। १२ बहुरंगे और १ सादे चित्रसे सुसज्जित १५६ पृष्ठकी पुस्तकका मूल्य केवल ।।) रक्खा गया है।

भक्त-सौरभ

साइज डबल क्राउन सोलहपेजी, ५ रंगीन चित्र, पृष्ठ-संख्या ११६, मूल्य ।-) मात्र।

इस ११ वें पुष्पमें भक्त श्रीव्यासदासजी, मामा श्रीप्रयागदासजी, भक्त शङ्कर पण्डित, भक्त प्रतापराय और भक्त गिरधरकी बड़ी ही भगवद्भक्तिपूर्ण रसमयी कथाएँ हैं। प्रथम दो भक्त बड़े ही भावुक और प्रेमी हैं। शेष तीन भक्तोंका जीवन कष्टोंसे भरा हुआ परन्तु अत्यन्त उपदेशपूर्ण और श्रीभगवान्‌की कृपाका प्रत्यक्ष निदर्शक है। कथाएँ बहुत ही उत्तम हैं।

भक्त-सरोज

पृष्ठ-संख्या ११६, चित्र रंगीन ९, मूल्य ।=) मात्र।

इस १२ वें पुष्पमें दस भक्तोंकी बड़ी अच्छी उपदेशयुक्त और भक्ति बढ़ानेवाली कथाएँ हैं। ये सभी भक्त बड़े विश्वासी और श्रद्धासम्पन्न थे। इनके नाम ये हैं—भक्त गङ्गाधरदास, भक्त श्रीनिवास आचार्य, भक्त श्रीधर, भक्त गदाधर भट्ट, भक्त लोकनाथ गोस्वामी, भक्त लोचनदास, भक्त मुरारिदास, भक्त हरिदासजी, भक्त भुवनसिंह चौहान और भक्त अङ्गदसिंह।

भक्त-सुमन

पृष्ठ-संख्या १२०, चित्र रंगीन ७ और सादे २, मूल्य ।=) मात्र।

यह इस मालाका तेरहवाँ पुष्प है। इसमें दस भक्तोंकी बड़ी ही सुन्दर कथाएँ हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं—भक्त विष्णुचित्त और उनके शिष्य नरपति, भक्त विसोबा सराफ़, भक्त नामदेव, भक्त राँका-बाँका, भक्त धनुर्दास, भक्त पुरन्दरदास, भक्त गणेशनाथ, भक्त जोग परमानन्द, भक्त मनकोजी बोधला और भक्त सदन कसाई।

ये सभी पुस्तकें बालक-वृद्ध, स्त्री-पुरुष, सबके पढ़नेयोग्य बड़ी ही सुन्दर और शिक्षाप्रद हैं। एक-एक प्रति अवश्य पास रखनेयोग्य है।

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

आदर्श चरितमालाके तीन नये पुष्प

लेखक—पं० श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी सम्पादक—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

प्रेमी भक्त उद्धव

डबल क्राउन सोलहपेजी, ग्लेज कागज, भगवान् श्रीकृष्ण, श्रीकृष्ण उद्धवको व्रज भेज रहे हैं और उद्धव—गोपियोंमें—ये तीन रंगीन चित्र, पृष्ठ-संख्या ६८, मूल्य ≈) मात्र।

महाभागवत परम प्रेमी उद्धवका यह चरित्र इस मालाका तृतीय पुष्प है। आधार तो मुख्यत: श्रीमद्भागवत तथा गर्गसंहिताका है ही परन्तु लेखकने अपनी सुन्दर एवं भावपूर्ण शैलीमें चरित्रका जो विन्यास किया है वह पाठकोंको विशेष प्रीतिकर होगा ऐसा विश्वास है। पुस्तकके अन्तिम भागमें उद्धवके प्रति भगवान् श्रीकृष्णके उपदेश सङ्कलित हैं जिसके कारण पुस्तककी उपयोगिता और भी बढ़ गयी है।

महात्मा विदुर

डबल क्राउन सोलहपेजी, ग्लेज कागज, विदुरके घर भोजनका दुरंगा चित्र, पृष्ठ६४,मूल्य ≈)॥

महात्मा विदुरका यह चरित 'आदर्श चरितमाला' का चौथा पुष्प है। महाभारत तथा श्रीमद्भागवतके आधारपर यह चरित्र बहुत सरल, सुन्दर एवं ओजस्विनी भाषामें वर्णन किया गया है। पुस्तकमें विदुरके जीवनकी प्रमुख घटनाओंका उल्लेख तो है ही, सबसे सुन्दर बात यह है कि विद्वान् लेखकने विदुरकी धर्मनीतिका बहुत ही उत्तम आकलन किया है जिसके कारण पुस्तक सबके लिये उपयोगी हो गयी है।

भक्तराज ध्रुव

डबल क्राउन सोलहपेजी, ग्लेज कागज, माताका उपदेश, ध्रुवको भगवद्दर्शन, ध्रुवका स्वागत और यक्षोंके साथ युद्ध—ये चार रंगीन और एक सादा चित्र, पृष्ठ ५२, मूल्य ≈) मात्र।

भक्तराज ध्रुवका यह चरित्र इस मालाके पञ्चम पुष्पके रूपमें बहुत ही सीधी-सादी परन्तु प्रभावशाली भाषामें गुम्फित किया गया है। महाभारत, भागवत, विष्णुपुराण तथा अन्य पुराणोंका आधार लेकर यह बहुत सुन्दर वस्तु पण्डितजीने पाठकोंके सम्मुख रक्खी है।

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीविरचित

दोहावली

टीकाकार—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

आकार २२×२९—१६ पेजी श्रीगोस्वामीजी और श्रीरामचतुष्टयके तिरंगे चित्र, पृष्ठ २२४ मूल्य ॥)

दोहावली प्रात:स्मरणीय भक्तकुलचूडामणि गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीकी प्रमुख कृतियोंमें है और भक्त-समाजमें इसका बहुत आदर है। गोस्वामीजीने अपनी अनुभूतियोंको बड़े ही भावपूर्ण दोहोंमें व्यक्त किया है। भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सदाचार, प्रेम, नीति आदि विविध विषयोंपर इतने सरस दोहे गोस्वामीजीकी कृतियोंके अतिरिक्त शायद ही कहीं मिलें। बड़ी सुन्दर पुस्तक है।

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

प्रेम-दीवानी मीरा

सूचना

श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका चैत्र सुदी २ के लगभग हृषीकेश पहुँचनेका विचार है। वहाँ वे सदाकी भाँति स्वर्गाश्रममें ठहर सकते हैं। वह स्थान भजन-ध्यान-सत्सङ्गके लिये बहुत उपयोगी है।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ (गीता १८ । ६६)

वर्ष १४ | गोरखपुर, अप्रैल १९४० | संख्या ९ | पूर्ण संख्या १६५

प्रेमकी वेदना

हे री मैं तो प्रेम दिवानी, मेरो दरद न जानै कोय ॥
घायल की गति घायल जानै, को जिन लाई होय ।
जौहरि की गति जौहरी जानै, की जिन जौहर होय ॥ १ ॥
सूली ऊपर सेज हमारी, सोना किस बिध होय ।
गगन मँडल पर सेज पिया की, किस बिध मिलना होय ॥ २ ॥
दरद की मारी बन बन डोलूँ, बैद मिल्या नहिं कोय ।
मीरा की प्रभु पीर मिटै जब बैद सँवलियो होय ॥ ३ ॥

—मीराबाई

परमहंस-विवेकमाला

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

[मणि १६]

(गताङ्कसे आगे)

स्वर्ग-मार्गका वर्णन—जो लोग अग्निहोत्रादि इष्ट कर्म, वापी-कूप-तड़ागादि पूर्त कर्म और दूसरे नाना प्रकारके दानादि कर्म करते हैं, वे मरकर स्वर्गको जाते हैं। स्वर्गको जाते हुए वे कर्मी पुरुष धूमका अनुभव करते हैं। धूममेंसे निकलनेके बाद रात्रि आती है। रात्रिके पीछे कृष्णपक्ष आता है और पीछे दक्षिणायनके छः मासको प्राप्त होते हैं। दक्षिणायन देवताओंकी रात्रि है। वहाँसे कर्मी पुरुष पितृलोकमेंसे होकर चन्द्रलोकको प्राप्त होते हैं। कृष्णपक्षमें इन्द्रादि देवता चन्द्रको भक्षण करते हैं और जीव चन्द्रके साथ एकीभावको प्राप्त होनेसे भक्षण किया जाता है। भाव यह है कि कर्मी पुरुषको देवताओंके अधीन रहना होता है, इसलिये कर्मी पुरुष देवताओंका उपभोग्य होनेसे भक्षण किया जाता है। ऐसा कहा जाता है, स्वर्गमें रहनेवाले जीव सम्पूर्ण सुख भोगनेपर भी पुण्यके क्षय होनेके भयसे महान् कष्ट पाते हैं। जैसे इस लोकमें स्त्रीकी अप्राप्ति, राजाका भय आदि दुःख हैं, उसी प्रकार स्वर्गलोकमें भी हैं। स्वर्गसे गिरा हुआ जीव अन्नादिके द्वारा मनुष्यके शरीरको प्राप्त होता है, पीछे माताद्वारा उत्पन्न होकर यौवनको प्राप्त होता है। यौवनको प्राप्त होकर पुरुष कामरूपी पिशाचके द्वारा ग्रसा जाता है और स्त्रीसंगकी लोलुपतारूप अग्निसे पीड़ित होता है। जैसे मल-मूत्रके रुकनेसे मनुष्य पीड़ित होता है उसी प्रकार वीर्यके रुकनेसे दुखी होता है। जैसे बालक सर्पको हाथमें पकड़ ले, उसी प्रकार स्त्री भी महाकष्टकारी वीर्यको बड़े आनन्दसे धारण करती है और पीछे परम दुःखको प्राप्त होती है। प्रसवकालमें उसके प्राण जाने बाकी रहते हैं। इस प्रकार माता-पिता पुत्रको उत्पन्न करके स्वयं दुखी होते हैं और पुत्रको दुःख भोगनेके लिये उत्पन्न करते हैं!

डोरूशंकर—हे देवी! आप तो पुत्रोत्पत्तिको दुःखका कारण कहती हैं परन्तु ऋग्वेदमें तो हरिश्चन्द्र राजाके उपाख्यानमें कहा है कि 'अपुत्रस्य न लोकोऽस्ति' अर्थात् अपुत्रको कोई लोक प्राप्त नहीं होता। आपके वचनमें और वेदवचनमें विरोध आता है, इसका क्या कारण है?

देवी—हे वत्स! ऋग्वेदका वचन सत्य ही है, क्योंकि एक पुत्र उत्पन्न करना धर्म है। और पुत्रोत्पत्तिके उद्देश्यसे इस प्रकरणमें जो निन्दा की गयी है, वह वैराग्य उत्पन्न करनेके लिये है। कुत्ते और अन्य क्षुद्र जन्तुओंके समान निरन्तर विकारमें लीन होकर मैथुन-धर्मसे सन्तान उत्पन्न करते रहना माता-पिता और सन्तान दोनोंके दुःखका ही कारण है। ऋग्वेदमें यह भी तो कहा है कि 'आत्मा वै जायते पुत्रः' अर्थात् अपना आत्मा ही पुत्ररूपसे उत्पन्न होता है। इसलिये एक पुत्र उत्पन्न होनेके बाद स्त्री जननी—माताके समान हो जाती है। जो पुरुष पीछे उसमें भी कामभावना करते हैं, वे 'मातरं स्वसारं च ते यान्ति' अर्थात् वे माता और बहिनके साथ गमन करनेवाले पशुओंके समान हो जाते हैं। संसारके व्यवहार चलानेके लिये पुत्रकी उत्पत्तिकी विधि है और उस विधिसे 'पुत्रेणायं लोकजयः' पुत्रद्वारा इस लोकका जय प्राप्त हो सकता है, यह ठीक ही है; परन्तु ऐसा होनेसे मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती। गर्भोपनिषद्में मोक्षका प्रकरण है।

हे पुत्र ! अधिकारी पुरुषोंके लिये ब्रह्मचर्य पालन करनेका विधान करती हुई श्रुति भगवती कहती है कि 'हे अधिकारियो ! इस मनुष्यलोककी स्त्रियोंसे स्वर्गलोककी और ब्रह्मलोककी स्त्रियाँ अत्यन्त मनोहर और सौन्दर्यशालिनी हैं, उनकी इच्छा करके भी तुमको यहाँपर ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये, स्वर्गलोक और ब्रह्मलोककी स्त्रियाँ मानव स्त्रियोंके समान गर्भधारण नहीं करतीं, इसलिये उनसे संसार-जाल विस्तारको नहीं प्राप्त होता और इस कारण दुःखोंकी परम्परा भी उत्पन्न नहीं होती। यदि तुम इस लोकमें ब्रह्मचर्य पालन करते रहोगे, तो वे स्वर्गके द्वारपर अप्सराएँ पुष्प-चन्दन लेकर तुमको लेनेके लिये आवेंगी; इसलिये स्वर्गकी इच्छा करके ब्रह्मचर्यका पालन करो ।'

जो अधिकारी ब्रह्मचर्यका पालन करनेमें समर्थ न हो, उनको श्रुति भगवती आज्ञा करती है कि 'हे पुत्रो ! यदि तुम ब्रह्मचर्य पालन करनेमें असमर्थ हो तो तुम शरीरसे और मनसे परस्त्रीगमन तो मत करो ! जो पुरुष परस्त्रीगमन करता है, वह इस लोकमें और परलोकमें महान् भयको प्राप्त होता है। कामकी शान्तिके लिये, हे पुत्रो ! तुम विवाहिता स्त्रीके साथ रहकर गृहस्थ-धर्मका पालन करो। शास्त्रमें जिन कर्मोंका निषेध किया गया है, उनको त्याग दो; यज्ञ-यागादि श्रेष्ठ कर्मोंका आचरण करो। विवाहिता स्त्रीके साथ रहना भी ब्रह्मचर्यके ही समान है। गृहस्थाश्रममें भी शास्त्रके नियमोंका पालन करना चाहिये, अर्थात् दिनमें संग न करना चाहिये। एकादशी, द्वादशी, अमावस्या, पूर्णिमा, संक्रान्ति, व्यतीपात और प्रदोषके समय संग न करना चाहिये। ऋतुकालके सिवा अन्य कालमें भी गमन करना उचित नहीं है। शास्त्रोक्त नियमोंके अनुसार जो ऋतुस्नाता अपनी स्त्रीमें गमन करते हैं, उनको शुभ लक्षणवाले और दीर्घायु पुत्रकी प्राप्ति होती है।' हे सोम्य ! श्रुति-स्मृतिका तात्पर्य इस प्रकार निवृत्तिमार्गकी तरफ ले जानेका है; परन्तु जो लोग ब्रह्मचर्य पालन करनेमें समर्थ नहीं हैं, उनको गृहस्थ-धर्मका उपदेश करके पुत्रोत्पत्तिका मार्ग दिखाया गया है।

हे पुत्र ! जो वस्तु रागसे प्राप्त होती है उसके लिये शास्त्र आज्ञा नहीं देते। मनुष्योंको और पशुओंको स्त्रीसंग रागसे प्राप्त होनेवाली वस्तु है; इसलिये शास्त्र स्त्रीसंगकी आज्ञा करे, यह सम्भव नहीं है। पुत्रोत्पत्ति करनेवाले रागी पुरुषोंकी अथर्ववेदमें पशुओंसे उपमा दी है, इसका यही कारण है। 'पतिर्जायां प्रविशति' इस श्रुतिसे एक पुत्रकी उत्पत्ति करनेके बाद उस स्त्रीके साथ संग करनेका निषेध किया गया है। क्योंकि वह स्त्री पुत्रोत्पत्तिके बाद 'जाया' अर्थात् माताके समान हो जाती है, पुत्रकी उत्पत्तिके पहले वह स्त्री 'जाया' नहीं कहलाती। जाया यानी मातास्वरूप स्त्रीसे संग करना महान् अधर्म है। इस प्रकार यथार्थ रीतिसे शास्त्रीय नियम पाला जाय, तो शास्त्रानुसार पुरुष एक जन्ममें केवल एक ही बार स्त्रीसंग कर सकता है और ऐसा होनेसे ब्रह्मचर्यका पालन ही समझा जाता है। हे वत्स ! ब्रह्मचर्य पालन करनेवाले पुरुषको हृदय-कमलमें रहनेवाले परमात्माका सहज ही दर्शन होता है, इसलिये श्रुति भगवती मनुष्योंके हितके लिये परम अद्भुत ब्रह्मचर्यका उपदेश करती है।

ब्रह्म-कर्म-धर्मका उपदेश—हे पुत्रो ! जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज ये चारों प्रकारके जीव सर्वदा अखण्ड सुखप्राप्तिकी इच्छा करते हैं। दुःखकी प्राप्तिके लिये कोई भी कभी प्रयास नहीं करता। यद्यपि जीव सर्वदा सुखके लिये ही प्रयत्न करते रहते हैं, तो भी उनको दुःखकी प्राप्ति होती हुई देखकर श्रुति माता स्नेह एवं करुणा करके मनुष्योंको इस प्रकार उपदेश देती है—'हे पुत्रो ! यदि तुमको सर्वदा सुखी रहनेकी अभिलाषा हो, तो तुमको अन्य विशेष व्रत छोड़कर ब्रह्मचर्य-व्रत ही धारण करना चाहिये, ब्रह्मचर्यसे ही तुमको सुखकी प्राप्ति होगी। हे चतुर मनुष्यो ! तुमको श्रोत्र, मन

और बुद्धि प्राप्त हुई है; इसलिये मेरे वचनोंको सुनकर उनको धारण करो। तुम्हारे सिवा दूसरे जीव मेरे वचनोंको सुननेके अधिकारी नहीं हैं। तुम बुद्धिसम्पन्न उत्तम जीव हो, इसलिये तुम ब्रह्मचर्यका पालन करके उत्तम सुखके मार्गका आश्रय करो। वृक्षादि श्रोत्रेन्द्रियसे रहित होनेसे मेरे वचनोंको सुननेके अधिकारी नहीं हैं। अश्वादि पशुओंके श्रोत्र हैं, परन्तु वे बुद्धिरहित हैं; इसलिये वे भी मेरे वचनोंका पालन करनेको समर्थ नहीं हैं। तुम ही मेरा उपदेश सुननेके अधिकारी हो, इसलिये मेरे वचन सुनकर ब्रह्मचर्यका पालन करो। और महान् दुर्लभ सुखको प्राप्त होओ। इस जगत्‌में जो जीव कामके वश होते हैं, वे कभी भी अखण्ड सुखको प्राप्त नहीं कर सकते, इसलिये तुम कामका परित्याग करो। कामसे ही सब प्राणी दुखी हैं, इसलिये तुम कामका परित्याग करके ब्रह्मचर्यका पालन करो। इस मनुष्यदेहमें ही ब्रह्मानन्द प्राप्त हो सकता है। अधिकारी पुरुषको पुत्रैषणा, लोकैषणा और वित्तैषणा त्यागकर आनन्दके समुद्ररूप ब्रह्मानन्दके प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिये। कामदोषका परित्याग न करनेवाले मनुष्योंको श्वानादि पशुओंके समान विषयभोगरूप पापकर्म अवश्य करना पड़ता है। शास्त्रदृष्टिसे रहित श्वानादि पशु भी अपनी स्त्रीके संगसे पुत्रादिकी उत्पत्ति करते हैं। पशु-पक्षी भी कामवासनाके कारण स्त्री और कुटुम्बके वश रहकर उनका पालन करते हैं, तब मनुष्य और पशु-पक्षियोंमें क्या भेद हुआ? उत्तम बुद्धिसम्पन्न होकर मनुष्योंको पशु-पक्षियोंका व्यवहार करना योग्य नहीं है।'

विधिवचनविवेक—हे पुत्र! वेदमें दो प्रकारके विधिवचन कहे गये हैं—एक नित्यविधिवचन और दूसरे काम्य विधिवचन। विधिवचनोंके अनुसरणसे मनुष्यको पुण्यकी प्राप्ति होती है और उनका उल्लङ्घन करनेसे पापकी प्राप्ति होती है। 'अहरहः सन्ध्यामुपासीत' यह वचन तीनों वर्णोंको प्रतिदिन सन्ध्याका अनुष्ठान करनेकी आज्ञा देता है। इस वचनका उल्लङ्घन करनेवालेको पाप लगता है। जिसका अनुवर्तन न करनेसे पाप न लगे, परन्तु करनेसे फलकी प्राप्ति अवश्य हो, उसको काम्य विधिवचन कहते हैं—जैसे 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत'—स्वर्गकी कामनावाले पुरुषको ज्योतिष्टोम नामका यज्ञ करना चाहिये, यह काम्य विधिवचन है। वेदोक्त पुत्रोत्पत्तिसम्बन्धी वचन नित्यविधिवचन नहीं है; किन्तु काम्य विधिवचन है। शत्रुको मारनेकी इच्छावाले पुरुषको वेदमें श्येनयज्ञ करनेको कहा है। यह भी काम्य विधिवचन है। इसका उल्लङ्घन करनेसे पाप नहीं लगता परन्तु करनेसे श्येनको मारनेका पाप लगता है और शत्रुका नाशरूप फल मिलता है। इसी प्रकार जिसको पुत्रकी इच्छा हो, वह स्त्रीसंग करे—यह केवल काम्य विधि है, सबके लिये नहीं है। इसके न करनेसे पाप नहीं लगता। हे वत्स! वेदमें नित्यविधिवचनोंमें कहीं भी पुत्रोत्पत्तिवचन नहीं है, केवल काम्य विधिमें ही उसका समावेश किया गया है।

जैसे अग्निके तापसे पुष्पोंका सार निकलता है, उसी प्रकार कामके तापसे पुरुषके शरीरमेंसे वीर्य निकलता है। जैसे वायु वृक्षको हिला देता है उसी प्रकार स्त्रीको देखते ही पुरुषके हृदयकमलको काम क्षुभित कर देता है, इसलिये कामाधीन हुआ वह दुखी पुरुष स्त्रीके वश हो जाता है। जैसे कामी पुरुषको दुःख होता है, उसी प्रकार वीर्यमें रहनेवाले जीवात्माको भी दुःख होता है। पुरुषके वीर्यमें रहनेवाले जीवात्माको धातुओंमें, अग्निमें तथा वायुमें महाकष्टसे फिरना पड़ता है। शुक्र और शोणित दोनों महानिकृष्ट मल कहलाते हैं और उनमेंसे गर्भकी उत्पत्ति होकर मनुष्यशरीर बनता है। जिसमें शुक्र और शोणित हों, वही 'शरीर' कहलाता है।

पुरुष, स्त्री और नपुंसककी उत्पत्ति—हे पुत्र! स्त्री-पुरुषके संगमें जब वीर्यकी अधिकता होती है तब

पुरुष-गर्भ उत्पन्न होता है; जब शोणितकी अधिकता होती है तब स्त्री-गर्भ उत्पन्न होता है और जब शुक्र, शोणित दोनों समान होते हैं, तब नपुंसक-गर्भकी उत्पत्ति होती है। संभोग-कालमें जब स्त्री-पुरुष दोनों प्रसन्न होते हैं तो जो बालक उत्पन्न होता है, वह सर्वाङ्ग सुन्दर होता है और जब स्त्री-पुरुष दोनोंमेंसे कोई एक खिन्न होता है अथवा दोनों खिन्न होते हैं, तब बालक किसी-न-किसी अङ्गसे हीन, कुरूप और दुष्ट स्वभाववाला होता है। संभोग होनेके बाद शुक्र और शोणितके संगसे प्रथम पानी-जैसा कलिल उत्पन्न होता है, सात दिन पीछे फेन-सा होकर अङ्गुष्ठ-परिमाणका बुद्‌बुद बन जाता है, पीछे प्रवाही स्वरूपको त्यागकर मांस-पिण्डका स्वरूप धारण करता है फिर मांसपिण्डमें प्रथम सुषुम्णा नाड़ी उत्पन्न होती है, पीछे ऊपर कही हुई अन्य नाड़ियाँ उत्पन्न होती हैं और उनके द्वारा गर्भका माताके भोजन किये हुए अन्नसे पोषण होता है। दो महीने पीछे उस मांसपिण्डमेंसे मस्तक उत्पन्न होता है, तीसरे महीने हाथ-पैर उत्पन्न होते हैं, चौथे महीने अङ्गुलियाँ उत्पन्न होती हैं, पाँचवें महीने धड़ बन जाता है, छठे महीने वागादि इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं, सातवें महीने प्राणका आविर्भाव होता है, आठवें महीनेमें जन्मे हुए बालकके जीवनमें संशय रहता है। नवें महीनेमें गर्भ सब लक्षणोंसे सम्पन्न हो जाता है। और जन्म लेकर जीता है।

गर्भमें बालकको पश्चात्ताप—नवें महीनेमें सर्व बोधको प्राप्त हुआ गर्भ पिछले जन्मोंकी याद करके इस प्रकार पश्चात्ताप करता है—'इस दुःखरूप संसार-समुद्रमें पूर्वकालमें मैं सुख-दुःखकी प्राप्ति-रूप असंख्य शरीर धारण कर चुका हूँ। उन शरीरोंमें मुझे कई बार श्वानके शरीरकी प्राप्ति हुई, कई बार सूकरके शरीरकी प्राप्ति हुई, कई बार ऊँट, घोड़े, गदहेका शरीर प्राप्त हुआ, कई बार स्थावर वृक्षादि शरीर प्राप्त हुए और अनेक बार मनुष्योंमें ब्राह्मणसे लेकर चाण्डालतकके शरीर प्राप्त हुए। स्वर्ग, नरक और दूसरे दुःखोंमें मैं अनेक बार पड़ चुका हूँ। माताके स्तनमेंसे पीबके समान निकलता हुआ दूध मैं कई बार पी चुका हूँ। भक्ष्य-अभक्ष्य पदार्थ अनेक बार भक्षण कर चुका हूँ। भिन्न-भिन्न शरीरोंमें मैंने अनेक बार प्रीति की है। मेरे अनेक माता-पिता हो चुके हैं। अनेक जन्म-मरण मैंने देखे हैं। इस जगत्‌में जन्म लेकर मैं अनेक प्रकारके शुभ-अशुभ कर्म कर चुका हूँ; परन्तु मैंने जन्म-मरणके चक्रमेंसे छूटनेके लिये कभी मार्ग नहीं ढूँढ़ा। हारे जुआरीके समान इस संसारकी घट-मालामें मैं घूमता रहा हूँ। पुण्य-पापरूप कर्मोंसे छूटनेके लिये मैंने अष्टाङ्गयोग करके परब्रह्मको नहीं जाना। अब भी मुझे आत्मज्ञान न हुआ, तो कब होगा? अब मैं जन्म लेकर परब्रह्मकी प्राप्तिके साधन करूँगा। यह भी नहीं बन सकेगा तो श्रीमहेश्वर अथवा विष्णुका आराधन करूँगा। यह कलेवर किसी कामका नहीं है, कोई बुद्धिमान् इसके ऊपर स्नेह नहीं रखता। जो स्त्री-पुत्रादि बान्धव जीवित समयमें पुरुषके पैर छूते हैं, वे ही मरणके पीछे देहको श्मशानमें ले जाकर जलाते हैं और पीछे स्नान करते हैं; इसलिये यह मनुष्य-देह क्षुद्र पापकर्मोंका बना हुआ है। अब मैं ऐसे अपवित्र देहमें प्रीति नहीं करूँगा! जिनको मुझसे कुछ भी प्रीति नहीं होती, उन स्त्री-पुत्रादिके भरण-पोषणके लिये मैं अनेक प्रकारके प्रपञ्च और पाप-कर्म करके अशुभ फलको अपने पल्ले नहीं बाँधूँगा और इस जन्ममें मैं ऐसा प्रयत्न करूँगा कि फिर मुझे इस दुःखरूप संसारमें जन्म न लेना पड़े।' इस प्रकार पश्चात्ताप करनेके पश्चात् योनिद्वारपर आकर यन्त्रसे पीड़ित होकर महान् दुःखसे बालक जन्म लेता है और वैष्णवी वायुके संस्पर्शसे जन्म-मरणको भूल जाता है और शुभाशुभ कर्मोंको भी नहीं जानता।

मरणके चिह्न—हे पुत्र ! मनुष्यके दोनों नेत्रोंमें एक नाडीके सम्बन्धसे अन्तर्यामी स्थित हैं। जब मृत्यु समीप आता है, तब उस नाड़ीका सम्बन्ध टूट जाता है और नेत्रका देवता नष्ट हो जाता है। तब उस मरनेवाले मनुष्यको सूर्य ठंडा और रक्त दिखायी देता है, किरणें दिखायी नहीं देतीं। जिस पुरुषका मरण समीप आता है, उसको दिशाएँ और तारे लाल रंगके दिखायी देते हैं। मृत्युके समय पायु-इन्द्रिय छूट जाती है, मल बंद नहीं होता, माथेमेंसे दुर्गन्धि निकलती है। जिसका मरण निकट होता है; उसको उसकी छायामें छिद्र दीखते हैं। जिसको दर्पणमें और छायामें अपने मस्तकका संशय हो, वह थोड़े कालमें मर जाता है। कानमें अँगुली डालनेसे जिसको प्राणवायुका शब्द सुनायी न दे, वह थोड़े कालमें मर जाता है, जिसको अग्नि काली दिखायी दे और मेघ विना ही आकाशमें बिजली भासती हो, वह भी थोड़े समय पीछे मर जाता है। मेघसे पूर्ण आकाशमें जिसको सूर्य दिखायी देता है, और अग्निरहित भूमिमें जिसको अग्नि भासता है, वह पुरुष थोड़े कालमें मरणको प्राप्त होता है। जो पुरुष अपने मस्तकमेंसे धूल निकलता हुआ देखता है, वह शीघ्र मर जाता है। जिसका शरीर पूर्वमें कृश हो और विना कारण ही मोटा हो जाय, वह पुरुष मरणके समीप है। जिसका मरण निकट होता है, यदि वह क्रोधी होता है तो अचानक शान्त स्वभाव हो जाता है और शान्त स्वभाववाला होता है तो अचानक क्रोधी हो जाता है। विष्ठा और मूत्रका साथ ही त्याग हो, क्षुधा-पिपासा एक ही कालमें लगे, वृक्षके अग्रभागमें गन्धर्व-नगर दीखे, अपना शरीर काला अथवा पीला दीखे, ऐसा पुरुष वर्षके भीतर मर जाता है। गृध्रादि मांसभक्षण करनेवाले प्राणी जिसके शरीरकी तरफ चले आवें, वह पुरुष भी थोड़े कालमें मरणके शरण होता है।

षाण्मासिक मरणचिह्न—हे पुत्र ! छः मासमें जिसका मरण होनेवाला होता है, उस मनुष्यको रङ्ग विपरीत दिखायी देते हैं, यानी काला रङ्ग श्वेत दिखायी देता है और श्वेत काला दिखायी देता है। सूर्य और चन्द्र उसको पृथिवीपर पड़े हुए दिखायी देते हैं और पृथिवीके पदार्थ आकाशमें दिखायी देते हैं। जिसके ओष्ठ और तालु विना रोगके ही सूखने लगें, वह छः मासमें अवश्य मर जाता है। जिसका शरीर घूमता है और जिसको पर्वत, वृक्षादि स्थावर पदार्थ घूमते दिखायी दें, वह छः महीनेमें मर जाता है, जिसको घण्टेका शब्द सुनायी न दे, कीचड़वाली और रेतवाली भूमिमें जिसके पैर खण्डित पड़ें, वह छः मासमें मर जाता है। आँखके चलाये विना जिसकी आँखमेंसे तिनके-के समान तेज दिखायी दे, वह तीन महीनेमें मर जाता है। जिसकी आँखोंसे रूपादि ग्रहण न हो, जिसको देवताओंके शरीर दीखें और उनके शब्द सुनायी दें, वह मनुष्य एक महीनेमें मर जाता है। जिसके मस्तकमेंसे गरम ज्वाला निकले, जिसको दिनमें उल्कापात होता दिखायी दे, जिसको रात्रिमें इन्द्रधनुष दिखायी दे, जिसको मेघ विना आकाशमें बिजली कौंधती दिखायी दे और जिसको बिजली चमकती हुई भी दिखायी न दे, वे सब एक महीनेमें मर जाते हैं। जिसको रूखे पदार्थ स्निग्ध प्रतीत हों, शीतल पदार्थ गरम और गरम पदार्थ शीतल लगें और स्नान करनेपर जिसके सब अङ्ग भीग जायँ परन्तु हृदय और पैर सूख जायँ, वह मनुष्य एक महीनेमें मरणको प्राप्त होता है।

स्वप्नावस्थामें मरणके चिह्न—हे पुत्र ! स्वप्नमें जिसको काले दाँतवाला, काले शरीरवाला और भयङ्कर पुरुष दिखायी दे वह पुरुष थोड़े कालमें मर जाता है। स्वप्नमें जिसके शरीरको बन्दर अथवा सूकर भक्षण करे अथवा ले जाय, वह छः महीनेमें मर जाता है। स्वप्नमें पीले अन्नका भक्षण करनेवाला,

मधुके साथ अन्न भोजन करनेवाला और कमलकी कोमल जटा भक्षण करनेवाला छः मासमें मर जाता है। जिस पुरुषको स्वप्नमें काली गाय और काला बछड़ा साथ-साथ दक्षिण दिशामें जाते दीखें, जो ऊँट, गर्दभ अथवा वाराहके रथमें बैठे, जो श्वेत कमल अथवा लाल कनेरकी माला अपने कण्ठमें धारण की हुई देखे, वह भी थोड़े दिनमें मर जाता है।

त्रिगुणमय शरीर—हे पुत्र! प्रकृति त्रिगुणमयी है। त्रिगुणमयी प्रकृतिसे यह शरीर उत्पन्न हुआ है; इसलिये सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणोंसे यह शरीर सर्वदा युक्त है। कभी शरीरमें सत्त्वगुणकी अधिकता होती है, कभी रजोगुणकी वृद्धि होती है और कभी तमोगुणकी बहुलता होती है। भाव यह है कि देहमें तीनों गुणोंका साम्य कभी नहीं होता। इन तीनों गुणोंके परमाणु देहपिण्डमें सर्वदा परिवर्तनको प्राप्त होते रहते हैं, कभी परमाणु देहसे बाहर जाते हैं और कभी भीतर आते हैं। परमाणुओंका गमनागमन जाननेमें नहीं आता, इसलिये देहका एकत्व माना जाता है; परमार्थसे देह एक-सी कभी नहीं रहती। सर्व परमाणु एक बार ही बाहर नहीं चले जाते; इसीसे द्रव्य, गुण और कर्म—ये तीनों सिद्ध होते हैं। जैसे मदिरा पीनेवालेके पास मदिरा पीनेवाले सदा जाते रहते हैं और सदाचारमें प्रीति रखनेवाले पुरुष मदिरा पीनेवालोंको त्याग देते हैं, उसी प्रकार साधु पुरुषके शरीरमें सतोगुणी परमाणु सर्व दिशाओं और देशोंसे सर्वदा खिंचकर आते हैं और रजोगुणी और तमोगुणी परमाणु साधु पुरुषकी देहको छोड़कर असात्त्विक पुरुषोंके पास चले जाते हैं। इस प्रकार मनुष्योंके चिन्तन और कर्मके प्रभावसे उनका उत्थान और पतन हुआ करता है, इसमें संशय नहीं है। तीव्र चेष्टाके प्रभावसे शीघ्र ही उन्नति प्राप्त होती है। कहावत भी है कि तीव्र चिन्तन करनेसे कीट भी भ्रमररूप हो जाता है। जैसे सुराभाण्डके समीप आनेसे सात्त्विक मनुष्य बिना इच्छाके भी अन्य पुरुषोंके साथ सुरा-गन्धका अनुभव करता है, इसी प्रकार दुर्जनके संसर्गसे अवश्य ही पाप लगता है और सज्जनके संसर्गसे निश्चय पुण्यकी प्राप्ति होती है। मनुष्यको सत्कर्म और सच्चिन्तनसे सर्वदा सात्त्विक बनना चाहिये और रजस् तथा तमस्को दूर करना चाहिये। सत्त्वगुणसे ज्ञान, भक्ति, सुख, शुभेच्छा, दया और आर्जव उत्पन्न होते हैं; रजोगुणसे कर्मकी अधिकता, दुःख और चञ्चलता सदा बढ़ती है और तमोगुणसे जड़ता, अज्ञान, हिंसा और दर्पादिकी वृद्धि होती है। इसलिये ब्रह्ममन्दिररूप शरीरका सर्वदा योगसे शोधन करे, यह ब्रह्मवेत्ता संत-महात्माओंका मत है।

भजन-विधि-वर्णन—हे पुत्र! जीव गर्भमें भजन करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं और संसारका वायु लगनेसे अपनी प्रतिज्ञाको भूलकर संसारमें आसक्त हो जाते हैं। उन जीवोंको उनकी प्रतिज्ञाका स्मरण करानेके लिये श्रुति भगवती करुणा करके माताके समान पिप्पलाद मुनिके द्वारा इस शरीरके दोष दिखाकर शरीरसे वैराग्य करनेका और ईश्वर-भजन करके संसारचक्रसे छूटनेका उपदेश करती है। मनका और प्राणका समाधिद्वारा परमात्मामें जो विलय है, वही निर्वाण यानी मुक्तिका मुख्य कारण है। जब योगाभ्यासके प्रभावसे मन और प्राण विलय हो जाते हैं, तब जीव चिदानन्द ब्रह्ममें लीन हो जाता है। वेदवेत्ताओंका कथन है कि जब देवोंके देव शङ्करमें मन लीन हो जाता है, तब प्राण भी लय हो जाते हैं और शङ्करमें मन लीन होनेपर जीव मुक्तिका भोक्ता हो जाता है। प्राणियोंका अशुद्ध मन कामसङ्कल्परूपसे वर्तता है, कामके त्यागसे मन शुद्ध निरामय ब्रह्म हो जाता है। इस लोक और परलोकके समस्त भोगोंकी

कामना त्यागनेवाले शिव-भक्तके सुखके समान कोई अन्य सुख कहीं भी नहीं है। जो पुरुष सर्वभूतोंमें एक शिवको देखता है और जिसकी शिवमें परा-प्रीति है, वही भक्त कहलाता है। जिसकी शिवमें पराभक्ति है अर्थात् अनन्य-शोभन ममता है, उसको प्राणायामसे अथवा योगसे कुछ प्रयोजन नहीं है। जो भक्ति विकाररहित है, नित्य है, सुदिन और दुर्दिनमें यानी सम्पत्ति और विपत्तिमें समान है और कामनाकी गन्धसे रहित है, वह भक्ति उत्तम मानी गयी है।

जो भक्ति भक्तिके लिये ही की जाती है, जिस भक्तिमें किसी प्रकारके फलकी कामना नहीं होती और जो भक्ति स्वाभाविकी होती है, वही उत्तम भक्ति है। जब तीनों लोकोंके ईश्वर विष्णुमें नैष्ठिकी भक्ति होती है और किसी प्रकारकी इच्छा नहीं होती, तब चित्त स्वरूपानन्दसे प्रसन्न होता है। भक्तवत्सल भगवान् सब विघ्नोंको दूर करके भक्तका पालन करते हैं और अक्षय सुखरूप मोक्षकी निश्चय प्राप्ति कराते हैं। बिना किसी आयासके भक्तको तत्त्वज्ञान प्राप्त होता है, इसलिये सबको त्यागकर भक्तिनिष्ठावाला होना चाहिये।

प्रेम-भक्तिसे युक्त होकर नित्य मन्त्रका जप करे और ध्यानका अभ्यास करे। जपसे और ध्यानसे निश्चय मुक्ति होती है—यह बात सत्य है, निश्चय सत्य है, मन्त्रराजके प्रसादसे अवश्य सिद्धि होती है। चैतन्यसहित परम मन्त्र सर्वसिद्धियोंको देनेवाला है। जैसे खाँड़में मधुरता है और जैसे सूर्यमें प्रकाश है, उसी प्रकार मन्त्रमें ब्रह्माण्डसहित पूर्णब्रह्म विराजमान है। जैसे योग्य साधनके संयोगसे बीजोंमेंसे वृक्ष निकल आता है, उसी प्रकार योग्य साधनोंके संयोगसे मन्त्रमेंसे शिव प्रकट होते हैं; प्राणियोंके मध्यमें केवल मनुष्य ही मन्त्र जप सकता है, इसलिये मोक्षकामी पुरुषको सर्वदा मन्त्रका जप करना चाहिये। मन्त्रको सिद्ध करूँगा अथवा देहको त्याग दूँगा ऐसी दृढ़ भावना करके निरन्तर मन्त्रको जपे। अभ्यासके योगसे मन्त्र स्वाभाविक हो जायगा और स्वप्नमें भी योगीके चित्तमें मन्त्रधारा ही उच्चारण होने लगेगी। रक्तमें, प्राणवायुमें मन्त्र अवश्य ही नृत्य करने लगेगा और देहमें स्थित सब परमाणु मन्त्रमय हो जायँगे। शरीरके भीतर ही नहीं, बाहर भी मन्त्र सुनायी देने लगेगा! सागरगामिनी नदियाँ मन्त्र गाने लगेंगी और कलहंस सुन्दर ध्वनिसे मन्त्रका कीर्तन करेंगे! आकाशचारी पक्षी महामन्त्रकी ध्वनि करेंगे और जगत्‌का प्राणरूप वायु भी मन्त्रका घोष करेगा! विश्वमाता प्रकृति उसी मन्त्रका कीर्तन करेगी। इस प्रकार जब जगन्मय मन्त्र हो जाता है और मन्त्रमय जगत् हो जाता है, तब मन्त्रके प्रभावसे रामका प्रेम प्राप्त होता है, राममें विगलित होकर राम सर्वमय हो जाता है।

इस प्रकार सर्वभूतोंमें स्थित महादेवको नमन करे, सर्वत्र सब वस्तुओंमें विष्णुका ही दर्शन करे! चन्द्रमण्डलमें विश्वनाथको हँसता हुआ देखे, लीलामय भगवान्‌को नदीके जलमें नृत्य करता देखे, वायुमें शिवको दौड़ता और निर्झरमें गाता हुआ देखे, रोते हुए बालकमें और चलते हुए पथिकमें हरको देखे। रोगीमें, योगीमें और भोगीमें क्रमशः रोगके नाश करनेवाले, योगके सिद्ध करनेवाले और भोगको प्राप्त करनेवाले हरिको देखे! द्यौ-स्वर्ग जिसका सिर है, चन्द्र और आदित्य जिसके लोचन हैं, जिसके चरण धरणी है, उस सर्वलोचन देवको सर्वत्र देखे। जिस परब्रह्म परमात्माके जठरमें ब्रह्माण्ड है, उस सर्वगत सर्वान्तर्यामीको सर्वत्र पूर्ण देखे। उस अनन्त, अपराजित, एकको सर्वदा बाहर-भीतर चिन्मय, आनन्दरूप देखे। आनन्दके आयतन शिवको सर्व इन्द्रियोंसे सदा देखे और उस रसनायकरूप रसालको सर्व इन्द्रियोंसे नित्य पीये! जगत्‌को आह्लादित करनेवालेको पीता-पीता हुआ सदा देखे और उस अमृत आनन्दरूपको देखता-देखता नित्य पीवे! इस प्रकार सब अंगोंसे परमेश्वरका निरन्तर सेवन करे, प्रत्येक परमाणुमें उसी विश्वरूपको देखे।

सब मङ्गलोंके मङ्गल, सब पावनोंके पावन, अति शोभनको आनन्दसिन्धुमें सम्मग्न होकर देखे। इस प्रकारके दर्शनसे अद्वय सच्चिदानन्द, पूर्ण, शान्त, परमात्मामें चराचर विश्व लीन हो जाता है। परमेश्वरके अनुग्रहसे समाधिमें परब्रह्मको सम्यक् जानकर ब्रह्मका चिन्तन करता हुआ प्राज्ञ ब्रह्म ही हो जाता है, इसमें संशय नहीं है, इसलिये पूर्ण प्रयत्नसे ध्यानयोगका आश्रय करके ध्यानयोगके प्रसादसे दुस्तर मायाको तर जाना चाहिये, यही गर्भोपनिषद्का अभिप्राय है। यह गर्भोपनिषद् पिप्पलाद मुनिका कहा हुआ मोक्षशास्त्र है, मोक्षशास्त्र है! (१६ वीं मणि समाप्त)
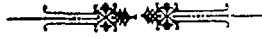
व्याप रहा कण-कणमें प्रियतम !

बाग-वाटिका, उपवन-वनमें,
सरिता-तटपर, लता-कुञ्जमें,
हिम-शोभित सुन्दर शैलोंमें,
प्रकृति प्रियाकी रूप-छटामें–
खड़ा हँस रहा मेरा प्रियतम !
व्याप रहा कण-कणमें प्रियतम ॥ १ ॥

कूक रहा कोयल-कलरवमें,
मुस्काता शिशुकी शिशुतामें,
नाच रहा कविकी कवितामें,
चित्रकारकी चित्र-कलामें–
झाँक रहा है मेरा प्रियतम !
व्याप रहा कण-कणमें प्रियतम ॥ २ ॥

गूँज रहा सुन्दर विहागमें,
मस्त झूमता है विरागमें,
मूक बना अनुराग-रागमें,
अपने प्रियके प्रिय सुहागमें–
विहँस रहा है मेरा प्रियतम !
व्याप रहा कण-कणमें प्रियतम ॥ ३ ॥

शीतलता बन मलयानिलमें,
मचल रहा जलनिधि-लहरोंमें,
कल-कल करता सरिता-जलमें,
छलक रहा विरही आँखोंमें–
आँसू बन कर मेरा प्रियतम !
व्याप रहा कण-कणमें प्रियतम ॥ ४ ॥

इठलाता है रवि-किरणोंमें,
सुधा बना बैठा है शशिमें,
चमक रहा विद्युत बन घनमें,
आँखमिचौनी तारागणमें–
खेल रहा है मेरा प्रियतम !
व्याप रहा कण-कणमें प्रियतम ॥ ५ ॥

—शिवनन्दन कपूर

पूज्यपाद स्वामीजा श्रीउड़ियाबाबाजीके उपदेश

(प्रेषक—भक्त रामशरणदासजी)

प्रश्न—महाराजजी, त्यागी कौन है ?

उत्तर—जो परमात्मामें चित्त लगाता है, वही त्यागी है। जो काम छोड़कर खाली सोता रहता है, उसका नाम त्यागी नहीं है; वह तो आलसी है।

प्रश्न—भावका उदय कब होता है ?

उत्तर—परमात्मामें सच्चा अनुराग होनेसे स्वतः ही भावका उदय हो जाता है।

प्रश्न—महाराजजी, मानसिक पाप कैसे होते हैं ?

उत्तर—पूर्वसंस्कारोंसे।

प्रश्न—यदि कोई मानसिक पाप हो जाय तो उसका क्या प्रायश्चित्त है ?

उत्तर—सच्चे मनसे पश्चात्ताप करे और भगवन्नाम जपे। भगवान्‌के नामजपमें अचिन्त्य शक्ति है। इससे अनन्त जन्मोंके पाप विध्वंस हो जाते हैं। नाममें इतने पापोंको जलानेकी शक्ति है, जितने मनुष्य एक जीवनमें कर ही नहीं सकता।

× × ×

प्रश्न—स्वामीजी! जो शास्त्रमें लिखा है, वह बदला जा सकता है या नहीं ?

उत्तर—आप्त पुरुषोंकी वाणी ही प्रमाण होती है, हर किसीकी बात प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती। शास्त्र आप्त पुरुषोंकी वाणी है। इसलिये उसमें कोई परिवर्तन करनेका किसीको अधिकार नहीं है। और जब शास्त्रमें चारों युगोंके धर्म लिखे हैं, तब बदलनेकी आवश्यकता ही क्या है ? कलियुगके धर्म भी तो शास्त्रमें पहलेसे ही लिखे हैं!

प्रश्न—कहते हैं, हमारे देशमें जाति-पाँतिका भेद होनेके कारण बड़ी दुर्दशा है। देखिये, रूसमें एक ही जाति है; इसलिये वहाँ लोग कितने सुखी हैं।

उत्तर—अरे, यह संसार दुःखका घर है, यहाँ कौन सुखी हो सकता है ? रूसवाले सुखी हैं—यह तुम कैसे जान सकते हो ?

× × ×

प्रश्न—धर्म किसे कहते हैं ?

उत्तर—जो जीवको नीचे न गिरने दे, उसका नाम धर्म है। लोग उन्नति चाहते हैं, परन्तु पापसे नहीं बचते। ऐसी अवस्थामें उनकी उन्नति कैसे हो सकती है ?

प्रश्न—आजकल पहले-जैसे विद्वान् भी नहीं होते, इसका क्या कारण है ?

उत्तर—पहले जितने बड़े-बड़े विद्वान् थे, सब भगवान् शङ्करकी आराधना करते थे। उनकी कृपासे ही उन्हें वैसी विद्या प्राप्त होती थी। अब कोई उपासना तो करता नहीं, विद्या कहाँसे आवे ?

× × ×

प्रश्न—महाराजजी, मन कैसे रुके ?

उत्तर—नियम-पालनसे। यदि हम नियमपर दृढ़ रहें तो मन हमारा क्या कर सकता है ? नियमको परमात्मा देखता है। हमलोग नियमपर दृढ़ नहीं रहते, इसीसे हमारे देशकी दुर्दशा हो गयी। सन्ध्यावन्दन-तकका नियम जाता रहा। भजन करनेके लिये नियमकी बड़ी आवश्यकता है।

× × ×

भगवान्‌के नामपर चाहे लाखों रुपये खर्च कर दो, किन्तु यदि हृदयमें भाव नहीं है तो परमात्माकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

× × ×

उत्तम भजनकी पहली श्रेणी यही है कि किसीकी निन्दा-स्तुति न करे।

× × ×

मनुष्य एक ही शौक कर सकता है, दो-चार नहीं। जो कई प्रकारके शौक करना चाहते हैं, वे एक भी नहीं कर पाते। यदि विचारमें मन लगता है तो विचार ही करता रहे, फिर किसी दूसरे साधनकी ओर न जाय।

× × ×

यह संसार असत् है—इसीका नाम ज्ञान है और संसारकी सत्ता मानना ही अज्ञान है।

जीवनका रहस्य

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

संसारकी विचित्र दशा है। मनुष्य जन्मता है, बड़ा होता है, विषय-भोग करता है, सन्तान उत्पन्न करता है, उनका पालन-पोषण करता है, धन, जमीन, मकान तथा अन्य भोगकी सामग्री एकत्र करता है, इनके संग्रहमें न्याय-अन्यायकी परवा नहीं करता और अन्तमें इन सबको यहीं छोड़कर असफलता और अतृप्तिका बोध करता हुआ चिन्ताओं और पापोंका बोझ सिरपर लिये हुए इस असार संसारसे चल देता है। अधिकांश मनुष्योंकी यही दशा है। इस प्रकारके जीवनमें और पशु-जीवनमें क्या अन्तर है ?

पशु भी अपना पेट भरते हैं, सन्तान उत्पन्न करते हैं और अन्तमें मर जाते हैं। बल्कि कई बातोंमें पशु आजके मनुष्योंसे कहीं अच्छे हैं। उन्हें भविष्यकी चिन्ता नहीं होती, वे संग्रह नहीं करते और संग्रहके लिये दूसरोंका गला नहीं घोटते। फिर पशुओंमें तो अपना हिताहित सोचनेकी बुद्धि नहीं है, मनुष्यको भगवान्‌ने बुद्धि दी है। फिर भी वह सोचता नहीं कि यह मनुष्यजीवन हमें किस लिये मिला है—क्या खाने-कमाने, भोग भोगने और अन्तमें असहायकी भाँति सब कुछ यहीं छोड़कर मर जानेके लिये ही हमें यह जीवन मिला है ? जिस मनुष्यजीवनको शास्त्रोंने देव-दुर्लभ बताया है, क्या उसकी चरितार्थता भोग भोगनेमें ही है ? ये भोग तो हमें अन्य योनियोंमें भी सुलभतासे प्राप्त हो जाते हैं। जो सुख इन्द्रको अमरावतीमें इन्द्राणीके साथ रहनेमें मिलता है, वही सुख एक कुत्तेको कुतियाके सहवाससे प्राप्त होता है। जो स्वाद हमें षट्‌रस भोजन करनेमें मिलता है, वही स्वाद विष्ठा खानेवाली शूकरीको विष्ठामें मिलता है। जिस आरामका बोध हमें मखमलके गद्दोंपर लेटनेपर होता है, उसी आरामका बोध एक गदहेको घूरेपर पड़ी हुई राखकी ढेरीपर लोटनेमें होता है। फिर पशुओंमें और हममें क्या अन्तर रहा ? हम अपनेको पशुओंसे श्रेष्ठ क्यों मानते हैं ? आज हममेंसे कितने भाई इन प्रश्नोंपर गम्भीरतापूर्वक विचार करते हैं ? हमारा जीवन भोगमय बन गया है, हम रात-दिन इस शरीरकी ही चिन्तामें व्यस्त रहते हैं। हमने शरीरको ही अपना आत्मा मान रक्खा है, इस शरीरके परे भी कोई वस्तु है, इस बातको जाननेकी हमें आवश्यकता ही नहीं प्रतीत होती। मरनेके बाद हम कहाँ जायँगे, इस जीवनके परे भी कोई जीवन है, इस जीवनमें किये हुए पाप और पुण्यका फल हमें इस जीवनके बाद भी मिल सकता है—इन सब बातोंको हम सोचते ही नहीं। इस जीवनमें हम सुखसे रहें, हमारा मान हो, हमें अधिक-से-अधिक भोग प्राप्त हों—यही हमारे जीवनका लक्ष्य हो

गया है। परन्तु क्या यह लक्ष्य ठीक है, आज हम इसी विषयपर कुछ विचार करेंगे।

यह जीवन हमें सांसारिक भोग भोगनेके लिये नहीं मिला है। भोग सभी अनित्य, अस्थिर एवं क्षणभङ्गुर हैं। जिस प्रकार जुगनूकी चमक एक क्षणके लिये अपनी छटा दिखलाकर तुरंत विलीन हो जाती है, उसी प्रकार विषय-सुख केवल भोगकालमें सुखदायी प्रतीत होते हैं—भोगके पूर्वकालमें हम उनकी कामनासे जलते हैं और परिणाम भी उनका दुःखदायी होता है। भोगकालमें भी हमें विषयोंमें सुखकी प्रतीतिमात्र होती है। वस्तुतः उनमें सुख नहीं है। यदि सुख होता तो वह ठहरता, उसका विनाश नहीं होता। क्योंकि सत् और असत्‌की व्याख्या करते हुए भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें हमें यही बतलाया कि सत् वस्तुका कभी विनाश नहीं होता और असत्‌का भाव नहीं होता—'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' (२।१६)। अतएव जो सुख अटल है, नित्य है, ध्रुव है, अविनाशी है, वही वास्तविक सुख है। जो सुख क्षणस्थायी है, एक क्षणमें उत्पन्न होता है और दूसरे क्षणमें विनाश हो जाता है, वह सुख सुख ही नहीं है; वह मिथ्या सुख है, सुखकी भ्रान्ति है। विषयोंके सम्बन्धसे होनेवाले सुखको भगवान्‌ने राजस और परिणाममें विषके समान दुःखदायी बतलाया है—

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥
(गीता १८। ३८)

इसी प्रकार प्रमाद, आलस्य और निद्रासे उत्पन्न होनेवाले सुखको भगवान्‌ने तामस और मोहकारक बतलाया है—

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्॥
(गीता १८। ३९)

विषयोंमें सुखकी प्रतीतिमात्र होती है, वास्तवमें उनमें कोई सुख नहीं है—इस तथ्यको समझानेके लिये महात्मालोग एक दृष्टान्त दिया करते हैं। कहते हैं, किसी सरोवरके किनारे एक वृक्षकी शाखामें एक अत्यन्त प्रकाशयुक्त मणि लटक रही थी। मणिकी परछाईं उस सरोवरके जलपर पड़ रही थी। किसी मनुष्यकी दृष्टि उस परछाईंपर गयी और उस परछाईंको मणि समझकर वह उसको पानेके लिये बार-बार जलमें गोता लगाने लगा। किन्तु मणि तो वहाँ थी नहीं, फिर वह उसके हाथ कैसे आती ! एक महात्माने उसके व्यर्थ प्रयासको देखकर उससे कहा कि 'जिसे मणि समझकर पानेके लिये तुम बार-बार जलमें गोता लगा रहे हो, वह मणि नहीं है अपि तु मणिकी परछाईंमात्र है। मणि तो ऊपर वृक्षकी शाखामें लटक रही है। परछाईंको पकड़नेकी चाहे तुम जीवनभर चेष्टा करते रहो, वह तुम्हारी पकड़में नहीं आनेकी। मणि प्राप्त करना चाहते हो तो परछाईंके लिये व्यर्थमें परेशान होना छोड़कर ऊपरकी ओर दृष्टि करो और वृक्षपर चढ़कर मणिको ले आओ।' अब तो उस मनुष्यको अपनी भूल समझमें आ गयी और उसने परछाईंको पकड़नेकी भूलभरी चेष्टा छोड़कर महात्माके बताये हुए मार्गसे वृक्षपर चढ़कर उस मणिको पा लिया। जो लोग सुखकी आशासे विषयोंके पीछे भटकते रहते हैं, उनकी दशा मणिको पानेकी आशासे उसकी परछाईंको पकड़नेके लिये व्यर्थ प्रयास करनेवाले उस मूढ मनुष्यकी-सी है। आज संसारमें यही हो रहा है। इसीलिये हमलोग असली सुखसे वञ्चित होकर जीवनभर दुःख ही पाते रहते हैं। परन्तु बार-बार दुःख पानेपर भी हम विषयोंसे सुख पानेकी आशाको छोड़ते नहीं और बार-बार उन्हींको पकड़ते हैं। यही तो मोहकी महिमा है। मदिरा पीकर मनुष्य जैसे मतवाला हो जाता है और उसे पूर्वापरका ज्ञान नहीं रहता, उसी प्रकार हमलोग भी मोहरूपी

मदिराको पीकर विवेकशून्य हो गये हैं और विषयोंके पीछे पागल हुए भटक-से रहे हैं—'पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत् ।'

थोड़ी देरके लिये यदि मान लिया जाय कि विषयोंमें सुख है—क्योंकि हमें उसकी अनुभूति होती है—तो कम-से-कम इतनी बात तो स्पष्ट है कि वह सुख अल्प है, अनित्य है, क्षणिक है, सदा रहनेवाला नहीं है। यदि वह नित्य होता तो जिन्हें विषय-सुख प्रचुरतासे प्राप्त हैं, वे कभी दुखी होते ही नहीं, सदा सुखी ही रहते। परन्तु ऐसा देखनेमें नहीं आता। जिनके पास जितनी ही अधिक विषय-भोगकी सामग्री है, वह उतना ही अधिक दुखी देखा जाता है। बात भी ठीक ही है। जो वस्तु स्वयं अनित्य है, वह हमें नित्य सुख कैसे दे सकती है ? संसारका प्रत्येक पदार्थ नश्वर है, विनाशकी ओर जा रहा है। बल्कि यों कहना चाहिये कि प्रतिक्षण उसका विनाश हो रहा है। जैसे दीपककी लौ दीखनेमें एक होनेपर भी प्रतिक्षण बदलती रहती है, अथवा जैसे नदीका जल एक दीखनेपर भी प्रतिक्षण बदलता रहता है, उसी प्रकार संसारके प्रत्येक पदार्थका प्रतिक्षण रूपान्तर होता रहता है। आज किसी वस्तुको हम जिस रूपमें देखते हैं, कल उसका दूसरा ही रूप हो जायगा और परसों उसका रूप कुछ और ही हो जायगा। उदाहरणके लिये दूधको लीजिये। दूधकी जो आकृति, गुण और स्वाद आज है, कल उसकी वह आकृति, गुण और वह स्वाद नहीं रह जायगा। परसों उसकी आकृति, गुण और स्वादमें और भी अन्तर आ जायगा। आज जो दूध हमें अमृतके समान लगता है, कल वह खट्टा लगने लगेगा, परसों उसमें खट्टी बदबू आने लगेगी और उसका गुण और स्वाद भी बिगड़ जायगा और यदि कुछ दिन उसे और पड़ा रक्खा जाय तो जो दूध एक दिन स्वाद और गुणमें अमृतके समान था, वही विषतुल्य हो जायगा। यही बात न्यूनाधिक रूपमें संसारके सभी पदार्थोंके सम्बन्धमें समझनी चाहिये। किसीका रूपान्तर जल्दी हो जाता है, किसीका देरसे होता है। किन्तु होता सबका है। ऐसे क्षणभङ्गुर पदार्थोंसे हम नित्य सुखकी आशा ही कैसे कर सकते हैं ?

फिर विषयोंके साथ हमारा सम्बन्ध भी नित्य नहीं है। आज जिस पदार्थको हम अपना मानकर इतराते हैं, कल ही उसके साथ हमारा सम्बन्ध छूट सकता है। यह शरीर भी जब हमारा नहीं है, जिसको लेकर हम विषयोंको अपना माने हुए हैं, तब विषय तो हमारे हो ही कैसे सकते हैं ? इस शरीरके साथ हमारा सम्बन्ध कब छूट जाय, पता नहीं। शरीर छूट जानेपर उन समस्त पदार्थोंसे, जिन्हें हम अपना माने हुए हैं, हमारा सम्बन्ध अपने-आप छूट जायगा। पूर्व जन्ममें हमारा जिन पदार्थोंसे अथवा व्यक्तियोंसे सम्बन्ध था, आज उनकी हमें स्मृति भी नहीं है, सम्बन्धकी बात तो अलग रही। उसी प्रकार इस जन्मके पदार्थोंसे हमारा, मृत्यु हो जानेपर, कोई सम्बन्ध नहीं रह जायगा बल्कि हमें इनकी स्मृतितक नहीं रह जायगी। लाख प्रयत्न करनेपर भी इनमेंसे एक भी पदार्थ हमारे साथ नहीं जा सकेगा। और मृत्यु हमारी एक-न-एक दिन निश्चित है। उसे हम एक क्षणके लिये भी नहीं टाल सकते। ऐसी दशामें यहाँके पदार्थोंसे सम्बन्ध जोड़ना, उन्हें अपना मानना और उनके बटोरनेमें आयु बिता देना कहाँतक बुद्धिमानी है—इसे हम स्वयं सोच सकते हैं।

इसके अतिरिक्त जितने भी विषय-सुख हैं, वे सब क्षणिक होनेके साथ ही विषयुक्त मधुकी भाँति दुःखमय हैं। भोगकालमें सुखरूप भासनेपर भी वे परिणाममें दुःखरूप ही हैं। उदाहरणतः स्त्रीप्रसङ्गके सुखको ही लीजिये। उससे क्षणभरके लिये हमें जो सुख प्रतीत होता है, उसके मुकाबलेमें दुःखकी मात्रा कितनी अधिक होती है—इसका भी अंदाजा लगाइये। उससे हमारे बल, वीर्य, बुद्धि, तेज, आयु आदिका नाश

होता है, लोक-परलोक बिगड़ता है और शरीरमें भी शिथिलता और क्लान्तिका अनुभव होता है। ऐसी दशामें इन क्षणिक विषयोंके भोगनेमें ही जीवन बिता देना मूर्खता नहीं तो क्या है? अतः विषय-सुखोंका त्याग कर जो वास्तविक एवं स्थायी सुख है, जिसका कभी नाश नहीं होता और जो मृत्युके बाद भी बना रहता है, उस सुखको प्राप्त करनेकी हमें प्राणपणसे चेष्टा करनी चाहिये। इस सुखको प्राप्त करना ही मनुष्य-जीवनका लक्ष्य है। यही परम पुरुषार्थ है। वेद-शास्त्र इसीको प्राप्त करनेकी हमें आज्ञा देते हैं। इसीको पा लेनेपर मनुष्य सदाके लिये निहाल हो जाता है, कृतकृत्य हो जाता है, जन्म-मृत्युको लाँघ जाता है, सब प्रकारके दुःख, भय, शोक और चिन्ताओंसे मुक्त हो जाता है, सब प्रकारके बन्धनोंसे छूट जाता है। इसीको परमात्मा अथवा परमपदकी प्राप्ति कहते हैं। इसीको प्राप्त करना हमारा सबसे बड़ा एवं मुख्य कर्तव्य है और इसीके लिये हमें यह जीवन मिला है।

भोग-सुख तो हमें देव, तिर्यक् आदि अन्यान्य योनियोंमें भी प्राप्त हो सकते हैं। न जाने अबतक हमारे कितने जन्म हो चुके हैं; न जाने कितनी बार हमने स्वर्गसुख भोगा है, कितनी बार हम इन्द्र बन चुके हैं, कितनी बार हम चक्रवर्ती सम्राट् हो चुके हैं, कितनी बार हमने स्त्री-सुख, सन्तान-सुख और जिह्वा आदि इन्द्रियोंके सुख भोगे हैं। परन्तु फिर भी इनसे हमारी तृप्ति नहीं हुई। हमारी सुखकी खोज अभी बनी ही हुई है। और जब-तक हम परमात्मरूप नित्य एवं निरतिशय सुखकी प्राप्ति नहीं कर लेंगे तबतक हमारी यह सुखकी खोज बनी ही रहेगी, हमारी तृप्ति कभी होनेकी नहीं। अनन्त सुखकी खोज ही जीवका धर्म है। और जबतक यह सुख उसे प्राप्त नहीं हो जायगा, तबतक उसे चैन नहीं मिलनेका, तबतक उसका भटकना बंद नहीं होगा और तबतक उसे विश्राम नहीं मिलेगा। इसलिये विषयोंके लिये भटकना छोड़कर उस परम सुखकी प्राप्तिके लिये ही मनुष्यको निरन्तर अथकरूपसे चेष्टा करनी चाहिये और जबतक वह प्राप्त न हो जाय तबतक उसे दूसरी ओर ताकना भी नहीं चाहिये।

इस परम सुखकी प्राप्ति मनुष्ययोनिमें ही सम्भव है, अन्य किसी योनिमें नहीं। क्योंकि और सब योनियाँ तो भोगयोनियाँ हैं। मनुष्यजीवनमें किये हुए शुभाशुभ कर्मोंका फल हम अन्य योनियोंमें भोगते हैं। कर्म करनेका अधिकार तो केवल मनुष्ययोनिमें है। इसीलिये इसे कर्मयोनि कहते हैं, इसीलिये इसे सब योनियोंमें श्रेष्ठ कहा गया है। इसीलिये गोस्वामी तुलसीदासजीने इसे 'साधन-धाम' और 'मोक्षका द्वार' कहा है और इसीलिये देवता लोग भी मनुष्ययोनिमें जन्म लेनेके लिये तरसते रहते हैं। इसीलिये इस मनुष्यदेहको क्षण-भङ्गुर होनेपर भी देवदुर्लभ कहा गया है। यह देव-दुर्लभ देह हमें भगवान्‌की कृपासे ही प्राप्त होती है। जब यह जीव चौरासी लाख योनियोंमें भटककर हैरान हो जाता है, तब भगवान् करुणा करके उसे मनुष्य-शरीर देते हैं—

कबहुँक करि करुना नरदेही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

ऐसे देव-दुर्लभ मनुष्य-शरीरको पाकर भी यदि हमने अपना असली काम नहीं बनाया—जिसके लिये हम इस संसारमें आये हैं—तो हमसे बढ़कर मूर्ख कौन होगा? शास्त्रोंने तो ऐसे मनुष्यको कृतघ्नी और आत्म-हत्यारा बतलाया है। गुसाईंजी महाराज शास्त्रोंका ही अनुवाद करते हुए कहते हैं—

जो न तरइ भवसागर नर समाज अस पाइ।
सो कृतनिंदक मंदमति आतमहन गति जाइ॥

यह मनुष्य-शरीर हमें बार-बार नहीं मिलनेका। ऐसे दुर्लभ अवसरको यदि हमने हाथसे खो दिया तो फिर

सिवा पछतानेके और कुछ हाथ नहीं लगेगा। मनुष्येतर प्राणियोंमें न तो भले-बुरेकी पहचान होती है, न कार्याकार्यका ज्ञान होता है और न शास्त्रानुकूल आचरण करते हुए उस परम सुखको प्राप्त करनेका साधन ही बन सकता है। ऐसी स्थितिमें शीघ्र-से-शीघ्र इस जीवनमें ही हमें उस परम सुखको प्राप्त कर लेना चाहिये और उसके लिये कोई उपाय छोड़ न रखना चाहिये। इसीमें हमारी बुद्धिमत्ता है और इसीमें हमारे जीवनकी सफलता है। यदि जीवनमें हमने बहुत-सी भोगसामग्री एकत्र कर ली, बहुत-सा मान-सम्मान प्राप्त किया, बहुत नाम कमाया, हजारों-लाखों रुपये, विपुल सम्पत्ति, हाथी-घोड़े, नौकर-चाकर तथा बहुत बड़े परिवारका संग्रह किया; किन्तु यदि जीवनका वास्तविक उद्देश्य सिद्ध नहीं किया तो हमारा किया-कराया सब व्यर्थ ही नहीं हो गया, बल्कि यह सब करनेमें जो हमने पापाचरण किया उसके फलस्वरूपमें हमें नरकोंकी प्राप्ति होगी, हम नीचेकी योनियोंमें ढकेले जायँगे। इसके विपरीत यदि हमारा जीवन लौकिक दृष्टिसे कष्टोंमें बीता, हमें मान प्राप्त नहीं हुआ बल्कि जगह-जगह हम दुरदुराये गये, हमारा किसीने आदर नहीं किया, किसीने हमारी बात नहीं पूछी, किन्तु हमने अपने जीवनका सदुपयोग किया, जिस कार्यके लिये हम आये थे उस कार्यको बना लिया तो हम कृतकार्य हो गये, हमारा जीवन धन्य हो गया।

अब हमें यह देखना है कि दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति और अविनाशी सुखकी प्राप्तिका उपाय क्या है? हम देखते हैं कि सभी प्राणी सुख चाहते हैं, दुःख कोई भी नहीं चाहता। परन्तु संसारमें सुख कहीं ढूँढ़नेसे भी नहीं मिलता। जहाँ देखिये वहीं हाय-हाय मची हुई है। सभी लोग दुःख और अशान्तिकी ज्वाला-से जल रहे हैं। कोई हमारे देखनेमें सुखी है भी तो वह अधिक सुखके लिये लालायित है, अपनी स्थितिसे उसे सन्तोष नहीं है, दूसरोंको अपनेसे अधिक सुखी देखकर वह ईर्ष्यासे जलता रहता है, दूसरोंको नीचा दिखानेके लिये वह उपाय सोचता है, जो कुछ मान-मर्यादा और धन-सम्पत्ति उसे प्राप्त है, उसके नष्ट हो जानेका भय उसे सदा बना रहता है। जरा-सी प्रति-कूलता भी उसे सहन नहीं होती, प्रतिकूल आचरण करनेवाले और अपनी कामना-पूर्तिमें बाधा पहुँचाने-वालेके प्रति उसकी द्वेषाग्नि भभक उठती है, प्रति-हिंसाके भाव जाग उठते हैं, बदलेमें दूसरे भी उसके प्रति वैसे ही भावोंका पोषण करते हैं। फलतः चारों ओर भय, आशङ्का, ईर्ष्या, द्वेष और कलहका वातावरण बन जाता है और उसीमें सभी मनुष्य रात-दिन जला करते हैं, दुखी रहते हैं, अशान्तिमय जीवन व्यतीत करते हैं और मरनेपर नरकोंकी असह्य यन्त्रणा भोगते हैं। इसीलिये जगत्‌को भगवान्‌ने 'दुःखालय'—दुःखोंका घर बतलाया है। सभी लोग किसी-न-किसी अभावका अनुभव करते हैं और अभाव दुःखका कारण है। ऐसी स्थितिमें इस दुःखमय जगत्‌से मुँह मोड़कर—उससे सुख पानेकी आशा छोड़कर नित्य सुखके आकर सुखस्वरूप परमात्माका आश्रय ग्रहण करना, उसके तत्त्वको समझकर उसकी भक्ति करना, उसके नामका जप और उसके स्वरूपका चिन्तन करना, उसकी आज्ञाओंका पालन करना तथा उसके विधानमें सन्तुष्ट रहना—यही उसकी कृपाको प्राप्त करनेका सुगम उपाय है और उसकी कृपासे ही मनुष्य सब प्रकारके क्लेशोंसे मुक्त होकर परम सुखका अधिकारी बन जाता है—जिसके पा लेनेपर और कुछ पाना बाकी नहीं रह जाता, मनुष्य सदाके लिये कृतकृत्य हो जाता है, द्वन्द्वोंसे छूट जाता है।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि मनुष्यको चिन्ता, शोक, भय, दुःख आदि क्यों होते हैं? यदि यह कहा जाय कि प्रारब्धकर्मोंके फलस्वरूप ही हमें सुख-दुःख

आदिकी प्राप्ति होती है तो इसपर यह शङ्का होती है कि प्रारब्धभोग तो जीवन्मुक्त महापुरुषोंका भी शेष रहता है, बिना प्रारब्ध-भोग शेष रहे उनका शरीर ही नहीं रह सकता। उन्हें शारीरिक कष्ट, रोग, पीड़ा आदि भी होते देखे जाते हैं; परन्तु उन्हें सुख-दुःख, हर्ष-शोक आदि नहीं होते। श्रुति कहती है—'हर्ष-शोकौ जहाति', 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' इत्यादि। गीतामें भी कहा है—'गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः' (२। ११)। इस प्रकारके और भी अनेकों वचन शास्त्रोंमें मिलते हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि ज्ञानी महात्माओंको हर्ष-शोक तथा सुख-दुःख आदि नहीं होते। हर्ष-शोक तथा सुख-दुःखकी घटना घटनेपर निमित्त प्राप्त होनेपर भी उनके अन्तःकरणमें हर्ष-शोक आदि विकार नहीं होते, उनकी स्थिति सदा अविचल, सम रहती है। इससे यह सिद्ध होता है कि हर्ष-शोक और सुख-दुःख आदिके होनेमें प्रारब्ध हेतु नहीं है, बल्कि हमारा अज्ञान ही हेतु है। अज्ञानका नाश हो जानेपर चिन्ता, शोक, भय आदिका भी अत्यन्ताभाव हो जाता है और अज्ञानका नाश होता है परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे। जिस प्रकार अन्धकारका नाश प्रकाशसे ही होता है, उसी प्रकार अज्ञानरूपी अन्धकारका नाश भी ज्ञानरूपी सूर्यके उदय होनेपर ही होता है। अतः दुःख एवं शोकसे छूटनेके लिये मनुष्यको चाहिये कि वह अपना सारा समय परमात्माके तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके साधनमें ही लगावे और उसे प्राप्त करके ही विश्राम ले। वह परमात्माका यथार्थ ज्ञान विवेक एवं वैराग्यपूर्वक सद्गुण और सदाचारके सेवनसे—जिन्हें गीतामें दैवी सम्पत्तिके नामसे कहा गया है—होता है और दैवी सम्पत्तिका अर्जन भगवान्‌की भक्तिसे सुलभ हो जाता है। इस प्रकार भगवान्‌की भक्ति ही उनका तत्त्वज्ञान करानेमें सर्वोपरि साधन है। अतः मनुष्यको चाहिये कि वह श्रद्धा एवं प्रेमपूर्वक भगवद्भक्तिका ही अभ्यास करे।

भगवद्भक्तिमें मनुष्यमात्रका समान अधिकार है। कोई किसी वर्णका, किसी जातिका, किसी समाजका और किसी अवस्थाका क्यों न हो, भगवान्‌की भक्ति करनेमें उसके लिये कोई रुकावट नहीं है। भक्तिमें न विद्या-बुद्धिकी आवश्यकता है, न ज्ञानकी, मूर्ख-से-मूर्ख और पापी-से-पापी भी भगवान्‌की भक्ति करनेसे परम पवित्र होकर उनकी कृपा प्राप्त कर सकता है और उस कृपाके बलसे उसे बहुत जल्दी परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। भगवान् गीतामें अर्जुनसे कहते हैं—

> अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
> साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
> क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
> कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
> (९। ३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त हुआ मुझको निरन्तर भजता है, वह साधु ही माना जाने योग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान और कुछ भी नहीं है। उस भक्तिके प्रभावसे वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।'

यही नहीं, भक्ति करनेवालेको भगवान् स्वयं ज्ञान प्रदानकर उसके अज्ञानरूपी अन्धकारका सर्वथा नाश कर देते हैं, जैसा कि गीतामें कहा है—

> तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
> ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
> तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
> नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥
> (१०। १०-११)

'उन निरन्तर मेरे ध्यानमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक मेरा भजन करनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं। उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये ही मैं स्वयं उनके अन्तः-करणमें एकीभावसे स्थित हुआ अज्ञानसे उत्पन्न हुए अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपकद्वारा नष्ट कर देता हूँ।'

भगवान्‌का भजन और ध्यान करनेवाला उनकी कृपासे परमानन्द एवं परम शान्तिको प्राप्त कर ले, इसमें तो आश्चर्य ही क्या है; भगवान्‌के भक्तोंका आश्रय ग्रहण करके उनके वचनोंके अनुसार चलनेवाला अतिशय मूढ़ पुरुष भी दुःखोंसे मुक्त होकर परमात्माको प्राप्त हो जाता है। गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं—

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥
(१३।२५)

'परन्तु इनसे दूसरे अर्थात् ध्यानयोग, ज्ञानयोग, कर्मयोगको न जाननेवाले जो मन्दबुद्धि पुरुष हैं, वे लोग स्वयं इस प्रकार न जानते हुए, दूसरोंसे अर्थात् तत्त्ववेत्ता पुरुषोंसे सुनकर ही उपासना करते हैं। अर्थात् उन पुरुषोंके कहनेके अनुसार ही श्रद्धापूर्वक तत्पर होकर साधन करते हैं। और वे सुननेके परायण हुए पुरुष भी मृत्युरूप संसारसागरको निःसन्देह तर जाते हैं।'

यहाँ यह प्रश्न होता है कि भगवान्‌का निरन्तर भजन करनेसे समस्त दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति होकर उनकी प्राप्ति हो जाती है, इसमें युक्ति क्या है? निम्नलिखित उत्तरसे यह बात अच्छी तरहसे स्पष्ट हो जायगी। यह एक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है कि मनुष्य जीवनकालमें जिस बातका निरन्तर अभ्यास करता है, अन्तकालमें भी उसीकी स्मृति होती है। और अन्तकालमें मनुष्यको जिस वस्तुकी स्मृति होती है, मृत्युके बाद उसे उसी स्वरूपकी प्राप्ति होती है—

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥
(गीता ८।६)

इसीलिये भगवान् कहते हैं कि जो पुरुष अन्तकालमें मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीर त्याग कर जाता है वह साक्षात् मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥
(गीता ८।५)

इससे यह बात सिद्ध हुई कि कोई कैसा ही पापी, कैसा ही मूर्ख क्यों न हो, भगवान्‌के स्मरणके अभ्याससे उसका एक क्षणमें उद्धार हो सकता है। अतः हमको चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते, सब समय भगवान्‌के स्मरणका अभ्यास निरन्तर करते रहना चाहिये। ऐसा करनेसे सारे दुर्गुण-दुराचारोंका मूलसहित नाश होकर मनुष्यका जीवन सद्गुण एवं सदाचारमय बन जाता है और उस परमपुरुष परमात्माके तत्त्वका यथार्थ ज्ञान होकर सदाके लिये परमानन्द एवं परम शान्तिकी प्राप्ति अनायास एवं अति शीघ्र हो जाती है।

भगवत्प्रसन्नताप्राप्तिका उपाय

(लेखक—गंगोत्तरीनिवासी परमहंस परिव्राजकाचार्य दण्डिस्वामी श्रीशिवानन्दजी सरस्वती)

'भक्त्या हि तुष्यन्ति महानुभावाः ।'(कथासरित्सागर)

इस आधि-व्याधिपूर्ण, शोक-तापसङ्कुल, जन्म-मृत्यु-सङ्कीर्ण, आर्तनादके उद्भवस्थान, मृत्युके लीलाक्षेत्र पापविद्ध संसारमें कतिपय भाग्यवान् पुरुषोंके पवित्र हृदयोंको भगवद्रसका आस्वादन करानेवाली भक्ति ही भगवान्‌की प्रसन्नताका एकमात्र सर्वोत्तम साधन है । अर्थात् भक्तवाञ्छाकल्पतरु भक्ताधीन भगवान् ऐकान्तिक भक्तके भक्तिरसाप्लुत हृदयकी अनन्य भक्तिसे ही प्रसन्न होते हैं। उसके सिवा उनकी प्रसन्नता प्राप्त करनेका कोई और साधन नहीं है, क्योंकि 'भक्तिप्रियो माधवः'—भगवान्‌को भक्ति ही प्रिय है । अच्छा तो, भक्ति क्या है ?

'सा परानुरक्तिरीश्वरे ।' (शाण्डिल्यसूत्र २)

इस मायामय संसारमें माया-मोहके सूचीभेद्य तिमिर-निकरको भेदकर, पुत्र-परिजन एवं अगणित धन-सम्पत्ति-की आसक्तिको लात मारकर, प्रभुत्व और प्रतिष्ठाको भुलाकर, संगमर्मरके सुधाधवलित गगनभेदी सुरम्य सौधोंकी बाह्य चमचमाहटको भूलकर,—यहाँतक कि अपनी कायाकी छायारूपा मायाकी मूलभूता ममताकी मूर्ति जाया (स्त्री) की छायाको भी छोड़कर, बड़ी कठोरताके साथ शरीरको वल्कलादिसे आच्छादितकर, सुख-दुःखादि द्वन्द्वजालसे छूटकर, तितिक्षाके सुदृढ दुर्गमें शरीरको सुरक्षितकर, आधि-व्याधि एवं शोक-सन्तापादिकी बाधाओंको सहनकर, तपस्याग्निमें शरीरको तपाकर, हीनता, दीनता एवं कातरताकी शीतल छायासे मण्डित होकर सर्वसौन्दर्याधार, अखण्डानन्दभण्डार, परमसमुज्ज्वल, अति सुन्दर, चिरमधुर, रसमय भगवान्‌में निरन्तर आसक्त रहकर उनके प्रति अनन्य अनुराग और अविचल प्रेमको स्थापित करनेका नाम ही 'भक्ति' है, परन्तु—

भक्तिस्तु द्विविधा ज्ञेया परापरेति संज्ञिका ।
एकधा तु परा प्रोक्ता त्वपरा नवधा मता ॥

इस प्रमाणके अनुसार भक्तिके परा और अपरा दो भेद हैं । इनमें परा भक्ति एक ही प्रकारकी है, किन्तु अपराके नौ भेद हैं—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥

अर्थात् भगवान्‌की लीला-कथाओंको सुनना, भगवान्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन करना, भगवान्‌के स्वरूपका चिन्तन, भगवच्चरणोंकी सेवा, भगवत्पूजा, भगवान्‌की वन्दना, भगवत्कैङ्कर्य, भगवान्‌के प्रति निश्छलभावसे सख्यभाव स्थापित करना तथा जिन देह-गेहादिको अपना माना जाता है, उन सबको भगवान्‌के अर्पण कर देना—इन नौको 'अपरा भक्ति' कहते हैं । पहले इस नवधा भक्तिके द्वारा भगवान्‌की आराधना करनेसे चित्त निर्मल हो जानेपर फिर भक्तके हृदयमें परमोत्कृष्ट परा भक्तिका उदय होता है । यही नहीं, भक्तिशास्त्रके प्रधान आचार्य मुकुन्दपादारविन्दमिलिन्द आत्माराम महर्षि शाण्डिल्यने तो कहा है—

'ईश्वरतुष्टेरेकोऽपि बली ।' (शाण्डिल्यसूत्र ६३)

अर्थात् ईश्वरकी प्रसन्नताके लिये तो इनमेंसे एक प्रकारकी भक्ति भी पर्याप्त है । अतः इनमेंसे जिसमें विशेष प्रवृत्ति हो, उसीका आश्रय लेकर अनन्यभावसे भगवान्‌की आराधना करो । उस एक प्रकारकी भक्तिका ही सम्यक् अनुष्ठान कर सकोगे तो उसीके प्रभावसे तुम्हें अभीष्ट अर्थकी प्राप्ति हो जायगी ।

इन नौ प्रकारकी भक्तियोंमें भी भगवच्चिन्तन ही सबसे प्रधान है । वस्तुतः वही सारे साधनोंका प्राण है । चिन्तनहीन साधन तो केवल बाह्य विडम्बना-

मात्र है। अतः भगवल्लीलाश्रवण अथवा भगवन्नामकीर्तन करते समय भी चिन्तनका पुट अवश्य रहना चाहिये। चिन्तनकी प्रगाढ़ताको ही ध्यान कहते हैं। अतः भगवान्‌की परम समुज्ज्वल, अतिसुन्दर, चिरमधुर, नित्य-नूतन, कमनीय कान्तिमयी, मनोमोहिनी मूर्तिका ध्यान ही सबसे श्रेष्ठ और बलवान् साधन है। किन्तु आधुनिक उन्नतिके फंदेमें फँसे हुए कलिकलुषित, कामनाक्रान्त, शिश्नोदरपरायण, जडोपासक जीव संसारमें रहते हुए ही कर्मबन्धनको तोड़कर, मनमें किसी भी प्रकारकी अन्य चिन्ताको न आने देकर, ध्यानयोगमें तत्पर हो श्रीभगवान्‌का चिन्तन कर सकेंगे या नहीं—यह सन्देह-की ही बात है। और ध्येय विषयका नियमपूर्वक ध्यान न करनेपर तो चित्तमें विक्षेप ही होता है। अतः ध्यान-का नियम आवश्यक है। विषयासक्त पुरुषका विषय-भोगलोलुप चित्त निरन्तर शब्द-स्पर्शादि पाँच प्रकारके विषयोंमें डावाँडोल रहता है। वह क्षणभरके लिये भी अपने स्थानमें स्थिर नहीं होता। निरन्तर एक विषयसे दूसरे विषयकी ओर दौड़ता रहता है। अतः अन्यान्य विषयोंकी ओर बिखरी हुई मनकी सम्पूर्ण कलाओंको उनकी ओरसे खींचकर ध्येय विषयमें लगाना होगा। नहीं तो, अनेक विषयोंमें चित्तकी आसक्ति रहते हुए भगवान्‌के रूपका ठीक-ठीक ध्यान हो नहीं सकेगा। अतः ध्यानके सौकर्यके लिये नियमित रूपसे ध्यानाभ्यास-की बड़ी आवश्यकता है, क्योंकि नियमानुसार भगवान्‌की ज्योतिर्मयी दिव्य मूर्तिका ध्यान कर सकनेपर ही प्रभुकी प्रसन्नता होती है।

भगवान् बादरायण कहते हैं—

'अङ्गेषु यथाश्रयभावः' (ब्रह्मसूत्र ३।३।५९)

अर्थात् भगवान्‌के श्रीअङ्गोंमें आश्रित भावोंका चिन्तन करना होगा—जैसे भगवान्‌के विधुविनिन्दक वदनार-विन्दपर अति मृदुल मन्द मुसकान एवं उनके अति मनोहर नयनयुगलके कमनीय कृपा-कटाक्ष इत्यादि। भगवान् स्वयम्भूने अपने शिष्योंको इस प्रकार ध्यान करनेका उपदेश दिया है। श्रीभगवान्‌के कृपा-कटाक्षादि-के ध्यान करनेकी बात श्रुतियोंमें रहनेपर भी उनके सभी गुण और सभी अवयवोंका चिन्तन करनेकी आवश्यकता है। किन्तु ध्यानकालमें, जो अङ्ग जिस गुणका आश्रयस्थान हो सकता है उस अङ्गमें उसी गुणका चिन्तन करना होगा। वह सम्पूर्ण पृथिवीमें, अग्निमें, वायुमें, जलमें, वृक्षोंमें, वनस्थलियोंमें, पर्वतोंमें, अनन्त आकाशमें—अधिक क्या, सम्पूर्ण चराचरमें व्याप्त है। इसीसे उसका 'सहस्रशीर्षा' और 'सर्वतःपाणिपाद' कहकर उल्लेख किया गया है। किन्तु उसका ध्यान होना तभी सम्भव है जब कि जनसंसर्गसे दूर पवित्र और एकान्त देशमें जाकर, निवातस्थ दीप-शिखाके समान निश्चलभावसे बैठकर, क्षिप्त चित्तको शान्त कर, कामादि दुर्जय शत्रुओंका दमन कर, प्रबल इन्द्रियग्रामको रोककर, सब प्रकारके आडम्बरसे दूर रहकर, निर्लिप्त भावसे अपने हृदय-कमलके अरुणदलपर विराजमान श्रीभगवान्‌की परम समुज्ज्वल, सजीव-सुन्दर, मनोहर मूर्तिका चिन्तन किया जाय। उस समय अपने चित्तके प्रवाहको पूर्णतया उसी ओर लगा देना होगा। अर्थात् एकाग्रतापूर्वक केवल उसीका चिन्तन करना होगा। किन्तु उस समय शरीर सर्वथा निश्चेष्ट रहना चाहिये। यदि शरीर निवातस्थ दीपशिखाके समान निष्कम्प और मन सर्वथा निःसङ्कल्प होगा तो तुरंत ही बड़ी आसानीसे तन्मयताका अनुभव हो सकेगा।

ध्यानाभ्यासके लिये कोई ऐसा आसन चुन लेना चाहिये, जिससे अधिक कालतक बैठनेपर भी शरीरमें कम्प या पीड़ा न हो तथा किसी प्रकारका उद्वेग या चञ्चलता भी पैदा न हो। इस प्रकार स्थिरतापूर्वक बैठ सकनेका नाम ही सुखासन है। ऐसा सुखासन ध्याना-भ्यासमें बड़ा उपयोगी होता है। इस प्रकारके अटल और अविचल भावसे सुखासनसे बैठ सकनेवाला व्यक्ति

ही ध्यान कर सकता है, दूसरा कोई नहीं। ध्यानका अर्थ है सदृश प्रत्ययको प्रवाहित करना, अविच्छिन्नरूपसे ध्येयाकार वृत्ति उठाना—अर्थात् जिस प्रकार प्रवासी पतिका चित्त अपनी प्रेयसीके प्रति और विरहिणीका हृदय अपने प्रियतमके प्रति अविच्छिन्नभावसे लगा रहता है, उसी प्रकार सर्वसौन्दर्याधार, अखण्डानन्दभाण्डार, परम सुन्दर श्रीभगवान्के प्रति अविचलभावसे चित्तको लगा देना। ऐसा होनेपर ही साधक श्रीभगवान्के फुल्लार-विन्दविनिन्दक मनोहर मुखकमलपर थिरकती हुई मृदुल मुसकान और कमनीय कृपाकटाक्षादिके दर्शन करके कृतकृत्य हो सकता है। यही क्या, इस प्रकारके ध्यान-से सन्तुष्ट होकर संसार-सागरसे पार लगानेवाले श्रीहरि अपने भक्तके प्रति आत्मसमर्पण कर देते हैं और भक्त भी प्रेम-पारावारकी विचित्र भावभङ्गीमें विभोर होकर रसस्वरूप श्रीश्यामसुन्दरके रसमय विग्रहमें लीन हो जाता है—सर्वत्र भगवान्की ही झाँकी करता हुआ वह निरन्तर परमानन्दमें मग्न रहता है।

जिसका मन सर्वदा अपने ध्येयमें आसक्त रहता है, वस्तुतः वही सम्पूर्ण अवस्थाओंमें सर्वत्र अपने इष्टके दर्शन कर सकता है। उस समय उसे किसी अन्य पदार्थका भान नहीं होता। चित्तकी ऐसी ध्येयासक्तिका नाम ही ध्यान है। शिवपुराणमें कहा है—

ध्यै चिन्तायां स्मृतो धातुः शिवचिन्ता मुहुर्मुहुः।
अव्याक्षिप्तेन मनसा ध्यानं नाम तदुच्यते॥
ध्येयावस्थितचित्तस्य सदृशप्रत्ययस्य यः।
प्रत्ययान्तरनिर्मुक्तप्रवाहो ध्यानमुच्यते॥*

(शिवपुराण वायवीय खण्ड)

* 'ध्यै' यह धातु चिन्तनार्थक कहा गया है। अतः अविक्षिप्त चित्तसे भगवान् शिवका बार-बार चिन्तन करना—इसीका नाम 'ध्यान' है। ध्येयमें स्थित एवं समान प्रत्ययवाले चित्तका जो प्रत्ययान्तरसे रहित प्रवाह है, वही 'ध्यान' कहलाता है।

किन्तु यह ध्यान सोते-सोते, चलते-चलते, चञ्चल अवस्थामें अथवा अन्यमनस्कताकी दशामें होना सम्भव नहीं है; क्योंकि शयन, गमन और चञ्चलतादि तो चित्त-विक्षेपके कारण हैं। शयनकालमें भी चित्तकी ध्येयमें एकाग्रता नहीं होती। खड़े-खड़े भी ध्यान होना सम्भव नहीं है, क्योंकि उस समय चित्त शरीरको धारण करनेमें लगा रहता है, इसलिये वह सूक्ष्म वस्तुको देखनेमें समर्थ नहीं हो सकता। लेटकर भी ध्यान नहीं हो सकता, क्योंकि लेटे हुए व्यक्तिको अकस्मात् निद्रा घेर लेती है। अतः शास्त्रोक्त विधिसे नियमानुसार अविचलभावसे सुखपूर्वक बैठकर अनन्यमनसे तन्मय होकर एकाग्र चित्तसे ध्यान करना होगा।

किन्तु महर्षि शाण्डिल्यके उपदेशानुसार भगवान्-का ध्यान आदरणीय होनेपर भी भगवान् बादरायणके मतसे ध्यानानन्दका अनुभव करना कलिके कामकिङ्कर, अन्नगतप्राण, अल्पायु जीवोंके लिये सर्वथा असम्भव है; क्योंकि उनके 'आसीनः सम्भवात्' आदि सूत्रोंके अनुसार जनसंसर्गशून्य एकान्तस्थलमें बैठकर भगवान्-का ध्यान करना होगा और उसके लिये यौगिक ध्यान-धारणा एवं ज्ञानादिकी भी आवश्यकता है। अतः कलि-युगके कामनाकलुषित शिश्नोदरपरायण जीवोंके लिये भगवान्का ध्यान बड़ा दुःसाध्य है, क्योंकि उतना पुण्य-पुञ्ज सञ्चय किये विना, कठोर तपस्याके द्वारा आत्म-लीन हुए विना तथा पूर्ण आत्मज्ञान पाये विना ध्यान-कालमें भगवान्की सन्निधि लाभ करना बड़ा कठिन है। ध्यानके लिये विशेषतः जनसमागमशून्य निरुपद्रव और निर्जन स्थान ही अनुकूल होता है; किन्तु पुत्र-परिजन एवं आत्मीय स्वजनोंसे घिरे हुए तथा संसारके कोलाहल और झमेलेमें पड़े हुए पुरुषोंको निर्जनताका प्राप्त होना कोई सहज बात नहीं है। यद्यपि जिन लोगोंका चित्त विकारके हेतुओंके रहते हुए भी विकृत नहीं होता वे ही धीर होते हैं—'विकारहेतौ सति

विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः', तथापि राजर्षि जनकके समान ऐसे धीर-वीर साधक संसारमें कितने हैं ? अतः कलियुगमें भगवान्का ध्यान होना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। सुतरां भगवद्ध्यान और तपस्या––ये दो साधन कलिकलुषित जीवोंके लिये नहीं हैं। ये सत्ययुगके दीर्घायु और जितेन्द्रिय जीवोंके लिये ही हैं। कलियुगी जीवोंके लिये तो गङ्गास्नान और हरिनाम––ये दो ही सुगम साधन हैं––

'गङ्गास्नानं हरेर्नाम निरपायमिदं द्वयम्।'

गङ्गास्नान और हरिनामसंकीर्तन सहज साध्य हैं––इसमें तो लेशमात्र भी सन्देह नहीं है। संकीर्तनके लिये तो जनशून्य और बहुजन-समाकुल दोनों ही प्रकारके स्थान समान हैं। अतः यह सभी प्रकारके साधकोंके लिये बड़ा सुगम और सरल साधन है, क्योंकि इसकी साधनामें किसी प्रकारके नियमका बन्धन अथवा विघ्न-बाधाओंके उपद्रवकी आशङ्का नहीं है। यह साधन सर्वथा निरुपद्रव है। इसलिये जो लोग ध्यानाभ्यासके द्वारा भगवान्की अमृतमयी मनोमोहिनी मूर्तिकी झाँकी करनेमें असमर्थ हैं, उन्हें श्रीभगवन्नामसंकीर्तनका ही आश्रय लेना चाहिये। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि सत्ययुगमें ध्यानके द्वारा, त्रेतामें यज्ञोंके द्वारा और द्वापरमें भगवान्के पूजनद्वारा जिस पदकी प्राप्ति होती थी, वही कलियुगमें बड़ी सुगमतासे भगवन्नामकीर्तनके द्वारा प्राप्त हो सकता है। कलिपावन, देवाराध्य, देवर्षि नारदजी कहते हैं––

'संकीर्त्यमानः शीघ्रमेवाविर्भवत्यनुभावयति भक्तान्।'
(नारदसूत्र)

भक्तोंद्वारा संकीर्तित होनेपर भक्ताधीन भगवान् शीघ्र ही भक्तकी सन्निधिमें प्रकट हो जाते हैं और उसे अपना अनुभव करा देते हैं। अर्थात् नामसंकीर्तनमें अनुराग हो जानेपर भक्तको भगवत्कृपासे सर्वत्र ही प्रभुकी अनुभूति होने लगती है।

अतएव भगवद्ध्यान और भगवन्नामकीर्तन––इन दोनोंका प्रायः एक ही-सा प्रभाव है। अधिक क्या, इनमेंसे किसी भी एक साधनमें चित्तका पूरा अभिनिवेश हो जानेपर भगवान् मनःपटलपर अङ्कित हो जाते हैं, चित्ताकाशमें उदित हो जाते हैं अथवा यों कहिये कि हृदयमन्दिरमें विराज जाते हैं। इसके सिवा ये दोनों साधन परस्पर एक-दूसरेके उपकारक भी हैं। कीर्तनके द्वारा ध्यानानन्दकी वृद्धि होती है तथा ध्यानसे कीर्तनानन्दका विकास होता है। इस प्रकार ये दोनों ही दोनोंके पोषक और संवर्द्धक हैं। ऐसी अवस्थामें अन्तमें सिद्धान्तरूपसे यही कहना होगा कि––

'प्रीतिर्यतो यस्य सुखं च येन
सम्यग्भवेत्सद्रसिकस्य तस्य।
तत्साधना श्रेष्ठतमा सुसेव्या
सद्भिर्मता प्रत्युत साध्यरूपा॥'

जिसका जिसमें प्रेम होता है और जिससे सुख मिलता है, उस सुरसिक साधकके लिये वही साधना ठीक रहती है; उसके लिये वही श्रेष्ठतम एवं सम्यक् प्रकारसे सेवनीय है। यही नहीं, साधुपुरुषोंने उसीको उसके लिये साध्यरूपा माना है। अतः जिनकी जैसी रुचि और जैसा अधिकार है, उसीके अनुसार उन्हें अपनी साधनाका निश्चय कर लेना चाहिये। जो करोड़ों सूर्योंके समान देदीप्यमान और करोड़ों चन्द्रमाओंके समान स्निग्ध श्रीभगवान्की परम समुज्ज्वल, कमनीय-कान्तिमयी मनोहर मूर्तिका ध्यान करके परमानन्दका अनुभव करते हैं, उनके लिये ध्यान ही भगवत्प्रीतिका सर्वोत्तम साधन है और जो ध्यानको कठिन समझकर भगवान्के त्रिभुवनपावन सुमधुर नामोंका संकीर्तन करके आनन्द-विभोर हो जाते हैं, उनके लिये नाम-संकीर्तन ही परमश्रेयस्कर और मङ्गलमय है। इस प्रकार अधिकार-भेदसे ये दोनों ही भगवान्की प्रसन्नताके प्रधान साधन हैं।

भक्त किरात और नन्दी वैश्य

(लेखक—पं० श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी)

आशुतोष भगवान् शङ्कर औढरदानीके नामसे प्रसिद्ध हैं। उनकी मूर्ति वैराग्य, शान्ति, ज्ञान, कृपा और शक्तिकी प्रतीक है। वे सर्वेश्वर होकर श्मशान-वासी हैं, कर्पूर-धवल होनेपर भी सारे शरीरमें भस्म लपेटे रहते हैं, अर्द्धनारीश्वर होनेपर भी ऊर्ध्वरेता हैं, धनाधीश कुबेर उनकी आज्ञाकी बाट देखते रहते हैं फिर भी वे कृत्तिवासा हैं; स्वार्थ और परमार्थसे ऊपर उठे होनेपर भी जगत्के आदर्शके लिये वे तपस्यामें संलग्न रहते हैं। भगवान् विष्णुकी मूर्ति आनन्दमयी है तो शङ्करकी ज्ञानमयी। शङ्कर विष्णुके हृदय हैं तो विष्णु शङ्करके। दोनोंके स्वरूप दोनों हैं, इसलिये दोनों ही एक एवं ज्ञानानन्दघन हैं। किसी भी एककी उपासना कीजिये, फल एक ही है। वास्तवमें उनकी उपासना ही जीवनका फल है। जैसे विष्णुके अनेकों भक्त हो गये हैं, वैसे ही शिवके भी। जैसे भगवान् शङ्कर दिव्य हैं, वैसे ही उनके भक्त और उनकी भक्ति भी। वे कब, किसपर, क्यों रीझते हैं—यह कहा नहीं जा सकता। इस सम्बन्धमें अनेकों कथाएँ प्रचलित हैं। यहाँ शिवभक्त किरात और नन्दी वैश्यकी कथाका उल्लेख किया जाता है।

प्राचीनकालमें नन्दी नामके वैश्य अवन्ती नगरीके एक धनी, मानी और प्रतिष्ठित पुरुष थे। वे बड़े सदाचारी थे, अपने वर्णाश्रमोचित धर्मके पालनमें उनकी बड़ी निष्ठा थी। प्रतिदिन शिवपूजा करनेका तो उन्होंने नियम ही ले रक्खा था। वे प्रतिदिन प्रातःकाल उठते, विधि-विधान जाननेवाले ब्राह्मणोंके साथ मन्दिरमें जाते और अपनी शक्तिके अनुसार भगवान् शङ्करकी पूजा करते। पञ्चामृतसे स्नान कराकर नाना प्रकारके रंग-बिरंगे सुगन्धित पुष्प चढ़ाते और उपहारमें मणि, मोती और हीरे समर्पित करते। नैवेद्यके लिये अनेकों प्रकारकी सामग्री नित्य तैयार करवाते और बड़े उत्साहसे उसका भोग लगाते। उनका यह नित्यनियम बहुत वर्षोंतक चलता रहा।

यद्यपि भगवान् शङ्कर केवल पूजासे भी प्रसन्न होते हैं,—इन्द्रसेन राजापर तो, जो अपने सैनिकोंसे 'आहर-प्रहर' कहा करता था, उसके 'हर-हर' इस उच्चारणपर ही प्रसन्न हो गये—तथापि वे अपने भक्तमें कोई त्रुटि नहीं रहने देना चाहते; इसलिये कभी-कभी प्रसन्न होनेमें विलम्ब भी कर दिया करते हैं। यह विलम्ब भी उनकी अतिशय कृपासे परिपूर्ण ही होता है। उन्होंने वहाँ एक ऐसी घटना घटित की, जिससे यह मालूम हो जाय कि भगवान् केवल नियमपालनसे ही प्रसन्न नहीं होते, उनके लिये और भी कुछ आवश्यक है और वह है भाव-भक्ति, प्रेम एवं आत्मसमर्पण।

जिस मन्दिरमें नन्दी वैश्य पूजा करते थे, वह बस्तीसे कुछ दूर जंगलमें था। एक दिनकी बात है कि कोई किरात शिकार खेलता हुआ उधरसे निकला।

प्राणियोंकी हिंसामें, जो कि अत्यन्त गर्हित है, उसे रस मिलता था। उसकी बुद्धि जडप्राय थी, उसमें विवेकका लेश भी नहीं था। दोपहरका समय था, वह भूख-प्याससे व्याकुल हो रहा था। मन्दिरके पास आकर वहाँके सरोवरमें उसने स्नान किया और जलपान कर अपनी तृषा शान्त की। जब वह वहाँसे लौटने लगा, तब उसकी दृष्टि मन्दिरपर पड़ी और पूर्वजन्मके न जाने कौन-से संस्कार उसके चित्तमें उग आये और उसके मनमें यह इच्छा हुई कि मन्दिरमें चलकर भगवान्‌का दर्शन कर लूँ। जब उसने मन्दिरमें जाकर भगवान् शङ्करका दर्शन किया तो उसके चित्तमें पूजा करनेका सङ्कल्प उठा और उसने अपनी बुद्धिके अनुसार पूजा की।

उसने कैसी पूजा की होगी, इसका अनुमान सहज ही लग सकता है। न उसके पास पूजाकी सामग्री थी और न वह उसे जानता ही था। किस सामग्रीका उपयोग किस विधिसे किया जाता है, यह जाननेकी भी उसे आवश्यकता नहीं प्रतीत हुई। उसने देखा लोगोंने स्नान कराकर बिल्वपत्र आदि चढ़ाये हैं। उसने एक हाथसे बिल्वपत्र तोड़ा, दूसरे हाथमें मांस पहलेसे ही था। गण्डूष-जलसे स्नान कराकर उसने बिल्वपत्र और मांस चढ़ा दिया। वह मांसभोजी भील था, उसको इस बातका पता नहीं था कि देवताको मांस नहीं चढ़ाना चाहिये। यही काम यदि कोई जान-बूझकर करे तो वह दोषका भागी होता है। परन्तु उसने तो भावसे, अपनी शक्ति और ज्ञानके अनुसार पूजा की थी। बड़ा आनन्द हुआ उसे, प्रेममुग्ध होकर वह शिवलिङ्गके सम्मुख साष्टाङ्ग दण्डवत् करने लगा। उसने दृढ़तासे यह निश्चय किया कि आजसे मैं प्रतिदिन भगवान् शङ्करकी पूजा करूँगा। उसका यह निश्चय अविचल था, क्योंकि यह उसके गम्भीर अन्तस्तलकी प्रेरणा थी।

दूसरे दिन प्रातःकाल नन्दी वैश्य पूजा करने आये। मन्दिरकी स्थिति देखकर वे अवाक् रह गये। कलकी पूजा इधर-उधर बिखरी पड़ी थी। मांसके टुकड़े भी इधर-उधर पड़े थे। उन्होंने सोचा—'यह क्या हुआ? मेरी पूजामें ही कोई त्रुटि हुई होगी, जिसका यह फल है। इस प्रकार मन्दिरको भ्रष्ट करनेवाला विघ्न तो कभी नहीं हुआ था। अवश्य ही यह मेरा दुर्भाग्य है'। यही सब सोचते हुए उन्होंने मन्दिर साफ किया और पुनः स्नानादि करके भगवान्‌की पूजा की। घर लौटकर उन्होंने पुरोहितसे सारा समाचार कह सुनाया और बड़ी चिन्ता प्रकट की। पुरोहितको क्या मालूम था कि इस काममें भी किसीका भक्ति-भाव हो सकता है। उन्होंने कहा—अवश्य ही यह किसी मूर्खका काम है, नहीं तो रत्नोंको इधर-उधर बिखेरकर भला कोई मन्दिर-को अपवित्र एवं भ्रष्ट क्यों करता? चलो, कल हम भी तुम्हारे साथ चलेंगे और देखेंगे कि कौन दुष्ट ऐसा काम करता है? नन्दी वैश्यने बड़े दुःखसे वह रात्रि व्यतीत की।

प्रातःकाल होते-न-होते नन्दी वैश्य अपने पुरोहित-को लेकर शिव-मन्दिर पहुँच गये। देखा वही हालत आज भी थी जो कल थी। वहाँ मार्जन आदि करके नन्दीने शिवजीकी पञ्चोपचार पूजा की और रुद्राभिषेक किया। ब्राह्मण स्तुतिपाठ करने लगे। वेद-मन्त्रोंकी ध्वनिसे वह जंगल गूँज उठा, सबकी आँख लगी हुई थी कि देखें मन्दिरको भ्रष्ट करनेवाला कब किधरसे आता है।

दोपहरके समय किरात आया। उसकी आकृति बड़ी भयङ्कर थी। हाथोंमें धनुष-बाण लिये हुए था। शङ्करभगवान्‌की कुछ ऐसी लीला ही थी कि किरातको देखकर सब-के-सब डर गये और एक कोनेमें जा छिपे। उनके देखते-देखते किरातने उनकी की हुई पूजा नष्ट-भ्रष्ट कर दी एवं गण्डूष-जलसे स्नान कराकर बिल्वपत्र

और मांस चढ़ाया। जब वह साष्टाङ्ग प्रणाम करके चला गया, तब नन्दी वैश्य और ब्राह्मणोंके जीमें जी आया और सब बस्तीमें लौट आये। नन्दीके पूछनेपर ब्राह्मणोंने यह व्यवस्था दी कि यह उपासनाका विघ्न है। बड़े-बड़े देवता भी इसका निवारण नहीं कर सकते। इसलिये उस लिङ्गमूर्तिको ही अपने घर ले आना चाहिये। उन विद्वानोंके चित्तमें यह बात कब आ सकती थी कि वह किरात नन्दी वैश्यकी अपेक्षा भगवान्का श्रेष्ठ भक्त है और वह भी अपनी जानमें भगवान्की उपासना ही करता है। ब्राह्मणोंकी व्यवस्थाके अनुसार शिवलिङ्ग वहाँसे उखाड़ लाया गया और नन्दी वैश्यके घरपर विधिपूर्वक उसकी प्रतिष्ठा की गयी। उनके घर सोने और मणि-रत्नोंकी कमी तो थी ही नहीं, संकोच छोड़कर उनका उपयोग किया गया; परन्तु भगवान्को धन-सम्पत्तिके अतिरिक्त कुछ और भी चाहिये!

प्रतिदिनके नियमानुसार किरात अपने समयपर भगवान् शङ्करकी पूजा करने आया; परन्तु मूर्तिको न पाकर सोचने लगा—'यह क्या, भगवान् तो आज हैं ही नहीं।' मन्दिरका एक-एक कोना छान डाला, एक-एक छिद्रको ध्यानपूर्वक देखा, मन्दिरके आसपास भी यथासम्भव ढूँढ़नेकी चेष्टा की; परन्तु सब व्यर्थ! उसके भगवान् उसे नहीं मिले। किरातकी दृष्टिमें वह मूर्ति नहीं थी, स्वयं भगवान् थे। अपने प्राणोंके लिये वह भगवान्की पूजा नहीं करता था, किन्तु उसने अपने प्राणोंको उनपर निछावर कर रक्खा था। अपने जीवन-सर्वस्व प्रभुको न पाकर वह विह्वल हो गया और बड़े आर्त्तस्वरसे पुकारने लगा—'महादेव, शम्भो, मुझे छोड़कर तुम कहाँ चले गये! प्रभो, अब एक क्षणका भी विलम्ब सहन नहीं होता। मेरे प्राण तड़फड़ा रहे हैं, छाती फटी जा रही है, आँखोंसे कुछ सूझता नहीं। मेरी करुण पुकार सुनो, मुझे जीवनदान दो। अपने दर्शनसे मेरी आँखें तृप्त करो। जगन्नाथ, त्रिपुरान्तक, यदि तुम्हारे दर्शन नहीं होंगे तो मैं जीकर क्या करूँगा? मैं प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ और सच कहता हूँ, तुम्हारे बिना मैं जी नहीं सकता। क्या तुम नहीं देख रहे हो कि तुम्हारे बिना मेरी क्या दशा हो रही है? आशुतोष, यह निष्ठुरता तुम्हारे अनुरूप नहीं है। क्या तुमने समाधि लगा ली? क्या कहीं जाकर सो गये? मेरी करुण पुकार क्या तुम्हारे कानोंतक नहीं पहुँच रही है?' इस प्रकार प्रार्थना करते-करते किरातकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा अविरल रूपसे बहने लगी। वह विकल हो गया, अपने हाथोंको पटकने तथा शरीरको पीटने लगा। उसने कहा—'अपनी जानमें मैंने कोई अपराध नहीं किया है, फिर क्या कारण है कि तुम चले गये? अच्छा, यही सही; मैं तो तुम्हारी पूजा करूँगा ही। किरातने अपने हाथसे शरीरका बहुत-सा मांस काटकर उस स्थानपर रक्खा, जहाँ पहले शिवलिङ्ग था। स्वस्थ हृदयसे, क्योंकि अब उसने प्राणत्यागका निश्चय कर लिया था, सरोवरमें स्नान करके सदाकी भाँति पूजा की और साष्टाङ्ग प्रणाम करके ध्यान करने बैठ गया।

ध्यान तो बहुत-से लोग करते हैं, परन्तु वे तो कुछ समयतक कर्तव्यपालनके लिये ध्यान करते हैं। इसीसे वे अपने अन्तर्देशमें प्रवेश नहीं कर पाते, क्योंकि ध्यानके बादके लिये बहुत-सी वासनाओंको वे सुरक्षित रक्खे रहते हैं। किरातके चित्तमें अब एक भी वासना अवशेष न थी, वह केवल भगवान्का दर्शन चाहता था। ध्यान अथवा मृत्यु, यही उसकी साधना थी। यही कारण है कि बिना किसी विक्षेपके उसने लक्ष्यवेध कर लिया और उसका चित्त भगवान्के लीलालोकमें विचरण करने लगा। उसकी अन्तर्दृष्टि भगवान्के कर्पूरोज्ज्वल, भस्मभूषित, गंगातरङ्गरमणीयजटाकलापसे शोभित एवं सर्पपरिवेष्टित अङ्गोंकी सौन्दर्य्यसुधाका पान करने लगी और वह उनकी लीलामें सम्मिलित होकर विविध प्रकार-

से उनकी सेवा करने लगा। उसे बाह्य जगत्, शरीर अथवा अपने आपकी सुधि नहीं थी; वह केवल अन्त-र्जगत्की अमृतमयी सुरभिसे छक रहा था, मस्त हो रहा था। बाहरसे देखनेपर उसका शरीर रोमाञ्चित था, आँखोंसे आँसूकी बूँदें ढुलक रही थीं, रोम-रोमसे आनन्द-की धारा फूटी पड़ती थी। उस क्रूरकर्मा किरातके अन्तरालमें इतना माधुर्य कहाँ सो रहा था, इसे कौन जान सकता है?

किरातकी तन्मयता देखकर शिवने अपनी समाधि भङ्ग की। वे उसके हृदयदेशमें नहीं, इन चर्मचक्षुओंके सामने—जिनसे हमलोग इस संसारको देखते हैं—प्रकट हुए। उनके ललाटदेशस्थित चन्द्रने अपनी सुधा-मयी रश्मियोंसे किरातकी काया उज्ज्वल कर दी। उसके शरीरका अणु-अणु बदलकर अमृतमय हो गया। परन्तु उसकी समाधि ज्यों-की-त्यों थी। भगवान्ने मानो अपनी अनुपस्थितिके दोषका परिमार्जन करते हुए किरातसे कहा—'हे महाप्राज्ञ, हे वीर, मैं तुम्हारे भक्तिभाव और प्रेमका ऋणी हूँ, तुम्हारी जो बड़ी-से-बड़ी अभिलाषा हो, वह मुझसे कहो; मैं तुम्हारे लिये सब कुछ कर सकता हूँ।' भगवान्की वाणी और सङ्कल्पने किरातको बाहर देखनेके लिये विवश किया। परन्तु जब उसने जाना कि मैं जो भीतर देख रहा था वही बाहर भी है, तब तो उसकी प्रेमभक्ति पराकाष्ठाको पहुँच गयी और वह सर्वाङ्गसे नमस्कार करता हुआ श्रीभगवान्के चरणोंमें लोट गया। भगवान्के प्रेमपूर्वक उठानेपर और प्रेरणा करनेपर उसने प्रार्थना की—'भगवन्! मैं आपका दास हूँ, आप मेरे स्वामी हैं—मेरा यह भाव सर्वदा बना रहे और मुझे चाहे जितनी बार जन्म लेना पड़े, मैं तुम्हारी सेवामें संलग्न रहूँ। प्रतिक्षण मेरे हृदयमें तुम्हारा प्रेम बढ़ता ही रहे। प्रभो! तुम्हीं मेरी दयामयी माँ हो और तुम्हीं मेरे न्यायशील पिता हो। मेरे सहायक बन्धु और प्राणप्रिय सखा भी तुम्हीं हो। मेरे गुरुदेव, मेरे इष्टदेव और मेरे मन्त्र भी तुम्हीं हो। तुम्हारे अतिरिक्त तीनों लोकोंमें और कुछ नहीं है और तीनों लोक भी कुछ नहीं हैं, केवल तुम्हीं हो।' किरातकी निष्काम प्रेमपूर्ण प्रार्थना सुनकर भगवान् बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने सर्वदाके लिये उसे अपना पार्षद बना लिया। उसे पार्षदरूपमें प्राप्त करके भगवान् शङ्करको बड़ा आनन्द हुआ और वे अपने उल्लासको प्रकट करनेके लिये डमरू बजाने लगे।

भगवान्के डमरूके साथ ही तीनों लोकोंमें भेरी, शङ्ख, मृदङ्ग और नगारे बजने लगे। सर्वत्र 'जय-जय'की ध्वनि होने लगी। शिवभक्तोंके चित्तमें आनन्दकी बाढ़ आ गयी। यह आनन्द-कोलाहल तत्क्षण नन्दी वैश्यके घर पहुँच गया। उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ और वे अविलम्ब वहाँ पहुँचे। किरातके भक्तिभाव और भगवत्-प्रसादको देखकर उनका हृदय गद्गद हो गया और जो कुछ अज्ञानरूप मल था उनके चित्तमें कि 'भगवान् धन आदिसे प्राप्त हो सकते हैं' वह सब धुल गया, वे मुग्ध होकर किरातकी स्तुति करने लगे—'हे तपस्वी, तुम भगवान्के परम भक्त हो; तुम्हारी भक्तिसे ही प्रसन्न होकर भगवान् यहाँ प्रकट हुए हैं। मैं तुम्हारी शरणमें हूँ। अब तुम्हीं मुझे भगवान्के चरणोंमें अर्पित करो।' नन्दीकी बातसे किरातको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने तत्क्षण नन्दीका हाथ पकड़कर भगवान्के चरणोंमें उपस्थित किया। उस समय भोलेबाबा सचमुच भोले बन गये। उन्होंने किरातसे पूछा—'ये कौन सज्जन हैं? मेरे गणोंमें इन्हें लानेकी क्या आवश्यकता थी?' किरातने कहा—'प्रभो, ये आपके सेवक हैं, प्रतिदिन रत्नमाणिक्यसे आपकी पूजा करते थे। आप इनको पहचानिये और स्वीकार कीजिये।' शङ्करने हँसते हुए कहा—'मुझे तो इनकी बहुत कम याद पड़ती है। तुम तो मेरे प्रेमी हो, सखा हो;

परन्तु ये कौन हैं! देखो भाई, जो निष्काम हैं, निष्कपट हैं और हृदयसे मेरा स्मरण करते हैं, वे ही मुझे प्यारे हैं; मैं उन्हींको पहचानता हूँ।' किरातने प्रार्थना की—'भगवन्, मैं आपका भक्त हूँ और यह मेरा प्रेमी है। आपने मुझे स्वीकार किया और मैंने इसे, हम दोनों ही आपके पार्षद हैं।' अब तो भगवान् शङ्करको बोलनेके लिये कोई स्थान ही नहीं था। भक्तकी स्वीकृति भगवान्‌की स्वीकृतिसे बढ़कर होती है। किरातके मुँहसे यह बात निकलते ही सारे संसारमें फैल गयी। लोग शत-शत मुखसे प्रशंसा करने लगे कि किरातने नन्दी वैश्यका उद्धार कर दिया।

उसी समय बहुत-से ज्योतिर्मय विमान वहाँ आ गये। भगवान् शङ्करका सारूप्य प्राप्त करके दोनों भक्त उनके साथ कैलास गये और माँ पार्वतीके द्वारा सत्कृत होकर वहीं निवास करने लगे। वही दोनों भक्त भगवान् शङ्करके गणोंमें नन्दी और महाकालके नामसे प्रसिद्ध हुए। इस प्रकार नन्दीकी भक्तिके द्वारा किरातकी भक्तिको उत्तेजित करके और किरातकी भक्तिके द्वारा नन्दीकी भक्तिको पूर्ण करके आशुतोष भगवान् शङ्करने दोनोंको स्वरूप-दान किया और कृतकृत्य बनाया।

धन्य हैं ऐसे दयालु भगवान् और उनके प्रेमी भक्त!

हाँ, वे दिन अब चले गये!

१

अब मैं सिसका ही करता था,
सूनेमें आहें भरता था;
भगते मृग-तृष्णाके पीछे ये प्यासे दृग छले गये!
पर अब वे दिन चले गये!
हाँ, वे दिन अब चले गये!!

२

वह दुःखद कारा थी निर्मम,
था हा! भीषणतम जिसमें तम,
छाया रहता था नित मातम; हम गममें ही गले गये!
पर अब वे दिन चले गये!
हाँ, वे दिन अब चले गये!!

३

हँसना, नचना, प्रतिपल खिलना,
सबसे स्नेह हृदयसे मिलना,
मस्त झूमना, काम सदा सब; हाँ, अब दिन आ भले गये!
वे दिन तो अब चले गये!
हाँ, वे दिन अब चले गये!!

—श्रीसत्यभूषण 'योगी'
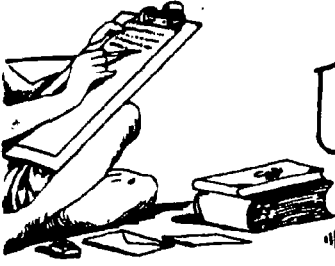
(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

भगवान्‌के नामका जप यदि निम्नलिखित पाँच बातोंको याद रखते हुए किया जाय तो शीघ्र ही विशेष लाभ हो सकता है—

१—जिस प्रकार कोई कुलटा स्त्री किसी परपुरुषके प्रेमको छिपाकर उसका चिन्तन करती हुई घरका काम-काज करती है उसी प्रकार गुप्तभावसे भगवन्नामका जप करना चाहिये।

२—जप करते समय भगवन्नामके प्रति अत्यधिक आदरका भाव रखना चाहिये। जो नाम-जप मनोयोगके साथ किया जाता है, उसीमें आदरका भाव समझा जाता है; अन्यथा वह विना मनके की हुई सेवा, सन्ध्या आदिकी तरह तिरस्कारपूर्वक ही होता है। भगवान्‌के प्रभावको न जानना भी उनका तिरस्कार करना ही है, जैसा कि गीताके अध्याय ९ श्लोक ११ में लिखा है। इसी प्रकार भगवन्नामका प्रभाव जाने विना जप करना एक प्रकारसे उसका तिरस्कार करना ही है। यद्यपि तिरस्कारपूर्वक किये जानेवाले नाम-जपसे भी कोई हानि नहीं होती परन्तु लाभ कम होता है। इसलिये भगवन्नामका प्रभाव जानकर मनसे चिन्तन करते हुए जप करना चाहिये।

३—नाम-जपके समय उसके अर्थका मनन करना चाहिये अर्थात् नामीका स्मरण करते हुए नाम-जप करना चाहिये। नाम-नामपर नामीका ध्यान करते रहना चाहिये। ऐसा करनेसे नामीका निरन्तर ध्यान होने लगता है, क्योंकि ध्यानके परिपक्व हो जानेपर ध्यान छूटता नहीं है।

४—भगवन्नामका जप निष्काम भावसे करना चाहिये। प्राण भी क्यों न चले जायँ, परन्तु प्रभुसे कोई निवेदन नहीं करना चाहिये। अपनेमें किसीको शाप या वरदान देनेकी शक्ति नहीं समझनी चाहिये। भजन, ध्यान और सेवाके द्वारा स्वार्थसाधन करना ऐसा ही है, जैसे किसीको हीरा-मणि देकर बदलेमें पत्थर लेना है। इसलिये नाम-जपके साथ कोई शर्त नहीं रखनी चाहिये।

५—ऊपर लिखे अनुसार निरन्तर नाम-जपका अभ्यास करना चाहिये। कभी भी उसका तार नहीं टूटने देना चाहिये। अभ्यास बढ़ जानेपर काम-काज करते हुए भी निरन्तर नाम-जप किया जा सकता है। ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार चरखा कातनेवाली स्त्री सूत कातती जाती है, उसका तार नहीं टूटने देती और दूसरोंसे बातें भी करती जाती है।

संवत् १६०० के आस-पास इस देशमें अनेकों भक्तोंका प्रादुर्भाव हुआ। उन्होंने समयको कुछ सुधारा था। जब समय कुछ अधिक गिर जाता है, तब भगवान् अपने भक्तोंको प्रेरणा करके उनके द्वारा

समयका सुधार करवा देते हैं। और जब पाप बहुत अधिक बढ़ जाता है तब भगवान् स्वयं अवतार लेकर पृथ्वीका भार हल्का करते तथा धर्मका उद्धार करते हैं। इन दिनों कलियुगका प्रभाव विशेषरूपसे फैल गया है। इसलिये भक्तोंको भगवान्‌की प्रेरणा होती है कि समयको सुधारना चाहिये। ऐसा अवसर पाकर भी जो अपना उद्धार नहीं करेंगे, वे मन्दबुद्धि समझे जायँगे तथा जन्म-मरणके चक्करसे छूट नहीं सकेंगे। रामचरितमानसका यह दोहा याद रखनेयोग्य है—

> जो न तरै भव सागर नर समाज अस पाइ।
> सो कृत निन्दक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥

इस समय भगवान्‌की प्रेरणा भक्तिमार्गकी उन्नति करनेके लिये है। अतः इस समय भक्तिमार्गसे बहुत जल्द उद्धार हो सकता है। ऐसा मौका सदा नहीं रहेगा। जब दूकानदारको माल बेचनेकी गरज होती है, तब चीजें बहुत मंदी बिकती हैं। और जब उसे गरज नहीं होती, तब बहुत ऊँचा दाम देनेसे तथा कोशिश करनेसे भी चीज नहीं मिलती। ऐसा समझकर इस मौकेको हाथसे नहीं जाने देना चाहिये।

भगवान्‌का भक्त इच्छा करे तो वह अकेला ही हजारों मनुष्योंका उद्धार कर सकता है। जैसे एक धर्मात्मा पुरुष हजारों मनुष्योंके सहित डूबती हुई नौकाको पार लगाना चाहे तो लगा सकता है। भक्तराज प्रह्लादपर प्रसन्न होकर भगवान्‌ने जब उन्हें वर माँगनेको कहा तो उन्होंने सबके उद्धारके लिये प्रार्थना की। सबका उद्धार न होनेपर भी उनके द्वारा हजारों आदमियोंका उद्धार अवश्य हुआ। अतः कटिबद्ध होकर विश्वासके साथ भक्तिके साधनमें लग जाना चाहिये।

(२)

संसारमें रहकर भी यदि सच्चे और साफ दिलसे काम किया जाय तो बहुत अच्छी तरह काम चल सकता है। चतुर व्यक्तिसे चतुराईकी बात करनेमें भी कोई हर्ज नहीं है, परन्तु किसीके साथ भी छल-कपट करनेकी आवश्यकता नहीं है। हृदय शुद्ध हुए बिना उत्तम व्यवहार होना कठिन है; इसलिये संसारका काम-काज करते हुए भगवद्भजनका—भगवान्‌के नाम जपनेका अभ्यास करना चाहिये। नाम-जपसे पापोंका नाश होकर हृदय शुद्ध हो जाता है; फिर व्यवहारमें कोई आपत्ति नहीं आती। हृदय शुद्ध हो जानेपर रुपयोंका लोभ तो अपने-आप छूट जायगा। फिर रुपयोंके लिये चतुराई अथवा छल-कपट नहीं हो सकेगा। व्यवहार भी बहुत अधिक बढ़ाना ठीक नहीं है। जिनका बहुत तेज साधन हो, वे यदि काम अधिक भी करें तो इतनी आपत्ति नहीं है। परन्तु बिना साधनका बल हुए व्यवहार अधिक बढ़ाना अच्छा नहीं। भजन-साधन करते हुए जितना काम हो सके, उतना ही करना चाहिये।

आपने लिखा कि योगवासिष्ठमें वसिष्ठजीने श्रीरामचन्द्रजीको और गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको गृहस्थ-धर्म छोड़ देनेका उपदेश दिया है, सो ऐसी बात नहीं समझनी चाहिये। यदि ऐसी बात होती तो भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने गृहस्थ-वेशमें लोक-लीला न की होती तथा अर्जुनने गृहस्थ-धर्मका पालन न किया होता। बल्कि अर्जुन तो राज-पाट छोड़ देनेके लिये तैयार थे परन्तु भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें गीताका उपदेश देकर उनसे महाभारतका युद्ध कराया। अवश्य ही उन्होंने अपना स्मरण करते हुए युद्ध करनेकी आज्ञा दी 'मामनुस्मर युध्य च'। भगवान् श्रीकृष्णने तो अन्यत्र भी सब जगह यही कहा है कि 'इस संसारमें निष्कामभावसे रहना चाहिये तथा मुझमें मन-बुद्धि लगाकर मेरा भजन-ध्यान करते हुए निःस्वार्थरूपसे संसारका काम-काज करना चाहिये; ऐसा करोगे तो मेरी कृपासे तुम्हारा अवश्य उद्धार हो जायगा।' आप भगवान्‌के इस उपदेशको सदा ध्यानमें रखिये।

आपको कोई विशेष कुसङ्ग नहीं है, यह तो हम भी जानते हैं, परन्तु आपको ऐसा मानकर सन्तोष नहीं कर लेना चाहिये। जहाँतक संसारका, सांसारिक वस्तुओंका, भोगोंका, शरीरके आरामका तथा रुपये-पैसेका आसक्तिपूर्वक चिन्तन होता है, वहाँतक कुसङ्ग ही समझना चाहिये। ये सब-के-सब फँसानेवाले हैं। श्रीनारायणदेवके भजन-ध्यान तथा सत्पुरुषोंके सङ्गको छोड़कर बाकी सब कुसङ्ग ही है। श्रीनारायणदेवके भजन-ध्यानके अतिरिक्त कहीं भी मन न जाय, तभी समझना चाहिये कि कोई कुसङ्ग नहीं है।

आपने लिखा कि सुग्रीव, उद्धव, अर्जुन आदिके मित्र बनकर भगवान्‌ने उनपर विशेष कृपा की परन्तु फिर भी उनको ज्ञान नहीं हुआ, सो आपका यह समझना भूल है। उन लोगोंको निःसन्देह ज्ञानकी प्राप्ति हो गयी थी। भला भगवान्‌के मित्र और सखा भी कभी अज्ञानी रह सकते हैं? उन लोगोंके ज्ञानी होनेकी तो बात ही क्या है, भगवान्‌के भक्तों और सखाओंकी जिनपर कृपा हो जाती है, वे भी ज्ञानी बनकर उद्धार पा जाते हैं। भगवान्‌के लीलासहचरों और सखाओंकी तो बात ही क्या है, इस युगमें उनका नाम जपनेवालों तथा परोक्षरूपसे उनकी भक्ति करनेवालोंका भी उनकी कृपासे उद्धार हो जाता है। भगवान् स्वयं कहते हैं—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
(गीता १०। ९-१०)

इन श्लोकोंका अर्थ गीतामें देख लेना चाहिये। इन श्लोकोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रेमपूर्वक नित्य-निरन्तर भजन करनेवालोंको भगवान् अपनी कृपासे ज्ञानी बनाकर उनका उद्धार कर देते हैं।

आपने पूछा कि किस प्रकार जल्दी-से-जल्दी भगवत्कृपाकी प्राप्ति होकर उद्धार हो सकता है, सो ठीक है। इस सम्बन्धमें गीता अध्याय १८ के श्लोक ६२ और ६६ देखने चाहिये। वे श्लोक इस प्रकार हैं—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

इन भगवद्वचनोंके अनुसार शरणागत हो जानेपर योगक्षेमका सारा भार भगवान् ले लेते हैं। ऐसी शरणागति प्रतिक्षण भगवच्चिन्तन करनेसे ही हो सकती है। इसलिये भगवान्‌को ही सब कुछ समझकर हर समय उनका चिन्तन और ध्यान करते रहना चाहिये। फिर कोई चिन्ताकी बात नहीं।

आपने पूछा कि संसारमें रहकर क्या करना चाहिये, सो इस सम्बन्धमें ऊपर लिखा जा चुका है। भगवान्‌के गुण, प्रभाव और प्रेमकी बातें बाँचनी-सुननी चाहिये। हर समय भगवान्‌के नामका जप और स्वरूपका ध्यान करते हुए अनासक्त भावसे स्वार्थरहित होकर संसारका काम-काज करना चाहिये। यदि आसक्ति जल्दी नहीं छूटे तो कोई चिन्ताकी बात नहीं, भगवान्‌का चिन्तन करते हुए अपनेको भगवान्‌का सेवक समझकर उन्हींकी सेवाके लिये संसारका काम-काज करना चाहिये।

आपका यह लिखना कि संसारमें कुछ भी सुख नहीं है, बिल्कुल ठीक है। वस्तुतः संसारमें दुःख-ही-दुःख है। यहाँ जो कुछ सुख भासता है, बिना हुए ही भासता है। यहाँके सभी पदार्थ अन्तमें दुःख देनेवाले हैं। अतएव इनका मोह छोड़कर तथा एकमात्र भगवान्‌को ही सुख-स्वरूप समझकर उनका भजन-ध्यान करते रहना चाहिये।

मैंने आपकी दशरथजी तथा वसुदेवजीसम्बन्धी बातें पढ़ीं। उन महाभागोंके सम्बन्धमें क्या कहा जाय,

जिनके घर भगवान्ने अवतार धारण किया। दशरथजी तथा वसुदेवजी दोनोंको ही सांसारिक दृष्टिसे दुःख तो बहुत ही हुआ; परन्तु अन्तमें वे भगवान्की कृपासे संसार-सागरसे पार हो गये। सदा-सर्वदाके लिये उन्हें आनन्द-घनकी प्राप्ति हो गयी। मेरी समझसे उन लोगोंका पुनर्जन्म नहीं होना चाहिये। उन लोगोंकी मुक्तिमें किसी प्रकारका सन्देह नहीं करना चाहिये। सांसारिक दृष्टिसे उन लोगोंको जो कुछ दुःख-क्लेश भोगने पड़े, उनका कारण उन लोगोंके पूर्वजन्मका कोई कर्म ही होगा, जिसका फल भोगकर वे लोग शुद्ध हो गये, फिर भगवान्के अवतरित होनेसे उन लोगोंका उद्धार हो गया। दशरथजी तथा वसुदेवजी पूर्वजन्ममें भी भगवान्के भक्त ही थे।

आपने लिखा कि जब संसारमें कहीं भी सुख नहीं है, तब अनन्तकालसे उसके लिये जीव क्यों भटकता फिरता है? इसका उत्तर यह है कि अज्ञानके कारण ही जीव भटकता फिरता है। उसने मूर्खतावश इस संसारमें सुख मान रक्खा है। उसको इस संसारमें मृगतृष्णाकी भाँति मिथ्या सुख भासता है। अतएव वह उसके पीछे दौड़ता रहता है। जिस दिन उसका यह अज्ञान मिट जाता है, उसी दिन वह संसारकी ओरसे मुँह मोड़कर भगवान्में लग जाता है और तब भगवत्कृपासे उसे कल्याणकी प्राप्ति हो जाती है। केवल भगवद्भक्तिसे ही जीवको सच्चे सुखकी प्राप्ति हो सकती है। इस सम्बन्धमें आपको गीताके छठे अध्यायके श्लोक ११ से ३२ तकका अर्थ देख लेना चाहिये। उन वचनोंके अनुसार ध्यान करनेसे समस्त दुःखोंका नाश और अपार सुखकी प्राप्ति हो सकती है।

आपने अन्तमें पूछा कि संसारमें रहकर किस प्रकार सबसे बर्ताव करना चाहिये, सो ठीक है। संक्षेपमें उत्तर यह है कि बड़ोंसे सम्मान और श्रद्धाका व्यवहार, बराबरीके लोगोंसे मित्रताका व्यवहार और छोटोंसे प्रेम तथा स्नेहका व्यवहार करना चाहिये। इस बातका प्रतिक्षण ध्यान रखना चाहिये कि अपने व्यवहारसे किसीको भी कष्ट न पहुँचे, बल्कि सबका यथायोग्य हित हो।

(३)

आपने चित्त स्थिर होनेका उपाय पूछा, सो ठीक है। चित्त स्थिर करनेके कुछ उपाय नीचे लिखे जाते हैं। जो उपाय जँचे, उसे काममें लाना चाहिये। यदि आप एक भी उपायको कटिबद्ध होकर काममें लायेंगे तो उससे बड़ा लाभ हो सकता है। उपाय ये हैं—

१—जहाँ-जहाँ चित्त जाय, वहाँ-वहाँसे उसको हटाकर भगवान्में लगाना चाहिये।

२—जहाँ-जहाँ मन जाय, वहाँ-वहाँ मनसे भगवान्का नाम बाँचना चाहिये। सर्वत्र भगवान्का नाम लिखा हुआ देखना चाहिये। जिस प्रकार हनुमान्जीने प्रत्येक वस्तुमें भगवन्नाम देखा था, उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्यके रोम-रोममें, प्रत्येक वस्तुके रग-रगमें भूषणमें रत्नकी तरह भगवान्के नामको जड़ा हुआ देखनेकी चेष्टा करनी चाहिये। ऐसा अभ्यास करनेसे मन स्थिर हो सकता है।

३—जहाँ-जहाँ मनकी गति हो, वहाँ-वहाँ गोपियोंकी तरह भगवान्की मनोमोहिनी मूर्तिको देखना चाहिये। अपने मनको दृढ़तापूर्वक यह समझा देना चाहिये कि मेरे इष्टदेव सर्वत्र हैं, जहाँ भी जाओगे वहीं तुम्हें उनके दर्शन होंगे। ऐसा अभ्यास करनेसे आप-से-आप मन स्थिर हो जायगा।

४—जहाँ-जहाँ जो कुछ भासता है, वह सब मिथ्या है—ऐसा समझना चाहिये। प्रतिक्षण मनके द्वारा इस बातका चिन्तन करना चाहिये कि संसारकी समस्त वस्तुएँ क्षणभङ्गुर हैं, केवल सच्चिदानन्दघन श्रीनारायणदेव ही सत्तावान् हैं और वे सर्वत्र व्याप्त हैं।

५—श्वास बाहर आनेपर उसे बाहर ही रोककर हृदयमें स्थित सुषुम्ना नाड़ीमें राम-नामका जप सुनना चाहिये।

उसको सुननेका अभ्यास करनेसे राम-नामके जपका अनुभव होने लगेगा। फिर उसका ध्यान होने लगेगा और इस प्रकार मन स्थिर हो जायगा। श्वास रोकते समय इसका ध्यान रखना चाहिये कि शक्तिसे अधिक श्वास न रोका जाय।

६—जोर-जोरसे भगवन्नामका कीर्तन करना चाहिये। उसका ऐसा अभ्यास करना चाहिये कि कीर्तनका तार न टूटने पावे।

और भी बहुत-से उपाय हैं। आप इन उपायोंका अभ्यास करके देख लीजिये। जो अनुकूल पड़े, उसीका अभ्यास करनेसे ठीक रहेगा। पहले-पहल अभ्यास करनेवालेके लिये दूसरे-तीसरे नंबरके उपाय ठीक हैं।

दैनिक कल्याण-सूत्र

१ अप्रैल सोमवार—यदि अबतक जीवनका उद्देश्य निश्चित न किया हो तो आज ही, इसी समय कर लो। उद्देश्यहीन जीवन व्यर्थ है। एक ओर चलो—केवल परमात्माकी ओर बढ़ो। जीवनकी प्रत्येक क्रिया और प्रत्येक सङ्कल्प केवल उन्हींके लिये हो।

२ अप्रैल मङ्गलवार—याद रक्खो, तुम परमात्माकी ओर चल रहे हो। रास्तेकी चट्टियोंपर ही कहीं न लुभा जाना। बीहड़ रास्तेसे घबड़ाकर लौटना नहीं। तुम्हारे साथ एक महान् शक्ति है—वह तुम्हारी सतत रक्षा कर रही है।

३ अप्रैल बुधवार—अनुभव करो, तुम्हें एक महान् प्रकाश घेरे हुए है। तुम्हारे अंदर-बाहर, आगे-पीछे, ऊपर-नीचे और नस-नसमें वह व्याप्त हो रहा है। अपने ज्ञान, शक्ति और सत्ताको उसमें डुबा दो—डूब जाने दो। फिर जब तुम व्यवहारमें उतरोगे तो तुम्हारे जीवनमें एक नवीन स्फूर्त्ति और उल्लासका अनुभव होगा। तुम देखोगे कि तुम्हारा जीवन प्रत्येक क्षण परमात्माकी अधिकाधिक सन्निधिमें जा रहा है।

४ अप्रैल गुरुवार—यह बात जान लो और सिद्धान्त-रूपसे मान लो कि ऐसा एक भी क्षण नहीं हो सकता, जिसमें तुम परमात्मामें स्थित न रह सको। चाहे तुम जिस परिस्थितिमें हो, भगवान् तुम्हारे साथ हैं और मुस्कुराते हुए तुम्हारी सहिष्णुता एवं धैर्यको देख रहे हैं। क्या उनके सामने तुम क्षुब्ध अथवा विचलित हो सकते हो!

५ अप्रैल शुक्रवार—जिस परिस्थितिमें इस समय तुम हो, वह उन्हीं प्रभुका मङ्गलमय वरदान है। इसमें उनके सुकोमल करस्पर्शका अनुभव करो। देखो, इस समय भी उनके कर-कमलोंकी छत्र-छाया तुम्हारे सिरपर है।

६ अप्रैल शनिवार—जो बीत गया, उसे भूल जाओ। जो आनेवाला है, वह तुम्हारे अधिकारसे बाहर है। तुम केवल वर्त्तमानको सुधारो, कहीं यह क्षण व्यर्थ न बीत जाय। अनुभव करो, आज तुम्हारा दिन सार्थक बीत रहा है। तुम भगवान्‌की ओर बढ़ रहे हो।

७ अप्रैल रविवार—जो परम सत्य है—काल जिसका स्पर्श नहीं कर सकता, जो परम पवित्र है—किसी प्रकारकी मलिनतासे जो अछूता है, जो परम ज्ञानमय है—अज्ञानका लेश भी जिसमें नहीं है, वह तत्त्व जो 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' है चारों ओर फैला हुआ है—जीवके रूपमें, जगत्‌के रूपमें वही प्रकट हो रहा है, मैं उसीमें डूब-उतरा रहा हूँ।

८ अप्रैल सोमवार—जो विषमताएँ तुम्हारे सामने हैं—जिनमें तुम उलझ रहे हो, जिनके बारेमें तुम अनुभव करते हो कि इनकी जटिलता असीम है—वे कुछ नहीं हैं। तुम परमात्माके सनातन अंश हो, उनके स्वरूप हो। ऐसी कोई शक्ति नहीं जो तुम्हें बाँध सके। तुम स्वतन्त्रतासे—परमात्माकी शक्तिका आश्रय लेकर आगे बढ़ो। सफलता अवश्यम्भावी है।

९ अप्रैल मङ्गलवार—ध्यान रहे—जो कुछ तुम देख रहे हो, यह परमात्माका ही स्वरूप है। तुम्हारे हृदयकी मलिनता, अभक्ति अथवा भ्रान्तिसे ही यह भिन्न रूपमें भास रहा है। इसलिये क्रियाकी तो बात ही क्या, सङ्कल्पसे भी किसीका तिरस्कार मत करो—जो तुम्हारे सामने आवे, उससे इस प्रकारका व्यवहार करो मानो परमात्मा ही तुम्हारे सामने वेष बदलकर आये हों।

१० अप्रैल बुधवार—शान्त रहो, अत्यधिक शान्त रहो। विचार करो कि प्रलयमें भी मेरा चित्त अक्षुब्ध रहेगा, क्योंकि वह परमात्मासे युक्त है।

११ अप्रैल गुरुवार—जो कुछ परमात्माकी ओरसे आवे, प्रेमसे उसका स्वागत करो। चित्तमें अपनी ओरसे विचारोंको न ठूँसकर—चित्तके उद्गममेंसे उन्हें उभरने दो। तुम्हारा एक-एक विचार परमात्माका सन्देश लायेगा। देखो तो सही, तुम्हारे हृदेशस्थित परमात्मा क्या कहते हैं।

१२ अप्रैल शुक्रवार—ऐसा समय आता है, जब चित्त-वृत्तियाँ अन्तर्मुख हो जाती हैं, बाहरकी स्फुरणाएँ बंद और श्वासकी गति धीमी। बड़ी सावधानी-के साथ उस समय परमात्माकी ओर देखो। तुम उनका प्रेम-सङ्गीत सुन सकोगे।

१३ अप्रैल शनिवार—अनुभव करो—मेरा जीवन रहस्यका जीवन है और उसका स्वरूप है प्रेम। मेरा हृदय अनन्त प्रेमकी क्रीडास्थली है। मैं विशुद्ध प्रेम हूँ। मेरे जीवनमें प्रेम विकसित हो रहा है। प्रेम—विशुद्ध प्रेम, जो कि आत्मिक है, जिसमें शारीरिक मोहकी गन्ध भी नहीं।

१४ अप्रैल रविवार—मैं शरीर नहीं हूँ, मैं शुद्ध आत्मा हूँ। शरीर—अपवित्र शरीर लेकर परमात्माके राज्यमें प्रवेश कैसे होगा ! मैंने शरीरका मोह छोड़ दिया है, तभी तो मैं परमात्माकी सन्निधि-का अनुभव कर रहा हूँ।

१५ अप्रैल सोमवार—दृढ़ निश्चय करो—मेरा मन पवित्र हो रहा है। दुर्विचार, दुर्भाव, दुर्गुण, दुराचार आदिकी वृत्तियाँ अब उसके अंदर प्रवेश नहीं कर सकतीं। तभी तो उसके सामने एक अलौकिक दिव्यता प्रकट हो रही है।

१६ अप्रैल मङ्गलवार—निश्चल भावसे विश्वासके साथ मनको आज्ञा दो—रे मन, तू मेरा सेवक है। मेरी सत्ता और चेतनासे तेरा जीवन है। तू मेरी एक स्वीकृतिमात्र है। मेरी आज्ञा मान और जैसे मैं चाहूँ वैसे रह। इधर-उधर किया तो मैं तुम्हें नष्ट कर दूँगा।

१७ अप्रैल बुधवार—स्थिर शरीर और अचञ्चल मनसे दृढ़ताके साथ बैठो। निश्चय करो कि अब एक क्षणके लिये भी परमात्माके अतिरिक्त और किसी वस्तुको चित्तमें स्थान नहीं दूँगा। मेरा सम्पूर्ण जीवन परमात्माके लिये है।

१८ अप्रैल गुरुवार—ढूँढ़ निकालो कि जगत्की कौन-सी वस्तु इतनी आकर्षक है कि वह तुम्हें परमात्माकी ओर न जाने देकर जगत्में खींच लाती है। एक बार उसे उलट-पुलटकर देखो। वह इतनी तुच्छ है कि एक बार विवेककी दृष्टिसे पूर्णत: देख लेनेपर फिर उसका प्रलोभन नहीं रहेगा।

१९ अप्रैल शुक्रवार—विचार करके देख लो—संसारके लोग जिसे बड़े महत्त्वकी वस्तु समझते हैं, वह सर्वथा सारहीन है । जिसके प्रति जिसकी वासनाओंका झुकाव रहता है, वह उसीको बड़ा मान लेता है । जब तुम मोहका परदा फाड़कर देखोगे तब जान सकोगे कि वह तो बच्चोंके खिलौनेसे अधिक महत्त्व नहीं रखता । तुमने निश्चयपूर्वक वह परदा फाड़ दिया है, ऐसा अनुभव करो ।

२० अप्रैल शनिवार—यदि सचमुच तुमने अपने जीवनको महान् बनानेका निश्चय कर लिया है तो तुम्हारी महत्तामें कोई सन्देह नहीं । परन्तु उसके लिये अपेक्षित साधन-सामग्री एकत्र कर ली है क्या ? एक बार अपने सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य और निर्भीकताकी परीक्षा कर लो । साधन जुट जानेपर साध्य स्वयं तुम्हारी सेवा करने लगेगा ।

२१ अप्रैल रविवार—तुम जो चाहते हो, उसके एकमात्र केन्द्रपर दृष्टि जमाओ । और देखो कि उस अनन्त गुणोंके भाण्डारमेंसे जो कुछ तुम चाहते हो, उसकी असीम धारा प्रवाहित होकर तुम्हें आप्यायित कर रही है ।

२२ अप्रैल सोमवार—तुम जिसकी श्रेष्ठताका निश्चय किये हुए हो, उसका बार-बार स्मरण करो । उसकी श्रेष्ठताका स्मरण ही प्रार्थना है । अवश्य ही वह तुम्हारे अंदर निवास करेगा । प्रार्थनाकी ऐसी ही शक्ति है ।

२३ अप्रैल मङ्गलवार—तुम जो अबतक अपने लक्ष्यसे दूर रहे हो, इसका एकमात्र कारण यही है तुम अपने लक्ष्यको पहचानते नहीं हो । यदि तुम उसे पहचान सको तो अभी वह दूरी समाप्त हो जाय । इस दिशामें और आगे बढ़ो ।

५—६—

२४ अप्रैल बुधवार—यदि तुम यह सोचते हो कि अभी तो प्रतिकूल स्थिति है, अनुकूल स्थिति आनेपर सब कर लूँगा, तो तुम भूल रहे हो । क्या पता आगे प्रतिकूलता बढ़ जाय ! जो अनुकूल स्थितिकी प्रतीक्षामें बैठ रहता है, वह घर आयी लक्ष्मी खो देता है ।

२५ अप्रैल गुरुवार—यह स्मरण रखनेकी बात है कि अनन्तशक्ति हमारे पीछे है—हमारी सहायक है; छोटी-मोटी परिस्थितियाँ तो यों ही आती-जाती रहती हैं । तुम केवल अपने एक-एक क्षणको परमात्माके साथ जोड़ते रहो ।

२६ अप्रैल शुक्रवार—जिसमें आत्मविश्वास है, वही ईश्वरपर भी विश्वास कर सकता है । तुम यह निश्चय करो कि बाघके मुँहमें और साँपसे डँसे जानेपर भी मैं भगवत्प्रेम और कृपाका एकरस अनुभव करूँगा ।

२७ अप्रैल शनिवार—भगवान् प्रेमपरवश हैं—उनकी मूर्ति कृपामयी है । वे मातासे भी अधिक दयालु हैं । अनादिकालसे अपनी गोदमें रखकर उन्होंने सारे जगत्को, जीवोंको और मुझे खिलाया है । एक क्षणके लिये भी उन्होंने मुझे अपनेसे अलग नहीं किया । जब-जब मैंने अपराध किया है, उनके सामने ही और उनके देखते-देखते ही । परन्तु उन्होंने उसपर ध्यान न देकर अपनी कृपाकी पराकाष्ठा कर दी है—मैं तो बहा जा रहा हूँ उनकी कृपाके समुद्रमें ।

२८ अप्रैल रविवार—हे प्रभो, तुम कैसे हो—यह मैं नहीं जानता । तुम जैसे हो, वैसे ही रहो । ये मेरे शरीर, इन्द्रिय, मन आदि, जिन्हें मैं अपना मान रहा था, अब तुम्हें समर्पित करता हूँ । इन्हें अपनाओ और ये मेरे हैं, ऐसी भावना चित्तमें कभी न आने दो ।

२९ अप्रैल सोमवार—प्रभो ! मैं समर्पण करनेवाला ही कौन हूँ ! जैसा मैं कभी था, अब हूँ या आगे होऊँगा—सब रूपोंमें तुम्हारा ही तो हूँ । मैं अपनेको कुछ मान बैठा था—अब इस अपराध-की पुनरावृत्ति न हो प्रभो !

३० अप्रैल मङ्गलवार—शरीर प्रभुकी सेवामें, वाणी उनके नाम, गुण और लीलाके गायनमें, मन उनके स्मरणमें संलग्न रहे । आँखें जहाँ जायँ, उनकी रूप-माधुरीका पान करके छक जायँ । निश्चय करो—दृढ़ चित्तसे कि सब कुछ भगवान् ही हैं, उनके अतिरिक्त और कोई सत्ता नहीं । उससे एकत्वका अनुभव करना ही जीवनकी पूर्णता है ।

सङ्कल्प

(लेखक—श्रीअनिलवरण राय)

सङ्कल्प तो हम सब प्रायः ही किया करते हैं, परन्तु हमें इस बातका ज्ञान नहीं कि हमारे सङ्कल्पमें कितना बल है । इसका ठीक-ठीक पता हमें तभी लगता है जब हम एक बार जान-बूझकर इसका सबसे उत्तम उपयोग करते हैं, अन्यथा नहीं । हम प्रायः अपनी सङ्कल्प-शक्तिको अपने अंदर सुप्त अवस्थामें ही पड़े रहने देते हैं और इस कारण दीन-हीन और दुःखमय जीवन यापन करते हैं ।

यदि हम दृढ़ सङ्कल्पका उपयोग करें तो हम विषयोंके अत्यन्त शक्तिशाली प्रलोभनोंपर विजय प्राप्त कर सकते हैं, अत्यन्त विकट परिस्थितियोंमेंसे बाहर निकलनेका रास्ता ढूँढ़ सकते हैं, अत्यन्त भीषण दुःखों-को धैर्यपूर्वक सहन कर सकते हैं और अत्यन्त कठिन अग्निपरीक्षाओंमें उत्तीर्ण हो सकते हैं । जिस मनुष्यमें प्रबल और उन्नत सङ्कल्प-शक्ति होती है और जो उसका उपयोग करना जानता है, उसके लिये मनुष्य-जीवनकी अत्यन्त बहुमूल्य सम्पदाएँ सुलभ हो जाती हैं ।

और अगर हम मनुष्यताकी सीमाको पार करना और उससे ऊपर उठना चाहें तो हमारे अंदर सङ्कल्पकी ही शक्ति एक ऐसी चीज है, जिसका उपयोग हम ऊपर उठानेवाले यन्त्र (lever) के रूपमें कर सकते हैं । सच्चे, सुस्पष्ट और सुदृढ़ सङ्कल्पके सामने आध्यात्मिक साधकके मार्गकी सारी कठिनाइयाँ और बाधाएँ ठीक उसी तरह विलीन हो जाती हैं, जिस तरह जलते हुए मशालके सामने अन्धकार विलीन हो जाता है । जिस समय बुद्धने यह सङ्कल्प किया कि जबतक मैं सत्यको प्राप्त नहीं कर लेता तबतक मैं अपने साधनाके आसनसे एक इञ्च भी नहीं टल सकता, भले ही मेरा शरीर सूख जाय और मांस, हड्डियाँ तथा चमड़ा चूर-चूर होकर धूलमें मिल जाय, ठीक उसी समय उनके लिये विजय निश्चित हो गयी । जो सङ्कल्प-शक्ति बुद्धके अंदर थी, वही प्रत्येक मनुष्यके अंदर उस दिनकी प्रतीक्षा कर रही है जब वह सफलतापूर्वक उसे अपने लक्ष्यतक ले जानेके लिये उद्बुद्ध और जागृत की जायगी ।

जो भी हो, हमारे अंदरका यह सङ्कल्प, हे माँ भगवती ! हमारे अंदर विद्यमान तेरे ही सङ्कल्पसे निकली हुई एक शक्ति है, उसीका एक प्रतिबिम्ब है और यही उसकी शक्तिमत्ताका रहस्य है । यह हमारे अंदर इसीलिये है कि यह हमें फिरसे तेरे पास ले जाय । जब हमारा यह सङ्कल्प शुद्ध और रूपान्तरित होकर तेरे सङ्कल्पके साथ तादात्म्य और एकत्व प्राप्त

कर लेगा, तब यह अजेय और सर्वजयी हो जायगा और इस पृथ्वीपर तेरी अभिव्यक्तिका एक प्रभावशाली यन्त्र बन जायगा।

× × × ×

हमारा सङ्कल्प कामना-वासनासे प्रेरित होकर, अज्ञानान्धकारसे आच्छादित होकर और आवेगोंसे जर्जरित होकर नाना प्रकारकी इच्छाओंके रूपमें सब दिशाओंमें दौड़ा करता है; इस कारण यह शक्तिहीन और प्रभावहीन बन जाता है और प्रायः हमें अपने महान् प्रयत्नोंका भी अत्यन्त तुच्छ फल प्राप्त होता है। हम संसारमें अंधेकी भाँति टटोल-टटोलकर और ठोकरें खाते हुए चलते हैं और पग-पगपर धोखा खाते हैं।

अगर हम अपने सङ्कल्पको वास्तवमें शक्तिशाली और प्रभावोत्पादक बनाना चाहें तो हमें इसे अज्ञान, अहङ्कार और आसक्तिसे पूर्णरूपसे मुक्त करना चाहिये। इस संसारमें कोई भी बात तबतक नहीं हो सकती, जबतक उसके लिये श्रीभगवान्‌का सङ्कल्प न हो जाय; और जिस बातका सङ्कल्प और निश्चय श्रीभगवान्‌ने कर लिया हो, उसका होना इस पृथ्वीकी या अन्यत्र कहींकी कोई चीज रोक नहीं सकती। हमें इस भगवदीय सङ्कल्पको जानना चाहिये और फिर अपने सङ्कल्पको उसके साथ युक्त रखना चाहिये; तब विश्वकी सबसे बड़ी शक्ति हमारे पीछे रहेगी और सब चीजें, सारी बाधाएँ अपने-आप हमारे सामने हार मान जायँगी और हमारे अधीन हो जायँगी।

इस संसारमें जो शक्तियाँ कार्य कर रही हैं, उनके साथ हमें अंधेकी तरह व्यवहार नहीं करना चाहिये; बल्कि हमें सभी शक्तियों और गतियोंके केन्द्रीय सत्यको जानना चाहिये और फिर तदनुकूल अपने सङ्कल्पका प्रयोग करना चाहिये। हम इस ज्ञानको तभी पा सकते हैं और तभी अपने सङ्कल्पको भगवदीय सङ्कल्पके साथ मिला सकते हैं, जब हम अपने मनको यन्त्रकी भाँति अपने-आप उठनेवाले समस्त विचारों, पूर्वनिर्धारित मतों और कुसंस्कारोंसे मुक्त कर देंगे और इसे समुचित रूपमें ऊपरके परम सत्यकी ओर खोलकर रक्खेंगे।

इस प्रकार श्रीभगवान्‌के साथ योग प्राप्त करना ही कर्मका वास्तविक कौशल है और हे माँ भगवती! तेरे प्रति हमारा समर्पण और हमारी भक्ति जैसे-जैसे बढ़ती है, वैसे-वैसे यह योग भी अधिकाधिक विशुद्ध और पूर्ण होता जाता है।

× × × ×

हमें अब कभी अपनी निम्न प्रकृतिको आश्रय नहीं देना चाहिये। जब-जब हम निम्न प्रकृतिकी किसी प्रेरणाके अधीन हो जाते हैं, तब-तब हम अपने लिये उसपर विजय प्राप्त करनेके कार्यको और भी अधिक कठिन बना देते हैं, और जब-जब हम निम्न प्रकृतिद्वारा सुझायी हुई किसी बातको अस्वीकार करते हैं, तब-तब हम एक पग आगे बढ़ जाते हैं। हमें एक महान् और कठिन कार्य पूरा करना है, हमें कभी अपने सङ्कल्पके विषयमें लापरवाही या ढिलाई करके अपनी कठिनाइयोंको बढ़ाना नहीं चाहिये।

हम अपनी साधनामें प्रतिक्षण या तो कुछ प्राप्त करते हैं या कुछ गँवा देते हैं। निम्न प्रकृतिकी प्रत्येक क्रिया, जिसे हम अपने अंदर आश्रय देते हैं—चाहे वह कितनी ही तुच्छ, अर्थहीन या आपाततः उचित मालूम होनेवाली क्यों न हो—हमें पीछे हटा ले जाती है और सदा सतर्क रहनेवाली विरोधी शक्तियोंको हमारे अंदर घुस आने और बैठनेकी जगह दे देती है। अगर हम इसके कारण नीचेकी ओर न भी जायँ और जहाँपर थे, वहीं बने रहें तो भी समय और सुयोगकी हानि तो हो ही जाती है। क्योंकि यदि हम अपने रूपान्तरके लिये केवल अपनी अभीप्सा और शान्त सङ्कल्पको ही बनाये

रक्खें तो भी हम अपने जीवनके प्रत्येक मुहूर्तमें निरन्तर आगे बढ़ सकते हैं।

अपनी निम्न प्रकृतिपर प्राप्त की हुई प्रत्येक विजय, हमें अपनी सत्ताके सत्यको जानने और प्राप्त करनेमें सहायता करती है; क्योंकि हम अपने वास्तविक स्वरूपमें प्रकृतिके स्वामी हैं, उसके दास नहीं। निम्न प्रकृतिका प्रत्येक प्रलोभन—चाहे वह कितना ही मामूली क्यों न हो—जब हम उसका प्रतिरोध करते हैं तब वह हमारे सङ्कल्पको दृढ़ बनाता है, हमारी बुद्धिको शुद्ध बनाता है और हमें यथार्थ और विशुद्ध प्रसन्नता प्रदान करता है। हमारे सामने लगातार ऐसी परिस्थितियाँ उपस्थित हो रही हैं, जिनसे लाभ उठाकर हम अपने रूपान्तरके विषयमें कुछ-न-कुछ कर सकते हैं या प्राप्त कर सकते हैं। हमें सदा अपने-आपको भगवती माताके अत्यन्त निकट और घनिष्ठ सम्पर्कमें रखना चाहिये, जिसमें हम प्रतिक्षण हमारे सामने उपस्थित होनेवाली प्रत्येक परिस्थितिकी सहायतासे दिव्य जीवनकी ओर एक पग आगे बढ़ सकें।

साधक कैसा हो ?

(पूज्य बाबा श्रीरामदासजी महाराजद्वारा उपदिष्ट)

साधक होना बहुत कठिन है, साधक तो हम भी नहीं हैं। तथापि जैसा सुना है, बताये देते हैं। श्रीमानसजीमें यों तो कई प्रकारके साधक बताये हैं, किन्तु यहाँ हम तीन प्रकारके साधकोंके विषयमें ही विचार करते हैं—

१—जिन्हें अणिमादि दिव्य ऐश्वर्योंकी कामना होती है उनके विषयमें श्रीगोसाईंजी महाराज कहते हैं—

साधक नाम जपहिं लय लाएँ। होहिं सिद्ध अनिमादिक पाएँ॥

वे लोग अणिमादिकी प्राप्तिके लिये तन्मय होकर श्रीराम-नाम जपते हैं और नाम महाराजकी कृपासे उनकी यह कामना पूर्ण हो जाती है।

२—दूसरे प्रकारके साधकोंका उल्लेख किष्किन्धाकाण्डमें वर्षा-ऋतुके वर्णनके प्रसङ्गमें हुआ है। उन्हें किसी वस्तुकी कामना नहीं होती। वे निष्काम और शुद्धचित्त, विवेकी साधक होते हैं—

नव पल्लव भए बिटप अनेका। साधक मन जस मिलें बिबेका॥

३—इन दोनोंसे विलक्षण एक तीसरे साधक होते हैं, *जिन्हें श्रीरामचरणरतिके सिवा विवेक-ज्ञानकी भी* इच्छा नहीं होती। उनका साधन और सिद्धि एकमात्र श्रीरामप्रेम ही होता है। श्रीभरतलालजी ऐसे ही साधक थे। उनके विषयमें महाराज जनक कहते हैं—

साधन सिद्धि राम पग नेहू। मोहि लखि परत भरत मत एहू॥

किन्तु कुछ ऐसे लक्षण हैं, जो सभी प्रकारके साधकोंमें रहते हैं। अरण्यकाण्डमें श्रीरामचन्द्रजीने लखनलालको उपदेश करते समय उन लक्षणोंका इस प्रकार वर्णन किया है—

भगति कि साधन कहउँ बखानी। सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी॥
प्रथमहिं बिप्र चरन अति प्रीती। निज निज कर्म निरत श्रुति रीती॥
एहि कर फल पुनि बिषय बिरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा॥
श्रवनादिक नव भक्ति दृढ़ाहीं। मम लीला रति अति मन माहीं॥
संत चरन पंकज अति प्रेमा। मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा॥
गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहि कहँ जानै दृढ़ सेवा॥
मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥
काम आदि मद दंभ न जाकें। तात निरंतर बस मैं ताकें॥

बचन कर्म मन मोरि गति भजनु करहिं निःकाम।
तिन्ह के हृदय कमल महुँ करउँ सदा बिश्राम॥

इन साधनोंका तत्परतापूर्वक पालन करते रहनेसे *सम्पूर्ण दोषोंकी निवृत्ति होनेपर जो स्थिति प्राप्त होती*

है, वह सच्ची सिद्धि है, उसीको संत-पद कहते हैं। संतकी रहनी बहुत कठिन है, परन्तु महापुरुष रहनीको ही महत्त्व देते हैं, कोरी कथनीका उनकी दृष्टिमें कोई मूल्य नहीं होता। श्रीकबीरसाहब कहते हैं—

करनी करै सो पूत हमारा, कथनी कथै सो नाती।
रहनी रहै सो गुरू हमारा, हम रहनी के साथी॥

संतकी रहनी कैसी होती है, इसका वे बड़ी ही मार्मिक शैलीसे वर्णन करते हैं—

रोड़ा हो रहु बाट का, तजि आपा अभिमान।
ऐसा साधू जो भया, मिलै ताहि भगवान॥
रोड़ा भया तो क्या भया, पंथी को दुख देय।
साधू ऐसा चाहिये, ज्यों पहेकी खेह॥
खेह भई तो क्या भया, उड़ उड़ लागै अंग।
साधू ऐसा चाहिये, जैसा नीर निपंग॥
नीर भया तो क्या भया, ताता-सीरा होय।
साधू ऐसा चाहिये, जो हरि ही सा होय॥
हरी भया तो क्या भया, कर्ता मर्ता होय।
साधू ऐसा चाहिये, जो हरि भज निर्मल होय॥
निर्मल भया तो क्या भया, निर्मल माँगे ठौर।
मल-निर्मलसे रहित हैं, ते साधू सिरमौर॥

बस, यही वह स्थान है, जहाँ प्रत्येक साधकको पहुँचना है। जबतक हृदयमें कुछ भी बननेकी वासना है, तबतक लक्ष्यको दूर ही समझना चाहिये और तत्परतापूर्वक साधनमें लगे रहना चाहिये।

श्रीगङ्गाजी

[पूर्व प्रकाशितसे आगे]

(४)

प्रयागसे राजमहल

(लेखक—पं० श्रीदयाशङ्करजी दुबे, एम्० ए०, एल्-एल० बी०)

पारलौकिक दृष्टिसे श्रीगङ्गाजीका जो महत्त्व है एवं वेद-शास्त्रोंमें जो गङ्गा-माहात्म्य वर्णित है, वह तो पतित-पावनी श्रीगङ्गाकी अक्षय सार्वभौमिकताका परिचायक है ही, स्थूल दृष्टि रखनेवाले आधुनिक विज्ञानवादियोंने भी एक स्वरसे मनुष्यके व्यावहारिक जीवनमें गङ्गाजलकी अमित उपयोगिता सिद्ध कर दी है। अतः हम निःसन्देह यह कह सकते हैं कि गङ्गाजीके समान सद्यः गुणकारिणी नदी भारत क्या, संसारभरमें नहीं है।

वास्तवमें यदि देखा जाय तो गङ्गाजलकी जितनी उपयोगिता मनुष्यके बाह्य जीवनमें है, उससे कहीं अधिक उसके पारमार्थिक जीवनमें है। प्रायः देखा जाता है कि जो रोगी नित्यशः गङ्गाजलका सेवन करते हैं, जल-चिकित्सा करते हैं, एवं गङ्गातटपर निवासकर वहाँकी आरोग्यवर्द्धक जल-वायुका सेवन करते हैं, वे तो आरोग्यताको प्राप्त होते ही हैं—इसमें कोई सन्देह नहीं। परन्तु जो भक्त अपनी अन्तःशुद्धि एवं आत्मकल्याणमें गङ्गाजलकी उपयोगिताका अनुभव करते हैं, वे धन्य हैं।

कलियुगमें गङ्गाजी प्रत्यक्ष देवी हैं। गङ्गाजीकी एक बड़ी विशेषता यह है कि ये अपने जलमें स्नान करनेवाले मनुष्यको कुछ समयके लिये देवता बना देती हैं। जब कोई मनुष्य स्नान करनेके लिये अपने पैर गङ्गाजीमें रखता है तो गङ्गाजल उसके पैरके पाससे बहनेके कारण उसको विष्णु भगवान्का रूप बना देता है। जब मनुष्य गोता लगाता है, तब गङ्गाजल उसके बालोंसे गिरता है और वह मनुष्य कुछ समयके लिये शिवका रूप धारण कर लेता है। जब वह स्नान करनेके बाद अपने कमण्डलुमें गङ्गाजल भरकर घर ले जाता है तो वह ब्रह्माका रूप धारण कर लेता है। *इस प्रकार गङ्गास्नान मनुष्यको क्रमशः विष्णु, शिव* और ब्रह्माके रूपमें कुछ समयके लिये परिणत कर देता है।

इस लेखमालाके तीन लेखोंमें 'कल्याण'के पिछले अंकोंमें हरिद्वारसे प्रयागतकका वर्णन प्रकाशित हो चुका है। अब मैं प्रयागसे गङ्गासागरतकके गङ्गातटके कुछ प्रसिद्ध स्थानोंका वर्णन करता हूँ।

प्रयागके त्रिवेणीघाटपर, जहाँ गङ्गा-यमुनाका सङ्गम

होता है (और जहाँ सरस्वती भी किसी समय मिलती थीं, जो आजकल लुप्त हैं), एक अत्यन्त मनोहर एवं दिव्य प्राकृतिक सौन्दर्यका आविर्भाव होता है। इस आनन्द-दायक पवित्र स्थानका उपभोग वे ही भाग्यशाली मनुष्य करते हैं, जिन्हें त्रिवेणी-क्षेत्रमें रहनेका एवं कम-से-कम वहाँ कभी-कभी जानेका भी सौभाग्य प्राप्त हो जाता है। अस्तु,

गङ्गाजी त्रिवेणीतटपर एक अपूर्व वस्तु छोड़कर और यमुनाको अपनेमें अन्तर्लीन करके आगे दक्षिण-पूर्वको बढ़ती हैं।

उत्तरमें फूलपूर और हँडिया तहसीलें तथा दक्षिणमें करछना और मेजाके बीचमें बहती हुई और किनारेके छोटे-बड़े ग्रामोंको पवित्र करती हुई गङ्गा त्रिवेणी (प्रयाग) से १८ मीलपर सिरसा नामक स्थानपर पहुँचती हैं, जहाँ टौंस नदीका सङ्गम होता है। यहाँसे हँडियाको कच्ची सड़क गयी है। यहाँसे प्रयागतक बोझसे भरी हुई नावें अधिक संख्यामें आती-जाती हैं।

सिरसासे ५ मील आगे गङ्गाके दाहिने किनारेपर परातो-पुर नामक एक गाँव है, जहाँ गङ्गा-पार करनेके लिये नावें मिलती हैं।

सिरसासे लगभग ७ मीलपर गङ्गाके बायें तटपर लच्छा-गिरि नामक एक प्राचीन स्थान है। यहाँपर गङ्गाके किनारे रेतीले टीले अधिक हैं। यह वही लच्छागिरि है, जहाँपर महाभारतमें वर्णित कथानुसार दुर्योधनने युधिष्ठिरादि पाँच पाण्डवोंको जलानेके लिये एक लाहका घर बनवाया था। रातके समय जब संयोगवश पाँचों पाण्डव उस लाहके घरमें ठहरे, तब दुर्योधनने उसमें आग लगवा दी। वह घर लाहका तो था ही, एक क्षणमें भस्म हो गया। परन्तु बनानेवालोंने ऐसी बुद्धिमानीसे उस घरमेंसे एक सुरंग बाहरको निकाल दी थी कि जिससे निकलकर पाँचों पाण्डव बच गये।

यहाँसे आगे बढ़नेपर गङ्गाजी चौखट्टा, महदेवा, नटवर, कोराई आदि प्रयाग जिलेके स्थानोंको पवित्र करती हुई इस जिलेमें लगभग ७८ मील बहनेके बाद मिर्ज़ापुर जिलेमें प्रवेश करती हैं। यह इस जिलेमें सर्वप्रथम इसके भदोही परगनेके करौंडिया ग्रामसे प्रवेश करती हैं। वहाँसे पुण्यक्षेत्र विन्ध्याचलमें जाती हैं। यह स्थान मिर्ज़ापुर नगर-से ७ मील पश्चिममें है। यहाँ ई० आई० आर० का प्रसिद्ध स्टेशन है। यह गङ्गाके दाहिने तटपर स्थित है। यहाँ विन्ध्यवासिनी देवीका मन्दिर है, जिसके दर्शनके लिये प्रतिवर्ष असंख्य यात्री समस्त भारतसे—मुख्यतः मध्यभारत और दक्षिणसे—आते हैं। देवीजीका चौकोर मन्दिर पत्थरका बना हुआ है। इसके चारों ओर बरामदा और पाँच सीढ़ीका जीना भी है। खंभे साधारण कारीगरीके हैं। देवीजीकी मूर्ति एक कमरेमें है, जिसकी दीवालें मामूली पत्थरोंकी हैं।

पश्चिमकी ओर एक किलेके भग्नावशेष हैं, जहाँ पुरानी वस्तुएँ काफी परिमाणमें पायी गयी हैं। पुराण-प्रसिद्ध विन्ध्याचल पम्पापुर नामक प्राचीन नगरका एक भाग था, जिसका विस्तार मीलों था। कहते हैं यहाँ १५० मन्दिर थे, जिन सबको औरंगजेबने गिरवा दिया था।

अष्टभुजा देवीका प्राचीन मन्दिर विन्ध्यवासिनी देवीके मन्दिरसे दो मील पश्चिम पर्वतशिखरके दुर्गम स्थानमें है। इसके चारों ओर लतायुक्त छोटे-छोटे पेड़ इसकी प्राकृतिक छटाको और भी बढ़ा देते हैं। मन्दिरके पास ही उत्तर ओर पर्वतकी ऊँची चोटीपरसे निर्मल जलका एक झरना गिरा करता है। वहाँके रहनेवाले अथवा दर्शनके लिये गये हुए यात्रीलोग उसी झरनेका जल पीते हैं। उस स्थानका प्राकृतिक सौन्दर्य देखने ही योग्य है।

विन्ध्याचलसे ७ मील बहकर गङ्गाजी मिर्जापुर नगरमें पहुँचती हैं। यह नगर गङ्गाके दाहिने तटपर स्थित है। यहाँ-पर ई० आई० आर० का स्टेशन है। यह बहुत प्राचीन नगर है। यहाँके मिट्टी, ताँबे, पीतल आदिके बर्तन प्रसिद्ध हैं। संयुक्तप्रान्तमें यह आठवाँ नगर है। यहाँके लोगोंके व्यवसायके मुख्य साधन खाने-पीनेकी वस्तुएँ, कीमती पत्थर, गोंद, मसाले तथा कपड़े बुननेका रोजगार है। लाख बनानेका बड़ा कारखाना है। विन्ध्याचल पर्वत निकट होनेके कारण यहाँ पत्थर अधिक मिलते हैं, अतः पत्थरका काम भी यहाँका एक मुख्य व्यवसाय है।

यहाँपर यद्यपि बीस घाट हैं, किन्तु तीन-चारको छोड़कर सब छोटे और साधारण हैं। सबसे दर्शनीय कोट नामक स्थान है, जिसके बड़े-बड़े खाली गोदामोंको देखकर वे दिवस याद आते हैं, जब वे मध्यभारतकी रूईसे ऊपरतक ठसाठस भरे रहते थे। नगरमें एक उत्तम और विस्तृत सराय भी है।

यहाँसे गङ्गाजी ९ मील उत्तर-पश्चिम नरैनी स्थानको पहुँचती हैं। यह स्थान गङ्गाके बायें तटपर है। यहींपर बनारस-मिर्जापुर जानेवाली सड़क गङ्गाको पार करती है।

यहाँके दर्शनीय स्थानोंमें एक पत्थरका बना हुआ विशाल मन्दिर और एक सती-स्मारक भी है।

मिर्जापुरसे २१ मीलके बाद चुनार मिलता है। यह गङ्गाके दाहिने तटपर स्थित है। यहाँका दुर्ग प्रसिद्ध है। यहाँसे बनारस, अहिरौरा, राजगढ़ और मिर्जापुरको कच्ची सड़कें जाती हैं। नदीके तटपर स्थित दुर्ग बड़ा ही शोभायमान प्रतीत होता है। दुर्गकी सबसे बड़ी विशेषता भारतीनाथ (जो उज्जयिनीके राजा विक्रमके भाई थे) का स्थान है। इस स्थानमें अब केवल एक पत्थर ही देखनेमें आता है। किलेमें ३२ फुट गहरी एक बावली है, जिसका व्यास २८ फुट है। इसमें कुएँके नीचेतक सीढ़ियाँ हैं।

चुनार चरणाद्रिका अपभ्रंश है। कहते हैं द्वापरयुगमें हिमालयसे कुमारी अन्तरीपतक जाते समय किसी दैत्यने अपना पैर यहाँपर रख दिया था, जिसका चिह्न बन गया। स्टेशनसे दक्षिण-पश्चिममें एक सोता है, जिसे दुर्गाकुण्ड कहते हैं। नालेके उत्तरमें कामाक्षा देवीजीका मन्दिर है। दुर्गापूजाके अवसरपर नवमीको यहाँ वार्षिक मेला लगता है। यहाँपर गङ्गेश्वर महादेवकी प्राचीन मूर्त्ति दर्शनीय है।

मिर्जापुरसे ३१ मील गंगाजीके किनारे-किनारे जानेके बाद छोटा मिर्जापुर मिलता है। यह स्थान चुनारसे १० मील उत्तर-पश्चिम और मिर्जापुरसे ३१ मील पूर्वमें स्थित है। यह स्थान परगना भुइली, जिला मिर्जापुरमें है।

यहाँसे आगे जानेपर गङ्गाके दक्षिण तटपर बनारस जिलेका मल्हूपुर ग्राम मिलता है। यह बनारस और रामनगरसे चुनार जानेवाली पक्की सड़कपर डफरिन ब्रिज (राजघाटके पुल) से ६ मील दक्षिणमें स्थित है।

यहाँसे ३ मीलके बाद रामनगर है। यह गङ्गाके दाहिने तटपर स्थित है एवं काशीराज्यकी राजधानी है। यहाँके महाराजा काशीनरेशका किला दर्शनीय है। बनारसके दक्षिण-भागसे यह दिखलायी देता है। यहाँ या तो नगवा (जो कि बनारसके प्रसिद्ध घाट असीके पास एक मुहल्ला है) से नावद्वारा आते हैं या जलीलपुर (जो रामनगर-राज्यसे लगभग ४ मील उत्तरमें दिल्लीसे कलकत्ते जानेवाली ग्रांड ट्रंक रोडके किनारे स्थित है) से एक पक्की सड़कद्वारा सम्बन्धित होनेके कारण उस ओरसे भी बनारस-राज्यमें आते-जाते हैं। यहाँ व्यासजीका प्रसिद्ध मन्दिर है। यहाँ एक शिवमन्दिर भी है, जिसमें भारतीय चित्रकलाका अच्छा दिग्दर्शन कराया गया है।

यहाँसे गङ्गा उत्तरको मुड़ती हैं और ३ मीलके बाद बनारस पहुँचती हैं। यह नगर गङ्गाके बायें तटपर है। भारतके इने-गिने तीर्थस्थानोंमें काशी एक प्रसिद्ध तीर्थस्थान है। यह विद्याका केन्द्र है। विश्वनाथजीका मन्दिर दर्शनीय है। मन्दिरका कलश स्वर्णनिर्मित है। श्रीअन्नपूर्णा देवीका मन्दिर, श्रीसत्यनारायणजीका मन्दिर, श्रीकालभैरवजीका मन्दिर, दुर्गाकुण्डका दुर्गामन्दिर इत्यादि काशीके दर्शनीय स्थान हैं। कुछ विद्वानोंका मत है कि भारतीय सभ्यताका विकास गङ्गातटपर ही हुआ। इस कथनकी सार्थकता काशी-ऐसी पुण्यभूमिमें दिखलायी देती है। यहाँका पूज्य श्रीमालवीयजी महाराजद्वारा संस्थापित हिन्दूविश्वविद्यालय भी भारतीय सभ्यताका गौरव-स्तम्भ है। विश्वविद्यालयकी इमारतोंका ऊपरी भाग मन्दिरके सदृश बनाकर भारतीय वास्तुकलाका अच्छा परिचय कराया गया है। चन्द्र-सूर्य-ग्रहणके अवसरपर यहाँ बड़े-बड़े मेले लगते हैं। काशीनगरके गङ्गातटके घाट अति प्रसिद्ध तथा सुन्दर बने हुए हैं—जैसे दशाश्वमेध-घाट, मणिकर्णिका-घाट, प्रह्लाद-घाट, ललिता-घाट, असी-घाट आदि। कुछ घाट जीर्ण-शीर्ण अवस्थामें पड़े हुए काशीकी प्राचीनताका परिचय दे रहे हैं। उनमें प्रसिद्ध ये हैं—तुलसी-घाट, हरिश्चन्द्र-घाट आदि।

बनारससे लगभग १५ मील उत्तर-पूर्वमें गङ्गाजीके बायें तटपर बलुआ ग्राम है। यह बनारससे धानापुर जानेवाली कच्ची सड़कपर है। यहाँसे गङ्गा नावद्वारा पार की जाती हैं। यहाँ एक महादेवजीका मन्दिर है। और यह स्थान बहुत पवित्र माना जाता है। यह कंकड़की एक ऊँची भीतपर स्थित है। माघ मासमें यहाँ गङ्गास्नानका बड़ा मेला लगता है।

बलुआसे गङ्गाजी पुनः उत्तरको मुड़ती हैं। लगभग ५ मील जानेपर टाँड़ाकलाँ नामक एक प्रसिद्ध ग्राम गङ्गाके दक्षिण तटपर मिलता है। यहाँसे गाजीपुरतक नावें चलती हैं। आमके बाग यहाँपर अधिक हैं।

यहाँसे २ मील पूर्व-उत्तरमें गोमती-सङ्गम है। सङ्गमके दृष्टिकोणसे यह स्थान बहुत पवित्र माना जाता है।

सङ्गमके पास ही कैथी नामक एक कृषिप्रधान ग्राम गङ्गाके बायें तटपर बसा है। उत्तरमें ग्रामका विस्तार मुख्य स्थानसे गोमती-सङ्गमतक है। यहाँ एक नीची उपजाऊ घाटी है, जिसमें बाढ़के समय दोनों नदियोंका जल भर जाता है। इससे यह दो भागोंमें विभाजित है। एकका नाम है कैथी-गङ्गा बरार, दूसरेका कैथी-गुमती बरार। यहाँ कई मन्दिर हैं, जिनमें मार्कण्डेयेश्वर महादेवका मन्दिर

दर्शनीय है। शिवरात्रिपर यहाँ बड़ा मेला लगता है। गङ्गा-पार करनेके लिये नाव भी रहती है।

यहाँसे गङ्गा कुछ दूरके बाद गाजीपुर जिलेमें सर्वप्रथम सैदपुरसे प्रवेश करती हैं। यह गङ्गाके उत्तर तटपर स्थित है। गङ्गाका घाट यहाँपर कंकड़का है। यह एक प्राचीन स्थान है। इस नगरके आसपास बौद्ध और हिन्दूकालकी अनेक वस्तुएँ पायी गयी हैं।

सैदपुरसे सीधे पूर्व, गङ्गाजीके लगभग २२ मील बहनेके बाद जमनियाँ नामक गाजीपुर जिलेका एक प्रसिद्ध स्थान पड़ता है। यह गङ्गाके उच्च दक्षिण तटपर स्थित है। किंवदन्ती यह है कि यहाँ जमदग्नि ऋषि रहते थे, जिनके नामपर इसका नाम जमदग्नि पड़ा था। आगे चलकर उसीका 'जमनियाँ' हो गया। प्राचीनकालमें किसी समय मदन नामके एक राजाने यहाँपर एक बड़ा यज्ञ किया था। यज्ञके बाद नगरसे दो मील दक्षिण-पूर्वमें मदनेश्वर महादेवका एक मन्दिर बनवाया और एक स्तम्भ भी स्थापित किया, जो सठिया या शाहपुर ग्राममें अब भी है।

जमनियाँसे ६ मील पूर्व मानिकपुर ग्राममें गङ्गी-सङ्गम होता है। सङ्गमसे चार मीलके बाद तारीघाट है। यह ग्राम गाजीपुरके सामने गङ्गाके दक्षिण तटपर स्थित है। ई० आई० आर० की दिलदारनगरसे आनेवाली शाखा यहीं समाप्त होती है।

इसके दूसरे किनारेपर गाजीपुर नगर स्थित है। यह बी० एन० डब्ल्यू० रेल्वेकी औंड़िहारसे बलिया जानेवाली शाखापर एक स्टेशन है। स्टेशनके पास ही बनारस, बलिया, आजमगढ़ और गोरखपुरसे आयी हुई तीन पक्की सड़कें मिलती हैं। इसका प्राचीन नाम राजा गाधि, गज, अथवा गयके नामपर गाधिपुर था। हिन्दूलोग इसका उच्चारण अब भी गाजिपुर करते हैं। यहाँका नदीतट देखनेमें बड़ा सुन्दर प्रतीत होता है। यहाँ भी पक्के घाट बने हुए हैं, जिसमें मुख्य ये हैं—आम-घाट, गोला-घाट, चित्तनाथ-घाट, नकटा-घाट, महसूल-घाट आदि।

गाजीपुर जिलेमें तीरपुर नामक एक बड़ा ग्राम गङ्गाके उच्च तटपर स्थित है। इसके सामने गङ्गापार बारा है। कहते हैं तीरपुरमें सुप्रसिद्ध चेरु राजा टीकमदेवकी राजधानी थी, जिसको मुईहारोंने गद्दीसे उतारा था। किंवदन्तीके अतिरिक्त टीकमदेवके बारेमें कुछ भी ज्ञात नहीं है, किन्तु पुराने कोटपर समय-समयके सिक्के तथा अन्य वस्तुएँ पायी गयी हैं।

गाजीपुरसे १६ मील पूर्व गङ्गाके दक्षिण उच्च तटपर बारा नामक ग्राम स्थित है। यहाँ एक बड़ा टीला है। मुख्य सड़कपर स्थित होनेके कारण बाराका व्यापार परगनेके अन्य बड़े ग्रामोंसे अधिक समुन्नत है। इस स्थानसे गाजीपुर जिलेका अन्त समझिये। यहाँसे ४ मील पूर्वकी ओर जानेपर गङ्गाजीके दाहिने तटपर शाहाबाद जिलेका चौसा नामक ग्राम पड़ता है। यहींसे गङ्गाजी विहार प्रान्तमें प्रवेश करती हैं। यह एक ऐतिहासिक स्थान है। यहींपर अफगान सरदार शेरखाँने मुगल-सम्राट् हुमायूँको हराया था। यहींपर कर्मनाशा नदी गङ्गामें मिलती है।

चौसासे गङ्गा उत्तर-पूर्वको मुड़ जाती हैं और लगभग ८ मीलके बाद बक्सर नामक प्रसिद्ध स्थानपर पहुँचती हैं। यह गङ्गाके दाहिने तटपर स्थित है। यहाँ ई० आई० आर० का स्टेशन तथा व्यापारकी मण्डी है। कहते हैं बक्सरमें प्राचीनकालमें वेदवेत्ताओंका निवास था। इन्हींके नामपर इसका प्राचीन नाम वेदगर्भ था। एक अन्य किंवदन्तीके अनुसार इसका नाम गौरीशङ्करके मन्दिरके निकटवर्ती अघसर नामक सरोवरपर पड़ा है। समय बीतनेपर इसका नाम 'बघसर' हो गया और इसीके अनुसार इस स्थानका नाम क्रमशः बग्सर और फिर बक्सर हो गया। यहाँ रामेश्वर-नाथ महादेवका मन्दिर दर्शनीय है।

बक्सरसे १३ मील उत्तर-पूर्वमें बाँसथाना नामक एक ग्राम है। कुछ वर्ष पहले सरयू नदी यहींपर गङ्गामें मिलती थीं। लेकिन अब तो बलियामें ही मिलती हैं।

बाँसथानासे ३ मील पूर्व बलिया नगर गङ्गाके बायें तटपर स्थित है। यहाँपर भृगुजीका आश्रम तथा मन्दिर दर्शनीय है। यह मन्दिर शहरसे १ फर्लांग पूर्वकी ओर है। वर्तमान भृगुजीका मन्दिर तीसरा है, दो बारके मन्दिर गङ्गा-जी बहा ले गयीं। भृगु-आश्रमके पास ही धर्मारण्य था, जिसका वर्णन चीनी यात्री ह्वेनसांगने किया था। १९१६ ई० तक इसी धर्मारण्यके पास एक तालाब था, जिसमें स्नान करनेसे चर्मरोग दूर हो जाता था। अब वह तालाब गङ्गाके गर्भमें लीन हो गया है। यहाँ बालेश्वरजीका मन्दिर भी बहुत प्राचीन है। कुछ लोगोंका कहना है कि यह बलि-ईश्वरकी मूर्ति है। कुछ भी हो, यह मूर्ति बहुत प्राचीन है। इसका प्रमाण यह है कि यह मूर्ति शिवलिङ्गके आकारकी

(गोल) नहीं है वरं चपटी है और घिसकर चपटी हुई प्रतीत होती है। 'बलिया' नामकी उत्पत्ति आदिकवि वाल्मीकिसे मानी जाती है। इनको स्मृतिमें एक मन्दिर था, जिसे गङ्गाजी बहा ले गयी हैं। यहाँपर बी० एन० डब्ल्यू. रेलवेका जंकशन भी है।

बलियासे दक्षिण-पूर्व साढ़े चार मीलकी दूरीपर शिवपुर दियर है। यह बलिया परगनेका एक ताल्लुका है। यहाँपर सत्ताईस टोले छितराये हुए हैं और प्रति टोलेका नाम उनके राजपूत जन्मदाताके नामपर पड़ा है।

यहाँसे सीधे पूर्व दिशामें बहती हुई बलियाके छोटे-छोटे गाँवोंको पवित्र करती हुई १९ मीलकी दूरीपर गङ्गाजी सिनहा नामक ग्रामसे फिर सारन (बिहारप्रान्त) में प्रवेश करती हैं।

सिनहासे १२ मील पूर्व लोहाघाटके पास घाघरा, जिसे बड़ी सरयू कहते हैं, गङ्गामें मिलती है। इससे तीन मील आगे सोन नदीका सङ्गम मिलता है। सोन गङ्गाके दायें किनारेपर मिलती है।

यहाँसे नौ मील पूर्व सईदपुर गङ्गाके बायें तटपर स्थित है। यह पक्की सड़कद्वारा छपरासे सम्बन्धित है।

सईदपुरसे ३ मील आगे गङ्गाके दाहिने तटपर दानापुर है। यह पटना जिलेका एक मुख्य फौजी स्थान है। गोरी पल्टन यहाँ रहती है।

सईदपुरसे छः मील पूर्व पहलेजाघाट है। यहाँसे पटनाके डीघाघाटतक स्टीमर चलते हैं। यहाँपर बी० एन० डब्ल्यू० रेलवेसे उतरे हुए यात्रियोंको स्टीमरद्वारा पटना अथवा पटनासे ई० आई० आर० द्वारा कलकत्ता जाना पड़ता है।

पहलेजासे तीन मील पूर्व सोनपुर (हरिहरक्षेत्र) है। यहाँपर कार्तिकी पूर्णिमाको भारतविख्यात मेला लगता है, जिसमें भारतके कोने-कोनेसे एवं विदेशोंसे भी काफी संख्यामें लोग आते हैं। यह स्थान गण्डकके दाहिने तथा गङ्गाके बायें तटपर स्थित है।

यहाँपर हरिहर महादेवका एक प्राचीन मन्दिर भी है, जिसके सम्बन्धमें यह कथा प्रचलित है कि इसे भगवान् रामचन्द्रजीने जनकपुर जाते समय बनवाया था। मन्दिर बहुत पुराना है तथा उसमें जो मूर्ति है वह हरि (विष्णु) और हर (शिव) दोनों देवोंके स्वरूपको एक साथ ही प्रकट करती हुई प्राचीन भारतीय मूर्तिकलाका विशेष परिचय कराती है। सोनपुरके पास ही गण्डक नदी, जो कि हिमालयसे निकलती है, गङ्गामें मिलती है।

सोनपुरके सामने ही गङ्गाके दक्षिण तटपर बाँकीपुर स्थित है। यहाँपर गङ्गाजी सारन और पटना जिलोंकी सीमापर बहती हैं। बाँकीपुर पटना जिलेका केन्द्र है। यहाँ बहुत-से सरकारी दफ्तर हैं। यहाँकी सबसे प्रधान और पुरानी इमारत गोलघर है। उसकी दीवालें १२ फुट मोटी और ९६ फुट ऊँची हैं। वह शहदकी मक्खीके छत्तेके आकारका है।

बाँकीपुरसे तीन मील दक्षिण-पूर्व गङ्गाके दक्षिण तटपर पटना नगर स्थित है। यह बिहारप्रान्तकी राजधानी है। इसका व्यापार अब भी अच्छी दशामें है। रेल और नदी दोनोंहीपर एक मुख्य स्थानमें स्थित होनेके कारण यह बिहार-प्रान्तके व्यापारका एक मुख्य स्थान बन गया है। इसका प्राचीन नाम पाटलिपुत्र था। कुछ समयके बाद इसीका 'पटना' हो गया। वर्तमान पटनामें दो मन्दिर दर्शनीय हैं—एक बड़ा पाटन देवीका महाराजगंजमें और एक छोटा पाटन देवीका हरिकी गलीमें है। पाटलिपुत्रका निर्माण ५ वीं सदीके पहले हुआ था। सम्राट् चन्द्रगुप्तके समयमें यह भारतकी राजधानी हो गया था। मेगस्थनीजके लेखसे पता चलता है कि उन दिनों यह अधिकतर काष्ठका ही बना हुआ था। किन्तु अशोकने इसके वातावरणमें एक महान् परिवर्तन कर दिया, पक्के मकान बनने लगे और विहारों तथा स्मारकोंसे इस स्थानको भर दिया। यहाँ कुछ दिन पूर्व अशोकका पुराना प्रसिद्ध महल, पुरानी ईंटोंकी दीवारें, लकड़ीके पुल और एक मुख्य नगर तथा अशोकके स्तम्भके भग्नावशेष पाये गये हैं।

कहते हैं गुरु गोविन्दसिंहका जन्म १६६० ई० में चौकके निकट एक गृहमें पटनेमें ही हुआ था। पंजाबकेसरी महाराजा रणजीतसिंहने वहाँ एक मन्दिर बनवाया अर्थात् उसका जीर्णोद्धार कराया। जिस गलीमें यह मन्दिर है, उसे हरमन्दिरकी गली कहते हैं। इस मन्दिरपर सिक्खोंकी असीम श्रद्धा है।

पटनाका ओरियंटल पुस्तकालय जगत्प्रसिद्ध है। इसे खाँ बहादुर खुदाबख्शने स्थापित किया था। इसीलिये खुदाबख्श लाइब्रेरी भी कहते हैं।

पटनेके सामने उत्तरमें गङ्गाके उस पार, जहाँपर बड़ी गण्डक मिलती है, हाजीपुर है। यहाँपर भी बी० एन० डब्ल्यू० रेलवेका स्टेशन है। और यहाँका हाजीपुरिया केला प्रसिद्ध है।

पटनेसे ७ मील पूर्व गङ्गाके दाहिने तटपर फतुआ ग्राम स्थित है। यहींपर पुनपुन नदीका सङ्गम है। यह ई॰ आई॰ आर॰ का स्टेशन तथा कपड़ा बुनाईका केन्द्र है। गङ्गा-स्नानके बड़े-बड़े मेले पुनपुन-सङ्गमपर लगते हैं। वारुणी-द्वादशीको यहाँ स्नान करनेका विशेष माहात्म्य है। क्योंकि इस दिन यहाँ वामन-अवतार हुआ था।

फतुआसे गङ्गाजी सीधे पूर्वको बहती हुई २५ मीलपर बाढ़ तहसीलमें जो कि पटना जिलेमें है, पहुँचती हैं। यह ग्राम श्रीगङ्गाजीके दाहिने तटपर स्थित है। ई॰ आई॰ आर॰ का स्टेशन है। पटनेसे कलकत्ते आने-जानेवाले स्टीमर यहाँ ठहरते हैं।

बाढ़से लगभग १४ मील पूर्व-दक्षिण गङ्गाके दाहिने तटपर मोकामा एक ग्राम है। यहाँ भी ई॰ आई॰ आर॰ का स्टेशन है तथा ग्रांड ट्रंक रोड यहाँसे होकर निकलती है।

मोकामासे २२ मील दक्षिण-पूर्वको बहती हुई गङ्गाजी सूरजगढ़ पहुँचती हैं। यह गङ्गाके दक्षिण तटपर स्थित है। इसके सामने उत्तर तटपर अकबरपुर है। कहते हैं सूरजगढ़में राजा सूरजमलका किला था, जिसका अब केवल कुछ अंश बच रहा है।

सूरजगढ़से गङ्गाजी उत्तर-पूर्वको मुड़ती हैं। और १७ मीलके बाद मुंगेर नगरमें पहुँचती हैं। यह गङ्गाके दक्षिण तटपर स्थित है। कहते हैं उसे सम्राट् चन्द्रगुप्तने बसाया था, जिसके नामपर इसका प्राचीन नाम गुप्तगढ़ था। एक पौराणिक कथाके आधारपर यह कहा जाता है कि मुंगेरमें गङ्गाजीके तटपर मुद्गल ऋषि रहा करते थे। मुंगेरमें कष्टहारिणीघाटपर छः मन्दिर बने हुए हैं, जहाँ श्रावणी पूर्णिमाको एक बड़ा मेला लगता है। मन्दिरके बाहर एक नाक कटी हुई पुरानी मूर्ति रक्खी हुई है। यह बौद्धकालकी मालूम पड़ती है, किन्तु इसकी चार भुजाएँ हैं।

यहाँपर एक मजबूत किला बनवाया गया था, जो अबतक मौजूद है। समीपकी पहाड़ियोंपर लोहेकी अधिक खानें होनेके कारण बिजलियाँ प्रायः यहीं गिरती हैं। यहाँका जलवायु किसी समय बड़ा स्वास्थ्यवर्द्धक था। वारेन हेस्टिंग्जने एक पत्रमें बंगालसे तुलना करते हुए यहाँकी जलवायुकी प्रशंसा की है। पिछले भूकम्पमें मुंगेर तहस-नहस हो गया और अबतक वह दुरवस्थामें ही है।

मुंगेरसे गङ्गाका प्रवाह उत्तरकी ओर घूम जाता है और लगभग छः मीलपर गङ्गाके बायें तटपर स्थित रहीमपुरतक ऐसा ही रहता है। फिर यहाँसे गङ्गाजी दक्षिण-पूर्वको घूमती हैं और मुंगेरसे १९ मील पूर्व भागलपुर जिलेके सुल्तानगंजमें जाती हैं। यह ग्राम गङ्गाके दाहिने तटपर स्थित है। यहाँपर गङ्गाजी दो धाराओंमें बँट जाती हैं, अतः बीचमें ऊँचे टीलेके समान एक सुन्दर स्थान बन जाता है। इसी प्राकृतिक छटासे युक्त स्थानपर एक सुन्दर मन्दिर बना है। जिसमें चित्रकारीकी कला अच्छी तरह दिखलायी गयी है। वह मन्दिर अजगवीनाथ महादेवके मन्दिरके नामसे प्रसिद्ध है। कुछ लोग इसे जह्नुऋषिका स्थान मानते हैं।

यहाँपर एक किलेका भग्नावशेष उसकी प्राचीनताका परिचय करानेके लिये अभीतक खड़ा है, जिसे कृष्णगढ़ कहते हैं।

यहाँसे १४ मील पूर्व दिशाकी ओर बहती हुई गङ्गाजी भागलपुर नगरको स्पर्श करती हैं। यह नगर गङ्गाके दक्षिण तटपर स्थित है। यहाँपर जैनियोंके दो मन्दिर हैं, जिनमेंसे एक पिछली शताब्दीके प्रसिद्ध बैंकर जगतसेठका बनवाया हुआ है। यहाँके मुख्य धंधे कालीन बुनना, कम्बल बुनना, बेतका काम, फर्नीचर बनाना, नक्काशी, तेल पेरना आदि हैं। भागलपुरी सिल्क और टसर भी बहुत मशहूर है।

भागलपुरसे लगभग १२ मील पूर्व गङ्गाके दाहिने तटपर कोलगंग नामक एक ग्राम मिलता है। यहाँपर ई॰ आई॰ आर॰ का व्यापारिक महत्त्वका स्टेशन है। पहाड़पर स्थित एक विचित्र शैलीका मन्दिर है, जिसमें अच्छी चित्रकारी की गयी है।

कोलगंगके पास ही कोसी नदी गङ्गामें मिलती है। यह नैपालके पूर्वमें सात धाराओंसे बनी है इसलिये उस प्रदेशको सप्तकौशिकी कहते हैं।

कोलगंगसे १२ मील उत्तर-पूर्वमें करागोला या कड़ागोला नामक स्थान गङ्गाके बायें तटपर स्थित है। यहाँपर लिखारी (वारंदी) नदी गङ्गामें मिलती है। पहले यह करागोला व्यापारका अच्छा केन्द्र था, लेकिन रेलके बन जानेसे व्यापार छिन गया है। किन्तु फिर भी गङ्गापर चलनेवाले स्टीमरोंका यह स्टेशन है। यह स्थान प्रधानतया मेलोंके लिये प्रसिद्ध है। पहले यहाँ प्रान्तभरमें सबसे बड़ा मेला-मात्र था।

कोलगंगसे २० मील पूर्व गङ्गाजीके बायें तटपर मनिहारी नामक ग्राम है। यहींपर ई॰ बी॰ एस॰ रेलवेका बिहारप्रान्तीय

भाग समाप्त होता है। ई॰ आई॰ आर॰ के स्टेशन सकरी-गलीसे उतरे हुए यात्रियोंको यहींपर स्टीमरद्वारा गङ्गाको पार करना पड़ता है।

मनिहारीघाटसे गङ्गाजी दक्षिण-पूर्वको मुड़कर १३ मीलपर मानिकनगर जाती हैं। वहाँसे सीधे दक्षिणको बहती हैं। और १२ मील बहकर प्रसिद्ध स्थान राजमहलमें पहुँचती हैं। यह राजमहल गङ्गाके दाहिने तटपर स्थित है। किसी समय यह बंगालकी राजधानी था, किन्तु अब तो मिट्टीके झोपड़ोंका समूहमात्र रह गया है, जिसके बीचमें कुछ अच्छे घर हैं तथा कुछ सुन्दर भवनोंके भग्नावशेष हैं। सब-रजिष्ट्रारके आफिससे पूर्वकी ओर एक शिवजीका मन्दिर भग्नावस्थामें है। यहाँपर दानसिंहका बनवाया हुआ एक शिव-मन्दिर भी बतलाया जाता है। राजमहलसे श्रीगङ्गाजी बंगाल-प्रान्तमें प्रवेश करती हैं। इसका वर्णन अगले लेखमें किया जायगा।

प्रेम दिवाने जे भये

(लेखक—श्रीकृष्णदत्त भट्ट)

प्रेम दिवाने जे भये मन भयो चकनाचूर।
छके रहें घूमत रहें 'सहजो' देखि हुजूर॥
प्रेम दिवाने जे भये कहैं बहकते बैन।
'सहजो' मुख हाँसी छुटै कबहूँ टपकैं नैन॥
—सहजो

प्रेमकी एक बूँद जिनके हाथ लग जाती है उनकी अवस्था ऐसी बदल जाती है कि फिर उन्हें पहचानना भी कठिन हो जाता है। उनके सारे नियम, सारे बन्धन पलभरमें छूट जाते हैं। संसारके भेदभाव, रीति-रिवाज ज़रा देरको भी उन्हें रोकनेमें समर्थ नहीं होते। बाढ़का पानी जिस प्रकार क्षणभरमें देशभरको अपने प्रवाहसे डुबाकर एक कर देता है उसी प्रकार यह नशा उन्हें ऐसा मदमस्त बना देती है कि उन्हें किसी बातकी खबर ही नहीं रहती! उनकी अवस्था-का एक संतने बड़े सुन्दर शब्दोंमें खाका खींचा है—

मरते हैं आरज़ू में मरने की,
मौत आती है पर नहीं आती!
हम वहाँ हैं जहाँ से हम को भी—
कुछ हमारी ख़बर नहीं आती!!

क्या कहना है ऐसी मस्तीका! यह रंग चढ़ जाने-पर भी कोई होशमें बना रहे यह असम्भव है। एक मस्तने तो साफ़-ही-साफ़ अपनी कैफ़ियत दे डाली—

मैं होश हवास अपने इस बात पै खो बैठा,
तूने जो कहा हँस कर अपना मुझे दीवाना!

दिल तो एकबारगी ही हाथसे जाता रहा है—

तेरी गलीमें आकर खोए गये हैं दोनों,
दिल मुझको ढूँढ़ता है मैं दिलको ढूँढ़ता हूँ!

कैसी अजब परेशानी है। अब तो सारी बातें भूल गयी हैं। सिर्फ़ रात-दिन आँखोंको यही लालसा रहा करती है, कि—

माथे पै मुकुट देखि, चन्द्रिका चटक देखि,
छबि की लटक देखि रूपरस पीजिये।
लोचन बिसाल देखि गरे गुंजमाल देखि,
अधर रसाल देखि चित्त चाव कीजिये॥
कुण्डल हलनि देखि, अलक चलनि देखि,
पलक चलनि देखि सरबस दीजिये।
पीतम्बर की छोर देखि, मुरली की घोर देखि,
साँवरे की ओर देखि, देखिबोई कीजिये॥

इस अनुपम रूपश्रीको देखनेके लिये ही तो ये मस्त अपना सब कुछ न्यौछावर कर इस मार्गके पथिक बन बैठते हैं। जो लोग उन्हें समझाते हैं कि 'भैया ! गलत रास्तेपर जा रहे हो। प्रभुको पानेका मार्ग तो दूसरा ही है। उसके लिये तो जबतक निराकारके उपासक न बनोगे, अष्टाङ्ग-योगकी साधना करनेमें तल्लीन न होगे, नामरूप-संसारके मिथ्यात्वकी अनुभूति न करोगे, तबतक कुछ न होगा। तुम्हारा यह रोना, चिल्लाना, सिसकना, आहें भरना, हमारे लेखे सर्वथा व्यर्थ है। अच्छा हो कि तुम इसका परित्याग कर ज्ञान और योगके द्वारा आत्म-साक्षात्कार करनेका प्रयत्न करो।' वे हँसकर ऐसे उपदेशकोंको उत्तर देते हैं, कि प्यारे !

चाहे तू योग करि भृकुटिमध्य ध्यान धर,
चाहे नाम रूप मिथ्या जानि कै निहारि ले।
निर्गुण निरंजन निराकार ज्योति व्यापि रही
ऐसो तत्त्वज्ञान निज मनमें तू धारि ले॥
'नारायण' अपने को आप ही बखान कर
मोते वह भिन्न नहीं या विधि पुकारि ले।
जौलौं तोहि नन्द को कुमार नाहिं दृष्टि परयो
तौलौं तू बैठि भले ब्रह्म को बिचारि ले॥

भैया ! तुम्हारी ये सारी बातें उसी समयतक हैं जबतक उस साँवले सलोने प्रियतमसे तुम्हारी देखा-देखी नहीं हुई। जिस दिन भी तुम उसकी एक झलक देख पाओगे, उसी दिन तुम्हारा यह सारा ज्ञान-ध्यान ताकपर रक्खा रह जायगा। उस रूपसागरका एक कण भी जिस दिन तुम्हारी आँखोंके सम्मुख आ जावेगा, बस उसी दिन तुम इस प्रकारकी सब दलीलें देना भूल जाओगे। दूर क्यों जाते हो, अपने उन मधुसूदन सरस्वतीको ही देख लो न ! वे तो प्रारम्भसे ही निराकारके उपासक थे। संसारको अनित्य, नाशवान् और जड़ माना करते थे। उनके लेखे नामरूप सब कल्पित था और सभी ओर उस सच्चिदानन्दके सिवा और कुछ था ही नहीं; पर— उस दिन व्रजकी पावन भूमिमें पैर रखते ही उनका क्या हाल हो गया ! नहीं सुना तुमने ? वहाँ उस नुकीले नयनोंवाले माखनप्रेमी मनचोरके रूप-जालमें ऐसे फँसे कि सब कुछ भूलकर उन्हें यही पुकारते बना—

ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा तन्निर्गुणं निष्क्रियं
ज्योतिः किञ्चन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते।
अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं
कालिन्दीपुलिनेषु यत्किमपि तन्नीलं महो धावति॥

किन-किनकी बात बतायी जाय ! जिस किसीको भी उस प्यारेकी रूपमाधुरीका ज़रा-सा भी पता लग जाता है वह सब कुछ त्याग कर उस प्रियतमका शैदा बने बिना नहीं रहता। उसके बिना फिर तो वह रह ही नहीं सकता। किसीको उसकी मधुर वंशीकी एक धीमी-सी भी तान यदि सुनायी पड़ जाय तो वह सब कुछ छोड़कर उसी क्षण उसको पानेकी लालसामें निकल पड़ेगा। व्रजकी सारी वनिताएँ तो उसकी सुमधुर वंशीकी ध्वनिपर ही रीझकर अपना सब कुछ दे बैठी थीं। एकका अनुभव सुन देखो—

कौन ठगौरी करी हरि आजु
बजाई है बाँसुरिया रसभीनी।
तान सुनी जिनहीं तिनहीं
तब ही कुल लाज बिदा करि दीनी॥
घूमै घरी घरी नन्दके द्वार,
नवीनी कहा कहूँ बाल प्रवीनी।
या व्रजमण्डल में 'रसखानि'
सु कौन भटू जो लटू नहिं कीनी॥

ऐसी अनुपम रूपराशिको देखकर ऐसा है ही कौन जो सब कुछ भूल न बैठे ! इस अनुपम छविके ही

पीछे तो प्रेमी लोगोंकी ऐसी अवस्था हो जाती है। वे बेचारे कभी रोते हैं कभी हँसते, कभी गाते हैं कभी सिसकते! कभी आनन्दमें मस्त होकर नाचने लगते हैं तो कभी दुःखके अनन्त सागरमें कूदकर विलाप करने लगते हैं। मनमें आता है तो कुछ बड़बड़ा भी उठते हैं नहीं तो चुपचाप ही इस प्रेमव्यथाको सहन किया करते हैं। कभी एक ही स्थानपर महीनों पड़े रहा करते हैं तो कभी एक क्षण भी एक स्थानपर नहीं ठहरते। रोना, धोना सिसकना—आहें भरना यही सब उनके दैनिक कार्य-कलाप हैं। रात-दिन वे इन्हींमें मस्त बने रहा करते हैं। संसार उनकी हँसी उड़ावे अथवा पूजा करे—उन्हें कोई परवा नहीं। उनकी मस्तीका हाल नारायण स्वामीके शब्दोंमें ही सुन लेना अच्छा होगा—

> जो घायल हरि दृगन के परे प्रेमके खेत।
> नारायण सुन श्याम गुन एक संग रो देत॥
> प्रेम सहित गद्‌गद गिरा करत न मुख सों बात।
> नारायण इक श्याम बिन और न कछु सुहात॥

वास्तवमें—

> नारायण यह प्रेमरस मुख सों कह्यो न जाय।
> ज्यों गूंगा गुड़ खाय है सैनन स्वाद लखाय॥

हम पामर विषय-कीट इस प्रेमरसको क्या जानें!

भक्तोंसे

(गीत)

आओ, भजन सुनाओ!
आओ, पक्षी! आओ!!
जो हैं तुम्हें सतानेवाले, पाप-मार्गमें लानेवाले,
प्रभुका नाम भुलानेवाले, हिंसक जाल बिछानेवाले—
उनके घर मत जाओ!
आओ, पक्षी! आओ!
आओ, मेरे घरपर आओ; आओ, इस छप्परपर आओ।
आओ, मेरे करपर आओ; आओ, मेरे सिरपर आओ॥
आओ, बैठो, गाओ!
आओ, पक्षी! आओ!!
आओ, जो चाहो सो खाओ; आओ, जो चाहो ले जाओ।
सरबस अपना जान उठाओ, नहीं कहीं संताप कमाओ॥
इस कुटियामें छा जाओ!
आओ, पक्षी! आओ!!

—श्रीशिवनारायण वर्मा

मानसके सवा लाख पारायण

वर्तमान समय संसारके लिये कैसा सङ्कटपूर्ण है, यह बात किसीसे छिपी नहीं है। सब ओर ईर्ष्या, द्वेष और पारस्परिक प्रतिहिंसाकी बाढ़-सी आनेके कारण सारा भूमण्डल रणचण्डीकी बीभत्स क्रीडास्थली बनना चाहता है। संसारके निकट भविष्यके विषयमें अधिकांश लोगोंकी बड़ी आशङ्कापूर्ण भावना बनी हुई है। इन सारी आपत्तियोंका कारण जनताकी भगवद्विरोधी प्रवृत्ति ही है। लोगोंकी भोगलिप्सा और स्वार्थपरायणताने उन्हें अत्यन्त क्रूर और नास्तिकप्राय बना दिया है। उन्होंने पाशविक बल और भोग-सामग्रियोंके सञ्चयमें ही अपनी सारी शक्ति लगा दी है। वे मोहवश धर्म और भगवान्‌को भूलकर विषयोंकी ऊपरी टीमटामसे आकर्षित होकर अबाधगतिसे उन्हींकी ओर दौड़े चले जा रहे हैं। परन्तु इस अंधाधुंधीका परिणाम कभी अच्छा नहीं हो सकता। अन्तमें ठोकर खानी ही पड़ती है। अतः इस भावी आपत्तिसे बचनेके लिये हमें पहलेसे ही सावधान हो जाना चाहिये।

इसका एकमात्र उपाय भगवदाश्रय ही है। यदि हम सब प्रकारकी असत्प्रवृत्ति छोड़कर भगवच्चिन्तनमें लग जायँ तथा हमारी सब क्रियाएँ भी भगवान्‌के ही लिये हों तो हम अपना ही नहीं, सारे संसारका भी बहुत हित कर सकते हैं। वस्तुतः भगवत्सेवा ही संसारकी सच्ची सेवा है। जैसे किसी वृक्षके मूलको सींचनेसे उसके पत्र, शाखा और स्कन्धादिकी भी पुष्टि हो जाती है, वैसे ही विश्वमूल श्रीविश्वम्भरकी वन्दनासे सारे विश्वकी भी सेवा हो जाती है। इसीसे यह बात प्रायः देखी गयी है कि जब-जब कोई व्यक्तिगत या सामूहिक सङ्कट उपस्थित होता है, उस समय उसकी निवृत्तिमें जो काम भगवत्प्रार्थना, मन्त्रजप, सङ्कीर्तन, देवपूजन या पाठादिसे होता है, वह बड़े-से-बड़े बाह्य साधनोंसे भी नहीं होता। ऐसे अनेकों दृष्टान्त प्रत्येक जाति, प्रत्येक देश और प्रत्येक सम्प्रदायमें मिलेंगे। प्राचीनकालके ऋषि-महर्षि और राजालोग भी ऐसे अवसरोंपर दान-पुण्य, यज्ञ-याग एवं पाठ-पूजनादिके द्वारा ही विश्वका कल्याण करते थे। भगवान्‌के सामने सच्चे हृदयसे जो करुण पुकार की जाती है, वह कभी व्यर्थ नहीं जाती। उससे बहुत शीघ्र सफलता मिलती है, अवश्य मिलती है।

इसी दृष्टिसे कल्याणके कुछ पिछले अंकोंमें हमने अपने प्रेमी पाठकोंसे आगामी नवरात्रमें सवा लक्ष मानसके नवाह्नपाठके लिये प्रार्थना की थी। मानसजीकी महिमा आपलोगोंसे छिपी नहीं है। वह तो साक्षात् श्रीरघुनाथजीका वाङ्मय विग्रह ही है। उसका प्रत्येक पद्य एक-एक मन्त्र है और उसके पाठसे ऐसी कोई लौकिक या अलौकिक वस्तु नहीं है जो प्राप्त न हो सके। इसके सिवा चैत्र शुक्ला नवमी भगवान् राम और रामचरितमानस दोनोंहीका जन्मदिवस भी है। अतः इस पारायणके द्वारा आप उनकी जन्मजयन्ती भी मना लेंगे। इस कार्यके लिये हमारे कई माननीय मित्रोंका अनुरोध है तथा हमें कई वन्दनीय संत-महात्माओंसे प्रोत्साहन और आशीर्वाद भी प्राप्त हुआ है। इस कार्यके लिये हमें पूज्यपाद श्रीउड़ियास्वामीजी महाराज, पूज्य श्रीअवधविहारीदासजी परमहंस (नागाबाबा), पूज्य श्रीहरिबाबाजी, पूज्य श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी आदि कई महात्माओंकी सम्मति प्राप्त हो चुकी है। भगवान्‌की कृपासे इस समय कल्याणके ग्राहकोंकी संख्या ५० हजारसे ऊपर है। अतः यदि प्रत्येक ग्राहक अपने परिवार और इष्ट-मित्रोंके सहित इस अनुष्ठानमें सहयोग प्रदान करे तो सवा लाखसे भी बहुत अधिक पाठ हो सकते हैं। पाठ करनेवाले

सज्जनोंको यह कार्य बड़े भावपूर्वक करना चाहिये। अधिकांश महानुभाव ऊपरी सजावट तथा धूमधाम तो काफी कर देते हैं; परन्तु उनके अनुष्ठानमें भाव, श्रद्धा और संयमकी कमी रहती है। इससे उसका जैसा होना चाहिये वैसा फल नहीं होता। इसलिये सजावट और दिखावटकी ओर विशेष ध्यान न देकर भावपर ही अधिक जोर देना चाहिये। यदि यह अनुष्ठान सच्चे हृदयसे होगा तो हमें पूर्ण विश्वास है कि इससे पाठ करनेवालोंका ही नहीं वरं सारे संसारका बड़ा हित होगा।

पाठ करनेवाले सज्जन यदि नीचे लिखे नियमोंके अनुसार एक ही समय और एक ही प्रकारसे अनुष्ठान करनेकी कृपा करें तो उनकी संयुक्तशक्तिसे और भी विशेष लाभ हो सकता है—

१—पाठ चैत्र शु० १से आरम्भ करके चैत्र शु० ९ को समाप्त किया जाय। प्रत्येक दिनके विराम मानसाङ्कके पृष्ठ १० और ११ पर दिये गये हैं, तथा वहीं पाठकी विधि भी है। उसीके अनुसार पाठ होना चाहिये।

२—प्रातःकाल स्नान-सन्ध्यादिसे निवृत्त होकर सब लोग ६॥ बजे पूजनके लिये बैठ जायँ और आधे घंटेमें पूजन समाप्त करके ठीक ७ बजे पाठ आरम्भ कर दें।

३—जहाँ पाठ करनेवाले एकसे अधिक हों, वहाँ प्रधान व्यक्ति उत्तराभिमुख होकर बैठे और शेष सब लोग पूर्वकी ओर मुख करें। तथा पहले प्रधान महाशय दोहा या चौपाई बोलें और उनके बाद शेष सब सज्जन उसीको दुहरावें। ऐसा करनेसे प्रायः ११ बजे पाठ समाप्त हो सकता है। यदि आवश्यकता हो तो बीचमें दो घंटे बाद १० मिनटका अवकाश रख लें। इसमें लघुशंकादिसे निवृत्त होकर फिर हाथ-पैर धोकर कुल्ला करके पाठ आरम्भ करें।

४—जिन महानुभावोंके लिये अपने कार्यकी व्यवस्था अथवा किसी अन्य कारणोंसे प्रातःकाल पाठ करना सम्भव न हो वे सायङ्कालमें ६ बजेसे रात्रिके १०-१०॥ बजेतक भी कर सकते हैं। परन्तु उन्हें भगवान् और ग्रन्थका पूजन प्रातःकाल साढ़े ६ बजे भी करना चाहिये।

५—पाठके आरम्भ और अन्तमें 'रघुपति राघव राजा राम, पतितपावन सीताराम' इस मन्त्रसे कीर्तन करें तथा पूजनके समय 'जय जय रघुनायक जन सुखदायक' इस देवताओंद्वारा की हुई स्तुतिसे भगवान्का स्तवन करें।

६—पाठके दिनोंमें भोजन एक ही बार करें। यदि विशेष आवश्यकता हो तो सायंकालमें दूध या फल ले लें। जहाँतक हो सके इतने दिनतक आहार और व्यवहार सात्त्विक ही रक्खें।

७—इन दिनोंमें ब्रह्मचर्यका पूर्णतया पालन किया जाय।

८—पाठ अपने-अपने घरोंमें अथवा किसी देवालय आदि सार्वजनिक स्थानमें कर सकते हैं। परन्तु जहाँ भी किया जाय, आरम्भसे अन्ततक एक ही स्थान रहना आवश्यक है।

९—पाठमें परिवारके स्त्री-पुरुष सभी लोग सम्मिलित हो सकते हैं। परन्तु जो लोग पाठ आरम्भ करें, उन्हें अन्ततक अवश्य उपर्युक्त नियमोंका पालन करते हुए पाठ करना ही चाहिये।

१०—पाठकी समाप्तिके पश्चात् अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार हवन और एक अथवा इससे अधिक ब्राह्मणोंको भोजन कराया जाय।

११—जो लोग इस अनुष्ठानमें सम्मिलित हों, वे नीचे लिखे पतेपर सूचना भेजनेकी कृपा अवश्य करें।

—सम्पादक 'कल्याण' गोरखपुर

माँकी गोदमें

(लेखक—श्री 'शान्त')

श्रीवृन्दावनधाममें बड़ा ही सुन्दर स्थान है वह। दूरतक घनी झाड़ियाँ हैं और हरी-भरी लताओंसे आलिङ्गित करीलोंके कुञ्ज। पुष्पोंपर रक्तिमा, पीतिमा, नीलिमा और कहीं-कहीं श्वेतिमा भी है। सौरभ इतना है कि भौंरोंका उन्मत्त सङ्गीत कभी बंद ही नहीं होता। उसपर भी कोयलोंकी कुहू और मयूरोंका मधुर नृत्य। बड़ी कोमल, स्निग्ध और दिव्य भूमि है। यमुनाकी मन्द-मन्द बहती हुई धारा भी वहाँसे दूर नहीं है। मैं कभी-कभी वहाँ स्नान करने जाया करता था। वहाँसे थोड़ी ही दूरपर श्रीगोपालजीका एक मन्दिर भी है, जहाँ मैंने एक दिन छाछ माँगकर पी थी। पुजारीजी प्रायः लोगोंको छाछ पिलाया करते हैं।

एक दिन प्रातःकाल ही पहुँच गया मैं उस पावन प्रान्तमें। मुझे कुछ ठंड मालूम हो रही थी, स्नानके लिये धूपकी प्रतीक्षा थी, मैं एक वृक्षके नीचे बैठ गया। एक दूध-सी सफेद गाय वहाँ आयी। उसके साथ फुदकता हुआ एक बछड़ा भी था। वह थोड़ी दूर दौड़कर आता और फिर अपनी माँका दूध पीने लगता। कभी-कभी उसके थनमें हिब्बा भी मारता और कभी-कभी उसकी ललरियोंके साथ सटकर खड़ा हो जाता। मातृस्पर्शका रस लेता। सूर्योदय हो रहा था। उन दोनोंका रोआँ-रोआँ प्रसन्नतासे चमक रहा था। हाँ, जब कभी वह दूर भाग जाता, तब वह हुंकार भरती और वह पलक मारते उसके पास आ जाता। मैं कुछ देरतक देखता रहा। मुझे अपने बचपनकी स्मृति हो आयी, जब मैं अपनी माँकी गोदमें था।

मुझमें दो गुण बचपनसे ही हैं—आलस्य और निद्रा। अपने बचपनकी याद करते-करते मैं सो गया, अलसाया हुआ तो था ही। परन्तु वह सोना क्या था? एक देहसे सोकर दूसरे देहसे जागना। शायद वह स्वप्न ही था, पर था कुछ अवश्य। मैं दो वर्षका बालक होकर अपनी माँकी गोदमें खेल रहा था। मैं था और मेरी माँ थी। सामने विशाल आकाश था, परन्तु उस समय मैं उसकी विशालतासे अपरिचित था। नीला-नीला, सुन्दर-सुन्दर, देखते रहनेकी चीज थी। पर मैं अधिकतर अपनी माँकी ओर देखता। वह मुझे अपने हृदयसे लगा लेती, मेरा सिर सूँघती और आँखें चूम लेती। जितना आनन्द होता था मुझे उस समय, उतना आज कोई मुझे एकच्छत्र सम्राट् बना दे तो भी नहीं हो सकता; क्योंकि मैं माँकी गोदमें था। मेरे हित-अनहित और भले-बुरेका भार मेरे ऊपर नहीं था। मैं एकटक देखता ही रह जाता। कहीं मैं मुस्कुरा देता तो मेरी माँ मानो अमृतके समुद्रमें डूब जाती। मैं सोचता, मैं भी कहीं माँ हो जाता और माँ मेरे-जैसा नन्हा-सा शिशु हो जाती तो मैं भी उसे अपनी गोदमें लेकर खिलाता, हँसाता, प्यार करता, दुलारता और पुचकारता। परन्तु मैं मन-ही-मन सोचता था, बोल नहीं सकता था। सोचते-सोचते मैं सो गया। क्योंकि मैं माँकी गोदमें था और उससे बढ़कर सोनेके लिये अच्छी जगह हो नहीं सकती।

शायद वह भी स्वप्न ही होगा। सम्भव है मेरे मनकी कल्पना ही हो। मेरी गोदमें एक सुन्दर, साँवरा, सलोना, नन्हा-सा शिशु था और मैं बड़े प्यारसे उसकी ओर देख रहा था। इतना कोमल था उसका शरीर कि छूनेमें डर लगता था कहीं खून न छलछला आये। चिकनाई और चमक इतनी थी कि मानो आर-पार दीखता हो, मुखड़ेपर मन्द-मन्द मुस्काहट थी और कपोलोंपर

काली-काली अलकें खेल रही थीं। ऐसा मादक आकर्षण था उसमें कि मेरे प्राण ही मानो उसके शरीरमें भी हों; मेरा हृदय उसके हृदयसे इतना एक हो गया था कि यह निर्णय करनेमें मैं असमर्थ था कि मेरी आत्मा शिशुशरीरमें है या मातृ-शरीरमें। और तो क्या मुझे यह भी स्मरण नहीं था कि मैं माता हूँ या शिशु। दोनोंकी आँखें दोनोंको देख रही थीं। शिशु माताके हृदयसे सटा हुआ था। उनके प्राण एक गतिमें सञ्चारित हो रहे थे, उनका मन एक मन हो गया था। उस समय मैं कौन था, मुझे स्मरण ही नहीं था कि मैं कौन हूँ। मैं ही माता था, माता ही शिशु थी; मैं, माता और शिशु—तीनों तीन नहीं, एक थे। क्या इसीका नाम प्रेम है ? मैं नहीं जानता।

उस एकत्वमें द्वैत विलीन हो गया। वह नन्हा-सा शिशु मातामें समा गया—समा गया नहीं, जब माताका मातृत्व जागरित हुआ तब वह शिशुको नहीं देख सकी। उसने आधे क्षणमें ही चारों ओर ढूँढ़ डाला, अपनी गोदकी ओर उसकी दृष्टि नहीं गयी। उसका कलेजा धक्-से बैठ गया। मुँहसे आवाज आयी—'मेरे मोहन ! मेरे प्यारे कन्हैया ! तुम कहाँ हो मेरे प्राण, मेरे सर्वस्व ! मैं तुम्हारे विना जी नहीं सकती।' आवाज आयी, 'मेरे बेटा, तुम तो अपनी मौंकी गोदमें हो' और मैं, सचमुच अपनी मौंकी गोदमें था। मेरी धड़कन तेज चल रही थी, मुँह लाल हो गया था और मेरा शरीर अब भी काँप रहा था। मौंने समझा मेरा लल्ला कोई स्वप्न देखता रहा होगा, डर गया है। वह पुचकारने लगी—'मेरे लल्ला, वह तो सपना था। तुम मेरी गोदमें हो, डर काहेका !' मैं स्वप्नका तत्त्व नहीं समझता था। हाँ, इतना तो समझ ही गया कि डरनेकी बात नहीं है।

मौंके हृदयका स्पर्श पाया, उसके मूर्तिमान् स्नेहका पान किया। उस अमृत-रसके सामने कोई भी स्वर्गीय सुधाका उपहास कर सकता है। मुझे एक-एक घटनाका स्मरण होने लगा। मैं भी तो अपने नन्हे-से शिशुसे प्रेम करता था। वही मेरी आँखोंका ज्योति था, मेरे हृदयका धन था, मेरे जीवनका सर्वस्व था। कितना मोहक था, कितना मधुर था। कितना सौन्दर्य था उसके अङ्ग-अङ्गमें ! मेरे हृदयमें अब भी रसकी धारा बह रही है। उसकी मादकता खेल रही है आँखोंके सामने। प्राण छटपटा रहे हैं उसे पानेके लिये। वह मेरा अपना था। तब क्या मैं अपनी मौंके लिये वैसा ही हूँ ! अवश्य वैसा ही हूँ। मैं ही क्यों, सभी अपनी मौंके लिये वैसे ही हैं। सबकी मौं भी तो कोई होगी। वह भी सबके लिये वैसी ही होगी। जो सब माताओंकी मौं है, जिसकी स्नेहधाराकी एक-एक बूँद समस्त माताओंके हृदयमें प्रकट हुई है—कितनी दयामयी होगी वह मौं। मैंने तो कभी उसका स्मरण नहीं किया, उसकी सेवा नहीं की, उसको पुकारा भी नहीं। तब क्या वह भी हमें अपनी गोदमें ही रखती होगी ! जैसे मेरी यह मौं मुझसे प्यार करती है वैसे ही वह भी करती होगी ? तब तो मैं अपराधी हूँ। मैं पुकार उठा, 'मौं, मौं, तुम कहाँ हो ? मैं तुम्हें देखूँगा। मेरे न पुकारनेसे क्या तुम रूठ गयी हो ? मेरी सच्ची मौं, आओ, मुझे अपनी गोदमें उठा लो। मैं उत्सुकतामिश्रित व्याकुलताके आवेशमें था। मेरी आँखोंसे आँसू गिरने लगे। आवाज आयी, 'बेटा, तुम मेरी गोदमें ही तो हो। आज बार-बार तुम स्वप्न क्यों देखने लगते हो ? आज ही तुम बोले, केवल दो बार बोले, सो भी स्वप्नमें डरते हुए ही। मेरी गोदमें रहकर डरना क्यों ?' मेरा आवेश टूट गया था, परन्तु मेरी भावधारा अविच्छिन्न बह रही थी। मैं अपनी सच्ची मौंको पानेके लिये व्याकुल हो रहा था।

मेरी व्याकुलता बढ़ती ही गयी। मेरी वाणी बन्द थी, परन्तु मेरी आत्मा बोल रही थी। मैंने कहा,

'मेरी प्यारी माँ, तुम अवश्य ही मुझसे प्रेम करती हो। कभी एक क्षणके लिये भी मैं तुम्हारे प्रेमसे वञ्चित नहीं हुआ। भूलसे भी तुमने अपने कर-कमलोंको मेरे सिरपरसे नहीं हटाया है। मेरी भूलको भी तुमने एक खिलवाड़ समझा है और उससे प्रसन्नताका अनुभव किया है। तुमने मेरे ऊपर अनन्त प्रेमकी अजस्र वर्षा की है। मैं तुम्हारे प्रेम और वरदानके अतिरिक्त हूँ ही क्या? परन्तु तुम्हारा तो मैं सब कुछ हूँ, मेरी तुम कौन हो? मैंने अपनी माँको माँके रूपमें नहीं पहचाना, स्मरण नहीं किया, ढूँढ़ा नहीं—और तो क्या, पुकारा भी नहीं। जिसने अपनी दया और स्वीकृतिसे मुझे अस्तित्व दिया, उज्जीवित किया, मैंने उसीकी ओरसे मुँह फेर लिया। क्या इस अपराधका भी कोई प्रायश्चित्त है? नहीं, किसी भी प्रायश्चित्तसे इसकी परिमार्जना नहीं हो सकती। ऐसे कृतघ्न जीवनसे क्या लाभ है? माँ, माँ, तुम क्या इस अपराधीको अपने दर्शनसे वञ्चित ही रक्खोगी? माँ, मुझे दर्शन दो, अपनी गोदमें उठा लो।' यह सोचते-सोचते मैं सचमुच बोल उठा, 'माँ, मुझे अपनी गोदमें उठा लो' और मेरे कानमें ये शब्द आये, 'बेटा, तुम मेरी गोदमें ही हो।' मुझे ऐसा मालूम पड़ा कि माताकी गोद और भी कोमल हो गयी है और मुझे वह हृदयसे सटाये हुए है।

मेरी भावनाएँ उभरती ही गयीं। मैं सचमुच माँकी गोदमें ही हूँ। उसकी स्वीकृति मेरा अस्तित्व है, उसका प्रेम मेरा हृदय है और उसका वरदान ही मेरा जीवन है—मेरा ही नहीं, सारे जगत्का। एक परदा पड़ गया था मेरी बुद्धिपर—पड़ क्या गया था, मेरी माँने ही मेरे और अपने बीचमें एक झीना-सा परदा डालकर एक ऐसी लीला रच रक्खी थी कि मानो मैं उससे अलग होऊँ, वह मुझे देख सके और मैं उसे न देख सकूँ। गोदमें रहनेपर भी यह दूरी मालूम होने लगी थी और मैं अपनेको दूर समझने लगा था। आज उसने वह परदा फाड़ डाला। मैं सचमुच अपनी माँकी गोदमें हूँ, गोदमें ही हूँ। मेरा चित्त एक दिव्य प्रसादसे भर गया, मेरी आत्मा एक अद्भुत रससे आप्लावित हो गयी। मेरा यह आनन्द अन्तःकरणमें ही छिपा नहीं रह सका, शायद चेहरेपर भी प्रकट हो गया। तभी तो मेरे कानोंमें ये शब्द सुनायी पड़े कि 'बेटा, आज तुम बहुत स्वप्न देखते हो। क्या हो गया है तुम्हें? उठो, हँसो, खेलो, बोलो, मेरे प्राणोंको तृप्त करो।' मैंने देखा सचमुच मैं माँकी ही गोदमें हूँ।

मैं माँकी ही गोदमें था। परन्तु यह गोद वैसी नहीं थी, जैसी गोदमें मैं पहले था। मेरी वह स्वप्नकी माँ जिसे अपनी गोदके रूपमें जान रही थी और जिस गोदमें जगनेके लिये वह मुझे सचेत कर रही थी, अब मैं उसी गोदमें नहीं था। बल्कि मेरी माँ भी उसी गोदमें थी जिसमें मैं था। यों भी कह सकते हैं कि सारा संसार उसी गोदमें था और माँ उसे सन्तानके रूपमें नहीं, अपने ही रूपमें देख रही थी। और जब मैंने यह जाना कि माँ किस दृष्टिसे देखती है, तब मेरे कौतूहलको पूर्ण करनेके लिये माँने अपनी दृष्टि मुझे दे दी और मैंने जो कुछ देखा इतना अद्भुत देखा कि वैसा देखना विना वह दृष्टि प्राप्त किये किसीकी कल्पनामें आ ही नहीं सकता। मैंने वह दृष्टि माँको लौटा दी। माँ, तुम्हीं सँभालो इसे। मैं तो तुम्हारी गोदमें हूँ, मैं माँकी गोदमें हूँ।

मैं माँकी गोदमें हूँ, यह बात मैंने इतनी दृढ़ता और आवेगसे कही कि वह मुँहके बाहर निकल ही गयी। मेरी माँने, जिसकी गोदमें मैं सोया हुआ था, बड़े प्रेमसे पुचकारकर कहा—'हाँ, बेटा, सचमुच तुम मेरी गोदमें ही हो।' मैंने आँखें खोलीं और अपनेको माँकी गोदमें पाया। मेरी प्रसन्नता और खिले हुए चेहरेको देखकर जब उसने मुझे अपने वक्षःस्थलसे लगाया, तब मेरा सारा शरीर हिल गया और

मैंने आश्चर्यचकित दृष्टिसे देखा कि मैं यमुनातटपर एक वृक्षके नीचे पूर्ववत् सोया हुआ हूँ। गाय और बछड़े वहाँ नहीं थे। धूप हो गयी थी। जब मैंने स्नान करनेके लिये यमुनामें प्रवेश किया, तब मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि यमुनाकी प्रत्येक तरङ्ग कह रही है, 'तुम अपनी माँकी गोदमें हो' और मेरा रोम-रोम इस सत्यका साक्षात्कार कर रहा है कि मैं माँकी गोदमें हूँ।

कामके पत्र

(१)

बर्ताव सुधारनेके उपाय

आपने लिखा कि 'मेरा स्वभाव तामसी होता चला जाता है, सबसे अच्छा व्यवहार नहीं होता। ऐसा कौन-सा साधन है जिससे स्वभाव बदल जाय और सबसे सात्त्विक व्यवहार होने लगे?' सो ठीक है। सात्त्विक व्यवहार न होना आपको बुरा लगता है और सात्त्विक व्यवहार हो, ऐसी आपकी इच्छा है। एक तो यही स्वभाव बदलनेमें बड़ा कारण हो सकता है। मनुष्यको जो चीज वस्तुतः बुरी मालूम होने लगती है और उसका रहना काँटेकी-ज्यों चुभता है, तब वह चीज धीरे-धीरे छूट ही जाती है। और जिसकी सच्ची चाह होती है, वह चीज आगे-पीछे मिलती ही है। परन्तु बात यह है कि किसीके साथ बुरा बर्ताव करना, यह असलमें 'स्वभाव' नहीं है। आत्माका तो स्वभाव है आनन्द और प्रेमसे परिपूर्ण! वह स्वयं आनन्दमय है और इसलिये आनन्द ही वितरण करना चाहता है। न यह अन्तःकरणका ही धर्म है। यह तो बाहरसे आया हुआ दोष है, जो सावधानीके साथ प्रयत्न करनेपर नष्ट हो सकता है। निम्नलिखित बातोंपर ध्यान देकर चेष्टा करनी चाहिये। साधना या चेष्टा जबतक लगनसे नहीं होती, तबतक फल नहीं होता। पथ्य-परहेजका खयाल रखते हुए सावधानीके साथ दवा लेनेसे रोग मिटता है।

१–सब जीवोंमें भगवान् बसते हैं, भगवान् ही सब जीव बने हुए हैं; फिर बुरा बर्ताव किसके साथ किया जाय।

अब हौं कासों बैर करौं।
कहत पुकारत हरि निज मुख तें घट घट हौं बिहरौं॥

हम किसीके भी साथ बुरा बर्ताव करते हैं तो वह श्रीभगवान्‌के साथ ही करते हैं।

२–बुरा बर्ताव करनेसे भगवान् नाराज होते हैं, क्योंकि सभी जीव भगवान्‌की सन्तान हैं। किसीके बालकको कष्ट पहुँचानेसे माँ जरूर नाराज होगी।

३–बुरा बर्ताव करनेसे द्वेष, वैर, क्रोध, विषाद आदि दोषोंका जन्म-जन्मान्तरतक बड़ा विस्तार होता है; इससे अपनी और जगत्‌की बड़ी हानि होती है—लौकिक भी और पारमार्थिक भी।

४–बुरा बर्ताव हम तभी करते हैं जब कोई हमें बुरा लगता है, बुरा लगता है दोषदृष्टिसे। दोषदृष्टि सदा ही द्वेष और जलन पैदा करती है, इससे अपनी बड़ी हानि होती है। जिसको सबमें दोष देखनेकी आदत पड़ जाती है, वह जगत्‌से कुछ सीख ही नहीं सकता और सदा जला करता है, न अच्छे रास्तेपर ही जा सकता है। क्योंकि उसे रास्ता बतलानेवालोंमें और रास्तेमें भी दोष-ही-दोष दीखता है।

५–जब हमारे साथ कोई बुरा बर्ताव करता है तो हमें दुःख होता है; इसी प्रकार हम जब दूसरेके साथ

बुरा बर्ताव करते हैं तो उसे भी दुःख होता है। हम स्वयं तो यह चाहें कि सब हमसे अच्छा बर्ताव करें और हम दूसरोंसे बुरा बर्ताव करें, यह अधर्म है। शास्त्र कहते हैं—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

'धर्मका सार सुनो और सुनकर उसे धारण करो। जो बात अपनेको प्रतिकूल लगती है, वह दूसरोंके साथ कभी न करो।'

६—अच्छे बर्तावसे प्रेम बढ़ता है, बुरे बर्तावसे वैर।

७—बुरा बर्ताव कामना, अभिमान, द्वेष और प्रतिकूल भावना आदिके कारण होता है; अतएव इनका सावधानीके साथ त्याग करना चाहिये।

८—भगवान्‌से कातर प्रार्थना करनी चाहिये कि हे भगवन्! किसी भी हेतुसे मैं किसी भी प्राणीके साथ कभी बुरा बर्ताव न करूँ।

९—श्रीचैतन्य महाप्रभुकी यह वाणी याद रखनी चाहिये—

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥

'अपनेको एक तिनकेसे भी बहुत छोटा समझनेवाले, वृक्षसे भी अधिक सहनशील, स्वयं अमानी और दूसरोंको मान देनेवाले पुरुषोंके द्वारा हरि सदा कीर्तनीय हैं।' इस प्रकारका भाव हो जानेपर सहज ही किसीसे बुरा बर्ताव नहीं होगा।

और भी बहुत-सी बातें हैं। इनमेंसे किसी भी एक या एकाधिक बातपर पूरा खयाल रखनेसे बुरा बर्ताव दूर हो सकता है। संसारमें हम सभी मुसाफिर हैं। आपसमें हिल-मिलकर, एक दूसरेके दोषोंको सहकर परस्पर सबकी सेवा करते हुए रहेंगे तो आरामसे मुसाफिरीके दिन कटेंगे और नये मुकदमे नहीं लगेंगे। और यदि लड़ते-झगड़ते रहेंगे तो मुसाफिरी भी भयदायक और अशान्तिरूप हो जायगी तथा बीचमें ही नये-नये फौजदारीके मुकदमोंमें फँसकर हैरान और परेशान भी होंगे।'

तुलसी या संसारमें भाँति भाँतिके लोग।
सबसे हिल मिल चालिये नदी नाव संजोग॥
तेरे भावैं जो करौ भलो बुरो संसार।
नारायण तू बैठकर अपनो भवन बुहार॥
बुरा जो देखन मैं गया, बुरा न पाया कोय।
जो तन देखा आपना मुझ-सा बुरा न कोय॥

श्रीभगवान्‌का स्मरण और जप निरन्तर करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

(२)

कुछ आवश्यक बातें

(१) भगवान्‌से प्रार्थना तो इसी बातकी करनी चाहिये कि 'वे जो ठीक समझें, वही होने दें। उसके विरुद्ध कोई चाह हो ही नहीं, हो तो वे उसे कभी पूरा न करें।'

(२) ब्रह्मचर्यका खयाल रखनेकी बात मैंने आपके शरीरके खयालसे लिखी थी। यों तो मनुस्मृतिके अनुसार—रजोधर्मके पहले चार दिन बाद देकर उसके बादकी बारह रात्रियोंमें अष्टमी, एकादशी, चतुर्दशी, अमावास्या, पूर्णिमा, पर्वदिन, श्राद्धादिके दिन टालकर शेष रात्रियोंमें केवल दो बार स्त्री-सहवास करना भी ब्रह्मचर्य ही है। ब्रह्मचर्यरक्षाके उपाय गीताप्रेससे प्रकाशित 'ब्रह्मचर्य' नामक पुस्तकमें देखिये।

(३) रजस्वला स्त्रियोंको सूतके या काठके मनियोंकी माला फेरनी चाहिये। रामायण और गीताका पाठ अलगसे करना चाहिये। पुस्तकोंका स्पर्श न किया जाय तो अच्छा है।

(४) बलिवैश्वदेव न करनेमें कर्मलोपका दोष है, करनेमें पवित्रता आती है। हो सके तो रोज करना चाहिये।

(५) सारे संसारमें दुःख बढ़नेके कारण हैं—जीवोंके प्रारब्ध। आजकल जो—

(क) दम्भ, दर्प, काम, क्रोध, ईर्ष्या, कामना आदि फैले हैं,

(ख) भगवान्‌पर आस्था घट रही है,

(ग) भोग-सुखकी स्पृहा बढ़ रही है और

(घ) सभी बातोंमें जीवनका व्यवहार नकली—दिखावटी हो रहा है, श्रद्धा नष्ट हो रही है, सत्य जा रहा है, जीवन कृत्रिमतासे भर रहा है।

—यह भी दुःखका कारण है। इससे विपरीत होनेसे ही सुख हो सकता है।

(६) गृहस्थके लिये आवश्यक बात है भगवान्‌को याद रखते हुए भगवत्पूजाके भावसे कर्तव्यका पालन करना। गृहस्थ, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ, संन्यासीके पालनीय धर्म मनुस्मृतिमें देखिये। सबसे अधिक परमावश्यक वस्तु है भगवान्‌की शरणागति और भगवदर्पणका सच्चा भाव।

(७) सबसे अधिक हानि भगवान्‌में अविश्वास, नकली जीवन, पापोंके आश्रय और दैवी सम्पत्तिके त्यागसे हो रही है।

(८) स्त्रियों और बच्चोंमें बुरी आदत हो तो उन्हें प्रेमसे समझाकर आवश्यकतानुसार विना क्रोधके कभी डाँटकर और स्वयं उस बुरी आदतके विपरीत उत्तम आचरणका आदर्श उनके सामने रखकर उन्हें सुधारना चाहिये।*

* 'गीतातत्त्वांक' छठे अध्यायकी व्याख्याको ध्यानसे पढ़िये। उससे आपको अपने प्रश्नका काफी उत्तर मिल जायगा।

भगवान्‌की दयासे ही सब मोहका नाश हो सकता है। उनकी दयापर विश्वास कीजिये, यह आपके किये ही होगा। मुझमें ऐसी कोई ताकत नहीं है। यदि आप मुझमें श्रद्धा रखते हैं तो इस बातको सत्य मानिये। नहीं तो झूठा आदमी आपका क्या उपकार कर सकता है?

शरणके योग्य तो एक श्रीभगवान् ही हैं, वही बल देंगे। उनसे प्रार्थना कीजिये।

(९) ध्यान नहीं होता तो श्रीभगवन्नामका जप ही करें। श्वासके साथ मन्त्रजपकी जिस प्रकारसे चेष्टा करते हैं, वह ठीक ही है। भगवान्‌की कृपा-शक्तिपर विश्वास और सावधानी रखनेसे ठीक हो सकता है।

(३)

शोकनाशके उपाय

प्रिय बहिन,

सस्नेह हरिस्मरण। भाई श्री········जी परसों यहाँ आये थे, उनसे आपके बहनोई साहबके देहान्तका समाचार मालूम हुआ। उन्होंने यह भी बतलाया कि इस दुर्घटनासे आपको बहुत ही दुःख हो रहा है। वास्तवमें दुःख होना स्वाभाविक ही है। फिर आपका हृदय तो बहुत ही कोमल, सरल और सहानुभूतिपूर्ण है; इसलिये आपको दुःख हुए बिना रह नहीं सकता। ऐसी घटनासे दूसरोंको भी दुःख होता है, फिर आप तो सगी बहिन हैं। इतना होनेपर भी आप समझदार हैं, आपने सत्सङ्ग किया है और श्रीभगवान्‌का भजन करती हैं, इसलिये आपके द्वारा तो घरवालोंको सान्त्वना और धीरज मिलनी चाहिये।

आप जानती हैं, यहाँका सब कुछ विनाशी है। कोई चीज स्थिर नहीं है। जैसे एक सरायमें बहुत-से मुसाफिर आकर टिकते हैं और अपनी-अपनी गाड़ीका

समय हो जानेपर चले जाते हैं, वैसे ही यह संसार मुसाफिरखाना है। अपने-अपने कर्मभोगोंके लिये जीव यहाँ आते हैं और भोग पूरा होनेपर चले जाते हैं। यहाँका कोई भी सम्बन्ध नित्य नहीं है। इसलिये आपको स्वयं शोक न करके घरवालोंको भी समझाना चाहिये। दूसरी बात यह है कि मृत्यु ऐसी चीज है, जिसपर किसीका वश नहीं है। विषाद या शोक करनेसे जरा भी लाभ नहीं होता। जिस जीवका देहसे सम्बन्ध छूट गया, वह फिर इस देहसे कभी मिल नहीं सकता। शोकसे रोगादि बढ़ते हैं, चित्तमें तामसिक भाव आते हैं और मरकर गये हुए जीवको भी—यदि वह पुनर्जन्मको प्राप्त नहीं हो गया है तो—हमारा शोक देखकर बड़ी तकलीफ होती है। उनसे हमारा सच्चा स्नेह है तो हमें उनके लिये नाम-जप, गीतापाठ, दान आदि करके उनके अर्पण करने चाहिये, जिससे उनको शान्ति मिले। व्यावहारिक सम्बन्धको लेकर यही कर्तव्य होता है।

परमार्थ-दृष्टिसे तो आत्मा अमर है। शरीरका वियोग होता ही है। हमलोगोंको जो शोक होता है, सो ममत्वके कारण होता है। विचार करनेपर पता लगता है, यह ममत्व मोहसे ही उत्पन्न है। असलमें इसमें सार नहीं है।

इससे पिछले जन्ममें भी हम कहीं थे। वहाँ भी हमारा घर-बार था, बाल-बच्चे थे, सम्बन्धी थे। परन्तु आज उनकी हमें न तो याद है, न उनके लिये कभी मनमें यह चिन्ता ही होती है कि वे किस दशामें हैं। यह भी मनमें नहीं आती कि उनका कहीं पता तो लगावें, वे कौन थे। हम उन्हें बिलकुल भूल गये। हमारा नाता उनसे सर्वथा टूट गया। यही दशा मरनेपर यहाँ होगी। यहाँका सम्बन्ध बस, शरीरको लेकर ही है। इसलिये शोक नहीं करना चाहिये।

ऐसी घटनाओंको देखकर तो संसारकी क्षणभङ्गुरता-का खयाल करके वैराग्य होना चाहिये। यही दशा सबकी होगी। यहाँ एक भगवान्‌को छोड़कर सभी चीजें अनित्य हैं। जो वस्तु अनित्य होती है, वह दुःख देने-वाली होती है। आज एक चीजको हम अपनी समझते हैं, उसके बिना हमारा काम नहीं चलता। परन्तु एक दिन उससे हमारा सम्बन्ध छूटेगा ही। या तो हम पहले उसको छोड़कर चले जायँगे, या वही हमसे बिछुड़ जायगी। जिस चीजके पाने और रहनेमें सुख होता है, उसके जाने और बिछुड़नेमें दुःख होता ही है। और यहाँ कोई भी चीज ऐसी है नहीं, जो सदा रहे, साथ आवे और साथ जाय। इसलिये भी शोक नहीं करना चाहिये।

यहाँ जो कुछ भी है, भगवान्‌की लीला है। लीलामें अच्छी, बुरी सभी बातें होती हैं। भगवान् मङ्गलमय हैं, उनकी लीला भी मङ्गलमयी है। पता नहीं जिनके बिछुड़ जानेसे आज हमें बड़ा भारी सन्ताप हो रहा है; वे भगवान्‌के विधानसे किसी अच्छी गतिको प्राप्त हुए हों, और वहाँ वे बहुत ही सुखसे हों। मनुष्यको भगवान्‌के विधानमें सन्तोष करना चाहिये।

आप समझदार हैं, भजन करती हैं। ऐसे ही समयमें धीरज रखना आवश्यक है। भजनका फल होता है शोकका नाश। आपको स्वयं तो शोक करना ही नहीं चाहिये। सच्ची सहानुभूति, प्रेम तथा विवेकके साथ बहिनजीको भी धीरज बँधानी चाहिये। और चेष्टा करके उन्हें भगवान्‌की ओर लगाना चाहिये, जिसमें उनका दुःख कम हो और उन्हें शान्ति मिले। दुःख-की स्थितिमें विचार, विवेक और धीरजसे काम लेना चाहिये और श्रीभगवान्‌के विधानपर सन्तोष करना चाहिये। जो चीज गयी, वह तो मिलेगी नहीं। जो है, उसे सँभालना है, उसकी सेवा करनी है। यदि

आपलोग दुःख ही करती रहेंगी तो उनकी सँभाल और सेवा कैसे होगी ! इसलिये विचारपूर्वक धीरज रखनी चाहिये । तथा बहिनजीको श्रीभगवान्‌के भजनमें लगाना चाहिये । श्रीभगवान् ही सबके एकमात्र स्वामी हैं । मीरादेवीने उन्हींको पतिरूपमें वरण किया था । जिनके पति नहीं हैं, उन देवियोंके तो भगवान् ही पति हैं, जो पतिके भी पति हैं, सारे ब्रह्माण्डके पति हैं । उन्हींको अपना चित्त अर्पण करके दिन-रात उन्हींके भजनमें लगाने चाहिये । तभी शान्ति मिल सकेगी ।

आप बहुत अच्छे स्वभावकी तथा समझदार हैं, इसीसे आपको इतना लिखा है । भगवान्‌को न भूलियेगा, यही अनुरोध है ।

मैं-ही-मैं

सभी के सम्मुख रह कर मैं
लगा परदा भी लेता हूँ ।
छिपा भी रहता हूँ हरदम,
दिखायी भी मैं देता हूँ ॥ १ ॥
निराला मेरा परदा है,
सदा मैं उसमें रहता हूँ ।
मौनमें छिपता हूँ, फिर भी
सामने बातें करता हूँ ॥ २ ॥
मुझे जो ठीक देख लेते,
और को वे न दिखा सकते ।
जिन्हें मैं नहीं दीखता, वे
झूठ ही मुझे बता सकते ॥ ३ ॥
सभी के बीच बैठता हूँ;
यहाँ पर हूँ, वहाँ पर हूँ ।
किन्तु यह नहीं जनाता मैं
कौन हूँ और कहाँपर हूँ ॥ ४ ॥
दिखायी जो कुछ देता है,
वही हूँ मैं, नहीं भी हूँ ।
'नहीं' के परदेमें 'हाँ' है;
कहीं भी नहीं, कहीं भी हूँ ॥ ५ ॥
जानते सब हैं मुझको, पर
नहीं मैं पहचाना जाता ।
समझने और जाननेमें
एक, दो का अन्तर पाता ॥ ६ ॥

जहाँ हूँ मैं, वहाँ ही हूँ;
रहूँगा वैसा, जैसा हूँ ।
बताकर ऐसा-वैसा ही
न कहता कोई कैसा हूँ ॥ ७ ॥
धर्म-मत ही चकते-फिरते,
कभी भी मैं न विचलता हूँ ।
बालकी खाल बराबर भी
नहीं कुछ काल बदलता हूँ ॥ ८ ॥
लोकमें मैं अनेक होकर
एक ही सदा बना रहता ।
सूर्य-सा स्थिर हो सागर में
दिखायी देता हूँ बहता ॥ ९ ॥
उसे मैं मिल जाता हूँ, जो
खोजता अपनेमें मुझको ।
नहीं पा सकता कोई भी
जगतके सपनेमें मुझको ॥ १० ॥
लड़ाई लड़ते हैं लाखों,
हज़ारों चुप हो जाते हैं ।
सैकड़ों मिलने आते हैं,
एक-दो मिलने पाते हैं ॥ ११ ॥
छोड़कर तू-तू को जानो
वहाँ सब क्या है—मैं ही मैं ।
स्वयंको मानो मैं-ही-मैं,
यहाँ सब क्या है ? मैं-ही-मैं ॥ १२ ॥

—पु० श्रीप्रतापनारायण कविरत्न

एक अनुभूति

(लेखक—एक साधक)

उनकी दृष्टि अर्द्धोन्मीलित थी, मुद्रा गम्भीर थी, शरीरमें एक अपूर्व कान्ति थी, चेहरेपर एक दिव्य ज्योति झलक रही थी। उनकी ताम्रवर्ण जटाएँ बड़ी सुन्दर थीं। वे मृगचर्मपर पद्मासनसे विराजमान थे, एक मृगचर्म पहने हुए थे और बाह्य चेष्टासे शून्य एवं ध्यानमग्न थे। उनमें एक अपूर्व आकर्षण था। उन्हें देखते ही मैं मुग्ध-सा और स्तब्ध-सा रह गया। उनके दर्शनसे मेरा मन एक अपूर्व आनन्दसे नृत्य करने लगा। मानो कंगालको निधि मिल गयी। मैंने सोचा यह कैसा आश्चर्य है! इस निर्जन स्थानमें, इस हिमालयके उच्चतम शिखरपर—जहाँ मनुष्य क्या, पशु-पक्षीतक दिखायी नहीं दे रहे हैं—ऐसे हिमाच्छादित मानसरोवरके किनारे ये दिव्य पुरुष कैसे बैठे हैं। हो-न-हो ये कोई असाधारण व्यक्ति हैं। ये इस बर्फमें निर्भय नग्न बैठे हैं। मेरे पास कम्बल है, कुरते हैं; तथापि मैं सर्दीसे काँप रहा हूँ। इन्हें अपने शरीरकी कोई परवा ही नहीं, कैसा आश्चर्य है! देखो, इनका शरीर कैसा कोमल और सुन्दर है! इनके देहका शुभ्रवर्ण शंखको भी लजानेवाला है। यद्यपि मैंने इस जन्ममें इन्हें कभी देखा नहीं है, तथापि ये चिरपरिचित-से जान पड़ते हैं। अहो! ये वे ही हैं, अवश्य वे ही हैं। अब मैं इन्हें पहचान गया। कई जन्मोंसे मैं इन्हें ही ढूँढ़ रहा था। कई दिनोंसे मैं इन्हींकी प्रतीक्षामें था। अब मिल गये। अब मैं कृतार्थ हो गया। अब इनके चरण कभी नहीं छोड़ूँगा।

इतना सोचते ही मैंने उनकी स्तुति करते हुए कहा—'प्राणनाथ! आप मेरे गुरु हैं। आप ब्रह्मा हैं, आप विष्णु हैं, आप शिव हैं; आप अन्तर्यामी हैं, आप सर्वव्यापक परमात्मा हैं, आप सर्वशक्तिमान् हैं। मुझपर कृपा करनेके लिये आप इस वेषमें यहाँ पधारे हैं। कई जन्मोंके बाद आज आप मिले। कई जन्मोंसे मैं आपकी खोजमें था। आज मैं कृतार्थ हो गया। आज मैं आपका कृपापात्र बना। नाथ, मैं अज्ञानवश कई जन्मोंसे आपसे दूर हो गया था। किसी अज्ञात घटनासे मैं इस संसारमें फँस गया था। मायाने मुझे अंधा बना दिया। मैं आपको सर्वथा भूल गया। नाथ, आपसे विमुख होकर मैं जहाँ-जहाँ गया, वहाँ-वहाँ दुःख ही सहता रहा। मुझे निरन्तर क्लेश-ही-क्लेश भोगने पड़े। इस असह्य वेदनासे मेरा हृदय शतधा विदीर्ण हो गया। अपना साहस जाता रहा। मैं नितान्त दुखी हूँ। इस दुःखके मारे मुझे कुछ होश नहीं है। कर्तव्याकर्तव्यका ज्ञान नहीं है। सर्वत्र अन्धकार-ही-अन्धकार दीख रहा है। इस दुस्तर और अगाध संसार-सागरमें मैं गलेतक डूब चुका हूँ। दयामय! अब दया कीजिये, जल्दी बचाइये; मुझे और कोई सहारा नहीं है। यदि अब भी आप उपेक्षा ही करेंगे तो मैं सदाके लिये नष्ट हो जाऊँगा। अपना सामर्थ्य सब समाप्त हो चुका। अब आपकी कृपा विना इस अपार संसार-सागरसे पार जानेका कोई उपाय मेरे पास नहीं है। नाथ! अब बचाइये, आगे ऐसी दुर्दशा न कीजिये। किसी तरह मैं आपके चरणोंतक आ गया हूँ। अब मैं आपकी कृपासे वञ्चित न रहूँ। मैं सर्वथा निराश्रय हूँ। मैं महापातकी हूँ। आप इस अपनी मायाको समेटिये। इस मोहजालका विस्तार न कीजिये। आप निर्बलके बल हैं, पतितोद्धारक हैं; मैं बलहीन हूँ, पतित हूँ। प्रभो! मेरे इस विदीर्ण हृदयमें शान्तिका प्रसार कीजिये। इस सन्तप्त अन्तःकरणको अपनी

कृपादृष्टिसे शीतल कीजिये। आपके चरणोंमें बार-बार नमस्कार है।'

इतना कहकर मैं फूट-फूटकर रोने लगा और उनके चरणोंमें गिर पड़ा।

वे यद्यपि समाधिस्थ थे, तथापि बाह्यज्ञानसे शून्य नहीं थे, क्योंकि वे सर्वज्ञ थे। उनकी समाधि भी एक लीलामात्र थी। उन्होंने मुझे उठाकर छातीसे लगाया और प्रेमभरी दृष्टिसे मेरी ओर देखकर वे अत्यन्त मधुर स्वरसे कहने लगे—'प्रिय वत्स! स्वस्थ हो, घबड़ाओ मत। तुम इतने दुखी क्यों होते हो? भैया, मैं तो तुम्हारी प्रतीक्षा ही कर रहा था। देखो, अब तुम्हें इस संसारमें किसी तरहका भी दुःख न होगा। मेरी शरणमें आनेवालेको दुःख कभी स्पर्श नहीं कर सकता। तुम इस जगत्‌का रहस्य नहीं जानते। इसका पता न होनेसे ही तुम अबतक दुखी थे। अब मैं तुम्हें एक रहस्यकी बात बतलाता हूँ। भैया, यह जगत् एक स्वप्नमात्र है। यह मेरी एक कल्पनामात्र है। मेरे सङ्कल्पके अतिरिक्त इस जगत्‌में कुछ भी सार नहीं है। अपने ही विनोदके लिये मैंने कुछ ऐसा बना रक्खा है। तुमने इस संसारको सत्य और सुखप्रद समझ रक्खा था। इसलिये तुम्हें दुःख था। प्रिय पुत्र, यह जगत् न कुछ अच्छा है न बुरा, किन्तु है सर्वथा त्याज्य। तुम निश्चय जानो यह संसार स्वप्नके पदार्थोंके समान है। सारे शास्त्रका रहस्य यही है कि जगत् वास्तवमें सत्य नहीं है। यह मेरी एक अभिनयशाला है। संसारमें हँसना और रोना स्वाभाविक है। कभी यहाँ रोना पड़ता है और कभी हँसना। यह इसका अनिवार्य नियम है। भैया, तुम्हें इसमें रोनेका पार्ट खेलना पड़े तो प्रेमसे रोओ और हँसनेका काम पड़े तो खूब हँसो। किन्तु सदा यह याद रक्खो कि यह एक खेलमात्र है, यह एक नाटकका अभिनयमात्र है। इसके अतिरिक्त इसमें और कोई तत्त्व नहीं है। इतना तुम यदि ठीक-ठीक धारण कर लोगे तो रोनेमें भी तुम्हें आनन्द ही आवेगा, दुःखमें भी तुम सुखी रह सकोगे। तुम्हारे हिस्सेमें जो भी पड़े, उसका ठीक-ठीक अभिनय करो; किन्तु याद रक्खो सारे खेल मेरी प्रसन्नताके लिये ही हैं। उसमें अपनी यथार्थ स्थितिको न भूल जाना। वास्तवमें न माया है, न खेल है, न खिलाड़ी हैं और न दुःख है, न सुख है। यह सब अन्तर्जगत्‌की एक प्रतिच्छायामात्र है। जो भी तुम्हारा क्षणिक अनुभव है, सब मृगतृष्णामात्र है। सब मिथ्या भ्रम है। तुम इस बाह्य जगत्‌को सर्वथा छोड़कर अन्तर्जगत्‌में प्रवेश करो। अन्तर्जगत्‌के शून्यतम प्रदेशमें जाओ। वहाँ तुम्हें मेरे समस्त रहस्योंका पता लगेगा। किन्तु अनन्य भक्तिसे, उत्कट प्रेमसे और निरन्तरकी प्रार्थनासे ही वहाँ प्रवेश हो सकता है। मेरा कृपापात्र ही वहाँ जा सकता है, इसलिये तुम सदा मनको अन्तर्मुखी बनाये रक्खो। मनकी स्वाभाविक गति बाहरकी ओर है; तुम प्रयत्नसे उसको अन्तर्मुखी करो। वहाँ पहुँचने-पर दुःख तुम्हें कभी स्पर्श ही नहीं करेगा। स्वयं मृत्यु भी तुमसे डरेगा, क्योंकि मृत्युका अधिकार केवल इस भौतिक शरीरतक ही है। तुम्हें वहाँ परमानन्दका अनुभव होगा। वही मेरा नित्य निवास-स्थान है। यही तुम्हारा लक्ष्य है। तुम सर्वथा अपनेको मेरे चरणोंमें समर्पित कर दो और आज-से निर्भय हो जाओ। मेरे प्रेममें तन्मय हो जाओ। तन्मयतासे ही अन्तर्मुखी अवस्था प्राप्त होती है। बहिर्मुखी वृत्ति मेरा विस्मरण करानेवाली तथा अन्तर्मुखी वृत्ति मेरा स्मरण करानेवाली है। मैं चुम्बक-की तरह आकर्षक हूँ। तुम मेरे पास चले आओ, फिर कभी तुम्हें मेरा वियोग न होगा; क्योंकि मैं सदा तुम्हारे अंदर ही विद्यमान हूँ। जब तुम मुझे निरन्तर अपने हृदयमें ही देखोगे तब अनुभव करोगे

कि वास्तवमें न जगत् था, न माया थी, न दुःख था और न सुख ही था, किन्तु था कुछ भ्रम ही। हाँ, इस अन्तर्जगत्‌में भी एक दुःख है। वह है परम वाञ्छनीय दुःख। अपरिमित महिमावाले मुझको परिमित मनसे पूरा-पूरा अनुभव न कर सकनेके कारण हृदयमें एक प्रकारकी वेदना होती है। सीमित अन्तःकरण मेरे निःसीम और अनन्त ऐश्वर्य एवं महिमाको पूर्णतया ग्रहण नहीं कर सकता। इस कारण मेरे भक्तोंको एक प्रकारकी उत्कण्ठा-सी रहती है। यह उत्कण्ठा भक्तोंको चरम लक्ष्यतक पहुँचा देती है। यह उत्कण्ठा भी मेरी कृपाका फल है। यह दुःख वैषयिक सुखोंसे लाखदर्जे अच्छा है। मेरे भक्त जबतक पूर्णतया मुझमें न समा जायँगे तबतक यह दर्द उन्हें रहेगा, जो कि अन्य समस्त क्लेशोंका नाशक है। भैया, अब तुम समझ गये हो न? अब नहीं घबड़ाओगे न? याद रक्खो, मैं सदा तुम्हारे साथ हूँ। चाहे जैसी भी विपत्तिमें तुम क्यों न हो, मैं सदा तुम्हारी रक्षा करूँगा।'

तब मैंने कहा—'गुरुदेव! आपके चरणोंमें बार-बार नमस्कार है। आज मैं कृतार्थ हो गया, आज मैं आपका कृपापात्र बना। अब मेरा सारा दुःख जाता रहा। अब मुझे परम शान्ति है। आज मेरी समस्त कामनाएँ आपकी कृपासे पूर्ण हो गयीं। बार-बार आपके चरणोंमें नमस्कार है।' इतना कहकर मैंने उनके चरण पकड़ लिये। थोड़ी ही देर बाद देखता क्या हूँ कि वे अन्तर्धान हो गये। मैं उनके विरहमें फूट-फूटकर रोने लगा। इतनेमें मेरे लिये दूध लानेवालेने मेरा दरवाजा खटकाया, तब मुझे बाह्य-ज्ञान हुआ। मैंने नेत्र खोले तो अपनेको अपनी कुटिया-में ही बैठे हुए पाया। वहाँपर न मानसरोवर था और न वहाँका कोई दूसरा दृश्य ही था। मुझे मालूम हुआ यह सब भगवान्‌की एक लीलामात्र थी, एक जाग्रत्-स्वप्नका-सा दृश्य था। इसका रहस्य वे ही जानें। शायद यह भी उनका अनुग्रह ही हो।

बोलो हर हर महादेव!

श्याम-सुषमा

निरखि किन नयना होहु निहाल।
अति अद्भुत आनँद अम्बुद-सी सोहत सो सुखमा सुविसाल ॥१॥
नीरद-तनु दामिनि-सी दमकत छिन-छिन छविकन झरत रसाल।
अंग-अंग मनिगन-दुति राजत झिलमिलात जनु उडुगन जाल ॥२॥
नाचत मन-मयूर अति उनमद निरखि इन्द्रधनु-सी बनमाल।
पुनि पुनि अति आनँद उर उमँगत सुनि सुनि बंसीनाद रसाल ॥३॥
मुख मयंक पै चारु चन्द्रिका लसत कञ्ज जनु कनक-मराल।
मधुर-मधुर मुसकान मनोहर मारत मनहुँ मार सरजाल ॥४॥
स्याम-सनेह-सुधा नित बरसत परसत कँपत कुटिल कलिकाल।
सो सुठि सुधापान करि रुचि सों भजहु निसंक मन कत नँदलाल ॥५॥

—मुनिलाल

कसक

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

मैं उनके परिवारका ही एक व्यक्ति हो चुका था। यद्यपि वे लोग बंगाली थे और मैं युक्तप्रान्तका था, पर घटनाचक्रने हमें एकत्र कर दिया था। उनके परिवारमें थे एक वृद्धा माता, पिता, दो भाई और उनकी छोटी बहिन। मैंने आकर इस पाँच प्राणियोंके परिवारको छ:का बना दिया।

यद्यपि वे लोग बंगालके रहनेवाले थे, पर युक्तप्रान्तमें बहुत दिनोंतक रहने और हिन्दीसे प्रेम होनेके कारण वे हमारे ही जैसे थे। परिवारमें हिन्दीका ही व्यवहार भी होता था। बड़े भाई देवेन्द्र, जिन्हें मैं दादा कहता था, हिन्दीके अच्छे लेखक थे। पिताजी पहले सरकारी नौकर थे, पर अब उन्हें पेन्शन मिलती थी।

उस दिन कविसम्मेलन था। सहसा मैं वहाँ पहुँच गया। दूसरोंको कविता सुनाते देख मुझे भी इच्छा हुई। एक कागजपर लिखकर मैंने अपना नाम सभापति महोदयको दे दिया। मेरा नाम पुकारा गया और मैंने भी अपनी चार पंक्तियाँ पढ़कर सुनायीं 'पुनश्च' की धूम मच गयी। कई बार मुझे उस पद्यको दुहराना पड़ा।

सम्मेलन समाप्त होनेपर मैं भवनसे बाहर निकला। एक बंगाली सज्जनने मुझसे पूछा, 'आप कहाँ रहते हैं?' इन्होंने भी सम्मेलनमें बड़ी सुन्दर कविता सुनायी थी। मैंने साधारणत: कह दिया—'दुर्दैवका मारा भटकता हुआ यहाँ आ पहुँचा हूँ। मेरा न तो कहीं घर है, न और कोई ठिकाना है। यदि स्थान मिल गया तो किसी धर्मशालामें रात काट दूँगा, नहीं तो गंगाजीके किसी घाटपर जाकर पड़ रहूँगा। सहानुभूतिके स्वरमें उन्होंने कहा 'तब तो आप मेरे घरपर ही पधारें। पिताजी बहुत प्रसन्न होंगे।' अंधेको क्या चाहिये? दो आँखें। मैं उनके साथ हो लिया।

सचमुच मनुष्योंमें देवता भी होते हैं। वह परिवार देवताओंका ही था। मेरा परिचय पाते ही सबने मेरा आश्चर्यजनक सम्मान किया। मैं वहीं रहने लगा और उन्हींके परिवारका एक व्यक्ति बन गया। आप समझ गये होंगे कि मुझे ले आनेवाले वे बंगाली सज्जन दूसरे कोई नहीं, मेरे 'देवेन्द्र दादा' ही थे।

(२)

मैं परिवारका ही एक व्यक्ति था। मुझे भी उतनी ही सुविधाएँ प्राप्त थीं जितनी नरेन्द्रको या देवेन्द्र दादाको—कुछ अंशोंमें उनसे अधिक भी। पिताजी एवं माताजी मुझे बहुत मानती थीं। वे लोग सदा इस बातका ध्यान रखते थे कि मुझे ऐसा अनुभव न हो कि मैं दूसरेके घरमें हूँ। मैं जो कुछ भी चाहता मुझे तुरंत मिल जाता।

पता नहीं क्यों, मेरा हृदय सदा सङ्कुचित रहता था। अपनी आवश्यकताएँ भी मैं नहीं बता सकता था। कोई छोटी-सी वस्तु माँगनेका भी मुझे साहस नहीं होता था। हृदय उन लोगोंके उपकारसे दबा रहता था। जितना भी कर सकता था, सबके मना करनेपर भी गृहस्थीका काम करता था। सर्वदा अपनी आवश्यकताओंको कम करनेका ध्यान रखता था। 'मेरे लिये इनका अधिक व्यय नहीं होना चाहिये' इस बातको सदा याद रखता था। देनेपर भी मैं मूल्यवान् वस्तुओंका उपयोग नहीं करता था। मेरे इस भावने त्यागका आडम्बर खड़ा कर दिया था। वे समझते थे कि मैं तितिक्षु और त्यागी हूँ।

एक दिन एक बड़ी ही सुन्दर पुस्तकपर मेरी दृष्टि पड़ी। मुझे पुस्तकोंके पढ़ने और उन्हें सजाकर रखनेका व्यसन तो है ही। दूकानपर जाकर उसे निकलवाकर देखा। बँगलाके एक प्रसिद्ध महाकाव्यका अत्यन्त सुन्दर पद्यानुवाद था। मनने कहा कि 'इसे ले लो'; पर अपने पास चार पैसे भी नहीं थे। उसका मूल्य पाँच रुपये था।

कई बार सोचा कि माताजीसे रुपये माँग लूँ। निश्चय करनेपर भी साहस नहीं होता था। माताजीके पास कई बार जाकर लौट आया। मन पुस्तकका ही स्मरण करता था। अब किया क्या जाय? मैं अनमना-सा होकर वैसे ही सब कमरोंमें इधर-से-उधर घूम रहा था।

सन्ध्याका समय था। बत्तियाँ जल गयी थीं। पिताजी अपने कमरेमें नहीं थे। तालियोंका गुच्छा मेजपर पड़ा था। हृदयके भीतरसे कुसंस्कारोंने कहा 'ताली लेकर आलमारी खोल लो। पाँच रुपये निकाल लेनेमें कोई हानि नहीं। पिताजी गिनने थोड़े ही बैठेंगे।' मैंने हिचकिचाते हुए गुच्छा उठाया। बत्ती बुझा दी और आलमारी खोलने लगा।

हृदय धड़क रहा था, आलमारीने शब्द किया। देवेन्द्र दादाने पुकारा 'कौन?' मैं चुपचाप खड़ा हो गया। कहींसे टार्च चमकी और उन्होंने सम्भवतः मुझे देख लिया। टार्चका इसी समय बल्ब जल गया, वे मुझे पहचान न सके। 'चोर-चोर!' कहते हुए वे दरवाजेकी ओर दौड़े। मैं अँधेरेमें कमरेसे निकल जाना चाहता था, पर उनसे टकरा गया। उन्होंने मुझे पकड़कर कई घूँसे जमा दिये। शब्द सुनकर छोटा भाई, बहिन एवं माताजी भी आ गयी थीं। बिजली जलायी गयी।

'अरे कुमार!' मुझे वे लोग इसी नामसे पुकारते थे। 'भला, बोल तो देना था। ऐसी भी कहीं हँसी होती है! मैंने अनजानमें ही मार दिया।' मैं रो रहा था, मेरा मस्तक ऊपर उठता ही न था। देवेन्द्र दादा इस काण्डको केवल हँसी समझ रहे थे। मैंने रोते-रोते ही कहा 'दादा! हँसी नहीं, मैं सचमुच चोरी करने आया था। मैं चोर हूँ, मुझे....' हँसते-हँसते माताजीने बीचहीमें कहा—'अच्छा चोर ही सही। देव! आओ, हम सब चलें। कुमारको आज चोरी कर लेने दो। क्यों कुमार? क्या चुरायेगा? चोट लग गयी होगी। लड़केको तुमने व्यर्थ ही मार दिया।'

'माँ! मैं विश्वासघाती हूँ, चोर हूँ। मुझे पुलिसमें दे दो, मारो। मैं इस दयाका अधिकारी नहीं।' अपने पैरोंपर गिरते हुए माताने मुझे उठा लिया। उन लोगोंकी समझहीमें नहीं आ रहा था कि बात क्या है। माताजी मुझे लेकर अपने कमरेमें गयीं। मैंने बहुत चेष्टा की कि वे वास्तविक बात समझ जायँ, पर उनकी यही धारणा रही कि 'मैंने हँसीमें चोरीका नाट्य किया था। देवेन्द्रने जो मुझे मारा, उससे मुझे चोटके साथ दुःख भी पहुँचा है। मैं अपनेको पराये घरमें समझकर अब दुखसे अपनेको चोर बतला रहा हूँ।' माताजीने मेरी बातोंपर विश्वास नहीं ही किया।

मेरा हृदय पश्चात्तापसे जल रहा था। मेरे लिये अब वहाँ रहना असम्भव हो गया था। जब सब लोग सो गये तो मैं चुपके-से उठा। दबे पैर घरसे बाहर निकल पड़ा। सीधे स्टेशनपर आया। सौभाग्यसे उसी समय गाड़ी मिल गयी। मैं बिना टिकट हरिद्वार पहुँच गया।

(३)

भोजनके समय 'हरकी पैड़ी' पर बँटती हुई रोटियाँ लेकर खा लेना और रात्रिको कहीं वायुका बचाव देखकर पड़ रहना। दिनके शेष समयमें या तो किसी महात्माके पास बैठे रहना, या किसी एकान्त स्थानमें जी भरकर रोना। बस, यही मेरी दिनचर्या थी।

एकान्तमें पहुँचते ही हृदयमें सैकड़ों बिच्छुओंके डंक मारने-जैसी पीड़ा होती। 'जिन्होंने मुझ घर-द्वार-हीन कंगालको अपने घरमें रक्खा, अपने पुत्रकी तरह पाला, मैं उन्हींकी चोरी करनेपर उतारू हो गया! मुझ-सा पापी, विश्वासघाती, कृतघ्न, भला संसारमें और कौन होगा? मेरा इस पापसे कभी उद्धार नहीं हो सकता। पता नहीं कितने सहस्र जन्मतक मुझे इसका फल भोगना होगा।' मैं घंटों रोता और भगवान्‌से प्रार्थना करता रहता।

मैं दूसरोंसे हँसकर बात करता था, अपनेको सदा प्रसन्न प्रकट करनेकी कोशिश करता था। किन्तु यह प्रसन्नता बनावटी होती थी। हृदय सर्वदा जलता रहता था। नेत्रोंके आँसुओंको रोकनेके लिये सर्वदा प्रयत्न करना पड़ता था। मैं सर्वदा उस पीड़ासे व्याकुल रहता था।

खाते-पीते, चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते, सभी अवस्थाओंमें हृदयमें वह पीड़ा जाग्रत् रहती थी। प्राय: बीच-बीचमें एक लंबी साँस लेकर पुकारता था 'केशव!' मेरा जीवन मेरे लिये भार हो गया। मैं इस पीड़ासे किसी भी प्रकार छुटकारा न पा सका।

उस दिन विचारानन्दजी महाराजके पास कोई नहीं था। वे उस अपने उजाड़वनमें कौपीन लगाये अकेले ही बैठे थे। मैंने जाकर उन्हें प्रणाम किया। वे बोले—'तुम सर्वदा किसी चिन्तामें निमग्न रहते हो! मैंने कई बार इसका अनुभव किया, पर कुछ निश्चय नहीं कर पाया। बात क्या है?' मेरा प्रवाह फूट पड़ा। उनके चरणोंपर मस्तक रखकर फूट-फूटकर रोते हुए मैंने अपनी सारी कहानी उन्हें सुना दी।

उन्होंने मेरी बातोंको बड़े ध्यानसे सुना। समझाते हुए कहने लगे 'यह तो घबड़ानेकी बात नहीं है। संसार ही पाप और विश्वासघात है। तुमने एक नन्हे-से पापके ऊपर तो इतना ध्यान दिया, पर इस महान् पापपर ध्यान नहीं देते। तुम्हारे हृदयमें एक गहरी कसक है, यह बड़ा शुभ लक्षण है। रोओ, पश्चात्ताप करो, पर उस बीती बातके लिये नहीं। जन्म-जन्मान्तरमें जाने ऐसे कितने पाप हमसे हुए होंगे। भगवान्‌के लिये रोओ, साधनहीन जीवनके लिये पश्चात्ताप करो। इस महान् विश्वासघातसे बचनेका प्रयत्न करो। यह हृदयकी पीड़ा प्रभुकी देन है, उसका सदुपयोग करो।'

(४)

मेरा जीवन वहींसे पलटा। यद्यपि मेरा रोना बंद नहीं हुआ, मेरे आँसू सूखे नहीं; पर फिर कभी मैं उस बीती हुई बातके लिये नहीं रोया। मेरा हृदय वैसा ही व्याकुल है, पर अब किसी दूसरी पीड़ासे। वह पाप था, घोर पाप था; किन्तु अब मुझे उसकी चिन्ता नहीं रही। मैं उसके परिणामसे तनिक भी नहीं डरता। मैं उसे भोगनेके लिये सहर्ष प्रस्तुत हूँ।

मैं रोता हूँ, पर मुझे अब रोनेमें भी सुख मिलता है। हृदयकी पीड़ामें भी मुझे एक अपूर्व आनन्दका अनुभव होता है। मेरे लिये संसारमें अब दु:ख नामकी कोई वस्तु रही ही नहीं। सब कहीं सुख-ही-सुख, आनन्द-ही-आनन्द है। दु:खमें भी सुख है, पीड़ामें भी आनन्द है, रोनेमें भी हास्य है।

लोग मुझसे पूछते हैं कि संसारके दु:खोंसे छुटकारा कैसे मिले! शाश्वत आनन्दकी प्राप्ति कैसे हो! ऐसे सब प्रश्नोंके लिये मेरे पास एक ही उत्तर है। शाश्वत आनन्दकी प्राप्ति और दु:खोंसे छुटकारेका मार्ग है तो बड़ा सीधा, पर उसके लिये हृदयमें एक कसक चाहिये। पहले एक वेदना चाहिये।

पहले हृदयमें एक कसक—एक गम्भीर वेदना उत्पन्न करो।

सहजयोग

(लेखक—पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम्० ए०, बी० टी०)

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥*
(गीता ५।७)

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥†
(गीता ६।२९)

योगका अर्थ चित्तवृत्तियोंका निरोध है। 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'। इसका लक्ष्य एवं फल स्वरूपकी प्राप्ति है। चित्तकी वृत्तियोंके निरोधके लिये अनेक उपाय बताये गये हैं। इन उपायोंके अनुसार साधक मनको वशीभूत करनेका प्रयत्न करते हैं। मन बड़ा चञ्चल है। जिस व्यक्तिने मनको रोकनेका प्रयत्न ही नहीं किया, वह इसकी चञ्चलतासे परिचित नहीं हो पाता। पर जो मनको रोकनेका प्रयत्न करता है, उसे अवश्य इसका रुकना अशक्य जान पड़ता है। अर्जुन भी एक साधक था, उसने मनको रोकनेका प्रयत्न किया था। इसीसे उसने अपने अनुभवसे कहा—

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्॥
चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥
(गीता ६।३३-३४)

'हे मधुसूदन! आपने समत्वभावसे जो यह योग कहा है, मनके चञ्चल होनेसे मुझे इसकी नित्य स्थिति दिखायी नहीं देती। क्योंकि हे कृष्ण! यह मन बड़ा चञ्चल, प्रमथन-स्वभाववाला, बड़ा दृढ़ और बलवान् है। इसलिये उसको वशमें करना मैं वायुको रोकनेकी भाँति अत्यन्त दुष्कर मानता हूँ।'

साधारण मनुष्य, मनके साथ सर्वदा एकीभूत रहनेके कारण, उसकी चञ्चलताको नहीं जान पाता। जिस प्रकार हम अपने-आपको शरीरसे पृथक् नहीं जान पाते, क्योंकि संसारके व्यवहारोंमें हमारे आत्माका शरीरके साथ सर्वदा एकीभाव रहता है; इसी प्रकार हमें आत्मासे मनके पार्थक्यका ज्ञान भी नहीं होता। अपनेको शरीरसे पृथक् जानना और शरीरके दोष-गुणोंपर विचार करना अध्यात्म-ज्ञानकी ओर बढ़नेका लक्षण है। ऐसी प्रवृत्ति भी संसारमें अनेक प्रकारके आधिभौतिक कष्टोंको सहनेके पश्चात् होती है। जबतक अपने अविचारके कारण हम रोगी नहीं हो जाते, 'शरीर एक व्याधि है' यह विचार हमारे मनमें नहीं आता। प्राकृतिक अवस्थामें शरीर और आत्माको भिन्न जाननेका कोई कारण न रहनेसे हम अपने-आपको सदा शरीरसे एकीभूत किये रहते हैं।

इसी प्रकार हमारा आत्मा भी सदा अपनेको मनसे एकीभूत किये रहता है। जब आध्यात्मिक कष्ट जीवनमें उपस्थित होता है, तब अनेक प्रकारकी चिन्ताएँ हमें सताने लगती हैं। तथा जब बुद्धिको बार-बार भले-बुरेका निर्णय करना पड़ता है; तब सहज ही यह भावना उत्पन्न होती है कि मैं अपने अंदर चलनेवाली अनेक भावनाओंसे कोई पृथक् वस्तु हूँ। जबतक मनुष्यके सामने शारीरिक व्याधियाँ नहीं आतीं, वह अपने शरीरको सँभालनेकी चेष्टा नहीं करता। इसी प्रकार जबतक मनुष्यको कोई मानसिक व्याधि नहीं सताती, तबतक वह अपनेको मनसे पृथक् जानने-की और मनको सँभालनेकी भी चेष्टा नहीं करता।

---

* जिसका मन अपने वशमें है, जो जितेन्द्रिय एवं विशुद्ध अन्तःकरणवाला है और सम्पूर्ण प्राणियोंका आत्मरूप परमात्मा ही जिसका आत्मा है, ऐसा कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी कर्ममें लिप्त नहीं होता।

† सर्वव्यापी अनन्त चेतनमें एकीभावसे स्थितिरूप योगसे युक्त आत्मावाला तथा सबमें समभावसे देखनेवाला योगी आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें देखता है।

यह भारतवर्षका ही गौरव है कि यहाँ अध्यात्म-विचार इतना परिपक्व हुआ है। यहाँके वातावरणमें इस प्रकारसे अध्यात्म-विचार फैले हुए हैं कि थोड़ी-सी व्याधि उपस्थित होनेपर ही हम अपने स्वरूपकी ओर खिंच जाते हैं। यह बात हमें थोड़े-से प्रयत्नसे ही ज्ञात हो सकती है कि सब प्रकारके कष्टोंका कारण अविचार अथवा अपने स्वरूपका अज्ञान ही है। संसारके क्लेश एक प्रकारसे हमारा उपकार करनेके लिये, हमें स्वरूपकी ओर खींचनेके लिये ही उपस्थित होते हैं। शारीरिक और मानसिक व्याधियोंका आगमन स्वभावतः इसीलिये होता है कि हम अपने स्वरूपको जानें। वातावरणका प्रभाव मनुष्यको अध्यात्मज्ञानकी ओर ले जानेमें प्रमुख कारण होता है। वातावरणके कारण ही मनुष्य सदाचारी बनता है। इससे वह सहजहीमें मनका संयम करनेकी शक्ति प्राप्त कर लेता है। इससे उसकी बुद्धि सात्त्विक रहती है और उसमें धर्म-अधर्म, किंवा सत्य-असत्यको जाननेकी इच्छा उत्पन्न हो जाती है। ऐसा सात्त्विक जीवन और शुद्ध विचार होनेपर ही मनुष्य स्वरूपको जाननेकी चेष्टा करता है और यह स्वरूप-विषयिणी जिज्ञासा ही सच्चा योगाभ्यास है।

अब प्रश्न होता है कि हम मनको रोकें कैसे ? एक तरहसे देखा जाय तो मनको रोकनेका प्रयत्न ही इसका साधन है। इस प्रयत्नका उद्देश्य यही होना चाहिये कि प्रयत्न जारी रहे। लक्ष्यकी प्राप्तिसे प्रयत्नकी क्रिया बंद हो जाती है, अतएव फिर हमें संसारमें कुछ करनेके लिये रह ही नहीं जाता। संसारी जीवनकी समाप्ति और मनके रोकनेकी क्रिया एक साथ ही समाप्त होंगी। जब 'मैं' नहीं तो मन नहीं, फिर कौन किसको रोकेगा।

आधुनिक मनोविज्ञानकी दृष्टिसे मनका रुकना असम्भव है। मनका स्वरूप ही प्रतिक्षण नवीन अनुभव करना है। यदि हम किसी एक ही विषयको दो क्षणतक देखते हैं तो भी हमारी दृष्टिमें जो विषय एक जान पड़ता है, वह भी वास्तवमें प्रतिक्षण नवीन ही दिखायी देता है। जो चीज पहले क्षणमें देखी जाती है, वह दूसरे क्षणमें नहीं रहती। जिसको हम एक विषय कहते हैं, उसकी एकता हमारी बुद्धिकी ही कल्पना है। विषय गुणोंका संग्रहमात्र है। ये गुण हमारे ज्ञानपर अवलम्बित हैं और हमारा गुण-विषयक ज्ञान प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है। अतएव वास्तवमें वह विषय भी बदलता रहता है। इस प्रकार हमारा दूसरे क्षणमें किसी एक ही विषयको देखना भ्रममात्र ही है।

विलियम जेम्सके अनुसार हमारा मन वेगसे बहनेवाली धाराके समान है। ज्ञानकी धाराका प्रवाह ही मन है। जिस तरह बहती हुई धारामें कोई वस्तु स्थिर नहीं रहती, उसी प्रकार कोई भी मानसिक पदार्थ या ज्ञान स्थिर नहीं रहता। बर्गसोंके अनुसार जीवनका स्वरूप परिवर्तन ही है; कोई भी भावना स्थिर नहीं है। स्थिरताका ही दूसरा नाम मृत्यु है।

अतएव मनोविज्ञानकी दृष्टिसे किसी विषयपर मनका रुकना और मनको स्थिर समझना भ्रममात्र है। मनका निर्विषयताको प्राप्त होना तो उसका शून्यतामें लीन होना है। हागसन महाशय 'फिलासफी आफ रिफ्लेक्शन'में कहते हैं—'भेदज्ञानके मनसे लोप होनेका अर्थ अचेतन होना है।' ऐसी अवस्था निद्रा, मूर्च्छा और मृत्युमें ही आ सकती है।

परन्तु आधुनिक मनोविज्ञानमें भी मनका संयम करनेपर जोर दिया गया है। वास्तवमें, आदतोंका बनाना ही मनका नियन्त्रण है। चरित्रका विकास भी संयत मनपर ही अवलम्बित है। पर इस संयमका अर्थ यह नहीं है कि मनको एक विषयपर ही लगाया जाय अथवा उसे निर्विषय करनेका प्रयत्न किया जाय। उसका अर्थ यही है कि मनके विषयोंको सदा बदलते रहना

चाहिये। मनको अयुक्त विषयसे उठाकर युक्त विषयपर ले जाना चाहिये। मनका विषय बदलता रहेगा, इसे तो कोई रोक ही नहीं सकता; हम केवल इतना अवश्य कर सकते हैं कि उसे एक प्रकारके विषयकी ओर न ले जाकर दूसरे प्रकारके विषयकी ओर ले जायँ। मॉर्गन महाशयने मनको वशमें करनेका एक नियम यह बताया है कि ध्यानका विषय न बदलने देनेका प्रयत्न छोड़कर अपने इच्छानुसार उसे बदल सकनेकी शक्ति प्राप्त करो। (Control the shifts of attention rather than controlling it from shifting.) ध्यानको अधिक कालतक एक ही विषयपर लगाये रहना मनोविज्ञानकी दृष्टिसे असम्भव है।

फिर मनका निर्विषयताको प्राप्त होना तो और भी असम्भव है। मेरे कई मित्रोंने, जिन्होंने इस प्रकारका अभ्यास किया है, कहा है कि जब कभी हम मनको निर्विषय करनेकी चेष्टा करते हैं तो हमें नींद आ जाती है। उनका यह कथन सत्य है और ऐसा होना स्वाभाविक भी है। चित्त-विश्लेषणविज्ञानने मनके अन्तःपटलके ऊपर विशेष प्रकाश डाला है। हमारा मन दो भागोंमें विभक्त किया जा सकता है—एक व्यक्त और दूसरा अव्यक्त। हम प्रायः अपने व्यक्त मनको ही जानते हैं। अव्यक्त मन सदा अदृश्य रहनेके कारण हमें ज्ञात नहीं होता। अतएव हमारा मनको रोकनेका प्रयत्न प्रायः व्यक्त मनकी क्रियाओंके रोकनेतक ही सीमित रहता है। पर जब हमारा व्यक्त मन निश्चेष्ट रहता है, उस समय भी अव्यक्त मन तो कुछ-न-कुछ करता ही रहता है। जब हम निद्राकी अवस्थामें होते हैं तो व्यक्त मन निश्चेष्ट हो जाता है, पर अव्यक्त मनका कार्य जारी रहता है। हमारे शरीरकी रचना और वृद्धिका कार्य भी हमारा अव्यक्त मन ही करता है। जब व्यक्त मन जाग्रत्-अवस्थामें रहता है, उस समय भी यह अव्यक्त मन कार्य करता रहता है। पर व्यक्त मन प्रायः उसकी क्रियाओंको नहीं जान पाता। अव्यक्त मनके कारण ही स्वप्नादिक होते हैं। अतएव जब हम मनको रुका हुआ मानते हैं उस समय क्या हम यह भी कह सकते हैं कि हमारा अव्यक्त मन भी निश्चेष्ट हो गया है?

यह एक ऐसा सन्देह है, जिसका उत्तर सरलतासे नहीं दिया जा सकता। हो सकता है हमारा मनको निश्चेष्ट करनेका प्रयत्न एक प्रकारका दुराग्रहमात्र हो। उपनिषदोंमें आत्माको मन और बुद्धिसे परे बताया है।

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः॥
(कठ० ३। १०, ११)

अतएव जबतक मनुष्य मनकी ही अनेक वृत्तियोंमें लोटता-पोटता रहता है, तबतक एक प्रकारसे उसे स्वरूपका ज्ञान होना सम्भव नहीं। पर जैसा उपर्युक्त कथनसे स्पष्ट है, मनसे परे जाना भी असम्भव-सा दिखायी पड़ता है।

यहाँ एक और शङ्का है। मन कोई काष्ठ-लोष्ठवत् जड़ पदार्थ तो है नहीं। जड़ पदार्थ ही एक जगह स्थिर रहता है, चेतन मन तो सदा चञ्चल ही रहेगा। मनका चञ्चलत्व चला जाना उसका जड़ताको प्राप्त होना है। इससे मनमें जो चेतनताका आभास है, वह भी जाता रहेगा। अतएव मनका एक जगह स्थिर होना उसके स्वरूपके प्रतिकूल है।

फिर क्या तुरीयावस्था या स्वरूपकी प्राप्ति कोरी कल्पनामात्र है? ऐसा नहीं कहा जा सकता। इस विषयमें लेखकको पक्षपातरहित 'अनुभवप्रकाश' नामक ग्रन्थमें प्रदर्शित बाबा काली कमलीवालेका सिद्धान्त' अत्यन्त निरापद जान पड़ता है। उक्त ग्रन्थमें बाबाजीने यह दर्शाया है कि मनसे लड़ाई करना आत्मज्ञानके लिये व्यर्थ है। योगका अर्थ स्वरूपकी प्राप्ति है,

अर्थात् योग आत्मज्ञानका ही दूसरा नाम है। विचारद्वारा मनसे पृथक् आत्मा जाना जा सकता है। आत्मा शरीरसे पृथक् पदार्थ है, वह शरीरके किसी कोनेमें नहीं रहता। वह शरीरके बाहर और भीतर सर्वत्र वर्तमान है, इस बातको निश्चय करना चाहिये। बाह्य संसार मनकी कल्पनामात्र है। संसार और शरीरस्थ आत्मा दोनों मनकी कल्पनाएँ हैं। जिस प्रकार स्वप्नावस्थामें द्रष्टा और दृश्य मनकी कल्पनासे उत्पन्न हो जाते हैं और उस अवस्थामें अपने बाहर दीखनेवाले जड पदार्थ भी वास्तवमें मनकी कल्पनामात्र होते हैं, उसी प्रकार यह जाग्रत् अवस्थाका बाह्य संसार तथा उसका ज्ञाता और भोक्ता भी मनकी कल्पना और संवित्का स्फुरणमात्र हैं। जो कुछ जडरूप ठोसता दिखायी दे रही है, वह वास्तवमें चैतन्य ही है। अपना आत्मा ही सर्वत्र व्याप्त है। आत्माके अनेक स्वरूप दिखायी देते हैं। इस बातको ही बार-बार अपने विचारसे निश्चय करना चाहिये। तथा इसी निश्चयके अनुसार मनुष्यको अपने प्रतिदिन या प्रतिक्षणके कार्य करने चाहिये। नैतिक जीवनका निष्कर्ष यही है कि मनुष्य सबमें स्थित अपने-आपको पहचाने। किसी दूसरेकी कल्पना करना अज्ञान है। राग-द्वेष दूसरेकी कल्पनाकी दृढ़तासे ही होते और बढ़ते हैं। ज्ञानके द्वारा मनुष्य अपने नैतिक जीवनको सुधारता है और नैतिक जीवन भी मनुष्यको आत्मज्ञानकी ओर ले जाता है। सब प्रकारकी नैतिक या धार्मिक भावनाएँ एक ही बातका निश्चय कराती हैं। वह निश्चय यह है कि आत्मा सर्वव्यापी है।*

स्वरूपका निश्चय विचारसे करना चाहिये। अब यदि मन कहीं जाय तो जाने दें। मनको रोकनेका यत्न करनेसे मनुष्यमें अपने प्रति एक साक्षिमात्र पैदा हो जाता है। यदि हमारे अंदर मनके अतिरिक्त कोई पदार्थ न होता तो उसको रोकनेका यत्न कौन करता ? जो मनोवैज्ञानिक मनका देरतक एक ही विषयपर स्थिर रहना सम्भव नहीं समझते, वे भी यह तो मानते ही हैं कि मनके ध्यानका विषय हम बदल सकते हैं। अर्थात् हम (आत्मा) मनसे कोई पृथक् वस्तु हैं और हममें ध्यानको वशमें लानेकी योग्यता है। मन तो एक बदलते हुए प्रवाहके समान है। पर यदि हम प्रवाहमात्र ही होते, अर्थात् मनके अतिरिक्त हमारा कोई स्थायी स्वरूप न होता, तो हमें मनका यह स्वरूप भी ज्ञात न होता कि वह एक धाराप्रवाहमात्र है। परिवर्तनके ज्ञानमें स्थिरताका ज्ञान निहित रहता है। परिवर्तनको परिवर्तनका ज्ञान होना सम्भव नहीं। विचारद्वारा हमें उस कूटस्थको जानना चाहिये जो कि मनको जानता है। मन अपने आपको कदापि नहीं जान सकता; क्योंकि वह वृत्तिस्वरूप है, जो सदा परिवर्तित होती रहती है।

यह कूटस्थ आत्मा सर्वव्यापी है। देश और काल (Space and Time) बुद्धिप्रकल्पित हैं। ये

---

* ईसाकी शिक्षा—दूसरोंके साथ वैसा ही व्यवहार करो जैसा कि तुम अपने प्रति दूसरेसे चाहते हो। (Do unto others as you wish to be done by.)

कांटकी शिक्षा—दूसरोंको अपने सुखका साधन न बनाओ, हर एकका जीवन अपने-आपके लिये है। (Regard humanity as an end and never as a means.)

वही नैतिक सिद्धान्त अपने लिये बनाओ जिसे तुम सबके लिये उचित समझते हो। (Act that principle which thou canst at the same time will to be an universal law.)

गीताकी शिक्षा—

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥

ये सब एक ही प्रकारकी शिक्षाएँ हैं और ये हमें एक ही लक्ष्यकी ओर ले जाती हैं।

संसारी पदार्थोंको जाननेके तरीके हैं। वास्तवमें जैसा कांट और शङ्करने कहा है, आत्माके बाहर न कोई देश है और न काल। वर्तमानकालकी भी कल्पना भूत और भविष्यत्‌की अपेक्षासे ही है। इसी प्रकार देशकी कल्पना शरीरकी अपेक्षासे है।

यदि इस विचारको दृढ किया जाय तो मनके रोकनेकी कोई आवश्यकता नहीं रहती। मन न रुकनेपर भी रुका हुआ ही है—ऐसा जानना चाहिये। वास्तवमें मन अपने आपको छोड़कर कहीं नहीं जाता। आत्मा सर्वव्यापी है, अतएव अपने सर्वव्यापी स्वरूपको पहचाननेके लिये आत्मा ही मनके रूपमें सब ओर जाता है। मन आत्माका स्फुरणमात्र है। संसाररूपी और विचाररूपी अनेक लहरें आत्मारूपी समुद्रमें उठा करती हैं और उसीमें विलीन हो जाती हैं। आत्माके विषयमें यह निश्चय हो जाना चाहिये कि वह न कहीं जाता है और न आता है। संसारमें बन्धनका कारण स्वरूपका अज्ञान ही है। इसीसे अनेक राग-द्वेष पैदा होते हैं। आत्मा सब कुछ करके भी कुछ नहीं करता, सब कहीं जाकर भी कहीं नहीं जाता। वह जहाँ-का-तहाँ है। बाहर और भीतर, दूर और पास कल्पनामात्र है। यह सहजयोग है, जो विचार और सदाचारसे सिद्ध होता है। यही सहज समाधि है, जिसका वर्णन कबीरदासने किया है—

जहँ जहँ जाऊँ सोइ परिकरमा, जोइ जोइ करूँ सो पूजा।
सहज समाधि सदा उर राखूँ, भाव मिटा दूँ दूजा॥

अस्तु, मनको न रोकनेके प्रयत्नसे ही मन रुकता है। मन जहाँ जाय वहाँ जाने दें, उसकी क्रियाओंको साक्षिभावसे सदा देखते रहें। इस भावको निश्चय करें कि जो कुछ भाव मनमें आते हैं, वे एक ही वस्तुके अनेक रूप हैं। इस अवस्थाकी दृढतामें मनकी दौड़ अपने-आप विलीन हो जायगी। मन और मनका रोकनेवाला, फिर दोनों एक साथ एक अनन्त भावमें लीन हो जाते हैं। मनके स्वरूप-उसकी विभुताको जाने विना उसे निश्चेष्ट करनेका यत्न करना व्यर्थ है।
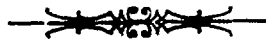
नाम-महिमा

पायो जी म्हे तो राम रतन धन पायो।
वस्तु अमोलक दी म्हारे सतगुरु, किरपा कर अपनायो॥ १॥
जनम जनमकी पूँजी पाई, जगमें सभी खोवायो।
खरचै नहिं कोइ चोर न लेवै, दिन दिन बढ़त सवायो॥ २॥
सतकी नाव खेवटिया सतगुरु, भवसागर तर आयो।
मीराके प्रभु गिरधर नागर, हरख हरख जस गायो॥ ३॥

—मीराबाई

माँ शारदा देवी*

'माँके जीवनकी अपूर्व विशिष्टता कौन समझ सका है? कोई भी नहीं। किन्तु धीरे-धीरे सब जान सकेंगे। जिस शक्तिके बिना जगत्का उद्धार नहीं हो सकता उसी अनुपम शक्तिका भारतवर्षमें पुनरुत्थान करनेके लिये माँने जन्म लिया है और उनका आदर्श लेकर एक बार फिर संसारमें गार्गी और मैत्रेयी-समान स्त्रीरत्न उत्पन्न होंगे।'

—स्वामी विवेकानन्द

सरलता और वात्सल्य, पवित्रता और माधुर्यकी मूर्ति माँ श्रीशारदा देवीका जन्म बङ्गाल प्रान्तस्थ बाँकुड़ा जिलेके जयरामबाटी नामक गाँवमें एक ब्राह्मण-परिवारमें सन् १८५३ ई०के २२ दिसम्बरको हुआ था। उनके माता-पिता निर्धन किन्तु बड़े धर्मात्मा, सात्त्विक और भगवत्परायण व्यक्ति थे। श्रीशारदा देवीके विषयमें उनके भक्तोंकी सदा यह धारणा रही है कि वे साक्षात् जगदम्बाका अवतार थीं। उनकी जीवितावस्थामें भक्त लोग उन्हें 'माँ' कहकर पुकारते और पीछे भी इसी नामसे उनका उल्लेख करते रहे हैं। माँकी जीवनी और चरित्रसे जो परिचित हैं, उनको उनकी अलौकिकतामें—जिसकी आभा उनके सौम्य और शान्त जीवनमें फूटी-पड़ती थी—लेशमात्र भी सन्देह नहीं रह जाता। माँकी सबके प्रति असीम कृपा, स्नेह और सहानुभूति; उनका व्रत, त्याग और संयम; उनकी सहिष्णुता, निरभिमानता और सरलता; उनकी सेवापरायणता, कार्यतत्परता और निःस्वार्थता आदि अतुलनीय गुण उनकी कीर्तिको आज भी संसारमें उज्ज्वल कर रहे हैं।

माँके जन्मके विषयमें ही एक अलौकिक घटना सुननेमें आती है जो इस प्रकार है:—

एक समय जब श्रीशारदा देवीकी माता श्रीमती श्यामासुन्दरी अपने मायकेमें थीं और उनके पेटमें बड़ी पीड़ा थी तो वे शौचके लिये बाहर गाँवकी पुष्करिणीके समीप गयीं। उदरपीड़ाके कारण और जल्दी स्थान निरूपण न कर सकनेसे वे अर्द्ध-चैतन्यावस्थामें एक बेलके वृक्षके नीचे ही बैठ गयीं। इसी समय उनकी दृष्टि अस्पष्ट हो उठी और पासकी कुम्हारोंकी एक भट्ठीके अंदर उन्होंने एक विचित्र झनझनाहटका शब्द सुना। साथ-ही-साथ उन्होंने देखा कि बेलके पेड़से एक छोटी परम सुन्दर बालिका कूदी और दौड़कर उनके गलेसे लिपट गयी। देखते-देखते वे अचैतन्य हो गयीं। चेतनता प्राप्त होनेके साथ उन्हें ऐसा अनुभव हुआ कि वह कन्या उनके शरीरमें ही प्रवेश कर गयी थी। उनके पति उस समय कलकत्ते गये हुए थे। उनके लौट आनेपर श्रीश्यामासुन्दरीने उनसे सब वृत्तान्त कहा। घटनाके अभावनीय और अद्भुत होनेपर भी सरलहृदय और ईश्वरभक्त दम्पतिको उसने विशृङ्खल या व्यस्त नहीं किया। वे लोग भगवान्के विधानको अज्ञेय और अलङ्घनीय जान अपने इष्टदेवका भक्तिपूर्वक नामस्मरण करते-करते देव-सन्तानके जन्मकी प्रतीक्षा करने लगे। दिन-पर-दिन बीतने लगे और गर्भका समय पूर्ण होनेपर माँ शारदा देवीने उनकी पुत्रीके रूपमें जन्म लेकर इस पृथिवीको पवित्र किया।

शारदा देवीने छठे वर्षमें पदार्पण किया था कि उनका उस समयके बाल्यविवाहकी प्रचलित प्रथाके अनुसार श्रीगदाधरके साथ, जो पीछे श्रीरामकृष्ण परमहंसके नामसे विख्यात हुए, शुभ परिणय हुआ। यह विवाह भी आश्चर्यजनक था। श्रीगदाधर जो उन दिनों लगभग २४ वर्षके थे सर्वदा ही ईश्वरप्राप्तिके ध्यानमें तल्लीन रहते और साधन, भजन, ईश्वरचर्चा इत्यादिके अतिरिक्त किसी वस्तुमें मन न देते। उनकी माताको पुत्रकी दशा देखकर बड़ी चिन्ता होती थी और वे सोचती थीं कि यदि किसी प्रकार उसका विवाह हो जाता तो सब भय जाता रहता। इसी आन्तरिक इच्छासे उन्होंने श्रीगदाधरके लिये उपयुक्त पात्री ढूँढ़नेकी बहुत कुछ चेष्टा की पर किसी-न-किसी कारण उनकी समस्त चेष्टाएँ विफल रहीं। कहीं विवाहकी बात सुनकर पुत्र कोई बाधा या आपत्ति प्रकट न करे, इसलिये उन्होंने श्रीगदाधरसे अपनी इच्छा छिपा रक्खी थी। पर तीव्रबुद्धि पुत्रको बात जाननेमें अधिक समय न लगा। जाननेपर उन्होंने कोई आपत्ति भी प्रकट नहीं की, प्रत्युत स्वयं ही निर्दिष्ट पात्रीका पता बतलाया। लोगोंको महान् आश्चर्य हुआ जब उन्होंने श्रीगदाधरको कहते सुना, 'और कहीं ढूँढ़ना व्यर्थ है। जयरामबाटीमें श्रीरामचन्द्र मुखोपाध्यायके यहाँ एक कन्या है। उसीके साथ मेरा विवाह होना है।' सचमुच ही उस जगह विवाहके विषयमें

---

* यह जीवनी श्रीरामकृष्ण मिशन आश्रम, नयी दिल्लीद्वारा प्रकाशित 'माँ शारदा देवी' नामकी पुस्तिकासे उद्धृत की गयी है। —सम्पादक

बातचीत करनेपर विवाह होना स्थिर हो गया । यही नहीं, वरं बालकोंमें जैसे घरमें कोई नयी बात होनेपर आनन्द और उत्साह देखा जाता है उसी प्रकारका आचरण श्रीगदाधरमें उनके विवाहके सम्बन्धमें देखा गया था। किन्तु विवाह हो जानेपर अपनी मनोनीता पत्नीकी ओर कोई विशेष आकर्षण उनमें देखनेमें नहीं आया । विवाहके बाद श्रीमाँ जल्दी ही अपने मायके चली गयी थीं। उसके प्रायः सात वर्ष बाद अपने पतिके गाँव कामारपुकुरमें दूसरी बार आयीं । इस बीच अत्यन्त अल्पवयस्क होनेके कारण उनका पतिगृह आना नहीं हुआ था। उधर श्रीगदाधर विवाहोपरान्त माताके आग्रहसे प्रायः दो वर्ष कामारपुकुर रहकर दक्षिणेश्वर चले गये थे और वहाँ फिरसे साधन-समुद्रमें डूबकर संसारके सकल विषयोंको एक समयके लिये जैसे भूल-से गये थे।

गाँवकी लड़कियाँ अधिकतर छोटी अवस्थामें ही भोजन बनाना इत्यादि नाना गृहकार्योंमें जैसे निपुण हो जाती हैं, श्रीमाँ वैसे ही अल्पावस्थासे ही अपनी माताका घरेलू काम-काजमें हाथ बँटाने लग गयी थीं । बड़े सवेरे ही ईश्वरनामोच्चारण करती हुई शय्या त्याग कर यथाशक्ति माताको सहायता देतीं। आवश्यकता होनेपर भोजन बनाना, खेतमें काम करनेवालोंको गुड़-मुरमुरे इत्यादि खानेको दे आना, गले-गलेतक पानीमें घुसकर गाय-बैलके लिये घास काट लाना, ऐसे अनेक काम वे बड़े आनन्दके साथ किया करती थीं । सूत कातनेमें तो वे बड़ी ही निपुण हो गयी थीं। बाल्यावस्थामें भी श्रीमाँमें और लड़कियोंकी तरह चञ्चल होकर खेल-कूदके लिये आग्रह नहीं देखा गया । वे मानो स्वयं ही सर्वथा परिपूर्ण, अपने आपमें ही तन्मय, रहती थीं । बहुत वर्ष पीछे उन्होंने किसी भक्तको इस सम्बन्धमें बतलाया था कि जब वे खूब छोटी थीं तो अकेले काम करते समय उनके पास न जाने कहाँसे ठीक उन्हींके समान एक बालिका आ जाया करती थी। वह बालिका उनके साथ-साथ काम करती और हँसती-खेलती थी, परन्तु किसीके आ जानेपर न जाने फिर कहाँ चली जाती थी । दस-ग्यारह वर्षकी अवस्थातक उनके जीवनमें ऐसा होता रहा था।

गाँवकी बालिका होनेसे माँने विधिवत् पढ़ना-लिखना नहीं सीखा था । पर विद्याके ऊपर उनका बड़ा अनुराग था। अपने आप ही उन्होंने थोड़ा-थोड़ा करके पढ़ना सीखा था, पर बुद्धि इतनी अच्छी थी कि वे खूब अच्छा पढ़ लेती थीं और अनेक कठिन शब्दोंके अर्थ अनायास ही समझ जाती थीं । गाँवमें जो पौराणिक आख्यानमूलक यात्रा-कथाएँ होती थीं उनके सुननेसे माँने धर्म और नीतिविषयक अनेक शिक्षाएँ प्राप्त की थीं । इन यात्राओंको देखने-सुननेसे उन्हें अनेक श्लोक कण्ठस्थ भी हो गये थे । बहुत वर्ष पीछे भी लोगोंको नैतिक शिक्षा देनेके प्रयोजनसे वे ये श्लोक अपनी स्वाभाविक सरलतासे कभी-कभी सुनाया करती थीं ।

चौदहवें वर्षमें जब श्रीमाँने फिर पतिके दर्शन किये, वे नितान्त बालिकास्वभावसम्पन्ना थीं। दाम्पत्य जीवनका गम्भीर उद्देश्य और उसका उत्तरदायित्व समझनेकी शक्ति उनके हृदयमें अभी अङ्कुरित ही होने लगी थी । पवित्र बालिका श्रीरामकृष्णके देहबुद्धि-विरहित दिव्य सङ्ग और निःस्वार्थ प्रेमके अनिर्वचनीय आनन्दसे उल्लसित हो उठीं । इस आनन्दका उल्लेख करते हुए उन्होंने कुछ स्त्री-भक्तोंसे उसे इस प्रकार प्रकाशित किया थाः—

'हृदयमें मानो आनन्दसे परिपूर्ण एक घड़ा रक्खा हो, ऐसा उस समयसे सर्वदा अनुभव किया करती थी ।'

श्रीरामकृष्ण उस समय श्रीमान् तोतापुरी महाराजसे संन्यास-दीक्षा ले चुके थे । पर संन्यासी होनेपर भी वे अपनी बालिका पत्नीकी ओरसे कर्तव्यपालनमें पराङ्मुख नहीं हुए । प्रथमतः स्नेह और आदरद्वारा उन्होंने उनको सब प्रकार अपना कर लिया । इसके बाद अपने त्यागपूर्ण जीवनका आदर्श सामने रखकर गार्हस्थ्य विधानके प्रत्येक छोटे-बड़े व्यापारसे लेकर मनुष्यजीवनके गम्भीर उद्देश्य ईश्वरदर्शन एवं तन्निमित्त सर्वस्वसमर्पणतक सकल विषयोंमें वे पत्नीको शिक्षा एवं उपदेश देने लगे । शिक्षा देनेमें छोटी-से-छोटी आवश्यक बात उन्होंने नहीं छोड़ी थी । प्रदीपको कैसे रखना चाहिये, घरके लोगोंके प्रति तथा दूसरोंके घर जाकर किसके साथ किस प्रकारका व्यवहार चाहिये, गाड़ी या नौकापर जानेमें कैसी सतर्कता चाहिये, कैसे देवता, गुरु, अतिथिकी सेवामें धनका सद्व्यय करना चाहिये, इत्यादि सभी विषयोंमें श्रीरामकृष्ण पत्नीको शिक्षा देते रहते थे । स्वच्छता और सुशृङ्खलताको वे बड़ा पसन्द करते थे और मैला-कुचैलापन सहन नहीं कर सकते थे। कठोर व्रत, संयम करते हुए भी सुघड़ता, सुन्दरता और माधुर्यके वे बड़े प्रेमी थे । इन सभी बातोंकी माँके हृदयपर एक गहरी छाप पड़ी और पतिके पवित्र कामगन्धहीन संसर्ग और प्रेमभरी शिक्षासे उनका हृदय परितृप्त और परम आनन्दित हो उठा।

माँके इन्हीं दिनोंके बारेमें एक कथा है कि वे श्रीरामकृष्णके पास बालकोंके-से उल्लासभरे हृदयसे एक दिन फल और सब्जीसे भरी एक टोकरी लायीं। श्रीरामकृष्णने टोकरीको देखकर कुछ गम्भीर होकर कहा, 'पर इतनी अमितव्ययता क्यों ?' बालिका पत्नीकी सारी प्रफुल्लता क्षणभरमें विलीन हो गयी और निस्तेज तथा निराश होकर वे रोती-रोती यह कहकर चली गयीं, 'कम-से-कम मैंने यह अपने लिये तो नहीं किया था।' श्रीरामकृष्णसे यह नहीं देखा गया और उन्होंने तुरन्त ही पास बैठे हुए बालकोंमेंसे एकसे कहा, 'जाओ, और उसे वापिस बुला लाओ। मेरा सारा ईश्वर-प्रेम रफूचक्कर हो जायगा यदि मैं उसे रोती हुई देखूँगा।'

भैरवी ब्राह्मणीके दर्शन भी श्रीमाँको इसी समय प्राप्त हुए थे और कुछ समयतक उनके साथ रहनेका अवसर भी मिला था। भैरवी ब्राह्मणी एक असाधारण विदुषी थीं। उनका शास्त्रज्ञान और पाण्डित्य देखकर बड़े-बड़े विद्वानोंने भी अचरज माना था। उन्होंने ही श्रीरामकृष्णको तन्त्रशास्त्र और भक्तिग्रन्थोंको सुनाकर उनकी शङ्काओंका समाधान किया था और उनसे तन्त्रोक्त साधन कराये थे। इस प्रकार वे श्रीरामकृष्णके गुरुके समान थीं और इस समय उनके साथ दक्षिणेश्वरसे कामारपुकुर आयी थीं। पतिके निर्देशसे श्रीमाँ भैरवी ब्राह्मणीको सास-तुल्य देख भक्ति और प्रीतिसहित उनकी सेवादिमें नियुक्त रहती थीं और उनकी किसी बात या कार्यका कभी प्रतिवाद नहीं करती थीं।

कामारपुकुरमें पाँच-छः महीने रहकर श्रीरामकृष्ण फिर दक्षिणेश्वर वापिस चले गये थे। माँ भी अपने मायके जयरामबाटी गाँवमें लौट आयीं। वहाँ कुछ वर्ष उन्होंने पतिसे अलग रहकर बिताये। पर यद्यपि इन दिनों उनका शरीर वहाँ था तथापि उनका मन सदा दक्षिणेश्वरमें पतिके चरणोंमें ही रहता और वे धैर्यके साथ उस दिनकी प्रतीक्षा करती रहतीं जब कि पतिके आदेशसे वे उनके पास जा सकें। किन्तु जब वे अठारह वर्षकी थीं उनके पास श्रीरामकृष्णके विषयमें लोगोंकी उड़ाई हुई निन्दात्मक बातें पहुँचने लगीं। लोग श्रीरामकृष्णके लिये कहते थे कि उनका मस्तिष्क खराब हो गया है, वे पागल हो गये हैं। देवतारूपमें जिस पतिको श्रीशारदा देवीने हृदयमें बिठा रक्खा था उसकी निन्दा उनके लिये असह्य हो उठी। उनके धैर्यका बाँध टूट गया और वे स्वामीके दर्शनके लिये व्याकुल हो उठीं। किन्तु लज्जाके कारण अपना कष्ट पित्रालयमें किसीके सामने मुखपर ला नहीं सकती थीं। ईश्वरेच्छासे श्रीचैतन्यदेवकी जन्मतिथिके उपलक्ष्यमें गङ्गास्नानके रूपमें एक सुयोगके उपस्थित होनेसे वह बाधा जाती रही। पिता और कुछ अन्य आत्मीयोंके साथ श्रीमाँ कलकत्तेके लिये जो वहाँसे लगभग ७०, ८० मील दूर है रवाना हुईं। ऐसी लंबी यात्रा पैदल उन्होंने कभी नहीं की थी, दो-तीन दिन चलनेके बाद मार्गमें उन्हें ज्वर हो आया। बाहरसे ज्वरकी प्रबल यन्त्रणा थी, अंदर उससे भी अधिक मनोवेदना। ऐसी अवस्थामें एक दिव्यदर्शनद्वारा श्रीमाँको दोनों प्रकारके कष्टोंसे बड़ी शान्ति मिली। इस दर्शनका वर्णन श्रीमाँने स्वयं पीछे इस प्रकार किया था—

'ज्वरसे जिस समय एकदम ही बेहोश, लज्जारहित, होकर पड़ी हुई थी, मैंने देखा कि एक रमणी आकर पास बैठ गयी। स्त्रीका रंग काला था किन्तु ऐसा सुन्दर रूप मैंने कभी नहीं देखा। स्त्री बैठकर मेरे शरीर और सिरपर हाथ फेरने लगी। हाथ इतने कोमल थे और इतने शीतल कि शरीरकी ज्वाला शान्त हो चली। मैंने पूछा, 'कहाँसे आयी हो तुम ?' रमणीने कहा, 'मैं दक्षिणेश्वरसे आयी हूँ।' सुनकर अवाक् हो मैं बोली, 'दक्षिणेश्वरसे ! मैंने सोचा था दक्षिणेश्वर जाऊँगी, उनको देखूँगी, उनकी सेवा करूँगी, किन्तु मार्गमें ज्वर होनेसे मेरे भाग्यमें यह सब नहीं दिखायी देता।' रमणी बोली, 'यह क्या ! तुम दक्षिणेश्वर जाओगी क्यों नहीं ! अच्छी होकर वहाँ जाओगी, उनको देखोगी, तुम्हारे लिये ही तो उनको मैंने वहाँ अटका रक्खा है।' मैंने कहा, 'अच्छा, पर तुम हमलोगोंकी हो क्या ?' वह बोली, 'मैं तुम्हारी बहिन हूँ।' मैंने कहा, 'सच है, तभी तो तुम आयी हो।' इस प्रकार बातचीत करनेके बाद मुझे नींद आ गयी।'

जब श्रीमाँ दक्षिणेश्वर पहुँचीं श्रीरामकृष्ण उनकी अवस्था देखकर बहुत उद्विग्न हुए। अपने ही कमरेमें उनके रहनेकी व्यवस्था कर, उनकी शुश्रूषा कर और औषध, पथ्य आदिकी स्वयं देख-भालकर उनको उन्होंने जल्दी ही फिर स्वस्थ बना दिया और उसके बाद नौबतखानेमें अपनी माताके पास उनके रहनेकी व्यवस्था कर दी। पतिके दर्शन पाकर और उनके सुश्रृङ्खल और प्रेममय व्यवहारको देखकर श्रीमाँके हृदय-आकाशमें जो विषादके बादल छाये हुए थे छिन्न-भिन्न हो गये। उन्होंने जान लिया कि श्रीरामकृष्ण जैसे थे वैसे ही हैं। उल्लासभरे हृदयसे वे नौबतखानेमें रहकर पतिदेवता

और उनकी पूज्य माताजीकी सेवा करनेको तत्पर हो गयीं। इस ही समय जब कि श्रीमाँ प्रथम बार दक्षिणेश्वर आयी थीं तो श्रीरामकृष्णने एक दिन एकान्तमें एकाएक उनसे पूछा था, 'क्यों! क्या तुम मुझे संसार-पथमें घसीट ले चलनेके लिये आयी हो?' माँका सहज उत्तर था, 'नहीं, नहीं, मैं तुम्हें संसार-पथमें क्यों ले जाऊँगी, तुम्हारे इष्ट पथमें ही सहायता देनेको मैं आयी हूँ।' वे पतिहीको सब कुछ समझती थीं और गुरुरूपमें उन्हें देख केवल शिक्षा और उपदेशकी उनसे प्रार्थना करती थीं। इस समयसे वे पतिके सङ्ग दक्षिणेश्वरके बगीचेमें कई वर्षोंतक नाममात्रमें पत्नी पर यथार्थमें एक संन्यासिनीकी तरह और उनके समस्त शिष्य-शिष्याओंमें प्रमुख होकर रहने लगीं।

सचमुच श्रीरामकृष्ण परमहंसका अपूर्व जीवन श्रीमाँके विना पूर्ण नहीं होता। श्रीमदाचार्य तोतापुरीने उनसे कहा था कि स्त्रीके निकट रहनेपर भी जिसका त्याग, वैराग्य, विवेक, विज्ञान सब तरह अविकृत रहे वही व्यक्ति यथार्थमें ब्रह्ममें प्रतिष्ठित है। इस शिक्षाके अनुसार श्रीरामकृष्णने अपनी अष्टादशवर्षीया पूर्णयौवना पत्नीको लगातार आठ महीने अपने ही बिछौनेपर सोनेका अधिकार दिया था। दम्पतिके इस अखण्ड ब्रह्मचर्य-व्रत और महान् संयमने श्रीरामकृष्णके तेजको आगमें तपाये हुए सोनेके समान दुगुना कर दिया था। इसका श्रेय श्रीमाँको कितना है इसका अनुमान कुछ-कुछ स्वयं श्रीरामकृष्णके शब्दोंसे लगता है। उन्होंने कहा था, 'वह (श्रीमाँ) अगर इतनी भली न होती, कामनाशून्य न होकर आत्मविस्मृतिसे यदि मुझे घेरे रहती तो संयमका बाँध तोड़कर मुझमें देह-बुद्धि आती या नहीं कौन कह सकता है।'

दक्षिणेश्वरमें माँ बहुत सुबह उठ जातीं और किसीके जागनेसे पहले ही गङ्गास्नान इत्यादिसे निवृत्त हो जातीं। प्रभातकी नीरव घड़ियोंमें ही वे अपना जप, ध्यान कर लेती थीं। वहाँ काली देवीके मन्दिरमें अनेक कर्मचारी थे। अतिथि और साधु-संन्यासी इत्यादिका समागम भी खूब रहता था, पर कोई माँको छायातक नहीं देख पाता था। नौबतखानेके नीचेका कमरा जिसमें वे रहती थीं एक बहुत छोटा कमरा था और उसके बाहरके बरामदेमें ताड़के पत्तोंके बने हुए पर्दे पड़े रहते थे जो सिरसे भी अधिक ऊँचाईसे लटकते थे। सिर्फ़ एक छोटा-सा झरोखा था जिसमेंसे बाहरका दृश्य दिखायी देता और इस झरोखेपर खड़ी रहकर माँ घण्टोंतक दिनमें और रातमें भी पतिके मुखकी एक झलक पा जानेकी आशामें खड़ी रहतीं पर उनकी आशाएँ बहुधा असफल रहतीं। श्रीरामकृष्ण ईश्वर-प्रेममें मग्न रहा करते थे और उसी प्रेमावेशमें उनसे जब कभी और जो कुछ भी बातचीत करते माँको उससे ही आनन्दकी सीमा नहीं रहती थी। श्रीरामकृष्ण कभी कथा-वार्ता न करते तो श्रीमाँ उनके दर्शनहीमें आनन्दित रहतीं। पति और जबतक उनकी माता जीवित रहीं उनके लिये भोजन बनाना माँके मुख्य कार्योंमेंसे था और इसमें वे बहुत आनन्द अनुभव करती थीं। विशेषकर इसलिये कि भोजन करानेके बहानेसे वे पतिका दर्शन कर पाती थीं। और इसमें वे अपनेको कृतार्थ समझती थीं। पर एक बार कुछ दिनोंके लिये वे इस दर्शनसे भी वञ्चित हो गयीं क्योंकि श्रीरामकृष्णका भोजन उनकी एक स्त्री भक्त उनके रहनेके कमरेमें ही दे आतीं। माँका इस समयका भाव कैसा मधुर और गम्भीर था! वे कहती हैं, 'कभी-कभी दो दो महीनेमें एक रोज़ भी ठाकुर (अर्थात् श्रीरामकृष्ण) को नहीं देख पाती थी तो मनको समझाती थी, अरे मन, तूने क्या ऐसा पुण्य किया है कि रोज़-रोज़ उनके दर्शन पायेगा!'

देवता-तुल्य पतिके प्रति भक्ति और श्रद्धासे और उनके पवित्र संसर्ग और शिक्षासे श्रीमाँ स्वयं भी आध्यात्मिक क्षेत्रमें धीरे-धीरे विज्ञ हो उठीं। साधन, भजन, जप और ध्यानमें उन्होंने अपूर्व पारदर्शिता प्राप्त कर ली। आरम्भमें काफ़ी समयतक वे श्रीरामकृष्णके सम्मुख वधूकी तरह रहतीं और घूँघटतक पूरा न खोलती थीं। एक दिन रात्रिमें एक स्त्री स्वजन उनको श्रीरामकृष्णके स्थानमें ले गयीं और वहाँ उनका घूँघट खोल दिया। श्रीरामकृष्ण उनको भगवत्-कथा सुनाने लगे। खड़े-खड़े सारी रात पतिके श्रीमुखनिःसृत कथामृत पान करते-करते श्रीमाँ ऐसी ध्यानमग्न हो गयीं कि कब सूर्योदय हुआ इसका भी उन्हें पता नहीं चला। माँके साधन-भजनके दिनोंकी झलक उन्हींके शब्दोंसे कुछ-कुछ मिलती है। वे कहती हैं:—

'अहा! वे सब कैसे दिन थे। ज्योत्स्नामय रात्रिमें चन्द्रमाकी ओर देख हाथ जोड़कर प्रार्थना करती थी, 'हे राकेश! अपनी इस ज्योत्स्नाके समान मेरा हृदय निर्मल कर दो।'

'रात्रिमें जब चन्द्रमा निकलता तो गङ्गाके स्थिर जलमें उसका प्रतिबिम्ब देखकर भगवान्‌से रो-रोकर प्रार्थना करती, 'चाँदमें भी कलङ्क है पर मेरे मनमें कोई दोष न हो।'

कहते हैं कि श्रीमाँ जब पहिले पहल दक्षिणेश्वर आयी थीं उस समय भगवत्प्रेमावेश, समाधि इत्यादि अधिक समझती नहीं थीं। और इसीसे श्रीरामकृष्णको प्रेमावेश या समाधि होते हुए देखकर पहले भयभीत हो जाया करती थीं। पर जो कुछ भी हो स्वयं इन सब अवस्थाओंमेंसे होकर निर्विकल्प समाधितकका अनुभव उन्होंने किया था। इस सम्बन्धमें घटनाएँ विरल होनेपर भी कुछ-कुछ जाननेमें आयी हैं। श्रीमाँकी बहुकालसङ्गिनी और स्त्री-भक्ता संन्यासिनी श्री 'योगीन-माँ' के निम्नलिखित शब्दोंसे इस बारेमें कुछ पता चलता है:—

'............नौबतखानेसे आकर........दरवाजा जरा खोलकर क्या देखती हूँ कि माँ खूब हँस रही हैं। अभी हँसती हैं और अभी रोती हैं। दोनों आँखोंसे आँसुओंकी झड़ी लग रही है। कुछ क्षण ऐसे ही भावमें रहकर धीरे-धीरे स्थिर हो गयीं—एकदम समाधिस्थ।'

'एक दिन रातमें कोई बाँसुरी बजाता था। बाँसुरीके शब्दसे ही माँ भावमग्न हो गयीं—रह-रहकर हँसने लगीं।.........'

'बेलूरमें नीलाम्बर बाबूके घर एक दिन सन्ध्या होनेके पीछे माँ, मैं और गुलाब-दीदी छतपर पास-पास बैठकर ध्यान कर रही थीं। अपना ध्यान समाप्त हो चुकनेपर मैंने देखा कि माँ जैसे बैठी थीं वैसे ही बैठी हैं—स्पन्दहीन, समाधिस्थ। बहुत देर पीछे होश आनेपर माँ बोलने लगीं, 'ओ योगेन (योगीनमाँ), मेरे हाथ कहाँ, पैर कहाँ?' मैं माँके हाथ और पैर छूकर दिखलाने लगी। तब भी माँ बड़ी देरतक यह नहीं समझ सकीं कि मेरे देह भी है।'

माँके समस्त गुणोंका उल्लेख करना एक अभावनीय व्यापार है। उनकी अद्भुत शक्ति और अलौकिक महत्ताको समझना साधारण मनुष्यके लिये सर्वथा असम्भव है। तथापि उनके जीवनकी घटनाओंसे उनकी दिव्य सत्ताके अंदर झाँकनेका एक अवसर मिलता है।

एक समय माँ कामारपुकुरसे दक्षिणेश्वर पैदल आते हुए साथके लोगोंसे बिछुड़कर पीछे रह गयीं। शाम हो गयी थी, मार्ग निर्जन था और डाकुओंका भय था। रात होनेको थी। देखती क्या हैं कि डाकूके समान बलिष्ठ और भीषण आकृतिका एक अपरिचित व्यक्ति और उसकी स्त्री खड़े हैं। भागना या चिल्लाना वृथा होता, माँ स्थिर भावसे खड़ी हो गयीं। अपरिचित पुरुषने आकर कर्कश स्वरमें उनसे पूछा, 'तुम कौन हो, इस समय यहाँ कहाँसे आयी हो?' माँ बोलीं, 'बाबा (पिताजी) मैं पथ भूल गयी हूँ। तुम्हारे जमाई दक्षिणेश्वरवाले रानी रासमणिके काली-मन्दिरमें रहते हैं। उन्हींके पास मैं जा रही हूँ।' स्त्रीसे माँने कहा, 'माँ, मैं तुम्हारी बेटी शारदा हूँ। सङ्गियोंके छूट जानेसे भीषण विपद्में पड़ गयी थी। भाग्यसे 'बाबा' और तुम आ गये नहीं तो क्या करती कह नहीं सकती।' जिस सरलता और साहसका परिचय माँने दिया उसको कोई अधिक वयःसम्पन्ना भी दे सकती इसमें सन्देह है। और सबके प्रति आत्मीय भावकी जो माँमें विलक्षणता थी उसकी तुलना कहाँ हो सकेगी। माँके दर्शन और वचनोंका उस बागदि (बंगालके एक छोटी जातिके) दम्पतिपर ऐसा अद्भुत प्रभाव पड़ा कि उनके हृदयसे समस्त तमोमय आसुरिक भाव क्षणभरमें विलीन हो गये। माँके प्रति उनमें सहसा वात्सल्य जाग उठा। उनको पासके एक गाँवमें ले जाकर उस दम्पतिने एक छोटी दूकानमें उनके रातभर टिकनेकी व्यवस्था की और यथासम्भव अन्य विश्रामका प्रबन्ध भी उनके लिये किया। दूसरे दिन उनको लेकर वे लोग तारकेश्वर पहुँचे जहाँ माँके बिछुड़े सङ्गी मिल गये। रोते-रोते बागदि दम्पतिने माँसे विदा ली। माँकी आँखोंसे भी आँसुओंकी धारा न थमती थी। इसके अनेक दिन पीछे वही बागदि दम्पति मिष्टान्नादि सङ्ग ले माँको देखने दक्षिणेश्वर आये जहाँ श्रीरामकृष्णने ठीक जामाताकी तरह उनसे व्यवहार किया। बहुत वर्ष पीछे किसी भक्तके इस घटनाके सम्बन्धमें पूछनेपर माँने कहा था, मैंने उनसे (बागदि दम्पतिसे) पूछा, 'तुमलोग मुझे इतना प्यार क्यों करते हो?' उन्होंने उत्तर दिया, 'तुम तो साधारण मानवी नहीं, हमलोगोंने तुम्हें कालीरूपमें देखा था............ सचमुच ही देखा था। हम पापी हैं न, इसीसे तुमने अपना यथार्थ रूप छिपा रक्खा है।'

एक समय एक मारवाड़ी भक्त श्रीरामकृष्णको दस हजार रुपये भेंट करना चाहता था। श्रीमाँके मनकी परीक्षा लेनेके लिये उन्होंने उनको बुलवा भेजा और कहा, 'देखो तो, यह भक्त रुपया देना चाहता है। मैं ले नहीं सकता इसलिये तुम्हारे नामसे देना चाहता है। तुम ले क्यों न लो, बोलो तो?' माँ सुनकर बोलीं, 'ऐसा कैसे हो सकता है! रुपया नहीं लिया जा सकता। मेरा लेना तो तुम्हारा ही

लेना होगा, क्योंकि मैं उसे रखकर तुम्हारी सेवा और अन्यान्य आवश्यकताओंमें व्यय किये बिना न रह सकूँगी। फल यह होगा कि तुम्हीं वह ग्रहण करोगे। लोग तुम्हारी श्रद्धा-भक्ति करते हैं तुम्हारे त्यागके कारण। अतएव रुपया किसी प्रकार भी लेना सम्भव नहीं।' ऐसी विवेचना-शक्ति माँमें स्वभावसे ही थी। लोभ और लालसा तो उन्हें छूतक नहीं गये थे।

निम्नलिखित घटना भी माँकी बुद्धिमत्ताका एक छोटा-सा उदाहरण है—

एक दिन कोई भक्त माँके दर्शनको गये तो माँने उनसे कहा, "देखो बेटा, कल कलकत्तेसे भेजे हुए ये आम आज यहाँ पहुँच गये। 'कम्पनी' (अर्थात् सरकार) ने रेलगाड़ी, टेलीग्राफ़, यह सब करके क्या सुविधा नहीं कर दी है?" माँकी बातसे उत्साहित हो वे भक्त विज्ञानद्वारा आधुनिक युगकी नाना उन्नतियोंके बारेमें बहुत कुछ कहने लगे। माँ भी बीच-बीचमें 'हाँ' 'हाँ' करती जाती थीं। भक्तकी बात शेष हो चुकनेपर माँने कहा, 'सब सुविधा हुई तो है, बेटा, पर हमारे देशमें अन्न-वस्त्रका अभाव भी बहुत बढ़ गया है न? पहले अन्नका ऐसा अभाव तो नहीं था।' भक्त माँकी बात सुनकर स्तब्ध रह गये।

माँके हृदयमें सङ्कीर्णताके लिये स्थान नहीं था। उनके विचार बड़े उदार थे। उन्होंने स्वयं किसी स्कूलमें शिक्षा नहीं पायी थी। परन्तु उन्हें बालिकाओंकी शिक्षाके लिये बड़ी चाह थी। उनकी भतीजीके, जो उन्हींके साथ रहती थी, बड़े हो जानेपर किसीने कहा, 'राधू अब बड़ी हो गयी है। उसे अब स्कूल नहीं जाना चाहिये।' इसपर माँने कहा, 'नहीं, राधू बहुत बड़ी तो नहीं हुई। उसे स्कूल जाने दो, स्कूलमें शिक्षा पाने और शिल्प इत्यादि सीखनेसे वह दूसरोंका बहुत कुछ उपकार कर सकेगी।' सन् १८९९ ई० में जब कलकत्तेमें भगिनी निवेदिताने विलायतसे आकर स्वामी विवेकानन्दके आदेशानुसार निवेदिता स्कूल खोला था तब उसकी उद्घाटन-पूजा माँने ही की थी। उस समय उन्होंने जगन्मातासे प्रार्थना की थी कि जो लड़कियाँ उस स्कूलमें शिक्षा पायें वे आदर्श कन्याएँ होकर निकलें।

यद्यपि श्रीमाँका स्वयं बाल्यकालमें विवाह हुआ था तथापि वे बाल्यविवाहको अच्छा नहीं समझती थीं। मद्रास प्रान्तकी बड़ी उम्रकी निवेदिता स्कूलकी दो लड़कियोंको देखकर उन्होंने एक समय कहा था—

'अहा! ये सब कैसा अच्छा कामकाज सीखी हैं। और हमलोग! इस अभागे देशमें लड़की आठ वर्षकी होने नहीं पाती कि लोग कहते हैं, 'विवाह कर दो, विवाह कर दो।'

गृहस्थ-शिक्षाके लिये श्रीमाँका जीवन एक अनुपम उदाहरण है। माँकी तीक्ष्ण बुद्धिसे छोटी-से-छोटी वस्तु भी नहीं बच पाती थी। किसीको तरकारीकी छीलन फेंकते हुए देख माँने कहा था, 'जिसका जो प्राप्य है वह उसको देना चाहिये। तरकारीके छिल्के न फेंककर गायको देने चाहिये। वह तो गायोंकी खाद्य वस्तु है न?'

उनके दरवाजेसे कोई भिखारी कभी खाली हाथ नहीं गया। घरमें और कुछ न होनेसे गुड़-मुरमुरे ही उसके खानेको वे ला देती थीं।

श्रीरामकृष्णकी यह उक्ति माँके मुखसे बहुधा सुनायी देती थी, 'जार आछे से मापो, जार नाइ से जपो'— अर्थात् जिनके पास धन है वे सत्कार्यमें उसे व्यय करें; जिनके पास धन नहीं है वे भगवान्‌का नाम जपें।

माँ किसी वस्तुका दुर्व्यवहार या धनका अपव्यय सहन नहीं कर सकती थीं। वे कहती थीं इससे लक्ष्मी रुष्ट होती है।

माता-पिताके प्रति कर्तव्य, गृहस्थ इत्यादिके विषयमें माँकी सुन्दर शिक्षाएँ मनन करने योग्य हैं। किसी भक्तसे उन्होंने कहा था, "माताकी सेवा करना ही तुम्हारा सबसे बड़ा धर्म है ऐसा जानो। उसके दूधसे पलकर तो इतने बड़े हुए हो, कितना कष्ट उठाकर उसने तुम्हें मनुष्य बनाया।"

माँके एक भक्त कहते हैं—

"श्रीमाँने मुझसे पूछा, 'तुम्हारे कौन-कौन हैं? विवाह हुआ है क्या?' मैंने कहा, 'पिता हैं, माता नहीं। विवाह नहीं हुआ।' माँने कहा, 'तुम्हारे संन्यासी होनेसे काम नहीं चलेगा। तुम्हें अपने बूढ़े बापकी सेवा करनी चाहिये।' आश्चर्यकी बात है कि बहुत कालसे हृदयमें संन्यासी होनेकी जो इच्छा थी वह माँसे छिप नहीं सकी।"

एक और भक्तने माँसे कहा, 'माँ, मेरा तो विवाह हो गया है।' माँने उत्तर दिया, 'तो क्या हुआ बेटा? इसमें डर क्या? ठाकुर (अर्थात् श्रीरामकृष्ण) ने तो

विवाह करनेको मना नहीं किया। ठाकुरजीका नाम जपो, सब ठीक होगा।'

सरल-से-सरल स्त्रीका जीवन कैसा सुन्दर और माधुर्यमय हो सकता है इसका माँ एक ज्वलन्त उदाहरण थीं। और उनकी सौम्यता और विशालहृदय उतने ही महत्त्वपूर्ण थे जितनी कि उनकी आध्यात्मिक श्रेष्ठता। नये-से-नये और जटिल-से-जटिल विषयोंमें उनको विना किसी हिचकिचाहटके विचारशील किन्तु उदार निर्णय देते देखा गया था। वैसे उनका सारा जीवन मानो एक मूक और लंबी प्रार्थना थी, उनका सारा ज्ञान और अनुभव मानो ईश्वरीय सत्ताका था। किन्तु सांसारिक व्यवहारमें भी वे सर्वदा कुशल निकलती थीं, किसीकी अबाध्यतासे उन्हें मनोवेदना पहुँचती तो उसका पता केवल उनके मौन और मुखके गंभीर भावसे लगता। कोई उनसे किसी सामाजिक कठिनाई या अत्याचारसे उत्पन्न हुए कष्टका दुखड़ा रोता तो वे अपनी विलक्षण और स्वाभाविक बुद्धिमत्तासे विषयके मर्मतक अनायास ही पहुँच जातीं और प्रश्न करनेवालेको उचित मार्ग या उपाय बतलातीं। परन्तु यदि कहींपर कठोरताकी आवश्यकता होती तो व्यर्थकी दया या करुणासे वे अपनेको अस्थिर न होने देतीं। दृढ़तासे वे अपराधीको अपराधके अनुसार दंड देतीं और किसीका साहस न होता कि कुछ कह सके। किन्तु ऐसा होते हुए भी माँ स्वभावसे आनन्दमय और शान्तिमय थीं, यहाँतक कि जिस स्थानमें वे रहतीं, जहाँ वे पूजा करतीं, वह भी एक अपूर्व शान्ति और माधुर्यसे आच्छादित हो जाता। कलकत्तेमें माँ अपनी स्त्री-शिष्याओंके सङ्ग उन्हींकी तरह रहतीं, वही घरके छोटे-बड़े काम करतीं जो और करतीं, पर यदि उनमें औरोंसे कोई अन्तर था तो वह उनकी अधिक मृदुलता और अधिक विनयशीलता थी। बाहरसे देखनेमें वे घरके लोगोंमेंसे सबसे अधिक लज्जाशीला थीं तथापि उनकी सरलताके आवरणके नीचे उनके प्रत्येक कार्य और व्यवहारमें वह दीप्ति और भव्यता चमकती थी जो कि दर्शकोंके मनको मुग्धकर उनको माँके चरणोंमें भक्तिसे सिर झुकानेपर बाध्य कर देती थी। अंदर जो दैवी सत्ता विद्यमान थी उसके उज्ज्वल प्रकाशको छिपानेमें माँका मानव-शरीर असमर्थ था।

माँ स्वभावसे ही प्रफुल्ल रहती थीं और उनमें सर्वदा ही एक मृदुल हास्य-रसकी छटा दीख पड़ती थी जिसके कारण उनसे किसी भी विषयमें बातें करना सम्भव होता था। छोटी-से-छोटी बातमें वह बड़ी दिलचस्पी ले सकती थीं और बच्चोंके साथ खेलनेमें वे अपनेको वैसा ही भुला सकती थीं जैसा उनकी आठ वर्षकी भतीजी राधू, जो उनके साथ रहती थी। जिन लोगोंको माँके साथ रहनेका परम सौभाग्य प्राप्त हुआ था वे अनुभव कर सके थे कि धर्म एक मधुर, स्वाभाविक और आनन्दमय वस्तु है, और पवित्रता, शुद्धता और सदाचार वास्तविकताएँ हैं।

हिन्दू-धर्म और जातिको अपनी सती नारियोंपर अभिमान है, जिनका पवित्र यश आज भी संसारमें सोनेके समान चमक रहा है। श्रीमाँमें उसी पातिव्रत्य धर्मका क्या अद्भुत विकास हुआ था यह उनको भलीभाँति विदित है जिन्होंने उनके जीवनचरित्रको जाननेकी चेष्टा की है। भगिनी निवेदिताने श्रीमाँके विषयमें कहा था कि भारतीय नारीके आदर्शको चित्रण करनेके लिये वे श्रीरामकृष्णकी मूर्तिमती शिक्षा थीं।

एक स्त्री भक्तको शिक्षा देते हुए माँने कहा था, 'स्वामीके सङ्ग पेड़की छाँह भी प्रासादके समान है।' इन शब्दोंसे रामायणकी सीताजीका स्मरण हो आता है।

एक अन्य स्त्री भक्तसे उनके पतिने जिनकी धारणा थी कि पत्नी ही उनके भगवन्मुखी होनेमें बाधा है एक दिन प्रश्न किया, 'अच्छा, तुम मुझको चाहती हो कि परमात्माको?' स्त्री बेचारी निरुत्तर हो कुछ न बोल सकी। श्रीमाँके पास जा सारा हाल कह सुनानेपर उन्होंने स्नेहसञ्चित स्वरसे कहा, 'क्यों बेटी, तुम उत्तर क्यों नहीं दे सकी। तुमको कहना चाहिये था मुझे भगवान् नहीं चाहिये, मैं तो तुम्हींको चाहती हूँ।'

श्रीमाँ श्रीरामकृष्णको अत्यन्त प्रिय थीं। तथापि जिस पतिको वे भगवान्की तरह पूजती थीं उसके विषयमें उनकी निर्ममता और अधिकारात्मक भावका अभाव देखकर आश्चर्य होता था। उनको वे सदा 'गुरुदेव' या 'ठाकुर' कहा करती थीं और उनके मुखसे ऐसा एक भी शब्द कभी नहीं सुना गया जिससे श्रीरामकृष्णके प्रति किसी प्रकारके अधिकारकी लेशमात्र भी भावना प्रकट हुई हो। कोई ऐसा मनुष्य जो नहीं जानता था कि वे कौन थीं उनकी बातचीतसे कभी अनुमान नहीं कर सकता था कि औरोंकी अपेक्षा उनका श्रीरामकृष्णपर अधिक अधिकार था या उनका स्थान उनके अधिक निकट था।

प्रत्येक प्राणीके प्रति माँके हृदयमें जो अपरिमित कृपा और स्नेह थे वे मनुष्यकी साधारण बुद्धिद्वारा नहीं मापे जा सकते। और भक्तवत्सलता तो उनकी अनिर्वचनीय थी। जिन दिनों वे अपने गाँवमें रहती थीं उनको नींद बहुधा दो तीन बजे सुबह ही उन उत्सुक भक्तोंके आनेसे खुल जाया करती थी जो सूर्यकी प्रखर किरणोंसे बचनेके लिये सूर्यास्तके बाद यात्रा करते और इस कारण माँके गाँवमें बहुत रात गये पहुँचते। अधिकतर ये लोग अपरिचित होते किन्तु माँ सदा उठकर उनके लिये अपने हाथसे भोजन बनातीं और खिला-पिलाकर उन्हें अतिथि-घरमें विश्राम करनेके लिये भेजतीं। इसी तरह कलकत्तेमें भी भक्तोंके समूह नित्य दर्शनके लिये आते रहते। पर चाहे वे कोई भी हों और कहींसे भी आये हों माँके लिये वे सब एक-से होते और उसी प्रेमसे वे उनसे मिलतीं और उनका स्वागत-सत्कार करतीं। भौगोलिक सीमाएँ, धर्म या जातिके भेद, माँके लिये मानो कुछ थे ही नहीं—पाश्चात्यदेशीय भक्त हों अथवा भारतीय, माँके विशाल और वात्सल्यमय हृदयमें सबके लिये एक-सा ही स्थान था, सभी माँकी सन्तान थे।

भगिनी निवेदिता और अन्य पाश्चात्य स्त्री भक्तोंको माँ-ने जिस प्रकार पुत्रीरूपमें एकदम ही अपनालिया था उससे ही पता चलता है कि शास्त्र और धर्मका सम्मान करते हुए भी माँ किस तरह संकीर्णतासे सर्वथा मुक्त थीं। भगिनी निवेदिताके कलकत्ते आते ही माँने अपने रहनेके मकानमें उनको एक कमरा दे दिया था और कुछ ही दिन बाद उनके सोनेके लिये अपने और अपनी सङ्गिनियोंके पास ही व्यवस्था कर दी थी। इन बातोंमें माँने कितनी विशालता और निर्भीकताका परिचय दिया था यह भगिनी निवेदिता पहले नहीं देख सकी थीं पर पीछे उन्होंने स्वयं ही कहा था कि मेरे अज्ञान और अदूरदर्शितासे जिस सामाजिक विशृंखलताकी आशङ्का माँके जीवनहीमें नहीं बल्कि उनके गाँवके स्वजनोंमें भी सम्भव थी उसका यदि मुझे उस समय आभास होता तो मैं निश्चय ही अपनी उपस्थितिसे उनको ऐसे सङ्कटमें डालनेका दुःसाहस न करती।

माँको जिन्होंने देखा था उनका कहना है कि वैसा स्नेह और वैसी कृपा उन्होंने कहीं नहीं देखी। उनके सहज और निःस्वार्थ स्नेहमें अनेक भक्तोंने अपनी गर्भधारिणी माताके प्यारसे भी अधिक मिठास और गंभीरता पायी थी। और एक विचित्रता यह थी कि सभी यह समझते थे कि माँ सबसे अधिक मुझपर ही स्नेह रखती हैं। यह जो विलक्षण मातृत्व माँमें था उसकी तुलना संसारके इतिहासमें कहीं दीख नहीं पड़ती। उसी भावकी मधुरतासे आज भी श्रीमाँके भक्तोंके हृदय परिपूर्ण एवं परितृप्त हो रहे हैं। एक भक्तके पूछनेपर कि 'माँ, तुम कैसी माँ हो' माँने स्वयं कहा था—

'मैं सचमुचकी माँ हूँ। गुरुपत्नी नहीं, धर्मकी माँ नहीं, बोलनेकी माँ भी नहीं, सचमुच ही माँ हूँ।'

भक्तोंके जूठे बर्त्तन अनेक बार माँ स्वयं धो दिया करती थीं। बच्चोंको गोदमें लेतीं और वे मूत्रादि कर देते तो खराब हुए कपड़ोंको माँ स्वयं ही धो डालतीं। किसी भक्तके जूठे बर्त्तन माँके धोनेपर जब उस भक्तने आपत्ति की तो माँने कहा, 'देखो बेटा, माताकी गोदमें बच्चा कितना हगता-मूतता है? तुम्हारे लिये मैं क्या कुछ कर पाती हूँ।' ऐसे ही किसी दूसरे भक्तसे एक समय माँने कहा था, 'बेटा, तुम लोग मेरे बच्चे हो। माता बच्चोंका कितना गू-मूत साफ करती है। तुम लोग सबसे बड़े होकर मेरे पास आये हो न। मैंने क्या अपराध किया है जो तुम लोगोंकी सामान्य सेवातक न कर पाऊँगी।'

माँको जिस भावसे श्रीरामकृष्ण परमहंस स्वयं देखते थे उसीसे उनके गौरव और महत्त्वका आभास मिलता है। एक समय जब कि श्रीमाँ श्रीरामकृष्णके पैरोंकी ओर बैठ उनके पैर दबा रही थीं उन्होंने पतिसे पूछा कि तुम मुझे किस भावसे देखते हो। श्रीरामकृष्णका उत्तर था, 'जो माँ मन्दिरमें वेदीपर प्रतिष्ठित है, जिस माँने गर्भमें धारणकर मुझे जन्म दिया उसी माँको मैं देखता हूँ कि पैताने बैठकर मेरी सेवा कर रही है।' ऐसे ही एक दूसरे समय श्रीराम-कृष्णने श्रीमाँसे कहा था, 'तुम मेरी माँ आनन्दमयी (अर्थात् जगदम्बा) हो।' उसी जगदम्बिकाके रूपमें देखकर उन्होंने श्रीमाँकी यथाविधि षोडशी पूजा की थी।

माँ किसी जाति, प्रान्त या देशकी संकीर्ण चहार-दीवारीके लिये नहीं अपितु समस्त जगत्के कल्याणके लिये अवतीर्ण हुई थीं। विभिन्न देशों, धर्मों और समाजोंमें उनके भक्त थे जिनके हितकी चिन्ता उनके हृदयमें सर्वोपरि रहती थी। पुष्करिणीमें स्नान करके बाहर आ जगन्माताको हाथ जोड़कर प्रणाम कर ये प्रार्थना किया करतीं, 'माँ जगदम्बा! जगत्का कल्याण करो।'

श्रीरामकृष्णकी भाँति उनमें भी एक अपूर्व विश्व-व्यापकता थी। वे मानो सारे जगत्की थीं और सारा जगत्

उनका था। हिंदू होते हुए भी उन्हें सभी धर्मों और संस्कृतियोंपर अनुराग था। विशेषकर किसी नये धार्मिक विचार या भावमें जिस सुगमतासे प्रवेशकर वे उसे अपना-पाती थीं उसको देखकर लोग चकित रह जाते थे। ऐसा मालूम होता था कि मानो वे सदा उसी धर्मके वातावरणमें पली हों। भगिनी निवेदिताने श्रीमाँसे एक बार ईसाई धर्मानुसार विवाह-कृत्यके वर्णनमें वर-वधूकी उस शपथकी चर्चा चलाई थी जिससे वे सदाके लिये एक दूसरेका होना अङ्गीकार कर लेते हैं—चाहे वे अच्छे रहें या बुरे, धनी या निर्धन, स्वस्थ या अस्वस्थ। उनके वचनोंको सुनकर श्रीमाँमें एक अद्भुत भावावेश हो गया था।

माँमें प्राचीन और नवीन युगका एक सुन्दर और अनुपम सम्मिश्रण था। जहाँ एक ओर वे शास्त्रादि तथा प्राचीन संस्कृतिकी मर्यादाका यथोचित पालन करती थीं वहाँ दूसरी ओर वे आधुनिक युगकी उन्नतियोंकी उपेक्षा न कर उन्हें ग्रहण करतीं और सामाजिक कुरीतियों और कुप्रथाओंको दूर करनेका यथासम्भव प्रयत्न करती थीं। जहाँ एक ओर वे गुरु, अतिथि, ब्राह्मण, साधु इत्यादिका यथाशक्ति सम्मान-सेवा करतीं वहाँ दूसरी ओर वे सामाजिक अत्याचारों और कुत्सित व्यवहारोंको देखकर यन्त्रणासे पीड़ित हो उठतीं।

श्रीमाँने देशपर्यटन भी पर्याप्त किया था। तीर्थदर्शनके निमित्त वे कई बार बङ्गालसे बाहर भारतके अन्य प्रान्तोंमें गयी थीं। पश्चिममें काशी-वृन्दावन इत्यादि, दक्षिणमें पुरी-धाम और एक बार दक्षिणाञ्चलमें सेतुबन्ध रामेश्वरतक उनका जाना हुआ था। जहाँ-जहाँ वे जातीं वहाँ-वहाँ अनेक लोग उनके दर्शनको आते और उनकी अपूर्वतासे भक्ति और आश्चर्यमें डूब जाते। मद्रासमें भी माँ कुछ दिन रही थीं और वहाँके कई स्त्री एवं पुरुष भक्तोंने उनसे मंत्रदीक्षा पाई थी। इस देशभ्रमणसे माँको संसारके विविध विषयोंका अच्छा ज्ञान और अनुभव हो गया था।

सन् १८८६ ई० में जिस समय श्रीमाँ ३३ वर्षकी थीं श्रीरामकृष्णने स्थूल देहमें अपनी लीला संवरण की। पतिकी असह्य और सांघातिक बीमारीमें श्रीमाँने जैसी सेवा उनकी की थी उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। पतिके देह-त्यागके उपरान्त माँके हृदयमें भी चले जानेकी इच्छा एक बार हुई थी। उस समय श्रीरामकृष्णने उन्हें दर्शन देकर कहा था, 'नहीं, तुम ठहरो। अभी बहुत काम बाकी है।' इस सम्बन्धमें माँ पीछे कहती थीं, 'बादको देखा, सचमुच बहुत काम बाकी था।'

पतिके आदेशानुसार श्रीमाँने संसारमें रहकर भक्तोंको शिक्षा-दीक्षा देते हुए और जगत्‌का कल्याण करते हुए अपना शेष सांसारिक जीवन व्यतीत किया। सन् १९२० ई० की २१ जुलाईको अपने जीवनका कार्य पूरा कर चुकनेपर उन्होंने अखंड समाधि ले श्रीरामकृष्णके साथ पुनः पूर्ण-मिलन किया। भक्तोंके लिये वे और श्रीरामकृष्ण सदैव एक ही सत्ता थे। एकसे विभिन्न दूसरेका अस्तित्व भक्तोंकी कल्पनामें भी नहीं आता।

सांसारिक जीवनके अन्तके दिनोंमें भी जब श्रीमाँ बड़े विषम रोगसे कष्ट पा रही थीं उन्होंने अपनी अपूर्व भक्तवत्सलता नहीं छोड़ी। भक्तोंको दर्शन देनेके लिये, उनके सेवा-सत्कार और शिक्षाके प्रयोजनसे वे अपने शरीरकी भी चिन्ता न कर उठ आतीं और उनके हृदयमें सुख-शान्ति बरसातीं। सैकड़ोंको माँने अपने जीवनमें दीक्षा दी, सहस्रोंको धैर्य और सान्त्वना दे उनकी अशान्तिको दूर किया। आज इतने वर्ष पश्चात् भी माँके जीवनकी छाप इस भारतवर्षमें ही नहीं प्रत्युत समस्त संसारमें दिनपर दिन अधिक गहरी होती जा रही है। कहा जाता है कि श्रीरामकृष्णके विवाहके अनन्तर उनकी सासने उनका सांसारिक विषयोंके प्रति उदासीन भाव देखकर एक समय दुःख प्रकट करते हुए कहा था, 'अहा! मेरी लड़की बिना सन्तानहीके रह जायेगी।' इसपर श्रीरामकृष्णने अपनी साससे कहा था, ''चिन्ता मत करो। एक क्या तुम्हारी लड़कीके इतने बच्चे होंगे कि वह 'माँ' 'माँ' की पुकारका उत्तर देते-देते थक जायेगी।'' यह भविष्य-वाणी समय पाकर अक्षरशः कैसी यथार्थ हो गयी यह किसीसे छिपा नहीं है। जगत्‌के कोने-कोनेमें उनके भक्तलोग उनकी पुण्य स्मृतिसे अपनेको आज पवित्र और कृतार्थ कर रहे हैं।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

मृत्यु-दुःख और भय

(लेखक—श्रीब्रजमोहनजी मिहिर)

मृत्युके दुःखके सम्बन्धमें अधिकतर मनुष्य बिल्कुल ही अनभिज्ञ हैं। घटनाके पूर्व इसकी कल्पना सम्भावित नहीं है। इसके विज्ञानको प्रकट करनेके लिये विशेषज्ञोंने चेष्टा की है, लेकिन उसके आधारपर प्राणी पहलेसे उसकी वास्तविकता-को समझनेमें असमर्थ है। किसी विषयमें दूसरोंके कथनपर उसका अनुमान करना परोक्षज्ञान है। मृत्युके समय प्राणीके अंदर क्या परिवर्तन हो रहा है—इसका दूसरोंके कथनपर भला, कैसे अनुभव किया जा सकता है! बाह्यरूपमें यह देखा जाता है कि किसीको अधिक वेदना होती है और किसीको कुछ कम। किसीकी मृत्यु शीघ्र हो जाती है और किसीके प्राण कई दिनोंतक कष्ट भुगतनेके पश्चात् निकलते हैं। मृत्युके समय या मृत्युके बाद किसीका चेहरा विकृत और भयानक दिखलायी पड़ता है और किसीकी आकृति ऐसी दिखलायी पड़ती है मानो वह गाढ़ निद्रामें सो रहा है। इनको देखकर हम सिर्फ इतना ही कह सकते हैं कि जिसकी आकृति नहीं बिगड़ी, वह सुखसे मरा और जिसका चेहरा देखनेमें भयावना मालूम होता है, वह दुःखके साथ मरा। इन दोनों प्रकारके प्राणियोंको मृत्युके समय क्या सुख-दुःख था, इसकी हम कोई सच्ची कल्पना नहीं कर सकते। इस दृश्यसे मृत्युके दुःख और भयका प्रश्न ज्यों-का-त्यों बना रहता है। फिर दूसरोंके सुख-दुःखके आधारपर हम अपने सुख-दुःखकी कोई कल्पना नहीं कर सकते। मृत्युके समय यदि दो क्षणके लिये भी कोई असह्य और असाधारण वेदना हुई तो वह भी प्राणीको प्रकम्पित और भयभीत कर देनेके लिये यथेष्ट है। उस क्षणिक वेदनाके समय आनन्दकी स्फूर्तिका आत्यन्तिक अभाव हो जायगा। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि मृत्युके सुख-दुःखका ठीक-ठीक पता चला लेना कठिन है। यह भी सम्भव है कि उस समय प्रत्येककी दशा भिन्न-भिन्न प्रकारकी होती हो। अतः इस लेखमें इस दृष्टिकोणसे विचार किया जा रहा है कि साधारण मनुष्योंके लिये क्या ऐसा जीवन सम्भव हो सकता है, जिसमें मृत्युके समयके सुख-दुःखका कोई प्रश्न ही न उठ सके। जीवन-कालमें शान्त और निर्मल मनकी अवस्था तथा स्वस्थ शरीरकी स्थिति एकान्त सम्भव है। जीवन जब सब प्रकारसे शुद्ध और शान्त हो चुका है, तब प्रत्यक्षमें किसी ऐसे कारणका अनुमान करना युक्तिसङ्गत न होगा जिससे मृत्युके समय अवश्य ही दुःख और भयग्रसित होना पड़े।

मृत्युके समयके कष्ट और भयको हम दो भागोंमें विभक्त कर सकते हैं—शारीरिक कष्ट और मानसिक भय। शरीरद्वारा सम्पादित कार्यको हम स्थूलशरीरका स्थूल कार्य कहते हैं। शरीरके पर्यवसानके साथ इसका भी उस क्षेत्रद्वारा सम्पादन किये जानेके क्रमका अन्त हो जाता है। मृत्युके पश्चात् प्रत्यक्षरूपमें कार्यका अन्त हो जाता है लेकिन प्राक्तन कर्म प्राणीके साथ उसके संस्कार बनकर विद्यमान रहते हैं और उसे सुख-दुःखके चक्करमें नचाया करते हैं। ये दो प्रकारके होते हैं—एकका सम्बन्ध शरीरके साथ रहता है और दूसरोंका भावके साथ, शरीरकी स्वस्थता और मनके निर्मलभाव दोनों मिलकर उसकी पूर्णता सम्पादन करते हैं। जो स्वास्थ्यके नियमोंकी अवहेलना करते हैं, वे सदा रोगग्रस्त रहते हैं। मृत्युके समय भी वे अनेक प्रकारकी कठिन व्याधियोंसे उत्पीड़ित रहते हैं, जिसके कारण उन्हें बहुत कष्ट होता है। कफकी वृद्धिके कारण वे बहुत समयतक मरणशय्यापर मूर्छित पड़े रहते हैं और उनकी प्राण निकलनेकी अन्तिम घड़ी भी कष्टमय बीतती है।

उत्पत्ति और मृत्यु दोनों जीवनकी असाधारण स्थितियाँ हैं, लेकिन स्वाभाविक परिस्थितिमें दोनों ही भय करनेकी दशा नहीं हैं। दोनों ही प्रकृतिके कार्य हैं, अतः विशेष कष्टप्रद नहीं हैं। सहने योग्य थोड़ा कष्ट हो सकता है, लेकिन यह कुछ नहीं है; क्योंकि ऐसे अवसर तो जीवनकालमें भी निरन्तर आते रहते हैं। प्रकृतिकी किसी वस्तुको देखनेसे यह सहजमें मालूम हो जाता है कि उसका नूतन विकास और अन्त दोनों ही कष्टरहित हैं। पुष्प और फल दोनों ही क्रमशः विकसित होते हैं, कुछ समयतक पेड़में रहनेके पश्चात् एक दिन साधारणतः धरातलगामी हो जाते हैं; उनके रूप-सौन्दर्य और सुगन्धमें तुरन्त ही कोई अन्तर नहीं हो जाता है। हम प्राणियोंकी भी ऐसी ही दशा है, बल्कि इससे भी उन्नत; क्योंकि मनुष्य उनकी अपेक्षा विकासके उन्नततर क्रममें हैं।

प्रकृतिमें भी कुछ ऐसे प्रचण्ड कार्य होते रहते हैं, जो

प्रत्यक्षमें मनुष्य-जीवनपर भीषण आघात करते हुए प्रतीत होते हैं। उनपर अपना आधिपत्य स्थापित करनेके लिये विशेषज्ञ अनेकों उपायोंका प्रयोग कर रहे हैं। उन्हें रोकनेका जितना अधिक अनुचित प्रयास किया जाता है, उतना ही तीव्र उसका विरुद्ध परिणाम होता है। भूकम्प, बाढ़, अतिशय शीतोष्ण आदि प्रकृतिके आकस्मिक और आनुषंगिक कार्य हैं। लेकिन इसमें भी प्रकृतिका कुछ गूढ़ रहस्य निहित है। इन कार्योंद्वारा प्रकृति स्वयं अपनेको बनाती-बिगाड़ती रहती है, किन्तु इसमें भी अन्ततोगत्वा मनुष्यका कल्याण है। जीवनके साधारण दुःख जैसे मनुष्यको उसके अज्ञानयुक्त कार्यसे चेतावनी देते रहते हैं, वैसे ही प्रकृति इन कार्यों-द्वारा समष्टि संसारको सचेत करनेका प्रयत्न करती रहती है। प्रकृतिके इन प्रकोपोंके उत्तराधिकारी हम मनुष्य ही हैं, जिन्होंने उसके प्रति अपने दायित्वको नहीं समझा है। इन प्रकोपोंके होनेमें मनुष्यके कार्योंका घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह एक बहुत ही जटिल प्रश्न है कि आये दिन इस प्रकारका विनाशकारी कार्य क्यों हो जाया करता है। निम्नलिखित बातोंपर विचार करनेसे इसके रहस्यका कुछ थोड़ा-सा पता चलता है।

संसारकी बहुत-सी बातें आजकल एक विचित्र ढंगपर चल रही हैं। इस सभ्यता और स्वार्थने मनुष्योंकी बुद्धिपर अज्ञानका आवरण छोड़ रक्खा है। हम लोगोंके रहन-सहन, विचार, कर्म और भावकी गति बड़े वेगसे इन्द्रियसुखकी ओर दौड़ रही है। आधुनिक समयका भारतवर्ष प्राचीन भारतवर्षकी सभ्यता, उसके रहन-सहनकी प्रणाली, विचार, भाव और कर्मसे नितान्त दूसरे प्रकारका हो रहा है। उस समयके लोगोंका जीवन केवल इन्द्रियसुख-भोगके लिये नहीं था, अपि तु जीवनके गहन विषयोंपर विचार करने और जीवनको वास्तविक रूपमें समझनेके लिये था। उस समयके लोगोंका जीवन बहुत सरल था। संसारके कल्याणके हेतु उन्होंने बहुत गम्भीरतापूर्वक विचार किया था। उनके अंदर क्षणिक सुखकी कोई चाह नहीं थी। उनका ध्येय केवल इस ओर था कि जीवनकी समता कैसे प्राप्त की जा सकती है। आजकल लोगोंका ध्येय अपने सुख, अपनी जाति और देश-के भौतिक सुखकी ओर विशेष हो गया है। आजके ऐसा अमानुषिक संहार मेरी कल्पनामें इसके पूर्व कभी नहीं था। अब कभी दुनिया सुधरेगी तो उसकी दृष्टिमें आजकलका समाज बहुत हेच समझा जायगा। इस समयकी सभ्यतापर लोग मखौल उड़ायेंगे।

आजकल लोग पाशविक शक्तिके उपासक हो रहे हैं। आधुनिक साम्राज्यवादमें रामराज्यका सुख निरा स्वप्न है। लोगोंका जीवन बिल्कुल ही प्रकृतिके विरुद्ध है। वैज्ञानिकोंने बहुत-सी नयी-नयी बातोंका अन्वेषण किया है, जिनके लिये मनुष्यके सरल जीवनमें कोई स्थान नहीं है और उनका अधिक-से-अधिक दुरुपयोग हो रहा है। यन्त्रोंका प्राचुर्य आजकलके लोगोंकी दयनीय दशा और दुःखका मुख्य कारण हो रहा है। इसने ही मनुष्यको मनुष्यका शत्रु बना दिया है। साइकिलसे लेकर हवाई जहाजतक मनुष्यके जीवनमें कोई स्थान नहीं रखते; फिर विषैली गैस तथा और बहुत-से विनाशकारी अस्त्र-शस्त्रोंका तो जिक्र ही क्या किया जाय? आधुनिक आविष्कारोंमें रेडियोका भी एक मुख्य स्थान है। इसके सम्बन्धमें यह प्रमाणित हो चुका है कि जहाँपर इसके स्टेशन हैं, वहाँके आसपास कई मीलोंतक भूमिकी उत्पादक-शक्ति नष्ट हो जाती है। रेल, बिजली तथा अन्य ऐसी चीजें मनुष्यके जीवनमें कोई प्रमुख स्थान नहीं रखतीं। अपनी शक्तिको बढ़ानेके लिये और शारीरिक सुखको सामने रखकर ही इस समय बहुत-से आविष्कार किये जाते हैं, जिसका परिणाम संसारमें दुःख और अशान्ति बढ़ाना है। इस समयका युद्ध इस प्रकारके आविष्कारोंका जीवित, ज्वलन्त उदाहरण है।

दूसरी बात यह है कि जितना हम अपने सुखके सामान बाहर तलाश करते हैं, उतना ही मनुष्यका जीवन उत्तरोत्तर अशान्त, कटु और दुखी होता जाता है। क्या मनुष्य कभी इस बातपर विचार करता है कि मोटरगाड़ीपर चढ़नेके लिये या आलीशान महलोंमें रहनेके लिये या बिजलीकी रोशनी इस्तेमाल करनेके लिये, वह कितने मनुष्योंको बंदी बनाकर दुखी करता है? बड़ी-बड़ी मिलें तथा कारखाने चलाकर कुछको रोटी देकर कितनोंके मुखसे रोटी छीनता है और उनके हृदयको आहत करता है? किसी खदानमें काम करते हुए या ऐसा और कोई भीषण काम करते हुए अगर आप किसीको देखें तो इसका भली प्रकार ज्ञान हो जायगा कि आधुनिक विनाशकारी सभ्यताने मनुष्यजीवनको कितना नीचे गिरा दिया है! पेटकी ज्वाला शान्त करनेके लिये मनुष्य क्या करनेको नीचे नहीं गिराया जा चुका है! दुखी मनुष्योंकी आहने संसारको जलता हुआ अग्निकुण्ड

बना दिया है। जबतक आजकलकी सभ्यता ठीक न होगी, संसारमें सुख-चैन बहुत दूरकी वस्तु है।

प्रकृति भी इस समय मनुष्यके जीवनका साथ नहीं दे रही है, क्योंकि हम मनुष्योंने इसपर प्रभुत्व स्थापित करनेकी इच्छासे इसपर भी भाँति-भाँतिका अत्याचार करना शुरू कर दिया है। प्रकृतिने मनुष्यके अभ्युदय और सुखका बहुत ही अच्छा और समुचित प्रबन्ध किया है। उर्वरा भूमि, सुन्दर जलवायु, भाँति-भाँतिके फल, पुष्प और अन्न मनुष्य-जीवनके लिये पर्याप्त हैं। इनको प्रकृतिने इस संसारमें सुख-चैनसे रहनेके लिये हम लोगोंको प्रचुर मात्रामें प्रदान किया है। लेकिन मनुष्योंको प्रकृतिकी इस दानशीलतासे सन्तोष नहीं हुआ। मनुष्यने रत्नगर्भा पृथ्वीकी उन चीजोंपर अपना अधिकार स्थापित करनेके लिये, जिन्हें उसने किसी दूसरे उपयोगके लिये रख छोड़ा था, खनन करना आरम्भ कर दिया। मनुष्योंके इस आचरणसे पृथ्वीकी स्वाभाविक दशा नष्ट हो गयी। नदियोंका मार्ग रोक दिया गया, समुद्रको सुखा देनेका उपाय सोचा गया, घने जंगल काटकर सूखे मैदान बना दिये गये, जीव-जन्तुओंपर आक्रमण किया गया तथा और भी सैकड़ों बातें इस ढंगकी की जा रही हैं। इन्हीं सब कारणोंसे प्रकृति हम लोगोंके विरुद्ध हो गयी है। गरीब मनुष्योंकी आह, प्रकृतिकी विरुद्धता, आधुनिक सभ्यता आदिने मिलकर भीषण और विपरीत परिस्थितिकी रचना की है। भूकम्प, बाढ़, तूफान आदि इन्हीं कारणोंके परिणाम हैं। जबतक इस ढंगकी सभ्यता कायम रहेगी, तबतक प्रकृति-का इस प्रकारका प्रकोप भी विद्यमान रहेगा।

इन सब बातोंके रहस्यको भली प्रकार न जाननेसे यह मुसीबत आयेदिन सिरपर खड़ी रहती है। शायद दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि भूमण्डलका जो स्थान मनुष्योंके रहने योग्य नहीं है, वहाँ लोगोंने प्रकृतिकी मर्जीके खिलाफ उसकी अपरिपक्व दशामें रहना आरम्भ कर दिया है। हमारी समझमें इसी प्रकारके अनेकों कारण हैं, जो प्रकृतिकी विरुद्ध अवस्थाको उत्पन्न करते हैं।

इस गम्भीर विषयको यहीं छोड़कर अब मैं पाठकोंका ध्यान उन कारणोंकी ओर आकृष्ट कर रहा हूँ, जिनकी अवहेलना करनेसे लोगोंका जीवन दुःखमय और अशान्त हो जाता है, और मृत्युका समय भी कष्टमय प्रतीत होता है।

स्वास्थ्यके साधारण नियमोंका पालन करनेपर मनुष्य जीवनकालमें प्रसन्न और सुखी रहता है तथा उसके अन्तिम क्षण कष्टरहित बीतते हैं। स्वास्थ्यको ठीक रखनेमें भोजन अपना विशेष महत्त्व रखता है। गीतामें इस विषयके अनेक श्लोक आये हैं। पुराणके कथानकोंसे भी यह बात स्पष्ट हो जाती है कि स्थायी शान्ति और आनन्दकी प्राप्तिके हेतु भोजन-सम्बन्धी बातोंपर भली प्रकार मनन किया जा चुका है। चित्रकूटमें राम-नाम जपनेके माहात्म्यका वर्णन करते हुए यह लिखा गया है कि पयस्विनी नदीमें नित्य स्नान कर दूध और फलका भोजन करते हुए राम-नामके जपमें रत रहना चाहिये। इससे शरीर शुद्ध और मन निर्मल हो जाता है।

श्रीरामायणजीमें माता पार्वतीकी कठिन तपस्याके प्रकरणमें भी यह कहा गया है कि वह कन्द-मूलका भोजन करके तपस्यामें रत रहती थीं, दूधके लिये भी यहाँ कोई स्थान नहीं रक्खा गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कन्द-मूलका आहार ही शरीर-शुद्धिके लिये सबसे उत्तम भोजन समझा गया है। इस प्रकारका भोजन करते हुए जीवन व्यतीत करनेपर शरीरान्तके समय किसी असाधारण कष्टका होना सम्भव नहीं है। वृद्धावस्था आनेपर इन्द्रियोंके शिथिल हो जानेपर उनका शारीरिक व्यापार शान्त हो जाता है और प्राण एक दिन स्वाभाविक गतिसे जीर्ण कलेवरको छोड़कर निकल जाते हैं। वास्तविक स्वस्थ मनुष्यको मृत्युके समय कोई कष्ट नहीं होता।

मनका व्यापार ऊपरकी बातोंसे कुछ सम्बन्ध तो अवश्य रखता है, लेकिन फिर भी उससे भिन्न प्रकारका है और स्थूल कार्योंसे कुछ अधिक सूक्ष्म है। मनका सुख-दुःख शरीरके सुख-दुःखसे अधिक बलवान् है और इसलिये उसे छोड़नेमें कुछ और कठिन प्रयास करना पड़ता है। मनके सुख-दुःखका सम्बन्ध उसकी वासनासे है, अतः वह अधिक सूक्ष्म है। शरीरद्वारा जो कार्य निरन्तर होता रहता है, वही कालान्तरमें उसका संस्कार बन जाता है। स्थूल शरीरके न रहनेपर भी इसका अन्त नहीं हो जाता, बल्कि अन्य शरीरके साथ भी इसका क्रम बना रहता है। काम-क्रोध, लोभ-मोह, राग-द्वेष, तृष्णा आदि मनके सूक्ष्म व्यापार हैं। इनसे छुट्टी लेनेके लिये उचित प्रयासकी जरूरत पड़ती है, वर्ना मरते समय इन वासनाओंसे आच्छादित मनको बहुत कष्ट होता है। क्योंकि उस समय भी वह अपने पुराने सम्बन्धको छोड़ना नहीं चाहता। इन वासनाओंमें फँसा मन मरण-

दुःखके वेगको भोगता हुआ उनको अपने साथ लिये हुए विवश होकर शरीरसे अलग होता है।

यदि हमारा शरीर स्वस्थ एवं युक्त आहारद्वारा शुद्ध हो चुका है और मनकी वासनाएँ भी शान्त हो चुकी हैं और राग-द्वेषके भाव मनसे अलग हो चुके हैं तो मेरा ऐसा अनुमान है कि प्राणको शरीरसे निकलते समय कोई असाधारण कष्ट नहीं होना चाहिये। और इसीलिये मरनेसे भय करनेकी कोई जरूरत नहीं मालूम पड़ती। गीतामें भी मृत्युके रहस्यको इसी प्रकार समझाया गया है कि जब शरीर पुराना हो जाता है तो बुद्धिमान् ज्ञानीजन उसे वैसे ही सरलतापूर्वक छोड़ देते हैं जैसे कोई मनुष्य अपने जीवन-कालमें पुराने वस्त्रको त्यागकर नया वस्त्र धारण करता है। इस सत्यको निजी अनुभव कहना तो असत्य ही है, लेकिन सबसे बड़ी कठिनता यह मालूम होती है कि इसके लिये प्रत्येक मनुष्य निजी अनुभव प्राप्त भी कैसे कर सकता है। इतना लिख देनेके बाद भी मृत्युके भयका प्रश्न सर्वथा हल नहीं हो सकता है। स्पष्ट और मुख्य प्रश्न यह है कि हम इस बातकी कल्पना भी कैसे कर सकते हैं कि हम मृत्युसे भयभीत होंगे या नहीं। इस प्रश्नको हम नीचे दी हुई कुछ बातोंको लिखकर और स्पष्ट करनेकी चेष्टा करेंगे।

संसारके सभी प्राणी नित्य कुछ घंटे नींद लिया करते हैं। सोनेके लिये जाते समय यदि मन किसी प्रकारकी चिन्तासे अशान्त और उद्विग्न नहीं है तो हमारे मनमें इस प्रकारका कोई विचार नहीं आता कि निद्रावस्थामें हमारे शरीरको किसी प्रकारका कष्ट हुआ होगा। सोकर उठनेपर प्रातःकाल मन प्रसन्न रहता है, शरीरमें स्फूर्ति मालूम पड़ती है, मस्तिष्क अपने मानसिक कार्योंपर विचार करनेके लिये सब प्रकारसे समर्थ हो जाता है। शरीर भी नित्यकी भाँति काममें लग जाता है। सोने जानेकी दशा, सुषुप्तिकी दशा और सोकर उठनेकी दशा—इन तीनों दशाओंपर विचार करनेसे ऐसी कोई बात समझमें नहीं आती, जिससे कि हम उस अवस्थामें भयका आरोप कर सकें। यह बात जरूर है कि निद्रावस्थामें भी हमारे हृदयकी गति, फेफड़ेकी क्रिया और मस्तिष्कके कार्यमें कोई अन्तर नहीं होता। वे अपना कार्य वैसे ही करते रहते हैं जैसे कि जाग्रत् अवस्थामें करते हैं। इनमेंसे किसीके कार्यमें थोड़ा भी अवरोध होनेसे शरीरपात हो जाता है।

जाग्रत् अवस्थामें श्वासोच्छ्वास-क्रियामें यदि हमारा शरीर स्वस्थ है तो किसी प्रकारकी अड़चन नहीं मालूम पड़ती। यह कार्य सम्भवतः निरन्तर बिना किसी प्रकारके कष्टके होता रहता है। इसके विरुद्ध कोई प्राणी यदि रोगसे ग्रस्त है तो उसके मस्तिष्ककी दशा और साँस लेनेकी क्रियामें अन्तर पड़ जाता है। मन घबड़ाने लगता है और साँस भी जोरसे चलने लगती है। जब ज्वर १०४ डिग्रीके ऊपर पहुँचता है तो प्राणी हाँफने लगता है और कभी-कभी उसे डिलीरियम (सन्निपात) भी हो जाता है। दमेके रोगीको देखनेसे ऐसा मालूम होता है कि उसके फेफड़ेके अंदर साँस आसानीसे नहीं आ-जा रही है, बल्कि साँसको अंदर ले जानेमें उसे तकलीफ भी होती है। इससे यह मालूम हुआ कि रोगकी हालतमें शरीरके अंदर काफी परिवर्तन हो जाता है और जब रोगका कष्ट अधिक बढ़ता है तो साँस लेनेमें भी तकलीफ होने लगती है। इसपर भी जब कष्ट और अधिक बढ़ता है तो प्राण-पखेरू शरीर छोड़कर चले जाते हैं। शरीरके इस विज्ञानपर गौर करनेसे यह साबित होता है कि यदि शरीरको अच्छी हालतमें रक्खा जाय, अर्थात् उसके अंदर विजातीय द्रव्य लेशमात्र भी न रहें तो शरीरकी जीवितावस्थामें उसे कोई कष्ट न होगा, अधिक समयतक मनुष्य जीवित रह सकेगा; और मृत्युके समय भी, जो कि एक निश्चित सत्य घटना है, उसे कोई असाधारण कष्ट न होगा। शरीरको अधिक कष्ट तो शारीरिक व्याधि और मानसिक विक्षेपके कारण होता है। यदि शरीर और मन अच्छी दशामें रक्खे जायँ तो प्राण निकलते समय मेरे अनुमानसे कोई विशेष कष्ट नहीं होना चाहिये। शरीरसे प्राणोंका निकलना भी एक परमावश्यक बात है। जैसे जीवितावस्थामें साँसके आने-जानेकी क्रिया आवश्यक है और इसमें प्राणीको किसी प्रकारके कष्टकी अनुभूति नहीं होती, वैसे ही जब मृत्युकी अवस्था भी जीवितावस्थाकी भाँति आवश्यक और अनिवार्य है तो इसमें भी प्राणीको कोई कष्ट नहीं होना चाहिये।

तीसरी बात योगके सम्बन्धकी है। जिन्हें योगक्रिया सिद्ध हो जाती है वे अपने इच्छानुसार बहुत अधिक समयतक प्राणको शरीरमें अवस्थित रखनेमें समर्थ होते हैं और उन्हें विसर्जन भी कर देते हैं। प्राणोंपर उनका पूरा आधिपत्य हो जाता है। अपने इच्छानुसार वे प्राणोंको किसी मृतक शरीरमें प्रवेश कराके उस शरीरको पुनः जीवित कर लेते हैं। भगवान् श्रीश्रीशङ्कराचार्यके सम्बन्धमें यह कथा प्रसिद्ध है कि कामविज्ञानको जाननेके लिये उन्होंने राजा

अमरूके शरीरमें प्रवेश करके उन्हें पुनः जीवित कर दिया था और फिर उनकी रानीके सहवाससे उन्होंने काम-विज्ञानकी शिक्षा प्राप्त की थी। योगवाशिष्ठमें चूडालाकी कथा भी प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त और भी अनेकों कथाएँ हैं। इन प्रसंगोंको यहाँ लानेका मुख्य अभिप्राय यह है कि जिन्होंने अपने प्राणको वशमें कर लिया है, उन्हें भी मृत्युके समय कोई कष्ट नहीं होता। इस बातको मैंने लिख तो दिया, लेकिन इसमें सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि योगकी प्रक्रिया जन साधारणके लिये सुलभ नहीं है। लेखकको भी इसका उतना अच्छा निजी अनुभव नहीं है। इसके बहुत अच्छा होनेपर भी चूँकि यह आमलोगोंकी पहुँचके बाहरकी बात है, अतः इसके सम्बन्धमें अधिक कहना युक्तिसङ्गत नहीं है। जीवन अथवा सत्य वह वस्तु है, जो नित्यके कार्यमें सबके लिये एक-सी हो।

इस लेखमें हमें अब सिर्फ एक बातपर गौर करना है कि क्या हमारा जीवन ऐसा हो सकता है कि हम आनन्द-पूर्वक स्वतन्त्र होकर इसमें विचरण कर सकें और कार्यके लिये इसके असमर्थ हो जानेपर इसे शान्तिपूर्वक बिना किसी कष्टके छोड़ सकें। इसके एक अङ्ग आहार-विहार-द्वारा शरीरकी शुद्धिपर ऊपर भली प्रकार विचार कर लिया गया है, जो कि एक मुख्य और परमावश्यक बात है। मनको शान्त रखनेके सम्बन्धमें भी कुछ आवश्यक बातें बतलायी जा चुकी हैं। स्वस्थ शरीरमें शान्त मनके निवाससे हम ऐसी कल्पना कर सकते हैं कि मृत्युके समय भी कोई विशेष कष्ट उस प्राणीको न होगा। अब थोड़ी-सी बात रोजके कार्यके सम्बन्धमें और मृत्युके रहस्यपर विचार करनेकी और रह गयी है। जहाँपर स्मृतिका भ्रम है, वहीं मृत्युका साम्राज्य है। तृष्णा और इच्छाका परिणाम स्मृति है। जो प्राणी तृष्णासे रहित हो चुका है, मायाके प्रपञ्चसे विमुक्त हो चुका है, उसके लिये मृत्यु कोई वस्तु नहीं है। इसका न कोई आदि है और न अन्त है, न यह सुखका कोई मार्ग है और न दुःखका कोई कारण है। किसी एक वस्तुके समक्ष उसके विरुद्ध वस्तुकी इच्छा करनेसे हम विच्छेदकी दशा उत्पन्न करते हैं। भयकी दशामें साहसके सञ्चारसे हम उसकी दशाको और भी दृढ़ बनाते हैं। क्योंकि एकके स्थानपर दूसरी वस्तुके चाहनेसे यह प्रकट होता है कि हम अपनी पूर्वकी दशासे बचना चाहते हैं, उसपर पर्दा छोड़ देना चाहते हैं, जो कि सत्य नहीं है। यदि हम भयसे मुक्त होना चाहते हैं तो हमें उसके कारणसे स्वतन्त्र हो जाना चाहिये, जो कि तृष्णा है। तृष्णाके न रहनेपर हमारे सम्मुख भय और उसकी विरोधी दशा साहस या वीरता भी नहीं रह जाती। जाग्रत् हो जानेसे ही हम अपने अंदर इस दशाको ला सकते हैं। हमें हमेशा सजग रहना चाहिये, हमें इसपर भी गौर करते रहना चाहिये कि हम भयकी विरुद्ध दशा केवल साहसकी तो इच्छा नहीं कर रहे हैं। कार्यमें किसी मुख्य अभिप्रेतके न रहनेसे परिस्थिति स्वाभाविक बन जाती है। इसलिये अपने स्वार्थकी ओर विशेष ध्यान रहना चाहिये कि उससे हम सब प्रकारसे स्वतन्त्र हो जायँ।

इसे समझ लेनेपर कालका बन्धन टूट जाता है, इसलिये मृत्युका दुःख भी वर्तमान निश्चिन्तताके सम्मुख नतमस्तक हो जाता है। दूसरेकी मृत्यु देखकर भी मनमें भय उत्पन्न होता है। किसी ऐसेकी मृत्यु हो जानेपर, जिसके साथ हमारा प्रगाढ़ प्रेम था, बहुत वेदना और कष्ट होता है। ऐसा मालूम होता है कि अपना कोई नहीं रह गया है। अधिक निराश हो जानेपर फिर यह इच्छा उत्पन्न होती है, ऐसी कल्पना मनमें आती है कि वह प्राणी कहीं-न-कहीं अवश्य होगा और इससे हम सन्तोष कर लेते हैं कि फिर शायद कभी संयोगवश भेंट हो जाय। लेकिन मनमें किसी प्रकारकी इच्छाके न रह जानेसे किसी बातकी कल्पना करने-की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। इच्छाका आत्यन्तिक विनाश हो जानेपर दुःखकी कल्पना असम्भव है। अपना-पन न होनेसे अपनी मृत्यु या दूसरेकी मृत्युमें कोई भेद नहीं रह जाता। यह अद्वैतकी पूर्णावस्था है। जहाँपर केवल एकके अतिरिक्त कोई अन्य वस्तु है ही नहीं, वहाँपर दुःख कैसा?

उपर्युक्त बातोंसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मृत्यु कोई ऐसी दशा नहीं है जिससे घबड़ाना चाहिये।

आहार-संयमद्वारा शरीरके पूर्ण स्वस्थ रहनेपर और उचित प्रयासद्वारा मनके निर्मल, शुद्ध, स्वतन्त्र और निर्भीक हो जानेपर मृत्युके समय प्राण सहजमें ही उस शरीरसे बाहर निकल जाते हैं। इस दशामें प्राणीको मरनेका कोई कष्ट नहीं होता। इस कथनको हम विचारकी केवल कल्पना ही नहीं कहेंगे; क्योंकि विचार, भाव और कार्यपर ही शरीरके क्रमकी गति अवलम्बित है। जब प्राणी अपने सब प्रकारके स्थूल शरीरके कार्योंसे और मनके बन्धनोंसे मुक्त हो चुका है तो परिस्थिति आधाररहित होकर उसे कष्ट पहुँचानेमें असमर्थ है। इस दशाको प्राप्त करनेके हेतु जीवन विवेकयुक्त होना चाहिये।

Regd. No. A. 175.

श्रीहरिः

ब्रह्मसाक्षात्कारके उपाय

योगीको चाहिये कि वह मनको एकाग्र करके पर्वतोंकी निर्जन गुफाओंमें, देवताओंके मन्दिरोंमें अथवा शून्य घरोंमें रहनेका उपक्रम करे। वह मन, वाणी तथा कर्मसे किसीका भी संग न करे; क्योंकि वस्तुओंका संग्रह अथवा संग योगियोंको दुःखदायी हो जाता है। सबकी ओरसे उपेक्षा रक्खे। नियमित रीतिसे आहार करे। लाभसे प्रसन्न न हो, हानिसे उदास भी न हो। निन्दा करनेवाले और प्रणाम करनेवालेपर समान दृष्टि रक्खे। किसीका शुभ हो रहा है अथवा अशुभ हो रहा है, इसका विचार न करे। लाभ होनेपर बड़े भारी हर्षमें न भर जाय और हानि होनेपर बड़ी भारी चिन्ता भी न करे। सब प्राणियोंपर समभाव रक्खे और वायुके समान असङ्गवृत्ति रक्खे। इस प्रकार मनको स्वस्थ रखनेवाला, दूसरेके कामोंको साधनेवाला, सर्वत्र समदृष्टि रखनेवाला और छः महीनेतक नित्य नियमसे रहनेवाला पुरुष ब्रह्मका दर्शन करके ब्रह्मरूप हो जाता है।

(महाभारत शान्तिपर्व)

कल्याण

वर्ष
१४

अङ्क
१०

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियराम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ आगारा ॥

[संस्करण १,५६,००]

वार्षिक मूल्य
भारतमें ४≡)
विदेशमें ६॥≡)
(१० शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत चित आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ।)
विदेशमें ।≡)
(८ पेंस)

Edited by H. P. Poddar and C. L. Goswami, M. A. Shastri
Printed and Published by Ghanshyamdas Jalan at the Gita Press, Gorakhpur (India)

श्रीहरिः

आपका ग्राहक-नंबर

'कल्याण'के रैपरपर आपके नामके साथ लिखे हुए ग्राहक-नंबरको उपर्युक्त स्थानपर नोट कर लें। कल्याण-कार्यालयसे किसी प्रकारका भी पत्र-व्यवहार करते समय और खास करके आगामी वर्षका चन्दा भेजते समय मनीआर्डर-कूपनमें या वी० पी० के लिये आर्डर या मनाही देते समय पत्रमें भी अपनी ग्राहक-संख्या अवश्य लिखनेकी कृपा करें। इससे आपकी आज्ञाका शीघ्र पालन करनेमें हमें सुविधा होगी।

—व्यवस्थापक, 'कल्याण'

कल्याण मई सन् १९४० की

विषय-सूची

वर्तमान (१४ वें) पूरे वर्षके अब और ग्राहक न बनाये जायँगे

गीतातत्त्वाङ्कके बादके अङ्क बहुत कम बचे हैं, जिनमें २ रा और ४ था तो प्रायः समाप्त हो गया है। अतः अब इस वर्षके और ग्राहक नहीं बनाये जा सकते। परन्तु जो सज्जन समाप्त हुए अङ्कोंके बदले गत वर्षोंके अङ्क लेना चाहें, वे ४≡) भेजकर ग्राहक बन सकते हैं।

जिन्हें पूरे ही वर्षका ग्राहक बनना हो, वे ४≡) भेजकर आगामी वर्षके अगस्तमें प्रकाशित होनेवाले 'साधनाङ्क' से ग्राहक बन जायँ।

—व्यवस्थापक, 'कल्याण'

श्रीहरिः

गीताप्रेस, गोरखपुरकी गीताएँ

श्रीमद्भगवद्गीता–[श्रीशाङ्करभाष्यका सरल हिन्दी-अनुवाद] इसमें मूल भाष्य तथा भाष्यके सामने ही अर्थ लिखकर पढ़ने और समझनेमें सुगमता कर दी गयी है। पृष्ठ ५१९, ३ चित्र, मूल्य साधारण जिल्द २॥), बढ़िया कपड़ेकी जिल्द .... २॥।)

श्रीमद्भगवद्गीता–मूल, पदच्छेद, अन्वय, साधारण भाषाटीका, टिप्पणी, प्रधान और सूक्ष्म विषय एवं त्यागसे भगवत्प्राप्तिसहित, मोटा टाइप, कपड़ेकी जिल्द, पृष्ठ ५७०, ४ चित्र, मूल्य .... १।)

श्रीमद्भगवद्गीता–मराठी टीका, हिन्दीकी १।) वाली नं० २ के समान, मूल्य .... १।)

श्रीमद्भगवद्गीता–प्रायः सभी विषय १।) वाली नं० २ के समान, विशेषता यह है कि श्लोकोंके सिरेपर भावार्थ छपा हुआ है, साइज और टाइप कुछ छोटे, पृष्ठ ४६८, मूल्य ॥=) सजिल्द .... ॥।=)

श्रीमद्भगवद्गीता–बंगला टीका, गीता नं० ४ की तरह, मूल्य .... ॥।)

श्रीमद्भगवद्गीता गुटका–(पाकेट साइज) हमारी १।) वाली गीताकी ठीक नकल, साइज २२×२९–३२ पेजी, पृष्ठ-संख्या ५८८, सजिल्द मूल्य .... ॥)

श्रीमद्भगवद्गीता–श्लोक, साधारण भाषाटीका, टिप्पणी, प्रधान विषय, साइज मझोला, मोटा टाइप, गीता नं० ११ की तरह, पृष्ठ ३१६, मूल्य ॥), सजिल्द .... ॥≡)

श्रीमद्भगवद्गीता–मूल, मोटे अक्षरवाली, सचित्र, मूल्य ।-) सजिल्द .... ।≡)

श्रीमद्भगवद्गीता–केवल भाषा, अक्षर मोटे हैं, १ चित्र, मूल्य ।) सजिल्द ... ।=)

पञ्चरत्न गीता–मूल, सचित्र, मोटे टाइप, पृष्ठ ३२८, मूल्य सजिल्द ... ... ।)

श्रीमद्भगवद्गीता–साधारण भाषाटीका, पाकेट साइज, सभी विषय ॥) वाली गीता नं० ७ के समान, सचित्र, पृष्ठ ३५२, मू० =)॥ स० ... ... ≡)॥

गीता–मूल ताबीजी, साइज २×२॥ इञ्च, मूल्य सजिल्द ... ... =)

गीता–मूल, विष्णुसहस्रनामसहित, सचित्र–सजिल्द ... . -)॥

श्रीमद्भगवद्गीता–७॥×१० इञ्च साइजके दो पन्नोंमें सम्पूर्ण, मूल्य ... ... -)

पता–**गीताप्रेस, गोरखपुर।**

संस्कृतका कुछ सानुवाद पुस्तकें—

श्रीहरिः

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीके कुछ ग्रन्थ

श्रीहरिः

श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारद्वारा लिखित और अनुवादित

कुछ सरल, सुन्दर, शिक्षाप्रद आध्यात्मिक पुस्तकें

विनय-पत्रिका—(गोस्वामी तुलसीदासजीकृत) सरल भावपूर्ण हिन्दी-अनुवाद, चित्र २ सुनहरी, ३ बहुरंगे, १ सादा, पृष्ठ ४९६, मूल्य १) सजिल्द .... १।)

दोहावली—(गोस्वामी तुलसीदासजीकृत) भाषानुवादसहित, पृष्ठ २२४, दो सुन्दर तिरंगे चित्र, मूल्य ॥)

नैवेद्य—चुने हुए चेतावनी और शिक्षापूर्ण २८ निबन्ध और ६ कविताओंका सचित्र सुन्दर संग्रह, मू० ॥) स० ॥≈)

तुलसीदल—भक्ति और प्रेमसे परिपूर्ण २४ निबन्ध और ३ कविताएँ, सचित्र, पृष्ठ २९८, मूल्य ॥), स० ॥≈)

उपनिषदोंके चौदह रत्न—सरल भाषामें १४ कथाएँ, १४ चित्र, पृष्ठ १०४, मूल्य .... ।=)

प्रेमदर्शन—नारद-भक्ति-सूत्रकी प्रेममयी विस्तृत टीका, ३ रंगीन चित्र, पृष्ठ २०८, मूल्य .... ।-)

कल्याण-कुञ्ज—मनन करने योग्य सुन्दर उद्गारोंका संग्रह, सचित्र, पृष्ठ १६४, मूल्य .... ।)

मानव-धर्म—सरल भाषामें धर्मके दस लक्षणोंका विस्तृत विवेचन, पृष्ठ ११६, मूल्य .... ≡)

साधन-पथ—साधन-पथके विघ्नों, निवारणके उपायों तथा सहायक साधनोंका वर्णन, सचित्र, पृष्ठ ८०, मूल्य =)॥

भजन-संग्रह—५ वाँ भाग (पत्र-पुष्प) सचित्र सुन्दर पद्य-पुष्पोंका संग्रह, पृष्ठ २६०, मूल्य .... =)

स्त्री-धर्मप्रश्नोत्तरी—यह स्त्रियोंके लिये बहुत उपयोगी पुस्तक है, सचित्र, पृष्ठ ५६, मूल्य .... –)॥

गोपी-प्रेम—प्रेमका अद्भुत वर्णन तथा सुन्दर-सुन्दर कविताएँ, सचित्र, पृष्ठ ६०, मूल्य .... -)॥

मनको वश करनेके कुछ उपाय—विषय नामसे ही स्पष्ट है, सचित्र, पृष्ठ २४, मूल्य .... -)।

आनन्दकी लहरें—दूसरोंको सुख पहुँचाते हुए स्वयं सुखी होनेके उपायोंका वर्णन, सचित्र, पृष्ठ ३२, मू० -)

ब्रह्मचर्य—ब्रह्मचर्यकी रक्षाके अनेक सरल उपायोंका कथन, पृष्ठ ३२, मूल्य .... -)

समाज-सुधार—समाजके जटिल प्रश्नोंपर विचार और सुधारके साधन, पृष्ठ ४४, मूल्य .... -)

वर्तमान शिक्षा—बच्चोंको कैसी शिक्षा किस प्रकार दी जाय ? पृष्ठ ४५, मूल्य .... -)

नारद-भक्ति-सूत्र—संक्षिप्त सरल अर्थ, पृष्ठ २४, मूल्य ....)।

दिव्य सन्देश—भगवत्प्राप्तिके उपाय, पृष्ठ १४, मूल्य ....)।

Books in English.

The Philosophy of Love	1-0-0
Way to God-Realization	0-4-0
Our Present-Day Education	0-3-0
The Divine Name and Its Practice	0-3-0
Wavelets of Bliss	0-2-0
The Divine Message	0-0-9

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

श्रीहरिः

सचित्र, संक्षिप्त भक्त-चरित-मालाकी पुस्तकें

सम्पादक—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

भक्त बालक—५ चित्र, ग्लेज कागज, पृष्ठ ८०, २५००० छप चुकी है, मूल्य ।-); इसमें गोविन्द, मोहन, धन्ना, चन्द्रहास और सुधन्वाकी कथाएँ हैं ।

भक्त नारी—६ चित्र, ग्लेज कागज, पृष्ठ ८०, ३०००० छप चुकी है, मूल्य ।-); इसमें शबरी, मीराबाई, जनाबाई, करमैतीबाई और रबियाकी कथाएँ हैं ।

भक्त-पञ्चरत्न—६ चित्र, ग्लेज कागज, पृष्ठ ९८, २०२५० छप चुकी है, मूल्य ।-); इसमें रघुनाथ, दामोदर, गोपाल, शान्तोबा और नीलाम्बरदासकी कथाएँ हैं ।

आदर्श भक्त—७ चित्र, ग्लेज कागज, पृष्ठ १११, मूल्य ।-); इसमें शिबि, रन्तिदेव, अम्बरीष, भीष्म, अर्जुन, सुदामा और चक्रिककी कथाएँ हैं ।

भक्त-चन्द्रिका—सुन्दर ७ चित्र, ग्लेज कागज, पृष्ठ ९६, मूल्य ।-); इसमें साध्वी सखूबाई, महाभागवत श्रीज्योतिपन्त, भक्तवर विट्ठलदासजी, दीनबन्धुदास, भक्त नारायणदास और बन्धु महान्तिकी सुन्दर गाथाएँ हैं ।

भक्त-सप्तरत्न—७ चित्र, ग्लेज कागज, पृष्ठ १०५, मूल्य ।-); इसमें दामाजी पन्त, मणिदास माली, कूबा कुम्हार, परमेष्ठी दर्जी, रघु केवट, रामदास चमार और सालबेगकी कथाएँ हैं ।

भक्त-कुसुम—६ चित्र, ग्लेज कागज, पृष्ठ ९१, मूल्य ।-); इसमें जगन्नाथदास, हिम्मतदास, बालीग्रामदास, दक्षिणी तुलसीदास, गोविन्ददास और हरिनारायणकी कथाएँ हैं ।

प्रेमी भक्त—७ चित्र, ग्लेज कागज, पृष्ठ १०३, मूल्य ।-); इसमें बिल्वमङ्गल, जयदेव, रूप-सनातन, हरिदास और रघुनाथदासकी कथाएँ हैं ।

प्राचीन भक्त—१२ चित्र, पृष्ठ १५६, मूल्य ॥); इसमें मार्कण्डेय, महर्षि अगस्त्य और राजा शङ्ख, कण्डु, उतङ्क, आरण्यक, पुण्डरीक, चोलराज और विष्णुदास, देवमाली, भद्रतनु, रत्नग्रीव, राजा सुरथ, दो मित्र भक्त, चित्रकेतु, वृत्रासुर एवं तुलाधार शूद्रकी कथाएँ हैं ।

भक्त-सौरभ—५ रंगीन चित्र, पृष्ठ ११६, मूल्य ।-); इसमें श्रीव्यासदासजी, प्रयागदासजी, शङ्कर पण्डित, प्रतापराय और गिरधरकी कथाएँ हैं ।

भक्त-सरोज—९ रंगीन चित्र, पृष्ठ ११६, मूल्य ।=); इसमें गङ्गाधरदास, श्रीनिवास आचार्य, श्रीधर, गदाधर, लोकनाथ, लोचनदास, मुरारिदास, हरिदास, भुवनसिंह चौहान और अङ्गदसिंहकी कथाएँ हैं ।

भक्त-सुमन—७ रंगीन और दो सादे चित्र, पृष्ठ १२०, मूल्य ।=); इसमें विष्णुचित्त, विसोबा सराफ, नामदेव, राँका-बाँका, धनुर्दास, पुरन्दरदास, गणेशनाथ, जोग परमानन्द, मनकोजी बोधला और सदन कसाईकी कथाएँ हैं ।

ये बूढ़े-बालक, स्त्री-पुरुष सबके पढ़ने योग्य, बड़ी सुन्दर और शिक्षाप्रद पुस्तकें हैं । एक-एक प्रति अवश्य पास रखनेयोग्य है ।

पता—**गीताप्रेस, गोरखपुर ।**

मार्च १९४० में प्रकाशित १४ नयी पुस्तकें—

श्रीहरिः

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीविरचित

श्रीरामचरितमानस (मूल-गुटका)—पृष्ठ ६७२, चित्र १ रंगीन, १ सादा और ७ लाइन ब्लाक, सजिल्द, मूल्य ... ॥)

दोहावली (सानुवाद)—अनुवादक—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, दो रंगीन चित्र, पृष्ठ २२४, मूल्य ... ... ॥)

सचित्र, संक्षिप्त भक्त-चरित-मालाके चार नये पुष्प

प्राचीन भक्त—१५ कथाएँ, पृष्ठ १५६, चित्र बहुरंगे १२, सादा १, मूल्य ... ... ॥)

भक्त-सौरभ—५ कथाएँ, पृष्ठ ११६, चित्र बहुरंगे ५, मूल्य ... ।-)

भक्त-सरोज—१० कथाएँ, पृष्ठ ११६, चित्र बहुरंगे ९, मूल्य ... ।=)

भक्त-सुमन—१० कथाएँ, पृष्ठ १२०, चित्र बहुरंगे ७, सादे २, मू० ।=)

आदर्श चरित-मालाके तीन नये पुष्प

प्रेमी भक्त उद्धव—पृष्ठ-संख्या ६८, ३ रंगीन चित्र, मूल्य ... ≶)

महात्मा विदुर—पृष्ठ-संख्या ६४, १ रंगीन चित्र, मूल्य ... =)॥

भक्तराज ध्रुव—पृष्ठ-संख्या ५२, ४ रंगीन और १ सादा चित्र, मू० ≶)

अंग्रेजी पुस्तकें

Mind: Its Mysteries and Control Part II (By Swami Sivananda Saraswati) 1-0-0

The Philosophy of Love (By Hanumanprasad Poddar) ... 1-0-0

Mysticism in the Upanishads (By Bankey Behari) ... 0-10-0

The Divine Name and Its Practice (By Hanumanprasad Poddar) ... 0-3-0

Wavelets of Bliss (By Hanumanprasad Poddar) ... 0-2-0

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर ।

ॐ

हमारी पुस्तकें अपने गाँवमें ही खरीदनेसे सस्ती पड़ेंगी ।

आजकल डाक-महसूल इतना बढ़ा हुआ है कि पुस्तकोंके साधारण-से पारसलपर आठ आना, छः आना, चार आना प्रति रुपया खर्च पड़ जाता है और ग्राहकोंको पुस्तक बहुत महँगी पड़ती हैं । इससे हमारा निवेदन है कि जो सज्जन पुस्तकें लेना चाहें वे अपने गाँवके बुकसेलरोंसे लेनेका प्रयत्न करें । इसमें उनको

भी कई प्रकारका फायदा होगा ।

यदि आपको अपने गाँवमें हमारी पुस्तकें मिलनेकी सुविधा न हो तो आप सीधा हमें आर्डर भेजिये । हम आपका छोटा आर्डर भी पाकर प्रसन्न होंगे । आपकी इस सुविधाके लिये एक आर्डर-फार्म भी इस अङ्कमें भेज रहे हैं ।

विनीत—व्यवस्थापक,
गीताप्रेस, गोरखपुर

* आर्डर-फार्म *
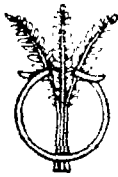
व्यवस्थापक—गीताप्रेस, गोरखपुर

सप्रेम रामराम ! निम्न आर्डरका माल माल या सवारी गाड़ीसे अपने नियमानुसार चालान करके वि० पी० या ……………… बैंकद्वारा भेज दें । रुपया ……………… पेशगी भेजते हैं ।

संख्या	पुस्तक	दाम	संख्या	पुस्तक	दाम	संख्या	पुस्तक
	गीता शांकरभाष्य स० २॥)			श्रीकृष्णलीलाख्यान स० २॥)			छोटे आकारका भाग२ ।=)
	बढ़िया जिल्द २।॥)			विष्णुपुराण सटीक सचित्र साधारण जिल्द २॥)			,, सजिल्द ॥)
	गीता बड़ी १।)			बढ़िया जिल्द २॥।)			,, भाग ३ ।-)
	गीता बड़ी (मराठी) १।)			भागवतस्तुतिसंग्रह स० २।)			,, सजिल्द ।=)
	गीता मझोली (बंगला) ॥।)			अध्यात्मरामायण स० १॥।)			पूजाके फूल ॥।-)
	गीता मझोली ॥≈)			बढ़िया जिल्द २)			श्रीज्ञानेश्वर-चरित्र ॥।-)
	,, सजिल्द ॥।=)			प्रेम-योग १।)			भागवत एकादश स्कन्ध ॥।)
	गीता गुटका पदच्छेद-अन्वयसहित स० ॥)			,, सजिल्द १॥)			,, सजिल्द १)
	गीता मोटे अक्षरवाली ॥)			श्रीतुकाराम-चरित्र १≈)			देवर्षि नारद ॥।)
	,, सजिल्द ॥≈)			,, सजिल्द १॥)			,, सजिल्द १)
	गीता मूल ।-)			भक्तियोग १=)			शरणागतिरहस्य ॥≈)
	,, सजिल्द ।≈)			भागवतरत्न प्रह्लाद १)			श्रीभगवन्नामकौमुदी ॥=)
	गीता भाषा ।)			,, सजिल्द १।)			विष्णुसहस्रनाम शांकरभाष्य ॥=)
	,, सजिल्द ।=)			विनय-पत्रिका सटीक १)			सूक्तिसुधाकर ॥=)
	श्रीपञ्चरत्नगीता सजिल्द ।)			,, सजिल्द १।)			शतपञ्च चौपाई ॥=)
	गीता छोटी =)॥			गीतावली सटीक १)			ढाई हजार अनमोल बोल (संत-वाणी) ॥=)
	,, सजिल्द ≈)॥			,, सजिल्द १।)			आनन्दमार्ग ॥-)
	गीता ताबीजी सजिल्द =)			श्रीकृष्ण-विज्ञान ॥।)			कवितावली ॥-)
	गीता मूल विष्णुसहस्रनामसहित सजिल्द -)॥			,, सजिल्द १)			दोहावली ॥)
	गीता दो पन्नेकी -)			मुमुक्षुसर्वस्वसार ॥।-)			स्तोत्ररत्नावली ॥)
	गीता डायरी अजिल्द ।)			,, सजिल्द १-)			श्रुति-रत्नावली ॥)
	सजिल्द ।-)			श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली खण्ड १ ॥।=)			दिनचर्या ॥)
	श्रीरामचरितमानस (मूल-गुटका) स० ॥)			,, सजिल्द १=)			तुलसीदल ॥)
	ईशावास्योपनिषद् ≈)			,, खण्ड २ १=)			,, सजिल्द ॥≈)
	केनोपनिषद् ॥)			,, सजिल्द १।=)			श्रीएकनाथ-चरित्र ॥)
	कठोपनिषद् ॥-)			,, खण्ड ३ १)			नैवेद्य ॥)
	मुण्डकोपनिषद् ।≈)			,, सजिल्द १।)			,, सजिल्द ॥≈)
	प्रश्नोपनिषद् ।≈)			,, खण्ड ४ ॥=)			श्रीरामकृष्ण परमहंस ।≈)
	पाँचों उपनिषद् एक जिल्दमें सजिल्द (उपनिषद्-भाष्य खण्ड १) २।-)			,, सजिल्द ॥।=)			भक्त-भारती ।≈)
	माण्डूक्योपनिषद् १)			,, खण्ड ५ ॥।)			तत्त्व-विचार ।=)
	तैत्तिरीयोपनिषद् ॥।-)			,, सजिल्द १)			उपनिषदोंके चौदह रत्न ।=)
	ऐतरेयोपनिषद् ।=)			श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली पाँचों खण्ड दो जिल्दोंमें ५)			लघुसिद्धान्तकौमुदी ।=)
	उपर्युक्त तीनों उपनिषद् एक जिल्दमें सजिल्द (उपनिषद्-भाष्य खण्ड २) २।=)			तत्त्व-चिन्तामणि भाग१ ॥=)			भक्त नरसिंह मेहता ।=)
	छान्दोग्योपनिषद् (उपनिषद्-भाष्य खण्ड ३) २॥।)			,, सजिल्द ॥।-)			श्रीउड़ियास्वामीजीके उपदेश ।=)
				तत्त्व-चिन्तामणि भाग२ ॥।=)			विवेक-चूडामणि ।-)
				,, सजिल्द १=)			,, सजिल्द ॥)
				तत्त्व-चिन्तामणि भाग३ ॥≈)			प्रेम-दर्शन (भक्तिसूत्र) ।-)
				,, सजिल्द ॥।=)			गृहाग्निकर्मप्रयोगमाला ।-)
				छोटे आकारका भाग१ ।-)			

पुस्तक	दाम	संख्या
भक्त बालक	।-)	
भक्त नारी	।-)	
भक्त-पञ्चरत्न	।-)	
आदर्श भक्त	।-)	
भक्त-सप्तरत्न	।-)	
भक्त-चन्द्रिका	।-)	
भक्त-कुसुम	।-)	
प्रेमी भक्त	।-)	
प्राचीन भक्त	॥)	
भक्त-सौरभ	।-)	
भक्त-सरोज	।=)	
भक्त-सुमन	।≡)	
भक्तराज हनुमान्	।-)	
सत्यप्रेमी हरिश्चन्द्र	।-)	
प्रेमी भक्त उद्धव	≡)	
महात्मा विदुर	≡)॥	
भक्तराज ध्रुव	≡)	
व्रजकी झाँकी	।)	
बदरी-केदारकी झाँकी	।)	
परमार्थ-पत्रावली	।)	
ज्ञानयोग	।)	
कल्याण-कुञ्ज	।)	
प्रबोध-सुधाकर	≡)॥	
मानव-धर्म	≡)	
आदर्श भ्रातृ-प्रेम	≡)	
गीता-निबन्धावली	=)॥	
साधन-पथ	≡)॥	
अपरोक्षानुभूति	≡)॥	
भजन-माला	≡)॥	
प्रयाग-माहात्म्य	≡)॥	
माघ-मकर-प्रयाग-स्नान-माहात्म्य	≡)॥	
भजन-संग्रह प्र० भाग	≡)	
,, द्वि० भाग	≡)	
,, तृ० भाग	≡)	
,, च० भाग	≡)	
,, पं० भाग	≡)	
शतश्लोकी सटीक	≡)	
नवधा भक्ति	≡)	
बालशिक्षा	≡)	
चित्रकूटकी झाँकी	-)॥	
स्त्री-धर्मप्रश्नोत्तरी	-)॥	
नारीधर्म	-)॥	
गोपी-प्रेम	-)॥	
मनुस्मृति दूसरा अध्याय	-)॥	
हनुमान-बाहुक	-)॥	
ध्यानावस्थामें प्रभुसे वार्तालाप	-)॥	
मन वश करनेके उपाय	-)।	
श्रीसीताके चरित्रसे आदर्श शिक्षा	-)।	
गीताका सूक्ष्म विषय	-)।	
ईश्वर	-)।	
मूल गोसाईं-चरित	-)।	
मूलरामायण	-)।	
आनन्दकी लहरें	-)	
गोविन्द-दामोदर-स्तोत्र	-)	
श्रीप्रेमभक्ति-प्रकाश	-)	
ब्रह्मचर्य	-)	
समाज-सुधार	-)	
एक संतका अनुभव	-)	
आचार्यके सदुपदेश	-)	
सत्-महाव्रत	-)	
वर्तमान शिक्षा	-)	
सच्चा सुख और उसकी प्राप्तिके उपाय	-)	
शारीरकमीमांसादर्शन	)॥।	
श्रीरामगीता	)॥।	
विष्णुसहस्रनाम मूल	)॥।	
,, सजिल्द	-)॥	
हरेरामभजन २ माला	)॥	
,, १४ माला	।-)	
,, ६४ माला	१)	
सीतारामभजन	)॥	
भगवान् क्या हैं ?	)॥	
गीतोक्त सांख्ययोग और निष्कामकर्मयोग	)॥	
सेवाके मन्त्र	)॥	
प्रश्नोत्तरी	)॥	
सन्ध्या	)॥	
बलिवैश्वदेव-विधि	)॥	
सत्यकी शरणसे मुक्ति	)॥	
भगवत्प्राप्तिके विविध उपाय	)॥	
व्यापारसुधारकी आवश्यकता और व्यापारसे मुक्ति	)॥	
गीताके श्लोकोंकी वर्णानुक्रमसूची	)॥	
पातञ्जलयोगदर्शन मूल	)।	
धर्म क्या है ?	)।	
दिव्य सन्देश	)।	
श्रीहरिसंकीर्तन-धुन	)।	
नारद-भक्ति-सूत्र	)।	
त्यागसे भगवत्प्राप्ति	)।	
महात्मा किसे कहते हैं ?	)।	
ईश्वर दयालु और न्यायकारी है	)।	
प्रेमका सच्चा स्वरूप	)।	
हमारा कर्तव्य	)।	
ईश्वरसाक्षात्कारके लिये नाम-जप सर्वोपरि साधन है	)।	
चेतावनी	)।	
लोभमें ही पाप है	आधा पैसा	
गजलगीता	आधा पैसा	
सप्तश्लोकी गीता	आधा पैसा	
Philosophy of Love.	1-0-0	
Story of Mira.	0-13-0	
Mysticism in the Upanishads.	0-10-0	
At the touch of the Philosopher's Stone.	0-9-0	
Mind: Its Mysteries and Control. Part I.	0-8-0	
,, Part II.	1-0-0	
Songs From Bhartrihari	0-8-0	
Way to God-Realization.	0-4-0	
Our Present-Day Education.	0-3-0	
Divine Name and Its Practice.	0-3-0	
Wavelets of Bliss.	0-2-0	
The Immanence of God.	0-2-0	
Divine Message	0-0-9	
जोड़		
बाद कमीशन दर सै०		
बाकी		
खर्च पैकिंग स्टेशन पहुँचाई रजिस्ट्री		
कुल		

नोट—बीजक-लिस्टीमें भूल होगी तो सूचित करूँगा । बिना कारण वी०पी० लौटानेपर मालके हर्जे-खर्चेका सब जिम्मेवार होऊँगा । आर्डरकी अन्तिम ... का अधिकार आपको है ।

हस्ताक्षर माल मँगानेवालेका ....

पूरा पता ....

पोस्ट-आफिस .... स्टेशन ....

दिव्य रथोंका आवाहन

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ (गीता १८ । ६६)

वर्ष १४ | गोरखपुर, मई १९४० | संख्या १० पूर्ण संख्या १६६

दुष्ट-संहारकी तैयारी

अस बिचार हरि करत नरेसा । तबहिं आव रथ सुभग सुबेसा ॥
सहित सारथी ध्वजा अनूपा । नभ पथ आयउ सुभग सरूपा ॥
दोउ रथ दिव्य दिव्य सब साजू । तरनि सरिस तेहि तेज बिराजू ॥
दिव्य सस्त्र सब धरे सुहाए । देखि कृपानिधि के मन भाए ॥
पुनि हलधर कहुँ हरि सनमानी । बोले श्रवन सुधा सम बानी ॥
हे बरुजू यह ब्यसन अपारा । देखहु जदुकुल को अति भारा ॥
तुम रच्छक जाके हे ताता । तिन कहुँ घटै न अस दुख भ्राता ॥
सुभग दिव्य रथ सस्त्र समेता । ता पर चढ़ि हे कृपानिकेता ॥
मारहु सकल दुष्ट अघ रासो । निज जन सुखित करौ दुखनासो ॥
तब मम प्रगट होन को हेतू । अपर न कछु हे कृपानिकेतू ॥

—श्रीकृपाराम

सबका मूल अज्ञान

(लेखक—स्वामी श्रीरामदेवजी महाराज)

प्रश्न—क्या वेदान्तसिद्धान्तके अनुसार मायाकी उत्पत्ति नित्य-निरतिशयानन्दघन परब्रह्मसे ही होती है?

उत्तर—अद्वैतसिद्धान्तमें तो एक परब्रह्मके सिवा और कोई तत्त्व स्वीकार ही नहीं किया गया और न उससे किसीकी उत्पत्ति ही मानी गयी है। ऐसी अवस्थामें माया या किसी अन्य वस्तुकी उत्पत्तिका प्रश्न ही कैसे हो सकता है? यदि किसी अन्य वस्तुकी सत्ता या उत्पत्ति स्वीकार की जायगी तो अद्वैत कहाँ रह जायगा?

प्रश्न—अच्छा, यदि किसी अन्य वस्तुकी उत्पत्ति ही नहीं होती तो यह इतना विशाल जगत् कहाँसे आया? क्या अद्वैतवादियोंको इसकी प्रतीति नहीं होती? यदि कहो कि नहीं, तो वे अपने सिद्धान्तका प्रतिपादन किसके प्रति करते हैं?

उत्तर—अद्वैतसिद्धान्त तो यह मानता है कि यह सारी प्रतीति अज्ञानसे ही होती है। जैसे रज्जुका ज्ञान न होनेसे उसमें सर्प, धारा अथवा भूच्छिद्रादिका भ्रम हो जाता है, वैसे ही ब्रह्मके अज्ञानसे उस ब्रह्मरूप अधिष्ठानमें ही सारा जगत् भास रहा है। वास्तवमें ब्रह्मके सिवा और कोई पदार्थ है ही नहीं। हाँ, जिस प्रकार स्वप्नावस्थामें सब प्रकारके व्यवहार देखे जाते हैं, वैसे ही अज्ञानसे तो सारे जगत्‌की प्रतीति और सब प्रकारके व्यवहार हो ही सकते हैं। और जिस प्रकार स्वप्नावस्थाको छोड़कर जाग्रत्-अवस्थामें आनेसे पूर्व वे सब सत्य ही जान पड़ते हैं, वैसे ही जबतक परमात्म-तत्त्वका साक्षात्कार नहीं होता तबतक यह संसार सत्य ही जान पड़ता है। उसका साक्षात्कार हो जानेपर तो इसका कोई पता ही नहीं चलता।

प्रश्न—अद्वैत-ब्रह्मका साक्षात्कार हो जानेपर भी तो ज्ञानियोंका सांसारिक व्यवहार देखा जाता है, फिर यह कैसे माना जाय कि ज्ञान होनेके बाद संसार नहीं रहता?

उत्तर—ज्ञान होनेके पश्चात् और उससे पूर्व जो कुछ व्यवहार दीख पड़ता है, उसका मूल अज्ञान ही है। जिसे ज्ञान-नेत्र प्राप्त नहीं हुए हैं, उसीको इसकी प्रतीति होती है; ज्ञानीकी अपनी दृष्टिमें तो कभी कुछ हुआ ही नहीं है।

प्रश्न—यदि ज्ञानीकी दृष्टिमें कुछ नहीं हुआ, तो वे शिष्यादिको उपदेश कैसे करते हैं? बिना कुछ भी प्रतीत हुए तो उपदेशादिक भी नहीं बन सकते।

उत्तर—यह उपदेशादिकी कल्पना भी तो अज्ञान-जनित ही है; जैसे स्वप्नके रोगकी निवृत्ति स्वाप्निक औषधसे होती है, वैसे ही यहाँ समझना चाहिये।

प्रश्न—यदि सबकी कल्पनामें अज्ञान ही निमित्त है, तो यह बतलाइये कि अज्ञानका निमित्त क्या है?

उत्तर—अज्ञानकी सिद्धि तो अज्ञानसे ही होती है। वह स्व-परका निर्वाह करता है। अर्थात् वही सारे जगत्‌की कल्पना करता है और वही अपनी कल्पनाका भी कारण है।

प्रश्न—ऐसा माननेसे तो आत्माश्रय दोष होगा।

उत्तर—नहीं, जहाँ किसी अन्य उपायसे निर्वाह नहीं होता वहाँ आत्माश्रय दोष नहीं माना जाता। नैयायिक लोग भी घट-पटका भेदक तो भेदको मानते हैं, परन्तु भेदका भेदक भेदहीको बताते हैं। इसमें वे आत्माश्रय दोष स्वीकार नहीं करते। इसी प्रकार अद्वैतवादियोंने भी मूलाज्ञानके अपनी कल्पना करनेमें आत्माश्रय दोष नहीं माना। इस अज्ञानका ही नाम माया है। पहले तुमने मायाकी उत्पत्तिके विषयमें प्रश्न किया था। सो अब तुम समझ गये होगे कि वेदान्त-सिद्धान्तमें वास्तविकरूपसे किसीकी भी उत्पत्ति स्वीकार नहीं की गयी, अतः मायाकी भी उत्पत्ति नहीं होती।

माया मायारूप है, माया है कछु नाहिं।
सत्ता पावै रामकी, सत्य कहत सब ताहिं॥

पूज्यपाद श्रीउड़ियाबाबाजीके उपदेश

प्रश्न—कहते हैं कि परोक्ष और अपरोक्ष दो प्रकारका ज्ञान होता है; सो 'स्व' का अपरोक्ष ज्ञान तो ठीक है, परन्तु परोक्ष ज्ञान कैसे ठीक हो सकता है ? क्योंकि बिना व्यवधानके परोक्षता तो होती नहीं।

उत्तर—तुम पगले हो ! क्या आत्माका अपरोक्ष-ज्ञान होता है ? वह तो नित्य अपरोक्षस्वरूप है। उसका न तो परोक्ष-ज्ञान होता है और न अपरोक्ष-ज्ञान। परोक्षताकी निवृत्तिके लिये अपरोक्ष कहते हैं; वास्तवमें दोनों ही अध्यारोप हैं।

प्रश्न—जगत् मिथ्या है और आत्मा ही सब है, इन दोनों वाक्योंका क्या समन्वय है ?

उत्तर—विचारकालमें जगत् मिथ्या है, बोधकालमें सब आत्मा ही है। 'आत्मा ही सब है' कहनेका यह भाव नहीं है कि सब भी है और आत्मा भी है। सबका बाध करके आत्मा ही है। जगन्मिथ्यात्व सिद्धान्त नहीं है, सिद्धान्तको समझनेकी प्रक्रिया है।

प्रश्न—तब तो ऐश्वर्यका बिल्कुल निषेध हो गया बाबा !

उत्तर—ठीक तो है, यह ऐश्वर्यहीनता ही तो माधुर्य है। भगवत्ताहीन भगवत्स्वरूप ही माधुर्य है। जिसमें गुण और दोष कुछ भी नहीं हैं, वही तो माधुर्य है। प्रचलित माधुर्य तो इसका साधनमात्र है।

प्रश्न—निर्विकल्प समाधि और निर्विकल्प बोधमें क्या अन्तर है ?

उत्तर—समाधि एक स्थिति है, जो अभ्याससे सम्पन्न होती है और निर्विकल्प बोधस्वरूप है, जो कि स्वतःसिद्ध है। जिसे निर्विकल्प समाधि कहते हैं वह तो सविकल्प-की अपेक्षासे ही निर्विकल्प है, स्वरूपकी दृष्टिसे तो वह भी सविकल्प ही है।

मैं धोखा देता अपनेको !

मैं बातें मोहक कह-कहकर—
हाँ, तरह-तरहकी कह-कहकर,
हूँ समझ रहा, हा, अमर सत्य उस पलभरके ही सपनेको !
मैं धोखा देता अपनेको ॥१॥

जीवन-नौका मँझधार पड़ी,
ये लहरें विकट कराल बड़ीं;
मैं बैठा इसमें आँख मींच, यों तटपर आकर लगनेको !
मैं धोखा देता अपनेको ॥२॥

है सरल, सरल, अत्यन्त सरल,
पी लेना अमृत समझ गरल;
पर कौन निवारण कर सकता फिर रोने और तड़पनेको !
मैं धोखा देता अपनेको ॥३॥

—श्रीसत्यभूषण 'योगी'

प्राचीन संस्कृति तथा आधुनिक संस्कृति

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

जगत् स्वभावतः परिवर्तनशील है। 'जगत्' और उसका पर्याय 'संसार' दोनों ही शब्द गतिवाचक हैं। 'जगत्' का अर्थ ही है गतिशील—जो सदा चलता रहे, कभी स्थिर न रहे। 'संसार' का अर्थ भी चलना ही है। परिवर्तन ही संसारका स्वरूप है। एक आत्मा ही अचल, अविनाशी एवं स्थिर है; आत्माके अतिरिक्त सब कुछ चल, विनाशी एवं परिवर्तनशील है। जगत् प्रवाहरूपसे अनादि है। अनादिकालसे इसका रूप बदलता आया है। उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि, परिणाम, क्षय और नाश—ये छः विकार सदा इसके साथ लगे रहते हैं। भारतीय संस्कृति भी समयके फेरसे क्रमशः उन्नति और अवनतिको प्राप्त होती रहती है। एक समय था जब कि हमारा भारतवर्ष सभ्य देशोंका सिरमौर बना हुआ था। विद्या-बुद्धि, कला-कौशल, धनबल-जनबल तथा ज्ञान-विज्ञान आदिमें सबसे बढ़ा-चढ़ा था। लौकिक एवं पारलौकिक—सभी प्रकारकी विद्याओंका यह उद्गमस्थान था। यहींसे ज्ञानसूर्यका उदय होकर समस्त देशोंमें उसका प्रकाश फैला था। इसीलिये मनु महाराजने अपने मानव-धर्मशास्त्रमें कहा है—

> **एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।**
> **स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥**

'इसी देशमें उत्पन्न हुए ब्राह्मणोंसे अखिल भूमण्डलके मनुष्य अपने-अपने आचारकी शिक्षा ग्रहण करें।'

जिस समय योरोप एवं अमेरिका आदि देशोंमें रहनेवाली सभ्य जातियोंके पूर्वज अर्द्धनग्न-अवस्थामें जंगलोंमें वन्य पशुओंकी भाँति रहते थे, उस समय यह देश सभ्यताके उच्चतम शिखरपर आरूढ़ था। भारतीय संस्कृतिका प्रचार दूर-दूरतक हुआ था। उसके चिह्न अब भी अमेरिकातकमें मिलते हैं। बौद्धकालीन सभ्यताके चिह्न तो प्रचुर संख्यामें अफगानिस्तान आदि देशोंमें तथा भारतके समीपवर्ती द्वीपोंमें पाये जाते हैं। चीन और जापानके राष्ट्रोंमें तो स्पष्ट ही बौद्ध संस्कृतिका प्रभाव लक्षित होता है। अप्रत्यक्षरूपसे तो भारतीय संस्कृतिका प्रभाव सभी देशों और सभी राष्ट्रोंपर अमिट-रूपसे पड़ा है। परन्तु सबका समय एक-सा नहीं रहता। जिस संस्कृतिकी भारतेतर देशोंपर भी गहरी छाप पड़ी, वही संस्कृति आज समयके फेरसे पाश्चात्य संस्कृतिके प्रभावमें आकर अपना स्वरूप खो देना चाहती है। चारों ओरसे उसपर विजातीय संस्कृतियोंके आक्रमण हो रहे हैं। परन्तु युगके प्रभावसे इस संस्कृति-का चाहे कितना ही ह्रास क्यों न हो जाय, इसका लोप नहीं हो सकता; क्योंकि इसकी भित्ति अत्यन्त सुदृढ़ है। भारतीय संस्कृतिका आधार उसकी आध्यात्मिकता है। यही कारण है कि जहाँ ग्रीस, रोम, बैबीलन, मिश्र आदि देशोंकी सभ्यता आज केवल स्मृतिका विषय रह गयी है, भारतीय सभ्यता इतने विजातीय आक्रमण होनेपर भी आज उसी प्रकार अपना सिर ऊँचा किये खड़ी है। इस युगमें भी, जब कि हम भारतवासी सदियोंसे दासताकी बेड़ियोंसे जकड़े हुए हैं, हमारी सभ्यता संसारके लिये आदरका विषय बनी हुई है। इस युगके बड़े-बड़े दार्शनिक तथा विचारक हमारी सभ्यताके कायल हैं और उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं। यही नहीं, इस घोर अशान्तिके युगमें, जब कि सर्वत्र हाहाकार मचा हुआ है, शान्ति चाहनेवाले योरोपनिवासी भारतकी ओर ही आँख उठाये हुए हैं और आशा करते हैं कि उन्हें यहींसे विश्वशान्ति और विश्वप्रेमका सन्देश प्राप्त होगा। यहाँके प्राचीन तथा अर्वाचीन आध्यात्मिक साहित्यको वहाँके लोग

बड़े चावसे पढ़ते हैं और यहाँके प्रमुख व्यक्तियोंका बड़ा सम्मान करते हैं। आज हम उसी भारतीय ऋषियोंद्वारा प्रवर्तित प्राचीन आर्यसभ्यता तथा वर्तमान भोगप्रधान पाश्चात्य संस्कृतिकी तुलनामें कुछ विचार करेंगे।

यह ऊपर निवेदन किया जा चुका है कि भारतीय संस्कृतिका आधार उसकी आध्यात्मिकता है। यहाँ ऐहिक तथा पारलौकिक सभी विषयोंपर आध्यात्मिक दृष्टिकोणसे ही विचार किया जाता है। यहाँका धर्म, यहाँका आचार-व्यवहार, यहाँकी राजनीति, यहाँकी समाजनीति, यहाँकी युद्धनीति, यहाँकी समाज-व्यवस्था, यहाँकी शिक्षापद्धति, यहाँकी शासनपद्धति, यहाँका रहन-सहन तथा वेष-भूषा, यहाँका आहार-विहार, सब कुछ आध्यात्मिक भित्तिपर स्थित है। आजका शिक्षित संसार विश्वबन्धुत्वके आदर्शको सबसे ऊँचा मानता है। विश्वके सभी राष्ट्र, सभी जातियाँ तथा सभी मनुष्य आपसमें भाई-भाईकी तरह प्रेमपूर्वक रहें—यही उनकी उच्चतम कल्पना है। परन्तु भारतीय आदर्श इससे कहीं ऊँचा है। भाई-भाईमें भी कलह हो सकता है और होता है। संसारमें श्रीराम और भरत-जैसे भाई तो विरले ही होते हैं। श्रीराम और भरत-जैसा भ्रातृप्रेम तो जगत्के इतिहासमें अन्यत्र कहीं देखनेको नहीं मिलता। ऐसी स्थितिमें बन्धुत्वका आदर्श प्रेमकी परमावधि नहीं माना जा सकता। भारतीय संस्कृति मनुष्यमात्रमें ही नहीं, प्राणिमात्रमें—यहाँतक कि वृक्ष आदि स्थावर जीवोंमें भी आत्मबुद्धि करनेका उपदेश देती है। वह हमें यह सिखलाती है कि जीवमात्रको अपनी आत्मा समझो। कलह अथवा द्वेष दूसरेके साथ ही सम्भव है। अपने प्रति किसीका द्वेष, घृणा अथवा वैर नहीं हो सकता। अपना अहित कोई नहीं करना चाहेगा। अपनेसे सबका स्वाभाविक ही प्रेम होता है। इस अद्वैत-दृष्टिकी शिक्षा हमें भारतीय संस्कृतिसे प्राप्त होती है।

इसी प्रकार आजकी सबसे ऊँची शिक्षा मनुष्यमात्रके प्रति प्रेम करना है। परन्तु भारतीय संस्कृति हमें मनुष्यमात्रके प्रति ही नहीं, अपि तु, जीवमात्रके प्रति प्रेम करनेको कहती है। गीतामें जहाँ-जहाँ दूसरोंका हित करनेकी बात आयी है, वहाँ-वहाँ 'सर्वभूतहिते रताः' पदका ही प्रयोग हुआ है। किसी प्राणीको कष्ट पहुँचानेकी बात तो दूर रही, पेड़-पौधोंको काटनेकी भी हमारे शास्त्रोंने मनाही की है। जहाँ मूक प्राणियों-की हिंसा आजकल सभी देशों और सभी राष्ट्रोंमें वैध मानी गयी है, वहाँ हमारे यहाँ अनावश्यक एक पत्तेको अथवा एक तिनकेको तोड़नेकी भी आज्ञा नहीं दी गयी है, एक दँतुअन तोड़नेके लिये भी शास्त्रोंने वृक्षसे प्रार्थना करनेकी आवश्यकता बतलायी है। यहाँतक कि स्नान आदिमें आवश्यकतासे अधिक जल गिरानेका भी शास्त्रोंमें निषेध किया गया है। भोजनके लिये भी पके हुए अनाज और फलको ही ग्रहण करनेकी शास्त्रोंने आज्ञा दी है। वनस्पतियोंमें जल देनेका शास्त्रोंने बड़ा माहात्म्य बतलाया है। अतिथिसेवा, भूतसेवा—यहाँतक कि देवताओं, पितरों और ऋषियोंतककी सेवा गृहस्थके लिये अनिवार्य मानी गयी है। शरीरसे किसी प्राणीको कष्ट पहुँचानेकी तो बात ही क्या, मन तथा वाणीके द्वारा भी किसीको कष्ट पहुँचाना हिंसाके अन्तर्गत ही माना गया है। शास्त्रोंका इस सम्बन्धमें यही आदेश है कि दूसरोंके प्रति हमें वैसा बर्ताव कदापि नहीं करना चाहिये, जिसे हम अपने लिये पसंद न करें—'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।' हमारे पूर्वज ऋषियोंने प्राणिमात्रके लिये यही प्रार्थना की है—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्॥

'सब प्राणी सुखी हों, सब नीरोग हों, सभी कल्याणके भागी बनें, कोई भी दुखी न हो।'

संसारके प्रति इससे ऊँची भावना और क्या हो सकती है ? 'सब लोग जियें, सब लोग सुखी हों, सब लोग फूलें-फलें'—भारतीय संस्कृतिका सदासे यही सिद्धान्त-वाक्य रहा है। यही कारण है कि भारत-वासियोंने शक्ति रहते भी कभी दूसरे देशोंपर अन्याय्य आक्रमण नहीं किया। धार्मिक सहिष्णुताका भाव तो भारतीयोंका सदासे आदर्श रहा है। उन्होंने तलवारके जोरपर कभी विधर्मियोंको अपने धर्ममें लानेकी चेष्टा नहीं की। धर्मके मामलोंमें उन्होंने दूसरोंके अत्याचार सहे, परन्तु स्वयं दूसरोंपर अत्याचार नहीं किये। विधर्मियोंको उन्होंने सदा आश्रय दिया और इस प्रकार अपनी आतिथेयताका परिचय दिया। आज इन सिद्धान्तोंको यदि संसार अंशतः भी मानने लगे तो व्यर्थके झगड़ों और रक्तपातसे बच जाय और सर्वत्र सुख-शान्ति तथा प्रेमका साम्राज्य हो जाय।

अब रही ज्ञानकी बात, सो लौकिक एवं पारलौकिक दोनों प्रकारके ज्ञानमें हमारे देशने पूर्वकालमें बहुत बड़ी उन्नति की थी। हमारा ऋग्वेद संसारका सबसे प्राचीन ग्रन्थ माना जाता है। वेदोंमें लौकिक एवं पारलौकिक सब प्रकारका ज्ञान भरा है। काव्य-साहित्य, गणित, ज्यौतिष, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद (गानविद्या), दर्शनशास्त्र, अर्थशास्त्र, शिल्पविद्या, स्थापत्य-कला, चित्र-कला, तक्षणकला, पशुपालन, कृषिविज्ञान, राजनीति आदि सभी विषयोंमें हमारे देशने आश्चर्यजनक उन्नति की थी, जिसका सारा संसार आजतक लोहा मानता है। अध्यात्मविद्या और परलोकविद्यामें तो इस देशकी समता आजतक किसी देशने की ही नहीं और भविष्यमें भी कोई कर सकेगा, इसमें सन्देह है। परलोकके सम्बन्धमें जो बातें हमारे शास्त्रोंमें बतायी गयी हैं, उनका खण्डन आजतक कोई नहीं कर सका है। खण्डन करना तो दूर रहा, वहाँतक कोई पहुँच ही नहीं पाया है। यहाँके पूर्वजन्म-सिद्धान्तको आज संसारके बड़े-बड़े वैज्ञानिक मानने लगे हैं। हमारे उपनिषदोंमें तथा भगवद्गीता आदि ग्रन्थोंमें जो तत्त्वज्ञान भरा है, उसकी सारा जगत् मुक्तकण्ठसे प्रशंसा कर रहा है। हमारे वेदान्तका सिद्धान्त तो ज्ञानकी परमावधिको सूचित करता है। उससे ऊँचे ज्ञानकी संसार कल्पना भी नहीं कर सकता। हमारे पूर्वज ऋषियोंने तपस्या, संयम, सद्गुण, सदाचार, भगवद्भक्ति एवं योगके बलसे जिस सर्वलोकविस्मापक तत्त्वज्ञानका अर्जन किया, उसके मुकाबलेमें पाश्चात्त्य जगत्का ऊँचे-से-ऊँचा भौतिक ज्ञान समुद्रके मुकाबलेमें एक बूँदके समान भी नहीं है। पाश्चात्त्य विज्ञानकी समाप्ति स्थूल पञ्चभूतोंके ज्ञानमें ही हो जाती है। पञ्चभूतोंके आगे जाना तो दूर रहा, पञ्चभूतोंका भी पूरा-पूरा ज्ञान अभी पाश्चात्त्य वैज्ञानिकोंको नहीं हो पाया है। स्थूल पञ्चभूतोंके परे इन्द्रिय हैं, इन्द्रियोंके परे सूक्ष्म पञ्चभूत अथवा तन्मात्र हैं, उनके परे मन है, मनके परे बुद्धि है, बुद्धिके परे महत्तत्त्व है, महत्तत्त्वके परे अव्याकृत माया है और अव्याकृत मायाके परे परमात्म-तत्त्व है—जिस परमात्म-तत्त्वका ज्ञान हमारे शास्त्रोंमें भरा पड़ा है*। इसीको उलटे क्रमसे कहें तो यों कह सकते हैं कि परमात्माके एक अंशमें माया है, मायाके एक अंशमें महत्तत्त्व है, महत्तत्त्वके एक अंशमें बुद्धि है, बुद्धिके एक अंशमें मन है, मनके किसी अंशमें सूक्ष्म भूत हैं, सूक्ष्म भूतोंके किसी अंशमें इन्द्रियाँ हैं और इन्द्रियोंके किसी अंशमें स्थूल भूत हैं। परमात्मा अथवा मूलप्रकृति (अव्याकृत माया) के ज्ञानकी बात तो दूर रही, आधुनिक वैज्ञानिकोंको इन्द्रिय, मन तथा बुद्धिके तत्त्वका भी ज्ञान नहीं है। केवल आकाशादि स्थूल भूतोंके तत्त्वका आंशिक ज्ञान

* इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः॥
(कठोपनिषद्)

सदियोंके अथक परिश्रमके बाद आजके वैज्ञानिक प्राप्त कर पाये हैं। अतः हमें विचार करना चाहिये कि परमात्माके तत्त्वज्ञानके सामने इस भौतिक ज्ञानका क्या मूल्य है, जिसकी चकाचौंधसे आज हम मोहित हो रहे हैं। यह सारा जगत् जब परमात्माकी मायाके एक अंशमें स्थित है, तब उस जगत्का सारा ज्ञान स्वाभाविक ही परमात्मज्ञानके एक अंशमें आ जाता है। गीताके दशवें अध्यायमें अपनी सारी विभूतियोंका वर्णन करके उसके उपसंहारमें भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे यही कहते हैं—

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥
(१०।४२)

'अथवा हे अर्जुन ! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है ! इस सम्पूर्ण जगत्को मैं अपनी योगमाया-के एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ। [इसलिये बहुत-सी बातोंको जाननेके पचड़ेमें न पड़कर एक मुझीको तत्त्वसे जान।]'

उस एकके जान लेनेसे सब कुछ अपने-आप जाना जाता है—'तेन ज्ञातेन सर्वं विज्ञातं भवति।' बड़े खेदका विषय है कि आज हम उस सर्वश्रेष्ठ ज्ञान-को भुलाकर भौतिक ज्ञानके पीछे पागल हो रहे हैं और त्रिकालदर्शी महर्षियोंके रहस्यमय तात्त्विक उपदेशकी अवहेलना कर पाश्चात्त्य विचारकोंका अन्धानुकरण करने-पर उतारू हो रहे हैं।

पाश्चात्त्योंके संसर्गसे तथा पाश्चात्त्य शिक्षाके प्रभाव-से आज बहुत-सी अवाञ्छनीय बातें हमारे समाजमें प्रवेश कर हमारी संस्कृतिका मूलोच्छेद कर रही हैं। पाश्चात्त्योंकी देखा-देखी हम अपने युवक-युवतियोंको सहशिक्षा देकर उनके चरित्रनाशमें सहायक बन रहे हैं। 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः' (आहारकी शुद्धिसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है) इस सिद्धान्तको भुलाकर हमलोग खान-पानके विषयमें बिल्कुल स्वतन्त्र होकर भ्रष्ट होते जा रहे हैं। शौचाचारकी ओर हमारा तनिक भी ध्यान नहीं रह गया है। मादक द्रव्योंका क्रमशः अधिकाधिक प्रचार हो रहा है। चाय-तम्बाकू तथा बीड़ी-सिगरेट आदिकी तो बात ही क्या है, औषधके रूपमें तथा शौकिया तौरपर भी मदिराका सेवन बढ़ रहा है। मछली, मांस तथा अण्डे आदिका व्यवहार भी सभ्य-समाजमें खुल्लमखुल्ला होने लगा है। इन सब बातोंसे बाहरी पवित्रता तो नष्ट हो ही रही है, साथ-ही-साथ भीतरी पवित्रताका भी नाश हो रहा है। व्यभिचारकी वृद्धि हो रही है और उसके सम्बन्धमें पापबुद्धि क्रमशः नष्ट हो रही है। शरीर और घरोंकी सजावटमें तथा आमोद-प्रमोदमें रुपया पानीकी तरह बहाया जा रहा है। खर्चीलापन बढ़ रहा है। गंदे साहित्य एवं गंदे चित्रपटोंका प्रचार क्रमशः बढ़ रहा है, जिससे हमारे युवक-युवतियोंके चरित्रपर बहुत बुरा प्रभाव पड़ रहा है। इन सब बातोंसे हमारे धन, धर्म, स्वास्थ्य, आयु, बल, बुद्धि, लोक, परलोकका नाश हो रहा है और हम लोग क्रमशः पतनकी ओर अग्रसर हो रहे हैं, अपने ही हाथों अपना सर्वनाश कर रहे हैं। समाजके कर्णधारों-को चाहिये कि वे इन बुराइयोंसे समाजको बचावें और प्राचीन संस्कृतिकी रक्षा करें।

प्राचीन संस्कृतिकी ओर जब हम दृष्टि डालते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि आधुनिक संस्कृतिमें और उसमें महान् अन्तर है। दोनोंके दृष्टिकोणमें अन्तर है। आधुनिक संस्कृतिका उद्देश्य है—खाना-पीना, मौज करना, शरीरको अधिक-से-अधिक आराम देना, अधिक-से-अधिक भोग भोगना, जिस किसी प्रकारसे हो, वर्तमान जीवनको सुखी बनाना। इसके आगे उसकी दृष्टि नहीं जाती। इसके विपरीत प्राचीन संस्कृतिका लक्ष्य था—जल्दी-से-जल्दी परमात्माकी प्राप्ति करना, चिरशान्ति एवं शाश्वत सुखको प्राप्त

करना। इसीलिये जहाँ आधुनिक संस्कृतिमें भोगकी प्रधानता है, प्राचीन संस्कृतिमें त्याग-वैराग्य एवं तपकी प्रधानता थी। जिसमें त्यागकी मात्रा जितनी अधिक होती थी, उसका उतना ही अधिक मान होता था। इसीलिये ब्राह्मणों तथा साधु-महात्माओंका सबसे अधिक आदर होता था, क्योंकि वे लोग त्यागकी मूर्ति होते थे। उनके जीवनमें सादगी बहुत अधिक थी, खर्चीलापन नहीं था। खान-पान, पहरावा, बोल-चाल तथा व्यवहार—सब कुछ सादा और पवित्र होता था। चौबीस वर्षकी अवस्थातक वे लोग ब्रह्मचर्यसे रहकर गुरुसेवा तथा विद्याभ्यास करते थे। उतने समयतक वे लोग शृङ्गार तथा विलासितासे बिल्कुल दूर रहते थे। उनका खर्च बहुत परिमित होता था। इसीलिये उन्हें धनके लिये धनिकोंकी गुलामी नहीं करनी पड़ती थी। छल-कपट वे जानते ही न थे। वनमें रहकर कन्द-मूल-फलसे अथवा भिक्षावृत्तिसे अपना जीवन-निर्वाह करते थे। वे लोग स्वावलम्बी एवं कष्ट-सहिष्णु होते थे। इसीलिये उन्हें नौकरोंकी आवश्यकता नहीं होती थी। वे अपना काम अपने हाथसे करते थे। उनके त्याग और वैराग्यका इतना प्रभाव था कि बड़े-बड़े राजालोग उनकी चरणधूलिको मस्तकमें लगाकर अपनेको पवित्र मानते थे। उनमेंसे कई ऐसे थे, जिनके पास हजारों विद्यार्थी रहते थे। वे लोग कुलपति कहलाते थे। उनके आश्रम एक-एक विश्वविद्यालय होते थे। परन्तु इसके लिये उन्हें बड़ी-बड़ी इमारतोंकी —लाखों-करोड़ों रुपये सञ्चय करनेकी आवश्यकता नहीं होती थी। वे वृक्षोंके नीचे बैठकर अपने छात्रोंको पढ़ाया करते थे और घास-फूस तथा पत्तोंकी झोपड़ियाँ बनाकर उनमें रहते थे। वल्कल-वस्त्र पहनते थे। उन्हें सब प्रकारकी आवश्यक सामग्री वनोंसे ही मिल जाया करती थी। इसलिये उन्हें पैसेकी आवश्यकता नहीं पड़ती थी। स्वाद, शौक, ऐश-आराम-की उनमें गन्धतक नहीं थी। खेल-तमाशे तथा किसी भी प्रकारकी मादक वस्तुको वे पास भी नहीं फटकने देते थे। राजा-महाराजाओंतकपर उनका शासन चलता था, परन्तु उनपर किसीका शासन नहीं था, उनके पास था ही क्या, जिसको लेकर कोई उनपर शासन करने जाता। वे सारे भूतोंको अभयदान देकर विचरते थे। प्राणिमात्रका हित करना ही उनका एकमात्र व्रत था। इसीलिये उनके आश्रमोंमें हिंसक जन्तु भी हिंसक-वृत्ति छोड़कर सामान्य जीवोंकी तरह रहते थे। क्षमा, दया, शान्ति, सरलता आदि सद्गुण तथा यज्ञ, दान, तप, परोपकार, सत्यभाषण, दीन-दुखियोंकी सेवा तथा ईश्वरोपासना आदि सदाचार ही उनकी सम्पत्ति थी। इसीको गीतामें दैवी सम्पत्तिके नामसे कहा गया है।

वर्तमान समयमें इससे बिल्कुल विपरीत स्थिति दृष्टिगोचर हो रही है। छल-कपट, झूठ तथा कला-कौशलके द्वारा तथा विविध प्रकारके यन्त्रों एवं गैसों आदिका आविष्कार करके स्वल्पातिस्वल्प समयमें अधिक-से-अधिक जीवोंकी हिंसा करनेकी सामर्थ्य प्राप्त करना ही वर्तमान समयमें उन्नतिका प्रधान लक्षण माना जाता है। बड़े-बड़े राष्ट्रोंका छोटे-छोटे राष्ट्रोंको—सबलोंका दुर्बलोंको हड़प जाना ही आजकलका परम पुरुषार्थ है। इसीका नाम आसुरी सम्पदा है। आज संसारमें सर्वत्र इसीका साम्राज्य देखनेमें आता है।

ऊपरके वर्णनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि प्राचीन संस्कृतिमें दैवी सम्पदाकी प्रधानता थी और वर्तमान संस्कृतिमें आसुरी सम्पदाका प्राधान्य है। यही दोनों सभ्यताओंमें अन्तर है। इनमेंसे एक ऊँचे उठानेवाली और दूसरी नीचे गिरानेवाली है। प्रत्येक कल्याणकामी पुरुषको चाहिये कि वह पहलीका संग्रह तथा दूसरीका त्याग करे। दैवी सम्पत्ति ही असली धन है। लौकिक धन तो मरनेके बाद यहीं रह जाता

है। किन्तु यह धन ऐसा है जिसका शरीरके नाश होनेपर भी नाश नहीं होता। इसीको मानव-धर्म भी कहते हैं। इसीसे सच्चे सुखकी प्राप्ति होती है। यदि साधनकी शिथिलताके कारण इसी जन्ममें उस सुखकी प्राप्ति नहीं हुई तो दूसरे जन्ममें लौकिक धनके साथ इस धनकी भी प्राप्ति हो जाती है और इस प्रकार मनुष्य उस सच्चे सुखका अधिकारी बन जाता है। यहाँ यह प्रश्न होता है कि लौकिक धन शरीरके साथ यहीं रह जाता है और दैवी धन परलोकमें भी जीवका साथ नहीं छोड़ता, इसमें क्या कारण है? बात यह है कि मृत्यु हो जानेपर मनुष्यका शरीर तो यहीं रह जाता है किन्तु इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा प्राण उसके साथ ही जाते हैं; क्योंकि उनका अस्तित्व मुर्देमें नहीं देखा जाता। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जिस धनका समावेश इन्द्रिय, मन तथा बुद्धिमें हो सकता है वही धन परलोकमें जीवके साथ जा सकता है। सद्गुण और सदाचार ही ऐसा धन है जिसका समावेश इन्द्रिय, मन और बुद्धिमें होता है। अतः यही धन जीवके साथ जाता है, बाकी धन यहीं पड़ा रह जाता है। विद्या, विवेक एवं शुभ निश्चय बुद्धिमें रहते हैं। इन्द्रियोंद्वारा जो उत्तम क्रियाएँ की जाती हैं, वे संस्काररूपसे मनमें सञ्चित रहती हैं और उत्तम गुण तो स्वरूपसे ही मनमें रहते हैं। इन सबकी प्राप्ति ईश्वरभक्तिसे सुलभ हो जाती है, अतः ईश्वरभक्ति ही कल्याणका मुख्य साधन है। मनुष्य-जन्म पाकर जीवनमें इसीका अभ्यास करना चाहिये। यही भारतीय संस्कृतिका मूल मन्त्र है।

सीख

अब मन कृष्ण कृष्ण कहि लीजे।
कृष्ण कृष्ण कहि कहिके जगमें
साधु समागम कीजे॥
कृष्ण-नामकी माला लैके
कृष्ण-नाम चित दीजे।
कृष्ण-नाम अमृत रस रसना
तृषावंत हो पीजे॥
कृष्ण-नाम है सार जगतमें
कृष्ण हेतु तन छीजे।
'रूपकुँवरि' धरि ध्यान कृष्णको
कृष्ण कृष्ण कहि लीजे॥

—रानी रूपकुँवरि

माताजीसे वार्तालाप

(२)

योगके खतरे—योगमें पौरस्त्य और पाश्चात्य

(अनुवादक—श्रीमदनगोपालजी गाड़ोदिया)

'योग-मार्गमें क्या-क्या खतरे हैं ? क्या योग विशेषतः पाश्चात्य देशवासियोंके लिये ही खतरनाक है ? किसीने कहा है कि पौरस्त्य लोगोंके लिये योग करना अनुकूल हो सकता है, किन्तु पाश्चात्य लोगोंपर तो इसका जो असर होता है, वह उनकी मानसिक समतोलताको बिगाड़ देता है।'

योग पाश्चात्य देशवासियोंके लिये पौरस्त्य देशवासियोंकी अपेक्षा कोई अधिक खतरनाक नहीं है। सब कुछ इस बातपर निर्भर करता है कि तुम किस भावसे इसमें प्रवृत्त होते हो। यदि तुम योग अपने ही लिये, किसी व्यक्तिगत स्वार्थके लिये करना चाहते हो, तो अवश्य ही यह खतरनाक हो जाता है। परन्तु यदि तुम इसकी जो पवित्रता है, उस भावनाको साथ रखते हुए योगमें प्रवृत्त होते हो और यह सदा स्मरण रखते हो कि तुम्हारा लक्ष्य भगवान्‌को पाना है तो फिर योगसे किसी बातका खतरा नहीं, बल्कि तब तो यह उलटे तुम्हें निरापद रखता है और तुम्हारे लिये संरक्षणरूप हो जाता है।

खतरे और कठिनाइयाँ तो तब उपस्थित होती हैं जब कोई भगवान्‌के लिये योग-साधना नहीं करता, बल्कि इसको किसी शक्तिकी प्राप्ति करनेके लिये करता है और योगकी आड़में किसी महत्त्वाकाङ्क्षाकी पूर्ति करना चाहता है। यदि तुम महत्त्वाकाङ्क्षाओंसे छुटकारा नहीं पा सकते तो इसका स्पर्श मत करो। यह आग है, जो जला देती है।

योग-साधना करनेके दो मार्ग हैं; एक है तपस्याका और दूसरा है समर्पणका। तपस्याका मार्ग कठोर है, इस मार्गमें तुम सर्वथा अपने ऊपर ही निर्भर करते हो, अपने निजी सामर्थ्यसे ही आगे बढ़ते हो। तुम्हारी अपनी शक्तिके परिमाणमें ही तुम्हारा आरोहण होता है और उतना ही तुमको फल मिलता है। इस मार्गमें नीचे गिरनेका भय सदा ही रहता है। और एक बार जहाँ तुम्हारा पतन हुआ तो तुम गहरी खाईमें नीचे गिरकर चूर-चूर हो जाओगे और शायद ही फिर उठ सको। परन्तु दूसरा मार्ग, समर्पणका मार्ग निरापद और निश्चित है। परन्तु यहींपर पाश्चात्य देशवासियोंको कठिनाई होती है। उनको यह शिक्षा मिली है कि वे उन सभी चीजोंसे डरें और बचें जो उनकी व्यक्तिगत स्वाधीनताका अपहरण करती दीखती हो। वे लोग व्यक्तित्वकी भावनाको अपनी माताके दूधके साथ-साथ जीवनगत किये हुए होते हैं। और समर्पणका अर्थ है—इस सबका अर्पण। दूसरे शब्दोंमें जैसा श्रीरामकृष्ण परमहंस कहते थे, तुम बंदरके बच्चे और बिल्लीके बच्चे—इन दोमेंसे किसी एकके मार्गका अनुसरण कर सकते हो। बंदरके बच्चेको इधर-उधर ले जाये जानेके लिये अपनी माँकी छातीसे चिपक जाना पड़ता है, उसे कसकर पकड़े रहना होता है और जो कहीं उसकी मुट्ठी ढीली पड़ी तो वह गिर जाता है। परन्तु बिल्लीका बच्चा अपनी माँको नहीं पकड़ता, बल्कि उसकी माँ ही उसे पकड़े रखती है; इसलिये उसको न कोई भय है, न उत्तरदायित्व; उसे तो केवल इतना ही करना पड़ता है कि वह अपनी माताकी पकड़में आ जाय और माँ-माँ करता रहे।

इस समर्पण-मार्गको यदि तुम पूर्णरूपसे और सचाईके साथ ग्रहण कर लो, तो फिर खतरा या

गम्भीर कठिनाई नहीं होती; प्रश्न केवल तुम्हारे सच्चे होनेका है। यदि तुम सच्चे नहीं हो तो योग-साधना आरम्भ मत करो। यदि तुम मानवी विषयोंमें हाथ डालते तो वहाँ धोखा-धड़ी चल सकती थी, किन्तु भगवान्‌के साथ व्यवहार करनेमें धोखेके लिये कोई स्थान नहीं है। इस मार्गमें तुम तभी निरापद होकर यात्रा कर सकते हो जब तुम निष्कपट और निश्छल होओ और जब तुम्हारा एकमात्र ध्येय भगवान्‌का साक्षात्कार करना, उन्हें पाना और उनके द्वारा परिचालित होना हो।

एक और खतरा है और वह है काम-वासनाके सम्बन्धमें। *योग अपनी पवित्रीकरणकी प्रक्रियामें उन* समस्त वासनाओं और इच्छाओंको जो तुम्हारे अंदर छिपी पड़ी हैं, उघाड़ देगा और उनको ऊपरी तलपर उठा लावेगा। और तुमको यह सीखना होगा कि तुम इन चीजोंको न तो छिपाओ, न इनकी अवहेलना करो; तुम्हें इन सब चीजोंसे मुकाबला करना होगा, इनपर विजय प्राप्त करनी होगी और इनको एक नये साँचेमें ढाल देना होगा। अस्तु, योगका प्रथम प्रभाव होता है मानसिक संयमको हटा लेना, इससे साधककी अतृप्त वासनाएँ, जो सुप्त अवस्थामें पड़ी हुई होती हैं, हठात् मुक्त हो जाती हैं, ऊपरमें उभड़ आती हैं और उसपर आक्रमण करती हैं। इस मानसिक संयमका स्थान जबतक भागवत संयम ग्रहण नहीं कर लेता, तबतक एक संक्रमणकाल रहता है और इस कालमें तुम्हारी सचाई और समर्पण कसौटीपर कसे जायँगे। काम-वासना और इस प्रकारके आवेगोंको बल मिलनेका प्रायः यह कारण होता है कि लोग इनपर बहुत अधिक ध्यान देते हैं, वे इनका बहुत तीव्रताके साथ प्रतिवाद करते हैं और इनको निग्रहद्वारा रोके रखना चाहते हैं, इन्हें अपने अंदर भरे हुए किसी तरह दबाये रखना चाहते हैं। परन्तु जितना ही अधिक तुम किसी चीजके बारेमें सोचते और यह कहते हो कि 'मैं उसे नहीं चाहता, मैं उसे नहीं चाहता', उतना ही अधिक तुम उस चीजसे ग्रस्त होते जाते हो। तुम्हें जो कुछ करना चाहिये वह यह है कि तुम उस चीजको अपनेसे दूर रक्खो, उससे असम्बद्ध रहो, उसपर जितना कम-से-कम ध्यान दे सको, उतना कम ध्यान दो और इसपर भी यदि वह कभी तुम्हारे चिन्तनमें आवे तो उससे उदासीन और निर्लिप्त रहो।

योगका दबाव पड़नेके कारण जो इच्छाएँ और वासनाएँ ऊपरमें उभड़ आती हैं, उनका अनासक्त रहकर और शान्तिके साथ मुकाबला करना चाहिये, *यह समझना चाहिये कि ये तुमसे विजातीय वस्तुएँ हैं,* अथवा बाह्य जगत्‌की चीजें हैं, जिनसे तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है। उन्हें भगवान्‌को सौंप देना चाहिये, जिससे कि भगवान् उनको अपने हाथमें ले लें और उनका रूपान्तर कर दें।

एक बार यदि तुम अपने-आपको भगवान्‌की ओर खोल चुके हो, यदि भगवान्‌की शक्ति एक बार तुममें उतर चुकी है और फिर भी यदि तुम पुरानी शक्तियोंके साथ सम्बन्ध बनाये रखना चाहते हो तो तुम अपने लिये कष्टों, कठिनाइयों और खतरोंको मोल लेते हो। तुम्हें सावधान रहना चाहिये और बराबर देखते रहना चाहिये कि कहीं तुम भगवान्‌की आड़में अपनी इच्छाओंको तो सन्तुष्ट नहीं कर रहे हो। ऐसे बहुत-से अपने-आप बने हुए गुरु होते हैं, जो असलमें यही करते हैं। और फिर जब तुम सीधे मार्गको छोड़कर भटक जाते हो और जब तुममें थोड़ा ज्ञान तो हुआ है, किन्तु अच्छी तरह शक्ति नहीं होती, तब यह होता है कि एक विशेष प्रकारके सत्त्व और सत्ताएँ तुमपर अपना अधिकार जमा लेती हैं और अन्तमें तुमको निगल जाती हैं। जहाँ कहीं कपट है, वहीं खतरा है; तुम भगवान्‌को धोखा नहीं दे सकते। क्या तुम ऐसा कर सकते हो

कि भगवान्‌के पास जाओ तो यह कहते हुए कि 'मैं आपके साथ एक हो जाना चाहता हूँ' और उस समय तुम्हारे मनमें हो कि 'मैं शक्ति और भोग चाहता हूँ' ! सावधान ! यदि ऐसा है तो तुम सीधे डागके किनारेकी ओर बढ़े जा रहे हो । परन्तु अभी भी सत्यानाशसे बच जाना बहुत ही सहज है । एक बालककी तरह हो जाओ, अपने-आपको भगवती माताके अर्पण कर दो, उनकी गोदमें रहो; फिर तुम्हारे लिये कोई खतरा नहीं रह जायगा ।

इसका यह अर्थ नहीं कि तुमको दूसरी-दूसरी कठिनाइयोंका सामना करना ही नहीं पड़ेगा अथवा यह कि तुम्हें किन्हीं विघ्न-बाधाओंसे युद्ध करना और उनपर विजय प्राप्त करना ही नहीं होगा । समर्पणका अर्थ यह नहीं कि साधनामें सतत, अव्याहत और सरल प्रगतिके लिये कोई परवाना मिल गया । इसका कारण यह है कि तुम्हारी सत्ता अभीतक एक नहीं हुई है, न तुम्हारा समर्पण ही अभी अनन्य और पूर्ण हुआ है । आरम्भमें तुम्हारा केवल एक भाग ही समर्पण करता है और फिर आज एक भाग तो कल दूसरा भाग । योग-साधना करनेका सारा प्रयोजन ही यह है कि अपनी सत्ताके समस्त बिखरे हुए भागोंको एकत्र करके उन्हें एक अविभाजित एकतामें ढाल देना । जबतक यह नहीं हो जाता, तबतक कठिनाइयोंसे—उदाहरणके लिये उदासी या दुविधा-जैसी कठिनाइयोंसे—तुम्हारा पिण्ड नहीं छूट सकता । सारा जगत् विषसे भरा पड़ा है और प्रत्येक साँसके साथ तुम इसको पी रहे हो । यदि तुम किसी अवाञ्छित मनुष्यके साथ थोड़ी-सी बातचीत भी करो, अथवा इस प्रकारका मनुष्य यदि तुम्हारी बगलसे होकर निकल भी जाय, तो यह सम्भव है कि तुम उसके सङ्क्रामक दोषको ग्रहण कर लो । जहाँ प्लेग हो, उसके आस-पाससे होकर गुजर जाना उसके जहरकी छूतको लगा लेनेके लिये पर्याप्त है, फिर चाहे इस जहरके वहाँ होनेका तुम्हें पता हो या न हो । तुम्हारी बहुत दिनोंकी कमाई कुछ क्षणोंमें नष्ट हो जा सकती है । जबतक तुम मानवजातिके घेरेमें हो, जबतक तुम साधारण जीवन व्यतीत करते हो, तबतक यदि तुम संसारी मनुष्योंसे हिलो-मिलो तो इसमें कोई खास चिन्ताकी बात नहीं है; किन्तु यदि तुम दिव्य जीवनकी कामना रखते हो तो तुम्हें अपने सङ्गी-साथी और अपनी परिस्थितिसे बहुत सावधान रहना पड़ेगा ।

अपनी सत्तामें एकता और एक सदृशता स्थापित करनेका उपाय क्या है ? अपने सङ्कल्पको दृढ़ रक्खो । अपने उद्धत भागोंके साथ ऐसा व्यवहार करो जैसा कि अनाज्ञाकारी बालकोंके साथ किया जाता है । उनपर लगातार और धैर्यपूर्वक क्रिया करते रहो, उन्हें उनकी भूल अवगत करा दो ।

एक बार जहाँ तुमने हृत्पुरुषकी चेतनाको और उसकी अभीप्साको पा लिया तो फिर इन सन्देहों और कठिनाइयोंको नष्ट कर दिया जा सकेगा । इस काममें कम या अधिक समय तो लगेगा, परन्तु अन्तमें तुम सफल होओगे—यह निश्चित है । एक बार जब तुमने भगवान्‌की ओर मुँह किया है और यह कहा है कि 'मैं आपका होना चाहता हूँ' और भगवान्‌ने 'हाँ' कह दिया है, तो फिर यह समस्त जगत् तुमको उनसे अलग नहीं कर सकता । अंदरसे जीवने जब समर्पण कर दिया है, तब प्रधान कठिनाई दूर हो गयी है । बाह्य सत्ता तो एक जमी हुई पपड़ीकी तरह है । साधारण लोगोंमें यह पपड़ी इतनी कठोर और मोटी होती है कि इसके कारण वे अपने अंदरके भगवान्‌से सचेतन नहीं हो पाते । परन्तु यदि आन्तर पुरुषने एक बार, क्षण-भरके लिये ही सही, यह कह दिया है कि 'मैं यहाँ हूँ और मैं तुम्हारा हूँ', तब मानो एक पुल बँध गया है और यह बाहरी पपड़ी धीरे-धीरे पतली-से-पतली पड़ती जायगी और एक दिन आवेगा जब कि दोनों भाग पूर्ण-

रूपसे जुड़ जायँगे और आन्तर तथा बाह्य दोनों एक हो जायँगे।

महत्त्वाकाङ्क्षाके कारण अनेक योगियोंका विनाश हुआ है। यह नासूर बहुत दिनोंतक छिपा पड़ा रह सकता है। यह है, इस बातका जरा भी भान न रहते हुए ही अनेक मनुष्य योग करना आरम्भ कर देते हैं। परन्तु जब उनको शक्ति प्राप्त होती है, तब उनकी यह महत्त्वाकाङ्क्षा भड़क उठती है; यह भड़कना और भी जोरदार इसलिये होता है कि आरम्भमें ही इसको निकालकर फेंक नहीं दिया गया।

एक पाश्चात्त्य योगीके बारेमें, जिसने अद्भुत शक्ति प्राप्त की थी, एक कहानी सुनी जाती है। एक बार उसके शिष्योंने एक बहुत बड़े भोजमें उसको निमन्त्रित किया। भोजन एक नीची पर बड़ी-सी मेजपर परोसा गया। अब उन शिष्योंने अपने गुरुसे कहा कि 'आप अपनी शक्तिको किसी रूपमें दिखाइये।' वह यह जानता था कि ऐसा नहीं करना चाहिये; किन्तु महत्त्वाकाङ्क्षाका बीज उसमें वर्तमान था और उसने सोचा कि 'मैं जो कुछ करने जा रहा हूँ, वह आखिरकार एक बहुत निर्दोष चीज है और इससे यह होगा कि इन लोगोंको यह विश्वास हो जायगा कि ऐसा कुछ किया जा सकता है और इससे इनको ईश्वरकी महत्ताकी शिक्षा मिलेगी।' इस प्रकार विचार करके उसने कहा कि 'मेजको हटा लो, केवल मेजको ही हटाओ और उसपर बिछी हुई चादर और समस्त थालियाँ ज्यों-की-त्यों पड़ी रहने दो।' यह सुनकर उसके शिष्य चिल्ला उठे, 'ओह! ऐसा कैसे किया जा सकता है, सब कुछ गिर जायगा।' परन्तु उसने आग्रह किया और शिष्योंने चादरके नीचेसे मेज हटा ली। अब तो आश्चर्यके मारे सब-के-सब हक्के-बक्के-से रह गये। चादर और उसके ऊपरका सारा सामान ठीक उसी तरह पड़ा रहा, जैसा मेज नीचे रहनेके समय था। परन्तु हठात् गुरु वहाँसे कूदकर चीखते और चिल्लाते हुए भागे, 'अब कभी मैं शिष्य नहीं बनाऊँगा, अब कभी नहीं। मुझपर वज्र गिरे! मैंने अपने भगवान्के साथ द्रोह किया है।' उसके हृदयमें आग जल रही थी, उसने स्वार्थके लिये भागवत शक्तियोंका उपयोग किया था।

शक्तियोंका प्रदर्शन सदा ही बुरा है। इसका यह अर्थ नहीं कि उनका कोई उपयोग ही नहीं होता। परन्तु जिस प्रकार वे प्राप्त होती हैं, उसी प्रकार उनका उपयोग भी होना चाहिये। वे भगवान्के साथ योग होनेपर प्राप्त होती हैं और उनका उपयोग भी भगवान्के सङ्कल्पद्वारा ही होना चाहिये, प्रदर्शनके लिये नहीं। यदि किसी अंधे मनुष्यसे तुम्हारी भेंट हो और तुममें यह शक्ति हो कि तुम उसको आँखें दे सको तो—यदि भगवान्की यह इच्छा है कि उसकी आँखें खुल जायँ तो—तुम्हारा इतना कहना बस होगा कि 'उसकी आँखें खुल जायँ' और उसकी आँखें खुल जायँगी। परन्तु यदि तुम उसको केवल इसलिये आँखें देना चाहते हो कि तुम्हारी इच्छा उसको अच्छा कर देनेकी है, तो तुम अपनी व्यक्तिगत महत्त्वाकाङ्क्षाको सन्तुष्ट करनेके लिये ही शक्तिका उपयोग करते हो। ऐसी अवस्थामें बहुधा यह होता है कि तुम केवल अपनी शक्तिको गवाँ ही नहीं देते, बल्कि उस मनुष्यमें भी एक भारी क्षोभ उत्पन्न करते हो। यद्यपि ऊपरसे देखनेमें ये दोनों तरीके एक समान हैं, किन्तु एकमें तुम इसलिये कार्य करते हो कि वह भगवान्की इच्छा है और दूसरीमें इसलिये कि तुम अपने किसी वैयक्तिक भावसे प्रेरित हुए हो।

भगवान्के सङ्कल्पको जानना कठिन नहीं होता, वह असन्दिग्ध होता है। योगमार्गमें बहुत आगे बढ़नेके पहले ही तुम इसको जानने लायक हो सकते हो।

केवल आवश्यकता इस बातकी है कि तुम उनकी वाणीको ध्यानपूर्वक सुन सको, उस सूक्ष्म वाणीको सुन सको जो यहाँ हृदयमेंसे निकलती है। एक बार तुमको इसे सुननेका अभ्यास हो गया, तो फिर यदि तुम भागवत सङ्कल्पके विरुद्ध कुछ भी करोगे तो तुम्हें एक प्रकारकी व्याकुलता अनुभव होगी। और यदि तुम उस गलत मार्गपर हठपूर्वक चलते रहोगे तो तुम बहुत अधिक क्षुब्ध हो जाओगे। परन्तु यदि तुम अपनी इस व्याकुलताके कारणके रूपमें कोई बाह्य भौतिक बहाना ढूँढ़ निकालोगे और गलती करते ही जाओगे, तो यह होगा कि तुम धीरे-धीरे, जाननेकी अपनी इस शक्तिको गँवा दोगे और अन्तमें तुम्हारी यह दशा हो जायगी कि तुम नाना प्रकारकी भूलें करते जाओगे पर किसी तरहकी व्याकुलताका अनुभव न करोगे। परन्तु पहली ही बार, जरा-से क्षोभके होते ही यदि तुम वहीं रुक जाओ और अपने अन्तरात्मासे प्रश्न करो कि 'इस क्षोभका कारण क्या है' तो तुमको ठीक-ठीक उत्तर अवश्य मिलेगा और सब कुछ साफ-साफ दिखायी देने लगेगा। जरा-सी उदासी या साधारण-सी व्याकुलताका अनुभव होनेपर भी उनके लिये बाह्य भौतिक बहाने मत ढूँढ़ो। इसके कारणका पता लगानेके लिये जब तुम ठहरकर सोचते हो तब अपने हृदयको बिलकुल सरल और सच्चा रक्खो। आरम्भमें तुम्हारा मन ऐसी सुन्दर-सुन्दर बातें गढ़ेगा जो जीको जँच जानेवाली होंगी। उन्हें स्वीकार मत करो, बल्कि उनके परे जाकर देखो और पूछो कि 'यह जो गति हो रही है, उसके मूलमें क्या है? मैं इस प्रकार क्यों कर रहा हूँ?' अन्तमें तुम एक छोटी-सी लहरको—अपने भावकी कुछ गलती या किसी वक्रताको—जिसके कारण यह कष्ट और क्षोभ हो रहा है, एक कोनेमें छिपी हुई देख पाओगे।

महत्त्वाकाङ्क्षाका एक अत्यन्त सामान्यरूप है मानव-जातिकी सेवा करनेका विचार। इस प्रकारकी सेवा या कार्यके प्रति किसी भी प्रकारकी आसक्ति होना व्यक्तिगत महत्त्वाकाङ्क्षाका चिह्न है। यदि कोई गुरु यह समझता हो कि वह मानव-जातिको किसी महान् सत्यकी शिक्षा देनेके लिये आया है और बहुत-से शिष्य चाहता हो और शिष्योंके चले जानेपर बेचैनी अनुभव करता हो अथवा जो कोई भी सामने आवे उसपर अपना प्रभाव जमाकर उसे अपना शिष्य बना लेनेकी चेष्टा करता हो, तो यह स्पष्ट है कि वह अपनी महत्त्वाकाङ्क्षाका अनुसरण करनेके अतिरिक्त और कुछ नहीं कर रहा है। यदि तुम भगवान्‌के आदेशका अनुसरण करना चाहते हो, तो तुम्हें जो कोई भी काम मिले—चाहे वह बहुत भारी काम ही क्यों न हो—उसको ग्रहण करनेके लिये तथा दूसरे ही दिन उस कामको उसी शान्तिके साथ, जिसके साथ तुमने उसे ग्रहण किया था—और जरा भी यह न समझते हुए कि इसमें तुमपर कोई उत्तरदायित्व है—छोड़ देनेके लिये तुम्हें तैयार रहना चाहिये। किसी पदार्थ अथवा किसी प्रकारके जीवनमें तुम्हें कोई आसक्ति नहीं होनी चाहिये, तुम्हें सर्वथा स्वतन्त्र हो जाना चाहिये। यदि तुम सच्ची यौगिक स्थितिमें रहना चाहते हो तो तुममें यह शक्ति होनी चाहिये कि भगवान्‌की ओरसे जो कुछ भी आवे, उसको तुम स्वीकार कर सको और उसको सरलताके साथ तथा बिना किसी दुःखके छोड़ भी सको। 'मैं कुछ नहीं चाहता' ऐसा कहनेवाला एक वैरागी और 'यह वस्तु मुझे चाहिये' ऐसा कहनेवाला एक संसारी मनुष्य—इन दोनोंकी मनोवृत्ति एक ही है। सम्भव है कि वैरागी अपने त्यागके भावमें उतना ही आसक्त हो, जितना कि संसारी अपनी सम्पत्तिके स्वामित्वके भावमें।

तुम्हें उन सभी वस्तुओंको—और केवल उन्हीं वस्तुओंको स्वीकार करना चाहिये, जो भगवान्‌के यहाँसे आती हैं। क्योंकि वस्तुएँ तुम्हारी छिपी हुई इच्छाओंके फलस्वरूप भी आ सकती हैं। इच्छाएँ अवचेतनामें कार्य करती हैं और तुम्हारे पास ऐसी वस्तुओंको ले आती हैं, जिन्हें तुम चाहे इस रूपमें

न पहचान सको, पर वे भगवान्‌के यहाँसे नहीं बल्कि परदेके अंदर जो इच्छाएँ छिपी पड़ी हैं, वहाँसे आयी हुई होती हैं ।

कोई चीज जब भगवान्‌के यहाँसे आती है तो उसको तुम सहज ही जान सकते हो । उस समय तुम अपनेको स्वतन्त्र अनुभव करते हो, अनुद्विग्न और स्वस्थ पाते हो, शान्तिकी अवस्थामें होते हो । परन्तु किसी चीजके मिलनेपर यदि तुम उसपर टूट पड़ते हो और मारे खुशीके चिल्ला उठते हो कि 'आखिरकार यह मुझे मिली' तो तुमको निश्चयपूर्वक यह समझ लेना चाहिये कि वह चीज भगवान्‌के यहाँसे नहीं आयी है । भगवान्‌के साथ योग और सम्मिलनके लिये प्रधान शर्त है—समचित्तता ।

भगवान् भी कभी-कभी तुम्हारी इच्छित वस्तुको देते हैं ।

एक नौजवान आदमी योग करना चाहता था । परन्तु उसका पिता नीच और क्रूर था, वह उसको बहुत कष्ट देता और उसको योग-साधन करनेसे रोकनेकी चेष्टा करता था । उस नौजवानकी तीव्र इच्छा हुई कि वह अपने पिताके हस्तक्षेपसे मुक्त हो जाय । शीघ्र ही उसका पिता बीमार पड़ा, उसका रोग असाध्य हो गया और वह मृत्युके समीप पहुँच गया । अब उस युवककी प्रकृतिका दूसरा भाग जागृत हुआ और वह इस दुर्भाग्यको कोसता हुआ विलाप करने लगा, 'आह, मेरे पिताजी इतने बीमार हो गये ! यह बड़े दुःखकी बात है । अरे, मैं क्या करूँ !' उसका पिता अच्छा हो गया। युवकको बड़ी प्रसन्नता हुई और उसने एक बार फिर योगकी ओर मुँह किया और उसका पिता भी दूने बलके साथ उसका विरोध करने और उसको सताने लगा । लड़का निराश होकर सिर धुनने और विलाप करने लगा कि 'अब मेरे पिता मेरे मार्गमें और भी अधिक बाधक हो रहे हैं ।'

'कुछ लोगोंके साथ ऐसा होता है कि उनके प्रत्येक स्थूल सहारेको या उन सभी वस्तुओंको, जिनको वे बहुत अधिक चाहते हैं, उनसे छीन लिया जाता है । और यदि वे किसीपर प्रेम करते हैं, तो उसको भी उनसे अलग कर दिया जाता है ।'

ऐसी घटना सबके साथ नहीं घटती, यह केवल उन्हींके साथ होता है, जिनकी पुकार होती है ।

आध्यात्मिक जीवनके सम्बन्धमें पाश्चात्त्य और पौरस्त्य लोगोंमें जो कुछ भी भेद है, वह उनके आन्तर पुरुष और आन्तर प्रकृतिमें नहीं है । कारण, ये तो अविकारी और अविचल हैं; किन्तु वह है मानसिक अभ्यासोंमें, बाहरी प्रकाशन और प्रतिपादनके तरीकोंमें, जो कि शिक्षा, परिस्थिति तथा अन्यान्य बाह्य अवस्थाओंके परिणामभूत होते हैं । सभी लोग—वे चाहे पाश्चात्त्य हों या पौरस्त्य—अनुभव एक ही रूपमें करते हैं; तब उन अनुभवोंका विचार वे भिन्न-भिन्न रूपमें करते हैं । उदाहरणके लिये सचाई एक ऐसा गुण है, जो सभी देशोंमें एक समान है । जो सच्चे हैं, वे चाहे किसी राष्ट्रके क्यों न हों, एक ही रूपमें सच्चे हैं । भिन्न जातियोंमें मन भिन्न रूपसे काम करता है, किन्तु हृदय सर्वत्र समान है; हृदय अधिक सत्य वस्तु है, भेद तो बाह्य और ऊपरी भागोंसे सम्बन्ध रखते हैं । जैसे ही तुम हृदयकी पर्याप्त गहराईमें उतरते हो, वैसे ही तुम किसी ऐसी वस्तुसे मिलते हो, जो सबमें एक है । सभी भगवान्‌में जाकर मिल जाते हैं । भौतिक संसारमें सूर्य भगवान्‌का प्रतीक है । बादलोंके कारण सूर्यकी अभिव्यक्तिमें फरक हो सकता है; किन्तु जैसे ही बादल उड़ जाते हैं, वैसे ही तुम देखते हो कि सदा और सर्वत्र वही एक सूर्य है ।

यदि तुम किसीके साथ एकरस अनुभव नहीं कर सकते तो इसका यह अर्थ है कि तुम अभी अपने अनुभवमें पर्याप्त गहराईतक नहीं पहुँचे हो ।

संसारमें रहनेका तरीक़ा

(लेखक—पूज्य श्रीभोलानाथजी महाराज)

मैं—आपका क्या हाल है ?

वह—अच्छा है, अच्छा है, लेकिन बहुत अच्छा नहीं।

मैं—आपने बहुत ठीक जवाब दिया। यही एक उत्तर है, जो संसारमें प्रत्येक व्यक्तिसे इस प्रश्नके जवाबमें मिलता है।

वह—लेकिन, महाराज, यह तो ठीक नहीं मालूम होता; दुनियामें बड़ी-बड़ी स्थितियाँ हैं, जिनको देखनेसे यह प्रतीत होता है कि इस प्रश्नके उत्तरमें कहा जा सकता है कि 'अच्छा है, अच्छा है और बिल्कुल अच्छा है।'

मैं—आप यह बात अपनी अपेक्षासे कह रहे हैं या दूसरोंकी दृष्टिसे ? अगर आप अपनी अपेक्षासे कह रहे हैं तो ठीक नहीं; क्योंकि आपने अभीतक उस अवस्थाको खुद अनुभव करके नहीं देखा। और अगर दूसरोंकी दृष्टिसे कह रहे हैं तो ऐसा कहना बनता ही नहीं, क्योंकि वे लोग इस प्रश्नका उत्तर इस तरह नहीं दे रहे कि जिस तरह आप समझते हैं। वे भी यही कहते हैं कि 'अच्छा है, अच्छा है, लेकिन बहुत अच्छा नहीं।'

वह—कलहीकी बात है, मैंने एक आदमीसे यही प्रश्न किया था तो उसने कहा कि 'अच्छा है, अच्छा है और बिल्कुल अच्छा है।'

मैं—लेकिन उसका यह उत्तर जुगनूकी दुमके प्रकाशकी तरह था कि जो एक दफ़ा चमक कर फिर अँधेरेको दिखाने लगता है। दुनियामें तीन ही हालतें हैं। या तो मनुष्य कुछ चाहता है, या पाता है या खोता है। पहलीमें चैन या शान्ति नहीं है, क्योंकि वहाँ मनुष्य अपने ध्येयसे दूर है, दूसरीमें भी अशान्ति है, क्योंकि अपने ध्येयके फिर जाते रहनेका डर है; तीसरेमें तो अशान्ति घटाटोप हृदयके आकाशपर छायी हुई है, क्योंकि इसमें तो ध्येय मिलकर जुदा हो चुका है। लेकिन वास्तवमें हैरानी तो यह है कि चाहनेवाले पाये हुओंको सुखी समझते हैं और पाकर खोये जानेका भय करनेवाले (दूसरी अवस्थावाले) चाहनेवालोंको और पाकर खोये हुओंको यानी पहली और तीसरी अवस्थावालोंको भाग्यशाली समझते हैं। क्योंकि वे जानते हैं कि ये तो अभी चाह रहे हैं, इनकी तो आशाएँ बनी हैं; इनको 'न मिलने' का थोड़ा-सा कष्ट तो है, लेकिन उसके न मिलनेमें उनकी लाखों आशाएँ और पुरुषार्थ अभीतक मौजूद हैं। और पाकर खोये हुए भी इसलिये अच्छे हैं कि वे उसके 'खोये जानेके भय' से तो मुक्त हो चुके हैं। मुसीबतमें तो हम रहे कि चीज़ तो मिल गयी है, लेकिन उसका चले जाना दिन-ब-दिन सामने आ रहा है। दीपक तो जल चुका है, लेकिन आँधी ज़ोरोंसे चलने लगी है; जवाहरात तो मिल गये, लेकिन डाकू नंगी तलवारें लेकर आ गये हैं; मुश्क काफ़ूर तो मिला, लेकिन उसको रोके कोई कहाँतक! आह, भगवान् श्रीकृष्णके वे शब्द कितने सच्चे मालूम होते हैं कि 'ऐ उद्धव, दीपक जब जलता है उसका प्रकाश हर समय और होता है; लेकिन भ्रम यही रहता है कि वही है। दरिया (नदी) जब बहता है, मालूम ऐसा होता है कि इसका जल वही है; लेकिन वह तो क्षण-क्षणमें बदल रहा है। उसका प्रवाह, उसका सिलसिला, उसका लगातार बहना यह धोका (भ्रम) पैदा करता है कि यह वही है। उसी प्रकार संसारका हर चक्कर और हर परमाणु हर समय बदल रहा है, क्षणभङ्गुर है; लेकिन धोका यह लगता है कि यह वही है। शरीर बदल गया, उसके परमाणु बदल गये; लेकिन भ्रम यही है कि मैं वही हूँ, मेरा शरीर वही है। वाह रे अज्ञान ! वाह रे बाज़ीगरके खेल !!

> चीस्त दुनिया सर बसर पुरसीदम् अज़ फ़रज़ानए।
> गुफ़्त या ख़्वाबस्त या बादस्त या अफ़सानए॥
> चीस्त आँ कस की बरो शैदा शवद आमी दहद।
> गुफ़्त या देवस्त या ग़ूलस्त या दीवानए॥

'मैंने एक बुद्धिमान्से पूछा कि यह संसार क्या है, इसका असली मर्म क्या है; तो उसने जवाब दिया कि या तो यह स्वप्न है, या यह एक तेज़ चलती हुई हवा है, या एक कहानी है। फिर मैंने पूछा कि वह कौन हुआ कि जो ऐसे क्षणभङ्गुर संसारपर मरता है, यानी इसके प्रलोभनोंमें हृदयसे फँसा हुआ है; तो उसने जवाब दिया कि या तो वह देव (दानव) है, या भ्रमात्मक स्वरूप (will-o'-the-wisp) है, या कोई भेदको न समझनेवाला (पागल) है।'

प्र०—संसार स्वप्न क्यों है ?

उ०—स्वप्न स्वप्न क्यों है ?

प्रश्न—चूँकि जागनेपर नहीं रहता।

उत्तर—संसार स्वप्न इसलिये है कि सोनेपर नहीं रहता। जाग्रत् तो इसलिये और भी मिथ्या है कि स्वप्न जागनेपर स्मृतिरूपमें रहता है, लेकिन जाग्रत्का स्वप्नमें कभी भान भी नहीं होता। दूसरे, अगर हम इस जाग्रत्को एक वास्तविक तत्त्व भी मान लें तो भी यह स्वप्न हुए बग़ैर नहीं रह सकता और न इस युक्तिसे किसीको इन्कार हो सकता है। अच्छा, यह तो बताइये कि कालके कितने विभाग हैं? भूत, वर्तमान और भविष्य। भूत एक दिन वर्तमान था और वर्तमान एक दिन भविष्य। गोया भूतमें वर्तमान और भविष्य दोनों मौजूद हैं। भूतकाल, जो गुज़र गया, वह तो स्वप्नके समान हो ही गया। जिस तरह स्वप्न जागनेपर स्मृतिरूप हो जाता है, उसी तरह भूतकालके दुःख-सुख, दिन और रात एक स्मृतिरूप हो गये और वे भी जल्द ही स्मृतिसे भी बाहर निकलकर खत्म हो जायँगे।

एक भूतकालमें तीन कालोंका समावेश है—वर्तमान, भविष्य और भूत। भूतकालका अस्तित्व स्वप्नवत् मान लेनेमें किञ्चिन्मात्र भी सन्देह नहीं हो सकता। अगर किसीको सन्देह हो तो उसके अस्तित्वको अस्तित्वरूपमें वर्तमानकी तरह लाकर दिखावे, गुजरे हुए समयको फिर लाकर दिखावे, उस तमाम भूतकालकी गुज़री हुई सृष्टिके किसी भी अंशको लाकर दिखा दे, जो फल खाया है उसके स्वादको फिर ला दिखाये। तो फिर भूत तो मिथ्या या स्वप्नवत् हुआ। रहा भविष्यकाल; वह भी स्वप्नवत् इसलिये है कि वह है ही नहीं, बल्कि वह स्वप्नसे बड़ा स्वप्न है कि जिसका अस्तित्व अस्तित्वमात्रके लिये भी नहीं, या जो है ही नहीं। इस तरह समयके दो विभाग तो ख़त्म हो गये—एक भूत, दूसरा भविष्य। रहा वर्तमान; इसके लिये तो सभी कह देंगे कि यह तो स्वप्न नहीं हो सकता। क्योंकि यह तो है, न यह भूत है और न भविष्य। लेकिन मैं पूछता हूँ कि वर्तमान है क्या? तो ज़रा सोचनेके बाद कहना पड़ता है कि जो भविष्य था, वही दूसरे समय वर्तमान बन गया। गोया वर्तमानका कारण भविष्य है, जो कि खुद एक दिन नहीं था। अब शून्यका पुत्र वर्तमान क्या होगा, आप ही समझ लीजिये। खैर, अगर मान भी लिया जाय कि वर्तमान है—क्योंकि इसको हम देखते हैं, इसका तमाम असर हमपर होता है—तो मैं पूछता हूँ कि वर्तमान समयका एक विभाग है और समयका विभाग कम-से-कम करते इतना छोटा बन सकता है कि जिसको हमारी वृत्तियोंके लिये समझना ही मुश्किल हो जायगा। और फिर इस कम-से-कम हिस्सेको दो शत्रु खींच रहे हैं—एक भूत और दूसरा भविष्य। अब जिसके कम-से-कम हिस्सेको भूत और भविष्य खींच रहे हैं वह खुद कितना कम है! क्योंकि उसके कम-से-कम हिस्सेके साथ भी भूत और भविष्य लगे हुए हैं। अब स्थूल दृष्टिसे तो हम कह रहे हैं कि हम वर्तमानमें हैं लेकिन सूक्ष्म दृष्टिसे वर्तमानका पता ही नहीं चलता; क्योंकि जहाँ भूत और भविष्य मिल रहे हैं, उस सन्धिका नाम वर्तमान है। अच्छा, हम मान लेते हैं कि वर्तमान है, हम इसमें बरत रहे हैं, हम दुःख-सुखका अनुभव करते हैं और हम कहते हैं कि हमको दुःख हो रहा है या हम सुखी हैं। फिर भी तो यह पूछना बाकी रह जाता है कि वह वर्तमान कितने समयतक वर्तमान रहता है? तो कहना पड़ेगा कि यों तो समयके प्रवाहके अनुसार वह हर समय ही बदल रहा है, लेकिन स्थूल दृष्टिसे ऐसा अनुभव होता है कि वह सामने है। जब आप एक पत्थरको आकाशकी तरफ फेंकते हैं तो पहले वह हाथसे निकलता है, फिर आपके सामने आता है और फिर सिरपर चला जाता है; लेकिन यह पत्थरका चलना उसी ज़ोरका एक सिलसिला या प्रवाह है कि जिसके नीचे, सामने और ऊपरके विभाग आपने अपनी अपेक्षा नज़रसे कर लिये हैं। इसी तरह आप हैं। जो वाक़यात आपके सामनेसे गुज़र गये हैं, वे भूत, जो आनेवाले हैं, वे भविष्य; और जो हैं, वे वर्तमान। अब वर्तमान भी स्वप्न हुए बिना न रह सका, क्योंकि वह हर क्षणमें बदलता जा रहा है। आप वर्तमानको पकड़ते-पकड़ते ही उसे भूत किये जा रहे हैं। इस दृष्टिसे न तो आपका भूत सत्य है, न भविष्य और न वर्तमान; क्योंकि झूठेकी तारीफ (परिभाषा) है कि जो बदलता रहे। अगर बदले नहीं तो झूठा ही कैसे हुआ? इन कालोंमेंसे तो कोई न बदलनेवाला नज़र ही नहीं आता, फिर सत् कैसे हुआ?

आपके भूतकालमें, याद रखिये, आपके वर्तमानका सत् अंश भी मिलकर असत्‌रूपमें बदल चुका है; क्योंकि आपका वर्तमान भूत हो गया है।

प्रश्न—अब हम कहाँ रहते हैं?

उत्तर—एक स्वप्नमें।

प्रश्न—अगर यह स्वप्न है, तो नज़र क्यों आता है?

उत्तर—क्या स्वप्न नज़र नहीं आया करता? जबतक स्वप्न है, वह सत् है; और जबतक जाग्रत्का स्वप्न है, वह भी सत् है।

जिस तरह जाग्रत्‌की दृष्टिसे स्वप्न स्वप्न है, उसी तरह सत्‌रूपी जाग्रत्‌की दृष्टिसे जाग्रत् भी स्वप्न है; क्योंकि जब दृष्टि उसमें खुलती है, जाग्रत् भी स्वप्न बन जाता है।

दुखिया लोगोंको समझ लेना चाहिये कि जो दुःख हमारे सामने है, वह एक क्षण या समयके छोटे-से-छोटे हिस्सेसे कभी ज़्यादा नहीं।

प्रश्न—लेकिन उसका बहुत समयतक रहना हमको घबड़ा देता है।

उत्तर—तो 'बहुत समय' तो स्मरण-शक्तिका काम है। वर्ना जो गया सो गया, और जो आया नहीं, वह आया नहीं; और जो है वह वक्तका कम-से-कम हिस्सा है, जो रहेगा नहीं; (it shall pass) वह नहीं रहा, तो यह भी नहीं रहेगा।

ऐ दुखिया लोगो, क्यों घबड़ाते हो? आपके दुःखका हिस्सा बहुत कम है, मिक़दार बहुत छोटी है; यह गुज़र जायगा। ऐ सुखका अनुभव करनेवाले मन! उसमें आसक्ति न कर, क्योंकि यह भी जा रहा है। दुःखसे दुखी न हो, यह न रहेगा। यह तो तेरा मेहमान है; इससे हँसकर बात कर ले, तेरी तारीफ़ करेगा। अगर तूने इससे अच्छा सलूक किया तो आयंदा तुझको आकर कभी दिक़ न करेगा; क्योंकि वह जानता है कि उससे घरवाले (host) को दुःख होता है। और फिर उस (host) का तो उसे और भी ख्याल हो जायगा कि जिसने एक ऐसे मेहमान (अतिथि) की भी सेवा की है।

हाँ, अगर इस दुःखको हटाना ही है, तो अब केवल मार्ग यह है कि उस समयके छोटे-से-छोटे विभागको ईश्वरकी, प्रभुकी यादमें लगा दे। जो तेरे ज़्यादा समीप हो, उससे चिमट जा। हाँ, एक बात तो बता कि जब तू जलमें गोता लगाता है तो तेरे ऊपर-नीचे, आगे-पीछे चारों तरफ़ क्या होता है? जल। इसी तरह तू ईश्वर अथवा सत्यरूपी समुंदर-में गोता लगाये बैठा है। तेरे अंदर-बाहर, आगे-पीछे, ऊपर-नीचे, तेरे अंदर बिल्कुल उस अंदरके भी अंदर वही ईश्वर है। तेरे अंदर, तुझसे भी समीप तेरा प्रभु है।

> जो ग़ाफ़िल वस्लमें होकर तलाशे वस्लमें मांगे।
> भला, हद उसकी दूरी की या अंदाज़ा है हिजराँ का?

'जो पुरुष प्रभुके समीप होता हुआ भी उसकी समीपता-के लिये इधर-उधर भागता फिरता है ऐसे मनुष्यका वियोग और दूरी कैसे दूर हो सकती है? चूँकि वह समीप होकर भी समीपताकी इच्छा करता है।'

अब अगर दुःख आया है तो उसके और तेरे दरम्यान ज़रूर प्रभु होंगे; क्योंकि दुःख सर्वव्यापक नहीं है और प्रभु सर्वव्यापक हैं, यहाँतक कि उस दुःखमें भी विराजमान हैं। लेकिन तेरी नज़र कमज़ोर है, तू उस दुःखमें भगवान्‌को नहीं देख पाता। अब तू यह किया कर कि दुःखके आनेपर जिससे तुझे डर लगता है और जिसके अंदर तू भगवान्‌को नहीं देख सकता, तू प्रभुसे लिपट जा—यहाँतक कि तेरे बाज़ू प्रभुके ऊपर हों और प्रभुकी दयाका हाथ तेरे ऊपर हो। क्योंकि जब तू उससे लिपटेगा तो क्या वह तेरे बाज़ूमें आ जानेके बाद भी तुझको अपने बाज़ुओंमें लेनेकी कोशिश नहीं करेगा? वह छोटा तो इसीलिये बना है कि तू उससे लिपट सके और बड़ा भी उसको इसलिये बनना है कि वह फिर तुझको भी अपनी विशाल भुजाओंमें ले सके!

अब तू उस क्षणको अपने प्रभुकी यादमें लगा दे। फिर अब यह बता कि जब तू ईश्वरमें लग जायगा, ईश्वर तुझपर लिपट जायगा तो फिर दुःख वहाँ आयेगा कैसे? अब या तो दुःख प्रभुकी इच्छासे तुझतक आयेगा या बग़ैर इच्छाके। अगर बग़ैर इच्छाके आयेगा तो प्रभु उसके नाशके लिये काफ़ी हैं। और अगर उनकी इच्छासे आयेगा तो अव्वल तो वह तेरा इलाज होगा, क्योंकि उसके आनेसे तुझे आत्म-समर्पणका मौक़ा मिलेगा और तेरे अहङ्कारका नाश होगा। और दूसरे याद रख, वह दुःख तेरे ईश्वरकी इच्छा होगी—जिसको मानकर तू सर्वोत्तम, सबसे बड़ा बन जायगा। और अगर फिर भी दुःख अच्छा न लगे, तो भी तू उस दुःखसे इसलिये लिपट जा कि उसमें तेरा ईश्वर, तेरा प्रियतम मौजूद है। तू जब उस दुःखसे लिपटा तो तूने दो काम किये—एक तो उस बहुरूपमें अपने प्रियतमको पहचाना और दूसरे, अपने प्रीतमकी इच्छासे प्यार किया। उसके प्यारसे तो सब प्यार करते हैं, मज़ा तो तब है कि उसकी मारको भी कोई प्यार करे। अगर कोई आपका सिर छुए तो आप खुश होते हैं या पाँव छुए तो? अगर दुःख तुच्छ वस्तु है, लेकिन है प्रभुकी, तो ऐ दिल, तेरे भाग्य! तू उससे प्रेम कर और इस प्रकार अपने प्रीतमका प्रियतम बन जा। तू सच्चा प्रेमी उस दिन बनेगा जब प्रीतमके लिये मर जायगा; और जब मरेगा, तू प्रीतम बन जायगा और प्रीतम प्रेमी।

अगर पतंगा दीपकके किनारे बैठा यह देखता रहे कि मुझको जब कोई प्रेमी, आशिक़ या Lover कह लेगा, तब मैं जलूँगा तो भला, बतलाइये कि वह आशिक़—प्रेमी कहलायगा क्योंकर ? क्योंकि जबतक वह जला नहीं, प्रेमी नहीं; और जब जल गया, तो सुनेगा कैसे ? अफ़सोस, यहाँ तो दरजा मरकर मिलता है और अगर कोई जीते-जी ज़बरदस्ती ले भी लेगा तो किस कामका ?

> जानका रखना, बचाना काम आशिक़ का नहीं।
> आशिके परवानासे ऐ आशिको ले लो सबक़ ॥

अब तूने उस एक क्षणके दुःखमें प्रभु और उनकी इच्छाको देखकर प्यार किया और वह दुःख किस तरह सुखमें बदल गया ! Where is the pain of hell when I love it. और अगर दुःखमें ईश्वर और उसकी इच्छा नज़र नहीं आती तो दुःखको सुखका साधन बना ले और वह इस तरह—

भगवान् श्रीकृष्णने कुन्तीजीसे पूछा कि मैं आपकी क्या सेवा करूँ। उन्होंने जवाब दिया कि 'आप वह हैं जो हमारी इच्छाओंको हमारी इच्छा और प्रार्थनाओंसे पहले ही जान लेते हैं और समय-समयपर जैसा जिसके लिये मुनासिब होता है, उसको वैसा ही देते रहते हैं। लेकिन चूँकि आप आज बहुत प्रसन्न मालूम होते हैं, इसलिये मैं माँगे बग़ैर न रहूँगी। मैं ज़रूर माँगूँगी और यदि आप किसी कारणवश देनेसे इन्कार करेंगे, तो भी मैं लिये बग़ैर न रहूँगी; मैं आपको आपका वायदा हमेशा याद दिलाऊँगी। ऐसा न हो कि लोग आपको वायदा-शिकन यानी इक़रार पूरा न करनेवाला कह बैठें। इसलिये दीजिये, प्रभो! मैं माँगने लगी। आपके ख़ज़ानेमें जो सबसे प्रिय वस्तु है, मैं उसीको माँगूँगी।'

इधर-उधर देवतालोग हैरान होने लगे कि भगवान् तो इक़रार कर बैठे हैं और यह सबसे अच्छी चीज़ माँग रही है; फिर हम क्या करेंगे! इसको बग़ैर किसी तपके ही सब कुछ मिलने लगा !!

भगवान्—'माँगो।'

कुन्ती—'हाँ, शायद इसलिये जल्दी कर रहे हैं कि मैं जल्दीमें उस रत्नको भूलकर कुछ और ही माँग बैठूँ।'

प्रभु—'तो क्या मैं कंजूस हूँ ?'

कुन्ती—'नहीं, यह तो नहीं; लेकिन फिर भी शायद…'

भगवान्—'अच्छा तो सोच-समझकर माँगो।'

कुन्ती—'लीजिये, प्रभो! अब मैं खुश हूँ। मुझको वह रत्न याद आ गया जो आपके ख़ज़ानेमें सबसे सुन्दर है। वह दीजिये और आप स्वयं ही दे दीजिये।'

'क्या धन ?'

'नहीं।'

'इज़्ज़त ? स्वर्गका सुख ?'

'नहीं।'

'चमत्कारकी शक्तियाँ ?'

'नहीं।'

'बड़े-बड़े लोकोंका राज्य ?'

'जी नहीं।'

'ऋद्धि-सिद्धियाँ ?'

'नहीं।'

भगवान्—(हैरान होकर) 'तो आखिर रहा क्या, जिसको आप बड़ा रत्न कहती हैं ?'

कुन्ती—'यही तो मैं कहती थी कि आप वह मुझे न देंगे, क्योंकि मैं उसके लायक़ नहीं।'

भगवान्—'नहीं, नहीं; आप सब लायक़ हैं। माँगिये, माँगिये, जल्दी माँगिये; हम सब कुछ देंगे। मुझे याद नहीं आता कि आखिर वह कौन-सी वस्तु है, जो इनसे भी अधिक प्रिय है।'

कुन्ती—'प्रभो, मैं माँगने लगी।'

भगवान्—'माँगो।'

वह—'दे तो देंगे ?'

भगवान्—'कहा तो है।'

वह—'लेकिन आप कहीं यह कहकर टाल न दें कि वह चीज़ तुम्हारे कामकी नहीं, पर तुम यह बात समझती नहीं; इसलिये न देंगे।'

भगवान्—'आखिर हम जो करेंगे ठीक ही तो होगा।'

वह—'तो बस, अब समझ आ गयी। फिर अच्छा, जो आपकी इच्छा हो कीजिये; लेकिन मैं उस रत्नको ज़रूर माँगूँगी।'

भगवान्—(प्रसन्न होकर) 'कुन्तीजी, ज़रूर माँगिये।'

कुन्ती–'प्रभो, तो फिर मुझको दुःख दिये जाइये।'

भगवान्–(चौंककर) 'हैं! यह क्या माँगा? दुःख! और फिर मैं आपको दूँ? मैं तो आपको दुःखोंसे मुक्त करने आया हूँ, न कि दुःख देने!'

वह–'प्रभो! दुःख जब आप दे देंगे, मैं दुःखोंसे मुक्त हो जाऊँगी।'

भगवान्–'यह क्या बातें कर रही हो? दुःख लेकर दुःखोंसे मुक्त कैसे हो सकती हो?'

वह–'प्रभो! पहले तो मैं इस बातसे सुखी होऊँगी कि जो मैंने आपसे माँगा था, वह मुझको मिला; और दूसरे, जो-जो भाव उस दुःखसे सम्बन्ध रखते हैं, उनकी वजहसे सुखी होऊँगी।'

भगवान्–'तो क्या हम जान सकते हैं कि वे भाव क्या हैं?'

कुन्ती–'मैं समझती हूँ कि जीवनका लक्ष्य आपकी समीपता और याद है। मैं अभीतक ऐसी नहीं बनी कि सुखमें आपकी याद कर सकूँ। और जब मैं सुखमें आपको भूली तो सबसे भयङ्कर दुःख 'भूलने' का मेरे सामने आया, जो भूल कि सब दुःखोंकी जननी है। इसलिये, प्रभो! वह दुःख मेरे लिये अच्छा है कि जिससे आप याद आयें। इसलिये दुःखको प्यार करने और माँगनेका पहला भाव मेरा यह है कि उससे आप याद आयें और लगातार याद आयें। चूँकि दुःखसे आप याद आयेंगे, इसलिये दुःखसे भी मुझे प्यार होगा; और जिस चीज़से प्यार हो, वह दुःख कहाँ रहा? क्योंकि दुःख प्रतिकूल अवस्थाका नाम है। जहाँ प्रतिकूलता नहीं, वहाँ दुःख नहीं। हे प्रभो! मैं तो लोभिन हूँ, नाममात्रको दुःख माँग रही हूँ; वास्तवमें तो सुख ही माँग रही हूँ।

'दुःख मुझको इसलिये प्यारा है, कि इससे आपकी याद आती है। और चूँकि आपकी याद हर दुःखको मिटानेवाली है, इसलिये वह खुद ही जाता रहेगा। मैं सब दुःख सह लूँगी, लेकिन आपको भूलनेका दुःख नहीं सह सकती। हे प्रभो! यदि कृपा करके 'अपने मिलनेकी इच्छा'का दुःख मुझे दे दें तो फिर कहना ही क्या है! तीसरा भाव यह है कि मैं देखूँ कि जो चीज़ मुझे मेरे प्रभुसे मिली है, उसको मैं कहाँतक प्रेम कर सकती हूँ।

'संसारका तू माली है, तूने बाग़में दुःख और सुखके काँटे और फूल बनाये हैं। अगर फूल तेरे हैं तो काँटे किसके हैं? तूने एक ही जलसे दोनोंको सींचा है। मैं दोनोंसे प्यार करूँगी, बल्कि तेरे काँटोंसे अधिक प्रेम करूँगी; क्योंकि वह तेरे काँटे हैं। हे प्रभो, मैं इस तरह दुःखोंसे प्रेम करना भी सीख लूँगी।

'एक प्रेमीका उसके प्रीतमने सुन्दर लिबास फाड़ डाला। वह अपने प्रीतमके ध्यानमें हर समय रोता रहता था, चिल्लाता था और इस कोशिशमें था कि उसको कोई चीज़ भी तो अपने प्रीतमकी मिल जाय। जब उसने देखा कि उसका सुन्दर लिबास उसके प्रीतमके हाथोंसे फट गया है तो वह नाचने लगा और कहने लगा कि यही सबसे सुन्दर लिबास है कि जिसको प्रीतमने अपने हाथोंसे फाड़ा है। लोग उसकी हँसी उड़ा रहे थे कि बुद्धिमानों और Position (प्रतिष्ठा) वालोंकी सभामें फटा लिबास पहने आया है। उसके किसी मित्रने उसको और भी सुन्दर लिबास लाकर दिया कि लोग आ रहे हैं, तुम अंदर चलकर इसको बदल लो; तो उसने उसको उठाकर फेंक दिया और कहा कि 'तू क्या जानता है कि इस फटे वस्त्रका क्या मूल्य है? इस चाकमें जो चीज़ मुझे नज़र आ रही है, उसको तुम देख नहीं सकते और जो तुम देख रहे हो, उसको मैं नहीं देखता।' वह कभी उस फटे वस्त्रको चूमता था, कभी प्यार करता था और कभी देख-देखकर रोता कि 'तू खुशनसीब है कि जिसको मेरे प्रीतमने छुआ तो है। काश, वह बजाय तुम्हारे मुझे फाड़ता!' वस्त्र बोला—'क्यों घबड़ाता है, क्यों ईर्ष्या करता है? तू मुझसे अधिक भाग्यशाली है! अगर उसने मुझको फाड़ा तो तेरे हृदयको भी तो अपने प्रेमसे चाक-चाक, तार-तार कर दिया!!' देखिये, अगर एक प्रेमी अपने प्रीतमके हाथसे मिले फटे वस्त्रोंसे भी प्रेम कर सकता है तो क्या कारण है कि प्रभो! मैं आपके दिये हुए दुःखोंसे प्रेम न करूँ?'

भगवान्–'तो फिर आप दुःख माँग रही हैं या सुख?'

कुन्ती–'प्रभो! माँग तो दुःख ही रही हूँ, लेकिन वह दुःख जिसमें असली सुख हो।'

गोया यह बात संसारके लोगोंके लिये शिक्षाप्रद साबित होती है। अगर हम दुःखको उसका भेजा समझें और उससे प्यार इसलिये करें कि उससे भगवान्‌की याद आती है तो यह भी कितना बड़ा तरीक़ा दुःखको सुख बनानेका

है ! और अगर कोई कहता है कि 'नहीं, दुःख हमारे पापकर्मोंके फलमें आ रहा है, प्रभुका दिया नहीं। क्या प्रभु ज़ालिम हैं जो हमको दुःख दें ?' तो इसका पहला उत्तर तो यह है कि अगर प्रभु किसीको सज़ा देनेके लिये जबरदस्ती बगैर कारणके दुःख दें तो ज़ालिम हुए और अगर किसीकी आत्मशक्तिको बढ़ाने और उसको मोक्षका सुख देनेके लिये ऐसा कर रहे हैं और अपना प्रेम देनेके लिये उसको बहाना बनाये हैं तो वह ज़ालिम कैसे हुए। और फिर दुःख देना और ज़ालिम कहलाना तो उन लोगोंकी नजरमें है कि जो उस दुःखको दुःख समझ रहे हों। किन्तु जिन्होंने उसका सुखोंकी खान समझा है, वे तो प्रभुको अत्यन्त दयालु और कृपालु ही कहेंगे। अगर किसीकी माँ अपने बच्चेको इशारेसे समझाकर एक फटे रुमालमें जवाहरात बाँधकर दे तो देखनेवाले तो उसको कहेंगे कि 'हूँ ! माँने क्या दिया ? देखा माँका प्रेम !' लेकिन इशारेको समझा हुआ बच्चा तो उसे सर-माथेपर कबूल करेगा। खैर, अगर दुःख पाप-कर्मोंका भी फल है, तो भी उसे क्यों न माँगा जाय और यों (दुःख) लेकर सब (पापकर्मों) को खत्म क्यों न किया जाय ? आखिर ऐसी समझवालोंको भी इस बातसे सन्तुष्ट रहना चाहिये कि अच्छा, दुःख हमारे पापकर्मोंका नाश कर रहे हैं।

अच्छा, जब सब गुज़र रहा है, तो यह भी गुज़र जायगा। अगर पाप-कर्मोंका फल दुःख है और वह आये बगैर भी न रहेगा तो आने दीजिये। आपको तो धूपमें चलना आपके कर्मोंके फलरूपमें प्राप्त है। लेकिन आप अपने विचाररूपी छातेसे उस सफ़रको आसानीसे तै करनेकी कोशिश करें; समझें कि ये दुःख आये हैं—हमारे पापोंको कम करनेके लिये, जो किसी और तरह कम नहीं हो सकते थे। अच्छा हुआ। अगर्चे मंजिल कड़ी है, भयानक है, लेकिन इसको किसी-न-किसी वक्त काटना तो पड़ता ही। अब धीरज यह है कि दुःख तो कट ही जायगा, साथ-साथ पाप-कर्म भी नष्ट हो जायँगे। ऐ दुःख ! तू मुबारक है, जो मेरे पापोंको नष्ट तो करता है और मुझको शुद्ध करके प्रभुके समीप पहुँचाता है।

अगर तू ज्ञानी है तो अपने दुःखको इस तरह कम कर कि संसारमें केवल एक तत्त्व ही सत् है, बाकी सब कुछ मिथ्या है। सुख मिथ्या है, इसलिये उसकी इच्छा क्यों हो ? और दुःख मिथ्या है, इसलिये उसका क्या भय है ?

मेरे पास एक दिन एक वकील आकर कहने लगे कि महाराज, मुझको संसारमें रहनेका कोई तरीका बताइये। मैंने कहा, संसारके पदार्थोंको अनित्य और मिथ्या समझकर उनसे दिली लगाव (attachment) पैदा न कीजिये; क्योंकि ये अनित्य हैं। तो वह हँसकर कहने लगे कि अगर ऐसी बात है तो चोरीको भी मिथ्या समझकर कर लिया करें। मैंने कहा कि क्या हर्ज है ! फिर सज़ाको भी मिथ्या समझकर भोग लिया करो, तो वह हँस पड़े। मैंने कहा 'अगर चोरी मिथ्या है तो सज़ा भी मिथ्या है। लेकिन अगर किसीकी नज़रमें सज़ा तो सच्ची है और चोरी मिथ्या इसलिये है कि उससे रुपया मिलता है तो ऐसे मुजरिमको सिवा इसके कि सज़ा मिले और होगा क्या ? और जो ब्रह्मज्ञानी है, जिसकी नज़रमें चोरी और सज़ा दोनों मिथ्या हैं, तो ऐसा ब्रह्मज्ञानी जिस अपनी इच्छाको पूर्ण करनेके लिये मिथ्या चोरी करेगा, वह अपनी इच्छाहीको मिथ्या समझकर क्यों न छोड़ देगा ?'

जिसको फल तो सच्चा मालूम हो और कर्म झूठा, ऐसा ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मज्ञानी नहीं हो सकता। और जिसको कर्म तथा फल दोनों ही मिथ्या मालूम हों, ऐसे ब्रह्मज्ञानीकी उच्च दृष्टिमें पापका लेशमात्र रह ही नहीं सकता; क्योंकि वह पहले मल-विक्षेपका त्याग करनेके पश्चात् ही तो आवरणको उतारकर ब्रह्मज्ञानी बना है। ऐसा ब्रह्मज्ञानी तो पापोंको पहली ही मंजिलमें छोड़ चुकता है, अब दूसरे पाप वह फिर कहाँसे करेगा ? और अगर ब्रह्मज्ञानीकी कोई हरकत आम लोगोंकी समझमें न आवे तो उसका मतलब यह नहीं कि वह ग़लत है, बल्कि उसके रहस्यको समझनेकी कोशिश करनी चाहिये। भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाको देखकर यह कहना कि वह ग़लत है—यह तो आसान बात है; लेकिन उसको समझनेकी कोशिश करना दूसरी बात है। इसलिये ब्रह्मज्ञानीकी दृष्टिमें दुःख रह कहाँ सकता है ? क्योंकि वह जगत्‌को या तो स्वप्नवत् समझता है या ब्रह्मरूप ! दोनोंमें ही दुःखको जगह नहीं। लेकिन याद रहे, जो सुखकी इच्छा करता है, वह कभी दुःखसे बाहर नहीं हो सकता। सुखकी इच्छा हमेशा दुःख ही देगी, और जब वह सुख न पायेगा तो फिर दुखी हो जायगा।

इसलिये जगत् एक स्वप्न है, समय बीत जानेपर भी स्वप्न हो जाता है।

कब को कुमरी में है झगड़ा यह कि चमन किसका है ?
कल बता देगी खिज़ाँ यह कि वतन किसका है।

यानी दो पक्षी लड़ रहे थे और कह रहे थे कि बाग़ मेरा है और सिर्फ मेरा है। उधरसे एक महात्माने निकलते हुए हँसकर कहा कि भाई बन्दे ! लड़ते क्यों हो, इसका उत्तर कल तुमको खिज़ाँ देगी, जिसको पतझड़का मौसिम कहा जाता है।

इसलिये भी जगत् एक स्वप्न या हवा है, क्योंकि सामने आते-आते गुज़र जाता है, या यह एक कहानी है कि जिसका असली स्वरूप तो कुछ नहीं, लेकिन बच्चोंका दिल-बहलावा खूब होता है। बचपनमें हम सुना करते थे कि एक देव था, उसकी जान एक तोतेमें थी। तोतेकी टाँग टूटी, देवकी टाँग भी टूट गयी। वहाँ परियाँ थीं, वहाँ यह था, वहाँ वह था—वगैरह। वास्तवमें उन कहानियोंका असली स्वरूप कहीं पाया नहीं जाता, लेकिन दिल उनमें इस तरह लगता था कि तमाम रात आँखोंके सामनेसे गुज़र जाती थी और आँख बंद करनेको दिल नहीं चाहता था। लेकिन अब वे कहानियाँ कहानियाँ मालूम होती हैं। इसी तरह जबतक ब्रह्मतत्त्वमें आँख नहीं खुलती, यह कहानी बनी है। दुनिया यह है, इसका नफ़ा यह है, नुक़सान यह है, दुःख यह है, सुख यह है। लेकिन जिसने इसके अधिष्ठानरूप ब्रह्मको जान लिया, वह उसमें मिलकर अपना आपा खो बैठा। उसके सामनेसे जहान और सृष्टि इस तरह उड़ गयी, जैसे खरगोशके सिरसे सींग। अब बड़े होकर आँख खुलनेपर उसकी दिलचस्पी इस कहानीसे नहीं हो सकती, सिर्फ़ उस तत्त्वहीसे हो सकती है। इसलिये वह कौन है, जो इसके अस्तित्वको असली मानता है ? सिर्फ वही कि जिसकी आँख ब्रह्मतत्त्वमें नहीं खुली।

अब हम फिर अपने उस प्रश्नकी तरफ आते हैं कि 'आपका क्या हाल है ? अच्छा है, अच्छा है, लेकिन बहुत अच्छा नहीं।' यह कुल संसार एक भ्रम ही तो है, इसमें सन्देह नहीं। हर शख्स (व्यक्ति) दूसरेकी हालतको बढ़ी समझता है और अपनीको खराब। इसलिये संसारमें जिसने ब्रह्मतत्त्व और उसकी असलियतको नहीं समझा और जिसकी नज़र संसारके चक्कर और उसके सौन्दर्यमें फँसी हुई है, वह इस प्रश्नका उत्तर यही दे सकता है कि मेरा हाल अच्छा है, अच्छा है, लेकिन बहुत अच्छा नहीं। मैंने कहा—सुनिये, जबतक दुनियाकी दृष्टि और इच्छाएँ मौजूद हैं, जवाब इतना ही होगा कि जितना आपने दिया है।

और सुनिये, एक आदमीको जंगलमें रात पड़ गयी और वह चादर ओढ़कर सो गया। जंगलमें मच्छर बहुत थे और चादर इतनी थी कि पाँव फैलानेसे सिर नंगा और सिर ढाँपनेसे पैर नंगे हो जाते थे। जब वह अपने एक अङ्गको ढाँपता था तो उसका दूसरा अङ्ग नंगा हो जाता था। वह हाय-हाय कर रहा था। पास ही इत्तफ़ाक़से दूसरा मुसाफ़िर भी था। उसने पूछा—भाई, न सोते हो न सोने देते हो; आखिर क्या तकलीफ़ है ? उसने कहा, मच्छर काट रहे हैं और चादर छोटी है। उसने हँसकर कहा, तो चादरको बढ़ा लो। तो उसने जवाब दिया कि कौन Elastic (फैलनेवाली) चादर है कि जिसे खींचकर बड़ी कर लूँ। उसने जब चादरको देखा तो कहा कि यह तो बहुत बड़ी हो सकती है, अगर तुम चाहो। तो उसने जवाब दिया कि मैंने इस किस्मका जादू और चमत्कार नहीं सीखा है, अगर तुमको पता है तो तुम बढ़ा दो। उसने कहा कि 'अरे भाई, अगर चादर नहीं बढ़ सकती तो तुम तो सिकुड़ सकते हो। ज़रा-सा सिकुड़ जाओ, चादर बड़ी हो जायगी। इसमें सिकुड़नेका ज़रा-सा कष्ट तो होगा, लेकिन मच्छरोंके काटनेके भयङ्कर कष्टसे तो बच जाओगे।' उसने ऐसा ही किया और उन्हीं मच्छरोंमें, उसी चादरमें रात आरामसे कट गयी !

इसी तरह संसाररूपी चादर किसीकी इच्छाओंकी फैलावटपर पूरी नहीं उतरती, कोई-न-कोई कमी रह ही जाती है और आखिर कहना ही पड़ता है कि 'हाल अच्छा है, अच्छा है, लेकिन बहुत अच्छा नहीं।' इसलिये इसमें आरामसे रहनेका तरीका यह है कि इच्छाके मुताबिक सामान न ढूँढ़े, बल्कि सामानके मुताबिक इच्छा पैदा कर ले और संसारमें इच्छाओंको सिकोड़कर समय काटना सीख ले; फिर तो यह चादर पूरी हो जायगी, वर्ना असम्भव है।

वह—तो क्या इस ख़यालसे पुरुषार्थका अभाव नहीं हो जायगा ? क्योंकि यह तो Contentment (सन्तोष) है और सन्तोषसे मनुष्य पुरुषार्थविहीन हो जाता है।

मैं—अव्वल जब सन्तोष ही मिल गया तो पुरुषार्थकी आवश्यकता ही क्या रही ? लेकिन कोई यह न कह दे कि सन्तोष पुरुषार्थरहित करता है। उसका जवाब यह है कि जब दिलमें शान्ति, सन्तोष और धैर्य होगा और इच्छाओंकी कमी

होगी तो उस शान्त हृदयसे इस संसाररूपी खेलमें मनुष्य अपना पार्ट अच्छी तरहसे अदा कर सकेंगे । मेरे खयालमें फिकर और असन्तोषसे कुछ भी नहीं होता । अगर बच्चेको जवान बननेकी फिकर लग जाय तो वह कभी जवान हो ही नहीं सकता । यह ग़लत बात है कि ज्ञानी कर्म नहीं करता, वह न करे तो उसकी मरज़ी है, क्योंकि उसको किसी फलकी ज़रूरत नहीं लेकिन उसकी प्रकृतिको तो अपनी क्रिया करनी ही है, ख्वाह पारमार्थिक हो या व्यावहारिक ।

वह (ज्ञानी) संसारके नफ़ा-नुक़सानको बराबर समझ लेता है, उसको फलके लिये कर्म करनेकी ज़रूरत नहीं रहती । वह इस खेलको खेलकी दृष्टिसे खेलता है और इतना अच्छा खेलता है कि देखनेवाले हैरान रह जाते हैं । एक बच्चा बापसे कुश्ती करने लगा । बापने भी खूब ज़ोर लगाया, लेकिन आखिरकार बाप गिर गया और जब बच्चेने अपने आपको पिताकी छातीपर बैठे देखा तो हँसकर कह ही दिया कि देखा! कितना ज़ोर लगाते थे, आखिर तो गिरना ही पड़ा ! पिताने कहा—वाह बेटे, तुम बड़े ज़ोरवाले हो; तुमने खूब गिराया और मैं खूब गिरा । बच्चा तो इसलिये खुश हो गया कि अपने ज़ोरसे पिताको गिरा दिया और पिता इसलिये प्रसन्न हो गये कि अपने पुत्रको इस तरह खुश कर दिया !

इसी तरह ज्ञानी तो इसको खेल समझकर निहायत अच्छे तरीकेसे दूसरोंको खुश करनेके लिये कर्म करता है और दूसरोंको खुश होता देखकर खुद भी खुश हो जाता है । क्या अर्जुन गीता सुननेके बाद बेकार हो गये थे या धनुष फिर हाथमें आ गया था ? हाँ, भेद इतना है कि अज्ञानी बँधा हुआ कर्म करता है और रोता-चिल्लाता रहता है और ज्ञानी कर्म और उसके हर किसके परिणामको देखता हुआ भी नाखुश कभी नहीं होता ।

इसलिये संसारमें सिकुड़कर गुज़ारा करना सीख लो, संसाररूपी चादर बड़ी हो जायगी । गोया हर जगह और हर मौकेपर शान्ति मिल सकेगी और कभी दुःख न होगा, और फिर हम इस प्रश्नके उत्तरमें कह सकेंगे कि 'मेरा हाल *अच्छा है, अच्छा है और बिल्कुल अच्छा है ।*'

प्रभु करें कि हमें इस संसारमें सिकुड़कर रहना आ जावे और जो Duties (फर्ज और कर्तव्य) हमारे सुपुर्द किये गये हैं, उनको उस प्रभुकी आज्ञाएँ समझकर करते चले जायँ; **फल बड़ा यही समझें कि हमको उसकी आज्ञा पालन करनेका मौका मिल रहा है ।**

प्रभो ! इस संसारके व्यक्तिमात्रके हृदयमें तू समा जा ।

श्रीमानस-शङ्का-समाधान

(लेखक—श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी)

प्रश्न—श्रीरामचरितमानसके बालकाण्डके वन्दना-प्रसङ्गमें यह चौपाई आयी है—

नहिं कलि करम न भगति बिबेकू । राम नाम अवलंबन एकू ॥

इससे यह स्पष्ट है कि कलियुगमें न तो कर्मका भरोसा है न भक्तिका और न ज्ञानका ही, बल्कि केवल रामनामका ही सहारा है । परन्तु उसी रामचरित-मानसके उत्तरकाण्डमें जहाँ खगेशजीके सात प्रश्नोंके उत्तरमें श्रीभुशुण्डिजीके द्वारा मानसिक रोगोंका वर्णन हुआ है, वहाँ समस्त मानस रोगोंकी एकमात्र ओषधि केवल रघुपतिजीकी भक्ति ही बतलायी गयी है । यथा—

रघुपति भगति सजीवन मूरी । अनूपान श्रद्धा मति पूरी ॥
एहि बिधि भलेहिं सो रोग नसाहीं । नाहिं त जतन कोटि नहिं जाहीं ॥

अतः यह शङ्का होती है कि वन्दना-प्रसङ्गकी उपर्युक्त उक्तिके अनुसार जब कलियुगमें सच्ची भक्ति हो ही नहीं सकती, तब इसी कलियुगमें अवतरित हुए हमारे निकटतम आचार्य गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने अपने मानस-ग्रन्थमें कलियुगी जीवोंके लिये भक्तिको ही एकमात्र ओषधि बताकर हमारा कौन-सा हित किया है ? और वह रघुपति-भक्ति क्या वस्तु है ?

उत्तर—बालकाण्डके वन्दना-प्रसङ्गान्तर्गत 'नहिं कलि करम न भगति बिबेकू' इस कथनमें कर्म, उपासना और ज्ञानका उसी प्रकार निषेध किया गया है, जिस प्रकार 'कृतजुग त्रेताँ द्वापर पूजा मख अरु जोग ।' में यह

बताया गया है कि सत्ययुगमें ज्ञानयोग, त्रेतामें कर्मयोग, (यज्ञ-यागादि) और द्वापरमें भक्तियोग (पूजा-अर्चादि) की प्रधानता थी। इसी दोहेके आगे आनेवाली निम्न-लिखित चौपाइयोंसे यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है—

कृतजुग सब जोगी बिग्यानी। करि हरि ध्यान तरहिं भव प्रानी॥
त्रेताँ बिबिध जग्य नर करहीं। प्रभुहि समर्पि कर्म भव तरहीं॥
द्वापर करि रघुपति पद पूजा। नर भव तरहिं उपाय न दूजा॥

अतएव बालकाण्डके वन्दना-प्रसङ्गकी चौपाईमें जो 'भक्ति' शब्द आया है, उसका तात्पर्य अर्चा-पूजासे ही है, जो द्वापरयुगमें प्रधान धर्म और भवतरणका उपाय थी। और उत्तरकाण्डमें मानस रोगकी ओषधिवाली चौपाईमें जो 'रघुपति-भक्ति' पद आया है, उसका तात्पर्य पूजा-अर्चादिसे न होकर राम-नामसे ही है, जो कलियुगमें संसार-सागरसे पार जानेका प्रधान उपाय है, एवं जिसका वन्दना-प्रसङ्गकी उपर्युक्त चौपाईके दूसरे चरण 'राम नाम अवलंबन एकू' में स्पष्ट उल्लेख हुआ है। वही राम-नाम मानस रोगोंकी ओषधि भी बतलाया गया है। उस ओषधिकी खोज और पहचान बीजक शब्दोंसे करनी चाहिये। 'रघुपति-भक्ति' पद बीजक और सगर्भ है। इसके अर्थकी खोज उसी वन्दना-प्रसङ्गके उस दोहेसे कीजिये, जिसमें ग्रन्थकारने इसे (रघुपति-भक्तिको) बीजकके रूपमें रक्खा है। यथा—

बरषा रितु रघुपति भगति तुलसी सालि सुदास।
राम नाम बर बरन जुग सावन भादव मास॥

अर्थात् रघुपति-भक्ति तो वर्षा-ऋतु है, 'राम' शब्दका आदि वर्ण 'रा' सावन मास है तथा दूसरा वर्ण 'म' भादों मास है। अतएव जब श्रावण और भाद्रपद मासको ही लोग वर्षा-ऋतु मानते हैं, तब 'रा' और 'म' इन्हीं दोनों वर्णों अर्थात् राम-नामको ही श्रीगोस्वामीजीने रघुपति-भक्ति बतलाया है। उन्होंने—

नहिं कलि करम न भगति बिबेकू। राम नाम अवलंबन एकू॥

इस उक्तिके द्वारा कलिकालमें केवल राम-नामको ही आधार बतलाया है; उसी राम-नामको वे मानस रोगोंकी ओषधि भी बतलाते हैं। उनके मतसे राम-नाम ही रघुपति-भक्ति है। इसीसे उन्होंने बीजकके शब्दों— 'रघुपति भगति सजीवन मूरी' और 'बरषा रितु रघुपति भगति तुलसी सालि सुदास'—द्वारा उसका परिचय और पता दे दिया है, ताकि अधिकारीजन, जिन्हें ओषधिकी सच्ची आवश्यकता हो, उसे इस ग्रन्थमें खोज लें और उन्हें यह पता चल जाय कि राम-नाम ही रघुपति-भक्ति है तथा कलिकालमें केवल यही एकमात्र अवलम्बन है। अस्तु, जैसा कि प्रश्नकर्ताने समझा है, ऊपरके दोनों वचनोंमें कोई विरोध नहीं है, बल्कि ऐक्य ही है; दोनों पदोंका राम-नामसे ही तात्पर्य है।

प्र०—शृङ्गवेरपुरमें निषादराजका भरतजीसे सम्मिलन हुआ, परन्तु रघुकुलगुरु वसिष्ठजीसे नहीं हुआ; उनसे तब हुआ जब वे चित्रकूट पहुँचकर श्रीरघुनाथजीसे मिल चुके थे। बीचमें वसिष्ठजी और निषादराजकी भेंट न हुई हो, ऐसी भी बात नहीं है; क्योंकि दीनबन्धु प्रभुको गुरुके पधारने-की खबर सबसे पहले उन्हींसे मिली। अतः यहाँ यह प्रश्न उठता है कि ग्रन्थकारने चित्रकूट पहुँचनेपर ही वसिष्ठजी और निषादराजका सम्मिलन क्यों कराया ?

उ०—निषादराज गुहने शृङ्गवेरपुरके प्रथम मिलनके अवसरपर भी मुनिवर वसिष्ठजीको दण्डवत् किया था। यथा—

देखि दूरि ते कहि निज नामू। कीन्ह मुनीसहि दंड प्रनामू॥
जानि राम प्रिय दीन्हि असीसा। भरतहि कहेउ बुझाइ मुनीसा॥
रामसखा सुनि स्यंदनु त्यागा। चले उतरि उमगत अनुरागा॥
गाउँ जाति गुहँ नाउँ सुनाई। कीन्ह जोहारु माथ महि लाई॥

करत दंडवत देखि तेहि भरत लीन्ह उर लाइ।
मनहुँ लखन सन भेंट भइ प्रेमु न हृदयँ समाइ॥

परन्तु श्रीवसिष्ठजीने निषादराजका स्पर्श नहीं किया। उन्होंने उसको रघुनाथजीका प्रिय जानकर आशीर्वाद-मात्र दे दिया। जब भरतजी राम-सखा सुनते ही रथसे उतरकर उनसे मिलनेको सप्रेम आगे बढ़े और उसे दण्डवत् करते देखकर उन्होंने छातीसे लगा लिया और उनके इस प्रेमपूर्ण व्यवहारकी देवता लोग भी भूरि-भूरि प्रशंसा एवं साक्षात् समर्थन करने लगे, तब यह सब देख-सुनकर वसिष्ठजीके मनमें यह लालसा जाग उठी कि अब जब कभी संयोग लगेगा तब मैं अपनी इस कमीकी पूर्ति अवश्य करूँगा। वे मन-ही-मन सोचने लगे—'यह तौ राम लाइ उर लीन्हा।' अतएव मुझे भी इसके साथ स्पर्शास्पर्शका भेद रखना उचित नहीं था। फलतः जिस समय श्रीचित्रकूट पर्वतपर निषादराज पर्णकुटीसे श्रीराम-लक्ष्मणके साथ श्रीवसिष्ठादि-के स्वागतार्थ लौटे और दोनों स्वामियोंके गुरुको प्रणाम कर लेनेपर सेवकके नियमानुसार प्रणाम करने लगे तब श्रीवसिष्ठजीको अवसर मिल गया। उस समय निषाद-राजने यह सोचा कि 'श्रीगुरुजी मुझे स्पर्श नहीं करते, इसलिये मुझे दूरसे ही दण्डवत् करना चाहिये' और यह सोचकर उन्होंने श्रीवसिष्ठजीको दूरसे ही दण्डवत् किया; परन्तु अबकी बार श्रीवसिष्ठजी क्यों चूकने लगे! उन्होंने दौड़कर निषादराजको जबरदस्ती हृदयसे लगा लिया और इस प्रकार उन्होंने शृङ्गवेरपुरमें उत्पन्न हुई लालसा तथा त्रुटि पूरी की। इतना ही नहीं, उस समय निषादराजको प्रेमपूर्वक भेंटकर श्रीगुरुजीको जो आनन्द मिला, वह लखनलालजीके मिलनेसे भी अधिक था; क्योंकि उन्हें स्वयं इस बातकी उत्कण्ठा थी कि कब ऐसा संयोग मिलेगा। यथा—

प्रेम पुलकि केवट कहि नामू। कीन्ह दूरि तें दंड प्रनामू॥
रामसखा रिषि बरबस भेंटा। जनु महि लुठत सनेह समेटा॥
रघुपति भगति सुमंगल मूला। नभ सराहि सुर बरिसहिं फूला॥
एहि सम निपट नीच कोउ नाहीं। बड़ बसिष्ठ सम को जग माहीं॥

जेहि लखि लखनहु तें अधिक मिले मुदित मुनिराउ।
सो सीतापति भजन को प्रगट प्रताप प्रभाउ॥

उस समय वे ही देवतागण, जो शृङ्गवेरपुरमें इस मर्मको जान चुके थे, श्रीराम-भजन (भक्ति) के प्रभाव-को प्रकट देखकर आकाशसे फूल बरसाते हुए यह गाने लगे कि इस निषादसे जातिमें कोई नीचा नहीं है, 'जासु छाँह छुइ लेइअ सींचा।'—जिसकी परछाईं छू जानेपर स्नान किया जाता है और इधर वसिष्ठजीसे जाति और कुलमें कोई बड़ा नहीं है, वे साक्षात् ब्रह्माके ही सुपुत्र हैं; फिर भी वे श्रीरामभक्तिके नाते इस नीच निषादसे श्रीलक्ष्मणजीकी अपेक्षा अधिक सम्मानपूर्वक मिल रहे हैं।

यह सुसंयोग सर्वान्तर्यामी प्रभु श्रीरघुनाथजीकी कृपा-प्रेरणासे ही घटित हुआ। इधर परम भागवत श्रीवसिष्ठजीकी रुचि पूर्ण हुई, क्योंकि 'राम सदा सेवक रुचि राखी' अर्थात् प्रभु अपने जनकी लोक-परलोक-विषयक लालसाको शेष नहीं रखते; इधर निषादराजके हृदयसे भी यह बात निकल गयी कि 'गुरुजी मुझको स्पर्शसे बचाते हैं।' और संसारके समस्त जीवोंको इस घटनाद्वारा यह सुशिक्षा मिली कि भजनके प्रतापसे सब कुछ सम्भव है, क्योंकि निषादराजकी यह उक्ति कि—

राम कीन्ह आपन जबहीं तें। भयउँ भुवन भूषन तबहीं तें॥

—भजनके प्रतापसे ही चरितार्थ हो गयी।

(१)

श्रीकृष्णचरित्रकी उज्ज्वलता

××××आपके पत्रमें ऐसे प्रश्न थे जिनका उत्तर श्रीकृष्णचरित्रके स्मृतियोगमें स्थित चित्तकी सुस्थिर अवस्थामें ही किसी अंशमें लिखा जा सकता है। यह भी देर होनेका एक कारण है। आशा है आप मुझे क्षमा करेंगे।

आपने अपने प्रश्नोंमें भगवान् श्रीकृष्णके व्रजचरित्र-पर जो आक्षेप किये हैं और व्यङ्ग्यात्मक वाक्य लिखे हैं वे तो ठीक नहीं हैं। यह ठीक है कि आप श्रीकृष्ण-को 'बहुत ही उज्ज्वल' रूपमें देखना चाहते हैं और यह भी सत्य है कि आपको श्रीकृष्णचरित्रका जो 'अपवित्र' (?) वर्णन मिलता है, उसे पढ़-सुनकर दुःख होता है। आपकी नीयत ठीक है, परन्तु श्रीकृष्णचरित्रका मर्म समझे बिना ही उसपर दोषारोपण करना और उसे अपवित्र बतला देना उचित नहीं है। आज आपके-ऐसे और भी बहुतसे लोग हैं जो सच्चे हृदयसे श्रीकृष्णके चरित्रको अपनी कल्पनाके अनुसार उज्ज्वलताके साँचेमें ढला हुआ देखना चाहते हैं। परन्तु वह उनकी कल्पना है। भगवान्‌को अपनी मर्यादाके अंदर बाँध रखनेकी उनकी यह कल्पना सचमुच हास्यास्पद ही है। भगवान् भगवान् ही हैं— उनकी लीलाओंकी परीक्षा हमारी मायाच्छन्न बुद्धि नहीं कर सकती।

आप श्रीकृष्णका भजन-चिन्तन कीजिये। भजनके प्रतापसे उनकी कृपाके द्वारा शुद्ध मतिके प्राप्त होनेपर आप श्रीकृष्णके व्रजचरित्रका महत्त्व कुछ समझ सकेंगे। उनका उज्ज्वल चरित्र देखना हो तो उनकी श्रीमद्भगवद्गीताको देखिये, जिसमें कहीं भी किन्तु-परन्तुके लिये गुंजाइश नहीं है। इसका यह अर्थ नहीं है कि उनका व्रजचरित्र उज्ज्वल नहीं है। वह तो परमोज्ज्वल है और परम पवित्र है, परन्तु पहले उज्ज्वलकी उपलब्धि होनेपर ही परमोज्ज्वलकी ओर अग्रसर हुआ जा सकता है। गीताके चरम उपदेश भगवत्-शरणागतिको प्राप्त होनेपर ही आगे चलना सम्भव है। जो उनके गीतोक्त उज्ज्वल चरित्रको समझे बिना ही उनके परम उज्ज्वल व्रजचरित्रकी आलोचना करनेका दुःसाहस करते हैं, उनकी विवेककी आँखें चौंधिया जाती हैं और वे अपनेको एक विलक्षण अँधेरेमें पाते हैं, जो उनकी आँखोंके न सहनेयोग्य आत्यन्तिक प्रकाशके कारण उत्पन्न होता है। इसीसे वे वास्तविक रहस्यको न समझकर नाना प्रकारके कुतर्क करके श्रीभगवान्‌पर दोषारोपण करते हैं या उनके उक्त चरित्रको मिथ्या करार देकर बड़े भयानक पाप-पंकमें अपनेको फँसा लेते हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि मैं व्रजचरित्रके रहस्य-को पूर्णतया जानता हूँ। मैं तो उनके उज्ज्वल गीता-रहस्यको भी नहीं जानता। आपने प्रश्नोंके उत्तरमें मेरी अपनी 'सम्मति' पूछी है, इसीसे कुछ लिख रहा हूँ। यही ठीक रहस्य है, यह मेरा दावा नहीं है। आपके लंबे प्रश्नोंका अलग-अलग उत्तर न लिखकर संक्षेपमें एक ही साथ लिखता हूँ। कोई बात छूट जाय तो क्षमा कीजियेगा।

मैं श्रीगोपीजनोंके साथ की हुई भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाओंको सर्वथा सत्य और परम पवित्र मानता हूँ। मेरी समझसे उनमें व्यभिचारका जरा भी दोष नहीं है। वह तो साधनके ऊँचे-से-ऊँचे स्तरकी परम पवित्र दिव्य अनुभूति है, जो परम दुर्लभ अत्यन्त कठिन गोपीरतिकी साधनामें सिद्ध परम विरक्त, एकान्त भगवतरसिक महापुरुषोंको ही उपलब्ध होती है।

श्रीराधारानीका नाम अवश्य ही श्रीमद्भागवतमें नहीं है। इससे यह कहनेका साहस नहीं करना चाहिये कि श्रीराधारानीकी 'कहानी'! कल्पित है। वह 'कहानी' नहीं है, सत्य-सत्य है। श्रीमद्भागवतमें नाम नहीं है तो कहीं विरोध भी नहीं है। अत्यन्त प्राचीन पद्मपुराणमें, ब्रह्मवैवर्तमें तथा गर्गसंहितादि सम्मान्य ग्रन्थोंमें उनकी लीला लिखी है और इससे भी बढ़कर उन महात्मा पुरुषोंकी अनुभूति प्रमाण है, जिन्होंने श्रीराधारानीका और उनकी कृपाका प्रत्यक्ष किया है। कोई न माने, तो उसपर न तो कोई जोर है, न आग्रह है। परन्तु किसीके मानने-न-माननेसे सत्यका विनाश नहीं हो सकता। श्रीराधारानीका श्रीकृष्णके साथ विवाह हुआ था या नहीं, इस खोजकी आवश्यकता नहीं है, यद्यपि इसका भी वर्णन मिलता है। मेरा तो कहना यह है कि यदि केवल स्थूलदृष्टिसे श्रीकृष्णको साधारण मानव मानकर विचार करते हैं तब तो श्रीकृष्ण जिस समय वृन्दावन छोड़कर मथुरा चले गये थे, उस समय उनकी उम्र ११ वर्षकी थी। रासलीलादि तो इससे भी बहुत पहलेका वर्णन है। इतनी छोटी अवस्थामें कामक्रीडा हो नहीं सकती। और यदि उन्हें सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी, सबके एकमात्र आत्मा, सर्वलोकमहेश्वर, सच्चिदानन्दघन—साक्षात् भगवान् मानते हैं, तब श्रीराधारानी बाहरसे कोई भी क्यों न हो, वे साक्षात् भगवती हैं, भगवान् श्रीकृष्णकी ह्लादिनी शक्ति हैं, उनके आनन्दस्वरूपका मूर्तरूप हैं, उनकी स्वरूपा शक्ति हैं। वे उनसे कदापि अलग नहीं हैं। आनन्द और प्रेमकी अति दिव्य लीलामें उनका—एक ही रूपका दो भावोंमें दिव्य नित्य प्रकाश है। श्रीराधारानी महाभावरूपा हैं और भगवान् श्रीकृष्ण परम-प्रेमस्वरूप हैं। प्रेमका स्वरूप है प्रेमास्पदके सुखसे सुखी होना। जहाँ निजेन्द्रियतृप्तिकी वासना है, वहाँ तो प्रेम है ही नहीं, वहाँ तो कल्पित काम है। भगवान् श्रीकृष्ण श्रीमती राधारानीके प्रेमास्पद हैं और श्रीराधारानी श्रीकृष्णकी प्रेमास्पदा हैं। श्रीराधारानी जो कुछ करती हैं, श्रीकृष्णके सुखके लिये करती हैं और श्रीकृष्णको सुखी देखती हैं तो उनके सुखसे सुखी होनेका स्वभाव होनेके कारण श्रीराधारानीको अपार सुख होता है। इधर श्रीराधारानीको सुखी देखकर श्रीकृष्णका सुख बढ़ता है, क्योंकि श्रीराधारानी उनकी प्रेमास्पदा हैं और उनको सुखी करनेके लिये ही श्रीकृष्णकी प्रेमलीला होती है। इस प्रकार दोनों परस्पर एक दूसरेको सुखी करते हुए और एक दूसरेके सुखसे अपने सुखकी वृद्धि करते हुए लीलामें संलग्न रहते हैं। श्रीगोपीजन इन्हीं श्रीकृष्णकी स्वरूपा शक्ति ह्लादिनीकी घनीभूत मूर्ति हैं। जो दिन-रात श्रीराधा-कृष्णके मिलन सुखसे सुखका अनुभव करती हुई उनकी लीलामें संयुक्त रहती हैं। यह लीला अत्यन्त दिव्य है। श्रीराधा और श्रीकृष्ण दोनों ही प्रेमी हैं—दोनों ही प्रेमास्पद हैं, इसीसे भक्त कवि श्रीभगवतरसिकजीने एक पदमें कहा है—

> परस्पर दोउ चकोर, दोउ चन्दा।
> दोउ चातक, दोउ स्वाति, दोउ घन, दोउ दामिनी अमंदा॥
> दोउ अरविन्द, दोउ अलि लंपट, दोउ लोहा, दोउ चुम्बक।
> दोउ आशक माशूक दोऊ मिलि जुरे जराफ़ा अंबक॥
> दोउ मेघ, दोउ मोर, दोउ मृग, दोउ राग रस भीने।
> दोउ मनि विषद, दोउ वर पन्नग, दोउ वारि, दोउ मीने॥
> भगवतरसिक विहारिनि प्यारी, रसिक विहारी प्यारे।
> दोउ मुख देखि जियत अधरामृत पियत होत नहिं न्यारे॥

परन्तु इन्हीं भगवतरसिकजीने ठीक ही कहा है—

'भगवतरसिक रसिककी बातें रसिक बिना कोउ समुझि सकै ना।'

यह सत्य है कि रासलीला आदिमें शृंगारका खुला वर्णन है और नायक-नायिकाओंकी भाँति चरित्रचित्रण है; परन्तु उसके पढ़नेसे काम-वासना जाग्रत् होती है, यह बात ठीक नहीं है। रासपञ्चाध्यायीका पाठ तो

हृद्रोग—कामका नाश करनेवाला माना गया है और है भी यही बात। हाँ, उनकी बात दूसरी है जो भगवद्भावहीन हैं और उनके लिये रासलीलाका पढ़ना उचित भी नहीं है। यही तो अधिकारीभेदका रहस्य है। मेरी समझसे इस शृंगार और नायक-नायिकाकी लीला-में कुछ भी दोष नहीं है।

स्वयं समग्र ब्रह्म, पुरुषोत्तम, सर्वान्तर्यामी, सर्वलोक-महेश्वर, सर्वात्मा, सर्वाधिपति, अखिल विश्वब्रह्माण्डके एकमात्र आधार, तमाम विश्वसमष्टिको अपने एक अंश-मात्रसे धारण करनेवाले, सच्चिदानन्दविग्रह श्रीभगवान् तो गोपीनाथस्वरूपसे इस रसके नायक हैं और उपर्युक्त ह्लादिनी शक्तिकी घनीभूत मूर्ति—तत्त्वतः अभिन्नरूपा श्रीगोपीजन नायिका हैं। इनकी वह लीला भी सच्चिदानन्दमयी, अत्यन्त विलक्षण और हमलोगों-के प्रकृत मन, बुद्धिके सर्वथा अगोचर, दिव्य और अप्राकृत हैं; परन्तु यदि थोड़ी देरके लिये यह भी मान लें कि इस लीलामें मिलन-विलासादिरूप शृंगारका ही रसास्वादन हुआ था, तो भी इसमें तत्त्वतः कोई दोष नहीं आता। अत्यन्त मधुर मिश्रीकी कटु तूँबीके शकलकी कोई आकृति गढ़ी जाय जो देखनेमें ठीक तूँबी-सी मालूम होती हो, परन्तु इससे वह तूँबी क्या कड़ुवी होती है? अथवा क्या उसमें मिश्रीके स्वभाव-गुणका अभाव हो जाता है? बल्कि वह और भी लीला-चमत्कारकी बात होती है। लोग उसे खारी तूँबी समझते हैं, होती है वह मीठी मिश्री। इसी प्रकार सच्चिदानन्दघनमूर्ति भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी अभिन्नस्वरूपा ह्लादिनीशक्तिकी घनीभूत मूर्ति श्रीगोपीजनों-की कोई भी लीला कैसी भी क्यों न हो, उसमें लौकिक कामका कड़ुवा आस्वादन है ही नहीं! वहाँ तो नित्य दिव्य सच्चिदानन्दरस है। जहाँ मलिना माया ही नहीं है वहाँ मायासे उत्पन्न कामकी कल्पना कैसे की जा सकती है? कामका नाश तो इससे बहुत नीचे स्तरमें ही हो जाता है। हाँ, इसकी कोई नकल करने जाता है, तो वह अवश्य पाप करता है। श्रीभगवान्‌की नकल कोई नहीं कर सकता। मायिक पदार्थोंके द्वारा अमायिकका अनुकरण या अभिनय नहीं हो सकता। कड़ुवी तूँबीके फलसे चाहे जैसी मिठाई बनायी जाय और देखनेमें वह चाहे जितनी भी सुन्दर हो, परन्तु उसका कड़ुवापन नहीं जा सकता। इसीलिये जिन्होंने श्रीकृष्णकी रासलीलाकी नकल करके नायक-नायिकाका रसास्वादन करना चाहा है या जो चाहते हैं वे तो डूबे हैं और डूबेंगे ही। श्रीकृष्णका अनुकरण तो सब बातोंमें केवल श्रीकृष्ण ही कर सकते हैं!

हाँ, आपका यह प्रश्न विचारणीय अवश्य है कि 'फिर भगवान् लोकसंग्रहके आदर्श कैसे माने जा सकते हैं?' इसका उत्तर यह है कि प्रथम तो किसीके बचपनके कार्य लोकसंग्रहके आदर्श हुआ नहीं करते। संसारके बहुत बड़े-बड़े आदर्श महात्माओंके बचपनके कार्य भी महात्माओंके योग्य ही हुए हैं, ऐसी बात नहीं है। व्रजलीला ११ वर्षकी उम्रके पहले ही समाप्त हो जाती है। दूसरे, यह रहस्य है कि व्रजलीलामें यह गोपीलीला अत्यन्त गोपनीय वस्तु है। इसका साक्षात्कार तो श्रीभगवान् और उनकी अन्तरङ्ग शक्तियोंको ही होता है। अन्य किसीका इसमें प्रवेश ही नहीं है। यह लीला न तो लोकालयमें होती है और न लोकसंग्रह इसका उद्देश्य ही है। यह तो बहुत ऊपर उठे हुए महात्माओंके अनुभव-राज्यमें होनेवाली अप्राकृत लीला है। इसका बाह्य लोकसंग्रहसे कोई सम्बन्ध नहीं। व्रजमें भी इस लीलाको प्रायः कोई नहीं जानते थे। बाहर-वालोंकी तो बात ही क्या है, गोपोंने तो अपनी-अपनी पत्नियोंको अपने पास सोये हुए देखा था।

मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान्
स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः॥

ब्रह्मादि देवता केवल—मण्डपके अंदर होनेवाले कार्यको न देख पाकर, बाहरसे मण्डपकी शोभा देखकर ही मुग्ध और चकित होनेवाले लोगोंकी भाँति बाह्यभावको देख-देखकर चकित हो रहे थे। भगवान् शङ्कर और नारदको तथा किसी कालमें अर्जुनको गोपीभावकी प्राप्ति होनेपर ही इस लीलाके दर्शन हुए थे। इसीलिये शिशुपालने भगवान्‌पर गालियोंकी बौछार करते समय कहीं गोपी-लीलाका संकेत भी नहीं किया। अगर उसे पता होता तो वह इस विषयमें चुप न रहता। इसका यह तात्पर्य नहीं समझना चाहिये कि यह लीला हुई ही नहीं थी। महाभारतमें ही द्रौपदीने अपनी आर्तपुकारमें श्रीभगवान्‌को 'गोपीजनप्रिय' कहकर पुकारा है। द्रौपदी अन्तरङ्ग भक्त थीं, इससे उनको इस रहस्यका कुछ पता था। अतएव लोकसंग्रहसे इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। तब लोकसंग्रहके आदर्शमें कोई बाधा कैसे आ सकती है? यह तो साधारण लोककी बात है, जो अन्तरङ्ग साधक हैं, उनके लोकके लिये तो यही लोकसंग्रहका आदर्श है।

गोपियोंके चित्तमें वंशीध्वनि सुनकर काम (अनंग) की वृद्धि हुई थी, यह बात सचमुच भागवतमें ही है और यह सत्य है, परन्तु ऊपर कहा ही जा चुका है कि वह काम हमलोगोंका दूषित काम नहीं था। प्रेम भी अंगरहित ही होता है। गोपियोंका यह 'काम'—श्रीकृष्णविषयक प्रेम था—नित्यसिद्ध प्रेम था, जो वंशीकी ध्वनि सुनते ही प्रबल हो उठा और जिसने गोपीजनोंको प्रेममें बावली बनाकर श्रीभगवान्‌की ओर तत्क्षण ही प्रेरित कर दिया। भगवान् उनकी प्रेमसेवा स्वीकार करनेके लिये ही यमुनापुलिनपर उपस्थित थे। वंशीकी मोहिनी ध्वनिसे आवाहन करके गोपीजनोंको अपने निकट बुला लिया। यही प्रेमी भक्त और भगवान्‌की प्रेमलीला है। इसमें कामकी कहीं गन्ध भी नहीं है।

रही कवियोंकी बात, सो मेरी समझसे कवि तीन श्रेणियोंमें बाँटे जा सकते हैं। (१) वे भक्तकवि जिन्होंने लीलाका प्रत्यक्ष किया; (२) वे कवि जिन्होंने लीलापर विश्वास करके श्रद्धा, भक्ति और पवित्रभावसे व्रजलीलाकी रचना की है और (३) वे शृङ्गारी कवि जो पवित्र या अपवित्र भावसे भी शृङ्गार-का वर्णन करनेके लिये श्रीकृष्ण और श्रीराधारानी या गोपीजनोंको नायक-नायिकाके स्थानमें बैठाकर काव्य-रचना करते हैं। नाम बतलानेकी और कौन किस श्रेणीमें है, यह निर्णय करनेकी मेरी सामर्थ्य नहीं। किसके मनमें क्या था कौन जान सकता है! हाँ, श्रीसूरदासजी, तुलसीदासजी, नन्ददासजी आदि भक्त-कवियोंके प्रति मेरी श्रद्धा है और उन्होंने जो कुछ कहा है, अत्यन्त पवित्रभावसे कहा है—यह मेरा विश्वास है। तुलसीदासजी यद्यपि श्रीरामभक्त थे, इसलिये यह आवश्यक नहीं कि वे श्रीकृष्णचरित्रका वर्णन करते ही, तथापि उन्होंने श्रीकृष्ण-गीतावलीमें श्रीकृष्णकी बाल-लीलाओंका संक्षेपमें बड़ा ही मधुर वर्णन किया है।

अब आपके अन्तिम प्रश्नका उत्तर देना है—यद्यपि इसका उत्तर देनेमें बड़ा ही सङ्कोच है परन्तु आपने शपथ दिलाकर सत्य पूछा है, इसलिये यह कहना पड़ता है कि मैंने अपने विश्वासकी जो बातें ऊपर लिखी हैं ये केवल पढ़ी-सुनी हुई ही नहीं हैं। इनके माननेका कोई ऐसा भी कारण अवश्य है—जिसपर कम-से-कम मैं अपने लिये कभी अविश्वास नहीं कर सकता। वह कारण क्या है, यह मैं बतलाना नहीं चाहता। न मेरा यही आग्रह है कि मैंने जो कुछ लिखा है उसे आप मान लें। श्रीभगवान् सभी रूपोंमें हैं। आपको श्रीभगवान्‌का जो रूप प्रिय और उज्ज्वल प्रतीत होता है, आपके लिये वही ठीक है, आप उसीकी उपासना कीजिये। मेरा तो इतना ही निवेदन है कि दूसरे रूपोंकी बाबत कटु और हेय आलोचना मत कीजिये। यदि करनी ही हो तो मेरी तुच्छ सम्मतिके अनुसार बहुत ही मर्यादाके

अंदर रहकर करनी चाहिये । हिन्दू सम्प्रदायोंकी तो बात ही क्या—ईसाई, मुसलमान, पारसी आदिके भी वही एक भगवान् हैं, जो हमारे हैं । हमारे ही भगवान्‌की वे विभिन्न रूपोंमें उपासना करते हैं । अतएव भगवान्‌के किसी भी रूपका खण्डन नहीं करना चाहिये ।

× × × ×

पत्र बहुत लंबा हो गया है । तत्त्व क्या है, यह मैं पूरा जानता नहीं । जो कुछ जानता हूँ वह मनमें सदा जाग्रत् नहीं रहता और जितनी बातें मनमें आती हैं, उतनी शब्द, भाव, समय आदिके सङ्कोच और अन्यान्य कारणोंसे लिखी नहीं जा सकतीं । आशा है आप क्षमा करेंगे ।

(२)

सब भगवान्‌की पूजाके लिये हो

× × × ×

भाई साहब ! श्रीभगवान्‌को छोड़कर संसारमें सभी कुछ दुःखमय है । यहाँ जो सुख दीखता है, वह यदि वास्तविक है तो भगवान्‌के सुख-समुद्रका कोई एक कणमात्र है । और यदि वास्तविक नहीं है तो सुखके रूपमें दुःख ही सामने आ रहा है । उसका रूप वैसे ही छिपा है, जैसे किसीके विनाशके लिये बनायी हुई मिठाईमें विष छिपा रहता है ।

श्रीभगवान्‌के सम्बन्धसे ही सबका सम्बन्ध है, श्रीभगवान्‌के प्रियत्वसे ही सबमें प्रियभाव है । भगवान्‌के बिना तो यह जगत् भयङ्कर है । चारों ओरसे काटनेको दौड़ता है । ऐसे भगवत्-सम्बन्धरहित विषयोंमें जो ममत्व और सुखबुद्धि हो रही है, यही मोह है । भगवान्‌ने भोगोंको 'दुःखयोनि' दुःख उपजानेवाले बतलाया है । चाहे वे एक व्यक्तिके लिये हों या समस्त विश्वके लिये । जो मनुष्य अपने सुखके लिये भोगादि न चाहकर समष्टिके लिये चाहता है, वह अवश्य ही उदार और त्यागी है, परन्तु वह भी है यथार्थमें भूलमें ही । भूलमें न होता तो 'दुःखयोनि' विषयोंमें उसे सुख दीखता ही कैसे ! भोगोंसे वैराग्य हुए बिना यथार्थ भगवत्प्रेमका सच्चा विकास नहीं होता । जबतक मनोभूमिमें विषयानुरागका गंदा कीचड़ भरा हुआ होता है, तबतक उसमें बोया हुआ प्रेमका बीज उगता नहीं । उगना तो दूर रहा, प्रेमका यथार्थ बीज वहाँ पहुँचता ही नहीं । चित्तभूमि जब वैराग्यके द्वारा शुद्ध हो जाती है तभी उसमें भगवत्प्रेमका बीज बोया जा सकता है और तभी वह अंकुरित, पुष्पित और फलित होता है । परन्तु इस वैराग्यका उदय भी अन्तःकरणकी शुद्धिकी अपेक्षा रखता है और वह होती है भजनसे । भजन ही अन्तःकरणके मलको जला डालनेवाली आग है । इसलिये भजन करना चाहिये और विचार तथा भगवत्प्रार्थनाके द्वारा भोगोंसे वैराग्य उत्पन्न करते रहना चाहिये । जब भगवत्प्रेमकी झाँकी हो जायगी तब जगत्‌के सभी सुख नीरस, नाचीज और हेय लगने लगेंगे । फिर सहज ही उनसे मन हट जायगा । भक्तवर नागरीदासजी (किशनगढ़के भगवद्भक्त महाराज) ने भगवत्प्रेमकी जरा-सी झाँकी होनेके बाद यह पद गाया है । इसमें अपने पहले जीवनके लिये कितना पश्चात्ताप किया है, देखिये—

> किते दिन बिनु वृन्दावन खोये ।
> यों ही वृथा गये ते अबलौं राजस-रंग समोये ॥
> छाड़ि पुलिन फूलनिकी सैया, सूल-सरनि सिर सोये ।
> भीजे रसिक अनन्य न दरसे, बिमुखनिके मुख जोये ॥
> हरि बिहारकी ठौर रहे नहिं, अति अभाग्य बल बोये ।
> कलह सराय बसाय भठ्यारी माया राँड बिगोये ॥
> इकरस ह्याँ के सुख तजिके ह्वाँ कबौं हँसे कबौं रोये ।
> कियो न अपनो काज, पराये भार सीसपर ढोये ॥
> पायो नहिं आनंद लेस मैं सबै देस टकटोये ।
> नागरिदास बसे कुंजनमें जब सब बिधि सुख भोये ॥

यह है राजाके आनन्दका असली स्वरूप । परन्तु

यह असली रूप देख पड़ता है—भोगोंके मायाजालसे छूटनेपर ही।

मेरा इससे यह मतलब नहीं है कि घर-बार छोड़कर कहीं चले जाना चाहिये। कोई कहीं भी जाय, जबतक मनमें राग (आसक्ति) है, तबतक फँसावट है ही। सबकी अपनी-अपनी अलग दुनिया है और अलग-अलग छोटे-बड़े क्षेत्र हैं। सम्राट् अपने बड़े भारी राज्यके कार्योंमें राग-द्वेष करता है, दूकानदार छोटी-सी दूकानदारीके सम्बन्धसे उतनी-सी दुनियामें और बच्चा खेलके खिलौनेमें। दुखी सभी हैं, रोना सभीको है—क्योंकि प्रतिकूलताके दर्शन सबको होते हैं, प्रतिकूलतामें ही दुःख और द्वेष है। इसीलिये घर न छोड़कर घरकी मालिकी छोड़नी चाहिये। अपने सब कुछपर श्रीभगवान्का अधिकार स्थापित करके भगवान्की पूजा करनेके लिये घरमें रहना चाहिये। घर भगवान्का पूजा-मन्दिर बने, हम पुजारी बनें। आसक्ति भगवान्में हो, घरमें नहीं; घरकी चीजें प्यारी हों तो इसीलिये कि वे भगवान्की हैं, भगवान्की पूजाके लिये हैं! पूजाके लिये न हों तो—

> जरो सो सम्पति सदन सुख, सुहृद मातु पितु भाइ।
> सन्मुख होत जो रामपद, करत न सहज सहाइ॥
>
> × × ×
>
> अंजन कहा आँख जेहि फूटै, बहुतक कहौं कहाँ लौं।

जैसे घर भगवान्का, वैसे ही यह सारा जगत् भगवान्का—बस इसी नाते जगत्में रहना, जगत्के कार्य करना; प्यारे भगवान् जिस कार्यमें लगा दें उसीको करना। आसक्ति भगवान्में—कार्य भगवान्का। वे चाहे जगत्के विकासके रूपमें अपनी सेवा करावें या विनाशके रूपमें। याद रखनेकी इतनी ही बात है—भोगोंमें सुख नहीं, सुख एकमात्र भगवान्में है। जगत् भोगोंसे सुखी होगा, यह भ्रान्त धारणा है, सुखी होगा भगवान्से। चाहे भोग न रहें—उनकी पूजाके लिये रहें और वे रखना चाहें तो वह भी उत्तम है—असलमें सेवा भगवान्की करनी है, भोगोंकी नहीं। भोगोंसे भगवान्को रिझाना है, भगवान्से भोगोंको पाना नहीं!

इसलिये मुझे तो बस, आप बड़े हैं, यही आशीर्वाद दीजिये कि भगवान्के चरणोंमें अपनेको निवेदन कर सकूँ और उनके इङ्गितके अनुसार कार्य करता हुआ उनके नामका स्मरण करता रहूँ।

धर्मसमस्या

(लेखक—साधु प्रज्ञानाथजी)

'धर्म' शब्द आर्यग्रन्थोंमें इस प्रकार व्यापकभावसे सर्वत्र प्रकाशित हो रहा है कि विशेष विचार न करके इसे कभी आचारके अर्थमें, कभी वर्णाश्रमधर्मके अर्थमें, कभी सामाजिक आचार-व्यवहारके अर्थमें और कभी आश्रमधर्मके अर्थमें समानरूपसे व्यवहृत किया गया है। धर्म सबका प्राण है। एक दिन भोजन करने-न-करनेसे किसीका भी विशेष हानि-लाभ देखनेमें नहीं आता, परन्तु एक दिन धर्म-त्याग करनेसे मनुष्यका सारा दिन कलुषित हो जाता है। इसलिये धर्माचरणके विषयमें उदासीन होनेसे मानव-जीवनका महान् उद्देश्य सफल नहीं होता। जिस विषयमें प्रत्यक्षादि प्रमाण-द्वारा इहलोकमें कोई विशेष फल देखनेमें नहीं आता, इस प्रकारके स्वर्ग-नरकादिके विषयमें शास्त्रीय प्रमाणद्वारा जो विश्वास किया जाता है, उसको ही सहज भाषामें 'धर्म' कहते हैं। निष्कामी पुरुषके दान करनेपर इस लोकमें किसी प्रकारका लाभ देखनेमें नहीं आता। सरकारी कर्मचारियोंको जो घूस दी जाती है, इन्द्रियसुखके लिये अथवा झूठी गवाही देनेके लिये जो दान दिया जाता है, उसे दान कहना ठीक नहीं। इनके द्वारा इस लोककी ही कामना सिद्ध होती देखी जाती है। इस प्रकारका दान धर्म नहीं बल्कि अधर्म ही होता है। यह दान जब देश, काल और पात्रका विचार करके निःस्वार्थभावसे दिया जाय, तभी धर्मके अङ्ग दानके नामसे अभिहित हो सकता है। धर्मके आठ प्रकारके मार्गोंका महाभारतमें इस प्रकार उल्लेख हुआ है—

> इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं क्षमा दमः।
> अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः॥
>
> (वनपर्व २। ७५)

जो लोग धर्मपालनके लिये प्रस्तुत होते हैं, उन्हें उपर्युक्त आठ प्रकारके मार्गोंमेंसे किसी एक मार्गका अवलम्बन करना

पड़ता है। सब मार्गोंमें सबका अधिकार या सामर्थ्य न रहनेके कारण जिससे जितना हो सकता है, उसे उतना ही धर्मका पालन करना पड़ता है। उक्त महाभारतमें ही इस प्रकार धर्मके लक्षण बतलाये गये हैं—

धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः ।
यत्स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः ॥
(कर्णपर्व ६९।५८)

अर्थात् जिसे धारणकर अतीन्द्रिय स्वर्गादिकी प्राप्ति होती है तथा जो प्रजाको धारण किये रहता है एवं जो धारणासे युक्त है, उसे ही निश्चयपूर्वक धर्म कहा जाता है। धर्म प्रजाकी रक्षाका हेतु है, इसीलिये आर्यशास्त्रोंमें समाजबन्धनके हेतुके रूपमें धर्मपालनकी व्यवस्था की गयी है। 'धारणसंयुक्तम्' विशेषणकी सार्थकता यही है कि जिसे समझ-बूझकर किया जाता है, उसे ही धर्मके नामसे अभिहित करते हैं। बिना विचारे केवल देखा-देखीसे कोई काम किया जाय, अथवा शुभ मार्गमें रहकर बिना विचार किये राजदण्ड या समाज-दण्डके भयसे जो शास्त्राज्ञाका पालन किया जाता है, उसे धर्म नहीं कहते। प्रलोभन या स्वार्थमें कोई विघ्न पड़नेपर उसका त्याग करते लोगोंको देखा जाता है। इसीलिये द्रौपदीने युधिष्ठिरको जब धर्मत्याग करके युद्धके द्वारा बाहुबलसे राज्य प्राप्त कर प्राकृत जनके समान सुखसे जीवन यापन करनेके लिये अनुरोध किया था, तब अति गम्भीर धर्मज्ञ युधिष्ठिरने उसे समझाकर स्वधर्ममें विश्वास करने तथा स्थिर रहनेका उपदेश दिया था—

धर्मं चरामि सुश्रोणि न धर्मफलकारणात् ।
आगमाननतिक्रम्य सतां वृत्तमवेक्ष्य च ॥
धर्म एव मनः कृष्णे स्वभावाच्चैव मे धृतम् ।
धर्मवाणिज्यको हीनो जघन्यो धर्मवादिनाम् ॥
न धर्मफलमाप्नोति यो धर्मं दोग्धुमिच्छति ।
यश्चैनं शङ्कते कृत्वा नास्तिक्यात्पापचेतनः ॥
अतिवादाद्वदाम्येष मा धर्ममभिशङ्किथाः ।
धर्माभिशङ्की पुरुषस्तिर्यग्गतिपरायणः ॥
धर्मो यस्याभिशङ्क्यः स्यादार्षं वा दुर्बलात्मनः ।
वेदाच्छूद्र इवापेयात्स लोकादजरामरात् ॥
वेदाध्यायी धर्मपरः कुले जातो मनस्विनि ।
स्थविरेषु स योक्तव्यो राजर्षिर्धर्मचारिभिः ॥
पापीयान् स हि शूद्रेभ्यस्तस्करेभ्यो विशिष्यते ।
शास्त्रातिगो मन्दबुद्धिर्यो धर्ममभिशङ्कते ॥
(वन० ३१।४—१०)

'हे सुश्रोणि! मैं धर्मका फल पानेके लिये धर्म नहीं करता, किन्तु वेदादिकी आज्ञाके अनुसार और शिष्ट पुरुषोंके सदाचारको देखकर धर्मके काम करता हूँ। और हे द्रौपदी! क्षत्रियजातिके स्वभावके अनुसार ही मैंने अपने मनको धर्ममें लगाया है। जो मनुष्य फल पानेके लिये धर्मको बेचता है, अर्थात् स्वर्गादि फल पानेके लिये धर्म-कर्म करता है, उसी मनुष्यको निकृष्ट और धर्मवादियोंमें नीच समझना चाहिये। जो मनुष्य धर्ममेंसे फल पानेकी आशा रखता है और जो पापी मनका नास्तिक पुरुष धर्म करके उसके विषयमें शङ्का करता है, उसे धर्मका फल मिलता ही नहीं। मैं और सब प्रमाणोंको छोड़ एक वेदका ही प्रमाण देकर कहता हूँ कि तुझे धर्मके विषयमें मनमें शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि धर्मके सम्बन्धमें मिथ्या शङ्का करनेवाला पुरुष पक्षीकी योनिमें जन्म पाता है। और जो मनुष्य धर्मपर और ऋषियोंके देखे हुए मन्त्रोंपर शङ्का करता है वह निर्बल मनवाला नास्तिक पुरुष, जैसे शूद्र वेदोंसे दूर रहता है वैसे ही, अजर-अमर मोक्षसे दूर रहता है अर्थात् उसको मोक्ष नहीं मिलता। जो वेद पढ़ता है, धर्माचरण करता है और विचारवानोंके कुलमें उत्पन्न होता है, ऐसे बालक राजर्षिकी भी धर्माचरण करनेवाले पुरुषोंने वृद्ध पुरुषोंमें गिनती की है। परन्तु जो मूढबुद्धि शास्त्रप्रमाणको प्रमाणरूप न गिनता हुआ उसको लाँघकर धर्मके विषयमें शङ्का करता है, उस महापापी पुरुषको शूद्रोंसे तथा चोरोंसे भी अधिक नीच जाने।'

फलकी कामना करके जो धर्माचरण करते हैं, उनके लिये फलकी प्राप्ति द्रव्य, क्रिया एवं कालकी अपेक्षा रखती है, अतएव दुर्लभ होती है। एवं फलकी प्राप्ति न होनेपर धर्ममें अविश्वास उत्पन्न हो जाता है। और ऐसी अवस्थामें धर्म-त्याग भी सम्भव हो जाता है। ऋत्विजके दोषसे, मन्त्र-दोषसे या द्रव्यादिकी पवित्रताके न होनेसे धर्मकर्म करनेपर सर्वत्र फलकी प्राप्ति नहीं देखनेमें आती। इसलिये धर्ममें अविश्वास करनेका कोई कारण नहीं है।

प्रबल प्रतिबन्धक होनेपर इस जन्मका पुरुषकार सफल नहीं होता, इस कारणसे शास्त्रमें अविश्वास करनेका कोई प्रयोजन नहीं है। ज्योतिष और वैद्यक शास्त्रके अधीन

पुरुषको देखकर अतीन्द्रिय धर्ममोक्षादिके प्रतिपादक शास्त्रोंमें विश्वास दृढ़ हो सकता है। विश्वास ही धर्मका मूल है। जिनका धर्ममें विश्वास नहीं है, उनके किये हुए धर्मादि इहलोक या परलोकमें कार्यकारी नहीं होते। सत्पुरुषोंका आचरण देखकर ही साधारण लोगोंकी धर्ममें प्रवृत्ति देखी जाती है। इसलिये जो लोग धर्मका उपदेश करते हैं, उन्हें धार्मिक बनकर चलना पड़ेगा; नहीं तो उनका उपदेश सुनकर साधारण पुरुषोंका धार्मिक जीवन उन्नत नहीं हो सकता। धर्मप्रचारक पुरुषोंमें बहुतेरे धर्माचरणमें कुण्ठित देखे जाते हैं। उनकी वक्तृताको सुनकर श्रोताओंकी सामयिक उद्दीप्ति हो सकती है, परन्तु जो लोग उनका नित्य सङ्ग करते होते हैं, वे उनकी वक्तृता न सुनकर उनके आचरणको देखकर ही अधिक शिक्षा लाभ कर सकते हैं। हम धर्माचरण नहीं करेंगे और हमारे धर्मोपदेशको सुनकर अन्य लोग धार्मिक हो जायँगे–इस प्रकारकी आशा करना व्यर्थ है। अपने पुत्रको कोई दुश्चरित्र बननेकी शिक्षा नहीं देता, परन्तु अपने माता-पिताकी दुश्चरित्रता देखकर पुत्र उसीका अनुकरण किया करते हैं। इसलिये धर्मप्रचारक या धर्म-परायण लोग यदि अपने अनुगामियोंको शुद्ध रखना चाहते हैं, तो वे अपने धार्मिक जीवनको पवित्र रखकर ही उनका कल्याण कर सकते हैं। अधार्मिक पुरुषके उपदेशको सुनकर कोई धार्मिक नहीं हो सकता। जिस दिन उक्त अधार्मिक पुरुषका अधर्म प्रकाशित हो जायगा, उसी दिन उसके अनुचर उसके द्वारा प्रचारित धर्ममें आस्था खोकर अधार्मिक हो जायँगे। धर्मका ढोल बजाकर अधर्म करना आजकलका एक धर्मका व्यापार हो गया है। जो लोग इस प्रकार धर्मका ढोल बजाते रहते हैं, उनमेंसे बहुतेरे धर्मको एक प्रकारके व्यवसायके रूपमें परिणत कर देते हैं। इस प्रकारके धर्म-व्यवसायी लोगोंका उद्देश्य पहले चाहे कितना भी अच्छा क्यों न हो, किन्तु अब वह लोभके वशीभूत होकर अर्थोपार्जन और उदरपोषणके उपायके रूपमें परिणत हो जाता है, तब फिर उसे धर्म नहीं कहा जा सकता। परोपकारकी इच्छा होनेपर अपनेको शुद्ध बनाना होगा। लोभको छोड़कर, स्वार्थका त्याग कर जो पवित्र जीवन यापन कर सकते हैं, उनको उपदेश सुनाकर लोक-प्रतारक बननेकी चेष्टा नहीं करनी पड़ती। उपदेशकी अपेक्षा दृष्टान्त कहीं अधिक लाभदायक होता है।

सदाचार ही धर्मका प्राण है। सदाचारकी उपेक्षा करनेसे धर्मकी वृद्धि नहीं हो सकती। सदाचारहीन धर्मकी शक्तिका अस्तित्व अधिक दिनतक नहीं रहता। श्रुति एवं स्मृतिमें वर्णित आचार ही परम धर्म है। आचारभ्रष्ट विद्वान् कभी वैदिक फलको प्राप्त नहीं करते। वेदाध्ययन करनेवालेको आचारसे युक्त होनेकी आवश्यकता है। इसी कारण मुनियोंने आचारको ही धर्मका मूल बतलाया है। आचारसे दीर्घायु और पुत्रकी प्राप्ति होती है। दुराचारी पुरुषकी इहलोकमें निन्दा और परलोकमें दुर्गति होती है। जो लोग श्रद्धावान्, असूयारहित और आचारवान् हैं, वे सौ वर्ष जी सकते हैं। श्रद्धाके साथ नित्य (अग्निहोत्रादि) कर्म तथा नैमित्तिक कर्म करने चाहिये। यदि कोई कुछ याचना करे तो अपने पास होनेपर उसे थोड़ा भी देना चाहिये। किसी भी प्राणीको पीड़ा न देकर प्रतिदिन धर्मसञ्चय करना चाहिये। माता-पिता, बन्धु-बान्धव आदि कोई भी परलोकमें सहायता नहीं कर सकते, वहाँ केवल धर्म ही सहायता करता है। यथा—

> नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः।
> न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः॥

परधनमें स्पृहा करना अनार्योंका धर्म है। स्वयं उपार्जित धनमें सन्तुष्ट रहते हुए धर्ममें स्थिर रहनेसे सुखपूर्वक जीवन व्यतीत किया जा सकता है। हाथ और मुँह धोकर भोजन करना चाहिये। और भोजनके अन्तमें मुँह आदिको पुनः धो लेना चाहिये। हाथ-पैर धोकर ही सोना चाहिये। इसे ही महर्षि नारद आचार कहते हैं। पवित्र स्थान, वृष (साँड़), देवस्थान, चतुष्पथ तथा धार्मिक ब्राह्मणकी परिक्रमा करनी चाहिये। अतिथि, आश्रित जन तथा भृत्योंके साथ एक-सा भोजन करना चाहिये। एक बार भोजन करके जबतक भूख न लगे तबतक भोजन नहीं करना चाहिये। हवनकालमें (प्रातः और सन्ध्यासमय) हवन करना चाहिये। ऋतुकालमें परिणीता भार्याको वीर्यदान करना चाहिये। लोष्टमर्दन और तृणच्छेदन नहीं करना चाहिये और न अपने नखोंको दाँतसे काटना चाहिये। मांसभक्षण नहीं करना चाहिये। अतिथिको कभी उपवास नहीं कराना चाहिये। काम्य कर्मोंके फलको प्राप्त कर ईश्वर या गुरुको उसे समर्पण कर देना चाहिये। गुरुजन यदि घरपर आवें तो उठकर उन्हें आसन देना चाहिये और अभिवादन करना चाहिये। गुरुजनोंकी सेवा-शुश्रूषासे शीघ्र ही श्री और यशकी प्राप्ति होती है। सूर्योदय और सूर्यास्तके समय सूर्यका दर्शन नहीं करना चाहिये। नग्न परस्त्रीकी ओर दृष्टि नहीं डालनी

चाहिये । जिनके साथ जितनी बार राह-बाटमें भेंट हो, उनसे कुशल-मङ्गल पूछना चाहिये । प्रातः एवं सायङ्कालमें गुरुजनोंको प्रणाम करना चाहिये । देवता आदिसे सम्बन्ध रखनेवाले कर्मोंको दाहिने हाथसे सम्पादन करना चाहिये । अपने मलोत्सर्गका दर्शन नहीं करना चाहिये । स्त्रीके साथ एकत्र भोजन और एक ही शय्यापर शयन नहीं करना चाहिये । अपनेसे जो श्रेष्ठ हैं, उनका नाम लेकर या 'तुम' कहकर उन्हें नहीं बुलाना चाहिये । मनसे सब प्राणियोंके कल्याणका चिन्तन करना चाहिये । धर्मके लिये सर्वस्व त्याग कर देना चाहिये । धर्ममें अन्यकी सहायता नहीं होती । धर्मके द्वारा सुखकी प्राप्ति होती है, इस शास्त्र-वचनमें विश्वास करना चाहिये । इस प्रकार सदाचारका वर्णन किया गया । इनका यथाशक्ति पालन करके धर्मके आठ मार्गोंका पालन करना चाहिये ।

वे आठ मार्ग ये हैं—(१) इज्या—अग्निहोत्र कर्म नित्य करना होता है, उसे स्मृति (धर्मशास्त्र) के अनुसार करना चाहिये । असमर्थ होनेपर पाँच ग्रास अन्न लेकर 'प्राणाय स्वाहा', 'अपानाय स्वाहा', 'व्यानाय स्वाहा', 'उदानाय स्वाहा', 'समानाय स्वाहा' मन्त्र पढ़कर अग्निमें छोड़ देना चाहिये । गायत्री-जप करके गायत्री-मन्त्रसे पाँच ग्रास अग्निमें डालने चाहिये । इससे भी अग्निहोत्रका फल प्राप्त होता है । इसे नित्य यज्ञ कहते हैं । दूसरे नैमित्तिक यज्ञोंको भी यथाशक्ति करना चाहिये तथा उसके साथ ब्राह्मणादिको भोजन कराना चाहिये ।

(२) अध्ययन—द्विजाति वर्णोंके लिये अध्ययन करना आवश्यक है । पञ्चम वर्षमें बालकको गुरु-गृहमें भेजकर वेद पढ़ाना चाहिये । वेद एवं वेदाङ्गका एक पाद आचार्यके द्वारा, एक पाद विद्यार्थिवर्गके द्वारा और एक पाद अपनी स्मृतिके द्वारा प्राप्त होता है । चतुर्थ पाद बुद्धिके प्रकर्षके कारण ज्ञानकी परिपक्वावस्थामें प्रज्ञारूपमें स्वयं ही उपस्थित हो जाता है । अध्ययनके समय अवश्य ही ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये ।

(३) दान—गृहस्थके लिये प्रतिदिन कुछ-न-कुछ दान करना कर्तव्य है । अधिक दान करनेमें असमर्थ होनेपर भिक्षुको भिक्षादान और पञ्चमहायज्ञ तो नित्य करने ही चाहिये । एक मुट्ठी अन्न क्षुधातुर पुरुषको नित्य देनेसे गृहस्थको नित्यके पञ्चसूना-पापसे मुक्ति मिल जाती है । अन्नदान अधम दान है, विद्यादान मध्यम दान है और अभयदानको सर्वश्रेष्ठ दान कहा गया है । सत्पात्रको देखकर यत्किञ्चित् भी दान अवश्य करना चाहिये । दान देकर किसीके सामने प्रकट न करके चुप रहना ही अच्छा है । मिथ्या बोलनेसे यज्ञ नष्ट होता है । अभिमान करनेसे तप नष्ट होता है, ब्राह्मणकी निन्दा करनेसे आयु नष्ट होती है तथा अपने दानकी प्रशंसा करनेसे दान नष्ट हो जाता है । अन्यत्र दान करते समय स्थान-काल-पात्रका विचार करना चाहिये । किन्तु श्रद्धाके साथ गरीब ब्राह्मण और दुःखी मनुष्यको अथवा अकिञ्चन साधुको दान करते समय किसी प्रकारका विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है । अर्थके दानको ही रक्षण कहते हैं । सत्पात्रको निष्कामभावसे जो दान दिया जाता है, उससे चौगुना लाभ होता है । यथा—

> पात्रे दानं स्वल्पमपि काले दत्तं युधिष्ठिर ।
> मनसा हि विशुद्धेन प्रेत्यानन्तफलं स्मृतम् ॥
>
> (महा० वन० २५९ । ३४)

अर्थात् 'हे युधिष्ठिर ! समयपर सत्पात्रको विशुद्ध मनसे थोड़ा भी दिया हुआ दान मरणोपरान्त अनन्त फल प्रदान करनेवाला होता है ।'

(४) तप—तप तीन प्रकारका होता है—शारीरिक, वाचिक और मानसिक । त्रिविध पापोंकी निवृत्तिके लिये सब आश्रमवालोंको तप करना पड़ता है । शारीरिक तप (सेवादि) के द्वारा शारीरिक पाप नष्ट होते हैं । मानसिक तपद्वारा मानसिक पाप नष्ट होते हैं और वाचिक तपद्वारा वाचिक पाप नष्ट होते हैं । इन्द्रियोंका संयम करनेसे ही तप होता है । यह तप सात्त्विक, राजसिक और तामसिक भेदसे पुनः तीन प्रकारका होता है । राजस और तामस तप श्रेयःप्राप्तिका हेतु नहीं होता । इन्द्रियाँ ही स्वर्ग और नरकका कारण बनती हैं । निगृहीत मन स्वर्गका और कुपथगामी मन नरकका हेतु बनता है । इन्द्रियोंका निग्रह करना ही सब प्रकारके योगोंका उद्देश्य है । इन्द्रियोंके पीछे दौड़नेसे मन कलुषित हो जाता है, इनको नियन्त्रित करनेसे यह तपःसिद्धिका कारण बन जाता है । विचारके द्वारा अपने किसी पापकी निवृत्तिके लिये केवल चित्तशुद्धिके लिये जो तप किया जाता है, उसे सात्त्विक तप कहते हैं । इस तपमें छल, कपट, दम्भ आदि नहीं होते । श्रद्धा और भगवत्परायणता होनेपर चित्तशुद्धिके द्वारा उक्त तप ज्ञानका ही साधन हो जाता है । स्वर्गादिकी इच्छा होनेपर तथा ज्ञानप्राप्ति न होनेपर इसके द्वारा स्वर्गादिकी भी प्राप्ति हो सकती है ।

सत्कार, मान और पूजाके लिये दम्भपूर्वक जो तप

लोगोंको दिखानेके लिये किया जाता है, उसे राजस तप और मूढ़तापूर्वक शरीरादिको पीड़ा पहुँचाकर जलमें, अग्निमें या सूर्यकी किरणोंमें खड़े होकर अथवा दूसरोंकी अनिष्ट कामना करके जो घोर तप अनुष्ठित किया जाता है, उसे तामस तप कहते हैं। राजस और तामस तपका फल दाम्भिकता देखनेमें आती है। इसी कारण इनका त्याग करना पड़ता है। तामस तपके द्वारा हिरण्यकशिपु, रावण आदि ब्रह्मासे वर प्राप्त कर जगत्के लिये महान् अनर्थका कारण बन गये थे। आजकल भी जो लोग उग्र तप करते हैं, उन्हें राजस भोजन करना पड़ता है; अतएव उन्हें दूसरेके गले पड़ना पड़ता है। उनमें क्रोध और लोभकी अधिकता देखी जाती है। तपस्वीके लिये क्रोध और लोभ महान् अनर्थके हेतु होते हैं। श्रीभगवान्ने इनको नरकका द्वार बतलाया है। जिह्वाका संयम किये बिना किसी भी इन्द्रियको वशमें नहीं किया जा सकता। अतएव जिह्वाका संयम करनेके लिये उग्र तपका त्याग करना आवश्यक है। मौन-धारण सात्त्विक तप है। इसके द्वारा वाणी और शरीरका भी संयम होता है। तपको भोगप्राप्तिका साधन बनाना मूर्खता-मात्र है। जिस तपका उद्देश्य भोगप्राप्ति है, वह तप धर्म या मोक्षमें सहायक नहीं हो सकता।

ऊपर जो चार प्रकारके मार्ग बतलाये गये हैं, वे दम्भके भी कारण हो सकते हैं। यथा—

> इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं क्षमा धृतिः।
> अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः॥
> तत्र पूर्वं चतुर्वर्गं दम्भार्थमपि सेव्यते।
> उत्तरश्च चतुर्वर्गो नामहात्मसु तिष्ठति॥
> (महा० उद्योग० ३५। ५६, ५७)

अर्थात् 'यज्ञ, अध्ययन, दान, तप, सत्य, क्षमा, धृति और अलोभ—यह धर्मका अष्टविध मार्ग है। इनमें यज्ञादि चार दम्भके लिये भी किये जाते हैं और सत्यादि चार महात्माओंके अतिरिक्त अन्य पुरुषोंमें नहीं रहते हैं।'

उपर्युक्त चार मार्ग जब राजसिक और तामसिक भावसे अनुष्ठित होते हैं, तब ये धर्मके अङ्ग नहीं हो सकते, बल्कि दम्भके ही कारण हो जाते हैं। तपस्वीमें जब क्रोध और लोभ देखिये, तभी समझ जाइये कि उसकी तपस्या विपरीत दिशामें जा रही है और धर्मका कारण न बनकर अधर्मका कारण बन रही है। निम्नाङ्कित चार मार्ग मोक्षके ही हेतु होते हैं।

(५) सत्य—मन और इन्द्रियोंके द्वारा जैसा अनुभव हुआ हो, ठीक उसी प्रकार बोलनेका नाम सत्य है। सहस्र अश्वमेधयज्ञ करके याज्ञिक जिस फलको प्राप्त करते हैं, एकमात्र सत्यव्रतको धारण करनेवाला दरिद्र भी उसे प्राप्त कर सकता है। समस्त वेदोंका अध्ययन और समस्त तीर्थोंमें स्नान करके भी वैसा पुण्य नहीं प्राप्त किया जा सकता, जैसा एकमात्र सत्यव्रत धारण करनेसे प्राप्त हो सकता है। सत्य भी हित और प्रिय होना चाहिये। कहीं-कहीं अप्रिय होनेपर सत्य भी नहीं बोलना चाहिये।

(६) क्षमा—अपकारीको दण्ड देनेकी शक्ति होते हुए भी उसे दण्ड न देना—इसीको क्षमा कहते हैं। क्षमावान्को लोग असमर्थ समझ सकते हैं, परन्तु इस प्रकार समझना भूल है। क्षमा एक महान् गुण है, समर्थ पुरुषका क्षमा भूषण है। जिसके हाथमें क्षमारूपी खड्ग है, उसका दुर्जन क्या कर सकते हैं? क्षमासे धर्मकी वृद्धि होती है। जिसके पास क्षमा नहीं है, उसके सारे धर्म नष्ट हो जाते हैं। यथा—

> 'क्षमया वर्धते धर्मः क्रोधाद्धर्मो विनश्यति।'

क्षमासे धर्मकी वृद्धि होती है और क्रोधसे धर्मका नाश होता है। और भी कहा है—

> लोभात्क्रोधः प्रभवति परदोषैरुदीर्यते।
> क्षमया तिष्ठते राजन् क्षमया विनिवर्तते॥
> (महा० शान्ति० १६३। ७)

'लोभसे क्रोध उत्पन्न होता है और परदोष-दर्शनसे उसकी वृद्धि होती है। हे राजन्! क्षमासे वह क्रोध रुक जाता है और क्षमासे ही उसका नाश हो जाता है।'

(७) दम—इन्द्रिय-निग्रहको दम कहते हैं। ब्राह्मणके लिये दमके अतिरिक्त और कोई धर्म नहीं है। दमके द्वारा उनकी क्रिया-सिद्धि हो सकती है। दान, यज्ञ, अध्ययनादिकी अपेक्षा भी दम अधिक बलवान् होता है। दमके द्वारा शरीरकी तेजोवृद्धि होती है। पापरहित तेजस्वी पुरुष श्रेयकी प्राप्ति कर सकते हैं। दमके समान कोई धर्म नहीं। सभी धार्मिक पुरुषोंके लिये दमका अभ्यास आवश्यक है। दमशील पुरुष इहलोक और परलोकमें सुख प्राप्त करता है। चारों आश्रमोंके लिये दम ही एकमात्र व्रत है। क्षमा, धृति, अहिंसा, समता, सत्य, सरलता, इन्द्रियजय, दक्षता, मृदुता, हीन कर्मोंमें लज्जा, अचपलता, अकृपणता, सन्तोष, प्रियवादिता, अनसूया—इनके समूहको दम कहते हैं। दमका फल इस प्रकार वर्णित हुआ है—

नादान्तस्य क्रियासिद्धिर्यथावदुपपद्यते ।
क्रिया तपश्च सत्यं च दमे सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥
(महा० शान्ति० १६० । १२)

'दमहीन पुरुषके लिये यथार्थ क्रियासिद्धि सम्भव नहीं है । क्रिया, तप और सत्य सभी दममें प्रतिष्ठित होते हैं ।'

(८) अलोभ—प्राप्त वस्तुके त्यागको न सहनेका नाम लोभ है । लोभको श्रीभगवान्‌ने नरकका द्वार बतलाया है । यह लोभ किसको किस प्रकारसे धर्ममें अधर्म-बुद्धि और अधर्ममें धर्म-बुद्धि उत्पन्न करके संसारमें भटकाता रहता है, इसे अत्यन्त विद्वान् पुरुष भी नहीं जान सकते । इसी कारण विशेष विचार किये बिना कोई लोभके हाथसे निष्कृति नहीं प्राप्त कर सकता । लोभ ही स्वर्गके द्वारको अवरुद्ध किये रहता है । यथा—

स्वर्गद्वारं सुसूक्ष्मं हि नरैर्मोहान्न दृश्यते ।
स्वर्गार्गलं लोभबीजं रागगुप्तं दुरासदम् ॥
तं तु पश्यन्ति पुरुषा जितक्रोधा जितेन्द्रियाः ।
ब्राह्मणास्तपसा युक्ता यथाशक्तिप्रदायिनः ॥
(महा० अश्वमेध० ९० । ९५, ९६)

'स्वर्गका द्वार इतना सूक्ष्म है कि मोहके कारण मनुष्योंको वह दीखता ही नहीं । उस स्वर्गद्वारमें लोभरूप अर्गला लगी है और उसमें लोभकी कील ठुकी हुई है और राग (क्रोध) उसको ढके हुए है, इसलिये उसके भीतर पहुँचना बड़ा ही कठिन है । जिन्होंने क्रोधको जीत लिया है और इन्द्रियोंको जीत लिया है, वे ही पुरुष उसको देख सकते हैं । तप करनेवाले ब्राह्मण तथा यथाशक्ति बहुत-सा दान देनेवाले [उसको देख पाते हैं]'

सब पापोंके अधिष्ठान, धर्म और मोक्षके मूर्त्तिमान् विघ्न—लोभको जिसने पहचान लिया, वह अवश्य ही संसारसे मुक्त हो जायगा । भीष्म कहते हैं—

पापस्य यदधिष्ठानं तच्छृणुष्व नराधिप ।
एको लोभो महाग्राहो लोभात्पापं प्रवर्तते ॥
अतः पापमधर्मश्च तथा दुःखमनुत्तमम् ।
निकृत्या मूलमेतद्धि येन पापकृतो जनाः ॥
लोभात्क्रोधः प्रभवति लोभात्कामः प्रवर्तते ।
लोभान्मोहश्च माया च मानः स्तम्भः परासुता ॥
अक्षमा ह्रीपरित्यागः श्रीनाशो धर्मसंक्षयः ।
अभिध्याप्रख्यता चैव सर्वं लोभात्प्रवर्तते ॥
(महा० शान्ति० १५८ । १–५)

'हे राजन्, पापके जो अधिष्ठान हैं, उन्हें श्रवण करो । लोभ एक बड़ा भारी ग्राह है, लोभसे पाप उत्पन्न होता है । अतः यह पाप है, अधर्म है तथा अतिशय दुःखरूप लोभ ही कपटका मूल है; इसीके कारण मनुष्य पाप-कर्म करते हैं । लोभसे क्रोध उत्पन्न होता है; लोभसे कामकी उत्पत्ति होती है; लोभसे मोह, माया और अभिमान, अनम्रता, प्राणोंकी अधीनता, अक्षमा, निर्लज्जता, दारिद्र्य और धर्मका नाश, चिन्ता और अपयश आदि सभी लोभसे उत्पन्न होते हैं ।'

राजा अम्बरीष कहते हैं—

भूयिष्ठं विजिता दोषा निहताः सर्वशत्रवः ।
एको दोषो वरिष्ठश्च वध्यः स न हतो मया ॥
यत्प्रयुक्तो जन्तुरयं वैतृष्ण्यं नाधिगच्छति ।
तृष्णार्त इह निम्नानि धावमानो न बुध्यते ॥
अकार्यमपि येनेह प्रयुक्तः सेवते नरः ।
तं लोभमसिभिस्तीक्ष्णैर्निकृन्तन्तं निकृन्तत ॥
लोभाद्धि जायते तृष्णा ततश्चिन्ता प्रवर्तते ।
स लिप्समानो लभते भूयिष्ठं राजसान् गुणान् ॥
तदवाप्तौ तु लभते भूयिष्ठं तामसान् गुणान् ।
स तैर्गुणैः संहतदेहबन्धनः
पुनः पुनर्जायते कर्म चेहते ।
जन्मक्षये भिन्नविकीर्णदेहो
मृत्युं पुनर्गच्छति जन्मनैव ॥
तस्मादेतं सम्यगवेक्ष्य लोभं
निगृह्य धृत्यात्मनि राज्यमिच्छेत् ॥
एतद्राज्यं नान्यदस्तीह राज्य-
मात्मैव राजा विदितो यथावत् ॥
(महा० अश्वमेध० ३१ । ७–१२)

'मैंने अनेकों दोषोंको जीत लिया, समस्त शत्रुओंका नाश किया, परन्तु एक सबसे बलवान् दोष जिसका नाश करना आवश्यक था, उसे मैं नष्ट नहीं कर पाया । जिसके द्वारा प्रवर्तित होकर पुरुष तृष्णारहित नहीं हो सकता और तृष्णासे

दुःखित होकर इस लोकमें जीव कर्मोंकी ओर दौड़ता हुआ अपने इस कामको समझता नहीं। जिसके द्वारा प्रेरित हुआ पुरुष इहलोकमें दुष्कर्म भी कर डालता है, उस नाशकारी लोभको तीक्ष्ण कृपाणके द्वारा काट डालो, काट डालो। लोभसे तृष्णा उत्पन्न होती है, उसके पश्चात् चिन्ता बढ़ती है, तृष्णासे युक्त पुरुष अनेक प्रकारके राजस गुणोंसे युक्त हो जाता है। राजस गुणोंके प्राप्त होनेपर वह बहुत-से तामसिक गुणोंसे युक्त हो जाता है। इन गुणोंके कारण देहके बन्धनमें जकड़ जानेके कारण वह बार-बार जन्म लेता है और कर्म करता है। जन्मकालमें ही नाश उपस्थित होनेपर उसके देहके तत्त्व पृथक्-पृथक् होकर बिखर जाते हैं और फिर वह जन्मके साथ ही मृत्युको प्राप्त होता है। इसलिये इस लोभको अच्छी तरह समझकर और धैर्यपूर्वक अपने अन्तःकरणमें निग्रह कर आत्मामें ही राज्यकी इच्छा करनी चाहिये। यही असली राज्य है, इसके अतिरिक्त और कोई राज्य यहाँ है ही नहीं, यथावत् जाना हुआ आत्मा ही राजा है।'

भक्त-गाथा

भक्त पद्मनाभ

(लेखक—श्री 'शान्त')

भगवान् दयामय हैं। वे सम्पूर्ण जगत्पर निरन्तर दयाकी वर्षा करते रहते हैं, उनकी ओरसे किसी भी प्रकारका भेद-भाव नहीं है। उसके अनुभवमें जो कुछ विलम्ब है वह जीवकी ओरसे ही है, भगवान्की ओरसे नहीं। जीव जिस समय सच्चे हृदयसे उनकी कृपाका अनुभव करनेके लिये उन्मुख हो, उसी समय उनकी अनन्त कृपाका अनुभव कर सकता है। कभी-कभी तो जीवके उन्मुख हुए बिना भी वे अपनी कृपासे ही बलात् कृपाका अनुभव करा देते हैं। जीवका सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ इसीमें है कि वह भगवान्की कृपाका अनुभव करे। इसके लिये किसी विशेष साधनाकी आवश्यकता नहीं, केवल भाव-भक्ति चाहिये। भीम कुम्हारने कौन-सी तपस्या की थी? वह तो केवल मिट्टीके तुलसी-दल, फल और फूल बनाकर भगवान्को चढ़ा दिया करता था; इसीसे उसपर रीझ गये। वसु किसान कौन-सा बहुत बड़ा तपस्वी था? वह तो केवल साँवेकी खेती करता और उसीका भोग लगाकर प्रसाद पाता; केवल इतनेसे ही उसपर प्रसन्न हो गये और सर्वदाके लिये उसके अर्चा-विग्रह बन गये। वह रंगदास शूद्र ही भगवान्के लिये कितना व्याकुल था? केवल उसके एक मानसिक अपराधकी मार्जनाके लिये ही आप चले आये। भगवान्की लीला विचित्र है। वे कब, किसपर, क्यों प्रसन्न होते हैं—इसको वे ही जानते हैं। परन्तु इतना निश्चित है कि वे दयाकी मूर्ति हैं और जो उनको चाहता है, उसको वे अवश्य मिलते हैं।

भारतवर्ष संतोंकी खान है। इसमें इतने अधिक संत हुए हैं कि उनकी गणना किसी प्रकार सम्भव नहीं है। एक-एक तीर्थमें, तीर्थके एक-एक स्थानमें, अनेक-अनेक भक्त संत हो गये हैं। तीर्थोंकी तो बात ही क्या, शायद ही कोई ऐसा गाँव बचा हो, जिसमें कोई भक्त न हुए हों। वेङ्कटाचल तो मानो भक्तोंके लिये वैकुण्ठ धाम ही है। वहाँ इतने अधिक भक्त हुए हैं कि पुराणोंका बहुत-सा अंश वहाँके भक्तोंकी महिमासे ही भरा हुआ है। इस गये-बीते जमानेमें भी वेङ्कटाचल इतना सुन्दर और इतना आकर्षक है कि वहाँ जानेपर एक बार तो प्रत्येक सहृदयके मनमें वहीं रह जानेकी अभिलाषा हो ही जाती है। वहाँकी हरी-भरी पर्वत-मालाएँ, आकाश-गङ्गा, स्वामि-पुष्करिणी, चक्रतीर्थ आदि ऐसे स्थान हैं, जिनमें स्वभावसे ही सात्त्विकता भरी हुई है और उनके साथ कोई-न-कोई ऐसी स्मृति लगी हुई है, जो जीवको भगवान्की ओर अग्रसर करती है।

प्राचीन कालकी बात है। आजकल जहाँ बालाजी-का मन्दिर है, वहाँसे थोड़ी दूर एक चक्र-पुष्करिणी नामका तीर्थ है। उसके तटपर श्रीवत्सगोत्रीय पद्मनाभ नामके ब्राह्मण निवास करते थे। उनके पास न कोई सङ्ग्रह था न परिग्रह। भगवान्‌के नामका जप, उन्हींका स्मरण, उन्हींका चिन्तन—बस, यही उनके जीवनका व्रत था। इन्द्रियाँ उनके वशमें थीं, हृदयमें दीन-दुखियोंके प्रति दया थी। सत्यसे प्रेम, विषयोंके प्रति उपेक्षा तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें आत्मभाव—यही उनका जीवन था। अपने सुख-दुःखकी उन्हें कभी परवा नहीं होती थी, परन्तु दूसरेके दुःखकी कल्पनासे ही उनका हृदय द्रवीभूत हो जाता था। कभी वे सूखे पत्ते खा लेते, तो कभी पानीपर ही निर्वाह कर लेते और कभी-कभी तो भगवान्‌के ध्यानमें इतने तन्मय हो जाते कि शरीरकी सुध ही नहीं रहती; फिर खाये-पीये कौन? परन्तु यह सब तो बाहरकी बात थी। उनका हृदय भगवान्‌के लिये छटपटा रहा था। उनके सामने अपने जीवनका कोई मूल्य नहीं था। वे तो ऐसे-ऐसे सौ-सौ जीवन निछावर करके भगवान्‌को, अपने प्रियतम प्रभुको प्राप्त करना चाहते थे। उनके हृदयमें आशा और निराशाके भयङ्कर तूफ़ान उठा ही करते। कभी वे सोचने लगते कि 'भगवान् बड़े दयालु हैं, वे अवश्य ही मुझे मिलेंगे, मैं उनके चरणोंपर लोट जाऊँगा, अपने प्रेमाश्रुओंसे उनके चरण भिगो दूँगा, वे अपने कर-कमलोंसे मुझे उठाकर हृदयसे लगा लेंगे, मेरे सिरपर हाथ रक्खेंगे, मुझे अपना कहकर स्वीकार करेंगे और मैं आनन्दके समुद्रमें डूबता-उतराता होऊँगा। कितना सौभाग्यमय होगा वह क्षण, कितना मधुर होगा उस समयका जीवन! वे कहेंगे 'वरदान माँगो' और मैं कहूँगा 'मुझे कुछ नहीं चाहिये, मैं तो तुम्हारी सेवा करूँगा, तुम्हें देखा करूँगा! तुम मुझे भूल जाओ या याद रक्खो, मैं तुम्हें कभी नहीं भूलूँगा।' ऐसी भावना करते-करते पद्मनाभ आनन्द-विभोर हो जाते, उनके शरीरमें रोमाञ्च हो आता, आँखोंसे आँसू गिरने लगते। उनकी यह प्रेम-मुग्ध अवस्था बहुत देरतक रहती। वे सारे संसारको भूलकर प्रभुकी सेवामें लगे रहते।

कभी-कभी उनके चित्तमें ठीक इसके विपरीत भावना होने लगती—'कहाँ मैं एक क्षुद्र प्राणी—दीन-हीन, मलिनहृदय; कहाँ निखिल ब्रह्माण्डोंके अधिपति भगवान्! मेरे इस पापपूर्ण हृदयमें वे क्यों आने लगे? मैंने कौन-सी ऐसी साधना की है, जिसपर रीझकर वे मुझे दर्शन देंगे? न जप न तप, न व्रत न समाधि। *जिस हृदयसे उनका चिन्तन करना चाहिये, उससे* संसारका चिन्तन! यह तो अपराध है, इसका दण्ड मिलना चाहिये। मैं दुःखकी ज्वालामें झुलस रहा हूँ, विषयोंके लिये भटक रहा हूँ संसारमें; फिर भी भगवत्प्राप्तिकी आशा! यह मेरी दुराशा नहीं तो क्या है? शरीरके लिये कितना चिन्तित हो जाता हूँ, विषयोंके लिये कितनी उत्सुकता आ जाती है मेरे हृदयमें, संसारके लिये कितनी बार रो चुका हूँ मैं; पर भगवान्‌के लिये आँखोंमें दो बूँद आँसूतक नहीं आते। कैसी विडम्बना है, कितना पराङ्मुख जीवन है! क्या यही जीवन भगवत्प्राप्तिके योग्य है, इसका तो विनाश ही उचित और श्रेयस्कर है।' यही सब सोचते-सोचते इतनी वेदना होती उनके हृदयमें कि ऐसा मालूम होता मानो अब उनका हृदय फट जायगा। कई बार निराशा इतनी बढ़ जाती कि उन्हें अपना जीवन भार हो जाता, कभी-कभी वे मूर्च्छित हो जाते और बेहोशीमें ही पुकारने लगते—'हे प्रभो, हे स्वामी, हे पुरुषोत्तम! क्या तुम मुझे अपना दर्शन नहीं दोगे? इसी प्रकार रोते-रोते, बिलखते-बिलखते मर जाना ही मेरे भाग्यमें बदा है? मैं मृत्युसे नहीं डरता, इस नीच जीवनका अन्त हो जाय—यही अच्छा है। परन्तु मैं तुम्हें देख नहीं पाऊँगा। न जाने कितने जन्मोंके बाद तुम्हारे

दर्शन हो सकेंगे । मेरी यह करुण पुकार क्या तुम्हारे विश्वव्यापी कानोंतक नहीं पहुँचती ! अपनाओ, प्रभो ! मेरी ओर न देखकर अपनी ओर देखो ।' इस प्रकार प्रार्थना करते-करते वे चेतनाशून्य हो जाते और इनका शरीर घण्टोंतक यों ही पड़ा रहता ।

लोग कहते हैं भगवान्‌के लिये तप करो, परन्तु तपका अर्थ क्या है—इसपर विचार नहीं करते । जेठकी दुपहरीमें जब सूर्य बारहों कलासे तप रहे हों, पाँच अथवा चौरासी अग्नियोंके बीचमें बैठना, अथवा घोर सर्दीमें पानीमें खड़े रहना—तपकी केवल इतनी ही व्याख्या नहीं है । तपका अर्थ है अपने किये हुए प्रमादके लिये पश्चात्ताप । अपने जीवनकी निम्न स्थितिसे असन्तोष और भगवान्‌के विरहकी वह ज्वाला, जो जीवनकी सम्पूर्ण कलुषताओंको जलाकर उसे सोनेकी भाँति चमका दे—वास्तवमें यही तपका अर्थ है । यही ताप देवदुर्लभ तप है । पद्मनाभका जीवन इसी तपस्यासे परिपूर्ण था और वे सच्चे अर्थमें तपस्वी थे । एक दिन उनकी यह तपस्या पराकाष्ठाको पहुँच गयी । उन्होंने सच्चे हृदयसे, सम्पूर्ण शक्तिसे भगवान्‌से प्रार्थना की—'हे प्रभो, अब मुझे अधिक मत तरसाओ । तुम्हारे दर्शनकी आशामें अब मैं और कितने दिनोंतक जीवित रहूँ ? एक-एक पल कल्पके समान बीत रहा है, संसार सूना दीखता है और मेरा यह दग्ध जीवन, यह प्रभु-हीन जीवन विषसे भी कटु मालूम हो रहा है । वे आँखें किस कामकी, जिन्होंने आजतक तुम्हारे दर्शन नहीं किये ! अब इनका फूट जाना ही अच्छा है । यदि इस जीवनमें तुम नहीं मिल सकते तो इसे नष्ट कर दो । मुझे स्त्री-पुत्र, धन-जन, लोक-परलोक कुछ नहीं चाहिये । मुझे तो तुम्हारा दर्शन चाहिये, तुम्हारी सेवा चाहिये । एक बार तुम मुझे अपना स्वीकार कर लो, बस इतना ही चाहिये । गज, ग्राह, गणिका और गीधपर जैसी कृपा तुमने की, क्या उसका पात्र मैं नहीं हूँ ! तुम तो बड़े कृपालु हो, कृपापरवश हो; कृपालुता ही तुम्हारा विरद है । मेरे ऊपर भी अपनी कृपाकी एक किरण डालो ।' इस प्रकार प्रार्थना करते-करते पद्मनाभ भगवान्‌की अहैतुकी कृपाके स्मरणमें तन्मय हो गये ।

भगवान्‌के धैर्यकी भी एक सीमा है । वे अपने प्रेमियोंसे कबतक छिप सकते हैं । वे तो सर्वदा, सब जगह, सबके पास ही रहते हैं, केवल प्रकट होनेका अवसर ढूँढ़ा करते हैं । जब देखते हैं कि मेरे प्रकट हुए बिना अब काम नहीं चल सकता, तब तत्क्षण प्रकट हो जाते हैं । वे तो पद्मनाभके पास पहलेसे ही थे; उनके ताप, उत्कण्ठा और प्रार्थनाको देख-देखकर मुग्ध हो रहे थे । जब उनकी अवधि पूरी हो गयी, तब वे पद्मनाभ ब्राह्मणके सम्मुख प्रकट हो गये । सारा स्थान भगवान्‌की दिव्य अङ्गज्योतिसे भर गया । पद्मनाभ-की पलकें उस प्रकाशको रोक नहीं सकीं; उनकी आँखें बलात् खुल गयीं । सहस्र-सहस्र सूर्यके समान दिव्य प्रकाश और उसके भीतर शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी चतुर्भुज भगवान् ! हृदय शीतल हो गया । आँखें निर्निमेष होकर रूप-रसका पान करने लगीं । पद्मनाभका सम्पूर्ण हृदय उन्मुक्त होकर भगवान्‌के कृपापूर्ण नेत्रोंसे बरसती हुई प्रेम-धारामें डूबने-उतराने लगा । जन्म-जन्मकी अभिलाषा पूरी हुई । कुछ कहा नहीं जाता था । भगवान्‌ने एकाएक ऐसे अनुग्रहकी वर्षा की कि वे चकित—स्तम्भित रह गये । भगवान् केवल मुस्कुरा रहे थे ।

कुछ क्षणोंतक निस्तब्ध रहकर गद्गद वाणीसे पद्मनाभने स्तुति की—'प्रभो ! आप ही मेरे, निखिल जगत्‌के और जगत्‌के स्वामियोंके भी स्वामी हैं; सम्पूर्ण ऐश्वर्य और माधुर्य आपके ही आश्रित है । आप पतितपावन हैं, आपके स्मरणमात्रसे ही पापोंका नाश हो जाता है । आप घट-घटमें व्यापक हैं, जगत्‌के बाहर और भीतर केवल आप ही हैं । आप विश्वातीत, विश्वेश्वर और

विश्वरूप होनेपर भी भक्तोंपर कृपा करके उनके सामने प्रकट हुआ करते हैं। ब्रह्मा आदि देवता भी आपका रहस्य नहीं जानते, केवल आपके चरणोंमें भक्तिभावसे नम्र होकर प्रणाम करते हैं। आपकी सुन्दरता, आपकी कोमलता और आपकी प्रेमपरवशता किसे आपकी ओर आकृष्ट नहीं कर लेती ? आप क्षीरसागरमें शयन करते रहते हैं, फिर भी अपने भक्तोंकी विपत्तिका नाश करनेके लिये सर्वत्र चक्रधारी रूपमें विद्यमान रहते हैं। भक्त आपके हैं और आप भक्तोंके। जिसने आपके चरणोंमें अपना सिर झुकाया, उसको आपने समस्त विपत्तियोंसे बचाकर परमानन्दमय अपना धाम दिया। आप योगियोंके समाधिगम्य हैं, वेदान्तियोंके ज्ञानस्वरूप आत्मा हैं और भक्तोंके सर्वस्व हैं। मैं आपका हूँ, आपके चरणोंमें समर्पित हूँ—नत हूँ।' इतना कहकर पद्मनाभ मौन हो गये, और कहना ही क्या था ?

अब भगवान्‌की बारी आयी। वे जानते थे कि पद्मनाभ निष्काम भक्त हैं, इनके चित्तमें संसारके भोगोंकी तो बात ही क्या—मुक्तिकी भी इच्छा नहीं है। इसलिये उन्होंने पद्मनाभसे वर माँगनेको नहीं कहा। उनके चित्तकी स्थिति जानकर उनको सुधामयी वाणीसे सींचते हुए भगवान्‌ने कहा—'हे महाभाग ब्राह्मणदेव, मैं जानता हूँ कि तुम्हारे हृदयमें केवल मेरी सेवाकी ही इच्छा है। तुम लोक-परलोक, मुक्ति और मेरे धामतकका परित्याग करके मेरी पूजा-सेवामें ही सुख मानते हो और वही करना चाहते हो; तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो। कल्पपर्यन्त मेरी सेवा करते हुए यहीं निवास करो। अन्तमें तो तुम्हें मेरे पास आना ही पड़ेगा। इतना कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये और पद्मनाभ भगवान्‌की शारीरिक तथा मानसिक सेवा करते हुए अपना सर्वश्रेष्ठ एवं आनन्दमय जीवन व्यतीत करने लगे। भगवान्‌की सेवा-पूजासे बढ़कर और ऐसा कर्तव्य ही कौन-सा है, जिसके लिये भगवान्‌के प्रेमी भक्त जीवन धारण करें ? पद्मनाभकी प्रत्येक क्रिया, उनकी प्रत्येक भावना भगवान्‌के लिये ही होती थी और स्वभावसे ही उनके द्वारा जगत्‌का कल्याण सम्पन्न होता था। ऐसे भक्त एकान्तमें रहकर भी, भगवान्‌की सेवामें ही लगे रहकर भी अपने शुद्ध सङ्कल्पसे संसारकी जितनी सेवा कर सकते हैं, उतनी सेवा काममें लगे रहकर बड़े-बड़े कर्मनिष्ठ भी नहीं कर सकते।

इसी प्रकार भगवान्‌की सेवा-पूजा करते हुए पद्मनाभको अनेकों वर्ष बीत गये। वे एक दिन भगवान्‌का स्मरण करते हुए उनकी पूजाकी सामग्री इकट्ठी कर रहे थे, इसी समय एक भयङ्कर राक्षसने उनपर आक्रमण किया। उन्हें अपने शरीरका मोह नहीं था। मरनेके बाद मुझे किसी दुःखमय स्थानमें जाना पड़ेगा, यह आशङ्का भी उनके चित्तमें नहीं थी। परन्तु राक्षस खा जायगा, इस कल्पनासे उनके चित्तमें यह प्रश्न अवश्य उठा कि तब क्या भगवान्‌ने मुझे अपनी सेवा-पूजाका जो अवसर दिया है, वह आज ही—इसी क्षण समाप्त हो जायगा ? मेरे इस सौभाग्यकी यहीं इस प्रकार इतिश्री हो जायगी ? भगवान्‌ने मुझे जो एक कल्पतक पूजा करनेका वरदान दिया है, वह क्या झूठा हो जायगा ? यह तो बड़े दुःखकी बात है। ऐसा सोचकर वे भगवान्‌से प्रार्थना करने लगे—'हे दयासागर ! हे दीनोंके एकमात्र आश्रय ! हे अन्तर्यामी ! हे चक्रपाणे ! आप मेरी रक्षा करें, मेरी रक्षा करें। जो भी आपकी शरणमें आया, आपने उसकी रक्षा की। मैं आपका शरणागत हूँ, आपका अपना हूँ; क्या आपके देखते-देखते यह राक्षस मुझे खा जायगा और आपका वरदान झूठा हो जायगा ? जब ग्राहने गजेन्द्रको पकड़ लिया था, दुर्वासाकी कृत्या अम्बरीषको खा जाना चाहती थी, तब आपने अपना चक्र भेजकर उनकी रक्षा की थी। प्रह्लादकी रक्षाके लिये तो स्वयं आप ही पधारे थे।

इस राक्षसका साहस तो इतना बढ़ गया है कि यह आपके शरणागतको ही खा जाना चाहता है। प्रभो! अपने विरदकी रक्षा कीजिये, मुझे इस राक्षससे बचाइये।'

तीखी सुईसे कमलका कोमल दल बेधनेमें विलम्ब हो सकता है, परन्तु सच्ची प्रार्थनाके भगवान्‌तक पहुँचनेमें तनिक भी विलम्ब नहीं हो सकता। अन्तर्यामी भगवान् भक्त पद्मनाभकी प्रार्थनाके पहले ही जान गये थे कि उनपर सङ्कट आया है। भगवान् जानते तो सब कुछ हैं और करते भी सब कुछ ठीक ही हैं; लोग उनके विधानपर निर्भर नहीं रह पाते, इसीसे कुछ कहने या सोचने लगते हैं। भगवान्‌ने भक्त पद्मनाभकी रक्षाके लिये अपने प्रिय आयुध सुदर्शन चक्रको भेजा। चक्रका तेज कोटि-कोटि सूर्यके समान है। भक्तोंके भयको भस्म करनेके लिये आगकी भीषण लपटें उससे निकला करती हैं। चक्रकी तेजोमय मूर्ति देखकर वह राक्षस भयभीत हो गया और ब्राह्मणको छोड़कर बड़े वेगसे भागा। परन्तु सुदर्शन चक्र उसे कब छोड़नेवाले थे? इन्हें उस राक्षसका भी तो उद्धार करना था।

यह राक्षस आजसे सोलह वर्ष पहले गन्धर्व था। इसका नाम था सुन्दर। एक दिन श्रीरङ्गक्षेत्रमें अपनी स्त्रियोंके साथ कावेरी नदीमें जलविहार कर रहा था। उसी समय उधरसे श्रीरङ्गनाथके परमभक्त महर्षि वसिष्ठ निकले, उन्हें देखकर स्त्रियाँ लज्जित हो गयीं। उन्होंने जल्दीसे बाहर निकलकर अपने-अपने वस्त्र पहन लिये। परन्तु मदान्ध सुन्दर जहाँ-का-तहाँ उच्छृङ्खलभावसे खड़ा रहा। महर्षि वसिष्ठने उसके इस अनुचित कृत्यको देखकर डाँटा और कहा—'नीच गन्धर्व! तू इस पवित्र क्षेत्रमें, इस पावन नदीमें, इतना गर्हित कृत्य कर रहा है! तू गन्धर्व रहने योग्य नहीं है; जा, राक्षस हो जा।' वसिष्ठके शाप देते ही उसकी स्त्रियोंने दौड़कर महर्षिके चरण पकड़ लिये। उन्होंने प्रार्थना की कि 'हे महर्षे! आप बड़े शक्तिमान्, धर्मज्ञ और दयालु हैं। आप हमलोगोंकी ओर देखकर हमारे पतिदेवपर क्रोध न करें। पति ही स्त्रियोंका शृङ्गार है, पति ही सती स्त्रियोंका जीवन है; यदि सौ पुत्र हों तो भी पतिके बिना स्त्री विधवा कही जाती है। पतिके बिना स्त्रीका जीवन शून्य है। हे दयासागर, आप हमपर प्रसन्न हों। हम स्त्रियोंके सम्मानके लिये हमारे स्वामीपर कृपा करें। उनका यह एक अपराध अपनी दयालुतासे हमारी ओर देखकर क्षमा कर दें; वे आपके सेवक हैं, आपकी आज्ञाकी प्रतीक्षामें हैं।' महर्षि वसिष्ठ प्रसन्न हो गये, उन्होंने कहा—'देवियो, तुम्हारा पतिप्रेम आदर्श है, परन्तु मेरी बात कभी झूठी नहीं होती, मैं जान-बूझकर कभी झूठ नहीं बोलता, इसलिये अनजानमें कही हुई बात भी सत्य हो जाती है। इसलिये सुन्दरको राक्षस तो होना पड़ेगा; परन्तु आजके सोलहवें वर्ष जब यह भगवान्‌के भक्त पद्मनाभपर आक्रमण करेगा, तब सुदर्शन चक्र इसका उद्धार कर देंगे।'

आज वही सोलहवाँ वर्ष पूरा होनेवाला था। राक्षस बड़े वेगसे भाग रहा था, परन्तु सुदर्शन चक्रसे बचकर कहाँ जा सकता था! देखते-ही-देखते, सुदर्शन चक्रने उसका सिर काट लिया और तत्क्षण वह राक्षस गन्धर्व हो गया। दिव्य शरीर, दिव्य वस्त्र एवं दिव्य आभूषणोंसे युक्त होकर सुन्दरने सुदर्शन चक्रको प्रणाम करते हुए स्तुति की—'हे भगवान्‌के परमप्रिय आयुध! मैं आपको बार-बार नमस्कार करता हूँ। आपका तेज कोटि-कोटि सूर्यसे भी अधिक है। आप भक्तोंके द्रोहियोंका संहार करते हैं। आपने कृपा करके मुझे राक्षसयोनिसे मुक्त किया। अब मैं गन्धर्व होकर अपने लोकमें जा रहा हूँ, आप सर्वदा मुझपर कृपा रखिये। मुझे आप ऐसा वरदान दीजिये कि मैं आपको कभी न भूलूँ और सर्वदा आपका स्मरण करता रहूँ। मैं चाहे जहाँ रहूँ, मेरा मन आपकी सन्निधिमें रहे।

सुदर्शन चक्रने 'तथास्तु' कहकर उसकी अभिलाषा पूर्ण की। उसने दिव्य विमानपर सवार होकर अपने लोककी यात्रा की।

भक्त पद्मनाभने सुन्दरके गन्धर्वलोकमें चले जानेपर सुदर्शन चक्रकी स्तुति की—'हे सुदर्शन, मैं तुम्हें बार-बार प्रणाम करता हूँ। तुम्हारे जीवनका व्रत है संसारकी रक्षा। इसीसे भगवान्‌ने तुम्हें अपने कर-कमलोंका आभूषण बनाया है। तुमने समय-समयपर अनेक भक्तोंको महान् विपत्तियोंसे बचाया है, मैं तुम्हारी इस कृपाका ऋणी हूँ। तुम सर्वशक्तिमान् हो, मैं तुमसे यही प्रार्थना करता हूँ कि तुम यहीं रहो और सारे संसारकी रक्षा करो।' सुदर्शन चक्रने भक्त पद्मनाभकी प्रार्थना स्वीकार की और कहा—'भक्तवर! तुम्हारी प्रार्थना कभी व्यर्थ नहीं हो सकती, क्योंकि भगवान्‌के तुम परम कृपापात्र हो। मैं यहीं तुम्हारे समीप ही सर्वदा निवास करूँगा। तुम निर्भय होकर भगवान्‌की सेवा-पूजा करो। अब तुम्हारी उपासनामें किसी प्रकारका विघ्न नहीं पड़ सकता।' भक्त पद्मनाभको इस प्रकार वरदान देकर सुदर्शन चक्र सामनेकी पुष्करिणीमें प्रवेश कर गये। इसीसे उसका नाम चक्रतीर्थ हुआ।

भगवान्‌की कृपाका प्रत्यक्ष अनुभव करके भक्त पद्मनाभका हृदय प्रेम और आनन्दसे भर गया। वे और भी तन्मयता तथा तत्परतासे भगवान्‌की सेवा करते हुए अपना जीवन व्यतीत करने लगे। ऐसे प्रेमी भक्तोंका जीवन ही धन्य है, क्योंकि वे पल-पलपर और पग-पगपर भगवान्‌की अनन्त कृपाका अनुभव करके मस्त रहा करते हैं।

धन्य हैं प्रेमी भक्त और उनके प्रियतम प्रभु!

मरकर क्या जाना?

(लेखक—महात्मा श्रीबालकरामजी विनायक)

देवीदत्त और जगन्मोहन फोर्ट विलियम (Fort William) कालेजके स्नातक थे। पहला ब्राह्मण और दूसरा क्षत्रिय था, पर सगे भाईसे बढ़कर दोनोंमें प्रेम था। जगन्मोहनका देहान्त २१ वर्षकी अवस्थामें हैजे (Cholera) से हो गया। मित्रके वियोगमें देवीदत्त बहुत दुखी हुआ। इस दुःखके निवारणके लिये उसने अनेक उपाय किये, असफल प्रयत्न किये। पर उसका हृदय वियोगजन्य अग्निसे रात-दिन ऐसा दग्ध रहता था कि किसी उपायसे उसे शान्ति नहीं मिलती थी। उसे यही धुन सवार थी कि प्यारे जगन्मोहनकी आत्मा कहाँ गयी, उसे फिर पा सकते हैं या नहीं? वह इधर-उधर जंगल-झाड़ियोंमें घूमने लगा। घूमते-घूमते वह रानीखेतके जंगलमें जा पहुँचा। मित्रलाभकी उत्कण्ठामें वह एक वृक्षके नीचे बैठकर रोता-रोता बेहोश हो गया। पूज्य महात्मा श्रीपरमहंस द्वारकादासजी शौचसे निवृत्त होकर उधर ही जा रहे थे। उसे बेहोश देखकर ठहर गये। उसे सचेत करके सब हाल-चाल पूछा। महात्माने उसे कोई ऐसी युक्ति बता दी, जिसके प्रभावसे उसे दर्शन देकर जगन्मोहनने कहा—'मित्र! मैं कई दिनोंसे तुम्हें खोजता रहा हूँ। मैं विदेश चला गया था। तुम प्रसिद्ध दार्शनिक डार्विन (Prof. Darwin) को जानते ही हो। जीते-जी तो उनकी बनायी पुस्तकें पढ़ता रहा, पर मरनेपर उनसे भेंट हो गयी और तुम्हारी ही तरह उनसे घनिष्ठ मित्रता हो गयी। उन्हींके साथ मैं पश्चिमके देशोंमें घूमता रहा हूँ। अब लौटकर आया हूँ। मेरे साथ डार्विन भी हैं। देखो, बायीं तरफ खड़े हैं। तुम डरते क्यों हो? डरो मत। प्रेत-आत्माओंका भयानक वर्णन सुनकर तुम्हारे मनमें जो भयका सञ्चार हो गया है, उसे दूर कर दो। मैं तुमको परलोककी असली बात बता देता हूँ। परलोक कहाँ है, सो तो भगवान् ही जानें; पर भूमण्डलसे सम्बद्ध अवश्य है। अनन्ताकाशके गर्भमें स्थित है। इसमें असंख्य खण्ड और लोक हैं। हमलोग तो सबसे

नीचेवाले लोकमें हैं। ऊपरके लोकोंमें क्या है, सो तो हम उसी तरह नहीं जानते जिस तरह तुम हमारे यहाँकी बात नहीं जानते। यहाँ भूलोककी ही तरह सब व्यवहार है। जो जिस तरहका है, जिस विचारका है, उसीमें उसकी यहाँ भी रति है। भोजन, वस्त्र, सोना-जागना, सब व्यवहार वैसा ही है, केवल स्थूल-सूक्ष्मका भेद है। इस पुर्यष्टक लोकमें बड़ी स्वतन्त्रता है और कालकी गति अति तीव्र है। तुम्हारे हिसाबसे तो चार-पाँच वर्ष ही जुदा हुए बीते होंगे, पर मुझे मालूम होता है कि कई हजार वर्षसे मैं इस लोकमें हूँ और यह भी समझता हूँ कि सदा यहाँ बना रहूँगा। पर ऐसा हो नहीं सकता; क्योंकि मेरे मित्र डार्विन शीघ्र ही भूतलमें जन्म लेनेवाले हैं। मुझे भी जन्म लेना पड़ेगा।

'अब डार्विन तुमसे बातचीत करनेके लिये बहुत उत्सुक हो रहे हैं। तुम इनसे जो कुछ पूछना चाहते हो, पूछ लो। फिर भी कहता हूँ, डरो मत।'

देवीदत्तने पूछा—'आपने जीते-जी तो बहुत जानकारी प्राप्त की, पर अब बताइये कि मरकर आपने कौन-सा ज्ञान सम्पादन किया।'

इसके उत्तरमें डार्विनने कहा—

(१) सब लोग जानते हैं कि मैंने अनेक युक्तियों और उदाहरणोंसे सिद्ध किया था कि मनुष्ययोनिका विकास वानरसे हुआ है; परन्तु अब मुझे ज्ञात हुआ है कि केवल ट्यूटन (Teuton) जातिका ही विकास वानरसे हुआ है और किसीका नहीं। जैसे कोलंबस इंडिया (भारत) की खोजमें निकला था, पर वह अमेरिकामें जा पहुँचा और भ्रमवश उसे ही उसने इंडिया समझा, उसी तरह मैं मानवी विकासके अनुसन्धानमें तत्पर हुआ, पर पता पाया ट्यूटन-जातिके विकासका और भ्रमसे इसे ही मैंने मनुष्यमात्रका विकास समझ लिया। यह भ्रम अब दूर हो गया।

(२) पुनर्जन्मपर तो प्रकारान्तरसे जीवनावस्थामें ही मेरा विश्वास हो गया था, पर वह इतना स्पष्ट नहीं था जितना अब है।

(३) अध्यात्मविद्याके समान कोई विद्या नहीं है, यह मुझे अब विदित हुआ है और अब मैं यही चाहता हूँ कि मेरा जन्म इंडियामें होता तो मैं इस विद्याको प्राप्त करता, पर ऐसी सम्भावना दीखती नहीं।

और बहुत-सी बातें हैं, उन्हें कहाँतक गिनावें ?

गृहस्थका ब्रह्मचर्य

(लेखक—एक विद्वान्)

हिन्दू-जाति धर्मप्रधान जाति है। इसके प्रत्येक कृत्य धर्मसे सम्बद्ध हैं। जन्मसे मृत्युपर्यन्त जितने कर्मोंका विधान है—इस जातिमें, सब धर्मकी दृष्टिसे है। परन्तु सबके लिये सामान्य रूपसे दया, क्षमा आदि धर्मोंका विधान रहनेपर भी विशेष अधिकारियोंके लिये धर्मकी पृथक्-पृथक् व्यवस्था भी है। सब लोग एक ही प्रकारके कर्म नहीं कर सकते। सबके लिये एक ही प्रकारके नियम उपयुक्त नहीं हो सकते। इसी दृष्टिसे वर्ण और आश्रमोंका विभाजन किया गया है। प्रत्येक व्यक्ति अपने योग्य आश्रममें निवास करके अपने अधिकारानुसार धर्मका सेवन करे। जो अपने अधिकारके प्रतिकूल धर्मसेवन करता है वह पतित हो जाता है। क्योंकि एक व्यक्तिके लिये जो धर्मरूपसे स्वीकृत हुआ है, वह किसी दूसरेके लिये अधर्म भी हो सकता है। दूसरोंका अधर्म भी किसीके लिये धर्म हो जाता है। शास्त्रोंमें इसकी समुचित व्यवस्था है। अधिकारभेदसे ही शास्त्रोंकी एकवाक्यता हो सकती है। सङ्गति लगनेका केवल यही एक उपाय है।

एक ब्रह्मचर्यको ही ले लीजिये। प्रत्येक आश्रममें इसका स्वरूप पृथक्-पृथक् बतलाया गया है। ब्रह्मचारी और गृहस्थ दोनों ही ब्रह्मचर्यका पालन कर सकते हैं। दोनोंके ब्रह्मचर्यमें प्रकारभेद अवश्य रहेगा। गृहस्थ भी

ब्रह्मचारी हो सकता है—यह एक अनहोनी-सी बात है, परन्तु शास्त्रोंमें तो यहाँतक कहा गया है कि गृहस्थ ब्रह्मचारीसे भी श्रेष्ठ हो सकता है। देखिये—स्कन्द-पुराण काशीखण्ड पूर्वार्द्ध १० अध्याय—

> ब्रह्मचर्यं हि गार्हस्थ्ये यादृक् कल्पनयोज्झितम्।
> स्वभावचपले चित्ते न तादृग् ब्रह्मचारिणि॥
> हठाद्वा लोकभीत्या वा स्वार्थाद्वा ब्रह्मचर्यभाक्।
> सङ्कल्पयति चित्ते चेत् कृतमप्यकृतं तदा॥
> परदारपरित्यागात् स्वदारपरितुष्टितः।
> ऋतुकालाभिगामित्वाद् ब्रह्मचारी गृहीरितः॥
> वैराग्याद् गृहमुत्सृज्य गृहधर्मान् हृदि स्मरेत्।
> स भवेदुभयभ्रष्टो वानप्रस्थो न वा गृही॥

'गृहस्थ-आश्रममें जितना सुन्दर, जैसा कल्पनातीत ब्रह्मचर्य होता है, वैसा ब्रह्मचर्य स्वभावतः चपल चित्त-वाले ब्रह्मचारीमें कैसे हो सकता है ? हठसे, लोकलाज-से, स्वार्थसे ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए जो चित्तसे स्त्रीका सङ्कल्प करता है, उसका ब्रह्मचर्य ब्रह्मचर्य नहीं है, व्यर्थ है। परस्त्रीका वर्जन करनेके कारण, अपनी धर्मपत्नीमें ही सन्तुष्ट रहनेके कारण तथा केवल ऋतु-कालमें ही गमन करनेके कारण—गृहस्थको भी ब्रह्मचारी ही कहा गया है। क्षणिक वैराग्यके आवेशमें जो स्त्री-का परित्याग कर बैठते हैं, परन्तु मनमें उसका स्मरण करते हैं—वे वानप्रस्थ तो उभयभ्रष्ट हो जाते हैं, परन्तु गृहस्थके लिये ऐसा अवसर ही नहीं है।'

जहाँ ब्रह्मचर्य-आश्रममें स्त्रीका स्मरण, सम्भाषण भी अधर्म माना गया है, वहाँ गृहस्थ-आश्रममें धर्मानुकूल नियमित और मर्यादित स्त्री-सहवास भी ब्रह्मचर्य ही स्वीकार किया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि समस्त शास्त्रोंने एक स्वरसे ब्रह्मचर्यकी महिमा स्वीकार की है। वे सब प्रकारके अधिकारियोंको ब्रह्मचर्यसे रहनेके लिये विशेष-विशेष प्रकारसे प्रेरणा करते हैं। जो लोग अत्यन्त कामुक हैं—गीताके शब्दोंमें 'कामात्मानः' हैं उनके लिये भी इस जीवनमें ब्रह्मचर्यका विशेष विधान है। कल्याणके नवें अङ्कके एक लेखमें जो यह छपा है कि इस लोकमें ब्रह्मचर्यका पालन करनेसे परलोकमें सुन्दर-सुन्दर अप्सराएँ मिलती हैं, इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि अप्सराओंको प्राप्त करनेके उद्देश्यसे ब्रह्मचर्य-का पालन करना चाहिये। उसका शास्त्रीय भाषामें एकमात्र यही तात्पर्य है कि कामुक लोग यदि पार-लौकिक कामनापूर्तिपर विश्वास करके ब्रह्मचर्यका पालन करें तो उन्हें उसका चसका लग जाय। जो ब्रह्मचर्य-पालनका रस अनुभव कर लेते हैं, वे परलोकमें भी उस व्रतको खण्डित नहीं करना चाहते, नहीं करते। शास्त्र-का तात्पर्य अप्सराओंको ब्रह्मचर्यका उद्देश्य बनानेमें नहीं है, उन्हींमें फँसा रखनेमें नहीं है, बल्कि इसी लोभ-से उत्तम कर्म कराकर समस्त वासनाओंको धो डालने-में है। मीमांसाशास्त्र स्पष्ट शब्दोंमें कहता है—फल-श्रुतिका तात्पर्य विधिकी परिपुष्टिमें है, फलमें नहीं। दूसरी बात यह है कि पुराने जमानेमें कर्मकाण्डियोंका एक दल ऐसा भी था जो स्वर्गको ही परमधाम मानता था और अप्सराओंके विहारको ही सुख मानता था। उनकी दृष्टिका अनुवाद करते समय भी ऐसी बातें कही जाती हैं। वह सिद्धान्तरूपसे स्वीकृत नहीं है—एक पक्ष है, जो कि साधकोंके अपनाने योग्य नहीं है।

इसी अधिकार-भेदको न जाननेके कारण शास्त्रोंका अर्थ समझनेमें भूल होती है। प्राचीनकालमें शास्त्रोंका अध्ययन गुरुओंके हाथमें था। जिसका जैसा अधिकार देखते उसको उसके अधिकारके अनुरूप ही शास्त्रोंका अध्ययन कराते। आजकल लौहयन्त्रोंकी कृपासे सभी प्रकारके शास्त्र सब लोगोंको सुलभ हो गये हैं। यह देशका दुर्भाग्य है अथवा सौभाग्य यह भगवान् ही जानें। परन्तु हमलोगोंको इस बातकी सावधानी तो रखनी ही चाहिये कि हम कहीं अपने अधिकारके बाहरकी बातोंको न स्वीकार कर लें। पूरे शास्त्रका क्या तात्पर्य है, यह निर्णय करनेमें बड़े-बड़े विद्वान्

भी सन्देहमें पड़ जाते हैं फिर जिन्होंने शास्त्रका एक अंश अथवा दो-चार वाक्य ही पढ़ रखे हैं वे समस्त शास्त्रोंकी एकवाक्यता करके तात्पर्य तो क्या निकाल सकते हैं !

उदाहरणार्थ, कल्याणके गताङ्कके एक लेखमें ऐसा छपा है कि एक बार गर्भाधान हो जानेके बाद पत्नी माता हो जाती है। ठीक है, परन्तु सर्वसाधारण इसका क्या अर्थ समझे ? इतना ही क्यों, शास्त्रोंमें तो यहाँतक वर्णन आता है कि जिसका एक बूँद भी वीर्य कभी किसी कारणसे स्खलित हो गया, वह ब्रह्मचर्यहीन हो गया—आदर्श ब्रह्मचारी नहीं रहा। इन बातोंका एक अर्थ है और वह बहुत सीधा है।

जीवके परमाराध्य, परमध्येय परमात्मा ही हैं। उसका एकमात्र यही धर्म है कि निरन्तर परमात्मामें स्थित रहे। ऐसा न कर सकनेपर उसके लिये चेष्टा करता रहे। यदि निरन्तर ध्यानकी ही चेष्टा न रह सके तो ऐसे कर्म करने चाहिये जो ध्यानके सहायक हों। यदि ऐसा न हो सके तो कम-से-कम बुरे कर्म न करके अच्छे कर्म करे। दुष्कर्मसे सत्कर्म अच्छा, सत्कर्मसे ध्यानके सहायक कर्म अच्छे, उनसे भी ध्यान अच्छा और ध्यानसे भी समाधि अच्छी। परन्तु, सबसे अच्छी समाधि है—यह निश्चय होनेपर भी हमें और कर्म करने ही पड़ेंगे; क्योंकि हम एकाएक समाधिस्थ नहीं हो सकते।

मनुष्य-जीवनका उद्देश्य भोग नहीं है, परमात्माकी प्राप्ति है। विवाहका भी यही उद्देश्य है कि हम अपनी काम-वासनाओंको एक मर्यादामें सीमित रखकर उनसे ऊपर उठ सकें। यदि विवाह न करके मन पवित्र रहे, निरन्तर परमात्माका चिन्तन हुआ करे तो कौन कहेगा कि आप विवाह करें ही, परन्तु हमारी वैसी स्थिति नहीं है। हम विवाह न करें तो हमारा जीवन उच्छृङ्खल एवं पापमय हो जाय, इसलिये हमें विवाह करना ही पड़ता है। यह परिसंख्याविधि है। विवाह होनेपर भी यदि कोई दम्पती (पति-पत्नी) प्रसन्नतासे, संयमसे, सदाचारसे, पारस्परिक सहयोगसे ब्रह्मचर्यका जीवन व्यतीत करें तो उनकी श्रेष्ठतामें क्या सन्देह है ! यदि ऐसा न कर सकें तो एक पुत्र उत्पन्न कर लें। इतनेपर भी सन्तोष नहीं हो तो और भी पुत्र उत्पन्न करें। पाप न करें, पापकी ओर कभी मन न जाय—यही सिद्धान्त है। इनमेंसे जो जिस अधिकारका है, उसके लिये वैसे ही शास्त्रवचन हैं। भगवान् मनुने कहा है कि यह तो जीवोंकी प्रवृत्ति है, इनसे निवृत्त हो जाना अत्यन्त श्रेष्ठ है। यह तो सभी स्वीकार करेंगे कि एक सन्तानसे ही सन्तोष हो जाय तो बहुत सन्तान उत्पन्न न करना ही श्रेष्ठ है। श्रुति कहती है—'बहुप्रजाः कृच्छ्रमापद्यते।' बहुत सन्तानवालोंको कष्ट होता है। परन्तु यदि हमारा ऐसा अधिकार न हो, इस प्रकारका वैराग्य और विवेक हमारे चित्तमें न आया हो तो और सन्तान उत्पन्न करना पाप नहीं है। मन स्त्रीका चिन्तन करता हो, शरीरसे परस्त्रीका स्पर्श हो जानेकी सम्भावना हो तब तो अपनी स्त्रीसे बहुल-से पुत्र उत्पन्न करना धर्म है। मनुस्मृतिमें कहा गया है—

अधीत्य विधिवद्वेदान् पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत्॥

'विधिपूर्वक वेदोंका अध्ययन करके, धर्मके अनुसार पुत्रोंको उत्पन्न करके और शक्तिके अनुसार यज्ञोंके द्वारा भगवान्‌को प्रसन्न करके तब मनको मोक्षमें लगाना चाहिये।'

इस श्लोकमें स्पष्ट कहा गया है कि 'पुत्रान्' बहुत-से पुत्र उत्पन्न करके। यदि एक बार गर्भाधान हो जानेके पश्चात् स्त्री-सहवास सर्वदाके लिये निषिद्ध होता तो ऐसा कहनेका कोई प्रयोजन ही नहीं था। अनेकों प्रवृत्तिमार्गी ऋषियों और राजर्षियोंके भी एक स्त्रीसे एकाधिक सन्तानकी उत्पत्तिका वर्णन मिलता है। वह सब धर्मविरुद्ध नहीं है, धर्मानुकूल काम है।

प्रश्न यह होता है कि फिर पत्नीको माताके रूपमें कहनेका तात्पर्य क्या है ? अवश्य ही यह विचारणीय प्रश्न है। कल्पना कीजिये कि एक मुमुक्षु कुछ दिनों-तक गृहस्थाश्रममें रहकर अब संन्यास लेना चाहता है। उसके चित्तमें सांसारिक भोगोंकी वासनाएँ अब नहीं रही हैं। वह संसारको दुःखमय देख रहा है, उसके चित्तमें तरह-तरहकी युक्तियाँ स्फुरित हो रही हैं

कि संसार हेय है, तुच्छ है, दुःख है। उसकी बुद्धि संसारके दोष-पर-दोष गिना रही है। इसी स्थितिमें 'आत्मा ही पुत्रके रूपमें पैदा होता है'—यह श्रुति उसके ध्यानमें आयी। कोई सांसारिक पुरुष होता तो सोचता कि अहा! पुत्र कितना ममतास्पद है, वह तो अपनी आत्मा ही है। परन्तु इसी श्रुतिके ध्यानमें आनेसे विरक्त मुमुक्षुके चित्तमें यह बात आती है कि अरे तब तो अनर्थ हो गया। जिसके गर्भसे मैं पुत्रके रूपमें उत्पन्न हो गया, वह तो मेरी माता हो गयी। यही अधिकारकी बात है, जिससे रागी फँसता है उसीसे विरागी मुक्त होता है। श्रुतिका वास्तविक अर्थ तो दूर ही रहा। दोनोंने अपनी-अपनी भावनाके अनुसार दो अर्थ सोच लिये। दोनों ही ठीक हैं दोनोंके लिये। वे एक दूसरेके अर्थपर आश्चर्य कर सकते हैं—लड़ाई भी कर सकते हैं; क्योंकि उन्हें अपनी-अपनी भावनाओंपर आग्रह है, परन्तु तत्त्ववेत्ता पुरुष इन दोनों आग्रहोंको बालचेष्टा समझते हैं। उनके लिये दोनों ही अर्थ उनके अपने-अपने अधिकारके अनुसार ठीक हैं।

इससे यह तो निश्चय हो जाता है कि श्रुतिने जो पुत्रको आत्मारूपमें वर्णन किया है उसका तात्पर्य न तो पुत्रके प्रति ममताके विधानमें है और न स्त्रीको माता बतलानेमें ही है। रागी उसको ममताविधायक समझता है और विरागी स्त्रीको माताके रूपमें वर्णित समझता है। तत्त्ववेत्ता जानता है कि आत्माके अतिरिक्त और कोई वस्तु है ही नहीं। इसलिये सब आत्मा ही है। पुत्र हड्डी-मांसका पुतला नहीं है, आत्मा है। उपासकके लिये भी इस वचनकी सार्थकता है। पुत्रको पुत्ररूपमें न देखकर आत्माके रूपमें—अपने परमात्माके रूपमें देखे। 'अन्नं ब्रह्म' 'प्राणो ब्रह्म' आदिकी तरह पुत्रमें परमात्मभावना भी आगे चलकर परमात्माके स्वरूपको प्रकट कर देती है। इस श्रुतिका कर्मकाण्डमें भी प्रयोग होता है और संस्कारमें पिता पुत्रका स्पर्श करके कहता है—हम-तुम दो नहीं, एक हैं। हमारे जीवनका उद्देश्य एक है। इत्यादि।

'कल्याण'के उस लेखमें पुत्रको आत्मा कहनेका जो अभिप्राय व्यक्त किया गया है वह केवल एक दृष्टिसे है और उसका वही अधिकारी है जो संसारका त्याग करके संन्यासके लिये व्याकुल हो रहा है। उसकी दृष्टिसे उस श्रुतिका जो अर्थ हो सकता है केवल उसीका उस लेखमें वर्णन है। इसलिये साधारण गृहस्थोंको उसे पढ़कर भ्रममें नहीं पड़ना चाहिये। गृहस्थका ब्रह्मचर्य वर्जित तिथियोंको छोड़कर ऋतुकालमें अपनी पत्नीके धर्मानुकूल सहवाससे भङ्ग नहीं होता—बल्कि सुरक्षित ही रहता है। स्त्री और पुरुष दोनों एक-दूसरेके पूरक हैं, एक-दूसरेके कवच हैं। यदि दोनों शुद्ध हृदयसे अपने धर्मका अनुसरण करें तो दोनों ही परमात्माको प्राप्त कर सकते हैं। क्योंकि परमात्माकी प्राप्तिमें किसी आश्रमका तो बन्धन है नहीं। फलतः कहीं पढ़-सुनकर अपने अधिकारके बाहरकी बात नहीं अपनानी चाहिये। अपने अधिकारके अनुसार ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये।*

---

* 'कल्याण'के गतांकमें पृष्ठ १६३५में छपा है 'पतिर्जायां प्रविशति' इस श्रुतिसे एक पुत्रकी उत्पत्ति करनेके बाद उस स्त्रीके साथ संग करनेका निषेध किया गया है क्योंकि वह स्त्री पुत्रोत्पत्तिके बाद 'जाया' अर्थात् माताके समान हो जाती है, पुत्रकी उत्पत्तिके पहले वह स्त्री 'जाया' नहीं कहलाती। जाया यानी मातास्वरूप स्त्रीसे संग करना महान् अधर्म है। हमारे पास कुछ पत्र आये हैं जिनसे ऐसा मालूम होता है कि इन वाक्योंको लेकर कुछ भ्रम फैल गया है। शास्त्रोंकी सब बातें सदा सबके लिये समान भावसे पालनीय नहीं हुआ करतीं। वर्ण, आश्रम, देश, काल, पात्र और शारीरिक तथा मानसिक स्थिति आदिके भेदसे अधिकारीके अनुसार ही उनका प्रयोग हुआ करता है। परमार्थविद् लोग तो यहाँतक कह देते हैं कि मुमुक्षुके लिये कर्ममात्र (चाहे पुण्य हो या पाप) दोनों ही मोक्षमें बाधक होनेके कारण पाप हैं। परन्तु इसका जैसे यह अर्थ नहीं होता और न कोई यह मानता ही है कि पुण्य कर्म भी पाप-कर्म है और पुण्य नहीं करने चाहिये। इसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिये। श्रुतिका अर्थ संयममें है, न कि पत्नीको माता सिद्ध करनेमें! ऊपर छपे हुए हमारे सम्मान्य 'एक विद्वान्' के लेखमें यह बात भलीभाँति दिखला दी गयी है। आशा है अब कोई भ्रम नहीं रहेगा। इसके सिवा किसी-किसीका यह भी कहना है कि इन श्लोकोंका अर्थ ही दूसरा है; यों तो व्याकरणके विद्वान् किसी भी श्लोकके विभिन्न अर्थ कर सकते हैं और सम्भव है कि इसका भी दूसरा अर्थ हो, परन्तु हमारी इस सम्बन्धमें कोई विशेष जानकारी नहीं है, इसलिये हम इस सम्बन्धमें कुछ भी कहनेमें असमर्थ हैं।—सम्पादक

क्या हम आस्तिक हैं ?

(लेखक—श्रीरामनाथजी 'सुमन')

बहुत दिन हो गये, वेदना-विगलित हृदयसे गांधीजी-ने कहा था कि 'यदि एक भी सच्चा ब्राह्मण हमारे देशमें हो तो गोहत्या नहीं हो सकती ।' उस समय अनेक ब्राह्मण बन्धु लाल-पीले भी हुए—यद्यपि इससे बढ़कर ब्राह्मणत्वका सम्मान क्या हो सकता है ? आज ब्रह्मबलसे समाज और विश्व शासित नहीं है, इसीलिये इतनी प्रवञ्चना, इतना प्रमाद और इतना कालुष्य हममें एकत्र हो गया है । इस ब्रह्मबलसे सचमुच एक ब्राह्मण (अथवा कोई भी हरिमय जन) दुनियाका कायापलट कर सकता है । प्राचीनकालमें भी ऐसा अनेक बार हो चुका है; हमारे धर्मग्रन्थ ऐसे उदाहरणों और उपाख्यानोंसे भरे हुए हैं ।

सच्चा ब्रह्मबल विशुद्ध और घनीभूत आस्तिक्यका द्योतक है । और आस्तिक होना कोई हँसी-खेल नहीं है । प्रायः हमलोग आधुनिकोंको, उनकी चाल-ढाल और वेश-भूषा देखकर नास्तिक कह देते हैं; परन्तु यदि विचार करें तो हममें और उनमें कुछ अधिक अन्तर नहीं होगा । उनको नास्तिक कहकर जब हम प्रकारान्तरसे अपने आस्तिक होनेकी घोषणा कर रहे होते हैं, तब भी हमारी आस्तिकता केवल मौखिक होती है । हममेंसे अधिकांश लोग केवल परम्परासे आस्तिक बने हुए हैं । हमारे पिता-पितामह ऐसा मानते थे, इसलिये हम भी मानते जा रहे हैं । यह ठीक है कि इस प्रकारकी परिस्थितिमें जन्म पाना भी पूर्वसंस्कारोंके कारण ही सम्भव है; परन्तु जबतक हम अपनी इस परिस्थितिका समुचित उपयोग नहीं कर पाते हैं, तबतक वह न होने-जैसी ही समझनी चाहिये । जब हम अपनी स्थितिके प्रति जाग्रत् नहीं हैं, जब हम अपने साधनोंकी ओर गहरी उपेक्षा रखते हैं, तब उनका होना क्या और न होना क्या !

आजकी दुनियामें जो बात मुझे सबसे अधिक असह्य मालूम होती है, वह है किसी भी चीजमें विश्वास न कर सकनेकी हमारी अक्षमता । आज हमारे जितने भी विश्वास हैं, सब हमारे स्थूल जीवनकी सतहतक ही रह जाते हैं; भीतर—हृदयकी गहराईमें—उनका प्रवेश नहीं । और कभी-कदाचित् उसकी एक-आध शिरा हमारे प्रस्तर-हृदयको बेधकर अंदर पहुँचती भी है तो वहाँ कोई रस न मिलनेके कारण वह दृढ़तापूर्वक जम नहीं पाती । आजके एक औसत युवकको लीजिये । वह ईश्वरको मानता है तो उसकी उनके अस्तित्वमें दृढ़ श्रद्धा नहीं है । यदि नहीं मानता तो भी इसलिये नहीं कि वह दुनियाके दर्शनशास्त्रों या आध्यात्मिक विचारधाराओंका अध्ययन करने अथवा निरन्तर गूढ़ चिन्तन करनेके बाद इसी निष्कर्षपर पहुँचा है । नहीं, उसमें इतना सत्त्व नहीं कि वह सत्यानुसन्धानके लिये इस तरहका कष्ट उठावे । वह तो विना अध्ययन वा चिन्तनके ही कह देता है—'मेरा इन बातोंमें विश्वास नहीं ।' सच तो यह है कि उसका न कोई विश्वास होता है न अविश्वास । यह जीवनके सारभूत सत्योंके प्रति केवल उसकी लापरवाहीका द्योतक है । वह इसका मूल्य ही नहीं समझता । वह इसपर विचार ही नहीं करना चाहता और विना देखे और विचार किये असाधारण जल्दबाजीके साथ उसपर अपनी एक आमतौरसे बाजारमें सब जगह मिलनेवाली राय दे देता है ।

यही वह चीज है, जो मुझे सबसे अधिक असह्य लगती है । जहाँ अविश्वास है, वहाँ मैं स्थितिको समझ सकता हूँ; उसमें सुधारके लिये प्रयत्न भी कर सकता हूँ । क्योंकि अविश्वासकी स्थिति भी विना विश्वासके सम्भव नहीं है । अविश्वास स्वयं एक प्रकारका विश्वास है । अपने सर्वोत्तम रूपमें यह आत्मशोधन या सत्य-

शोषका लक्षण है; अपने निकृष्ट रूपमें यह विकृत और स्थानच्युत विश्वास है। पर जहाँ विश्वास और अविश्वास दोनोंके प्रति गहरी उपेक्षा है, जहाँ हृदयकी ग्रहण-शक्तिका उपयोग ही नहीं है और विवेक एवं चिन्तना-शक्तिको कष्ट देनेकी तैयारी भी नहीं है, वहाँ क्या किया जा सकता है? सिवा इसके कि हम अपनी गहरी वेदना और सहानुभूतिके कारण रोयें और प्रभुसे प्रार्थना करें कि ऊसरको मुलायम और बीज बोनेके लायक करे।

मेरे पूज्य गुरुदेवने एक बार कहा था कि जो आस्तिक है, वह कभी कोई पाप कर ही नहीं सकता। यदि हम सचमुच विश्वास करते हैं कि प्रभुकी उपस्थिति सर्वत्र है और वह सब कुछ देख रहा है, तो हम कैसे कोई अधार्मिक कार्य कर सकते हैं? पर व्यवहारमें यह कहाँ होता है? हम सड़कसे चले जा रहे हैं; सामने एक चमकता रत्नाभूषण पड़ा है। इधर-उधर देखा, कोई नहीं है, उठा लिया। खुश हैं, फूले नहीं समा रहे हैं। भगवान्‌का पूजन करते हैं और अपनी आस्तिकतापर गर्व। अपनेको दीक्षित कहते हैं, दीक्षितकी श्रेष्ठतापर बहस करते हैं। पर व्यापार-व्यवसायमें अथवा जहाँ भी स्वार्थका प्रश्न आता है, जानवरोंका-सा व्यवहार करते हैं। रुपयेके आगे भगवान्‌को भूल जाते हैं। कोई साधु-संत याद दिलाता है तो उसकी ओर यों देखते हैं, जैसे वह हमारा शत्रु हो या यह कहकर जान छुड़ाते हैं—'बाबा, यह तो दुनिया है; ऐसा तो होता ही है।' हम कोई पाप-कर्म करते समय इस बातका सदा ध्यान रखते हैं कि किसी-की नजर न पड़े; परिस्थिति ऐसी बनाते हैं कि लोगोंकी दृष्टिमें निर्दोष बने रहें, लोगोंके मनसे न उतरें, लोग हमारी बेइज्जती न करें। अगर हमारी चाल-ढालपर सन्देह किया जाता है तो सन्तोषजनक सफाई देनेका प्रयत्न करते हैं। जब यह सब कर रहे होते हैं, तब भी हम आस्तिक-से होते हैं! प्रभुका हमें उतना भी ध्यान नहीं जितना दुनियाका है। प्रभुका हमें उतना भी भय नहीं जितना दुनियाका है। हम अपने आचरणमें दुनियाका जितना ख्याल रखते हैं, उतना भी भगवान्‌का नहीं रखते। हम दुनियाकी, समाजकी निगाहसे गिर जानेमें अपनी जितनी विडम्बना अनुभव करते हैं, प्रभुकी दृष्टिसे गिर जानेमें नहीं। हम बहुतेरे कर्म शर्मके कारण लोगोंसे छिपकर करते हैं। उस समय मनको समझा लेते हैं—कोई देख थोड़े ही रहा है। फिर भी हम आस्तिक हैं; कहते जाते हैं—ईश्वर सर्वव्यापक है, सर्वान्तर्यामी है, सर्वद्रष्टा है। मुँहसे आस्तिक और कर्मसे, आचरणसे नास्तिक।

आज दुनियामें सर्वत्र ऐसा हो रहा है। 'एक गालपर थप्पड़ मारनेवालेके सामने दूसरा गाल कर दो' का आदेश करनेवाले संत ईसाके अनुयायी खूनकी नदियाँ बहा रहे हैं—अपने ही धर्मको माननेवाली जातियोंके विरुद्ध घोर घृणाका प्रचार कर रहे हैं—एक-दूसरेके विनाशके लिये अपनी सम्पूर्ण बौद्धिक शक्ति तथा सांसारिक समृद्धिका उपयोग कर रहे हैं। यह सब बुरा है, पर इतना भयानक नहीं है, किन्तु आश्चर्य तब होता है जब गिर्जोंमें एक-दूसरेके शीघ्र विनाशके लिये प्रार्थनाएँ की जाती हैं; जब धर्ममन्दिरोंमें तोपें लगायी जाती हैं। धर्मकी, आस्तिकताकी यह कैसी विडम्बना है!

हमारे देशमें ज़रा-ज़रा-सी बातपर दंगे हो जाते हैं। 'यहाँ बाजा नहीं बजेगा'—एक पक्ष। 'यहीं बजेगा' दूसरा पक्ष। बस ठीक मस्जिदके सामने सिर टूटने लगते हैं। बच्चे, स्त्रियाँ—सबका शिकार होने लगता है। आश्चर्य है कि जिस मुसलमान भाईकी नमाज़में बाजेसे बाधा आती थी, उसकी नमाज़ शोर-गुल, मारो-काटो, दंगे-फिसादके बीच भी ठीक चलती है! और जब शहरमें पुलिसका शासन हो जाता है

जब छः बजे शामसे ही घरके बाहर न निकलनेकी आज्ञा प्रचारित की जाती है, तब कोई नमाजका भक्त मस्जिद-में जानेका नाम नहीं लेता। फिर भी उसे पूरा विश्वास है कि वह आस्तिक है—खुदाको सचाईके साथ माने जा रहा है!

हिंदूके विषयमें तो कुछ कहना ही व्यर्थ है; उसने आस्तिकताकी जैसी विडम्बना कर रक्खी है, वैसी कोई क्या करेगा। कण-कणमें भगवान्‌को देखनेवाले तुच्छ स्वार्थोंके कारण अनेक विरोधी टुकड़ियोंमें बँट गये हैं। ईर्ष्या, द्वेष, हिंसा, असत्याचरणसे समस्त जीवन पूर्ण हो रहा है। तब भी अपनी श्रेष्ठताका प्रमाद और अहङ्कार हममें भरा है।

देशका वातावरण इस समय जरा गरम हो रहा है। राजनीति-क्षेत्रमें वक्तव्यों, वाग्युद्धोंका एक तूफान जारी है। एक बंगाली मित्र एक दिन मेरे पास आये। ये परम वैष्णव हैं और भगवान् श्रीकृष्णचैतन्यके अनुयायी और भक्त होनेका इनका दावा है। बातें चलीं; कहने लगे यह गांधी अहिंसा और प्रेमपर इतना जोर क्यों देता है? कहीं शत्रुके प्रति क्षमा और प्रेम सम्भव है? मैंने आँखें फाड़कर उनकी ओर देखा और सोचा—'श्रीचैतन्यकी प्रेम-गङ्गामें इस व्यक्ति-ने कैसे स्नान किया होगा? इसने धर्मको कुछ घंटोंकी चीज समझ रक्खा है।' पर हिंदू-जीवनमें यह बात आज सर्वत्र दिखायी देती है। धर्म जीवनसे अलग हो गया है। आवश्यकतानुसार कपड़ेकी भाँति हम इसका उपयोग कर लेते हैं। जीवन अनेक विभागोंमें बँट गया है। यह खेलनेका समय—यह आफिसका, यह राजनीति या बहस-मुबाहसेका, यह क्लबका; और अगर चंद मिनट बच गये, दूसरा कोई काम न हुआ, तो लावारिस धर्मके साथ भी जरा दिल बहला लिया। बस, उसके सिद्धान्त उसी वक्तके लिये होते हैं। बादमें उनके ठीक विरोधी सिद्धान्तोंका आचरण होता रहता है।

बात यह है कि हममेंसे अधिकांशके लिये धर्म भी एक सौदेकी चीज हो गयी है। हम सोचते हैं 'जरा देर इसको भी सँभाल लिया तो यह हमारे व्यापारमें भी हमारी साख कायम रखता है और उधर परलोक-जैसी जो चीज सुनते आ रहे हैं, वह भी बन जाती है।' इस प्रकार अचल श्रद्धा और विश्वासकी जगह यह व्यावसायिक बुद्धिका प्रयोगमात्र रह गया है।

जीवनमें सर्वत्र अहङ्कार और प्रमाद तथा प्रवञ्चना और प्रतिहिंसा दिखायी देती है। सार्वजनिक जीवनको देखो या निजी जीवनको, कर्तृत्वका मद ऊपरसे नीचे-तक भर रहा है। प्राचीन कालमें धर्माचरणमूलक कोई स्थायी कार्य करते समय लोग अपना नाम छिपाते थे। मध्ययुगतकमें अनेक संत केवल अपने गुरुके नामपर ही पदादि लिखा करते थे। परन्तु आज गुरुको मूर्ख सिद्ध करनेवाले और उनका उपहास करनेवालोंकी संख्या पर्याप्त है। जिसने लिखना शुरू ही किया है, वह भी अपना नाम चाहता है। लोग अपने फोटो और कभी-कभी ब्लाकतक तैयार रखते हैं। अखबारोंने झूठ और प्रमादका विस्तार करनेमें बड़ी सहायता की है। सार्वजनिक कार्यकर्ता चाहते हैं कि किसी तरह मेरा नाम अखबारमें आवे। लोग वक्तव्य तैयार रखते हैं और दूसरोंके द्वारा भी अपना विज्ञापन कराना चाहते हैं। सेवाका मद बढ़ रहा है। मैं सेवक हूँ, मैं दूसरोंसे बढ़कर हूँ—इस तरहका अहङ्कार आज बहुतोंमें दिखायी देगा। इतनी दलबंदी आज क्यों दिखायी देती है? क्या यह कर्तृत्वका अहङ्कार आस्तिकताका सूचक है? क्या यह इस बातकी ओर संकेत नहीं करता कि हम अनात्मवादी होते जाते हैं, प्रभुको भूलते जाते हैं और हमने आत्माकी जगह देहको, स्थूल भौतिक स्वार्थको बिठा दिया है।

मैंने अनेक बार सोचकर देखा है। भारतीय संस्कृतिके लिये मुझे श्रद्धा और आस्तिकताके प्रति

बढ़ती हुई लापरवाही और उपेक्षासे बड़ा कोई खतरा नहीं मालूम पड़ता। जिसको प्रतिक्षण यह स्मरण नहीं है कि जो कुछ उसका है, सब भगवान्‌का है; जो सोते-जागते, उठते-बैठते भगवान्‌में स्थित नहीं है—भगवान्‌के साथ नियोजित या युक्त नहीं है; जिसका मन प्रभुके लिये इस तरह नहीं छटपटाता जैसे बिछुड़ा हुआ बच्चा माँके लिये छटपटाता है; जिसकी आँखोंमें भगवान्‌का स्मरण करते हुए आनन्दाश्रु नहीं उमड़ते और प्रेमसे जिसका हृदय नहीं उमड़ता; जिसने पारिजात वृक्षकी तरह अपना सर्वस्व प्रभुके चरणोंमें नहीं चढ़ा दिया है, वह केवल नामका आस्तिक है। जो प्रभुमय है, वही आस्तिक है। और जो प्रभुमय है, वह निर्विरोध और निर्वैर है। उसका हृदय प्रेमके अमृतसे भरा हुआ है। वह तो यही कह सकता है:—

> अब हौं कासों बैर करौं ?
> कहत पुकारत प्रभु निज मुख तें,
> घट घट हौं बिहरौं।

अथवा:—

> उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध।
> निज प्रभुमय देखहिं जगत का सन करहिं बिरोध ॥

ऐसा व्यक्ति कर्तृत्वके अहङ्कारसे रहित होकर केवल भगवान्‌की इच्छाका वाहक रह जाता है। वह एक नित्य आत्मार्पित प्राणी है।

मांस खाकर मांस बढ़ानेसे घास खाकर मर जाना अच्छा है

(लेखक—श्रीविन्ध्याचलप्रसादजी गुप्त, साहित्यभूषण)

जाड़ेके दिन थे। नदीका किनारा। सन्ध्याका समय। आकाशमें बादल उमड़ रहे थे। ठंढी हवा चल रही थी—सन्-सन्-सनन्।

उसके कंधेपर थी एक बंदूक। और, उसकी आँखें खोज रही थीं—किसी शिकारको। वह शिकारी था।

× × × ×

नदीके किनारे, एक विशाल वट-वृक्षकी डालपर एक चिड़िया बैठी थी—सिमट-सिकुड़कर—अपने बच्चेके साथ।

'धाँय !'

बंदूकका भयानक शब्द हवामें गूँज उठा। भयभीत होकर पक्षी पर फड़फड़ाकर उड़े। चिड़ियाने भी घबड़ाकर आँखें खोल दीं।

आह! उसका नन्हा, प्यारा, मासूम बच्चा रक्त और धूलिमें लथपथ पृथ्वीपर तड़प रहा था।

वह सब कुछ समझ गयी। जानती थी, मृत्यु सिरपर मँडरा रही है। एक ओर बच्चेकी ममता थी और दूसरी ओर—प्राणका भय। विचार करनेका समय न था। काँपकर, वह वृक्षकी डालसे उड़ी।

शिकारीने अपनी बंदूक तान ली—उसकी ओर। सन्धानका प्रयत्न कर रहा था वह। और, चिड़िया अपने बच्चेके शवके चारों ओर चक्कर काट रही थी—तेजीसे।

वह निशाना न लगा सका। देख रहा था वह—चिड़िया ज्यों ही उड़ना बंद करे, वह बंदूक सर कर दे।

× × × ×

सोचा, शिकारीने—मैं इतना अशान्त क्यों हूँ ? वह अभी अपने मृत बच्चेके पास आयेगी।

उसके मातृ-हृदयमें बच्चेका अनुराग है। बच्चेका अनुराग! उफ़! इसके रहस्यका अनुमान कौन लगा सकता है ? अपने बच्चेके लिये, वह तैयार है—मृत्युका सामना करनेको। माँकी दृष्टिमें—अपने जीवनका कोई मूल्य नहीं—बच्चेके लिये।

× × × ×

शिकारीकी बंदूक अब भी तनी थी। परन्तु—वह

अनुभव कर रहा था—उसकी हाथोंकी शक्ति क्षीण हो रही है, उसका हृदय बैठा जा रहा है। चारों ओर चक्कर काटकर, चिड़िया पृथ्वीकी ओर झपटी—बेसुध-सी, खोयी हुई-सी; और, अपने बच्चेके शवके निकट बैठ गयी।

बंदूक शिकारीके हाथोंमें थी, परन्तु उसने निशाना न लगाया। क्योंकि, उसकी अँगुलियोंमें इतनी शक्ति न रह गयी थी—जो बंदूकका घोड़ा दबा सके।

× × × ×

चिड़िया फुदककर अपने बच्चेके शवके और भी समीप आ गयी। दुःखभरी दृष्टिसे उसने एक बार चारों ओर देखा। वह जानती थी—शिकारी उसकी घातमें है। और, प्रतीक्षा कर रही थी—शायद 'धाँय' फिर एक बार सुननेकी।

वही 'धाँय', जिसने उसके प्यारे बच्चेका अन्त कर दिया था; और, उसका भी अन्त कर दे वह—उसके बच्चेकी तरह।

ओह! व्यथासे कैसी-कैसी हो रही थी वह बेचारी।

× × × ×

शिकारीके हाथोंसे बंदूक छूट गयी।···वेदनासे उसका हृदय बिंधने लगा। नेत्रोंमें करुणाकी गङ्गा भर आयी।···

उसने प्रतिज्ञा की—अब वह हत्याके पापका अपराधी न बनेगा। किसी जीवधारीको कष्ट न देगा।

और—उसके रोम-रोममें किसीके ये शब्द अंकित हो चुके थे—

'मांस खाकर मांस बढ़ानेसे घास खाकर मर जाना अच्छा है।'

याचना

(लेखिका—बहिन शक्तिदेवी, 'सुषमा')

'नाथ! ज्यों-ज्यों मैं इन वासनाओंके फंदेसे छूट भागनेका प्रयत्न करती हूँ, त्यों-ही-त्यों आप इसे ढीला करनेके बदले दृढ़ क्यों करते जाते हैं? मेरी अथक तड़पके फलस्वरूपमें मुझे बार-बार इस फंदेकी मनोहरताका राग ही क्यों सुनायी देता है? इस कालिमापूर्ण जगत्‌के कलङ्क और पापोंके उद्गमको, हे नाथ! तुमने इतना आकर्षक और अतृप्त क्यों बना डाला? संसारकी शुभेच्छाओंके परिणामस्वरूप! तुमने इस मृगतृष्णाको इतना आशाजनक बनाकर भोले-भाले मनुष्यको क्यों ठग लिया? इस गम्भीर, उच्छृङ्खल और मौन गीतमें इतनी मादकता क्यों भर दी, दीनानाथ!

कितनी मधुरतासे मुस्कुराती हुई नीरव संकेतोंमें आनन्द-मङ्गलके गीत गाती हुई यह लालसा—अतृप्त तृष्णा—सीधे-सादे, सरल भावोंके क्रीडास्थल हृदयमें घुसकर कपट-कपाट लगा, सदाके लिये अमङ्गल और दुःख-दारिद्र्यका गढ़ा खोद देती है और अभागा मनुष्य हँसता-हँसता जीवनकी सारी पूँजीको ठगिनी मायाके भुलावेमें आकर उसे ही सौंप देता है और अन्तमें·······पछतावा!

वासनाकी घोर ज्वाला जल रही है। प्रभो, असह्य है यह तप्त लू और प्रबल आँधी! बचा क्यों नहीं लेते? तुम्हीं हो न सर्वसमर्थ?

जगन्नियन्ता! तुम्हींने इनकी रचना की है और तुम्हींने मनुष्यको अबोध बनाकर इनकी दाहक ज्वालामें बिठाकर माया-गोरखधंधा सुलझानेको दे दिया, उफ़!············।

अब नहीं सहा जाता! हे नाथ, बरज दो अपनी इस मायाको। करुणामय, यह अबोध भिक्षु आज यही याचना करने आया है। मुझसे यह उलझन नहीं सुलझनेकी।

एक बार तो दृष्टिपात करो, प्रिय! देखो तो इन निर्निमेष नेत्रोंकी दीनावस्था कैसी करुण पुकारके साथ तुमसे याचना करने आयी है! अबकी बार निराश न करना मेरे महादानी!'

प्रेमयोगी श्रीमणिभाईजी शास्त्री

(लेखक—आचार्य श्रीअनन्तलालजी गोस्वामी)

तिष्ठन् वृन्दाटवीकुञ्जे विहरन् विद्वदालयम् ।
श्रीराधाकृष्णयोः पादपद्मेषु कृपयो जनः ॥

प्रेमपथमें विचरनेवालोंकी बातें भी विचित्र होती हैं। प्रेमयोगी पण्डितप्रवर श्रीमणिभाईजी शास्त्री गुजरात प्रान्तके एक अनुपम महात्मा हो गये हैं। विद्वानोंमें बहुत कम ऐसे पाये जाते हैं, जिनमें विद्वत्ताके साथ ही कठोर तपस्या, त्याग, भक्ति, प्रेम और ज्ञानका सामञ्जस्य हो। वेद, उपनिषद्, न्याय, व्याकरण, साहित्य तथा ज्योतिष आदि सब शास्त्रोंमें इनका अभ्यास आश्चर्य-जनक था। महाभाष्यके लिये तो ये महर्षि ही माने जाते थे। आप पाणिनीय सूत्रोंके अनुसार ऋग्वेद, यजुर्वेद, श्रीमद्भागवत तथा श्रीभगवद्गीताके मन्त्रों एवं श्लोकों-की प्रेमपरक व्याख्या किया करते थे। उनकी व्याख्याशैली इतनी आकर्षक होती थी कि जो भी उसे सुनता मुग्ध हो जाता था। शास्त्रीजी अंग्रेजीमें भी मैट्रिक परीक्षा पास थे, परन्तु कभी इनके मुखसे अंग्रेजीका एक शब्द भी सुननेमें नहीं आया।

आप अहमदाबादसे बंबईतक 'रामजी' के नामसे प्रसिद्ध थे। इनका जन्म सूरत जिलेके अभिरामा (अब्रामा) गाँवमें हुआ था। इनके पिता एवं पितामह भी अपने समयके एक ही विद्वान् थे। रामजी 'अजात-शत्रु' थे। श्यामवर्ण दुबली-पतली देहमें कठिन तपश्चर्या एवं त्यागकी तेजोमयी आभा कसौटीपर सुवर्ण-रेखाके समान झलकती थी। इस कठिन कलिकालमें इनका त्याग आदर्श था। घरमें पत्नी, पुत्र, पौत्र एवं भ्राताओंका परिवार था। इस प्रकार भरा-पूरा कुटुम्ब होते हुए भी आपने कभी किसीसे याचना नहीं की। यदि आपके दर्शनोंके लिये आनेवाले सहस्रों प्रेमी भक्तोंमेंसे कोई कुछ (रुपया, वस्त्र अथवा पात्रादि) भेंटरूपमें आगे रख देता तो आप मन्द मुसकानके साथ बड़े ही मीठे शब्दोंमें कहते—'भाई! इसे ले जाओ; और किसीको दे देना। इसकी आवश्यकता नहीं है।' इनका दृढ निश्चय था कि सबका पालन प्रभु करते हैं। मनुष्यका यह मिथ्याभिमान है कि वह अपनेको परिवारका पालनकर्ता मान बैठता है।

आप प्रातःकालसे सन्ध्यापर्यन्त सारा समय जप, सन्ध्या, सेवा तथा लालजीके लाड़-चावमें ही बिताते थे। केवल एक बार रात्रिमें अल्पाहार करते। अन्त समयमें एक वर्षसे अन्न त्याग दिया था, केवल चाय और फल ही लेते थे। ज्वर चढ़ा है, स्नान भी हो रहे हैं और भजन-पूजन भी।

ज्योतिष और कर्मकाण्डके ज्ञानके विषयमें आपकी प्रसिद्धि दूर-दूरतक फैली हुई थी। दस-पाँच दर्शनार्थी प्रतिदिन आये ही रहते। बहुत-से दुखिया सकाम पुरुष जन्मपत्रोंका बंडल बगलमें दबाये इनको घेरे रहते। आप बड़े प्रेम तथा परिश्रमसे उनके जन्मपत्र देखकर सबका समाधान करते थे। विघ्नोंकी निवृत्तिका उपाय पूछनेपर कहते, 'भाई! 'राधाकृष्ण, राधाकृष्ण' कहा करो। राहु, केतु, शनि—कोई कुछ भी नहीं बिगाड़ सकेगा।' इनके वचनपर विश्वास करके जो भी 'राधा-कृष्ण' नामका जप करता या उसे नियमसे संख्यापूर्वक लिखता, उसकी आपत्ति अवश्य दूर हो जाती। इस प्रकार आपने करोड़ोंकी संख्यामें 'राधाकृष्ण' नाम लिखाया तथा स्वयं भी लिखा। इनकी जाग्रत् तथा निद्रावस्थामें निरन्तर 'श्रीराधाकृष्ण' नामका उच्चारण होता रहता था।

शास्त्रीजीके विचार बड़े उदार थे, उनमें साम्प्रदायिक पक्षपात लेशमात्र भी न था। यदि आपके पास आकर कोई कहता कि भगवान्के दर्शन बड़े

दुर्लभ हैं, तो यह बात आपको बड़ी खटकती। आप कहते, 'भाई, ऐसी बात क्यों कहते हो ? भगवान् तो तुम्हारे पास हैं, आज ही उनको पकड़ लो। उनसे मिलनेकी इच्छा तो करो। भगवान् प्रश्नसे नहीं, उत्कट अभिलाषासे मिलते हैं। जब तुम प्रेमसे पुकारोगे तो वे छिपे नहीं रह सकते। उनके मिलनेसे पहले तुम्हीं उनसे क्यों नहीं मिल लेते ! देखो, प्रेममें अनिर्वचनीय शक्ति है, उसके द्वारा सब सहज हो जाता है। भगवान्में प्रेम अवश्य होगा, किन्तु पहले उनके 'श्रीराधाकृष्ण' नाममें प्रेम और विश्वास होना चाहिये।' वे प्रायः कहा करते थे कि 'विश्वके अणु-परमाणु, तथा प्रत्येक लता-पल्लवमें 'श्रीराधाकृष्ण' प्रेमरूपसे प्रविष्ट हैं। रम्योपासनाके साधनपथमें आते ही प्रेमयोगका प्रारम्भ होता है। उस समय सबमें सम-बुद्धि रखते हुए, अपनेको प्रेममय प्रभुकी इच्छापर छोड़ दे और फिर धीरे-धीरे प्रेमके टेढ़े पथमें चल पड़े। प्रभुमें प्रेम हो जानेपर उनकी प्राप्तिका प्रश्न ही नहीं रहता। विशुद्ध प्रेमका लक्षण ही यह है कि उसका सम्बन्ध श्रीराधाकृष्णसे हो, किन्हीं लौकिक विषयोंसे नहीं। जिस प्रेमका सम्बन्ध लौकिक विषयोंसे होता है, वह तो मोह है।' यही उनके विचारसे प्रेम-तत्त्वकी सीधी-सादी व्याख्या थी। इसे वे शास्त्रीय प्रमाणोंसे भी सिद्ध करते थे। भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभुद्वारा प्रचारित प्रेमतत्त्वमें उनका अटल विश्वास था।

> ब्रजे निजसिद्ध देह करिया स्मरण।
> निश दिन करे राधाकृष्णेर भजन॥

—श्रीचैतन्यदेवके इस मन्त्रके वे परम उपासक थे। श्रीमद्भागवत—दशमस्कन्धमें व्रजचरित्रको कहना-सुनना उनके लिये बड़ा कठिन कार्य था। प्रसङ्ग आते ही उनकी आँखें प्रेमाश्रुओंसे भर जातीं और कण्ठ गद्गद हो जाता।

'योगे वियोगवृत्तिः प्रेमा', 'तत्सुखसुखित्वम्', 'अनुगुणमयं देहम्' तथा 'त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते'

—इत्यादि सूत्रों एवं श्रीमद्भागवतके वाक्योंकी व्याख्या करते हुए आप प्रेमानन्दमें छक जाते थे।

संस्कृतकी हीन दशा, उसकी वर्तमान पाठ्यशैली तथा स्वार्थवश शास्त्रोंके अर्थमें होनेवाले अनर्थके लिये भी आप सदैव दुःखित रहा करते थे।

एक बार चारों धामकी यात्रा करते हुए आप श्रीवृन्दावनमें पधारे। उस समय आपकी इच्छा हुई कि व्रजसे बालस्वरूप श्रीकृष्णको अपने साथ घर ले चलें। युगलकिशोर श्रीराधाकृष्ण तो वृन्दावन छोड़कर पधारेंगे नहीं, इसलिये बालस्वरूप लालजीको ही साथ ले गये। उनका लाड़-चाव, जैसा आप अबतक करते रहे थे, प्रेमका एक प्रत्यक्ष आदर्श था। प्रेमयोगी शास्त्रीजी और बालरूप श्रीलालजीकी बातें बड़ी अलौकिक हैं। वे कही नहीं जा सकतीं। शास्त्रीजीने तीन मास पहले हमसे स्वयं कहा था कि 'आपके लालजीका चमत्कार प्रत्यक्ष हो गया। अब मेरी कोई भी अभिलाषा शेष नहीं रही।'

इस नश्वर शरीरको त्यागते समय श्रीशास्त्रीजी चार दिनतक अर्द्धचेतन अवस्थामें 'राधाकृष्ण', 'गोविन्द', 'नाथ' इत्यादि रटते-रटते भगवच्चिन्तनमें तल्लीन रहे थे। इसी अवस्थामें उन्होंने पौष कृ० ६ सं० १९९६ वि० रविवारको अपने प्रियतमके प्रेमधाममें प्रवेश किया। उनका अन्तिम प्रलाप भी यही था—'गोवर्द्धन चलो···· राधाजी थक गयीं········।' उनके वियोगसे उनके परिवार और प्रेमियोंको जैसा धक्का लगा है, उसे वे ही जानते हैं। करुणामय प्रभु उन्हें सान्त्वना प्रदान करें। उनके प्रेमियोंको भी चाहिये कि वे अपने शास्त्रीजीके दिखाये हुए प्रेमपथमें बढ़े चलें और श्रीशास्त्रीजीकी प्रेममयी आत्माको प्रसन्न करनेके लिये पहलेसे भी अधिक 'श्रीराधाकृष्ण' नामकी रटन लगाये रहें।

श्रीमद्दयानन्दवचनामृत

(सङ्कलनकर्ता—पं० श्रीमदनमोहनजी विद्याधर)

(१) जब जीव सच्चे मनसे अपने आत्मा, प्राण एवं सब सामर्थ्यमें परमेश्वरको भजता है तो वह करुणामय उसे अपने आनन्दमें स्थिर कर देता है। जैसे कोई छोटा बालक यदि घरके ऊपरसे अपने माता-पिताके पास नीचे आना चाहता है, अथवा नीचेसे उनके पास ऊपर जाना चाहता है तो माता-पिता हजारों आवश्यक कार्योंको छोड़कर और दौड़कर अपने बच्चेको गोदमें उठा लेते हैं,……………वैसे ही जब कोई सच्चे आन्तरिक भावसे कृपानिधि परमेश्वरकी ओर चलता है तो वे अनन्त शक्तिरूप अपने हाथोंसे उस जीवको उठाकर सदाके लिये अपनी गोदमें रख लेते हैं, फिर उसे किसी प्रकारका दुःख नहीं देते और वह सदा आनन्दमग्न रहता है।

(२) जो परमेश्वरकी स्तुति, प्रार्थना और उपासना नहीं करता, वह कृतघ्न और महामूर्ख है; क्योंकि जिसने जीवके सुखके लिये इस जगत्के सारे पदार्थ दे रक्खे हैं, उस ईश्वरके गुण भूल जाना—उसीको न मानना—कृतघ्नता और मूर्खता ही है।

(३) सब मनुष्योंको सब प्रकारसे सब कालमें सत्यसे ही प्रीति करनी चाहिये, असत्यसे कभी नहीं। हे मनुष्यो! तुम अनृत अर्थात् झूठ या अन्यायके करनेमें……………कभी प्रीति मत करो।

(४) सत्यसे ही मनुष्योंको व्यवहार और मुक्तिका उत्तम सुख मिलता है।

(५) सत्याचरणका ठीक-ठीक फल यह है कि जब मनुष्य निश्चितरूपसे केवल सत्य ही मानता, बोलता और करता है तो वह जो-जो काम करता और कराना चाहता है, वे सब सफल हो जाते हैं।

(६) धर्मका स्वरूप न्यायाचरण है। न्यायाचरण इसे कहते हैं कि पक्षपात छोड़कर सब प्रकार सत्यका ग्रहण और असत्यका परित्याग किया जाय।

(७) जो मनुष्य महामूर्ख हैं, वे ऐसा समझते हैं कि सत्यसे व्यवहारका नाश और असत्यसे उसकी सिद्धि होती है। परन्तु यदि कोई भी पुरुष किसीको व्यवहारमें झूठा समझ ले तो उसकी सारी प्रतिष्ठा और विश्वास नष्ट होकर उसके व्यवहारका भी नाश हो जाता है। और जो सब प्रकारके व्यवहारोंमें झूठ छोड़कर सत्य ही बोलते हैं, उनको तो लाभ-ही-लाभ होता है, हानि कभी नहीं होती।……………सत्य व्यवहारका नाम ही धर्म और इससे विपरीतका अधर्म है। क्या धर्मका फल सुख और अधर्मका फल दुःख ही नहीं है?……………इसलिये जिस सत्यके आचरणसे धर्मप्राण ऋषिगण सत्यके भंडार परमात्माको पाकर आनन्दित हुए थे और जिससे अब भी वैसा ही आनन्द प्राप्त होता है, उसका सेवन मनुष्य क्यों न करे? यह निश्चित है कि सत्यसे परे कोई धर्म और असत्यसे परे कोई अधर्म नहीं है। अतः वे ही पुरुष धन्य हैं, जो सब व्यवहारोंको सचाईके साथ ही करते हैं, झूठका आश्रय तनिक भी नहीं लेते।

(८) जो वेद-शास्त्रोक्त हो और जिसकी प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे परीक्षा कर ली गयी हो, वह पक्षपातशून्य सत्य ही न्यायरूप धर्म है। उसके आचरणमें सर्वदा प्रीति रक्खो तथा अपने आत्मा, प्राण और मनको सत् पुरुषार्थ एवं कोमल स्वभावसे युक्त करके सदा सत्यमें ही प्रवृत्त करो।

(९) धर्मात्माका ही लोकमें विश्वास होता है; धर्मसे ही लोग पापोंसे छूटते हैं; जितने उत्तम कर्म हैं,

वे सब धर्मके ही अन्तर्गत हैं; इसलिये धर्मको ही सबसे श्रेष्ठ समझना चाहिये ।

(१०) जिस मनुष्यने किसीके सामने एक बार भी चोरी, जारी या मिथ्याभाषणादि कोई कुकर्म कर लिया, उसकी प्रतिष्ठा उसके सामने मृत्युपर्यन्त नहीं होती । जैसी हानि मिथ्या प्रतिज्ञा करनेवालेकी होती है, वैसी और किसीकी नहीं होती; इसलिये जिसके साथ जैसी प्रतिज्ञा की जाय, उसके साथ उसे उसी प्रकार पूरा करना चाहिये ।

(११) जो मनुष्य विद्या कम भी जानता हो, परन्तु दुष्ट आचरण छोड़कर धार्मिक आचरण करता हो तथा खाना-पीना, बोलना-सुनना, उठना-बैठना, लेना-देना आदि सब व्यवहार यथायोग्य सत्यानुकूल करता हो, वह कभी दुःखको प्राप्त नहीं होता । और जो सारी विद्या पढ़कर पूर्वोक्त सद्व्यवहारोंको छोड़कर दुष्ट कर्म करता है, वह कभी कहीं भी सुख प्राप्त नहीं कर सकता ।

(१२) विद्याभ्यास, सुविचार, ईश्वरोपासना, धर्मानुष्ठान, सत्सङ्ग, ब्रह्मचर्य एवं जितेन्द्रियता आदि जितने उत्तम कर्म हैं, वे सब तीर्थ कहलाते हैं; क्योंकि इनके द्वारा जीव दुःखसागरसे तर जा सकते हैं ।

(१३) परमेश्वरकी सम्यक् उपासना करके इस प्रकार उन्हें समर्पण करे कि 'हे दयानिधे ! आपकी कृपासे हम जो-जो शुभ कर्म करते हैं, वे सब आपके अर्पण हैं, जिससे कि हमलोग आपको प्राप्त होकर सत्य एवं न्यायानुकूल आचरणरूप धर्म, धर्मानुकूल पदार्थोंकी प्राप्तिरूप अर्थ, धर्म और अर्थके द्वारा इष्टभोगोंका सेवनरूप काम तथा समस्त दुःखोंसे छूटकर सर्वदा आनन्दमग्न रहनारूप मोक्ष प्राप्त कर सकें ।'

(१४) विद्वान् लोग प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करके जिस प्रकार स्वयं परम गुणमय सुखदायक विद्यानन्दका उपभोग करते हैं, उसी प्रकार वे दूसरोंको भी उसका अनुभव कराते हैं । विद्वानोंको चाहिये कि अपने सत्य, उपदेश, विद्या, धर्म और आनन्दसे प्रजाको भी लाभ पहुँचावें ।

(१५) राजा तथा अन्य सब मनुष्योंको उचित है कि मृगया एवं मद्यपानादि दुष्कर्मोंमें न फँसें तथा दुर्व्यसनोंसे दूर रहकर धर्मयुक्त गुण, कर्म और स्वभावोंमें बर्तते हुए सदा अच्छे-अच्छे काम किया करें ।

(१६) वे ही लोग धन्यवादके पात्र एवं कृतकृत्य हैं, जो ब्रह्मचर्य, उत्तम शिक्षा और विद्याके द्वारा अपनी सन्तानोंके शारीरिक तथा आत्मिक बलको पूर्णतया बढ़ाते हैं, जिससे कि वे माता, पिता, पति, सास, श्वशुर, राजा, प्रजा, पड़ोसी, इष्ट-मित्र एवं अपनी सन्तानोंके साथ यथायोग्य धर्मानुकूल व्यवहार करनेमें समर्थ होती हैं ।

(१७) सब मनुष्योंको सर्वदा सच्चे, मीठे, कल्याण-कारी और प्रिय वचन बोलने चाहिये । उन्हें यह निश्चय कर लेना चाहिये कि उनकी जानकारीमें जो बात जैसी हो, वे उसे जीभसे उसी प्रकार प्रकाशित करें, उससे विपरीत नहीं । सब लोगोंको अपनी ही वस्तुको अपनी बतानी चाहिये, दूसरोंकी चीजको नहीं । अर्थात् उन्हें धर्मानुकूल पुरुषार्थसे जितना प्राप्त हुआ है, उतनेहीमें सन्तोष रक्खें । सब दिन सुगन्धादि द्रव्योंका अच्छी प्रकार संस्कार कर उनसे सारे जगत्के उपकारके लिये होम किया करें तथा मिथ्यावादको छोड़कर सत्य ही भाषण करें ।

(१८) प्रत्येकको केवल अपनी ही उन्नतिसे सन्तुष्ट नहीं रहना चाहिये, किन्तु सबकी उन्नतिमें अपनी उन्नति समझनी चाहिये ।

(१९) सच तो यह है कि इस अनिश्चित एवं क्षणभङ्गुर जीवनमें परायी हानि करके लाभसे स्वयं

कलित रहना और दूसरोंको भी रखना मनुष्यताके विरुद्ध है ।

(२०) जो यथार्थ-वक्ता, धर्मात्मा और सबके सुख-के लिये प्रयत्न करता है, उसीको मैं आप्त समझता हूँ ।

(२१) जो छलादि दोषोंसे रहित धर्मात्मा, विद्वान् और सत्यका उपदेश करनेवाला पुरुष सबपर कृपादृष्टि करके अविद्यान्धकारको निवृत्त कर अज्ञानी लोगोंकि आत्माओंमें सर्वदा विद्यारूपी सूर्यका प्रकाश करे, उसे आप्त कहते हैं ।

(२२) जिससे सब लोगोंके दुराचार और दुःख दूर हों तथा श्रेष्ठ आचरण एवं सुखकी वृद्धि हो, ऐसे कर्मको मैं परोपकार कहता हूँ ।

(२३) वे मनुष्य परम धन्य हैं, जो अपने ही समान दूसरे लोगोंके सुखमें सुख और दुःखमें दुःखका अनुभव कर धार्मिकताको कभी नहीं छोड़ते ।

(२४) जितने मनुष्येतर प्राणी हैं, उनमें दो प्रकारका स्वभाव देखा जाता है—बलवान्से डरना और निर्बलको डराना तथा उसे पीड़ा देकर अर्थात् उसके प्राणतक निकालकर अपना मतलब साध लेना । जिस मनुष्यका ऐसा ही स्वभाव है, उसे तो इन्हींमें गिनना उचित है । मनुष्यका निजी गुण तो निर्बलोंपर दया करना तथा उन्हें पीड़ा देनेवाले अधर्मी बलवानोंसे तनिक भी भय या शङ्का न करके उन्हें उस दुष्कर्मसे हटाकर तन-मन-धनसे सर्वदा निर्बलोंकी रक्षा करना है ।

(२५) पड़ोसियोंके साथ ऐसा व्यवहार करें, जैसा कि अपने शरीरके लिये करते हैं, और वैसे ही कर्म अपने मित्रादिके लिये भी करने चाहिये ।

दैनिक कल्याण-सूत्र

१ मई बुधवार—तुम जिस काममें लगे हुए हो, क्या वह इतना महत्त्वपूर्ण है कि उसके लिये परमात्माका स्मरण छोड़ा जा सके ?

२ मई गुरुवार—जो काम तुम कर रहे हो, वह भगवान्के लिये ही है न ? नहीं तो क्या तुम स्वार्थके लिये इतने अंधे हो गये हो कि मैं कहाँ जा रहा हूँ, यह भी तुम्हें मालूम नहीं ?

३ मई शुक्रवार—तुम्हें कुछ प्रकाश भी दीखता है, अथवा सब अन्धकार-ही-अन्धकार ? जिनमें तुम उलझे हुए हो, एक बार तटस्थ होकर उन्हें देखो । ऐसा करते ही तुम अपनेको उनसे मुक्त पाओगे ।

४ मई शनिवार—संसारके सारे सम्बन्ध और सम्पूर्ण बन्धन तुम्हारे अपने मनके माने हुए ही हैं । उन्हें चाहे जब तुम तोड़ सकते हो । परन्तु वैसा करते समय यदि तुम भगवान्के साथ जुड़ जाओ तो तुम्हें एक अभूतपूर्व आनन्दकी अनुभूति होगी ।

५ मई रविवार—यदि चित्तमें निराशा होती है, मन चञ्चल रहता है, तुम जो कुछ करना चाहते हो वह नहीं कर पाते, तो पूरी शक्ति लगाकर परमात्माको पुकारो । तुम्हें तत्क्षण सहायता मिलेगी, तुम्हारे मन-प्राणमें एक नवीन चेतनाका प्रवाह होने लगेगा और तुम अद्भुत उत्साह तथा स्फूर्ति प्राप्त करोगे ।

६ मई सोमवार—जिन प्रतिकूलताओं और विफलताओंसे तुम घबड़ा जाते हो, तुम्हें पता नहीं है कि वे तुम्हारी गुप्त और सुप्त शक्तिको जागरित करनेके लिये आती हैं । वे ही तुम्हारे आत्मविकासके उपयुक्त अवसर उपस्थित करती

हैं। तुम हारो मत। प्राण रहते उनकी जीत मत मानो। अन्तमें विजय तुम्हारी है; क्योंकि परमात्माकी सम्पूर्ण शक्ति तुम्हारे आवाहनकी बाट जोह रही है।

७ मई मङ्गलवार—शरीर, इन्द्रिय, प्राण अथवा मन तुम्हें प्रभावित नहीं कर सकते। ये तुम्हारे सेवक हैं, तुम्हारे उपकरण हैं। तुम चाहे जैसे इनका उपयोग-प्रयोग कर सकते हो। तब क्यों नहीं सबसे श्रेष्ठ कर्ममें इन्हें लगाते? तुम केवल परमात्माके लिये कर्म करनेकी इन्हें आज्ञा देते रहो, ये अवश्य उसका पालन करेंगे।

८ मई बुधवार—तुम्हारी इच्छाके अनुसार यदि तुम्हारे औजार काम नहीं करते तो यह तुम्हारी ही असावधानीका फल है। सावधान रहो, इनकी एक-एक हरकतपर निगाह रक्खो और इनकी एक-एक क्रियाको भगवान्‌के साथ जोड़ दो।

९ मई गुरुवार—तुमने संसारके साथ तो बहुत-से सम्बन्ध जोड़ रक्खे हैं, क्या भगवान्‌के साथ भी तुम्हारा कोई सम्बन्ध है? यदि होनेपर भी तुम उसे नहीं जानते हो तो जानो, तुम देखोगे कि वे तुम्हारे कितने निकट हैं। इतने निकट हैं वे कि ऐसी निकटता और किसीकी है ही नहीं।

१० मई शुक्रवार—निश्चय करो—परमात्मा ही मेरे गुरु, माँ-बाप, पुत्र, मित्र, स्वामी एवं पति हैं। और तो क्या, मेरे अपने आत्मा भी वे ही हैं। उनका मैं, वे मेरे; फिर दुःख-दर्द, शोक-मोह और निराशा-उद्वेगके लिये स्थान ही कहाँ है! मैं अपने प्रभुकी सन्निधिमें हूँ।

११ मई शनिवार—विचार करो—कितना सुन्दर और सुखमय है वह मन, जो परमात्माके स्मरण-चिन्तनमें ही तन्मय रहता है। उसे सर्वदा, सर्वत्र, सब रूपोंमें परम मधुर, मङ्गलमय प्रभुके ही दर्शन हुआ करते हैं। मेरा मन भी यदि वैसा ही हो जाता!

१२ मई रविवार—जो समय प्रमादमें बीत चुका है, उसकी चिन्ता मत करो; वह तो अब हाथसे निकल चुका है। इसको, जो अपने हाथमें है, अब क्यों खोते हो? अधिक-से-अधिक परमात्माके निकट रहकर इसे बिताओ।

१३ मई सोमवार—जिस समय तुम यह सोचते हो कि मैं अगले घंटेमें या अगले दिन परमात्माका स्मरण करूँगा, यदि आगेके लिये कार्य-क्रम न बनाकर उसी समय भगवान्‌का स्मरण करने लगो, उस वृत्तिको ही भगवान्‌में डुबा दो तो दूसरे समय मिलनेवाला आनन्द तुम्हें अभी मिल जायगा।

१४ मई मङ्गलवार—जो सर्वोत्तम वस्तु तुम्हें अभी मिल सकती है, उसे कलपर टाल रखना कहाँकी बुद्धिमानी है? इसीसे तुम्हारी उत्सुकताकी परीक्षा भी हो जाती है। तुम इसमें निरन्तर उत्तीर्ण होते रहो।

१५ मई बुधवार—निश्चय करो—मेरे जीवनमें तबतक विश्रामके लिये एक भी क्षण नहीं है, जबतक जीवन और क्षणोंकी स्मृतिका लोप होकर सहजभावसे भगवान्‌की स्मृति नहीं होने लगती।

१६ मई गुरुवार—तुम अपने लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये कुछ त्याग भी सकते हो क्या? सोचो तो सही—तुम क्या त्याग सकते हो? इसके लिये हिमालयमें जानेकी आवश्यकता नहीं है। हाँ, तुम्हारे मनको इन स्थूलताओंसे कुछ ऊपर उठना होगा।

१७ मई शुक्रवार—अन्तरङ्गकी शीतलता, जो कि भगवान्‌के आश्रयसे प्राप्त होती है, सर्वदा तुम्हारे साथ रहनी चाहिये। चाहे जो भी घटना घट जाय, तुम शीतल रहो। तुममें विकृति अथवा क्षोभ न होने पावे। क्या यह समता तुम्हारे जीवनमें उतर रही है?

१८ मई शनिवार—समाधि अथवा योग एकान्तमें बैठकर ही नहीं होता। उनकी पूर्णताकी परीक्षा तो व्यवहारमें होती है। 'योगस्थ' होकर कर्म करो। केवल इसीके द्वारा तुम्हारी आध्यात्मिक उन्नतिका पता चल सकता है।

१९ मई रविवार—चारों ओर प्रलोभन हैं और उनके बीचमें यह नन्हा-सा जीवन। एक-एकको केवल देखने लगो तो लाखों जन्मोंकी आवश्यकता होगी। तुम तो केवल एकको देखो—जो तुम्हारे हृदयमें बैठकर तुम्हें कुछ देखने-सुनने, हिलने-डोलनेकी शक्ति देता है। उस उद्गमके प्राप्त होते ही तुम परमानन्दकी जन्मभूमि हो जाओगे।

२० मई सोमवार—भगवान्‌के अतिरिक्त और किसीका विश्वास तुम्हें धोखा देकर ही रहेगा, यह परम सत्य है। सम्भव है, इस बातका बोध तुम्हें बहुत ठोकर खानेके बाद हो। परन्तु यदि अभीसे भगवान्‌पर विश्वास कर लो तो ठोकर खानेका अवसर ही न आवे।

२१ मई मङ्गलवार—कर्मका चक्र अनिवार्य है। इसमें इच्छा करनेवाले ही मारे जाते हैं। परन्तु यदि समता और अनासक्तिका आश्रय लेकर तुम झूलेमें बैठ जाओ तो देखोगे कि झुलानेवाला भी तुम्हारे साथ है और तुम इस झूलन-लीलाके आनन्दमें मस्त हो।

२२ मई बुधवार—यदि तुम अपनी इच्छासे नहीं, भगवान्‌की इच्छासे ही चल रहे हो तो सैकड़ों जन्म-मृत्युओंमें जाना भी तुम्हारे लिये सौभाग्य और परमानन्द है।

२३ मई गुरुवार—क्या ही उत्तम हो कि तुम उसी मार्गपर चलो, जिसपर आजतकके महापुरुष चलते आये हैं। अवश्य ही जबतक तुम चलना आरम्भ नहीं करते हो, वह कठिन मालूम पड़ता है; परन्तु यदि चल दोगे तो देखोगे कि वह कितना सरल, सुगम तथा सुखमय है।

२४ मई शुक्रवार—एक बात जान लो—मैं परमात्माका हूँ और परमात्मा मेरा अपना है।

२५ मई शनिवार—यह स्मरण रक्खो कि जगत्‌के रूपमें भी परमात्मा ही प्रकट हैं। जब सब परमात्मा ही हैं, तब राग-द्वेष किससे? मेरा जीवन परमात्मासे परिपूर्ण है।

२६ मई रविवार—तुम्हारे सङ्कल्प परमात्माके लिये हों, परमात्माको लिये हों और तुम भागवत सत्तासे युक्त रहो। बस, तुम्हारा जीवन सच्चा भागवत जीवन होगा।

२७ मई सोमवार—तुम उसके लिये क्यों चिन्ता कर रहे हो, जो स्वयं होने जा रहा है! जो नहीं होनेवाला है, उसकी चिन्ता भी व्यर्थ है। तुम निश्चिन्त रहो और अपने निश्चिन्त चित्तमें भगवान्‌को आने दो। निश्चय करो—मैं निश्चिन्त हूँ। अनुभव करो—परमात्मा मेरे हृदयमें प्रकट हो रहे हैं।

२८ मई मङ्गलवार—यह तुम्हारा अहङ्कार मिथ्या है कि मेरे करनेसे कुछ हो जायगा। जो तुमसे कराया जा रहा है, करते जाओ। जिस समय अलग होनेकी सूचना मिले, अविलम्ब अलग हो जाओ। कर्मकी पूर्णता और उनके फल तुम्हारे अधिकारसे बाहर हैं। तुम अपने जीवनको उस महान्‌का यन्त्र बन जाने दो।

२९ मई बुधवार—तुम्हारा जीवन समर्पित है, तुम भगवान्‌के अपने हो, उनके स्वरूप हो।

अनुभव करो—मेरा सौभाग्य अखण्ड है, मैं परमात्माकी कृपासे पूर्ण हूँ। मैं एकरस अनन्त आनन्दस्वरूप परमात्मामें स्थित हूँ।

३० मई गुरुवार—एक क्षण देवता और दूसरे क्षण दैत्य—भला यह भी कोई जीवन है? जीवन तो एकरस होना चाहिये। विश्वासपूर्ण भावना करो—मेरा यह समर्पित जीवन दिव्य जीवन है, आसुर भाव मेरा स्पर्श नहीं कर सकते, अब मैंने दुष्कर्म और दुर्भावनाओंसे सर्वदाके लिये छुट्टी पा ली है।

३१ मई शुक्रवार—अन्तर्दृष्टिसे अनुभव करो—परम सत्य, परम ज्ञान और परमानन्द मेरी अपनी सम्पत्ति हैं। उनकी एकरस अनुभूति ही मेरा स्वरूप है, मैं अपने स्वरूपमें स्थित हूँ।

सत्सङ्गका प्रसाद

(लेखक—पण्डित श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी)

(१)

एक महात्माने अपने प्रेमी भक्तसे पूछा—'क्यों लाला, तुम्हारा किसीसे दृढ़ राग है?'

भक्त—'ऐसा तो नहीं मालूम होता, महाराज!'

महात्मा—'किसीसे द्वेष है तुम्हारा?'

भक्त—'ना।'

महात्मा—"तब किसी भी साधनामें तुम्हारी दृढ़ प्रवृत्ति नहीं हो सकती; क्योंकि साधनामें तो प्राणपणसे वे ही लोग लगते हैं, जो किसीको पानेके लिये अत्यन्त उत्सुक हैं, अथवा जो किसीसे इस प्रकार ऊब गये हैं कि उसको छोड़े बिना रह ही नहीं सकते। संक्षेपमें, अपने इष्टसे अनुराग और अनिष्ट-परिहारकी अभिलाषा ही साधनामें लगाती है। जब इतने ऊँचे तुम उठ जाओगे कि तुम्हारे लिये प्रिय-अप्रिय कुछ रहेगा ही नहीं, तब जो कुछ होगा, साधन ही होगा। तब तो सहज स्थिति ही साधना होगी। परन्तु जो उस स्थितिमें नहीं हैं, कहीं बीच मार्गमें ही थोड़ा-सा रस प्राप्त करके सन्तुष्ट हो गये हैं, अथवा प्रमादवश इष्ट-अनिष्टका विचार ही नहीं करते, उन्हें एक-न-एक दिन पछताना पड़ेगा। साधकको तो ऐसा होना चाहिये कि जहाँ वह है और जहाँ उसे पहुँच जाना चाहिये, दोनोंकी दूरीको एक क्षण भी सहन न करे। कितना वीर है वह साधक, जो अवाञ्छनीय परिस्थितिका परित्याग करनेके लिये इतना व्याकुल हो जाता है कि 'मैं कहाँ पहुँच जाऊँगा?' इसका विचार किये बिना ही पागलकी भाँति उछल पड़ता है!"

(२)

शिष्यने गुरुसे प्रश्न किया—'भगवन्, भगवत्प्राप्तिके लिये किस प्रकारकी आकुलता होनी चाहिये?' गुरु मौन रहे। शिष्य उनका रुख देखकर चुप हो रहा। स्नानके समय गुरु और शिष्य दोनोंने एक साथ ही नदीमें प्रवेश किया। एकाएक गुरुने शिष्यका सिर, जब वह डुबकी लगा रहा था, पानीमें जोरसे दबा दिया। भला, वह बिना श्वासके पानीमें कबतक रह सकता? उसके धीरजका बाँध टूट गया और वह छटपटाकर बाहर निकल आया। उसके स्वस्थ होनेपर गुरुने पूछा—'पानीसे निकलनेके लिये कितनी आतुरता थी तुम्हारे मनमें?'

शिष्यने कहा—'बस, एक क्षण उसमें और रह जाता तो मर ही गया था।'

गुरुने कहा—'मेरे प्यारे भाई ! अभी तो तुम संसारमें जी रहे हो और सुख मान रहे हो । जिस क्षण इस वर्त्तमान परिस्थितिसे तुम उसी प्रकार अकुला उठोगे, तब तुम सारे बन्धनोंको छिन्न-भिन्न करके एक क्षणमें ही अपने प्रियतम प्रभुको प्राप्त कर सकोगे ।'

शिष्य—'तब क्या वर्त्तमान परिस्थितिसे ऊबना ही साधनाका प्रारम्भ है ? इस प्रकार तो असन्तोषकी आग भड़केगी, सन्तोषामृतका पान कैसे कर सकेंगे ?'

गुरु—'भैया ! विवशताका सन्तोष तो कायरता है, क्लीबता है । यदि तुम्हारे मनमें कोई इच्छा ही न हो, तब तो दूसरी बात है । परन्तु जब तुम कुछ प्राप्त करना चाहते हो और वह न्यायसङ्गत है, तब उसे प्राप्त किये बिना बैठ रहना किसी प्रकार उचित नहीं है । यदि असन्तोषकी आग भड़कती है और प्रलय होता दीखता है तो हो जाने दो, क्योंकि यह प्रलय ही नवीन सृष्टिका जनक है । जिसके चित्तमें अशान्तिका सञ्चार नहीं हुआ, वह कैसे जान सकता है कि शान्ति क्या वस्तु है ? सामने दीखनेवाली सुन्दरतापर ही जो मुग्ध हो रहा है, उसके सामने सौन्दर्यका अन्तराल क्यों व्यक्त होने लगा ? तुम सारे आवरणोंको फाड़कर एक बार पूरे आवेगसे उनसे मिल लो, फिर तो तुम निरन्तर ही मिले रहोगे । परन्तु एक बार पूर्ण मिलन हुए बिना जो सन्तोष है, वह तो सन्तोषका शव है, खालमात्र है । उसके भीतर असन्तोष छिपा हुआ है । उसके बीजको प्रकट करके उखाड़ डालना और चिरकालतकके लिये असीम सुख-शान्तिको प्रतिष्ठित कर लेना ही तो साधना है ।'

(३)

सत्सङ्गीने पूछा—'महात्मन्, यदि हमारे अंदर भगवान्के लिये व्याकुलता नहीं हो तो क्या वे हमें नहीं मिलेंगे ?'

महात्मा—'क्यों नहीं ? अवश्य मिलेंगे । मिलना ही उनका जीवन है, मिलना ही उनका जीवन-व्रत है । बिना मिले वे रह ही नहीं सकते । ऐसा क्यों, वे तो प्रतिदिन सैकड़ों, हजारों रूपोंमें हमसे मिलते भी हैं । हम उन्हें पहचानते नहीं, इसीसे उनके मिलनके आनन्दसे वञ्चित रह जाते हैं । परन्तु हमारे न पहचाननेसे उनकी छिपनेकी लीला तो पूरी होती ही है और वे हमारे इस भोलेपनका आनन्द भी लेते हैं ।'

सत्सङ्गी—'तब क्या हमें ही पहचानना पड़ेगा ? यदि उनके मिलनेपर भी हम उन्हें नहीं पहचान सकते तो हमारे जीवनमें इससे अधिक महत्त्वपूर्ण और कौन-सी घटना घटेगी कि हम उनको पहचानकर उनके आलिङ्गनका सुख प्राप्त कर सकेंगे ?'

महात्मा—'यह तो उनकी एक लीला है । जबतक वे आँखमिचौनी खेल रहे हैं, उनकी इच्छा अपनेको पहचानमें लानेकी नहीं है, तबतक किसका दीदा है कि उन्हें पहचान सके ? परन्तु वे कबतक छिपेंगे ? वे जैसे नचावें, नाचते जाओ; कभी तो रीझेंगे ही । यदि रीझकर उन्होंने अपना परदा, बनावटी वेश दूर कर दिया, तब तो कहना ही क्या है ? और यदि छिपे ही रहे तो भी हम उनके सामने ही तो नाच रहे हैं ! हम चाहे उन्हें न देखें, वे तो हमें देख रहे हैं न ? बस, वे हमें और हमारी प्रत्येक चेष्टाको देख रहे हैं और उनकी प्रसन्नताके लिये मैं नाच रहा हूँ—इतना भाव रखकर, जैसे रक्खें रहो । वे अवश्य तुम्हें अपनी पहचान बतायेंगे, मिलेंगे ।'

(४)

शिष्यने पूछा—'गुरुदेव ! भरसक क्रिया तो शास्त्र और भगवान्के विरुद्ध नहीं करता; परन्तु मनको क्या करूँ, कैसे रोकूँ ? नाना प्रकारके सङ्कल्प उठा करते हैं, जिनमें अधिकांश बुरे होते हैं; क्या करूँ ?'

गुरुदेवने कहा—'तुम सङ्कल्प करनेवाले क्यों बन बैठे हो ? तुमने जो यह मान रक्खा है कि मैं सङ्कल्प करता हूँ, अपने लिये सङ्कल्प करता हूँ—यही तो भ्रम है। भगवान्‌के लिये ही सङ्कल्प हो, भगवान् ही सङ्कल्प करें। उनके भले-बुरे होनेका भी निर्णय वे ही करें। जैसे आकाश, वायु, सूर्य, समुद्र और पृथिवीको उन्होंने धारण कर रक्खा है और वे ही उनका सञ्चालन भी करते हैं, वैसे ही सबके शरीर और अन्तःकरणोंको भी उन्होंने ही धारण कर रक्खा है और उनकी सत्ता, महत्ता तथा प्रत्येक गति-विधि उन्हींके हाथमें है। जब कोई भ्रमवश अहङ्कारका आश्रय करके उन्हें अपना समझने लगता है, तब अच्छे भी बुरे बन जाते हैं। प्रत्येक क्रिया और सङ्कल्पके मूलमें वे ही हैं, हम नहीं। जो क्रिया हो, जो सङ्कल्प उठे, उसके मूलकी ओर देखो और बड़ी आतुरतासे उधर ही दौड़ पड़ो, जिधरसे वह आता है। अवश्य ही यह जागरूकता भी उन्हींकी ओरसे प्राप्त होती है, परन्तु इसके लिये सावधानी तो रखनी ही चाहिये। जबतक हम हैं, तबतक हमारा कर्तव्य भी है। कहीं हमारे प्रमादके पापसे वह आयी हुई अनमोल देन हमारे हाथसे निकल न जाय। शरीर और अन्तःकरण सब उसी एकके हैं, उसीकी ओर देखो। फिर सब ठीक है।'

(५)

एक मुमुक्षुने अपने गुरुदेवसे पूछा—'प्रभो, मैं कौन-सी साधना करूँ ?'

गुरुदेवने कहा—'तुम बड़े जोरसे दौड़ो। दौड़नेके पहले यह निश्चित कर लो कि मैं भगवान्‌के लिये दौड़ रहा हूँ। यही तुम्हारे लिये साधना है।'

उसने पूछा—'क्या बैठकर करनेकी कोई साधना नहीं है ?'

गुरु—'है क्यों नहीं, बैठो और निश्चय रक्खो कि तुम भगवान्‌के लिये बैठे हो।'

शिष्य—'भगवन्, कुछ जप नहीं करें ?'

गुरु—'किसी भी नामकी आवृत्ति करो और सोचो, मैं भगवान्‌के लिये कर रहा हूँ।'

शिष्य—'तब क्या क्रियाका कोई महत्त्व नहीं है ? मेरा भाव ही साधन है ?'

गुरु—'मेरे प्यारे भाई! क्रियाका भी महत्त्व है। परन्तु क्रिया पहले वही वस्तु दे सकती है, जिसमें तुम्हारा भाव होगा। नाम-जपका उद्देश्य धन है तो पहले धन, पीछे भगवान्। क्रियासे भाव और भावसे क्रिया, यही क्रम है। दृष्टि लक्ष्यपर रहे; फिर जो तुम करोगे, वही साधना होगी। क्योंकि यह प्रत्येक व्यक्तिका भाग्य है कि वह जहाँ है, वहीं उसे भगवान् मिल सकते हैं। ऐसा कौन है, जिसे भगवान् नहीं मिले हुए हैं। *लक्ष्य* तो ठीक करो, साधना स्वयं ठीक हो जायगी।

(६)

एक बार एक सत्सङ्गीने एक महात्मासे प्रश्न किया—'भगवन्! आप बार-बार नाम-जप करनेको कहते हैं, परन्तु मेरे मनमें भगवत्प्राप्तिकी इच्छा नहीं है और स्वाभाविक रुचि भी नहीं है नाममें। फिर मैं क्यों नाम-जप करूँ ?' महात्माजीने कहा—'यदि भगवत्प्राप्ति-की इच्छा हो, तब तो नाम-जपके सम्बन्धमें प्रश्न ही क्यों हो ? परन्तु इच्छा होनेका भी तो कोई उपाय होना चाहिये। शुद्ध अन्तःकरणसे नाम जपना चाहिये, परन्तु अन्तःकरण शुद्ध हो कैसे ? इसलिये तुम जिस अवस्थामें हो, जैसे हो, अभीसे नाम-जप शुरू कर दो। माना कि तुममें कोई इच्छा नहीं है, परन्तु तुम तो मेरी प्रसन्नताके लिये भी जप कर सकते हो। कोई नाम-जप करता है तो मैं प्रसन्नतासे खिल उठता हूँ। क्या

गुरुकी प्रसन्नताके लिये शिष्य इतना भी नहीं कर सकता ! मेरा विश्वास है, अपने लिये न सही, मेरे लिये ही तुम नाम-जप करोगे ।'

(७)

पाँच-सात वर्ष पहले एक सज्जन तीर्थयात्रा करते हुए अयोध्या पहुँचे । सब मन्दिरोंमें दर्शन आदि करके वे एक महात्माके पास गये । अवसर पाकर उन्होंने पूछा—'महाराज ! भगवान्‌के दर्शन कैसे हों, कहाँ हों ?' ऐसा मालूम हुआ, मानो महात्माजी कुछ रुष्ट हो गये । उन्होंने कहा—'कहाँसे आ रहे हो तुम ?' यात्रीने कहा—'मन्दिरोंमें दर्शन करके ।' महात्माने कहा—'मन्दिरोंमें केवल पत्थरके ही दर्शन करके आ रहे हो ? जिनकी सेवाके लिये हजार-हजार व्यक्तियोंके जीवन, धन और मन लग रहे हैं, जिनके लिये लोगोंने संसारका परित्याग कर रक्खा है, जो बहुतोंके जीवन-सर्वस्व—प्राण हैं, उन्हें तुम केवल पत्थर समझते हो ? उनकी आँखसे देखो, तब तुम्हें मालूम होगा वे मूर्तियाँ क्या हैं ? भैया, वे साक्षात् भगवान् हैं—केवल भाव-दृष्टिसे नहीं, तत्त्व-दृष्टिसे भी । जब तत्त्व-दृष्टिसे सब भगवान् ही हैं, तब ये मूर्तियाँ भगवान् नहीं तो और क्या हैं ? पहले शास्त्रों, संतों और भावनाओंके द्वारा एक स्थानपर भगवान्‌को प्रकट करना पड़ता है । एक स्थानमें, एक समयमें, एक वस्तुमें पहले भगवान्‌का दर्शन करो, उन्हें प्रकट करो; फिर तो सब स्थान, सब समय और सभी वस्तुएँ भगवत्स्वरूप ही होंगी । जो सब और सर्वत्र भगवान् हैं—ऐसा कहते हैं, परन्तु एक स्थानपर उन्हें प्रकट करके दर्शन नहीं कर लेते, वे कहीं भी दर्शन करनेमें सफल नहीं हो सकते । इन मन्दिरस्थ भगवान्‌को पहचानो । इन अनबोलते भगवान्‌से प्रीति करो । अनबोलतेसे प्रेम करनेमें ही तो प्रेमी हृदयकी पहचान है । फिर तो वे बोले बिना रहते नहीं । जब एक जगह बोल देते हैं तो सर्वत्र बोलते हैं । तुम्हें ऐसा कभी नहीं सोचना चाहिये कि मुझे भगवान्‌के दर्शन नहीं हुए । भगवान्‌के दर्शन हो रहे हैं । उन्हें जानकर, मानकर, अनुभव करके तुम्हें केवल मुग्ध होना चाहिये । भगवन्मूर्तिको पाषाण, गुरुको मनुष्य और प्रसादको भोग मानना अपराध है । तुम भगवान्‌को भगवान्‌के रूपमें देखो ।' महात्माजीके उपदेशसे उन्हें बड़ा सन्तोष हुआ । वे अब एक सच्चे मूर्तिपूजक हैं । वे जिस मूर्तिकी पूजा करते हैं, वह साक्षात् भगवान्‌के रूपमें ही उनको दीखती है ।

(८)

पाँच-छः वर्ष पूर्वकी बात है—एक सज्जनके चित्तमें वैराग्यका उदय हुआ । उनकी अवस्था अभी छोटी थी । वे घर-द्वार छोड़कर निकल पड़े और भागकर अयोध्या पहुँचे । उन्होंने वहाँ जाकर एक प्रसिद्ध विद्वान् महात्मासे प्रार्थना की कि आप मुझे वैराग्य-दीक्षा देकर कृतार्थ कीजिये । महात्माने पूछा—'तुम्हारा घर कच्चा है या पक्का, घरपर कितने प्राणी हैं, वहाँ क्या भोजन मिलता है ?' उन्होंने उत्तर दिया—'महाराज, मेरा घर कच्चा है, तीन-चार प्राणी हैं, साधारण भोजन मिल जाता है ।' महात्माजीने कहा—'मेरा मठ पक्का है, यहाँ सैकड़ों साधु रहते हैं, उत्तम भोजन मिलता है । यदि कच्चा घर छोड़कर पक्केमें रहना, तीन-चार प्राणी छोड़कर सैकड़ों प्राणियोंमें रहना और साधारण भोजन छोड़कर उत्तम-उत्तम भोजन करना वैराग्य हो तो तुम आओ, मैं तुमको वैराग्य-दीक्षा दे दूँ । परन्तु यदि तुम्हें अपने विचारसे ऐसा दीखता हो कि वहाँकी अपेक्षा यहाँ कुछ अधिक वैराग्य नहीं है तो तुम्हें घरपर रहकर ही भजन करना चाहिये । भजन होना चाहिये—चाहे हम घरमें हों या वनमें, गृहस्थ हों या विरक्त । वैराग्य अन्तरकी वस्तु है, बाहरकी नहीं । उसका अर्थ इतना ही है कि प्रियतम प्रभुके अतिरिक्त और किसीको भी मनमें स्थान न मिले, उनके अतिरिक्त और किसीसे

राग न हो। तुम केवल उन्हींसे राग करो, उन्हींका भजन करो, उन्हींमें रम जाओ। बाह्य परिस्थितियोंको तुम जितना ही अनुकूल बनाना चाहोगे उतना ही उनमें फँस जाओगे। चाहे जैसी भी परिस्थिति हो, तुम जहाँ भी हो, वहीं भगवान्‌का भजन करो।' महात्माजीका उपदेश मानकर वे घर लौट गये। वे अभी गृहस्थ हैं और उनका भजन बड़े-बड़े विरक्तोंसे भी उत्तम है।

(९)

एक महात्माने एक दिन यह कथा सुनायी थी। थोड़े ही समय पूर्व ऋषिकेश आज-जैसा शहर नहीं था। वहाँ गृहस्थ कभी-कभी जाया करते थे। जङ्गल-झाड़ियोंमें प्रायः विरक्त तपस्वी निष्ठावान् महात्माओंका ही निवास था। चन्द्रभागाके तटपर एक बड़े ही ध्याननिष्ठ महात्मा रहते थे। वे केवल सिद्धासनसे बैठे ही रहते थे। उनके श्वास जोरसे चलते किसीने नहीं देखे। सर्वदा प्राणोंकी समगति और अधखुली आँखें। उनकी अन्तर्मुखता आदर्श थी। एक दिन जब वे ध्यानमग्न थे, किसी श्रद्धालु सज्जनने आकर उनके सामने पचीस रुपये रख दिये। आँख खुलनेपर उन्होंने देखा तो सामने रुपये रक्खे हुए हैं। न उन्हें रुपयोंकी इच्छा थी और न आवश्यकता ही। वे सोचमें पड़ गये 'कि इनका क्या किया जाय!' एक सङ्कल्प उठा कि 'किसी ब्राह्मणको दे दें'। दूसरा हुआ कि 'किसी गरीबको दे दें।' तीसरा हुआ, 'साधुओंका भंडारा कर दें।' और चौथा हुआ, 'गरीबोंको खिला दें।' ध्यान करनेवाले महात्माके मनमें रुपयोंके सम्बन्धमें इतने प्रश्न कभी नहीं उठे थे। वे विक्षिप्त-से हो गये। उन्हें सूझता ही न था कि इन रुपयोंके सम्बन्धमें क्या करें। अबतक उन्होंने रुपयोंको हाथसे छुआ नहीं था। वे घबराकर एक वयोवृद्ध तत्त्ववेत्ताके पास गये और उनसे अपने विक्षेपकी बात कही। महात्माने कहा—'स्वामीजी, अभी आपके मनसे रुपयोंका महत्त्व गया नहीं है। आप समझते हैं यह उपयोगी वस्तु है, इसके द्वारा संसारका काम होता है। इसीसे अनिच्छित रूपमें सामने आनेपर भी उनके द्वारा कुछ-न-कुछ काम करनेकी इच्छा हो गयी। आपको तो केवल ध्यान करना चाहिये। व्यवहारके सम्बन्धमें एक भी प्रश्न आपके चित्तमें नहीं उठना चाहिये। जिस चित्तमें केवल 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का ही ध्यान होना चाहिये, उसमें व्यावहारिक निष्ठुर कर्तव्योंका उदय क्यों हो? आप उनके द्वारा किसीकी भलाई कर सकते हैं, परन्तु इससे आपके चित्तमें भलाई करनेका संस्कार बनेगा, दूसरोंकी आशा बढ़ेगी—आपसे उपकार प्राप्त करनेकी। इस प्रकार आप ध्यानसे वञ्चित हो जायँगे। व्यवहारके किसी भी बड़े-से-बड़े कामकी अपेक्षा भगवान्‌में एक क्षणकी भी चित्तकी स्थिति अनन्तगुनी उत्तम है। इसलिये अब सङ्कल्पोंकी परम्परा यहीं बंद कर दीजिये। रुपयोंको न छूनेपर जब यह स्थिति है, तब उनके छूनेपर तो क्या दशा होगी—इसका अनुमान नहीं किया जा सकता। जो रात-दिन रुपयोंमें ही रहते हैं, उनके चित्तका तो कहना ही क्या है? वे रात-दिन उन्हींकी व्यवस्थाके सम्बन्धमें सोचते रहते होंगे। अब आप उनका स्पर्श मत कीजिये। रुपयोंपर गोबर डालकर बिना छुए ही उन्हें उठा लीजिये और गङ्गाजीमें फेंक दीजिये।' उन ध्याननिष्ठ महात्माने वैसा ही किया, तब कहीं जाकर उनका चित्त स्वस्थ हुआ। विरक्तोंके लिये इन बातोंका सम्बन्ध कितना विघ्नकारक है, यह इस घटनासे प्रत्यक्ष हो जाता है। इसीसे ध्याननिष्ठ लोग प्रायः इन प्रपञ्चोंसे अलग ही रहते हैं।

(१०)

एक प्रेमी जिज्ञासुने अपने ऊपर अत्यन्त कृपा करनेवाले महात्मासे पूछा—'भगवन्! रहस्यकी बात

क्या है ! जिसे गुरुलोग अपने एकान्तप्रेमी शिष्योंको गुप्तरूपसे बताया करते हैं, वह कौन-सी बात है ?'

महात्माने कहा—'यदि मैं बता दूँ तो वह रहस्य ही कहाँ रह जायगा ? रहस्यकी बात दूसरा कोई नहीं बता सकता, उसका पता तो अपने-आप ही लगाया जाता है ।' जिज्ञासुने कहा—'तब तो यह बात मुझे कभी मालूम हो नहीं सकती । मैं तो आपसे ही जानना चाहता हूँ ।'

महात्माने कहा—'दो प्रकारकी प्रणाली है रहस्य बतानेकी । एकमें तो गुरु अपने अत्यन्त प्रिय शिष्यको अपने महत्त्वकी बातें बताते हैं—मुझे इस प्रकार अनुभव हुआ है, यह वरदान मिला है, मैं यह हूँ, इत्यादि । कई पंथोंमें अपनी उपासना अथवा अपने गुरुजनोंकी उपासना बतलायी जाती है और शिष्यको अपनी साधनाके परायण होनेको कहा जाता है और उसकी रक्षा तथा त्राणका आश्वासन दिया जाता है । दूसरी प्रणाली अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और यह रहस्य केवल सच्चे गुरु ही बता सकते हैं । इसमें गुरुदेव समस्त जगत्‌की सत्ताके बाधके साथ-ही-साथ अपना भी बाध कर देते हैं और शिष्यसे कहते हैं—'मैं नहीं हूँ, तू ही है । मैं, जिसे शरीरके रूपमें तुम देख रहे हो, जिसमें अनेक गुणोंका आरोप तुम कर रहे हो, जिसके प्रवचन, युक्ति-कौशल, प्रेम, सदाचरण और शुद्ध व्यवहारको देख-सुनकर तुम श्रद्धा-वनत हो जाते हो, जिसे कभी-कभी भावातिरेकसे तुम भगवान् कहने लग जाते हो, वह मैं तुम्हारी कल्पनाके अतिरिक्त और कुछ नहीं हूँ । मैं और तुम दोनों उपाधिरहित, निर्विशेष एवं एक हैं । न मैं मैं हूँ और न तू तू ही है । मैं, तू और वह —इन शब्दोंके अर्थ जिन्हें भिन्न-भिन्न मालूम पड़ते हैं, उन्हें रहस्यका ज्ञान नहीं है, वे तो स्थूलताओंमें और उनके संस्कारोंमें आबद्ध हैं । समस्त आवरणोंको फाड़ डालने पर केवल एक और केवल एक ही वस्तु ऐसी निकलती है, जो सबका एकमात्र अर्थ है । भिन्नताके अर्थ तो कामचलाऊ, व्यावहारिक हैं । वैसे अर्थ जाने बिना जिनसे रहा नहीं जाता, अपनी वासनाओंकी पूर्तिमें बाधा पड़ती दीखती है, वे अर्थ उन्हींके लिये हैं । वास्तविक अर्थ तो सभी शब्दोंका एक ही है, उसे भले ही लक्ष्यार्थ कह लो । यह लक्ष्यार्थ और वाच्यार्थका 'भेद' भी व्यावहारिक ही है । इसलिये एक निर्विशेष सत् है, वही तुम हो, वही मैं हूँ । मुझे अपनेसे पृथक् सत्ता देनेवाले तुम्हीं हो ।'

इस प्रकारका समत्व—यह आत्मदान, जो शिष्य-को केवल गुरुके रूपमें ही नहीं, गुरुत्व और शिष्यत्व-से ऊपर परमात्माके रूपमें प्रतिष्ठित कर देता है, केवल सच्चा गुरु ही कर सकता है । यही रहस्य है ।

नारी

(पाश्चात्यसमाजमें और हिन्दूसमाजमें)

[पूर्वप्रकाशितसे आगे]

(लेखक—श्रीचारुचन्द्र मित्र एटर्नी-एट्-लॉ)

तीसरे प्रबन्धमें दिखलाया गया है कि कन्याओंके विवाहकी अवस्था क्रमशः बढ़ती ही जा रही है। सम्मिलित परिवारकी प्रथाके टूट जाने एवं अपने आत्मीयोंसे सहायताकी आशा न रहनेके कारण, स्त्री और सन्तानादिके पालन करनेमें समर्थ पात्रोंकी संख्या बहुत ही कम हो गयी है और सबमें अपनी अवस्थासे अधिक भोगासक्ति बढ़ गयी है। ऋषियोंने जिस प्रकारकी प्राप्तवयस्क कन्याओंके विवाहकी आज्ञा दी थी, उसे अब कोई मानना नहीं चाहता; नारी-स्वत्वप्रचारक युवकोंमें बहुतेरे विवाह ही नहीं करना चाहते। अतएव जिस प्रकार पाश्चात्य देशोंमें अधिक उम्रतक बहुतेरे स्त्री-पुरुष अविवाहित रहते हैं, इस देशमें, वहाँकी अपेक्षा कई गुना दरिद्र होनेके कारण, बहुसंख्यक लोगोंको अविवाहित रहना पड़ेगा और कन्याओंके संरक्षक अपना सर्वस्व गवाँकर भी कन्याओंके लिये वर नहीं पा सकेंगे। कुलीनताकी प्रथाके अनुसरणके कारण बंगालमें केवल १०-१५ हजार कुलीन ब्राह्मण-कन्याओंकी जो दुर्गति होती थी, तथा प्रतिशत २-३ विधवाओंकी जो दुर्गति होती है, उसके निवारणके लिये हमलोग शिक्षित होकर, नारीस्वत्वप्रसारक होकर पाश्चात्योंकी काञ्चन-कुलीनता और समाज-गठनका अनुकरण कर रहे हैं और उसीके फलस्वरूप उन अल्पसंख्यक कुलीन ब्राह्मणकन्याओं तथा बालविधवाओंके बदले ४०-५० प्रतिशत अविवाहिता स्त्रियोंको प्रायः समस्त यौवनकालमें—जब इन्द्रियाँ प्रबल रहती हैं, तथा कामकी ताड़ना जब सर्वापेक्षा अधिक रहती है—कोई विशेष संयमशिक्षा न देकर, उनके कामको उद्दीप्त कर, उन कुलीन कन्याओंकी अपेक्षा—उन बालविधवाओंकी अपेक्षा अधिक दुर्दशामें डाल रहे हैं और जिस शिक्षाको प्राप्त कर युवक अधिक संख्यामें बेकार हो रहे हैं, वही शिक्षा हमारी नारियोंको देनेकी चेष्टा कर रहे हैं। यह शिक्षा प्राप्त कर वे जीविकोपार्जनमें समर्थ होंगी, इस प्रकारकी व्यर्थ आशा करते हैं, परन्तु यह नहीं विचारते कि इससे केवल नौकरी करनेवाले उम्मेदवारोंकी संख्या बढ़ेगी और नौकरी पानेपर भी दासत्वकी दुर्दशा भोगनी पड़ेगी।

बहुत समयतक अविवाहित रहकर स्त्रियोंको पति प्राप्त करनेके लिये क्या करना पड़ता है, कुछ दिनोंके बाद ही हमारी स्त्रियोंको क्या करना पड़ेगा, जरा इसपर भी तो विचार कीजिये। हमारे समाजके गठनके टूटनेपर यह अवश्यम्भावी है। किसी प्रकार भी इस दुर्गतिसे उन्हें छुटकारा न मिलेगा, यह भी विचारणीय है। अधिक उम्रमें विवाह करनेपर सबको अपनी-अपनी पसंदके अनुसार विवाह करना पड़ता है। बहुतेरे युवक एवं युवतियाँ इसीको श्रेष्ठ पद्धति समझ रहे हैं। उनको समझाया गया है कि भारतवर्ष जब उन्नत था, तब यहाँ स्वयंवरकी प्रथा प्रचलित थी। परन्तु यह प्रथा कभी सर्वसाधारणमें प्रचलित थी, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। केवल क्षत्रियराजकन्याओंमें यह प्रथा देखी जाती थी, परन्तु वह भी असामान्य रूप-लावण्यवती कन्याओंके लिये थी। आज भी इस प्रकारकी असामान्य रूप-लावण्यवती धनी कन्याओंके लिये स्वयंवर-सभा बुलानेपर अनेकों सुपात्र मिल सकते हैं, परन्तु साधारण युवतियोंके लिये एक भी मनमाफिक पात्र नहीं मिलेगा। स्त्रियोंका अधिक आदर करनेवाले इस युगमें स्त्रियोंकी इस प्रकार दुर्गति हो रही है कि यदि कोई अर्थोपार्जनमें समर्थ पुरुष स्वयंवरके द्वारा कन्या चुनना चाहे तो देश-विदेशसे हजारों युवतियाँ अपने-अपने गुणोंके प्रदर्शक प्रशंसापत्रोंके साथ आकर उसकी अर्द्धाङ्गिनी बननेके लिये आवेदन करेंगी। फलतः यही प्रथा दूसरे रूपमें पाश्चात्य देशोंमें चल रही है। परन्तु पाश्चात्य सभ्यताके मोहमें हम इतने अंधे और मूढ़ हो गये हैं कि उस देशकी भीतरी अवस्थाका ज्ञान न होनेके कारण हम इन सब बातोंको नहीं विचारते। एमा बिल्किन्सन (Emma Wilkinson) कुछ वर्ष पहले भारतवर्षकी अवस्था देखनेके लिये आयी थीं। भारतवर्षकी स्त्रियोंकी अवस्थाके विषयमें, जिसपर उनका सबसे पहले ध्यान गया, वे लिखती हैं—(Liberty, April 1933)—'पाश्चात्य देशोंमें व्यक्तिवादका सिद्धान्त प्रचलित होनेके कारण स्त्रियोंको सभी बातोंमें प्रतियोगिता करनी पड़ती है—पति प्राप्त करनेके लिये, जीविकाके लिये, समाजमें प्रतिष्ठाप्राप्तिके लिये—अनेक विषयोंमें दूसरी स्त्रियोंसे

बढ़कर काम दिखलानेके लिये (to break records) प्रतियोगिता करनी पड़ती है। भारतवर्षकी स्त्रियोंको पति प्राप्त करनेके लिये प्रतियोगिता नहीं करनी पड़ती—यहाँतक कि जिस प्रकारका पति वे चाहती हैं, उसके लिये भी नहीं।' अब विचार कीजिये कि क्या इस प्रकारकी प्रतियोगिता नौकरीकी उम्मीदवारीके लिये सार्टिफिकेटके साथ आवेदनपत्र देनेके समान नहीं है? इस प्रकार अनेक स्थानोंमें असफल होनेकी लाञ्छना तथा अपमान सहना क्या हीनता स्वीकार करना नहीं है? स्त्रियोंका सत्कार करनेवाले नयी रोशनीके सुधारकलोग संसारसे अनभिज्ञ युवतियोंको इस प्रकार अपमान एवं हीनता स्वीकार करनेमें ही उनके अधिकारकी रक्षा तथा प्रतिष्ठाकी वृद्धि है, ऐसा समझते हैं और इसीका श्रेष्ठ विवाह-पद्धतिके नामसे प्रचार करते हैं।

नवागत पाश्चात्य नारीका ध्यान पहले-पहल जिस विषयकी ओर आकर्षित हुआ, यह हम देख चुके। इस देशमें बहुत दिनोंतक निवास करनेके बाद प्रसिद्ध अंग्रेज लेखक फ्रेडरिक पिनकॉट (Frederick Pincott) साहबने अपनी 'Federated India' नामक पुस्तकमें इस देशकी विवाहपद्धति और पाश्चात्य विवाहपद्धतिकी तुलना करके तथा पाश्चात्य स्त्रियोंको पतिकी खोजमें क्या करना पड़ता है, यह बतलाते हुए जो कुछ लिखा है, पाठक-पाठिकाओंकी जानकारीके लिये वह नीचे लिखा जाता है—'यदि किसी देशके लोग बुद्धिमान् हैं और वहाँ हजारों वर्षोंसे कोई सामाजिक प्रथा प्रचलित देखी जाती है, तो वह प्रथा बुद्धिहीनताका परिणाम अथवा न्यायविरुद्ध है—ऐसा नहीं कहा जा सकता। हिंदू-सामाजिक प्रथाके विषयमें यह बात सबको स्वीकार करनी चाहिये; क्योंकि पण्डितवर मैक्समूलर (Maxmuller) ने हिंदुओंको दार्शनिकोंकी जातिके नामसे पुकारा है। हिंदुओंका धर्म तथा समाज-गठनकी व्यवस्था सहस्रों वर्षोंके गम्भीर चिन्तन और अनुभवसे उत्पन्न हुई है, यह भी निश्चय है। हमलोग (अंग्रेज) हिंदुओंको विज्ञान या यन्त्रनिर्माण-विद्याकी शिक्षा देनेमें चाहे कितने भी समर्थ क्यों न हों? समाज-दर्शनके विषयमें कोई शिक्षा देनेयोग्य ज्ञान हमारे पास नहीं है। समाजकी शान्ति और कल्याणके लिये जो नियम आवश्यक हैं, जिन मूल-सिद्धान्तों (Principles) का अनुसरण करके विभिन्न श्रेणीके लोग परस्पर अनुकूल होकर एक सङ्घमें एकत्र कार्य कर सकते हैं, उनको हिंदुओंने प्रकृतिके नियमोंका पर्यवेक्षण करके स्थिर किया है। हिंदू-समाज-विज्ञान और समाज-गठन इतना सुन्दर और सुसम्बद्ध है कि इसका कहीं भी परिवर्तन करनेसे सबका ही पुनर्गठन करना पड़ेगा। यह चिरकालसे प्राकृतिक नियमोंके पर्यवेक्षणके ऊपर प्रतिष्ठित है और ये नियम किस प्रकार जनसाधारणको शान्ति और सुख प्रदान कर सकते हैं—इसका निरूपण गम्भीर चिन्तनके बाद किया गया है। हिंदुओंने बहुत समय पहलेहीसे सामाजिक समस्याओंकी सुन्दर मीमांसा की है। इस विषयमें यदि हम अपनी अपरिमार्जित विचारधाराका उनके बीच प्रचार करें तो इससे केवल अनर्थ ही होगा और उससे हिंदू-समाज भी उसी प्रकार विशृङ्खल हो उठेगा जिस प्रकार हमारा लआकर समाज परस्परविरोधी स्वार्थ-संघर्षोंकी लीलाभूमि बन रहा है। 'हे चिकित्सक, तुम पहले अपनेको रोगमुक्त करो, फिर हमारी चिकित्सामें हाथ लगाना' —इस प्रकारकी श्लेषपूर्ण वाणीका प्रयोग हिंदूलोग हमारे प्रति कर सकते हैं। समाजके विषयमें अंग्रेज हिंदुओंके चरणोंके समीप बैठकर शिष्यरूपसे शिक्षा ग्रहण करनेयोग्य हैं, उनमें गुरु होकर शिक्षा देनेकी कोई योग्यता नहीं।

'माता-पिताकी अधीनता स्वीकार किये बिना और उनके ऊपर विवाहके स्थिर करनेका भार दिये बिना, अल्पावस्थाकी विवाह-प्रथा चल ही नहीं सकती। सन्तानका विवाह माता-पिताकी इच्छाके अनुसार होना इँगलैंडके लिये आश्चर्यकी बात हो सकती है तथा बीभत्स व्यापार समझा जा सकता है। इस विषयमें हमारे मनोभाव हमारे अभ्यासके अनुरूप हैं। हमारी शिक्षा-दीक्षा किस प्रकारकी है? तथा हम जिनके साथ साधारणतया मिलते-जुलते हैं; वे लोग क्या करते हैं?—इसके आधारपर ही हमारे समाजके विषयमें लोग अपना मत निश्चित करते हैं। भारतवर्षके लोग माता-पिताके द्वारा सन्तानादिका विवाह निश्चित करना अत्यावश्यक समझते हैं और इस विषयमें उनका महान् उत्तरदायित्व समझा जाता है। अपनी कन्याओंका सुपात्रके साथ विवाह करनेके लिये वे ऋण लेकर अपने भविष्य जीवनको भाराक्रान्त कर लेते हैं। इसीसे जाना जाता है कि पाश्चात्य देशोंमें जिस प्रकार विवाह खूब सोच-विचारकर नहीं होता, वैसी बात भारतवर्षमें नहीं है। हिंदूसमाजमें प्रत्येक बालिकाका एक अभिभावक होता है, वह अपने निजी कष्ट या धनकी परवा न करके धर्मतः उसको सुपात्रके साथ ब्याहनेके लिये बाध्य होता है। इस प्रकारकी व्यवस्था होनेसे बालिकाको अपनी पसंदके

अनुसार विवाह करनेका अधिकार नहीं होता; परन्तु क्या उन्हें अपनी पसंदके विवाहमें कोई सुविधा होती है ? भारतवर्षमें यह आशा ही नहीं की जाती कि कोई कन्या अपनी पसंदके अनुसार विवाह करेगी । अतएव ऐसा करनेका अवसर न मिलनेसे उसे कोई हानि नहीं मालूम होती । बल्कि जिस बालिकाके लिये वर ठीक करनेवाला कोई अभिभावक नहीं होता, वही अभागिनी समझी जाती है ।

'पाश्चात्य देशोंमें विवाहके विषयमें अनिश्चितताके कारण जो आशङ्का और उत्सुकता रहती है, भारतकी स्त्रियाँ उससे मुक्त होती हैं, और इसीलिये विवाहको वे विधाताका विधान समझती हैं और यह विचार उन्हें भविष्यमें शुभ फल देता है । बालक-बालिका—वर-कन्या दोनों एक दूसरेके लिये जन्म लेते हैं और उन्हें जीवनपर्यन्त एक साथ रहना होगा, इस विचारको लेकर ही दोनों बड़े होते हैं और दोनों ही भविष्य जीवनमें एक दूसरेके लिये उपयोगी होनेकी शिक्षा ग्रहण करते हैं । एक दूसरेके लिये त्याग स्वीकार करने तथा एक दूसरेकी विरोधी इच्छाओं और स्वार्थोंका सामञ्जस्य करनेके सामर्थ्यपर ही दाम्पत्य-जीवनका सुख मूलतः निर्भर करता है, यह सभी मानते हैं । अल्पावस्थामें विवाह होनेसे तथा विवाहको विधाताकी कृति समझनेसे इस प्रकारके त्याग-स्वीकार एवं सामञ्जस्यकी प्रवृत्ति बढ़ती है । हिंदू-विवाह अविच्छेद्य होता है और दाम्पत्य-जीवनमें दोनोंका सदा एक होकर रहना भी निश्चित है; अतएव जो कुछ हुआ है, उसीसे जिस प्रकार अधिक-से-अधिक कल्याण हो, वही करनेकी प्रवृत्ति दोनोंमें होती है । यह सारी सुव्यवस्था सहस्रों वर्षोंसे परीक्षा की हुई है और उसका सुन्दर परिणाम उसकी श्रेष्ठताको प्रमाणित करता है । हिंदू-दाम्पत्य-जीवन विशेष सुखप्रद है, इसे सभी मानते हैं । बातुल सुधारक भी हिंदू-विवाहको असुखदायी कहनेका साहस नहीं करते । यही हिंदू-विवाह-प्रथाकी उत्कृष्टताका प्रबल प्रमाण है और जो लोग इस प्रथाको बदलना चाहते हैं, उनकी यह चेष्टा अत्यन्त गर्हित है—यह भी आगे बताया जाता है ।

'इस सुव्यवस्थित प्रथाके साथ इँगलैंडकी अव्यवस्थित दूषित प्रथाकी तुलना कीजिये । सभी जानते हैं कि अंग्रेज-युवतियोंको युवकोंके आकर्षणार्थ अनेकों प्रकारके बनाव-शृङ्गार करने पड़ते हैं, मोहिनी विद्याका प्रयोग करना पड़ता है और जिस उम्रमें वे ऐसा करती हैं, उस उम्रमें उनके ऐसा करनेका कारण भी स्पष्ट समझा जा सकता है । वर खोजनेके लिये उस देशकी रीतिके अनुसार सामान्यतः इस प्रथाका अवलम्बन करनेसे नारीसुलभ लज्जाशीलता एवं संयमका न्यूनाधिक मात्रामें लोप हो जाता है । सभी जानते हैं कि युवतियाँ जो कुछ करती हैं, उनके माता-पिता उसमें सहारा देते हैं तथा जहाँ युवकोंके विवाहके फंदेमें पड़नेकी सम्भावना होती है, वहाँ उनकी कन्याएँ जा सकें—इसके लिये विशेष चेष्टा करते हैं । इस प्रथाका विस्तारपूर्वक वर्णन करनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि इसे सभी जानते हैं । इस प्रकारकी प्रथा प्रचलित है, इसीलिये यह अच्छी है, यही शिक्षा वहाँ दी जाती है ।

'परन्तु इस प्रकारकी व्यवस्थाका फल प्रायः अशुभ होता है । पति खोजनेकी चेष्टामें जो हलकापन उत्पन्न होता है, उसके फलस्वरूप स्त्रियाँ प्रणयका स्वाँग रचनेकी शौकीन बन जाती हैं और पति प्राप्त करनेकी चेष्टाके समय जो आमोद और उन्माद होता है, उसे प्राप्त करनेकी चेष्टा करने लगती हैं । परिणाम यह होता है कि विवाह-विच्छेदके लिये उन्हें अदालतका मुँह देखना पड़ता है । मैंने अपनी (अंग्रेजोंकी) विवाहपद्धतिका जो वर्णन किया है, उसे मिथ्या या अतिरञ्जित कहनेका क्या किसीको साहस हो सकता है ? पतिकी प्राप्तिके लिये पाश्चात्य देशोंमें लड़कियाँ क्या करती हैं ?—इसका जो वर्णन उपन्यास-लेखकोंने सामान्यतः किया है, वह उनकी कल्पनाकी उपज नहीं है । मैंने जो कुछ कहा है, वह सबको विदित है, इसे सदा सब प्रत्यक्ष देखते हैं । हास्यरसप्रधान पत्रोंमें यही प्रधान विषय होता है, सारे समाचारपत्रोंमें इसकी दुःखमय कहानी प्रकाशित होती रहती है । हम हिंदुओंको उनकी आडम्बरशून्य सुसंयत व्यवस्थाके बदलेमें अपने (अंग्रेजोंके) चाल-चलनको ग्रहण करनेके लिये कहते हैं । हमारी वर्तमान विवाहपद्धतिके फलस्वरूप विवाहविच्छेदकी अदालतोंका काम बढ़ जायगा और दाम्पत्य-जीवनमें बहुत कम आदमी सुखी हो सकेंगे । स्वयं पति चुननेकी पद्धतिमें एक दूसरेके दोष तथा कमी देखनेकी प्रवृत्ति प्रबल होती है और इसके फलस्वरूप विवाह अत्यन्त आशङ्कापूर्ण एवं अनिश्चित फल देनेवाला व्यापार हो गया है । कोई भी हिंदू बालविवाहको प्रथाको—जिसमें माता-पिता महान् उत्तरदायित्वका बोध करते हुए खूब सोच-विचारकर वर-कन्याका निर्वाचन करते हैं—छोड़ना नहीं चाहेगा (हम लोग पाश्चात्योंकी अभिरुचिके गुलाम होकर उसकी भी इच्छा करने लगे हैं); क्योंकि हिंदू लोग जानते हैं कि ऐसा करनेसे प्रेम-प्रार्थना (Court-

ship) तथा उसके साथ उत्पन्न होनेवाले अनेकों अन्य दुष्परिणाम, जिनका मैंने संक्षेपमें उल्लेख किया है, स्वयं आ उपस्थित होंगे।

'बहुत-से सुधारक कहते हैं कि हिंदुओंकी विवाह-प्रथासे स्त्रियोंकी अवनति होती है। जिनको हिंदू-जीवनका अनुभव है, वे सभी एकमतसे स्वीकार करते हैं कि हिंदू स्त्रियाँ अपनी शिष्टता, नम्रता, गृह-कार्यमें कुशलता और प्रीति उत्पादन करनेवाले गुणोंके लिये प्रसिद्ध हैं; ऐसी अवस्थामें सुधारकोंके आक्षेप सर्वथा निराधार हैं, यह स्पष्ट हो जाता है। अंग्रेज-युवतियाँ जिस प्रकार प्रतिष्ठाप्राप्तिके लिये व्यग्र होती हैं, उस व्यग्रताका हिंदू स्त्रियोंको पतातक नहीं है। वे कभी अश्लील सामाजिक प्रसङ्गोंमें योग नहीं देतीं--पुरुषोंके साथ प्रतिद्वन्द्वितामें खड़ी होकर वे कभी प्रतिष्ठा या ख्याति प्राप्त करनेकी चेष्टा नहीं करतीं। यह अंग्रेजी प्रथाका ही फल है कि उनमें दोष देखा जा रहा है; क्योंकि यह प्रथा स्त्रियोंको अधोगामिनी और हीन बना देती है। हिंदूप्रथामें स्त्रियोंकी पवित्रता एवं निःस्वार्थता प्रभृति नारीसुलभ सभी गुण संरक्षित होते आये हैं। क्या उच्च स्तरकी, क्या निम्न स्तरकी—सभी अंग्रेज-स्त्रियाँ अपने स्थानसे च्युत हो गयी हैं—अब वे पुरुषोंकी सहायता करनेवाली नहीं रह गयी हैं, बल्कि उनकी प्रतिद्वन्द्वी और शत्रु बन गयी हैं। भारतवर्षमें ऐसी दुरवस्था नहीं होती, क्योंकि बाल-विवाहकी प्रथाके कारण प्रत्येक युवतीका एक रक्षक और प्रतिपालक होता है। विना किसी प्रकारका छल किये या प्रलोभन दिखलाये प्रत्येक युवती इस प्रकारका रक्षक और प्रतिपालक प्राप्त करती है और मृत्युके अतिरिक्त और किसी कारणसे वह उस आश्रयसे च्युत नहीं होती। हिंदूसमाजने पतिकी मृत्यु हो जानेपर भी उनका पालन हो सके और वे मातृत्वका उपभोग कर सकें—इसकी सुव्यवस्था की है। (मनु० ९। ५९, ६०, ६९, ७०)।

'जिस कारणसे बाल-विवाहके विरुद्ध आन्दोलन उठाया गया है, वही कारण इँग्लैंडमें किस रूपमें है?—इसका भी विचार करना चाहिये। जिस देशका हम सुधार करनेके लिये उद्यत हुए हैं, उसमें बीस करोड़ मनुष्योंके अंदर २८ वर्षमें केवल दो कन्याओंके ऊपर अत्याचार हुआ प्रकाशमें आया है। इन दो उदाहरणोंसे अनुमान किया जाता है कि और भी ऐसे अत्याचार होते होंगे। इस प्रकारके क्षेत्रमें जैसा शारीरिक उत्पीड़न होता है, उससे इस प्रकारके बहुसंख्यक अत्याचारोंका गुप्त रहना सम्भव नहीं है। इसके साथ Mclaren's Parliamentary Returns के आधारपर इँग्लैंडके ११ शहरोंकी, जिनमें एक करोड़ बीस लाख आदमी बसते हैं, तुलना कीजिये। उक्त कागजोंसे ज्ञात होता है कि १८८९ ई० में १३ वर्षतककी २६ बालिकाओंके साथ ऐसा अत्याचार हुआ था। इतना ही नहीं, बल्कि और भी ६४ आदमी बलात्कार करनेकी चेष्टाके लिये दण्डित हुए थे। उनमेंसे अकेले लंदन नगरमें इनकी संख्या ४५ थी। अब तुलना कीजिये, सारे भारतवर्षमें २८ वर्षमें २, और प्रतिवर्ष इँग्लैंडके एक भागमें ९० अत्याचार*। इन बालिकाओंके प्रति अत्याचार और विवाह-विच्छेदसम्बन्धी अदालतोंकी कहानी क्या हमें हिंदुओंको नीतिशिक्षा देनेमें सहायता करती है?

'आजकल बहुत-से लोगोंका इकट्ठे होकर मनमानी तौरसे प्रणय-प्रार्थना (Courtship) करना ही साधारण नियम हो गया है; इसमें जैसी विपत्ति है और जिस प्रकारका नैतिक अधःपतन होता है, उसे लिखकर व्यक्त नहीं किया जा सकता। युवक-युवतिगण दिवालोकसे वर्जित रात्रिमें, गैस या चन्द्रिकाके प्रकाशमें, मनको आकर्षित करनेवाले लज्जाहीन बहुमूल्य वस्त्रोंसे सज्जित होकर इकट्ठे होते हैं—वहाँ मन्द मुस्कानके साथ चञ्चल कटाक्ष चलता है, मृदु स्वरसे मधुर वार्तालाप होता है, कुछ समयतक इधर-उधर करनेके बाद किसी एकान्त कोनेका आश्रय लिया जाता है, आकस्मिक उद्दीप्त वासनाका मोह उस समय प्रेमरूपमें प्रतिभात होता है—अज्ञात पुरुषोंको भी आकांक्षित गुणोंसे युक्त मान लिया जाता है और इस प्रकार क्षणिक बुद्धिहीनताके कारण उनके सारे जीवनके आत्मसम्मानसे हीन एवं आनन्दरहित हो जानेकी पूर्ण आशङ्का रहती है।'†

* १९०९ से लेकर १९१३ ई० तक प्रतिवर्ष इँग्लैंडमें १३ वर्षतककी १३० बालिकाओंके ऊपर अत्याचार हुआ है—इस प्रकार पार्लामेंटकी जाँच कमेटीने रिपोर्ट की है।

† अन्तिम पैरेका समुचित अनुवाद न हो सकनेके कारण उसका अवतरण नीचे दिया जाता है—

"There are no words strong enough to express the general danger and degradation of mob courtship which have become the fashion, almost the law in modern times, when in a miserable confusion of candle light, moonlight, and limelight,—and anything but daylight in indecently

एक और बात, जिसे सभी जानते हैं Frederick Pincott ने नहीं कही है। सभी स्त्रियाँ इस कोर्टशिपके मेलेमें आनेके उद्देश्यसे अनेकों बहुमूल्य रंग लगाकर रूपकारिणी स्त्रियों (beauty specialists) के द्वारा यथार्थ स्वरूपको कृत्रिम उपायोंसे ढककर रूपवती बनती हैं। इससे ढीले चमड़ेवाली प्रौढ़ा स्त्रियाँ भी नवेली जान पड़ती हैं, छोटे-बड़े दाँतोंवाली दाँतोंको उखड़वाकर तथा बिना दाँतवाली स्त्रियाँ कृत्रिम दाँत लगवाकर सुन्दर दाँतवाली बन जाती हैं; कृत्रिम नासिका, भौंहें और नेत्र सजाकर आकांक्षित पुरुषोंको रूपके फन्देमें डालनेकी चेष्टा करती हैं—तिसपर भी वे बहुधा विफल होती हैं। यही अपनेसे वर चुननेकी प्रथाका यथार्थ स्वरूप है। कहाँ द्रौपदीके समान स्वयंवर-सभा! कहाँ नाटक-उपन्यासोंमें वर्णित सर्वगुणाकर नायकोंके साथ सम्मिलन और सारी विघ्न-बाधाओंका अचिन्तित घटनाओंके सहयोगसे निराकरण तथा उसके बाद सुख-सागरमें डूब जाना! इसके बदलेमें प्राप्त होती है सारे यौवनकी उद्दीपित तृषा, बार-बार अंगीकृत न होनेका अपमान—स्वास्थ्य और चरित्रका नाश करनेवाले अर्थोपार्जनसम्बन्धी कर्म करनेकी लाञ्छना, प्रेमास्पद एवं धनियोंके द्वारा सर्वनाश, (१) प्रकट या अप्रकटरूपसे वेश्यावृत्ति, (२) यौनरोगग्रस्तता, स्त्रियोंके स्वरूपभूत मातृत्व-का—जिसके लिये उसका सारा अंग गठित और लालायित होता है तथा जिसमें उनके जीवनकी सार्थकता है—निरोध, और उसके कारण स्नायुओंका विकृत होना, (३) हृदयविदीर्णकारी भ्रूणहत्या करनेके लिये बाध्य होना, (४) जारज सन्तानके

---

attractive and insanely expensive dresses, in snatched moments, in hidden corners, in accidental impulses and dismal ignorances, young people smirk and ogle and whisper and whimper and sneak and stumble and flutter and blunder into what they call love, expect to get whatever they like the moment they fancy it, and are continually in danger of losing all the honour of life for a folly and all the joy of it by an accident."

(१) इटलीकी १०४४२ वेश्याओंसे यह पूछनेपर कि उन्होंने किन कारणोंसे वेश्यावृत्तिका अवलम्बन किया, यह विदित हुआ कि उन्होंने निम्नलिखित कारणोंसे उक्त वृत्तिका अवलम्बन किया—

दुर्व्यसन एवं दुश्चरित्रता	१७५२
माता-पिता, पति आदिकी मृत्यु	११११
प्रेमिकोंके द्वारा फुसलाया जाना	१६५१
मालिकोंके द्वारा फुसलाया जाना	९२७
माता-पिता अथवा पतिके द्वारा परित्याग	७९४
विलासिताका प्रेम	६९८
प्रेमी अथवा बाहरके किसी व्यक्तिकी प्रेरणा	६६६
माता-पिता अथवा पतिकी प्रेरणा	४००
माता-पिता अथवा सन्तानके पालन-पोषणकी चिन्ता	३९३
अन्य कारण	२०

न्यूयार्क शहरमें १९९२ वेश्याओंके जीवनका अनुसन्धान करनेपर उनकी वेश्यावृत्तिके निम्नाङ्कित कारण ज्ञात हुए—

दरिद्रता	५२५
अनुकूल मनोवृत्ति	५१३
फुसलाया जाना अथवा परित्याग	२५८
सुरापान तथा उसकी कामना	१८१
माता-पिता, अन्य सम्बन्धी तथा पतियोंद्वारा दुर्व्यवहार	१६४
आरामका जीवन बितानेकी इच्छा	१२४
दुःसङ्ग	८४
वेश्याओंद्वारा बहकाया जाना	७१
अकर्मण्यता	२९
सतीत्वका नाश	२७
देशपरिवर्तनके बहाने फुसलाया जाना	२४

हमारे इस गरीब देशमें कितनी अधिक स्त्रियोंको पेटके लिये इस जीविकाका अवलम्बन करना पड़ेगा, इसपर भी विचार कीजिये। बड़ी अवस्थामें विवाह होनेपर उस समयके भीतर ही बहुतोंके माता-पिताकी मृत्यु होना भी निश्चित है।

(२) हैवलॉक एलिस (Havelock Ellis) अपने यौनशास्त्र (Psychology of Sex, vol. VI) में लिखते हैं कि बहुतेरी गरीब मध्यम श्रेणीकी तथा मजदूरोंकी लड़कियाँ भी गुप्तरूपसे वेश्यावृत्ति करती हैं, यह भी निश्चय है। ऐक्टन (Acton) साहब अपनी वेश्यावृत्ति (On Prostitution) नामक विख्यात पुस्तकमें लिखते हैं कि अनगिनत अंग्रेज स्त्रियाँ बीच-बीचमें वेश्यावृत्ति करती हैं।

(३) पाँचवाँ प्रबन्ध देखिये।

(४) चौथा प्रबन्ध देखिये।

पालन-पोषणका भार अकेले ही उठाना, (५) अशान्तिकर विवाह और उससे परित्राण पानेकी चेष्टा, (६) स्त्री-पुरुषमें ऐसा विद्वेषभाव—जैसा न तो प्राणीजगत्‌में कहीं देखा गया और न इतिहासमें कहीं सुना गया, और वृद्धावस्थामें निर्जन कारावास। स्त्रियोंकी अधिक प्रतिष्ठा करनेवाले सुधारक लोग इसको भी नारी-स्वत्वके प्रसारके नामसे पुकारते हैं और युवकोंको पाश्चात्त्य प्रथाका अनुकरण करनेके लिये कहते हैं। धनियोंकी स्तुति करनेवालों-के प्रलोभनमें आकर ग्रामीण स्त्रियोंके गृहत्याग करनेपर जो उन्नति होती है, उनकी जैसी सुखवृद्धि होती है, अत्यन्त धनी पाश्चात्त्योंकी बातोंमें आकर अपनी समाजपद्धतिका त्याग करने-से इस देशकी स्त्रियोंकी भी वैसी ही उन्नति और सुखवृद्धि होगी--और होने भी लगी है। परन्तु दुःखकी बात है कि कोई इसपर विचार नहीं करता। सम्मिलित परिवारकी प्रथा जितनी ही टूट रही है, उतना ही कुलीनवंशकी महिलाओंको भी क्रमशः अधिक संख्यामें भिक्षावृत्तिका अवलम्बन करना पड़ रहा है और वह भी दुष्प्राप्य हो गयी है, दहेजका परिमाण भी बढ़ता जा रहा है, शिक्षिता महिलाओंको गुलामी-की उम्मेदवारीमें भटकना पड़ता है—अबतक आत्मीयोंकी सहायतासे जो अर्थोपार्जनसम्बन्धी कर्म होते थे, अब पुरुषों-के साथ प्रतियोगितामें उन्हीं कर्मोंके करनेकी चेष्टा करनी पड़ती है, युवकोंको आकर्षित करनेवाले गुणोंको प्राप्त करना भी आवश्यक हो रहा है, विवाह-विच्छेदकी भी आवश्यकता हो रही है। थोड़े ही दिनोंमें पाश्चात्त्य स्त्रियोंको जो कर्म करने पड़ते हैं, हमारी युवतियोंको भी वही करने पड़ेंगे, सारी लाञ्छनाओंको भोगना पड़ेगा--बल्कि तदपेक्षा और भी अधिक दुर्दशा भोगनी पड़ेगी।

(५) किस पाश्चात्त्य देशमें प्रतिसहस्र कितनी जारज सन्तान उत्पन्न होती है, इसका विवरण Encyclopædia Britannica के आधारपर नीचे दिया जाता है—

	१९०१-१९०५	१८७६-८०
इंगलैंड	४०	४८
स्कॉटलैंड	६४	४५
आयर्लैंड	२४	२६
डेन्मार्क	१०१	—
स्वेडेन	११३	१००
नॉर्वे	७४	८४
फिनलैंड	७६	६६
रूस	२७	२८
ऑष्ट्रिया	१४१	१३७
हंगरी	९४	७३
जर्मनी	८४	८७
बेलजियम	६६	७४
फ्रांस	८८	७२
इटली	५६	७२
पुर्तगाल	१२१	—

(६) १९२४ ई० में अमेरिकामें कहाँ कितने विवाह और कितने विवाह-विच्छेद हुए उनकी तालिका नीचे दी जाती है—

	विवाह	विच्छेद
Atlantic Ga	३३५०	१८४०
Los Angeles	१६६०५	७८८२
Kansas city	४८२१	२४००
State of Ohio	५३३००	११८८५
Denver	३०००	१५००
Cleveland	१०१३२	५२५६

Portland, Memphis, Omaha प्रभृति स्थानोंमें भी यही बात है। देखिये—

Revolt of Modern Youth--19 th chapter.

योगकी प्रक्रिया

(लेखक—श्रीमुनिलालजी स्वामी, बी॰ए॰, एल्-एल्॰ बी॰)

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' इस सूत्रके अनुसार योगकी व्याख्या चित्तकी वृत्तियोंका निरोध है। पातञ्जलदर्शनमें 'चित्त' शब्दकी परिभाषा नहीं दी गयी, परन्तु चित्त-वृत्तियोंको समझाया गया है। प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति—इन पाँचों वृत्तियोंके अन्तर्गत चित्तकी जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—तीनों अवस्थाओंका समावेश हो जाता है; इसलिये इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि तथा अहङ्कार सबके विषय चित्तकी वृत्तियोंके अवान्तर भेद हैं।

चित्त क्या वस्तु है? क्या वृत्तियोंका आधारस्वरूप चित्त कोई अन्य द्रव्य (वस्तु) है? सांख्यके अनुसार जिसकी नींवपर योगकी इमारत खड़ी है, त्रिगुणात्मक महत्तत्त्वसे अहङ्कार और सत्त्वगुणी अहङ्कारसे मन, रजोगुणी अहङ्कारसे ज्ञान और कर्मकी दसों इन्द्रियाँ, और तमोगुणी अहङ्कारसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, पाँच तन्मात्राएँ और आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी—इन पाँच महाभूतोंका विकास होता है। बुद्धिको मनका ही अङ्ग समझना चाहिये। अहङ्कार तीन रूपोंमें रहता है—(१) शुद्ध संवित् अर्थात् शुद्ध निरुपाधिक चेतनस्वरूप (Super or pure consciousness), (२) सोपाधिक स्वरूप अर्थात् चित्तवृत्तियोंकी उपाधिसहित (Consciousness), (३) वासना और कर्मोंके संस्कारोंका आशयस्वरूप (Sub-consciousness).

पहले रूपमें वह शुद्ध सत्त्वगुणयुक्त रहता है, दूसरे रूपमें तीनों गुणोंकी विषमता रहती है और तीसरी अवस्थामें तीनों गुणोंका साम्य रहता है। जाग्रत्-अवस्थामें सत्त्व, रजस् अथवा तमोगुणकी प्रधानता होनेसे चित्त क्रमशः शान्त, घोर और मूढ़ वृत्तियोंसे युक्त होता है और तमोगुणसे आवृत हो जानेपर निद्रा आ जाती है; उस समय रजोगुणके किञ्चित् उदय होनेसे स्वप्न दीखने लगते हैं।

अहङ्कारका प्रथम शुद्ध संवित्-स्वरूप जीवन्मुक्तका रूप है और उसका तीसरा संस्काराशय (Sub-consciousness) का रूप बन्धनका कारण है।

सब वृत्तियोंके निरोधसे चित्त लय हो जाता है अर्थात् ऊपर कही तीनों अवस्थाओंका निरोध हो जाता है और वह चौथी समाधिकी अवस्था कहलाती है। अस्तु, वृत्तियोंके निरोध होनेपर चित्त अपने कारण महत्तत्त्वमें लय हो जाता है, इसलिये महत्तत्त्वकी अहङ्कारसहित मन, बुद्धि तथा इन्द्रियोंकी वृत्तियोंके उदय होनेसे 'चित्त' संज्ञा होती है; तीनों गुणोंकी साम्य-अवस्थायुक्त चित्तको कारणशरीर कहते हैं; तीनों गुणोंकी विषमता होनेपर वह लिङ्गशरीरके रूपमें विकसित हो जाता है और तीनों गुणोंके निरोध होनेसे वह लय हो जाता है।

वृत्तियोंका निरोध किस क्रमसे होता है, यह बात इस श्रुतिमें बतायी गयी है—

यच्छेद् वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥

(क॰ उ॰ १। ३। १३)

बुद्धिमान् पुरुष वाणीको मनमें ले जाय, मनको ज्ञानात्मा अहङ्कारमें ले जाय, ज्ञानात्मा (अहङ्कार) को महत्तत्त्वमें ले जाय और उसको शान्तात्मा ब्रह्ममें ले जाय।

उपर्युक्त विलोम-क्रम अर्थात् सृष्टिक्रमसे उलटे लय-क्रमको 'योग' कहते हैं। कारणसे कार्यकी उत्पत्ति अथवा विकासको अनुलोम अथवा सृष्टिक्रम (evolu-

tion) कहते हैं और कार्यका कारणमें लय करनेको प्रति-प्रसव अथवा विलोम-क्रम (Involution) कहते हैं। पहला बन्धनका हेतु है और दूसरा मोक्षका साधन।

उपर्युक्त श्रुतिमें बताये हुए लय-क्रमका धर्मराज युधिष्ठिर महाराजने श्रीभगवान्‌के परमधाम चले जानेकी सूचना पाकर जिस तरह अनुकरण किया था, वह प्रकार श्रीमद्भागवतके नीचे दिये हुए श्लोकोंमें अधिक स्पष्टरूपसे बताया गया है। लय-क्रमकी शृङ्खलामें जो कड़ियाँ उपर्युक्त श्रुतिमें गुप्त हैं, उन्हें साधकोंके कल्याणार्थ श्रीमद्भागवतके निम्नलिखित श्लोकोंमें स्पष्ट करके श्रीभगवान् वेदव्यासजीने बड़ा लोकोपकार किया है; क्योंकि इन श्लोकोंमें योगका सारा मर्म साधकोंके लाभार्थ खोलकर रख दिया गया है।

विसृज्य तत्र तत्सर्वं दुकूलवलयादिकम्।
निर्ममो निरहङ्कारः संछिन्नाशेषबन्धनः॥
वाचं जुहाव मनसि तत्प्राण इतरे च तम्।
मृत्यावपानं सोत्सर्गं तं पञ्चत्वे ह्यजोहवीत्॥
त्रित्वे हुत्वाथ पञ्चत्वं तच्चैकत्वेऽजुहोन्मुनिः।
सर्वमात्मन्यजुहवीद्ब्रह्मण्यात्मानमव्यये॥
चीरवासा निराहारो बद्धवाङ्मूकमूर्धजः।
दर्शयन्नात्मनो रूपं जडोन्मत्तपिशाचवत्॥
.... ।
उदीचीं प्रविवेशाशां गतपूर्वां महात्मभिः।
.... ॥

(१।१५।४०–४४)

'तब वहाँ सब वस्त्र और आभूषणोंको उतारकर, ममताको छोड़कर, निरहङ्कार होकर बन्धनोंको काटकर मुनिरूप धर्मराज युधिष्ठिरने वाक् [आदि इन्द्रियों] को मनमें होम दिया, मनको प्राणमें, प्राणको अपानमें और सारी सृष्टिका लय करते हुए अपानको मृत्युमें और मृत्युकी पञ्चत्वमें आहुति दे दी और पञ्चत्वको त्रित्वमें होमकर त्रित्वको एकत्वमें होम दिया और फिर सबको आत्मामें होम दिया तथा आत्माको अविनाशी ब्रह्ममें। और विना सिया हुआ चीर-वस्त्र लपेटकर, निराहार तथा मौन रहकर केश मुँड़वाकर अपने आपको जड, उन्मत्त और पिशाचके रूपमें दर्शाते हुए उस उत्तर दिशामें (बद्रिकाश्रमकी ओर) प्रवेश किया, जहाँ पूर्वकालीन महात्मा जा चुके थे।'

यहाँपर इन्द्रियोंको मनमें, मनको प्राणमें, प्राणको अपानमें, अपानको मृत्युमें, मृत्युको पाञ्चभौतिक देहमें, पञ्चभूतोंको भूतजयविधिसे त्रिगुणात्मक अहङ्कारमें, और त्रिगुणात्मक अहङ्कारको उसके कारणरूप एक तत्त्व अर्थात् महत्तत्त्वमें और फिर महत्तत्त्वको आणवमलावरणयुक्त आत्मा (पुरुष) में और आत्माको अक्षर ब्रह्ममें लय करनेकी विधि कही है। यहाँपर उक्त योग-प्रक्रियाको जिस प्रकार लेखकने समझा है, उसे यथामति समझानेका प्रयत्न किया गया है। आशा है कि 'कल्याण' के पाठकोंमेंसे अनुभवी महात्मा उक्त प्रक्रियापर साधकोंके उपकारार्थ अपने अनुभवोंके अनुसार 'कल्याण'के पृष्ठोंद्वारा अधिक प्रकाश डालनेकी कृपा करेंगे।

जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, सांख्यके अनुसार सृष्टि-क्रम इस प्रकार है—अव्यक्तसे महत्तत्त्व, महत्तत्त्वसे अहङ्कार और अहङ्कारसे मन, दस इन्द्रियाँ, पाँच तन्मात्र, पाँच महाभूत, उक्त २४ तत्त्वोंमें मन ही बन्ध और मोक्षका कारण है। कहा है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

और मन ही इन्द्रियोंका स्वामी है तथा अपने अनुचरोंका अनुचर बनकर बन्धनका कारण होता है, इसलिये पहले बहिर्गामी इन्द्रियोंको लौटाकर मनमें होमना चाहिये। इस साधनको 'प्रत्याहार' कहते हैं। इन्द्रियाँ दस हैं—पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ। दसोंमें एक वाणी ही ऐसी इन्द्रिय है, जिसको पकड़नेसे दसों पकड़में आ जाती हैं; इसीलिये बहुत-से महात्मा मौन-व्रत ले लेते हैं। वाक् कर्मेन्द्रियोंमें प्रमुख इन्द्रिय है और उसके संयमसे अन्तःशक्तिका संग्रह

होनेसे मनकी शक्तिका संग्रह होता है और प्रत्याहारमें सहायता मिलती है । इसीलिये दसों इन्द्रियोंके संयत करनेका उपाय वाक्संयम बताया है । जो बातें हम वैखरी वाणीद्वारा प्रकट करते हैं, वे पहले सङ्कल्पोंके रूपमें अंकुरित होती हैं और फिर विचार-धाराओंका रूप धारण करती हैं । वाणीके संयमसे दोनोंका संयम होता है और मनोनिग्रहमें सहायता मिलती है ।

सब सङ्कल्पोंको जड़से उखाड़ फेंकनेसे मनोनिग्रह स्वतःसिद्ध हो जाता है; इसलिये मौन धारण करके कुछ भी न सोचना वाक्का मनमें हवन करना है, जैसा कि श्रीभगवान्‌ने गीताके अध्याय ६, श्लोक २४ व २५ में उपदेश किया है—

सङ्कल्पप्रभवान् कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥
शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥

'सङ्कल्पोंसे उत्पन्न होनेवाली सब कामनाओंको सर्वथा त्यागकर मनसे ही इन्द्रियोंका अच्छी तरह संयम करके धैर्ययुक्त बुद्धिसे शनैः-शनैः उपरत होवे और मनकी आत्मामें स्थिति करके कुछ भी न सोचे ।'

फिर मनको कठ-श्रुतिके अनुसार उसके कारण ज्ञानात्मा अर्थात् अहङ्कारमें ले जाना होता है । ऐसा करनेकी प्रक्रियाको समझानेके लिये व्यास भगवान्‌ने मन और अहङ्कारके बीच प्राण, अपान और मृत्यु तथा पञ्चत्वके नामोंका उल्लेख करके प्रक्रिया-क्रमकी पूर्ति की है । मन प्राण-शक्तिके अधीन है, इसलिये मनकी आहुति प्राणमें देनी चाहिये । अथर्ववेदोक्त प्राणसूक्तके प्रथम मन्त्रमें प्राणको सबका ईश्वर कहा है—

ॐ प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे ।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥
(अथर्ववेद, प्राणसूक्त, मं० १)

'प्राणको नमस्कार है, जिसके वशमें यह सब कुछ है, जो सबका ईश्वर है और जिसमें सब प्रतिष्ठित है ।'

यहाँ 'सर्वम्' पद देह, इन्द्रियवर्ग, मन, बुद्धि, अहङ्कारकी समष्टिके लिये प्रयुक्त है । प्राण क्या वस्तु है, यह किसी दूसरे आगामी लेखमें बताया जायगा । यहाँपर इतना ही समझ लेना चाहिये कि प्राण वह शक्ति है, जो स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों शरीरोंका सञ्चालन करती है और वह शरीरमें प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान—पञ्चधारूपसे कार्य कर रही है । प्राणशक्तिके आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक रूपको समझनेके लिये प्रश्नोपनिषद् पढ़ना चाहिये । अस्तु,

मनको अहङ्कारमें लय करनेके लिये उसे प्राणमें होमना होता है और फिर प्राणको अपानमें । देखिये गीता, अध्याय ४, श्लोक २९ और ३० में प्राणयज्ञका वर्णन—

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥
अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥

'कोई प्राणकी अपानमें और दूसरे अपानकी प्राणमें आहुति देते हैं और प्राण-अपानकी गतिको रोककर प्राणायामपरायण होते हैं । दूसरे लोग नियमित आहार करते हुए प्राणको प्राणमें होमते हैं । ये सभी यज्ञके जाननेवाले यज्ञके द्वारा पापोंको भस्म करते हैं ।'

उक्त चारों प्रकारके यज्ञोंकी प्रक्रिया गुरुद्वारा ही जानी जा सकती है । प्राण-अपानका योग होनेपर प्राणशक्ति सुषुम्नाद्वारसे मूर्धामें चढ़ती है और शरीरके सब व्यापार बंद होकर निर्विकल्प समाधि लगती है, जो मृत्युके जीतनेका एकमात्र साधन है । इसी साधन-का संकेत व्यास भगवान्‌ने श्रीमद्भागवतके उपर्युक्त श्लोकों-में किया है और यह कहा है कि प्राणको अपानमें तथा अपानको मृत्युमें होम कर सब सृष्टिक्रमसे छुटकारा पावे ।

गीताके अध्याय ८, श्लोक १२ में भी श्रीभगवान्‌ने इसी साधनको कहा है—

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥

'सब इन्द्रियद्वारोंका संयम करके और मनको हृदयमें रोककर अपने प्राणको मूर्धामें धारण करके उक्त योगधारणामें अपनी स्थिति करे।' इस श्लोकमें इन्द्रियोंका मनमें, मनका हृदयनिरोधद्वारा प्राणमें तथा प्राणका अपानमें हवन करनेका विधान है।

मृत्युके समय प्राण-अपानका योग होकर उदान-शक्तिद्वारा प्राण देहत्याग करते हैं। योगी भी इसी क्रमका अभ्यास करके मृत्युका आवाहन करता है, परन्तु प्राणशक्तिके देहसे बाहर निकल जानेके बजाय वह उसे सुषुम्नामें ले जाकर सहस्रारमें चढ़ा लेता है अर्थात् मृत्युकी आहुति पाञ्चभौतिक शरीरमें दे देता है। पञ्चत्वका अर्थ पाँचों तत्त्वोंसे बने हुए स्थूल देहकी रचनासे अथवा पञ्चीकरणसे है।

इस तरह पञ्चभूतजयद्वारा पाँचों तत्त्वोंको तन्मात्रोंसहित तमोगुणमें, इन्द्रियोंको रजोगुणमें और मनको सत्त्वगुणमें लय कर दिया जाता है अर्थात् पञ्चत्वकी आहुति त्रित्वमें की जाती है। चूँकि तीनों गुण अहङ्कारके आश्रित होकर सबका उत्सर्ग करते हैं, अहङ्कार सबका कारण है और अहङ्कारमें ही सबका लय कर दिया जाता है।

जबतक अहङ्कार कुछ अंशमें भी बना रहता है, तबतक सम्प्रज्ञात समाधिकी अवस्थाएँ रहती हैं, जिसकी भिन्न-भिन्न भूमिकाओंका वर्णन भगवान् पतञ्जलिने वितर्क, विचार, सानन्द और सास्मिता समाधियोंके नामसे किया है। सम्प्रज्ञात समाधियोंके लगनेसे ऋतम्भरा प्रज्ञा अर्थात् ऋतसे भरी हुई प्रज्ञा उत्पन्न होती है, जो अनृत सांसारिक प्रज्ञासे भिन्न, आत्माके ऋत (सत्य) ज्ञानसे युक्त होती है। फिर अहङ्कारको भी एकत्व अर्थात् उसके कारण एक महत्तत्वमें लय किया जाता है और उस महत्तत्वको जीवमें तथा जीवको ब्रह्ममें लय करना होता है। शुद्ध चैतन्य आत्मा ब्रह्म है, परन्तु आणव मलके प्रथम आवरणसे उसकी 'जीव' संज्ञा होती है, फिर वह मायामलके दूसरे आवरणसे अन्तर्बाह्य करणोंसे युक्त होता है और कार्ममलके तीसरे आवरणसे कर्मोंका कर्ता-भोक्ता बनता है।

कठवल्लीकी उपर्युक्त श्रुतिमें महान् आत्मा (महत्तत्त्व) को शान्त आत्मा अर्थात् परब्रह्ममें लय करना कहा है, क्योंकि शान्त आत्माको ही पराकाष्ठा और परागति कहकर उससे परब्रह्मका संकेत किया गया है।

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥
(क० उ० १।३।११)

'महत्तत्त्वसे सूक्ष्म अव्यक्त मूल प्रकृति है और अव्यक्तसे परे पुरुष है। पुरुषसे परे कुछ नहीं है, वही परागति और पराकाष्ठा है अर्थात् अन्तिम सीमा है।'

यहाँपर जीवात्माका कोई वर्णन नहीं दीखता और ऐसा जान पड़ता है कि महत्तत्त्वको परब्रह्ममें लय कर दिया जाता है, अन्यथा 'पुरुष'का अर्थ जीवात्मा ही मानना पड़ेगा। और उसे ही अन्तिम हद माननी होगी। किन्तु आत्माके सोपाधिक स्वरूपको 'जीव' कहते हैं, शुद्ध चेतनस्वरूप ब्रह्म है।

आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥
(क० उ० १।३।४)

'इन्द्रिय, मनसे युक्त आत्माको विवेकीजन 'भोक्ता' कहते हैं' इसलिये—

तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण।
तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रममृतमिति॥
(क० उ० २।३।१७)

'उसको अपने शरीरसे धैर्यपूर्वक अलग करे, जैसे मूँजमेंसे सींक अलग की जाती है। उस अलग किये हुए आत्माको शुद्ध, अजर, अमर समझो। वह ब्रह्म है।'

इसलिये श्रीमद्भागवतमें महत्तत्त्वको सोपाधिक आणव मलयुक्त आत्मामें लय करके, उसको सब उपाधियोंसे मुक्त करनेका उपदेश है। उस शुद्धस्वरूपका साक्षात्कार होना ही जीवात्माकी अव्यय परब्रह्ममें आहुति करना है।

विधवा-जीवन

(लेखिका—श्रीमती बहिन बिन्दोबाईजी)

ज्ञानदेवी—बहिनजी, मैं बहुत दिनोंसे आपके दर्शनोंके लिये उत्सुक थी। आज आप स्वयं ही पधारीं—यह बड़ी कृपा की। मुझे आपके मुखारविन्दसे कोई-न-कोई उपदेश सुननेकी सर्वदा ही बड़ी लालसा रहती है।

रामदेवी—बहिन ज्ञानो, मेरा विचार तो कई दिनोंसे इधर आनेका हो रहा था, परन्तु अवकाश ही नहीं मिला। अच्छा आज तू क्या सुनना चाहती है?

ज्ञानदेवी—बीबीजी, आज तो यह बतलाइये कि विधवा बहिनोंको किन-किन नियमोंका पालन करना चाहिये, उनका जीवन किस प्रकार सफल और आनन्दमय हो सकता है?

रामदेवी—ज्ञानो, यह तो तूने बड़ी अच्छी बात पूछी। आजकल समाज विधवाओंको बड़ी हेय दृष्टिसे देखता है। वे भी सर्वदा अपने दुर्भाग्यपर रोया करती हैं। परन्तु बात ऐसी नहीं है। यह तो भगवान्‌की बड़ी कृपा समझनी चाहिये। उन्हें तो मानो भगवान्‌ने स्वयं ही संन्यासकी दीक्षा दे दी है। देख, श्रीगीताजीमें लिखा है न कि काम, क्रोध और लोभ—ये तीनों नरकके द्वार हैं। ज्ञानो, इन तीनोंमें भी काम सबसे अधिक बलवान् है। भगवान् वैधव्य देकर मानो कामको जीतनेका मार्ग खोल देते हैं। इसीसे विधवा बहिन तो संन्यासियोंके समान आदरणीया हैं। किन्तु इस गौरवपूर्ण पदको ठीक-ठीक निभानेके लिये उन्हें इन नियमोंका पालन करना चाहिये—

१. आठों प्रकारके मैथुनोंसे[1] बचना और अकेलेमें कभी किसी पुरुषसे बातचीत न करना।

२. कभी खिलखिलाकर न हँसना।

३. पान या कोई और शौककी चीजका सेवन न करना।

४. कहीं अकेले न जाना।

५. अधिक बारीक वस्त्र और सोने-चाँदीके आभूषणादि कभी न पहनना।

६. हृदयमें सब प्रकारकी सांसारिक भोगोंकी सामग्रीसे वैराग्य रखना।

७. दोनों समय सूक्ष्म, सादा और सात्त्विक आहार ग्रहण करना। तामसी और राजसी भोजनसे सर्वदा बचते रहना।

८. तपस्यामें उत्साह रखना।

९. कुटुम्बके लोगोंको अपना आत्मा समझकर प्रेमपूर्वक उनकी सेवा करना।

---

१. पर-पुरुषकी ओर देखना, उसे स्पर्श करना, उसके साथ क्रीडा करना, हास-परिहास करना, एकान्तमें बात करना, मिलनेका सङ्कल्प करना, इसके लिये प्रयत्न करना और समागम करना—ये आठ प्रकारके मैथुन हैं।

१०. झूठ, छल, कपट आदि सब प्रकारके दुर्गुणोंसे दूर रहना ।

११. स्त्रियोंमें बैठकर विशेष व्यावहारिक चर्चा न करना ।

१२. अधिक न सोना । ज्ञानो, इस विषयमें मेरा खूब अनुभव है कि अधिक सोने और अधिक बोलने-वाले व्यक्तिसे भगवान्‌का भजन नहीं हो सकता ।

बहिन, जो विधवा इन नियमोंका पालन करते हुए भगवान्‌के भजनमें मन लगाती है, उसे अवश्य इस लोक और परलोकमें परमानन्दकी प्राप्ति होती है । परन्तु आजकलके विपरीत वातावरणमें ऐसा शुद्ध जीवन व्यतीत करना कोई साधारण बात नहीं है । पतिके साथ सती हो जाना कोई बड़ी बात नहीं है, परन्तु जीते-जी तपकी आगमें शरीरको भस्म कर देना बहुत बड़ी बात है । इसके लिये दृढ़ सङ्कल्पकी आवश्यकता है । सङ्कल्पके आगे संसारमें कुछ भी दुःसाध्य नहीं है । सङ्कल्पके बलसे तो मनुष्य देवता बन सकता है और विपरीत सङ्कल्प करनेसे वह पूरा पशु बन जाता है । यदि नित्यप्रति अपने कर्तव्यका विचार करते हुए सत्कर्मोंमें उत्साह बढ़ाया जाय तो मनुष्यके लिये देवत्व दुर्लभ नहीं है । बहिन, देवताओंके हाथपर बगीचे नहीं लगे होते, जो स्वभावतः ही सच्चरित्र है, वह पुरुष किसी देवतासे कम नहीं है ।

किन्तु ज्ञानो, जो विधवा बहिनें संयमको छोड़कर कुकर्ममें मन लगाती हैं, उनके तो यह लोक और परलोक दोनों ही मिट्टीमें मिल जाते हैं । इस विषय-सुखकी कोरी मृगतृष्णाके लिये अमृतके समुद्रसे वञ्चित रह जानेमें उन्हें पश्चात्तापके सिवा और क्या हाथ लग सकता है ? इसलिये बड़ी सावधानीसे अपने मनको परखते रहना चाहिये । विधवा हो अथवा सधवा, कभी किसी पर-पुरुषके रूप या गुणपर रीझना बड़ी भारी आपत्ति ही मोल लेना है । ज्ञानो, तू मेरी छोटी बहिन है और अभी है भी अबोध । तू इन बातोंपर खूब ध्यान रख और सब प्रकारके लौकिक विषयोंसे मुँह मोड़कर भजनानन्दमें मग्न रहनेका प्रयत्न कर । प्रभुमें मन लग जानेसे फिर किसी प्रकारकी बाधा नहीं रहती और जीवन बड़े आनन्दसे कट जाता है ।

ज्ञानदेवी—बहिनजी, भगवान्‌के भजनमें मन कैसे लगे ? यह चित्त तो बड़ा ही चञ्चल है ।

रामदेवी—भगवान्‌ने गीताजीमें मनको वशमें करनेके दो उपाय बताये हैं—अभ्यास और वैराग्य । सर्वदा भगवान्‌के नाम, गुण और रूपोंको स्मरण रखनेका अभ्यास करना चाहिये और सांसारिक वस्तुओंमें वैराग्य रखना चाहिये । इस प्रकार मनको अपने वशमें रखकर भगवान्‌की ओर बढ़ना चाहिये । इसके लिये भगवान्‌ने दो मार्ग बताये हैं—ज्ञानयोग और कर्मयोग । इनमें पहले कर्मयोगके अभ्यासकी ही आवश्यकता है । तीर्थस्नान, व्रत, उपवास, दान और यज्ञादिको उनके फलकी इच्छा न करके केवल भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये करना—यह कर्मयोग कहलाता है । इससे अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है । उस शुद्ध अन्तःकरणमें ही ज्ञानका आविर्भाव हो सकता है । जैसे स्वच्छ वस्त्रपर केशर आदिका रंग सुगमतासे चढ़ जाता है, वैसे ही कर्मयोगद्वारा विशुद्ध हुए चित्तपर ही ज्ञान या भगवत्प्रेमका रंग ठीक-ठीक चढ़ सकता है ।

इन सब बातोंको जाननेके लिये शास्त्र-विचार और सत्सङ्गकी बड़ी आवश्यकता है । शास्त्र-कृपासे ही विवेकरूप नेत्र खुलते हैं और बिना सत्सङ्गके शास्त्रका रहस्य समझमें नहीं आता । इसलिये परमार्थपथमें चलनेवालेके लिये इनकी बड़ी आवश्यकता है । संतोंके दर्शनसे चित्त शान्त हो जाता है और कुसङ्गसे कुविचार बढ़ने लगते हैं । जबतक अन्तःकरणमेंसे कुविचारोंको सर्वथा नहीं निकाल दिया जाता तबतक जीवमें

भगवद्भजनकी पात्रता नहीं आती। मेरे गुरुजी कहा करते थे कि पहले पात्र बनो। जिस प्रकार शेरनीका दूध दुहनेके लिये सुवर्णके ही पात्रकी आवश्यकता होती है, वैसे ही ज्ञान, योग या भक्ति किसी भी साधनके धारण करनेके लिये शुद्ध और निर्दोष अन्तःकरणकी आवश्यकता है। इसके लिये पहले छल, कपट, चोरी, जुआ, ताश खेलना, झूठ बोलना आदि सारे छोटे-बड़े दोषोंको त्यागना होगा। जो लोग शास्त्राज्ञापर ध्यान न देकर मनमाना आचरण करते हैं, वे कभी भगवान्‌की ओर नहीं बढ़ सकते, उन्हें भगवद्भजनकी पात्रता ही प्राप्त नहीं होती। विधवा बहिनोंको कभी निराश नहीं होना चाहिये। उनके पति तो साक्षात् श्रीभगवान् हैं, जो भक्ति और मुक्ति-जैसी अक्षय सम्पत्तिके स्वामी हैं, जिनके आगे ये सांसारिक सुख तो कुछ भी नहीं हैं। अतः उन्हें शुद्ध आचरणसे भगवद्भजनकी योग्यता प्राप्त कर अपने तन-मन-धनको भगवान्‌की सेवामें ही लगा देना चाहिये। इस प्रकार अनन्य भावपूर्वक भगवान्‌का भजन करनेसे जो अद्भुत आनन्द प्राप्त होता है, उसकी किसी बड़े-से-बड़े सांसारिक सुखसे भी कोई तुलना नहीं की जा सकती। अतः सबसे पहले अपने अन्तःकरणको पवित्र करो, तभी तुम्हें ज्ञाननेत्रके द्वारा सबके एकमात्र पति श्रीभगवान्‌के दर्शन करनेकी योग्यता प्राप्त होगी।

ज्ञानदेवी–बहिनजी, आज तो आपने बड़े कामकी बातें सुनायीं। अब, आप स्वयं ही कोई ऐसी बात कहिये जो मेरे लिये बहुत उपयोगी हो।

रामदेवी–ज्ञानो, आज तो मुझे जाना है, अब फिर कभी दूसरी बात सुनाऊँगी।

ज्ञानदेवी–अच्छा, जैसी आपकी इच्छा। कभी-कभी स्वयं ही ऐसी कृपा करती रहें।

सच्चे संत

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

राज्य था, बल था, तेज था। सहयोगी एवं भृत्य-वर्ग सच्चे मनसे भलाई चाहते थे। शत्रुओंका साहस न था कि सिर उठा सकें। परिवारमें पारस्परिक स्नेह था। न तो कोई अभाव था और न कोई कष्ट। महाराज लक्ष्मणसिंह लौकिक दृष्टिसे पूर्णतः सुखी थे।

संतोंकी सेवा होती थी, प्रजा राजाके समान ही धार्मिक थी। पूजा-पाठमें कोई विघ्न करनेवाला न था। दान-पुण्यमें कोई कृपणता नहीं होती थी। यवन-साम्राज्य अपने अन्तिम दिन गिन रहा था। उधरसे किसी प्रकारकी आशङ्काको स्थान भी न था।

महाराजके यहाँ विद्वानोंका बड़ा सम्मान था। दूर-दूरके विद्वान् राजसभामें सम्मानित होते थे। प्रसिद्ध विद्वानोंसे सभा भूषित रहती थी। सभी प्रकारसे पण्डितोंकी सेवा महाराज करते रहते थे। उस समय वे विद्वानोंके आश्रय थे।

महाराज स्वयं कवि थे, उनके यहाँ भाषाके धार्मिक कवियोंका बड़ा सत्कार होता था। स्वयं महाराजकी कविता इतनी प्रिय होती थी कि देशमें उन्हें लोग महाराजके नामसे उतना नहीं जानते थे, जितना भक्त कविके नामसे। आज भी हम लक्ष्मणसिंह-को भूल चुके हैं, पर नागरीदास तो हिन्दी जबतक रहेगी तबतक अमर रहेंगे।

व्रजके भावुक विरक्त संत नागरीदासके पदोंपर मुग्ध थे। उनके नित्यकर्ममें वे पद स्थान पा चुके थे। सभीको कम-से-कम दो-चार पद तो कण्ठस्थ थे ही। महात्मा लोगोंने कभी महाराजको देखा तो था नहीं,

पर पदोंसे उन्होंने समझ लिया था कि अवश्य कोई नागरी (श्रीराधारानीजी) का सच्चा दास होगा।

महाराज सचमुच एक उच्च कोटिके भक्त थे। उनकी कविता नहीं, वह उनका हृदय था। सच्ची भावकी उमंगें पदोंद्वारा प्रकट हो जाया करती थीं। उन भावोंका जीवनपर भी एक प्रभाव पड़ रहा था। राजकार्यमें मन लगता नहीं था। मन कहीं खिंचा-सा रहता था, कोई अज्ञात आकर्षण उन्हें किसी ओर बड़े वेगसे खींच रहा था।

कभी-कभी जो संत पधारते थे, उनके समीप बैठकर तनिक शान्ति मिलती थी। कागजपर लेखनीके द्वारा हृदयकी पीड़ा निकाल देनेसे भी कुछ भार हल्का होता था। किन्तु ये उपचार पर्याप्त नहीं थे। इनसे एक क्षणके लिये भले ही चित्त भूल जाय, पर पुनः वही बेकली आ घेरती थी।

कर्तव्यका भी ध्यान रखना ही पड़ता है। शासकके पदपर रहते हुए प्रजाको भी सुख पहुँचाना था। कहीं कुछ गड़बड़ी न हो, यह भी स्मरण रखना पड़ता था। अब यह सब बन्धन प्रतीत होने लगा। मन इनसे विद्रोह करना चाहता था। इन समस्त बन्धनोंको तोड़कर कहीं दूर भाग जानेकी इच्छा प्रबल होने लगी।

बेमनसे कभी कार्य ठीक हो नहीं सकता। अमात्योंने देखा कि महाराजकी उदासीनतासे कार्यकी कठिनाइयाँ बढ़ती जा रही हैं। वे लोग इस उदासीनताको दूर करनेका सतत प्रयत्न करते थे। उनके प्रयत्नोंकी विफलताका कारण यह था कि उन्होंने बीमारीको ठीक प्रकारसे समझा ही नहीं था।

कृष्णके आकर्षणमें जिसका हृदय पड़ गया, वह और कहीं कैसे रह सकता है! कैसे उसका हृदय संसारके कार्योंमें रुचि रख सकता है? उस नटखटकी इच्छा तो कुछ दूसरी थी। लक्ष्मणसिंहको महाराज रहने देना उसे प्रिय न था। वह महाराज-बन्धु नहीं, दीनबन्धु है। उसकी जिसपर कृपा होती है, उसे दीन—अपना बन्धु बना लेता है।

महाराजका मन सर्वदा वृन्दावन जानेको आकुल रहता था। वे वृन्दावन न जा सकते हों, ऐसी बात नहीं थी। पर वे वृन्दावन यात्रा करने नहीं जाना चाहते थे। यात्रा करनेकी अपेक्षा अपने यहाँ रहना ही भक्तकी टेकमें उचित था। वे पूरे अधिकारी होकर रासेश्वरीके श्रीचरणोंमें पहुँचना चाहते थे। वे वृन्दावन जाकर वहींके हो जाना चाहते थे। सदाके लिये जाना था, आना नहीं था।

(२)

एक ही चिन्ता थी—'वृन्दावन-प्रवेशका अधिकार तो किसी सच्चे अनुरागी संतके द्वारा ही प्राप्त हो सकता है, पर ऐसे संत मिलें कहाँ?' अमात्य थे, विद्वान् सभासद् थे, सहस्रों नौकर थे। सबको आदेश हुआ—'सच्चे संतका कहीं पता लगे तो बतलाओ।'

भला, नौकर क्या संतोंका पता देते। संतोंको तो संत ही पहचान सकते हैं। वह भी उन्हें पा सकता है, जो सच्चे हृदयसे उन्हें पाना चाहता हो। नौकरों एवं सभाके विद्वानोंने एक लंबी-चौड़ी नामावली महाराजको निवेदित की। सभी विद्वान् साधुओं एवं जनसमाजमें विख्यात महात्माओंकी नामावली थी।

'इन महापुरुषोंके मुझे दर्शन करने हैं। सामग्री प्रस्तुत करो, मैं उनके समीप चलूँगा।'

अमात्योंने महाराजसे इसके उत्तरमें निवेदन किया—'श्रीमान् क्यों कष्ट करेंगे, वहाँ जानेसे महात्माओंको भी कष्ट होगा। आज्ञा हो तो सम्मानपूर्वक उन लोगोंको सवारी भेजकर यहीं बुला लिया जावे।'

कुछ सन्देहपूर्ण स्वरमें महाराजने कहा—'यदि महापुरुष पधारना स्वीकार कर लें तो यहीं बुला लो।

यदि वे न आना चाहें तो मैं स्वयं उनके श्रीचरणोंमें उपस्थित होऊँगा।'

सन्देह ठीक नहीं था। कई महात्मा तो सन्देश पाकर ही आ गये, कई चरके द्वारा बुलानेपर आये, कुछके लिये साधारण सवारियाँ भेजनी पड़ीं। कुछ दो-चार ऐसे भी थे, जिनके लिये उच्च अधिकारी गये और साथ लिवा लाये।

राजधानीमें नित्य कोई-न-कोई महापुरुष आते ही रहते थे। सबका महाराजकी ओरसे पूर्ण सत्कार होता था। बड़ी दीनतासे महाराज उन महात्माओंके साथ व्यवहार करते थे। महाराजके प्रश्नोंका उत्तर बड़ी विस्तृत शास्त्रीय विवेचनाके साथ मिलता था। श्रुतियोंके प्रमाणपर प्रमाण दिये जाते थे।

बिना इच्छा किये ही कुछ सिद्ध पुरुषोंने अनोखे चमत्कार भी दिखलाये। विश्वास दिलानेके लिये अपने अनुभवोंका वर्णन भी होता ही था। एक दूसरेके उत्तरका खण्डन भी करते थे। कुछ ऐसे थे, जो सबकी बातोंका समन्वय करना चाहते थे।

महाराज बड़ी श्रद्धासे सबकी बातें सुनते, उन बातोंपर विश्वास भी करते। यह सब होनेपर भी हृदयको सन्तोष नहीं होता था। एक भी ऐसी बात उस सत्सङ्गमें नहीं निकली, जो महाराजको यह सन्तोष दे सके कि 'तुम इससे वृन्दावन-प्रवेशके अधिकारी हो गये।' हृदयका अन्वेषण शान्त नहीं हुआ।

एक बात महाराजको सदा खटकती रही—'ये विरक्त संत हैं; लोक तो क्या, परलोकके ऐश्वर्यको भी ठोकर मारकर ये आत्मकल्याणकी ओर प्रवृत्त हुए हैं। फिर भी इनकी चेष्टासे ऐसा क्यों लगता है कि ये मुझे सन्तुष्ट करना चाहते हैं? हो सकता है कि यह मेरे हृदयका दोष हो, पर मैं तो उस दोषको दूर कर देनेवाला चाहता हूँ।'

उचित सत्कारसे सब महात्मा सन्तुष्ट होकर राजधानीसे लौटते थे। यदि किसीने कोई इच्छा प्रकट की तो उसकी पूर्तिका भी प्रबन्ध तत्काल हो जाता था। कुटी बनवाने, कुआँ बनवाने, आश्रमके लिये कुछ सहायता दिलवाने प्रभृतिके प्रश्न आये। वे तत्काल पूर्ण कर दिये गये। महात्मा तो सन्तुष्ट होकर जाते थे, किन्तु महाराजका हृदय उनकी व्याख्याओंसे सन्तुष्ट नहीं हुआ।

महाराज स्वत: कुछ अत्यन्त प्रसिद्ध महात्माओंके पास, जो स्वयं नहीं आये थे, चले। कुछ थोड़े-से गिने-चुने विश्वस्त सेवक साथ थे। एक राजाकी दृष्टिसे वह अत्यन्त साधारण एवं सादगी-पूर्ण यात्रा थी। महाराज पूर्ण नम्रतासे संतोंके श्रीचरणोंमें पहुँचना चाहते थे।

समाचार पाते ही कोई स्वयं आगेसे लेने आये, किसीने आश्रमको भली प्रकार सजाकर अच्छा स्वागत किया, किसीने बड़ा हर्ष प्रकट किया। सब कहीं महाराजकी धार्मिकता तथा प्रेमकी प्रशंसा की गयी। 'आपने व्यर्थ कष्ट किया, हम स्वयं आ जाते'—कम-से-कम ये शिष्टाचारके शब्द तो प्राप्त हुए ही।

वहाँ भी वही प्रश्नके उत्तरमें प्रमाणोंकी भरमार, शास्त्रोंकी विस्तृत व्याख्या, अपने अनुभवोंकी आवृत्ति तथा दृष्टान्तोंका सङ्कलन था। सिद्धिके प्रदर्शनसे विश्वास दिलानेकी चेष्टा भी की गयी। पर महाराजको इस यात्रासे भी सन्तोष नहीं हुआ।

एक संत जंगलमें पड़े थे, महाराजकी दृष्टि गयी, उतर पड़े सवारीसे। दौड़कर अमात्योंने संतको बतलाया 'महाराज दर्शनोंको आते हैं।' संतने मस्तीसे कह दिया 'आ जाने दो।' महाराजका इस मस्तीसे कुछ आकर्षण हुआ। बड़ी श्रद्धासे उन्होंने प्रणाम किया। नन्हा-सा उत्तर मिला 'बैठ जाओ।' वहीं पृथ्वीपर ही बैठ गये। चला वही पुराना प्रश्न।

महात्माजीने कहा—'भाई! तुम संतोंको कहाँ ढूँढ़ते हो? हम तो संतोंकी चरण-धूलिके उपासक

भी नहीं। सच्ची बात तो यह है कि पूरी भाँति हमारे अंदरसे अभी लोकैषणा गयी नहीं, नहीं तो महाराजको उपदेश देनेकी इच्छा ही न होती। मुझसे या और किसीसे आशा करना व्यर्थ है। वृन्दावनके वास्तविक प्रवेशके अधिकारी बना देनेकी जिनमें शक्ति है, वे संत भला, वृन्दावन क्यों छोड़ेंगे? उन्हें वृन्दावनमें ही ढूँढ़ो। पर वे महाराजकी ओर देखना भी पसंद नहीं करेंगे। उनके समीप तो श्रीजीके चरणोंका दास ही होकर जाना।'

महाराज उन महात्माजीको प्रणाम करके राजधानी लौट आये। अब ठीक मार्ग मिल गया था। वृन्दावन-प्रस्थानकी तैयारी होने लगी।

(३)

वृन्दावन भी पहुँचे। लक्ष्मणसिंहका नाम सुनकर कोई कुटी बंद करके भीतर बैठ गये और किसीने कह दिया 'यहाँ राजा-महाराजाकी कोई आवश्यकता नहीं। कह दो वहीं कृपा रक्खें।' संत उदासीनतासे उनके कुटीपर पहुँचते ही दर्शन या स्नानके मिस किसी ओर चल देते थे।

महाराजको बड़ा दुःख हुआ। यहाँके संत तो उनके समीप बैठना भी नहीं चाहते थे। अन्तस्में उस महात्माके वाक्य स्मरण हो आये। 'अरे, मैं यहाँ अभी तो राजा बना हुआ हूँ। भला, जो विश्वके अधिपतिके जन हैं, वे मेरी क्या पूछ करेंगे? मेरा गर्व अभी गया नहीं। भला, यहाँ सचमुच राजाका क्या काम?'

महाराज लक्ष्मणसिंहने शरीरपरके सब वस्त्राभरण उतार डाले। साथ आये सेवकोंको उन्हें देकर लौट जानेको कहा। प्रधानमन्त्रीको बता दिया कि छोटे भाईको राज्य दे दिया जावे। यह स्पष्ट हो गया कि वे अब वृन्दावनसे नहीं लौटेंगे।

सेवकोंने बहुत आग्रह किया, सब लोगोंकी अश्रुधारा व्रज-रजको सिञ्चित करने लगी। महाराजने सबको शान्त किया। समझाया—'अब मैं लक्ष्मणसिंह नहीं रहा, अब नागरीदास हो चुका। मुझे साहस दो, धैर्य दो और आशीर्वाद दो कि इस नामको सार्थक कर सकूँ।' वह विदाईका दृश्य बड़ा करुण था। पर जो होना है, वह तो होगा ही।

सबको विदा करके नागरीदासजीने कौपीनमात्र आच्छादन रक्खा, सम्पूर्ण शरीरमें व्रज-रज मला और चले महात्माओंकी शरणमें। दूरसे इन्हें देखकर ही एक संतने अनुमान किया 'कोई व्रज-रजके प्रेमी हैं।' वे स्वयं इनके निकट आये और प्रथम ही दण्डवत् करने लगे। परिचय पूछा गया, उत्तर था 'आप लोगोंकी चरणरजका भिखारी नागरीदास।'

'नागरीदास!' महात्माजी हर्षसे नाच उठे, इन्हें गलेसे लगाया। किसीने सुन लिया, वह भी पास दौड़ आया। तनिक-सी देरमें भीड़ लग गयी। चारों ओर समाचार फैल गया—नागरीदासजी आये हैं। सब रसिक संत जो जैसे थे, वैसे ही दौड़े।

नागरीदासजीने स्वयं वर्णन किया है—'मेरा पहला नाम सुनकर तो संत उदासीनतासे दूर ही खड़े रहे और जब 'नागरीदास' नाम सुना तो दौड़कर मुझे प्रेमसे घेर लिया।' आगे क्या हुआ, वह भी नागरीदासजीके शब्दोंमें सुनिये—

'कोई दण्डवत् करता, कोई गले लगाता, कोई प्रशंसा करता, कोई हँसते-हँसते व्रज-रजमें लोटने ही लगता था। कोई मेरे पदोंको प्रेमसे बार-बार दुहरा रहा था और किसीके नेत्र प्रेमाश्रुओंकी वृष्टि कर रहे थे। कोई कुशल-क्षेम पूछता था तथा कोई अपनेको धन्य मान रहा था। संतोंके हर्षका पारावार न था।'

सच्चे संतोंको सांसारिक ऐश्वर्यसे क्या मतलब? अतः वे राजा-महाराजोंको क्यों पूछने लगे। पर वे दूसरे प्रेमीको देखकर आनन्दित हों, यह तो स्वाभाविक ही है।

अन्वेषण पूर्ण हुआ, नागरीदासजीको जिसकी आवश्यकता थी, वह यहाँ इन प्रेममूर्तियोंमें प्राप्त हो गया। इनकी कृपासे वे सचमुच नागरीदास हो गये।

श्रीहरिः

संसारसे तरनेका उपाय

संसाररूप एक भयङ्कर नदी है। उसकी धार चारों ओर बह रही है। यह नदी सम्पूर्ण जगत्को अपने प्रवाहमें बहाये लिये जा रही है। पाँच इन्द्रियरूपी मगर उसमें रहते हैं। मन और सङ्कल्प उसके तट हैं। लालसा और मोहके सेवारसे वह ढकी हुई है। काम और क्रोधरूपी सर्प उसमें घूमा करते हैं। उसके कीचड़से भरे हुए किनारोंपरसे चढ़नेके लिये सत्यकी पैड़ियाँ बनी हुई हैं। असत्यरूपी क्षोभसे वह नदी क्षुब्ध हो रही है और क्रोधरूपी कीचड़ उसमें भर रहा है। इस नदीका उत्पत्तिस्थान अव्यक्त है। इसका प्रवाह बड़े वेगसे जा रहा है। जिनकी आत्मा पापसे शुद्ध नहीं हुई है वे इस नदीके पार नहीं जा सकते। काम-रूपी भयङ्कर ग्राहसे यह नदी लबालब भरी हुई है। हे तात! इस संसाररूपी नदीको ज्ञानसे तर जा!

(महाभारत, शान्तिपर्व)

ॐ
कल्याण
कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्
वर्ष
१५
अङ्क
११

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियराम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ आगारा ॥

[संस्करण ५७१००]

वार्षिक मूल्य
भारतमें ४॥)
विदेशमें ६॥)
(१० शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ।)
विदेशमें ।≈)
(८ पेंस)

Edited by H. P. Poddar and C. L. Goswami, M. A., Shastri.
Printed and Published by Ghanshyamdas Jalan at the Gita Press, Gorakhpur (India)

श्रीहरिः

कल्याण जून सन् १९४० की

विषय-सूची

'कल्याण' का साधनाङ्क

साधनाके विना किसी प्रकारकी भी सिद्धि नहीं मिलती। मनुष्यका जीवन ही साधनामय है, परन्तु साधना यदि विधिवत् और उत्तम साध्यको लक्ष्य करके न की जाय तो उसका फल बहुत बुरा होता है। इसलिये परम साध्यका निर्णय करके उसीके अनुसार उत्तम साधनाका स्वरूप जानना परमावश्यक है। इसी आवश्यकताकी पूर्तिके लिये 'कल्याण'का 'साधनाङ्क' प्रकाशित करना निश्चय किया गया है। यह साधनाङ्क बहुत ही दुर्लभ विषयोंके रहस्यको खोलनेवाला और सर्वोपयोगी होगा। भिन्न-भिन्न प्रकारकी रुचिके साधक इसमें प्रकाशित भिन्न-भिन्न प्रकारके साधनोंसे लाभ उठा सकेंगे। अतएव—

ग्राहकोंको चाहिये—रुपये मनीआर्डरसे तुरंत भेज दें

(मनीआर्डर-फार्म इस अङ्कमें भेजा जा रहा है)

साधनाङ्कमें क्या क्या रहेगा ?

(१) साधनके स्वरूपका वर्णन।
(२) वैदिक, पौराणिक, तान्त्रिक साधनाओंका वर्णन।
(३) ज्ञान, भक्ति, योग (राजयोग, लययोग, हठयोग, मन्त्रयोग) आदिका विस्तृत वर्णन।
(४) भिन्न-भिन्न देवताओंकी उपासनाके मन्त्र तथा ध्यानसहित वर्णन।
(५) भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंकी साधनाका वर्णन।
(६) बौद्ध, जैन प्रभृति धर्मोंकी साधनाका वर्णन।
(७) सूफी, ईसाई आदि साधनाका वर्णन।
(८) भगवान् विष्णु, शिव, राम, कृष्ण, शक्ति, सूर्य, गणेश और अन्यान्य विभिन्न देवताओंके सुन्दर-सुन्दर अनेकों चित्र।
(९) यौगिक व्यायाम, आसन, शरीर-साधन-सम्बन्धी लेख और चित्र।
(१०) साधकोंके अनुभव।
(११) महात्माओंके उपदेश।

साधनाङ्कमें प्रकाशित लेखों और चित्रोंसे सभी देशवासी अपने-अपने अधिकार और रुचिके अनुसार लाभ उठा सकते हैं। पृष्ठ-संख्या भी संताङ्कसे कहीं अधिक होगी। पचासों बहुरंगे और बहुत-से सादे चित्र रहेंगे।

लड़ाईके कारण छपाईके काममें आनेवाली सभी चीजें बहुत अधिक महँगी हो गयी हैं। कुछ चीजोंकी तो तिगुनी-चौगुनी कीमत हो गयी है। इतनेपर भी 'कल्याण' का दाम बढ़ाया नहीं गया है। परिशिष्टाङ्कसहित साधनाङ्कका मूल्य ३॥) डाकमहसूल समेत है। पुराने नये ग्राहकोंको वार्षिक मूल्य ४=) बहुत शीघ्र मनीआर्डरसे भेज देना चाहिये। जिनको ग्राहक न रहना हो, वे महानुभाव पहलेसे ही सूचना देनेकी कृपा करें।

साधनाङ्कके कुछ लेखकोंके नाम

नाम प्रकाशित न करानेवाले अनेकों अनुभवी महात्माओंके अतिरिक्त जिन महात्मा, संत और विद्वानोंके लेख इस अङ्कमें आनेवाले हैं, उनमेंसे कुछके नाम ये हैं—

जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्यजी, स्वामीजी सर्वश्रीश्रीउड़ियाबाबाजी, श्रीशिवानन्दजी, दण्डीस्वामी श्रीशिवानन्दजी, श्रीभोलेबाबाजी, परमहंस श्रीनारायणदासजी, श्रीप्रेमपुरीजी, श्रीप्रज्ञानाथजी, श्रीतपोवनजी, श्रीहरिबाबाजी, म० श्रीरामकृष्णदासजी, श्रीकृष्णानन्दजी, श्रीशुद्धानन्दजी, श्रीअशेषानन्दजी, श्रीपुरुषोत्तमतीर्थजी, महामण्डलेश्वर श्रीजयेन्द्रपुरीजी, महामण्डलेश्वर श्रीभागवतानन्दजी, श्रीनारदानन्दजी, श्रीहरिनामदासजी उदासीन, श्रीभोलानाथजी, श्रीनारायणस्वामीजी, श्रीअरविन्द, म० श्रीज्योतिजी, मध्वाचार्य पं० दामोदरजी शास्त्री, पं० श्रीरामानुजाचार्यजी शास्त्री, महामहोपाध्याय पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज एम्० ए०, महामहोपाध्याय पं० श्रीप्रमथनाथजी तर्कभूषण, महामहोपाध्याय डा० पं० श्रीगंगानाथजी झा एम्० ए०, डी-लिट्०, महामहोपाध्याय पं० श्रीसीतारामजी शास्त्री, महामहोपाध्याय पं० श्रीसकलनारायणजी पाण्डेय, पण्डितप्रवर श्रीपञ्चाननजी तर्करत्न, श्रीजयरामदासजी 'दीन', श्रीअक्षयकुमार बन्दोपाध्याय एम्० ए०, श्रीवसन्तकुमार चट्टोपाध्याय एम्० ए०, श्रीहीरेन्द्रनाथदत्त बी० ए०, वेदान्तरत्न, गोस्वामी श्रीबालकृष्णजी आचार्य, गोस्वामी श्रीप्राणकिशोरजी आचार्य, गोस्वामी त्यागमूर्ति श्रीगणेशदत्तजी, डा० प्रभुदत्तजी शास्त्री एम्० ए०, पी-एच० डी०, डा० एस्० के० मैत्र एम्० ए०, पी-एच्० डी०, महात्मा बालकरामजी विनायक, पं० श्रीधर मजूमदार एम्० ए०, देवर्षि पं० रमानाथजी शास्त्री, पं० श्रीद्वारकाप्रसादजी चतुर्वेदी, पं० श्रीनरदेवजी शास्त्री, योगविद् श्रीदत्तात्रेय वामन गुलवणी और श्रीत्र्यम्बक भास्कर शास्त्री खरे, श्रीदादा धर्माधिकारी, डा० महम्मद हाफिज़ सैयद एम्० ए०, पी-एच्० डी०, श्रीभगवतीप्रसादसिंहजी एम्० ए०, श्रीगोपाल चैतन्यदेवजी, पं० श्रीरामचन्द्र कृष्ण कामत, श्रीक्षितिमोहन सेन एम्० ए०, डा० दुर्गाशंकरजी नागर, पं० श्रीहरिनारायणजी पुरोहित, पं० श्रीअयोध्यासिंहजी उपाध्याय, श्रीसम्पूर्णानन्दजी, पं० श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी, पं० श्रीधराचार्यजी महाराज, पं० श्रीहरिहरनाथजी हुक्कू एम्० ए०, डी-लिट्०, डा० श्रीराजबलीजी पांडेय एम्० ए०, डी-लिट्०, पं० श्रीहनूमान्जी शर्मा, रे० अर्थर ई० मैसी, बहिन श्रीरैहाना तय्यबजी, पं० श्रीशिवदत्तजी शर्मा, श्रीसत्येन्द्रनाथ सेन, श्रीजयदयालजी गोयन्दका आदि-आदिके अतिरिक्त बौद्ध तथा जैन धर्मके कई विद्वान्।

इस संक्षिप्त नामावलीसे आप जान सकेंगे कि साधनाङ्क कितना उपयोगी होगा!

—व्यवस्थापक—'कल्याण', गोरखपुर

चित्र-सूची

गीताप्रेस, गोरखपुरके सुन्दर, सस्ते, धार्मिक दर्शनीय चित्र

कागज-साइज १५×२० इञ्चके बड़े चित्र

सभी चित्र बढ़िया आर्ट पेपरपर सुन्दर छपे हुए हैं।

सुनहरी—नेट दाम प्रत्येकका ≈)॥

१ युगलछवि
२ राम-सभा
३ अवधकी गलियोंमें आनन्दकंद
४ आनन्दकंदका आँगनमें खेल
५ आनन्दकंद पालनेमें
६ कौसल्याका आनन्द
७ सखियोंमें श्याम
८ दशरथके भाग्य
९ भगवान् श्रीराम
१० राम-दरबारकी झाँकी

रंगीन—नेट दाम प्रत्येकका ≈)

११ श्रीराधेश्याम
१२ श्रीनन्दनन्दन
१३ गोपियोंकी योगधारणा
१४ श्याममयी संसार
१५ वृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण
१६ विश्वविमोहन श्रीकृष्ण
१७ श्रीमदनमोहन
१८ भगवान् श्रीकृष्णरूपमें
१९ श्रीव्रजराज
२० श्रीकृष्णार्जुन
२१ चारों भैया
२२ भुवनमोहन राम
२३ राम-रावण-युद्ध
२४ रामदरबार
२५ श्रीरामचतुष्टय
२६ श्रीलक्ष्मीनारायण
२७ भगवान् विष्णु
२८ श्रीश्रीमहालक्ष्मीजी
२९ कमला
३० सावित्री-ब्रह्मा
३१ भगवान् विश्वनाथ
३२ श्रीशिवपरिवार
३३ शिवजीकी विचित्र बरात
३४ शिव-परिछन
३५ शिव-विवाह
३६ प्रदोषनृत्य
३७ श्रीजगज्जननी उमा
३८ श्रीध्रुव-नारायण
३९ श्रीमहावीरजी
४० श्रीचैतन्यका हरिनामसंकीर्तन
४१ महासंकीर्तन
४२ नवधा भक्ति
४३ जडयोग
४४ भगवान् शक्तिरूपमें
४५ कौसल्याकी गोदमें ब्रह्म
४६ सच्चिदानन्दके ज्योतिषी
४७ भगवान् नारायण
४८ ब्रह्माकृत भगवत्स्तुति
४९ मुरलीका असर
५० लक्ष्मी माता
५१ श्रीकृष्ण-यशोदा
५२ भगवान् शंकर
५३ बालरूप श्रीरामजी
५४ दूल्हा राम
५५ कालिय-उद्धार
५६ जटायुकी स्तुति
५७ पुष्पकविमानपर

कागज-साइज ७॥×१० इञ्च

सुनहरी चित्र, नेट दाम)।= प्रतिचित्र

२०१ श्रीरामपञ्चायतन
२०२ क्रीडाविपिनमें श्रीरामसीता
२०३ युगलछवि
२०४ कंसका कोप
२०५ बँधे नटवर
२०६ वेणुधर
२०७ बाबा भोलेनाथ
२०८ मातङ्गी
२०९ दुर्गा
२१० आनन्दकन्दका आँगनमें खेल
२११ भगवान् श्रीराम
२१२ जुगल सरकार
२१३ दशरथके भाग्य
२१४ शिशु-लीला—१
२१५ श्रीरामकी झाँकी
२१६ श्रीभरतजी
२१७ श्रीभगवान्

बहुरंगे चित्र, नेट दाम)। प्रतिचित्र

२५१ सदाप्रसन्न राम
२५२ कमललोचन राम
२५३ त्रिभुवनमोहन राम
२५४ भगवान् श्रीरामचन्द्र
२५५ श्रीरामावतार
२५६ कौसल्याकी गोदमें ब्रह्म
२५७ भगवान् श्रीरामकी बाललीला
२५८ भगवान् श्रीराम और काकभुशुण्डि
२५९ अहल्योद्धार
२६० गुरुसेवा
२६१ पुष्पवाटिकामें श्रीसीताराम
२६२ स्वयंवरमें लक्ष्मणका कोप

२६३ परशुराम-राम
२६४ श्रीसीताराम [वन-गमनाभिलाषिणी सीता]
२६५ श्रीराम और कौसल्या
२६६ रामवनगमन
२६७ कौसल्या-भरत
२६८ भरतगुहमिलाप
२६९ श्रीरामके चरणोंमें भरत
२७० पादुका-पूजन
२७१ ध्यानमग्न भरत
२७२ अनसूया-सीता
२७३ श्रीराम-प्रतिज्ञा
२७४ राम-शबरी
२७५ देवताओंके द्वारा भगवान् श्रीरामकी स्तुति
२७६ बालिवध और ताराविलाप
२७७ श्रीराम-जटायु
२७८ विभीषणहनुमान्मिलन
२७९ ध्यानमग्ना सीता
२८० लङ्का-दहन
२८१ भगवान् श्रीरामका रामेश्वरपूजन
२८२ सुवेल-पर्वतपर श्रीरामकी झाँकी
२८३ राम-रावण-युद्ध
२८४ नन्दिग्राममें भरत-हनुमान्-भेंट
२८५ पुष्पकारूढ़ श्रीराम
२८६ मारुति-प्रभाव
२८७ श्रीरामदरबार
२८८ श्रीरामचतुष्टय
२८९ श्रीसीताराम (शक्ति-अंक)
२९० श्रीसीताराम (मर्यादायोग)
२९१ श्रीशिवकृत राम-स्तुति
२९२ श्रीसीताजीकी गोदमें लव-कुश
२९३ सच्चिदानन्दके ज्योतिषी
२९४ वात्सल्य (माँका प्यार)
२९५ परब्रह्म प्रेमके बन्धनमें
२९६ भगवान् श्रीकृष्णरूपमें
२९७ श्रीकृष्णार्जुन
२९८ भगवान् और उनकी ह्लादिनी शक्ति राधाजी
२९९ राधाकृष्ण
३०० श्रीराधेश्याम
३०१ मदनमोहन
३०२ व्रजराज
३०३ वृन्दावनविहारी
३०४ विश्वविमोहन मोहन
३०५ बाँकेविहारी
३०७ मुरलीमनोहर
३०९ श्रीनन्दनन्दन
३१० आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र
३११ गोपीकुमार
३१२ व्रज-नव-युवराज
३१३ भक्त-भावन भगवान् श्रीकृष्ण
३१४ देवताओंद्वारा गर्भस्तुति
३१५ साधु-रक्षक श्रीकृष्ण (वसुदेवदेवकीको कारागारमें दर्शन)
३१६ गोकुल-गमन
३१७ मथुरासे गोकुल
३१८ दुलारा लाल
३१९ तृणावर्त-उद्धार
३२० वात्सल्य
३२१ गोपियोंकी योगधारणा
३२२ श्याममयी संसार
३२३ माखनप्रेमी श्रीकृष्ण
३२४ गो-प्रेमी श्रीकृष्ण
३२५ मनमोहनकी तिरछी चितवन
३२६ भवसागरसे उद्धार करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण
३२७ बकासुर-उद्धार
३२८ अघासुर-उद्धार
३२९ कृष्ण-सखा-सह वन-भोजन
३३० वर्षामें राम-श्याम
३३१ राम-श्यामकी मथुरा-यात्रा
३३२ योद्धा श्रीकृष्ण
३३३ बन्धनमुक्तकारी भगवान् श्रीकृष्ण
३३४ सेवक श्रीकृष्ण
३३५ जगत्-पूज्य श्रीकृष्णकी अग्रपूजा
३३६ शिशुपाल-उद्धार
३३७ समदर्शी श्रीकृष्ण
३३८ शान्तिदूत श्रीकृष्ण
३३९ मोह-नाशक श्रीकृष्ण
३४० भक्त-प्रतिज्ञा-रक्षक श्रीकृष्ण
३४१ अश्व-परिचर्या
३४२ श्रीकृष्णका अर्जुनको पुनः ज्ञानोपदेश
३४३ जगद्गुरु श्रीकृष्ण
३४४ राजा बहुलाश्वकृत श्रीकृष्णपूजन नं० २
३४५ नृग-उद्धार
३४६ मुरलीका असर
३४७ व्याधकी क्षमा-प्रार्थना
३४८ योगेश्वरका योगधारणासे परम प्रयाण
३४९ शिव
३५० ध्यानमग्न शिव
३५१ सदाशिव
३५२ योगीश्वर श्रीशिव
३५३ पञ्चमुख परमेश्वर
३५४ योगाग्नि
३५५ मदन-दहन
३५६ शिवविवाह
३५७ उमा-महेश्वर
३५८ गौरीशंकर
३५९ जगज्जननी उमा
३६० शिव-परिवार
३६१ प्रदोष-नृत्य
३६२ शिव-ताण्डव
३६३ लोककल्याणार्थ हलाहलपान
३६४ पाशुपतास्त्रदान
३६५ श्रीहरि-हरकी जल-क्रीडा
३६६ श्रीविष्णुरूप और श्रीब्रह्मारूपके द्वारा श्रीशिवरूपकी स्तुति
३६७ भगवान् विष्णुको चक्रदान
३६८ श्रीकृष्णरूपसे श्रीशिवरूपकी स्तुति और वरदानलाभ
३६९ शिव-राम-संवाद
३७० काशी-मुक्ति
३७१ भक्त व्याघ्रपाद
३७२ श्रीविष्णु
३७३ विष्णुभगवान्
३७४ कमलापति-स्वागत
३७५ भगवान् शेषशायी
३७६ लक्ष्मीनारायण
३७७ भगवान् नारायण
३७८ द्वैतसम्प्रदायके आद्याचार्य श्रीब्रह्माजी
३७९ ब्रह्माकृत भगवत्स्तुति
३८० ब्रह्म-स्तुति
३८१ भगवान् मत्स्यरूपमें
३८२ मत्स्यावतार
३८३ भगवान् कूर्मरूपमें
३८४ भगवान् वराहरूपमें
३८५ भगवान् श्रीनृसिंहदेवकी गोदमें भक्त प्रह्लाद
३८६ भगवान् वामनरूपमें
३८७ भगवान् परशुरामरूपमें
३८८ भगवान् बुद्धरूपमें
३८९ भगवान् कल्किरूपमें
३९० भगवान् ब्रह्मारूपमें
३९१ श्रीसावित्री-ब्रह्मा
३९२ भगवान् दत्तात्रेयरूपमें
३९३ भगवान् सूर्यरूपमें
३९४ भगवान् गणपतिरूपमें
३९५ भगवान् अग्निरूपमें
३९६ भगवान् शक्तिरूपमें
३९७ महागौरी
३९८ महाकाली
३९९ महासरस्वती
४०० श्रीलक्ष्मीजी (चतुर्भुजी)
४०१ श्रीमहालक्ष्मी (अष्टादशभुजी)
४०२ सावित्रीकी यमराजपर विजय
४०३ देवी कात्यायनी
४०४ देवी कालिका
४०५ देवी कूष्माण्डा
४०६ देवी चन्द्रघण्टा
४०७ देवी सिद्धिदात्री
४०८ राजा सुरथ और समाधि वैश्यको देवीका दर्शन
४०९ श्रीबहुचराम्बिकामन्दिर मोरबीसे प्राप्त (बोडमाता)

४१० समुद्र-मन्थन
४११ महासङ्कीर्तन
४१२ ध्यानयोगी ध्रुव
४१३ ध्रुव-नारद
४१४ ज्ञानयोगी राजा जनक
४१५ ज्ञानयोगी शुकदेव
४१६ भीष्मपितामह
४१७ अजामिल-उद्धार
४१८ सुआ पढ़ावत गणिकातारी
४१९ शङ्करके ध्येय बाल श्रीकृष्ण
४२० सङ्कीर्तनयोगी श्रीचैतन्यमहाप्रभु
४२१ निमाई-निताई
४२२ श्रीचैतन्यका हरिनामसंकीर्तन
४२३ प्रेमी भक्त सूरदास
४२४ गोस्वामी तुलसीदासजी
४२५ मीरा (कीर्तन)
४२६ मीराबाई(जहरका प्याला)
४२७ प्रेमयोगिनी मीरा
४२८ मीरा (आजु मैं देख्यो गिरधारी)
४२९ प्रेमी भक्त रसखान
४३० गोलोकमें नरसी मेहता
४३१ परम वैराग्यवान् भक्त दम्पति राँका-बाँका
४३२ नवधा भक्ति
४३३ जडयोग
४३४ सतकनभूमिका
४३५ मानससरोवर
४३६ सवन
४३७ समुद्रताड़न
४३८ ऋषि-आश्रम
४३९ महामन्त्र नं० १
४४० महामन्त्र नं० २
४४१ रघुपति राघव राजा राम पतितपावन सीताराम
४४२ जय हरि गोविन्द राधे गोविन्द
४४३ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय
४४४ कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्
४४५ हरहर महादेव
४४६ नमः शिवाय
४४७ लक्ष्मी माता
४४८ श्रीकृष्ण-यशोदा
४४९ शुद्धाद्वैतसम्प्रदायके आदि प्रवर्तक भगवान् शंकर
४५० कालिय-उद्धार
४५१ यज्ञपत्नीको भगवत्प्राप्ति
४५२ श्रीकृष्ण अपने पिता-माता वसुदेव-देवकीकी हथकड़ी-बेड़ी काट रहे हैं
४५३ सुदामाका महल
४५४ श्रीकृष्ण उद्धवको सन्देश देकर व्रज भेज रहे हैं
४५५ नौकारोहण
४५६ मथुरा-गमन
४५७ भगवान् विष्णु
४५८ रामसभा
४५९ सूरके श्याम ब्रह्म
४६० भगवान् राम और सनकादि मुनि
४६१ जरासन्धसे युद्धभिक्षा
४६२ पर्वताकार हनुमान्
४६३ शिव-पार्वती
४६४ गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराज
४६५ चित्रकूटमें
४६६ शिवजीकी बरात
४६७ हनुमान्‌जीकी प्रार्थना
४६८ ताड़का-उद्धार
४६९ मनु-शतरूपापर कृपा
४७० श्रीरामराज्याभिषेक
४७१ दशरथ-मरण
४७२ भरद्वाज-भरत
४७३ वनवासियोंका प्रेम
४७४ बालि-सुग्रीव-युद्ध
४७५ दूल्हा राम
४७६ रावण-मन्दोदरी
४७७ पुष्पकविमानपर
४७८ अग्निका चरुदान
४७९ लक्ष्मणको उपदेश
४८० पादुका-दान
४८१ जटायुकी स्तुति
४८२ दुराचारीसे भक्त
४८३ श्रीमधुसूदन सरस्वती-को परमतत्त्वके दर्शन
४८४ योगक्षेम-वहन
४८५ लोक-संग्रह
४८६ सूर्यको उपदेश
४८७ अवतार (दस)
४८८ समदर्शिता
४८९ सब कार्योंमें भगवद्-दृष्टि
४९० भगवान् सर्वमय
४९१ अनन्य-चिन्तनका फल
४९२ भजन करनेवाले भक्त
४९३ भगवत्पूजन
४९४ भजनकी महिमा
४९५—१. समाधि वैश्य २. सञ्जय ३. यज्ञपत्नी ४. गुह निषाद
४९६ सप्तर्षि
४९७ श्रीगङ्गाजी
४९८ सुखमय मार्ग
४९९ संसार-वृक्ष
५०० पूर्ण समर्पणके लिये आह्वान
५०१ योद्धावेशमें भगवान् श्रीकृष्ण
५०२ दैवी-सम्पत्ति (धर्मराज-युधिष्ठिर)
५०३ जिज्ञासु भक्त उद्धव
५०४ अर्थार्थी भक्त ध्रुव

कागज-साइज ५×७॥ इञ्च
बहुरंगे चित्र, नेट दाम १) सैकड़ा

१००१ श्रीविष्णु
१००२ शेषशायी
१००३ सदाप्रसन्न राम
१००४ कमललोचन राम
१००५ त्रिभुवनमोहन राम
१००६ दूल्हा राम
१००७ श्रीसीताराम
१००८ श्रीराम-विभीषण-मिलन (भुज विशाल गहि)
१००९ श्रीरामचतुष्टय
१०१० विश्वविमोहन श्रीकृष्ण
१०११ वृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण
१०१२ आनन्दकन्द श्रीकृष्ण
१०१३ गोपीकुमार
१०१४ श्रीबाँकेविहारी
१०१५ व्रज-नव-युवराज
१०१६ रामदरबार
१०१७ देवसेनापति कुमार कार्तिकेय
१०१८ व्रजराज
१०१९ खेल-खिलाड़ी
१०२० ब्रह्माका मोह
१०२१ युगलछवि
१०२२ श्रीमदनमोहन
१०२३ श्रीराधेश्याम
१०२४ भगवान् और ह्लादिनी शक्ति राधाजी
१०२५ नन्दनन्दन
१०२६ सुदामा और श्रीकृष्णका प्रेममिलन

१०२७ अर्जुनको गीताका उपदेश
१०२८ अर्जुनको चतुर्भुजरूप-का दर्शन
१०२९ भक्त अर्जुन और उनके सारथि कृष्ण
१०३० परीक्षितकी रक्षा
१०३१ सदाशिव
१०३२ शिवपरिवार
१०३३ चन्द्रशेखर
१०३४ कमला
१०३५ भुवनेश्वरी
१०३६ श्रीजगन्नाथजी
१०३७ यम-नचिकेता
१०३८ ध्यानयोगी ध्रुव
१०३९ ध्रुव-नारायण
१०४० पाठशालामें प्रह्लादका बालकोंको राम-राम जपनेका उपदेश
१०४१ समुद्रमें पत्थरोंसे दबे प्रह्लादका उद्धार
१०४२ भगवान् नृसिंहदेवकी गोदमें भक्त प्रह्लाद
१०४३ पवन-कुमार
१०४४ भगवान्की गोदमें भक्त चक्रिक भील
१०४५ शंकरके ध्येय बालकृष्ण
१०४६ भगवान् श्रीशंकराचार्य
१०४७ श्रीश्रीचैतन्य
१०४८ चैतन्यका अपूर्व त्याग
१०४९ भक्त धन्ना जाटकी रोटियाँ भगवान् ले रहे हैं
१०५० गोविन्दके साथ गोविन्दका खेल
१०५१ भक्त गोपाल चरवाहा
१०५२ मीराबाई (कीर्तन)
१०५३ भक्त जनाबाई और भगवान्
१०५४ भक्त जगन्नाथदास भागवतकार
१०५५ श्रीहरिभक्त हिम्मतदासजी
१०५६ भक्त बालीग्रामदास
१०५७ भक्त दक्षिणी तुलसीदासजी
१०५८ भक्त गोविन्ददास
१०५९ भक्त मोहन और गोपाल भाई
१०६० परमेष्ठी दर्जी
१०६१ भक्त जयदेवका गीत-गोविन्द-गान
१०६२ ऋषि-आश्रम
१०६३ श्रीविष्णु भगवान्
१०६४ कमलापतिस्वागत
१०६५ सूरका समर्पण
१०६६ माँका प्यार
१०६७ प्यारका बन्दी
१०६८ बाललीला
१०६९ नवधा भक्ति
१०७० ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म
१०७१ श्रीमनुशतरूपा
१०७२ देवता, असुर और मनुष्योंको ब्रह्माजीका उपदेश

चित्रोंके साइज, रंग आर दाम

१५X२०, सुनहरी -)॥	७॥X१०, सुनहरी)।½	५X७॥, रंगीन १)सै०	X	X
१५X२०, रंगीन -)	७॥X१०, रंगीन)।			

१५X२० साइजके सुनहरे १०, रंगीन ४७ चित्रोंके सेटकी नेट कीमत ३॥।=) पैकिङ्ग -) डाकखर्च १=) कुल लागत ५=) लिये जायँगे।

७॥X१० साइजके सुनहरे १७, रंगीन २५२ और कुल २६९ चित्रोंके सेटकी नेट कीमत ४।-)।½ पैकिङ्ग -)॥½ डाकखर्च १≡) कुल ५॥=) लिये जायँगे।

५X७॥ साइजके रंगीन ७२ चित्रोंका नेट दाम ॥=)॥ पैकिङ्ग -)। डाकखर्च ।=)। कुल १=) लिये जायँगे।

१५X२०, ७॥X१०, ५X७॥ के तीनों सेटकी नेट कीमत ८॥।=)।॥½, पैकिङ्ग -)½ डाकखर्च २=) कुल ११=) लिये जायँगे।

रेलपार्सलसे मँगानेवाले सज्जनोंको ८॥।=)।॥½ चित्रका मूल्य, पैकिङ्ग =)½ रजिस्ट्री ।) कुल ९।=) भेजना चाहिये। साथमें पासके रेलवेस्टेशनका नाम लिखना जरूरी है।

नियम—(१) चित्रका नम्बर, नाम जिस साइजमें दिया हुआ है वह उसी साइजमें मिलेगा, आर्डर देते समय नम्बर भी देख लें। समझकर आर्डरमें नम्बर, नाम अवश्य लिख दें। (२) पुस्तकोंके साथ मालगाड़ीसे चित्र मँगानेपर कुल मालका चित्रोंकी क्लासका किराया देना पड़ता है, इसलिये जितना किराया अधिक लगेगा वह ग्राहकोंके जिम्मे होगा, आर्डर देते समय इस नियमको समझ लें। (३) ३०) के चित्र लेनेसे ग्राहकके रेलवेस्टेशनपर मालगाड़ीसे फ्री डिलीवरी दी जायगी। रजिस्ट्री वी० पी० खर्चा ग्राहकोंको देना होगा। (४) केवल २ या ४ चित्र पुस्तकोंके साथ या अकेले नहीं भेजे जाते, क्योंकि रास्तेमें टूट जाते हैं। (५) 'कल्याण' के साथ भी चित्र, नहीं भेजे जाते।

नोट—सेट सजिल्द भी मिला करती है। जिल्दका दाम १५X२० का ।।।), ७॥X१० का ॥), ५X७॥ का =) अधिक लिया जाता है। सजिल्द सेटका डाकखर्च ज्यादा लगता है।

स्टाकमें चित्र समय-समयपर कम-अधिक होते रहते हैं, इसलिये सेटका आर्डर आनेपर जितने चित्र स्टाकमें उस समय तैयार रहेंगे उतने ही चित्र भेज दिये जायँगे।

श्रीहरिः

पुराने और नये ग्राहकोंको सूचना

१–यह चौदहवें वर्षका ग्यारहवाँ अङ्क है। अगले जुलाईमें बारहवें अङ्कमें इस वर्षका मूल्य समाप्त हो जायगा। पन्द्रहवें वर्षका पहला अङ्क 'साधनाङ्क' होगा।

२–जो सज्जन वार्षिक मूल्य ४≡) भेजकर पूरे वर्षके लिये ग्राहक बन जायँगे उन्हें ३॥) के 'साधनाङ्क' के तीनों खण्ड (अगस्त, सितम्बर, अक्टूबरके तीनों अङ्क) तो मिल ही जायँगे। शेष नौ महीनेके ८० पृष्ठके नौ अङ्क भी उन्हें ॥≡) (ग्यारह ही) आनेमें मिल सकेंगे।

३–पुराने ग्राहकोंको और अगले वर्षके नये ग्राहकोंको वार्षिक मूल्य (लवाजम) के ४≡) (चार रुपये तीन आने) मनीआर्डरद्वारा बहुत जल्दी भेज देने चाहिये। मनीआर्डर भेजनेमें और वी० पी० से मँगवानेमें खर्च बराबर ही लगता है। परन्तु मनीआर्डर भेजनेवालोंको बहुमूल्य 'साधनाङ्क' पोस्टसे बहुत जल्दी सुरक्षित मिल जायगा। वी० पी० मँगानेवालोंको महीने-डेढ़-महीने राह देखनी पड़ेगी। सब प्रतियाँ पहले ही बिक गयीं तो इस बार दूसरा संस्करण छपनेकी सम्भावना कम होनेके कारण सम्भवतः मनीआर्डर न भेजनेवालोंको निराश होना पड़े।

४–जिन प्रेमी महानुभावोंने विना किसी भी स्वार्थके 'कल्याण' के ग्राहक बनाये हैं, और जो बना रहे हैं, उन सबके हम हृदयसे कृतज्ञ हैं। उनकी इस सहायताका क्या बदला दिया जाय? भगवान्‌के कार्यमें जो सच्चे हृदयसे सहायता करते हैं वे भगवत्कृपाके पात्र होते हैं। इस बार भी प्रेमी महानुभावोंको विशेष चेष्टा करके पुराने ग्राहकोंसे रुपये शीघ्र भिजवा देने चाहिये—और नये ग्राहक बनानेकी चेष्टा करनी चाहिये।

५–इस बार 'साधनाङ्क' बहुत ही उपयोगी, लाभदायक, रोचक, शरीर, मन और आत्मा सभीके कल्याणका मार्ग बतलानेवाला और संग्रहके योग्य होगा। इसमें बहुत ही उत्तम-उत्तम लेख रहेंगे। इसलिये ऐसा अनुमान है कि यह अङ्क बहुत ही शीघ्र बिक जायगा। अतएव ग्राहक बननेवालोंको रुपये बहुत जल्दी भेज देने चाहिये। मनीआर्डर-फार्म इसीके साथ भेजा जा रहा है।

६–ग्राहक महानुभावोंसे निवेदन है कि वे मनीआर्डर-कूपनमें अपने ग्राहक-नंबर जरूर लिखनेकी कृपा करें। नये ग्राहक हों तो 'नया ग्राहक' लिख दें। नंबर न लिखनेसे 'साधनाङ्क' देरसे पहुँच सकेगा। कुछ महानुभाव मनीआर्डर-फार्ममें अपना नाम-पता बिल्कुल नहीं लिखते। ऐसी भूल नहीं करनी चाहिये।

७–'कल्याण' का नया वर्ष अंगरेजी अगस्त महीनेसे शुरू होता है।

८–जिन सज्जनोंको ग्राहक न रहना हो वे पहलेसे तीन पैसेका एक कार्ड लिखकर सूचना देनेकी कृपा अवश्य करें, जिससे वी० पी० भेजकर वृथा नुकसान न उठाना पड़े।

मैनेजर—'कल्याण' गोरखपुर, यू० पी०

हिन्दू-समाजका पाप

एक बहिनका बड़ा ही करुण-पत्र मिला है। पत्रका सार यह है—'मैं उच्च जाति, उच्च कुल और धनी परिवारकी लड़की हूँ। मेरी उम्र काफी बड़ी हो गयी है, किन्तु विवाह नहीं हो सका। पिताजी सुयोग्य वरके लिये बड़ी कोशिश करते हैं, परन्तु लड़केवाले भाँति-भाँतिकी अड़चनें डालकर अस्वीकार कर देते हैं। मैं चाहती थी कि पतिके घर जाकर हिन्दू-स्त्रीके आदर्शके अनुसार पातिव्रत-धर्मका पालन करूँ, परन्तु वह तो दूर रहा, मेरे कारण पिताजीको और घरभरको जो परेशानियाँ भोगनी पड़ रही हैं, उन्हें देख सकना और सह सकना मेरे लिये अत्यन्त कठिन हो गया है। मैं सोचती हूँ मेरे ही कारण तो उन सबको कष्ट है न, मैं न रहूँ तो इनका कष्ट दूर हो सकता है; परन्तु क्या करूँ यह समझमें नहीं आता। कभी मन चाहता है, आत्महत्या कर लूँ, कभी जीमें आता है घर छोड़कर निकल जाऊँ। कुछ भी निश्चय नहीं कर सकती। घोर मानसिक चिन्ताओंके कारण अत्यन्त दुःखी हो रही हूँ और आपसे सलाह पूछ रही हूँ कि मैं क्या करूँ ?'

पत्रमें सिर्फ बहिनका नाम है। जाति, पता आदि कुछ भी नहीं। पत्रके शब्द-शब्दमें घबड़ाहट, निराशा और अपना अनिष्ट करनेकी भावना प्रकट हो रही है। इसीलिये इस पत्रका उत्तर 'कल्याण'में छापा जा रहा है। पत्रमें हिन्दू-समाजके पाप और अत्याचारका चित्र खिंचा है। आज घर-घरमें ऐसी दशा हो रही है, पिता परेशान हैं, लड़कीको—बड़े प्यारसे पाली-पोसी हुई हृदयकी पूँजीको—योग्य पात्रके हाथमें सौंपकर सुखी देखनेके लिये; परन्तु लड़केवालोंकी अहम्मन्यता, बेहद माँग और कठोरताके कारण निराश-से होकर अंदर-ही-अंदर रोते हैं और उनका रोना देखकर बच्चियोंका इस प्रकार व्यथित होना स्वाभाविक ही है। यह हिन्दू-समाजका पाप है और इसका फल बहुत ही बुरा होगा। लड़केवाले हिन्दू-गृहस्थोंको और समझदार नौजवानोंको लोभ और कठोरता छोड़कर समाजको इस पापसे मुक्त करनेका प्रयत्न करना चाहिये! पत्र लिखनेवाली बहिनने अपना पूरा नाम-पता दिया होता तो उनके जातिके लोगोंसे मैं स्वतन्त्ररूपसे अपील करता। अस्तु।

अब उक्त बहिनसे मेरा यह बलपूर्वक अनुरोध है कि वे आत्महत्याका विचार कभी मनमें न आने दें। आत्महत्या महापाप है और आत्महत्या करनेवाला बड़ी बुरी दुःखभरी पिशाच योनिको और नीच गतिको प्राप्त होता है। आत्महत्यासे दुःख दूर करनेकी कल्पना भ्रान्ति और मूर्खतामात्र है। भगवान्के विधानपर सन्तुष्ट रहकर अपने सामने आये हुए धर्मसम्मत कर्तव्यका पालन करना चाहिये। इसी प्रकार घर छोड़कर निकल पड़नेकी भावनाका भी त्याग कर देना चाहिये। जमाना बहुत बुरा है, पुरुष-जातिमें बड़े-बड़े दोष आ गये हैं; मुँहसे माँ-बहिन कहनेवालोंके मनोंमें भी पाप देखा जाता है। ऐसी अवस्थामें भले घरकी लड़कीके लिये घर छोड़कर निकलना बड़े दुस्साहस और खतरेका काम है। आत्महत्या और गृह-त्यागसे न तो आपका दुःख दूर होगा और न आपके माता-पिताका ही।

मेरा तो यह निवेदन है कि आप विश्वास करके आर्त्तभावसे अपने मनोरथकी पूर्तिके लिये प्रतिदिन भगवान्‌से प्रार्थना कीजियेगा। आपकी सच्ची प्रार्थनाको सुनकर भगवान् अवश्य ही ऐसी सुव्यवस्था कर देंगे कि जिससे आपका भविष्य उज्ज्वल और सुखमय बन जायगा। धीरज न छोड़ें, घबरायें नहीं, भगवान्के मङ्गलमय विधानको खुशीसे सिर चढ़ावें; वे भगवान् ही आपके पिताकी परेशानियोंको सहज ही दूर करके उन्हें सुखी कर सकते हैं!

—हनुमानप्रसाद पोद्दार

द्रौपदीको आश्वासन

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ (गीता १८ । ६६)

वर्ष १४ } गोरखपुर, जून १९४०, सौर मास—ज्येष्ठ { संख्या ११ पूर्ण संख्या १६७

भक्तरक्षाका विरद

हम भगतन के भगत हमारे ।
सुन अरजुन परतिग्या मोरी, यह ब्रत टरत न टारे ॥
भगतन काज लाज हिय धरि क पाँय पियादे धायो ।
जहँ जहँ भीर परै भगतन पै तहँ तहँ होत सहायो ॥
जो भगतन सों बैर करत है, सो निज बैरी मेरो ।
देख बिचार भगत हित कारन हाँकत हौं रथ तेरो ॥
जीतें जीत भगत अपने की हारें हार बिचारौं ।
सूरस्याम जो भगत बिरोधी, चक्र सुदरसन मारौं ॥

—श्रीसूरदासजी

पूज्यपाद स्वामी श्रीउड़ियाबाबाजीके उपदेश

(प्रेषक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

१—देशका कल्याण तबतक नहीं हो सकता जबतक सिद्ध संत और वीर न पैदा हों। समर्थ गुरु स्वामी श्रीरामदासजी महाराज-जैसे सिद्ध महात्मा हों और छत्रपति श्रीशिवाजी महाराज-जैसे वीर पुरुष हों, तभी देशका कल्याण हो सकता है। आजकलके लोगोंसे तो कुछ भी होना कठिन है। इस भारतवर्षमें सिद्धों और वीरोंने ही काम किये हैं।

२—प्राचीनकालमें हमारे यहाँ तीन वस्तुएँ थीं—यन्त्र, मन्त्र और तन्त्र। आजकल ब्राह्मणोंको न माननेसे ये तीनों नहीं रहीं। पहले ब्राह्मणोंके पास ये तीनों वस्तुएँ थीं, इसलिये बड़े-बड़े राजे-महाराजे और सम्राट् उनके पैरों पड़ते थे। आजकल तो प्रायः सभी अपनेको ब्राह्मण बतलाते हैं, प्रायः सभी इतर जातियाँ ब्राह्मण बननेकी चेष्टा करती हैं; परन्तु ब्राह्मणोंको कोई नहीं मानता। ब्राह्मणोंके पास भी उपर्युक्त वस्तुएँ नहीं रहीं, केवल जनेऊ रह गया है।

३—जिनकी बुद्धि संसारकी ओर है, वे धीर नहीं कहला सकते। जिन्होंने संसारकी ओरसे बुद्धि हटाकर भगवान्‌में लगा दी है, वे ही वास्तवमें धीर हैं।

४—भगवान्‌के स्मरण-चिन्तनमें इतना बल है कि वह अभयपदकी प्राप्ति करा देता है। भगवान्‌का स्मरण-चिन्तन करनेवाला ही तो वास्तवमें भक्त है। दुष्ट-से-दुष्ट मनुष्य भी भगवान्‌का स्मरण-चिन्तन करके अपना उद्धार कर सकता है।

५—केवल श्रद्धा की और भजन नहीं किया तो कुछ भी न होगा। श्रद्धाके साथ-साथ भजन भी अवश्य करो। तुम्हारी श्रद्धा दान करनेकी है परन्तु दान नहीं करते हो उससे क्या होगा? इसलिये श्रद्धा भी हो और भजन भी हो, तभी काम चलेगा।

६—भगवान्‌में प्रेम हो जानेपर मन, वाणी, श्वास और शरीर सब स्थिर हो जाते हैं।

७—श्रीमद्भागवत साक्षात् भगवत्स्वरूप है। महात्मा श्रीअवधदासजी महाराज श्रीमद्भागवतको साक्षात् श्रीभगवान् ही समझते थे। आजकल लोग श्रीमद्भागवतको चाहे जहाँ डाल देते हैं यह ठीक नहीं। श्रीमद्भागवतको बड़ी श्रद्धाके साथ कपड़ेमें लपेटकर रखना चाहिये और उसकी पूजा करनी चाहिये।

८—हर समय मौन रहना चाहिये। यदि हर समय मौन न रह सको तो लघुशङ्का, शौच, स्नान, सन्ध्या, जप, हवन तथा भोजन करते समय तो अवश्य ही मौन रहना चाहिये। आजकलके लोग ऐसे समयोंमें भी बोलते रहते हैं।

९—स्वामी श्रीबंगालीबाबाजी महाराज कहा करते थे कि वृन्दावनमें मेरे साथी एक महात्मा थे। वे हर समय पाखानेमें बैठे रहते थे इसलिये कि भजनमें विघ्न न पड़े। सब लोग उनसे घृणा करने लगे और उनके द्वारा अधिक-से-अधिक भजन बनने लगा।

प्रश्न—महाराजजी, क्या उनको दुर्गन्धि नहीं आती होगी?

उत्तर—भजनमें मन लग जानेपर दुर्गन्धि भी सुगन्धिके रूपमें परिणत हो जाती है।

१०—उत्तम मनुष्यका यही कर्तव्य है कि वह भूलकर भी कभी अशुभ कर्मका चिन्तन न करे। अशुभ कर्मका चिन्तन करनेसे पाप होता है। एक-न-एक दिन वह अशुभ कर्म हो ही जाता है, जिससे बड़ा पतन हो जाता है। इसलिये शुभ कर्मका चिन्तन करना चाहिये, उससे पुण्य होता है।

११—कथामें जबतक रहे तबतक तो खूब कथा सुनी और फिर जब घर आये तो सब कथा भूल गये ! यह कथा सुनना नहीं है। कथा सुनकर उसे धारण करना चाहिये।

१२—जो मनुष्य संतोंसे द्वेष करता है, उसका सर्वनाश हो जाता है।

संसार

(लेखक—श्रीमत् परमहंस परिव्राजकाचार्य स्वामी श्रीशंकरतीर्थजी महाराज)

पुत्र-परिजन आदिके द्वारा परिवेष्टित होकर, गृहस्थीका बाना लेकर जिस स्थानपर गृहादि निर्माण कर मनुष्य नियत निवास करता है, चलित भाषामें उसीको संसार कहते हैं। चाहे हम किसी भी जाति अथवा वर्णके हों हम सबका संसार अलग-अलग होता है। इन अलग-अलग संसारोंकी समष्टिका नाम है–विराट् संसार; और मनुष्यके व्यक्तिगत संसारका नाम है व्यष्टि-संसार। हम यहाँ समष्टि-संसारके विषयमें विशेष न लिखकर व्यष्टि-संसारकी ही आलोचना करेंगे, क्योंकि व्यष्टि-संसारके साथ मनुष्यका घनिष्ठ सम्बन्ध है।

पौराणिक इतिहासकी आलोचनासे संसारका जो निगूढ़ तत्त्व विदित होता है; वह अत्यन्त रहस्यमय है। पौराणिक कहते हैं कि जहाँ 'सं'-सार है, वही संसार कहलाता है। देखनेमें आता है कि नाटकमें एक आदमी हनुमान् बनकर आया। वस्तुत: सभी समझते हैं कि यह प्रकृत हनुमान् नहीं, एक आदमी हनुमान् बनकर आया है। इस प्रकारका ज्ञान होते हुए भी जो उसे हनुमान् समझकर उसके हाव-भाव, अङ्ग-भङ्गीको देखकर उसे हनुमान् मान लेता है—इस प्रकारके व्यवहारका नाम है 'सं' अर्थात् मिथ्या। जहाँके समस्त विषय इस प्रकार सं-सदृश हैं, उस क्षेत्रका नाम है संसार।

हम सब माताकी कोखसे निकलकर इस संसारका आतिथ्य ग्रहण करते हैं। और क्रमश: वयोवृद्धिके साथ खिलौना प्रभृति वस्तुओंके साथ परिचित होनेका अभ्यास बढ़ता है। क्रमश: माता-पिता, बहिन-भाई आदिके साथ घनिष्ठता बढ़ने लगती है। पश्चात् पड़ोसियों और मुहल्लेके लोगों तथा दूसरे गाँवके सम्बन्धी या गैर-सम्बन्धी लोगोंके साथ परिचय होता है। क्रमश: मनुष्यका परिचय एक गाँवसे दूसरे गाँव, एक शहरसे दूसरे शहर तथा एक देशसे देशान्तरमें विस्तृति-लाभ करता है और वह संसारके प्रति मायाकी दृढ़ रज्जुसे बँध जाता है। शैशवकी शिक्षाके समय हमारे माता-पिता, भाई-बहिन इत्यादिके साथ क्रमश: हमारा मन नियत अभ्यासके कारण एकीभूत हो जाता है। उस समय माता या पिता, भाई या बहिन किसीका भी अभाव होनेपर उनके लिये मनमें अत्यन्त सन्ताप उत्पन्न होता है। उस परितापके मूलमें रहता है हमारे अहंत्वके कुछ अंशका अपचय। पिता थे, उनके अभावमें मैं अपनेको इस समय नि:सहाय और निरवलम्ब देखता हूँ। माताके अभावमें मैं अपनेको पूर्णरूपेण निराश्रय समझता हूँ। भ्राताके अभावमें मैं अपनेको बलहीन देखता हूँ। इसी प्रकार हमारी ममताकी किसी वस्तुके खो जाने या नष्ट हो जानेपर हम शोक और दु:खसे अत्यन्त अधीर हो उठते हैं। क्योंकि इन समस्त सम्पर्कित व्यक्तियोंके साथ हमारे मैंपनका जितना विस्तार था, उस विस्तृतिका संकोच हो गया। हमारा मैंपन केवल हमारे इस सीमाबद्ध शरीरमें ही

नहीं है। शरीर तो हम हैं ही, इसके अतिरिक्त पिता-माता, भाई-बहिन, पुत्र-दारा, धन-सम्पत्ति, मान-यश इत्यादि जो कुछ पदार्थ संसारके प्रयोजनमें आते हैं उन सब पदार्थोंके भीतर और बाहर भी हम हैं। धनके कम होनेसे हम कहते हैं—हाय! मैं मारा गया; पुत्र-वियोग होनेपर हम बोल उठते हैं, हाय! अब मैं मरा; मानकी हानि होनेपर जीवनको धिक्कारते हुए हम मरणासन्न हो जाते हैं। इस प्रकार विशेष विचार करनेपर देखा जाता है कि हम केवल यही साढ़े तीन हाथका शरीरमात्र नहीं हैं। शरीरके बाहर जो कुछ ममताकी वस्तु है, वह भी हम हैं। यह जो व्यापक हम हैं, यही हमारे संसारकी जीवन्त मूर्ति है; और संसारका यही स्वरूप है। प्रत्येक मनुष्यहृदय इस प्रकारके व्यापक संसारका एक-एक उपवनविशेष है। अर्थात् प्रत्येक मनुष्य ओतप्रोत भावसे संसारके साथ दृढ़रूपमें संश्लिष्ट हो रहा है। अतएव संसारको बाद देनेपर मनुष्यका अस्तित्व नहीं रहता।

उपर्युक्त बातोंकी आलोचना करनेपर यह निःसन्देह-रूपसे कहा जा सकता है कि मैंपनकी अति विस्तृतिका नाम संसार है और मैंपनके अत्यन्त संकोचनका नाम असंसार है। मैंपनका अत्यन्त संकोच किस प्रकार किया जाता है अथवा कैसे होता है, यह बात सांसारिक पुरुषोंके ध्यानमें सहज ही नहीं आती। अतएव यह बात उनके निकट एक प्रकारकी पहेलीके समान अलीक जान पड़ती है।

सांसारिक पुरुषकी अवस्था ऐसी होती है—मैं संसारी हूँ, मेरे मैंपनकी अति विस्तृति ही मेरा स्वाभाविक व्यवहार है, मैं उसका संकोच करके कैसे जी सकता हूँ? इस प्रकारकी अनेकों विभीषिकाएँ उपस्थित होकर हमारे मैंपनके अत्यन्त संकोचके मार्गमें बाधा देती हैं। अतएव घर-गृहस्थीको छोड़कर कैसे मैं अपने मैंपनके विस्तारकी क्षमताको दूर कर सकूँगा, और इससे मेरा लाभ ही क्या होगा? इस तरहकी विविध युक्तियाँ आकर हमें अपने मैंपनके प्रसारमें ही लगाती हैं; अतएव हमारे भीतर अपने मैंपनके संकोचन-की प्रवृत्ति ही नहीं उठती।

मर्त्यलोकवासी गृहस्थोंकी इस प्रकारकी युक्तियोंका खण्डन करनेके लिये पौराणिकोंने एक आख्यानकी अवतारणा की है। यहाँ यह बतला देना ठीक होगा कि पुराणग्रन्थ आजकलके इतिहासकी पाठ्यपुस्तकोंके समान नहीं हैं। आजकलके स्कूलोंकी इतिहासविषयक पाठ्यपुस्तकोंमें सत्य और मिथ्याका मिश्रण होता है। पुराणकी कथाएँ उस प्रकार सत्य और मिथ्याके मिश्रणसे तैयार नहीं हुई हैं। मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंने अपनी तपस्यासे प्राप्त शक्तिके द्वारा त्रैकालिक घटनाओंको वर्तमानके समान हृदयमें प्रतिफलित देखकर उसीका अभ्यास शिष्योंको कराया था परन्तु आजकल कलिकालमें किसी-किसी पुराणमें कितने ही साम्प्रदायिक मतोंकी प्रतिष्ठाके अभिप्रायसे—जैसे शैवोंको परास्त करनेके अभिप्रायसे वैष्णवोंने और वैष्णवोंको पराभूत करनेके लिये शाक्तोंने कितनी ही कृत्रिम कथाओंका प्रवेश कराके उसे अपुराण अर्थात् नूतन बना डाला है। मैं अवश्य ही वैसे किसी पुराण-की बात यहाँ नहीं करता। जहाँ इस प्रकारका कोई साम्प्रदायिक द्वन्द्व नहीं, यह वैसे ही एक पुराणकी कथा है। अतएव इसे प्रक्षिप्त या नूतन कहकर इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

किसी धनवान् देशमें एक गृहस्थ रहता था। उसके चार पुत्र थे। इस गृहस्थका कोठा अन्नसे भरा

था और गोशाला दूध देनेवाली गौओंसे। इसके अतिरिक्त लेन-देनके व्यवसायसे उसे बहुत धन प्राप्त हुआ था। इस प्रकार बहुत दिन व्यतीत हो गये। भाग्यवश उसे एक तत्त्वदर्शी गुरु प्राप्त हुए। वे कभी-कभी आकर अपने शिष्यको संसारकी ममता छोड़नेका उपदेश देकर चले जाते थे। दैवात् एक दिन आकर गुरुने शिष्यसे कहा—'अरे, तुम्हारा समय क्या नहीं आवेगा? अपने मैंपनका संकोच करनेका अब भी अभ्यास नहीं किया! दिन तो निकट आ गया!' शिष्य बोला—'हाँ देव, खेतके पके अन्नको गोदाममें रखकर आगामी माघी पूर्णिमाके पूर्व ही मैं यात्रा करूँगा।' गुरुने कहा—'अच्छा, याद रखना, माघी पूर्णिमाके पहले ही आकर मैं तुम्हें ले जाऊँगा।' यह कहकर गुरु अन्तर्धान हो गये। इधर ब्याजसे कमाया हुआ उसका बहुत-सा धन कलसोंमें भरकर घरकी भीतमें गाड़ा हुआ था। उसके विषयमें तथा मेरे न रहनेपर लड़के किस प्रकार ब्याजका व्यवहार चलायँगे, गौओंकी रक्षा करेंगे और सुख-स्वतन्त्रतापूर्वक रह सकेंगे; एवं किस प्रकार पके अन्नको खेतसे घरमें लाकर उसकी रक्षा करेंगे—इस प्रकारकी अनेकों चिन्ताओंसे वह गृहस्थ अत्यन्त अशान्त होकर समय व्यतीत करने लगा। उस समय उसकी अवस्था पागल-की-सी हो गयी। कभी सोचता कि 'हमारे रक्षित धनकी खबर किसीको न लग जाय—उसे यदि चोर ले गये तो इन लोगोंकी क्या हालत होगी! गौओंको यदि घास-पानी देकर पालन नहीं किया, तो इनके लिये अत्यन्त असुविधा उत्पन्न हो जायगी। कर्जदारसे प्राप्त होनेवाले रुपयेके विषयमें समझनेकी योग्यता इनमें अबतक नहीं हुई है। अन्नको ठीक समयपर घर लाकर उसकी रक्षा करनेके विषयमें इन्होंने आजतक शिक्षा नहीं ग्रहण की—ऐसी अवस्थामें मेरे बिना इनकी दुर्गतिकी सीमा नहीं रहेगी।' रात-दिन इसी प्रकारकी दुर्भावनामें अत्यन्त कष्टपूर्वक वह दिन काटने लगा। देखते-देखते माघी पूर्णिमाका दिन भी निकट आ गया। परन्तु लड़कोंसे, कौन-सी सम्पत्ति कहाँ किस रूपमें है, यह बात आज-कल करते नहीं कही जा सकी। इसी बीचमें माघी पूर्णिमाके ठीक पहले दिन आकर गुरुदेव उस गृहस्थको लेकर चले गये। अन्तिम कालमें गृहस्थ यत्नसे रक्खे हुए धनकी तथा खेतके पके अन्नको घर लानेकी चिन्ता करते-करते मृत्युके मुँहमें जा गिरा। मृत्युके कुछ ही दिन बाद उसने कुत्तेका शरीर धारण कर जन्म लिया। कुत्ता दिनभर गाँवमें घूमकर कभी इस घर और कभी उस घर खा लेता और रातको आकर पूर्वशरीरके निवासस्थानमें पहरेदारका काम करता। बहुत दिन इसी प्रकार बीत गये। गुरुदेवने एक दिन दर्शन देकर कुत्तेसे कहा—'अभागे, तू मृत्युके समय भी विषय-वैभवकी ममता नहीं छोड़ सका, इसी कारण अन्तिम कालकी मनोवृत्तिके अनुसार तूने इस निकृष्ट योनिमें जन्म लिया है। तेरे जीवनको धिक्कार है! मैंने कितनी बार तुझे संसारकी ममताको छोड़नेका उपदेश दिया, परन्तु तेरा ध्यान उधर नहीं गया! अब कर्मानुसार फल भोग कर। मैं और क्या कर सकता हूँ!' इस प्रकार कुत्तेका अनेकों प्रकारसे तिरस्कार करनेपर उसे आत्म-ग्लानि उत्पन्न हुई। उसके कुछ ही दिन बाद कुत्तेका शरीर नष्ट हो गया। तब उसने साँड़का शरीर धारण कर जन्म-ग्रहण किया। इस बार भी पुत्रादिके स्नेहसे कातर होकर वह साँड़ कुत्तेके समान ही अनेकों स्थानोंमें घास-पानी खाकर प्राण धारण करने लगा। जब लड़कोंको पकी हुई फसल घर ले जानेका समय होता, तब आकर साँड़ अतिथिके समान उनके पास उपस्थित हो जाता। लड़के उसे देखकर अत्यन्त प्रसन्न होते और

उस बलवान् सौंड़को अपनी फसल ढोकर घर ले जाने-के काममें नियुक्त करते। सौंड़ भी प्रसन्नतापूर्वक उस बोझेको घर ढोकर ले जाता। लड़के नहीं जानते थे कि वह बैल उनका पिता है और बैल इस बातको मन-ही-मन समझता हुआ भी मनुष्यकी भाषा बोलनेमें असमर्थ होने-के कारण कोई बात लड़कोंसे नहीं कह पाता था। इस प्रकार बहुत दिन बीत गये। सहसा एक दिन गुरुदेवने आकर सौंड़से कहा—'अरे नीच, अब भी तुझे होश नहीं हुआ? अब भी तू विषय-तृष्णा नहीं छोड़ सका? यदि ये तेरे पुत्र हैं और तू इनका पिता है, तो पशु कौन है, जिसपर ये अन्न लादकर अपने घर ले जाते हैं? तू शारीरिक कष्टोंका विचारकर एक बार समझता नहीं कि कौन किसका पिता है और कौन किसका पुत्र? अपने कर्मोंका फल तुझीको भोगना पड़ेगा, मैं क्या कर सकता हूँ?' गुरुदेवके तिरस्कारसे सौंड़रूपी गृहस्थको बड़ा ही परिताप हुआ। इसके कुछ दिन बाद सौंड़का शरीरान्त हुआ। तब यह सौंड़ सर्पका शरीर धारण कर पूर्वदेहकी सञ्चित धनराशि जहाँ कलसोंमें रखकर गाड़ी गयी थी, उसीको घेरकर वहीं रहने लगा।

इधर धनवान् पिताकी मृत्युके पश्चात् ही सुव्यवस्था न होनेसे चारों पुत्रोंकी अवस्था क्रमशः शोचनीय होने लगी। कोठेमें अन्न नहीं रहा, गोशालामें गौएँ नहीं रहीं, कर्जदारोंके पास रुपया नहीं रहा—अब उनकी अत्यन्त दीन दशा आकर उपस्थित हुई। उस बड़े घरकी भी रक्षा वे नहीं कर सके। क्रमशः बड़े घरकी दीवालोंको काटकर छोटी बनाने और उनपर छोटा घर बनानेकी नौबत आ गयी। तब चारों भाई एकत्र होकर बड़े घरकी दीवालोंको छोटी बनानेके विचारसे काटने लगे। मिट्टी काटते-काटते अचानक एक स्थानपर झन्-झन् शब्द हुआ। सबने देखा कि एक कलसेपर कुदालके लगनेसे ही यह शब्द हुआ है! तब कौतूहल-वश उस स्थानकी मिट्टी और हटानेपर उन्होंने देखा कि एक बड़ा काला फणधर सर्प कलसेको लपेटे बैठा है। उसे देखकर चारों भाइयोंने लाठीसे अधमरा करके गड्ढेसे निकाल बाहर किया। वह सर्प स्वभाववश तब भी फण निकालकर कभी इधर और कभी उधर पटकता था। तब सब लड़कोंने मिलकर सर्परूपी पिताकी खोपड़ी-पर बार-बार लाठीका प्रहार करके उसके फणको कुचल दिया। ठीक इसी समय गुरुदेवने आकर सर्पके कानमें कहा—'रे हतभाग्य जीव! पुत्रोंसे आज तुझे जो शिक्षा मिली है, इसे क्या तू याद रक्खेगा? अपने पूर्वशरीरमें जब तू गृहस्थ था, तब तुझे मैंने बार-बार सतर्क किया था कि संसारसे तू अपनी ममताको क्रमशः कम करनेका अभ्यास कर। यदि तुझे गुरुवाक्यमें श्रद्धा होती तो अवश्य तू वैसा कर लेता। परन्तु आज अश्रद्धाका फल तुझे हाथों-हाथ मिल रहा है। क्या फिर भी तू कभी पुत्रादिकी ममतामें आकृष्ट होकर अपनेको संसार-बन्धनमें डालेगा? मैंने बार-बार, तीन जन्मोंतक तुझे सावधान किया। इसके बाद तुझे जो शरीर मिलेगा, उसमें तू मेरा दर्शन नहीं पायेगा। सावधान, अब अपनेको संसारमें फैलाकर न रखना। केवल मेरी यह बात याद रखनेसे तुझे सत्पथकी प्राप्ति होगी।' यह कहकर तत्त्वदर्शी महापुरुष अन्तर्धान हो गये।

संसारमें आकर अपने मैंपनका सङ्कोच करना क्यों आवश्यक है? प्रियतम पाठक उपर्युक्त इतिहासके पाठसे इसका सूक्ष्म तत्त्व अवश्य ही समझ गये होंगे। इस विनाशशील जगत्में जब कोई भी पदार्थ चिरस्थायी नहीं है, तब अचिरस्थायी विषय-सम्पद् और पुत्र-परिजन आदिको 'अपना' समझना, उनके चिन्तन और मननमें आजीवन पड़े रहना बुद्धिमानीका काम नहीं है। मनुष्येतर जीवोंकी अपेक्षा हमारे भीतर बुद्धिवृत्ति

ही अधिक है। बाह्य जगत्में जब हम बुरे-भलेका विचार करके चल सकते हैं, तो अन्तर्जगत्में भी उसी प्रकार बुरे-भलेका विचार क्यों नहीं कर सकते? इस प्रकारकी दृढ़ता दिखलाना क्या गृहस्थमात्रका कर्त्तव्य नहीं है?

हम जानते हैं कि झूठ बोलना पाप है, चोरी करना बड़ा पाप है—इसे जानते हुए भी हम चोरी करना और झूठ बोलना नहीं छोड़ते। बतलाओ तो इस रोगकी औषध क्या है? हम जानते हैं कि माता-पिता, भाई-बहिन, पुत्र-कन्या, स्त्री-प्रभृति जितने सम्बन्धी या गैर-सम्बन्धी लोगोंको हम संसारमें आकर प्राप्त करते हैं, वे सभी विनाशशील हैं—यह बात हम आँख खोलकर चारों ओर देखते हैं, समझते हैं; तब क्यों अपने स्वजन-वियोगसे हम कातर हो उठते हैं? और इन नश्वर पदार्थोंपर ममता करके इतना स्थान लिये बैठे हैं? हम क्षुद्रसे भी क्षुद्र हैं, हमें साम्राज्य-लाभसे क्या मतलब है? साम्राज्यके विस्तारके साथ-साथ हमारे मैंपनका भी अत्यन्त विस्तार अवश्यम्भावी है, इसे हम क्यों भूल जाते हैं? जो नियतरूपसे विचारद्वारा संसारकी नश्वरताका अनुभव स्पष्टरूपसे हृदयमें कर सकते हैं, उन्हींका जन्म सफल है। मैंपनके अति विस्तारका फल जब इस प्रकारका भयानक व्यापार है, तब उससे दूर ही हटे रहना क्या हमारे लिये परिणामदर्शिताका चिह्न नहीं है?

यह संसार हमारा लीला-क्षेत्र है, अतएव शिक्षाका स्थान है। भूमिष्ठ होकर देहान्तपर्यन्त केवल शिक्षा प्राप्त करनेके लिये ही हम संसारमें जन्म-ग्रहण करते हैं। जो उपर्युक्त प्रणालीके अनुसार नियत तत्त्वविचार-द्वारा संसारकी क्षणभङ्गुरताको देख पाते हैं, वे फिर संसारमें आसक्त होकर रहना नहीं चाहते। वे तब संसारमें जो प्राप्त नहीं होती, ऐसी वस्तुको प्राप्त करनेकी चेष्टा करते हैं। ऐसी अवस्थामें वे फिर संसारी नहीं कहलाते। ऐसे लोगोंकी संख्या संसारमें बहुत कम होती है। बहुत दिन पहले जब मैं हरद्वार कुम्भके मेलेमें गया था, तब देखा था कि पचीस हजारसे भी अधिक लोग गृहस्थ-आश्रम त्याग कर नाना प्रकारके सम्प्रदायोंमें विभक्त होकर, घर-द्वार छोड़कर यदृच्छालाभ-द्वारा हृष्टचित्तसे जीवन-यापन करते हैं। अवश्य ही वे सभी यथार्थरूपमें सर्वत्यागी संन्यासी ही थे, उनकी अवस्था देखकर मैं ऐसा नहीं समझता। परन्तु यह बात बारम्बार मनमें उठी कि क्या किसी अनिर्वचनीय सुखकी लालसासे इन्होंने सब प्रकारके सुखोंके एकमात्र आधार गार्हस्थ्य आश्रमका त्याग कर इस वानप्रस्थ और संन्यास-आश्रमका आश्रय लिया है। उस समय मैं विद्यार्थी युवक था, अतः मेरे मनमें इस प्रकारका आन्दोलन उठना स्वाभाविक था।

फिर आपात-रमणीय, परिणाम-विरस इस लोभनीय संसारके यावत् भोग्य-पदार्थोंसे मनको हटाये रखना सहजसाध्य कर्म नहीं है और यह दो-चार दिनकी चेष्टासे नहीं हो सकता। तत्त्व-बुद्धिका विकास हुए विना हृदयमें शुद्ध विचारकी भावना नहीं उठती और शुद्ध विचारके विना संसारके प्रति स्वतः विरक्ति नहीं उत्पन्न होती। संसारसे विरक्तिकी चरमावस्थाका नाम है—वैराग्य अर्थात् संसारमें आसक्तिका न होना। अतएव संसारासक्त लोगोंमें किसीको पुण्योंके कारण यदि कभी संसारभोगसे वितृष्णा उत्पन्न हो जाय तो उसी क्षणसे संसारके समस्त विषय-भोगोंकी तृष्णासे चिरकालके लिये छुटकारा प्राप्त करनेके लिये दीर्घकाल-तक कठोर साधनाद्वारा उसे ऐसी तीव्र चेष्टा करनेकी आवश्यकता है कि जिससे वह अवस्था दृढ़रूपसे हृदयमें स्थिर हो जाय। इस प्रकारकी तीव्र चेष्टाका नाम है—सदसद्वस्तुविवेक। जगत्का कौन पदार्थ सत् अर्थात्

स्थायी है और कौन पदार्थ असत् अर्थात् अस्थायी— निरन्तर मनमें इस विषयका विचार करते रहनेसे समयानुसार उसके फलस्वरूप संसारके प्रति विरक्तिका भाव उत्पन्न हो जाता है। किन्तु इस विरक्तिको पक्की विरक्ति समझना ठीक नहीं। क्योंकि घटनाविशेषमें इस अवस्थासे भी पतनकी आशङ्का रहती है। अतः दृढ़ताके साथ उस अवस्थाको हृदयमें बद्धमूल करनेके लिये दीर्घकालतक साधनकी आवश्यकता है। एक तो हमारी उम्र कम होती है, दूसरे वृद्धावस्थामें साधन प्रारम्भ करनेपर उससे विशेष फल पानेकी आशा नहीं की जा सकती। अतएव प्रथम वयस्में ही इन सब बातोंका साधन आरम्भ कर देना चाहिये। समयका काम समयपर न करनेसे कोई लाभ नहीं होता वरं वह केवल निष्फल प्रयत्न मात्र होता है। इस तत्त्वको समझानेके लिये पौराणिकोंने निम्नलिखित इतिहासकी अवतारणा की है—

एक बार बारह वर्षतक वृष्टि नहीं हुई। जितने वृक्ष, लता तथा ओषधियाँ थीं, सब सूख गयीं। नद-नदी, नाले, गड्ढे, पोखरे आदि बिल्कुल जलशून्य हो गये। बहुत-से जीव-जन्तु जलाभावसे मर गये, केवल कुएँका पानी पीकर कुछ मनुष्य अत्यन्त कष्टपूर्वक जीवन व्यतीत करते थे। उस समय एक विस्तृत जङ्गलमें एक विशाल वटवृक्ष किसी प्रकार जीवित था, उस वृक्षपर पत्र, पुष्प, फल आदि कुछ भी न था। ऐसे समय एक दिन आकाशमें मेघ दिखलायी दिया। बहुत दिनोंके बाद मेघदर्शन होनेसे वटवृक्षके आनन्दकी सीमा न रही। मेघ जब वटवृक्षके सिरके ऊपर होकर चला जा रहा था, तब वृक्षने मेघको सम्बोधित करके कातर कण्ठसे कहा—'हे जलद! तुम्हारा शरीर कठोर और कोमल पदार्थोंसे बना है। जब तुम वज्र गिराते हो तब तुम कठोर जान पड़ते हो और जब जल बरसाते हो तब तुम कुसुम-कोमल हो जाते हो। मैं तुमसे पहला व्यवहार प्राप्त करनेकी प्रार्थना नहीं करता। तुम्हारी स्वाभाविक कोमलताका स्मरण कर प्रार्थना करता हूँ कि थोड़ा जल सिञ्चन करके हमारी जीवनरक्षा करो। देखो, जीवनसे बढ़कर जगत्में कुछ भी नहीं है।' इस बातको सुनकर मेघका हृदय आर्द्र हुआ या नहीं, मैं नहीं जानता। वायुसे विताड़ित होकर मेघने कहा, 'मेरा समय नहीं है, मुझसे पीछे आनेवाले मेघसे प्रार्थना करना।' यह कहकर वायुरूपी वेगवान् अश्वपर सवार होकर मेघरूपी राजपुत्र दृष्टिसे ओझल हो गया। फिर कुछ समयके बाद दूसरा एक मेघखण्ड आया। वृक्षने उससे भी कुछ वर्षा करनेके लिये अनुरोध किया। परन्तु वह भी पहले मेघके समान उत्तर देकर चला गया। इसके कुछ देर बाद एक और मेघ दिखलायी दिया। वृक्षने इस बार भी अत्यन्त कातर स्वरसे प्राण-सङ्कटसे घबड़ाकर उस तीसरे मेघसे कहा—'पिता वारिद, कुछ वर्षा कर हमारे प्राणकी रक्षा कीजिये। अब भी यदि एक बूँद जल पा जाऊँ तो उसको चूसनेसे मेरी प्राणरक्षा हो सकती है; क्योंकि अब भी मृत्तिकासे रस चूसनेकी शक्ति मुझमें है, हो सकता है कि कुछ ही देरमें वह भी लुप्त हो जाय।' मेघ बेचारा परवश होता है, वायुके द्वारा परिचालित होता है; अतः क्या यह उसके वशकी बात है कि अपने इच्छानुसार वर्षा करे? फलतः वह भी पूर्वगामी मेघोंके समान कह गया—'मैं इस समय बड़ा व्यस्त हूँ, यदि हो सका तो जाते समय कुछ जल देता जाऊँगा। मेरे पीछे आनेवाले मेघसे कहना, शायद वह कुछ दे दे।' इतना कहकर तीसरा मेघ भी चला गया। इसके बाद ही वृक्षमें मृत्तिकासे रसशोषणकी शक्ति नष्ट हो गयी। इस घटनाके कुछ ही समय बाद लगातार बारह वर्षतक घोर वृष्टि हुई। उस समय वटवृक्षने यह कहते हुए प्राणत्याग किया—'अरे वारिद! तूने जल-वर्षा की, किन्तु मेरे प्राण रहते नहीं की।'

अतः जो काम जिस समय आरम्भ करना चाहिये, उसे उस समय आरम्भ न करनेसे कभी फलप्राप्ति नहीं होती। साधकोंको सर्वदा इसका ध्यान रखना चाहिये और सावधान रहना चाहिये कि सङ्कल्पित कार्यमें कभी उदासीनता न आ जाय। यह उदासीनता ही साधकोंके लिये प्रमाद है। साधकके लिये प्रमाद सदा ही परित्याज्य है; क्योंकि प्रमादसे पतन अनिवार्य हो जाता है। अप्रमाद (सावधानी) से उत्थान भी उसी प्रकार अवश्यम्भावी है।

संसारका स्वभावसिद्ध धर्म यही है कि वह सर्वदा अपने माया-जालको फैलाकर मनोरम दूकानकी भाँति समस्त जीवोंको अपनी ओर आकर्षित करता है; क्योंकि जीव अपनी सहजसाध्य चेष्टाके द्वारा संसाररूपी मायाविनीके हाथसे निस्तार नहीं पा सकता। केवल जिनकी पूर्वजन्मार्जित तपस्या अधिक है, उसीके बलसे वे सहज ही संसाररूपी वेश्याके हाथसे छुटकारा पा सकते हैं; दूसरोंके लिये वैसी सुविधा नहीं।

जो लोग पार्थिव विषय-सम्पदाके स्थायित्वके सम्बन्धमें विश्लेषणपूर्वक विचार करनेमें अभ्यस्त होते हैं, तत्त्वबुद्धिका विकास होनेपर उनकी रसना और उपस्थेन्द्रियकी भोग-तृष्णा पूर्णतः नष्ट हो जाती है; इस विषयमें यही परीक्षा है। ऐसे पुरुषका चरित्र अति विचित्र हो जाता है। तब उसे मृत्युलोक—संसारका जीव नहीं समझा जा सकता। उसकी चाल-ढाल, भाव-भङ्गी सब और ही प्रकारकी हो जाती है। संसारके साधारण मनुष्य जिस कार्यकी अवज्ञा करते हैं, विषय-भोगसे वितृष्ण पुरुष उस कार्यका विशेष आग्रहपूर्वक अनुष्ठान करते हैं। इसके विपरीत वे जिस कार्यको घृणित समझकर नहीं करते, सांसारिक पुरुष उन्हीं कामोंमें परमानन्दपूर्वक दिन काटते हैं। कदाचित् किसीकी ऐसी अवस्था हो जाती है तो फिर वह संसारके कोलाहलमें रहना पसंद नहीं करता। ऐसे पुरुष निर्जनवासको ही अधिक पसंद करते हैं। जनसंसर्गसे विरति ज्ञानका एक लक्षण है, श्रीमद्भगवद्गीतामें यह बात स्पष्टरूपसे लिखी गयी है। जिज्ञासु पाठक इस सम्बन्धमें श्रीगीताके १३ वें अध्यायके ७ से ११ श्लोकतकके तात्पर्यको समझनेकी चेष्टा करें।

इस संसारके असंख्य जीवोंमें मनुष्यके सिवा कोई जीव श्रेयःप्राप्तिके लिये यत्न नहीं करता। मनुष्योंमें भी सहस्रों आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये यत्न करते हैं, परन्तु उन सहस्रों प्रयत्न करनेवालोंमें विरले ही पूर्व-जन्मोंके पुण्यबलसे आत्मज्ञान प्राप्त करते हैं। और वैसे आत्मज्ञानप्राप्त सहस्रों मनुष्योंमें कदाचित् ही कोई परमात्म-स्वरूपको यथार्थरूपसे जानकर कृतकृत्य होते हैं। इस प्रकारके पुरुष ही संसारमें रहते हुए भी संसारके आकर्षणसे बहुत दूर अवस्थित रहते हैं। इनके सिवा दूसरे संसारके मोहगर्त्तमें डूबते-उतराते रहते हैं—

साधकश्रेष्ठ रामप्रसादने गाया है—

एइ संसार धोकार टाटी । सार जेनो रे ए कथाटी ॥
शाँस नाइ तार, खोंसा आछे, जेनो एकटि आमड़ार आँठी॥

तुम गृहस्थ हो, तुम संसारी हो; अतः यह बात तुम्हारी समझमें नहीं आती। रामप्रसादने तत्त्वबुद्धिके आश्रयसे संसारको दिव्यदृष्टिसे देखा था। उन्होंने समझा था कि संसारके समस्त पदार्थ अन्तःसारशून्य हैं, कोई भी वस्तु स्थायी नहीं है। लोग जिस प्रकार भ्रममें पड़कर १० की गणनामें अपनेको बाद देकर ९ की गणना करते हैं, संसारके समस्त पदार्थ इसी प्रकार भ्रमपूर्ण हैं। अर्थात् सत्यवत् प्रतीत होते हुए भी वस्तुतः अस्तित्वहीन हैं।

जिस प्रकार रङ्गमञ्चके अभिनेता अपने स्वरूपको छिपाकर कोई दुष्यन्त, कोई शकुन्तला, कोई कण्व प्रभृति बनते हैं, अपनेको उस-उस नामसे कल्पना करके अभिनय दिखलाते हैं, उसी प्रकार संसारके

समस्त पदार्थ अपने-अपने स्वरूपको छिपाकर, अन्य मूर्त्ति ग्रहण करके हमारे सामने उपस्थित होते हैं।

इसी अवस्थाकी आलोचना करके किसी कविने लिखा है—

> संसार सझेर हाट मानुषेर कर्मभूमि,
> ए अनित्य रङ्गमञ्चे अभिनेता तुमि आमि ॥

वस्तुतः यह बात बिल्कुल सत्य है कि रङ्गमञ्चके अभिनेताके समान हम सभी जीव इस साझेकी हाटमें अभिनय दिखलानेके लिये एकत्र हुए हैं। हम इस बार जिसके पिता हैं, जिसके पुत्र, जिसके मामा बने हैं, हो सकता है कि आगामी जन्ममें हम उनके कोई न रहें। अथवा यह भी हो सकता है कि हम आगामी जन्ममें उनके पुत्र, पिता अथवा भानजेके रूपमें आविर्भूत हों। इस प्रकार स्पष्टरूपसे देखा जाता है कि हमारे इस जीवनके ये क्षणिक सम्बन्ध या सम्पर्क पथके पथिकोंके परिचयके समान क्षणस्थायी हैं। संसारासक्त पुरुष इन बातोंकी आलोचनाद्वारा संसारकी असारताको समझकर क्रमशः संसारके प्रति ममत्वका सङ्कोच करेंगे, तभी उनका जीवन-जन्म सफल और सार्थक हो सकेगा। नहीं तो इस प्रबन्धमें लिखे हुए धनवान् गृहस्थके समान पुनः-पुनः तिर्यक् योनिमें जन्म-ग्रहण करना अवश्यम्भावी है।

आत्मज्योति

(लेखक—स्वामीजी श्रीविज्ञानहंसजी)

प्रत्येक परिणामशील वस्तुकी सत्ता आपेक्षिक होती है, निर्विशेष नहीं होती; अर्थात् प्रत्येक परिणामी वस्तु अपनेसे अपेक्षाकृत कम परिणामी वस्तुके साथ तुलनामें परिणामी होती है। यही परिणामशील वस्तुकी 'आपेक्षिक सत्ता' है। इस तरहसे विचारका सूत्र अवलम्बन करके प्रत्येक वस्तुकी आपेक्षिक सत्ताका पता लगानेपर यही सिद्धान्त निकलेगा कि सबके अन्तमें सबकी मूल कारणरूप एक ऐसी आपेक्षिकता-विहीन निर्विशेष मूल सत्ता विद्यमान है, जो नित्य पूर्ण, अजर, अमर एवं परिणामहीन है और जिसके ऊपर समस्त परिणामशील, अनित्य, अपूर्ण एवं देश-काल-परिच्छिन्न सत्ताकी स्थिति निर्भर करती है। वही परिणामहीन सर्वतः पूर्ण नित्य सत्ता सच्चिदानन्द ब्रह्म है। उन्हींकी परिणामहीन स्वप्रकाश चित्सत्तापर निखिल प्रपञ्चमें प्रतिभासित विविध विलासमयी ज्ञान-सत्ता निर्भर करती है; उन्हींकी परिणामहीन सत्-सत्तापर निखिल प्रपञ्चकी परिणामशील आपेक्षिक सत्-सत्ता निर्भर करती है और उन्हींकी परिणामहीन विभुतापूर्ण सुख-दुःख-द्वन्द्वरहित आनन्द-सत्ताके आधारपर आब्रह्म-स्तम्बपर्यन्त प्रत्येक जीव-हृदयमें कर्मके मूल कारणरूप परिणामशील वियोग-दुःखपूर्ण सुख-सत्ताकी विविध विलास-कला प्रत्यक्ष हो रही है। इस तरहसे अपरिणामी, पूर्ण एवं नित्य परमात्माकी सत्, चित् और आनन्द-सत्ताके ऊपर दृश्य प्रपञ्चकी आपेक्षिक तथा परिणामी सत्-सत्ता, ज्ञान-सत्ता और आनन्द-सत्ता निर्भर करती है; परन्तु उनकी सत्-चित्-आनन्दसत्ताके विकासके लिये किसी अन्य सत्ताकी अपेक्षा नहीं रहती। जैसा कि केनोपनिषद्में वर्णन किया गया है—

> यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
> तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥
> (१।४)

इत्यादि—

जिसका स्वरूप वचनके द्वारा प्रकट नहीं हो सकता, किन्तु जिसके कारण वाक्-शक्तिकी स्फूर्ति होती

है, स्वरूपलक्षण-वेद्य वही परब्रह्म है। जिसका स्वरूप मनका विषय नहीं है, किन्तु जिसके कारण ही मनमें मननशक्ति उत्पन्न होती है, स्वरूपलक्षण-वेद्य वही परम पुरुष ब्रह्म है। जिसके कारण ही चक्षुमें दर्शन-शक्ति, श्रोत्रमें श्रवण-शक्ति तथा प्राणमें प्राण-शक्ति आती है, वही स्वरूपलक्षण-वेद्य परब्रह्म है।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥
(कठ० २।२।१५)

'परमात्माके स्वरूपको प्रकाशित करनेके लिये वहाँपर सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र या बिजली—किसीकी ज्योति नहीं है; प्रत्युत उन्हींकी ज्योतिसे सूर्य, चन्द्र आदिमें ज्योति आती है और उसीसे संसार आलोकित होता है।' नमककी डली जिस तरह भीतर-बाहर नमकमय है, उसी तरह आत्मा भी भीतर-बाहर सर्वत्र ज्ञानमय है। उन्हींकी चित्-सत्ताका आध्यात्मिक विलास ज्ञान-रूपसे वेदके द्वारा, अधिदैव विलास शक्तिरूपसे सूर्यात्माके द्वारा, और अधिभूत विलास स्थूल ज्योतिरूपसे सूर्यगोलक, अग्नि तथा अन्यान्य ज्योतिष्कगणके द्वारा दृश्य संसारमें विकसित है। श्रीभगवान्ने श्रीगीताजीमें कहा है—

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥
यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥

'परमात्माका वह परमपद जहाँ पहुँचकर साधकको संसारमें फिर लौटना नहीं पड़ता, सूर्य, चन्द्र अथवा अग्निकी सहायतासे प्रकाशित नहीं होता। क्योंकि वह स्वयंप्रकाश एवं समस्त प्रकाशका आकर-रूप है। सूर्यका जो प्रचण्ड तेज समस्त विश्वको प्रकाशित करता है, जो तेज चन्द्र और अग्निमें विद्यमान है, वह समस्त तेज परब्रह्म परमात्माका है।'

क्या संसारका जाग्रद्दशागत स्थूल तेज, क्या स्वप्नावस्थागत मनोभ्रमणकारी सूक्ष्म तेज और क्या सुषुप्तिमें कारण शरीर-प्रतिबिम्बित आभासचैतन्यका आनन्दमय मधुर तेज—सभी तेज श्रीभगवान् सच्चिदानन्दके अनन्त तेजोंके कणमात्रके द्वारा प्रतिफलित तेज हैं।

बृहदारण्यकोपनिषद्में लिखा है—

'अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते शान्तेऽग्नौ शान्तायां वाचि किंज्योतिरेवायं पुरुष इत्यात्मैवास्य ज्योतिर्भवतीत्यात्मनैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते, पल्ययते, कर्म कुरुते, विपल्येतीति।'
(४।३।६)

'सूर्य और चन्द्रके अस्त हो जानेपर अग्निकी ज्योतिसे काम हो सकता है। अग्निके भी शान्त हो जानेपर वाक्यकी ज्योतिसे दिशाका निर्णय हो सकता है। परन्तु गम्भीर रजनी (रात्रि) में स्वप्नदर्शनके समय सूर्य, चन्द्र, अग्नि अथवा किसीकी भी ज्योति न होनेपर भी जीव जो इस देशसे उस देशमें जाता रहता है और विचित्र स्वप्ननगरीकी शोभाको देखता रहता है, उसमें केवल हृदयगुहामें भासमान आत्माकी ही ज्योति कार्य करती है, अन्य कोई ज्योति नहीं। इसलिये जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति दशामें आत्म-ज्योति ही सर्वथा जीवका एकमात्र अवलम्बन है, इसमें सन्देह नहीं।'

श्रीभगवान्की यही स्वयंप्रकाश, गुणातीत तथा देश, काल और वस्तुके द्वारा अपरिच्छिन्न सत्, चित् एवं आनन्द-सत्ता अघटन-घटना-पटीयसी त्रिगुणमयी मायाके द्वारा विविध परिच्छिन्न एवं परिणामी रूपोंमें समस्त दृश्य संसारमें परिव्याप्त है।

उनकी अद्वितीय सत्-सत्ता ही मायाके द्वारा नाना जीव-सत्ता तथा जगत्-सत्ताके रूपमें भासमान है। जैसा श्रुतिमें कहा है—

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥
(कठ० २ । ५ । ९)

'एकरूप परमात्मा मायाके द्वारा बहुरूप धारण करके संसारके दृश्यमान समस्त रूपोंमें विभक्त होते हैं। जिस तरह एक अग्नि संसारमें प्रकट होकर अनेक रूप धारण कर लेता है, उसी तरह परमात्मा मायाके द्वारा अपनी अद्वितीय सत्-सत्ताको विश्वप्रपञ्चके अनन्त सत्ता-रूपमें विभक्त कर देते हैं।'

इसी तरह परमात्माकी सत्-सत्ताके द्वारा अनन्त जीव-सत्ताका विस्तार होता है; तथा उनकी चित्-सत्ता त्रिगुणमयी मायाके द्वारा विविध ज्ञानरूपमें विश्व-ब्रह्माण्डमें विलसित है। मायाके सत्त्वगुणमय विद्याभावपर प्रतिबिम्बित वही चित्-सत्ता आध्यात्मिक ज्ञानरूपमें मुमुक्षु-जनोंके हृदयाकाशमें प्रकाशित होकर उनको निःश्रेयस पदवीपर प्रतिष्ठित कर देती है। मायाकी रजोगुणमयी परिणामिनी स्थिति-दशापर प्रतिबिम्बित होकर वही चित्-सत्ता विविध शिल्प, कला, विज्ञान आदि शास्त्ररूपसे अपनी अपूर्व छटाका विस्तार किया करती है। मायाकी तमोगुणमयी अविद्या-विलसित भूमिपर प्रतिफलित होकर वही चित्-सत्ता विविध तामसिक ज्ञानरूपसे जगत्को मुग्ध कर रही है। इसी तरहसे तटस्थ लक्षणयुक्त यावतीय व्यावहारिक ज्ञान, त्रिगुण-तरङ्ग-प्रतिबिम्बित तथा गुण-मिश्रण-जनित अवान्तर-तरङ्ग-प्रतिफलित अनन्त ज्ञान, एवं स्वरूपाभिमुखीन समस्त ज्ञान उसी ज्ञानरूप परम पुरुष अद्वितीय परमात्माकी चित्-सत्ताकी मायावलम्बिनी बहिर्विलासकलाके रूपसे समस्त द्वैत-सत्ताके असंख्य भावोंको आश्रय करके विश्व-संसारमें विकासको प्राप्त हो रहे हैं। इसीलिये श्रीभगवान्‌ने गीताजीमें कहा है--

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
....
....
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥

'बुद्धि, ज्ञान, असंमोह, क्षमा, सत्य, दम और शम आदि जीव-राज्यगत समस्त भाव मुझसे ही उत्पन्न होते हैं।' और भी—

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥

'मैं सबके हृदयमें विद्यमान रहता हूँ। मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और उसका अभाव भी प्रकट होता है। मैं ही सकल वेदोंके द्वारा वेद्य हूँ और वेदका कर्ता तथा वेदका यथार्थ अर्थवेत्ता मैं ही हूँ।' इससे निष्पन्न होता है कि परमात्माकी चित्-सत्ता ही त्रिगुणमयी मायाके भिन्न-भिन्न भाव और प्रवाहमें प्रतिबिम्बित होकर विश्व-जगत्के विविध-ज्ञानरूपसे जीव-केन्द्रके द्वारा प्रकट होती है।

इसी तरह उनकी आनन्द-सत्ता भी त्रिगुणमयी प्रकृतिके द्वारा प्रतिफलित होकर प्रकृतिसे उत्पन्न जीव-जगत्में विविध विषय-सुखरूपसे भासमान हो रही है। उनका स्वरूपगत आनन्द तो नानात्व-भेदहीन, सुख-दुःखातीत, अखण्ड और नित्य है। जैसा श्रुतिमें कहा है—

'नानात्वभेदहीनोऽस्मि ह्यखण्डानन्दविग्रहः।'

'परमात्मा अद्वितीय और अखण्ड आनन्दरूप हैं।' परन्तु परिणामिनी प्रकृतिके द्वारा जब वही आनन्द संसारमें प्रवाहित होता है, उस समय प्रकृतिके त्रिगुण सम्बन्धके कारण दुःखसङ्कुल विषय-सुखरूपसे उसी आनन्दका विविध विलास देखा जाता है, जिसका जीव अपनी-अपनी प्रकृति और प्रवृत्तिके अनुसार नाना प्रकारके सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक सुखरूपसे उपभोग करते हैं। श्रुति कहती है—

'रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।' (तैत्ति० २ । ७)

'एषोऽस्य परम आनन्द एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति ।' (बृहदा० ४ । ३ । ३२)

'परमात्मा आनन्दरूप हैं। उनकी ही आनन्द-सत्ताको लाभ करके समस्त जीव आनन्दी होते हैं। विकारहीन, सुख-दुःख-द्वन्द्वहीन परमानन्दकी स्थिति उन्हींमें है। और उनकी ही आनन्द-सत्ताका कुछ-कुछ अंश विषय-सुखरूपसे प्रकृतिके द्वारा प्राकृतिक जीव संसारमें उपभोग करते हैं।'

पति-पत्नीके हृदयमें पारस्परिक प्रेमका मधुर आनन्द, मित्रोंके हृदयमें एकप्राणताका पवित्र आनन्द, माता-पिताके हृदयमें निष्कलङ्क स्नेह और वात्सल्यजनित उदार आनन्द, काम-मोह-लोभादि विषय-पाशबद्ध विषयी जनोंके हृदयमें दुःखपरिणाम-दग्ध विविध विषयानन्द इत्यादि सभी प्रकारका आनन्द अनन्त आनन्दके नित्य प्रस्रवणरूप परमात्माकी आनन्द-सत्ताके बिन्दुमात्रको लेकर त्रिगुणमयी मायाके द्वारा अनित्य सुखरूपसे संसारमें विलसित हो रहा है।

यही मायातीत सत्, चित् एवं आनन्दरूप परमात्माके मायाद्वारा नाना भावसे संसारमें विकसित होनेकी महिमा है, जिसके सम्यक् परिज्ञानसे सान्त जीव अपनी अनन्त सत्ताको उपलब्ध करके दुःखदावानलदग्ध संसारसे मुक्तिलाभ कर सकता है। इसीलिये परमात्माके स्वरूप तथा उनके ऊपर जागतिक समस्तसत्ताकी निर्भरताके वर्णन-प्रसङ्गमें छान्दोग्य श्रुतिमें लिखा है—

'यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्। स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति। स्वे महिम्नि।' (छा० ७ । २४ । १)

'सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः।' (छा० ६ । ८ । ४)

'आत्मतः प्राण आत्मत आशाऽऽत्मतः स्मर आत्मत आकाश आत्मतस्तेज आत्मत आप आत्मत आविर्भावतिरोभावावात्मतोऽन्नमात्मतो बलमात्मतो विज्ञानमात्मतो ध्यानमात्मतश्चित्तमात्मतः सङ्कल्प आत्मतो मन आत्मतो वागात्मतो नामात्मतो मन्त्रा आत्मतः कर्म्माण्यात्मत एवेदᳪ सर्वम्।' (छा० ७ । २६ । १)

'जो परमात्माका व्यापक आनन्द है, वही नित्य और शाश्वत है और जो मायाके द्वारा विषयरूपसे अल्प आनन्द मिलता है, वह अनित्य और क्षणभङ्गुर है। आनन्दरूप परमात्माकी यह सत्ता अन्य किसीपर निर्भर नहीं है, वह स्वयंप्रकाश स्वयं-आनन्द और स्वमहिमापर प्रतिष्ठित है। किन्तु परमात्माकी सत्ता अन्य किसीपर निर्भर न होनेपर भी समस्त सृष्टि और समस्त जीवोंकी सत्ता उनपर निर्भर करती है। समस्त सृष्टिका मूल परमात्माकी सत्ता ही है; समस्त जीवोंकी स्थिति उनकी स्थितिपर ही विद्यमान रहती है। केवल इतना ही नहीं, प्रत्युत संसारमें ऐसी कोई वस्तु, कोई ज्ञान, कोई शक्ति, कोई प्रकाश या स्थूल-सूक्ष्म-कारण प्रकृतिके अन्तर्गत कोई सत्ता नहीं है, जिसकी उत्पत्ति आत्मासे न हुई हो। आत्मासे प्राणकी उत्पत्ति हुई; आत्मासे आशाकी उत्पत्ति हुई; आत्मासे स्मृति, आकाश, तेज और जलकी उत्पत्ति हुई है; आत्मासे समस्त सृष्टिके आविर्भाव-तिरोभाव होते हैं; आत्मासे अन्न, बल, विज्ञान, ध्यान, चित्त, सङ्कल्प, मन, वाणी, नाम, मन्त्र, कर्म सब उत्पन्न हुए हैं।

बृहदारण्यकोपनिषद्में लिखा है—

'यथोर्णनाभिस्तन्तवो व्युच्चरेद्यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति।'

'जिस तरह मकड़ीसे तन्तु निकलते हैं या अग्निसे चिनगारियाँ निकलती हैं, उसी तरह परमात्मासे समस्त प्राण, समस्त लोक, समस्त देवता, समस्त भूतगण उत्पन्न होते हैं।'

इस तरह परमात्मासे स्वाभाविकरूपसे समस्त

विषय न होनेके कारण 'सूक्ष्म' कहलाता है। सूक्ष्म-शरीर प्राणमय होनेके कारण वायुप्रधान होता है। इसे 'लिङ्ग-शरीर' भी कहते हैं। स्वप्नावस्थामें जीव प्रधानरूपसे इसीके साथ सम्बद्ध रहता है।

कारणशरीर केवल एक तत्त्व-प्रकृतिका बना हुआ होता है। इसको स्वभाव भी कहते हैं। सूक्ष्मशरीर स्थूलशरीरकी अपेक्षा सूक्ष्म होनेपर भी कारणशरीरकी अपेक्षा स्थूल है। उसे शास्त्रोंमें वासनामय कहा गया है। गाढ़ निद्रा तथा मूर्च्छाकी अवस्थामें जीवका केवल इसी शरीरके साथ सम्बन्ध रहता है, स्थूल एवं सूक्ष्म दोनों ही शरीरोंके साथ उसका सम्बन्ध नहीं रहता। महाप्रलयके समय जब महत्तत्त्वपर्यन्त सारी प्राकृतिक सृष्टि महाकारण अर्थात् मूल प्रकृति (अव्याकृत माया) में लीन हो जाती है, उस समय जीव इसी कारण-शरीरसे संश्लिष्ट होकर प्रकृतिरूप कारणाब्धिमें लीन रहते हैं और महासर्गके आदिमें—जब प्रकृतिमें क्षोभ होता है—पुनः पूर्वकर्मोंके अनुसार सूक्ष्मशरीरको प्राप्त हो जाते हैं और फिर क्रमशः स्थूलशरीरको ग्रहण करते हैं।

सुषुप्ति एवं मूर्च्छाकी अवस्थामें तथा महाप्रलयके समय इन्द्रिय तथा मन-बुद्धिकी प्रकृतिसे अलग सत्ता नहीं रहती। वे इन्द्रिय, मन और बुद्धि अपने कारण—प्रकृति—में लीन हो जाते हैं। इसीलिये उस समय जीवको सुख-दुःखका बोध नहीं होता; उनके कारण-शरीरमें लीन हो जानेका यही भाव है।

(३) जाग्रत् अवस्थाका अर्थ है जागनेकी अवस्था। जिस समय हमारे स्थूल, सूक्ष्म और कारण--तीनों शरीर संयुक्त होकर कार्य करते हैं, इन्द्रिय एवं मनके साथ-साथ शरीर भी सचेष्ट रहता है, कर्मेन्द्रियाँ सजग रहती हैं, शरीरमें चेतना रहती है, उस अवस्थाको जाग्रत् अवस्था कहते हैं।

जिस समय हमारा स्थूलशरीर निश्चेष्ट रहता है; केवल सूक्ष्म शरीर जाग्रत् रहता है—एवं इन्द्रिय, मन, बुद्धिकी चेष्टा भीतर-ही-भीतर चालू रहती है, मन, बुद्धि एवं इन्द्रियोंके द्वारा हम अनेक प्रकारके दृश्योंकी कल्पना करके सुख-दुःखका अनुभव करते हैं, स्थूल-शरीरके एक ही स्थानपर पड़े रहनेपर भी सूक्ष्मशरीरके द्वारा भिन्न-भिन्न स्थानोंकी सैर करते हैं और भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंसे मिलते हैं, जिस समय हमारी इन्द्रियाँ स्थूल-शरीरसे वियुक्त होकर कार्य करती हैं, स्थूल विषयोंके साथ संयोग न होनेपर भी सूक्ष्म विषयोंका उपभोग करती हैं,—उस अवस्थाका नाम स्वप्नावस्था है।

गाढ़ निद्राकी स्थितिको सुषुप्ति अवस्था कहते हैं। इसमें स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीर निश्चेष्ट हो जाते हैं, दोनोंका कार्य बंद हो जाता है। केवल प्राणोंका व्यापार बंद नहीं होता, श्वास-प्रश्वासकी क्रिया चलती रहती है। इन्द्रिय तथा मन, बुद्धि इस अवस्थामें अपने कारण—प्रकृति अर्थात् अज्ञान--में लीन हो जाते हैं। इसलिये जीवको उस समय किसी पदार्थका कुछ भी ज्ञान नहीं रहता। गाढ़ निद्राके बाद जब हम जागते हैं तो कहते हैं कि ऐसी नींद आयी कि हमें कुछ चेत ही न रहा। सुषुप्तिकी अवस्था मूर्च्छाकी-सी अवस्था होती है। इसमें चिन्ता, शोक, पीड़ा आदिका भी उतने समयके लिये तो नाश ही हो जाता है। इसीलिये हम-लोग जब बहुत थक जाते हैं अथवा मानसिक चिन्ता तथा शारीरिक पीड़ा आदिसे व्यथित होते हैं तो निद्रा-का आवाहन करते हैं।

यह ऊपर बताया जा चुका है कि जाग्रत् अवस्थामें स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीरोंसे आत्माका सम्बन्ध रहता है; स्वप्नावस्थामें उसका सूक्ष्म और कारण दो ही शरीरोंसे सम्बन्ध रहता है, स्थूलशरीरसे सम्बन्ध छूट जाता है। स्थूल शरीर चाहे कंकड़ोंपर पड़ा रहे

अथवा उसमें घोर पीड़ा हो रही हो, स्वप्नकी अवस्थामें यदि हम इन्द्रलोककी सैर कर रहे होते हैं तो उतने समयके लिये हम अपने स्थूलशरीरमें चुभनेवाले कंकड़ों-को तथा उनसे होनेवाली पीड़ाको बिल्कुल भूले रहेंगे। इसी प्रकार हम मखमलके गद्देपर लेटे हुए हों, पंखा चल रहा हो और दासियाँ हमारे पैर पलोट रही हों तथा चारों ओरसे हम सुरक्षित हों, किन्तु यदि उस समय स्वप्नमें हम किसी घोर जंगलमें पहुँच गये और वहाँ बाघ आकर हमको खाने लगा अथवा हम किसी नदीमें डूबने लगे अथवा चोर-डाकुओंद्वारा पीटे जाने लगे तो उस समय वह मखमलका गद्दा, जिसपर हम स्थूलशरीरसे लेटे हुए हैं, हमें आराम नहीं पहुँचायेगा और हमारे दास-दासी शस्त्रास्त्रसे सुसज्जित होनेपर भी हमारी उस बाघसे अथवा चोर-डाकुओंसे रक्षा नहीं कर सकेंगे और न हमें नदीमें डूबनेसे बचा सकेंगे। सुषुप्ति अवस्थामें हमारा केवल कारणशरीरसे सम्बन्ध रहता है, स्थूल और सूक्ष्म दोनोंसे नहीं रहता। स्थूलशरीर उस समय बिल्कुल निश्चेष्ट पड़ा रहता है और सूक्ष्मशरीर अपने कारणमें लीन हो जाता है; केवल प्राणोंकी क्रिया चालू रहती है। इन तीनों अवस्थाओंसे विलक्षण चौथी अवस्था–तुरीयावस्था–वह है, जिसमें आत्माका उक्त तीनों शरीरोंसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता। यह जीवन्मुक्त महात्माओंकी अवस्था है। इस चौथी अवस्थाको प्राप्त होनेपर जीवका व्यष्टिभाव नष्ट होकर वह समष्टिमें मिल जाता है, इसीको आत्माकी स्वरूपावस्था कहते हैं। यह वास्तवमें कोई अवस्था नहीं है, आत्माका स्वरूप ही है। पहली तीन अवस्थाओंसे इसकी विलक्षणता जिज्ञासुओंको बतलानेके लिये ही इसको 'अवस्था' संज्ञा दी गयी है। इस अवस्थाको प्राप्त हुए महापुरुषों-का केवल दूसरोंके देखनेमें ही शरीरादिसे सम्बन्ध रहता है, वास्तवमें उनसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता। उनके कहलानेवाले शरीरादिका सञ्चालन फिर प्रारब्धानुसार समष्टि-चेतनके सकाशसे होता रहता है।

(४) क्लोरोफार्म आदिके प्रयोगसे शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिकी प्रायः वही अवस्था हो जाती है जो सुषुप्ति अवस्थामें अथवा स्वाभाविक मूर्छाकी दशामें होती है। अर्थात् उस समय स्थूलशरीर बिल्कुल निश्चेष्ट हो जाता है और सूक्ष्मशरीरकी क्रिया भी बंद हो जाती है। केवल प्राणोंकी गति बंद नहीं होती, श्वास-प्रश्वासकी क्रिया चालू रहती है। इन्द्रिय, मन, बुद्धि ही सुख-दुःखके अनुभवके द्वार हैं और ये सब उस समय अपने कारण––प्रकृतिमें लीन हो जाते हैं; अतएव उस अवस्थामें अङ्गोंके काटे जानेपर भी पीड़ा नहीं होती और न उनके काटे जानेका ज्ञान ही रहता है। इसीलिये डाक्टर लोग चीर-फाड़ करते समय इन द्रव्योंका उपयोग करते हैं, जिससे वह कार्य आसानी-से हो सके और रोगीको कष्ट भी न हो।

(५) स्थूलशरीरसे सूक्ष्मशरीरके साथ जीवका प्रस्थान हृदयकी गति बंद होनेके बाद ही होता है। जबतक हृदयमें धड़कन रहती है, तबतक जीवका प्रस्थान नहीं माना जा सकता। हृदयकी धड़कन बंद हो जानेके बाद भी कुछ समयतक जीव रह सकता है और यह भी सम्भव है कि हृदयकी धड़कन इतनी सूक्ष्म हो कि दूसरोंको उसका पता न लगे। अतः हृदयकी धड़कन बंद हो जानेपर भी जीवकी स्थिति शरीरमें रह सकती है; परन्तु इसके विपरीत जबतक हृदयमें धड़कन रहती है, तबतक तो जीवका रहना निश्चित ही है।

(६) प्राणोंका जिस क्षणमें शरीरसे वियोग होता है, जीवका सूक्ष्मशरीर तो उसी क्षण बदल जाता है। जीवको अन्तिम क्षणमें जिस भावकी स्मृति होती है, उसीके आकारका उसका सूक्ष्मशरीर तुरंत बन जाता है, जिस प्रकार कैमरेपर जिस वस्तुका प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसके लेंस (शीशे) पर वैसा ही चित्र अङ्कित हो जाता है, उसी प्रकार प्रयाणकालमें अन्तःकरणपर जिस शरीरका चिन्तन होता है, उसका सूक्ष्मशरीर उसी

आकारका बन जाता है। रह गयी स्थूलशरीरकी बात, सो जिस प्रकार कैमरेपर पड़े हुए प्रतिबिम्बके अनुसार फोटो तैयार करनेमें समयकी अपेक्षा होती है, उसी प्रकार बदले हुए सूक्ष्मशरीरके अनुरूप स्थूलशरीरके तैयार होनेमें भी समय लगता है और यह समय प्राप्त होनेवाली योनिके भेदसे न्यूनाधिक होता है। जीवकी त्रिविध गति गीता (१४। १८) में बतायी गयी है—ऊर्ध्व, मध्यम और अधम। ऊर्ध्व गतिको जानेवाले जीव धूममार्ग अथवा अर्चिमार्गसे ऊपरके लोकोंको जाते हैं, मध्यम गतिको प्राप्त होनेवाले जीव मनुष्ययोनिमें जन्म ग्रहण करते हैं और अधम गतिको प्राप्त होनेवाले जीव पशु-पक्षी, कीट-पतङ्गादि तिर्यक् योनियों अथवा वृक्षादि स्थावर योनियोंमें जन्म लेते हैं।

सकामभावसे शुभ कर्म अथवा उपासना करनेवाले जीव धूममार्गसे चन्द्रलोकादि दिव्य लोकोंमें जाकर देवशरीरको प्राप्त करते हैं। उन्हें उन दिव्य लोकोंमें पहुँचनेके लिये गीतादि शास्त्रोंके अनुसार क्रमशः धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष तथा दक्षिणायन आदिके अभिमानी देवताओंके स्वरूपको प्राप्त होकर जाना होता है और वहाँ वे एक निश्चित अवधितक दिव्य सुख भोगकर पुनः मर्त्यलोकमें जन्म लेते हैं।

निष्काम कर्म अथवा निष्काम उपासना करनेवाले जीवोंमेंसे जिनको ज्ञान होकर यहीं मुक्ति हो जाती है, उनका तो कहीं गमनागमन होता नहीं। उनके प्राणोंका उत्क्रमण नहीं होता—'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति।' इनसे भिन्न जो कैवल्यमुक्ति नहीं चाहते, वे क्रमशः अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायण आदिके अभिमानी देवताओंके स्वरूपको प्राप्त होते हुए अमानव पुरुषके द्वारा दिव्य अप्राकृत शरीरसे भगवान्‌के परमधामको ले जाये जाते हैं और अधिकारानुसार वहाँ भगवान्‌के सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य अथवा सायुज्यको प्राप्तकर अलौकिक सुखका अनुभव करते हैं और फिर लौटकर मर्त्यलोकमें नहीं आते।

जो जीव कर्मानुसार मरनेके बाद मनुष्ययोनिको प्राप्त होते हैं अथवा पशु-पक्षी, कीट-पतङ्गादि मूढ़ योनियोंको प्राप्त होते हैं, वे वायुरूपसे उन-उन योनियोंके खाद्य पदार्थमें प्रवेश कर जाते हैं। जिस पिताके वीर्यसे उनका जन्म होनेको होता है, वह उसे खाता है और उसका परिपाक होकर जब वीर्य बनता है तो उस वीर्यके साथ वे माताकी योनिमें प्रवेश करते हैं और वहाँ-वहाँ उस-उस योनिके शरीरको धारण करते हैं। इनके अतिरिक्त जो मनुष्य घोर पाप करते हैं, वे यातनाशरीर प्राप्तकर विविध नरकोंकी यातना भोगते हैं और भोग समाप्त होनेपर पुनः मर्त्यलोकमें आकर स्थूलशरीर धारण करते हैं।

सूक्ष्मशरीरसे जीव दूसरे स्थूलशरीरमें प्रवेश कर सकता है। जिन योगियोंको परकाय-प्रवेशकी सिद्धि प्राप्त होती है, वे अपने स्थूलशरीरमेंसे इच्छानुसार निकलकर दूसरे किसी मृतशरीरमें प्रवेश कर सकते हैं। इस प्रकारके उदाहरण इतिहासमें मिलते हैं। इसके अतिरिक्त योगबलसे एक शरीर छोड़कर दूसरे जीवित शरीरमें भी सूक्ष्मशरीरद्वारा प्रवेश करनेकी शक्ति प्राप्त की जा सकती है। महाभारत, शान्तिपर्वके ३२० वें अध्यायमें सुलभा नामकी एक संन्यासिनीका उल्लेख आता है, जिसने अपने योगबलसे राजा जनकके शरीरमें प्रवेश किया था।

(७) जो लोग एक जन्ममें पुरुष होते हैं, वे प्रायः आगेके जन्मोंमें भी पुरुष ही होते हैं और जिन्हें एक जन्ममें स्त्रीका शरीर मिला है, उन्हें प्रायः आगे भी स्त्रीका शरीर ही मिलेगा, चाहे वे किसी भी योनिमें जायँ। परन्तु यह कोई अटल नियम नहीं है। इसमें परिवर्तन भी हो सकता है। गुण और कर्म अथवा

स्वभाव और कर्मके अनुसार ही मनुष्यको दूसरी देह प्राप्त होती है। यदि किसी पुरुषका इस जन्ममें स्त्रियों-का-सा स्वभाव बन गया हो, उसमें स्त्रियोंके-से गुण आ गये हों अथवा उसने जीवनभर स्त्रियोंके-से कर्म किये हों तो उसे अगले जन्ममें स्त्रीका ही शरीर मिले, यह बहुत सम्भव हो जाता है। इसी प्रकार यदि किसी पुरुषका चित्त अन्त समयमें स्त्रीका चिन्तन करनेमें लगा हो, तब भी उसका अगले जन्ममें स्त्री होना सम्भव है। यही बात स्त्रियोंके लिये भी लागू होती है। दूसरे जन्मकी तो बात ही क्या है, इसी जन्ममें स्त्रीके पुरुषरूपमें और पुरुषके स्त्रीरूपमें परिवर्तन होनेकी बात इतिहासमें आती है। शिखण्डीके स्त्रीसे पुरुष हो जानेका वर्णन महाभारतमें मिलता है। अर्वाचीन कालमें भी गोस्वामी तुलसीदासजीके वरदानसे एक कन्याके बालकके रूपमें परिवर्तित हो जानेकी बात उनकी जीवनीमें आयी है। वर्तमान कालमें भी इस प्रकारकी घटनाएँ यूरोप आदि देशोंमें हुई सुनी जाती हैं।

(८) एक बार किसी जीवको मनुष्ययोनि मिल जानेपर सदाके लिये उसे मनुष्ययोनिका पट्टा मिल जाता है, ऐसी बात नहीं समझनी चाहिये। ऐसा माननेसे भगवान्‌में वैषम्यका दोष घटता है और कर्मसिद्धान्तमें भी विरोध आता है। इसका अर्थ तो यह होगा कि एक बार जिसे मनुष्य-जन्म मिल गया, वह चाहे कितने ही पाप क्यों न करे, उसे मनुष्ययोनिसे नीचे नहीं ढकेला जायगा। परन्तु ऐसी बात है नहीं। जीवोंको गुण-कर्म (गीता ४। १३) के अनुसार ही अच्छी-बुरी योनियाँ प्राप्त होती हैं। अच्छे कर्म करनेपर हमें मनुष्ययोनि ही क्यों, देवयोनि भी मिल सकती है, भगवान्‌तककी प्राप्ति हो सकती है। परन्तु मनुष्य यदि पापकर्म करता है तो उसे दुबारा मनुष्ययोनि मिलनेका कोई कारण नहीं रह जाता। पापी मनुष्यको भी पुनः मनुष्यशरीर देना उसके पापोंको प्रोत्साहन देना होगा। भगवान् ऐसा कभी नहीं कर सकते। पापी मनुष्योंके मनुष्ययोनिसे ढकेले जाने तथा बार-बार आसुरी योनियों-में गिराये जानेकी बात तो स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने अपने श्रीमुखसे कही है (गीता १६। १९, २०)। इतिहास-में भी पापी मनुष्योंके नीचेकी योनियोंमें तथा नरकादि-में ढकेले जानेकी बात जगह-जगह आयी है। पापियों-की तो बात ही क्या, राजर्षि भरत-जैसे धर्मात्मा तपस्वी एवं गृहत्यागी पुरुषके मरते समय एक मृगछौने-में अन्तःकरणकी वृत्ति अटकी रह जानेके कारण मृग-योनिको प्राप्त होनेकी बात श्रीमद्भागवतादि ग्रन्थोंमें आती है। इन सब बातोंसे यह सिद्ध होता है कि मनुष्यको मरनेके बाद मनुष्ययोनि ही मिले, यह आवश्यक नहीं है। बल्कि वर्तमान युगके मनुष्योंके आचरण देखते हुए तो उन्हें फिरसे मनुष्ययोनि मिलनेकी सम्भावना कम ही मालूम होती है। युक्तिसे भी यही बात मालूम होती है कि बारी-बारीसे सभी जीवोंको मनुष्य होनेका सौभाग्य मिलना चाहिये, क्योंकि मुक्तिका अधिकार मनुष्ययोनिमें ही है और एक जीवको बिना शुभकर्म किये दुबारा मनुष्यशरीर मिले ही, यह बात युक्तिसङ्गत नहीं मालूम होती। शास्त्रोंमें भी मनुष्यशरीरको अत्यन्त दुर्लभ बताया गया है। इससे भी यही बात सिद्ध होती है। मनुष्य-जन्मका मौका तो भगवान् जीवको कभी-कभी ही देते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा है—

कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

परन्तु इससे यह भी नहीं मानना चाहिये कि मनुष्यके बाद फिर मनुष्ययोनि मिल ही नहीं सकती। मनुष्योचित कर्म करनेवालोंको पुनः मनुष्ययोनि भी मिल सकती है।

पूज्यपाद श्रीउपासनीबाबाके उपदेश

(प्रेषक—श्रीगजाननजी गोयनका)

१–ईश्वरीय सात्त्विक गुणोंको अपने अंदर लाये विना दूसरोंमें परमात्मा नहीं दीख सकता ।

२–अपने आपको ज्ञानी समझनेपर ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो सकती । अज्ञानका पूर्ण विनाश होनेपर ही सच्चे ज्ञानकी उपलब्धि होती है ।

३-तुम अपनेको जितना ही छोटा समझोगे, उतना ही अधिक बड़प्पन तुम्हारे अंदर आयेगा ।

४–यदि तुम मनको चञ्चलतासे बचाना चाहते हो तो वासनाओंका परित्याग कर दो । वासनाओंसे युक्त होकर यदि तुम मनको स्थिर करना चाहते हो तो वैसा होना अशक्य है ।

५–यदि मनकी सारी क्रियाएँ भगवान्‌के लिये की जायँ तो मौन धारण करने तथा मन स्थिर हो जानेका फल प्राप्त होता है ।

६–भगवान्‌से रहित जितने भी विषय-भोगके पदार्थ हैं, वे सब पापरूप हैं, यह निश्चित जानो और उनसे प्रेम करना छोड़ दो ।

७–मन जिस-जिस वस्तुकी ओर आकर्षित हो, जिस-जिस वस्तुसे तुम्हारा प्रेम हो, उन सबको भगवान्‌के अर्पण कर दो । ऐसा अभ्यास करते रहनेसे तुम्हें वैराग्य तथा भगवत्प्रेमकी प्राप्ति होगी ।

८–सुख-दुःख केवल मनकी कल्पनाएँ हैं । आदत बिगड़ जानेपर बुरेसे सुख और भलेसे दुःखका अनुभव होने लगता है ।

९–तुम जिन विषय-भोगोंको अच्छा कहते हो, वहाँ जगत् लुब्ध रहता है और तुम जिस परमार्थको बुरा कहते हो, उसमें सत्पुरुषोंका निवास रहता है ।

१०–यदि तुम अपनेको सुखी बनाना चाहते हो तो दूसरोंको सुख पहुँचाओ ।

११–यदि तुम अपनी इन्द्रियोंको भगवान्‌में लगा दोगे तो तुम्हें उपवासका फल प्राप्त होगा ।

१२–यदि बुरा कहनेवाला (निन्दक) न हो तो अच्छेकी पूर्णता न होगी । अतएव परमार्थमें निन्दकोंकी बड़ी आवश्यकता है । इसीलिये श्रीकबीरदासजीने कहा है—'निंदक नियरें राखिए, आँगन कुटी छवाय ।'

१३–जो मनुष्य प्रतिकूल बातोंको आनन्दपूर्वक सहन कर लेता है, उसमें भगवान्‌के प्रकट होनेका लक्षण जानना चाहिये ।

१४–यदि मनुष्य अपने शरीरका अभिमान छोड़कर अपनेको उससे अलग देखता रहे तो उसको इसी जन्ममें सब योनियोंका अनुभव हो सकता है । जिस-जिस योनिका अनुभव होता है, उस-उस प्रकारकी वृत्तियाँ बनती जाती हैं । नीच योनियोंका अनुभव कर लेनेपर नरदेहका अभिमान आप-से-आप छूट जाता है और तब उसे आत्मानुभवकी प्राप्ति होती है ।

१५–हम जब दुनियाकी पहचान छोड़ देंगे, तभी हमें भगवान्‌की पहचान होगी ।

१६–शरीरकी व्याधियाँ हमारे लिये गुरुका काम करती हैं । वे हमें बार-बार चेतावनी देकर परमात्माके सम्मुख करती रहती हैं ।

१७–तुम्हारा मन यदि किन्हीं सत्पुरुषका ध्यान करता है तो उनके गुणधर्म धीरे-धीरे तुम्हारे अंदर आने लगेंगे । यहाँतक कि उन सत्पुरुषको जिस अखण्ड सुखका अनुभव होता है, उस अखण्ड सुखका अनुभव तुम्हें भी होने लगेगा ।

१८—यदि इस शरीरमें मृत्युका अनुभव हो जाय तो अमरत्वका अनुभव भी इसी शरीरसे हो सकता है।

१९—देश-सुधारके लिये सद्धर्म और स्वधर्मका पालन ही मुख्य उपाय हैं।

२०—परमात्मा गुप्त हैं, अतः उनकी प्राप्तिके लिये जो साधन करो, उसे भी गुप्त रक्खो।

२१—भगवत्प्राप्तिके लिये तीन मुख्य मन्त्र हैं—तन-मनसे किसी भी प्राणीको अपने लिये कष्ट न देना, दूसरोंके हितके लिये स्वयं कष्ट सहकर दूसरोंको सुख पहुँचाना और 'यदृच्छालाभसन्तुष्ट' रहना अर्थात् जैसी भी परिस्थिति हो, उसीमें सुख मानना।

२२—जब पुण्यका ज्ञान नहीं रहेगा, तब पाप भी नहीं रहेगा। पुण्यका अभिमान करते ही पाप भी तैयार ही रहता है। इन दोनोंका जोड़ा है।

कामके पत्र

(१)

गीतोक्त सांख्ययोग एवं कर्मयोग

गीताके पाँचवें अध्यायके चौथे, पाँचवें श्लोकोंके सम्बन्धमें आपने लिखा कि 'इन श्लोकोंका जो भावार्थ है, उससे मैं पूर्णतया सहमत हूँ, किन्तु शब्दोंसे नहीं। और गीता-जैसे ग्रन्थमें तो शब्द भी निरापत्ति ही होने चाहिये।' इसके उत्तरमें यही निवेदन है कि यदि मूलके शब्द ही आपत्तिजनक प्रतीत होते हैं, तब भावार्थका कोई मूल्य नहीं है। परन्तु गीतामें एक भी शब्द आपत्तिजनक नहीं है, ऐसा विद्वानों और गीताके मर्मज्ञोंका मत है।

गीताका प्रधान लक्ष्य है भगवान्‌की उपलब्धि। उसके मुख्य दो भाग हैं—ज्ञानयोग (सांख्य, संन्यास) और कर्मयोग। ज्ञानयोग सांख्ययोगियोंके लिये और कर्मयोग कर्मयोगियोंके लिये है (गीता ३ । ३)। लक्ष्य दोनोंका एक ही है—भगवत्प्राप्ति। चौथे श्लोकमें भगवान् कहते हैं—"सांख्य' और 'योग'को बालक (अज्ञ जन) पृथक्-पृथक् बतलाते हैं, पण्डित नहीं। [दोनोंमेंसे] एकमें भी सम्यक् प्रकारसे स्थित पुरुष दोनोंके फलको प्राप्त होता है।' पाँचवेंमें कहते हैं—'सांख्ययोगियोंद्वारा [सांख्यमार्गसे] जो स्थान (फल) प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियोंद्वारा (कर्मयोगसे) भी वही प्राप्त किया जाता है। [अतएव] जो सांख्य और योगको एक देखता है, वही [यथार्थ] देखता है।' यह शब्दार्थ है। भावार्थ भी इसीके अनुकूल होना चाहिये। ध्यान देकर देखनेपर स्पष्ट प्रतीत होता है कि भगवान् दोनों निष्ठाओंको एक नहीं बतलाते, दोनोंको फलरूपमें एक बतलाते हैं। निष्ठाएँ तो पृथक्-पृथक् हैं ही। और फल एक होनेसे, समान फल देनेवाली—एक बतलाना उचित ही है।

रही सांख्ययोग और कर्मयोगके अर्थकी बात, सो इसमें कुछ मतभेद है। जहाँतक मेरी समझ है, न तो गीताके सांख्ययोगका अर्थ स्वरूपतः सर्वकर्मत्याग है और न कर्मयोगका अर्थ केवल लोक-कल्याणके लिये ही किये जानेवाले कर्म हैं। युद्ध-सरीखा कर्म भी कर्मयोगके अंदर आ सकता है।

सांख्ययोगका अर्थ है मन-वाणी-शरीरसे होनेवाले समस्त कर्मोंमें कर्तृत्वाभिमानका त्याग और शरीर तथा संसारमें अहंता-ममताका त्याग। गुणोंके द्वारा

गुणोंमें व्यवहारका ही नाम कर्म है। और कर्मयोगका अर्थ है—फल और आसक्तिका त्याग करके भगवदर्पण-बुद्धिसे प्रत्येक कर्तव्य-कर्मका सम्पादन। यज्ञ, दान, तप, स्वाध्याय, देशसेवा, धर्म-सेवा, समाजसेवा, कुटुम्ब-पालन, शरीर और परिवारका पोषण आदि सभी कर्म कर्मयोग हो सकते हैं—यदि वे फल और आसक्तिका त्याग करके केवल भगवदर्थ किये जायँ। इसी प्रकार ये सभी कर्म अकर्मस्वरूप (सर्वथा त्याग किये हुए) समझे जाते हैं, यदि कर्तापनके अभिमानसे रहित पुरुष-के द्वारा सम्पन्न हों। सांख्य अभेदका साधन है, कर्म-योग भेदका। दोनोंका लक्ष्य और फल एक ही है—'भगवान्की उपलब्धि।' कर्मयोगी तो कर्म करता ही है। सांख्ययोगीके लिये भी कर्मका निषेध नहीं है। (पाँचवें अध्यायका ८वाँ,९वाँ श्लोक देखिये)। 'इन्द्रियाँ ही अपने-अपने अर्थोंमें बरत रही हैं, मैं कुछ भी नहीं करता।' इस प्रकार कर्तृत्वाभिमानका त्यागी सांख्ययोगी देखना, सुनना, स्पर्श करना, सूँघना, खाना, आना-जाना, ग्रहण-त्याग करना आदि सभी कर्म कर सकता है। ऐसी स्थितिमें यह नहीं कहा जा सकता कि कर्मयोगी-का आदर्श निःस्वार्थ है और सांख्ययोगीका स्वार्थमय। दोनोंका ही ध्येय एक है। भावभेदसे निष्ठाभेदमात्र है। कठिनाईकी ओर देखें तो गीताके मतसे कठिनाई सांख्ययोगीके मार्गमें अधिक है—'क्लेशोऽधिकतरस्तेषा-मव्यक्तासक्तचेतसाम्।' भगवान्ने स्पष्ट ही इस मार्गमें क्लेशोंकी अधिकता बतलायी है। आत्मोन्नतिका प्रयत्न दोनों करते हैं—अन्तःकरणकी शुद्धि ही आत्मोन्नति है। अन्तःकरण शुद्ध होनेपर मानसिक और शारीरिक सभी क्रियाओंमें ऊँचापन, श्रेष्ठभाव और स्वाभाविक लोककल्याण आ जाता है। यह याद रखना चाहिये कि लोकका अकल्याण अशुद्ध अन्तःकरण-वाले मनुष्योंद्वारा ही हुआ करता है। इस अन्तःकरण-शुद्धिके विना दोनोंमेंसे किसी भी मार्गमें आगे नहीं बढ़ा जा सकता। इसलिये इनमें छोटा-बड़ा कोई-सा नहीं है। हाँ, कठिनता और सुगमताके खयालसे छोटे-बड़ेका भेद है और इस अर्थमें भगवान्ने कर्मयोगको ज्ञान (सांख्य) योगसे श्रेष्ठ बतलाया भी है—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥
(गीता ५। २)

यह बात भूलसे मानी जाती है कि लोक-कल्याण-के लिये कर्म करनेवाला ही कर्मयोगी है। अवश्य ही व्यक्तिगत स्वार्थसे ऊँचे उठकर लोक-कल्याणार्थ कर्म करनेवाला श्रेष्ठ है; परन्तु यदि उसमें भोगमयी लोक-कल्याणकी कामना है, तो वह भी गीतोक्त कर्मयोगी नहीं है। आजकल तो यहाँतक माना जाता है कि जो किसी प्रकारसे भी आर्थिक भोग-सम्बन्धी सुविधा कर सके, वही कर्मयोगी है। इधर भगवान् कहते हैं—'जय-पराजय, हानि-लाभ, सुख-दुःखको समान समझ-कर युद्ध करो (२। ३८); प्रिय और अप्रियकी प्राप्ति-में हर्षित और उद्विग्न न होनेवाला ही स्थिरबुद्धि है (५। २०)। सब कर्मोंको अध्यात्मचित्तसे मुझमें समर्पण करके आशा, ममता और सन्तापसे रहित होकर युद्ध करो (३। ३०)। जितने संस्पर्शज भोग हैं, सभी दुःखयोनि हैं (दुःखोंको उपजानेवाले हैं) तथा अनित्य हैं। बुद्धिमान् पुरुष उनमें रमता ही नहीं (५।२२)।' कहाँ तो यह आदर्श और कहाँ धन-मान आदिकी प्राप्तिके लिये—भगवान्को प्राप्त करनेकी कल्पना भी न करके दिन-रात आसक्तिपूर्ण कर्म करना! जो दुःख-योनि हैं, जिनमें बुद्धिमान् पुरुष भी प्रीति नहीं रखते, उन भोगोंकी आसक्ति तथा कामना भी रहे—चाहे वह समष्टिके लिये ही हो—और वह गीतोक्त कर्मयोगी—निष्काम कर्मयोगी भी कहलावे! यह तो कर्मयोगकी विडम्बनामात्र है। गीतोक्त कर्मयोगका स्वरूप है—

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥
(गीता २ । ४८)

'हे अर्जुन ! आसक्तिको त्यागकर और सिद्धि-असिद्धिमें समबुद्धि होकर, योगमें स्थित होकर (भगवान्में चित्त जोड़कर, कर्तव्य कर्म कर । समत्व ही योग कहलाता है ।'

गीतोक्त कर्मयोगी कर्तव्यप्राप्त धन, मान आदिके लिये भी कर्म करता है; परन्तु उसका लक्ष्य इस कर्मके द्वारा भगवत्प्राप्ति है । उसका ध्येय भगवान् हैं, योग नहीं; इसीसे भगवान्ने कहा है—

'निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ।'

इसी प्रकार गीतोक्त 'संन्यासी' भी केवल कर्मत्यागी हो, सो बात नहीं है । वह भी 'सर्वभूतहिते रतः' रहता है । लक्ष्य उसका भी भगवत्प्राप्ति है । थोड़ी देरके लिये यह मान लें कि गीतोक्त संन्यासीका अर्थ कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करके एकान्तमें साधन करनेवाला संन्यासी है, तो क्या उसको हम स्वार्थी कहेंगे ? सारा संसार भगवान्से भरा है, भगवान्में है, भगवान्से निकला है; फिर भगवान्को प्रसन्न करनेके लिये साधन करनेवाला क्या प्रकारान्तरसे जगत्रूप भगवान्को सुखी करनेकी चेष्टा नहीं कर रहा है ? राग-द्वेषका त्याग करके एकान्तमें साधन करनेवाले महापुरुष जगत्को अपने शुभ विचारोंसे, मङ्गलमयी कल्याण-भावनासे, अपने अस्तित्व मात्रसे जो कल्याणदान करते हैं, वह तो अनुपम होता है । आज हमारे देखनेमें ऐसे संन्यासी प्रायः नहीं हैं, तो इसका अर्थ यह नहीं कि यह चीज ही खराब है । गीतोक्त कर्मयोगी ही कितने देखनेमें आते हैं ? और जो ऐसे हैं, वे अपनेको ऐसा सिद्ध करने आपके-हमारे सामने क्यों आने लगे ? उन्हें हमारे द्वारा प्रमाण प्राप्त करनेकी क्या आवश्यकता है ? मेरा तो यह विनम्र निवेदन है कि वैसे एकान्तवासी महात्मा संन्यासी स्वाभाविक ही जगत्का अशेष कल्याण करते हैं । वे बड़ी ही ठोस चीज हमें देते हैं । अतएव यदि इस अर्थमें भी कर्मयोगीको और सांख्ययोगीको एक मानें तो कोई हर्ज नहीं है, यद्यपि गीताका यह भाव बिल्कुल ही नहीं मालूम होता ।

पत्र बहुत लंबा हो गया । मेरी अन्तमें हाथ जोड़कर प्रार्थना है—मैं गीताका मर्मज्ञ नहीं हूँ । साधारण विद्यार्थीमात्र भी हूँ या नहीं, नहीं कह सकता । ऐसी स्थितिमें मैंने जो कुछ लिखा है, यह ठीक ही है— ऐसा मेरा दावा नहीं मानना चाहिये । आपके प्रश्नोंका उत्तर देनेके प्रसङ्गमें प्रसङ्गवश कुछ और भी लिख गया हूँ । इसके लिये आप-सरीखे सहृदय पुरुषसे क्षमाकी प्रार्थना और आशा करना अनुचित न होगा ।

(२)

प्रभुकी इच्छा कल्याणमयी होती है

प्रभुकी इच्छा कुछ भी हो, है कल्याणमयी ही । प्रभुमें अशुभ इच्छा होती ही नहीं । संसारमें ये क्रिया—प्रतिक्रिया तो चलती ही रहेंगी ।

श्रीभगवान्का भजन करते रहियेगा । संसारके कामोंके लिये भगवत्प्रेरणानुसार उचित चेष्टा कर लेनी चाहिये । फिर जो कुछ भी हो, उसीमें सन्तोष करना चाहिये । क्योंकि वही होना पहलेसे निश्चित था ।

(३)

विपत्तिनाशका उपाय

भगवान्का भेजा हुआ जैसा भी समय आवे, सिर चढ़ाकर भगवान्को याद करते हुए हिम्मत तथा सन्तोषके साथ उसे निभाना चाहिये । विपत्तिमें घबड़ानेसे विपत्ति बढ़ती है । विपत्तिकी परवा न करके भगवान्की कृपाके भरोसे अध्यवसाय करनेसे विपत्ति नष्ट हो जाती है ।

भविष्यको निराशामय देखना तो भगवान्‌पर अविश्वास करना है। इसलिये बहुत प्रसन्न रहियेगा। भगवान्‌की कृपापर विश्वास रखियेगा।

(४)

भगवत्कृपापर विश्वास

········से कहिये घबड़ावे नहीं। घबड़ाना तो भगवान्‌की दयापर अविश्वास करना है। वे परम मङ्गलमय हैं। वे जो कुछ करते हैं, परम कल्याण ही करते हैं। हमलोग असलमें भगवान्‌की कृपा नहीं चाहते। भगवान्‌की व्यवस्थाको—जो सर्वथा, सर्वदा हमारा कल्याण करनेवाली ही है (चाहे कड़वी दवाके समान कभी-कभी खारी भले ही लगे)—स्वीकार नहीं करते। हम चाहते हैं—अपनी बुद्धिमें जची हुई अनुकूलताको, जो समय-समयपर हमारा अमङ्गल करनेवाली होती है।

हम भगवान्‌की कृपाका जो अंश हमें अनुकूल दीखता है, उतनेहीको चाहते हैं, इसीसे उनकी पूर्ण कृपासे वञ्चित रह जाते हैं।········को क्या, सभीको यही रोग है। इसीसे इतनी पीड़ा है। यह पीड़ा अपनी ही भूलसे पैदा की हुई है। श्रीभगवान्‌पर विश्वास रखकर उनका नाम-जप करना चाहिये और उनकी कृपापर भरोसा करके अपनेको सर्वतोभावसे उन्हींपर छोड़ देना चाहिये। ऐसा न हो सके तो भी नाम-जप ही करना चाहिये। जैसा भाव हो, उसीसे कल्याण होगा—आंशिक कृपाके दर्शन होंगे और सांसारिक वासनाएँ किसी अंशमें पूर्ण होंगी। परन्तु इसमें घाटा यही रह जायगा कि शीघ्र ही भगवत्प्रेमकी प्राप्ति नहीं होगी।

× × ×

········से कहना चाहिये बने जितना नाम-जप बढ़ावें। नाना प्रकारकी मानसिक चञ्चलतासे नहीं हो पाता, इससे घबरावें नहीं। विश्वास करके जप—नियमपूर्वक अधिक करनेकी चेष्टा करें।

(५)

जीवनकी सार्थकता

काम, क्रोध, लोभ, मोह और प्रमाद आदिका नाश भगवत्कृपासे भगवान्‌पर पूर्ण विश्वास होनेपर ही होता है। इससे पहले वे किसी-न-किसी रूपमें रहते ही हैं। श्रीभगवान्‌के नामका जप जैसे बने, वैसे ही करते रहिये। करते-करते नामके प्रतापसे विश्वास बढ़ेगा; न घबड़ाइयेगा, न इनसे हार मानियेगा। भगवान्‌का आश्रय चाहनेवाला तो इनका नाश करके ही दम लेता है। इनके नाशका उपाय बस, भगवद्विश्वास है—जो भजनसे प्राप्त होता है।

मैं तो तुच्छ प्राणी हूँ। आप विश्वास कीजिये, श्रीभगवान् हम सभीके सुहृद् हैं। और वे सर्वज्ञ हैं, इसलिये हमारी स्थितिसे पूरे जानकार भी हैं। तथा इसीके साथ वे सर्वशक्तिमान् भी हैं। बस, उनपर विश्वास कीजिये। फिर निश्चय ही परम कल्याण होगा, और आपको सच्ची सुख-शान्ति मिल जायगी। साधनबलसे कुछ नहीं होना है—यह मान लिया सो ठीक है। साधनका बल रखिये भी मत। बल रखिये भगवत्कृपाका। क्या छोटे बच्चेको माँके आश्रयके सिवा और कोई बल होता है ! अहाहा ! भगवान्‌रूपी माँ सदा अपना आँचल फैलाये हमें गोद लेनेको तैयार है। हम नहीं, वे ही हमारे लिये सतृष्ण नयनोंसे बाट देख रही हैं। बस, उनकी गोदमें चढ़ जाइये ! फिर जीवन सार्थक है ही।

संत श्रीसेवादासजीके वचन

(१)

ये चार लक्षण जिज्ञासुको बढ़ाने चाहिये—

(१) *समता*—जीव सर्वत्र एक समान देखे। न किसी जीवको अपना माने और न किसीको पराया, सबको परमेश्वरका माने। यदि न्यूनाधिक मानेगा तो मोह सिद्ध होगा। और मोहग्रस्त जीवको परमेश्वर बड़ी सजा देते हैं। गुरु नानकने कहा है—

'इत मोह फिर जूनी पाहि। मोहे लागा जमपुर जाइ॥'

अर्थात् 'इसी मोहके कारण उसे फिर जन्म लेना होगा; और यदि फिर भी मोहमें फँसा रहा तो उसे यमपुर (नरक) की सैर करनी होगी।'

(२) *विषयोंसे वैराग्य*—जब विषयोंसे वैराग्य होगा, तभी परमेश्वरकी प्रीति प्रकट होगी और तभी उसे ईश्वर-दर्शनरूप परमफल प्राप्त होगा।

(३) *सबके प्रति सेवाभाव*—जब सबके प्रति सेवा-भाव होगा तो वह सबकी प्रसन्नता प्राप्त करेगा। जो सबकी प्रसन्नता प्राप्त कर लेता है, उसीपर परमेश्वरकी कृपा होती है।

(४) *परमेश्वरकी आज्ञाको मीठी मानना*—जब परमेश्वरकी आज्ञाको मीठी मानेगा, तभी वह परमेश्वरका होगा। परमेश्वरकी आज्ञाको पुरुष तभी मीठी मानता है, जब अपने 'मैं' को विदा कर देता है। जिन पुरुषोंकी अहंता-ममता चली गयी है, वे ही स्तुतिके योग्य हुए हैं। उन्हींपर ये वाक्य लागू होते हैं—

'आप गइया तो आप हीं भये। कृपानिधानकी सरणी पये॥'

अर्थात् 'जब आपा (अहङ्कार) चला गया तो आप (ईश्वर) ही हो गये। कृपानिधानकी शरण पा गये।'

इसीपर यह प्रमाण है—

आसावरी—**मैं विच मेरी रहे न काई ओह वकत आसी कद साईं।**
साधां दी संगत बेदाँ दा सुणना सभे सफल कराईं॥
आठ पहिर हरि सिउ लिव लागे मगन होइ हरि धिआईं।
वड़े भाग आगहि जन सेवा तब ऐसा फल पाईं॥१॥
करकै पुंन प्रभूको सौंपे जो मैं नाही कछु कीता।
तिसका पद वडी हूँ वडी उस साहिब अपणा कीता॥
जो साहिबका सो सभ तिसका सेवक साहिब मीता।
होर मजूर मजूरी लै गए सेवक सावंद कीता॥२॥*

मन एक बड़े बदमाश घोड़ेकी तरह है। यदि बदमाश घोड़ेको केवल बातोंसे समझाया जाय तो वह केवल बातोंसे नहीं समझेगा। इसी प्रकार मनरूपी बदमाश घोड़ा भी केवल बातोंसे नहीं समझेगा। जबतक इसके ऊपर तपरूपी जीन न कसोगे तथा इसे परमेश्वरका भयरूप चाबुक और विश्वासरूपी लगाम न लगाओगे—इस मनरूपी घोड़ेके साथ जबतक तुम ऐसा न करोगे तबतक यह अपनी बदमाशी छोड़कर सीधा नहीं होगा। इसी विषयमें कहा है—

---

* हे प्रभो! वह समय कब आवेगा, जब मैं और मेरा कुछ भी न रहेगा, जब साधुओंकी सङ्गति और वेदोंका श्रवण सब कुछ सफल हो जायगा, आठों पहर श्रीहरि (आप) से लौ लगी रहेगी और श्रीहरि (आप) का ही ध्यान करके मैं आनन्दमें मग्न रहूँगा? सेवादासजी कहते हैं कि जब उत्कट भाग्य जगता है, तब ऐसा फल मिलता है (ऐसी स्थिति प्राप्त होती है)॥१॥

जो पुण्य (शुभकर्म) करके प्रभुको समर्पित कर देता है और यह सोचता है कि मैंने कुछ नहीं किया, उसका पद (स्थान) ऊँचेसे भी ऊँचा (सबसे ऊँचा) है; उसे स्वामीने अपना लिया है। जो कुछ स्वामीका है, वह सब उसका हो जाता है; सेवक और स्वामी दोनों मित्र हो जाते हैं। और लोग (सकाम भक्त) तो मजदूर (श्रमिक) हैं, जो भक्तिरूपी मजदूरी करके मजूरी (पारिश्रमिक) पा जाते हैं; परन्तु निष्काम सेवक तो स्वामी ही बना दिये जाते हैं (उनमें और स्वामीमें कोई अन्तर नहीं रह जाता)।

*फुनहे—मन कुंचर मैं मत मरै तिउं मारीऐ ।
कनक-कामनी हेत टरै तिउं टारीऐ ॥
हरिजन सेती प्रीति पलै तिउं पालीऐ ।
हरि हाँ बजीदा रामभजनमें हाड गलै तो गालीऐ ॥ १ ॥

आसावरी—

काई फिकर किषीवै मुक्त होणेदा, होर फिकर किआ करणा ।
इस जगदे विच जीवण थोडा गहि लीजै प्रभु चरणा ॥
मनका आखण कोई ना मनीए परीए सदुगुर सरणा ।
सेवादास हरिभक्ति विहाईआ जनम जनम मरणा ॥ २ ॥
साहिब तकव जिना मन उठीसे दुखनि नाहि दुखाइनि ।
सभ से दी मन रेण तिना दी ओहु सुकृत करम कमाइनि ॥
मनमारणकी जुक्ति हथ आई, राम नाम गुन गाइनि ।
सेवादास जग जीवन सफला हरि सिउ मेल मिलाइनि ॥ ३ ॥

जगद्गुरु श्रीमन्मध्वाचार्यजी

(लेखक—पं० श्रीनारायणाचार्यजी वरखेड़कर)

भगवान्‌की निःसीम कृपासे जगत्‌के कल्याणके लिये ही महापुरुषोंका आविर्भाव हुआ करता है । उनके पावन चरित्र अनेक सङ्कट-कण्टकोंसे भरी हुई इस दुःखमय संसाराटवीके पथिकोंके लिये परम प्रवीण पथप्रदर्शकका कार्य करते हैं । उन्हींको देख-सुनकर अन्य पुरुष अपने जीवनका लक्ष्य स्थिर करते हैं । वस्तुतः ऐसे महानुभाव भगवान्‌की अति अद्भुत एवं मङ्गलमयी लीलाशक्तिके विकासमात्र ही होते हैं । संसारके किसी एक दिशाकी ओर बहते हुए प्रवाहको दूसरी ओर मोड़ देना—यह लौकिक शक्तिका कार्य नहीं हो सकता । यह तो श्रीभगवान्‌की दिव्य लीलाशक्तिका ही खेल हो सकता है । यही कारण है कि संतोंके चरित्रोंमें बहुत-सी लोकोत्तर बातें देखी जाती हैं । यदि ऐसी बात न होती तो साधारण जनता उन्हें जानने और सुननेके लिये इतनी उत्सुक क्यों होती ? अतः उनमें जो चमत्कारपूर्ण घटनाएँ देखी या सुनी जाती हैं, वे किसी प्रकार अविश्वासके योग्य नहीं होतीं ।

आज हम 'कल्याण'के पाठकोंका ध्यान एक ऐसी ही महाविभूतिकी ओर आकर्षित करते हैं । वे हैं द्वैत-सम्प्रदायाचार्य श्रीमन्मध्व महाप्रभु । जिस समय समूचे भारतवर्षमें साम्प्रदायिक अंधाधुंध मची हुई थी, हिंदू-धर्म महमूद गजनवी और मुहम्मद गोरीके क्रूरतापूर्ण आक्रमणोंसे भयभीत हो रहा था, सामन्त लोग जहाँ-तहाँ अपनी स्वतन्त्रता जमानेका प्रयत्न कर रहे थे, हिंदू राजाओंमें वैमनस्य और फूटकी आग सुलग रही थी, देव-प्रतिमाओंके प्रति लोगोंकी श्रद्धा शिथिल हो चली

---

* एक छन्दका नाम

मनरूपी हाथी तथा अहंबुद्धि जिस तरह मरे, उसी तरह उन्हें मारना चाहिये । कञ्चन-कामिनीका प्रेम जिस तरह हटे, उसी तरह उसे हटाना चाहिये । हरिभक्तोंके साथ जिस तरह प्रीतिका निर्वाह हो वैसे ही करना चाहिये । कवि बजीदा कहता है—हे भाई ! भगवान्‌के भजनमें यदि हड्डियाँ गल जायँ (शरीर घुल-घुलकर नष्ट हो जाय) तो उन्हें गला देना चाहिये ॥ १ ॥

चिन्ता किस बातकी करनी चाहिये ? मुक्त होनेकी । और किस विषयकी चिन्ता की जाय ? इस संसारमें जीवन थोड़ा है, अतः प्रभुके चरणोंको पकड़ लेना चाहिये । मनकी कोई बात नहीं माननी चाहिये और सद्गुरुकी शरणमें जा पड़ना चाहिये । सेवादासजी कहते हैं—हरिभक्तिके विना जन्म-जन्मान्तरमें मरना पड़ेगा (बारंबार जनमना-मरना होगा) ॥ २ ॥

जिनके मनमें प्रभुकी चाह उत्पन्न हो गयी, वे न तो स्वयं दुखी होते हैं और न दूसरोंको दुखी करते हैं । उनका मन सबके चरणोंकी रज (अत्यन्त नम्र) बन जाता है; वे ही पुण्य कमाते हैं । मनको मारनेकी बड़ी सुन्दर युक्ति उन्हें प्राप्त हो गयी रहती है; वे भगवान्‌के नाम एवं गुणोंका निरन्तर गान करते रहते हैं । सेवादासजी कहते हैं—संसारमें उन्हींका जीवन सफल है; वे हरिसे स्वयं मिलते हैं और दूसरोंको भी उनसे मिला देते हैं ॥ ३ ॥

थी, बहुत-से आलसी लोग नकली ब्रह्मज्ञानी बन बैठे थे, कर्म और उपासना केवल अज्ञानियोंके लिये समझे जाने लगे थे, वेदान्तकी मर्यादा कोरे शब्दाडम्बरमें रह गयी थी, ऐसी कठिन परिस्थितिमें अवतार लेकर जिन्होंने मूर्तिभञ्जकोंका मान मर्दन किया, सनातन आर्यधर्मका प्रचार और धर्मपोषक राज्योंका प्रसार किया, भारतमें भक्ति-मन्दाकिनीकी उज्ज्वल धारा प्रवाहित कर भगवद्रसिकोंको आह्लादित किया तथा भगवत्प्रेमकी दुन्दुभी बजाकर मायावादकी गहरी निद्रामें सोये हुए लोगोंको सचेत किया, ऐसे महामहिम जगद्वन्द्य आचार्यचरणके पावन चरितोंके विषयमें दो बात कहकर आज हम इस लेखनीको कृतार्थ करनेका साहस कर रहे हैं।

मदरास प्रान्तमें दक्षिण कानडा या मंगलूर नामका एक जिला है। इसके अन्तर्गत एक बड़ा पवित्र क्षेत्र है, जिसे रजतपीठपुर या उडुपी कहते हैं। इसकी महिमा स्कन्दपुराणमें सात अध्यायोंमें वर्णन की गयी है। यहाँके प्रधान देवता श्रीपरशुरामजी हैं; इसलिये इसे परशुरामक्षेत्र भी कहते हैं। उडुपीसे २-३ मीलकी दूरीपर वेल्लि नामका एक ग्राम है। इसीको श्रीआचार्यचरणोंका जन्मस्थान होनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। कई शिलालेखों एवं ताम्रपत्रोंके आधारपर ऐतिहासिकोंने आपका जन्म-काल शकसंवत् ११६० अथवा ईसवी सन् १२३९ निश्चित किया है। आपके अपने ग्रन्थोंके आधारसे भी यही काल ठीक जान पड़ता है। आचार्यजीका प्राकट्य भार्गवगोत्रीय मध्यगेह नामक ब्राह्मण-कुलमें हुआ था। आपके पिताजीका नाम नारायणभट्ट और माताजीका वेदवती था। भट्टजी बड़े प्रकाण्ड विद्वान् एवं कर्मनिष्ठ ब्राह्मण थे। लोकमें आप मध्यगेह-भट्ट या भट्ट नामसे ही प्रख्यात थे। आयु बहुत अधिक हो जानेपर भी आपके कोई सन्तति नहीं हुई! अतः आपने पुत्रप्राप्तिकी कामनासे बारह वर्षतक अनेकों कठिन व्रतादि करते हुए भगवान् अनन्तेश्वरकी आराधना की। तब उन्हींकी कृपासे माघ शु० ७ को आचार्यपादका आविर्भाव हुआ। कई लोग आपकी जन्मतिथि आश्विन शुक्ला १० मानते हैं। परन्तु हमारे विचारसे वह आपके वेदान्त-साम्राज्यपर अभिषिक्त होनेका दिन है। माता-पिताने नवजात शिशुके जातकर्मादि सब संस्कार विधिवत् किये तथा उसका नाम वासुदेव रक्खा।

बालक वासुदेवमें आरम्भसे ही महापुरुषोंके-से लक्षण देखे जाते थे। वह बड़ा शान्त और सरल प्रकृतिका था। किसीपर क्रोधित होना अथवा बाल-सुलभ चापल्यके कारण किसीको तंग करना तो वह जानता ही न था। पाँचवें वर्षमें आपका यज्ञोपवीत और विद्यारम्भ-संस्कार कराया गया। आपने गुरुजीके पास जाकर पहले दिन वर्णमाला लिखनेका अभ्यास किया और दूसरे दिन खेलने लगे। गुरुजी गुस्सा हुए तो बोले, 'कल लिख तो लिया, गुरुजी! अब रोज-रोज उसीको क्या लिखें?' गुरुजीने कहा, 'अच्छा, यदि तुम उसे लिखना सीख गये तो हमें लिखकर दिखाओ।' आपने उसी समय सारी वर्णमाला लिखकर दिखा दी। इससे सबको बड़ा आश्चर्य हुआ। अध्ययनमें भी आपका ऐसा ही क्रम रहा। जो पाठ एक बार पढ़ लिया उसे दुबारा पढ़नेकी आवश्यकता ही नहीं हुई। एक बार गुरुजीने परीक्षा ली तो आपने पढ़ा हुआ तो सुनाया ही, उससे कुछ अधिक भी सुना दिया। इससे गुरुजीके मुखसे हठात् ये शब्द निकल पड़े—'अरे वासुदेव! तेरी यह विद्या इस जन्मकी पढ़ी हुई नहीं है।' पुराणोंमें तो आपकी ऐसी प्रगति थी कि साधारण कथावाचक आपके सामने पुराण सुनानेमें हिचकते थे, क्योंकि यदि किसीसे थोड़ी-सी भी त्रुटि हो जाती थी तो ये उसी समय सबके सामने ही उसकी कलई खोल देते थे। एक बार गुरुजीके पास श्रीमद्भागवत पञ्चम स्कन्धका पाठ चल रहा था। उसके एक गद्यके विभिन्न पुस्तकोंमें अनेक पाठ देखे गये। तब आपने एक पाठको

ठीक बताते हुए अनेकों प्रमाणोंसे यह सिद्ध किया कि भगवान् व्यासको यही पाठ अभिमत हो सकता है। आपकी ऐसी प्रतिभा देखकर सभीको बड़ा आश्चर्य हुआ। एक समय आपने एकान्तमें अपने गुरुजीको ऐतरेयोपनिषद्के रहस्य भागोंका मर्म समझाया। इससे उनके हृदयमें भगवान्की विशुद्ध भक्तिका उदय हुआ। इस गुरुदक्षिणाको पाकर वे सदाके लिये कृतकृत्य हो गये।

आपके गुरुजी बड़े सन्तोषी एवं सरल प्रकृतिके पुरुष थे। आवश्यक कार्योंके लिये उन्हें जल बड़ी दूरसे लाना पड़ता था। आसपास कोई जलाशय नहीं था और विद्यार्थियोंसे वे दयावश कोई कठिन कार्य कराते नहीं थे। उनके पास कुछ जमीन थी। उसमें वे धान बो लिया करते थे। इसकी सिंचाई भी वे स्वयं ही करते थे। यह सब देखकर वासुदेवके हृदयमें बड़ी करुणा हुई। उन्होंने रात-रातमें अपने दण्डसे एक सरोवर गुरुजीके द्वारपर खोदा और उसका जल एक नाली बनाकर खेतोंतक पहुँचा दिया। यह देखकर गुरुजीको बड़ा आनन्द हुआ और उन्होंने वासुदेवको 'दिग्विजयी भव' ऐसा आशीर्वाद दिया। यह कुण्ड दण्डतीर्थके नामसे विख्यात हुआ। इसमें एक बड़ी विशेषता यह है कि आसपासके अन्य सरोवरोंका जल सूख जानेपर भी इसका जल न तो सूखता है और न बिगड़ता ही है। लोग बड़ी श्रद्धासे इस तीर्थमें स्नानादि करते हैं।

वासुदेवजी बचपनसे ही बड़े एकान्तप्रिय थे। आपको देवदर्शनोंका भी बड़ा चाव रहता था। कभी-कभी तो आप अकेले ही आसपासके जङ्गलोंमें घंटोंतक किसी देवालयमें बैठे रहते। सायङ्काल जब घर आते और माता-पिता पूछते कि 'आज कहाँ गये थे? देखो, रात होनेको आयी; तुम्हें डर नहीं लगता?' तो आप बड़ी ही मधुर वाणीमें कहते, 'माताजी, हमें डर क्यों लगता? वनके देवता हमें मन्दिरतक पहुँचा गये और फिर मन्दिरके देवता यहाँ ले आये।' इस प्रकार आप उनके उद्वेगको शान्त कर देते।

इन सब बातोंसे आपके भावी त्यागमय जीवनका आभास मिल रहा था। सोपानारोह-क्रमसे ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य और वानप्रस्थ—तीन आश्रमोंके बाद पूर्ण निर्वेद होनेपर वृद्धावस्थामें ही संन्यासाश्रम ग्रहण करना चाहिये, ऐसी शास्त्रोंकी आज्ञा है। किन्तु अवतारी महापुरुषोंके लिये ऐसे किसी नियमका बन्धन नहीं होता। उनकी गति अन्य साधारण पुरुषोंसे विलक्षण ही होती है। इसीसे शास्त्रने यह भी कहा है—'यदहरेव विरजेत तदहरेव प्रव्रजेत्'—जिस दिन भी वैराग्य हो जाय, उसी दिन संन्यास ले ले। इसमें आयु या आश्रमादिकी कोई कैद नहीं है। हमारे चरितनायक अपनी आयुके नवें वर्षमें ही संन्यास-दीक्षा लेनेको तैयार हो गये थे परन्तु इसके लिये माता-पिताकी आज्ञा लेनेमें आपको दो-तीन वर्ष और लग गये। जिस एकमात्र पुत्ररत्नको पानेके लिये उन्हें बारह वर्षतक कठोर तपस्या करनी पड़ी थी, उससे इतनी अल्पायुमें ही बिछुड़नेका अवसर आनेपर उन्हें कैसी विकलता हुई होगी—इसका पाठक स्वयं ही अनुमान कर सकते हैं। माताने कहा, 'बेटा, यदि तुम संन्यास ले लोगे तो हमें वृद्धावस्थामें जल कौन लाकर देगा?' इसके उत्तरमें आपने घरके पास ही एक सरोवर तैयार कर दिया। पिताने कहा, 'यदि तुम्हारे हाथसे सूखी लकड़ीसे वृक्ष उत्पन्न हो जाय तो हम तुम्हें आज्ञा दे सकते हैं।' आपने यह भी करके दिखा दिया। फिर यह शर्त रही कि 'जबतक कुलकी वृद्धि करनेवाला दूसरा पुत्र उत्पन्न न हो, तबतक तुम नहीं जा सकते।' आखिर, यह भी हुआ। तब आप भाईके जन्मका समाचार सुनते ही मातासे बिदा होने गये और कहा कि यदि आप अब भी मुझे आज्ञा नहीं देंगी तो मैं इतनी दूर चला जाऊँगा कि फिर कभी नहीं देख सकोगी। इस धमकीसे घबड़ाकर माताको अपनी

अनुमति देनी पड़ी। बस, आप उसी समय वहाँसे चल दिये और ग्यारह वर्षकी अल्पायुमें ही सौम्यसंवत्सरमें श्रीमदच्युतप्रेक्षाचार्यसे संन्यास-दीक्षा ले ली। उस समय गुरुजीने आपका नाम 'पूर्णप्रज्ञ' रक्खा।

श्रीमदच्युतप्रेक्षाचार्यजी द्वैतसिद्धान्तप्रवर्तक पीठपर ही बैठे थे। उनकी गुरुपरम्परा इस प्रकार प्रसिद्ध है—(१) श्रीशेषशायी भगवान्, (२) श्रीब्रह्माजी, (३) सनक, (४) सनन्दन, (५) सनातन, (६) सनत्कुमार, (७) दुर्वासा, (८) ज्ञाननिधि तीर्थ, (९) गरुडवाहन तीर्थ, (१०) कैवल्यनाथ तीर्थ, (११) योगीष्ट तीर्थ, (१२) तपोराशि तीर्थ, (१३) पुरुषोत्तम तीर्थ, (१४) ज्ञानेश तीर्थ, (१५) पद्मतीर्थ, (१६) सत्यप्रज्ञ तीर्थ, (१७) श्रीमदच्युत-प्रेक्षाचार्य और (१८) श्रीमन्मध्वाचार्यजी। इस परम्परामें कई महानुभाव अज्ञात हैं, केवल प्रधान-प्रधानका ही उल्लेख किया गया है। श्रीगरुडवाहन तीर्थ महाराज जनमेजयके समकालीन थे। उन्हें राज्य-की ओरसे कुछ भूमि मिली थी, जो अभीतक उनके प्रधान मठ (श्रीमदुत्तरादिमठ) के अधीन है। इस प्रकार सूक्ष्मदृष्टिसे देखनेपर यह बात निर्विवाद सिद्ध हो जाती है कि श्रीमदच्युतप्रेक्षाचार्यजी वैष्णव-सिद्धान्तप्रवर्तक आचार्यपरम्परामें ही थे।

संन्यास-दीक्षा लेनेके पश्चात् श्रीपूर्णप्रज्ञ स्वामी गुरुपीठमें ही रहने लगे। गुरुजीका आपपर बड़ा ही स्नेह था। एक बार आपने उनसे गङ्गा-स्नानके लिये आज्ञा माँगी तो वे आपके वियोगकी कल्पनासे ही अत्यन्त शोकग्रस्त हो गये। इसी समय उनसे ध्यानावस्था-में भगवान् अनन्तेश्वरने कहा कि 'श्रीगङ्गाजी आजसे तीसरे दिन सामनेके सरोवरमें प्रकट हो जायँगी, इसलिये इन्हें फिर दूर जाना नहीं होगा; अतः तुम किसी प्रकारकी चिन्ता मत करो।' इससे उन्हें बहुत सान्त्वना मिली। तीसरे दिन प्रातःकाल ही देखते हैं कि सरोवरका नीला जल स्वयं ही उज्ज्वल हो गया। अब भी बारह वर्षमें एक बार इस सरोवरका आधा जल नीला और आधा उज्ज्वल हो जाता है। इस सरोवरमें जहाँ श्रीगङ्गाजीका उद्गम है, वहाँ अधमारमठके स्वामीजीने एक गङ्गा-मन्दिर बनवा दिया है।

आचार्यचरण बाल्यावस्थासे ही वादमें बड़े प्रवीण थे। एक बार रजतपीठपुरमें ही कुछ तार्किकोंका आगमन हुआ। उनका तर्क-कौशल देखकर सब लोग उन्हें अजेय समझते थे। परन्तु जिस समय हमारे पूर्णप्रज्ञजीने उनकी युक्तियोंके दोष दिखाये, उस समय आपकी असाधारण बुद्धिमत्ता देखकर उनके होश उड़ गये तथा सारी सभा विस्मयवश चित्रलिखित-सी रह गयी। इससे आपकी कीर्ति सब ओर फैल गयी।

इसी प्रकार एक बार आपके गुरुजी किसी मायावाद शास्त्रका पाठ कह रहे थे। आपने उसी समय उसके आद्यपदमें ही बत्तीस दोष दिखाये। आपकी युक्तियोंका गुरुजी भी कोई उत्तर न दे सके। यह देखकर श्रोताओं-को बड़ा कुतूहल हुआ; किन्तु उन्होंने उसी शास्त्रको सुननेकी इच्छा प्रकट की, तो आपने घंटोंतक उसकी अपने सम्प्रदायके अनुकूल व्याख्या करके सुनायी।

आपकी असामान्य बुद्धि, अकाट्य विद्वत्ता, लोकोद्धार-की प्रबल प्रवृत्ति, दिव्य शक्ति, निर्मल और निरुपाधिक भगवद्भक्ति, तीव्र विरक्ति और ग्रन्थ-निर्माणादि लोकोप-कारी कार्योंके लिये पूर्ण क्षमता देखकर गुरुजीने आपको वेदान्त-साम्राज्यपर अभिषिक्त किया। उस समय आपका नाम 'श्रीआनन्दतीर्थ' रक्खा गया। एक समय आपके गुरुजीके एक मित्र आश्रममें आये। उन्होंने आपकी परीक्षाके लिये अनेक अनुमानोंका प्रयोग किया। आपने तुरंत ही उनका खण्डन कर दिया। इससे उन्होंने आपको 'अनुमानतीर्थ' की उपाधि दी। इसी प्रकार वादिसिंह और बुद्धिसागर उपाधिधारी दो पण्डितों-

को भी, जो आपसे जयपत्र पानेकी अभिलाषासे आये थे, आपके चरणोंमें अपने जयपत्र समर्पण करने पड़े। इसके पश्चात् आपने स्वयं भी दिग्विजयके लिये प्रस्थान किया। आपने जगह-जगह विद्वानोंकी सभामें भगवद्भक्तिका प्राधान्य और वेदोंका प्रामाण्य स्थापित किया तथा मायावादके दोष दिखाये। यदि कोई पण्डित आपके कथनका विरोध करता तो उसे आपकी प्रबल युक्तियोंके सामने अन्तमें नीचा ही देखना पड़ता था। एक जगह तो आपने वेद, महाभारत और विष्णुसहस्रनामके क्रमशः तीन, दश और सौ अर्थ करके सबको आश्चर्यचकित कर दिया। इस प्रकार सर्वत्र अपनी कीर्तिकौमुदीका विस्तार कर आप मठमें लौट आये।

इसके पश्चात् आपका सङ्कल्प श्रीबदरिकाश्रमकी यात्राका हुआ। आपने भगवान् नर-नारायणको भेंट करनेके लिये श्रीमद्भगवद्गीता-भाष्य रचा। यही आपकी प्रथम कृति हुई। गीताजीपर गीता-तात्पर्य नामका दूसरा ग्रन्थ इसके बहुत पीछे बना। आपने अपनी प्रथम कृति गुरुजीको दिखाकर उनसे आज्ञा ले उत्तराखण्डके लिये प्रस्थान किया। वहाँ पहुँचकर आपने शिष्योंके सहित अनन्त मठमें निवास किया और भगवान्की प्रसन्नताके लिये मौन रहकर कुछ काल तपस्या की। इससे आपको श्रीव्यास भगवान्का दर्शन हुआ और फिर उन्हींके साथ अन्य पुरुषोंके लिये अगम्य दिव्य बदरिकाश्रममें पधारे। आपके मौन रहनेके कारण सत्यतीर्थ आदि शिष्यगणको इस रहस्यका कुछ पता न चला। वे कुछ दूर आपके साथ-साथ गये और फिर चलनेमें असमर्थ होनेके कारण आपके संकेतसे वापस लौट आये। आपने मुनिमण्डलीमण्डित श्रीव्यासाश्रमके दर्शन किये और फिर श्रीनर-नारायणाश्रममें पहुँचकर भगवान्को गीताभाष्य समर्पण किया। इसी समय आपको लोकोद्धारके लिये उपदेश एवं ग्रन्थनिर्माण करनेके लिये भगवान्की आज्ञा हुई। वहाँसे लौटकर आप पुनः अनन्त मठमें आये और श्रीव्यास भगवान्के आदेशानुसार ग्रन्थरचना करने लगे। इन सब ग्रन्थोंको सर्वप्रथम आपके प्रधान शिष्य श्रीसत्यतीर्थ स्वामीने लिखा था। उन सब ग्रन्थोंको भगवान् व्यास और श्रीनरनारायणको समर्पण कर उनकी आज्ञासे आप रजतपीठपुरको चले। इस बार आप राजमहेन्द्री होकर निकले। यह महानगर उत्कल-नरेश महाराज प्रतापरुद्रके राज्यकी सीमामें गोदावरीतटपर था। यहाँ एक बहुत बड़ा विद्यापीठ था। उसके प्रधान पण्डित शोभन भट्ट थे। ये ही प्रधान न्यायाधीश भी थे। इस समय विद्यापीठमें एक उत्सव था। उसके उपलक्ष्यमें अनेकों विद्वान् जहाँ-तहाँसे पधारे थे। यहाँ अठारह विभागोंमें परीक्षा ली जाती थी। आपका सभी विषयोंके विद्वानोंसे अलग-अलग शास्त्रार्थ हुआ। उसमें विजयी होनेके कारण आपको विद्वन्मण्डलीकी ओरसे एक मानपत्र भेंट किया गया तथा पण्डितप्रवर शोभन भट्ट आपके शिष्य हो गये। इस घटनाका वर्णन कविकुलतिलक श्रीमन्नारायणाचार्यने सुमध्वविजय काव्यके नवम सर्गमें किया है।

इस प्रकार विजय सम्पादन करते हुए आप रजतपीठपुर पहुँचे। इसी समय आपकी कीर्ति सुनकर श्रीश्याम भट्ट, जिनका दूसरा नाम राम भट्ट भी था, आपके पास आये। वे आपकी विद्वत्ता, पाठनशैली और तेजोमयी मूर्ति देखकर मुग्ध हो गये और आपका शिष्यत्व ग्रहणकर भाष्यादि ग्रन्थोंका अध्ययन करने लगे। ये बड़े विद्वान् और राजकार्योंमें कुशल थे। संन्यासदीक्षा लेनेपर ये ही नरहरि तीर्थ नामसे विख्यात हुए। इनके पश्चात् विष्णुशास्त्री और गोविन्दशास्त्री नामक दो विद्वानोंने आपसे संन्यासदीक्षा ली, जो क्रमशः माधव तीर्थ और अक्षोभ्य तीर्थ नामसे प्रसिद्ध हुए। ये ही आचार्यचरणके प्रधान शिष्य हुए, जिन्होंने आपके अदृश्य होनेपर प्रधान पीठको सुशोभित किया।

एक समय आप समुद्रतटपर ध्यानस्थ हुए बैठे थे।

इस समय द्वारकासे आनेवाला एक जहाज समुद्रमें वायुसे विक्षोभ हो जानेके कारण डूबने लगा। उसका स्वामी समुद्रतटपर उसकी प्रतीक्षा कर रहा था। तटसे आधे मीलकी दूरीपर अपने जहाजको सङ्कटग्रस्त देख उसने श्रीआचार्यजीके चरण पकड़ लिये। उसे अत्यन्त आतुर देख आचार्यजीने अपनी साटीसे जहाजको आनेका सङ्केत किया और वह थोड़ी ही देरीमें वहाँ निर्विघ्न पहुँच गया। इससे जहाजपर चढ़े हुए सब लोग आपके बहुत कृतज्ञ हुए और आपको साष्टाङ्ग दण्डवत् करके उन्होंने अपनी उपकारबद्धता प्रकट की। जहाजके स्वामीने आपको आधा धन समर्पण करना चाहा। परन्तु त्यागमूर्ति भगवान् मध्वने कहा, 'हमें द्रव्यसे क्या लेना है? यह तुम अपने ही पास रक्खो। जहाजमें बोझ ठीक करनेके लिये द्वारकासे लाये हुए जो गोपीचन्दनके तीन बड़े-बड़े ढेले हैं, वे ही हमें दे दो। तुम्हारा कल्याण होगा।' तुरन्त ही वे ढेले आपके सामने रक्खे गये। आपने बड़े ढेलेको सिरपर रक्खा और शेष दोको दोनों कन्धोंपर रखकर उडुपीकी ओर स्तोत्रगान करते चल दिये। इस समय आपने जो स्तोत्र रचा था, वही 'द्वादशस्तोत्र' नामसे विख्यात हुआ। इसमें बारह अध्याय हैं। वैष्णवलोग भगवान्को भोग लगाते समय इसका गान करते हैं।

उडुपी पहुँचनेपर आपने उन ढेलोंका दुग्धाभिषेक आरम्भ किया। इससे उनमेंसे तीन प्रतिमाएँ प्राप्त हुईं—(१) मन्थपाशधर भगवान् श्रीकृष्ण, (२) बलराम, (३) जनार्दन। इनमेंसे कृष्णमूर्तिकी प्रतिष्ठा आपने बड़े समारोहसे उडुपीमें ही की तथा बलरामजीको उडुपीसे तीन मील दूर बडभाण्डेश्वरमें स्थापित किया। जनार्दनमूर्ति जहाजके मालिकने माँग ली और उसे अपने गाँवमें स्थापित किया। श्रीबलराम और जनार्दनजीकी पूजा गृहस्थलोग करते हैं, किन्तु श्रीकृष्णप्रतिमाकी पूजाके लिये आपने आठ बालब्रह्मचारी ब्राह्मणोंको संन्यासदीक्षा देकर नियुक्त किया, जिनके नाम ये हैं—१. हृषीकेश तीर्थ, २. नरसिंह तीर्थ, ३. जनार्दन तीर्थ, ४. उपेन्द्र तीर्थ, ५. वामन तीर्थ, ६. विष्णु तीर्थ, ७. राम तीर्थ और ८. अधोक्षज तीर्थ। इन आठ शिष्योंके मठोंको ही उडुपी मठ कहते हैं। इन मठोंके नाम इस प्रकार हैं—१. पलमार मठ, २. अधमार मठ, ३. कृष्णापूर मठ, ४. पुत्तगी मठ, ५. शेरूर मठ, ६. सौदे मठ, ७. काणूर मठ और ८. पेजावर मठ। इन मठोंका कार्य केवल भगवान् श्रीकृष्णकी पूजा ही है; दिग्विजय करना, मुद्रा धारण कराना अथवा शिष्योंकी अभिवृद्धि करना इनके कार्य नहीं हैं। आपके सुप्रसिद्ध शिष्य सत्यतीर्थजीका भीमसेतु मठ था। श्रीअच्युत-प्रेक्षाचार्यजीके समयसे ही विद्यमान एक मठ मंडारकेरीके नामसे प्रसिद्ध हुआ। तथा आचार्यजीके छोटे भाई श्रीविष्णुतीर्थजीका सुब्रह्मण्य मठ हुआ। इस प्रकार इन बारह मठोंकी स्थापना आपहीके समयमें हुई। किन्तु धर्मप्रचारका प्रधान कार्य श्रीउत्तरादि मठके ही अधीन है और वही प्रधान पीठ भी माना जाता है। आजतक इस पीठपर अनेकों प्रातःस्मरणीय महापुरुष अभिषिक्त हो चुके हैं, जिनके पवित्र चरित्र कर्नाटकी भाषामें उपलब्ध हैं।

उडुपी मठोंकी प्रतिष्ठाके पश्चात् आपका विचार पुनः श्रीबदरिकाश्रमकी यात्राका होने लगा। इसी समय ध्यानावस्थामें आपको श्रीरामचन्द्रजीका आदेश हुआ कि हम जगन्नाथजीके खजानेमें हैं, वहाँसे हमें निकालो। इस कार्यके लिये आपने श्रीनरहरितीर्थको नियुक्त किया और कहा कि तुम श्रीजगन्नाथपुरीमें जाओ, वहाँ सम्भवतः राज्यकार्य सँभालनेका भी अवसर पड़े तो कुछ काल वह कार्य करके चलते समय श्रीमूल राम और मूल सीताजीकी प्रतिमाएँ ले आना।

श्रीनरहरितीर्थजी जगन्नाथपुरीमें पहुँचकर समुद्रतटपर मन्त्रानुष्ठान करने लगे। इन्हीं दिनों कलिङ्गराज

श्रीभानुदेवका स्वर्गवास हुआ था तथा रानी जयकलादेवी गर्भवती थी। अतः राज्यका कोई उत्तराधिकारी न होनेके कारण मन्त्रियोंने यह सलाह की कि एक हाथीको सूँडमें कमलके फूलोंकी माला देकर नगरमें घुमाया जाय, वह जिसके गलेमें उस मालाको डाल दे उसीको भावी राजकुमारके वयस्क होनेतक राज्यका अधिकार सौंप दिया जाय। हाथीने सारे नगरको छोड़कर समुद्रतटपर आ वह माला श्रीनरहरितीर्थजीके गलेमें ही डाली। परीक्षाके लिये ऐसा तीन बार किया गया, परन्तु तीनों बार ऐसा ही हुआ। तब गुरुवर्यकी आज्ञा और नगर-निवासियोंके अनुरोधसे आपने राज्यका भार स्वीकार किया। आपके आशीर्वादसे रानीके भी पुत्रका ही जन्म हुआ। उसका नाम नरसिंह रक्खा गया। नरसिंहके वयस्क होनेतक आपने सोलह वर्ष बड़ी योग्यतासे राज्यकी व्यवस्था की और फिर उसे राज्याभिषिक्त कर आप खजानेसे श्रीसीतारामकी मूल प्रतिमाएँ लेकर गुरुदेवके पास चले। परन्तु जैसे ही आप ग्रामकी सीमासे बाहर हुए कि खजानेमें आग लग गयी। इससे सब लोग व्याकुल होकर आपके पास आये। आपने श्रीरामचन्द्रजीकी पेटी नीचे रखकर कहा, 'यदि इसे ले जानेसे राज्यकी हानि होती है तो आपलोग इसे वापस ले जाइये।' परन्तु सबके प्रयत्न करनेपर भी वह पेटी अपनी जगहसे टस-से-मस न हुई। तब श्रीनरहरि स्वामीकी प्रार्थनासे भगवान्‌ने राजकोषको पूर्ववत् धन-धान्यपूर्ण कर दिया। इससे सब लोग सन्तुष्ट होकर लौट गये और आप श्रीसीतारामजीके सहित कार्तिक शु० १२ को सायङ्काल उडुपी पहुँचे। आपने वे प्रतिमाएँ आचार्यजीको समर्पण कीं तथा श्रीआचार्यजीने उसी समय उनकी बड़े समारोहसे पूजा की। तबसे आजतक श्रीमन्मध्वाचार्यके प्रधान पीठाधिपति श्रीमूल रामचन्द्रजीकी पूजा रात्रिके समय बड़े समारम्भसे करते हैं।

जिस समय श्रीनरहरितीर्थ कलिङ्ग देशमें थे, श्रीमध्वाचार्य दूसरी बार बदरी-केदारकी यात्रा करके लौट आये। इस यात्रामें कई राजाओंने आपसे वैष्णव-धर्मकी दीक्षा ली। देवगिरि (दौलताबाद) में आपके दैवी सामर्थ्यसे मुग्ध होकर राजा ईश्वरदेवने आपकी शरण ली। वहाँसे आप बदरिकाश्रम गये। वहाँ भगवान्‌के प्रसादसे आपको व्याससुष्टि—आठ शालग्राम-प्रतिमाएँ मिलीं, जो इस समय भी श्रीमदुत्तरादि मठमें रत्नसम्पुटमें रहती हैं। वहाँसे लौटकर चार मास दिल्लीमें रहे। फिर जगह-जगह शास्त्रार्थ और वैष्णवधर्मका प्रचार करते हुए आप राजमहेन्द्री पहुँचे। यहाँ गयासुद्दीन बलबनको शान्त किया। इस प्रकार सब ओर भगवद्भक्तिका भेरी-नाद करते हुए आप उडुपी लौट आये।

एक बार सह्याद्रि पर निवास करते समय आप महाराज जयसिंहके आग्रहसे उनकी राजधानीमें पधारे। उस समय आपकी सेवामें श्रीत्रिविक्रम पण्डिताचार्य आये। ये बड़े प्रकाण्ड विद्वान् थे। कहते हैं, जिस समय ये बाल्यावस्थामें तोतली बोली बोलते थे, तभीसे निर्दोष और ललितपदपूर्ण काव्यरचना करते थे। इनका प्रधान विषय अद्वैतवेदान्त ही था। इनके एक भाई शङ्कराचार्य थे। उनके पास इन्होंने मध्वभाष्य देखा। इससे मनमें कुछ सन्देह हुआ। आपने आचार्यपादके पास आकर पंद्रह दिनोंतक शास्त्रार्थ किया और अन्तमें निरुत्तर होकर उनका शिष्यत्व ग्रहण किया। आपने 'तत्त्वप्रदीप' नामकी भाष्यव्याख्या लिखी है। काव्य और नाटकादि तो आपके लिखे हुए अनेकों हैं। कहते हैं, आपहीकी प्रेरणासे आचार्यचरणने ब्रह्मसूत्रपर अनुव्याख्यान नामका दूसरा भाष्य लिखा था।

भगवान् मध्वकी जीवनी अनेकों आश्चर्यपूर्ण घटनाओंसे भरी है। एक बार एक नास्तिक राजाने आक्षेप किया कि वेदमन्त्रोंमें कोई फल देनेकी शक्ति नहीं है। तब आपने हाथमें मूँग लेकर केवल वेदमन्त्रके प्रभावसे ही

क्रमशः अङ्कुर, पत्र, पुष्प और फल उत्पन्न करके दिखा दिये। इसी प्रकार पारन्ती नामके गाँवके लोग अवर्षणसे दुखी होकर आपको अपने गाँवमें ले गये। तब आपने मन्त्रशक्तिसे ही वर्षा करके उनका भय निवृत्त किया। इसी जगह आपने श्रीकृष्णामृतमहार्णव नामका एक भक्तिरसपूर्ण ग्रन्थ निर्माण किया।

आपने अनेकों ग्रन्थोंकी रचना की थी। उनमेंसे इस समय जो उपलब्ध हैं, उनके नाम ये हैं— श्रीमद्भगवद्गीताभाष्य, श्रीमद्ब्रह्मसूत्रभाष्य, अणुभाष्य, श्रीमदनुभाष्य, प्रमाणलक्षण, कथालक्षण, मायावादखण्डन, प्रपञ्चमिथ्यात्वानुमानखण्डन, तत्त्वसंख्यान, तत्त्वविवेक, तत्त्वोद्योत, श्रीमद्विष्णुतत्त्वनिर्णय, कर्मनिर्णय, ऋग्भाष्य, ईशावास्योपनिषद्भाष्य, काठकोपनिषद्भाष्य, छान्दोग्योपनिषद्भाष्य, आथर्वणोपनिषद्भाष्य, माण्डूक्योपनिषद्भाष्य, षट्प्रश्नोपनिषद्भाष्य, तलवकारोपनिषद्भाष्य, ऐतरेयोपनिषद्भाष्य, तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्य, बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य, श्रीमद्भगवद्गीतातात्पर्य, संन्यासविवृति, नरसिंहनखस्तोत्र, यमकभारत, द्वादशस्तोत्र, कृष्णामृतमहार्णव, तन्त्रसार, सदाचारस्मृति, श्रीमद्भागवततात्पर्य, महाभारततात्पर्यनिर्णय, यतिप्रणवकल्प, जयन्तीनिर्णय और कन्दुकगीत।

इस प्रकार आपका जीवन बड़ा ही महत्त्वपूर्ण और भक्तिमार्गियोंके लिये आदर्शस्वरूप है। आपके देह-परित्यागका कहीं भी वर्णन नहीं है और न कहीं आपका वृन्दावन (समाधि) ही है। कहते हैं, पिङ्गल संवत्सरमें माघ शु० ९ बुधवार तदनुसार ता० ११ जनवरी स० १३१९ ई० को ऐतरेय उपनिषद्का पाठ कहकर आप पाठस्थानसे दूसरी जगह जानेके मिससे ही अन्तर्धान हो गये थे। अधिकारी पुरुषोंको अब भी आपके दर्शन हो जाते हैं।

आचार्यचरण वास्तवमें इस देशकी एक अनुपम विभूति थे। आपका बुद्धिबल और तपोबल तो अद्वितीय था ही, शारीरिक बल भी कुछ कम न था। हमारे यहाँके आध्यात्मिक पक्षके आचार्योंमें आपके समान शारीरिक स्वास्थ्यसम्पन्न महानुभाव विरले ही होंगे। आपको बचपनसे ही खेल-कूद और व्यायामादिका बड़ा व्यसन था। आपके अनुयायी तो आपको साक्षात् श्रीवायुदेवका अवतार मानते हैं। इस विषयमें यह श्लोक प्रसिद्ध है—

प्रथमस्तु हनूमान् स्याद् द्वितीयो भीम एव च।
पूर्णप्रज्ञस्तृतीयश्च भगवत्कार्यसाधकः॥

अपने अनुयायियोंको भी आप यही उपदेश देते थे कि 'खूब खाओ, खूब व्यायाम करो और आलस्य छोड़कर खूब भजन करो। मनमें भगवान्का ध्यान रखते हुए सब कर्म नियत समयपर करो। व्यर्थ चिन्ता करके शरीरको मत सुखाओ। शास्त्रविहित कर्त्तव्य-कर्मपर डटे रहनेसे वे करुणा-वरुणालय श्रीभगवान् स्वयं ही उबार लेंगे। तुम तो जो कुछ करो, भगवान्को अर्पण कर दो।'

आपने जिस सिद्धान्तको स्थापित किया था, उसे द्वैतवाद या स्वतन्त्रास्वतन्त्रवाद कहते हैं। इसके अनुसार ईश्वर और जीवमें नित्य भेद है तथा ईश्वर स्वतन्त्र है और जीव अस्वतन्त्र। इसीसे इसके ये नाम पड़े हैं। आपके मतानुसार श्रीविष्णु भगवान् ही सर्वोच्च तत्त्व हैं, जगत् सत्य है, जीव और ईश्वरका भेद वास्तविक है, जीव भगवान्के दास हैं, उनमें उत्तमाधमभाव भी है, अपने स्वरूपानन्दका नाम ही मुक्ति है, उसका साधन भक्ति है; प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम—ये तीन प्रमाण हैं तथा सम्पूर्ण शास्त्रोंके वेद्य श्रीहरि हैं। संक्षेपमें इन नौ बातोंमें ही आपका सारा मतवाद संगृहीत हो जाता है। इनका निरूपण एक श्लोकद्वारा किया गया है, उसे नीचे लिखकर हम इस लेखका उपसंहार करते हैं—

श्रीमन्मध्वमते हरिः परतरः सत्यं जगत्तत्त्वतो
भेदो जीवगणा हरेरनुचरा नीचोच्चभावं गताः।
मुक्तिर्नैजसुखानुभूतिरमला भक्तिश्च तत्साधनं
ह्यक्षादित्रितयं प्रमाणमखिलाम्नायैकवेद्यो हरिः॥

दक्षिण और पश्चिम भारतके मन्दिरोंकी मेरी यात्रा

(लेखक—रायबहादुर पंड्या बैजनाथजी, बी०ए०)

भारतवर्षके बड़े-बड़े तीर्थस्थान कई हजार वर्षोंसे चले आते हैं। स्व० लेडबीटर साहबने दिव्यदृष्टिसे देखा था कि १८०००वर्ष पूर्व पुरी एक गिरे हुए धर्मका केन्द्र था; कोई ७५०० वर्ष पूर्व भी गिरनार पहाड़पर पवित्र मन्दिर थे, कोई १२५०० वर्ष पूर्व भी रामेश्वर और श्रीरङ्गम् तीर्थस्थान थे। हिंदुओंके जीवनमें मन्दिरोंके महत्त्वको यदि किसीको समझना है तो उसे दक्षिणभारतके मन्दिरोंकी यात्रा शोधके साथ करनी चाहिये। हिंदूधर्ममें मूर्तिपूजा यदि समझके साथ की जावे तो ऊपर उठनेमें बहुत सहायता देती है और उसमें गूढ़तत्त्व आ जाते हैं। दक्षिणमें मन्दिरोंको विध्वंस करनेवाली शक्तियाँ कम पहुँचीं, इसलिये वहाँ अभी भी १५००वर्ष या उससे ऊपरकी मुद्दतके मन्दिर मौजूद हैं। कुछ हजार, बारह सौ वर्षके होंगे; पर इन मन्दिरोंको सैकड़ों-हजारों वर्षतक स्थानीय राजाओं-की सहायता मिलती रही। इस कारण ये मन्दिर आज भी करोड़-करोड़ रुपयोंकी लागतके बने हुए हैं। उनकी भक्ति, उनकी शक्ति, उनका आशीर्वाद भी वैसा ही बना है। उनकी कई अहातोंकी दीवालें हैं, जिनके भीतर तालाब, बड़े-बड़े सभामण्डप, दूसरे मन्दिर, कई प्राकार या आँगन और कई छोटे मन्दिर इत्यादि हैं। उनमें बहुत-सा रकबा घिरा हुआ है।

प्राचीनकालमें इन मन्दिरोंमें विद्यादान देनेका, रोगियोंका इलाज करनेका, नाटक-अभिनय करनेका भी प्रबन्ध रहा करता था। तिरुवोरीयूरके मन्दिरमें पाणिनीय व्याकरण तथा व्याकरणका सोमसिद्धान्त पढ़ाये जाते थे। दूसरे ग्रन्थ पढ़ानेका भी कहीं-कहीं उल्लेख मिलता है। विद्वान् ब्राह्मणोंकी जीविकाके लिये इन मन्दिरोंके साथ जमीन भी लगा दी जाती थी। वेदवृत्ति, भट्टवृत्ति, वैद्यवृत्ति, अर्चनावृत्ति आदिके प्रबन्धका भी इन मन्दिरोंमें लेख है। इस प्रकार ये मन्दिर सब प्रकारके दानोंके क्षेत्र थे। बारहवीं शताब्दी-के एक लेखसे ज्ञात होता है कि चिंगलपट जिलेके तिरुमुकुडुलके मन्दिरमें एक बड़े अस्पतालकी व्यवस्था थी, जिसमें रोगियोंके रहनेकी, परिचारिकाओंकी, रसोइयोंकी, दवाई लानेवालोंकी, वैद्योंकी पूरी-पूरी व्यवस्था थी। इन मन्दिरोंमें नृत्य और नाट्यकलाका अभिनय भी होता था। इन सबका उल्लेख है। इन मन्दिरोंमें अभ्यागतोंको, साधुओंको और विद्वानोंको भोजन-दान भी दिया जाता था। भोजन ऊँचे प्रकारका मिलता था।

इन मन्दिरोंमें राजालोग अपना तुलादान भी करते थे, जिसके कारण योग्य व्यक्ति दूर-दूरसे आते थे। श्रीरङ्गम् और कांजीवरम्के मन्दिरोंमें बहुत-से विजयनगर-के राजालोग यह दान दिया करते थे। राजाकी जन्म-तिथिके दिन इन मन्दिरोंमें उत्सव मनानेकी व्यवस्था थी। दूसरे सङ्कल्पोंकी पूर्तिके लिये भी इन मन्दिरोंको दान दिये जाते थे। इस प्रकार इन मन्दिरोंसे देशके जीवन-का घनिष्ठ सम्बन्ध था और उसपर इनका बड़ा प्रभाव पड़ता था। अच्छे-अच्छे भक्तोंकी मूर्त्तियाँ भी इन मन्दिरोंमें रक्खी जाती थीं। अभी भी वहाँके शिव-मन्दिरोंमें दक्षिणके प्रसिद्ध-प्रसिद्ध तरेसठ शिवभक्तोंकी पीतलकी मूर्तियाँ रक्खी जाती हैं। पांडिचेरीके पास त्रिभुवनीके मन्दिरमें करीब ९००वर्ष पूर्वके एक लेखसे ज्ञात होता है कि वहाँ ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा अन्यान्य शास्त्र पढ़ानेके लिये दानवृत्ति लगायी गयी थी। एक जगह महाभारतका तामिलमें भाषान्तर करनेवालेके

लिये भी एक वृत्ति लगानेका शिलालेख एक मन्दिरमें लगा है। प्रायः प्रत्येक मन्दिरमें एक शिलालेख तो अवश्य है और बड़े-बड़े मन्दिरोंमें तो सैकड़ों शिलालेख हैं।

कांजीवरम्

मैं प्रथम कांजीवरम् गया। सप्तपुरियोंमेंसे यह एक है। यहाँ समय-समयपर जैन, बौद्ध, शैव और वैष्णव-धर्मोंका प्रभाव रहा। ह्वांत्सांग (Hiuen Tsang) नामक प्रसिद्ध चीनी यात्री सातवीं शताब्दीमें यहाँ आया था। तब कई सौ सङ्घाराम और भिक्षु इस नगरीमें थे। शङ्कराचार्यने स्मार्तधर्मको और पीछेसे रामानुजाचार्यने वैष्णवधर्मको यहाँ चलाया। पल्लव और चोल राजाओं-के शिलालेख यहाँ बहुत हैं। किसी समय यहाँ १०८ शिवमन्दिर और १८ बड़े वैष्णवमन्दिर थे। शाक्त मन्दिरोंमें कामाक्षादेवीका मन्दिर प्रभावशाली है। शङ्कराचार्यकी मूर्त्तिकी पूजा अभी भी इस मन्दिरमें होती है। यहाँपर चक्र, यन्त्र या पीठकी स्थापना मूर्त्तिके नीचे न होकर उसके सामने है। यह स्थान शक्तिके प्रधान पीठोंमेंसे है।

बड़ा शिवमन्दिर एकाम्बरनाथका है। यहाँ एक आम्रवृक्ष है। पार्वतीको शिवके लिये तपस्या करते समय यहींपर शिवजीके दर्शन हुए थे, ऐसा स्थानीय पुराणका कथन है। इस मन्दिरमें भी बहुत शक्ति भरी हुई है। मेरे साथ कुछ और भी व्यक्ति थे, जिन्होंने कुछ साधना और सात्त्विकताकी प्राप्ति की थी। इस मन्दिरमें सन्ध्या-आरतीके समय बहुत आशीर्वाद प्राप्त होता था। हममेंसे एक व्यक्तिपर उसका बड़ा प्रभाव पड़ा। रात्रिभर उनका चित्त डूब-डूबकर अन्तरमें चला जाता था। कामाक्षादेवीके मन्दिरमें भी शक्तिका बड़ा प्रवाह बहता था। हम सबको उसका अनुभव हुआ। शक्तिका प्रवाह दिनकी अपेक्षा रात्रिको अधिक होता है और वैष्णव, शैव तथा शाक्त मन्दिरोंसे अलग-अलग प्रकारकी शक्ति निकलती है।

वैष्णवमन्दिरोंमें प्रधान मन्दिर वरदराजका है। इसीमें लक्ष्मीमन्दिर भी है। वैष्णवमन्दिर शहरके पश्चिम विभागमें हैं। इस विभागको विष्णुकाञ्ची कहते हैं। वैष्णवमन्दिरका सभामण्डप और तालाब देखने योग्य हैं। दिनको देखनेके कारण इन मन्दिरोंमें कोई विशेषता न दीख पड़ी, पर भक्तिका प्रवाह वहाँ था।

शङ्कराचार्यके उत्तराधिकारी यहाँ सन् १६८६ ई० तक रहते रहे। पीछेसे सन् १७४३ में वे कुम्भकोणम्-को चले गये। उनका यह पीठ कामकोटिपीठ कहलाता है। इसी शहरमें १०८ उपनिषदोंकी संस्कृत टीका लिखनेवाले, श्रीवासुदेवेन्द्रके शिष्य, उपनिषद्ब्रह्मयोगिन् भी हुए थे। उनका मठ गिरी अवस्थामें है और वहाँ कई सौ हस्तलिखित ग्रन्थ अभी भी पड़े हुए हैं, जिनके छपनेकी सम्भावना अभी नहीं दीखती। जैसे भारतमें भगवान् शिवके बारह ज्योतिर्लिङ्ग हैं, वैसे इनके सिवा दक्षिणमें शिवके पाँच तत्त्वलिङ्ग प्रधान हैं। काञ्चीवरम्-का शिवलिङ्ग पृथ्वी-तत्त्वका है। श्रीरङ्गम्के निकट जम्बुकेश्वरका लिङ्ग जल-तत्त्वका है, तिरुवन्नमल्लेका अग्नि-तत्त्वका, कालहस्तिका वायु-तत्त्वका और चिदम्बरम्-का शिवलिङ्ग आकाश-तत्त्वका है।

चिदम्बरम्

यहाँसे हमलोग चिदम्बरम्को गये। यह बड़ा कस्बा नहीं है। यहाँपर शिवकी मूर्ति नटराजके रूपमें है; पर इनके पीछे एक रिक्त स्थान है, जिसपर कपड़ा ढँका रहता है। यह आकाशलिङ्ग है। नटराज इसीमेंसे निकले थे। इसी मन्दिरके भीतरी हातेमें गोविन्दराज विष्णुका बड़ा मन्दिर है। यहाँ शिवका नृत्य देखने विष्णु आये थे। पतञ्जलि और व्याघ्रपाद—अपने दो बड़े भक्तोंको आशीर्वाद देते समय शिवजी यहाँ नाचे थे। दोनों भक्तोंकी धातुमयी मूर्तियाँ यहाँ मौजूद हैं। चन्देश भक्तको आशीर्वाद देती

हुई चन्देशानुग्रहमूर्ति और त्रिपुरान्तकमूर्ति भी है। आठ दिक्पालोंकी मूर्तियाँ भी हैं। कई शैवभक्तोंकी मूर्तियाँ भी हैं। इन शिव तथा विष्णुके मन्दिरोंमें काफी शक्तिप्रवाह था।

नटराजका मन्दिर बहुत पुराना है। शिलालेखोंसे प्रकट है कि वीरचोल (ईसवी सन् ९०७-९५१) ने सभामण्डपकी मरम्मत करवायी थी। पर इस मन्दिरका इतिहास पल्लव राजाओंके समय (छठी-सातवीं शताब्दी) का है। इस गाँवके आसपास और भी बहुत-से मन्दिर हैं। ग्यारहवीं शताब्दीमें एक शिवभक्त बालक नंबिआंदार नम्बिको तिरुनरैयूरमें (चिदम्बरम्से ९ मील दूरीपर) स्वप्न हुआ, जिसमें गणेशजीने उसे कहा कि चिदम्बरम्के सभामण्डपके वायव्यकोणमें स्थित एक कोठरीके अंदर पूर्वकालके बड़े अवतारी शिवभक्त सुन्दरमूर्तिका लिखा ग्रन्थ पड़ा हुआ है, जिसमें ६३ प्रसिद्ध शिवभक्तोंका उल्लेख है; उसे निकालकर प्रकट करो। उस ग्रन्थका नाम तिरुत्तोंदत्तोगई था। वह लड़का राजा कुलोत्तुङ्ग चोल प्रथमके साथ वहाँ गया और उसने उस ग्रन्थको ढूँढ़ निकाला तथा अपने इष्टदेव गणेशके आज्ञानुसार उस ग्रन्थके आधारपर एक नया ग्रन्थ 'देवारम्' लिखा। इन ६३ शैवभक्तोंके कारण दक्षिणभारतमें बौद्धधर्मका लोप और शैवधर्मकी प्रौढ़ स्थापना हुई। इस मन्दिरमें बहुत-से शिलालेख हैं, जिनमें समय-समयपर राजाओंद्वारा मन्दिरकी मरम्मत तथा दानोंका उल्लेख है। गोविन्दराजकी मूर्ति पल्लव राजाओंके समयमें थी। फिर उसका वर्णन नवीं शताब्दीमें मिलता है। कुलोत्तुङ्ग द्वितीयने उसे समुद्रमें फेंकवा दिया। वैष्णवग्रन्थोंमें लिखा है कि रामानुजके समयमें उस मूर्तिको नीचेकी तिरुपतिमें ले जाया गया। फिर पीछेसे वह मूर्ति वापिस चिदम्बरम् लायी गयी। इस मन्दिरका उत्तरका गोपुर विजयनगरके राजा कृष्णदेवरायके समयका बना है। पूर्व और पश्चिमके गोपुरोंमें भारतीय नृत्यशास्त्रकी १०८ नाट्यमुद्राएँ बनी हैं। दक्षिणका गोपुर पल्लवराजा पेरंजिंगदेवका बनाया है।

डाक्टर अरंडेलने इस मन्दिरकी यात्रा की थी। वे लिखते हैं (देखिये 'The Theosophical World' फरवरी १९३९) कि जैसा अनुभव मुझे इस पवित्र स्थानमें मिला, वैसा मुझे और कभी बहुत कम मिला। चिदम्बरम् प्रथम किरण अर्थात् शक्तिका स्थान है। वहाँ शिवकी शक्ति भरी हुई है और उनके अनुचर देवतागण उस मन्दिरकी रक्षा करते हैं। इन बातोंका प्रमाण प्रायः मुझे दृष्टिगोचर हुआ। मेरे गुरुदेवका, जो मुझे योगसाधनमें सहायता देते हैं, इस मन्दिरसे सम्बन्ध है। मुझे यूरपमें ही आदेश मिला था कि भारतमें लौटते ही प्रथम इस मन्दिरकी यात्रा करना (लेखकके एक मित्रको भी ऐसा ही आदेश एक दूसरे मन्दिरके विषयमें मिला था)। मुझे यह देखकर अति आश्चर्य हुआ कि इस बड़े शिवमन्दिरमें पृथ्वीपरकी बड़ी-से-बड़ी शक्ति उपस्थित है। एक-दो महापुरुषोंका उस शक्तिसे सम्बन्ध है, उनका आशीर्वाद भी हमें मिला। हम आशा करते हैं कि हमारे दूसरे भाई भी—यदि उन्हें यात्रा कैसे करनी चाहिये, यह मालूम है तो—इस चिदम्बरम्की यात्रा करेंगे। यात्रा कैसे करना, यही कठिनाई है। यात्रामें कामना, आशा या कुछ प्राप्त करनेकी इच्छा नहीं होनी चाहिये, पर महर्षिगणोंके जगत्सेवाके कार्यमें पूर्ण सहायता देनेकी योग्यता प्राप्त करनेका आशीर्वाद मिलनेकी दृढ़ इच्छा होनी चाहिये। इस लेखकका भी अनुभवजन्य यह विश्वास है कि यात्रीका यदि किसी सच्चे जीवन्मुक्त योगी गुरुसे सम्बन्ध है तो वे उसे मन्दिरोंमें विशेष अनुभव करा देनेका प्रयत्न करते हैं।

तंजौर

तंजौर चोल राजाओंकी राजधानी थी। राजराज चोल (लगभग १००० ई०) के समयमें यहाँ बृहदीश्वर

महादेवका मन्दिर बना। मन्दिरकी ऊँचाई १९० फीट है। मन्दिर देखनेमें सुन्दर, विशाल और शान्तिमय है। ऐसा कहा जाता है कि मन्दिर बनानेवाले मिस्त्रीको भविष्यका दर्शन हो गया था; इस कारण उसने मन्दिरके उच्च विमानमें चोल राजाकी मूर्त्तिके पश्चात् नायकवंशके राजाओंकी, मराठोंकी और अंग्रेजोंकी मूर्त्तियाँ भी बनायीं। तंजौरमें दो किले हैं, जिनकी दीवारोंके बाहर खाई हैं। छोटे किलेमें मन्दिर है। मन्दिरमें हाथीके परिमाणका पत्थरका बड़ा नन्दी है।

यहाँके शिवमन्दिर और पार्वतीमन्दिर—दोनोंमें बहुत प्रभाव भरा है। हमलोग सन्ध्यासमय वहाँ गये थे। मन्दिरमें तब बहुत कम प्रकाश था। पुजारी पार्वती-मन्दिरमें पूजा करनेमें लगे थे। हममेंसे एक व्यक्ति अँधेरेमें ही ध्यान करने बैठ गया। उसे ऐसा भान हुआ कि मन्दिरके शिवलिङ्गमेंसे निकलकर शिवजी दिव्य रूपमें मेरे सामने खड़े हो गये। उस व्यक्तिने ध्यानसे उठकर कहा कि मुझे तो दर्शन हो गये, अब मन्दिर खुले या न खुले। इस व्यक्तिको ध्यानकालमें अन्तरमें डूबनेका भान होता था।

तिरुवादि

यहाँसे हमलोगोंने मोटर-बसमें सात मील जाकर तिरुवादिमें शिवके दर्शन किये। मन्दिर पुराना है। वेंगीके राजा विमलादित्यने करीब ९०० वर्ष पूर्व इस मन्दिरको दान दिया था। उत्तर कैलासमन्दिरकी मरम्मत राजा राजराजकी धर्मपत्नी लोकमहादेवीने की थी।

त्रिचनापल्ली, श्रीरङ्गम् और जम्बुकेश्वर

तंजौरसे हमलोग त्रिचनापल्ली गये। इसका पुराना नाम दक्षिण-कैलास है, क्योंकि शहरके बीच २६० फीट ऊँचे एक पहाड़पर शिवजीका मन्दिर है और चोटी-पर गणेशजीका मन्दिर है। पासमें कावेरी नदी है, जिसमें एक टापू है। उस टापूमें श्रीरङ्गम्के और जम्बुकेश्वरके मन्दिर हैं। नायक राजाओंकी यह राजधानी थी। उनके पूर्व चोल राजा भी निकट ही उरैयूरमें रहते थे। शैवभक्त तयुमानवर यहीं हुए थे। शिवका नाम इन्हींपरसे पड़ा। एक कथा भी है कि शिवजीने एक प्रसङ्गपर किसी प्रसववेदनायुक्त स्त्रीकी सहायता दाईका रूप धारण कर की थी। तामिलमें 'तय' शब्द-का अर्थ माँ है। पहाड़के शिवमन्दिरका सबसे पुराना शिलालेख पल्लवकालका (ईसवी सन् ७००-८०० के लगभग) जान पड़ता है। यहाँ यात्री कम आते हैं, इसलिये इस पहाड़के मन्दिरोंमें विशेष प्रभाव नहीं दीख पड़ा। पर पहाड़के ऊपरसे बस्तीका दृश्य बहुत अच्छा दीखता है। यहाँ अंग्रेज और फ्रांसीसियोंकी लड़ाई होती रही थी।

श्रीरङ्गम् त्रिचनापल्लीसे ३ मीलकी दूरीपर है। यह वैष्णवोंका प्रसिद्ध तीर्थस्थान है। वैकुण्ठ-एकादशीके दिन यहाँ बहुत भारी मेला लगता है। साधारण एका-दशीको भी उत्सव मनाया जाता है। यहाँपर विष्णुके पद्मनाभ रूपकी मूर्त्ति है। इन्हें रङ्गनाथ भी कहते हैं। ईसवी सन् १३७१ के लगभग इस मूर्तिको मुसलमानों-का त्रिचनापल्लीपर अधिकार होनेके कारण तिरुपति हटाया गया था और पीछेसे वह वापिस यहाँ लायी गयी थी। भीतरका मन्दिर २००×१८१ फुटका है, पर इसके बाहर सात प्राकार हैं और सबसे बाहरी प्राकारका नाप ३०७२×२५८१ फुटका है। पर यह अधूरा ही रह गया है। हजार खंभोंके सभामण्डपमें खंमे एक-एक पत्थरके बारीक खुदाईके हैं। शिल्पकला यहाँकी बहुत उत्तम है। सब आळ्वार भक्तोंने इस मन्दिरकी महिमा गायी है। श्रीरामानुजाचार्य भी यहाँपर अपने पिछले जीवनभर रहे थे। यहाँपर चोल, पाण्ड्य एवं होयशलवंशके तथा विजयनगरके राजाओंके ईसवी सन् ९००से १६०० तकके लेख हैं।

इस मन्दिरमें दर्शन करनेपर भक्तिका बहुत बड़ा

प्रवाह आता है। जम्बुकेश्वर त्रिचनापल्लीसे २ मील उत्तरको है, श्रीरङ्गम्से डेढ़ मील होगा। यहाँका लिङ्ग सदैव पानीसे घिरा रहता है। यदि पानी निकाल डाला जाय तो दूसरा पानी भर आयेगा। यह पाँच तत्त्वोंमेंसे जलतत्त्वका लिङ्ग है। मन्दिरके पाँच प्राकार हैं और सबसे बाहरी प्राकार २४००×१५०० फुटका है। देवीमन्दिरमें अखिलाण्डेश्वरीकी स्थापना है, जिनकी मध्याह्नकी पूजा पुजारी स्त्रीवेशमें करता है। ऐसा कहा जाता है कि इस देवीकी शक्ति इतनी तीव्र थी कि अशुद्ध हृदय या अशुद्ध शरीरके पूजकको कुछ दुर्घटना हो जाती थी। इसे मन्द करनेके लिये शङ्कराचार्यने देवीके कानमें चक्रके कर्णफूल पहना दिये और सामने गणेशकी स्थापना भी कर दी। इस मन्दिरमें पूजा आरम्भ कराते ही मुझे और मेरे एक साथीको शक्ति और आशीर्वादके तीव्र प्रवाहका एक बार अनुभव हुआ था। इस मन्दिरमें बहुत शान्ति थी। यहाँ चोल राजाओंके शिलालेख हैं।

रामेश्वर

रामेश्वरका मन्दिर एक टापूपर स्थित है। रेल इस टापूमेंसे होकर धनुष्कोटिको जाती है। उसके पूर्व ही पंबनसे एक ब्रांच लाइन रामेश्वरको जाती है। पूर्वीय घाटकी पर्वतश्रेणीकी चट्टानें भी इस समुद्रमें रेलपुलके समानान्तर चली गयी हैं। यह टापू प्रायः उजाड़-सा है, पर मिशनरीलोगोंकी यहाँ एक बस्ती है। इसके पूर्व हम लिख आये हैं कि एक दिव्यदृष्टिसम्पन्न पुरुषके कथनानुसार १२५००वर्ष पूर्व भी यह तीर्थ-स्थान मौजूद था। रामेश्वर किसी समय रामनाथ जमींदारी-के राजाओंके आधीन रहा और ये राजा सेतुपतिकी पदवी धारण करते थे। इस मन्दिरके चारों ओर तीन प्राकार हैं।

प्रदक्षिणा-मार्ग बड़े-बड़े खंभों और दालानोंसे घिरे हुए इतने बड़े हैं कि लोग उन्हें देखकर आश्चर्य करते हैं। उनमें कई सेतुपति राजाओंकी मूर्त्तियाँ भी हैं। इन प्रदक्षिणामार्गोंकी लंबाई ४००० फुट है, चौड़ाई १७ से २१ फुटतक है और ऊँचाई कोई ३० फुट है। सारे मार्गमें खुदाईवाले खंभे लगे हुए हैं। मन्दिरका जीर्णोद्धार भी हो रहा है। मद्रासके वैश्यलोग चेट्टी ('श्रेष्ठि'का अपभ्रंश) कहाते हैं। उनका एक सङ्घ है। उनके धर्मादा खातेमें करोड़ों रुपये जमा हैं, जिससे ये सब मन्दिरोंकी मरम्मत कराते रहते हैं। मैंने रामेश्वर और तिरुवादि (तंजौर) में मरम्मत होती देखी। यहाँ ईसवी सन् १६००से १७३५तकके शिलालेख हैं। इस मन्दिरकी ऊँचाई १२० फीट है। इसमें दो स्फटिक-के लिङ्ग हैं, जिनके दर्शन प्रातः ४ बजे ही हो सकते हैं। उस समयके चरणामृतका बड़ा माहात्म्य कहा जाता है। मन्दिरमें सब समय आशीर्वादका प्रचुर प्रवाह बहता रहता है और यात्री उसका अनुभव कर सकते हैं।

धनुष्कोटिमें समुद्र-स्नान होता है। यहाँ किसी शक्तिका कोई अनुभव नहीं हुआ।

मदुरा

पुराने पाण्ड्य राजाओंकी यह राजधानी थी। तब मदुरा तामिल-साहित्यका केन्द्र था। बहुत पूर्वकालसे यहाँ विद्वानोंकी सभाएँ हुआ करती थीं। मन्दिरोंमें मीनाक्षीदेवी तथा सुन्दरेश्वर महादेवके स्थान प्रमुख हैं। ऐसा कहा जाता है कि एक समय सुन्दरेश्वर महादेवने स्वयं कविका रूप धारणकर कविसमाजमें भाग लिया था। मीनाक्षी एक पाण्ड्य राजाकी लड़की-का भी नाम था। इस सुन्दरेश्वरके मन्दिरमें ६३ शिवभक्तोंमें कोई एक शिवभक्त कारइक्कास अम्मइयरका मन्दिर भी है। इस शिवमन्दिरका सभामण्डप ३३ फुट × १०५ फुटका है और बीचके खंभोंमें मदुराके १० नायक राजाओंकी मूर्तियाँ खुदी हैं। मन्दिर स्वयं ८४ फुट लंबे × ७२५ फुट चौड़े हातेके

अंदर है। बाहरकी दीवार करीब २१ फुट ऊँची है, जिसमें ४ बड़े-बड़े गोपुर हैं। एक गोपुर १५२ फुट ऊँचा है। पाण्ड्य राजाओंका राजचिह्न दो मछलियाँ थीं। मछली अपने अंडोंको देखती रहती है। उसकी दृष्टिसे ही अंडे पक जाते हैं। मीनाक्षी-देवी भी अपने भक्तोंपर वैसी ही दृष्टि रखती हैं और भक्तोंका कल्याण करती हैं। यह चिह्नका भाव बतलाया जाता है। इस मन्दिरमें शक्तिका प्रवाह रात्रिकालमें बहुत तीव्रतासे बहता है। उससे सूक्ष्मशरीर कुछ काँपने-से लगते हैं। हमलोगोंको तो यह अनुभव हुआ ही; पर दूसरे दो साधारण यात्रियोंका भी अनुभव ऐसा था, ऐसा मुझे उन लोगोंने दूसरे प्रसङ्गपर कहा।

कन्याकुमारी

कन्याकुमारीको त्रिवेंड्रमसे मोटर-बसमें जाना पड़ता है। वहाँपर त्रावणकोर स्टेटकी धर्मशाला है। कन्या-कुमारीका मन्दिर समुद्रकिनारे बना हुआ है। शक्तिका प्रवाह यहाँ भी होता है, पर मदुरासे कम। मन्दिर पुराना, पाण्ड्य राजाओंके समयका है।

कन्याकुमारी जाते समय रास्तेमें शुचीन्द्रका बड़ा शिवमन्दिर देखने योग्य है। यहाँ भी स्टेटकी धर्मशाला तथा एक बड़ा तालाब है। यह मन्दिर भी प्रभाव-शाली है।

त्रिवेंड्रममें पद्मनाभका मन्दिर भी बहुत बड़ा और प्रभावशाली है। यहाँ १००० ब्राह्मण प्रतिदिन भोजन पाते हैं। यह मन्दिर भी पुराना है। रामानुजा-चार्य, चैतन्य महाप्रभु और मध्वाचार्य यहाँ यात्रार्थ आये थे। सारा त्रावणकोर राज्य पद्मनाभ प्रभुको अर्पित हो चुका है। त्रावणकोरमें इन सब मन्दिरोंमें प्रवेश करनेके पूर्व पुरुषोंको कमरसे ऊपरके वस्त्र निकाल डालने पड़ते हैं।

तिरुवण्णमलै

—इस स्थानमें भगवान् शिवका अग्निलिङ्ग है। मन्दिर बहुत बड़ा है। यहीं प्रसिद्ध रमण महर्षि भी रहते हैं। अरुणगिरिनाथ नामक प्रसिद्ध भक्त यहीं हुए थे। यहाँका गोपुर ११ खण्डका है। इसे विजयनगरके राजाने ईसवी सन् १५१६ में आरम्भ किया था और तंजौरके नायक राजाने पूरा किया था। अरुणाचलेश्वर मन्दिरके गोपुरमें वामदेवने अपना ग्रन्थ "जीर्णोद्धार-दशक" मन्दिरोंकी मरम्मतके विषयका लिखा था। यहाँ चोल राजाओंके समयके ग्यारहवीं शताब्दीके और उसके पीछेके बहुत-से शिलालेख हैं।

प्रथम बार इस मन्दिरके हाथेमें प्रवेश करनेपर ही हमलोगोंको आशीर्वादका बादल छाया हुआ मालूम पड़ा था। ऐसा अनुभव इस समय तो नहीं हुआ, पर मन्दिरमेंसे आशीर्वादका प्रवाह बराबर होता था।

कालहस्ति

यहाँपर भगवान् शिवका वायुलिङ्ग है। मन्दिर पहाड़के नीचे सुवर्णमुखी नदीके किनारेपर बना हुआ है। यहाँपर शिवजीने किसी स्त्री-भक्तको तारक-मन्त्र दिया था। इसलिये अभी भी श्रद्धालुलोग मरते समय यहाँपर लाये जाते हैं और अपने दाहिने करवटपर लेटाये जाते हैं। मरते समय मुर्दा बायें करवट हो जाता है और जीव दाहिने कानसे निकल जाता है!!

यह मन्दिर वीरराजेन्द्र चोलदेवके समय बारहवीं शताब्दीका बना है। विजयनगरके महाराजा कृष्ण-रायने इसमें १०० खंभोंका एक मण्डप और बड़ा गोपुर बनवाया।

इससे आगे हमलोग तिरुपति गये, जो एक पहाड़-के नीचे बसा है। वहाँसे कोई २००० फुट ऊँचा पहाड़ चढ़कर और सात मील जाकर बालाजीका मन्दिर और पहाड़ी तिरुपतिकी बस्ती मिलती है। यहाँके पहाड़ आदिशेषके रूपमें हैं और सात पहाड़ोंसे आदिशेषके सात सिर समझे जाते हैं। पहाड़का

सात मीलका रास्ता पत्थरोंसे पटा हुआ है और बिजलीके प्रकाशसे आलोकित है। उस रास्तेमें जूते नहीं पहिने जाते। नंगे पाँव जाना पड़ता है या डोलीसे। आदिमें यहाँ वाराह-अवतारकी मूर्ति थी। बालाजीकी स्थापना पीछे हुई जान पड़ती है। यह मन्दिर राज-राजेन्द्र चोलके समय (ईसवी सन् १०००) में भी था। मन्दिरके सामनेका गोपुर ईसवी सन् १६०० के लगभग बनाया गया था और बनानेवाले राजाके माता-पिताकी मूर्त्तियाँ बनी हुई हैं। इनके सिवा प्रवेश करते समय दाहिने हाथपर विजयनगरके राजा कृष्ण-राय और उनकी दो रानियों—चिन्नादेवी और तिरुमलदेवीकी मूर्त्तियाँ हैं। ये उनके जीवनकालमें ही स्थापित हुई जान पड़ती हैं। बायीं ओर वेङ्कटपति-राय(१५८६-१६१३) की ताँबेकी मूर्त्ति है। यहाँ नवीं शताब्दीके पल्लव राजाओंके भी लेख हैं। इस मन्दिर-का बड़ा माहात्म्य है। ऐसा कहा जाता है कि रात्रि-को ब्रह्मा स्वयं आकर यहाँ पूजा कर जाते हैं और पूजाके खाली बरतनोंमें उस पूजाका पानी मिलता है, जो सबेरे कपाट खुलनेपर बाँटा जाता है। रामानुजाचार्यने अपने योगबलसे इस मूर्त्तिमें शङ्ख और चक्र जोड़ दिये थे। ये पूर्वमें वहाँ थे। इसका कारण उस समय इस झगड़ेका खड़ा होना था कि यह मूर्त्ति शैव है या वैष्णव। रामानुजाचार्यने यह आज्ञा दी कि दोनोंके चिह्न रात्रिको मूर्त्तिके पास रखकर मन्दिर बंद कर दिया जावे और मूर्त्ति स्वयं अपने योग्य चिह्न धारण कर लेगी। क्या इसका यह अर्थ है कि यह तीर्थ पहले शैव था, पीछेसे वैष्णव हो गया? तिरु-वन्नूरके विषयमें भी ऐसा ही अनुमान होता है। वेङ्कटेश्वरके मन्दिरमें बहुत बड़ा प्रभाव भरा है।

नीचेकी तिरुपतिमें श्रीगोविन्दराज स्वामी और श्रीरामचन्द्र (कोदण्डराम स्वामी) के मन्दिर हैं। इनमें भी बहुत प्रभाव भरा हुआ है।

पंढरपुर

यहाँसे हमलोग पंढरपुरको गये। दक्षिणमें मूर्त्तियों-का स्पर्श यात्री नहीं कर सकते। कालहस्तिमें पुजारी भी मूर्त्तिको नहीं छू सकता; शिवमूर्त्तिके ऊपर कवच है। पर यहाँ पंढरपुरमें और द्वारका-डाकोरमें भी हर एक यात्री मूर्त्तिके चरणमें अपना सिर लगा सकता है। इससे मूर्त्तिकी शक्ति अवश्य कम हो जाती होगी। इस मन्दिरमें भी भक्तिका प्रवाह होता है। महाराष्ट्र देशका यह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण मन्दिर है। सारे महाराष्ट्र भक्तोंका यह परम आराध्य स्थान है।

द्वारका

इसके बाद हमलोग द्वारका गये। द्वारकाके मन्दिर-का मण्डप छोटा है, उसमें अधिक यात्री नहीं समा सकते। हमारे एक साथीको अन्तरमें यह आदेश हुआ था कि द्वारका जाओ। यहाँ जा, दर्शन कर मण्डपमें बैठकर कीर्तन करनेपर उसकी समाधि लग गयी और वह ऊँचे आनन्दके लोकमें पहुँच गया, जहाँ उसे श्रीकृष्णके दर्शन हुए और यह आदेश हुआ कि जगत्‌में कीर्तनका सच्चा उद्देश्य बतलाओ। वह उद्देश्य इस आनन्दके लोकमें पहुँचना है। जागनेपर उसे सर्वत्र श्रीकृष्ण दीखने लगे थे। तबसे कीर्तनमें उसकी यही दशा हो जाती है, पर श्रीकृष्णका भाव हर प्रसङ्गपर प्रबल नहीं रहता। यहाँ मन्दिरमें रण-छोड़जीके चरणस्पर्श करनेका कर ।।)।। लगता है। स्पर्श करनेपर एक प्रकारका प्रभाव शरीरमें प्रवेश करता है। बेटद्वारकामें असल द्वारकाकी नकल है। वहाँ भी यात्रियोंसे कर लिये जाते हैं। बेटद्वारकासे

मोटरके रास्ते लौटते समय नागनाथका एक छोटा-सा मन्दिर मिलता है। इसे बारह ज्योतिर्लिङ्गोंमेंसे एक बताते हैं। नागनाथका स्थान दारुकवन कहा गया है। क्या यहाँ दारुकका वन था ?

सोमनाथ और डाकोर

द्वारकासे हमलोग सोमनाथको गये। वेरावलसे पट्टनग्राम दो मीलके लगभग समुद्रके किनारे है। इसीमें पुराना और आधुनिक सोमनाथका मन्दिर है। पुराना मन्दिर समुद्र-किनारे खुली जगहमें सुन्दर स्थानपर था। महमूद गजनीद्वारा तोड़े जानेके बाद हिंदुओंद्वारा मरम्मत करवानेपर भी वह मन्दिर दो-तीन बार और तोड़ा गया था। आधुनिक मन्दिर अहल्याबाईका बनवाया हुआ बस्तीके भीतर है, जिसके तलघरेमें असली सोमनाथका लिङ्ग है। यहाँ तीव्र प्रभावका अनुभव नहीं हुआ। पुराना मन्दिर खाली पड़ा है। एक चौकीदारकी निगरानीमें है। उसे सब देख सकते हैं। यदि नवाब साहबसे प्रार्थना की जाय तो कदाचित् वे अब उसे हिंदुओंको सौंप दे सकते हैं और उसका जीर्णोद्वार हो सकता है। मेरी रायमें हिंदुओंको इस इच्छाको स्थिर कर ऐसी प्रार्थना समय-समयपर करते रहना चाहिये। पट्टनके पास ही प्रभासक्षेत्र है, जहाँ श्रीकृष्णको व्याधाने बाण मारा था।

डाकोरजीका मन्दिर सन् १२३५ ई०के लगभग बना था। इसका सभामण्डप बड़ा है। यात्री यहाँ भी चरणस्पर्श कर सकते हैं। भक्तिका प्रवाह मन्दिरमें बहुत है। यात्री रोज बहुत बड़ी संख्यामें आते हैं।

उज्जैन और ओङ्कार-मान्धाता

उज्जैनमें महाकालका ज्योतिर्लिङ्ग है। यह नीचे तलघरेमें स्थित है। ऊपर मन्दिरमें बहुत शान्ति छायी रहती है। नीचे भी बहुत प्रभावका प्रवाह होता है। पासहीमें हरसिद्धिदेवीका मन्दिर है। यह विक्रमादित्यकी कुलदेवी कही जाती हैं। मन्दिरमें प्रवेश करते ही उसकी शक्तिका प्रवाह हम सबको मालूम होने लगा। यह शक्तिका एक प्रधान पीठ समझा जाता है। ओङ्कार-मान्धाताको मोरतक्का स्टेशनसे सात मील मोटरमें जाते हैं। यहाँ नर्मदा और कावेरी नामकी एक छोटी नदीके सङ्गमसे बने टापूमें ज्योतिर्लिङ्ग ओङ्कारेश्वरका मन्दिर है। अमरेश्वरका मन्दिर इसी पार है। अमरेश्वरके मन्दिरमें अहल्याबाईकी तरफसे प्रतिदिन ३०००० पार्थिवेश्वरोंके पूजनकी व्यवस्था है। इस मन्दिरकी दीवारपर बारहवीं शताब्दीका खुदा महिम्नःस्तोत्र है। सिद्धनाथका अधूरा मन्दिर भी देखने योग्य है। यहाँ अंग्रेजी राज्यके पूर्व पर्वतिथियोंपर कोई-कोई लोग तत्काल मोक्ष पानेके लिये पहाड़परसे कूदकर प्राण दे देते थे। इसे भृगुपतन कहते हैं और यह कलिमें वर्ज्य है। कई अंग्रेजोंने ऐसे लोगोंको मना किया, पर उस मनाईका उनपर कुछ भी प्रभाव न हुआ। ऐसा जान पड़ता था कि आत्मघातकके मनपर किसी प्रकारका प्रभाव दृढ़रूपसे बैठ गया है।

प्रेम-माधुरी

(लेखक—पं० श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी)

चलिये आप मेरे साथ वृन्दावन। शरीरसे नहीं तो मनसे ही सही। यह मत पूछिये कि वहाँ क्या है। वहाँ सब कुछ है—प्रेम है, सङ्गीत है, मिलन है, विरह है, योग है, शृङ्गार है। वहाँ क्या नहीं है? वहाँकी अनुरागमयी भूमिके कण-कणमें एक दिव्य उन्माद भरा हुआ है। वहाँके पत्ते-पत्तेमें एक विचित्र आकर्षण है। आप चाहते क्या हैं? आपकी जन्म-जन्मकी लालसा पूरी हो जायगी। वहीं तो सर्वस्व है। जीवन है वहाँ, रस है वहाँ, पूर्ण रसमें रहकर अतृप्ति है वहाँ। चलिये तो सही। वहाँकी दिव्य लताओंसे आलिङ्गित सरस रसालकी मञ्जरियोंके मकरन्दसे अंधे हुए भौंरोंको, जो अपनी चञ्चलता छोड़कर इस प्रकार उनसे लिपट गये हैं मानो कारागारमें कैद हैं, जब मलयज वायु अपने कोमल करोंसे स्पर्श करती है, बौरोंके झूलेपर मस्त हुए मिलिन्दोंको आन्दोलित करती है और वे एक साथ ही अत्यन्त मधुर दिव्य सङ्गीत गाते हुए मधु-धारा प्रवाहित करनेवाली पुष्पवती लताओंकी ओर बढ़ते हैं, तब हृदयमें कितना आनन्द होता है, उन्हें देखकर सम्पूर्ण हृदय किस प्रकार रससे सराबोर हो जाता है—यह वहीं चलकर देखिये। आप भी श्रीरूप गोस्वामीके समान मधुर कण्ठसे कूक उठेंगे—

> **सुगन्धौ माकन्दप्रकरमकरन्दस्य मधुरे**
> **विनिष्यन्दे बन्दीकृतमधुपवृन्दं मुहुरिदम्।**
> **कृतान्दोलं मन्दोन्नतिभिरनिलैश्चन्दनगिरे-**
> **र्ममानन्दं वृन्दाविपिनमतुलं तुन्दिलयति॥***

वृन्दावनमें सबसे बड़ा आनन्द तो व्रजदेवियोंके दर्शनका है। वे गाँवकी गँवार ग्वालिनें प्रेमकी मूर्तियाँ ही हैं। नगरकी बनावट उन्हें छूतक नहीं गयी है। कितनी भोली हैं वे! उस दिव्य राज्यमें कपटका तो प्रवेश ही नहीं है। केवल उनका हृदय ही दिव्य नहीं है, शरीर भी दिव्य है। देखिये, सामने यह वृन्दावन है। कितना सुन्दर है यह धाम! परन्तु आप अभी धामको मत देखिये; यह सामने जो व्रजदेवी बैठी हैं, उनको देखिये। इस समय यह ध्यान कर रही हैं। क्या यह श्रीकृष्णका ध्यान कर रही हैं? अजी, वृन्दावनमें श्रीकृष्णका ध्यान नहीं करना पड़ता। यहाँ तो वे ही इनका ध्यान करते हैं, इनके पीछे-पीछे घूमते हैं। फिर ये इतनी तन्मयतासे किस साधनामें तत्पर हैं? अच्छा, सुन लीजिये, यह इनका भोलापन है। आप सुनकर हँसेंगे; परन्तु भावपूर्ण हृदयसे तनिक देखिये तो मालूम होगा कितना गम्भीर प्रेम है। इनका हृदय इनके हाथमें नहीं है, निरन्तर श्यामसुन्दरके पास ही रहता है। इनके हृदयमें श्रीकृष्णकी बाँसुरी बजती ही रहती है, एक क्षणके लिये भी बंद नहीं होती। ये प्रतिपल उनके मधुर संस्पर्श और रूप-सुधाके पानके लिये आकुल रहती हैं। घरमें, वनमें, कुञ्जमें, नदी-तटपर—जहाँ भी ये रहती हैं, वहाँ इनका मन उसी चितचोर मोहनको देखनेके लिये मचलता रहता है। अब घरका काम-धंधा कैसे हो? इन्होंने सोचा—यह हृदयकी विवशता तो अच्छी नहीं है, इसको अपने हाथमें करना चाहिये। यह कैसे हो? बिना योग किये यह वशमें कैसे आवे? इसलिये आप योग कर रही हैं। कितना आश्चर्य है! बड़े-बड़े मुनिगण प्राणायाम आदि साधनोंके द्वारा मनको विषयोंसे खींचकर जिनमें लगाना चाहते हैं, उन्हींसे मनको हटाकर यह गोपी विषयोंमें लगाना चाहती है। बड़े-बड़े योगी जिनको अपने चित्तमें

---

* आमके बौरोंके सुगन्धित एवं मधुर मकरन्दके कारागारमें भौंरोंको बंद करके मलयाचलसे आनेवाली शीतल-मन्द-सुगन्ध वायुके द्वारा मन्द-मन्द आन्दोलित होकर वृन्दावन मेरे अनुपम आनन्दको संवर्धित कर रहा है।

तनिक-सा देखनेके लिये लालायित रहते हैं, उन्हींको यह मुग्ध गोपी अपने हृदयसे निकाल देना चाहती है ! श्रीरूप गोस्वामीने क्या ही सुन्दर कहा है—

प्रत्याहृत्य मुनिः क्षणं विषयतो यस्मिन् मनो धित्सते
बालासौ विषयेषु धित्सति ततः प्रत्याहरन्ती मनः ॥
यस्य स्फूर्तिलवाय हन्त हृदये योगी समुत्कण्ठते
मुग्धेयं किल पश्य तस्य हृदयान्निष्क्रान्तिमाकाङ्क्षति ॥

परन्तु क्या इन्हें सफलता मिल सकेगी ! ये निर्विकल्प समाधिमें स्थित हो जायँगी अथवा अपने मनको वशमें करके घरके काम-काजमें लगी रह सकेंगी ? ना, इसकी तो सम्भावना ही नहीं है। इनका हृदय एक रंगमें रँगा जा चुका है, अब इसपर दूसरा रंग चढ़नेवाला नहीं। ये जो कुछ कर रही हैं, वह तो इनके प्रेमका दिव्य उन्माद है। भला, श्रीकृष्णके विना ये जीवित रह सकती हैं ? इनका जीवन तो श्रीकृष्णमय है। आप पूछेंगे—भाई, ऐसा उच्च जीवन इन्हें कैसे प्राप्त हुआ ? यह कथा भी बड़ी विचित्र है। गाँवकी बालिका, इन्हें बरसानेके बाहरका तो कुछ पता ही न था। एक दिन इन्होंने किसीके मुँहसे कृष्णका नाम सुन लिया। बस, फिर क्या था—पूर्वकी प्रीति जग गयी। 'कृष्ण' नाममें भी कुछ अद्भुत आकर्षण है। जिनके कानोंमें यह समा जाता है, वह दूसरा कुछ सुनना ही नहीं चाहता। वह तो ऐसा चाहने लगता है कि कहीं मेरे अरबों कान हो जाते। नामने इनपर मोहनी डाली, इन्होंने अपनेको निछावर कर दिया। किया नहीं, इनका हृदय स्वयं निछावर हो गया। एक दिन ये यमुनातटपर घूम रही थीं, मुरलीकी मोहक तान सुनकर मुग्ध हो गयीं। सखियोंने एक बार श्यामसुन्दरका चित्रपट दिखा दिया, आँखें निर्निमेष होकर रूप-रसका पान करने लगीं। इन्हें मालूम न था कि ये तीनों एक ही हैं। एक हृदयकी तीनपर आसक्ति ! इन्हें बड़ी व्यथा हुई। श्रीरूप गोस्वामीने इनकी मर्मान्तक पीड़ाका इन्हींके शब्दोंमें वर्णन किया है:—

एकस्य श्रुतमेव लुम्पति मतिं कृष्णेति नामाक्षरं
सान्द्रोन्मादपरम्परामुपनयत्यन्यस्य वंशीकलः ।
एष स्निग्धघनद्युतिर्मनसि मे लग्नः पटे वीक्षणात्
कष्टं धिक् पुरुषत्रये रतिरभून्मन्ये मृतः श्रेयसी ॥*

जब इन्हें मालूम हुआ कि ये तीन नहीं हैं, एक ही हैं, तब कहीं इनके हृदयकी वेदना शान्त हुई। एक वेदना तो शान्त हो गयी, परन्तु दूसरी लग गयी। उसी दिनसे इनकी गति बदल गयी। वे कैसे मिलेंगे, इस चिन्तासे धैर्य लुप्त हो गया। बार-बार काँप उठतीं, सारे शरीरपर स्वेद-बिन्दु झलकते ही रहते, सखियोंसे यह बात छिपी न रही। उन्होंने एकान्तमें पूछा—'सखी, तुम्हें क्या हो गया है ? कौन-सी ऐसी दुर्लभ वस्तु है, जिसके लिये तुम्हें इतनी चिन्ता हो रही है ? बार-बार तुम्हारे शरीरमें रोमाञ्च हो आता है, कभी आँसू तो कभी पसीना ! इतनी गम्भीर मुद्रा, जैसी कभी नहीं देखी ! ऐसा क्यों ? हमलोगोंसे क्या अपराध हो गया है कि अपने हृदयकी वेदना हमसे नहीं बता रही हो ? क्या हम तुम्हारी अपनी नहीं हैं ? अपने लोगोंसे कोई बात छिपाना अच्छा नहीं है। यदि हम तुम्हारी कुछ सेवा कर सकें, तो हमें उसका अवसर दो। हमें हमारे सौभाग्यसे क्यों वञ्चित कर रही हो ?' इन्होंने अपनी सखियोंसे अपने हृदयकी बात कही और उन लोगोंने इन्हें वृन्दावनके कुञ्जोंमें श्रीकृष्णके दर्शन कराये।

* एक दिन किसी पुरुषका 'कृष्ण' यह दो अक्षरका नाम सुनते ही मेरी बुद्धि लुप्त हो गयी। दूसरे दिन किसी पुरुषकी वंशी-ध्वनि सुनते ही मैं उन्मादिनी हो गयी। तीसरे दिन वर्षाकालीन मेघके समान श्यामसुन्दर नवकिशोरको चित्रपटमें देखकर मेरा मन हाथसे बाहर हो गया। बड़े दुःखकी बात है, धिक्कार है मुझे—तीन-तीन पुरुषोंसे प्रेम ! मर जानेमें ही अब मेरा कल्याण है।

क्या ही सुन्दर दर्शन था ! ये श्रीकृष्णको देखकर बोल उठी थीं:—

नवमनसिजलीलाभ्रान्तनेत्रान्तभाजः
स्फुटकिसलयभङ्गीसङ्गिकर्णाञ्चलस्य ।
मिलितमृदुलमौलेर्मालया मालतीनां
मदयति मम मेधां माधुरी माधवस्य ॥

'नवीन प्रेमकी लीलाको प्रकट करनेवाले नेत्रोंकी चञ्चल चितवन, कपोलोंपर मनोहर पल्लवोंकी सुन्दर रचना, मुकुटपर मालतीकी माला—सब मधुर-ही-मधुर ! माधवकी यह माधुरी मेरे धैर्यका बाँध तोड़ रही है, मेरी मेधाको उन्मादिनी बना रही है।'

सचमुच ये उन्मादिनी हो गयीं, घरकी सुध भूल गयीं, अपने-आपको भूल गयीं। सखियाँ किसी प्रकार इन्हें घर ले गयीं, परन्तु इनकी चेष्टा ज्यों-की-त्यों बनी रही। घरवाले बड़े चिन्तित हुए—'यह क्या हो गया ? इस रोगकी क्या चिकित्सा है ? वैद्यकमें तो इसका वर्णन नहीं है। हो-न-हो कोई ग्रह लग गया है। सामने मयूरपिच्छ देखकर काँपने लगती है, गुञ्जाके दर्शनमात्रसे आँखोंमें आँसू आ जाते हैं, रोने लगती है। इसके चित्तमें अपूर्व नाट्यक्रीडाका चमत्कार उत्पन्न करनेवाला न जाने कौन-सा नया ग्रह प्रवेश कर गया है, जिससे इसकी यह दशा हो रही है !'

अग्रे वीक्ष्य शिखण्डखण्डमचिरादुत्कम्पमालम्बते
गुञ्जानां तु विलोकनान्मुहुरसौ सास्रं परिक्रोशति ।
नो जाने जनयन्नपूर्वनटनक्रीडाचमत्कारितां
बालायाः किल चित्तभूमिमविशत् कोऽयं नवीनग्रहः ॥

यह ग्रह और कोई नहीं है, श्रीकृष्ण ही हैं। जिसके चित्तमें वे प्रवेश कर जाते हैं, उसकी ऐसी ही दशा हो जाती है। वह न लोकका रहता है न परलोकका। कम-से-कम लोक और परलोकका स्वार्थ रखनेवालोंके लिये तो वह बेकार हो ही जाता है। एक सखीने श्रीकृष्णके पास जाकर इनकी सारी कथा सुनायी। 'श्रीकृष्ण ! यदि कहीं दूरसे भी प्रसङ्गवश तुम्हारे नामके अक्षर उसके कानोंमें पड़ जाते हैं, तो हमारी प्यारी सखी सिसक-सिसक कर रोने और काँपने लगती है। और तो क्या कहूँ, कहीं संयोगवश नये-नये श्याम मेघ उसके सामने आ जाते हैं तो वह उन्हें प्राप्त करनेके लिये इतनी उत्सुक हो जाती है कि तत्क्षण उसके चित्तमें पंख प्राप्त करनेकी इच्छा हो आती है—

दूरादप्यनुषङ्गतः श्रुतिमिते त्वन्नामधेयाक्षरे
सोन्मादं मदिरेक्षणा विरुवती धत्ते मुहुर्वेपथुम् ।
आः किं वा कथनीयमन्यदसिते दैवान्नवाम्भोधरे
दृष्टे तं परिरब्धुमुत्सुकमतिः पक्षद्वयीमिच्छति ॥

नन्दनन्दन श्यामसुन्दरको जिसने एक बार भर आँख देख लिया, उसको फिर तृप्ति कहाँ। वह तो उन्हें देखे विना रह ही नहीं सकता। एक-एक क्षण कल्पके समान हो जाता है। प्रतिक्षण प्यास बढ़ती ही जाती है और बार-बार मनमें यही आता है कि हा ! अबतक श्रीकृष्ण नहीं आये, उनके विना यह जीवन निस्सार है। श्रीकृष्णके आनेमें थोड़ा-सा विलम्ब होनेपर इन्होंने अपनी सखीसे कहा:—

अकारुण्यः कृष्णो यदि मयि तवागः कथमिदं
मुधा मा रोदीर्मे कुरु परमिमामुत्तरकृतिम् ।
तमालस्य स्कन्धे सखि कलितदोर्वल्लरिरियं
यथा वृन्दारण्ये चिरमविचला तिष्ठति तनुः ॥

'हे सखी ! यदि श्रीकृष्ण मेरे लिये निष्ठुर हो गये, वे अबतक नहीं आये, तो इसमें तुम्हारा क्या अपराध है ? तुम व्यर्थ उदास मत होओ, रोओ मत। आगेका काम देखो। ऐसा उपाय करो कि इस श्यामवर्ण तमालवृक्षके तनेमें मेरी भुजाएँ लिपटी हुई हों और

मेरा यह शरीर चिरकालतक वृन्दावनमें ही अविचल-रूपसे रहे।'

यहाँ इन व्रजदेवीकी यह दशा थी, उधर श्रीकृष्ण पश्चात्ताप कर रहे थे। वे सोच रहे थे—'मैंने निष्ठुरता की। कहीं उनके कोमल हृदयका प्रेमाङ्कुर सूख न जाय। प्रेमके आवेशमें आकर वह कहीं शरीर न छोड़ दे। उसकी फली-फूली मनोरथ-लता कहीं मुरझा न जाय।' उन्होंने आकर देखा, तमाल वृक्षकी आड़में खड़े होकर देखा, यहाँ प्राणत्यागकी पूरी तैयारी है। व्रजदेवी कह रही हैं:—

यस्योत्सङ्गसुखाशया शिथिलिता गुर्वी गुरुभ्यस्त्रपा
प्राणेभ्योऽपि सुहृत्तमाः सखि तथा यूयं परिक्लेशिताः।
धर्मः सोऽपि महान् मया न गणितः साध्वीभिरध्यासितो
धिग्धैर्य्यं तदुपेक्षितापि यदहं जीवामि पापीयसी॥

'जिसके उत्सङ्ग-सुखके लिये मैंने गुरुजनोंकी बड़ी भारी लाज छोड़ दी; सखियो! जिनके लिये तुम-लोगोंको, जो कि हमारे प्राणोंसे भी अधिक प्रिय हो, इतना क्लेश दिया; जिनके लिये सती-साध्वी स्त्रियोंद्वारा अनुष्ठित महान् धर्मका भी मैंने आदर नहीं किया, उन्हींके द्वारा उपेक्षित होनेपर भी मैं जीवित हूँ, मैं पापिनी हूँ। मेरे धैर्यको धिक्कार है!'

इस प्रकार कहते-कहते व्रजदेवी तमालसे लिपटनेके लिये अधीरभावसे दौड़ीं; परन्तु यह क्या? तमालका स्पर्श भी कहीं इतना शीतल होता है? यह मधुर संस्पर्श तो प्राणोंमें मृत्युके बदले अमृतमय जीवनका सञ्चार कर रहा है! आँखें खोलीं तो देखा यह तो तमाल नहीं, श्रीकृष्ण हैं। एक साथ ही अनेकों प्रकार-के भाव उठे और तत्क्षण विलीन हो गये। हृदयमें आश्चर्य, प्रेम और आनन्दकी बाढ़ आ गयी। शरीर स्थिर हो गया, आँखें जम गयीं, मानो अब देखते ही रहना है। ऐसी निधि पाकर उसे आँखोंसे ओझल कौन करे। निर्निमेष नयनोंसे रूप-रसका पान करने लगीं। श्रीकृष्ण बहुत देरतक रहे—हँसे, खेले, बोले, अनेकों प्रकारकी लीला करते रहे; परन्तु वे बड़े खिलाड़ी हैं, आँखमिचौनी खेलनेमें तो उनका कोई सानी नहीं है। वे फिर आनेका वादा करके चले गये, वे यहाँ रहकर भी छिप गये, वे यहाँ रहकर भी छिपे हुए हैं। ऐसी ही उनकी लीला है। उनके जानेपर, सखियोंके बहुत सचेत करनेसे ये घर गयीं। परन्तु घरके कर्तव्योंको कौन सँभालता, मन तो इनके हाथमें था ही नहीं। इन्होंने सोचा योग करनेसे मन वशमें होता है; चलो, अब योग ही करें। यह अपने चित्तको श्रीकृष्णके पाससे खींचनेके लिये, या यों कहिये कि श्रीकृष्णको अपने चित्तसे निकालनेके लिये योग कर रही हैं। परन्तु क्या यह सम्भव है? चित्तमें कोई आ जाय तो उसे निकाल सकते हैं, चित्त कहीं चला जाय तो उसे खींच सकते हैं। देवी, तुम अब क्या कर रही हो यह? जो चित्त हो गया है, जिसके विना चित्तकी सत्ता ही नहीं है, उसको तुम चित्तमेंसे कैसे निकाल सकोगी? अस्तु, यह भी तो प्रेम ही करा रहा है! प्रेमका ऐसा ही कुछ स्वरूप है।

नन्दनन्दन श्रीकृष्णका प्रेम जिसके चित्तमें उदय होता है, उसके द्वारा कितनी ही उल्टी-सीधी चेष्टाएँ होने लगती हैं। क्योंकि इसमें विष और अमृत दोनोंका अपूर्व सम्मिश्रण है। पीड़ा तो इसमें इतनी है कि इसके सामने नये कालकूट विषका गर्व भी खर्व हो जाता है। आनन्दका इतना बड़ा उद्गम है यह प्रेम कि अमृतकी मधुरिमाका अहङ्कार शिथिल पड़ जाता है। श्रीरूप गोस्वामीने इसका वर्णन करते हुए कहा है:—

पीडाभिर्नवकालकूटकटुतागर्वस्य निर्वासनो
निष्यन्देन मुदां सुधामधुरिमाहङ्कारसङ्कोचनः।
प्रेमा सुन्दरि नन्दनन्दनपरो जागर्त्ति यस्यान्तरे
ज्ञायन्ते स्फुटमस्य वक्रमधुरास्तेनैव विक्रान्तयः॥

इतना ही नहीं, प्रेमकी गति और भी विलक्षण है। क्योंकि प्रेम तो अपने-आपकी मस्ती है, उसमें किसी दूसरेकी अपेक्षा नहीं है। कोई कुछ भी कहे, सुने, करे, प्रेमी अपने ढंगसे सोचता है। प्रियतमकी स्तुति सुनकर जहाँ प्रसन्न होना चाहिये, वहाँ प्रेमी कभी-कभी उससे तटस्थ हो जाता है; वह सब सुन-सुनकर उसके चित्तमें व्यथा होने लगती है। प्रियतमकी निन्दा सुनकर जहाँ दुःख होना चाहिये, वहाँ प्रेमी सुखका अनुभव करने लगता है—उन बातोंको परिहास समझकर। दोषके कारण उसका प्रेम क्षीण नहीं होता, गुणोंके कारण बढ़ता नहीं; क्योंकि वह तो आठों पहर एकरस, एक-सा रहता है। अपनी महिमामें प्रतिष्ठित, अपने स्वरसमें डूबा हुआ नैसर्गिक प्रेम कुछ ऐसा ही होता है—कुछ ऐसी ही उसकी प्रक्रिया है। श्रीरूप गोस्वामीके शब्दोंमें—

स्तोत्रं यत्र तटस्थतां प्रकटयच्चित्तस्य धत्ते व्यथां
निन्दापि प्रमदं प्रयच्छति परीहासश्रियं बिभ्रती।
दोषेण क्षयितां गुणेन गुरुतां केनाप्यनातन्वती
प्रेम्णः स्वारसिकस्य कस्यचिदियं विक्रीडति प्रक्रिया

प्रेम-नगरकी रीति ही निराली है, स्थूल लोककी मर्यादाएँ उसके बाहरी फाटकतक भी नहीं फटक पातीं। अपने प्रियतमको अपने हृदयसे निकालनेके लिये योग! भला, यह भी कोई प्रेम है? हाँ, अवश्य ही यह प्रेम है। शुद्ध प्रेम है। इसीसे तो श्रीकृष्ण इनके बुलानेसे बोलते हैं, हँसानेसे हँसते हैं, खिलानेसे खाते हैं। श्रीकृष्ण इनके जीवन-प्राणसे एक हो गये हैं, वे अपने श्रीकृष्णको प्राणोंसे अलग करना चाहती हैं। इसका अर्थ है कि वे उन प्राणोंको छोड़ देना चाहती हैं, जो विना श्रीकृष्णके भी जीवित हैं। इनका यह योग तभीतक चल सकता है, जबतक श्रीकृष्णकी बाँसुरी नहीं बजती। जिस समय विश्वविमोहन मोहन-की मुरली बज उठेगी, उस समय इनकी सब योग-समाधि भूल जायगी। इतनी मधुरिमा है उसमें कि बड़े-बड़े समाधिनिष्ठ योगी इस बातकी अभिलाषा किया करते हैं कि वंशीकी मधुरध्वनि कब मेरी समाधि तोड़ेगी। वंशीध्वनिके सम्बन्धमें जानते हो न, वह क्या-क्या कर गुजरती है इस संसारमें—

रुन्धन्नम्बुभृतश्चमत्कृतिपरं कुर्वन्मुहुस्तुम्बुरुं
ध्यानादन्तरयन् सनन्दनमुखान् विस्मापयन् वेधसम्।
औत्सुक्यावलिभिर्बलिं चटुलयन् भोगीन्द्रमाघूर्णयन्
भिन्दन्नण्डकटाहभित्तिमभितो बभ्राम वंशीध्वनिः॥

'जब वंशी बजती है, तब बादलोंका गति-रोध हो जाता है। सङ्गीत-सम्राट् तुम्बुरु गन्धर्व बार-बार चमत्कृत हो उठते हैं। सनक, सनन्दन आदिके हृदयमें रसका समुद्र उमड़ने लगता है और वे अपनी सब ध्यान-धारणा छोड़ बैठते हैं। ब्रह्मा चकित, स्तम्भित, विस्मित होकर कहने लगते हैं—'मेरी सृष्टिमें इतना माधुर्य कहाँ!' रसातलके एकच्छत्र अधिपति दैत्यराज बलिका चित्त उत्सुकताकी परम्परासे अस्थिर हो जाता है। शेषनाग आघूर्णित होने लगते हैं। अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंका घेरा तोड़-फोड़कर सम्पूर्ण जगत्में परिव्याप्त हो जाती है यह वंशीध्वनि।'

वंशीकी इस उन्मादक स्वर-लहरीके स्पर्शसे अपनेको कौन नहीं भूल जाता? इसीके द्वारा निखिल जगत्का चुम्बन करके श्रीकृष्ण एक गुदगुदी उत्पन्न किया करते हैं, सोये हुए प्रेमको जगाया करते हैं।

अभी जो यह ध्यान कर रही हैं, उनकी यह स्थिति है कि यह अपने चित्तको श्रीकृष्णसे अलग करना चाहती हैं और इनका चित्त अणु-अणुमें, परमाणु-परमाणुमें श्रीकृष्णको ही देख रहा है। इनका प्रेमोन्मत्त चित्त प्रत्येक ध्वनिको श्रीकृष्णकी ध्वनि समझ रहा है, प्रत्येक स्पर्शको श्रीकृष्णका स्पर्श समझ रहा है, इनके हृदयकी आँखें श्रीकृष्णके ही मोहक रूपरसको पीकर छक रही हैं और नासिकामें वही उन्मादक दिव्य

सुगन्ध भर रही है। इनके बार-बार मना करनेपर भी मन उन्हींके साथ क्रीड़ा करने लगता है और यह भी उसीमें तन्मय हो जाती हैं। घंटोंतक आत्मविस्मृत रहनेके बाद एकाध बार इन्हें अपनी अवस्थाका ध्यान हो आता है और तब यह अपने चित्तको उधरसे खींचना चाहती हैं। परन्तु यह योग-साधना क्या उन्हें श्रीकृष्णसे अलग कर सकती है? अजी, योग-साधनामें क्या रक्खा है, संसारकी कोई भी शक्ति इन्हें श्रीकृष्णसे अलग नहीं कर सकती। और तो क्या, स्वयं श्रीकृष्ण भी इन्हें अपनेसे अलग नहीं कर सकते।

जानते हो इस समय श्रीकृष्णकी क्या दशा होगी? इनका यह प्रेमोन्माद क्या उनसे छिपा होगा? नहीं, नहीं, वे सब जानते हैं, अपने प्रेमियोंकी अनिर्वचनीय स्थिति देखकर स्वयं मुग्ध होते रहते हैं। अपने प्रेमियों-के प्रेमको जगानेके लिये ही तो उनकी आँखसे ओझल हो जाते हैं। वे अब भी कहीं यहीं होंगे। इन व्रजदेवी-की जैसी प्रेममयी स्थिति है, वैसी ही उनकी भी होगी। उन्हें सर्वत्र गोपियोंका ही दर्शन होता होगा। अब वे आते ही होंगे। देखो न, वह आ रहे हैं। वह फहराता हुआ पीताम्बर, मन्द-मन्द पद-विन्यास, हाथमें बाँसुरी, मेघश्याम श्रीविग्रह, मन्द-मन्द मुसकान, प्रेमभरी चितवन, अनुग्रहपूर्ण भौंहें, उन्नत ललाट, गोरोचनका तिलक, काले-काले घुँघराले बाल, मयूरपिच्छका मुकुट—सब-का-सब आँखोंमें, प्राणोंमें, हृदयमें और आत्मामें दिव्य अमृतका सञ्चार कर रहा है। देखो तो कुछ गाते हुए आ रहे हैं। हमलोग अलग होकर सुनें और उनकी लीलाओंका आनन्द लें। अच्छा, क्या गुनगुना रहे हैं!

> राधा पुरः स्फुरति पश्चिमतश्च राधा
> राधाधिसव्यमिह दक्षिणतश्च राधा।
> राधा खलु क्षितितले गगने च राधा
> राधामयी मम बभूव कुतस्त्रिलोकी॥

मेरे सामने राधा है, मेरे पीछे राधा है; मेरे बायें राधा है, मेरे दाहिने राधा है; पृथिवीमें राधा है, आकाशमें राधा है—यह सम्पूर्ण त्रिलोकी मेरेलिये राधामय क्यों हो गयी!*

स्वप्नमें प्रियतमके दर्शन

सोवत ही पलकामें मैं तो,
पलक लगी, पलमें पिव आये।
मैं जु उठी प्रभु आदर देनकूँ,
जाग पड़ी, पिव ढूँढ़ न पाये॥१॥
और सखी पिव सोइ गमाये,
मैं जु सखी पिव जागि गमाये।
मीराके प्रभु गिरधर नागर,
सब सुख होय स्याम घर आये॥२॥

—मीराबाई

---

* पूज्यपाद श्रीरूप गोस्वामीके विभिन्न प्रसङ्गोंके श्लोक मैंने अपने ढंगसे बैठा लिये हैं, सहृदयजन मेरी इस ढिठाईपर ध्यान न दें। —लेखक

रामचरितमानसमें सेवा-भाव

(लेखक—पं० श्रीलक्ष्मीधरजी आचार्य)

गोस्वामी तुलसीदासजीके ग्रन्थोंका सूक्ष्म अध्ययन करनेपर भी यह निर्णय करना किञ्चित् कठिन हो जाता है कि प्रधानतया वे उपदेष्टा हैं या कवि। उनकी काव्य-रचनामें कल्पनाके स्वर्ण-शिखरोंका सौन्दर्य भी है, समाज एवं अध्यात्मनीतिके विशाल स्तम्भोंकी पुष्टता भी। अनुभूतिकी उज्ज्वल स्निग्धता उनकी कृतियोंमें एक अनिर्वचनीय आकर्षणकी सृष्टि करती है। उनके पूर्ववर्त्ती कबीरकी रचना-भूमिपर नाना उपदेशोंके छोटे-बड़े शिलाखण्ड अव्य-वस्थित बिछे पड़े हैं। उनमें कुछ कविकी संवेदना पाकर इतने निर्मल हो गये हैं कि उनका मूल्य-निर्धारण असम्भव है। किन्तु रसात्मकताकी न्यूनता-के कारण कबीरमें न निर्माण-सौन्दर्यकी प्रचुरता है न रूक्षताका अभाव ही। सूरदासजीमें कलाका लाघव और अनुभूतिका वेग दोनों ही हैं, पर उनका क्षेत्र सीमित है। गोस्वामीजीमें कबीरकी नीति-निष्ठाके साथ-साथ सूरकी भावुकता और कलाप्रियता भी है। इन दोनोंमें सामञ्जस्य-स्थापना ही उनका विशेष गुण है। फिर भी रामचरितमानस-जैसे अपूर्व ग्रन्थके प्रणयनमें एक महान् उद्देश्य निहित है, जो निःसन्देह धार्मिक है।

रेवरेंड एड्विन ग्रीव्जने एक स्थानपर लिखा है कि गोस्वामीजीका एकमात्र लक्ष्य श्रीसीतारामकी विमल कीर्तिकी स्थापना करना है। प्रायः सभी लेखक अपने आदर्श नायकको लोकप्रिय बनानेका प्रयत्न करते हैं। भारतीय श्रव्य एवं दृश्य काव्योंमें यह प्रेरणा अत्यधिक स्पष्ट है। आदिकवि वाल्मीकिसे लेकर आजतकके जितने मनीषी कवियोंने रामचरित्रको अपनी रचनाका आधार बनाया है, उनमें प्रायः समीने अपने कथानायकमें किसी-न-किसी रूपसे अलौकिकता-का आरोप किया है। किन्तु तुलसीके राम और उन राममें तुलसीकी तन्मयता सबसे भिन्न है। निर्वि-कार, निराकार परब्रह्म परमेश्वरको ही अपने नायकमें पूर्ण प्रतिष्ठित करके कवि अपने ही आदर्शकी गुरुतामें मानो अभिभूत हो गया है। रामचरितमानसके कई स्थलोंपर उन्होंने अवतारवादका प्रतिपादन किया है। उनके मतसे—

> ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद।
> सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या कें गोद॥
>
> × × ×
>
> ब्यापक अकल अनीह अज निर्गुन नाम न रूप।
> भगत हेतु नाना बिधि करत चरित्र अनूप॥

तुलसीके राममें ईश्वरका केवल विशेष अंश नहीं है। वे स्वयं सच्चिदानन्द ब्रह्म हैं। निर्गुण एवं असीम जब सगुण और ससीम बनकर हमारे सम्मुख उप-स्थित है, तब उसकी उपलब्धिका मार्ग केवल भक्ति है। ज्ञानका आश्रय अतीन्द्रियके अनुभवके लिये है। कर्मका महत्त्व भगवान्के व्यापक तथा द्रष्टा होनेके कारण है। स्वयं निराकार जब हमारे ही लिये, हमारे ही द्वारपर, हमारे ही वेषमें हमें ही पुकार रहा है, तब समाधिकी व्यवस्था विडम्बना है; निष्काम कर्मका प्रयास भी निष्फल है। तब कौन साधक नतमस्तक, सजलनेत्र, गद्गदकण्ठ, रोमाञ्चितदेह, आनन्दातिरेककी तन्मयतामें मूर्च्छित होकर इष्टदेवकी चरण-रजपर बलिहार न हो जायगा! इसीलिये गोस्वामीजीके अमर काव्यका स्थायिभाव भक्ति है, यद्यपि उसमें ज्ञान या कर्मका बहिष्कार नहीं है।

भक्तिका मूल तत्त्व सेवा है। भक्तवर प्रह्लादकी

नवधा भक्तिमें 'पादसेवनम्' एवं 'दास्यम्' का जो महत्त्व है वह श्रवण, कीर्तन, स्मरण, अर्चन, वन्दन, सख्य अथवा आत्मनिवेदनका नहीं। देवताका उत्कर्ष भक्तके प्रणति-भावमें ही निहित है। नतिका पोषण सेवासे ही होता है। सेवाधर्मकी गुरुताका एक कारण यह है कि सेवकको निजत्वका त्याग भी करना पड़ता है और अपने 'सर्वस्व' का इष्टदेवके प्रति समर्पण भी। सेवकका सबसे बड़ा पुरस्कार सेवा ही है। इसीलिये भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

> सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत।
> दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥

और सेवा कर सकनेका पुरस्कार पाकर और कुछ पानेकी आकाङ्क्षा ही नहीं रहती। सेवा स्वयं अपना कारण, कार्य और फल है। मानवकी अन्तर्वृत्तियोंमें परमार्थके लिये स्वार्थत्यागकी जो संस्कारगत भावना अनादि कालसे स्पन्दित है, वही हमें अनिष्टके निरसन और अभीष्टकी उपलब्धिके लिये प्रवृत्त करती है। सेवा इसी भावनाका एक पर्याय है।

श्रीरामचरितमानसमें आदिसे अन्ततक कविकी अनुभूति दशरथ-पुत्र श्रीरामचन्द्रमें परमेश्वरत्वकी प्रतिष्ठा करने तथा भक्तिद्वारा उन्हें प्राप्त करनेके प्रयत्नमें संलग्न है। वह मानो प्रत्येक शब्द, प्रत्येक अक्षरसे यही घोषित करना चाहता है कि राम मनुष्य नहीं हैं; वेद जिनके लिये 'नेति' कहते हैं, योगिजन समाधिमें जिनका दर्शन पाना चाहते हैं, जो इस ब्रह्माण्डके एकमात्र कर्त्ता, भर्त्ता एवं हर्त्ता हैं, वही राम बनकर 'भगत हेतु' और 'भगति बस' इस पृथ्वीतलपर अवतरित हुए हैं। पार्वती-शङ्कर, याज्ञवल्क्य-भरद्वाज तथा काकभुशुण्डि-गरुड़के जिन संवादोंकी भित्तिपर गोस्वामीजीकी कथा अवलम्बित है, उनका भी एकान्त ध्येय शङ्काकुल भक्तोंका सन्देह-निवारण ही है। रामचरित्रपर अपना ग्रन्थ आश्रित करनेवाले किसी दूसरे कविमें अपने नायकके लिये भावुकताकी इतनी कसमसाहट नहीं है। राममें ब्रह्मत्वका निरूपण करके इष्टदेवके चरणोंपर गोस्वामीजी स्वयं ही नतमस्तक नहीं हैं; वे अपनी उक्तियोंद्वारा सम्पूर्ण सचराचरको भक्तिसे ओतप्रोत देखना चाहते हैं—मानो श्रद्धाके अभावमें मोहाविष्ट प्राणी दूसरे ही क्षण नारकीय विभीषिकाओंकी ज्वालामें स्वाहा हो जायँगे, और मानो अपने प्रचारद्वारा उनका हृदय परिवर्तन न कर सकनेके ही कारण अनन्त कालतक कविकी अन्तरात्मा एक विषाक्त ग्लानिके तुषानलमें जलकर क्षार होती रहेगी। यही कारण है कि कथानकके बीच-बीच जहाँ कहीं तनिक भी अवसर मिला है, रामको ईश्वर कहके गुसाईंजीने उनकी भक्तिका निरूपण किया है। सूरकी भाँति तुलसी अपने इष्टदेवके सखा नहीं हैं, वे दासानुदास हैं— सेवकोंके भी सेवक हैं।

भक्तिपरक धर्ममें लोग वैयक्तिकता एतदर्थ संकीर्णताका दोषारोपण करते हैं। किन्तु तुलसीकी भक्तिका क्षेत्र अत्यधिक विस्तीर्ण है। भगवान् श्रीरामचन्द्रजी शबरीसे कहते हैं—

> नवधा भगति कहउँ तोहि पाहीं। सावधान सुनु धरु मन माहीं॥
> प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा॥
> गुर पद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान।
> चौथि भगति मम गुन गन करइ कपट तजि गान॥
> मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा। पंचम भजन सो बेद प्रकासा॥
> छठ दम सील बिरति बहु करमा। निरत निरंतर सज्जन धरमा॥
> सातवँ सम मोहि मय जग देखा। मोतें संत अधिक करि लेखा॥
> आठवँ जथालाभ संतोषा। सपनेहुँ नहिं देखइ पर दोषा॥
> नवम सरल सब सन छलहीना। मम भरोस हियँ हरष न दीना॥

इस भक्तिमें व्यक्तिका उत्कर्ष केवल व्यक्तिके लिये नहीं है। 'व्यष्टि' के उत्थानका एकमात्र ध्येय 'समष्टि' का मङ्गल है। गुसाईंजीकी इस भक्ति-प्रणालीद्वारा 'श्रेयस्' की प्राप्ति करके भक्त समाजकी उपेक्षा कर ही नहीं सकता। सागरकी प्रत्येक लहरकी प्रतिक्रिया

अणुराशिके कण-कणमें विद्यमान है। इसी प्रकार व्यक्तिगत चरित्रके अभ्युत्थानसे सृष्टिका कोई भी अंश अक्षुण्ण नहीं रह सकता। भक्तसे उपेक्षित होनेपर भी, भक्तके अस्तित्वमात्रसे संसारका कल्याण सम्भव है। फिर, गोसाईंजी तो भक्तको समाज-सेवाके लिये प्रवृत्त करते हैं। उनका भक्त देव-विग्रहके सम्मुख संसृतिसे पराङ्मुख होकर नहीं बैठ सकता। जिस प्रणति एवं सेवासे वह अपने इष्टदेवको करुणार्द्र करना चाहता है, वही प्रणति और सेवा 'तापतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्' के लिये व्यय करनी पड़ेगी; क्योंकि तुलसीके इष्टदेव यथार्थमें विश्व-देव ही हैं। इसीलिये उनके भगवान्‌का भक्तके प्रति आदेश है—'मोहि मय जग देखा।'

भक्तिका चरम विकास अनन्यताके भावमें है। साध्यसे परे साधककी—भगवान्‌से इतर भक्तकी कोई दूसरी गति नहीं है—यह भावना जब एकान्त अनुभव और तर्कहीन प्रत्ययसे पुष्ट होकर साधनाका पथ-निर्देश करती है, तभी अर्चनाकी एकनिष्ठामें तन्मयताका आविर्भाव होता है। भक्ति-पद्धतिकी यह एकान्तता तुलसीदासजीके लिये सङ्कुचित नहीं है। यह सत्य है कि उन्हें भगवत्प्राप्तिके समस्त मार्गोंमें भक्ति ही अभीष्ट है, भक्तिमें सेवा-भावपर ही उनका आश्रय है और 'सेवक प्रिय अनन्य गति सोऊ' के अनुसार उनकी सेवामें अनन्यताका ही रंग है; किन्तु इस अनन्यताकी उज्ज्वलतामें सृष्टिके सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणुकी भी उपेक्षाका कलङ्क नहीं है। कारण, उनके इष्टदेवका व्यापकत्व सम्पूर्ण सचराचरको आत्मसात् किये है। किष्किन्धाकाण्डमें हनुमान्‌जीसे भगवान् श्रीराम स्वयं कहते हैं—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

भगवान्‌के इस विराट् रूपकी पूजा भक्तिको संकीर्णताके कारा-बन्धनसे मुक्त कर व्यापकत्वके विस्तृत क्षेत्रमें प्रतिष्ठित करती है। गोस्वामीजीकी साकारोपासना ही भक्तिकी इस विस्तीर्णतामें करुणाके शत-शत उच्छ्वासोंसे स्पन्दित है। अनेक मतामतोंमें सामञ्जस्य स्थापनकी भावना गुसाईंजीका प्रधान गुण है; इसीलिये उनके ग्रन्थोंमें विरोधी सिद्धान्तोंपर आक्षेप नहीं है। उनकी व्याख्यासे उन्होंने केवल अपने मतकी पुष्टि की है। 'नाना-पुराण-निगमागम' से, जो प्रायः परस्पर-विरोधी हैं, उन्होंने अपनी कथा-वस्तुका संग्रह और अपने विचारोंका प्रतिपादन किया है। भगवत्प्राप्तिके जितने मार्ग हैं, उनकी सुविधा एवं कठिनाइयोंका सङ्केत करके अपने मार्गकी प्रशस्तताका प्रतिपादन ही उनका लक्ष्य है। इसी कारण उनकी आलोचनामें न आघातका अमर्ष है न व्यंग्यकी कटुता। उनके तर्क-प्रहार प्रतिवादियोंको तिलमिलाते नहीं हैं। वे प्रायः शुभ कामनाकी कोमलतासे थपथपाते हैं, जिसमें विरोधके प्रति आदरकी भावना भी है, पराजित विरोधीके प्रति सहानुभूति भी। उनका ध्येय प्रतिद्वन्द्वीका हृदय-परिवर्तन है। वे दूसरोंको अपने मार्गपर केवल इसलिये नहीं लाना चाहते कि वे उसके प्रदर्शक हैं अथवा शास्त्रार्थद्वारा उसकी उत्तमता सिद्ध हो गयी है। वे जानते हैं कि उनकी पद्धतिमें प्राणिमात्रका कल्याण निहित है, इसीलिये सेवा-भावकी प्रेरणासे वे प्रतिगामियोंको अपनी ओर आकर्षित करते हैं। इतने उन्नत आदर्शको लेकर आजतक कोई दूसरा कवि निजत्वके गौरवको पददलित करता वाणी-मन्दिरमें प्रविष्ट नहीं हुआ।

राममें ब्रह्मत्वकी, उनकी प्राप्तिके साधनोंमें भक्तिकी और भक्तिमें सेवाकी प्रतिष्ठा कर देनेपर भी गोस्वामीजी अपने पात्रोंको वर्णाश्रमविहित लोकधर्मकी मर्यादाका अतिक्रमण नहीं करने देते। मनुष्ययोनिमें अवतीर्ण होनेके नाते राममें मानवचरित्रका ही विकास दिखाया गया है। जलदश्यामल उनके मनुष्यरूपमें कहीं-कहीं अलौकिकताका विद्युत्-प्रकाश भी भक्तोंके दर्शनाकुल

नेत्रोंमें चकाचौंध भरता है। फिर भी, परमेश्वर होनेकी गरिमा दशरथ-पुत्र होनेके आधारपर ही अवस्थित है। रामको ईश्वरावतार मानकर स्वयं रामानुजी वैष्णव साधु होनेके कारण वे रामचरितमानसको साधुधर्मके महत्त्वसे ही परिपूर्ण कर सकते थे। पर उनके ग्रन्थमें स्थान-स्थानपर जहाँ संसारत्यागी संतोंकी प्रशंसा है, वहाँ वर्णाश्रम-अनुयायी गृहस्थोंकी उपेक्षाका लवलेश भी नहीं है। लोकधर्म और संतधर्मका समन्वय ही मानो उनके काव्यकी भूमिका है। इस समन्वयका एकमात्र आलम्बन सेवाभाव ही है। हिन्दूधर्ममें चतुर्वर्णकी परम्परा पारस्परिक एवं सामूहिक सेवाकार्योंपर ही निर्भर है। अपने पात्रोंके चरित्र-चित्रणसे यह बात गोस्वामीजीने पूर्णतया स्पष्ट कर दी है। 'भगत हित' एवं प्राणिमात्रके कल्याणार्थ ही रामने अवतार लिया। संतोंका आदर्श बतलाते हुए उत्तरकाण्डमें काकभुशुण्डिजी गरुड़जीसे कहते हैं—

पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया॥
संत सहहिं दुख पर हित लागी। पर दुख हेतु असंत अभागी॥
भूर्ज तरू सम संत कृपाला। पर हित निति सह बिपति बिसाला॥

और अन्तमें उनकी अभ्यर्थना करते हुए गरुड़जीने भी कहा है—

संत बिटप सरिता गिरि धरनी। पर हित हेतु सबन्हि कै करनी॥
संत हृदय नवनीत समाना। कहा कबिन्ह पै कहै न जाना॥
निज परिताप द्रवइ नवनीता। पर दुख द्रवहिं सुसंत पुनीता॥

इस स्वार्थत्याग और परमार्थचिन्तनके महातीर्थमें ही विभिन्न धर्मोंकी नाना धाराओंका पुण्य-सङ्गम है। श्रीरामचरितमानसके प्रायः सभी आदर्श पात्र 'त्यक्तेन भुञ्जीथाः' के ही अनुयायी हैं और दुश्चरित्र व्यक्ति स्वार्थ-भावनाके साकार प्रतीक। 'सर्वभूतहिते रताः' ही गोस्वामीजीकी दृष्टिमें महान् और उदारचेता हैं। उन्हींके अनुकरणका आदेश उनकी कविताकी अन्तर्ध्वनि है।

श्रीगोस्वामीजीके सेवाभावमें केवल भक्तकी प्रेरणा नहीं है, भगवान्की भी अभिरुचि है। मानसमें इसी लिये श्रीरामने कई स्थलोंपर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूपमें भक्ति और भक्तिमें सेवाका अनुमोदन किया है। उत्तरकाण्डमें काकभुशुण्डिजीका मोह-निवारण करके उन्होंने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है—

मम माया संभव संसारा। जीव चराचर बिबिधि प्रकारा॥
सब मम प्रिय सब मम उपजाए। सब ते अधिक मनुज मोहि भाए॥
तिन्ह महँ द्विज द्विज महँ श्रुतिधारी। तिन्ह महुँ निगम धरम अनुसारी॥
तिन्ह महँ प्रिय बिरक्त पुनि ग्यानी। ग्यानिहु ते अति प्रिय बिग्यानी॥
तिन्ह ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा। जेहि गति मोरि न दूसरि आसा॥
पुनि पुनि सत्य कहउँ तोहि पाहीं। मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं॥
भगति हीन बिरंचि किन होई। सब जीवहु सम प्रिय मोहि सोई॥
भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी॥

सुचि सुसील सेवक सुमति प्रिय कहु काहि न लाग।
श्रुति पुरान कह नीति असि सावधान सुनु काग॥

और भी—

एक पिता के बिपुल कुमारा। होहिं पृथक गुन सील अचारा॥
कोउ पंडित कोउ तापस ग्याता। कोउ धनवंत सूर कोउ दाता॥
कोउ सर्बग्य धर्मरत कोई। सब पर पितहि प्रीति सम होई॥
कोउ पितु भगत बचन मन कर्मा। सपनेहुँ जान न दूसर धर्मा॥
सो सुत प्रिय पितु प्रान समाना। जद्यपि सो सब भाँति अयाना॥
एहि बिधि जीव चराचर जेते। त्रिजग देव नर असुर समेते॥
अखिल बिस्व यह मोर उपाया। सब पर मोरि बराबरि दाया॥
तिन्ह महँ जो परिहरि मद माया। भजै मोहि मन बच अरु काया॥

पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ।
सर्ब भाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ॥
सत्य कहउँ खग तोहि सुचि सेवक मम प्रान प्रिय।
अस बिचारि भजु मोहि परिहरि आस भरोस सब॥

उपर्युक्त उद्धरणमें केवल सिद्धान्त-प्रतिपादनकी युक्ति नहीं है, कविकी सजग संवेदना भी है। स्वयं इष्टदेव जब अपनी प्राप्तिका मार्ग-सङ्केत करते हैं, तब भक्तके लिये कोई अन्य गति सम्भव ही नहीं है। इतर मार्गका अनुसरण करना मानो गन्तव्यकी अवहेलना है। रामके उक्त आदेशमें वही ओज और उदारता है,

जो गीतामें अर्जुनके प्रति भगवान् श्रीकृष्णके आदेशमें है—

'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।'

देवताको प्रसन्न और अनुकूल करनेका श्रेष्ठतम उपाय वही है, जो स्वयं देवताको इष्ट हो। अन्यथा पूजा-अर्चनाके सतत प्रयत्न विडम्बनामात्र हैं। भगवान्को जो अभीष्ट है, उसी नैवेद्यका सम्भार लेकर भक्त उनका आह्वान करे। तभी अभ्यर्थनाकी सार्थकता है, तभी निर्माल्य-प्रसादमें निखिल विश्वके कल्याण-मङ्गलका अमृत है। जिस धूप-दीप-नीराजनके विधानमें देवताकी अभिरुचि *ही नहीं है*, उसमें केवल धूम्र और दाह है—जो उस देवताकी प्रस्तर-मूर्तितकको कालिमा-मलिन और विदग्ध कर देगा। इसीलिये काकभुशुण्डिजी भी करुणाविष्ट गरुड़को यही निर्देश करते हैं—

सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।
भजहु राम पद पंकज अस सिद्धान्त बिचारि॥

इस सेवक-सेव्य-भावका आदर्श आत्मनिष्क्रमण एवं अनन्यमें 'अहं' के समर्पणपर स्थिर होनेके कारण अत्यधिक उच्च और दुर्लभ है। सेवकको स्वार्थत्याग ही नहीं करना पड़ता, अपनेको स्वामीके अनुकूल बनाकर उसके सङ्केतोंका पालन भी करना पड़ता है। अयोध्याकाण्डमें भरतजी कहते हैं—

करइ स्वामि हित सेवक सोई। दूषन कोटि देइ किन कोई॥

अपनी सुविधा और अपने लाभका स्वप्नमें भी विचार न करके सेव्यके लिये मनसा-वाचा-कर्मणा अपनेको अर्पित कर देना ही सच्ची सेवा है। नदी अपनी कामना-लहरों और भावावर्त्तोंके अपरिमित पीड़ा-वेगके साथ उच्छ्वसित सागरके सर्वभुक् अन्तरालमें अपनी अनन्त जलराशि समर्पित करती है। इसी प्रकार सेव्यके करुणा-चरणोंमें सेवकका सर्वस्व भावानुभूतिकी असीम वेदनाके हाथों बलिहार है। इस उत्सर्गमें *प्रत्यावर्तन* नहीं है। इस दानकी गरिमासे प्रतिदानकी आशा जर्जर है—निर्जीव है। सेवकके इसी महान् आदर्शकी ओर सङ्केत करते हुए भगवान् श्रीकृष्णने श्रीमद्भागवतमें कहा है—

नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्
मत्पादसेवाभिरता मदीहाः।

सेवाके इस उन्नत एवं प्रशस्त मार्गका अनुसरण करनेके पूर्व पैरोंसे स्वार्थ-भावनाकी कीच धो लेनी चाहिये। क्योंकि—

जो सेवकु साहिबहि सँकोची। निज हित चहइ तासु मति पोची॥
सेवक हित साहिब सेवकाई। करै सकल सुख लोभ बिहाई॥

स्वाभाविक स्नेहके विना सेवा असम्भव है। अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष—इन चारों पदार्थोंसे निष्काम होकर स्वामीकी आज्ञा शिरोधार्य करनी चाहिये। चित्रकूटमें भरतजी श्रीरामचन्द्रजीसे अत्यन्त दीनतापूर्वक कहते हैं—

सहज सनेहँ स्वामि सेवकाई।
स्वारथ छल फल चारि बिहाई॥
अग्या सम न सुसाहिब सेवा।
सो प्रसादु जन पावै देवा॥

सेवाधर्मके इस अनुशासनको स्वीकार करना किञ्चित् कठिन है; क्योंकि स्वार्थभावनाका परित्याग सरल नहीं है। मनुष्यके अन्तःकरणमें 'अहंता' की प्रवृत्ति अत्यधिक बलवती एवं उद्धत है। वह बरबस हमें परमार्थसे खींचकर 'निजत्व' के माया-जालमें उलझा देती है। इस अन्तर्वृत्तिको निरस्त्र तथा निर्बल किये विना सच्ची सेवाकी ओर उन्मुख हो सकना दुराशा है, क्योंकि 'स्वामिधर्म' और 'स्वार्थ'—दो विरोधी तत्त्व एक साथ नहीं रह सकते। इसीलिये भरतजी कहते हैं—

आगम निगम प्रसिद्ध पुराना। सेवा धरमु कठिन जगु जाना॥
स्वामि धरम स्वारथहि बिरोधू। बैरु अंध प्रेमहि न प्रबोधू॥

किन्तु यह भक्ति—यह आत्मसंन्यास—यह 'हरगिरि तें गुरु सेवक धरमू' क्या केवल एकाङ्गी है? यह क्या केवल भक्तका 'देना' और भगवान्का 'पावना' है? किसी भी वरदानकी कामना न होनेपर भी इस अनवरत निरीह तपश्चर्याका क्या कोई फल नहीं है! तुलसीके रामने इस प्रश्नका एक सर्वसुबोध उत्तर भरतको दिया है—

सेवक कर पद नयन से मुख सो साहिबु होइ।
तुलसी प्रीति की रीति सुनि सुकबि सराहहिं सोइ॥

इस उक्तिसे स्पष्ट है कि सेवक और सेव्यका सम्बन्ध अन्योन्याश्रयभावपर स्थित है। 'कर पद नयन' से मुखका पोषण होता है, किन्तु मुखका पोषण यथार्थमें 'कर पद नयन' का ही पोषण है। मेघके प्रति सागरका प्रत्यक्ष दान परोक्ष रूपमें सागरके ही अक्षय कोषमें सञ्चित होता रहता है। इसी आदान-प्रदानमें देय और प्राप्तिकी पूर्णता है।

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।'

गीताके इस वाक्यमें सेवकके प्रति स्वामीकी कर्त्तव्य-भावनाकी ही स्वीकृति है। भगवान्‌ने और भी कहा है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

देवताकी यह भक्तवत्सलता ही सेवा-पथका पाथेय है, जिसके सहारे निरीह भक्त मार्गकी दुरूहताको पददलित करता प्रतिक्षण नवीन प्रेरणाके वेगसे गन्तव्य-की अन्तिम सीमाकी ओर अग्रसर होता है। हरिकृपासे ही भक्तिका जन्म तथा भरण-पोषण होता है और निष्काम सेवा ही हरिकृपाका कारण है। भगवान्‌की उदारता और आदर्श भक्तकी निष्ठाका कहीं अन्त नहीं है। स्वामी-सेवककी इस रीझ-मनुहारमें ही विश्व-कल्याणकी अक्षय धाराका उद्गम है। सच ही है—

सेवक स्वामि सुभाउ सुहावन।
नेमु पेमु अति पावन पावन॥

'ऊँच निवास नीचि करतूती' वाले देवराज इन्द्रने चित्रकूटमें जब राम और भरतके स्नेह-मिलनमें विघ्न डालना चाहा, तब बृहस्पतिजीने उसे समझाते हुए भगवान् श्रीरामकी भक्तवत्सलताकी ओर ही सङ्केत किया है—

मायापति सेवक सन माया। करइ त उलटि परइ सुरराया॥

× × ×

सुनु सुरेस उपदेसु हमारा। रामहि सेवकु परम पिआरा॥
मानत सुखु सेवक सेवकाईं। सेवक बैर बैरु अधिकाईं॥
जद्यपि सम नहिं राग न रोषू। गहहिं न पाप पुन्य गुन दोषू॥
करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फलु चाखा॥
तदपि करहिं सम बिषम बिहारा। भगत अभगत हृदय अनुसारा॥
अगुन अलेप अमान एकरस। रामु सगुन भए भगत पेम बस॥
राम सदा सेवक रुचि राखी। बेद पुरान साधु सुर साखी॥
अस जियँ जानि तजहु कुटिलाई। करहु भरत पद प्रीति सुहाई॥

किन्तु भगवान् भक्तके अभिभावक हैं, केवल इसीलिये भक्त इस सम्मानका अधिकारी नहीं है। भक्त परसेवा-रत और सबके प्रति विनम्र है, इसलिये भी वह श्रद्धास्पद एवं पूज्य है। बृहस्पतिजी आगे कहते हैं—

राम भगत पर हित निरत पर दुख दुखी दयाल।
भगत सिरोमनि भरत तें जनि डरपहु सुरपाल॥

सेवाकी पूर्णता और स्वामीके प्रसादमें ही भक्तका चरम उत्कर्ष है। अपनी नम्रता एवं भावुकताके अतिरेकमें भगवत्कृपाद्वारा दुलराया हुआ भक्त ही मानवताका चूडान्त गौरव है। इन्हीं भक्तोंके आविर्भावसे भगवान्‌का अवतार होता है— इन्हींकी सत्तामें समस्त सृष्टिका कल्याण है। उत्तरकाण्डमें काकभुशुण्डिजीने गरुड़जीसे यहाँतक कह दिया है—

मोरें मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा॥

काकभुशुण्डिजीका यह उद्गार अतिशयोक्ति नहीं है। आत्मत्यागी परमार्थरत सच्चे भक्त ही भगवत्प्राप्तिके साधन हैं, जिनकी सहायताके बिना मनुष्यताका विकास तथा भक्तिका स्वीकार और पालन अत्यन्त दुष्कर है। मृत्यु और अमरत्वके चिर-मिलनके ये ही एकमात्र माध्यम हैं। गोस्वामीजीका अटूट विश्वास है—

'सब कर फल हरि भगति सुहाई। सो बिनु संत न काहूँ पाई॥'

अनिवार्य साधनका महत्त्व साध्यसे कम नहीं है। इसीलिये कबीरने भी कहा है—

गुरु गोबिंद दोनों खड़े, काके लागौं पाँय।
बलिहारी वा गुरू की, जिन गोबिंद दिया लखाय॥

भक्तिकी यह एकान्त परिपूर्णता ही तुलसीका अनन्य आश्रय है। इसी भक्ति-धारामें उनके समस्त ग्रन्थ सराबोर हैं। इसी भक्तिका चित्रण, पोषण और प्रचार कविका सजग मनोयोग है। (अपूर्ण)

सृष्टिका सिद्धान्त

(लेखक—श्रीजगन्नाथम्, बी० ए०)

सृष्टिके सम्बन्धमें विचार करते हुए हमारा सम्बन्ध परमात्माके उस स्वरूपसे उतना नहीं रहता, जो निर्विशेष एवं त्रिगुणातीत है, जिसमें सृष्टिकी कल्पना ही नहीं है। यहाँ हमारा सम्बन्ध परमात्माके उस स्वरूपसे है जो हमारे (सृष्टिके) लिये है, हमारे प्रति प्रेममय है और जो हमारे लिये सर्वत्र विद्यमान है। हम उन्हें सृष्टिकर्ता कहते हैं। हमें देखना चाहिये कि वे कैसे सृष्टि रचते हैं। पर पहले हम यह देखें कि वे रहते कहाँ हैं, उनका निवास किस स्थानपर है। अपने एकाकी स्वरूपके लिये एक ऐसे द्वितीयकी व्यवस्था करनेके लिये, जिसपर वे अपना निःसीम प्रेम समर्पित कर सकें, उन्होंने अपने ही स्वरूपसे अपनी दिव्य शक्ति प्रकट की। यह दिव्य चिन्मय शक्ति भगवान्‌से तत्त्वतः अभिन्न है और कोटि-कोटि सूर्योंके प्रकाशवाली है। इसीके द्वारा गोलोक और वैकुण्ठ दो अलौकिक धामोंकी सृष्टि होती है। गोलोक भगवान्‌का सर्वोच्च धाम है, जो वैकुण्ठके ऊपर विराजमान है। यह प्रेमके अधिपति भगवान्‌की अलौकिक क्रीडाओं और आनन्दमयी लीलाओंका नित्य निकेतन है, और वैकुण्ठ उनके ऐश्वर्यमय रूपकी चिन्मय लीलाओंका केन्द्र है।

गोलोकेश्वरके रूपमें वे श्रीकृष्णके नामसे विख्यात होते हैं और वैकुण्ठपतिकी हैसियतसे श्रीविष्णु कहलाते हैं। ये दोनों ही लोक चिन्मय हैं, शाश्वत हैं और भौतिक दृष्टिके परे हैं। स्मरण रखना चाहिये कि इन दोनों लोकोंमें भगवदीय ज्ञान अपरोक्ष एवं अव्याहत रहता है, एकत्वकी पूर्ण प्रतिष्ठा रहती है और संसृति अथवा जगत्‌के बहिर्मुख प्रवाहका आरम्भ नहीं हुआ रहता।

जब श्रीविष्णुके अंदर विविध लोकोंको उत्पन्न करनेकी इच्छा आविर्भूत हुई, उन्होंने दिव्य आदि-पुरुषका रूप धारण किया। उन्हींसे उस कारण-समुद्रके जलकी उत्पत्ति हुई, जो वैकुण्ठको आवृत किये हुए है और उस चिन्मय दिव्य लोककी परिधि अथवा मेखला-सा बन गया है। भगवान् विष्णुकी चिन्मय शक्ति इस जलके भीतर प्रतिबिम्बित होती है और यह प्रतिबिम्बित शक्ति, जिसे माया अथवा भगवान्‌की मोहिनी शक्ति भी कहते हैं, उस कारण-समुद्रके दूसरे छोरपर स्थित होती है। जब आदि-पुरुष कारणसमुद्रमें शयन करते हुए अपनी दृष्टि इस मायापर डालते हैं और इस प्रकार अपनी बहुभवनेच्छा-का उन्मेष करते हैं, तब मायामें 'महत्तत्त्व' नामक सृष्टिके प्रथम तत्त्वका बोधशक्तिके रूपमें उदय होता है। यही बोधवृत्तिरूपी महत्तत्त्व मायाकी सर्वप्रथम सृष्टि और प्रपञ्चका बीज बनकर स्फुरित होता है।

पृथक् अस्तित्वका ज्ञान या भेद इसके आगे उत्पन्न होता है। बीजसे अङ्कुर निकलते हैं—बीज ही प्रेम-स्वरूप भगवान्‌की बहुभवनेच्छामें स्वभावतः रहनेवाले प्रेमवारिसे सिञ्चित होकर विकासोन्मुख हो उठता है। प्रत्यक्ष ही बीज और अङ्कुरमें कोई वास्तविक भेद नहीं है, क्योंकि एक दूसरेका ही रूपान्तर है; किन्तु हम यह कहते अवश्य हैं कि अङ्कुर हरा है, बीज बादामी रंगका है। जहाँ भेद नहीं होता, वहाँ भी हम भेदकी बात करने लगते हैं; इसीको कहते हैं अविद्या या अज्ञान। चतुर्मुख ब्रह्मा ही उत्पादनकी अनन्त सामर्थ्य रखने-वाले भगवान्‌रूपी बीजमेंसे फूट निकलनेवाला अङ्कुर है—नहीं-नहीं, अनगिनत अङ्कुरोंमेंसे एक है। अब हमें उस अङ्कुरके सम्बन्धमें विचार करना है।

जीवनरूपी वृक्षके अङ्कुर हैं ब्रह्मा। यहींसे सृष्टिका और साथ-ही-साथ अज्ञानका भी आरम्भ होता है। परन्तु अपनी बातको अधिक स्पष्ट करनेके लिये हमें एक प्रसिद्ध दृष्टान्तका सहारा लेना होगा। यह दृष्टान्त है कलक्टर साहबके दफ्तरका। कल्पना कीजिये कि एक कलक्टर है, जो न कभी हाथसे कलम छूता है और न अपने बँगलेके बाहर निकलता है। उसका दफ्तर उसके बँगलेसे कुछ मीलकी दूरीपर है, किन्तु वे दोनों टेलीफोनसे जुड़े हुए हैं। दफ्तरवालोंके लिये कलक्टर साहबके प्रतिनिधि उनके सरिश्तेदार हैं, जो विभिन्न विभागोंके प्रधानों, क्लर्कों तथा अन्य नौकर-चाकरोंके साथ दफ्तरमें ही रहते हैं। सारी कलक्टरीका प्रबन्ध सरिश्तेदारके हाथमें है, और सरिश्तेदारके अनुरोधसे ही जो दो-एक आदेश वे कभी-कभी टेलीफोनद्वारा भेज देते हैं उनके अतिरिक्त कलक्टरका अपने दफ्तरसे कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि सरिश्तेदार कभी छुट्टीपर चले गये अथवा घरहीपर आराम कर रहे होते हैं तो दफ्तरका सारा काम गड़बड़ा जाता है। और उनके सभी मातहत मौज उड़ाने लगते हैं। रेवेन्यू-बोर्डसे या गवर्नमेंटसे कोई तहरीर आती है तो उसकी कोई तामील नहीं होती और अन्तमें ऊपरवालोंको पूछना पड़ता है 'क्या कलक्टर सो रहा है?'—यद्यपि वास्तवमें सो रहा होता है सरिश्तेदार न कि कलक्टर। यदि सरिश्तेदार रिटायर हो जाते हैं या लंबी छुट्टी ले लेते हैं तो भी सारा दफ्तर तबतक सोता रहता है जबतक नये सरिश्तेदारकी नियुक्ति कलक्टरद्वारा नहीं होती। दार्ष्टान्तमें कलक्टरस्थानीय हैं भगवान् और सरिश्तेदारस्थानीय हैं चतुर्मुख ब्रह्मा।

ब्रह्मा जब बीच-बीचमें भगवान्‌के दिये हुए सृष्टि-सम्बन्धी आदेशोंको भूल जाते हैं, तब वे अपने पद्मासनसे कमलनालद्वारा नीचे उतरते और भगवान्‌के समीप पहुँच जाते हैं-ठीक उसी प्रकार जैसे सरिश्तेदार टेलीफोनद्वारा कलक्टरसे आदेश लिया करता है। जब कभी ब्रह्मा सृष्टिकार्यसे विरत होकर सो जाते हैं, तब सारी सृष्टि भी उनके साथ सो जाती है और तब मानो स्वयं भगवान् ही योग-निद्रामें मग्न हो जाते हैं—कलक्टरके सोनेके समान ही भगवान्‌का यह सोना भी लाक्षणिक होता है। जिस समय स्वयं ब्रह्मा भी लय हो जाते हैं, उस समय भगवान्‌की सृष्टि रचनेकी चिरकालीन प्रवृत्तिका पुनः उदय होता है और तब नये ब्रह्माका आविर्भाव हो जाता है। भगवान्‌का यह नया सहकारी अपने समस्त सहायकों—सप्तर्षियों, चतुर्दश मनुओं आदिके साथ, जो सृष्टिकार्यमें उसे योग देते हैं, कार्यक्षेत्रमें आता है—जिस प्रकार कलक्टरका सरिश्तेदार अपने सहकारियों, विभाग-प्रधानों, क्लर्कों आदिके साथ दफ्तरका कार्य सञ्चालन करता है।

यहाँ हमें एक अन्य उपयुक्त दृष्टान्त देकर यह समझाना है कि विभिन्न लोकोंका भगवान्‌के साथ क्या सम्बन्ध है। आपने पूर्णमासीके चन्द्रमाको अवश्य देखा होगा और उसकी शीतल किरणोंका आनन्द भी लिया होगा। आप कहते हैं कि वे किरणें, जो आपके शरीरका स्पर्श कर आपको सुखी करती हैं, चन्द्रमासे चलकर आती हैं। प्रश्न यह है कि चन्द्रमासे जब समस्त किरणें निकलकर आती हैं तो क्या चन्द्रमा उन किरणोंसे शून्य हो जाता है? इसका उत्तर आप यही देंगे कि नहीं, वे किरणें चन्द्रमासे आयी हुई प्रतीत होती हैं, किन्तु वास्तवमें वे चन्द्रमासे पृथक् नहीं हुई। यह बात यथार्थ भी है। किरणें कभी चन्द्रमासे वियुक्त नहीं हुई और न कभी ऐसा ही हुआ कि वे पृथिवीपर न आयी हों—चाहे उनका पृथिवीपर आना एक प्रतीतिमात्र ही क्यों न हो।

भगवान्‌की माया-शक्तिके सम्बन्धमें भी ऐसी ही बात है। चन्द्रमाकी किरणोंकी ही तरह उसके भी दो

स्वरूप है। मायाका वह स्वरूप, जो भगवान्से अवियुक्त है, और जो उन्हींकी चेतन शक्ति है, उनके लिये अपने ही स्वरूप तथा तेजसे दिव्य सहचरी, दिव्य धाम एवं दिव्य परिकरोंको प्रकट करती है, जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं। उसका दूसरा स्वरूप जो जीवको भगवान्से विमुख करता हुआ प्रतीत होता है, जो भगवान्की प्रतिबिम्बित माया-शक्ति है, वह सृष्टिकी एवं उसके अन्तर्गत अनेकानेक लोकोंकी रचना करता है। सृष्टिकर्ता माने जानेवाले ब्रह्मा इन दोनोंके बीचमें स्थित हैं।

इस प्रकार ब्रह्मा और उनके रचे हुए लोक-सब मायामें स्थित हैं और जब ब्रह्मा सोते हैं, उस समय समस्त लोक और सारे दृश्य पदार्थ उसी अव्याकृत मायामें विलीन हो जाते हैं—वह माया जो भगवान्की नित्यसङ्गिनी है। ये समस्त लोक मायाके—अतएव उसके सञ्चालक भगवान्के-अनन्त विस्तारमें एक छोटे बिन्दुके अतिरिक्त और क्या हैं ? इसीलिये कहा जाता है कि अखिल विश्व भगवान्के उदरमें स्थित है। जहाँ उसे भगवान्के बाहर भी कहा जाता है वहाँ उस कथनका अर्थ वैसा ही समझना चाहिये, जिस अर्थमें यह कहा जाता है कि चन्द्रमाकी किरणें चन्द्रबिम्बके अन्तर्गत भी हैं और उससे पृथक् भी। यह दोहरी स्थिति भगवान्के उस महान् ऐश्वरयोगकी परिचायक है, जिसको उन्होंने निम्नलिखित परस्पर-विरोधी वाक्योंद्वारा प्रकट किया है—'समस्त भूत मुझमें हैं (मत्स्थानि सर्वभूतानि) और ये सब भूत मुझमें नहीं हैं (न च मत्स्थानि भूतानि)।'

चूँकि मायाका यह सर्गात्मक स्वरूप ऐसा है कि जो जीवको भगवान्से विमुख करता हुआ प्रतीत होता है, और चूँकि यह भगवान्से विमुख होना स्पष्ट ही झूठा है और अज्ञानका परिचायक है, इससे इतनी बात तो स्पष्ट है कि सारी सृष्टि इस अज्ञानके वशीभूत है। और तो क्या, स्वयं ब्रह्मा जो मायाके छोरपर पहुँचकर सृष्टिकी रचना करते हैं, वे भी इससे मुक्त नहीं हैं।

अङ्कुर बड़ी आसानीसे बीजको भूल जाता है, क्योंकि तत्त्वतः एक होते हुए भी आकारतः वे बिल्कुल भिन्न होते हैं। ब्रह्माजीका और भगवान्का सम्बन्ध भी अङ्कुर और बीजका सम्बन्ध है। अनेक बार ब्रह्माजी प्रमाद कर जाते हैं, कभी-कभी तो बहुत बड़ी भूल कर बैठते हैं—उदाहरणतः प्रह्लादके पिता हिरण्यकशिपुको उन्होंने अनोखे वरदान दे डाले, मानो वे स्वयं भगवान् ही हों और कुछ देरके लिये अपने क्षुद्र पद तथा भगवान्से प्राप्त हुए अपने सीमित एवं अचिरस्थायी अधिकारको भूल गये हों। अनेक अवसरों-पर तो भगवान्को स्वयं आकर ब्रह्माजीकी भूलोंका परिष्कार करना पड़ा। ब्रह्माजी इस दृष्टिसे भगवान्के अहङ्कार हैं। ऊपरके दृष्टान्तमें आये हुए कलक्टरकी भाँति, भगवान् सृष्टिरचनाकी प्रक्रियामें कोई भाग लेनेका कष्ट नहीं करते, सब कुछ अपने सहकारी ब्रह्माजीपर ही छोड़ देते हैं—उन्हें 'मैं सृष्टिकर्ता हूँ' यह कहनेकी भी छुट्टी दे देते हैं—यद्यपि वास्तवमें सृष्टिकर्ता तो स्वयं भगवान् ही हैं, जैसा कि उन्होंने कहा भी है—

> प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
> भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥

अर्थात् मैं अपनी [चञ्चल मायारूप] प्रकृतिको स्वायत्त करके विवश होकर मायाचक्रमें फँसे हुए जीवोंके इस अपार समूहको बार-बार उत्पन्न करता हूँ।

अब हम ब्रह्माजीकी स्थितिपर एक दूसरी दृष्टिसे विचार करेंगे। कहा जाता है कि जब ब्रह्माजी सोते हैं, तब स्वयं भगवान् भी योगनिद्रामें निमग्न हो जाते हैं। उस समय सारी सृष्टि उनके उदरमें समा जाती है। सृष्टि-रचनाके लिये भगवान्का जो महान् सङ्कल्प

होता है, ब्रह्माजी उसीके मूर्तरूप हैं; और भिन्न-भिन्न लोक उसके विस्तारके ही स्थूल रूप हैं। ब्रह्माजीके सोनेका अर्थ होता है भगवान्का अपने सृष्टि-रचनाके सङ्कल्पको संवरण करना, अपनेमें ही लौटा लेना। ऐसी स्थितिमें समस्त लोक, जो इस सङ्कल्पके ही विस्तार अथवा शाखामात्र हैं, आधारके न रहनेसे अपने-आप ध्वस्त अथवा लय हो जाते हैं। अवश्य ही ये उस सङ्कल्पपर अपनी स्मृतियाँ या संस्कार छोड़ जाते हैं। इस प्रकार प्रलयके समय यह महान् सङ्कल्प लोकोंके संस्कारोंके साथ भगवान्के अंदर लीन रहता है, और जब वे उसे पुनः व्यवहारमें लाते हैं, अथवा दूसरे शब्दोंमें जब ब्रह्मा सोकर उठते हैं, उस समय वे संस्कार कल्पनाके प्रसारद्वारा पुनः साकार और स्थूल रूप धारण करनेके लिये तैयार रहते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ब्रह्माजीको कोई मौलिक सृष्टि नहीं रचनी पड़ती। 'अपने निवासभूत कमलके अन्तरालमें उन्हें केवल तीन ही लोक दिखायी देते हैं, वे प्रभुकी आज्ञासे तीनके चौदह विभाग कर देते हैं।' वेदोंका भी कथन है कि ब्रह्माजीने सूर्य-चन्द्रादिका निर्माण 'यथापूर्व' किया है—'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।' अब एकमात्र जिज्ञासाका विषय यह रह जाता है कि जगत्के संस्कार कहाँसे आये। वे अनादिकालसे वर्तमान हैं और लगातार चले आ रहे हैं और हमारे महर्षि भी अतुल सामर्थ्यके होते हुए इनके आदिका पता नहीं पा सके। कौन कह सकता है कि भगवान्ने अमुक समयमें पहली बार सृष्टिका सङ्कल्प किया? सुतरां इस प्रकारके शुद्ध सङ्कल्पकी कल्पना नहीं हो सकती, जिसमें व्यतीत सृष्टिके संस्कार न हों। यही कारण है कि जब हम देखते हैं कि अभी-अभी अंडेको फोड़कर निकला हुआ पक्षि-शावक चीलसे डरता है, अथवा आजका पैदा हुआ बत्तखका बच्चा पानीमें तैरता है, तब हमें हठात् यह कहना पड़ता है कि यह पूर्व संस्कारोंका ही परिणाम है जो उन बच्चोंके मनपर पड़े हुए हैं। ये अति लघु मन भगवान्के उस महान् मन (सङ्कल्प) के ही क्षुद्रातिक्षुद्र अंश हैं।

यह बात हमें सदा स्मरण रखनी चाहिये कि ब्रह्माजी उस महान् ज्योतिसे—उस शाश्वत दिवससे—निकले हैं, जिसका कभी अन्त नहीं होता। किन्तु हाय! अज्ञानकी छाया अब लंबी होकर उनपर पड़ने लगी और वह भगवान्का महान् सङ्कल्प अब छाया और प्रकाश दोनोंका सम्मिश्रण हो चला। और जब यह सङ्कल्प सृष्टिकार्यके लिये अपना विस्तार करता है, तब राक्षसों और भूत-प्रेतोंके निवासयोग्य अन्धकार-लोकों, इन्द्रियाराम असुरोंके निवासयोग्य सन्ध्यालोकों, देवताओंके निवासयोग्य दिवालोकों तथा मनु आदिके रहनेयोग्य मानवलोकोंकी सृष्टि होती है। ये सब लोक ब्रह्माजीके आवरण तथा आच्छादनमात्र हैं, जिन्हें वे समय-समयपर धारण करते और फिर उतार फेंकते हैं। इनमें जो सबसे अधिक आलोकमय है, वह भी अज्ञानकी कालिमासे मुक्त नहीं है; क्योंकि सृष्टिमें ऐसी कोई वस्तु है ही नहीं, जिसपर अज्ञानका प्रभाव न हो।

ब्रह्माजीके सृजनकार्यकी एक अन्य शैली भी है। आप जानते हैं कि वे भगवान्के सङ्कल्प अथवा ईक्षास्वरूप हैं। जब ब्रह्माजी प्रेरणाके अभावके कारण सृष्टिका कार्य आरम्भ नहीं कर सके, तब भगवान्ने उन्हें आदेश दिया कि तपस्या करो (तपस्तप), जिसका अर्थ है उद्योग करो। मैं ऊपर कह चुका हूँ कि भगवान्ने ब्रह्माजीको सृष्टिकार्यके लिये ही उत्पन्न किया था। और यह भी बतला चुका हूँ कि भगवान् सत्ता, शक्ति, प्रेम और ज्ञानके साररूप हैं। अतः अब जब ब्रह्मारूपी महान् सङ्कल्पने सृष्टिका कार्य प्रारम्भ करते हुए भगवान्के सत्स्वरूपको लेकर व्यवहार किया, अथवा दूसरे शब्दोंमें यों कहें कि जब ब्रह्माजीने अपने रहनेके लिये एक

लोकविशेषकी रचनाका सङ्कल्प किया, तब सत्यलोक या ब्रह्मलोककी सृष्टि हुई। इस लोकमें ब्रह्माजी अपने ही-जैसे जीवोंके साथ निवास करते हैं। जब उन्होंने भगवान्‌की शक्ति अथवा तपोमय स्वरूपको लेकर व्यवहार किया, तब परिणाममें तपोलोकका निर्माण हुआ-जिसमें बड़े-बड़े तपस्वी, ऋषि तथा सनकादि परमहंस मुनिगण निवास करते हैं। जब उन्होंने प्रेम या कामके पहलूको लेकर व्यवहार किया, तब परिणाममें जनलोकका प्रादुर्भाव हुआ—जिसमें सप्तर्षि तथा उन्हीं-जैसे अन्य प्रवृत्तिमार्गी ऋषि, जो सृष्टि-विस्तारके कार्यके लिये नियुक्त किये गये हैं, निवास करते हैं। जब ब्रह्माजी ज्ञानस्वरूपको लेकर व्यवहार करने लगे, जिस ज्ञानको 'महः' भी कहते हैं, तब महर्लोककी रचना हुई। इसमें तत्त्वज्ञानियोंका निवास है, इसीको अतिमानसिक (Supramental) जगत् भी कहते हैं। इन लोकोंमें, जो कि भगवान्‌के महान् सङ्कल्प या तपःशक्तिके ही विस्तार या मूर्तरूप हैं, ईश्वरसम्बन्धी ज्ञानकी अखण्ड सत्ता विद्यमान है और इसके निवासी भगवान्‌को उनके समग्र रूपमें देखते और जानते हैं। अज्ञान, जो कि उपर्युक्त विस्तार या स्थूलीकरणका ही नाम है, इन लोकोंमें केवल नाममात्रको पाया जाता है—यथेष्ट प्रगाढ़ नहीं हो पाया है।

इससे नीचेका लोक ज्ञान और प्रेममय लोकोंके सम्मिश्रित तत्त्वसे बना है, किन्तु वह दोनों ही प्रकारके लोकोंसे निम्न श्रेणीका है; क्योंकि ज्ञान और प्रेम दोनोंपर ही यहाँ अज्ञानकी कालिमा छा जाती है। इसी लोकमें अज्ञान भेदकका कार्य करता है। ज्ञानकी कोई अखण्ड सत्ता नहीं रह जाती—वह भेद उत्पन्न करनेवाला बन जाता है और प्रेम भी कलुषित होकर वासनाओंके रूपमें परिणत हो जाता है। इस लोकको स्वर्लोक कहते हैं। इसके जिस भागमें ज्ञान अत्यन्त विकसित है और वासनाएँ अत्यन्त क्षीण हैं, उसे स्वर्ग कहते हैं और जिस भागमें इच्छाएँ अत्यन्त प्रबल तथा ज्ञान अत्यन्त क्षीण है, उसे चन्द्रलोक कहते हैं। स्वर्गलोकमें इन्द्रादि देवताओंका निवास है। इन्हें ईश्वरसम्बन्धी बहुत ऊँचा ज्ञान प्राप्त होनेके कारण ये ईश्वरोन्मुख अवश्य हैं; परन्तु साथ ही इच्छाओंकी अपकर्षिणी शक्तियाँ उन्हें नीचेकी ओर भी खींचती हैं, जिससे कभी-कभी वे बड़ा भारी प्रमाद कर बैठते हैं और उसका दुष्परिणाम भोगते हैं। किन्तु उनका ईश्वरसम्बन्धी ज्ञान उन्हें निमेषमात्रमें ईश्वरीय सङ्कल्प (ब्रह्माजी) के समीप ले जानेमें समर्थ होता है और ब्रह्माजीके द्वारा एवं उनकी सहायतासे ही उन्हें मुक्ति मिलती है।

जिन लोगोंकी कामनाओंका मुख ज्ञानके द्वारा ठीक दिशामें मोड़ दिया गया है और जिन्होंने जीवनभर केवल शुभ कर्म ही किये हैं, वे ही इस भागमें आते हैं और यहाँ अपने सत्कर्मोंका आनन्दमय फल भोगकर पुनः मनुष्यलोकमें उतर आते हैं, जिससे कि वे फिर शुभ कर्मोंका अनुष्ठान करके पुनः स्वर्ग-सुखका भोग कर सकें। दूसरे भाग अर्थात् चन्द्रलोकमें ऐसे लोगोंकी आत्माएँ निवास करती हैं, जिनका ज्ञान कामनाओं और वासनाओंसे मलिन हो गया है और जिन्होंने शुभ-अशुभ दोनों प्रकारके कर्म किये हैं।

अचित् अथवा जड प्रकृति, जो उपर्युक्त चार लोकोंमें सूक्ष्मतर रूपमें रहती है—सूर्यकी रश्मियोंके समान—वही इस लोकमें सूक्ष्मतर और सूक्ष्मका सम्मिश्रण बन जाती है, मानो सूर्यरश्मियों और बाष्पका सम्मिश्रण हो गया है—ये दोनों वस्तुएँ पृथक्-पृथक् हैं, यद्यपि एक दूसरेका कारण है। जिस समय महान् सङ्कल्पकी निवृत्ति हो जाती है, जब ब्रह्मा सो जाते हैं, उस समय यह सूक्ष्म तत्त्व, जो वासनाका ही स्थूलरूप है, लयभावको प्राप्त हो सकता है। और स्वर्लोक चूँकि इसी तत्त्वका बना हुआ है, भयङ्कर

प्रलयाग्निकी लपटें उसे ग्रस लेती हैं। आप जानते ही हैं कि भगवान्‌ने कामको महाशन (बड़े पेटवाला) बतलाया है; फिर भला, वह इस सम्पूर्ण जगत्‌को, जो उसके वशमें है, बिना निगले रहेगा ! कामने ही इस लोकके निवासियोंको भूख और प्यासके रूपमें अपनी 'महाशना' प्रकृति दी है।

इससे नीचेका लोक है शुद्ध वासनाओंका लोक, यद्यपि वे वासनाएँ यहाँ अधिक स्थूल हो जाती हैं—भाप जलका रूप धारण कर लेता है। इस लोकमें वासनाके लिये 'प्राण' शब्दका व्यवहार होता है, जिस प्रकार स्वर्लोकमें उसका नाम मन होता है। यह प्राणमय लोक है, इसे आप्य (जलीय) भी कहते हैं। इसका नाम है भुवर्लोक। इस लोकके दो भाग हैं। एकका नाम है प्रेतलोक या यमलोक और दूसरा है पितृलोक, जहाँ मरे हुए जीव चन्द्रलोकमें जानेके पूर्व कुछ समयतक निवास करते हैं। इस भुवर्लोककी मुख्य विशेषताएँ हैं क्षुधा और तृषा, क्योंकि जीवनकी अभिव्यक्ति सदा इन्हींके रूपमें होती है।

इससे नीचेका जो लोक है, उसे भूलोक कहते हैं। यह स्थूल भूतोंका जगत् है; यहाँ प्रकृति और भी स्थूल होकर ठोस बन गयी है, जैसे जल बर्फ बन जाता है। यह पृथ्वीलोक है, जिसमें मनुष्य तथा अन्य प्राणी रहते हैं, जो वासनाओंमें रहते हैं तथा वासनाओंके द्वारा ही पोषित होते हैं, जो ऊपरके दो लोकोंके निवासियों (देवताओं और पितरों आदि) की आवश्यकताओंको पूर्ण करते हैं, जो देवताओंके अधीनवर्ती हैं—उनका हुक्म बजाते हैं और सांसारिक सुखोंके लिये उनकी कृपाके मुहताज रहते हैं। वासनाओंका स्थूलरूप धारण करना इस लोककी विशेषता है। यह लोक देवताओं और पितरोंकी क्रीडाभूमि है।

इस प्रकार ब्रह्माजीके रचे हुए सात लोकोंका वर्णन हमने किया। इनके अतिरिक्त सात लोक और भी हैं, जो पृथ्वीके गर्भमें स्थित हैं, अतएव जिन्हें तललोक कहते हैं और जो उपर्युक्त सात लोकोंकी अपेक्षा और भी स्थूल हैं। इन्हें सूर्यरहित (असूर्य) लोक कहते हैं, क्योंकि ये घोर अन्धकारसे आवृत रहते हैं; यहाँ परमात्म-ज्ञानका प्रकाश नहीं पहुँच सकता। इनमें जो प्राणी निवास करते हैं, उनका ईश्वर-सम्बन्धी ज्ञान सांसारिक वासनाओंके बोझसे दबे रहनेके कारण नष्ट हो गया रहता है।

इन चौदह भुवनोंकी समष्टिको ब्रह्माण्ड कहते हैं, जो उस महान् सङ्कल्पका परिणाम होता है। जिन भगवान्‌ने इस ब्रह्माण्डकी सृष्टिके लिये ब्रह्माजीको उत्पन्न किया था, वे अब स्वयं उसके पालनकर्ता बनते हैं और विष्णुके नामसे उस सृष्टिमें अनुप्रविष्ट हो जाते हैं। पुनः जब इस ब्रह्माण्डके विनाश या लयका सङ्कल्प होता है, उस समय उनके 'हर' अर्थात् संहारकर्ता रूपकी लीला होती है और वे ऐसी प्रलयाग्निकी सृष्टि करते हैं, जो सर्वप्रथम नीचेके लोकों (तलों) सहित भूलोकको आक्रान्त करती है और महर्लोकसे नीचेतकके लोकोंको व्याप्त करके जला डालती है। महर्लोकके निवासी, जैसा कि ऊपर कहा गया है, उस समयके लिये अपने लोकको छोड़ देते हैं; क्योंकि अग्निके भयानक तापको वे सह नहीं पाते, और अपनेसे ऊपरके निकटतम लोक (जनलोक) में जाकर वहाँके निवासियोंके साथ वहाँके भोगोंको भोगते हैं। ऊपरके चारों लोक (महर्लोक, जनलोक, तपलोक और सत्यलोक) और उनके निवासी प्रलयकालमें भी नष्ट नहीं होते; क्योंकि उनमें जलनेवाले तत्त्व नहीं होते। भगवान्‌की योग-निद्राके साथ-साथ वहाँके निवासी भी निद्रामग्न हो जाते हैं। उस समय भी उन प्रलयाग्निदग्ध लोकोंकी स्मृति भगवान्‌के मनमें संस्काररूपसे सुरक्षित रहती है, उन्हीं संस्कारोंसे वे पुनः नवीन सृष्टिकी रचना करते हैं।

सारे लोकोंका लय तभी होगा जब भगवान् अपनी मायाशक्तिका न केवल संवरण ही कर लेंगे, बल्कि जब वे उसे अपनी दिव्य प्रकृतिमें मिला लेंगे। उस समय ब्रह्माजी अपना कार्यकाल समाप्त कर चुकेंगे, सौ वर्षका जीवन (ब्रह्माके दिनके हिसाबसे) व्यतीत हो चुकेगा। सब कुछ भगवान्की प्रकृतिमें लीन हो जाता है—अवश्य ही सब कुछ उनकी परा प्रकृति अथवा चेतनशक्तिमें नहीं लीन होता, क्योंकि वह तो उनका स्वरूप ही है। ब्रह्मा तथा उन्हींकी श्रेणीके अन्य जीव उस प्रकृतिके उच्चतर अर्थात् अभेदस्वरूपमें लीन हो जाते हैं। और इन्द्रादि देवता निम्न अथवा भेद-प्रकृतिमें लीन होते हैं। किन्तु बीज तो फिर भी बना ही रहता है,—वह पुनः पूर्ववत् भगवान्की इच्छासे अङ्कुरित हो जाता है। अब एक नये अङ्कुर तथा नये जीवन-वृक्षकी सृष्टि हो जाती है। ब्रह्मा और इन्द्र आदिकी नये सिरेसे नियुक्ति होती है और वे पूर्ववत् अपने-अपने लोकोंका शासन करने लगते हैं और तबतक करते रहते हैं, जबतक उनके कार्यकालकी निश्चित अवधि पूरी नहीं हो जाती।

भगवान् हमें सचेत करते हैं कि हम उनकी इस मायामें अपनेको डुबा न दें, आत्मस्वरूपको भूल न जायँ; क्योंकि मायाका गुण ही है चञ्चलता, भगवान्से विमुख होकर जगत्के रूपमें अङ्कुरित होना। अनेक जन्मों और मरणोंके चक्रसे बचनेके लिये हमें मायाका पल्ला छोड़कर भगवान्के निज स्वरूपको पहचानना और उन्हींके हाथोंमें अपनेको सौंप देना चाहिये।

भक्त-गाथा

भक्त राजा पुण्यनिधि

दक्षिण देशमें पाण्ड्य और चोलवंशियोंके राज्य चिरकालसे प्रसिद्ध हैं। दोनों ही वंशोंमें बड़े-बड़े धर्मात्मा, न्यायशील, भगवद्भक्त राजा हो गये हैं। उनके प्रजापालनकी बात आज भी बड़े प्रेमसे कही-सुनी जाती है। वे प्रजाको सगे पुत्रसे बढ़कर मानते थे और प्रजा भी उन्हें मनुष्यके रूपमें परमेश्वर ही समझती थी। सब सुखी थे, सर्वत्र शान्ति थी। जिन दिनोंकी बात कही जा रही है, उन दिनों पाण्ड्यवंशकी राजधानी मधुरा थी—जिसे आजकल मदुरा कहते हैं। उसके एकच्छत्र अधिपति थे राजा पुण्यनिधि। पुण्यनिधिका नाम सार्थक था, वास्तवमें वे पुण्योंके खजाने ही थे। उनका सादा जीवन इतना उच्च और आदर्श था कि जो भी उन्हें देखता, प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। उनके जीवनमें शान्ति थी, उनके परिवारमें शान्ति थी और उनके राज्यमें शान्ति थी। उनके पुण्य-प्रतापसे, उनके शुद्ध व्यवहारसे सम्पूर्ण प्रजा पुण्यात्मा हो रही थी। शासनकी तो आवश्यकता ही नहीं पड़ती थी, सब लोग बड़े प्रेमसे अपने-अपने कर्त्तव्यका पालन करते थे। उनके पास सेना प्रजाकी रक्षाके लिये ही थी। उनका सारा व्यवहार प्रेम और आत्मबलसे ही चलता था। वे समय-समयपर तीर्थयात्रा करते, यज्ञ करते, दान करते और दिल खोलकर दीन-दुखियोंकी सहायता करते। सबसे बड़ा गुण उनमें यह था कि वे जो कुछ भी करते थे, भगवान्के लिये, भगवान्की प्रसन्नताके लिये और भगवान्के प्रेमके लिये। उनके चित्तमें न तो इस लोकके लिये कामना थी न परलोकके लिये। वे शुद्ध भावसे, भगवान्की आज्ञा समझकर उन्हींकी शक्तिसे, उन्हींकी प्रसन्नताके लिये अपने कर्त्तव्योंका पालन करते थे।

एक बार अपने परिवार और सेनाके साथ राजा पुण्यनिधिने सेतुबन्ध रामेश्वरकी यात्रा की। इस बार इनकी यह इच्छा थी कि समुद्रके पवित्र तटपर, गन्धमादन पर्वतकी उत्तम भूमिमें अधिक दिनोंतक

निवास किया जाय, इसलिये राज्यका सारा भार पुत्रको सौंप दिया और आवश्यक सामग्री एवं सेवकोंको लेकर वे वहीं निवास करने लगे।

वैसे तो मधुरा भी एक परम पावन तीर्थ ही है। भगवती मीनाक्षी और भगवान् सोमसुन्दरकी क्रीडा-स्थली होनेके कारण उसकी महिमा भी कम नहीं है। परन्तु रामेश्वर तो रामेश्वर ही है। वहाँ भगवान् रामने शिवलिङ्गकी प्रतिष्ठा की है। सब तीर्थ मूर्तिमान् होकर वहाँ निवास करते हैं। वहाँका समुद्र, वहाँके जङ्गल—सभी मोहक हैं, तपोमय हैं और सात्त्विकताका सञ्चार करनेवाले हैं। राजा पुण्यनिधिका मन वहीं रम गया। वे बहुत दिनोंतक वहीं रह गये। उनके हृदयमें भगवान्‌की भक्ति थी। वे जहाँ जाते, जहाँ रहते, वहीं भगवान्‌का स्मरण-चिन्तन किया करते। मनमें कोई कामना तो थी नहीं, इसलिये उनका अन्तःकरण शुद्ध था। शुद्ध अन्तःकरणमें जो भी सङ्कल्प उठता है, वह भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये होता है और उस सङ्कल्पके अनुसार जो क्रिया होती है, वह भी भगवान्‌के लिये ही होती है। राजाके चित्तमें विष्णु और शिवके प्रति कोई भेद-भाव नहीं था। वे कभी भगवान् शङ्करकी पूजा करते-करते मस्त हो जाते तो कभी जङ्गलोंमें घूम-घूमकर भगवान् रामकी लीलाओंका अनुसन्धान करते। एक बार उनके मनमें आया कि एक महान् यज्ञ करके भगवान्‌की प्रसन्नता प्राप्त की जाय। बड़ी तैयारीके साथ यज्ञ हुआ। यज्ञकी समाप्तिपर अवभृथ स्नान करनेके लिये राजा धनुष्कोटि तीर्थमें गये। रामेश्वर तीर्थसे बारह-तेरह मीलकी दूरीपर समुद्रमें धनुष्कोटि तीर्थ है। वहाँका समुद्र धनुषाकार है। कहते हैं कि लङ्कापर विजय प्राप्त करके जब भगवान् राम लौट रहे थे, तब उन्होंने यहाँ धनुषका दान किया था अथवा धनुषकी प्रत्यञ्चा उतार दी थी। उस तीर्थमें स्नान करके राजाको बड़ा आनन्द हुआ। भगवान्‌की स्मृतिके साथ जो भी काम किया जाता है, वह आनन्द-दायक होता ही है।

राजा पुण्यनिधि जब स्नान, दान, नित्यकर्म और भगवान्‌की पूजा करके वहाँसे लौटने लगे, तब उन्हें रास्तेमें एक बड़ी सुन्दर कन्या मिली। वह कन्या क्या थी, सौन्दर्यकी प्रतिमा थी। उसकी आँखोंमें पवित्रता थी, मुखपर प्रसन्नता थी और उसका सम्पूर्ण शरीर एक अद्भुत कोमलतासे भर रहा था, मानो भगवान्‌की प्रसन्नता ही मूर्तिमान् होकर आयी हो। वास्तवमें वह भगवान्‌की प्रसन्नता ही थी। न जाननेपर भी राजाका चित्त उसकी ओर खिंच गया, मानो वह उनकी अपनी ही लड़की हो। उन्होंने वात्सल्य-स्नेहसे भरकर पूछा—'बेटी! तुम कौन हो, किसकी कन्या हो, यहाँ किसलिये आयी हो?' कन्याने कहा—'मेरे माँ-बाप नहीं हैं, भाई-बन्धु भी नहीं हैं, मैं अनाथ हूँ। मैं आपकी पुत्री बननेके लिये आयी हूँ। मैं आपके महलमें रहूँगी, आपको देखा करूँगी; लेकिन एक शर्त है, यदि कोई मुझे बलपूर्वक स्पर्श करेगा अथवा मेरा हाथ पकड़ लेगा तो आपको उसे दण्ड देना पड़ेगा। यदि आप ऐसा करेंगे तो बहुत दिनोंतक मैं आपके पास रहूँगी।'

राजा पुण्यनिधि यह नहीं समझ रहे थे कि मेरे अक्षय पुण्योंका फल ही मूर्तिमान् होकर आया है। उन्हें इस बातका बिल्कुल पता नहीं था कि भगवान्‌की अर्धाङ्गिनी लक्ष्मी ही मुझपर कृपा करनेके लिये भगवान्‌की इच्छासे उनसे प्रेम-कलह करके मेरे घर आयी हैं। उन्हें इस बातका अनुमान भी नहीं था कि ये मेरे धर्मकी, सत्यकी प्रतिज्ञाके पालनकी परीक्षा लेकर मेरे जीवनको और भी उज्ज्वल रूपमें जगत्‌के सामने रखनेके लिये, भगवान्‌को प्रकट करनेके लिये, मेरे सामने प्रकट हुई हैं। भगवान्‌के प्यारे भक्त तो यों ही परम दयालु होते हैं, अनाथकी सेवा करनेके लिये

उत्सुक रहते हैं; क्योंकि जो किसीका नहीं है, वह भगवान्‌का है। जो उसकी सेवा करता है, वह भगवान्‌के अपने जनकी सेवा करता है। राजा इस अनाथ लड़कीको कैसे छोड़ सकते थे। उनकी दृष्टिमें तो यह एक अनाथ लड़की ही नहीं थी, अस्पष्टरूपमें उनके हृदयके किसी कोनेमें यह बात अवश्य थी कि इसका मेरे इष्टदेवसे सम्बन्ध है। हो-न-हो यह उन्हींकी कोई लीला है। राजाने कहा—'बेटी! तुम जो कह रही हो, वह सब मैं करूँगा। मेरे घर कोई लड़की नहीं है, एक लड़का है; तुम अन्तःपुरमें मेरी धर्मपत्नीके साथ पुत्रीके रूपमें निवास करो। जब तुम्हारी अवस्था विवाहके योग्य होगी, तब तुम जैसा चाहोगी वैसा कर दूँगा।' कन्याने राजाकी बात स्वीकार की और उनके साथ समयपर राजधानीमें गयी। राजा पुण्यनिधिकी धर्मपत्नी विन्ध्यावली अपने पतिके समान ही शुद्ध हृदयकी थीं। अपने पतिको ही भगवान्‌की मूर्ति समझकर उनकी पूजा करती थीं। उनकी प्रसन्नताके लिये ही प्रत्येक चेष्टा करती थीं। उनका मन राजाका मन था, उनका जीवन राजाका जीवन था। यह कन्या पाकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। राजाने कहा यह हमलोगोंकी लड़की है, इसके साथ परायेका-सा व्यवहार कभी नहीं होना चाहिये। विन्ध्यावलीने प्रेमसे इस कन्याका हाथ पकड़ लिया और अपने पुत्रके समान ही इसका पालन-पोषण करने लगीं। इस प्रकार कुछ दिन बीते।

भगवान्‌की लीला बड़ी विचित्र है। वे कब किस बहाने किसपर कृपा करते हैं, यह उनके सिवा और कोई नहीं जानता। राजा पुण्यनिधिपर कृपा करनेके लिये ही तो यह लीला रची गयी थी। अब वह अवसर आ पहुँचा। एक दिन वह कन्या सखियोंके साथ महलके पुष्पोद्यानमें फूल चुन रही थी। एक ही उम्रकी सब लड़कियाँ थीं, हँस-खेलकर आपसमें मनोरञ्जन कर रही थीं। उसी समय वहाँ एक ब्राह्मण आया। उसके कंधेपर एक घड़ा था, जिसमें जल भरा हुआ था। एक हाथसे वह उस घड़ेको पकड़े हुए था और दूसरे हाथमें छाता लिये हुए था, मानो अभी गङ्गा-स्नान करके लौट रहा हो। उसके शरीरमें भस्म लगा हुआ था और मस्तकपर त्रिपुण्ड्र था। हाथमें रुद्राक्षकी माला और मुखमें भगवान् शङ्करका नाम। इस ब्राह्मणको देखकर वह कन्या स्तब्ध-सी हो गयी, वह पहचान गयी कि ब्राह्मणके वेशमें यह कौन है। यह छद्मवेशी ब्राह्मण इसी कन्याको तो ढूँढ़ रहा था। कन्याकी ओर दृष्टि जाते ही ब्राह्मणने पहचान लिया और जाकर उस कन्याका हाथ पकड़ लिया। कन्या चिल्ला उठी। उसकी सखियोंने भी साथ दिया। उनकी आवाज सुनते ही कई सैनिकोंके साथ राजा पुण्यनिधि वहाँ पहुँच गये और पूछा—'बेटी, तुम्हारे चिल्लानेका क्या कारण है? किसने तुम्हारा अपमान किया है?' कन्या-की आँखोंमें आँसू थे, वह खेद और रोषसे कातर हो रही थी। उसने कहा—'पाण्ड्यनाथ! इस ब्राह्मणने बलात् मेरा हाथ पकड़ लिया, अब भी यह निडर होकर पेड़के नीचे खड़ा है।' राजा पुण्यनिधिको अपनी प्रतिज्ञा याद हो आयी। वे सोचने लगे कि 'मैंने इस कन्याको वचन दिया है कि यदि कोई तुम्हारी इच्छाके विपरीत तुम्हारा हाथ पकड़ लेगा तो मैं उसे दण्ड दूँगा। इस कन्याको मैंने अपनी पुत्री माना है, मुझे अवश्य ही इस ब्राह्मणको दण्ड देना चाहिये।' उनके चित्तमें इस बातकी कल्पना भी नहीं हो सकती थी कि मेरे भगवान् इस रूपमें मुझपर कृपा करने आये होंगे। उन्होंने सैनिकोंको आज्ञा दी और वे ब्राह्मण पकड़ लिये गये। हाथोंमें हथकड़ी और पैरोंमें बेड़ी डालकर उन्हें रामनाथके मन्दिरमें डाल दिया गया। कन्या प्रसन्न होकर अन्तःपुरमें गयी और राजा अपनी बैठकमें गये।

रात हुई। राजाने स्वप्नमें देखा जिस ब्राह्मणको क़ैद किया गया है वह तो ब्राह्मण नहीं है, साक्षात् भगवान् हैं। वर्षाकालीन मेघके समान श्यामल छबि, चारों करकमलोंमें शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म, शरीरपर पीताम्बर एवं वक्षःस्थलपर कौस्तुभमणि और वनमाला

धारण किये हुए हैं, मन्द-मन्द मुस्काते हुए मुखमेंसे दाँतों-की किरणें निकलकर दिशाओंको उज्ज्वल कर रही हैं। मकराकृति कुण्डलोंकी छटा निराली ही है। गरुड़के ऊपर शेषशय्यापर विराजमान हैं। साथ ही राजाकी वह कन्या लक्ष्मीके रूपमें खिले हुए कमलपर बैठी है। काले-काले घुँघराले बाल हैं, हाथमें कमल है, बड़े-बड़े दिग्गज स्वर्ण-कलशोंमें अमृत भरकर अभिषेक कर रहे हैं। अमूल्य रत्न और मणियोंकी माला पहने हुए हैं। विष्वक्सेन आदि पार्षद, नारदादि मुनिगण उनकी सेवा कर रहे हैं। महाविष्णुके रूपमें उस ब्राह्मणको और महालक्ष्मीके रूपमें अपनी पुत्रीको देखकर राजा पुण्यनिधि चकित—स्तम्भित हो गये। स्वप्न टूटते ही वे अपनी कन्याके पास गये। परन्तु यह क्या? कन्या कन्याके रूपमें नहीं है, स्वप्नमें जो रूप देखा था वही रूप सामने है। महालक्ष्मीको साष्टाङ्ग प्रणाम करके वे उनके साथ ही रामनाथ-मन्दिरमें गये। वहाँ ब्राह्मणको भी उसी रूपमें देखा, जिस रूपमें स्वप्नके समय देखा था। अपने अपराधका स्मरण करके वे मूर्छित-से हो गये। त्रिलोकीके नाथको मैंने क़ैदमें डाल दिया; जिसकी पूजा करनी चाहिये, उसको बेड़ीसे जकड़ दिया! धिक्कार है, मुझे सौ-सौ बार धिक्कार है। बड़े-बड़े योगीलोग जिन्हें अपने हृदयके सिंहासनपर विराजमान करके अपना सर्वस्व समर्पित कर देते हैं, अपने आपको जिनका समझकर कृतार्थ हो जाते हैं, उन्हींके हाथोंमें मैंने हथकड़ी डाल दी! मुझसे बड़ा अपराधी भला, और कौन हो सकता है? राजा पुण्यनिधिका हृदय फटने लगा, शरीर शिथिल हो गया, उनकी मृत्युमें अब आधे क्षणका भी विलम्ब नहीं था। इतनेमें ही उन्हें भगवान्-की कृपाका स्मरण हो आया। ऐसी अद्भुत लीला! भला, उन्हें कौन बाँध सकता है। यशोदाने बाँधा था प्रेमसे और मैंने बाँधा—अपनी शक्तिके घमंडसे, रोषसे। पर मुझसे भी बँध गये! प्रभो, यह तुम्हारी कृपापरवशता नहीं तो और क्या है?

राजा पुण्यनिधिने प्रेममुग्ध हृदयसे, गद्गद कण्ठसे, आँसूभरी आँखोंसे, सिर झुकाकर रोमाञ्चित शरीरसे, हाथ जोड़कर स्तुति की—'प्रभो! मैं आपके चरणोंमें कोटि-कोटि प्रणाम करता हूँ। आप मुझपर कृपा करें, प्रसन्न हों; मैंने अनजानमें यह अपराध किया है। परन्तु अपराध चाहे जैसे किया गया हो, है अपराध ही। हे कमलनयन! हे कमलाकान्त! आपने रामावतार लेकर रावणका नाश किया, नृसिंहावतार ग्रहण करके प्रह्लादको बचाया। आप सम्पूर्ण जगत्में व्याप्त रहनेपर भी भक्तोंके लिये समय-समयपर प्रकट हुआ करते हैं। आपकी मूर्ति कृपामयी है। आप यदि अपनेको प्रकट नहीं करें तो संसारी लोग भला, आपको कैसे पहचान सकते हैं। हे दयामूर्ते! मैंने आपको हथकड़ी-बेड़ीसे जकड़कर महान् अन्याय और अपराध किया है। यदि आप मुझपर कृपा नहीं करेंगे तो मेरे निस्तारका कोई साधन नहीं है। मैं आपके चरणोंमें बार-बार नमस्कार करता हूँ।'

राजा पुण्यनिधिने महालक्ष्मीकी ओर दृष्टि करके कहा—'हे देवी! हे जगद्धात्री! मैं आपको बार-बार नमस्कार करता हूँ। आपका निवास भगवान्का वक्षःस्थल है। मैंने साधारण कन्या समझकर आपको कष्ट दिया है। आपकी महिमाका भला, कौन वर्णन कर सकता है। सिद्धि, सन्ध्या, प्रभा, श्रद्धा, मेधा, आत्मविद्या आदिके रूपमें आप ही प्रकट हो रही हैं। हे माँ! संसारकी रक्षाके लिये आप ही वेदोंके रूपमें प्रकट हुई हैं। हे ब्रह्मस्वरूपिणी! अपनी कृपादृष्टिसे मुझे जीवनदान दो।' इस प्रकार स्तुति करके राजाने भगवान्से प्रार्थना की—'हे प्रभो! मैंने अनजानमें जो अपराध किया है, उसे आप क्षमा कर दीजिये। यह सम्पूर्ण संसार और इसमें रहनेवाले सब जीव आपके नन्हे-नन्हे शिशु हैं। आप सबके एकमात्र पिता हैं। हे मधुसूदन! शिशुओं-का अपराध गुरुजन क्षमा करते ही आये हैं। प्रभो! जिन दैत्योंने अपराध किया था, उनको तो आपने अपने स्वरूपका दान किया। भगवन्! आप मेरे इस

अपराधको भी क्षमा करें। हे नाथ! कृष्णावतारमें पूतना आपको मार डालनेकी इच्छासे आयी थी, उसे आपने अपने चरणकमलोंमें स्थान दिया। हे कृपानिधे! हे लक्ष्मीकान्त! आप अपनी कृपा-कोमल दृष्टि मेरे ऊपर भी डालें।'

पुण्यनिधिकी प्रार्थना सुनकर भगवान्‌ने कहा—'हे राजन्! मुझे क़ैद करनेके कारण भयभीत होना उचित नहीं है। मैं तो स्वभावसे ही प्रेमियोंका क़ैदी हूँ, भक्तोंके वशमें हूँ। तुमने मेरी प्रसन्नताके लिये यज्ञ किया था। जो मेरी प्रसन्नताके लिये कर्म करते हैं, वे मेरे भक्त हैं। तुम्हारे यज्ञसे मैं तुम्हारे अधीन हो गया हूँ। इसीसे चाहे तुम हथकड़ी-बेड़ी पहनाओ या मत पहनाओ, मैं तुम्हारे प्रेमकी बेड़ीमें बँधा हुआ हूँ। मैं अपने भक्तोंके अपराधको अपराध ही नहीं गिनता। इसलिये डरनेकी कोई बात नहीं है। ये महालक्ष्मी मेरी अर्धाङ्गिनी शक्ति हैं। तुम्हारी भक्तिकी परीक्षाके लिये ही मेरी सम्मतिसे यह तुम्हारे पास आयी थीं। तुमने इनकी रक्षा करके, अनाथ बालिकाके रूपमें होनेपर भी, इन्हें अपने घरमें रखकर और सेवा करके मुझे सन्तुष्ट किया है। ये मुझसे अभिन्न हैं, जगत्‌की आदिजननी हैं; इनका सेवक मेरा सेवक है। इनकी पूजा करके तुमने मेरी पूजा की है। तुमने अपराध नहीं किया है, मुझे प्रसन्न किया है। इनके साथ तुमने जो प्रतिज्ञा की थी, उसकी रक्षाके लिये मुझे कैदमें डालना किसी प्रकार अनुचित नहीं है। तुमने इनकी रक्षा की है, इसलिये मैं तुमपर प्रसन्न हुआ हूँ। अपनी प्राणप्रियाके लिये अपने प्यारे भक्तके हाथसे बँध जाना मेरे लिये कितना प्रियकर है, इसे मैं ही जानता हूँ। ये लक्ष्मी तुम्हारी पुत्री हैं, ऐसा ही समझो। यह सत्य है, इसमें सन्देह नहीं।'

महालक्ष्मीने कहा—'राजन्! तुमने बहुत दिनोंतक मेरी रक्षा की है, इसलिये मैं तुमपर बहुत ही प्रसन्न हूँ। भगवान् और मैंने तुम्हारी भक्तिको शुद्ध करनेके लिये प्रेम-कलहका बहाना बनाया और इस प्रकार हम दोनों ही तुम्हारे सामने प्रकट हुए। तुमने कोई अपराध नहीं किया। हम तुमपर प्रसन्न हैं। हमारी कृपासे तुम सर्वदा सुखी रहोगे। सारे भूमण्डलका ऐश्वर्य तुम्हें प्राप्त हो। जबतक जीवित रहो, हमारे चरणोंमें तुम्हारी अविचल भक्ति बनी रहे। तुम्हारी बुद्धि कभी पापमें न जाय, सदा धर्ममें ही लगी रहे। तुम्हारा हृदय निरन्तर भक्ति-रसमें डूबा रहे। इस जीवनके अन्तमें तुम हमारा सायुज्य प्राप्त करो।' इतना कहकर महालक्ष्मी भगवान्‌के वक्षःस्थलमें समा गयीं। भगवान्‌ने कहा—'राजन्! यह जो तुमने मुझे बाँधा है, यह बड़ा मधुर बन्धन है। मैं नहीं चाहता कि इससे छूट जाऊँ और इसकी स्मृति यहीं लुप्त हो जाय। इसलिये अब मैं यहाँ इसी रूपमें निवास करूँगा और मेरा नाम 'सेतुमाधव' होगा।' इतना कहकर भगवान् चुप हो गये।

राजा पुण्यनिधिने भगवान्‌की इस अर्चा-मूर्तिकी पूजा की और रामनाथ-लिङ्गकी सेवा करके अपने घर गये। जीवनपर्यन्त वे अपनी पत्नीके साथ भगवान्‌का स्मरण-चिन्तन करते रहे। अन्तमें दोनों भगवान्‌की सायुज्य-मुक्ति प्राप्त करके भगवान्‌से एक हो गये। इस प्रकार अद्भुत प्रेममयी लीला करके भगवान्‌ने अपने भक्तको अपनाया और भक्तके द्वारा जो बन्धन प्राप्त हुआ था, उसको सर्वदाके लिये स्वीकार करके अपनी कृपा और प्रेमकी परवशताको स्पष्टरूपसे प्रकट कर दिया।

धन्य हैं ऐसे परम दयालु भगवान् और उनके परमप्रिय कृपापात्र भक्त!
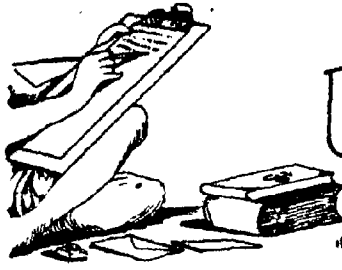
(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र)

(१)

आपने लिखा कि रघुनन्दन श्रीरामचन्द्रजी महाराजके चरण-कमलोंमें मन लगे, ऐसी कृपा करनी चाहिये; सो कृपा करना एकमात्र कृपालु प्रभुका ही काम है, इसलिये उन्हींके नामकी शरण लेनी चाहिये। मेरे सुनने-समझनेमें ऐसा आया है कि भगवान् श्रीरामचन्द्रजी महाराजके नामका जप करनेसे ही उनके चरणोंमें मन लगता है। इसलिये निरन्तर उनके नामका जप करना चाहिये। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराजने भी यही कहा है—

देखिअ रूप नाम आधीना। रूप ग्यान नहिं नाम बिहीना॥
रूप बिसेष नाम बिनु जानें। करतल गत न परत पहिचानें॥
सुमिरिअ नाम रूप बिनु देखें। आवत हृदयँ सनेह बिसेषें॥

भगवान्‌के नाम-जपके प्रतापसे न जाने कितने पापी पवित्र हो गये। नाम-जपमें केवल निष्काम प्रेमकी ही आवश्यकता है। भगवान्‌को भक्ति ही प्रिय है। प्राचीन कालमें भक्तिके प्रतापसे बहुत-से भक्त परमधामको चले गये। इसीलिये कहा गया है—

व्याधस्याचरणं ध्रुवस्य च वयो
विद्या गजेन्द्रस्य का
कुब्जायाः किमु नाम रूपमधिकं
किं तत्सुदाम्नो धनम्।
वंशः को विदुरस्य यादवपते-
रुग्रस्य किं पौरुषं
भक्त्या तुष्यति केवलं न च गुणै-
र्भक्तिप्रियो माधवः॥

इसलिये भगवान्‌में प्रेम बढ़ाना चाहिये। प्रेम ही भक्तिका स्वरूप है। अतएव निरन्तर प्रेमसहित नाम-जप करनेका अभ्यास करना चाहिये।

(२)

मैंने आपसे पूछा था कि चिट्ठी पढ़ते समय व्यष्टि अन्तःकरणमें किसी प्रकारका भाव यानी विकार होता है या नहीं, उसको आप भय समझ गये; सो भयकी तो कोई बात ही नहीं है। मेरा पूछना तो यह है कि जिस समय आप चिट्ठी बाँचते हैं, उस समय व्यष्टि अन्तःकरणमें किसी प्रकारका भाव अर्थात् हर्ष, सङ्कोच इत्यादि होता है या नहीं। आपने लिखा कि बड़ाई होनेपर व्यष्टि अन्तःकरणमें किञ्चित् विकारका आभास-सा पड़ता है, सो वह भी नहीं पड़ना चाहिये। चिट्ठियोंमें मैं जो आपका नाम लिखा करता हूँ, उस नामका वाच्य कौन है? अर्थात् आपका अमुक नाम किसका नाम है? आप अपनेको क्या समझते हैं? जब कोई आपका नाम लेकर पुकारता है, तब उस नामका मालिक कौन बनता है? आपने लिखा कि एकमात्र सच्चिदानन्दका भाव तथा अन्य सबका अभाव होकर शरीरके स्थानपर भी आनन्द ही परिपूर्ण हो रहा है, सो इस प्रकारके भावका ज्ञाता कौन है? श्रीसच्चिदानन्द तो देश-कालसे रहित हैं, फिर शरीरके स्थानपर आनन्दघन हो रहा है—ऐसा कहना बनता नहीं है। क्योंकि शरीरका स्थान भी कल्पित ही है, उसके स्थानका नाम देश है और परमात्मा देशवाले हैं नहीं। देश,

काल और जगत्—जो कुछ भी दृश्य पदार्थ प्रतीत होता है और जो कुछ भी अन्तःकरणके चिन्तनमें आता है, सो सब कल्पित है। सत्ता केवल बोध अर्थात् ज्ञान-स्वरूपकी ही है और जो ज्ञान है, वही आनन्द है। परमात्मा भोगनेके योग्य आनन्द नहीं हैं। अर्थात् परमात्माका जो आनन्दमय स्वरूप है, वह किसीका ज्ञेय अथवा भोग्य नहीं है। वह स्वयं बोधस्वरूप है, अतएव वही आनन्द है। बोधसे आनन्द भिन्न वस्तु नहीं है। बोधस्वरूप परमात्मा अपने-आप हैं, उनके सिवा और कुछ है ही नहीं—ऐसा वेद-शास्त्र और संत-महात्मा कहते हैं।

अन्तःकरण अर्थात् मनको जो कुछ दृश्य पदार्थ भासता है, वह सब मनका ही स्वरूप है। मन वास्तवमें कोई वस्तु नहीं है। वह मायाका कार्य है और बिना हुए जो प्रतीत होता है, उसका नाम माया है। इसलिये जो कुछ प्रतीत होता है, वह वास्तवमें है नहीं। सत्य तो एकमात्र सच्चिदानन्दघन है, परन्तु वह किसीको प्रतीत नहीं होता; क्योंकि वह किसीका विषय नहीं है। वह स्वयं बोधस्वरूप है और बोधस्वरूप होकर ही दृश्य संसारका द्रष्टा हो रहा है। दृश्य संसारकी स्थिति अज्ञानमें है—जिस समय यह बात समझमें आ जायगी, उस समय दृश्य असत् संसारका अत्यन्त अभाव हो जायगा अर्थात् उसके चित्रका लोप हो जायगा। फिर द्रष्टामें द्रष्टापनका भाव नहीं रह जायगा; क्योंकि जब दृश्य ही नहीं है, तब द्रष्टा किसका ? फिर केवल बोधके सिवा और कुछ रहता ही नहीं। इसीको वेद और शास्त्र सच्चिदानन्दघनकी प्राप्ति कहते हैं।

आपने लिखा कि सर्वव्यापीमें भी अहंभाव नहीं समझा जाता, एकमात्र परमात्माके होनेका ही निश्चय होता है; सो इस प्रकारका निश्चय और सर्वव्यापित्वका ज्ञान किसको है ? जिस समय ऊपर लिखे अनुसार केवल बोध रह जाता है, उस समय 'सर्व' और 'व्यापक' शब्द भी नहीं बनते तथा परमात्माके होनेका निश्चय करनेवाला भी कोई नहीं रह जाता; उस समय केवल बोध ही रह जाता है। वह बोध ही आनन्द है और इतना घन है कि उसमें और किसीका होना बन ही नहीं सकता।

आपको साधनकी अवस्थाका अनुमान कैसा होता है ? अब क्या कर्तव्य है ? व्यष्टि अन्तःकरणमें यदि कोई स्फुरणा होती है तो वह सत्ताके अभावको लेकर ही होती होगी। आपने लिखा कि समष्टिमें भी 'मैं' का भाव होना नहीं समझा जाता, सो बड़े आनन्दकी बात है। फिर भगवत्प्राप्तिमें क्या त्रुटि है ? ध्यानकी स्थिति सब समय समान भावसे होती है या सामान्य-विशेष भावसे होती है ? सब समय एक-सी ही स्थिति होनी चाहिये।

(३)

आपने नाम-जपमें भूल होनेकी बात लिखी, सो सत्सङ्ग और शास्त्रद्वारा भगवान्के गुण और प्रभावकी बातें जाननेकी चेष्टा करनी चाहिये। भगवान्का गुण-प्रभाव जान लेनेपर उनके नाम-जपमें भूल नहीं हो सकती। आपने लिखा कि भजनमें भूल होनेपर जब उसकी याद आती है तब पश्चात्ताप होता है, परन्तु उसका निरन्तर स्मरण नहीं रह पाता; सो ठीक है। अभ्यासके द्वारा अभ्यास बढ़ता है। यदि उत्साहके साथ चेष्टा की जाय तो उससे सङ्कल्प-विकल्प मिटकर एवं चिन्ताका नाश होकर भगवान्के स्वरूपमें रमण हो सकता है। भगवान्के भजन-ध्यानकी लगनके समान संसारमें कोई वस्तु नहीं है। लगन उसीका नाम है, जिसमें अपने शरीरका भी ज्ञान न रहे। भगवान्के प्रति प्रेम बढ़ानेमें अपना तन, मन, धन, सब कुछ लगा देना चाहिये। भजन-सत्सङ्गका तीव्र अभ्यास करनेसे पापोंका जल्दी ही नाश हो सकता है। भजन निष्कामभावसे ही होना चाहिये। सत्सङ्ग

और भजनके द्वारा मिथ्या संसारकी वस्तुओंकी इच्छा न रखना ही निष्कामभाव है। मृत्युको हर समय याद रखना चाहिये। सम्पूर्ण संसार तथा शरीरको क्षणभङ्गुर समझना चाहिये। भगवान्‌के नामका जप और उनके स्वरूपके ध्यानका अभ्यास तेज होना चाहिये। पीछे कोई हर्ज नहीं। भजन-ध्यान करनेपर यदि भगवान् इस जन्ममें नहीं मिलेंगे तो दूसरे जन्ममें उत्तम योनि तो मिलेगी ही, पूर्वसंस्कारवश दूसरे जन्ममें भजन-ध्यान और भगवान्‌में प्रेम होगा और फिर भगवान् मिल जायँगे। इस प्रकार दूसरा भी जन्म हो तो कोई हानिकी बात नहीं है। परन्तु चेष्टा तो ऐसी ही करनी चाहिये कि इसी जन्ममें भगवान् मिल जायँ। मनुष्य जैसा कर्म करता है, उसीके अनुसार उसको योनि मिलती है; परन्तु भगवान्‌के भजन-ध्यानका प्रताप ऐसा है कि वह नीच कर्म करनेवालेके भी पापोंका नाश कर देता और उसको उत्तम योनि तथा उत्तम लोकमें ले जाता है। जिनका भजन-साधन बहुत तेज हो जाता है, उनको भगवान् यहीं इसी जन्ममें मिल जाते हैं; उन्हें फिर जन्म नहीं धारण करना पड़ता, वे भगवान्‌के परमधामको चले जाते हैं। परन्तु जो मनुष्य जान-बूझकर पाप करता है और यह सोचता है कि पीछे भजन-साधनके द्वारा पापोंको नष्ट कर दूँगा, वह धोखा खाता है। उसके पापोंका नाश तभी होगा, जब वह उनका फल-भोग कर लेगा। इसलिये भजनका सहारा लेकर जान-बूझकर पाप नहीं करना चाहिये। जो पाप पहले अनजानमें हो गये रहते हैं, उन्हींका नाश भजन-ध्यानके साधनसे हो सकता है। इसलिये श्रद्धा, विश्वास और सदाचारपालनपूर्वक भजन-ध्यान तथा सत्सङ्गका साधन तीव्ररूपसे करना चाहिये। मनुष्य-जन्म केवल पेट भरनेके लिये ही नहीं मिला है। पेट भरनेके लिये तो कीट, पतङ्ग, कूकर, शूकर, गधे और कौए भी आयुपर्यन्त चेष्टा करके योनि बदलते रहते हैं। यदि मनुष्यने भी उन्हींकी तरह जन्म बिताया तो उसका जन्म ग्रहण करना व्यर्थ है। ऐसे जन्मको धिक्कार है। मानव-जन्म बड़ा अनमोल है, इसलिये प्रत्येक मनुष्यको उसका फल पानेकी चेष्टा करनी चाहिये, उसे व्यर्थ नहीं गँवाना चाहिये। भगवान्‌की प्राप्ति ही मनुष्य-जन्मका एकमात्र चरम फल है।

(४)

आपने लिखा कि भगवन्नामका जप अधिक नहीं हो पाता, दूकानके काम-काजका सङ्कल्प अधिक रहता है; सो ठीक है। ऐसी स्थितिमें सावधान होकर जपका अभ्यास बढ़ानेकी चेष्टा करनी चाहिये। दूकानका काम करते हुए जप करनेमें कुछ लगता नहीं है। दूकानके काम-काजका सङ्कल्प होता है तो भले ही हो, जप अधिक करना चाहिये; उससे आप-से-आप सङ्कल्प कम हो सकता है।

आपने लिखा कि दूकानके काम-काजमें लोभके कारण झूठ अधिक बोलना पड़ता है, सो यह बड़ी हानिकर बात है। असली वस्तु नारायण ही हैं, उन्हींका लोभ करना चाहिये। रुपया प्रारब्धमें जितना लिखा होगा, उतना ही मिलेगा। फिर उसके लिये अन्याय क्यों किया जाय? झूठ बोलनेसे रुपये ज्यादा नहीं मिल सकते, उलटे पाप लगता है। यह मनका भ्रम है, जो ऐसा प्रतीत होता है कि झूठ बोलनेसे रुपये मिलते हैं। इस बातपर आपका विश्वास न हो तो बात न्यारी है। यदि कदाचित् अन्यायसे रुपये पैदा भी होंगे तो उनसे सुख नहीं मिलेगा। अन्यायका, पापका फल दुःख-ही-दुःख होता है। इसलिये पापके द्वारा रुपये पैदा करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। आपको सब प्रकारसे विचार करके झूठसे बचना चाहिये। चिन्ता नहीं करनी चाहिये। निष्कामभावसे भगवान्‌के नाम-जप तथा सत्सङ्गका अभ्यास बढ़ाना चाहिये। उससे आप-से-आप व्यवहार सुधर जाया

करता है । इसलिये भजन-ध्यान और सत्सङ्गकी चेष्टा ही विशेषरूपसे करनी चाहिये ।

आपने लिखा कि दूकानके काममें फँस जानेसे भजन-ध्यान और सत्सङ्ग कम होता है, फलतः मुझ-जैसे मनुष्यका उद्धार होना बहुत कठिन है; सो इस प्रकारका भाव नहीं लाना चाहिये । निष्कामभावसे किये जानेवाले भजन-सत्सङ्गकी अपार महिमा है; उसके प्रतापसे, चाहे कोई कैसा भी पापी हो, उसका उद्धार होना बड़ी बात नहीं है । आप भजन-सत्सङ्गको ही मुख्य मानिये । मुख्यतः भजन-सत्सङ्ग करते हुए दूकान-का काम चाहे जितना बन पड़े कीजिये; फिर कोई हर्जकी बात नहीं है । भजनमें प्रेम होना चाहिये, फिर दूकानका काम करते हुए भी बहुत अच्छी तरहसे भजन हो सकता है ।

(५)

भाईजी, अभीतक आप लोगोंको भगवान्‌की ओर लगनेके आनन्दका बहुत कम ज्ञान है; क्योंकि आप लोग संसारके मिथ्या आनन्दको आनन्द मान रहे हैं । जबतक मिथ्या मायाका जाल छिन्न-भिन्न नहीं हो जाता, जबतक मिथ्या मायाकी फाँसी कट नहीं जाती, तभी-तक भोगोंका आनन्द सच्चा मालूम होता है । और जबतक मिथ्या आनन्द सच्चा मालूम देगा तबतक उसके लोभमें फँसकर, विषय-भोगोंका सर्वनाशक विष खाकर चौरासी लाख बार जन्म-मरणके चक्करमें पड़ना पड़ेगा । इसलिये उसका उपाय करना चाहिये । संसारके मिथ्या विषय-भोग मृत्युकी भाँति तिरस्कार करने योग्य हैं । जिस प्रकार कोई बुद्धिमान् रोगी वैद्यकी बात मानकर मृत्युकारक कुपथ्यका त्याग कर देता है; उसके सामने मीठे-से-मीठा, सुस्वादु-से-सुस्वादु पदार्थ क्यों न हो, यदि वह यह जान लेता है कि उससे उसकी मृत्यु हो जायगी तो फिर उसका सेवन नहीं करता; उसी प्रकार यदि कोई बुद्धिमान् मनुष्य सांसारिक मिथ्या भोगोंको मृत्युस्वरूप समझकर त्याग देता है और किसी सद्‌गुरुकी दी हुई रामनामकी बूटीका निरन्तर सेवन करता है तो उसका भव-रोग तत्काल नष्ट हो जाता है और उसे भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है । फिर माया उसके पास नहीं जा सकती । जिस प्रकार सन्निपातके रोगीको भ्रम अर्थात् विपरीत भाव हो जाता है और वह मृत्युको प्राप्त होता है, उसी प्रकार संसारासक्त मनुष्यों-को भी मोहरूपी सन्निपात हो रहा है, उनकी बुद्धि भ्रष्ट हो रही है । इसलिये उन्हें किसी सद्‌वैद्यकी दी हुई सञ्जीवनी बूटीका निरन्तर सेवन करना चाहिये । जैसे भी हो सके, इसके लिये समय निकालना ही चाहिये । नहीं तो बीमारी दिन-दिन अधिक होती जा रही है । समय थोड़ा रह जायगा और बीमारी असाध्य हो जायगी तो फिर वैद्य भी जवाब दे देगा । ऐसे वैद्य विरले ही होते हैं जो बीमारी बहुत बढ़ जानेपर, मृत्यु-के अत्यन्त निकट आ जानेपर भी किसी रोगीको अपने जिम्मे लेते हैं । अतः यह समझकर जल्दी भजन-साधनके लिये चेष्टा करनी चाहिये । संसारकी बीमारी-को छोटा नहीं समझना चाहिये ।

(६)

भजन-साधन और सत्सङ्ग कम होता है, इसका क्या कारण है ? इसका कारण भगवान्‌में प्रेम और विश्वासकी कमी ही समझी जा सकती है । निष्काम-भावसे भजन-ध्यानका साधन तेज होनेपर मिथ्या संसारकी आसक्तिका नाश होकर सत्सङ्गमें प्रेम हो सकता है । और भगवान्‌को याद रखनेसे ही भगवान् याद रह सकते हैं । भगवान्‌के भजनका अभ्यास तीव्र होनेसे शरीरसहित सारा संसार मिथ्या भासने लगता है और भगवान्‌के गुण-प्रभावादि-की बात बाँचने-सुननेसे प्रेमकी उत्पत्ति होकर भगवान्‌के दर्शन हो सकते हैं । फिर शरीरकी सुधि नहीं रहती । मैंपनका भाव भी मिट जाता है ।

बिना मैंपनके भावके शरीरसे चेष्टाएँ होती रहें, यही बहुत ऊँचे दरजेकी बात है। जबतक शरीरमें 'मैं' और 'मेरा' का भाव बना हुआ है, तभीतक उसमें आसक्ति है। भगवान्‌का भजन, ध्यान, सत्सङ्ग तथा माता-पिताकी सेवा करना ही उत्तम पुरुषका कर्तव्य है। भगवान्‌का स्वरूप उनके नामके ही अधीन है। शरीरमें तकलीफ रहनेके समय भगवत्स्मरणमें अधिक भूल नहीं होनी चाहिये। बल्कि मृत्युकी यादसे संसार और शरीरमें मिथ्या-बुद्धि होकर भगवान्‌का स्मरण अधिक होना चाहिये। यदि अधिक भगवत्स्मरण न हो तो भगवान्‌में प्रेमकी त्रुटि और शरीरमें आसक्ति समझनी चाहिये। यदि दूसरे जन्ममें भगवान्‌के चरणोंमें नित्य-निरन्तर प्रेम बना रहे, ध्यान होता रहे और इस जन्ममें भगवान्‌को जाने बिना ही शरीर छूट जाय तो कोई हर्जकी बात नहीं है। परन्तु दूसरे जन्ममें इस जन्मके तीव्र अभ्याससे ही भगवान्‌में प्रेम हो सकता है, नहीं तो होना मुश्किल है। इसलिये सत्सङ्ग और भजन-साधनका तीव्र अभ्यास करके इसी जन्ममें भगवान्‌को पानेकी चेष्टा करनी चाहिये। बिना सत्सङ्ग किये भजन-ध्यानका साधन होना कठिन है और सत्सङ्ग भी भजन-ध्यान तथा भगवान्‌की कृपासे ही प्राप्त होता है। अतः यदि इस जन्ममें भगवान्‌से मिलनेकी इच्छा हो तो सत्सङ्ग और भजन-ध्यानका साधन तेज करना चाहिये।

आप स्वयं विचार करके देखिये कि आप जैसा साधन कर रहे हैं, उससे भगवान् जल्दी मिल सकते हैं या नहीं। भजन करनेसे अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और तब सभी प्रकारकी वासनाओंका नाश हो जाता है और संसार तथा शरीरमें आसक्ति भी मिट जाती है। तभी माता-पिताके साथ भी उनकी मर्जीके मुताबिक आनन्दपूर्वक बर्ताव होता है और उससे उनकी सेवा होती है। अतः माता-पिताकी सेवाके लिये भी भजनकी बड़ी जरूरत है। रुपये, स्त्री तथा शरीरमें प्रेम होनेके कारण भी माता-पिताकी सेवामें त्रुटि हो जाया करती है। भगवान्‌के भजन, ध्यान तथा सत्सङ्गके तेज साधनसे अन्तःकरण शुद्ध हो जानेपर संसार एवं शरीर सब मिथ्या तथा क्षणभङ्गुर भासने लगते हैं और तब माता-पिताकी रुचिके अनुसार कार्य करनेपर दुःख नहीं होता। माता-पिताके मनके माफिक काम करना ही उनकी परम सेवा करना है। शरीर और संसारकी सत्ताका अभाव हो जानेपर फिर दूसरोंकी इच्छाके अनुसार कार्य करनेमें कोई आपत्ति नहीं रह जाती। चाहे जो कुछ हो, उसे तो आनन्द-ही-आनन्द रहता है। वस्तुतः जिनके मनमें संसार और शरीरके प्रति सत्ताका भाव नहीं है, वे ही जीवन्मुक्त हैं, उन्हींका जन्म धन्यवादके योग्य है। किसी भी बातकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये। चिन्ता ही भजन-ध्यानके साधनमें त्रुटि उत्पन्न करनेवाली है। जो निरन्तर प्रसन्न मनसे एवं निष्काम भावसे भगवान्‌के नामका जप करता है, उसको भजनके प्रतापसे जल्दी ही भगवान्‌के दर्शन हो जाते हैं। माता-पिता, दादा-दादी इत्यादि सभी बड़ोंकी सेवाके समान और कोई धर्म नहीं है। परन्तु इस धर्मका पालन सत्सङ्ग तथा भजन-ध्यानके द्वारा हृदयका पाप नाश हो जानेपर ही होता है। अन्यथा पापके कारण इस धर्मका पालन करनेमें शर्म आती है।

(७)

आपने लिखा कि तीव्र अभ्यासके द्वारा बहुत जल्द श्रीपरमात्माके नित्य सत्य बोधस्वरूपके ध्यानमें सदा एकरस स्थिति हो जाय, ऐसा उपाय होना चाहिये; सो ठीक है। आपने अपना जो अभ्यास लिखा है, वह बहुत ठीक है। ऐसा अभ्यास बढ़ाते रहनेसे आपकी इच्छाके अनुसार स्थिति हो सकती है।

उपदेश देनेवाला मैं कौन हूँ ? फिर भी आपलोगोंके प्रेमके कारण कुछ-न-कुछ लिखा ही जाता है। परन्तु

ध्यानका विषय जिस प्रकार समक्षमें समझा जा सकता है, उस प्रकार पत्रमें नहीं समझाया जा सकता। पत्रमें जो कुछ लिखा जा सकता है, वह नीचे लिखा जाता है—

१–ध्यानके समय यदि कोई पुकारे और वह शब्द सुन पड़े तथा उत्तर देनेकी स्फुरणा हो तो कोई हर्जकी बात नहीं है। यदि शब्द सुनायी न पड़े और कोई स्फुरणा भी न हो तो और भी उत्तम बात है। ध्यानमें जो शब्द सुनायी देता है, वह सर्वव्यापी सत्-चित्-आनन्दके भीतर कल्पित-सा दिखायी देता है—यह भी कोई हर्जकी बात नहीं है। परन्तु उसमें जो अस्तित्व है, उसको परमात्माका स्वरूप समझना चाहिये। उसके अतिरिक्त और किसीका अस्तित्व नहीं मानना चाहिये। यह स्थिति उत्तम है। परन्तु इससे भी ऊँची श्रेणीकी स्थिति और है, जो नीचे लिखी जाती है।

२–पत्र लिखते समय जो अचिन्त्य अवस्थाका ज्ञान रहता है, सो साधन-अवस्थामें रहता है। क्योंकि अचिन्त्य अवस्थामें भी जीवात्मा और परमात्माकी एकता नहीं है। एकताके समान स्थिति अवश्य है। एकता होनेके बाद तो फिर जीवात्माकी स्थिति शरीरमें हो ही नहीं सकती। वह पूर्ण ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है। उस अवस्थाको कोई कह नहीं सकता, वह अनिर्वचनीय पद है।

३–एकमात्र सच्चिदानन्द ही है, मैं कुछ भी नहीं हूँ—इस प्रकार अपनेको भूलकर सच्चिदानन्दका ही होना मानना चाहिये। मैं तथा मेरा कुछ नहीं है, ऐसा समझनेका अभ्यास करनेसे अपनेमें अभाव और सच्चिदानन्दमें भाव हो सकता है। फिर एकान्तमें आँख मूँदकर बैठनेके बाद अन्तःकरणमें संसारका जो चित्र चिन्तनमें आवे, उसे अन्तःकरणसहित मिथ्या समझे अर्थात् उसका अभाव समझे। सबका लोप हो जानेके बाद चित्तमें जो अभाव करनेवाली वृत्ति है, उसका अचिन्त्य परमात्मामें एकीभाव हो जाय; वही परमात्माका साक्षात् स्वरूप है। सर्व आकारका अभाव करते-करते अभाव करनेवाली वृत्तिके भी शान्त हो जानेपर जो बच रहता है, वही अचिन्त्य, बोधस्वरूप आनन्दघन परमात्मा है। वही अमृत है।

४–नित्य सत्य बोधस्वरूप आनन्दघनमें प्रगाढ़ स्थिति कब होगी, इसका उत्तर कोई मनुष्य नहीं दे सकता। क्योंकि यह बात भविष्यसे सम्बन्ध रखनेवाली होनेके कारण अनिश्चित है तथा साधनके अधीन है। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि साधन तेज होनेपर उपर्युक्त स्थिति शीघ्र ही प्राप्त हो सकती है। 'तीव्रसंवेगानामासन्नः।' (यो० १।२१)

५–नित्य सत्य बोधस्वरूप आनन्दघनकी प्राप्ति चाहे जब हो, उसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये। उसका ध्यान निरन्तर अवश्य रहना चाहिये। इसके लिये तीव्र अभ्यास ही उपाय है।

६–साधक पुरुषको व्यवहारके समय अचिन्त्यके स्मरणकी स्थितिका स्मरण रहता है। यही एक प्रकारका ध्यान है। यह अवस्था अच्छी है, परन्तु बहुत ऊँची नहीं है। इसके बाद एक अवस्था और होती है। उसमें नित्य आनन्दघनमें ध्यानकी निरन्तर प्रगाढ़ स्थिति हो जाती है। वह स्थिति सदा एकरस रहती है। उसमें कमी-बेशी नहीं होती। फिर उसके बाद उससे भी बढ़कर परमात्माकी प्राप्तिकी अवस्था होती है, परन्तु वह कहनेमें नहीं आ सकती।

इस प्रकार ध्यानका विषय बहुत गहन है। पत्रमें संक्षेपमें ही लिखा गया है। यदि कभी समक्ष मिलना हो तो अच्छी तरह पूछ लेना चाहिये।

(८)

आपने लिखा कि मन स्थिर नहीं रहता तथा भजन-सत्सङ्ग बहुत कम होता है, सो ऐसा क्यों होता

है ! सत्सङ्गकी उत्कण्ठा होनेसे ही सत्सङ्ग मिलता है। आपने सत्सङ्गका मर्म जाना नहीं। सत्सङ्गका मर्म जान लेनेपर सत्सङ्ग छूट नहीं सकता। संसारमें सत्सङ्गके समान कोई वस्तु नहीं है। जो सत्सङ्गकी इच्छा करते हैं, उन्हें सत्सङ्ग मिलता है। इच्छा न रहनेपर प्रारब्ध-वश ही सत्सङ्ग मिल सकता है। परन्तु प्रारब्धके भरोसे काम चलना मुश्किल है। इसलिये इच्छा करके उसे प्राप्त करना चाहिये।

आप तीर्थोंमें गये, परन्तु वहाँ जाकर भी आपका मन स्थिर नहीं हुआ तो फिर तीर्थोंमें जाकर आपने क्या लाभ उठाया ! तीर्थोंमें किसलिये जाया जाता है, इसपर विचार करना चाहिये। उत्तम पुरुष तो भगवत्-प्राप्तिके लिये तीर्थोंमें जाया करते हैं, मध्यम पुरुष धर्मके लिये जाया करते हैं और उनसे भी नीची श्रेणीके लोग किसी कामनाकी पूर्तिके लिये जाते हैं। जो लोग भगवत्प्राप्तिके लिये तीर्थोंमें जाते हैं, उनकी दृष्टि भगवद्दर्शन प्राप्त करने, भगवद्भक्तोंद्वारा उपदेश सुनकर धारण करने और मन भगवान्में लगानेकी ओर रहती है। सो आपको भी ऐसा ही करना चाहिये। मन स्थिर करनेके लिये आपको भगवान्के नामका निरन्तर जप करना चाहिये। इससे आपका मन स्थिर हो सकता है।

दैनिक कल्याण-सूत्र

१ जून शनिवार—तुम जितना जानते हो, उसका शतांश भी अपने जीवनमें उतार लो तो तुम्हें और कुछ जाननेकी आवश्यकता ही न रहे। तुमने अबतक जिसको सर्वश्रेष्ठ जाना है, उसको अपने जीवनमें ले आओ। तुम्हारे ज्ञानका अजीर्ण कहीं तुम्हारे जीवनको विशृङ्खल और उद्विग्न न कर दे।

२ जून रविवार—तुम जिस विषयपर विचार करो, अपने जीवनकी दृष्टिसे करो। एक क्षणमें ही तुम्हें पता चल जायगा कि वह तुम्हारे जीवनको ऊपर उठाता है या नीचे गिराता है। तर्क और युक्तियोंके जालमें उलझ जाओगे तो तुम्हारा जीवन आश्रयहीन हो जायगा।

३ जून सोमवार—विचार करो—मेरे चित्तमें जो अशान्ति या असन्तोष है, वह किस अभावके कारण है ? क्या मैं अनेक प्रकारके अभावोंसे घिरा हुआ हूँ ? वह कौन-सी वस्तु है, जिसके प्राप्त होनेपर सारे अभाव पूर्ण हो जायँगे ? निश्चय ही ऐसी वस्तु एकमात्र परमात्मा है। जबतक वे नहीं मिलेंगे, तबतक इस जीवनके अभावोंसे छुटकारा कहाँ। मैं तो उन्हें प्राप्त करके रहूँगा।

४ जून मङ्गलवार—तुम्हारे चित्तमें जो इच्छा उठ रही है, उसकी पूर्ति जीवनके लिये कितनी आवश्यक है ? क्या उसके बिना तुम्हारा काम नहीं चल सकता ? कम-से-कम इच्छा करो। हो सके तो उसका नाश कर दो। जब तुम्हारी आवश्यकताओं-को तुमसे अधिक जाननेवाला और उनको पूर्ण करनेवाला विद्यमान है, तब तुम क्यों इच्छा करते हो ! उसपर विश्वास करो। तनिक सोचो तो उसको तुम्हारे हितका कितना ज्ञान और ध्यान है ?

५ जून बुधवार—देखो, तुम्हारे पास अनावश्यक वस्तुएँ कितनी हैं। उनके बिना यदि संसारके बहुत-से प्राणी दुखी हैं, तो तुम्हें क्या अधिकार है कि

तुम उन्हें अपने पास रखकर सजाओ ! उचित तो यह है कि तुम अपनी आवश्यकताका विचार किये विना ही दूसरोंकी आवश्यकता पूरी कर दो।

६ जून गुरुवार–क्या आज तुमने किसीकी कुछ सेवा की है ? यदि नहीं तो आजका दिन तुमने खो दिया। यदि किसीकी कुछ सेवा की है तो सावधान रहो, मनमें कहीं अहङ्कार न आ जाय ! इस विशाल विश्वमें तुम्हारा कर्तृत्व कितना छोटा है। यदि इससे अधिक सेवा कर पाते तो क्या ही उत्तम होता !

७ जून शुक्रवार–उस समय तुम्हारी परीक्षा होती है, जब दूसरा कोई तुम्हारे साथ कटु व्यवहार करता है। कम-से-कम वैसा व्यवहार तो तुम्हें किसी औरके साथ नहीं करना चाहिये।

८ जून शनिवार–क्या ही अच्छा होता कि तुम जैसा बनना चाहते हो, वैसा बन जाते ! परन्तु वैसा न बननेका कारण क्या है ? तुम्हारी दुर्बलता। शरीर चाहे वहाँतक न जा सके, मनसे जानेमें तो कोई अड़चन है ही नहीं। तुम जहाँ पहुँचना चाहते हो, मनसे वहीं जाकर बैठो। तुम देखोगे कि तुम्हारा शरीर और उसकी परिस्थितियाँ तुम्हारी सहायता कर रही हैं और तुम अपने प्रियतम प्रभुके पास हो।

९ जून रविवार–आशा पूर्ण होगी, भगवान्से। निराशा पहुँचायेगी, भगवान्तक। दोनोंके बीचमें लटको मत। दोनों ही मार्ग हैं। किसी एकको पकड़कर चल पड़ो। परमात्माकी ओर चलना, चलते रहना ही शुद्ध जीवन है। प्रेमीको विश्राम कहाँ।

१० जून सोमवार–यह तो तुम जानते ही हो कि तुम्हारी प्रत्येक क्रिया भेंटके रूपमें स्वीकार की जा सकती है, की जाती है। फिर वैसा करके तुम अपने प्राणोंको तृप्त क्यों नहीं कर लेते ? अनुभव करो–जो कुछ मैं कर रहा हूँ, सब मेरे प्रभुके श्रीचरणोंमें भेंट है। और वे बड़ी प्रसन्नतासे उसे स्वीकार कर रहे हैं।

११ जून मङ्गलवार–तुम्हारे अन्तःकरणमें जितनी पवित्रता होगी, उतना ही अधिक तुम शान्ति और आनन्दका अनुभव कर सकोगे। भगवान्की कृपाका आश्रय लेकर सब पाप-ताप धो डालो और परमानन्दका अनुभव करो।

१२ जून बुधवार–केवल भावका ही तो परिवर्तन करना है। जिसे जड जगत्के रूपमें देखते हो, उसे भगवद्रूप देखो। यह लीला है—लीला। इसे सत्य मानकर कार्य-कारण-विवेक मत करो। इस चिन्मयी लीलाकी असलियत जान लो, फिर कहीं कभी शोक-मोह तुम्हारा स्पर्श नहीं करेंगे।

१३ जून गुरुवार–तुम्हारे अन्तस्तलमें एक दिव्य ज्योति रात-दिन जगमगाती रहती है। उसे कामनाके परदेसे ढको मत। बल्कि उसे और भी प्रज्वलित करके सब कामनाओंको उसीमें भस्म कर दो। तुम्हारा यह हवन कितना पवित्र होगा !

१४ जून शुक्रवार–तुम जो कुछ कर रहे हो, जो कुछ बोल रहे हो और जो कुछ सोच रहे हो, सब भगवान्के सामने। तब तुम्हें कितना सावधान रहना चाहिये।

१५ जून शनिवार–यदि इसी समय भगवान् तुम्हारे पास आ जायँ, जो कि उनकी दयालुताको देखते हुए बहुत सम्भव है, तो तुम उन्हें कहाँ बैठाओगे ? क्या तुमने बाहर या भीतर कहीं भी उनके बैठने योग्य स्थान तैयार रक्खा है ?

अबसे अपने हृदयका कमरा उनके लिये साफ कर लो।

१६ जून रविवार—भगवान् आनन्दमय हैं, जगत् आनन्दमय है, तुम आनन्दमय हो। परन्तु यह आनन्द कहाँ छिपा है? यह तुम्हारे अनुभवमें क्यों नहीं आता? इसे ढूँढ़ निकालो और इस सत्यका साक्षात्कार करके आनन्दमय हो जाओ।

१७ जून सोमवार—कभी तुम्हारे मनमें यह अहङ्कार तो नहीं आता कि तुम प्रेमी या ज्ञानी हो? यदि ऐसा है तो अभी तुम्हें प्रेम या ज्ञानकी अनुभूति नहीं प्राप्त हुई। प्रतिक्षण बढ़नेवाले प्रेमको कहीं भी पूर्ण मान लेना, उतनेसे ही तृप्त हो रहना प्रेम नहीं, प्रेमाभास है। अपने अज्ञानको जानना ही सच्चा ज्ञान है। तुम सच्चे अर्थमें प्रेमी और ज्ञानी हो न?

१८ जून मङ्गलवार—अपने हृदयमें अनुसन्धान करो—मैं जिस समय कर्तव्यका उल्लङ्घन करता हूँ, या उपेक्षा कर देता हूँ, क्या उस समय उस कर्तव्यकी अपेक्षा श्रेष्ठ कर्ममें लगा रहता हूँ? यदि शरीर-सुख अथवा स्वार्थके लिये मैं अपने कर्तव्यकी अवहेलना करता हूँ तो मैं तमोगुणी हो रहा हूँ। सुखी होनेका साधन है—सात्त्विकता, सदाचार और तत्परता। निश्चय करो, अब कभी मैं प्रमाद नहीं करूँगा।

१९ जून बुधवार—जिस समय भगवान् हमारी इच्छाके विपरीत कुछ करते हैं, उस समय उनका वात्सल्य-स्नेह अत्यधिक प्रकाशमें आता है। वे हमारी इच्छाओंको अपनी इच्छाके अनुसार रखना चाहते हैं, यह उनकी कितनी कृपा है! इससे उनकी देखरेखका पता तो चलता ही रहता है।

२० जून गुरुवार—इस विशाल विश्वमें तुम कितने नन्हे-से शिशु हो, इसपर विचार करो। क्या तुम्हारी बुद्धि—छोटी-छोटी चीजोंके लिये मचल पड़नेवाली बुद्धि—तुम्हारे सम्पूर्ण जीवनका हिताहित सोच सकती है? यदि नहीं, तो परमात्माके अनन्त ज्ञान, शक्ति और कृपापर क्यों नहीं निर्भर हो जाते?

२१ जून शुक्रवार—विश्वास करना ही पड़ता है—अपनी बुद्धिपर करो, चाहे परायीपर। क्या तुमसे अधिक बुद्धिमान् और तुम्हारा हितैषी दूसरा कोई नहीं है? फिर तो तुम्हारी रक्षाका कोई उपाय ही नहीं है। महापुरुषोंपर, शास्त्रोंपर विश्वास करो। सबसे उत्तम तो यह है कि भगवान्पर विश्वास करो।

२२ जून शनिवार—विश्वास करनेके लिये आत्मबलकी आवश्यकता है। दुर्बल हृदय किसीपर विश्वास नहीं कर सकता। चरित्रभ्रष्ट पुरुष जितना जल्दी प्रभावित होता है, उतना ही जल्दी अविश्वास भी करता है। क्या तुम किसीपर विश्वास करते हो कि ये गला भी काट दें तो हमारा हित ही करते हैं? परमात्मापर ऐसा ही विश्वास करो।

२३ जून रविवार—जिसपर तुम विश्वास करते हो, वह तुम्हारा क्या बिगाड़ सकता है? अधिक-से-अधिक सांसारिक सुख-सम्पत्ति। क्या इसके त्यागके लिये तुम प्रस्तुत नहीं हो? यदि इसके बदले तुम्हारे अन्तःकरणको अतुलनीय आत्मबल, श्रद्धा, सहिष्णुता, अनासक्ति और समता प्राप्त होती है तो तुच्छ वस्तुओंकी हानिमें क्या रक्खा है? जहाँ तुम सन्देह करते हो, डरते हो, तुम्हारी ही कमजोरी है।

२४ जून सोमवार—तुम निर्भय रहो। क्योंकि यदि तुम परमात्माके प्रति हृदयसे सच्चे रहे तो तुम्हारी हानि कभी हो ही नहीं सकती। जिसे संसारी लोग हानि समझते हैं, वह तो साधकके लिये परम लाभ है। तुम केवल अपने हृदयको शुद्ध रक्खो। उसमें सन्देह और भयको मत आने दो। भगवान्

तुम्हारे चारों ओर और हृदयमें रहकर तुम्हारी रक्षा कर रहे हैं ।

२५ जून मङ्गलवार–तुम्हारे मनमें किसीपर क्रोध आता है तो सबसे पहले अपनेपर क्रोध करो । क्योंकि अपने मनमें क्रोधको आश्रय देकर तुमने उस स्थानको भ्रष्ट किया है, जिसमें केवल प्रेमका निवास होना चाहिये ।

२६ जून बुधवार–क्या यह सत्य नहीं है कि तुम अपनी उस अमूल्य निधिकी बहुत कम सम्हाल करते हो, जिसके लिये यह संसार और जीवन है । जड़को काटकर शाखाको सींचना कहाँकी बुद्धिमानी है ? तुम उसीको, केवल परमात्माको सम्हालते रहो ।

२७ जून गुरुवार–अनुभव करो–मेरे हृदयके सिंहासनपर परमात्मा विराजमान हैं । मेरे प्रत्येक सङ्कल्प और क्रियाको वे देख रहे हैं । वे मुझसे खेल रहे हैं । मेरे खेलसे वे प्रसन्न हो रहे हैं । मैं कितना भाग्यवान् हूँ कि परमात्माके खेलका साधन बनकर उन्हें प्रसन्न कर रहा हूँ ।

२८ जून शुक्रवार–निश्चय करो–अब मैं कभी ऐसी चेष्टा या सङ्कल्प नहीं करूँगा, जो परमात्माके सङ्कल्पसे होनेवाली किसी भी क्रिया-घटनामें असन्तोष प्रकट करता हो । मैं उनके प्रत्येक विधानका हृदयसे स्वागत करूँगा ।

२९ जून शनिवार–विचार करो–मेरे चित्तमें अपने शरीर और उसके सम्बन्धियोंके लिये जो कामनाएँ हैं, वही प्रत्येक स्थितिमें समता अथवा भगवत्कृपाका अनुभव नहीं होने देतीं । मैं समस्त कामनाओंका नाश करके उसका अनुभव करूँगा । मेरा चित्त निष्काम और शान्त हो रहा है । मैं समता और कृपाका अनुभव कर रहा हूँ ।

३० जून रविवार–अनुभव करो, इस भावनामें डूब जाओ कि सर्वत्र भगवान्-ही-भगवान् हैं—जो कुछ मैं देख-सुन या सोच रहा हूँ, सबमें परमानन्दस्वरूप परमात्मा विद्यमान हैं । सबका रूप धारण करके नाना नामोंसे वही लीला कर रहे हैं । मेरा मन इस सत्यको पहचानकर मुग्ध हो रहा है, मस्त हो रहा है । मस्त हो जाओ ।

कर्मयोग

(लेखक—राय साहिब लाला लालचन्दजी)

भगवान्‌की इच्छा है कि मनुष्यके कर्मसे उनका (भगवान्‌का) यश महान् हो, क्योंकि मनुष्य 'अमृत-पुत्र' है ।

भगवान् स्वयं उसी कर्मसे प्रसन्न होते हैं, जो प्रेम और उत्साहपूर्वक किया जाता है । जो मनुष्य प्रेमपूर्वक निरन्तर कर्ममें लगे रहते हैं, उनका कर्म ही उनके लिये परम कल्याणका द्वार खोल देता है ।

'मैं केवल वह कर्म करूँगा, जिसे मैं परम पिताकी साक्षीमें अपना मुख उज्ज्वल रखके कर सकता हूँ'—ऐसी धारणा मनुष्यको अपवित्रतासे हटाकर पवित्रताकी ओर, असत्यसे हटाकर सत्यकी ओर और मृत्युसे हटाकर अमृतकी ओर ले जाती है ।

'मैं प्रत्येक कार्य ऐसी दृढ़ता और निश्चयसे करूँगा कि मानो उस एक कार्यके सिवा मुझे और कुछ करना ही नहीं है । मैं इस कार्यको यथाशक्ति अधिक-से-अधिक सुन्दर और ठीक ढंगसे करूँगा' ऐसे शुभ विचार जब प्रतिदिन कार्यरूपमें परिणत होते हैं तो वे मनुष्यके कल्याणमें परम सहायक होते हैं ।

प्रत्येक कर्मको प्रेमपूर्वक करनेसे नित्य नवीन उत्साह और चिरस्थायी बल प्राप्त होता है । चञ्चलता, उद्वेग, निर्बलता और आतुरताके स्थानमें योग्यता, सामर्थ्य और निश्चयका अनुभव होता है । प्रेमी ही उस आनन्दके भागी होते हैं, जो कर्तव्यके पश्चात् चित्तको अमृतमय रससे पूर्ण कर देता है ।

चाहे कुछ हो, मैं निश्चय करता हूँ कि मैं कर्मयोग-द्वारा पवित्रता प्राप्त करूँगा—ऐसा पावन विचार करनेवाला सदैव भगवान्की रक्षामें सुरक्षित रहता है। वह अपने प्रेमास्पदके दर्शन नित्य प्रत्येक स्थानमें करता है।

प्रेमी प्रेममें उन्नत हुआ अपने प्रेमास्पदसे कोई छिपाव नहीं रखता। उसके आनन्दकन्द हृदयविहारी हैं, सदैव हृदयमें निवास करते हैं; जब उसकी इच्छा हुई, हृदय उघाड़ा और अपने प्रेमास्पदके स्पष्ट दर्शन कर लिये।

भगवान् हमारा ज्ञान नहीं चाहते, मान नहीं चाहते, धन-धान्य नहीं चाहते; केवल प्रेम चाहते हैं और हमें अपने कर्तव्यमें रत देखना चाहते हैं।

भक्तकी प्रार्थना यह होती है कि 'हे मेरे भगवन्! मेरे साथ वैसा ही व्यवहार करो जैसा कि मैंने तेरी प्रजाके साथ किया है।' ये शब्द वही उच्चारण कर सकता है जिसके व्यवहारमें कपट, ईर्ष्या, द्वेष और मोहको स्थान नहीं है, जिसके मनमें सरलताका निवास है।

विश्वप्रेम वही कर सकता है, जो अपने बन्धुओंसे प्रेम करना जानता हो। और बन्धुओंसे प्रेम वही करेगा, जिसे अपने हृदयका पता है।

जिसके हृदयमें स्वार्थकी गन्ध नहीं, जिसके चित्तमें ममत्वका टेढ़ापन नहीं, ऐसा साधु ही प्रेमी हो सकता है; अन्य सब मोहको प्रेम कहते हैं।

हित करनेसे प्रेमकी ज्योतिका विकास होता है। नित्य धारणा करो कि आज मैं अवश्य किसीका हित-साधन करूँगा, यदि अन्यका हित करनेका अवकाश न मिला तो मैं अवश्य अपना ही हित करूँगा। मैं अपना अथवा किसी औरका अहित कदापि नहीं करूँगा। यदि विचार किया जाय तो हित-साधन जितना सुगम दिखायी देता है, उतना ही यदि हम जीवन-पथसे च्युत हो गये हों तो वह एक अत्यन्त कठिन समस्या हो जाती है। और मोहवश चाहे हम किसीका कितना ही प्रिय कार्य कर सकें, किन्तु उसके हित-चिन्तन एवं हित-साधनमें समर्थ नहीं होते। यह भी प्रेमकी कमी है। प्रेमीका विवेक उसे सदैव उज्ज्वल और स्पष्ट मार्गपर उत्साहसहित ले जाता है।

भगवान्के प्रेम-राज्यमें हम फलके समान सुगन्धि-युक्त, अग्निके समान तापयुक्त और सूर्यके समान ज्योतिर्मय बनें—जिससे कि जो कोई हमारे सहवासमें आये, उसे हमसे और हमें उससे अवश्य आनन्द मिले।

लाभके लिये सभी लोग कार्य करते हैं, केवल प्रेमी ही आनन्दके लिये कार्य करता है।

प्रेमी होना और कर्मयोगी होना एक ही है। कर्मयोगी वही हो सकता है, जो सहृदय हो और प्रेमी हो; और कर्मयोग बिना प्रेमीका जीवन ही प्रेममय नहीं हो सकता।

प्रेम जीवन है, प्रेम अमृत है, प्रेम आनन्द है—और तो क्या, प्रेम सर्वस्व है; क्योंकि भगवान् स्वयं प्रेममय हैं।

प्रेम और सौन्दर्यकी मनुष्यको जब सच्ची परख हो जाती है तो फिर उसे मोह नहीं होता।

प्रेममय भगवान्से ही प्रेम-धाराका विकास है; वह तो अमृतमयी, पावनी, जगतारिणी है। वह सुन्दर ध्वनि करती हुई, प्रेमियोंको छूती हुई निरन्तर बहती ही रहती है। उसका अन्त नहीं है।

प्रेम-नदीके तीरपर सुन्दर नीर-समीरका आनन्द है, अंदर पैठनेपर मलोंसे निवृत्ति है। जलपान करनेपर निरन्तरकी स्वस्थता और तृप्ति है।

प्रेम-नदीके जलसे जो उपवन सींचा जाता है, उसमें अनेकों अलौकिक सौन्दर्य दिखायी देते हैं। वहाँके नयनोंको तृप्त करनेवाले सुगन्धित फूल और सुन्दर कमल एक विलक्षण आकर्षण रखते हैं। ऐसे उपवनमें ध्याना-वस्थित होनेपर जब सुन्दर बूँदें आँखोंसे गिरती हैं तो सब मोह एवं पाप-सन्तापको हर लेती हैं और साधकको दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है। तब भगवान्की लीलाका रहस्य खुलता है।

रामायणमें स्वामि-भक्तिकी शिक्षा

(लेखक—श्रीआत्मारामजी देवकर)

जब मेघनादने श्रीलक्ष्मणजीको 'वीरघातिनी शक्ति मारी थी, तब उनकी प्राणरक्षाके लिये श्रीहनुमान्‌जी सञ्जीवनी बूटी लानेके लिये हिमालयको गये थे। वहाँ एक ही प्रकारकी बहुत-सी बूटियाँ लगी थीं। अतः वे सञ्जीवनीको न पहचान द्रोणगिरि नामके उस भूधर-खण्डको ही उखाड़ लाये, जहाँ वे सब विचित्र प्रभाव एवं शक्ति रखनेवाली बूटियाँ उगी हुई थीं।

उस पर्वत-खण्डको लिये हुए हनुमान्‌जी अयोध्यापुरीके ऊपरसे उड़ते हुए निकले। वहाँ नन्दिग्राममें बैठे भरतजी श्रीरामचन्द्रजीका भजन कर रहे थे। उन्हें रात्रिके समय दक्षिणकी ओर जाते हुए दुर्धर्ष वीर अञ्जनीनन्दनकी विशाल मूर्ति दिखलायी दी। रात्रिको राक्षसगण ही प्रायः यत्र-तत्र विचरण करते दिखलायी देते थे। इसीसे उन्हें शास्त्रोंमें निशाचर संज्ञा दी गयी है। अतः भरतजीने यह समझकर कि यह कोई भयानक राक्षस है और श्रीरामचन्द्रजीकी सेनाका विनाश करनेके लिये पर्वत लिये जा रहा है, हनुमान्‌जीको बाण मार दिया। फिर भी उस बातको सन्दिग्ध समझ उन्होंने तीव्र विषाक्त बाणका प्रयोग नहीं किया। विना फल अर्थात् नोकका थोथा बाण मारा था। इससे उनकी दूरदर्शिता सिद्ध होती है।

जब हनुमान्‌जी नीचे गिरे और राम-नामका उच्चारण करने लगे, तब बड़ी व्यग्रतासे भरतजी दौड़े हुए उनके निकट पहुँचे और उन्हें उठाकर हृदयसे लगा लिया। हनुमान्‌जीको मूर्च्छित देखकर उन्हें बड़ा दुःख हुआ और उन्हें बचानेका प्रयत्न करने लगे। जब उनकी मूर्च्छा भङ्ग न हुई, तब उन्होंने कोसलाधीश महाराजके प्रतापका स्मरण किया और कहा—

जौं मोरें मन बच अरु काया। प्रीति राम पद कमल अमाया॥
तौ कपि होउ बिगत श्रम सूला। जौं मो पर रघुपति अनुकूला॥

—क्या ही मर्मस्पर्शी प्रसङ्ग था!

इसके बाद हनुमान्‌जी उठकर बैठ जाते हैं। भरतजी उन्हें अयोध्या ले जाते हैं और वे युद्धका सारा वृत्तान्त माताओंको सुनाते हैं। उसे सुनकर लक्ष्मणजीकी माता सुमित्रा कहती हैं—'पुत्र लक्ष्मण! तुम धन्य हो। तुमने अपना कर्त्तव्य खूब निबाहा और स्वामीके निमित्त रणभूमिमें प्राण त्याग मेरा मुख उज्ज्वल कर दिया। दुःख इसी बातका है कि ऐसे असमयमें रामचन्द्रजी भ्रातृहीन हो गये। इस अभावकी पूर्तिके लिये मैं अपने छोटे पुत्र शत्रुघ्नको उनकी सहायताके लिये भेजती हूँ।'

माताकी आज्ञा पाकर शत्रुघ्न उत्फुल्ल मनसे हनुमान्‌जीके साथ जानेके लिये प्रस्तुत हो गये। सुमित्रा देवीके इस अनिर्वचनीय आत्मत्यागको देखकर कौसल्या माताके नेत्रोंमें जल भर आया। उन्होंने शत्रुघ्नजीका हाथ पकड़कर कहा—'पुत्र! तुम मेरे पास रहो। भरत नन्दिग्राममें बैठे तप कर रहे हैं, इस दीन कुटुम्बके एकमात्र अवलम्ब तुम्हीं हो। तुम्हारे विना हम सबकी और इस राज्यकी क्या दशा होगी?'

इस करुण दृश्यको देखकर हनुमान्‌जीका हृदय गद्गद हो उठा। उन्होंने आश्वासनपूर्ण वाणीसे कहा—'माता! तुम चिन्ता न करो। मैं सञ्जीवनी बूटी लेकर श्रीरघुनाथजीके पास जा रहा हूँ। इस बूटीके प्रभावसे लक्ष्मणजीकी मूर्च्छा दूर हो जायगी। वे कल ही अदम्य उत्साहसे शत्रुका सामना करेंगे और उसे पराजित करके ही शान्त होंगे। प्रबल

पराक्रमी भगवान् शेष महाप्रभु कोसलेन्द्रके प्रतापसे शीघ्र ही राक्षसोंका संहार करेंगे । लङ्काका राज्य विभीषणको मिलेगा और भगवान् श्रीराम लक्ष्मण तथा सीता देवीके साथ लौटकर अयोध्याका अटल-अविचल राज्य करेंगे ।'

इसके बाद श्रीहनुमान्जी लङ्का जानेके लिये प्रस्तुत हो जाते हैं । भरतजी कहते हैं—'हे महावीर ! मेरे कारण तुम्हें बड़ा कष्ट हुआ है । तुम्हारे पाँवमें चोट भी लग गयी है । इससे पहुँचनेमें विलम्ब होगा । मैंने श्रीरघुनाथजीके कार्यमें बाधा डाली है, अतः मैं चाहता हूँ कि उनकी कुछ सेवा करके इस घोर कलङ्कसे बचूँ । तुम सुखसे इस पर्वतपर बैठ जाओ । मेरा बाण तुम्हें पर्वतसमेत श्रीरघुनाथजीके पास पहुँचा देगा ।' इस समय हनुमान्जीके हृदयमें कुछ अभिमान उत्पन्न हुआ । उन्होंने भरतजीसे कहा—'महाराज ! आपका बाण मेरे भारको न उठा सकेगा ।' किन्तु फिर शीघ्र ही उन्हें श्रीरघुनाथजीके प्रतापका स्मरण आ गया । उनके मनमें यह भाव उदित हुआ कि 'जिनकी कृपासे मैं ऐसे-ऐसे कठिन कार्य कर रहा हूँ, वे भरतजीपर भी अनुकूल हैं और उन्हें अपना परम भक्त समझते हैं । उनके प्रसादसे मनुष्य क्या नहीं कर सकता ?' तब अपनी भूलपर पश्चात्ताप करते हुए वे भरतजीसे प्रार्थनापूर्वक कहते हैं—'हे नाथ ! आपके प्रतापको हृदयमें रखकर मैं बाणहीकी नाईं चला जाऊँगा । ज़रा भी विलम्ब न होगा ।' भरतजी उन्हें श्रीरघुनाथजीका अनन्य भक्त समझते थे । इससे चुप रह गये । हनुमान्जी उनकी चरणवन्दना करके चले गये । इस प्रसङ्गकी निम्नलिखित चौपाइयाँ बड़ी ही आनन्ददायिनी हैं—

राम प्रभाव बिचारि बहोरी । बंदि चरन कह कपि कर जोरी ॥

तव प्रताप उर राखि प्रभु . जैहउँ नाथ तुरंत ।

अस कहि आयसु पाइ पद बंदि चलेउ हनुमंत ॥

प्राणोंका मोह

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

हिमगिरिके उस उत्तुङ्ग भव्य प्रान्तमें सूर्य-किरणोंके पड़नेसे चमचमाती हुई रजत-कान्त शिलाएँ नेत्रोंको चकाचौंध कर रही थीं । शैत्यके कारण पैर मानो कटे जाते थे, रक्त जम-सा गया था । वृक्ष तो क्या, वहाँ तृण भी नहीं था । ऊपर स्वच्छ नीलाकाश और चतुर्दिक् ऊँची-नीची सहस्रों हिममण्डित पर्वतश्रेणियाँ !

प्राणिशून्य उस प्रान्तमें वह एकाकी यात्री बड़े कष्टसे मार्ग तय कर रहा था । तनिक-तनिक देरपर दूरबीनको नेत्रोंसे लगाकर इधर-उधर बड़े ध्यानसे देखता और फिर उसका मुख नैराश्यसे मलिन हो जाता । वह प्रायः श्रान्त हो गया था, तिसपर उसके झोलेमें भी इस यात्राके लिये कम भार नहीं था । शरीरके वस्त्रोंने उसे और भी दबा रक्खा था । किन्तु ये वस्त्र न होते तो सम्भवतः वह यहाँ एक क्षण भी नहीं रह पाता ।

एक नन्हा-सा स्रोत मिला, दोपहरमें यात्रीने वहीं बर्फपर अपने वस्त्र डालकर विश्राम किया । झोलेमें आजकी क्षुधापूर्तिभरको भी पर्याप्त भोजन न था । किसी प्रकार कुछ सहारा हो गया । वहाँ विश्राम कैसा ! बड़ी-बड़ी हिमशिलाएँ मार्तण्डकी उष्ण किरणोंके स्पर्शसे टूट-टूटकर गिर रही थीं । चारों ओर पल-पलपर उनकी कठोर गड़गड़ाहट गूँज रही थी । कहीं एक भी ऊपर

गिरी तो हड्डी-पसलीका भी पता न लगेगा । यात्री वहाँसे आगे बढ़ा ।

कुछ ठीक तो था ही नहीं कि जाना कहाँ है । दिन जैसे-जैसे ढलता जाता था, यात्रीकी व्याकुलता बढ़ती जाती थी । 'भला रात्रिको इस प्रदेशमें कैसे ठहरा जा सकता है !' चलनेके पूर्व उसने इन आपत्तियोंपर ध्यान भी नहीं दिया था । उसे उस समय मना करनेवाले कायर प्रतीत होते थे । जो लोग कठिनाइयोंका वर्णन करके उसे रोकना चाहते थे, उनपर वह मनमें हँसता था—'इन्होंने मुझे भी अपने-जैसा ही डरपोक समझ लिया है ।' उस समय उसे मृत्यु एक साधारण वस्तु लगती थी । प्राणोंकी कोई चिन्ता नहीं थी ।

पता नहीं प्राणोंकी यह ममता हृदयके किस कोनेमें छिपी थी । इस समय तो समस्त उत्साह जाता रहा था, सब हौसले विदा हो गये थे । केवल वह चाहता था कि 'कहीं सुरक्षित स्थान मिल जाय तो किसी प्रकार प्राण बचें । रात्रि व्यतीत करनेके लिये एक नन्हे छुपकी छाया भी क्या उसके भाग्यमें नहीं !'

दिन ढलता ही गया, प्रकृति किसीकी प्रतीक्षा तो करती नहीं । अस्ताचलको जाते हुए सूर्यकी लालिमाने उस हिमप्रान्तको अनुरञ्जित कर दिया । हिमशिलाओंके कण-कणसे रंग फूट रहा था, बड़ा भव्य दृश्य था । सब अरुण-ही-अरुण था । किन्तु यात्री इस मनोहर दृश्यसे और भीत हो रहा था । उसे इतनी पीड़ा हो रही थी मानो उसका रक्त निकालकर दिशाओंमें बिखेरा जा रहा हो । पैरोंमें तनिक भी चलनेकी शक्ति नहीं रह गयी थी । सारा शरीर शीतसे अकड़ा जा रहा था ।

रंग फीका होने लगा और कालिमा बढ़ने लगी । अरुण शिलाएँ धुँधली पड़ने लगीं । यात्रीने इसमें आती हुई अपनी मृत्युकी भीषण कालिमा देखी । वह व्याकुल हो गया, धैर्यका अन्त हो चुका था । यात्री एकबारगी पुकार उठा—'हे भगवन्, रक्षा करो !' और फिर मस्तकमें चक्कर आ जानेके कारण गिर पड़ा उन्हीं शिलाओंके ऊपर ।

सम्भवतः वह मूर्च्छित हो रहा था । किसीके कोमल करोंने उसके मस्तकको अपनी गोदमें ले लिया । वह चौंका, नेत्र खुले, देखा कि एक लंबी अरुणवर्ण जटाओं तथा विशाल दाढ़ीवाले कृष्णवर्ण पुरुष उसके सिरहाने बैठे हैं । वे उसके मस्तकपर धीरे-धीरे हाथ फेर रहे हैं ।

पता नहीं उस हाथमें क्या था, शरीरमें पुनः उष्णताका सञ्चार हुआ । उस अपरिचित पुरुषके मुखसे विचित्र तेज निकल रहा था, उनकी दृष्टिसे प्रेम तथा करुणाकी वृष्टि हो रही थी । यात्री उठा और उसने उनके चरणोंमें मस्तक रख दिया । बिना कुछ बोले अपने पीछे आनेका सङ्केत करके वे एक ओर चल पड़े, यात्रीने उनका अनुगमन किया । अब उसमें साहस आ गया था और कुछ शक्ति भी ।

(२)

बहुत दिनोंसे मि० अलबर्ट भारतीय योगियोंके विषयमें सुनते आये थे । उनकी योगमें बड़ी रुचि थी और उन्होंने अंग्रेजीमें प्रकाशित इस विषयके बहुत-से ग्रन्थ संग्रह कर रक्खे थे । कोई भी प्रसिद्ध भारतीय लंदन आता तो वे उससे मिलते और यहाँके योगियोंके विषयमें पूछते । स्वयं भी उन्होंने पाश्चात्य पद्धतिसे त्राटक और इच्छाशक्तिकी साधना की थी । पर उन्हें इतनेसे सन्तोष न था, वे भारतीय योगीके शिष्य होकर योग करना चाहते थे ।

पुस्तकोंसे और भारतीय प्रवासियोंसे पूछनेपर भी कोई कामकी बात ज्ञात न हो सकी । अन्तमें उन्होंने स्वयं भारतयात्रा करनेकी ठानी । वे स्वयं यहाँ आकर

उपयुक्त योगी गुरुका अन्वेषण करना चाहते थे। बाधा कोई थी नहीं। वे एक प्रतिष्ठित एवं सम्पन्न कुलके व्यक्ति थे, अतः शीघ्र ही आवश्यक सामग्री लेकर भारतको चल पड़े।

बड़ी-बड़ी आशाएँ लेकर वे जहाजसे समुद्रपर उतरे थे, पर यहाँ आनेपर एक भी पूर्ण होती दिखायी न दी। एक अपरिचित देशमें वहाँके महापुरुषोंको ढूँढ़ना सरल थोड़े ही होता है! इधर-उधर जहाँ भी महात्माओंका पता वे अपने भारतवासी अंग्रेज मित्रों, तीर्थके पंडों या भारतीय नौकरोंसे लगा सकते थे, लगाकर पहुँचे। व्ययकी कोई चिन्ता न थी, पर कहीं ऐसे भी महापुरुषोंका पता लगता है! इसी बीच उन्होंने हिंदीका थोड़ा अभ्यास भी कर लिया।

प्रायः सब तीर्थ और प्रसिद्ध स्थान देख लिये, बहुत-से साधुओंसे मिले भी; पर किसी स्थानपर सन्तोष न हुआ। उनके उपयुक्त गुरु न मिला। पहलेसे पढ़ रक्खा था कि हिमालयके बर्फीले प्रदेशमें बड़े-बड़े योगी रहते हैं। भारतमें आकर जिससे पूछा, सबने इसकी पुष्टि की; पर साथ ही सबने उनके दर्शन असम्भव बताये। अल्बर्ट महोदयको वे मार्गकी कठिनाइयोंके वर्णन विचलित न कर सके। वे अपनी धुनके पक्के थे। चले हिमगिरिके योगियोंके अन्वेषणमें। उनका निश्चय था कि वे किसी योगीको अवश्य पा लेंगे।

भारतका मानचित्र देखा, हिमालयके पर्वतीय प्रान्तोंके वर्णन पढ़े और अन्तमें हरद्वारसे दो-तीन नौकर लेकर केदारनाथजीकी यात्राको चल पड़े। बड़े आनन्दसे इतनी यात्रा समाप्त हुई। पर उन्हें जाना था और आगे। कोई भी नौकर केदारजीसे आगे आनेको तैयार नहीं हुआ। पंडे तथा दूसरे लोग इस साहबको बहुत मना करते रहे। अन्ततः स्वयं अकेले ही इन्होंने यात्रा करनेका निश्चय किया।

दो-तीन समयके भोजनके योग्य पावरोटी तथा कुछ कपड़े झोलेमें रक्खे, सर्दीसे बचनेके लिये वस्त्र पहन लिये; दूरबीन, लाठी तथा कुछ और आवश्यक वस्तुएँ लेकर बिना किसी पथके यों ही अनुमानसे उस हिम-प्रान्तमें आगे बढ़ने लगे। लोगोंने उन्हें पागल समझा। सब समझते थे कि यह मरने जा रहा है, लौट सकना असम्भव है।

मार्ग तो क्या था, उन शिलाओंपरसे उछलते जाना था। कहीं पैर घुटनोंतक कच्ची बर्फमें फँस जाते, कहीं उछाल लगानी पड़ती, कहीं चढ़ाई और कहीं फिसलकर उतराई पार करनी होती। बर्फपर कहीं-कहीं एक प्रकारकी घास जम आयी थी। थोड़ी दूरतक कुछ पेड़ भी मिलते रहे। भोजनको था ही, दिनभर चलते गये। रात्रिके समय एक पेड़ मिल गया सौभाग्यसे, वही अब अन्तिम वृक्ष था। निद्रा तो आनेसे रही, किसी प्रकार वस्त्रोंमें लिपटकर पड़ रहे।

रात्रिकी सर्दीने तथा पहले दिनकी थकानने शरीरको इस योग्य नहीं रक्खा था कि आगे बढ़े। बार-बार लौट जानेकी इच्छा होती थी। पर अब लौटनेमें भी लज्जा मालूम होती थी। विचारोंके द्वन्द्वमें पड़े हुए वे आगे बढ़े। अब आगे केवल हिमप्रान्त था, वह बर्फीली घास भी न थी। भोजन भी थोड़ा ही बचा था। प्राणोंकी बाजी लगाकर वे चल रहे थे। न पीछेके मार्गका पता था, न आगेके। दूरबीनसे इधर-उधर देखते, किन्तु वहाँ गुफाएँ कहाँ थीं! आशा आगे ले जा रही थी।

(३)

उन महात्माजीके पीछे-पीछे अल्बर्ट कुछ मिनट चले होंगे। एक स्थानपर गुफा-सी थी, भीतर बर्फका नाम नहीं था। पत्थरोंसे बनी हुई स्वच्छ गुहा थी, एक फटा हुआ मृगचर्म पड़ा था और एक कमण्डलु। बस, यही थी सब सामग्री।

महात्माजीके पीछे वह भी उस गुफामें गया, इतना स्थान था कि दो पुरुष सो सकें। अब साहस आ गया था, विश्वास था कि ये कोई महायोगी होंगे। उद्देश्यकी प्राप्ति हो जानेसे चित्त प्रसन्न था, थकान और शीतजन्य पीड़ा पता नहीं कहाँ चली गयी थी। नवीन स्फूर्ति, नवीन विचार और नया जीवन मिल गया था।

कुछ घासकी तरहके पौधे महात्माजीने हाथोंसे मले, यात्रीके झोलेसे प्याला निकलवाकर उसमें उनका रस निकाल दिया। 'तुम्हारी क्षुधानिवृत्तिके लिये यह पर्याप्त होगा। इसे पी डालो।' आज्ञाका पालन हुआ। सचमुच क्षुधा और श्रान्ति दोनों दूर हो गयीं। 'अब आज सो रहो, कल प्रातः देखा जायगा।' महात्माजी तो अपने मृगचर्मपर बैठ रहे और यात्री अपने वस्त्रोंमें सो रहा।

दूसरे दिन नेत्र खुलनेपर यात्रीने उस गुफामें अपनेको अकेला पाया। कुछ देरतक तो वह प्रतीक्षा करता रहा कि महात्माजी नित्यकर्मसे निवृत्त होकर आवेंगे। पर बैठे हुए जी नहीं लगता था। बाहर निकलकर देखा अभी बहुत तीव्र आँधी चल रही थी, पुनः गुफामें लौट गया। बड़े ध्यानसे वह गुफाके एक-एक भागको देखने लगा।

गुफामें क्या था, केवल पत्थर। वह मृगचर्म ज्यों-का-त्यों पड़ा था। दृष्टि वहाँ गयी जहाँ सोते समय उसका सिर था। 'यह नोट-बुक और कलम झोलेसे किसने निकाली!' वह नोट-बुक उठाकर देखने लगा। एक मुड़ा हुआ कागज रक्खा था, वह गिर पड़ा। यात्रीने कागज उठाकर खोल लिया।

'जबतक प्राणोंकी तनिक भी ममता शेष है, शरीरका मोह है, जीवनकी इच्छा है, तबतक यह दिव्य प्रदेश मनुष्यके लिये अगम्य है। व्यर्थ दुःसाहसका परिणाम अच्छा न होगा। चाहो तो तिब्बतमें रहकर साधन कर सकते हो। एक मानचित्र है, उससे सीधे कैलास पहुँच सकोगे, लौटो।'

कई बार उस पत्रको उसने पढ़ा, मानचित्र देखा, कुछ सोचकर मृगचर्मके आसनको प्रणाम करके चल दिया। उसी दिन उस मानचित्रके अनुसार चलकर वह तिब्बत पहुँच गया।

(४)

ल्हासासे कुछ दूर एक पहाड़ीकी तराईमें एक अंग्रेजका छोटा-सा बँगला था, उसे कुटिया ही कहना ठीक होगा। लोग उसे पागल समझते थे। वह प्रायः कमरमें एक वस्त्र लपेटे और शेष शरीरको खोले हुए पर्वतोंमें इधर-उधर घूमता रहता था। कभी-कभी तो कई दिनोंमें लौटता था। कुछ प्रसिद्ध लामा उसे योगी बताते थे। वह क्या भोजन करता था, इसे कोई नहीं जानता।

जब कोई उसके पास जाता तो वह पूछता 'तुममें प्राणोंका मोह है?' यदि कोई 'हाँ' कहता तो वह मुँह फेरकर चल देता। 'नहीं' यदि किसीने कह दिया हँसीसे, तो वह उसके चरण पकड़कर रोने लगता—'मेरे गुरुदेवतक जाकर उन्हें बुला लाओ।' वह कहता था—'वे उधर दूर पर्वतोंमें रहते हैं; उनतक वही जा सकता है, जिसमें प्राणोंका मोह न हो।'

एक दिन वह प्रातः उठा और पर्वतोंकी ओर चला गया। फिर कभी लोगोंने उसे देखा नहीं। लंदनसे उसका कोई सम्बन्धी पता लगाते हुए ल्हासातक पहुँचा था, पर उसे निराश होकर लौटना पड़ा।

ब्रजवासियोंका सुख

हम ब्रज सुखी ब्रज के जीव ।
प्रान तन मन नैन सर्बसु राधिका को पीव ॥ टेक ॥
कहाँ आनँद मुक्ति में यह कहाँ मृदु मुसुकान ।
कहाँ ललित निकुंजलीला मुरलिका कलगान ॥ १ ॥
कहाँ पूरन सरद रजनी जोन्ह जगमग जोत ।
कहाँ नूपुर बीन धुनि मिलि रासमंडल होत ॥ २ ॥
कहाँ पाँति कदंब की झुकि रही जमुना बीच ।
कहाँ रंग बिहार फागुन मचत केसर कीच ॥ ३ ॥
कहाँ गहबर बिपिन में तिय रोकिबो मिस दान ।
कहाँ गोधन मध्य मोहन चिकुर रज लपटान ॥ ४ ॥
कहाँ लंगर सखा सोहन कहाँ उनको हासि ।
कहाँ गोरस छाँछि टैंटी छाक रोटी रासि ॥ ५ ॥
कहाँ श्रवनन की रतन जगमगनि दसधा रंग ।
कंठ गदगद रोमहर्षन प्रेम पुलकित अंग ॥ ६ ॥
जहाँ एती बस्तु पइयत बीच बृंदाधाम ।
होब ऐसे ब्रज सुखद सों बाहिरें बेकाम ॥ ७ ॥
दास नागर चहत नहिं सुख मुक्ति आदि अपार ।
सुनौं ब्रज बसि श्रवन मैं ब्रजबासिनन को गार ॥ ८ ॥

—श्रीनागरीदास
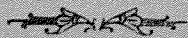
ॐ
कल्याण
कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्
वर्ष
१४
अङ्क
१२

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियराम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ आगारा ॥

[संस्करण ५७१००]

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

वार्षिक मूल्य
भारतमें ४≡)
विदेशमें ६||=)
(१० शिलिङ्ग)

साधारण प्रति
भारतमें ।)
विदेशमें ।≡)
(८ पेंस)

Edited by H. P. Poddar and C. L. Goswami, M. A., Shastri.
Printed and Published by Ghanshyamdas Jalan at the Gita Press, Gorakhpur (India).

श्रीहरिः

कल्याण जुलाई सन् १९५० की

विषय-सूची

पुराने-नये ग्राहकोंकी सेवामें नम्र निवेदन

(१) यह चौदहवें वर्षका १२ वाँ यानी अन्तिम अंक है। इस अंकमें सभी पुराने ग्राहकोंका सालाना चन्दा पूरा हो जाता है।

(२) १५ वें वर्षका पहला अंक 'श्रीसाधनाङ्क' होगा। साधनाङ्कके तीन खण्ड होंगे (अगस्त, सितम्बर और अक्टूबर)। तीनों अलग-अलग प्रतिमास प्रकाशित होंगे। तीनोंका मूल्य ३॥) होगा। परन्तु पुराने-नये ग्राहकोंको अधिक कुछ भी नहीं देना पड़ेगा। उन्हें बड़ी दुर्लभ चीज सहज ही ४≡) देनेसे मिल जायगी।

(३) पुराने और नये ग्राहकोंको चन्देके (लवाजमके) रुपये ४≡) तुरन्त भेज देने चाहिये। इस बार अंक जल्दी निकलेगा, इससे और भी जल्दी करनी चाहिये। नहीं तो वी० पी० पहुँचनेमें बहुत देर हो जायगी।

(४) जिन महानुभावोंने ग्राहक बनाये हैं और बना रहे हैं, उनके हम हृदयसे कृतज्ञ हैं। निष्काम सेवा भगवत्सेवा ही है। इस बार लड़ाईके कारण छपाईके काममें आनेवाली सभी चीजोंके दाम बहुत बढ़ गये हैं अतः अंकोंको सुन्दर बनानेमें बहुत अधिक खर्च हो जायगा। इसलिये विशेष चेष्टा करके नये सालके ग्राहक बनाने चाहिये।

(५) इस बार साधनाङ्क बहुत ही उपादेय, सुन्दर, सुबोध, शिक्षाप्रद होगा। इसमें बहुत ही उत्तम-उत्तम लेख रहेंगे। सम्भव है बहुत जल्दी संस्करण समाप्त हो जाय, इसलिये ग्राहक बननेवालोंको बहुत जल्दी करनी चाहिये।

(६) ग्राहकोंको चाहिये अपने मनीआर्डरके कूपनमें पूरा पता नाम, गाँव, डाकघर तथा जिलेका नाम साफ अक्षरोंमें लिखें। पुराने ग्राहक अपने ग्राहकनम्बर जरूर लिखें। नये ग्राहक 'नया' शब्द लिखें। नहीं तो कल्याण देरसे पहुँच सकता है।

(७) पुस्तकों तथा चित्रोंकी माँग गीताप्रेसको अलग लिखें। डाकके नियमानुसार 'कल्याण' के साथ और चीजें नहीं जा सकतीं।

(८) कल्याणके प्रेमी प्रत्येक सज्जन और प्रत्येक बहिन एक-एक दो-दो नये ग्राहक जरूर बना देनेकी चेष्टा करें।

(९) कल्याणका नया वर्ष '१ अगस्त' से शुरू होता है। पूरे सालके ही ग्राहक बनाये जाते हैं।

(१०) सजिल्द साधनाङ्क बहुत देरसे जायगा। पहले जिल्द बाँधनेका अवकाश नहीं मिलता, इसलिये क्षमा करें।

(११) जिन सज्जनोंको ग्राहक नहीं रहना हो वे कृपापूर्वक पहलेसे एक कार्ड लिखकर जरूर सूचना दे दें, ताकि व्यर्थ वी० पी० भेजकर कल्याण-कार्यालयको नुकसान न उठाना पड़े। आपके तीन पैसेके खर्चसे कार्यालयके लगभग आठ आने बच जायँगे।

व्यवस्थापक—कल्याण, गोरखपुर

वात्सल्य-भाव

प्रेमी ग्राहकोंको सूचना

इस अंकमें आपका इस सालका मूल्य समाप्त हो गया। इसके बाद अब पंद्रहवें वर्षका प्रथमांक 'श्रीसाधनांक' होगा, जो बहुत ही उपदेशप्रद, मनोरञ्जक और अनेक प्रकारकी साधन-सम्बन्धी नयी-नयी सामग्रियोंसे सुसज्जित रहेगा। यदि आपने अभी आगामी वर्षके लिये वार्षिक मूल्य नहीं भेजा हो तो कृपा कर अब मनीआर्डरद्वारा तुरंत ४≡) (चार रुपये तीन आने) भेज दीजिये। मनीआर्डरका फार्म जूनके अंकके साथ आपको भेजा गया है। साधनांक और उसके परिशिष्ट—सेप्टेम्बर तथा अक्टूबरके अंक तीनों अलग-अलग रहेंगे। तीनोंमें लगभग ९०० पृष्ठ और अनेकों रंगीन तथा सादे बहुत ही सुन्दर और दुर्लभ चित्र रहेंगे। मूल्य तीनोंका ३॥) होगा। सालभरके लिये ग्राहक बननेवालोंको ४≡) में ही साधनांकके सिवा नौ अंक और मिल जायँगे। एक अंकके दाम ।) होते हैं, इस हिसाबसे नौ अंकोंके २।) बाद देनेपर परिशिष्टांकोंसहित साधनांक ग्राहकोंको सिर्फ १॥।≡) में ही मिल जाता है। यों अलग साधनांक लेनेवालोंकी अपेक्षा ग्राहक बननेवाले सज्जनोंको १॥-) का फायदा रहता है। साधनांककी ५५६०० प्रतियाँ ही छप रही हैं। अतएव ग्राहकोंको बहुत जल्दी रुपये भेजकर ग्राहक बन जाना चाहिये। इस बार भी शायद खुली प्रतियाँ बहुत बिकें। इसलिये नये ग्राहकोंको तो रुपये भेजनेमें तनिक भी देर नहीं करनी चाहिये। जिनके पहलेसे रुपये आ जायँगे उनको साधनांक निकलते ही भेजा जायगा। रही-सही वी० पी० बहुत पीछे जायगी। साधनांक बहुत ही जल्दी बिक जानेकी सम्भावना है—इसलिये जल्दी ग्राहक न बननेवालोंको साधनांक शायद मिलना मुश्किल हो जायगा। यह बात याद रखनी चाहिये।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ (गीता १८ । ६६)

वर्ष १४ | गोरखपुर, जुलाई १९४० सौर आषाढ़ १९९७ | संख्या १२ पूर्ण संख्या १६८

मङ्गलमय छवि

मंगलरूप जसोदानंद ।
मंगल मुकुट, कानन में कुंडल, मंगल तिलक बिराजत चंद ॥१॥
मंगल भूषन सब अँग सोहत, मंगल मूरति आनँद कंद ।
मंगल लकुट काँख में चाँपे मंगल मुरलि बजावत मंद ॥२॥
मंगल चाल मनोहर मंगल दरसन होत मिटैं दुख द्वंद ।
मंगल ब्रजपति नाम सबन को मंगल जस गावत श्रुति छंद ॥३॥

विषय-वैराग्यकी आवश्यकता

आदित्यस्य गतागतैरहरहः संक्षीयते जीवितं व्यापारैर्बहुकार्यभारगुरुभिः कालो न विज्ञायते ।
दृष्ट्वा जन्मजराविपत्तिमरणं त्रासश्च नोत्पद्यते पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत् ॥७॥

'सूर्यके उदय और अस्त होनेके साथ-साथ प्रतिदिन आयु क्षीण होती जा रही है; बहुत बड़ी जिम्मेदारियोंके काम-धंधोंमें व्यस्त रहनेके कारण समय जाता हुआ लक्षित नहीं होता; जन्म, बुढ़ापा, विपत्ति और मृत्युके कष्टोंको देखकर भी त्रास उत्पन्न नहीं होती। मोहमयी प्रमादरूपी मदिरा पीकर संसार मतवाला हो रहा है।'

निवृत्ता भोगेच्छा पुरुषबहुमानो विगलितः समानाः स्वर्याताः सपदि सुहृदो जीवितसमाः ।
शनैर्यष्ट्योत्थानं घनतिमिररुद्धे च नयने अहो धृष्टः कायस्तदपि मरणापायचकितः ॥९॥

भोगोंकी इच्छा हट गयी; लोगोंमें जो बड़ा मान था, वह भी जाता रहा; समवयस्क तथा प्राणप्रिय इष्ट-मित्र इस लोकको छोड़कर चले गये; धीरे-धीरे लाठीके सहारे उठा जाता है और नेत्रोंकी ज्योति नष्ट हो गयी; फिर भी यह काया ऐसी निर्लज्ज है कि मृत्युभयसे चकित हो जाती है, मरनेका नाम सुनते ही काँप उठती है।'

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्तास्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः ।
कालो न यातो वयमेव यातास्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः ॥१२॥

'हमने भोगोंको भोगा हो, यह बात नहीं है; उल्टा भोगोंने ही हमें भोग डाला (हमारी आयु शेष कर दी)। हमने तपस्या नहीं की, तपस्याने ही हमें तपा डाला। समय व्यतीत हुआ हो, सो बात नहीं है; हम स्वयं ही समाप्त हो गये। तृष्णा पुरानी नहीं हुई (वह ज्यों-की-त्यों प्रबल बनी हुई है), हम ही पुराने (वृद्ध) हो गये।'

अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वापि विषया वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत्स्वयममून् ।
व्रजन्तः स्वातन्त्र्यादतुलपरितापाय मनसः स्वयं त्यक्त्वा ह्येते शमसुखमनन्तं विदधति ॥१६॥

'ये विषय-सुख चिरकालतक ठहरकर भी एक-न-एक दिन अवश्य छूटेंगे। चाहे वे हमें छोड़कर चले जायँ अथवा हम ही उन्हें छोड़ दें—दोनों ही हालतोंमें उनसे वियोग समान ही होगा। फिर मनुष्य इनका स्वेच्छासे त्याग क्यों नहीं कर देता? क्योंकि यदि ये अपनी इच्छासे हमें छोड़कर जायँगे तो हमारे मनको अपार कष्ट होगा; किन्तु यदि हम इन्हें छोड़ देंगे तो उस त्यागसे हमें अनन्त शान्ति और सुख मिलेगा।'

भिक्षाशनं तदपि नीरसमेकवारं शय्या च भूः परिजनो निजदेहमात्रम् ।
वस्त्रं च जीर्णशतखण्डमलीनकन्था हा हा तथापि विषया न परित्यजन्ति ॥१९॥

'दिनमें एक बार भिक्षाका अन्न खानेमें आता है, वह भी रूखा-सूखा; जमीनका ही बिछौना होता है; शरीरके अतिरिक्त कोई दूसरा साथी नहीं है तथा ओढ़नेके लिये सौ टुकड़ोंके जोड़से बनी हुई पुरानी और मलीन गुदड़ी है; फिर भी आश्चर्य है कि विषयतृष्णा पिण्ड नहीं छोड़ती।'

(भर्तृहरि-वैराग्यशतक)

हिंदू-संस्कृतिका आध्यात्मिक आधार

(लेखक—श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय, एम्० ए०)

यह बात आमतौरसे स्वीकार की जाती है कि जीवनके प्रति हिंदुओंकी दृष्टि मुख्यतः धार्मिक है और हिंदूजाति हृदयसे—प्रकृतिसे ही धार्मिक जाति है। हिंदुओंके लिये सांसारिक जीवनके अन्य सभी उद्देश्य धार्मिक उद्देश्यके पीछे हैं। उनकी कला और साहित्य, उनका विज्ञान और दर्शन, उनकी राजनीति और अर्थ-नीति, उनके घरेलू और सामाजिक सङ्घटन तथा परिवार एवं समाजके लोगों एवं भिन्न-भिन्न जातियों और राष्ट्रोंके साथ परस्पर व्यवहारसम्बन्धी उनके विचार—सभी धर्मद्वारा शासित होते हैं। वे सब धर्मके भिन्न-भिन्न अङ्ग या पहलू मानकर बर्ते जाते हैं। मनुष्य प्रधानतः आध्यात्मिक प्राणी माना जाता है और मानवजीवनकी अनेकविध आवश्यकताएँ उसकी प्रकृतिकी मुख्य आध्यात्मिक आवश्यकताके अन्तर्गत, गौण रूपमें स्वीकार की जाती हैं।

मानवजीवनसम्बन्धी यह सिद्धान्त, जो हिंदू संस्कृतिका मूलभूत सिद्धान्त है और जो हिंदूजातिकी प्रकृतिमें निसर्गतः व्याप्त-सा हो गया है, आधुनिक समीक्षकोंद्वारा कई प्रकारसे आलोचित हुआ है। अनेक विचारकोंकी रायमें यह हिंदुओंके स्वभावकी मुख्य दुर्बलता है, जिससे हिंदूजाति क्रमशः क्षीण होती गयी है और जिसके कारण वह उन विकट परिस्थितियों और सङ्कटोंका सामना करके, जो मानवजातिके क्रम-विकासके सिलसिलेमें उपस्थित हुए हैं, आत्मरक्षा करनेमें असमर्थ साबित हुई है। वे ऐसा समझते हैं कि 'अस्तित्वके लिये सङ्घर्ष' (struggle for existence) और 'योग्यतमकी रक्षा' (survival of the fittest)-सम्बन्धी सिद्धान्त केवल निम्नश्रेणीके जीवोंमें ही लागू नहीं होते वरं मनुष्यजातिके सम्बन्ध भी उतने ही सत्य हैं और मनुष्यजातिमें सबसे अधिक प्रगतिशील और जीवित रहनेके योग्य वे हैं जो शारीरिक, राजनीतिक और आर्थिक दृष्टिसे बलशाली हैं, जो प्राकृतिक शक्तियोंको अधिक-से-अधिक उपयोगमें लेने तथा निर्बल जातियोंके जीवन-साधनोंका अपहरण करनेमें सबसे अधिक दक्ष हैं और जो सारी मानवीय शक्तियों-को अपनी भौतिक आकाङ्क्षाओंकी पूर्तिमें सफलता-पूर्वक लगा सकते हैं। किन्तु हिंदू-जीवनमें आध्यात्मिक आदर्शकी प्रमुखताके कारण हिंदू आत्माके कल्पित पारलौकिक हितके सम्बन्धमें अधिक चिन्तित रहते हैं और अपनी इहलौकिक शारीरिक, राजनीतिक तथा आर्थिक शक्तियोंके बढ़ानेका कम ध्यान रखते हैं। वे इन सांसारिक विषयोंकी ओर जितनी मुस्तैदीसे ध्यान देना चाहिये उतना नहीं देते, केवल बेगार-सी टालते हैं, जितनी जबर्दस्ती करना पड़ता है—जितना किये विना काम नहीं चलता उतना ही करते हैं।

फिर यह भी कहा जाता है—और यह आरोप अकारण भी नहीं है—कि धर्म मनुष्यजातिमें सदैव अशान्ति ही फैलाता रहा है। धार्मिक सिद्धान्तोंका कोई वैज्ञानिक या बौद्धिक समाधान नहीं हुआ करता। इसलिये तथा अन्य कारणोंसे भी वे सिद्धान्त भिन्न-भिन्न जातियोंमें भिन्न-भिन्न होते ही हैं। इसी कारण एक प्रकारके धार्मिक उसूलोंको माननेवाले दूसरे प्रकारके उसूलोंके माननेवालोंके अक्सर विरोधी हो जाया करते हैं। उनमें जो यह भ्रमात्मक विश्वास जड़ पकड़ लेता है कि वे ईश्वरके लिये लड़ रहे हैं, वह उनकी धार्मिक लड़ाइयोंको साधारण लड़ाइयोंकी अपेक्षा अधिक हृदयहीन और नृशंसतापूर्ण बना देता है। हिंदुओंमें धार्मिक सिद्धान्तोंके भेद सदैव रहे हैं,

इसलिये वे कभी भी एक होकर शक्तिशाली और उन्नतिशील नहीं बन सके। यही इस विचारधाराके अनुसार हिंदूजातिकी दरिद्रता, दासता और ह्रासका मूल कारण है।

दूसरी श्रेणीके विचारकोंके अनुसार हिंदूविचारोंके सम्बन्धमें इस प्रकारकी समीक्षा भ्रमपूर्ण और इतिहासकी अशुद्ध धारणापर अवलम्बित है। सच तो यह है कि जीवनसम्बन्धी धार्मिक दृष्टि ही हिंदू संस्कृतिका गौरव है और उसीने हिंदूजातिको अन्य समस्त मानवजातियोंका आध्यात्मिक नेता होनेका अद्वितीय पद दिया है। यह विचारधारा ऐसी है कि जिसे सभी देशोंके मनुष्यमात्रको मानना चाहिये और उसका अनुगमन करनेकी चेष्टा करनी चाहिये; क्योंकि मानवात्मा सर्वत्र स्वभावत: इसकी खोजमें रहता है और यह मानव-प्रकृतिकी प्रधान नैसर्गिक आकाङ्क्षा तथा विश्वके साथ उसके सम्बन्धके आधारपर ही बनी हुई है। इन विचारकोंका विश्वास है कि इसी दृष्टिके द्वारा आधुनिक जगत्की अति जटिल और दुरूह समस्याओंका सन्तोषजनक समाधान हो सकता है— उन समस्याओंका जो भिन्न-भिन्न मनुष्यवर्गोंके बाह्य जीवनके विरोधी स्वार्थोंसे उत्पन्न हुई हैं। वे विचारक यह मानते हैं कि जबतक जड प्रकृतिके ऊपर आत्माकी सत्ता न मानी जायगी और जबतक मन और इन्द्रियोंकी प्रवृत्तियों और आकाङ्क्षाओंके ऊपर जीवनका आध्यात्मिक आदर्श प्रतिष्ठित नहीं होगा, तबतक वे आर्थिक और राजनीतिक, साम्प्रदायिक और सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ आत्यन्तिक रूपसे नहीं सुलझ सकेंगी, जो आजकी पश्चिमी सभ्यताको भयङ्कर कलहके द्वारा विनाशके कगारपर ले आयी हैं। अत: हिंदुओंकी आध्यात्मिक संस्कृतिको आज संसारकी संस्कृतिका अधिनायकत्व करनेका कर्तव्य और अधिकार प्राप्त हुआ है।

इन विचारकोंकी दृष्टिमें यह समझना सरासर अदूरदर्शिता और अज्ञानका द्योतक है कि जीवनसम्बन्धिनी धार्मिक दृष्टिके कारण हिंदूलोग जीवन-सङ्घर्षमें संसारकी अन्य जातियोंके साथ मुकाबिला करनेमें असमर्थ हो गये हैं। इसके विपरीत, इसी आदर्शकी सञ्चालक और जीवनी शक्तिके कारण हिंदू हजारों शताब्दियोंसे एक विशिष्ट सभ्यता और संस्कृतिसे युक्त एक विशिष्ट जातिके रूपमें चिरदिनतक असंख्यों राजनीतिक एवं सांस्कृतिक क्रान्तियोंका सामना करते हुए लगातार जीवित रह सके हैं। इसी आदर्शकी सर्वग्राही और समन्वयकारी शक्तिके द्वारा हिंदू नये-नये प्रवाहोंको आत्मसात् करते और उक्त क्रान्तियोंसे उत्पन्न होनेवाली नयी-नयी परिस्थितियोंके अनुकूल अपनेको बनाते आये हैं। हिंदू-संस्कृति सभी युगोंमें अपने भीतरसे उत्पन्न होनेवाले क्रान्तिकारी उत्थानों तथा बाहरसे होनेवाले बर्बरतापूर्ण आक्रमणोंके फलस्वरूप उन्नत ही हुई है, कभी उनसे आक्रान्त होकर विनष्ट नहीं हुई। उसकी अबाध गति कभी मारी नहीं गयी, न कभी उसकी अपनी विशिष्टता या परम्परा ही टूटी है। आजके युगमें भी जब कभी और जहाँ कहीं उसका सन्देश विभिन्न संस्कृतिवाली जातियोंके सम्मुख यथार्थ रूपसे सुनाया गया है, तब-तब वे जातियाँ उसके सामने विनत हुई हैं, उनकी आत्माने उसे ही जीवनकी सत्यदृष्टिके रूपमें स्वीकार किया है, और यह भी माना है कि अनेकों विषमताओंसे पूर्ण इस आधुनिक जगत्में स्थायी सुख और शान्तिकी प्रतिष्ठा उसीके द्वारा हो सकती है। हिंदुओंपर जो भौतिक शक्ति एवं समृद्धिके पुजारियोंका राजनीतिक एवं आर्थिक प्रभुत्व स्थापित हो गया है, उससे किसी भी निष्पक्ष विचारकर्ताके मस्तिष्कमें यह धारणा नहीं होनी चाहिये कि हिंदुओंके आध्यात्मिक आदर्शमें ही—जो आदर्श हिंदू-संस्कृति और हिंदू-जीवनचर्याका

नियन्त्रण करता है—कोई स्वाभाविक दुर्बलता उत्पन्न करनेवाली शक्ति है। इस सामयिक पराधीनताका कारण कहीं अन्यत्र ढूँढ़ना चाहिये। सच तो यह है कि उक्त आध्यात्मिक आदर्शके अनुसार जीवन व्यतीत करने और सांसारिक जीवनके सभी क्षेत्रोंमें उसका प्रभुत्व कायम रख सकनेमें असमर्थ होनेके कारण ही हिंदुओंमें एकता और सामञ्जस्यका सूत्र दृढ़ न रह सका, और वे भिन्न-भिन्न वर्गोंकी भौतिक तृष्णा और अभिमानसे उत्पन्न हुई संहारक शक्तियोंके शिकार हो गये और इस प्रकार बाहरसे होनेवाले अधिक सुसङ्घटित पाशव शक्तिके आक्रमणोंका वे सामना न कर सके। किन्तु यह अस्थायी पराजय हिंदूजातिकी वास्तविक शक्तिहीनताका सूचक नहीं है।

हिंदूधर्मके स्वरूपके सम्बन्धमें तब बड़ी गलतफहमी उत्पन्न हो जाती है जब इस्लाम, खीष्टमत, बौद्धमत एवं जैनमत आदिका अनुशीलन करनेके फलस्वरूप हम हिंदूधर्मको भी एक मतविशेषकी दृष्टिसे देखने लगते हैं। हिंदूधर्म उस अर्थमें एक पृथक् मत या सम्प्रदाय नहीं है, जिस अर्थमें वे अन्य मत या सम्प्रदाय हैं। उन अपर साम्प्रदायिक मतोंके अनुयायिओंकी भाँति हिंदुओंके लिये धर्मका अर्थ आत्मा, ईश्वर, सृष्टि या मानवजीवनके अन्तिम लक्ष्य आदिके सम्बन्धमें किसी विशेष मसीहा, साधु-संत अथवा धर्मोपदेष्टाके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तविशेषको अनिवार्यरूपसे मान लेना नहीं है। न धर्मका स्वरूप किसी विशेष पूजा-पद्धति या ध्यानका अनुष्ठान, आचारसम्बन्धी कतिपय नियमोंका पालन तथा कुछ निश्चित क्रियाकलापका अनुष्ठान है। हिंदूधर्म किसी विशिष्ट पैगंबर या ईश्वरीय दूतकी अलौकिकतामें आँख मूँदकर विश्वास करने या उसके शरण होनेकी आज्ञा नहीं देता। हिंदूधर्म मानव-बुद्धिकी स्वतन्त्रता अथवा विचार, भावना और इच्छाके स्वातन्त्र्यपर कभी किसी प्रकारका अनुचित प्रतिबन्ध नहीं लगाता। फलतः सभी प्रकारके धार्मिक सिद्धान्त और विश्वास, विभिन्न प्रकारके क्रिया-कलाप और आचार हिंदूधर्ममें समान आदर पाते हैं और एक-दूसरेसे संबद्ध होकर विकासको प्राप्त होते हैं।

बहुमुखी हिंदूसमाजमें दार्शनिक सिद्धान्तों, धार्मिक साधनों एवं क्रिया-कलापों तथा सामाजिक आचार-व्यवहारोंको लेकर अनेक भेद होते हुए भी धर्मके स्वरूप एवं जीवन और संसारसम्बन्धी दृष्टिको लेकर हिंदूजातिके सभी वर्गोंमें एकताकी अन्तर्धारा प्रवाहित है। इस बातको सबलोग स्वीकार करते हैं कि मनुष्य स्वरूपतः चिन्मय है, यद्यपि इस सांसारिक जीवनमें वह परिणामी, सीमित तथा अपूर्ण स्थूल-सूक्ष्म शरीरोंसे सम्बद्ध रहता है। अपनी इस समस्त स्थूल-सूक्ष्म प्रकृतिको नियमित मानसिक एवं शारीरिक साधनाके द्वारा चिन्मय बना देना ही इस संसारमें मानवताकी सच्ची कृतार्थता है। संक्षेपमें, हिंदूविचारके अनुसार, धर्मका अर्थ है मानव-जीवनका क्रमशः अध्यात्मीकरण अर्थात् व्यावहारिक-जीवनके सभी विभागोंमें मनुष्यके चिन्मय स्वरूपके द्योतक गुणों— पवित्रता, सौन्दर्य, एकता, शिवत्व, आनन्द, मुक्तता, प्रेम, सत्य और राग-द्वेषरहित पूर्ण समताकी प्रतिष्ठा। हिंदुओंने धर्मको जीवनके किसी एक विभागमें बंद नहीं कर रक्खा है, न उसे संसारके व्यावहारिक जीवनसे अछूता ही रक्खा है। इस प्रकारका बन्धन या निषेध शायद उन धार्मिक सम्प्रदायोंके लिये उचित एवं आवश्यक भी है, जो धर्मको कुछ इने-गिने और नपे-तुले सिद्धान्तोंकी स्वीकृति, कुछ विशेष उपासना-पद्धतियोंका अनुसरण एवं विशिष्ट आप्त पुरुषके आदेशका पालन ही मानते हैं। इस प्रकारके धार्मिक सम्प्रदायोंके अनुयायियोंमें जब तार्किक प्रकृतिका विकास होता है, तब वे धार्मिक विश्वास एवं

कर्तव्य है कि वे अपने ही चिन्मय स्वरूपकी उपलब्धिके लिये अपनी-अपनी योग्यता तथा अपने सामने आये हुए अवसरोंके अनुसार समाजकी भिन्न-भिन्न प्रकारसे सेवा करें— और ऐसा करते हुए परस्परकी अनुचित और आध्यात्मिक दृष्टिसे हानिकर होड़ या प्रतियोगितासे बचे रहें। हिंदुओंके 'स्वधर्म'का यही अभिप्राय है। हिंदुओंका सामाजिक और राजनीतिक सङ्गठन सदैव इस बातकी चेष्टा रखता है कि पारस्परिक ईर्ष्या और प्रतियोगिताके लिये कम-से-कम गुंजाइश रहे। धन और सत्ताके क्षेत्रोंमें प्रतियोगिता होनेपर धन और सत्ताके स्वयं साध्य बन जानेकी सम्भावना रहती है, जब कि वास्तवमें उन्हें जनताके आध्यात्मिक कल्याणके आवश्यक साधनमात्र मानना चाहिये। समाज और राष्ट्रके अङ्ग होनेके नाते प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक समुदाय, प्रत्येक वर्ण और प्रत्येक जातिको सेवा और यज्ञ (आत्मोत्सर्ग) का जीवन व्यतीत करनेकी शिक्षा दी जाती है। इस प्रकारकी सेवा और आत्मोत्सर्गके फलस्वरूप ही उनकी शारीरिक और मानसिक स्थिति इस योग्य बनती है कि उसके द्वारा व्यवहार एवं अनुभवमें उनके अन्तरतम आध्यात्मिक स्वरूपके प्रकाशकी उपलब्धि हो सके। यह आत्मशुद्धि और नैतिक तथा आध्यात्मिक योग्यताकी प्राप्ति ही वास्तविक एवं प्रधान लाभकी वस्तुएँ हैं, जो किसी भी मनुष्यको समाजके द्वारा निर्धारित कर्तव्य-कर्मोंका—स्वधर्मका— ईमानदारी एवं सचाईके साथ पालन करनेसे प्राप्त होती हैं और जिन्हें प्रत्येक मनुष्यको प्राप्त करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। उन कर्तव्य-कर्मोंका बाह्य स्वरूप चाहे जो कुछ भी हो—खेती हो, कारीगरी हो, वाणिज्य-व्यवसाय हो, बाहर या भीतरके शत्रुओंसे देशकी रक्षाका कार्य हो या जनताको आध्यात्मिक आदर्शों और भावोंको समझाने, शिक्षा देनेका कर्तव्य हो—सबको एक-सी निष्ठासे करना चाहिये। इस उच्च लक्ष्यके सामने आर्थिक तथा राजनीतिक लाभको, जो स्वल्पकाल-तक ठहरनेवाला है, बहुत कम महत्त्व दिया गया है। आध्यात्मिक लाभ—जो एकमात्र स्थायी लाभ है—कर्मोंके बाहरी स्वरूपपर अवलम्बित नहीं है; वह तो निर्भर करता है उस भाव एवं निष्ठापर, जिसके साथ उक्त कार्य किये जाते हैं। शारीरिक अहङ्कारको आध्यात्मिक अहङ्कारके रूपमें बदलना होगा—वह अहङ्कार, जो सामाजिक जीवनमें उदारता और परहित-संलग्नताके रूपमें व्यक्त होता है। बाह्य जीवनमें स्वेच्छाकृत सेवा और आत्मोत्सर्ग ही आत्मसाक्षात्कारकी साधनाके स्वरूप हैं। इसके लिये यह उचित है कि हम अपने सांसारिक कर्तव्योंको इस प्रकार चुनें और चुनकर उनका इस प्रकार पालन करें कि जिससे पारस्परिक प्रतियोगिता, होड़, घृणा, भय, द्वेष और विरोधके लिये कम-से-कम अवकाश रह जाय और वास्तविक समाज-सेवाका— परमात्माके विराट् शरीरकी आराधनाका—साधकोंकी शक्तिके अनुसार अधिक-से-अधिक अवसर प्राप्त हो। हिंदूसमाजके नेताओंने सामाजिक और आर्थिक सङ्गठनके इस सिद्धान्तको व्यावहारिक रूपमें लानेका प्रयास जनताको यह आदेश देकर किया कि सभी व्यक्ति अपने-अपने पूर्वजोंके पेशोंको स्वीकार करें और उनमें दक्ष हो जायँ तथा उनके सांस्कृतिक आदर्शोंका ग्रहण एवं पालन करें और सचाईके साथ उन कर्तव्यों एवं आदर्शोंका पालन करके आत्माकी उपलब्धि कर लें। हिंदूसमाजमें वर्णव्यवस्थाकी स्थापना इसी आधारपर हुई है। जबतक सुयोग्य धार्मिक नेताओंके एवं आचार्योंके आचरणों एवं उपदेशोंद्वारा उक्त आध्यात्मिक आदर्श समाजमें पर्याप्त शक्तिशाली और प्रगतिमान् बना रहता है, तबतक सभी वर्णों और जातियोंमें कर्मभेद होते हुए भी एकता और साम्यके भाव स्थिर रह सकते हैं, और प्रत्येक वर्णमें आत्मसम्मानका भाव रह सकता है— जिससे उस वर्णके लोग शान्ति और सन्तोषके साथ अपने कर्त्तव्य-कर्मोंका पालन कर सकते हैं।

मुक्तिका स्वरूप-विवेचन

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

आत्मा सुखस्वरूप है। प्राणिमात्र सुखकी ही अभिलाषा करते हैं। दुखी होना कोई नहीं चाहता। 'सुखं मे भूयात्, दुःखं मे मास्म भूत्' (हमें सुख-ही-सुख हो, दुःखका हम कदापि अनुभव न करें) यही सबकी इच्छा रहती है। अनुकूलतामें सुख है और प्रतिकूलतामें दुःख है। इसीलिये शास्त्रोंने सुख-दुःखकी परिभाषा करते हुए कहा है—'अनुकूलवेदनीयं सुखम्। प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्।' अपनी स्थितिसे किसीको सन्तोष नहीं है। किसीके पास सौ रुपये हैं, वह चाहता है मेरे पास हजार रुपये हो जायँ। हजार-वाला लाखकी इच्छा करता है, लाखवाला करोड़की और करोड़ रुपयेवाला राजा होनेकी इच्छा करता है। राजा चक्रवर्ती बनना चाहता है, चक्रवर्ती इन्द्रके पदकी अभिलाषा करता है। तात्पर्य यह कि सभी अधिक-से-अधिक सुख चाहते हैं। अल्पसे किसीको सन्तोष नहीं है। श्रुति भी कहती है—'नाल्पे सुख-मस्ति। भूमैव सुखम्।' (अल्पमें सुख नहीं है, असीम ही सुखरूप है)। तात्पर्य यह कि हम सभी निरवधि, निरतिशय सुख चाहते हैं—ऐसा सुख चाहते हैं जिसका कभी अन्त न हो, जिसमें दुःखका सम्मिश्रण न हो और जो पूर्ण हो अर्थात् जिससे बढ़कर कोई दूसरा सुख न हो। इस प्रकारके सुखकी खोज जीवको सदा ही बनी रहती है। जबतक जीवको अनन्त सुख प्राप्त नहीं होता, तबतक उसका भटकना बंद नहीं होता। यह अनन्त सुख ही जीवका असली लक्ष्य है। इसीको मुक्ति, मोक्ष, परमपुरुषार्थ या निःश्रेयस कहते हैं। इसे पाकर जीव कृतकृत्य हो जाता है, उसके लिये और कुछ करना अथवा पाना बाकी नहीं रह जाता। यही सुखकी परम सीमा है, यही परमगति है।

इस सङ्घर्षमय, कोलाहलमय जीवनके पीछे एक ऐसी सुखमय स्थिति है—जहाँ पहुँचनेपर सब समस्याएँ अपने-आप हल हो जाती हैं, सारे दुःखोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है, सारे क्लेश-कर्म, शोक-सन्ताप, चिन्ता एवं भय विलीन हो जाते हैं—इस बातको तो सभी आस्तिक-नास्तिक सम्प्रदाय मानते हैं। परन्तु उसके स्वरूपके सम्बन्धमें बहुत मतभेद है। कुछ लोग तो स्वर्गको ही सुखकी अवधि मानते हैं। किन्तु इस सुखका भी नाश हो जाता है, यह अविनाशी नहीं है। यद्यपि वेदोंमें 'अपाम सोमम-मृता अभूम' (हमने सोमयज्ञ करके सोमपान किया और अमर हो गये) इत्यादि श्रुतियाँ मिलती हैं, परन्तु सोमयागादिसे प्राप्त होनेवाला यह अमरत्व हमारी अपेक्षा दीर्घकालस्थायी होनेपर भी है आपेक्षिक ही। देवताओंकी आयु हमलोगोंकी अपेक्षा बहुत लंबी होनेपर भी, उसका एक दिन अन्त होता है। जिन पुण्योंसे स्वर्गलोककी प्राप्ति होती है, उनका भोगद्वारा क्षय हो जानेपर जीव स्वर्गलोकसे ढकेल दिये जाते हैं और उन्हें पुनः मर्त्यलोकमें जन्म ग्रहण करना पड़ता है—'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' (गीता ९। २१)। गीतामें अन्यत्र भी कहा है कि ब्रह्मलोक-पर्यन्त सब लोक पुनरावर्ती हैं अर्थात् उत्पन्न होने

और नष्ट होनेवाले हैं (८ । १६); उनमें रहनेवाले जीव निश्चित अवधिके बाद पुनः मर्त्यलोकमें ढकेल दिये जाते हैं । दूसरे स्वर्गादि ऊपरके लोकोंमें, अव्यवहित सुख होनेपर भी उसमें तारतम्य अवश्य होता है । देवताओंमें भी जिनका पुण्य अधिक होता है, उनकी आयु अधिक लंबी होती है; अन्य देवताओं-की अपेक्षा देवराज इन्द्रकी आयु बहुत अधिक होती है और उन्हें भोग भी अन्य देवताओंकी अपेक्षा कई गुने अधिक प्राप्त होते हैं । इस तारतम्यको लेकर वहाँके जीवोंको एक-दूसरेके प्रति ईर्ष्या और अभिमान होते हैं और इस ईर्ष्यादिसे वे जलते रहते हैं । ईर्ष्याके साथ-साथ उन्हें अधिक सुखकी कामना भी सताती रहती है और साथ ही हमारा यह सुख छिन न जाय, इसका भय भी बना रहता है । इन्द्रको भी अपने इन्द्रासनके छिन जानेका भय सदा ही बना रहता है और पृथ्वीके किसी भी जीवको वे उग्र तपस्या करते पाते हैं तो उनके मनमें यह शङ्का उत्पन्न हो जाती है कि कदाचित् यह पुरुष हमारा आसन लेनेके लिये ही तप कर रहा है । इसीलिये वे प्रायः इस प्रकारके तपस्वियोंको तपसे डिगानेकी चेष्टामें लगे रहते हैं और उनकी तपस्यामें विघ्न डालते देखे जाते हैं । ऊपरके विवेचनसे यह सिद्ध हो जाता है कि स्वर्गसुख पृथ्वीके जीवोंकी दृष्टिमें बहुत बड़ी चीज होनेपर भी निरवधि एवं पूर्ण नहीं है । अतः पूर्ण सुख चाहनेवालोंके लिये वह भी अभीष्ट नहीं हो सकता ।

वेदान्त-सिद्धान्तके अनुसार ब्रह्म ही निरतिशय पूर्ण सुखस्वरूप है । ब्रह्मका अभेदरूपसे साक्षात्कार हो जानेपर ही जीव सदाके लिये सब प्रकारके दुःखों एवं बन्धनोंसे मुक्त होकर परमानन्द एवं परम शान्तिको प्राप्त होता है । उसे फिर जन्म-मृत्युका भय नहीं रहता । वह हर्ष-शोकादि समस्त विकारोंसे छूट जाता है—'हर्षशोकौ जहाति' । उसका अज्ञान सदाके लिये नष्ट हो जाता है—उसकी अविद्यारूप ग्रन्थि खुल जाती है, वह सन्देहरहित हो जाता है, उसके सब प्रकारके क्लेश-कर्म नष्ट हो जाते हैं । उसका संसारमें कोई कर्तव्य नहीं रह जाता ।

भेदरूपसे परमात्माका साक्षात्कार हो जानेपर भी मनुष्य जन्म-मृत्युके बन्धन तथा सब प्रकारके क्लेशोंसे मुक्त होकर सगुण भगवान्के अप्राकृत नित्य धाममें अप्राकृत देहसे निवास करता है और वह भगवान्की सन्निधिके सुखका अनुभव करता है । भेदोपासनासे प्राप्त होनेवाली इस मुक्तिके सालोक्य (भगवान्के लोकमें निवास), सामीप्य (भगवान्की सन्निधिमें निवास), सारूप्य (भगवान्के समान रूपकी प्राप्ति) तथा सायुज्य (भगवान्में विलीन होना)—ये चार भेद हैं । उक्त चार प्रकारकी मुक्तिमेंसे किसीको भी प्राप्त कर जीव जन्म-मृत्युके चक्करसे सदाके लिये छूट जाता है और सदा निरतिशय आनन्दका अनुभव करता है । योगियोंके द्वारा यही स्थिति प्रार्थनीय है —यही जीवका अन्तिम लक्ष्य है । इसीको प्राप्त करनेके लिये भगवान् हमें मनुष्य-शरीर देते हैं; क्योंकि मनुष्य-शरीरमें ही इसके लिये साधन बन सकता है, अन्य योनियोंमें नहीं । अतः मनुष्य-शरीर पाकर हमें इसीके लिये यत्न करना चाहिये । इसे प्राप्त करनेमें ही मनुष्य-देहकी चरितार्थता है । अन्यथा भोगसुख तो हमें पशु, पक्षी आदि अन्य योनियोंमें भी प्राप्त हो सकते हैं । भोगोंसे यदि हमारी तृप्ति हो सकती होती तो कबकी हो गयी होती; क्योंकि अबतक हमने न जाने कितनी बार भिन्न-भिन्न योनियों-में जन्म लिया है और कितने असंख्य भोग भोगे हैं । इससे यह सिद्ध होता है कि भोगोंमें सुख नहीं है,

भोगोंके त्यागमें ही सुख है। अतः हमें भोगोंकी आसक्ति छोड़कर निष्काम कर्म, भक्ति अथवा ज्ञानके द्वारा उपर्युक्त स्थितिको प्राप्त करनेकी पूरी चेष्टा करनी चाहिये और इसी जन्ममें अपना काम बना लेना चाहिये। क्योंकि फिर न जाने यह दुर्लभ अवसर हमको कभी मिले या न मिले। मनुष्यजन्मको शास्त्रोंमें देवदुर्लभ बताया गया है। नाना प्रकारकी योनियोंमें भटकता हुआ यह जीव जब अत्यन्त थक जाता है, तब भगवान् इसपर दया करके इसे मनुष्य-शरीर देते हैं और इस प्रकार उसे जन्म-मृत्युसे छूटनेका सुन्दर अवसर प्रदान करते हैं। परन्तु यह जीव कृतघ्नकी भाँति इस अवसरको हाथसे खो देता है और अन्तमें पछताता है। परन्तु फिर पछतानेसे क्या होता है?

इस मुक्तिके सम्बन्धमें लोगोंके मनमें कई प्रकारकी शङ्काएँ उठा करती हैं। कुछ लोग मुक्तिको अपुनरावर्तन-की स्थिति नहीं मानते। उनकी मान्यता यह है कि मुक्त पुरुष महाप्रलयपर्यन्त संसारमें नहीं लौटते, अर्थात् उनकी वह स्थिति महाप्रलयतक कायम रहती है। महाप्रलयके बाद जब पुनः सृष्टि उत्पन्न होती है अर्थात् महासर्गके आदिमें मुक्त जीव पुनः संसारमें लौट आते हैं। इसके लिये वे युक्ति यह पेश करते हैं कि यदि मुक्त जीव कभी न लौटें तो एक दिन सब जीव मुक्त हो जायँगे और यह संसार फिर रह ही नहीं जायगा, बल्कि जब यह सृष्टि अनादिकालसे चली आयी है तो अबतक सब जीवोंको मुक्त हो जाना चाहिये था। किन्तु अबतक संसारका अभाव नहीं हुआ, इससे तो यही मालूम होता है कि मुक्त जीव महासर्गके आदिमें पुनः लौट आते हैं और इस प्रकार संसारका क्रम बराबर चलता रहता है।

इसका उत्तर यह है कि यदि मुक्तिकी भी अवधि मानी जाय तो फिर स्वर्गमें और मोक्षमें कोई विशेष अन्तर नहीं रह जाता। जिस प्रकार स्वर्गस्थ जीवोंकी आयु हमलोगोंकी अपेक्षा बहुत अधिक होनेपर भी उसका एक दिन अन्त हो जाता है, उसी प्रकार मुक्तिकी अवधि इन्द्रादि देवताओंकी आयुकी अपेक्षा बहुत अधिक होनेपर भी उसकी भी समाप्ति हो जाती है। निरवधि सुख उसे भी नहीं कह सकते। अतः वह स्थिति भी आपेक्षिक एवं अन्तवाली होनेके कारण त्याज्य ही ठहरती है, वह भी गतागतरूप ही कहलायेगी। ऐसी दशामें अनन्त सुखकी कल्पना जीव-के लिये स्वप्नवत् ही सिद्ध होती है। उसकी वह अभिलाषा मृगतृष्णारूप ही ठहरती है। वह कभी पूर्ण नहीं होनेकी। इसका अर्थ तो यह हुआ कि जीव अनन्त कालतक भटकता ही रहेगा, उसका भटकना कभी बंद नहीं होगा। वह कभी अनन्त सुखका भागी नहीं हो सकेगा। अतः ऐसा मानना ठीक नहीं। श्रुति भी कहती है—

'न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते'
(छान्दो० ८।१५।१)

तथा भगवान् गीतामें भी कहते हैं—

'मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥'
(८।१६)

'गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥'
(५।१७)

यदि केवल युक्तिके आधारपर इसका निर्णय करें, तो युक्ति भी हमारे पक्षका ही समर्थन करती है। थोड़ी देरके लिये यदि यह मान लिया जाय कि दोनों पक्ष सन्दिग्ध हैं, मुक्त जीव लौटते हैं या नहीं—यह विवादास्पद है, तो भी यही मानना कि मुक्त जीव लौटते नहीं अधिक लाभदायक, युक्तियुक्त, सर्वोत्तम एवं सुरक्षित है। हम यदि यह मानते हैं कि मुक्त जीव कभी लौटते नहीं, वे सदाके लिये जन्म-मरणके चक्करसे छूट जाते हैं, अक्षय सुखके भागी हो जाते हैं, तो हम इस आशा और विश्वासपर

उक्त स्थितिके लिये प्राणपणसे चेष्टा करेंगे । और यदि ऐसी स्थिति वास्तवमें मिलती होगी और हमारा प्रयत्न ठीक तौरसे जारी रहा तो वह स्थिति हमें एक दिन इसी जन्ममें—यदि कमी रही तो दूसरे किसी जन्ममें—अवश्य प्राप्त हो जायगी । थोड़ी देरके लिये मान लिया जाय कि मुक्त पुरुषका पुनर्जन्म होता है और पुनर्जन्म न माननेवाले भूल करते हैं । किन्तु इस भूलसे उनकी हानि ही क्या है ? क्योंकि इस सिद्धान्तके अनुसार पुनरागमन माननेवाला भी वापस आवेगा और न माननेवाला भी । फल दोनोंका एक ही होगा । परन्तु कदाचित् मुक्त पुरुषका पुनरागमन नहीं होता—यही सिद्धान्त सत्य हो, तब तो भूलसे पूर्वोक्त मुक्ति माननेवालेकी बड़ी भारी हानि होगी । कारण, इस पुनरागमन माननेवालेको वह अपुनरावृत्तिरूप परमगति तो कभी मिल ही नहीं सकती, क्योंकि इस आत्यन्तिक स्थितिमें उसका विश्वास ही नहीं है । यदि हम यह मानते हैं कि मुक्ति प्राप्त हो जानेपर भी हमें संसारमें लौटना ही होगा तो फिर हम उस वास्तविक मुक्तिसे—जिसका कभी अन्त नहीं होता—वञ्चित ही रह जायँगे, वह कभी हमें मिलनेकी ही नहीं; क्योंकि जिस स्थितिमें हमारा विश्वास ही नहीं है, वह स्थिति हमें कैसे मिल सकती है । उसके लिये प्रथम तो हम चेष्टा ही नहीं करेंगे और करेंगे भी तो पूरे जोरसे नहीं करेंगे, अतः उसमें सफल नहीं होंगे । हमें मुक्ति मिलेगी भी तो उसी कोटिकी मिलेगी, जिस कोटिकी मुक्तिमें हमारा विश्वास है । अपुनरावर्तनकी स्थिति हमें कभी प्राप्त नहीं होनेकी ।

रही यह आशङ्का कि मुक्त जीव यदि लौटते नहीं तो फिर एक दिन अशेष जीव मुक्त हो जायँगे और संसारका अभाव हो जायगा, तो इसमें हमारी क्या हानि है । प्रथम तो जितने जीव संसारमें हैं, उनके मुकाबलेमें मुक्त होनेवाले जीवोंकी संख्या समुद्रमें बूँदके समान भी नहीं है ; क्योंकि मुक्तिका अधिकार केवल मनुष्योंको ही प्राप्त है और मनुष्योंकी संख्या बहुत ही परिमित है । वर्तमान युगमें मनुष्योंकी संख्या कुल मिलाकर दो अरबसे अधिक नहीं है और मनुष्योंमें भी—जैसा भगवान् श्रीकृष्णने गीता(७।३)में कहा है—हजारोंमें कोई एक मुक्तिरूप सिद्धिके लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवालोंमें भी हजारोंमें कोई एक सफलप्रयत्न होता है । इसके मुकाबलेमें जब हम मनुष्येतर प्राणियोंकी संख्याकी ओर दृष्टि डालते हैं तो हमें मालूम होता है कि अखिल भूमण्डलमें जितने मनुष्य हैं, उनसे अधिक चींटियाँ तो शायद एक साधारण बगीचेमें ही होंगी । एक चींटियोंकी संख्यासे ही मुकाबला करनेमें मनुष्योंकी संख्या उसके सामने समुद्रके जलमें बूँदके समान ठहरती है । फिर अखिल ब्रह्माण्डके समस्त चराचर जीवोंकी संख्यासे मुक्त होनेवाले जीवोंकी संख्याका मुकाबला किया जाय तो वह समुद्रके जलमें बूँदके समान भी नहीं ठहरेगी । ऐसी दशामें यह शङ्का करना कि जीवोंके मुक्त होनेका क्रम जारी रहनेपर और मुक्त जीवोंके पुनः संसारमें न लौटनेपर जीवोंकी संख्या एक दिन समाप्त हो जायगी, वैसा ही है जैसा यह शङ्का करना कि एक चींटीके जल उलीचते रहनेसे समुद्रका जल एक दिन निःशेष हो जायगा । और थोड़ी देरके लिये यदि मान लिया जाय कि ऐसा हो ही जायगा तो यह तो हमें इष्ट ही होना चाहिये; क्योंकि आजतक अनेक श्रेष्ठ पुरुष इससे पूर्व ऐसी चेष्टा कर चुके हैं, महात्मागण अब भी कर रहे हैं और आगे भी करते रहेंगे । यदि किसी दिन उनका परिश्रम सफल हो जाय और अखिल जगत्के जीवोंका उद्धार हो जाय तो बहुत ही अच्छी बात है, इससे सिद्धान्तमें कौन-सी बाधा है ? हमारे

पूर्वज ऋषियोंने प्राणिमात्रके लिये यही प्रार्थना की है—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत् ॥

मुक्तिके सम्बन्धमें दूसरी शङ्का यह उपस्थित की जाती है कि शरीर रहते मनुष्य मुक्त हो सकता है या नहीं। कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि जीवन रहते मुक्ति असम्भव है। किन्तु श्रुति, स्मृति, गीता आदि ऐसा नहीं मानते और उनका यह सिद्धान्त सप्रमाण एवं सयुक्तिक भी है। 'अत्र ब्रह्म समश्नुते' (इसी जन्ममें ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है) आदि श्रुतियाँ तथा 'इहैव तैर्जितः सर्गः' (गीता ५ । १९)—इसी जीवनमें उनके द्वारा जन्म-मरणरूप संसार जीत लिया गया है—आदि भगवद्वाक्य इस बातके पोषक हैं। इतिहासमें भी ऐसे अनेक जीवन्मुक्त महापुरुषोंका वर्णन मिलता है, जो संसारमें रहते हुए भी संसारसे पुष्कर-पलाशवत् (कमलपत्रके समान) सर्वथा निर्लेप रहते थे, अर्थात् शरीरमें रहते हुए भी वास्तवमें स्थूल, सूक्ष्म, कारण—तीनों प्रकारके आवरणोंसे मुक्त थे और वे अनुकूल, प्रतिकूल घटनाओंके प्राप्त होनेपर भी हर्ष-शोकादि विकारोंसे सर्वथा शून्य रहते थे। भगवद्गीताके दूसरे अध्यायमें 'स्थितप्रज्ञ' के नामसे, बारहवें अध्यायमें भक्तोंके नामसे एवं चौदहवें अध्यायमें 'गुणातीत' के नामसे ऐसे ही पुरुषोंका विशदरूपमें वर्णन किया गया है। अन्यान्य ग्रन्थोंमें भी इस प्रकारके पुरुषोंका यथेष्ट वर्णन मिलता है।

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि परमात्माके तत्त्वका ज्ञान हो जानेपर भी मनुष्यके अन्तःकरणमें काम, क्रोध, लोभ आदि विकार रह सकते हैं और उनके द्वारा झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार एवं मद्यपानादि निषिद्ध आचरण भी हो सकते हैं। हमारी समझसे ऐसा मानना ठीक नहीं है। अवश्य ही ज्ञानी विधि-निषेधसे ऊपर उठ जाता है, उसके लिये कोई कर्तव्य-कर्म नहीं रह जाता; परन्तु उसके द्वारा निषिद्ध कर्म होनेका कोई हेतु नहीं रहता। निषिद्ध आचरणकी तो बात ही क्या है, शास्त्र और युक्ति दोनोंसे ही यह सिद्ध होता है कि ज्ञानीके अन्तःकरणमें काम-क्रोधादि विकार भी नहीं रह सकते। क्योंकि निषिद्ध कर्म होते हैं कामनासे (३ । ३७), कामनाका मूल है आसक्ति और आसक्तिका कारण है अज्ञान। ऐसी दशामें यदि ज्ञानीके अंदर भी आसक्ति मानी जायगी तो फिर ज्ञानी और अज्ञानीमें अन्तर ही क्या रह जायगा ? ज्ञानीकी तो बात ही क्या है, काम-क्रोध आदिका तो साधकको भी त्याग करना पड़ता है; तभी वह कल्याण-साधनके योग्य बनता है। गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥
एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥
(१६ । २१-२२)

'काम, क्रोध और लोभ—ये तीन प्रकारके नरकके द्वार और आत्माका नाश करनेवाले अर्थात् उसे अधोगतिमें ले जानेवाले हैं। इससे इन तीनोंको त्याग देना चाहिये। क्योंकि, हे अर्जुन ! इन तीनों नरकके द्वारोंसे मुक्त हुआ अर्थात् काम, क्रोध और लोभ आदि विकारोंसे छूटा हुआ पुरुष अपने कल्याणका आचरण करता है और इससे वह परम गतिको अर्थात् मुझे प्राप्त होता है।'

अन्यत्र ज्ञानी पुरुषोंके लिये भी 'कामक्रोधवियुक्तानाम्' (काम-क्रोधरहित) विशेषणका प्रयोग हुआ है (गीता ५ । २६)। यही नहीं, ज्ञानी पुरुषके तो रागका भी नाश हो जाता है, जो कामका मूल है—'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते' (गीता २ । ५९)। ऐसी

हालतमें ज्ञानी पुरुषके द्वारा निषिद्ध आचरण होनेका कोई कारण नहीं रह जाता। अतः ज्ञानी पुरुषके अंदर काम, क्रोध आदि कोई भी विकार नहीं रहते और उसके द्वारा पापकर्म भी नहीं बन सकते—यही सिद्धान्त मानना चाहिये।

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि वर्तमान काल मुक्तिके अनुकूल नहीं है, कलियुगमें जीवोंकी मुक्ति नहीं हो सकती; तथा दूसरे लोग यह मानते हैं कि मुक्तिका अधिकार केवल गृहत्यागी संन्यासियोंको ही है, अन्य आश्रमवालोंको नहीं है। यह सिद्धान्त भी युक्तियुक्त नहीं मालूम होता। कलियुगकी तो शास्त्रोंने बड़ी महिमा गायी है।

स्वल्पेनैव प्रयत्नेन धर्मः सिद्ध्यति वै कलौ।
नरैरात्मगुणाम्भोभिः क्षालिताखिलकिल्बिषैः॥
(विष्णुपुराण ६।२।३४)

'हे मुनिगण! कलियुगमें मनुष्य सद्वृत्तिका अवलम्बन करके थोड़े-से प्रयाससे ही सारे पापोंसे छूटकर धर्मकी सिद्धि पाता है।'

अन्य युगोंमें जो काम ध्यान, यज्ञ एवं पूजासे होता था, वह कलियुगमें केवल भगवान्के नामसे हो जाता है—

कृते यद्ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥

गोस्वामी तुलसीदासजी शास्त्रवचनोंका ही अनुवाद करते हुए कहते हैं—

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥

ऐसी स्थितिमें यह मानना कि कलियुगमें मुक्ति नहीं हो सकती, शास्त्रोंकी मान्यताकी अवहेलना करना और अपने लिये मुक्तिका द्वार बंद करना है। क्योंकि जो लोग कलियुगमें मुक्ति नहीं मानते, वे मुक्तिके लिये प्रयास ही नहीं करेंगे और यदि शास्त्र-वचन सत्य हुए और मुक्ति इस युगमें सम्भव हुई तो वे उससे वञ्चित ही रह जायँगे। इसके विपरीत जिनका यह विश्वास है कि इस युगमें मुक्ति सम्भव है, वे उसके लिये पूरी चेष्टा करेंगे और चेष्टा ठीक हुई तो उसे पा भी जायँगे। थोड़ी देरके लिये मान लीजिये कि इस युगमें मुक्ति सम्भव नहीं है, तब भी उन्हें कोई नुकसान तो होगा ही नहीं। उनका जीवन शान्तिसे बीतेगा, वे दुर्गुण एवं दुराचारोंसे बचे रहेंगे; फलतः नवीन पाप न होनेसे उनका भविष्य भी सुखमय होगा, संसारमें उनकी प्रतिष्ठा होगी, धर्मकी मर्यादा स्थापित होगी और इस दृष्टिसे उनके द्वारा लोक-कल्याण तो होगा ही। ऐसी हालतमें वे सब तरहसे लाभ-ही-लाभमें रहेंगे। अतः शास्त्र और युक्ति दोनोंकी ही दृष्टिसे यही मानना ठीक है कि इस युगमें मुक्ति सम्भव है और ऐसा मानकर उसके साधनमें प्राणपणसे लग जाना चाहिये। मुक्तिके लिये ज्ञान और भक्ति—यही दो मुख्य साधन हैं और इनके अभ्यासके लिये कोई भी देश अथवा काल बाधक नहीं हो सकता। वर्तमान युगमें भी अनेकों ज्ञानी महात्मा तथा उच्च कोटिके भक्त संसारमें हो चुके हैं और आज भी ऐसे पुरुषोंका संसारमें अभाव नहीं है।

अब रही यह शङ्का कि गृहस्थोंको मुक्ति प्राप्त हो सकती है या नहीं। इस विषयमें भी सनातन वैदिक सिद्धान्त अत्यन्त व्यापक एवं उदार है। इस सिद्धान्तके अनुसार मुक्ति अथवा भगवत्प्राप्तिका अधिकार मनुष्यमात्रको है। किसी खास वर्ण, किसी खास आश्रम, किसी खास जाति अथवा किसी खास सम्प्रदायको माननेवाले ही मोक्षके अधिकारी हों—ऐसी बात नहीं है। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, ज्ञान और भक्ति ही मुक्तिके प्रधान साधन हैं और इनका अभ्यास सभी वर्ण, सभी आश्रम, सभी जाति एवं सभी सम्प्रदायके लोग कर सकते हैं। जीवमात्र भगवान्की सन्तान हैं—उनके सनातन अंश हैं; अतः सभी उन्हें प्राप्त करनेके अधिकारी हैं। मनुष्येतर

प्राणियोंमें बुद्धि एवं विवेक नहीं है, साधनकी योग्यता नहीं है; इसीलिये वे इस परम लाभसे वञ्चित रह जाते हैं। अन्यथा भगवान्‌के दरबारमें तो उनके लिये भी किसी प्रकारकी रोक-टोक नहीं है, उनका द्वार जीवमात्रके लिये खुला है, उनका वरद हस्त सभीके ऊपर समानरूपसे है। सभी जीव उनकी कृपा प्राप्त कर सकते हैं। अन्य जीवोंके लिये यदि किसी प्रकार यह सम्भव हो जाय कि वे ज्ञान अथवा भक्तिका साधन कर सकें तो वे भी मुक्तिसे वञ्चित नहीं रह सकते। वानर-भालू तथा गृध्र-कौआ आदि निकृष्ट जन्तु भी उनकी कृपाको प्राप्तकर कृतार्थ हो गये, तरन-तारन बन गये—फिर मनुष्योंकी तो बात ही क्या। मनुष्योंमें भी स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि चाण्डालादिकोंको भी भगवान्‌ने परम गतिका अधिकारी बतलाया है; (गीता ९ । ३२) फिर ब्राह्मणादि उच्च वर्णोंकी तो बात ही क्या है। स्त्रियोंमें भक्तशिरोमणि गोपियों, वैश्योंमें नन्दादि गोपों, शूद्रोंमें संजय आदि तथा पापयोनियोंमें गुह निषाद आदिके उदाहरण इतिहास-प्रसिद्ध ही हैं।

अवश्य ही गृहस्थोंकी अपेक्षा संन्यासियोंके लिये तथा अन्य वर्णोंकी अपेक्षा ब्राह्मणोंके लिये मुक्ति प्राप्त करना सुकर है; परन्तु गृहस्थोंको मुक्तिका अधिकार दिया ही नहीं गया है, ऐसा मानना तो सरासर भूल है। जनकादि राजर्षियोंके लिये भगवान्‌ने स्वयं कहा है कि उन्होंने कर्मके द्वारा ही परम सिद्धिको प्राप्त किया। अन्यत्र भी उन्होंने कहा है कि अपने-अपने कर्मोंमें रत रहता हुआ ही मनुष्य सिद्धिको प्राप्त कर लेता है (गीता १८ । ४५)। यही नहीं, कर्मयोगकी प्रशंसा करते हुए वे कहते हैं कि अग्नि तथा कर्ममात्रका त्याग करनेवाला ही संन्यासी नहीं है; जो कर्मफलके आश्रयका त्याग कर अपने वर्णाश्रमोचित कर्तव्य-कर्मका पालन करता है, वह संन्यासी और योगी है (गीता ६ । १)। ऐसी स्थितिमें यह मानना कि गृहस्थोंको मुक्तिका अधिकार नहीं है, शास्त्रसम्मत कदापि नहीं कहा जा सकता।

रह गयी युक्तिकी बात, सो युक्ति भी हमारे ही पक्षका समर्थन करती है। थोड़ी देरके लिये मान लिया जाय कि गृहस्थोंके लिये मुक्तिकी प्राप्ति निश्चित नहीं है। ऐसी दशामें भी हमारे लिये तो यही मानना श्रेयस्कर है कि गृहस्थोंको भी मुक्ति प्राप्त हो सकती है। क्योंकि, जैसा ऊपर बताया जा चुका है, मुक्ति न मिलनेपर भी यदि हम उसके लिये यत्न करते रहे तो हमारी कोई क्षति तो होगी ही नहीं, बल्कि सब प्रकारसे हम लाभहीमें रहेंगे, हमारे जीवनका उत्तम-से-उत्तम उपयोग होगा—समय अच्छे-से-अच्छे काममें बीतेगा। और यदि मुक्तिका मिलना सम्भव हुआ और हम यह मानकर कि हम गृहस्थ होनेके कारण मुक्तिके अधिकारी नहीं हैं उसकी ओरसे उदासीन रहे, साधनमें तत्पर नहीं हुए, तो हमारी बड़ी भारी हानि हो जायगी। हमें तो फिर इस जीवनमें गृहस्थाश्रममें रहते हुए मुक्ति मिलनेकी नहीं और अगले जन्मका कोई भरोसा नहीं—न मालूम मरनेके बाद हमें कौन-सी योनि मिले। श्रुति भगवती भी कहती है—'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।' (इसी जन्ममें यदि परमात्माका ज्ञान हो गया तब तो ठीक है, नहीं तो बड़ी भारी हानि होगी।) इसलिये इसी जन्ममें और जिस किसी वर्ण अथवा आश्रममें तथा जिस किसी स्थितिमें हम हैं, उसी वर्ण-आश्रम तथा उसी स्थितिमें रहते हुए हम भगवान्‌को प्राप्त कर सकते हैं—ऐसा दृढ़ निश्चय कर हमें मुक्तिके साधनमें लग जाना चाहिये। सच्चे सङ्कल्पमें बड़ा बल होता है। हमारा अध्यवसाय दृढ़ रहा और भगवान्‌की कृपापर भरोसा रखकर हम जी-जानसे चेष्टा करते रहे तो उनकी कृपासे हमें अवश्य सफलता मिलेगी और हम इसी जन्ममें इसी जीवनमें अपने चरम लक्ष्यको प्राप्तकर कृतार्थ हो जायँगे।

कामके पत्र

(१) कुछ प्रश्नोत्तर

आपके प्रश्नोंका संक्षेपमें निम्नलिखित उत्तर है। याद आनेके लिये प्रश्नोंको भी संक्षेपमें लिख रहा हूँ।

प्र०—मनमें नाना प्रकारकी तरङ्गें उठती रहें और राम-नामका जप किया जाय तो उसका फल होगा या नहीं?

उ०—यह कर्मका नियम है कि कोई भी कर्म फल उत्पन्न किये बिना नहीं रहता। दूसरे राम-नाम तो किसी भी भाँति लिया जाय, लाभदायक ही है। इसलिये फल अवश्य होगा। मनकी एकाग्रताके साथ नाम-जप हो, तब तो कहना ही क्या है।

प्र०—साढ़े तीन करोड़ राम-मन्त्रके जपसे मोक्षकी प्राप्ति होती है, यह क्या ठीक है?

उ०—विश्वास, भाव तथा महत्त्वके पूर्ण ज्ञानका उदय होनेपर तो एक ही नामसे मोक्ष प्राप्त हो सकता है। इसके अतिरिक्त कलिसन्तरणोपनिषद्में 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे' इस सोलह नामके मन्त्रके साढ़े तीन करोड़ जपसे (मृत्युके अनन्तर) मुक्ति हो जानेकी बात लिखी है। इसमें कोई विधि नहीं है। बस, इतना मन्त्रजप हो जाना चाहिये। साढ़े तीन करोड़ मन्त्रोंके छप्पन करोड़ नाम होते हैं।

प्र०—क्या पापी मनुष्यकी भी काशीमें मरनेसे मुक्ति हो जाती है?

उ०—काशीमें मरण होनेसे पुनर्जन्म न होनेकी बात शास्त्रसिद्ध और महात्माओंके द्वारा अनुभूत है। अतः इसपर विश्वास करना चाहिये। अन्तकालमें जिस प्रकारकी स्थिति पुनर्जन्म न होनेके लिये आवश्यक है, श्रीशिवजी महाराज कृपापूर्वक काशीमें मरनेवालेकी वह स्थिति तारक-मन्त्रके दानसे स्वयं कर देते हैं। पाप बहुत अधिक होनेकी स्थितिमें एक नियमित अवधितक वह जीव सूक्ष्मशरीरसे भैरवी यातनाका भोग करके अन्तमें मुक्त हो जाता है। पुनर्जन्म किसीका नहीं होता। जिसके पाप बहुत कम होते हैं, वह तत्काल मुक्त हो जाता है। मैं तो इसपर विश्वास करता हूँ। अविश्वासका कोई कारण भी नहीं है। भगवान् श्रीशङ्करके प्रभावसे काशीका यह स्थान-माहात्म्य है।

प्र०—जीवनमें निरन्तर भजन करनेवाला अन्तमें मति खराब हो जानेसे नीचे गिर जाता है और उसका भजन व्यर्थ चला जाता है, तथा हमेशा पाप करनेवाला अन्त समयमें शुद्धबुद्धि होनेके कारण मोक्षको प्राप्त हो जाता है—इसमें क्या रहस्य है?

उ०—यह सत्य है कि अन्तिम श्वासमें जैसी मति होती है, उसीके अनुसार गति होती है; परन्तु अन्तिम क्षणमें होनेवाली मति अपने-आप अचानक ही नहीं हो जाती, उसके लिये कारण होना चाहिये। वह कारण है—जीवनभर किये हुए अच्छे-बुरे अपने कर्म। जिसने जीवनभर भजन किया है, उसकी मति अन्तमें भजनमें होगी और जिसने पाप किया है, उसकी पापमें होगी। अधिकांशमें ऐसा ही होता है। कहीं-कहीं इसके विपरीत भी होता है; भगवत्कृपासे, अकस्मात् किसी महात्मा पुरुषके दर्शन और अनुग्रहसे, भगवन्नाम और गुणोंके स्मरणसे या किसी वरदान आदिसे पाप करनेवालेकी बुद्धि शुद्ध हो सकती है। परन्तु उसमें भी पूर्वकृत कर्म ही कारण होता है। 'पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता'के सिद्धान्तके अनुसार संत-दर्शनमें पूर्वपुण्य ही कारण होते हैं; भगवन्नाम गुणोंका स्मरण भी पूर्वाभ्याससे ही होगा और वरदान भी किसी कर्मका

फल होगा। इसी प्रकार अन्तिम समयमें फलदानोन्मुख अशुभ प्रारब्धके कारण, कुसङ्गतिके प्रभावसे, विषाद, क्रोध और शोकादिसे या शापादिसे 'मति' बिगड़ जाती है; परन्तु इनमें भी कर्म ही कारण है। अतएव वर्तमानमें सदा शुभकर्म करने चाहिये और वे भी भगवान्का चिन्तन करते हुए। फिर मति बिगड़नेका कोई डर नहीं है। भगवान् कहते हैं—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥

[अन्तकालमें जैसी मति होती है, वैसी ही गति होती है और अन्तकालमें प्राय: वैसी ही मति होती है, जैसे कर्म मनसे जीवनभर किये जाते हैं।] इसलिये हे अर्जुन! तुम सब समय निरन्तर मेरा स्मरण करो और युद्ध भी करो। इस प्रकार मन-बुद्धि मुझमें अर्पण हो जानेसे अन्तमें तुम नि:सन्देह मुझको ही प्राप्त होओगे। मृत्यु जब भी आवेगी, तभी तुम उसे मेरा स्मरण करते हुए मिलोगे। मतलब यह कि हर समय भगवान्के स्मरणका अभ्यास करना चाहिये। फिर अन्तकालमें भगवत्कृपासे मति शुद्ध ही रहेगी।

प्र०—गीताजीमें भगवान्ने कहा है, सब कुछ मुझसे ही होता है और सब जगह मैं ही हूँ। फिर मनुष्य दोषका भागी क्यों होता है? अच्छा-बुरा कर्म तो भगवान्पर ही निर्भर ठहरा।

उ०—यह सत्य है कि जैसे बिजलीका करेंट पावरहाउससे आता है वैसे ही कर्म करनेकी शक्ति, प्रेरणा, कर्मसम्पादन-कार्य आदि सब भगवान्की शक्तिसे ही होते हैं और भगवान् भी सब जगह सदा व्याप्त ही हैं। परन्तु मनुष्यको भगवान्ने कर्मका अधिकार देकर कर्म करनेके नियम बता दिये हैं। जैसे Arms Act (शस्त्र-कानून) के अनुसार सरकार किसीको बंदूक, राइफल, पिस्तौल आदिके लाइसेंस देती है और स्वाभाविक ही कानूनके अनुसार उसके उपयोग करनेकी अनुमति भी देती है, वैसे ही मनुष्य-योनिको भगवान्ने कर्म करनेका लाइसेंस दे दिया है और उसके लिये नियम भी बना दिये हैं। लाइसेंसके अनुसार बंदूक आदिका नियमानुकूल व्यवहार करनेवाले पुरुषकी भाँति जो मनुष्य भगवान्के नियमानुसार कर्म करता है, वह पुरस्कारका पात्र होता है। नियमानुसार होनेवाले कर्मोंका नाम ही 'शुभ कर्म' है, शुभ कर्मका फल सुख होता है; और जो नियमविरुद्ध (अशुभ) कर्म करता है, वह दोषका भागी होता है और उसे दण्ड मिलता है। पापका फल दु:ख है ही और भगवान् चाहे जब उसको पशु, पक्षी आदि भोगयोनियोंमें गिराकर उसका कर्म करनेका लाइसेंस छीन लेते हैं। इसलिये सब कुछ भगवान्के द्वारा होनेपर भी मनुष्यको कर्म करनेका अधिकार प्राप्त होनेके कारण, वह यदि अधिकारका दुरुपयोग करके पाप-कर्म करता है तो दोषका भागी अवश्य होता है। भगवान् सर्वत्र व्याप्त हैं, इसीसे वे अच्छे-बुरे कर्मोंको देख सकते हैं। यहाँकी सरकारको तो कोई धोखा भी दे सकता है, अपने कानूनविरोधी कार्यको छिपा भी सकता है। सर्वव्यापी भगवान्के सामने कोई कर्म छिप नहीं सकता। इसके सिवा जैसे आकाश सर्वत्र व्याप्त है और वह जैसे अच्छे-बुरे किसीसे भी लिप्त नहीं होता, वैसे ही भगवान् भी सर्वत्र व्याप्त हैं और सर्वथा सबसे निर्लिप्त हैं।

प्र०—मनुष्यके मनमें जो पाप-पुण्यकी स्फुरणाएँ होती हैं, उनसे पाप-पुण्य होता है या नहीं?

उ०—यह तो कहा ही जा चुका है कि कोई भी कर्म निष्फल नहीं होता। परन्तु कलियुगमें भगवान्ने जीवोंपर दया करके ऐसा विधान कर दिया है कि

यदि मनमें पापवासना उठकर नष्ट हो जाय—उसकी क्रिया बिल्कुल न हो—तो उस पापसे माफी मिल जायगी। और पुण्य-भावना—शुभ स्फुरणा होगी तो उसका फल पुण्य अवश्य प्राप्त होगा। इसलिये अशुभ स्फुरणाओंको रोककर सदा शुभ भावनाएँ करनी चाहिये। अशुभ भावना होनेपर उससे आगे होनेवाली क्रियासे बच रहना भी बहुत कठिन है। इसलिये भी शुभ भावना ही करनी चाहिये।

प्र०—एक मनुष्य परोपकारमें रत है। एक दिन वह अपने घरसे निकला ही था कि सामने एक मकानमें आग लग जानेसे उसे एक स्त्री जलती हुई दिखायी दी। वह उसे बचानेके लिये दौड़ा। रास्तेमें एक दो सालका बच्चा उसके पैरके नीचे दबकर मर गया और जबतक वह वहाँ पहुँचा, तबतक वह स्त्री भी जल गयी। उस मनुष्यको पाप होगा या पुण्य?

उ०—पाप-पुण्यका क्या हिसाब है, यह तो नियन्ता श्रीभगवान् ही जानें। परन्तु अनुमान और युक्तिसे यही पता लगता है कि भावके अनुसार ही कर्मका फल हुआ करता है। यदि कोई मनुष्य निष्काम सेवाबुद्धिसे परोपकार करता है, तब तो उसका अनिष्ट फल हो ही नहीं सकता; कहीं भूल हो जाती है तो वह क्षम्य होती है। क्योंकि वह अपनी सेवाका कोई भी मूल्य अथवा बदला ग्रहण नहीं करता। सकामभावपूर्वक परोपकारबुद्धिसे सेवा करनेपर ऐसा कहा जा सकता है कि वह स्त्रीको बचानेके लिये दौड़ा, यह उसका पुण्यकर्म है। स्त्री न बच सकी, यह दूसरी बात है। कर्मका बाह्यत: अनुकूल ही फल हो, यह कोई आवश्यक बात नहीं है। उसका कर्त्तव्य तो वहीं पूरा हो जाता है, जहाँ वह अपनी समझसे पूरी कोशिश कर लेता है। फल तो उसके हाथमें है ही नहीं। परन्तु दौड़नेमें उसने अगर असावधानी की और उसकी गलतीसे बच्चा मर गया तो उसका उसे पाप भी होगा। यदि उसकी असावधानी नहीं है और बच्चा ही खेलता या दौड़ता हुआ उसकी फेटमें आ गया तो वह दोषी नहीं है। आप देखते ही हैं, मोटरके नीचे कोई राही आ गया। यदि मोटरड्राइवरकी असावधानीसे ऐसा हुआ तो वह दोषी है, नहीं तो नहीं। यही अनुमान उसमें भी लगाया जा सकता है।

प्र०—एक साधु जङ्गलमें भगवद्भजन कर रहा था। उसे संयोगवश एक-दो दिनसे भोजन मिल जाता था। किसी गृहस्थने उसके लिये नियमित भोजनका प्रबन्ध कर दिया। इससे उसकी इन्द्रियाँ चेतन हो गयीं, भोजनसे आलस्य आने लगा और ध्यान छूट गया। अब उस भोजन देनेवालेको पाप होगा या पुण्य?

उ०—पाप-पुण्यकी जाँच-पड़ताल और पूरा निर्णय भगवान् ही कर सकते हैं। अनुमानसे यहाँ भी वही बात है। निष्काम सेवाभावसे भोजनकी व्यवस्था हुई तो कोई भी दोष नहीं है। सकामभावसे होनेपर भी मनमें यदि कोई बुरी भावना नहीं है तो भोजनकी व्यवस्था करनेवालेको पाप नहीं हो सकता। भूखेको अन्न देना सर्वथा पुण्य है। हाँ, भोजन होना चाहिये पात्रके अनुसार। साधु-महात्माओंको उनके आश्रमधर्म तथा साधनाके अनुकूल ही भोजन देना चाहिये। ऐसी चीजें नहीं देनी चाहिये, जिनसे आलस्य, प्रमाद आदि तामसी वृत्तियाँ बढ़ें। हाँ, कोई साधु स्वयं चाहें और अपने पास वह वस्तु हो एवं निर्दोष हो तो साधुको देनी ही चाहिये; उससे यदि कोई हानि होगी तो उसके जिम्मेवार वे साधु होंगे, देनेवाले गृहस्थ नहीं। परन्तु यह

भी याद रखना चाहिये कि अपने पास देनेको है और भजन करनेवाले साधुओंको अन्नकी आवश्यकता है, वहाँ यदि हम इस युक्तिको काममें लावें कि भोजनकी व्यवस्था कर देंगे तो आलस्य-प्रमाद होगा, साधुजीकी समाधि छूट जायगी, इसलिये इनको भोजन नहीं देना चाहिये, तो यह भी पाप है। शरीर-की स्थितिसे ही भजन होगा। शरीररक्षाके लिये अन्नकी आवश्यकता है। त्यागी पुरुष स्वयं कमाते नहीं। उनका भार तो गृहस्थोंपर ही धर्मतः है। गृहस्थ यदि किसी युक्तिवादसे उनको देना बंद कर दें तो वे धर्मच्युत होते हैं। हाँ, साधुकी साधुता बिगाड़नेकी नीयतसे उसके सामने भोगोंका ढेर लगा देना तो पाप ही है।

प्र०—गीतापाठ, तीर्थयात्रा आदि पुण्यकर्म बेचे जा सकते हैं या नहीं ?

उ०—बेचे जा सकते हैं क्या, लोग बेचते ही हैं। गीतापाठ तथा तीर्थयात्रा करके बदलेमें धन, मान, पूजा, प्रतिष्ठा चाहना और इसी निमित्तसे मिलें तो उन्हें ग्रहण करना बेचना नहीं तो और क्या है ? हाँ, सौदा करके दाम ठहराकर बेचना दूसरी बात है। वैसी बिक्री भी हो सकती है और वह जायज ही होती है।

प्र०—ब्राह्मणके द्वारा दक्षिणा आदि देकर कराये हुए जप, अनुष्ठान आदिका फल करवानेवालेको होता है या नहीं ?

उ०—उचित दक्षिणा, सत्कार आदिके द्वारा ब्राह्मण-को प्रसन्न करनेपर और ब्राह्मणके द्वारा जपके नियमानुसार शुद्ध और नियमपूर्वक साङ्गोपाङ्ग जप होनेपर करानेवालेको शुभ फल अवश्य होता है। सकाम भावसे किये जानेवाले कार्यमें विधिकी बड़ी आवश्यकता है। दक्षिणाकी कमी, करानेवाले द्वारा ब्राह्मणका अपमान और जपमें असावधानी, नियमोंका त्याग, अशुद्ध उच्चारण आदि होनेपर उग्र देवता हों तो कुफल भी हो सकता है।

(२)

भगवत्प्रेमसम्बन्धी कुछ बातें

आपके तीन पत्र आये। बदलेमें क्या लिखूँ, कुछ समझमें नहीं आया।····अतः पत्रका उत्तर न लिखकर जो कुछ मनमें आता है, लिख रहा हूँ। मैं नहीं जानता आपकी आध्यात्मिक स्थिति कैसी है। ठीक अनुमान भी नहीं लगा सकता। मैं जो कुछ लिखता हूँ वह यदि आपकी स्थितिसे नीचे तहके साधकोंके कामकी बात हो तो आप सिर्फ पढ़कर छोड़ देना। आपके लिये उपयोगी हो तो ग्रहण करनेकी कोशिश करना।

यद्यपि मैंने बहुत ऊँची स्थितिका अनुभव नहीं किया है, तथापि भगवत्प्रेमके मार्गकी कुछ बातें किसी-न-किसी सूत्रसे मैं जान सका हूँ। उसीके आधारपर मेरा यह लिखना है। जहाँतक मेरा विश्वास है—मैं जो कुछ लिखता हूँ, सो ठीक है। भगवत्प्रेमके मार्गपर चलने-वालोंको इसपर ध्यान देना चाहिये।

भगवत्प्रेमके पथिकोंका एकमात्र लक्ष्य होता है—भगवत्प्रेम! वे भगवत्प्रेमको छोड़कर मोक्ष भी नहीं चाहते—यदि प्रेममें बाधा आती दीखे तो भगवान्‌के साक्षात् मिलनकी भी अवहेलना कर देते हैं—यद्यपि उनका हृदय मिलनके लिये आतुर रहता है। जगत्‌का कोई भी पार्थिव पदार्थ, कोई भी विचार, कोई भी मनुष्य, कोई भी स्थिति, कोई भी सम्बन्ध, कोई भी अनुभव उनके मार्गमें बाधक नहीं हो सकता। वे सबका अनायास—विना ही किसी संकोच, कठिनता, कष्ट और प्रयासके त्याग कर सकते हैं। संसारके किसी भी पदार्थमें उनका आकर्षण नहीं रहता। कोई भी स्थिति

उनकी चित्तभूमिपर आकर नहीं टिक सकती, उनको अपनी ओर नहीं खींच सकती। शरीरका मोह मिट जाता है। उनका सारा अनुराग, सारा ममत्व, सारी आसक्ति, सारी अनुभूति, सारी विचारधारा, सारी क्रियाएँ, एक ही केन्द्रमें आकर मिल जाती हैं—वह केन्द्र होता है, केवल भगवत्प्रेम—वैसे ही जैसे विभिन्न पथोंसे आनेवाली नाना नदियाँ एक ही समुद्रमें आकर मिलती हैं। शरीरके सम्बन्ध, शरीरका रक्षण-पोषणभाव, शरीरका आकर्षण, शरीरमें आकर्षण (अपने या परायेमें), शरीरकी चिन्ता (अपने या परायेकी) सब वैसे ही मिट जाते हैं, जैसे सूर्यके उदय होनेपर अन्धकार। ये तो बहुत पहले मिट जाते हैं। विषय-वैराग्य, काम-क्रोधादिका नाश, विषाद-चिन्ताका अभाव, अज्ञानान्धकारका विनाश—भगवत्प्रेममार्गके अवश्यम्भावी लक्षण हैं। भगवत्प्रेमका मार्ग सर्वथा पवित्र, मोहशून्य, सत्त्वमय, अव्यभिचारी और विशुद्ध होता है। भगवत्प्रेमकी साधना अत्यन्त बढ़े हुए सत्त्वगुणमें ही होती है। उसमें दीखनेवाले काम, क्रोध, विषाद, चिन्ता, मोह आदि तामसिक वृत्तियोंके परिणाम नहीं होते। वे तो शुद्ध सत्त्वकी ऊँची अनुभूतियाँ होती हैं; उनका स्वरूप बतलाया नहीं जा सकता। भूलसे लोग—अपने तामस विकारोंको उनकी श्रेणीमें ले जाकर 'प्रेम' नामको कलङ्कित करते हैं। वे तो बहुत ही ऊँचे स्तरकी साधनाके फलस्वरूप होती हैं। उनमें—हमारे अंदर पैदा होनेवाली भोग-वासनाकी सूक्ष्म और स्थूल तमोगुणी वृत्तियोंका कहीं लेश भी नहीं होता। बहुत ऊँची स्थितिमें पहुँचे हुए महात्मा लोग ही उनका अनुभव कर सकते हैं—वे कथनमें आनेवाली चीजें नहीं हैं—कहना-सुनना तो दूर रहा, हमारी मोहाच्छन्न बुद्धि उनकी कल्पना भी नहीं कर सकती। भगवत्कृपासे ही उनका अनुमान होता है और तभी उनकी कुछ अस्पष्ट-सी झाँकी होती है। इस अस्पष्ट झाँकीमें ही उनकी इतनी विलक्षणता मालूम होती है कि जिससे यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि ये चीजें दूसरी ही जातिकी हैं। नाम एक-से हैं—वस्तुगत भेद तो इतना है कि उनसे हमारी लौकिक वृत्तियोंका कोई सम्बन्ध ही नहीं जोड़ा जा सकता, तुलना ही नहीं होती। भगवान्की कृपासे—इस प्रेममार्गमें कौन कितना आगे बढ़ा होता है, कौन किस स्तरपर पहुँचा होता है, यह बाहरकी स्थिति देखकर कोई नहीं जान सकता। क्योंकि यह चीज बाहर आती ही नहीं। यह तो अनुभवरूप होती है। जो बाहर आती है, वह तो प्रायः नकली होती है। जिसे हम अप्रेमी मानते हैं, सम्भव है वह महान् प्रेमी हो। जिसे हम दोषी समझते हैं, सम्भव है वह प्रेममार्गपर बहुत आगे बढ़ा हुआ महात्मा हो और जिसे हम प्रेमी समझ बैठते हैं, सम्भव है वह पार्थिव मोहमें ही फँसा हो। भगवत्प्रेमियोंको कोटिशः नमस्कार है। उनकी गति वे ही जानें। सीधी और सरल बातें जो करनेकी हैं, वे तो ये सात हैं—

१—भोगोंमें वैराग्यकी भावना।

२—कुविचार, कुकर्म, कुसङ्गका त्याग।

३—विषयचिन्तनका स्थान भगवच्चिन्तनको देनेकी चेष्टा।

४—भगवान्का नाम-जप।

५—भगवद्गुणगान-श्रवण।

६—सत्सङ्ग-स्वाध्यायका प्रयत्न।

७—भगवत्कृपामें विश्वास बढ़ाना।

सख्य-रस

(लेखक—पं० श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी)

रसका स्वरूप है—आस्वादन। इन्द्रियोंसे, अन्तः-करणसे और अन्तरात्मासे आस्वादन करते जाइये, रस लेते जाइये; यदि कहीं इसकी परम्परा टूट जाती है, कहीं रसनीय वस्तु अथवा रसास्वादन करनेवाले करणों-में विच्छेद हो जाता है, दोनों या उनमेंसे कोई एक नहीं रहता तो ऐसा समझिये कि अभी आपको रसकी उपलब्धि नहीं हुई है। जहाँ भाव और भावके विषयमें स्थायित्व ही नहीं है, वहाँ रसकी प्रतीति तो—काव्य-दृष्टिसे भी कल्पनामात्र है। रस वह आस्वादन है, जिसमें आस्वादक और आस्वाद्य दोनों इतने घुल-मिल जाते हैं कि उन्हें पारस्परिक भेदका भी बोध नहीं रहता। इसीसे लौकिक स्थूल विषयोंको लेकर जिस रसकी अनुभूति होती है वह तो रसाभासमात्र है, वास्तविक रस नहीं; क्योंकि उसके आलम्बन और उद्दीपन दोनों ही क्षणिक एवं अस्थायी हैं। इसमें सन्देह नहीं कि लौकिक रसानुभूतिका व्यापार भी मानसिक ही है; फिर भी स्थूल घटनाओंके आश्रित होनेके कारण उसमेंसे रसाभासकी व्याप्ति दूर नहीं की जा सकती। इसीसे विचारशील पुरुष रसाभासके पीछे न भटककर नित्य रसकी शोध करते हैं, जो कि आलम्बन और उद्दीपनकी एकरस नित्यता और सत्यताके आधारपर प्रतिष्ठित है। स्थूल भूतोंका संयोग न होनेके कारण उसकी दिव्यता और चिन्मयता अबाधित है। यह चिन्मयका चिन्मयसे चिन्मय संयोग अथवा चिन्मय वियोग, जिसका स्थायित्व अव्याहत है, वास्तव-में रस है और भक्तोंने अपनी अन्तर्दृष्टिसे अनुभव करके इसीका रसत्व स्वीकार किया है। वृत्तियोंके आलम्बन और उद्दीपन दो प्रकारके होते हैं—एक तो वे जो वृत्तियोंके चाञ्चल्य एवं बहिर्मुखताके विषय हैं, जिनका जीवन वृत्तिसापेक्ष होनेके कारण मनोमय एवं क्षणिक है। दूसरे वे होते हैं, जो वृत्तियोंके आश्रय हैं, वृत्तियों-के शान्त होनेपर अनुभवमें आते हैं और लौकिक दृष्टिसे वृत्तियोंके न रहनेपर भी जिनका अस्तित्व अक्षुण्ण है। यों भी कह सकते हैं कि वृत्तियोंके शान्त होनेपर ही उनका आविर्भाव होता है। इन वृत्तियोंके आश्रयभूत आलम्बन और उद्दीपनोंसे जहाँ रसकी अनुभूति प्रारम्भ होती है, वहींसे भक्तिरसका श्रीगणेश समझना चाहिये।

यद्यपि जीवका सम्पूर्ण प्रयत्न भगवत्कृपा और प्रेरणा-के अधीन ही है, तथापि वृत्तियोंको शान्त करके निःसङ्कल्प हो जाना, अपने शुद्धस्वरूपमें स्थित हो जाना—यहाँतक साधनाकी यत्किञ्चित् गति है। जब अपने इस सहजस्वरूपमें जीव स्थित हो जाता है, तब निखिल संसारकी निवृत्तिसे निश्चिन्तता और अखण्ड स्वातन्त्र्यका परम सुख उपलब्ध होता है। अन्तर्मुखताकी यही चरम सीमा है और इसीको 'शान्त रस' भी कहा जा सकता है। अन्तरात्माकी इस शुद्ध स्थितिमें, जब कि वह बाह्य विषमताओंसे ऊपर उठ जाता है, भगवान्के ऐश्वर्यका आविर्भाव होता है। 'महतो महीयान्' प्रभुको अपनी सेवा स्वीकार करनेके लिये अनुग्रहवश सम्मुख प्रकट हुआ देखकर जीव अपनेको उनके चरणोंमें समर्पित कर देता है, उनकी सेवाके लिये निछावर हो जाता है और उनकी सेवाका सुअवसर प्राप्त करके अपनी सम्पूर्ण शक्तिसे उसीमें संलग्न हो जाता है। इस अवस्थामें जीव भगवान्के ऐश्वर्यमय लोकमें रहता है और वहाँकी प्रत्येक सम्भव सेवाका सौभाग्य प्राप्त करता है। पङ्खा झलना, चँवर डुलाना, चरणकमलोंका पखारना, दबाना तथा और भी बहुत प्रकारकी सेवाएँ मिलती हैं। भगवान् उन्हें

स्वीकार करके प्रसन्न होते हैं। इस समय भक्तके सामने भगवान्‌का रूप होता है, लीला होती है और वह उनकी सेवामें लगा रहता है। इसके साथ ही भगवान्‌का ऐश्वर्य, उनकी अचिन्त्य शक्ति देख-देखकर भक्त उसीमें अपनेको डुबाता रहता है। इस परमेश्वर-को अपने स्वामीके रूपमें प्राप्त करके जीव प्रतिक्षण एक अनिर्वचनीय रसका अनुभव करता रहता है। भक्तका यह परमानन्द किसी भी लौकिक सुखसे तुलना करने योग्य नहीं रहता। भक्तका यही परमानन्द 'दास्य-रस'के नामसे विख्यात है।

जिस क्षण भक्त दास्य-रसकी अनुभूतिमें तन्मय रहता है, उस समय उसके चित्तमें यह कल्पना भी नहीं आ सकती कि दास्य-रससे ऊँचा भी कोई रस है। क्योंकि अपने एक-एक सङ्कल्पसे कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंका सृजन और संहार करनेवाले प्रभुकी सेवासे बढ़कर और किसी स्थितिकी कल्पना ही कैसे की जा सकती है ? इसलिये इसके आगेका रस भक्तको उसकी इच्छासे नहीं, भगवान्‌की इच्छासे प्राप्त होता है। भगवत्-सम्बन्धका रस सर्वत्र एकरस ही होता है, तथापि भगवत्-लीलाकी दृष्टिसे उसमें आगे-पीछेका व्यवहार भी एक प्रकारसे सङ्गत ही है। इसीसे इस नियमका कोई अपवाद नहीं कि सच्चा सेवक सखाके पदपर प्रतिष्ठित हुए बिना नहीं रहता। प्रेमी स्वामी जब देखता है कि सेवकका सच्चा प्रेम ही सेवाके रूपमें अभिव्यक्त हो रहा है, तब वे उसे सेवक नहीं रहने देते, सखा बना लेते हैं। भगवान् तो किसीको अपना सेवक नहीं मानते, वे सर्वभूतमहेश्वर होनेपर भी अपनी ओरसे सबके सुहृद् ही हैं। जीव जब उन्हें स्वामीके रूपमें प्राप्त करके उनकी सन्निधिमें रहते-रहते यह अनुभव करने लगता है कि ये तो अनन्त ऐश्वर्यवान् होनेपर भी उसके अभिमानी नहीं हैं, परम सहृदय एवं रसिकशिरोमणि हैं, किसीके भी साथ साधारण-से-साधारण खेल खेलनेमें भी इन्हें कोई हिचक नहीं है—इसके विपरीत ये आनन्दित ही होते हैं, तब वह भगवान्‌की लीलाओंसे ही थोड़ा-थोड़ा ढीठ होने लगता है और जहाँ वह हाथ जोड़े रहता था, बोलते समय सहम जाता था और कोई अपराध न हो जाय—इसके लिये काँपता रहता था, वहाँ वह अब हँस-खेल लेता है, उलाहना भी देने लगता है और कभी-कभी अपनी बात माननेके लिये जिद भी कर बैठता है। यद्यपि इसके चित्तसे ऐश्वर्य-का पूरा भाव उठ गया हो—ऐसी बात नहीं होती, सेवासे वैमुख्य भी कभी नहीं होता, फिर भी अधिकांश ऐश्वर्यकी भावना अन्तर्हित ही रहती है और यही कारण है कि इस स्थितिमें पहलेकी अपेक्षा अधिक सेवा हो पाती है और कभी-कभी तो उपालम्भ देकर भी सेवा स्वीकार करा ली जाती है। श्रुतिमें भी भगवान् और जीवके सख्यका सुस्पष्ट निर्देश है।

भगवान्‌के सभी लोकोंमें कुछ-न-कुछ सखा रहते हैं। सभी अवतारोंमें उनका साहचर्य भगवान्‌को भी अपेक्षित रहता है। परन्तु श्रीकृष्ण भगवान्‌की लीलामें तो सखाओंका प्राधान्य ही है। बचपनसे लेकर कैशोर-तक और जागरणसे लेकर शयनतककी लीलाओंमें ग्वाल-बालोंकी उपस्थिति अनिवार्य रही है। श्रीकृष्ण सोते ही रहते, आँगनमें ग्वालोंकी भीड़ इकट्ठी हो जाती। गोष्ठमें सब साथ-साथ गौएँ दुहते, गाँवके आसपास बछड़ोंको चराते। गौओंके साथ-साथ जङ्गलमें जाते, यमुनामें जल उछाल-उछालकर डुबकियाँ लगा-लगाकर नहाते, खेलते-कूदते, लड़ते-भिड़ते, गाते-बजाते और शामको मौजसे घर लौटते। व्रजके ग्वाल-बाल रातमें भी श्रीकृष्णके साथ ही रहते थे, परन्तु सख्य-रसकी यह गुह्यलीला प्रकट करने योग्य नहीं है। ग्वालोंका जीवन, प्राण, शरीर और धन—सब कुछ श्रीकृष्णके लिये था और श्रीकृष्ण उनके थे। कहनेकी आवश्यकता

नहीं कि उनकी प्रत्येक चेष्टा श्रीकृष्णके लिये ही थी। जङ्गलोंमें श्रीकृष्ण कुश्ती लड़ते-लड़ते, दौड़ते-दौड़ते जब थक जाते, तब किसी गोपकी गोदमें सिर रखकर लेट जाते। कोई कोमल कोंपलों और सुकुमार कुसुमोंकी सेज बिछा देता, कोई साँवले शरीरपर मोतीकी तरह चमकते हुए श्रमबिन्दुओंको पोंछने लगता, तो कोई कमलके बड़े पत्तेसे पङ्खा झलने लगता; कोई बालोंपर पड़ी हुई धूलिको झाड़कर उनमें सुगन्धित पुष्प गूँथने लगता तो कोई पैर ही दबाने लगता; कोई नाचता तो कोई गाता; कोई ताली बजाता तो कोई सींग। श्रीकृष्णको जैसे सुख पहुँचता, वे जैसे प्रसन्न होते, वही सब करते। कभी उनसे होड़ भी लगाते, कभी उनको हरा भी देते और कभी-कभी तो दाव लेते-लेते उन्हें परेशान कर देते। सख्य-भावकी इस पूर्णतामें जो रस था, जो रस है, किसीकी बुद्धि उसकी कल्पना कर ले, उसको अपने आकलनके घेरेमें बाँध ले—यह सम्भव नहीं है।

सखा दो प्रकारके होते हैं—एक तो नित्यसिद्ध और दूसरे साधनसिद्ध। नित्यसिद्ध वे हैं, जो भगवान्‌के चिदानन्दमय धामकी चिदानन्दमयी लीलामें भगवान्‌के नित्यसहचर हैं। साधनसिद्ध वे हैं, जो अनेकों जन्म-पर्यन्त तपस्या करके भगवान्‌की कृपा और प्रसादका अनुभव कर सके हैं और क्रमशः उत्तरोत्तर भावोद्रेकके अनुसार रसका अनुभव करते हुए सखाकी श्रेणीतक पहुँचे हैं। साधनसिद्ध सखाओंकी श्रेणीमें देवता, मनुष्य, पशु-पक्षी—सभी हो सकते हैं। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि भगवान्‌की लीलामें जो शरीर, मन, प्राण और नदी, वृक्ष, भूमि आदि होते हैं, वे सब-के-सब चिन्मय एवं दिव्य होते हैं। वहाँ रोग-शोक, जरा-मृत्यु आदि दोषोंका प्रवेश नहीं है। वहाँ एक ही ऋतुमें सब ऋतु, एक ही समयमें सब समय, एक ही स्थानमें सब स्थान और एक ही वस्तुमें सभी वस्तुएँ समायी हुई रहती हैं। संक्षेपमें भगवान्‌के लीला-धाममें देश, काल और वस्तुओंका भेद नहीं होता; भगवान्‌की इच्छा ही देश, काल और वस्तुओंके रूपमें प्रकट होती रहती है। एक ही समय, एक ही स्थानमें भगवान् अनेक रूपोंमें प्रकट रहते हैं, प्रत्येक व्यक्तिके साथ पृथक्-पृथक् लीला करते रहते हैं। कहीं श्रीदामाके साथ कुश्ती लड़ रहे हैं तो कहीं सुबलके साथ झूला झूल रहे हैं। कहीं शरद् ऋतु है तो कहीं वसन्त। कहीं सायङ्काल है तो कहीं प्रातःकाल। यशोदाके लीलाक्षेत्रमें श्रीकृष्ण और ग्वाल-बाल सोये हुए हैं, तो ग्वालोंके लीलाक्षेत्रमें श्रीकृष्ण खेल रहे हैं और यशोदा दूसरे काममें लगी हैं। गोपियोंके लीलाक्षेत्रमें ग्वालबाल निकुञ्जमें प्रवेश नहीं कर सकते, तो ग्वालोंके लीलाक्षेत्रमें गोपियाँ केवल दधि-दान लेनेके लिये छेड़खानी करनेकी पात्र-मात्र हैं। कहीं ग्रीष्मकी दोपहरी है, यमुनास्नान हो रहा है, तो कहीं शरद्‌की पूर्णिमा है, अमृतमयी ज्योत्स्नाका रस लुटा जा रहा है। इन सभी लीलाओंमें नित्यसिद्ध और साधनसिद्ध दोनों प्रकारके सखा नित्य सम्मिलित होते हैं।

व्रजके सखाओंकी चार श्रेणियाँ हैं—सुहृद्, सखा, प्रियसखा और प्रियनर्मसखा। सुहृदोंकी अवस्था श्रीकृष्णसे कुछ बड़ी होती है। उनके सख्यमें वात्सल्यका लोकोत्तर सौरभ रहता है। उनके हाथोंमें कोई-न-कोई शस्त्र रहता है, जिससे वे दुष्टोंके आक्रमणसे श्रीकृष्णकी रक्षा करनेके लिये निरन्तर सचेष्ट रहते हैं। इस श्रेणीमें बलराम, सुभद्र, मण्डलीभद्र, वीरभद्र आदि बहुत-से सखा हैं। ये श्रीकृष्णकी रक्षाके लिये इतने सतर्क रहते हैं कि कहीं बादल गरज जाय तो ये वृषभासुर-जैसे दानवकी आशङ्कासे सजग हो जाते हैं और श्रीकृष्णकी रक्षाके लिये अपने प्राणोंकी तनिक भी परवा नहीं करते। इस श्रेणीके सखाओंमें मण्डलीभद्र और बलराम सर्वश्रेष्ठ माने गये हैं। मण्डलीभद्रका शरीर भौंरे-जैसा काले रंगका है। गुलाबी रंगका वस्त्र

धारण करते हैं। सिरपर मयूरपिच्छ है, हाथमें लाठी। देखिये, सुबलसे क्या कह रहे हैं—'सुबल, मेरा कन्हैया दिनभर जङ्गलोंमें घूमते-घूमते थक गया है; इसकी खुमारी पूरी उतर जाय, ऐसी चेष्टा करनी चाहिये। मैं धीरे-धीरे सिर मलता हूँ, तुम पैर दबाओ; नींद गाढ़ी हो जायगी, तब हम पङ्खा झलेंगे।' बलरामका शरीर शरत्कालीन मेघके समान शुभ्रवर्ण है। नीला वस्त्र, घुँघचीकी माला, एक कानमें कुण्डल और एक कानमें कमल, भौंरे मँडरा रहे हैं। लम्बी-लम्बी भुजाएँ श्रीकृष्णकी रक्षाके लिये फड़कती रहती हैं। सुबलसे आप कहते हैं—'सुबल! आज माँने मुझे रोक लिया है, मैं श्रीकृष्णके साथ नहीं जा सका। आज मेरी जन्मतिथि है, क्या करूँ? कृष्णके विना मेरे प्राण छटपटा रहे हैं। तुम जाकर उससे कह दो आज कहीं भूलकर भी कालियनागके ह्रदकी ओर न जाय। गाँवके आसपाससे ही गौओंको चराकर लौटा ले आवे।' बलराम आज अपने कृष्णके साथ नहीं जा सके, परन्तु उनकी आत्मा श्रीकृष्णके ही साथ है और वे उन्हींकी रक्षाके लिये चिन्तित हैं। यह वात्सल्यमिश्रित सख्य है।

सखाओंकी अवस्था कुछ छोटी किन्तु समानताको लिये हुए ही होती है। इनके सख्यमें दास्यका किञ्चित् मिश्रण रहता है, क्योंकि प्रेम सेवाके रूपमें ही प्रकट होता है। इस श्रेणीमें विशाल, वृषभ, ओजस्वी, देवप्रस्थ, मरन्द, मणिबन्ध आदि हैं। ये सेवाके लिये निरन्तर उत्कण्ठित रहते हुए आपसमें एक दूसरेको प्रेरित करते रहते हैं। देखिये, एक सखा बोल रहा है—'विशाल, तुम पद्मिनीके पत्तेसे पङ्खा झलो। बरूथप, तुम बिखरे हुए बालोंको सँभालो। वृषभ, तुम बातें बंद करके पैर दबाओ। आज मेरा प्यारा कृष्ण कुश्ती लड़ते-लड़ते थक गया है।' इस श्रेणीके सखाओंमें देवप्रस्थ सबसे श्रेष्ठ हैं, उनके रूपका वर्णन इस प्रकार किया गया है—शरीर रक्तवर्ण है, बसन्ती रङ्गका वस्त्र धारण करते हैं, हाथमें गेंद है, गौओंकी रस्सी सिरपर लपेटे हुए हैं। कितनी सुन्दर झाँकी है! पर्वतकी एक विशाल कन्दरामें श्रीदामाकी लम्बी बाँहपर सिर रखकर श्रीकृष्ण लेटे हुए हैं। दामाका हाथ ह्रदयपर है और देवप्रस्थ धीरे-धीरे उनका पैर दबा रहे हैं। श्रीकृष्णकी सेवा ही इनका जीवन है।

प्रियसखाओंकी अवस्था श्रीकृष्णके बराबर होती है, इनमें दास्य और वात्सल्य दोनोंको दबाकर केवल सख्यभाव प्रकट रहता है। ये विभिन्न क्रीडाओंसे श्रीकृष्णको प्रसन्न करते रहते हैं, कुश्ती भी लड़ते हैं, लाठी भी चलाते हैं और जैसे श्रीकृष्ण प्रसन्न हों, वैसी ही चेष्टा करते हैं। इनमें श्रीदामा, सुदामा, दामा, वसुदामा, स्तोककृष्ण आदि सखा हैं। इन सबमें श्रीदामा मुख्य हैं। इनमेंसे कोई उल्टी बात कहकर श्रीकृष्णको हँसाता है, कोई बाँहें फैलाकर पुलकित शरीरसे भेंटता है, कोई धीरे-धीरे पीछेसे आकर आँखें बंद कर लेता है। इस प्रकारकी सुखमय क्रीडा प्रायः हुआ करती है। श्रीदामाका शरीर मनोहर श्यामवर्णका है, पीताम्बर धारण करते हैं, सिरपर लाल पगड़ी है, हाथमें सींग और रस्सी हैं। प्रेमवश श्रीकृष्णका हर बातमें मुकाबला किया करते हैं। देखिये, श्रीकृष्णसे मिलते हुए क्या कह रहे हैं 'कन्हैया, तुम बड़े निठुर हो; एकाएक हमलोगोंको यमुनातटपर छोड़कर कहाँ चले गये? यह तो भगवान्‌की बड़ी कृपा है कि शीघ्र ही तुम मिल गये। अच्छी बात है; आओ, सबको गले लगा-लगाकर आनन्दित करो। मोहन, मैं तुमसे सच कहता हूँ—एक क्षणके लिये भी जब तुम आँखोंसे ओझल हो जाते हो, तब गौएँ क्या हैं, हम कौन हैं, गोष्ठ किधर है और हमें क्या करना चाहिये—इसका ध्यान ही नहीं रहता, सारी-की-सारी व्यवस्था ही उल्टी हो जाती है।' कितना प्रेम है!

प्रियनर्मसखाओंकी श्रेणी पूर्वोक्त तीनों श्रेणियोंसे

अन्तरङ्ग हैं। इनकी भावना और भी ऊँची होती है और रहस्यकी बातोंमें इनका प्रवेश रहता है। इस श्रेणीमें सुबल, बसन्त, उज्ज्वल, गन्धर्व आदि सखागण हैं। समय-समयपर ये श्रीकृष्णका सन्देश श्रीकिशोरीजी-के पास पहुँचाते हैं और उनके सन्देश श्रीकृष्णके पास ले आते हैं। उनके भेजे हुए चित्रपट, पान आदि भी लाकर ये देते हैं। इनमें सुबल और उज्ज्वल प्रधान हैं। सुबलकी अङ्गकान्ति सोने-जैसी है, हरे रंगका वस्त्र धारण करते हैं, आँखें कमल-सी हैं और नीतियुक्त वचनोंके द्वारा ये ग्वाल-बालोंको आनन्दित करते रहते हैं। उज्ज्वलकी अङ्गकान्ति श्रीकृष्णकी ही भाँति वर्षाकालीन मेघके समान है। लाल वस्त्र धारण करते हैं, आँखें बड़ी चञ्चल हैं, इनके बालोंमें सुन्दर-सुन्दर पुष्प लगे रहते हैं। इनके सम्बन्धमें गोपियाँ चर्चा करती रहती हैं—कहीं श्रीकृष्णका सन्देश लेकर उज्ज्वल आ गया तो हमारे मानकी रक्षा नहीं। वह बातचीत करनेमें इतना चतुर है कि उसके सामने हमारी एक नहीं चलती, हार जाना पड़ता है। ग्वालोंमें भी उज्ज्वल हास्यके लिये बड़े प्रसिद्ध हैं। ये तरह-तरहकी युक्तियोंसे ग्वाल-बालोंको हँसाया करते हैं। ग्वाल-बालोंमें बहुत-से शास्त्रोंके बड़े-बड़े विद्वान् भी हैं। कोई-कोई लोक-व्यवहारमें अत्यन्त निपुण हैं। कोई-कोई इतने खिलाड़ी हैं कि उनके खेल देखकर देवता भी चकित हो जाते हैं। कोई श्रीकृष्णके साथ वितण्डा करते हैं तो कोई मधुर भाषणसे श्रीकृष्णको प्रसन्न करते हैं। सबकी प्रकृति मधुर है। सबका प्रेम लोकोत्तर है। सबके सर्वस्व श्रीकृष्ण हैं। सबके हृदय-सिंहासनके श्रीकृष्ण ही एकमात्र सम्राट् हैं।

बड़े-बड़े संत आत्माके रूपमें जिनका अनुभव करते हैं, नारदादि श्रेष्ठ मुनिगण परमाराध्य इष्टदेवके रूपमें जिनकी आराधना करते हैं, जो अनन्त ऐश्वर्य और माधुर्यके एकमात्र केन्द्र होनेपर भी इन ग्वाल-बालोंके प्रेम-वश इनके-जैसे होकर सामान्य बालककी भाँति लीला कर रहे हैं, उन भगवान्‌के प्रेम, दया और सुहृदताका कौन वर्णन कर सकता है? देखिये, आपके सामने यह वृन्दावनधाम है। कितनी सुगन्धि और कितना सौन्दर्य है इसमें! भूमिपर हरी-हरी दूब और वृक्ष पुष्पोंसे लदे हुए। एक ओर यमुना, दूसरी ओर गौओंके झुण्ड-के-झुण्ड। इनके चरवाहे कौन हैं? वही नन्दनन्दन श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण पीताम्बर धारण किये हुए, सिरपर मयूरपिच्छ, कानोंमें कनेरके पुष्पोंके कुण्डल, अखाड़ेमें ग्वाल-बालोंके साथ नटोंकी तरह पैंतरा बदल रहे हैं। ग्वाल-बाल ताली ठोक-ठोककर ललकार रहे हैं। कोई किसीकी प्रशंसा करता है तो कोई किसी-की। कोई हँस रहे हैं, कोई गा रहे हैं, कोई ताल दे रहे हैं। अद्भुत लीला है। अनिर्वचनीय प्रेम है। विस्मित हो-होकर देवता लोग पुष्पोंकी वर्षा कर रहे हैं। हो जाइये आप भी इस आनन्दमें सम्मिलित!

सख्य-रसके उद्दीपनोंमें अवस्था, रूप, सींग, वंशी, विनोद आदि बहुत-से पदार्थ हैं। जिस समय श्रीकृष्ण-के पास पहुँचनेके लिये ग्वाल-बाल व्याकुल रहते हैं, छटपटाते रहते हैं, इधर-उधर भटकते रहते हैं, उस समय सींग या बाँसुरीकी ध्वनि उन्हें बता देती है कि इस समय कृष्ण कहाँ हैं। इस रसमें सभी प्रकारके अनुभाव भी होते हैं। गेंद खेलना, एक दूसरेपर सवारी गाँठना, झूला झूलना, दौड़ना, कलेऊ करना, जलविहार करना, नाचना, गाना इत्यादि बहुत-से अनुभाव प्रकट होते हैं। ये श्रीकृष्णका श्रृङ्गार करते हैं, कभी उन्हें फूलोंसे ढक देते हैं, कभी उनके कपड़े पकड़कर खींचते हैं, कभी श्रीकृष्ण उनका श्रृङ्गार करते हैं तो कभी हाथापाई भी हो जाती है।

सख्य-रसकी अनुभूतिमें सभी सात्त्विक भाव भी प्रकट होते हैं। उस दिन जब श्रीकृष्ण कालियह्रदमें

कूद पड़े थे, ग्वाल-बालोंकी क्या-क्या दशा हो गयी थी, किस प्रकार वे मूर्छित और मृतप्राय हो गये थे—इसका वर्णन नहीं किया जा सकता। जिस समय श्रीकृष्णने बाहर निकलकर श्रीदामाकी मूर्छा तोड़ी, उस समय श्रीकृष्णसे मिलनेके लिये श्रीदामाने अपनी बाँहें फैलानेकी चेष्टा की; परन्तु वह उठा नहीं सका, उसके सारे शरीरमें जड़ता आ गयी थी, वह स्तम्भित हो गया था। गोपियाँ सुबलसे कहा करती थीं—'सुबल, तुम धन्य हो। गुरुजनोंके सामने ही पुलकित शरीरसे तुम श्यामसुन्दरके अङ्गोंमें लिपट जाते हो। वे भी तुम्हारे कंधोंपर हाथ रख देते हैं। कितना पुण्यमय है तुम्हारा जीवन! हम तो निछावर हैं तुम्हारे ऐसे जीवनपर।'

सख्य-रसकी पाँच अवस्थाएँ होती हैं—सख्य-रति, प्रणय, प्रेम, स्नेह और राग। मिलनकी उत्कण्ठाका नाम 'रति' है। 'कब मिलेंगे? कब मेरे प्रियतमकी मधुर वाणी मेरे कानोंमें अमृतकी वर्षा करेगी? कब मैं उनका संस्पर्श प्राप्त करके धन्य हो जाऊँगा?' यह सख्य-रतिकी अवस्था है। सम्भ्रमित और स्तम्भित हो जानेकी स्थितिमें भी प्रभावित न होना प्रणयका लक्षण है। व्रजमें भगवान्‌की स्तुति करनेके लिये ब्रह्मा एवं शङ्कर-जैसे श्रेष्ठ देवता आये हुए हैं; वे अञ्जलि बाँधकर नतमस्तक होकर श्रीकृष्णकी अभ्यर्थना कर रहे हैं। परन्तु प्रणयकी ऐसी महिमा कि ग्वाला अर्जुन श्रीकृष्णके कंधेपर हाथ रखकर मुकुटपर पड़ी हुई धूलि झाड़ रहा है। तिरस्कृत, अपमानित, दुःखित और निराश होनेपर भी सख्यका उत्तरोत्तर उन्मेष प्रेमका लक्षण है। अपने प्रियतम जिस अवस्थामें रक्खें, उसी अवस्थामें रहकर प्रसन्न होना और उनकी प्रसन्नताके लिये ही प्रत्येक चेष्टा करना स्नेहका लक्षण है। रागका अर्थ है सर्वस्वका बलिदान, अपने लिये कुछ न रखना। अश्वत्थामाने श्रीकृष्णपर बाण चलाया, अर्जुनने आगे होकर उसे अपनी छातीपर ले लिया और उसे मालूम हुआ मानो किसीने सुकुमार पुष्प फेंके हैं। श्रीकृष्णका सखा वृषभ जेठकी दुपहरीमें नंगे सिर श्रीकृष्णको माला पहनानेके लिये फूल चुन रहा है। सूर्यकी प्रखर किरणें उसे ऐसी मालूम होती हैं मानो शरद्‌की चाँदनी हो।

सख्य-रसमें संयोगके ही समान वियोग भी होता है। सहृदय पुरुषोंका कहना है कि बिना वियोगके संयोगकी पुष्टि नहीं होती। भगवान् श्रीकृष्णके वियोगमें गोपियोंकी क्या स्थिति होती है—यह प्रायः लोग जानते ही हैं। अपने सखा श्यामसुन्दरसे बिछुड़नेपर ग्वाल-बालोंकी स्थिति भी वैसी ही हो जाती है। श्रीरूपगोस्वामीने इनका बड़ा मार्मिक वर्णन किया है। उसके स्मरणमात्रसे एक बार तो पत्थर-सा हृदय भी पिघल ही जाता है। एक ग्वाल, श्रीकृष्णका विरही ग्वाल क्या कह रहा है, सुनिये तो सही—

अघस्य जठरानलात् फणिह्रदस्य च क्ष्वेडतो
दवस्य कवलादपि स्वमविताऽत्र येषामभूः।
हतस्त्रितयतोऽप्यतिप्रकटघोरघाटीधरात्
कथं न विरहज्वरादवसि तान् सखीनद्य नः॥

'मोहन! अघासुरके जठरानल, कालिय-ह्रदके विष और दावानलके ग्राससे जिन्हें तुमने बचाया था, वे ही तुम्हारे सखा आज उन तीनोंसे भी प्रत्यक्षतः घोरतर शक्तिवाले इस भयङ्कर विरहकी ज्वालासे भस्म हो रहे हैं। तुम कहाँ हो, क्यों नहीं हमारी रक्षा करते?' क्या हम दूसरे हो गये? हम वही, तुम वही, कष्ट उससे भी भयङ्कर। फिर तुम्हारा न आना—हमारी रक्षा न करना—कहाँतक उचित है?

उद्धव आये थे व्रजवासियोंका प्रेम देखने। वे जो कुछ शिक्षा ले गये व्रजसे, महात्माओंने उसका खूब गायन किया है। ग्वालोंकी क्या स्थिति देखी थी

उन्होंने, यह उन्हींके शब्दोंमें सुनिये । वे श्रीकृष्णसे कह रहे हैं—

प्रपन्नो भाण्डीरेऽप्यधिकशिशिरे वल्गितभरं
तुषारेऽपि प्रौढिं दिनकरसुतास्रोतसि गतः ।
अपूर्वः कंसारे सुबलमुखमित्रावलिमसौ
बलीयानुत्तापस्तव विरहजन्मा ज्वलयति ॥

'श्रीकृष्ण, तुम्हारे विरहकी धधकती हुई अपूर्व ज्वाला सुबल आदि सखाओंको रात-दिन जला रही है । वे जब अत्यन्त शीतल भाण्डीरवटकी छायामें जाते हैं, तब वह ज्वाला और भी उग्रतर रूप धारण करती है । जब वे यमुनाकी हिम-शीतल धारामें प्रवेश करते हैं, तब उस ज्वालाका चमत्कार और भी बढ़ जाता है ।' कहाँ जायँ, किसका आश्रय लें ? जिस भाण्डीरके नीचे वे तुमसे दाँव लेते थे, जिस यमुनामें पानी उछालकर तुम्हें हरा देते थे—वही भाण्डीर, वही सूनी यमुना आज उनको जलायेगी नहीं तो क्या करेगी ? श्रीकृष्ण, तनिक सोचो तो उनके तापको । कितने तप्त हैं वे तुम्हारे लिये !

अब उनके शरीरमें दम नहीं है—दिन-दिन उनका शरीर छीज रहा है, केवल लंबी साँस ही उनके जीवनकी निशानी है—

त्वयि प्राप्ते कंसक्षितिपतिविमोक्षाय नगरीं
गभीराद्वाभीरावलितनुषु खेदादनुदिनम् ।
चतुर्णां भूतानामजनि तनिमा दानवरिपो
समीरस्य प्राणाध्वनि पृथुलता केवलमभूत् ॥

'तुम तो कंसकी मुक्तिके लिये—सखाओंको छोड़कर इस सुन्दर नगरीमें चले आये; उधर उनकी क्या दशा है, जानते हो कुछ ? ग्वालोंका गम्भीर खेद उनके शरीरको खाये जा रहा है । तुम तो दैत्योंके दुश्मन हो, उन बेचारोंको ओरसे इतनी उदासीनता क्यों ? देखो तो सही, अब उनके शरीरमें पृथिवी, जल, अग्नि और आकाश कितने कम हो गये हैं ! बाकी है तो केवल वायु, जो नासिका-मार्गसे बड़े वेगसे चल रहा है । अब उनकी मृत्युमें कोई विलम्ब नहीं है । जल्दी करो, रक्षा करो । उनकी यह कृशता तुमसे कैसे सही जा रही है ?'

श्रीकृष्ण ! उनकी व्याकुलता इतनी बढ़ गयी है कि नींद तो उन्हें कभी आती ही नहीं । निद्राने उनकी आँखोंको स्वयं छोड़ दिया—

नेत्राम्बुजद्वन्द्वमवेक्ष्य पूर्वं
बाष्पाम्बुपूरेण वरूथपस्य ।
तत्रानुवृत्तिं किल यादवेन्द्र
निर्विद्य निद्रामधुपी मुमोच ॥

'आँखें कभी खाली हों, तब तो नींद आवे ! जब देखो आँसू—बस, आँखें आँसूसे भरी ही रहती हैं । निद्रासे देखा नहीं गया । उसका भी हृदय फटने लगा उनकी विरह-व्यथा देखकर, उसने आना ही छोड़ दिया । इस तरह वे कितने दिन स्वस्थ रह सकेंगे ? वे तुम्हारे लिये पागल तो हैं ही, उनका यह पागलपन और मत बढ़ाओ श्रीकृष्ण !'

उनका जीवन आलम्बशून्य हो रहा है । तुम्हीं थे उनके जीवन, उनके सर्वस्व और हृदयके आलम्बन, सो तुम्हीं नहीं रहे । अब वे कैसे जीवित रहें ? एक ग्वालने मुझसे कहा था—

गते वृन्दारण्यात् प्रियसुहृदि गोष्ठेश्वरसुते
लघूभूतं सद्यः पतदतितरामुत्पतदपि ।
नहि भ्रामं भ्रामं भजति बटुलं तूलमिव मे
निरालम्बं चेतः क्वचिदपि विलम्बं लवमपि ॥

जबसे मेरे प्यारे सखा श्रीकृष्ण वृन्दावनसे चले गये, एक क्षणके लिये भी मेरा चित्त कहीं स्थिर नहीं हुआ । वह रूईकी तरह हल्का होकर इधर-उधर उड़ता ही रहता है, उसका भटकना बंद ही नहीं होता ।

कभी आकाशमें जाता है तो कभी पातालमें। जहाँ उसके आलम्बन श्रीकृष्ण ही नहीं, वहाँ वह कैसे ठहरे ? अब ग्वाल-बाल घबरा गये हैं, उनके धैर्यका बाँध टूटनेवाला ही है। श्रीकृष्ण ! मैंने कई महीनोंतक रहकर स्वयं उनकी दशा देखी है—

रचयति निजवृत्तौ पाशुपाल्ये निवृत्तिं
कलयति च कलानां विस्मृतौ यत्नकोटिम्।
किमपरमिह वाच्यं जीवितेऽप्यद्य धत्ते
यदुवर विरहात्ते नार्थितां बन्धुवर्गः॥

वे अब अपनी जीविकाका काम पशुपालन भी छोड़ रहे हैं—गौएँ भी तो हुङ्कार भर-भरकर तुम्हें ढूँढती ही रहती हैं। जो कुछ उन्हें कलाका—नाचने-गाने-बजाने आदिका ज्ञान है, उसे भूलनेके लिये कोटि-कोटि यत्न कर रहे हैं। और तो क्या कहूँ, श्रीकृष्ण, अब वे जीनेकी भी इच्छा नहीं करते ! उन्हें कोई कैसे धीरज बँधावे ?

जान-बूझकर वे अपनी जीविका आदिका त्याग कर रहे हों, ऐसी बात भी नहीं है। तुम्हारे विरहके कारण उनमें जडता आ गयी है। उनकी दशाका स्मरण करके हृदय फटने लगता है—

अनाश्रितपरिच्छदाः कृशविशीर्णरूक्षाङ्गकाः
सदा विफलवृत्तयो विरहिताश्छविच्छायया।
विरावपरिवर्जितास्तव मुकुन्द गोष्ठान्तरे
स्फुरन्ति सुहृदां गणाः शिखरजातवृक्षा इव॥

शरीरपर वस्त्र नहीं, दुबले-पतले, अस्त-व्यस्त, रूखे-सूखे, जीविकाहीन, सौन्दर्यरहित। मुखसे एक शब्द भी नहीं बोलते। ऐसा मालूम होता है कि पर्वत-शिखरपर निष्कम्प वृक्ष खड़े हों। श्रीकृष्ण ! उनसे भी गयी-बीती हालतमें हैं तुम्हारे सखा। इसका कारण क्या है जानते हो न ? तुम्हारा विरह ! तुम्हारे विरहसे ही वे जडप्राय हो गये हैं। मेरी तो आँख आँसुओंसे भरी जा रही है, बोला नहीं जाता—क्या तुम इतने निष्ठुर हो गये ?

उनकी व्याधि कल्पनामात्रसे मेरे हृदयको जर्जरित कर रही है। उनकी एक-एक गाँठ टूटती रहती है—मेरा हृदय टूटा जा रहा है—चलो न, अपनी आँखसे ही देख लो। न हो तो फिर लौट आना—

विरहज्वरसंज्वरेण ते
ज्वलिता विश्लथगात्रबन्धना।
यदुवीर तटे विचेष्टते
चिरमाभीरकुमारमण्डली॥

कबसे यमुनातटपर ग्वाल-बाल लोट रहे हैं ! हृदयमें तुम्हारे विरहकी ज्वाला प्रज्वलित हो रही है, शरीरका एक-एक बन्धन टूट रहा है। क्या तुम उन्हें इस स्थितिमें देख सकोगे, श्रीकृष्ण ! तुम्हारी यह गम्भीरता नष्ट होकर रहेगी ! तुम्हें उनको अपने गले लगाना पड़ेगा।

उनकी उन्मत्त चेष्टा कल्पनातीत है। तुम आज मथुराके स्वामी हो, भूल जाओ उन्हें। परन्तु सोचो तो, क्या यह उचित है ? उनका उन्माद आज सीमाका उल्लङ्घन किये जा रहा है—

विना भवदनुस्मृतिं विरहविभ्रमेणामुना
जगद्व्यवहृतिक्रमं निखिलमेव विस्मारिताः।
लुठन्ति भुवि शेरते बत हसन्ति धावन्त्यमी
रुदन्ति मथुरापते किमपि बल्लवानां गणाः॥

विरहके विभ्रमने यहाँतक उन्हें उन्मत्त कर दिया है कि वे आपको भी भूल गये हैं। जगत‍्के व्यवहारों-की मर्यादा तो अलग ही रही। वह तो सब-की-सब उनकी स्मृतिसे बहुत दूर हो गयी है। वे कभी जमीनपर लोटते हैं, कभी सो जाते हैं, कभी हँसते हैं, कभी दौड़ते हैं, कभी रोते हैं, कभी मूर्च्छित हो जाते हैं। सारे जगत‍्को तुमने सुखी किया, केवल

अपने ग्वालोंको रुलाया। आज संसारमें आनन्दोत्सव मनाया जा रहा है और गोकुलमें सबकी आँखें अंधी हो रही हैं—किसीकी मूर्च्छा ही नहीं टूट रही है। यह मूर्च्छा कहीं मृत्युका रूप न धारण कर ले!

श्रीकृष्ण! उनकी मृत्यु भी उनसे दूर नहीं है। क्या मृत्यु इससे कुछ भिन्न होती है?

कंसारे विरहज्वरोर्मिजनितज्वालावलीजर्जरा
गोपाः शैलतटे तथा शिथिलितश्वासाङ्कुराः शेरते।
वारं वारमखर्वलोचनजलैराप्लाव्य तान्निश्चलान्
शोचन्त्यद्य यथा चिरं परिचयस्निग्धाः कुरङ्गा अपि॥

श्रीकृष्ण! तुम्हारे विरहज्वरकी लहरोंसे उत्पन्न ज्वालाओंने उनको इतना जर्जरित कर दिया है कि तुम्हारे ग्वाल-बाल पर्वतकी तराइयोंमें इस प्रकार पड़े हुए हैं कि अब उनका श्वास भी बंद हो गया है। देखो, उनके परिचित, प्रेमी हरिन अपनी अपरिमित अश्रुधारासे बार-बार सींचकर भी जब उन्हें नहीं जगा पाये, उनकी निश्चलताको भंग नहीं कर सके तो अब वे बेचारे निरुपाय होनेके कारण शोकाकुल हो रहे हैं।

इससे भी अधिक कोई करुण अवस्था हो सकती है! हृदय फटा-सा जाता है उनकी अवस्थाकी कल्पना करके। परन्तु प्रेमियोंकी अवस्थाका यहीं अन्त नहीं है। वे मर-मरके जीते हैं, जी-जीके मरते हैं। मरनेपर भी उनके हृदयमें वही व्याकुलता, वही प्रेम और वही मिलनोत्कण्ठा! परन्तु यह रस है। इसका स्वाद जिसको मिल गया, वह इस दुःख या मृत्युका प्रतीकार नहीं करता। वह तो जन्म-जन्म इसी अवस्थामें रहना चाहता है। भगवान्‌का विरह—संसारके सभी संयोग-सुखोंसे श्रेष्ठ सुख है। कई भक्त तो यह भी कहते हैं कि भगवान्‌के संयोगसे भी उनका विरह अच्छा है। यदि किसीको उनके विरहका घाव लग जाय फिर उसकी कोई दवा नहीं। दवाकी जरूरत नहीं!

यह ग्वाल-बालोंका विरह प्रकट लीलाके अनुसार है। गुप्त लीलामें तो इनका भगवान्‌से कभी विरह होता ही नहीं। जगत्‌के लोगोंको भगवान्‌के विरहमें कितनी पीड़ा होनी चाहिये, इसका यह निदर्शनमात्र है। इस विरहके द्वारा संयोगकी परिपुष्टि होती है। जिसके विरहमें इतना दुःख है, उसके संयोगमें कितना सुख होगा! जब आगे-आगे गौएँ चलती हैं और पीछे-पीछे धूलिधूसरित श्रीकृष्ण बाँसुरी बजाते हुए, ग्वाल-बाल उनके स्वरमें स्वर मिलाकर गाते हुए और ताल भरते हुए, कितना आनन्द होता है उस समय! उसको 'आनन्द' शब्दकी सीमामें बाँधना ही अन्याय है। यह दर्शन देखनेवालों—स्मरण करनेवालोंके चित्तमें ही परम रसका सञ्चार कर देता है। गोपियाँ—इसी वेशमें देखकर तो श्रीकृष्णपर निछावर हुई थीं। जब सख्यकी लीलाओंको देखनेवाले इतने प्रभावित, चमत्कृत और आनन्दित होते हैं, तब जो स्वयं सख्य-रसका आस्वादन करते हैं उनके आनन्दकी कल्पना कौन कर सकता है? ब्रह्मा भी उनके भाग्यकी सराहना करते हैं—'यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्।'

श्रीशुकदेवजीके शब्दोंमें—

यत्पादपांसुर्बहुजन्मकृच्छ्रतो
धृतात्मभिर्योगिभिरप्यगम्यः।
स एव यद्दृग्विषयः स्वयं स्थितः
किं वर्ण्यते दिष्टमतो व्रजौकसाम्॥

भक्त वैश्वानर

(लेखक—श्री 'शान्त')

प्राचीनकालमें पुण्यसलिला नर्मदाके पावन तटपर नर्मपुर नामका अत्यन्त रमणीय किन्तु छोटा-सा ग्राम था। उसमें विश्वानर नामके एक बड़े पुण्यात्मा ब्रह्मचारी निवास करते थे। वे शाण्डिल्य गोत्रके उत्तम ब्राह्मण थे। उनके मुखपर ब्रह्मतेज था, इन्द्रियाँ वशमें थीं, हृदय पवित्र था और वे वेदोंके स्वाध्यायमें ही प्रायः लगे रहते थे। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वे भगवान् शङ्करके अनन्य भक्त थे। यही तो सम्पूर्ण वेदोंके स्वाध्यायका फल है।

जब उन्होंने ब्रह्मचर्याश्रममें सब वेद और वेदाङ्गोंका अध्ययन समाप्त कर लिया, तब उनके चित्तमें यह इच्छा हुई कि अब लौकिक व्यवहारके क्षेत्रमें उतरना चाहिये। इतने दिनतक जो तपस्या की है, स्वाध्याय किया है, मनन-चिन्तन किया है, उसको लेकर संसारमें उतरना चाहिये और देखना चाहिये कि व्यवहारमें उनका कैसे उपयोग होता है। इसके साथ ही उनके मनमें यह प्रश्न उठा कि मुझे किस आश्रममें रहकर अपने जीवनका उपयोग और निर्वाह करना चाहिये। भगवान् शङ्करकी ज्ञानप्रद मूर्तिका ध्यान करके वे सोचने लगे कि 'चारों आश्रमोंमेंसे मेरे लिये कौन-सा कल्याणकारी है? मेरी मानसिक परिस्थितिको देखते हुए मुझे वानप्रस्थी होना चाहिये या संन्यासी? किसमें कौन-सा गुण है, कौन-सा दोष है? सबके सम्बन्धमें विचार करते-करते वे मन-ही-मन गृहस्थाश्रमकी प्रशंसा करने लगे।

विश्वानरने मनमें विचार किया कि 'गृहस्थाश्रम ही अन्य तीन आश्रमोंका आधार है। देवता, पितर, मनुष्य और पशु-पक्षी भी गृहस्थोंका ही आश्रय लेते हैं। स्नान, हवन और दान गृहस्थके लिये आवश्यक धर्म हैं। इस आश्रममें जपके लिये भी कोई बाधा नहीं है। चित्त स्वभावसे ही चञ्चल है। गृहस्थका चित्त एक स्त्रीमें बँधा रहता है। चरित्रकी रक्षाके लिये धर्मपत्नी उसका कवच है। यदि मैं विवाह नहीं करूँ, हठसे, लोकलाजसे अथवा स्वार्थवश ब्रह्मचारीके ही वेशमें रहूँ और मेरे मनमें बुरी वासनाएँ आवें—आती रहें तो मेरा वह ब्रह्मचर्य किस कामका? यदि गृहस्थ परस्त्रीपर कुदृष्टि न डाले, अपनी स्त्रीसे ही सन्तुष्ट रहे और ऋतुकालमें सहवास करे तो वह गृहस्थ होनेपर भी ब्रह्मचारी ही है। जो राग-द्वेषसे रहित होकर सदाचार-पूर्वक गृहस्थ-जीवन व्यतीत करता है, वह वानप्रस्थीसे भी श्रेष्ठ है। क्षणिक वैराग्यके आवेशमें आकर कोई घर छोड़ दे और घरकी बातोंका ही चिन्तन करता रहे तो उसे त्यागका कोई फल नहीं मिलता। जो गृहस्थ किसीसे किसी वस्तुकी याचना नहीं करता, भगवान् जैसी परिस्थितिमें रक्खें उसीमें प्रसन्न रहता है, वह उन संन्यासियोंसे बहुत ही उत्तम है, जो भोजनके अतिरिक्त किसी भी वस्तुकी भिक्षा माँगते हैं। तब मुझे गृहस्थाश्रमको ही स्वीकार करना चाहिये।'

शास्त्रोंका अध्ययन, पवित्र अन्तःकरण और भगवान्की भक्ति—ये तीनों सद्विचार और श्रेष्ठ निश्चयके

कारण हैं। विश्वानरने अपनी मानसिक स्थिति और अधिकारका विचार करके यही निश्चय किया कि मुझे विवाह करना चाहिये, गृहस्थाश्रम स्वीकार करना चाहिये। शुभ मुहूर्तमें उन्होंने अपने अनुरूप कुलीन कन्यासे विवाह किया और गृहस्थधर्मके अनुसार सदाचारका पालन एवं भगवान्‌का स्मरण-चिन्तन करते हुए अपना जीवन व्यतीत करने लगे। उनकी पत्नीका नाम शुचिष्मती था। वे अपने पतिको ही भगवान्‌का स्वरूप मानकर उनकी सेवा करती थीं। पञ्च-महायज्ञ—देवता, पितर और अतिथियोंकी पूजा-सेवा प्रतिदिन होती। उनके पूजापाठ एवं अर्थोपार्जनका समय निश्चित था। उनका प्रत्येक काम धर्मकी प्रेरणासे युक्त ही होता था। उनकी धर्मपत्नी उनके प्रत्येक कार्यमें निःसङ्कोच सहायता करती थीं। वे दो शरीर, एक प्राण थे। उनका जीवन सुखमय था। भगवान्‌का प्रेम दोनोंके हृदयसे छलकता रहता था। इस प्रकार बहुत दिन बीत गये।

एक दिन शुचिष्मतीने सोचा—'अबतक हमलोग सन्तानहीन हैं। सन्तान दम्पतीके प्रेमका मूर्तिमान् स्वरूप है। इस लोक और परलोकके सुखके लिये भी सन्तानकी आवश्यकता है। पुत्र पत्नी और पति दोनोंका एकत्व है, इसलिये हमें एक सन्तान तो चाहिये ही।' ऐसा सोचकर शुचिष्मतीने अपने पतिसे, जिन्हें वह भगवान् शङ्करके रूपमें देखती थी, यह प्रार्थना की—'हे आर्यपुत्र, हे प्राणनाथ, आपके चरणकमलोंकी सेवाके प्रतापसे मुझे कुछ भी दुर्लभ नहीं है। मेरे लिये जिन वस्तुओंकी आवश्यकता है, वह सब आपकी कृपासे प्राप्त है। फिर भी मेरे चित्तमें चिरकालसे एक गृहस्थोचित अभिलाषा है, आप कृपा करके मेरी वह अभिलाषा पूर्ण करें।' विश्वानरने कहा—'प्रिये! तुम मेरी अर्द्धाङ्गिनी हो, सहचरी हो; ऐसी कोई भी वस्तु मेरे पास नहीं है, जो तुम्हें न दे सकूँ। भगवान् शङ्करकी कृपासे हमारे लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं है। तुम्हारे माँगनेभरकी देर है, मिलनेकी नहीं।' शुचिष्मतीने कहा—'प्रियतम, मैं जानती हूँ कि आप भगवान् शङ्करके अनन्य भक्त और उनके कृपा-पात्र हैं। मैं और कुछ नहीं चाहती, केवल इतना ही चाहती हूँ कि मेरी कोख भगवान् शङ्कर-जैसे पुत्रसे भरे।' पत्नीकी बात सुनकर विश्वानर एक क्षणके लिये चुप हो गये। उन्होंने सोचा—'ऐसी प्रार्थना तो मेरी कल्पनामें भी नहीं आयी थी। हो-न-हो भगवान् शङ्करने ही इसके मुखसे यह बात कहलायी है। अच्छा, उनकी इच्छा पूर्ण हो।' ऐसा सोचकर उन्होंने अपनी धर्मपत्नीसे कहा, ऐसा ही होगा। इसके बाद अपनी पत्नीको आश्वासन देकर उन्होंने काशीकी यात्रा की।

काशी भगवान् शङ्करका नित्य निवासस्थान है। काशीमें पहुँचते ही विश्वानरके त्रिविध ताप शान्त हो गये, सैकड़ों जन्मोंके संस्कार धुल गये। उन्होंने गङ्गास्नान करके भगवान् शङ्करकी विविध लिङ्गमूर्त्तियोंका दर्शन और पूजन किया। यज्ञ करके सहस्र-सहस्र ब्राह्मण-संन्यासियोंको भोजन कराया। अब वे विचार करने लगे कि काशीका तो एक-एक कण भगवान्‌का लिङ्ग है, मैं किस लिङ्ग-मूर्त्तिकी आराधना करके अपना अभीष्ट प्राप्त करूँ। मनमें अनेक स्थानों और मूर्त्तियोंके नाम आये और गये। अन्तमें उन्होंने यह निश्चय किया कि वीरेश्वरकी आराधना करनी चाहिये। 'अबतक बहुत-से स्त्री-पुरुषोंने वीरेश्वरकी आराधना करके अपनी-अपनी अभिलाषा पूर्ण की है। पञ्चस्वर गन्धर्वको यहीं सिद्धि प्राप्त हुई थी। कोकिलालापा अप्सरा भावपूर्ण हृदयसे नाचते-नाचते इन्हींमें समा गयी थी। वेदशिरा ऋषि शतरुद्रीका पाठ करते-करते इसी मन्त्रज्योतिर्मय लिङ्गमें सशरीर समा गये थे। जयद्रथको यहींसे राज्य प्राप्त हुआ था, विदूरथको यहींसे पुत्रकी

प्राप्ति हुई थी, वसुदत्त वैश्यको यहींसे पत्नी प्राप्त हुई थी, अनेक सिद्धियोंको यहीं निर्वाण प्राप्त हुआ है । मैं इन्हींकी आराधना करूँगा, इन्हींकी सेवा-अर्चासे इन्हें पुत्ररूपमें प्राप्त करूँगा ।' ऐसा दृढ़ निश्चय करके विश्वानर भगवान्‌की उपासनामें लग गये ।

उन्होंने तेरह महीनेतक भगवान्‌की पूजा की । कभी एक समय खा लेते; कभी बिना माँगे जो कुछ मिल जाता, वही खाकर रह जाते; कभी दूध पी लेते; कभी फल खा लेते; कभी कुछ नहीं खाते । एक महीनेतक एक मुट्ठी तिल प्रतिदिन खाकर रह गये । किसी महीनेमें पानी ही पीकर रह गये तो किसी महीनेमें वह भी नहीं । इस प्रकार घोर तपस्या करते हुए उन्होंने बारह महीने व्यतीत किये । तेरहवें महीने एक दिन प्रातःकाल ही गङ्गास्नान करके भगवान्‌की पूजा करनेके लिये आये । उन्होंने जब मूर्त्तिकी ओर देखा तो बीचोबीच लिङ्गमें एक बालक दिखायी पड़ा । आठ वर्षकी अवस्था मालूम पड़ती थी । सब अङ्गोंमें भस्म लगा हुआ था । बड़ी-बड़ी आँखें थीं, लाल-लाल अधर थे, सिरपर पीली जटा और मुखपर हँसी थी । बालकोचित वेश था, शरीरपर वस्त्र नहीं था । लीला-पूर्ण हँसीसे चित्तको मोह रहा था । यह बालक बालक नहीं, साक्षात् भगवान् शङ्कर थे । विश्वानर अपने इष्टदेवको पहचानकर उनके चरणोंपर गिर पड़े और आँखोंके जलसे उनका अभिषेक किया । रोमाञ्चित शरीर एवं गद्‌गद कण्ठसे अञ्जलि बाँधकर उन्होंने स्तुति की—'प्रभो ! मैं तुम्हारा ही हूँ, तुम्हारे चरणोंमें नमस्कार करता हूँ । तुम्हारे अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं है । तुम सबके कर्ता हो, तुम सबमें एकरस हो, एक रूप हो और रूपरहित हो । तुम्हारे स्वरूपका ज्ञान होनेपर संसारकी विभिन्नता मिट जाती है । जलकी शीतलता, अग्निकी उष्णता, सूर्यका ताप और चन्द्रमाकी सुधा-मधुर ज्योत्स्ना तुम्हीं हो । सुकुमार कुसुमोंमें सौरभ, दूधमें मधुर नवनीत तुम्हीं हो । तुम साकार और निराकार दोनों हो, सेन्द्रिय-निरिन्द्रिय दोनों हो, सगुण-निर्गुण दोनों हो । तुम्हारे वास्तविक स्वरूपको तुम्हीं जानते हो । बाल-वृद्ध, रूप-अरूप—सब तुम्हीं हो ।' इस प्रकार कहते-कहते विश्वानर भगवान् शङ्करके चरणोंपर गिर पड़े । भगवान् शङ्करने कहा—'तुम्हारी जो इच्छा हो, माँग लो ।' विश्वानरने कहा—'प्रभो, आप सर्वज्ञ हैं; आपके लिये अज्ञात क्या है ! एक तो मैंने इच्छा करके ही अपराध किया, दूसरे अब आप याचना करनेको कह रहे हैं ! याचना तो दीनताकी मूर्ति है । आप जान-बूझकर मुझे इसके लिये क्यों प्रेरित कर रहे हैं !' भगवान् शङ्करने कहा—'तुम्हारी अभिलाषा पूर्ण होगी । शुचिष्मतीकी इच्छा पूर्ण करनेके लिये तुमने जो तपस्या की है, वह सर्वथा उचित है । मैं एक रूपसे तुम्हारा पुत्र बनूँगा । मेरा नाम गृहपति, अग्नि अथवा वैश्वानर होगा ।' इतना कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये और विश्वानर बड़े आनन्दके साथ भगवान्‌का स्मरण करते हुए अपने घर लौट आये ।

समयपर शुचिष्मती गर्भवती हुई । विश्वानरने शास्त्र-के अनुसार सभी संस्कार किये । जिस दिन पुत्रजन्म हुआ, उस दिन त्रिलोकी आनन्दसे परिपूर्ण हो गयी । शीतल-मन्द-सुगन्ध वायुके झकोरोंसे दिशाएँ सुवासित हो गयीं । बादलोंने नन्दनवनके कुसुमोंका सौरभ-रस लेकर समस्त प्राणियोंका अभिषेक किया । कल्याणमयी पृथ्वी दिव्य ध्वनिसे ध्वनित होकर सबके हृदयमें एक अद्भुत सुखका सञ्चार करने लगी—अप्सराएँ नाचने लगीं, गन्धर्व गाने लगे । मरीचि, पुलस्त्य, अत्रि आदि ऋषीश्वर तथा ब्रह्मा, विष्णु आदि देवेश्वर—सब-के-सब विश्वानरके घरपर प्रकट हुए । स्वयं भगवान् शङ्कर पार्वतीके साथ अपने अंशविशेषके अवतारका जन्मोत्सव देखनेके लिये आये । ब्रह्माने स्वयं उस नवजात शिशुका

जातकर्म संस्कार किया और श्रुतिके अनुसार नामकरण किया। शिशुका नाम गृहपति रक्खा गया। बालककी रक्षाका विधान करके ब्रह्मा, विष्णु और शङ्कर तीनों ही अपने-अपने धामको चले गये। उस समय सबके मुँहसे यही आवाज निकल रही थी—'इस शिशुका रूप धन्य है, तेज धन्य है और शुचिष्मती-की कोख धन्य है।' इस महान् उत्सवके समाप्त होने-पर सब लोग अपने-अपने घर जाकर भी यही कहते रहे कि पुत्र हो तो ऐसा हो, ऐसा सर्वलक्षणसम्पन्न बालक तो कभी देखनेमें नहीं आया था। पिता-माताके आनन्दका तो कहना ही क्या था। उनके तो इष्टदेव ही उनके सामने बालक बनकर आ गये थे। वे उसके लालन-पालनमें, दुलार-प्यारमें इस प्रकार लग गये कि उन्हें यह बात भूल ही गयी कि यह भगवान् शङ्करका अंश है अथवा उनका कृपा-प्रसाद है। वे तो उसे केवल अपना लाडला शिशु समझते थे। कहीं गर्मी-सर्दी न लग जाय, कहीं इसको कोई कष्ट न हो जाय—इसी चिन्तामें सदा रहते थे। सच है, लीलाका माधुर्य ऐश्वर्यको ढक लेता है।

पाँचवें वर्ष यज्ञोपवीत-संस्कारके साथ ही कुमारका वेदाध्ययन प्रारम्भ हुआ। गृहपति वैश्वानर कोई सामान्य बालक नहीं थे कि उनके अध्ययनमें बहुत वर्षोंका विलम्ब हो। गुरु तो उनके विनय आदि सद्गुणों और विलक्षण प्रतिभाके दर्शनसे ही प्रभावित हो गये थे। वैश्वानरने गुरुको साक्षी बनाकर स्वयं ही सम्पूर्ण विद्याओंका अध्ययन कर लिया। कुल तीन वर्षके समयमें समस्त शास्त्रोंका साङ्गोपाङ्ग अध्ययन करके—जब कि दूसरोंके लिये इतने अल्पकालमें उनका पारायण भी असम्भव है—वैश्वानर अपने पिताके पास लौट आये और उन्होंने अपने विनय, सेवा, सहिष्णुता आदिसे न केवल अपने माता-पिताको, बल्कि सभी लोगोंको चकित कर दिया। बालकोंका एकमात्र कर्तव्य है माता-पिताकी सेवा, उनकी आज्ञाका पालन और सबके साथ विनयका व्यवहार। वैश्वानर इसके आचार्य थे, आदर्श थे। विद्याके साथ विनय भी चाहिये, यही मणि-काञ्चन-संयोग है।

एक दिन घूमते-घामते देवर्षि नारद नर्मपुरमें विश्वानरके घर आये। शुचिष्मती और विश्वानरने प्रेम और आनन्दसे भरकर उनका आतिथ्य-सत्कार किया। वैश्वानर गृहपतिने आकर उनके चरणोंमें प्रणाम किया। देवर्षि नारदने आशीर्वाद देकर विश्वानरसे बालककी प्रशंसा करते हुए कहा—'तुम्हारा दाम्पत्य-जीवन धन्य है! यह तुम्हारा बड़ा सौभाग्य है कि तुम्हें ऐसा आज्ञाकारी पुत्र प्राप्त हुआ है। पुत्रके लिये तो इससे बढ़कर और कोई कर्तव्य ही नहीं है। उसके लिये माता-पिता ही गुरु और देवता हैं, उनकी सेवा ही सदाचार है। उनके चरणोंका जल ही तीर्थ है। पुत्रके लिये संसारमें पिता ही परमात्मा है, पितासे भी बढ़कर माता है; क्योंकि दस महीनेतक पेटमें रखना और बचपनमें पालन-पोषण करना माताका ही काम है। गङ्गाके पवित्र जलसे अभिषेक करनेपर भी वैसी पवित्रता नहीं प्राप्त होती, जैसी माताके चरणामृतके स्पर्शसे प्राप्त होती है। संन्यास लेनेपर पुत्र पिताके लिये वन्दनीय हो जाता है, परन्तु माता संन्यासी पुत्रके लिये भी वन्दनीय ही रहती है। तुम दोनों धन्य हो, क्योंकि तुम्हें ऐसा पुत्ररत्न प्राप्त हुआ है।' देवर्षि नारद जब यह कह रहे थे, माता-पिताके हृदयमें कितना हर्ष हुआ होगा—इसका अनुमान कौन कर सकता है!

देवर्षि नारदने वैश्वानरको अपने पास बुलाते हुए कहा—बेटा, आओ मेरी गोदमें बैठ जाओ; मैं तनिक तुम्हारे शरीरके लक्षणोंको तो देखूँ। माता-पिताकी आज्ञासे वैश्वानर देवर्षि नारदको प्रणाम करके बड़ी

नम्रतासे उनकी गोदमें बैठ गये। देवर्षि नारदने शरीरका एक-एक लक्षण देखा; तालु, जीभ और दाँत भी देखे। इसके पश्चात् गौरी-शङ्कर और गणेशको नमस्कार करके कुङ्कुमसे रँगे हुए सूतसे उत्तर मुँह खड़े हुए बालकको पैरसे लेकर सिरतक नाप लिया। उसके बाद कहा—'हे विश्वानर! एक सौ आठ अङ्गुल जिसके शरीरका परिमाण होता है, वह लोकपाल होता है; तुम्हारा बालक वैसा ही है। इसके शरीरमें उत्तम पुरुषके बत्तीसों लक्षण मिलते हैं। इसके पाँच अङ्ग दीर्घ हैं—दोनों नेत्र, दाढ़ी, जानु और नासिका। पाँच अङ्ग सूक्ष्म हैं—त्वचा, केश, दाँत, उँगलियाँ और उँगलियोंकी गाँठें। इसके तीन अङ्ग ह्रस्व हैं—ग्रीवा, जङ्घा और मूत्रेन्द्रिय। स्वर, अन्तःकरण और नाभि—ये तीन गम्भीर हैं। इसके छः स्थान ऊँचे हैं—वक्षःस्थल, उदर, मुख, ललाट, कंधे और हाथ। इसके सात स्थान लाल हैं—दोनों हाथ, दोनों आँखोंके कोने, तालु, जिह्वा, ओष्ठ, अधर और नख। तीन स्थान विस्तीर्ण हैं—ललाट, कटि और वक्षःस्थल। इन लक्षणोंसे यह सिद्ध होता है कि यह बालक महापुरुष है।' देवर्षि नारदने इनके अतिरिक्त माता-पिताको और बहुत-से लक्षण दिखाये, जिनसे इस बालककी असाधारणता सिद्ध होती थी। माता-पिता सुनते-सुनते अघाते न थे। वे चाहते थे देवर्षि और कुछ कहें। देवर्षिने भी अपनी ओरसे कोई बात उठा न रक्खी।

देवर्षिने अन्तमें कहा—'इस बालकमें सब गुण हैं, सब लक्षण हैं; यह निष्कलङ्क चन्द्रमा है; फिर भी ब्रह्मा इसे छोड़ेंगे नहीं। विधाताके उल्टा होनेपर सारे गुण दोष बन जाते हैं। अभी इसका नवाँ वर्ष चल रहा है, बारहवें वर्ष विद्युत्के द्वारा इसकी मृत्यु हो सकती है।' इतना कहकर देवर्षि नारद आकाशमार्गसे चले गये। माता-पिताके हृदयपर तो मानो अभी वज्रपात हो गया। सुखके सारे स्वप्न एक क्षणमें हवा हो गये। 'हाय रे मर गया!' कहकर विश्वानर मूर्च्छित हो गये। शुचिष्मती पीड़ित हृदयसे विलाप करने लगी—'यह एकाएक वज्रपात कैसे हो गया! कहाँ हम सुखके समुद्रमें डूब रहे थे और कहाँ यह प्रलयका विकराल अट्टहास सुनायी पड़ा! क्या मेरी कोख इसीलिये भरी थी कि मेरा नन्हा-सा शिशु अकालमें ही कालका ग्रास बन जाय! जिसके लिये हमने त्याग किया, तपस्या की, भगवान्‌को प्रसन्न किया, अन्तमें उसकी क्या यही गति होनेवाली थी? हमारे लिये इस संसारमें यह बालक ही सार है। इसके बिना हमारा जीवन निरर्थक है। हे काल, क्या तुम्हारी धर्मपत्नी बाँझ है? कुसुम-से सुकुमार बालकपर वज्रप्रहार करते समय तुम्हारा हृदय टूक-टूक नहीं हो जायगा क्या? हे शङ्कर, हे करुणाकर, हे मृत्युञ्जय! यदि तुम्हारे दिये हुए बालकपर भी मौतका हथकंडा चल जाता है तो अब हम किसपर विश्वास करें, किसकी शरणमें जायँ!'

शुचिष्मतीके विलापके साथ ही आँसुओंकी धारा और गरम साँस निकल रही थी। सारा वायुमण्डल करुणासे परिपूर्ण हो गया। वृक्षों और लताओंतकके हृदय पसीज गये। वे भी आँसू और पसीनेसे रीते न रहे। दिशाएँ रो उठीं, पशु-पक्षी भी स्तब्ध हो गये। विश्वानरकी मूर्च्छा टूटी, उन्होंने कहा—'मेरा प्राण कहाँ है? मेरा सर्वस्व कहाँ है! मेरा स्वामी कहाँ है!' भावी अनिष्टकी आशङ्कासे दोनों बेहोश हो रहे थे। उनका शिशु, उनका प्राण कहीं गया थोड़े ही था। उनके वैश्वानर सामने ही तो खड़े थे। परन्तु प्रेमाविष्ट द्विज-दम्पतीकी आँखें उन्हें देख नहीं रही थीं। प्रेमकी ऐसी ही लीला है। वैश्वानरने देखा, मेरे माँ-बाप बहुत दुःखी हो रहे हैं। उन्होंने मुस्कुराकर कहा—'माँ, तुम लोग इतने डर क्यों गये? तुम्हारे चरण-कमलोंकी धूलि जब मैं अपने सिरपर रक्खे रहूँगा, तब काल भी मेरा स्पर्श नहीं कर सकता—कालमें तो

रक्खा ही क्या है। मेरे अनन्य स्नेही पूजनीयो ! मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि यदि मैं तुम्हारा पुत्र हूँ तो ऐसा काम कर दिखाऊँगा कि वज्र और मृत्यु दोनों मुझसे भयभीत रहेंगे। मैं भगवान् मृत्युञ्जयकी आराधना करूँगा। वे कालके भी काल हैं, उनकी कृपासे कुछ भी असम्भव नहीं है।' वैश्वानरकी वाणी क्या थी, अमृतकी वर्षा थी। माता-पिताका हृदय शीतल हो गया। उनके सुखकी सीमा न रही। वे बोले—'फिर कहो, बेटा ! तुमने क्या कहा ? क्या काल भी तुम्हारा स्पर्श नहीं कर सकता, वज्र तो क्या चीज है ? हाँ, ऐसी ही बात है। तुमने जो उपाय बतलाया है—मृत्युञ्जयका आराधन, उसकी ऐसी ही महिमा है। बड़े दयालु हैं भगवान् शङ्कर। उन्होंने एक नहीं, अनेकोंकी रक्षा की है। प्रलयकी धधकती हुई आग, वह हालाहल विष—जिसकी ज्वालासे त्रिलोकी भस्म हो जाती—करुणापरवश होकर भगवान् शङ्कर पी गये ! उनसे बढ़कर दयालु और कौन हो सकता है। जाओ, तुम उन्हींकी शरणमें जाओ। उनका आराधन ही जीवनकी पूर्णता है।' वैश्वानरने पिता-माताके चरणोंमें प्रणाम किया, उन्हें आश्वासन दिया और प्रदक्षिणा करके काशीकी यात्रा की।

काशीका अर्थ है प्रकाशित करनेवाली, जो निगूढ तत्त्वको प्रकाशित कर दे। उसके एक ओर वरणा नदी है, जो आनेवालोंके पाप-तापको पहुँचनेके पहले ही निवारण कर देती है। दूसरी ओर असी है, यह दुःखकी फाँसी काटनेके लिये तीखी तलवार है। काशीकी गङ्गा बस, काशीकी ही हैं। काशीने मानो हार पहन रक्खा हो। अष्टाङ्गयोगका अनुष्ठान करनेपर भी बड़े-बड़े योगियोंको जो सिद्धि नहीं मिलती, वह काशीके कीड़े-मकोड़ोंको भी प्राप्त है। काशीका कण-कण शिवलिङ्ग है। वैश्वानरका हृदय काशीके दर्शनमात्रसे खिल उठा। मणिकर्णिकाघाटपर स्नान करके विश्वेश्वरका दर्शन किया—इतना सुन्दर, इतना मनोहर दर्शन ! मानो परमानन्द ही उस लिङ्गके रूपमें प्रकट हो गया हो। वैश्वानरने सोचा—'मैं धन्य हूँ, त्रिलोकीके सारसर्वस्व शङ्करका दर्शन करके। क्या यह मूर्ति अमृतमयी है अथवा आत्मज्ञान ही मूर्तिमान् हो गया है ! योगियोंके हृदयमें अनुभूत होनेवाली ज्योति ही तो साकार नहीं हो गयी है ? यह मोक्ष-वृक्षका फल है अथवा कैवल्य-लताका पुष्प-गुच्छ ? अवश्य ही यह समस्त संसारका बीजपूर है। मेरा बड़ा सौभाग्य है कि मैं अपने प्रभुके दर्शनसे सनाथ हुआ। देवर्षि नारदने मुझपर बड़ी कृपा की, जिससे जीवनका यह परम लाभ मुझे प्राप्त हुआ। मैं अब कृतकृत्य हूँ।' वैश्वानरके हृदयमें आनन्दमय भावोंकी बाढ़ आ गयी।

भगवान्की भक्तिका रहस्य भगवान् ही जानते हैं। अल्पज्ञ जीव अनन्त प्रेमार्णवके एक सीकरकी भी तो कल्पना नहीं कर सकता। इसीसे करुणापरवश भगवान् भक्तके वेशमें आते हैं। भक्त कभी भगवान्से विभक्त होते नहीं। चाहे भगवान् भक्तके हृदयमें प्रकट होकर प्रेमकी लीला करें, चाहे भक्तके रूपमें—दोनोंमें एक ही बात है। आज साक्षात् शङ्कर भी जीवोंके कल्याणके लिये भक्तोंका साज सज रहे हैं। यह उनके लिये तो एक लीला है; परन्तु जीवोंके लिये भक्ति-भावनाका, आराधनाका एक सुन्दर आदर्श है। इस मार्गपर चलकर भला, कौन नहीं अपना कल्याण-साधन कर सकता ?

वैश्वानरने शुभ मुहूर्तमें शिवलिङ्गकी स्थापना की। पूजाके बड़े कठोर नियम स्वीकार किये। प्रतिदिन गङ्गाजीसे एक सौ आठ घड़े जल लाकर चढ़ाना। एक हजार आठ नीले कमलोंकी माला चढ़ाना। छः महीनेतक सप्ताहमें एक बार कन्द-मूल खाकर रह जाना, छः महीनेतक सूखे पत्ते खाना, छः महीनेतक

जल और छः महीनेतक केवल हवाके आधारपर रहना। जप, पूजा, पाठ, निरन्तर भगवान् शङ्करका चिन्तन। सरल हृदय भक्ति-भावनाओंसे परिपूर्ण। कभी भगवान्‌की कर्पूरधवल, भस्मभूषित, सर्पपरिवेष्टित दिव्यमूर्तिका ध्यान, तो कभी करुणापूर्ण हृदयसे गद्गद प्रार्थना। दो वर्ष बीत गये पलक मारते-मारते। सुखके दिन, सौभाग्यके दिन यों ही बीत जाया करते हैं। एक दिन जब वैश्वानरका बारहवाँ वर्ष चल रहा था, मानो नारदकी बात सत्य करनेके लिये हाथमें वज्र लिये हुए इन्द्र आये। उन्होंने कहा—'वैश्वानर! मैं तुम्हारी नियम-निष्ठासे प्रसन्न हूँ। तुम्हारे हृदयमें जो अभिलाषा हो, मुझसे कहो; मैं उसे अवश्य पूर्ण करूँगा।' वैश्वानरने बड़े ही कोमल स्वरोंमें कहा—'देवेन्द्र! मैं आपको जानता हूँ, आप सब कुछ कर सकते हैं; परन्तु मेरे स्वामी तो एकमात्र भगवान् शङ्कर हैं, मैं उनके अतिरिक्त और किसीसे वर नहीं ले सकता।' इन्द्रने कहा—'बालक, तू मूर्खता क्यों कर रहा है? मुझसे भिन्न शङ्करका कोई अस्तित्व नहीं है। मैं ही देवाधिदेव हूँ। जो तुझे चाहिये, मुझसे माँग ले।' वैश्वानरने कहा—'इन्द्र, आपका चरित्र किससे छिपा हुआ है! मैं तो शङ्करके अतिरिक्त और किसीसे वर नहीं माँग सकता।' इन्द्रका चेहरा लाल हो गया। उन्होंने अपने हाथमें स्थित भयङ्कर वज्रसे वैश्वानरको डराया। वज्रकी भीषण आकृति देखकर, जिसमेंसे विद्युत्‌की लपटें निकल रही थीं, वैश्वानर मानो मूर्छित हो गये। ठीक इसी समय भगवान् गौरी शङ्करने प्रकट होकर अपने कर-कमलोंके अमृतमय संस्पर्शसे वैश्वानरको उज्जीवित करते हुए कहा—'बेटा, तुम्हारा कल्याण हो! उठो, उठो; देखो तो सही तुम्हारे सामने कौन खड़ा है।' उस सुधा-मधुर वाणीको सुनकर वैश्वानरने अपनी आँखें खोलीं और देखा कि कोटि-कोटि सूर्यके समान प्रकाशमान भगवान् शङ्कर सामने खड़े हैं। ललाटपर लोचन, कण्ठमें कालिमा, बायीं ओर जगज्जननी पार्वती। जटामें स्थित चन्द्रमाकी शीतल किरणें आनन्दकी वर्षा कर रही थीं। कर्पूरोज्ज्वल शरीरपर गजचर्मका आच्छादन और साँपोंके आभूषण! आनन्दके उद्रेकसे वैश्वानरका गला भर गया, शरीर पुलकायमान हो गया, बोलनेकी इच्छा होनेपर भी जबान बंद हो गयी। वैश्वानर चित्र-लिखेकी भाँति स्थगित हो गया। अपने आपको भी भूल गया। न नमस्कार, न स्तोत्र और न तो प्रार्थना। एक ओर गौरी-शङ्कर और दूसरी ओर वैश्वानर! वैश्वानर चकित था, भगवान् शङ्कर मुस्कुरा रहे थे।

भगवान् शङ्करने मौन भङ्ग किया। वे बोले—'बालक वैश्वानर, क्या तुम इन्द्रका वज्र देखकर भयभीत हो गये? डरो मत, मैंने ही इन्द्रका रूप धारण करके तुम्हें परखना चाहा था। जो मेरे प्रेमी भक्त हैं, वे तो मेरे स्वरूप ही हैं और तुम, तुम तो मेरे स्वरूप हो ही। इन्द्र, वज्र अथवा यमराज मेरे भक्तका बाल भी बाँका नहीं कर सकते। तुम्हारी जो इच्छा हो, वह मैं पूर्ण कर सकता हूँ। तुम्हें मैंने अग्निका पद दिया। तुम समस्त देवताओंके मुख बनोगे। सब देवता तुम्हारे द्वारा ही अपना-अपना भाग ग्रहण कर सकेंगे। समस्त प्राणियोंके शरीरमें तुम्हारा निवास होगा। पूर्व दिशाके अधिपति इन्द्र हैं और दक्षिण दिशाके यमराज। तुम दोनोंके बीचमें दिक्‌पाल-रूपसे निवास करो। तुम आजसे आग्नेय कोणके अधिपति हुए। अपने पिता, माता और बन्धुजनोंके साथ विमानपर चढ़कर तुम अग्निलोकमें जाओ और अपने पदके अनुसार कार्य करो।' भगवान् शङ्करके इतना कहते ही वैश्वानरके माता-पिता, बन्धु-बान्धव, सब वहाँ उपस्थित हो गये। सबके साथ भगवान् शङ्करके चरणोंमें नमस्कार करके वैश्वानर

अग्नि अपने लोकको चले गये और भगवान् शङ्कर उसी लिङ्गमें समा गये, जिसकी पूजा वैश्वानर किया करते थे। भगवान् शङ्करने स्वयं उस लिङ्गकी बड़ी महिमा गायी है।

धन्य हैं भगवान्‌के प्यारे भक्त और भक्तोंके प्यारे भगवान्!

गीता-धर्म और भागवत-धर्म

(लेखक—श्रीहरिप्रसन्न सान्याल, एम० ए०, बी० एल्०)

हमारे शास्त्रोंमें 'धर्म' शब्दका प्रयोग कई अर्थोंमें हुआ है—जैसे (१) जगत्‌का नियमन करनेवाली अथवा उसे धारण करनेवाली शक्ति, (२) व्यापार, (३) कर्त्तव्य, (४) आचरण, (५) स्वभाव, (६) गुण, (७) धार्मिक साधन अथवा अनुष्ठान, (८) ध्येय अथवा लक्ष्य, (९) विश्वास, (१०) लौकिक एवं पारमार्थिक नियम, (११) मत अथवा सम्प्रदाय, (१२) सत्य—इत्यादि, इत्यादि। इसी प्रकार राजधर्म, आपद्धर्म, युगधर्म आदिमें भी 'धर्म' शब्दका प्रयोग होता है।

(२)

महाभारतके शान्तिपर्वका परिशीलन करनेपर मालूम होता है कि धर्मका क्षेत्र कितना विशद एवं व्यापक है। महाभारतमें यद्यपि धर्मकी अनेकों सीढ़ियों तथा स्वरूपोंका वर्णन है, फिर भी महाभारतका मुख्य विषय धर्म नहीं है। महाभारत तो प्रधानतः एक ऐतिहासिक उपाख्यान है। गीता महाभारतका हृदय है और गीताका सार-तत्त्व अठारहवें अध्यायके ६६वें श्लोकमें निहित है, जो गीताका 'चरम श्लोक' कहलाता है। वह श्लोक इस प्रकार है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

'अपने समस्त कर्मोंको मुझमें पूर्णतः निक्षेप कर मेरी शरणमें आ जा। मैं तुझे समस्त पापोंसे मुक्त कर दूँगा, सोच न कर।'

गीता पढ़ते समय उसकी भूमिकाको नहीं भूल जाना चाहिये। रणकी सज्जा, वातावरणमें एक अजीब उत्तेजना, राज्यके लिये लड़ाई! एक पक्षका अधिकार छिन गया है और वह अपने खोये हुए अधिकारोंको प्राप्त करना चाहता है; दूसरा पक्ष अपने अन्यायसे प्राप्त अधिकारको देना नहीं चाहता। गीता कही जा रही है पहले पक्षके एक योद्धाको और वह कोई ऐरू-गैरू योद्धा नहीं है, वह है वीरशिरोमणि अर्जुन, युद्धक्षेत्रका सर्वश्रेष्ठ सेनानी! कहनेवाले हैं श्रीकृष्ण और वह साधारण अवस्थामें प्रेम-संलाप कर रहे हों, ऐसी बात नहीं। यहाँ श्रीकृष्ण अर्जुनको संहारका उपदेश कर रहे हैं। पृथ्वी पापियोंके भारसे दबी जा रही है, उस भारको भगवान् हल्का करना चाहते हैं। इस कार्यमें वे अर्जुनको निमित्त बनाना चाहते हैं। यही है विशेष अन्तर। पृथ्वीका भार उतारना विष्णुका कार्य है—ऐसा हमारे शास्त्र कहते हैं। विष्णुभगवान् श्रीकृष्णके ही एक नित्य स्वरूप हैं; परन्तु भगवान् जब अपनी सम्पूर्ण कलाओंमें प्रकट होते हैं तो उनके अन्य समस्त रूपोंका कार्य भी उन्हींको करना पड़ता है। वे सब रूप उनके शामिल हो जाते हैं।*

यही कारण है कि गीता ११।३२ में भगवान्‌ने अपनेको 'काल' कहा है। वे उस समय असुरों अथवा दुष्टोंका

---

* कृष्ण जबे अवतरे सर्वांश आश्रय।
सर्व अंश आसि तबे कृष्ण ते मिलय॥
(श्रीचैतन्यचरितामृत, आदिलीला, अध्याय ५)

संहाररूपी विष्णुका अवान्तर कार्य कर रहे होते हैं। युद्धके क्षेत्रमें, उस विकट वातावरणमें इसके लिये अनुकूल अवसर नहीं था कि भगवान् अपने दिव्यातिदिव्य, परात्पर सत्यको अच्छी तरह प्रकट कर सकते। इसीलिये गीतामें उस सत्यका संकेतमात्र, इशारा भर है। भगवान् अर्जुनको उस परात्पर सत्यके द्वारपर पहुँचा देते हैं। केवल आत्मसमर्पण अथवा पाप-मुक्तिसे ही उस परम तत्त्वका साक्षात्कार नहीं हो सकता। इसके लिये तो किसी भक्तके चरणोंमें बैठकर भक्तिकी साधना करनी पड़ती है और उससे भक्ति प्राप्त करनी पड़ती है। भक्त तो भगवान्का सेवक होता है, निज जन होता है। इतना ही नहीं, वह विश्वात्मा भगवान्का प्रेमी भी होता है!

(३)

गीता पढ़ चुकनेके बाद जब हम महाभारतके अगले प्रकरणोंमें आगे बढ़ते हैं तो युद्धकी मार-काट और खून-खराबीका विस्तृत और कलापूर्ण वर्णन पढ़कर क्षुब्ध और कातर हो उठते हैं। हमारा हृदय व्यथासे भर जाता है। सहज ही मनमें प्रश्न उठता है, 'क्या मनुष्यका जन्म इसी धर्मके लिये हुआ था?' सच तो यह है कि स्वयं अर्जुनको ही इस विषयमें सन्देह था। 'बृहद्भागवतामृत'में श्रीसनातन गोस्वामीने युद्धके बाद अर्जुनसे कहलाया है—'प्रभो! आपने अच्छी विडम्बना की, आपने परतत्त्व तो मुझे बतलाया ही नहीं।' सम्भवतः इसका कारण यह भी हो सकता है कि अर्जुन उस परतत्त्वको ग्रहण करने अथवा उसमें विश्वास करनेका भी अधिकारी नहीं था;—वह परतत्त्व है, श्रीमद्भागवतानुसारी भगवत्प्रेम अथवा भक्ति।

यह भक्ति—अथवा दूसरे शब्दोंमें कहिये तो—भगवत्प्रेम ही भागवतका मुख्य प्रतिपाद्य है। यही है भागवत-धर्म। श्रीमद्भागवतमें आया है—

> **स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।**
> **अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति॥**
> (१।२।६)

मनुष्यका परम कर्त्तव्य यह है, जिससे भगवान् श्रीवासुदेवमें भक्ति उत्पन्न हो—वह भक्ति, जो हेतुरहित और निर्बाध हो और जिस भक्तिसे आत्मा प्रसाद (प्रसन्नता) को प्राप्त होता है। इस भक्ति अथवा भगवत्प्रेमके लक्षण भागवतके तृतीय स्कन्धके २९वें अध्यायके ११-१२वें श्लोकमें दिये हैं। उन श्लोकोंका सारांश इस प्रकार है—

समस्त चराचरके हृदयमें निवास करनेवाले श्रीहरिके प्रति हमारी चित्तवृत्तिका प्रवाह जब सहज ही अखण्डरूपसे प्रवाहित होने लगे, तब समझना चाहिये कि भक्तिका उदय हुआ है; यह प्रवाह ठीक वैसा ही स्वाभाविक होता है, जैसे गङ्गाका समुद्रकी ओर। वह एक बार जहाँ इधर मुड़ता है कि उसे विश्वकी समस्त बाह्य विविधता और बहुरूपताके अंदर एकमात्र श्रीहरि-ही-हरि दीख पड़ते हैं। वह भूलकर भी अब हिंसा अथवा अनाचार कैसे करेगा? उसका हाथ उठे भी तो किसपर? सर्वत्र एकमात्र प्रियतम ही दीख रहे हैं। जहाँ कहीं, जिस किसीपर चोट करो, वह चोट लगेगी तो प्रियतमको ही न! ऐसा मनुष्य देखता है; परन्तु उसकी आँखें बाहरी रूपपर टिक नहीं जातीं, वह सर्वत्र अपने इष्टदेवका ही मधुर दर्शन करता है—

> **स्थावर जंगम देखे ना, देखे तार मूर्ति।**
> **सर्वत्र हय तार इष्टदेव स्फूर्ति॥**
> (श्रीचैतन्यचरितामृत; मध्यलीला, ८)

केवल बुद्धिद्वारा इस स्थितिकी कल्पनासे कुछ होने-जानेका नहीं। जबतक हृदयमें इसकी रसमयी अनुभूति नहीं है, तबतक कहने-सुननेसे क्या लाभ? इसके लिये निर्मल—पवित्र हृदय चाहिये। बाहरके भाग

रूपोंको देखकर मनुष्य भ्रमित हो जाता है और हृदयकी गति भी उल्टी दिशामें है। इसीलिये भागवत कहती है कि कोई सुकृतीजन ही इस परम धर्मका रसास्वादन कर पाते हैं। जिनका हृदय समस्त पाप-तापसे मुक्त है, जो दूसरेकी उन्नतिसे जलते-कुढ़ते नहीं, वे ही इस मार्गमें प्रवेश करनेके अधिकारी हैं। परम धर्मका लक्ष्य है परात्पर सत्य अर्थात् श्रीकृष्ण। और इसमें प्रियतम प्रभुके साथ अखण्ड मिलनका रस बरसता रहता है। दुःख-सन्ताप आदिका इसमें नाम नहीं।

भागवतकी यही मुख्य वार्ता है। मुख्य लक्ष्य है उस परम तत्त्वका उद्घाटन। कथानक तो गौणरूपसे उस उद्घाटनमें सहायकमात्र है।

(४)

गीताका पर्यवसान 'आत्मसमर्पण'में है। भागवतका श्रीगणेश आत्मसमर्पणसे होता है। श्रीमद्भागवत किस अवस्थामें कही गयी, इसपर भी तो दृष्टि जानी चाहिये। गीतासे सर्वथा भिन्न है यहाँकी वस्तुस्थिति। राजा परीक्षित् हैं श्रोता—जिन्हें अब बस, सात दिन जीना है—जिन्हें अपने गत जीवनपर घोर परिताप एवं पछतावा हो रहा है। संसारसे सारा नाता उन्होंने तोड़ दिया है; राज्यका सारा भार अपने लड़केको सौंप कर वे अन्तिम सात दिन व्यतीत करनेके लिये गङ्गा-तटपर आ गये हैं। वे प्रायोपवेशन कर रहे हैं, मन-चित्त सर्वथा शान्त और एकाग्र है। बार-बार उनके सामने यही प्रश्न आ रहा है—'आखिर मनुष्यका कर्तव्य क्या है? मृत्युके समय मनुष्यको क्या करना चाहिये?'

गङ्गातटपर राजा परीक्षित् ऋषि-मुनियों, साधु-महात्माओंसे घिरे हुए हैं—ये ऋषि-मुनि दूर-दूरसे प्रेमवश उनकी इस अन्तिम परीक्षामें सहायता पहुँचानेके लिये आए हुए हैं। वे गम्भीर, धीर, संयत, साधु पुरुष हैं—जो संसारके प्रलोभनों और आकर्षणोंसे ऊपर उठे हुए हैं। उनमेंसे बहुतोंने संसारकी समस्याएँ हल कर ली हैं और सत्यपरसे मायाका आवरण हटा दिया है। उनमेंसे प्रत्येक 'आत्मा'के सम्बन्धमें सुनने-जाननेके लिये उत्सुक है; क्योंकि आत्मा असीम है, अनन्त है। ऐसी साधु-सभामें परीक्षित् अपना हृदय खोलकर रख देते हैं—हृदयको व्यथित करनेवाली, मथनेवाली अपनी शङ्काएँ उपस्थित करते हैं।

ऐसे ही दिव्य मुहूर्तमें एक विचित्र व्यक्ति वहाँ आता है। पागल-सा दीखता है वह। है एकदम नंग-धड़ंग। बाल बिखरे हुए। उपेक्षा और उपरतिके कारण उसका शरीर धूमिल हो गया है, धूल जम गयी है। ऐसी है उसकी लापरवाही। अपने मन मस्त वह मौजमें डोल रहा है—कहाँ क्या हो रहा है, इसकी ओरसे बिलकुल बेखबर। इस अवधूतकी अजीबो-गरीब हालत देखकर लड़के और स्त्रियाँ उत्सुकतापूर्वक पीछे-पीछे आ रही हैं। यह अवधूत जब राजा परीक्षित्के समीप आ जाता है, तब ये लड़के और स्त्रियाँ तितर-बितर हो जाती हैं। सारी सभा इस अवधूतके सम्मानमें उठ खड़ी होती है। इन्हें पता है कि इस मैली-कुचैली कायाके भीतर कौन-सी ज्वाला जल रही है, कौन-सा प्रकाश जगमगा रहा है। हमारे ये नवागन्तुक हैं शुकदेव। परीक्षित् अपनी शङ्काओंका इन्हींसे समाधान करा रहे हैं।

कहाँ कुरुक्षेत्रकी युद्धभूमि और कहाँ गङ्गातटकी यह संत-सभा! शुकदेव देख रहे हैं कि परीक्षित्का हृदय निर्मल है और उन्होंने अपनी ओरसे सर्वात्मसमर्पण कर दिया है। अर्जुनकी अपेक्षा परीक्षित्का हृदय अधिक समर्पित, अधिक उन्मुख है। गीताके अठारहों अध्याय अर्जुनको आत्मसमर्पणके भावमें लानेके लिये कहे गये। और यहाँ आत्मसमर्पणके बादका सारा वृत्तान्त है।

(५)

श्रीमद्भागवत वेदान्तसूत्रोंका भाष्य कही जाती है। वस्तुतः भागवतका पहला वाक्य 'जन्माद्यस्य यतः'

वेदान्तसूत्रका दूसरा सूत्र है। सत्यकी शोध शुरू हो चुकी है। भीतर पूरी तैयारी हो चुकी है। अब वह सत्यके सत्कारके लिये, सत्यको ग्रहण करनेके लिये पूर्णतः तैयार है। यह तैयारी क्या है? वेदान्तसूत्रका पहला सूत्र है 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'—जिसका सरल अर्थ यह है कि 'इसके बाद इस स्थितिसे ब्रह्मकी जिज्ञासा उत्पन्न होती है।'

'इसके बाद'—किसके बाद? सांसारिक वासनाओंके नाशके बाद। और वह स्थिति कौन-सी है, जिससे यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है? वह स्थिति है शम, दम, तितिक्षा और उपरतिसे उत्पन्न होनेवाली मनकी स्थिरता। इन अवस्थाओंको पार करके ही साधक भागवतधर्मको सुनने और उसका रहस्य समझनेका अधिकारी होता है। गीताके पहले अध्यायके देखनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि अर्जुन इसका अधिकारी नहीं था। वह अपनी खोयी हुई राजसत्ताको पानेके लिये अत्यन्त व्याकुल था, यद्यपि भावी संहारके भयसे उसका हृदय काँप उठा था और वह कुछ क्षणोंके लिये युद्धसे विरत हो चला था। अभी संसारमें उसकी आसक्ति बनी हुई है—इसीलिये भगवान् श्रीकृष्ण उसे फटकारते हैं कि बातें तो करते हो पण्डितोंकी-सी, परन्तु सोच करते हो उन पुरुषोंके लिये जिनके विषयमें तुम्हें सोच नहीं करना चाहिये!*

(६)

नमस्कार-अभिवादन समाप्त हुआ। शुकदेवको ऊँचे आसनपर बिठाया गया। आसन ग्रहण कर चुकनेपर राजा परीक्षित्‌ने अपनी शङ्का उपस्थित की—'महाराज! मनुष्यका क्या धर्म है? मरणासन्न व्यक्तिको क्या करना चाहिये?'

शुकदेवने राजा परीक्षित्‌के उत्तम प्रश्नपर उन्हें बधाई दी और फिर कहना शुरू किया—'अनेकों साधन हैं, जिनका आश्रय मनुष्य ले सकता है; परन्तु जो सत्यके शोधक हैं, उनका रास्ता कुछ और ही है। अधिकांश लोग संसारके भोगोंमें ही अपना सारा जीवन गवाँ देते हैं। उनका भोग-विलासमें रचा-पचा रहना ठीक उसी प्रकारका है, जैसा बलिके पशुका हरा तृण चरना। ऐसे लोग देखते हुए भी अंधे होते हैं। वे जानते नहीं कि मृत्यु कितना समीप है और संसारके भोग-विलास कितने तुच्छ और क्षणिक हैं। परन्तु सौभाग्यसे जिनकी आँखें खुल जाती हैं, उनका यह परम कर्तव्य हो जाता है कि वे श्रीभगवान्‌का स्मरण करें और मृत्युकालमें भगवान्‌का स्मरण ही जीवनका परम लक्ष्य है। अतएव जीवनके समस्त व्यापार, समस्त व्यवहार इस अन्तिम लक्ष्यको दृष्टिमें रखते हुए ही होने चाहिये। सर्वप्रथम, सर्वश्रेष्ठ वस्तु जो है वह है भगवत्स्मृति। इससे भी बढ़कर एक बात है और वह है भगवत्सेवा। सेवा ही भक्तिका मुख्य सिद्धान्त है। सेवाका क्षेत्र भी असीम विस्तारवाला है। राधाभाव है सेवाकी चरम परिणति। शुकदेवजी परीक्षित्‌को सेवाके एक स्तरसे दूसरे स्तरमें लिये चले जा रहे हैं और क्रमशः सख्य, वात्सल्य और माधुर्यका स्वरूप बतलाते हैं। दास्य इन सबके मूलमें है ही।

साधक सेवाके इन विभिन्न स्तरोंमें जैसे-जैसे बढ़ता जाता है उसका समस्त अस्तित्व प्रियतमके भावमें रँगता जाता है, डूबता जाता है और वह उसीमें मतवाला हो जाता है, उसीके नशेमें चूर हो जाता है। उस समय भी उसका भिन्न अस्तित्व तो बना ही रहता है और उसके अंदर सेवाकी लालसा सदा जाग्रत् रहती है। एक बूँदकी कल्पना कीजिये जो चारों ओरसे अथाह, अपार समुद्रसे घिरे हुए होनेपर भी अपनी भिन्न सत्ता बनाये रक्खे; उस प्रेमी भक्तकी वही दशा होती है।

मुक्तावस्था इसीका नाम है। जीवात्मा अपने

* अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे। (गी० २।११)

वास्तविक स्वरूपका अनुभव इसी स्थितिमें करता है। वस्तुतः तो कोई भी ऐसा पदार्थ है नहीं जो किसी कालमें प्रभुसे पृथक् किया जा सके, चाहे वह जहाँ और जिस स्थितिमें हो। यह समस्त ब्रह्माण्ड उसी प्रभुमेंसे निकला है, उसीमें अवस्थित है और उसीमें लीन हो जाता है। वही वह है।

परन्तु कैसे अजब हैं उसके खेल। जैसे एक शिशु अपने प्रतिबिम्बके साथ खेले, वैसे ही वे भी अपने-आपके साथ खेल खेलते हैं। अपने खेलमें वे अपने-आपको समेटते और खोलते रहते हैं। उनकी शक्ति अतर्क्य है, अघटनघटनापटीयसी है, कर्तुमकर्तुमन्यथा-कर्तुं समर्थ है। वे सब कुछ कर सकते हैं, उनके लिये असम्भव कुछ भी नहीं है। भगवान् अपनी योगमायासे अपने अखण्ड स्वरूपको विभक्त करके एकसे अनेक हो जाते हैं—ठीक जैसे कोई अपने-आपको फैला दे और फिर बटोर ले। गीतामें मुख्यतया भगवान्के निष्क्रिय ब्रह्मस्वरूपका वर्णन है और भागवतमें उनके सक्रियरूपका वर्णन है। यही है उनकी लीला। इस लीला-जगत्में प्रवेश करनेकी कुंजी है प्रेम। और यह भगवत्प्रेम ही भागवतधर्म है।

दैनिक कल्याण-सूत्र

१ जुलाई सोमवार—तुम संसारमें किसीसे राग और किसीसे द्वेष मत करो। सबसे समान प्रेम करो। क्योंकि इस समतामें ही भगवत्प्रेमका उदय होता है।

२ जुलाई मङ्गलवार—सूक्ष्म दृष्टिसे अपने हृदयकी ओर देखो। कहीं उसमें ईर्ष्या, द्वेष आदि दुर्गुण तो नहीं छिपे हैं? समझ लो कि संसारके किसी भी प्राणीसे जिसका ईर्ष्या-द्वेष है, उसे शान्ति नहीं मिल सकती। तुम पूरी शक्तिसे उन्हें निकाल फेंको।

३ जुलाई बुधवार—तुम जब किसीके दोषोंका चिन्तन करते हो तो उसकी अपेक्षा अपनी ही हानि अधिक करते हो। क्योंकि चिन्तन ही तो चित्त है। तुम्हारा चित्त यदि दोषोंका चिन्तन करेगा तो दोषमय हो जायगा। इसलिये दूसरोंकी तो क्या बात, अपने दोषोंका चिन्तन भी खतरेसे खाली नहीं है। तुम अपने दोषोंका चिन्तन न करके उन्हें तत्क्षण छोड़ दो।

४ जुलाई गुरुवार—आत्मनिरीक्षणका यह एक बहुत सरल मार्ग है। तुम देखो कि तुम्हारा चित्त अधिक दोषोंपर जाता है या गुणोंपर? सभी वस्तुएँ अपने केन्द्रकी ओर आकर्षित होती हैं। यदि तुम्हारा चित्त दोषोंकी ओर आकर्षित होता है तो यह इस बातका स्पष्ट प्रमाण है कि तुम्हारे चित्तमें अभी दोष-ही-दोष भरे हुए हैं। तुम्हारा चित्त गुण-ही-गुण देखे, यह कितना उत्तम है!

५ जुलाई शुक्रवार—जब तुम दूसरेके सम्बन्धमें कोई धारणा बनाते हो, तब कितने अन्धकारमें रहते हो—इसका तुम्हें बिल्कुल पता नहीं रहता। क्योंकि अभी तो तुमने अपने मनको ही कभी प्रत्यक्षरूपसे नहीं देखा है—जो कि तुम्हारा मापदण्ड है। इस अज्ञात मनके जालमें फँसकर कोई धारणा बनाओगे तो व्यर्थ ही राग-द्वेषके शिकार हो जाओगे। सावधान रहो, यह कहीं तुम्हें उलझा न दे।

६ जुलाई शनिवार—यदि केवल परमात्माके या उनके गुणोंके चिन्तनमें ही तुम्हारा चित्त नहीं लगता तो तुम्हारी दृष्टिमें जो आदर्श पुरुष हो, उसका और उसके गुणोंका चिन्तन करो। भावना करो—कितना मस्त हो रहा है उसका चित्त! जहाँ जाता है—घास-पातमें, तिनकेमें, सर्वत्र भगवान्‌का दर्शन करके मुग्ध हो जाता है। तुम भी मुग्ध हो जाओ।

७ जुलाई रविवार—जो व्यक्ति तुम्हारे सामने खड़ा है—अभी जिससे तुम व्यवहार कर रहे हो, उसके हृदयमें नारायण हैं। कहीं वही यह वेश धारण करके न आये हों! खूब सावधान रहो—कहीं प्रमाद न हो जाय।

८ जुलाई सोमवार—जो काम इस समय तुम कर रहे हो, उसकी पवित्रता और उत्तमताके सम्बन्धमें तुम्हारी क्या धारणा है? यह सचमुच पवित्र और उत्तम तो तब है यदि तुम इसे भगवान्‌के लिये, उनकी प्रसन्नताके लिये कर रहे हो।

९ जुलाई मङ्गलवार—कर्म यदि भगवान्‌के उद्देश्यसे हो, तब तो भगवान्‌के स्मरणमें कोई बाधा पड़ ही नहीं सकती। यदि कर्मके साथ तुम इतने आसक्त हो कि उसके लिये भगवान्‌का स्मरणतक छोड़ बैठते हो तो अवश्य कहीं-न-कहीं तुम्हारा स्वार्थ है। इस स्वार्थको ढूँढ़कर तुम यदि प्रभुके श्रीचरणोंमें समर्पित कर सको तो आज ही तुम्हारा जीवन धन्य हो जाय!

१० जुलाई बुधवार—मनपर निगाह न रखनेके कारण ही तुम्हारे मार्गमें बहुत-सी कठिनाइयाँ आती हैं। उसके बारेमें तुम्हारा ज्ञान और ध्यान कम है। वह तुम्हारा सेवक है। तुम्हारी आज्ञा और अनुमतिके बिना वह कुछ नहीं कर सकता। एक बार तुम उसपर अपना अधिकार कर लो, फिर तो वह निरन्तर तुम्हारे सामने सेवकके रूपमें हाथ जोड़े खड़ा रहेगा।

११ जुलाई गुरुवार—यह जो मनकी चञ्चलताकी कठिनाई है—वह साधन प्रारम्भ होनेके पूर्वकी ही है। जिस समय तुम साधन प्रारम्भ करोगे, उसी समय यह तुम्हारे वशमें हो जायगा। क्योंकि अन्तर्मुख होना ही साधन है।

१२ जुलाई शुक्रवार—बाह्य वस्तुओंके सम्बन्धमें तुम्हारा ज्ञान चाहे जितना बड़ा हो, वह पर्याप्त नहीं है। परन्तु भीतरके सम्बन्धमें तुम्हारा थोड़ा-सा ज्ञान भी अत्यन्त महान् है। क्योंकि उसका बिना किसी बाह्य उपकरणके तुम अनुभव कर सकते हो।

१३ जुलाई शनिवार—आकाशकी विशालता और गम्भीरताको एक बार अपने हृदयमें स्थापित करो। फिर देखो कि यह ब्रह्माण्ड, यह पृथिवी, ये घटनाएँ और विचित्रताएँ तुम्हारे लिये कितनी हलकी हैं। उस समय तुम्हारा हृदय भगवान्‌का सिंहासन हो जायगा। तुम उन्हें देख सकोगे।

१४ जुलाई रविवार—भगवान्‌की इच्छापर सर्वथा निर्भर हो जाना अथवा उनके लिये व्याकुल हो जाना—भगवत्प्राप्तिके बस, दो ही उपाय हैं। तुम विचार करो—दोनोंमेंसे कौन-सा उपाय तुमने अपनाया है?

१५ जुलाई सोमवार—व्याकुलताका मार्ग निरापद् है, यदि सच्ची व्याकुलता हो। निर्भरताके मार्गमें कोई विघ्न नहीं है, यदि स्वार्थ-परमार्थ सबके लिये समान निर्भरता हो। तुम दोनोंकी परीक्षा करके देख लो। यदि इनमेंसे कोई एक भी तुम्हारे जीवनमें उतर रहा है तो तुम्हें कोई भय नहीं है।

१६ जुलाई मङ्गलवार—तुम्हारे चित्तमें किन-किन बातोंका भय है ? धनहानि, मानहानि, विपत्ति, रोग, शोक आदिका भय तभीतक तुम्हारे चित्तमें है जबतक तुम उस एक परमात्माका भय नहीं करते। एकसे डरोगे तो सब डर छूट जायँगे। उससे निडर हो जाओगे तो भयकी परम्परा कभी टूट नहीं सकती। तुम केवल उसीसे डरो, उसीके सामने सच्चे रहो। सच्ची बात तो यह है कि तुम परमात्मासे भी डरो मत, प्रेम करो। उनसे बढ़कर प्रेमपात्र और कौन होगा !

१७ जुलाई बुधवार—एक बार अपनी कामनाओं—इच्छाओंकी निगरानी करो। तुम स्वार्थ और परमार्थ, भोग और मोक्ष एक साथ चाहते हो ! सम्भव है ऐसा ही हो। परन्तु तुम्हारे चित्तमें जो परमार्थप्राप्तिकी उत्कट इच्छाका अभाव है, वह तो तुम्हारी दुर्बलता ही है। उसे निकालनेके लिये तत्पर हो जाओ।

१८ जुलाई गुरुवार—भगवान्की कृपा, शक्ति और आश्रयसे कुछ भी असाध्य या असम्भव नहीं है। तुम उनके चिन्तन-स्मरणमें लगे रहो। निश्चय ही तुम्हें वे वस्तुएँ—वे दिव्यताएँ प्राप्त होंगी, जिनके सम्बन्धमें अभी तुम कोई कल्पना ही नहीं कर सकते।

१९ जुलाई शुक्रवार—जब तुम अपनेको अरक्षित समझते हो, तभी तो भयभीत होते हो। क्या तुम्हारा कोई रक्षक नहीं है ? क्या तुम्हारे सिरपर किसीका हाथ नहीं है ? तब तो तुम वास्तवमें दुखी हो। आओ, भगवान्के कर-कमलोंकी छत्र-छायामें निर्भय हो जाओ। यहाँ शान्ति और सुखका अक्षय सदावर्त्त चलता रहता है।

२० जुलाई शनिवार—विश्वास करो, केवल भगवान्का विश्वास करो। संसारका विश्वास करोगे तो धोखा खाओगे। भगवान्-सा विश्वासपात्र जब तुम्हें सुलभ है, तो क्यों दर-दर मारे-मारे फिर रहे हो ?

२१ जुलाई रविवार—देखो, तुम्हारे अंदर-बाहर—चारों ओर अमृतकी, शान्तिकी धारा प्रवाहित हो रही है। उसपर आँख जमते ही तुम लोकोत्तर शीतलताका अनुभव करोगे।

२२ जुलाई सोमवार—पवित्र देखो, पवित्र सुनो और पवित्र बोलो। तुम्हारा कोई भी काम अपवित्र न हो। तुम्हारा हृदय पवित्र हो जायगा। तब तुम देख सकोगे कि परमात्मा कितना पवित्र है और वह कितने पवित्र हृदयमें प्रकट होता है।

२३ जुलाई मङ्गलवार—तुम्हारी साधनाकी पूर्णता तुम्हारी सच्चाईमें है। प्रार्थनाके समय तो तुम कह देते हो—मैंने अपना सर्वस्व और अहङ्कार भी समर्पित कर दिया। परन्तु क्या व्यवहारमें तुम इस बातकी स्मृति भी रख पाते हो ? तुम भगवान्के प्रति सच्चे बनो। सब समय अपना हृदय उनके सामने खुला रहने दो।

२४ जुलाई बुधवार—तुम अपना हृदय भगवान्के सामने रख दो। उनसे कहो—भगवन्, यह तुम्हारी वस्तु है। इसमें तुम्हीं रहो। इसमें केवल अपना ही प्रकाश होने दो। अनुभव करो—मेरा हृदय भगवान्के प्रकाशसे पूर्ण हो रहा है।

२५ जुलाई गुरुवार—भगवान् ही एकमात्र सत्य हैं, और सब सत्यताएँ तो उनकी इच्छामात्र हैं—इस विचारसे अपने हृदयको भर दो और सर्वत्र, सब रूपोंमें उसी एक सत्ताका अनुभव करो।

२६ जुलाई शुक्रवार—परमात्मा ज्ञानस्वरूप है। प्रत्येक वृत्तिका प्रत्येक ज्ञान परमात्माका ज्ञान है। परमात्मा जब जिस ज्ञानका रूप धारण करके आवें, तब उसी रूपमें उन्हें पहचान लेना साधनाकी उत्तम स्थिति है। तुम अनुभव करो—मेरे हृदेशस्थित परमात्मा मेरी प्रत्येक वृत्ति और सङ्कल्पके साथ प्रकट हो रहे हैं। मैं परमात्माका स्पर्श प्राप्त कर रहा हूँ।

२७ जुलाई शनिवार—यह सम्पूर्ण जगत् आनन्दस्वरूप प्रभुकी लीलामात्र है। इसके प्रत्येक रूपमें उसी आनन्दकी अनन्त धारा प्रवाहित हो रही है। मैं उसी आनन्दके प्रवाहमें स्थित हूँ। मैं इस महान् आनन्दके अतिरिक्त और कुछ नहीं हूँ।

२८ जुलाई रविवार—शुद्ध हृदयसे सच्ची प्रार्थना निकलती है। प्रत्येक प्रार्थना सीधे प्रभुतक पहुँचती है। तुम प्रभुसे प्रार्थना करो, वे अवश्य पूर्ण करेंगे। तुम जिस रूपमें चाहोगे, उसी रूपमें वे तुम्हारे सामने आवेंगे। प्रार्थना करो, केवल प्रार्थना करो।

२९ जुलाई सोमवार—तुम भगवान्‌को माता-पिता, पुत्र-मित्र, स्वामी और पति—जिस रूपमें प्राप्त करना चाहते हो, उसी रूपमें उनकी भावना करो। वे तुम्हारे सब कुछ हैं। वे तुम्हें सब रूपोंमें मिल सकते हैं।

३० जुलाई मङ्गलवार—समस्त दुर्बलताओंको त्यागकर पूर्ण उत्साहके साथ भगवान्‌की ओर बढ़ो। वे तुम्हारे मार्गके सब विघ्नोंको दूर करके तुम्हें अपने पास खींच लेंगे। जब वे देखेंगे तुम अब आगे बढ़नेमें असमर्थ हो गये हो तो वे तुम्हारे पास आ जायँगे। तुम सब परिस्थितियोंमें उनकी कृपाको ढूँढ़ निकालो और उसीका अनुभव करते रहो।

३१ जुलाई बुधवार—भगवान्‌के साथ जागो और उन्हींके साथ सोओ। उन्हींके साथ चलो और उन्हींके साथ बैठो। तुम्हारे जीवनकी प्रत्येक क्रिया, तुम्हारा प्रत्येक सङ्कल्प भगवान्‌के साथ ही हो। इस मधुरतम भावनासे—जो कि परम सत्य है—तुम्हारा जीवन सत्य, ज्ञान और आनन्दका भंडार हो जायगा। तुम सर्वदाके लिये परमात्माको प्राप्त कर लोगे।

सीताजीकी कामना

कब देखौंगी नयन वह मधुर मूरति ?
राजिव दल नयन, कोमल कृपा अयन,
मयननि बहु छबि अंगनि दूरति ॥
सिरसि जटा कलाप, पानि सायक चाप,
उरसि रुचिर बनमाल लूरति ॥
तुलसीदास रघुबीर की सोभा सुमिरि
भई है मगन नहिं तन की सूरति ॥

—गोस्वामी तुलसीदासजी

रामचरितमानसमें सेवाभाव

(लेखक—पं० श्रीलक्ष्मीधरजी आचार्य)

[गताङ्कसे आगे]

रामका वनवास रामचरितमानसकी मुख्यतम घटना है, जिसके द्वारा प्रधान एवं गौण सभी चरित्रोंका विकास हुआ है। वनवासके पहले भी रामहीका गौरव बालकाण्डकी कथा-सृष्टि करता है और उनकी कार्य-प्रणालीमें देवत्व तथा अलौकिकताकी झलक भी दीखती है। ताड़का-सुबाहुका वध, अहल्योद्धार, धनुषभङ्ग और परशुरामका हृदय-परिवर्तन आदि घटनाओंसे समीपर उनकी महत्ताका प्रभाव पड़ता है। फिर भी चौदह वर्षके महाभिनिष्क्रमणके पूर्व घरमें *उनके अभिभावक दशरथ थे और वनमें विश्वामित्र।* किसीकी संरक्षकतामें रहकर आत्मोन्नति करनेका श्रेय बहुत कुछ संरक्षकको भी मिलता है और कर्त्ताकी पूर्ण प्रतिष्ठा नहीं हो पाती। गृहत्यागमें सर्वस्वत्यागकी जो गरिमा निहित है, वही उन्हें असाधारणताके धरातलसे भी ऊँचा उठा देती है। राज्यकी वैभव-समृद्धिकी उपेक्षा करके श्रीरामने कैकेयीकी आकाङ्क्षा-पूर्ति और पिताकी प्रण-पूर्ति ही नहीं की, अपने चरित्रोत्कर्षके साथ विश्वका मङ्गल भी किया। इसीलिये छोटे-बड़े सभी उनकी महिमाके आगे नतमस्तक हैं। इसीलिये वे सेव्य हैं। इसीलिये उनके परमेश्वर होनेका रहस्य रामचरितमानसके प्रायः सभी पात्रोंको विदित है। त्यागका प्रभाव संक्रामक होता है, लक्ष्मण और भरतके चरित्र इसके अकाट्य प्रमाण हैं।

सीता रामकी पत्नी होनेके नाते सहचरी अथवा अनुगामिनी थीं। इस कारण, रामके साथ उनका वन जाना एक साधारण घटना है; किन्तु लक्ष्मणका घर, माता-पिता और नवविवाहिता पत्नीतकको क्षणभरमें चौदह वर्षतकके लिये छोड़कर राम और सीताका सेवक बनकर उनके साथ जाना साधारण नहीं है।

जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सुहाई॥

केवल इस वाक्यसे लक्ष्मणके इस महात्यागका विश्लेषण नहीं होता। छोटा भाई बड़े भाईका सेवक अवश्य है, किन्तु माता-पिताके प्रति और आश्रिता पत्नीकी विपन्न करुणाके प्रति भी उसका कुछ कर्त्तव्य है। लक्ष्मणकी सेवापरायणताका आश्रय रामका बड़ा भाई होना नहीं है, बल्कि रामका केवल राम होना है। इसी रामत्वके कारण राम सेव्य थे और लक्ष्मण उनके अनन्य सेवक। सेवकका प्रथम एवं प्रधान कर्त्तव्य स्वामीके प्रति है; इसीलिये सम्पूर्ण संसारसे असंलग्न होकर लक्ष्मणने श्रीरामका ही अनुसरण किया। श्रीराम उन्हें राज्य-भार सम्हालने एवं गुरुजनोंकी शुश्रूषाके लिये अयोध्यामें छोड़ जाना चाहते थे। लक्ष्मण कहते हैं—

दीन्हि मोहि सिख नीकि गोसाईं। लागि अगम अपनी कदराईं॥
नरबर धीर धरम धुर धारी। निगम नीति कहुँ ते अधिकारी॥
मैं सिसु प्रभु सनेहँ प्रतिपाला। मंदरु मेरु कि लेहिं मराला॥
गुर पितु मातु न जानउँ काहू। कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू॥
जहँ लगि जगत सनेह सगाई। प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई॥
मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी। दीनबंधु उर अंतरजामी॥
धरम नीति उपदेसिअ ताही। कीरति भूति सुगति प्रिय जाही॥
मन क्रम बचन चरन रत होई। कृपासिंधु परिहरिअ कि सोई॥

कितनी सरल, स्वाभाविक और स्नेहसे सनी उक्ति है! अनन्यताकी हद हो गयी! भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनको समझाते हैं—'मामेकं शरणं व्रज।' यहाँ लक्ष्मणजी रामजीसे गिड़गिड़ाकर कह रहे हैं—'मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी।' वे जानते थे कि उनके स्वामी ही परमेश्वर हैं, इसीलिये उनकी सेवामें अनन्यताका रंग है। गङ्गातटपर निषादसे उन्होंने स्वयं कहा है—

राम ब्रह्म परमारथ रूपा। अबिगत अलख अनादि अनूपा॥
सकल बिकार रहित गतभेदा। कहि नित नेति निरूपहिं बेदा॥

भगत भूमि भूसुर सुरभि सुर हित लागि कृपाल।
करत चरित धरि मनुज तनु सुनत मिटहिं जग जाल॥

तुलसीकी काव्य-कलाका चरम विकास भरतके चरित्र-चित्रणमें परिलक्षित है। अयोध्याकाण्ड रामचरितमानसकी आत्मा है, भरतका चरित्र उस आत्माका अक्षय शृङ्गार। करुणाविष्ट मानव-सृष्टिका पूर्णतम विषाद ही मानो आत्म-ग्लानिकी पीड़ामें उच्छ्वसित होकर भरतकी अजस्र अश्रुधारामें विगलित एवं प्रवाहित है। अयोध्यासे चित्रकूटतकके मार्गमें अङ्कित सीता और रामके पदचिह्न इसी नयन-जलके अभिसिञ्चनसे गतक्लान्ति तथा तृप्त हुए हैं। माताके षड्यन्त्र एवं पिताकी विवशतासे प्राप्त राज्यसिंहासनके त्याग और उसपर रामको

अभिषिक्त करनेके प्रयत्नमें भरतका गौरव नहीं है। भरतका गौरव उनकी भक्ति-तन्मयता, प्रणति, सङ्कोच और खेदके अतिरेकमें है। लघु भाई होनेके नाते जो सेवा उनका कर्तव्य और रामके जिस स्नेहपर उनका अधिकार है, भरत उसीसे सन्तुष्ट नहीं हैं। राम जबतक उन्हें सेवकरूपमें स्वीकार न कर लेंगे, तबतक उनके हृदयकी समस्त सुख-शान्ति इस एक अभावकी सधूम दीप-शिखामें कलुषित और क्षार होती रहेगी। सेवक-सेव्यभावका यह स्वीकार ही चित्रकूटकी सार्थकता है। बड़े भाई होकर जो *राम लघु भाई भरतके रहते वन न जा सकते थे*, वही सेव्य बनकर अपनी रुचिसे सेवकको अयोध्याका भार सौंपकर पिताकी आज्ञाका पालन कर सके। और इसीलिये जब भाई भरत चित्रकूट आकर सेवक भरत बनकर लौटते हैं, तब उनके हृदयमें झंझा-विलोड़ित लहरोंकी व्याकुलताके स्थानपर अनन्त जलराशिके अगाध अन्तरालकी अक्षय शान्ति है। चौदह वर्षतक रामकी ही भाँति भूमिशयन, वल्कल-वसन और कन्द-मूल-फलके आधारपर जीवित रहकर जिस धैर्य और तत्परतासे सर्वत्यागी भरत नन्दिग्रामके तपोवनमें रामका आदेश शिरोधार्य किये उनकी एकान्त प्रतीक्षामें उन्मुख एवं सजग रहे हैं, उसका चित्रण कविकी शब्द-तूलिका और काव्यके चित्रपटसे परे है। भरतकी इसी तपश्चर्याकी प्रबुद्ध ज्योतिमें लक्ष्मणका महान् एवं निष्कलङ्क चरित्र भी फीका पड़ जाता है।

लक्ष्मणकी सेवा संयोग-सेवा है, भरतकी विप्रलम्भ। वनवासके समय अयोध्यामें उपस्थित रहनेके कारण लक्ष्मण रामके सहगामी हुए। भरत ननिहालमें थे और माताके कुचक्रके कारण सम्पूर्ण दुर्घटनाका परोक्ष दायित्व उनके ऊपर हुआ। भरतका चित्रकूट जाना तथा वहाँसे रामका आदेश लेकर नन्दिग्रामके आश्रममें रहकर प्रजापालन करना उनकी दुर्निवार परिस्थितिके अनुकूल ही था। लक्ष्मणका गृहत्याग केवल भावावेशकी एक आकस्मिक घटना नहीं है। चौदह वर्षतक रामके साथ रहकर एक क्षणके लिये भी उन्होंने अपने कार्यके प्रति क्षोभ नहीं किया—

सेवहिं लखनु करम मन बानी। जाइ न सीलु सनेहु बखानी॥
छिनु छिनु लखि सिय राम पद जानि आपु पर नेहु।
करत न सपनेहुँ लखनु चितु बंधु मातु पितु गेहु॥

सीता और लक्ष्मणकी सेवा-भावनाका वर्णन गोस्वामीजीने इस एक अर्द्धालीमें कितनी उत्तमतासे किया है—

सेवहिं लखनु सीय रघुबीरहि। जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहि॥

और स्वामीके प्रेमका चित्रण इससे अच्छा और क्या हो सकता है!—

जोगवहिं प्रभु सिय लखनहि कैसें। पलक बिलोचन गोलक जैसें॥

लक्ष्मणजीके सेवा-भावका एक अति सुन्दर चित्र चित्रकूटकी पृष्ठभूमिपर अङ्कित है। भरतके सैन्यसमेत वहाँ आनेका संवाद पाकर उन्हें बहुत क्रोध हुआ। इस उद्वेगके मूलमें रामकी रक्षा और रामकी भक्ति—ये ही दो तत्त्व हैं। उनका भरतसे कोई व्यक्तिगत द्वेष न था। 'प्रगट करउँ रिस पाछिल आजू'—की रिस राम-प्रेमपर ही आश्रित है। भरतके आनेका समाचार सुनकर सर्वप्रथम उन्होंने दल-बल लानेका कारण सोचा और 'राजमद' को ही इसका कारण ठहराकर भरतके नीतिधर्मकी निन्दा की। किन्तु लक्ष्मणकी प्रवृत्तिवाला व्यक्ति कार्ययोजनाके समय तर्क-वितर्कमें नहीं उलझ सकता—

एतना कहत नीति रस भूला। रन रस बिटपु पुलक मिस फूला॥
प्रभु पद बंदि सीस रज राखी। बोले सत्य सहज बलु भाषी॥
अनुचित नाथ न मानब मोरा। भरत हमहि उपचार न थोरा॥
कहँ लगि सहिअ रहिअ मनु मारें। नाथ साथ धनु हाथ हमारें॥
छत्रि जाति रघुकुल जनमु राम अनुग जगु जान।
लातहु मारें चढ़ति सिर नीच को धूरि समान॥
उठि कर जोरि रजायसु मागा। मनहुँ बीर रस सोवत जागा॥
बाँधि जटा सिर कसि कटि भाथा। साजि सरासनु सायकु हाथा॥
आजु राम सेवक जसु लेऊँ। भरतहि समर सिखावन देऊँ॥

वीररसके स्थायिभाव उत्साह और उसके अनुभाव-विभावका कितना सुन्दर अङ्कन इन पङ्क्तियोंमें है! रामके प्रति जिसके हृदयमें शत्रुताका लेशमात्र भी है, उसका अस्तित्व लक्ष्मणके लिये असह्य है।

चित्रकूटका ही एक दूसरा चित्र है। भरत विनीतभावसे रामको प्रणाम कर रहे हैं। उनके हाव-भावसे लक्ष्मणको विदित हो गया है कि भरतके हृदयमें छल-प्रपञ्चकी मलिनता नहीं है। ऐसी दशामें बड़े भाई भरतके लिये स्नेह और नम्रताका उद्गार स्वाभाविक ही है। किन्तु लक्ष्मणजी रामजीकी सेवापर हैं—सेवा-संलग्न रहें कि भरतका अभिवादन करें?

बचन सपेम लखन पहिचाने। करत प्रनामु भरत जियँ जाने॥
बंधु सनेह सरस एहि ओरा। उत साहिब सेवा बस जोरा॥
मिलि न जाइ नहिं गुदरत बनई। सुकबि लखन मन की गति भनई॥

रहे राखि सेवा पर भारू। चढ़ी चंग जनु खैंच खेलारू॥

दोनों ही चित्र लक्ष्मणजीकी सेवा-भावनाके दो भिन्न रूप हैं। प्रभुकी सेवाके आगे उन्होंने भरतकी कल्पित शत्रुताका तो विरोध किया ही, उनकी स्नेहमयी नम्रताकी भी उपेक्षा की। इसीलिये भरतजीने कहा है—

जीवन लाहु लखन भल पावा। सब तजि राम चरन मनु लावा॥

श्रीरामचन्द्रजीके प्रति भरतका सेवा-प्रेम भ्रातृभावकी सीमासे बहुत आगे बढ़ा हुआ है। माता-पिता, बन्धु-बान्धव—इन सबके ऊपर जो 'स्वामी' का आसन है, उसीपर उन्होंने अपने बड़े भाई रामकी प्रतिष्ठा की है। सेवक-सेव्यभावकी जो झाँकी भरतके चरित्रमें मिलती है, उसका यथातथ्य वर्णन असम्भव है। उनकी गति-विधिमें—उनकी एक-एक बातमें राम-प्रेमका गम्भीरतम सागर उच्चादर्श और प्रणतिके झोंकोंसे तरङ्गित है। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि उसकी थाह नहीं पाते—

भरत बचन सुनि देखि सनेहू। सभा सहित मुनि भए बिदेहू॥
भरत महा महिमा जलु रासी। मुनि मति तीर ठाढ़ि अबला सी॥
गा चह पार जतनु हियँ हेरा। पावति नाव न बोहितु बेरा॥
औरु करिहि को भरत बड़ाई। सरसी सीपि कि सिंधु समाई॥

अयोध्याकी राजसभामें भरतका भाषण सुनकर 'मातु सचिव गुर पुर नर नारी सब' 'सनेह बिकल' होकर—

भरतहि कहहिं सराहि सराही। राम प्रेम मूरति तनु आही॥

भरत राम-प्रेमकी मूर्ति हैं, यह उक्ति केवल अयोध्या-वासियोंकी नहीं है। अयोध्यावासी तो उन्हें जन्मसे जानते थे। कुछ क्षणोंके लघु परिचयमें ही भरद्वाजजी कह देते हैं—

तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू। धरें देह जनु राम सनेहू॥

इसी 'मूर्तिमान् राम-प्रेम'—भरतसे विरहाकुल प्रजा-परिजनको सच्ची सान्त्वना मिली। अन्यथा राम-बन-गमन और दशरथ-निधनके बाद कुटुम्बकी क्या दशा होती, कौन कह सकता है! भरतके सर्वाधिक दुःखके आगे अयोध्याके वेदना-विपन्न सभी नर-नारियोंका करुण विलाप मूक है। उनके शोकाश्रु मानो भरतके 'अन्तर्दाह' में सूखकर लुप्त हो गये हैं—

ननिहालसे अयोध्या लौटकर दशरथजीके मृत्यु-समाचारके बाद जब भरतजीको रामके गृहत्यागकी कथा सुनायी गयी तो—

भरतहि बिसरेउ पितु मरन सुनत राम बन गौनु।
हेतु अपनपउ जानि जियँ थकित रहे धरि मौनु॥

इसके पश्चात् माता कौसल्याके भवन और राजसभामें उनके विक्षुब्ध उद्गार उनके विकल मनकी हाहाकारमयी भावनाके ही परिचायक हैं। वसिष्ठजीके प्रस्तावपर उनका सीधा-सा उत्तर है—

हित हमार सियपति सेवकाईं। सो हरि लीन्ह मातु कुटिलाईं॥
मैं अनुमानि दीख मन माहीं। आन उपायँ मोर हित नाहीं॥
सोक समाजु राजु केहि लेखें। लखन राम सिय बिनु पद देखें॥
बादि बसन बिनु भूषन भारू। बादि बिरति बिनु ब्रह्म बिचारू॥
सरुज सरीर बादि बहु भोगा। बिनु हरि भगति जायँ जप जोगा॥
जाय जीव बिनु देह सुहाई। बादि मोर सब बिनु रघुराई॥

उनके हृदयकी समस्त सुख-शान्ति एक इसी ग्लानिकी विभीषिकामें विपन्न है कि उनके ही कारण रामको कष्ट मिला—

डरु न मोहि जग कहिहि कि पोचू। परलोकहु कर नाहिन सोचू॥
एकइ उर बस दुसह दवारी। मोहि लगि भे सिय रामु दुखारी॥

× × ×

आपनि दारुन दीनता कहउँ सबहि सिरु नाइ।
देखें बिनु रघुनाथ पद जिय कै जरनि न जाइ॥

निश्चय ही उनके 'जिय कै जरनि' 'बिनु रघुनाथ पद' देखे नहीं मिट सकती। रामजीका दर्शन ही उनकी अन्तर्ज्वाला शान्त कर सकता है, क्योंकि रामजीका गुण है—'जिय कै जरनि हरत हँसि हेरत।' चित्रकूट जाते समय अत्यधिक सङ्कोची भरतका रामके प्रति यही भाव था—

अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा। मैं सिसु सेवक जद्यपि बामा॥

× × ×

जद्यपि जनमु कुमातु तें मैं सठु सदा सदोस।
आपन जानि न त्यागिहहिं मोहि रघुबीर भरोस॥

चित्रकूटके मार्गमें उनकी सेवा-भावनाका परिचय स्थल-स्थलपर मिलता है। निषादको देखकर—

राम सखा सुनि संदनु त्यागा। चले उतरि उमगत अनुरागा॥

और—

लोक बेद सब भाँतिहिं नीचा। जासु छाँह छुइ लेइअ सींचा॥
तेहि भरि अंक राम लघु भ्राता। मिलत पुलक परिपूरित गाता॥

निषादके इतने सम्मानका कारण 'यह तौ राम लाइ उर लीन्हा' है। श्रीसीतारामके रात्रि-विश्रामके शेष चिह्नोंके प्रति भी भरतकी कितनी गहरी भावना है!—

कुस साँथरी निहारि सुहाई। कीन्ह प्रनामु प्रदच्छिन जाई॥
चरन रेख रज आँखिन्ह लाई। बनइ न कहत प्रीति अधिकाई॥

कनक बिंदु दुइ चारिक देखे । राखे सीस सीय सम लेखे ॥

गङ्गा पार करके भरतजीने भी रथ त्याग दिया। रामजीने वहाँसे पैदल यात्रा की थी, भरत क्या सवारीपर चलेंगे ? वे कहते हैं—

रामु पयादेहि पायँ सिधाए । हम कहँ रथ गज बाजि बनाए ॥
सिर भर जाउँ उचित अस मोरा । सब तें सेवक धरमु कठोरा ॥

फिर, त्रिवेणीजीके दर्शन करके तीर्थराजसे वे राम-प्रेमकी भीख माँगते हैं । उनकी इस याचनामें कितनी करुणा और नम्रता है !—

मागउँ भीख त्यागि निज धरमू । आरत काह न करइ कुकरमू ॥
अस जियँ जानि सुजान सुदानी । सफल करहिं जग जाचक बानी ॥

अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहउँ निरबान ।
जनम जनम रति राम पद यह बरदानु न आन ॥

जानहुँ रामु कुटिल करि मोही । लोग कहउ गुर साहिब द्रोही ॥
सीता राम चरन रति मोरें । अनुदिन बढ़उ अनुग्रह तोरें ॥
जलदु जनम भरि सुरति बिसारउ । जाचत जलु पबि पाहन डारउ ॥
चातकु रटनि घटें घटि जाई । बढ़ें प्रेम सब भाँति भलाई ॥
कनकहिं बान चढ़इ जिमि दाहें । तिमि प्रियतम पद नेम निबाहें ॥

तत्पश्चात् जब—

भरत बचन सुनि माझ त्रिबेनी । भइ मृदु बानि सुमंगल देनी ॥
तात भरत तुम्ह सब बिधि साधू । राम चरन अनुराग अगाधू ॥
बादि गलानि करहु मन माहीं । तुम्ह सम रामहि कोउ प्रिय नाहीं ॥

तब—

तनु पुलकेउ हियँ हरषु सुनि बेनि बचन अनुकूल ।
भरत धन्य कहि धन्य सुर हरषित बरषहिं फूल ॥

भरतकी इसी अगाध भक्तिको देखकर भरद्वाजजी कहते हैं—

तुम्ह कहँ भरत कलंक यह हम सब कहँ उपदेसु ।
राम भगति रस सिद्धि हित भा यह समउ गनेसु ॥

× × ×

सुनहु भरत हम झूठ न कहहीं । उदासीन तापस बन रहहीं ॥
सब साधन कर सुफल सुहावा । लखन राम सिय दरसनु पावा ॥
तेहि फल कर फलु दरस तुम्हारा । सहित पयाग सुभाग हमारा ॥
भरत धन्य तुम्ह जसु जगु जयऊ । कहि अस पेम मगन मुनि भयऊ ॥

किन्तु इस सम्मान और प्रशंसामें भरत अपनी वेदना नहीं भूल सके । उनके 'सिय के बरनि' अभी शान्त नहीं हुई—

राम लखन सिय बिनु पग पनहीं । करि मुनि बेष फिरहिं बन बनहीं ॥

अजिन बसन फल असन महि सयन डासि कुस पात ।
बसि तरु तर नित सहत हिम आतप बरषा बात ॥

एहि दुख दाहँ दहइ नित छाती । भूख न बासर नीद न राती ॥

मार्गमें चलते हुए सङ्कोची भरत नाना प्रकारके तर्क-वितर्क करते जाते हैं—

समुझि मातु करतब सकुचाहीं । करत कुतरक कोटि मन माहीं ॥
रामु लखनु सिय सुनि मम नाऊँ । उठि जनि अनत जाहिं तजि ठाऊँ ॥

मातु मते महुँ मानि मोहि जो कछु करहिं सो थोर ।
अघ अवगुन छमि आदरहिं समुझि आपनी ओर ॥

जौं परिहरहिं मलिन मनु जानी । जौं सनमानहिं सेवकु मानी ॥
मोरें सरन रामहि की पनही । राम सुस्वामि दोसु सब जनही ॥
जग जस भाजन चातक मीना । नेम पेम निज निपुन नबीना ॥
अस मन गुनत चले मग जाता । सकुच सनेहँ सिथिल सब गाता ॥

इस मानसिक तर्क-वितर्ककी शारीरिक प्रतिक्रिया भी है—

फेरति मनहुँ मातु कृत खोरी । चलत भगति बल धीरज धोरी ॥
जब समुझत रघुनाथ सुभाऊ । तब पथ परत उताइल पाऊ ॥
भरत दसा तेहि अवसर कैसी । जल प्रबाहँ जल अलि गति जैसी ॥

रामके निकट भरतका कितना मान है कि उनसे मिलनेके लिये—

उठे रामु सुनि पेम अधीरा । कहुँ पट कहुँ निषंग धनु तीरा ॥

और—

बरबस लिए उठाइ उर लाए कृपानिधान ।
भरत राम की मिलनि लखि बिसरे सबहि अपान ॥

चित्रकूटमें भरतकी सेवा-भावनाकी गहराई रामसे छिपी न रही । उन्होंने स्पष्ट कह दिया—

मिटिहहिं पाप प्रपंच सब अखिल अमंगल भार ।
लोक सुजसु परलोक सुखु सुमिरत नामु तुम्हार ॥

कहउँ सुभाउ सत्य सिव साखी । भरत भूमि रह राउरि राखी ॥

राम और भरतके प्रेमकी ओर सङ्केत करके जनकजी अपनी रानीसे कहते हैं—

देबि परंतु भरत रघुबर की । प्रीति प्रतीति जाइ नहिं तरकी ॥
भरत अवधि सनेह ममता की । जद्यपि रामु सीम समता की ॥
परमारथ स्वारथ सुख सारे । भरत न सपनेहुँ मनहुँ निहारे ॥
साधन सिद्धि राम पग नेहू । मोहि लखि परत भरत मत एहू ॥

मोरेहुँ भरत न पेलिहहिं मनसहुँ राम रजाइ।
करिअ न सोचु सनेह बस कहेउ भूप बिलखाइ॥

भरत चाहते तो रामचन्द्रजीको अयोध्या लौटा सकते। उनका एक शब्द इसके लिये पर्याप्त था। किन्तु सेवक तो स्वामीपर ज़ोर नहीं डाल सकता। इसीलिये उन्हें विवश न करके भरतजीने रामजीकी इच्छा और आदेशपर ही सब कुछ छोड़ दिया। चित्रकूटका उनका अन्तिम भाषण बहुत महत्त्वपूर्ण है। उनकी 'बिमल बिबेक धरम नयसाली' भारतीका उद्गार उनके अनन्य भावका ही द्योतक है—

प्रभु पितु मातु सुहृद गुर स्वामी। पूज्य परम हित अंतरजामी॥
सरल सुसाहिबु सील निधानू। प्रनतपाल सर्बग्य सुजानू॥
समरथ सरनागत हितकारी। गुन गाहकु अवगुन अघ हारी॥
स्वामि गोसाँइहि सरिस गोसाईं। मोहि समान मैं साइँ दोहाईं॥
प्रभु पितु बचन मोह बस पेली। आयउँ इहाँ समाजु सकेली॥
जग भल पोच ऊँच अरु नीचू। अमिअ अमरपद माहुरु मीचू॥
राम रजाइ मेट मन माहीं। देखा सुना कतहुँ कोउ नाहीं॥
सो मैं सब बिधि कीन्हि ढिठाई। प्रभु मानी सनेह सेवकाई॥
कृपाँ भलाईं आपनी नाथ कीन्ह भल मोर।
को साहिब सेवकहि नेवाजी। आपु समाज साज सब साजी॥
निज करतूति न समुझिअ सपनें। सेवक सकुच सोचु उर अपनें॥
सो गोसाइँ नहिं दूसर कोपी। भुजा उठाइ कहउँ पन रोपी॥

× × ×

सुहृद सुजान सुसाहिबहि बहुत कहब बड़ि खोरि।
आयसु देइअ देव अब सबइ सुधारी मोरि॥

भरतजी कितने प्रेम, कितनी प्रणति और आत्मग्लानिसे चित्रकूट आये थे! उनकी कार्यप्रणाली देखकर यही जान पड़ता था कि सेवाभावकी यही चरम सीमा है; किन्तु रामसे मिलकर—उनसे आत्मनिवेदन करके भरतको यह अनुभव हुआ कि अपने स्वामी रामचन्द्रजीकी आज्ञा बिना जो वे उनके पास आये, यह बड़ा अपराध हुआ। न आना तो उनके लिये असाध्य था ही, बिना आज्ञा आनेके सङ्कोचमें भी उनके प्राण विषण्ण हैं। सेवाभावका इतना सूक्ष्म विवेक मानसके अन्य पात्रोंमें अङ्कित नहीं है।

भरतजी चित्रकूटसे रामजीको अयोध्या न ला सके। परन्तु गोसाईंजीने इसका वर्णन ऐसा हृदयग्राही किया है कि भरतजी हारे हुए लौटते नहीं दिखायी देते, 'हारेहुँ खेल जितावहिं मोही' सरीखे दिखायी देते हैं; क्योंकि श्रीरघुनाथजीने वसिष्ठजीकी सिफारिशपर आखिरी फैसला भरतजीके ऊपर ही छोड़ दिया था। लेकिन उसका फायदा भरतजी नहीं उठा रहे हैं। सेवकके कर्तव्यका स्मरण उन्हें आता है। प्रभु अपने हैं, अपने ही रहेंगे—इस भावनामें ही उन्होंने अपनी जीत मान ली। उनकी अनुपस्थितिमें राज-काज सम्हालना होगा, प्रजापालन करना होगा। राज्य तो स्वामीका है और रहेगा। अपने पास वे उसे धरोहरके रूपमें भी नहीं मानते। अपनेको वे प्रभुके सेवक, उनके राज्यके सेवक, उनकी प्रजाके सेवकके रूपमें मानते हैं। उस भावको सम्हालनेके लिये शक्ति चाहिये। उसके लिये प्रभुका स्नेह और आशीर्वाद तो पा ही लिया, यह वचन भी ले लिया कि प्रभु चौदह वर्ष बाद फिर लौटेंगे—यही नहीं, बल्कि राजा बनेंगे। लेकिन फिर भी तृप्ति नहीं हुई। प्रभुकी उन्होंने पादुकाएँ भी माँग लीं। इस साकार चिह्नमें उपासनाकी सफलता अहर्निश उन्हें उपलब्ध रहती है। ये पूज्य पादुकाएँ ही वनवासकी अवधि पार करानेमें समर्थ हैं। भरतकी प्रणति देखिये कि जिस सिंहासनपर स्वामीका अधिकार है, उसपर वे स्वामीकी ही इच्छासे उसके प्रतिनिधि बनकर भी नहीं बैठना चाहते। स्वामीकी पादुकाएँ उसपर बैठ सकती हैं। भरत तो उन पादुकाओंके भी सेवक हैं। चौदह वर्षतक जो 'सेव्य' के पादत्राणोंको भी 'सेव्य' मानकर उनसे प्रेरणा पाता रहा, उस हृदयकी सेवा-विनम्रताका कहीं अन्त नहीं है।

इसके बाद भरतकी सेवाका क्षेत्र नन्दिग्राम है। चित्रकूटसे लौटकर माँ कौसल्या और वसिष्ठजीको प्रणाम करके, पादुकाओंकी आज्ञासे नन्दिग्राममें उन्होंने निवास किया। पादुकाओंसे आज्ञा लेकर कार्य करना श्रद्धा-भक्तिकी चरम सीमा है—

राम मातु गुर पद सिरु नाई। प्रभु पद पीठ रजायसु पाई॥
नंदिगावँ करि परन कुटीरा। कीन्ह निवासु धरम धुर धीरा॥
जटाजूट सिर मुनिपट धारी। महि खनि कुस साँथरी सँवारी॥
असन बसन बासन ब्रत नेमा। करत कठिन रिषिधरम सप्रेमा॥
भूषन बसन भोग सुख भूरी। मन तन बचन तजे तिन तूरी॥
अवध राजु सुर राजु सिहाई। दसरथ धनु सुनि धनदु लजाई॥
तेहिं पुर बसत भरत बिनु रागा। चंचरीक जिमि चंपक बागा॥
रमा बिलासु राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़भागी॥

राम पेम भाजन भरतु बड़े न एहिं करतूति।
चातक हंस सराहिअत टेक बिबेक बिभूति॥

भरतकी इस तपस्याका वर्णन गोस्वामीजीने बड़ी संवेदनासे किया है—

देह दिनहुँ दिन दूबरि होई। घटइ तेजु बलु मुखछबि सोई॥

नित नव राम प्रेम पनु पीना। बढ़त धरम दलु मनु न मलीना॥
जिमि जलु निघटत सरद प्रकासें। बिलसत बेतस बनज बिकासें॥
सम दम संजम नियम उपासा। नखत भरत हिय बिमल अकासा॥
ध्रुव बिस्वासु अवधि राका सी। स्वामि सुरति सुरबीथि बिकासी॥
राम पेम बिधु अचल अदोषा। सहित समाज सोह नित चोखा॥
भरत रहनि समुझनि करतूती। भगति बिरति गुन बिमल बिभूती॥
बरनत सकल सुकबि सकुचाहीं। सेस गनेस गिरा गमु नाहीं॥

नित पूजत प्रभु पाँवरी प्रीति न हृदयँ समाति।
मागि मागि आयसु करत राज काज बहु भाँति॥

राम-लक्ष्मणके वनवास-व्रतसे भरतकी यह एकान्त साधना किसी प्रकार कम नहीं है। लक्ष्मण बड़भागी अवश्य हैं कि उन्हें सदैव अपने स्वामीके साथ रहने और आज्ञापालन करनेका सुख मिला; किन्तु रामकी पाँवड़ीको स्वामी मानकर उनकी आज्ञासे राज-काज करना एक दूसरी ही बात है। गोस्वामीजी कहते हैं—

पुलक गात हियँ सिय रघुबीरू। जीह नामु जप लोचन नीरू॥
लखन राम सिय कानन बसहीं। भरतु भवन बसि तप तनु कसहीं॥
दोउ दिसि समुझि कहत सबु लोगू। सब बिधि भरत सराहन जोगू॥

रामचरितमानसमें सेवाभावके एक अन्यतम आदर्श हनूमान्जी हैं। रामसे उनका सम्बन्ध केवल सेवापर निर्भर है। गोस्वामीजीके अनुसार किष्किन्धाके वनमें ही राम और हनूमान्का प्रथम मिलन नहीं हुआ। उन्होंने हनूमान्जीमें रामजीके प्रति पूर्वानुरागकी प्रतिष्ठा की है। इसीलिये—

प्रभु पहिचानि परेउ गहि चरना। सो सुख उमा जाइ नहिं बरना॥
पुलकित तन मुख आव न बचना। देखत रुचिर बेष कै रचना॥
पुनि धीरजु धरि अस्तुति कीन्ही। हरष हृदयँ निज नाथहि चीन्ही॥
मोर न्याउ मैं पूछा साईं। तुम्ह पूछहु कस नर की नाईं॥
तव माया बस फिरउँ भुलाना। ता ते मैं नहिं प्रभु पहिचाना॥

एकु मैं मंद मोह बस कुटिल हृदय अग्यान।
पुनि प्रभु मोहि बिसारेउ दीनबंधु भगवान॥

जदपि नाथ बहु अवगुन मोरें। सेवक प्रभुहि परै जनि भोरें॥

× × ×

सेवक सुत पति मातु भरोसें। रहइ असोच बनइ प्रभु पोसें॥

स्पष्ट है कि पहले भी राम और हनूमान्में सेव्यसेवकका ही सम्बन्ध था। रामको पहचानकर उन्होंने सेवाभावसे ही उनकी स्तुति की। किन्तु हनूमान्जीके चरित्रकी विशेषता यह है कि रामके देवरूपको पहचाननेके प्रथम भी, जब सुग्रीवकी आज्ञासे वटुका वेष धारण करके वे रामकी गतिविधिका ज्ञान प्राप्त करने गये, तब रामके मानवरूपमें उन्हें अलौकिकता ही दिखायी पड़ी। इसीलिये समाधानके लिये उन्होंने रामचन्द्रजीसे उनका परिचय पूछा। रामको परमेश्वर जाननेके पहले भी स्वामीरूपमें ही हनूमान्जीने उनको सम्बोधित किया है—

को तुम्ह स्यामल गौर सरीरा। छत्री रूप फिरहु बन बीरा॥
कठिन भूमि कोमल पद गामी। कवन हेतु बिचरहु बन स्वामी॥
मृदुल मनोहर सुंदर गाता। सहत दुसह बन आतप बाता॥
की तुम्ह तीनि देव महँ कोऊ। नर नारायन की तुम्ह दोऊ॥

जग कारन तारन भव भंजन धरनी भार।
की तुम्ह अखिल भुवन पति लीन्ह मनुज अवतार॥

किष्किन्धाकाण्डसे लेकर उत्तरकाण्डतक हनूमान्जीकी महिमाका वर्णन है। सुन्दरकाण्ड तो केवल उन्हींकी सेवाका आख्यान है। जामवंतका 'राम काज लगि तव अवतारा' वाक्य पूर्णरूपसे सिद्ध हो जाता है। सीताजीकी खोज, उनका समाधान, लङ्कादाह और लक्ष्मणजीका पुनर्जीवन आदि महत्कार्योंका श्रेय हनूमान्जीको ही प्राप्त है। इन कार्योंके सम्पन्न करनेमें कितनी कठिनाइयोंका सामना उन्हें करना पड़ा है, यह रामायण-प्रेमियोंको भलीभाँति विदित है। स्वामीके आदेशका पालन किये विना उन्हें एक क्षणका भी अवकाश नहीं है। सीताजीकी खोजमें सागर पार करते समय समुद्रके सङ्केतसे जब मैनाक 'श्रमहारी' हुआ तो—

हनूमान तेहि परसा कर पुनि कीन्ह प्रनाम।
राम काजु कीन्हें बिनु मोहि कहाँ बिश्राम॥

परन्तु प्रभुके सच्चे सेवकको प्रभुके गुणगानमें ही विश्राम मिल जाता है। विभीषणजीसे रामजीकी भक्तवत्सलताका वर्णन करते हुए उन्हें विश्रान्ति-लाभ हुआ—

एहि बिधि कहत राम गुन ग्रामा। पावा अनिर्बाच्य बिश्रामा॥

उनकी सेवाओंसे प्रसन्न होकर सुन्दरकाण्डमें रामने स्वयं कहा है—

सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ सुर नर मुनि तनुधारी॥
प्रति उपकार करौं का तोरा। सनमुख होइ न सकत मन मोरा॥
सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं। देखेउँ करि बिचार मन माहीं॥
पुनि पुनि कपिहि चितव सुरत्राता। लोचन नीर पुलक अति गाता॥

स्वामीके इस कृतज्ञता-उद्गारपर सेवककी गद्गद भावनाका चित्रण गोस्वामीजीने बड़े कौशलसे किया है—

सुनि प्रभु बचन बिलोकि मुख गात हरषि हनुमंत ।
चरन परेउ प्रेमाकुल त्राहि त्राहि भगवंत ॥

बार बार प्रभु चहइ उठावा । प्रेम मगन तेहि उठब न भावा ॥
प्रभु कर पंकज कपि कें सीसा । सुमिरि सो दसा मगन गौरीसा ॥

यहाँ कविने शङ्करजीकी अनन्य भक्तिकी ओर कितना सुन्दर सङ्केत किया है ।

सीता-अन्वेषणसे लेकर रामके राज्याभिषेकपर्यन्त सुग्रीव, विभीषण, हनूमान् या अङ्गदकी स्वामिपूजाके समारम्भमें अङ्गदने जो श्रद्धाञ्जलि समर्पित की है, वह किसी सहृदयद्वारा उपेक्षणीय नहीं है । बालिके निधन और सुग्रीवके राज्य पानेपर उन्होंने अपना सर्वस्व रामकी ही सेवामें लगा दिया । रामके प्रति अङ्गदका यह आकर्षण क्या केवल इसलिये है कि रामने बालि-जैसे महायोद्धाको परास्त करके सबको अभिभूत किया और स्वयं अङ्गदको सुग्रीवके प्रतिशोधसे बचाया—

पिता बधे पर मारत मोही । राखा राम निहोर न ओही ॥

नहीं, अङ्गद-जैसे युवा, युवराज और वीरका अपने पिताके शत्रु रामके आश्रयमें आनेका कारण रामकी सार्वभौम वत्सलता और उसके प्रति अङ्गदका सेवाभाव ही है ।

रामचरितमानसमें अङ्गदकी चर्चा मुख्यतः तीन स्थानोंपर है—(१) किष्किन्धाकाण्डमें सीताके अनुसन्धानके प्रसङ्गमें, (२) लङ्काकाण्डमें रामदूतके नाते रावण-सभामें और (३) उत्तरकाण्डमें सैनिकोंकी विदाईके समय । प्रथम स्थलमें रामकाजकी ओर उनकी प्रवृत्ति दिखायी गयी है । रावणकी सभामें, सेवाकार्यमें उनके चातुर्य और अधिकारकी एक झलक हमें मिलती है । तीसरे प्रसङ्गमें उनके सेवाधर्मकी विह्वलता और स्वामिवियोगकी वेदनाका एक सुन्दरतम चित्र है । अङ्गद एक महान् योद्धा तो थे ही, उनकी बुद्धिमत्ताकी धाक भी सबपर थी । सीताजीकी खोज करते समय समुद्र-तटपर उन्होंने ही सम्पातिसे सबकी रक्षा की थी । रावणकी महासभामें रामदूत बनकर जानेका सौभाग्य उनके बुद्धि-कौशलके कारण ही है । मन्त्री जामवंतकी सिफ़ारिशपर रामने स्वयं कहा है—

बालितनय बुधि बल गुन धामा । लंका जाहु तात मम कामा ॥
बहुत बुझाइ तुम्हहि का कहऊँ । परम चतुर मैं जानत अहऊँ ॥

रावण और अङ्गदका संवाद अङ्गदके वाक्-चातुर्यको पूर्णरूपसे प्रमाणित करता है । किन्तु उन्होंने रावणको अपनी बुद्धिमानीका ही परिचय नहीं दिया, अपने बलका भी अनुमान कराया है । रावणने साम, दान, दण्ड, भेदसे उन्हें फोड़ना चाहा; किन्तु रामके प्रति उनकी श्रद्धा अटल रही । और उसकी सीमापर सभाके सामने पैर रोपकर उन्होंने घोषणा की—

जौं मम चरन सकसि सठ टारी । फिरहिं रामु सीता मैं हारी ॥

इस वाक्यमें न केवल अङ्गदके बलकी सूचना है, प्रत्युत उस प्रभु-प्रताप ('तृन तें कुलिस कुलिस तृन करई', 'श्रीरघुबीर प्रताप ते सिंधु तरे पाषान') की ओर भी सङ्केत है, जिसके सहारे उन्होंने यह प्रण किया था । इसके अतिरिक्त उपर्युक्त पङ्क्तिमें अङ्गदके सेवक-अधिकारकी भी एक झलक है । वे केवल दूत न थे । दूतसे प्रथम वे सेवक थे और जानते थे कि सीता हारनेका भी अवसर आ जाय तो सेवककी 'प्रीति रुचि' की रक्षाके लिये रामजी सीताजीके बिना ही लङ्का छोड़कर चल देंगे । रावणसे लड़ाई मोल लेना अङ्गदका ध्येय न था । 'काजु हमार तासु हित होई' के अनुसार वे किसी प्रकार उसे राहपर लाना चाहते थे । यहाँ बलप्रदर्शन-का उद्देश्य रावणको शत्रुपक्षकी शक्तिका अनुमान कराके उसे युद्ध-लालसासे विमुख कर देना था ।

उत्तरकाण्डमें विदाईके समय अङ्गदकी करुणा अनिर्वचनीय है । अपनी गद्गद भावनाका यथार्थ प्रकाशन वे स्वयं भी नहीं कर सके हैं । इस विह्वलतामें ही उनकी भक्तिकी गहराई है । फिर भी गोस्वामीजीने उनकी तत्कालीन व्याकुलताका एक बहुत सुन्दर चित्र अङ्कित किया है—

तब प्रभु भूषन बसन मगाए । नाना रंग अनूप सुहाए ॥
सुग्रीवहि प्रथमहिं पहिराए । बसन भरत निज हाथ बनाए ॥
प्रभु प्रेरित लछिमन पहिराए । लंकापति रघुपति मन भाए ॥
अंगद बैठ रहा नहिं डोला । प्रीति देखि प्रभु ताहि न बोला ॥

जामवंत नीलादि सब पहिराए रघुनाथ ।
हियँ धरि राम रूप सब चले नाइ पद माथ ॥
तब अंगद उठि नाइ सिरु सजल नयन कर जोरि ।
अति बिनीत बोलेउ बचन मनहुँ प्रेम रस बोरि ॥

सुनु सर्बग्य कृपा सुख सिंधो । दीन दयाकर आरत बंधो ॥
मरती बेर नाथ मोहि बाली । गयउ तुम्हारेहि कोंछें घाली ॥
असरन सरन बिरदु संभारी । मोहि जनि तजहु भगत हितकारी ॥
मोरें तुम्ह प्रभु गुर पितु माता । जाउँ कहाँ तजि पद जलजाता ॥
तुम्हहि बिचारि कहहु नरनाहा । प्रभु तजि भवन काज मम काहा ॥
बालक ग्यान बुद्धि बल हीना । राखहु सरन नाथ जन दीना ॥

नीचि टहल गृह कै सब करिहउँ । पद पंकज बिलोकि भव तरिहउँ ॥
अस कहि चरन परेउ प्रभु पाही । अब जनि नाथ कहहु गृह जाही ॥

अंगद बचन बिनीत सुनि रघुपति करुना सींव ।
प्रभु उठाइ उर लायउ सजल नयन राजीव ॥

और—

निज उर माल बसन मनि बालितनय पहिराइ ।
बिदा कीन्हि भगवान तब बहु प्रकार समुझाइ ॥

स्वयं भगवान्‌के वस्त्राभूषण पहननेका सौभाग्य अङ्गदको उनकी निश्छल भक्तिके ही कारण प्राप्त हुआ है । उनकी विनय कितनी भावुकतापूर्ण है ! चलते समय—

अंगद हृदयँ प्रेम नहिं थोरा । फिरि फिरि चितव राम कीं ओरा ॥
राम बिलोकनि बोलनि चलनी । सुमिरि सुमिरि सोचत हँसि मिलनी॥
प्रभु रुख देखि बिनय बहु भाषी । चलेउ हृदयँ पद पंकज राखी ॥

'प्रभु रुख' देखकर ही वे अयोध्या छोड़ सके । और विदाके समय हनूमान्‌जीसे कहते गये—

कहेहु दंडवत प्रभु सैं तुम्हहि कहउँ कर जोरि ।
बार बार रघुनायकहि सुरति कराएहु मोरि ॥

हनूमान्‌जीको रामजीने रोक लिया, इसके लिये उनके हृदयमें तनिक भी ईर्ष्या या ग्लानि नहीं है । बल्कि वे उन्हें अपने स्नेहका प्रतिनिधि बनाकर विदा होते हैं । हनूमान्‌जीका यह परम सौभाग्य है कि उन्हें रामजीका परम सेवक जानकर लोग उनके द्वारा रामतक अपनी प्रेमाञ्जलि पहुँचाते हैं । वैष्णवभावनाप्रधान प्रेममार्गमें जो स्थान एक दूतीका है, वही यहाँ हनूमान्‌जीका है । स्वयं सीताजी अशोकवाटिकामें उनसे पूछती हैं—

सहज बानि सेवक सुख दायक । कबहुँक सुरति करत रघुनायक ॥

उत्तरकाण्डमें रामजीके अयोध्या लौटनेका समाचार लानेवाले हनूमान्‌जीसे भरतजीने भी यही पूछा—

कहु कपि कबहुँ कृपाल गुसाईं । सुमिरहिं मोहि दास की नाईं ॥

गोसाईंजीकी 'विनयपत्रिका' भी रामकी राजसभामें हनूमान्‌जीकी सहायता बिना पेश नहीं हो सकती । श्रीसीतारामकी अर्चनाके साथ हनूमान्‌जीकी पूजा भी जो आज हिन्दू-समाजमें अक्षुण्ण है, उसका एक कारण गोस्वामीजीकी उनके प्रति निर्मल भक्ति और उस भक्तिका प्रचार भी है ।

निषादराज गुहका चरित्र सेवाभावसे ही ओतप्रोत है । उसका कितना सौभाग्य है कि दासानुदास होते हुए 'राम सखा'की पदवी मिली । भरतने उसका कितना सत्कार किया है—

करत दंडवत देखि तेहि भरत लीन्ह उर लाइ ।
मनहुँ लखन सन भेंट भइ प्रेमु न हृदयँ समाइ ॥

किन्तु निषादके सम्मानकी सीमा चित्रकूटपर है, जब वसिष्ठजी उससे गले मिलते हैं—

प्रेम पुलकि केवट कहि नामू । कीन्ह दूरि तें दंड प्रनामू ॥
रामसखा रिषि बरबस भेंटा । जनु महि लुठत सनेह समेटा ॥
रघुपति भगति सुमंगल मूला । नभ सराहि सुर बरिसहिं फूला ॥
एहि सम निपट नीच कोउ नाहीं । बड़ बसिष्ठ सम को जग माहीं ॥

जेहि लखि लखनहु तें अधिक मिले मुदित मुनिराउ ।
सो सीतापति भजन को प्रगट प्रताप प्रभाउ ॥

निषादराजके समान ही भगवान्‌को गङ्गा-पार ले जानेवाले भाग्यवान् केवटका सेवाभाव भी मानसप्रेमियोंके लिये एक श्रद्धाकी वस्तु है । श्रीरामके द्वारा जो सम्मान उसे प्राप्त होता है, वह देवताओं और मुनियोंके लिये भी एक ईर्ष्याकी चीज है । केवटके सम्मानका मूल कारण उसका प्रेम और उसपर भगवान्‌की कृपा ही है । गङ्गातटपर खड़े हुए राम नाव माँग रहे हैं । केवट उनके पैर पखारना चाहता है । उसकी वाणीमें वाक्चातुर्य है—

मागी नाव न केवटु आना । कहइ तुम्हार मरमु मैं जाना ॥
चरन कमल रज कहुँ सबु कहई । मानुष करनि मूरि कछु अहई ॥
छुअत सिला भइ नारि सुहाई । पाहन तें न काठ कठिनाई ॥
तरनिउ मुनि घरिनी होइ जाई । बाट परइ मोरि नाव उड़ाई ॥
एहिं प्रतिपालउँ सबु परिवारू । नहिं जानउँ कछु अउर कबारू ॥
जौं प्रभु पार अवसि गा चहहू । मोहि पद पदुम पखारन कहहू ॥

इसके बाद वह सचमुच हठ करने लगता है—

बरु तीर मारहुँ लखनु पै जब लगि न पाय पखारिहौं ।
तब लगि न तुलसीदास नाथ कृपाल पारु उतारिहौं ॥

एक तुच्छ केवटकी इस प्रगल्भतापर रामको क्या रोष आता है ?—

सुनि केवट के बैन प्रेम लपेटे अटपटे ।
बिहसे करुना ऐन चितइ जानकी लखन तन ॥

और बोले—

'सोइ करु जेहिं तव नाव न जाई ।'

केवटमें प्रेमकी पराकाष्ठा है, तभी तो—

जासु नाम सुमिरत एक बारा । उतरहिं नर भवसिंधु अपारा ॥

सोइ कृपालु केवटहि निहोरा । जेहिं जगु किय तिहु पगहु ते थोरा॥

रामभक्तिका क्षेत्र मनुष्यों और वानरोंतक ही सीमित नहीं है । पशु-पक्षियोंतकने रामके लिये अपने प्राणोंका उत्सर्ग किया है । इस सम्बन्धमें जटायुका नाम उल्लेखनीय है । सीताकी आर्तवाणी सुनकर उसने रावण-जैसे योद्धासे वीरतापूर्वक युद्ध किया और अपनी जीवनलीला समाप्त की । इस तुच्छ गृध्रका बलिदान क्या रामके समीप उपेक्षणीय था ? सीताकी खोज करते हुए उन्हें मरणासन्न जटायुका शरीर मिला—

कर सरोज सिर परसेउ कृपा सिंधु रघुबीर ।
निरखि राम छबि धाम मुख बिगत भई सब पीर ॥

और—

राम कहा तनु राखहु ताता । मुख मुसकाइ कही तेहिं बाता ॥
जा कर नाम मरत मुख आवा । अधमउ मुकुत होइ श्रुति गावा ॥
सो मम लोचन गोचर आगें । राखौं देह नाथ केहि खाँगें ॥
जल भरि नयन कहहिं रघुराई । तात कर्म निज तें गति पाई ॥
पर हित बस जिन्ह के मन माहीं । तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं ॥
तनु तजि तात जाहु मम धामा । देउँ काह तुम्ह पूरन कामा ॥

गृध्रका उत्कर्ष देखिये—

गीध देह तजि धरि हरि रूपा । भूषन बहु पट पीत अनूपा ॥
स्याम गात बिसाल भुज चारी । अस्तुति करत नयन भरि बारी ॥

× × ×

अबिरल भगति मागि बर गीध गयउ हरि धाम ।
तेहि की क्रिया जथोचित निज कर कीन्ही राम ॥

सुग्रीव और विभीषण शरणागत और विपन्न सेवक ही हैं, यद्यपि राम उन्हें अपनी उदारतासे मित्र ही कहते हैं । शरणमें आते समय विभीषणका भाव था—

जिन्ह पायन्ह के पादुकन्हि भरतु रहे मन लाइ ।
ते पद आजु बिलोकिहउँ इन्ह नयनन्हि अब जाइ ॥

अभयदान पाकर भी उसने यही कहा—

अहोभाग्य मम अमित अति राम कृपा सुख पुंज ।
देखेउँ नयन बिरंचि सिव सेब्य जुगल पद कंज ॥

उसका विश्वास था—

तब लगि कुसल न जीव कहुँ सपनेहुँ मन बिश्राम ।
जब लगि भजत न राम कहुँ सोक धाम तजि काम ॥

रामने भी विभीषणके प्रति अपने कथनमें भक्तवत्सलताका ही परिचय दिया—

सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ । जान भुसुंडि संभु गिरिजाऊ ॥
जौं नर होइ चराचर द्रोही । आवै सभय सरन तकि मोही ॥
तजि मद मोह कपट छल नाना । करउँ सद्य तेहि साधु समाना ॥
जननी जनक बंधु सुत दारा । तनु धनु भवन सुहृद परिवारा ॥
सब कै ममता ताग बटोरी । मम पद मनहि बाँध बरि डोरी ॥
समदरसी इच्छा कछु नाहीं । हरष सोक भय नहिं मन माहीं ॥
अस सज्जन मम उर बस कैसें । लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसें ॥
तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरें । धरउँ देह नहिं आन निहोरें ॥

सगुन उपासक पर हित निरत नीति दृढ़ नेम ।
ते नर प्रान समान मम जिन्ह कें द्विज पद प्रेम ॥

स्वयं भगवान् रामका अवतार सचराचरकी सेवाके लिये हुआ है । जीवनपर्यन्त उन्होंने निरीह भावसे संसारके कल्याण-मङ्गलके लिये अपनेको विभिन्न कार्य-कलापोंमें नियोजित किया । शैशवकालहीमें विश्वामित्रके साथ जाकर उन्होंने ताड़का, सुबाहु आदि राक्षसोंका वध और यज्ञ-रक्षा की । फिर मिथिलाके मार्गमें अहल्याका उद्धार करके धनुष-भङ्ग और सीतासे विवाह किया । पिताके वचनोंकी रक्षाके लिये गृहत्याग करके वनमें दैत्योंका संहार और सज्जनोंका उपकार किया । लङ्काविजय उनकी लोकरक्षाका ही प्रमाण है । रामके जीवनका कण-कण लोकसेवामें समर्पित है । तभी सब उनके भक्त और सेवक हैं । अयोध्याके बालकतक यही चाहते थे—

सेवक हम स्वामी सियनाहू । होउ नात यह ओर निबाहू ॥

रामने स्वयं ही सेवा नहीं की, प्रत्युत सभीको परमार्थ-रत होनेका उपदेश दिया है । अयोध्यामें राज्याभिषेकके पश्चात् अपने सुग्रीव, विभीषण आदि सैनिक सेवकोंको विदा करते समय उन्होंने बहुत महत्त्वपूर्ण वचन कहे हैं—

परम प्रीति समीप बैठारे । भगत सुखद मृदु बचन उचारे ॥
तुम्ह अति कीन्हि मोरि सेवकाई । मुख पर केहि बिधि करौं बड़ाई ॥
ताते मोहि तुम्ह अति प्रिय लागे । मम हित लागि भवन सुख त्यागे ॥
अनुज राज संपति बैदेही । देह गेह परिवार सनेही ॥
सब मम प्रिय नहिं तुम्हहि समाना । मृषा न कहउँ मोर यह बाना ॥
सब कें प्रिय सेवक यह नीती । मोरें अधिक दास पर प्रीती ॥

अब गृह जाहु सखा सब भजेहु मोहि दृढ़ नेम ।
सदा सर्बगत सर्बहित जानि करेहु अति प्रेम ॥

इधर अपना भजन करनेको भी कहते जाते हैं, उधर घर भी भेजते जाते हैं । लेकिन नहीं, दूसरी ही पङ्क्तिमें अपने भजनका तरीका श्रीमुखसे स्वयं वर्णन कर दिया । जिसे श्रीचरणोंमें प्रेम करना है, उसे सदैव समस्त सचराचरकी सेवा और सबका हित करते रहना पड़ेगा ।

श्रुति-मुनियोंपर रामका परमेश्वरत्व पूर्ण विदित है। वसिष्ठ और जनक भी चित्रकूटमें रामके सम्मुख श्रद्धावनत हैं। वनमें, तपोवनमें, तपस्वियोंसे समागम होनेपर रामचन्द्रजी लोकधर्मके अनुसार क्षत्रिय होनेके नाते उनकी अभ्यर्थना करते हैं और वे उन्हें परब्रह्म परमात्मा समझकर साधुधर्मकी प्रेरणासे उनके समीप नतमस्तक हैं। वाल्मीकि-आश्रममें राम कहते हैं—

देखि पाय मुनिराय तुम्हारे। भए सुकृत सब सुफल हमारे॥

इधर वाल्मीकिजीका निवेदन है—

राम सरूप तुम्हार बचन अगोचर बुद्धि पर।
अबिगत अकथ अपार नेति नेति नित निगम कह॥

इसी प्रकार राम और भरद्वाजके सम्मिलनका वर्णन करते हुए गोस्वामीजीने इन्हीं दोनों भावोंका चित्रण किया है—

मुनि रघुबीर परसपर नवहीं। बचन अगोचर सुखु अनुभवहीं॥

रामचरितमानसका कोना-कोना इसी सेवाभावसे परिपूर्ण है। कृतिकी भावना यथार्थमें कर्ताकी ही भावना है। इसलिये तुलसीके पात्रोंमें सेवाकी प्रधानताका रहस्य तुलसीकी भक्ति-पद्धतिमें है। उनकी रामायणका पाठ करते समय स्थान-स्थानपर कविकी प्रणति और तन्मयताका परिचय मिलता है। जहाँ कहीं तनिक भी अवसर मिला है, वे अपने स्वामीकी विनय करनेसे नहीं चूके। उत्तरकाण्डमें रामके प्रति देवताओं और मानवोंकी प्रार्थनाओंमें तुलसीका ही आत्मनिवेदन मुखर है। 'राम सुस्वामि कुसेवकु मो सो' का भाव तथा—

सठ सेवक की प्रीति रुचि रखिहहिं राम कृपालु।
उपल किए जलजान जेहिं सचिव सुमति कपि भालु॥

—की आशा उनकी कृतियोंमें सर्वत्र स्पन्दित है। उनकी नम्रता एवं सेवाभावका अङ्कन उनके सिवा और कौन कर सकता है!—

तुलसी जिन्ह के मुखन ते धोखेहुँ निकसत राम।
तिन के पग की पगतरी मोरे तन को चाम॥

एक दिनमें

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

वह सचमुच दुखी था। ऊपरके भड़कीले वस्त्र, सभ्य रहन-सहन एवं गम्भीर मुद्रा—इनमेंसे कोई भी उसे सुखी नहीं कर सका था। हाँ, वह इनके द्वारा अपनी आन्तरिक वेदनाको छिपानेका प्रयत्न अवश्य करता था। फिर भी ध्यानसे देखनेपर मालूम होता था कि उसके नेत्रोंमें एक गम्भीर वेदना छिपी हुई है। उसकी मुसकान हार्दिक न थी। हास्यके बदले उसमें उदासीनताकी छाया प्रतीत होती थी।

पहले उसने सोचा था 'मेरे अभाव अर्थके कारण हैं। पर्याप्त धन हो जानेपर ये अभाव दूर हो जायँगे और तब जीवनमें शान्ति आ सकेगी।' सचमुच वह शान्तिका अन्वेषी था। धन उसका मूल लक्ष्य न था।

उसने व्यापारमें जी-तोड़ परिश्रम किया। प्रारब्ध साथ था, आज वह लक्षाधिपति है। अब वह सोचता है 'इतना धन पर्याप्त नहीं। अभाव तो अभी बने ही हुए हैं।' अब वह संशयशील हो चला है। 'इतने धनसे अभाव दूर नहीं हुए तो क्या औरसे हो सकेंगे?'

वह शान्तिका मार्ग ढूँढ़ रहा था। मित्र और परिवार भी बढ़ गये। भवन एवं विलास-सामग्रीकी तो कमी थी ही नहीं। पर जीवनमें शान्ति न थी। वह अब ऐसे व्यक्तिकी खोजमें लगा, जिसके जीवनमें शान्ति हो।

उसने सोचा था 'जिसके जीवनमें शान्ति होगी, उससे शान्तिका मार्ग मिल सकेगा।' ठीक ही सोचा था। राजा और सेठ, स्वामी और सेवक, सभीसे वह मिला। नगर और ग्राम उसने सब देखे। वह कई

धार्मिक संस्थाओंके सम्पर्कमें भी आया। कोई तो शान्त न था। सभीको शान्तिकी खोज थी।

ऊपरसे कुछ शान्त और प्रसन्न-से दीखते थे। उनके पास इतना धन एवं सुख था कि अभावकी कल्पना भी नहीं हो सकती थी। पर उनके सम्पर्कमें आनेपर पता लगा 'वे और अधिक चाहते हैं। उन्हें भी पीड़ा एवं अभाव हैं।'

'इन्हें क्या चिन्ता होगी ! दिनभर काम किया और सायङ्कालको रूखी-सूखी खाकर पड़ रहे। न ऊधोका लेना न माधोका देना।' पर वे धनियोंसे प्रतिस्पर्धा करना चाहते थे। उनमें घोर असन्तोष था।

जो लोग व्यासासनपर बैठकर तथा अपने सुललित व्याख्यानों एवं मनोहारी उपदेशोंमें सुख-शान्तिकी व्याख्या करते, उसके मार्गका विवरण देते, वैराग्य तथा त्यागकी लंबी-चौड़ी प्रशंसा करते, वे भी शान्त न थे।

ध्यानसे देखा, उनके सम्पूर्ण उपदेश एवं कथामें एक उद्देश्य रहता था कि 'लोग उसे अच्छा समझें। लोगोंका उसमें आकर्षण हो। मैं विद्वान् तथा सुन्दर व्याख्याता समझा जाऊँ।' वे एक-एक पाईका ब्यौरा करते थे। कितनी दक्षिणा मिलेगी या मिली, इसका हिसाब पहले होता था।

सन्देह होने लगा—'जब इन्हें अपनी बातोंपर स्वयं विश्वास नहीं, तो वे ठीक कैसे होंगी। यदि त्यागमें सुख है और ये इस बातको जानते हैं तो संग्रहके पीछे क्यों पड़े हैं ! तब ये झूठ तो नहीं बोलते ! लोगोंको धोखा तो नहीं देते ! यह भी हो सकता है कि ये सुनी-सुनायी कह रहे हों। पर सुनी-सुनायीका क्या विश्वास ! उसके पीछे कोई क्यों जीवन नष्ट करे !'

उसे सन्देह होने लगा—'शान्ति कोई वस्तु ही नहीं। जीवनमें शान्ति नहीं पायी जा सकती।' वह जीवनसे घबड़ा गया। अब उसके लिये जीवन भार हो गया। वह इस भारसे त्राण पानेका उपाय सोचने लगा।

(२)

प्रातः ही वह घरसे चल पड़ा, कहीं दूर गङ्गाजीके किनारे जाकर शरीरको माताके अर्पण करने। 'आत्महत्या पाप है ! हुआ करे, इस अशान्तिमय जीवनसे यह पाप भी अच्छा है।' उसे पाप-पुण्यकी चिन्ता न थी, वह अशान्तिसे त्राण पाना चाहता था।

नगरसे दूर एक छोटी-सी अमराई थी। उसने देखा एक पागलको कुछ लड़के पत्थरों एवं मिट्टीके ढेलोंसे मार रहे हैं। वह लड़कोंको मना करने आगे बढ़ा। पागलने एक कौपीन लगा रक्खी थी, उसका शरीर हृष्टपुष्ट तथा चेहरा तेजस्वी था। वह न तो लड़कोंको मारता था न रोकता था। भागता भी न था। उसपर पत्थर पड़ रहे थे और वह अपनी मस्त चालसे किसी धुनमें चला जा रहा था। लड़कोंके चिल्लाने एवं मारनेका मानो उसे कोई पता ही न था।

वह अभी थोड़ी दूर था। गङ्गा-किनारेसे एक सभ्य आदमी ऊपर आये। रंग-ढंगसे ब्राह्मण-से दीखते थे। उस पागलको देख वह चौंक पड़े। 'अरे ! महाराजजी !' वे उस पागलके चरणोंपर गिर पड़े। लड़के भाग गये। अब पता लगा 'यह कोई अवधूत महात्मा हैं।' प्रणामके उत्तरमें उन्होंने हँसकर 'नारायण' कहा था।

पण्डितजीने गाँवमें चलनेका आग्रह किया, पर वह स्वीकार न हुआ। पासकी अमराईमें किसी प्रकार आज भर ठहरना महात्माजीने स्वीकार कर लिया। पण्डितजी तथा महात्माजीके साथ वह अमराईतक आया।

वह सोच रहा था—'अवश्य इनके जीवनमें शान्ति होनी चाहिये। अशान्तिके कोई लक्षण तो नहीं। मुख बच्चों-सा खिल रहा है, उसपर चिन्ताका नाम नहीं। शरीरपर पत्थर पड़ते थे, पर ये मस्त थे। पास कुछ है नहीं, जिसकी चिन्ता होगी। कितना सुखी जीवन है इनका ! तब शान्तिका मार्ग ये ठीक बता सकेंगे।'

वह आया और चुपचाप महात्माजीके चरणोंमें प्रणाम करके बैठ गया। 'नारायण!' महात्माजी पुनः उदासीन-से हो गये। वह देख रहा था कि उनपर बाह्य जगत्का प्रभाव पड़ता ही नहीं। वे किसी अनन्त शान्तिमें मग्न हैं। वह चुपचाप बैठा हुआ उन्हें बड़े ध्यानसे देख रहा था।

वे पण्डितजी आज्ञा लेकर गाँवमें चले गये महात्माजीके लिये प्रसाद लाने। एकान्तमें वह महात्माजीके चरणोंमें मस्तक रखकर फूट-फूटकर रोने लगा। महात्माजीने आश्वासन दिया। अपने सहज दयाभरे स्वरमें उसके दुःखका कारण पूछा।

उसने प्रारम्भसे सारा हाल बताया। यह भी बताया कि वह आज अपने जीवनसे निराश होकर आत्महत्या करने आया है। 'मैं अब इस जीवनसे ऊब गया हूँ। यदि मुझे शान्ति न मिल सकी तो और इस भारमय जीवनका भार-वहन मेरे लिये असम्भव है। सौभाग्यसे अकस्मात् आपके श्रीचरणोंकी प्राप्ति हो गयी है। जैसा चाहें वैसा करें।'

महात्माजी बड़े प्रेमसे बोले—'भाई! शान्ति कहीं बाहर थोड़े ही है? तुम उसे बाहर ढूँढ़ते फिरते हो, अतः वह तुम्हें नहीं मिलती। वह तो तुम्हारे अंदर ही है। उसे अपने अंदर क्यों नहीं ढूँढ़ते? एक बात है, बाहर और भीतर एक साथ नहीं ढूँढ़ा जा सकता। सन्देहकी स्थिति बड़ी भयङ्कर होती है। सन्देह मत करो, विश्वास करो कि वह बाहरके इन विषयोंमें सर्वथा नहीं, वह तुम्हारे भीतर है।

मनको ही तो अशान्ति है! वह जबतक बाहरके चञ्चल विषयोंमें आसक्त रहेगा, तबतक अशान्त होना ही ठहरा। पर वह दो कार्य एक साथ नहीं कर सकता। उसे या तो बाहर लगाओ या भीतर। यदि तुम्हें शान्ति अभीष्ट है तो बाह्य विषयोंको, संसारको और शरीरको भी भूल जाओ। मनको इन विषयोंकी ओर मत जाने दो। उसे लगाओ अनन्त और अखण्डरूपसे अपने भीतरकी महान् शान्तिमें। तुम्हें अनन्त शान्ति मिलेगी।'

'महाराज! यह हो कैसे? समझमें नहीं आता कि इस प्रकार मन बाहरसे कैसे हटे और भीतर कैसे लगे?' महात्माजीने उसे आश्वासन दिया, साधन बतलाया।

'कुछ दिन भगवान्‌की उपासना करनेके पश्चात् यह स्थिति स्वतः सुगम हो जायगी। अभी घर जाकर साधन करो।'

पण्डितजी लौट आये, उसने भी वहीं कुछ फल खा लिये। सन्ध्याको महात्माजीकी आज्ञासे घर लौट आया।

(३)

वह घर लौट आया था। किन्तु अब व्यापारमें मन नहीं लगता था। पूजा, पाठ आदि महात्माजीके बताये हुए साधनोंमें अधिक समय लगता था। मन प्रसन्न था, वह घबड़ाहट दूर हो गयी थी।

प्रकृति पलट गयी थी, पहलेकी सूदखोरी सर्वथा बंद हो गयी। 'बिना झूठ और धोखा-धड़ीके व्यापार नहीं चलता' यह बात भी समाप्त हो गयी। कुछ दिन घाटा रहा, पर अब नगरमें सबसे अधिक ग्राहक उसके यहाँ आते। उसपर लोगोंका विश्वास था।

वह मायासे दूर भागता था। कोषके बढ़ानेकी चिन्ता दूर हो चुकी थी। दीनोंको दान देनेके लिये हाथ खुले हुए थे। पर फिर भी माया पीछे दौड़ती थी। कोष स्वयं बढ़ रहा था। अनायास लाभ-ही-लाभ हो रहा था।

यह सब भी कुछ दिन चला। लोग कहते थे कि 'वह तो एक दिनमें ही बदल गया।' पर वह इस स्थितिमें भी नहीं रहना चाहता था। अब दूसरी धुन थी। एक क्षण भी इस व्यापारादिमें लगना अच्छा

नहीं लगता था। इच्छा नहीं होती थी कि अपने एकान्त कमरेसे दूकानपर भी बैठना पड़े।

कुछ सङ्ग-दोष भी तो होता ही है। अभी मानापमानमें मन आसक्त था। धनी होनेका गर्व भी गया नहीं। यह बात खटकती रहती थी। उसे एक ही मार्ग सूझता था, वह था अपने गुरुदेवके पथका अनुगमन।

'ऐसा ही सही।' एक दिन वह घरसे कहीं चला गया। लोगोंने सोचा सन्ध्यातक आ जायगा। सन्ध्याके बदले कई दिन बीत गये। अन्वेषण आरम्भ हुआ। एक दिन उसके भाईके नाम उसका एक पत्र आया।

'मेरा अन्वेषण मत करना। धन, कुटुम्ब और परिवार—सब तुम्हारा। मेरे लिये वह सब व्यर्थ है, मुझे शान्तिकी आवश्यकता थी। मुझे मेरी वस्तु मिल गयी। अब तुम अपनी सँभालो। मेरी चिन्ता व्यर्थ है।'

कौन मानता है, अन्वेषणमें कोई प्रयत्न छोड़ा नहीं गया। पता वैसे तो लगा नहीं, लग भी जाता तो क्या लाभ? वह कोई बच्चा तो था नहीं, जिसे पकड़ लाते। जो त्याग रहा हो, जा रहा हो, उसे देने या रोकनेमें कौन समर्थ है?

(४)

जाड़ेके दिन थे। माघके उस दिन प्रातः कुछ बूँदें पड़ रही थीं और हवा बड़ी तेज थी। उस दिन भला, किसका साहस कि सूर्योदयसे पहले बिछौना छोड़ सके। बाहर निकालते ही हाथ फटने लगते थे। कई बार उठनेकी सोची, पर साहस न हुआ।

पासमें जङ्गल था, अचानक ही पक्षी चिल्लाने लगे। 'इन शिकारियोंको ठंडक भी नहीं लगती!' मैं उन्हें यहाँ पक्षी फँसानेसे रोकनेके लिये उठा। उन्हें मना करके लौटा, थोड़ी लकड़ी चुनकर अग्नि प्रज्वलित करनी थी।

इस भीषण शीतमें गङ्गाजीकी हिम-शीतल बालुकापर, जब कि बूँदें पड़ रही थीं और वायुका वेग भी था, एक गौरवर्ण महात्मा केवल कौपीन लगाये पद्मासनसे ध्यानस्थ बैठे थे। मुझे आश्चर्य एवं श्रद्धा भी हुई। ऊपर अग्नि जलाकर उनके उठनेकी प्रतीक्षा करने लगा। नीचे जानेका साहस मुझमें तो था नहीं।

सूर्योदय हुआ, तनिक धूप भी चढ़ आयी। अपने राम भी अग्निकी उपासना कर रहे थे। महात्माजी उठे और ऊपर ही आने लगे। मैं उठकर खड़ा हो गया, प्रणाम किया। 'नारायण!' वे पास ही आ खड़े हुए।

उनके शरीरमें न तो कम्प था, न रोमाञ्च। शीतका उनपर कोई भी प्रभाव न था। शरीर सुगठित था, स्वस्थ था। चेहरेपर गम्भीर तेज था। मन्द मुसकानसे आनन्द बिखरा पड़ता था। ध्यानसे देखकर पहचाना 'ये तो अपने वही पूर्वपरिचित सेठजी हैं।'

बहुत आग्रह किया, पर वे ठहरे नहीं। गङ्गा-किनारे-किनारे गङ्गोत्रीसे आ रहे थे। आगे चले गये। वे तो चले गये, पर उनकी वह शान्ति, वह बालकों-सा बोलना, वह तेज—सब हृदयमें अपनी स्मृति छोड़ गये।

सत्सङ्गका इसीलिये तो शास्त्रोंमें इतना माहात्म्य है। यह कोई असम्भव बात नहीं हुई थी। असम्भव चाहे न हो, पर मेरे लिये कम आश्चर्यजनक भी न थी। उनमें इतना परिवर्तन सत्सङ्गसे! सत्सङ्ग भी साल, दो साल या महीने, दो महीनेका नहीं,—

एक दिनमें!!

नारी

(पाश्चात्त्य समाजमें और हिंदूसमाजमें)

[पूर्वप्रकाशितसे आगे]

(लेखक—श्रीचारुचन्द्र मित्र एटर्नी-एट्-लॉ)

पाश्चात्त्य देशोंमें व्यक्तिवादके सिद्धान्तपर परिवारका गठन होनेके कारण बहुतोंको आजीवन अविवाहित रहना पड़ता है, अनेकोंको बहुत समयतक अविवाहित जीवन बिताना पड़ता है। इँगलैंडमें कितने लोग अविवाहित रहते हैं, उनकी संख्याकी तालिका 'कल्याण' के तेरहवें वर्षकी ९वीं संख्यामें दी गयी है। इतने दीर्घ कालतक अविवाहित अवस्थामें रहनेपर बहुत ही कम लोग कामपर विजय प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु अविवाहित अवस्थामें कामोपभोगका फल बहुधा बहुत बुरा होता है। वेश्यागमन करनेपर यौन रोगोंका होना अनिवार्य हो जाता है। इनकी वृद्धि किस प्रकार हुई है तथा होनी अनिवार्य है, इसे 'कल्याण' की पिछली आठवीं संख्यामें दिखलाया गया है। इससे जातीय स्वास्थ्यकी कितनी हानि होती है, यह बात भी दिखलायी जा चुकी है। अन्य पुरुषके साथ सम्भोग करनेके फलस्वरूप बहुतेरी स्त्रियाँ गर्भवती हो जाती हैं। उन्हें अकेले जारज सन्तानका पालन करना पड़ता है, सन्तानका त्याग अथवा भ्रूणहत्या करनी पड़ती है। उस जारज या त्यक्त सन्तानके दुःख-कष्टोंका पार नहीं रहता। उनमें बहुत-से मर जाते हैं और स्त्रियोंकी अत्यन्त दुर्गति होती है। पाश्चात्त्य देश इस समस्याका समाधान नहीं कर सकते। काम-वासनाका दमन करते रहनेसे स्वास्थ्यकी हानि होती है। इसीलिये पाश्चात्त्य देशवासियोंने डाक्टरी विद्याकी सहायतासे सन्ततिनिरोध नामका एक नवीन उपाय खोज निकाला है। पाश्चात्त्य देशोंमें स्त्रियोंके अधिकार-का प्रसार करनेवाले लोगोंका एक दल स्त्रियोंको यह समझाता है कि नारी-जातिके कल्याणके लिये, उनके स्वत्व-प्रसारके लिये ही इस उपायको प्रकट किया गया है। अबतक स्त्रियों-के साथ घोर अत्याचार होता था, उनको एक ही पुरुषसे सन्तोष करना पड़ता था, उनको बेवकूफ बनाकर 'सती' बने रहनेका उपदेश दिया जाता था। परन्तु पुरुष लोग 'सत्'—एकपत्नीव्रती नहीं रहते थे।

अनेक सन्तानोंका पालन करनेमें उन्हें अत्यन्त कष्ट होता था, बहुत खर्च करना पड़ता था, उनका स्वास्थ्य बिगड़ जाता था। अब उन्हें अपत्यपालनसे मुक्ति मिल जानेके कारण उनके पास धनकी प्रचुरता रहेगी, वे नाना विषयोंका उपभोग कर सकेंगी, विवाहकी प्रतीक्षा करनेकी उन्हें कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। सन्तति-निरोध-प्रथाका प्रधान उद्देश्य ही अविवाहित अवस्थामें कामोपभोग करना है। परन्तु पाश्चात्त्य देशवासी जिस प्रकार सभी कर्म दूसरोंके कल्याणार्थ ही करने-की घोषणा करते हैं—दुर्बल जातियोंकी मङ्गल-कामनासे ही उनके ऊपर शासन करनेका गुरुतर भार महान् कष्ट स्वीकार करके भी ग्रहण कर लेते हैं—उसी प्रकार इस क्षेत्रमें भी सुन्दर सन्तान उत्पन्न करनेकी विद्याके नामसे मानव-जाति और विशेषतः स्त्रियोंकी मङ्गल-कामनासे सन्तति-निरोध-प्रथाका सर्वत्र प्रचार करते हैं।

अब विचार किया जाय कि किन-किन कारणोंसे सन्तति-निरोध-प्रथाका अवलम्बन करना उचित बतलाया जाता है। पहला कारण, जिसे सुन्दर सन्तान उत्पन्न करनेकी विद्या (Eugenics) जाननेवाले लोग बतलाते हैं, यह है। जिनसे सन्तानका स्वास्थ्य जीवनभरके लिये नष्ट हो जाता है तथा शारीरिक अथवा मानसिक व्याकुलता बनी रहती है, ऐसे अनेकों वंशपरम्परागत रोगोंसे पीड़ित पुरुषोंके तथा जो लोग खुल्लमखुल्ला घोर जनहिंसा करनेवाले हैं, उनके सन्तानो-त्पादनकार्यको बंद करनेके उद्देश्यसे ही इस प्रथाका अवलम्बन करना उचित है।

दूसरा कारण यह है कि जिन स्त्रियोंका स्वास्थ्य विशेष-रूपसे खराब हो गया है, तथा जिस अवस्थामें गर्भ रहनेपर उनका जीवन संशयापन्न हो जा सकता है, तथा सन्तानके भी मरने अथवा आजीवन स्वास्थ्यसे हाथ धो बैठनेकी आशङ्का है, उन स्त्रियोंको गर्भ-निरोध-प्रथाका अवलम्बन करना ठीक है।

तीसरा कारण यह है कि माता-पिताकी आर्थिक अवस्था खराब होनेपर सन्तानका सम्यक् प्रतिपालन नहीं हो सकता, अतएव ऐसी अवस्थाके पुरुषोंको इस प्रथाका अवलम्बन करना उचित है।

चौथा कारण यह है कि कुमारी और विधवा स्त्रियाँ कामोपभोग करनेसे विपत्तिमें फँस जाती हैं, उनके लिये भी इस प्रथाका अवलम्बन करना आवश्यक है।

अब उपर्युक्त कारणोंपर क्रमशः विचार कीजिये। डा० मेरी स्टोप्स, जो सन्तति-निरोध-प्रथाकी प्रधान प्रचारिका हैं, पुरुषों तथा स्त्रियोंके लिये निम्नलिखित अवस्थाओंमें आजीवन अथवा दो-चार वर्षतक गर्भ-निरोध-प्रथाका अवलम्बन करना आवश्यक बतलाती हैं—(क) उपदंशके रोगी (रोगकी संक्रामक-अवस्थामें), (ख) आजन्म दृष्टिहीन, (ग) बचपन

या क्षय-कासके रोगी, (घ) नवीन (acute) हृद्रोगी, (ङ) मूत्राशयके रोगसे ग्रस्त, (च) मृगीके रोगी, (छ) कुष्ठ और महाव्याधिके रोगसे पीड़ित, (ज) मधुमेह रोगसे ग्रस्त, (झ) विशेषरूपसे बुद्धिहीन (इन सबको सदाके लिये सन्तानोत्पादन-शक्तिसे हीन कर देना आवश्यक है), (ञ) गर्भकालमें या प्रसवके बाद उन्मत्तदशामें, (ट) अज्ञान-अवस्थामें, (ठ) जिस स्त्रीका रक्त नाना प्रकारके विषोंसे दूषित हो गया है अथवा जो गाढ़ निद्राकी अवस्थामें है, (ड) जिस स्त्रीका मेरुदण्ड या पेटके नीचेकी हड्डी टेढ़ी है, (ढ) जिस स्त्रीका एक वर्षके भीतर पेट चीरकर बच्चा बाहर निकाला गया है, (ण) अधिकरूपमें Albumenorrhoea रोगसे ग्रस्त।

थोड़ा-सा विचार करनेपर समझमें आ जायगा कि गर्भ-निरोध-प्रथाकी आवश्यकताका प्रचार करनेके उद्देश्यसे ही रोगोंकी तालिकाको लंबा बना दिया गया है। उपर्युक्त (ञ), (ट) और (ठ) वर्गके व्यक्ति किस प्रकार इस प्रथाका अवलम्बन कर सकते हैं, यह समझमें नहीं आता। पाश्चात्य देशमें क्या ऐसी अवस्थामें भी नारियोंके ऊपर अत्याचार किया जाता है? (ग), (घ), (ङ), (ज) और (ण) वर्गके रोगियोंके लिये कामोपभोग करना ही अनिष्टकर है तथा रोग-वृद्धिकारक है; उनके लिये संयम ही करना उचित है, उनमें बहुतेरे कामोपभोगमें अशक्त होते हैं। (ख) वर्गके लोग अधिकांशमें यौन-रोगग्रस्त माता-पिताकी सन्तान होते हैं; जहाँ वह रोग नहीं है, वहाँ दृष्टिहीन सन्तान उत्पन्न नहीं होती। (च) वर्गके रोगी (क) के ही अन्तर्गत आ जाते हैं। मैंने एक मृगी रोगसे पीड़ित पुरुषकी अनेक बलवान् और दीर्घायु सन्तान देखी हैं, वे बुद्धिहीन अथवा किसी प्रकार विकृतमस्तिष्क नहीं हैं। किसी-किसी प्रकारके मृगी रोगमें तो कामोपभोग करने और सन्तानोत्पादन करनेसे इस रोगका उपशम हो जाता है, यद्यपि अधिक स्थलोंमें ऐसा करना ठीक नहीं होता। (छ) सामान्यतः कामोन्मत्त अवस्थाओंमें भी अन्य उपाय न रहनेके कारण कदाचित् कोई कुष्ठ या महाव्याधि रोगसे ग्रस्त पुरुषके साथ सहवास करे, परन्तु ऐसी अवस्थामें गर्भ-निरोध-प्रथाका अवलम्बन करना प्रायः असम्भव होता है। अभी डाक्टरी विज्ञानमें यह भी स्वीकार नहीं किया गया है कि यह रोग पितासे पुत्रमें संक्रमित होता है।

मैंने एक महाव्याधिग्रस्त पुरुषकी सन्तानको बहुत समय-तक नीरोग अवस्थामें जीते देखा है। इस रोगसे ग्रस्त तथा (झ) और (ड) वर्गके लोग जिस प्रकार जीवनभरके लिये सन्तानोत्पादन-शक्तिसे हीन हो जायँ, इसकी व्यवस्था करना उचित है; परन्तु यह विशेष निपुण सरकारी डाक्टरोंके तत्त्वावधानमें होना ठीक है, जिस गर्भ-निरोध-प्रथाका सामान्यतः प्रचार किया जाता है उसके द्वारा नहीं। (झ) वर्गके लोग कभी स्वेच्छासे इस उपायका अवलम्बन नहीं करेंगे—कर भी नहीं सकते। (ञ) वर्गकी स्त्रियाँ तो २० लाखमें एक भी नहीं मिलेगी।

अतएव स्पष्ट हो गया कि यौन रोगोंके अतिरिक्त अन्य रोगोंसे पीड़ित लोगोंकी संख्या बहुत ही कम है, उनमेंसे अधिकांशके लिये कामोपभोग करना अत्यन्त ही अनिष्टकर है। और कितने ही इस प्रथाका अवलम्बन कर नहीं सकते, और कितनोंको सरकारके तत्त्वावधानमें रहना ही ठीक है।

अतएव इस प्रथाका बहुल प्रचार यौन-रोगग्रस्त लोगोंके कारण तथा तीसरे और चौथे कारणोंसे ही है।

बहुत लोगोंके बहुत समयतक अविवाहित रहनेके कारण ही यौन रोग अवश्यम्भावी हो जाता है, यह हम पहले दिखा चुके हैं। पाश्चात्य देशोंमें यह रोग बहुत फैल गया है। अब उसके विस्तार तथा उसके दुष्परिणामको कम करनेके उद्देश्यसे इस प्रथाका अवलम्बन करना आवश्यक हो गया है। परन्तु सन्तति-निरोधकी प्रथाका अवलम्बन करनेसे व्यभिचार बढ़ेगा और यौन-व्याधिकी भी वृद्धि होगी।

अब देखना चाहिये कि सन्तति-निरोधकारी उपाय किस प्रकारके हैं और उनका परिणाम क्या होता है। ये उपाय तीन प्रकारके होते हैं—(क) अस्त्र-प्रयोगके द्वारा गर्भाशयको कटवा डालना। यह उपाय सर्वसाधारणके लिये नहीं हो सकता, और ऐसा करना सहज-साध्य भी नहीं है। इसका व्यवहार सम्भवतः पूर्वोक्त (झ) और (ड) वर्गके रोगियों-के साथ किया जा सकता है; परन्तु इस प्रकारके अस्त्र-प्रयोग-के फलस्वरूपमें स्त्रियाँ प्रायः पुरुषभावापन्न हो जाती हैं, बहुतों-के मूँछ-दाढ़ी निकल आती है और पुरुषोंको आकर्षण करने-वाले गुण नष्ट हो जाते हैं, तथा अन्य कई रोग हो जाते हैं। अतएव इससे स्त्रियोंको कोई सुविधा नहीं होती। (ख) दूसरा उपाय यह है कि कोई ऐसा पतला व्यवधान रक्खा जाय, जिससे शुक्र गर्भाशयमें प्रवेश न कर सके। इस कृत्रिम उपाय (Mechanical means) के प्रयोगसे स्त्रियोंकी यौन-व्याधिका निवारण नहीं होता, यह उपाय प्रायः व्यर्थ हो जाता है। इससे तृप्ति नहीं होती तथा पुरुषोंके द्वारा भी इसका व्यवहार होनेसे वही परिणाम होता है। (ग) तीसरा उपाय है रासायनिक द्रव्योंके प्रयोगसे शुक्रके कीटाणुओंको नष्ट कर

देना । किसी-किसी रासायनिक द्रव्यके प्रयोगसे पुरुषोंकी कामविषयक प्रवृत्ति ही नष्ट हो जाती है।

तीसरे उपायके इन दोनों ही प्रकारोंसे स्त्रियोंको स्नायविक आघात (Nervous shock) भोगना पड़ता है, जिससे उन्हें बहुत-सी दुःसाध्य बीमारियाँ हो जाती हैं। रासायनिक द्रव्योंके व्यवहारसे बहुतेरी रजः-सङ्क्रान्त व्याधियाँ हो जाती हैं। अतएव ये सभी उपाय स्त्रियोंके स्वास्थ्यके लिये हानिकारक हैं। इस बातको प्रायः सभी डाक्टर स्वीकार करते हैं।

डा० फ्रांक कुक लंदन शहरके स्त्रीरोगोंके सर्वश्रेष्ठ अस्पताल Guy's Hospital के प्रधान चिकित्सक हैं। उन्होंने Lancet नामक प्रसिद्ध डाक्टरी पत्रिकामें लिखा है कि 'अबतक ऐसा कोई गर्भ-निरोधकारी उपाय आविष्कृत नहीं हुआ है, जो विश्वास करने योग्य हो और साथ ही स्वास्थ्यके लिये हानिकारक न हो। मानसिक दुर्बलतासे युक्त स्त्रियोंपर अस्त्र-प्रयोग करनेसे खतरेकी आशङ्का रहती है। यदि कोई विशेष कारण न हो तो किसी अच्छे डाक्टरको इस प्रकारका अस्त्र-प्रयोग करना उचित नहीं।' डा० फ्रेडरिक मैककैन 'लीग ऑव नेशनल लाइफ' के प्रेसीडेंट हैं। वे लिखते हैं कि 'संसारभरके चिकित्साशास्त्र, नीतिशास्त्र एवं समाजविज्ञानशास्त्रके प्रधान-प्रधान विद्वान् गर्भ-निरोध-प्रथाके विरोधी हैं।'* उन्होंने यह भी लिखा है कि योरपकी अन्य बड़ी जातियोंने, जिनको अँगरेजोंकी अपेक्षा इस प्रथाका अधिक अनुभव है, आजकल गर्भनिरोधके उपायोंके सम्बन्धमें प्रचार तथा तत्सम्बन्धी वस्तुओंकी बिक्री बन्द करनेके लिये और भी कठोर कानून बनाये हैं। इँगलैंडमें बच्चोंकी जन्म-संख्या क्रमशः घटती जा रही है और इसे लोग विपद्-जनक बतला रहे हैं। १९३१ ई०के प्रथम तीन महीनोंमें जन्मकी अपेक्षा मृत्युकी संख्या २३७८ अधिक हुई है, अर्थात् इँगलैंडमें इस प्रथाका अवलम्बन होनेसे जनसंख्या घटती जा रही है। वे कहते हैं—

हमने इस विषयमें सुदीर्घ कालके चिन्तन, अध्ययन और अनुभवसे समझा है कि इस प्रथाके अवलम्बनसे लोगोंकी शारीरिक और मानसिक हानि होना अनिवार्य है, और यह समाज तथा जातिके लिये अत्यन्त ही विपद्-जनक है।

* Contraceptive methods are contrary to the opinion and convictions of leading authorities of medical, moral and social sciences throughout the world.

मैंने प्रधान-प्रधान डाक्टरोंके मतोंको उद्धृत करके दिखलाया है कि यह प्रथा कितनी विपद्-जनक है। सैकड़े पीछे एक-आध मनुष्यके लिये सम्भवतः यह प्रयोजनीय हो सकती है। परन्तु जहाँ-जहाँ इसका प्रयोग आवश्यक है, वहाँ स्वेच्छासे कार्यतः इसका प्रयोग नहीं किया जाता, क्योंकि वे स्वयं इस प्रथाका अवलम्बन करती नहीं और न कर ही सकती हैं। अतएव इस प्रथाका जब अत्यन्त प्रचार हो रहा है, तब ज्ञात होता है कि चिकित्साशास्त्रका नाम केवल इसके यथार्थ उद्देश्यको छिपानेके लिये किया जाता है; इसका यथार्थ उद्देश्य तो यह है कि कुमारी और गरीब स्त्रियाँ कामोपभोग करते हुए विपद्-सागरमें न पड़ें।

अब तीसरे कारण (अर्थात् अर्थसम्पन्नता) के लिये इस प्रथाके अवलम्बनके परिणामपर विचार कीजिये। कामोपभोग करना और सन्तानोत्पादन करना जीवमात्रका जन्मसिद्ध अधिकार है। सभी जीव कामोपभोग और सन्तानोत्पादन करते हैं। जीव और यन्त्र (मशीन) का भेद इस सन्तानोत्पादन-शक्तिको लेकर ही है। इसलिये मनुष्य-समाजका गठन ऐसा होना चाहिये कि समस्त तरुण स्त्री-पुरुष इन दोनों जीवमात्रके जन्मसिद्ध अधिकारोंका उपभोग कर सकें, तथा उसके लिये घोर उत्पीड़नके शिकार न बनें, तथा जिस समाजमें जितने अधिक मनुष्य इन दोनों स्वत्वोंसे वञ्चित रहते हैं, वह समाज-गठन उतना ही अधिक दोषयुक्त है।

पाश्चात्त्य समाज चिरकालसे बलवान् और धनियोंके (पहले बड़े-बड़े जमीदार और पादरियोंके, अब जमीदार, धनी, व्यापारी और मध्यम श्रेणीके धनियोंके—जो निम्न-श्रेणीके लोगोंकी तुलनामें बड़े धनी और बलवान् हैं) प्रभाव-से ग्रस्त है। अतएव जिससे धनियों और बलवानोंको सुविधा हो, इसी बातको ध्यानमें रखकर कानूनोंकी रचना, शिक्षा, सामाजिक व्यवस्था तथा समस्त राजनीतिक कार्य किये जाते रहे हैं। अतएव समाजके निम्न स्तरके लोगोंकी अवस्था अत्यन्त शोचनीय रही है, उनका घोर उत्पीड़न होता रहा है। इसी कारण फ्रांसकी राज्यक्रान्ति हुई तथा निम्नश्रेणीके लोगोंकी अवस्था उन्नत हुई और फ्रांसीसी क्रान्तिकारियोंके द्वारा सर्वत्र साम्यवादका प्रचार हुआ। क्रमशः सर्वत्र ही इसका समर्थन किया गया। इस साम्यवादके प्रचारका परिणाम पाश्चात्त्य समाजके निम्नश्रेणीके लोगोंके लिये पहले कल्याणजनक हुआ। यह मतवाद पहले-पहल देखनेमें अत्यन्त न्यायसङ्गत जान पड़ता है, तथा निम्नश्रेणीके लोगोंके लिये मङ्गलजनक प्रतीत होता है। इसी कारण हमारा शिक्षित

समाज इस सिद्धान्तका पक्षपाती हो गया है, और इसीलिये हमारी जातिभेद-प्रथा तथा जातिगत व्यवसायको तथा स्त्रियोंसे अर्थोपार्जन-सम्बन्धी कार्य न करानेको दोषयुक्त समझता है। वह कहता है कि जातिभेदकी प्रथाको उठाये बिना देशकी उन्नतिकी कोई आशा नहीं है।

संसारमें सर्वत्र ही धनसम्बन्धी और प्रकृतिसम्बन्धी बड़ा वैषम्य पाया जाता है। इस प्रकारका वैषम्य होनेके कारण यह साम्यवाद यद्यपि पाश्चात्य देशोंके निम्नश्रेणीके लोगोंके लिये पहले बहुत कल्याणजनक हुआ; परन्तु क्रमशः पाश्चात्य समाजमें भी अब यह अत्यन्त अकल्याणकारक हो गया है, ऐसा देखा जाता है। इसी मतवादके कारण यह स्वीकार किया जाता है कि सब मनुष्योंको सब प्रकारके कर्म करनेका समान अधिकार है। अब इसके परिणामपर विचार कीजिये।

सब प्रकारके कर्म करनेका सबको समान अवसर प्राप्त होनेपर जिनके पास धन एवं धनोपार्जनके लिये उपयोगी (सत् या असत्) गुण हैं, उन्हींको सुविधा होती है। इस साम्यवादके प्रचारके ७०-८० वर्षोंके भीतर देखनेमें आया है कि धनोपार्जनके प्रकृष्ट उपायों—वाणिज्य-व्यवसाय, शिल्प, कृषि आदिमें अधिक धनसम्पन्न पुरुषोंको ही सुविधा मिलती है; वे ही उत्तरोत्तर अधिक धनी बनते जाते हैं। वे सारे व्यवसाय, वाणिज्य, शिल्प और क्रमशः कृषिकार्यको भी अपने अधिकारमें कर लेते हैं तथा अल्प धनवाले पुरुषोंको भी क्रमशः इन सभी क्षेत्रोंसे भगा देते हैं। परिणाम यह होता है कि गरीबोंको कोई अवसर ही नहीं मिलता। कभी-कभी कोई दरिद्र या अल्प धनवाले पुरुष छल, बल या कौशलसे किसी धनवान् या विशेष अनुकूल घटनाचक्रकी सहायतासे धनी हो जाता है, तब उसका यश चारों ओर फैलने लगता है—यह देखकर हम मुग्ध हो जाते हैं। ये सारे नये धनी दूसरे धनवानोंके साथ मिल जाते हैं, उनके साथ विवाहादि सम्बन्ध जोड़ लेते हैं, तथा अपने गरीब सम्बन्धियोंसे नाता तोड़ लेते हैं। गरीब सम्बन्धी उनके धनसे कोई विशेष सहायता नहीं प्राप्त करते। निम्नश्रेणीके निर्धनोंकी तुलनामें इन नये धनियोंकी संख्या कितनी नगण्य है, इस बातको देखनेसे यह स्पष्ट प्रमाणित हो जाता है कि सब प्रकारके कर्मोंको करनेका सबको समान अवसर प्रदान करनेपर निम्नश्रेणीके लोगोंको कोई वास्तविक सुविधा नहीं होती। धनवान् लोग ही क्रमशः सारे वाणिज्य-व्यवसाय, शिल्प और कृषिकार्यको अधिकांशमें अपने अधिकारमें कर लेते हैं और गरीब तथा कम धनवाले पुरुषोंको अपना आज्ञाकारी दास बना डालते हैं; दूसरोंकी गुलामी ही इन गरीबोंकी एकमात्र जीविका होती है। सब कामोंमें अबाध प्रतियोगिता होनेके कारण दासत्वके लिये प्रार्थना करनेवालोंकी संख्या बढ़नेपर धनियोंको ही लाभ होता है, दासोंके मेहनताने-की दर इतनी कम हो जाती है कि उससे भोजन-वस्त्र जुटना भी कठिन हो जाता है। गरीब और कम धनवाले पुरुष विवाह नहीं कर पाते, और बीच-बीचमें जब उन्हें नौकरी मिलनी भी कठिन हो जाती है, तब उनके कष्टोंकी सीमा नहीं रहती। अतएव यह साम्यवाद और अबाध प्रतियोगिता गरीब और कम धनवाले पुरुषोंको पीस डालती है और धनियोंकी ही सुविधाको बढ़ाती है।

इसी कारण पृथ्वीपर सबसे अधिक धनी देश अमेरिकाका युक्तप्रदेश है, जिसकी जनसंख्या प्रायः १० करोड़ ८० लाख है; वहाँ इस समय १ करोड़ २० लाख मनुष्य बेकार और निर्धन हैं। उन लोगोंको सरकारकी ओरसे सहायता देनी पड़ती है। इतने बेकार धनहीन लोगोंके अतिरिक्त कितने करोड़ आदमी धनियोंकी नौकरी करते हैं, यह भी विचारणीय है। धनकी अधिकताकी दृष्टिसे इँग्लैंडका इस समय संसारमें दूसरा स्थान है। वहाँ इस समय लगभग ४ करोड़ ४० लाख मनुष्योंमें ३० लाख निर्धन और कार्यक्षम होते हुए भी बेकार हैं। (आजकल युद्ध-सामग्री तैयार होनेके कारण बेकारोंकी संख्या केवल १५ लाख है) इनके अतिरिक्त कई लाख बूढ़े निर्धन हैं, उनकी सहायता भी सरकारको करनी पड़ती है। इसके अतिरिक्त इँग्लैंड पृथ्वीके अधिकांश भागपर अधिकार किये बैठा है। उन देशोंसे बहुत-से अंग्रेज नाना प्रकारके धंधोंसे प्रभूत धनोपार्जन करते हैं। इससे स्पष्ट समझमें आता है कि उपर्युक्त दोनों प्रधान धनसम्पन्न देशोंमें धनी लोग ही सारे व्यवसाय-वाणिज्य, शिल्प और कृषि आदिको अपने हाथमें किये हुए बैठे हैं, गरीबों तथा कम धनवाले मनुष्योंको इन सभी धनोपार्जनके उपायोंसे वञ्चित किये हुए हैं, और देशकी सारी सम्पत्तिपर अधिकार जमाये हुए हैं। अतएव एक ओर कुबेरको भी ललचानेवाली प्रचुर धन-सम्पत्ति थोड़े-से लोगोंके हाथोंमें आ गयी है और दूसरी ओर इतने अधिक लोग निर्धन और बेकार होकर भोजन-वस्त्रके लिये छटपटा रहे हैं, तथा कई करोड़ आदमी नौकरीसे अपना जीवननिर्वाह करते हैं अर्थात् अपने धनी मालिकोंके आज्ञाकारी दास हो रहे हैं। इन दासोंको (नौकरोंको) अपने मालिकोंकी सुविधा तथा प्रसन्नताके लिये सर्वदा अपनी सारी विद्या और बुद्धिका प्रयोग करना पड़ता है, अपनी सुविधाओं और प्रवृत्तियोंका बलिदान करना पड़ता है, बहुधा अपने धर्मका भी त्याग करना पड़ता है। अतएव सब मनुष्योंको सब प्रकारके काम करनेके लिये समान अवसर प्रदान करनेसे

समाजकी निम्नश्रेणीके लोगोंको—गरीबोंको कोई सुविधा नहीं होती, बल्कि वे ही पिसते हैं और इस प्रकार घोर वैषम्यकी ही प्रतिष्ठा होती है—यह स्पष्टतः प्रतीत होता है।

पुनः सब विषयोंमें अबाध प्रतियोगिता होनेके कारण धनियोंकी विलासितामें भी प्रतियोगिता होने लगती है, इसीसे समाजमें उनकी प्रतिष्ठा होती है। इससे लोग विलास-प्रिय होने लगते हैं, और विलासिताके इतने अभ्यस्त हो जाते हैं कि उसे देखकर समाजके निम्नश्रेणीके लोग भी बाह्याडम्बरप्रिय होने लगते हैं। थोड़ा-बहुत बाह्याडम्बर न होनेपर अर्थोपार्जनकी भी सुविधा नहीं होती। अतएव साधारण पुरुष भी अपनी आमदनीसे अधिक खर्च करने लगते हैं और फिजूलखर्ची उनकी आदत बन जाती है। विलासिता तथा प्रतियोगिताके कारण ही सब लोग—बड़े-बड़े धनी लोग भी—धनके मोहके चक्करमें पड़कर निरन्तर घूमते रहते हैं। धनके मोहमें घूमते-घूमते समय-समयपर उनमें आमोद और उत्तेजनाकी प्रवृत्ति होती है, अधिकांश लोगोंके हृदयकी सारी सद्वृत्तियाँ—सकाम प्रेमके अतिरिक्त अन्य सब प्रकारकी प्रवृत्तियाँ—प्रेम, दया-दाक्षिण्य, सहानुभूति प्रभृतिका ह्रास हो जाता है, और किसीके भी जीवनमें शान्ति, सन्तोष और तृप्ति नहीं रह जाती। अपने सामर्थ्यसे अधिक विलासितामें अभ्यस्त होनेके कारण और उसकी प्राप्तिके लिये उत्सुक होनेके कारण देशका जीवन खर्चीला हो जाता है, और गरीब तथा कम धनी पुरुष भी अर्थप्राप्तिके लोभमें ठगई और जालसाजी, चोरी-डकैती, हत्या आदिमें प्रवृत्त होते हैं, और सब प्रकारके दुराचारोंके घर बन जाते हैं। इसी कारण अमेरिकामें अल केपोन (Al Capone) के समान बुद्धिमान् और धनी दुराचारी और डाकूका जन्म होता है। केवल समाजमें इस प्रकारके दुराचार ही घर नहीं करते बल्कि सारा समाज अधिकाधिक आर्थिक उन्नतिके लिये दूसरी दुर्बल जातियोंको परास्त करके उनके धनको शोषण करनेकी प्रवृत्तिसे अनुप्राणित हो उठता है। इसके लिये कोटि-कोटि मनुष्य, प्रायः सभी बलवान् पुरुष लोकहत्या करनेवाले सैनिक कार्य तथा अस्त्र-शस्त्र-निर्माणमें लगाये जाते हैं—दुर्बल एवं कम धनवाली जातियोंको भी आत्मरक्षाके लिये ऐसा ही करना पड़ता है। इस प्रकारके युद्धकी तैयारीमें अनेकों करोड़ रुपये खर्च होते हैं, इसके लिये टैक्समें भी घोरतर वृद्धि हुई है। 'स्वाधीनता, साम्य और भ्रातृभाव' का झंडा खड़ा करनेके सवा सौ, डेढ़ सौ वर्षके भीतर जितने देशों और जितने कोटि-कोटिसंख्यक लोगोंकी स्वाधीनताका लोप इस 'स्वाधीनता, साम्य और भ्रातृभाव' के प्रचारक पाश्चात्य देशवासियोंने अर्थलोलुपताके कारण किया है—इसके लिये उनके जीवनको अत्यन्त दुःखमय बनाया है, अनेक बार उनके ऊपर घोर अमानुषिक अत्याचार किये हैं, सुसभ्य बेलजियम-देशवासियोंने दरिद्र और असभ्य कांगो देशवासियोंके ऊपर जैसा घोर अत्याचार किया था—वैसा संसारके इतिहासमें कहीं किसीने नहीं किया। साम्यप्रचारके फलस्वरूप उनके अपने ही देशोंमें जिस प्रकारका अवस्था-वैषम्य है—एक ओर कुछ लोगोंके पास कुबेरको भी ललचानेवाली सम्पत्ति और दूसरी ओर भोजन, वस्त्र और आश्रयसे हीन, प्रेमसे वञ्चित, असहाय, और भीषण दारिद्र्यकी मूर्त्तियाँ स्थापित कर रक्खी हैं—वैसा भी संसारके इतिहासमें कहीं नहीं देखा गया। उन देशोंमें दूसरोंके दिये हुए वेतनसे जीविका चलानेवाले नौकरीपेशा-लोग जितनी संख्यामें हैं, संसारमें उतने कहीं कभी नहीं थे। भ्रातृभावके प्रचारके फलस्वरूप जैसा द्वेषभाव इन्होंने प्रज्वलित किया है,—जिसकी सर्वनाशकारी ताण्डवलीला गत महायुद्धके समय प्रकाशमें आयी थी तथा पुनः उससे भी अधिक ध्वंसकारी युद्धकी जल्दी ही सम्भावना है, अन्तर्राष्ट्रीय-शान्ति-सभाको भी जिसके निवारणका कोई उपाय नहीं सूझ रहा है—उससे पाश्चात्य सभ्यताके ही विनाशकी आशङ्का है।

पाश्चात्य समाजने अपने अधीनवर्ती विदेशियोंकी स्वतन्त्रताका लोप कर केवल उनके जीवनको ही स्वातन्त्र्यहीन और कष्टप्रद नहीं बनाया है, बल्कि उसने अपने देशके लोगोंकी स्वाधीनताको भी नष्ट कर दिया है। प्राचीनकालमें अनेकों देशोंमें क्रीतदास (गुलाम) होते थे; आज उन्होंने उस दासत्व-प्रथाको उठा दिया है, इसका वे गर्व करते हैं। परन्तु इन क्रीतदासोंकी संख्या कितनी थोड़ी थी तथा उनका कार्य और जीवन किस प्रकारका होता था, तनिक उसकी ओर ध्यान दीजिये और आजकलके जबर्दस्ती बनाये जानेवाले सैनिकोंकी संख्या तथा उनके जीवनके साथ उसकी तुलना कीजिये—ये लोग कितने आज्ञावर्ती (परतन्त्र) होते हैं, आज्ञापालनमें होनेवाली सामान्य त्रुटिके लिये इन्हें किस प्रकारके कठोर दण्ड भोगने पड़ते हैं, युद्धकालमें इनका कार्य कितना भयानक कष्टदायक हो जाता है, इनके कर्म भी कितने अधिक बीभत्स होते हैं, जो लोग उनका कोई अनिष्ट नहीं करते उनकी भी हत्या करनी पड़ती है—इन सब बातोंपर ध्यान दीजिये। 'All quiet on the Western front' और 'All is not quiet on the Western front' आदि पुस्तकोंके पढ़नेसे ज्ञात होता है कि युद्धकालमें

सैनिकोंका—यहाँतक कि उन दूसरे लोगोंका जो युद्ध भी नहीं करते, किन्तु जो युद्धसम्बन्धी अन्य कार्य करते हैं—जीवन और कार्य कितना घोर कष्टप्रद, भयानक और बीभत्स होता है। प्राचीन कालमें किसी क्रीतदासको इतने कठोर, इतने असह्य और इतने बीभत्स काम नहीं करने पड़ते थे—उन्हें मरुदेशमें जाकर युद्ध करके मरना अथवा घायल होकर आँख-कान, हाथ-पैरसे हीन होकर आजीवन अकर्मण्य जीवन व्यतीत करना नहीं पड़ता था।

आत्मरक्षार्थ किये जानेवाले युद्धके सिवा प्रायः दूसरे सब प्रकारके युद्धोंमें धनी मालिकलोग ही लाभमें रहते हैं, उनकी भोगरूपी अग्निके लिये ईंधन इकट्ठा किया जाता है। गरीब सैनिकोंको प्रायः कोई लाभ नहीं होता, वे केवल, भयानक कष्ट सहते हुए मृत्युको प्राप्त होते हैं, अथवा अत्यन्त दुःखमय जीवन व्यतीत करते हैं। इन सैनिकोंमें अधिकांश अविवाहित होते हैं। अतएव जो लोग मरते हैं, अथवा जीवनभरके लिये हाथ-पैर, आँख-कानसे हीन होकर बच जाते हैं, युद्धमें विजय होनेपर वे या उनके वंशधर कभी कोई लाभ नहीं उठाते, न उठा सकते हैं। मरुदेशमें सैनिक भीषण कष्ट सहनकर मृत्युको प्राप्त होते हैं—उनकी माँ-बहनें रो-रोकर प्राण दे देती हैं; लेकिन धनी मालिक और उनके वंशधर वहाँके खनिज पदार्थों-तेल आदिको निकलवाकर अधिकाधिक धनी बनते हैं और घर बैठे विलासितामें डूबते-उतराते हैं।

इस साम्राज्यके लिये ही बहुत अधिक लोगोंको सैनिक और नाविकका कष्टमय जीवन स्वीकार करना पड़ता है—वे विवाह नहीं कर पाते, फलतः बहुतेरी स्त्रियोंका भी विवाह नहीं हो पाता, उन्हें कुमारी-जीवनके दुःख और हृदयकी शून्यता भोगनी पड़ती है। बहुत-से लोगोंको दूर विजित देशोंमें जाकर बसना पड़ता है—वे लोग भी बहुधा स्त्री-पुत्रादिके सान्निध्यके सुखसे वञ्चित रहते हैं—इससे दाम्पत्य प्रेममें शिथिलता आ जाती है, व्यभिचार बढ़ता है और विवाह-विच्छेदकी भी नौबत आ जाती है। हम पाश्चात्योंके जिस साम्राज्य और समृद्धिको देखकर मुग्ध होते हैं, वे अधिकांशमें निम्नश्रेणीके लोगोंकि, स्त्रियोंके और विजित देशमें रहनेवालोंके दुःखोंकी कीमत देकर प्राप्त हुए हैं। उनका सुख तो थोड़े-से धनीलोग भोगते हैं, जिसे देखकर दूसरोंकी भोगतृष्णा बढ़ती है और जीवनका सन्तोष और तृप्ति नष्ट होती है। अनेकों मनुष्योंको धनी प्रभुओंकी आज्ञाका पालन करते हुए मरनेके लिये तैयार करनेके हेतु पूर्वसे ही शिक्षा और समाचारपत्रोंकी सहायतासे अत्यन्त उग्र और उत्कट स्वदेशभक्ति और जातीयताका भाव (Nationalism) सारे पाश्चात्य देशोंमें जाग्रत किया गया है। आजकलके सभी राजनीतिक नेता समाचारपत्रोंकी सहायताकी इच्छा करते हैं और चाहते हैं कि वे उनका यशोगान करें। सभी बड़े-बड़े समाचारपत्रोंको प्रतिष्ठा प्राप्त करनेके लिये धनियोंसे धनकी सहायताकी आवश्यकता होती है। इसीलिये उनकी सहायता करनेवाले धनीलोग जो चाहते हैं, उसीके पक्षमें लिखनेके लिये वे बाध्य होते हैं। विरुद्ध मतावलम्बी समाचारपत्र प्रायः सभी विरुद्ध स्वार्थवाले धनियोंके मुखपत्र होते हैं। राजनीतिक नेताओंके चुनावके लिये समाचारपत्रोंकी सहायता आवश्यक होती है—धनियोंके धनकी सहायता आवश्यक होती है; अतएव अप्रत्यक्षरूपसे धनीलोग ही राजनीतिक नेताओं तथा समाचारपत्रोंका परिचालन करते हैं। इस प्रकार यह कहना ही पड़ेगा कि समाचारपत्रोंको स्वाधीनता नहीं होती। इस प्रकारके विकट जातीयभावके जाग्रत होनेके कारण यथार्थतः धार्मिक शासकको भी बहुधा बाध्य होकर विवेकके विरुद्ध कार्य करना पड़ता है। इसीलिये जनरल गॉर्डन (General Gordon)-जैसे महात्मा, धार्मिक, वीर पुरुष भी असभ्य सुडान-निवासियोंकी मशीनगनके द्वारा हत्या करनेसे नहीं हिचकते। विल्फ्रेड एस्. ब्लंटकी लिखी हुई 'Secret History of Occupation of Egypt' नामक पुस्तकको देखनेसे पाश्चात्य कूट राजनीतिके कारण कैसे-कैसे बीभत्स कार्य होते हैं, इसका कुछ आभास मिलता है। उपटन सिनक्लेर (Upton Sinclair) की 'Oil' नामक विख्यात पुस्तकमें भी इसका बहुत कुछ आभास मिलता है। इस विकट जातीयताके कारण कैसा भीषण अन्याय होता है, कितने युद्ध होते हैं और यह भाव कितना दोषपूर्ण है-इसे बहुतेरे लेखकोंने दिखलाया है। फिर इस प्रकारकी युद्धसामग्रीमें करोड़ों रुपये खर्च हो जाते हैं और समाजके निम्नश्रेणीके लोगोंकी सहायताके लिये धनियोंको करोड़ों रुपये टैक्स-रूपमें देने पड़ते हैं। समाजके निम्नश्रेणीके लोग धनियोंद्वारा

सब प्रकारके अर्थोपार्जनके उपायोंसे वञ्चित कर दिये जाते हैं। उनके लिये भोजन-वस्त्र जुटाना भी कठिन हो जाता है, इस कारण वे विवाह नहीं करते; यदि विवाह करते हैं तो सन्तान होनेपर उनकी भयानक दुर्दशा होती है। इससे पाश्चात्त्य समाज-गठनकी दोषपूर्णता प्रमाणित होती है। अब उन्हें समझा दिया जाता है कि सबको स्वावलम्बी होना आवश्यक है—जबतक स्त्री-पुत्रादिके पालनमें सम्यक् समर्थ न हो जाओ तबतक विवाह करना उचित नहीं है। सारे वाणिज्य, शिल्प और कृषिको हस्तगत करनेवाले धनियोंकी अत्यन्त विलासिताको देखते हुए इस 'सम्यक्' को नापनेका गज बड़ा होनेके कारण तथा इस प्रकारके सिद्धान्तके प्रचारके फलस्वरूप अत्यन्त धनशाली पाश्चात्त्य देशोंमें ही बहुत समयतक या आजीवन अविवाहित रहनेवाले बहुसंख्यक स्त्री-पुरुष देखनेमें आते हैं, जितने कि संसारमें कभी कहीं नहीं देखे गये।

परन्तु पुरुषोंने विवाह तो नहीं किया, किन्तु वे प्राकृतिक कामकी प्रबलतापर विजय नहीं पा सके। परिणाम यह हुआ कि बहुतेरी जारज सन्तान पैदा होने लगीं, उनके लिये धनियोंका बहुत रुपया खर्च होने लगा, भ्रूणहत्याकी संख्या भयानकरूपसे बढ़ने लगी, स्त्रियोंकी भी घोर दुर्गति होने लगी। इसीलिये उनके प्रति सहानुभूतिसे द्रवित होकर आज निर्धन और अल्प धनवाले पुरुषोंको सन्तति-निरोध-प्रथाका अवलम्बन कर कामोपभोग करनेका उपदेश दिया जाता है। परन्तु वस्तुतः यह कैसा भीषण और कठोर मज़ाक है, इसको कोई नहीं देखता। सबको समान अवसर देकर निम्नश्रेणीके लोगोंको पहले तो सभी अर्थोपार्जनसम्बन्धी कर्मोंसे वञ्चित कर दिया गया, धनियोंकी गुलामी ही उनकी एकमात्र आजीविका बन गयी है; और अब जीवनके अङ्गीभूत सन्तानोत्पादनको भी सन्तति-निरोध-प्रथाके द्वारा बंद कर उन्हें स्वयं ही निर्वंश हो जानेका उपदेश दिया जाता है! प्रकारान्तरसे उन्हें कहा जाता है कि तुम गरीब हो, तुम्हारे जीवनका कार्य ही धनियोंकी गुलामी करना है, तुम मशीनकी भाँति धनियोंके आराम और विलासके लिये आजीवन काम करते हुए मरो। खबरदार! सन्तान उत्पन्न करके धनियोंको उनकी सहायताके लिये तंग न करना; सन्तानके पालन करनेमें, उनकी सेवा और शुश्रूषामें जो सुख है तथा उनकी सेवा और प्रेम प्राप्त करनेमें जो तृप्ति है—जीवनके शेष भागमें बीमार होनेपर उनसे सेवा, आदर और सहायता पानेकी जो आशा और सुविधा है, उसका त्याग करो। ये सुख तुम्हारे लिये नहीं हैं, वे तो केवल धनी प्रभुओंके लिये हैं। तुम गरीब हो, हमारी इस उपदेशवाणीको शिरोधार्य कर स्वयं निर्वंश बन जाओ।

होनी तो चाहिये ऐसी चेष्टा कि जिससे निम्नश्रेणीके लोग, जो निर्धन एवं संसारके समस्त उपभोगोंसे वञ्चित हैं, कामोपभोग और सन्तानका पालन-पोषण कर सकें, वैसा करते हुए उन्हें भीषण कष्ट न भोगना पड़े, सन्तानका पालन करते हुए उनका संसारके तापसे शुष्क एवं सङ्कुचित हृदय विकसित एवं सरस रह सके [दुःखसे पीड़ित शुष्क और सङ्कुचित हृदय भी सन्तानके पालन-पोषणके द्वारा किस प्रकार सरस और विकसित हो जाता है, इसे जॉर्ज इलियट (George Eliot) ने अपने (Silas Marner) नामक ग्रन्थमें दिखलाया है]; किन्तु वैसा न कर विकट सहानुभूतिकी अधिकतासे जीवमात्रको ही उनके जन्मसिद्ध अधिकार—सन्तानके प्रतिपालन तथा उसके द्वारा प्राप्त सुख और सुविधासे वञ्चित करनेके लिये विशेष चेष्टा की जा रही है!

आर्य ऋषियोंने जिस समाज-विधानके द्वारा समाजकी प्रत्येक निम्नश्रेणीके लोगोंको—अत्यन्त असभ्य जातियोंको भी, समाजके एक-एक आवश्यक कर्मका एकाधिकार (Monopoly) देकर, जातिभेद करके और सबके लिये सम्मिलित परिवारकी प्रथाका प्रचार कर इनको सहस्रों वर्षोतक स्वामी अथवा स्त्री और सन्तानके साथ पारस्परिक प्रेम, सहायता, सेवा तथा सत्कारके द्वारा आनन्दमय, सन्तोषपूर्ण और निष्पाप जीवन व्यतीत करनेका अवसर प्रदान किया, जिसे देखकर अनेकों सुसभ्य लोगोंके दिलमें ईर्ष्या उत्पन्न होती है तथा ऐसी बात मनमें आती है कि इनके उद्वेगरहित आनन्दमय जीवनके साथ यदि विनिमय हो सके तो हमीं लोग जीतमें रहेंगे—उसी समाज-विधानको तोड़नेके लिये साम्यवादके मोहमें पड़े हुए हमारे सुधारक भाई कमर कसे हुए तैयार हैं! उन्हें नहीं सूझता कि इस समाज-विधानके कारण ही भारतके निम्नश्रेणीके लोग पाश्चात्त्य देशोंके निम्नश्रेणीके लोगोंकी अपेक्षा

अधिक उन्नत हैं, दरिद्रता इन्हें पशुत्वकी ओर नहीं ले जाती, इनकी स्त्रियोंको वेश्यावृत्तिका अवलम्बन कर यौन-व्याधिसे ग्रस्त होकर मरना नहीं पड़ता। इस बातको सभी मानते हैं और हमलोग सदा ही इसकी प्रशंसा करते हैं। जातिभेद-प्रथाके पूर्णतः नष्ट हो जानेपर, अबाध प्रतियोगिताके उपस्थित होनेपर इन असभ्य, बुद्धिहीन और निरक्षर जातियोंकी इस गरीब और पराधीन देशमें कैसी भयानक दुर्दशा होगी—इन्हें पूर्णतः निर्वंश होना पड़ेगा—यह भी समझनेकी हममें शक्ति नहीं है। हमलोग हिंदूसमाज-विधानकी निन्दा करके सुधारक और निम्नश्रेणीके लोगोंके बन्धु बनते हैं!

सन्तति-निरोधका उपदेश निर्धन और कम धनवाले पुरुषोंको देनेसे केवल मूर्ख और अकर्मण्य लोगोंपर वह लागू नहीं होता। क्योंकि अनेकों पण्डित, बुद्धिमान्, प्रतिभाशाली व्यक्ति भी धन कमाने और सञ्चय करनेमें यत्नशील नहीं होते, यह सबको ज्ञात है। सारे संसारके इतिहासमें देखा जाता है कि अधिकांश आविष्कारक, पण्डित, कर्मवीर, जगत्पूज्य और प्रतिभाशाली व्यक्ति गरीब या गरीब माता-पिताकी सन्तान होते हैं। अतएव इस प्रकारके निर्धन और कम धनवाले लोगोंको सन्तति-निरोध-प्रथाका अवलम्बन करके निर्वंश होनेका उपदेश देनेसे देशके प्रतिभावान्, कर्मवीर पण्डितोंकी संख्या निश्चयपूर्वक बहुत ही कम हो जायगी। फलतः इससे समाजकी अत्यन्त हानि होगी और क्रमशः इसका पतन अनिवार्य हो जायगा।

इस सन्तति-निरोध-प्रथाके प्रचारका फल यह होता है कि बुद्धिहीन और समाजके निम्नश्रेणीके लोग इसका अवलम्बन नहीं करते,—कर भी नहीं सकते; सामान्यतः बुद्धिमान् और मध्यमश्रेणीके लोग इसका अवलम्बन करते हैं—ये ही लोग अर्थाभावकी दुहाई देकर ऐसा करते हैं। क्योंकि धनकी प्रचुरता होनेपर—सबको सब प्रकारके काम करनेके लिये समान सुविधा और अबाध प्रतियोगिता होनेपर उन्हें कितनी अधिक सुविधा हो जायगी, इसे वे अच्छी तरह समझ गये हैं; वे विलासितामें कितने अभ्यस्त हैं, और अधिकाधिक भोग-विलासके लिये उत्सुक हो रहे हैं, अतएव अपनी अवस्थासे अत्यन्त असन्तुष्ट हैं। सभी समाजोंमें मध्यमश्रेणीके लोग ही समाजके मेरुदण्ड होते हैं; और इस प्रथाके प्रचलित होनेपर वे ही इसका अधिकाधिक संख्यामें अवलम्बन करने लगेंगे। फलतः उनकी संख्या बहुत कम हो जायगी। पाश्चात्त्य देशोंमें यही हो रहा है (हमारे देशमें भी वे ही लोग इस प्रथाका अवलम्बन कर रहे हैं) अतएव मध्यमश्रेणीकी सन्तानकी संख्या बहुत घटती जा रही है।

इसी कारण पाश्चात्त्य पण्डित विलियम मैक डॉगल (W. Mc. Doughal, F.R.S.) अपने 'National Welfare and National Decay' (जातीय क्षेम एवं जातीय ह्रास) नामक प्रसिद्ध पुस्तकमें लिखते हैं कि पाश्चात्त्य समाजमें उच्चश्रेणीकी जनसंख्या प्रत्येक पीढ़ीमें क्रमशः घटती जा रही है, यह सर्वसम्मत सत्य है; इसके प्रमाण भी काफी हैं। लियोटर्ड स्टॉडर्डने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'Revolt against Civilization' (सभ्यताके प्रति विद्रोह) में यही बात कही है और उन्होंने यह भी बतलाया है कि इस प्रथाके परिणामस्वरूप समाजके ध्वंस हो जानेका भय है। फ्रांसीसियोंने ही पहले-पहल इस प्रथाका अवलम्बन किया था और इसके कारण उनकी जनसंख्याकी वृद्धि बहुत दिनोंतक रुकी रही; अतएव वे जर्मनीसे सदा डरते रहते थे। तब उन्होंने इस प्रथाके दुष्परिणामको देखकर कानूनद्वारा गर्भ-निरोध-प्रथाके प्रचार और विज्ञापनको बंद कर दिया। इटली और जर्मनीमें भी यही हो रहा है। अत्यन्त धनवान् महाप्रतापशाली पाश्चात्त्य समाजमें जिस प्रथाके अवलम्बनका कुफल देखकर समाजके ध्वंसके भयसे पाश्चात्त्य विद्वान् भयभीत हो रहे हैं और फ्रांसीसी जिसका प्रचार बंद कर रहे हैं, उसी प्रथाको हमारे नवीन-सिद्धान्ती सुधारक इस गरीब और पराधीन देशमें देशोन्नति और स्त्रियोंकी उन्नतिके विचारसे प्रचार कर रहे हैं। सभी समाचारपत्रोंमें उसके सम्बन्धमें विज्ञापन प्रकाशित हो रहे हैं। मुसलमानोंकी संख्याकी जिस तेजीके साथ वृद्धि हो रही है, उससे हिंदू नेता सभी शङ्कित हो रहे हैं; परन्तु नवीन-सिद्धान्ती हिंदू सुधारक इस प्रथाका अवलम्बन करनेके लिये जो उपदेश दे रहे हैं उससे

हिंदुओंकी ही (क्योंकि मुसलमान इनके उपदेशको नहीं सुनते) संख्या और घटेगी, यह बात उनकी दृष्टिमें नहीं आती। नवीन-सिद्धान्तियोंके प्रायः सभी सुधार इसी प्रकारकी दूरदर्शिताके परिचायक हैं।

धनसम्बन्धी वैषम्यके रहते हुए सब कामोंमें सबको समान अवसर प्राप्त होनेपर और अबाध प्रतियोगिता रहनेपर सारे वाणिज्य-व्यवसाय, शिल्प और कृषिकर्म क्रमशः धनियोंके हाथमें चले जाते हैं, निम्नश्रेणीके गरीबोंकी अवस्था शोचनीय हो जाती है, वे पीसे जाते हैं—यह देखकर ही रूसने धनसम्बन्धी वैषम्यको एकदम हटाकर सारे धनियों और मध्यमश्रेणीवालोंका यानी सारे उच्चश्रेणीके लोगोंका सर्वस्व छीन लिया है, उन्हें मार डाला है या देश-निकाला दे दिया है। प्रसिद्ध अर्थनीतिविशारद कार्ल मार्क्स (Karl Marx) के मतानुयायियोंने सारे वाणिज्य-व्यवसाय, शिल्प एवं कृषितकको सरकारके अधीन कर दिया है। सभी देशोंमें उच्चश्रेणीके लोग ही विद्या-बुद्धिसम्पन्न और अधिक कार्यक्षम होते हैं, अतएव उनको मार डालना या देश-निकाला दे देनेका अर्थ देशके विद्या-बुद्धिसम्पन्न वर्गको नष्ट करना हुआ; उनके बिना देशका कोई कार्य भलीभाँति सम्पन्न नहीं हो सकता, विदेशसे शिल्पादिके शिक्षक बुलाना पड़ रहा है और देशके लोगोंकी स्वाधीनता एकदम लोप हो गयी है। लोग क्या खायँगे, कहाँ जाकर क्या काम करेंगे, कहाँ रहेंगे क्या पहनेंगे—इन सब बातोंका प्रबन्ध सरकारके हाथमें चला गया है। विचारोंको प्रकट करनेकी स्वतन्त्रता (Liberty of Speech) पूर्णतः लुप्त हो गयी है। फलतः 'स्वाधीन' रूसकी स्वाधीनताके नामपर लोगोंके दैनिक जीवनमें भी इतनी पराधीनता आ गयी है कि किसी स्वेच्छाचारी विदेशी राजाके राज्यमें भी वैसा स्वाधीनताका लोप, संसारके इतिहासमें, कभी कहीं नहीं हुआ। ऐसा करनेपर भी वहाँ धनसम्बन्धी वैषम्य उन्हें रखना पड़ रहा है, भिन्न-भिन्न कर्म करनेवालोंके पारिश्रमिककी दरमें भी तारतम्य करना पड़ रहा है; जिस प्रकारके साम्य-स्थापनके लिये कमर कसकर उन्होंने उच्चश्रेणीके लोगोंके साथ इतना अमानुषिक अत्याचार किया, सबकी सब प्रकारकी स्वाधीनताको नष्ट किया, वह साम्य भी स्थापित न हो सका। यह धनसम्बन्धी वैषम्य क्रमशः और भी बढ़ेगा, यह निश्चित है। क्योंकि रूसमें केवल अर्थनीतिविशारद, अतएव एकाङ्गी ज्ञान रखनेवाले कार्ल मार्क्स (Karl Marx) के विचारोंके अनुसार कार्य हो रहा है। केवल धनसम्बन्धी वैषम्यके दुष्परिणामकी ओर ही पाश्चात्य समाजमें सबकी दृष्टि लगी हुई है; प्राकृतिक वैषम्यके फलाफलके विषयमें उन्हें क्या करना चाहिये—इस ओर उनकी दृष्टि ही नहीं है। प्राकृतिक, विद्या-बुद्धिसम्बन्धी एवं कर्म-शक्तिसम्बन्धी वैषम्यके बने रहनेपर धनसम्बन्धी वैषम्य फिर हो जायगा। किसी शिक्षाके द्वारा धनोपार्जन तथा उसके रक्षणकी कुशलतामें साम्य-स्थापन नहीं हो सकता, यह बात उनके विचारमें नहीं आयी।

रूसके सिवा प्रायः सभी पाश्चात्य देशोंमें यद्यपि सब लोग देखते हैं कि धनसम्बन्धी वैषम्यके रहते सबको सब काम करनेका समान अवसर देनेमें तथा अबाध प्रतियोगिता रहनेसे धनियोंको ही विशेष सुविधा होती है—वे ही उत्तरोत्तर अधिक धनी होते जाते हैं, गरीब और कम धनवाले लोग पीसे जाते हैं; तथापि रूसकी तरह एकबारगी धनसम्बन्धी वैषम्यको हटाने और सारे व्यवसाय, वाणिज्य, कृषि और शिल्पको सरकारके अधीन करनेके लिये वे तैयार नहीं हैं।

परन्तु वे सभी धनसम्बन्धी वैषम्यके दुष्परिणामको कम करनेके लिये क्रमशः बड़े-बड़े शिल्प और वाणिज्यके कामोंको सरकारके अधीन करना चाहते हैं तथा पहले जिन शिल्प और व्यवसायोंके ऊपर अन्यान्य व्यवसाय और शिल्प निर्भर करते हैं (Nationalization of basic industries) उन्हें सरकारके अधीन करना चाहते हैं और धनियोंके ऊपर अत्यधिक मात्रामें आय-कर (Income-tax) और मृत्यु-कर (Death-duty) लगाकर धनसम्बन्धी वैषम्यके दुष्परिणामको कम करना चाहते हैं और इस प्रकारके करोंसे वसूल हुए रुपयोंको सर्वसाधारणकी सुविधा और सहायताके लिये अधिकाधिक खर्च करना चाहते हैं और करते हैं। बहुत-से कामोंमें मनुष्योंकी प्राथमिक उपयोगिता है या नहीं, इसका विचार करके ही उनको वह काम करने या सीखने दिया जाता है—यह बात भी अबाध प्रतियोगिता और सबको सब प्रकारके कर्म करनेकी समान सुविधा देनेके सिद्धान्तके विरुद्ध है।

सब कामोंके लिये सबको समान सुविधा देनेसे और अबाध प्रतियोगिता होनेसे श्रमिक (मजदूर) ही विशेषरूपसे पीसे जाते हैं, यह देखकर उन्होंने मजदूर-सङ्घ (Labour-Union) स्थापित कर पहले एक प्रकारसे जबर्दस्ती ही उस काममें अबाध प्रतियोगिताको बंद किया था। भिन्न-भिन्न कामोंमें जो मजदूर लगे हुए हैं, उन-उन कामोंको वे अपने कुछ नियम बनाकर दूसरे लोगोंको नहीं करने देते। इस प्रकारके नियमबद्ध मजदूर-सङ्घोंको सरकार सहज ही स्थापित नहीं होने देती। इन मजदूर-सङ्घोंको तोड़नेकी बहुत चेष्टा की गयी, और इन लोगोंको तरह-तरहकी सख्तियाँ झेलनी पड़ीं। आजकल प्रायः सभी विभिन्न श्रेणीके मजदूरोंने अपने पृथक्-पृथक् मजदूर-सङ्घ बना लिये हैं, इस प्रकारके सङ्घ बनाने और उनको नियमित करनेका अधिकार स्वीकृत हो गया है तथा वे सब एक होकर मजदूरोंकी मजदूरीकी दर बढ़ानेमें समर्थ हुए हैं, काम करनेके घंटे कम करवा रहे हैं, रहनेके लिये घर, दवा और शिक्षाके लिये भी धनियोंको प्रचुर धन खर्च करनेके लिये बाध्य कर रहे हैं। क्रमशः नाना प्रकारके व्यवसायियोंने व्यवसाय-सङ्घ भी बना लिये हैं। ऐसा करनेसे वे निम्नश्रेणीके लोगोंकी अवस्थामें बहुत कुछ उन्नति कर सके हैं।

अतएव देखनेमें आता है कि सबको सब प्रकारके कर्म करनेके लिये समान अवसर देनेसे तथा सब कामोंमें अबाध प्रतियोगिता होनेसे निम्नश्रेणीके लोगोंका कल्याण नहीं होता बल्कि उनकी बड़ी भारी हानि होती है। इस प्रकारके मजदूर-सङ्घ और व्यवसाय-सङ्घोंका स्थापन करनेसे इनके द्वारा सब कामोंमें अबाध प्रतियोगिताको बंदकर पाश्चात्त्य देशके निम्न-श्रेणीके लोगोंकी अवस्था बहुत कुछ सुधारी जा सकी है। अब यदि पाठक विचार करें तो देखेंगे कि ये मजदूर-सङ्घ और व्यवसाय-सङ्घ हमारे शूद्र और वैश्योंके जाति-विभागके ही समान हैं। इन सङ्घों और जातियोंमें प्रवेशाधिकार भिन्न है। हमारे यहाँका जाति-विभाग वंश-परम्पराके अनुसार है, और पाश्चात्त्य देशोंके मजदूर और व्यवसाय-सङ्घ ऐसे नहीं हैं। इसीसे यह बात समझमें आ सकती है कि जाति-विभागकी प्रथाके द्वारा निम्नश्रेणीके लोगोंपर अत्याचार नहीं हुआ है, बल्कि उसकी सृष्टि उनके कल्याणके लिये ही हुई है—ताकि उन सबको भोजन-वस्त्र मिल सके, और समाजके उच्च श्रेणीके लोग, जो सामान्यतः अधिक बुद्धिमान् और अर्थोपार्जनमें कुशल हैं, अर्थोपार्जनके सारे श्रेष्ठ उपायोंको अपने हाथमें करके उन्हें दास न बना सकें; ताकि वे अपनी सन्तानका पालन कर सकें, और सन्तानके साथ प्रेम करके एवं बदलेमें उनके प्रेम एवं सेवा-सत्कारको प्राप्तकर (जिससे कि पाश्चात्त्य देशोंके गरीब वञ्चित हैं) अपने जीवनको सुखी बना सकें। और भी यदि हम याद रक्खें कि अर्थोपार्जनके श्रेष्ठ उपाय वाणिज्य-व्यवसाय, कृषि-शिल्पादि समाजकी निम्नश्रेणीके लोगोंके लिये ही निर्दिष्ट थे, ब्राह्मण-क्षत्रिय इन्हें नहीं कर सकते थे, तो हमारी समझमें आ जायगा कि जातिभेदकी प्रथासे निम्नश्रेणीके लोगोंपर अत्याचार नहीं किया गया है, बल्कि उससे ब्राह्मणोंके असीम त्यागका पता चलता है।

हमारा जाति-विभाग वंश-परम्परासे है, पाश्चात्त्य देशोंके मजदूर और व्यवसाय-सङ्घ वैसे नहीं हैं। जाति-विभागके वंश-परम्परानुसारी होनेके कारण, और इसके भीतर ही विवाहका बन्धन होनेके कारण, तथा सम्मिलित परिवारकी प्रथाके कारण जातिके प्रत्येक मनुष्यकी—यहाँतक कि निर्धन और अनाथ बालक-बालिकाओंकी भी—आपत्कालमें प्रेमसे प्रेरित होकर सहायता करनेवाले अनेकों भाई-बन्धु होते हैं; यह बात पाश्चात्त्य देशोंके मजदूर या व्यवसाय-सङ्घोंमें नहीं है। अतएव जाति-विभाग मजदूर-सङ्घोंकी अपेक्षा निम्नश्रेणीके लोगोंके लिये अधिक कल्याणकारी है। दूसरी बात यह है कि जातिमें यदि कोई धनी आदमी है तो उसके धनका उपभोग उसी जातिके लोग करते हैं, पाश्चात्त्य देशोंकी तरह वे धनियोंके समाजमें नहीं मिल जाते। तीसरी बात यह है कि जातिगत व्यवसायसे उस जातिके ही आदमी धनी और मजदूर होते हैं; अतएव इनमें विरोध नहीं होता, मजदूर शोषित नहीं होते। मजदूरोंके प्रति धनियोंका व्यवहार सहानुभूतिपूर्ण होता है। चौथी बात यह है कि विवाहको अपनी जातिके भीतर ही नियमित कर देनेसे पुरुष और स्त्री दोनोंके जीवनका आदर्श और आशाएँ समान होती हैं, अतएव दाम्पत्यजीवन भी सुख और शान्तिमय होता है; अतएव यह बन्धन भी अत्यन्त कल्याणकारी है। पाँचवीं बात यह है कि वंशगतभावसे एक ही प्रकारका कर्म करनेसे लोग परम्परा (Heredity) तथा वातावरण (environment) की सहायता प्राप्तकर तत्तत्कर्मोपयोगी गुणोंका अधिक सङ्ग्रह कर पाते थे और इसी कारण भारतके श्रमिक (मजदूर) और व्यवसायी अधिक कार्यदक्ष हो सके थे और इस देशमें शिल्पकी इतनी उन्नति हुई थी। यह बात भी समाजके लिये विशेष कल्याणकर थी, अतएव हमारी जातिभेद-प्रथा पाश्चात्त्योंके मजदूर और व्यवसाय-सङ्घोंकी

अपेक्षा निम्नश्रेणीके लोगोंके, और समाजके लिये अधिक कल्याणप्रद थी। हम देख चुके हैं कि जबतक पाश्चात्य देशोंके मजदूर और व्यवसाय-सङ्घ—जो हमारे जाति-विभागके समान ही हैं—अबाध प्रतियोगिता और सबके लिये सब कार्मोंके करनेकी समान सुविधाके सिद्धान्तका निषेध नहीं करते, तबतक निम्नश्रेणीके लोगोंका भीषण शोषण होगा और इसीमें उनकी उन्नति समझी जायगी। अतएव जाति-भेदकी प्रथा और जातिगत कर्मका विधान निम्नश्रेणीके लोगोंके कल्याणके लिये ही हुआ था; इसी कारण हिंदूसमाजकी निम्नश्रेणीके असभ्य आदिमनिवासी भी इतने दिनोंतक सुख और शान्तिसे जीवन व्यतीत कर सके थे। वे विवाह कर पाते थे; उनको विवाह-विच्छेदकी आवश्यकता नहीं पड़ती थी; पति-पत्नी और सन्तान पारस्परिक प्रेम और सहायता प्राप्त करते थे; उन्हें भ्रूणहत्या नहीं करनी पड़ती थी, निर्वंश नहीं होना पड़ता था, जीवोंके जन्मसिद्ध अधिकार सन्तानोत्पादनको बंद नहीं करना पड़ता था; स्त्रियोंके प्रधान गुण मातृत्वका—जिसके लिये वे लालायित रहती हैं—निरोध कर केवल पुरुषोंके लिये उपभोग्यमात्र बने रहनेमें ही जीवनकी सार्थकता है—इस प्रकार उन्हें अपने मनको नहीं समझाना पड़ता था; जीवनके अन्तिम भागमें और अस्वस्थ दशामें सन्तानकी सेवा-सहायता और प्रेम प्राप्तकर वे इहलोकका सुखपूर्वक त्याग कर सकती थीं; निःशुल्क सेवासदनमें जाकर, और बहुधा उसे भी न पाकर उन्हें कभी अकेले निर्जनावस्थामें रोगकी यन्त्रणा सहते हुए रास्तेमें कुत्तेकी मौत नहीं मरना पड़ता था। इधर हमारे नवीन-सिद्धान्ती सुधारकोंने सभी विषयोंमें पाश्चात्योंके चरण-चिह्नोंका अनुसरण किये बिना हमारी उन्नतिकी कोई आशा नहीं है—यह निश्चय कर लिया है, और पाश्चात्योंके मौखिक साम्यवादके मोहमें पड़कर पाश्चात्योंद्वारा आविष्कृत मजदूर और व्यवसाय-सङ्घोंकी अपेक्षा समाजकी निम्नश्रेणीके लोगोंके लिये महान् कल्याणकारी हमारी जातिभेद-प्रथाको उन्होंने भिक्षाजीवी ब्राह्मणों एवं असभ्य ऋषियोंके द्वारा किया हुआ निम्नश्रेणीके लोगोंके प्रति अत्याचारका निदर्शन समझा है। उनका विचार है कि इस जातिभेदके नष्ट किये बिना उन्नतिकी कोई आशा नहीं; यही बात वे युवकोंको समझा रहे हैं और इस जातिभेदको तोड़नेके लिये वे कमर कसकर तैयार हैं। इस प्रकार वे देशकी उन्नति कर रहे हैं, निम्नश्रेणीके लोगोंके प्रति अधिक सहानुभूतिसम्पन्न बनकर गर्वसे छाती फुला रहे हैं! मुसलमान बहुत दिनोंतक देशके राजा थे, अधिक धनी भी वे ही थे, उनमें तो जातिभेद नहीं है; तो भी पिछले डेढ़ सौ वर्षोंमें उनकी अवस्था हिंदुओंकी अपेक्षा सभी बातोंमें—क्या धन, क्या शिल्प, क्या विद्या, सबमें गिरी है—यह देखकर भी उनकी पाश्चात्योंके मौखिक एवं प्रकृतिविरुद्ध साम्यवादके मोहमें अंधी हुई आँखें खुलती नहीं।

प्रार्थना

प्रभुजी मैं अरज करूँ छूँ,
मेरो बेड़ो लगाज्यो पार ॥ टेक ॥
इण भव में मैं दुख बहु पायो
संसा सोग निवार।
अष्ट करम की तलब लगी है
दूर करो दुख भार ॥ १ ॥
यो संसार सब बह्यो जात है
लख चौरासी री धार।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर
आवागमन निवार ॥ २ ॥

—मीराबाई

श्रीगङ्गाजी

[पूर्व प्रकाशितसे आगे]

(५)

गङ्गाद्वारसे गङ्गासागर

(लेखक—पं० श्रीदयाशङ्करजी दुबे, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०)

बंगालमें गङ्गा

भारतवासियोंके लिये गङ्गाजी ईश्वरकी एक सबसे बड़ी देन हैं। गीतामें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीने श्रीगङ्गाजीको 'स्रोतसामस्मि जाह्नवी' कहकर अपना अभिन्न स्वरूप बतलाया है। इससे तो गङ्गाजीकी अपूर्व महिमामें किञ्चिन्मात्र भी सन्देह नहीं रह जाता। श्रीरामचरितमानसमें गोस्वामी तुलसीदासजीने गङ्गाजीको 'नख निर्गता सुर बंदिता त्रैलोक्य पावनि सुरसरी' कहकर मानो गङ्गाजीकी व्यावहारिक महत्ता सिद्ध कर दी है। अस्तु, श्रीगङ्गाजीकी अखण्ड महत्ताके विषयमें इतने आप्त प्रमाण होते हुए भी उनके सम्बन्धमें कुछ विशेष चर्चा करना मानो सूर्यको दीपक दिखलाना है।

गत लेखमें श्रीगङ्गाजीके किनारेके दर्शनीय स्थानोंका वर्णन राजमहलतक किया जा चुका है। राजमहलसे श्रीगङ्गाजी बंगालप्रान्तमें प्रवेश करती हैं। इसलिये इस लेखमें बंगाल प्रान्तके श्रीगङ्गाजीके किनारेके कुछ दर्शनीय स्थानोंका संक्षिप्त वर्णन किया जाता है।

राजमहलकी पहाड़ियोंसे निकलकर गङ्गा बंगालमें प्रवेश करती हैं। बंगालमें प्रवेश करते ही गङ्गाकी रूप-रेखामें परिवर्तन आ जाते हैं। उसकी विशेषताएँ बदल जाती हैं। वास्तवमें बात यह है कि चार-पाँच हजार वर्ष पूर्व गङ्गा-सागर-सङ्गम राजमहलकी पहाड़ियोंके निकट ही होता था, उस समय पश्चिमी बंगालका कुछ भी अस्तित्व नहीं था। पूर्वी बंगालका प्रदेश अवश्य था। जहाँ आजकल कलकत्ता नगर है वहाँ कुछ पहाड़ियाँ थीं।

धीरे-धीरे गङ्गाकी लायी हुई मिट्टीके जमा होनेसे डेल्टा बनना आरम्भ हुआ। यहींसे इस प्रदेशके जन्मका इतिहास शुरू होता है। फिर भी ईसवी सन्की ७ वीं सदीतक खुलना, जैसोर, सुन्दरवन और कलकत्ता पूर्णरूपसे अस्तित्वमें नहीं आये थे।

कई प्रमाणोंसे सिद्ध होता है कि कलकत्तेके आसपासकी भूमि ७ वीं सदीके बादसे नदियोंके द्वारा लायी हुई मिट्टीसे बननी आरम्भ हुई। हिंदुओंके प्राचीन ग्रन्थ वराहमिहिर-रचित बृहत्संहितामें इस प्रदेशका नाम समतट (ज्वार-भाटेसे बना हुआ प्रदेश) लिखा है। अस्तु

वर्तमान ऐतिहासिक कालमें इस प्रदेशकी प्रदक्षिणाका वृत्तान्त रेनल साहबने सन् १७९० के लगभग प्रकाशित किया था। यहाँका क्रमबद्ध विवरण हमें सर्वप्रथम उसीसे मिलता है। रेनल साहबके समयमें गङ्गाजी राजमहलके बाद उस मार्गसे होकर समुद्रमें गिरती थीं, जहाँ आजकल छोटी भागीरथी नदी रह गयी है। गङ्गाजीके तटपर निम्नलिखित नगरोंका वर्णन रेनल साहबने किया है—

गौड़ या लखनौती—यह बंगालकी प्राचीन राजधानी है। यह राजमहलसे २५ मील नीचे है। मुगल सम्राट् अकबरने इसका जीर्णोद्धार तथा पुनर्निर्माण किया था।

टाँडा—सन् १५४० के लगभग शेरशाहके शासनकालमें यह बंगालकी राजधानी थी।

सतगाँव—अब यह सरस्वतीके तटपर एक छोटा-सा ग्राम है। १५६६ के लगभग यह एक व्यापारिक नगर था।

बेंगाला—इस नामका एक नगर गङ्गाके पूर्वी मुहानेपर होना लिखा है। अब वह बादमें लीन हो गया मालूम होता है।

आजकल गङ्गाके इस मार्गको छोड़ देनेके कारण उपर्युक्त सब स्थान अब गङ्गातटसे दूर पड़ते हैं। आज गङ्गा ताँतीपुरके कुछ आगे वर्तमान भागीरथीके मार्गसे होकर बहती हैं, किन्तु यह एक छोटी धारा है। बड़ी मुख्य धारा जो छापघाटीसे अलग हो गयी है, पद्माके नामसे प्रसिद्ध है। वह पूर्वी बंगालकी ओर जाती है। परन्तु

बंगालीलोग भागीरथीको ही पवित्र नदी मानते हैं। पूर्व बंगालके निवासी नावोंद्वारा भागीरथीके मुहानेसे गङ्गाजल मँगाते हैं।

राजमहलके बाद अनेक ग्रामोंको पवित्र करती हुई श्रीगङ्गाजी करीब २५ मीलपर छापघाटी स्थानपर पहुँचती हैं। इस स्थानपर श्रीगङ्गाजी दो धाराओंमें बँट जाती हैं। बड़ी धारा पद्माके नामसे प्रसिद्ध है, जो दक्षिण-पूर्वको बहती हुई बंगालकी खाड़ीमें गिरती है। दूसरी छोटी शाखा भागीरथीके नामसे अभिहित होती है और यह सीधे दक्षिणको बहती हुई गङ्गासागरतक जाती है। यद्यपि *भागीरथी नामकी छोटी धारामें आजकल प्रायः कम जल* रहता है, तथापि यह मानना पड़ेगा कि भागीरथीके तटपर ही बंगालके मुख्य तीर्थ और नगर हैं—जैसे महेश, काली, त्रिवेणी आदि तथा कलकत्ता, श्रीरामपुर, कासिमबाजार, अजीमगंज आदि।

प्राचीन कालमें यह भागीरथी दूसरी धारा (पद्मा) के समान ही चौड़ी तथा गम्भीर थीं; क्योंकि उस समय जब कि गङ्गाका अधिक जल पद्माके ही मार्गसे बहने लगा तो मुर्शिदाबादके नवाबोंने भागीरथीकी क्रमिक क्षीणता देखकर तथा उससे अपना नुकसान देखकर छापघाटीपर, जहाँसे गङ्गाका एक स्रोत भागीरथीकी राह जाता था, ताँबेकी एक मोटी चिकनी विशाल चद्दर बिछवा दी थी, ताकि मुहानेकी तहपर बालू तथा मिट्टी जमा होकर जलका प्रवाह बंद न कर दे। इस कारण नवाबी अमलदारीमें भागीरथीका प्रवाह घटने नहीं पाया था और धारा यथासम्भव मोटी तथा प्रबल थी।

वह ताँबेकी चद्दर मूल्यवान् थी। अंग्रेजी अमलदारीमें वह हटा ली गयी। परिणाम यह हुआ कि छापघाटीपर बहुत बालू तथा मिट्टी जम गयी और जलप्रवाह भागीरथीमें कम हो गया। अस्तु

इस प्रकार भागीरथीजी मुर्शिदाबाद, कटवा, नवद्वीप, त्रिवेणी, हुगली, चिंचुड़ा, चन्द्रनगर, श्रीरामपुर होते हुए कलकत्ता पहुँचती हैं और फिर सीधी दक्षिणकी ओर बहती हुई बंगालकी खाड़ीमें आ गिरती हैं। अब उपर्युक्त स्थानोंका एक-एक करके आगे दिग्दर्शन कराया जाता है।

छापघाटीसे लगभग १० मील दक्षिणमें जंगीपुर भागीरथीके बायें तटपर स्थित है। इसका स्टेशन जंगीपुर-रोड है, जो उसके दूसरे किनारेपर स्थित है।

जंगीपुरसे २१ मील दक्षिणमें मुर्शिदाबाद नगर है। यह *नगर भागीरथीके दाहिने तटपर स्थित है। भविष्यपुराण* (१६ वीं शताब्दी) के ब्रह्मानन्द भागमें लिखा है कि मोरादाबाद-को एक यवनने स्थापित किया था। १७०१ ई० में मुर्शिदकुलीखाँने इसका नाम मुर्शिदाबाद रक्खा और तबसे यह बंगालकी राजधानी हो गया। यहीं ईस्ट इंडियन रेलवे-का प्रसिद्ध स्टेशन है तथा कोयलेके व्यापारका केन्द्र है। पलासी युद्धके बाद क्लाइवने लिखा है कि मुर्शिदाबादका *नगर लंदनके समान ही विस्तृत तथा धनाढ्य और घना* बसा हुआ है। हाथी-दाँतपर नक्काशीका काम यहाँ बहुत समयसे अच्छा होता आया है। यहाँके अन्य धंधे सोने-चाँदीके तारोंका काम तथा सङ्गीतके वाद्य और रेशमके कपड़े बनाना हैं।

यहाँसे ६ मील आगे कासिमबाजार नामका प्रसिद्ध व्यापारिक नगर भागीरथीके बायें तटपर स्थित था। अब भागीरथी यहाँसे पश्चिमको हट गयी हैं। यहाँ भी ई० आई० आर० का प्रसिद्ध स्टेशन है। यहाँ एक प्राचीन शिवालय है और एक जैन-मन्दिर नेमिनाथके नामसे प्रसिद्ध है।

यहाँसे २२ मील दक्षिण पलासी नामक प्रसिद्ध ऐतिहासिक ग्राम भागीरथीके बायें तटपर स्थित है। यहींपर मुर्शिदाबाद जिलेका अन्त होता है। पलासी भी ई० आई० आर० का स्टेशन है। यहाँपर लार्ड क्लाइवसे मुगल बादशाहोंका युद्ध हुआ था।

यहाँसे भागीरथी टेढ़ी-मेढ़ी बहती हुई १२ मील दक्षिण-की ओर जाकर कटवा नामक स्थानपर पहुँचती हैं। यह दाहिने तटपर स्थित है। यह भी ई० आई० आर० का स्टेशन है तथा पक्की सड़कें यहाँसे अन्यान्य स्थानोंको गयी हैं। यह बर्दवान जिलेमें पड़ता है, यह वैष्णवोंका तीर्थस्थान है। महाप्रभु श्रीचैतन्यदेवने यहींपर संन्यास ग्रहण किया था।

कटवासे ८ मील आगे अग्रदीप नामक स्थान पड़ता है। यह एक तीर्थ है। यहाँ गोपीनाथजीका मन्दिर है, जिनके दर्शनके लिये अप्रैलमें लगभग १० सहस्र यात्री इकट्ठे होते हैं।

कटवासे भागीरथीकी धारा दक्षिण-पूर्वको मुड़ती है

और २५ मील आगे जाकर नवद्वीपमें पहुँचती है। यह भागीरथीके दाहिने तटपर स्थित है और ई० आई० आर० का स्टेशन है। कटवासे बालागढ़ जानेवाली कच्ची सड़क यहींसे गुजरती है। यहींपर जालंगी नदी मिलती है और यहींसे भागीरथीका नाम हुगली पड़ जाता है। आगे वह इसी नामसे सम्बोधित की जाती है। इसी जालंगी नदीके बायें तटपर कृष्णनगर नामक एक स्थान है, जो कोयले-की खानके लिये प्रसिद्ध है। प्राचीन कालमें नवद्वीप एक समृद्ध नगर था, किन्तु भागीरथीके बार-बार स्थान-परिवर्तन करनेके कारण उसके प्राचीन गौरव-चिह्न भागीरथीमें अन्तर्लीन हो गये हैं। यह चैतन्यमहाप्रभुका जन्म-स्थान है।

वर्तमान नवद्वीप संस्कृत-शिक्षाके लिये अब भी प्रसिद्ध है। इस स्थानकी मुख्य विशेषता यहाँके विद्यालय हैं, जिनमें स्मृति और न्यायशास्त्र पढ़ाये जाते हैं। पहले यहाँके पञ्चाङ्ग प्रसिद्ध थे।

नवद्वीपसे १० मील आगे शान्तिपुर नामक एक सुन्दर स्थान है। यह भागीरथीके बायें तटपर स्थित है। १५ वीं शताब्दी-में यहाँपर अद्वैताचार्य पैदा हुए थे जो विष्णु और शिवके संयुक्त अवतार माने जाते हैं। तबसे यह स्थान बहुत पवित्र माना जाता है।

कुछ समय पूर्व यहाँकी मलमल यूरोपतकमें विख्यात थी। यहाँके तीन सबसे प्रसिद्ध मन्दिर हैं—श्यामचन्द्रका, गोकुलचन्द्रका और जलेश्वरका।

शान्तिपुरके सामने भागीरथीके दाहिने तटपर कलना नामक बर्दवान जिलेका एक प्रसिद्ध ग्राम है। प्राचीन कालमें यहाँ एक सुदृढ़ किला था, जिसका भग्नावशेष आंशिक रूपमें अभीतक विद्यमान है। महाराज बर्दवानका एक महल भी यहाँ है। यहाँ एक सौ नौ शिवालय हैं, जिनकी श्रेणीबद्ध रचना गोलाकार हुई है। बाहरी गोलेमें ६६ मन्दिर हैं, जिनकी रचना एक काले लिङ्गके बाद एक सफेद लिङ्ग रखकर हुई है। भीतरवाले गोलेमें ४२ लिङ्ग हैं, जिनमें एक श्वेत लिङ्ग भी है।

शान्तिपुरसे करीब १२ मील दक्षिणमें बालागढ़ नामक एक स्थान भागीरथीके दाहिने तटपर स्थित है। यह ई० आई० आर० का स्टेशन है।

बालागढ़से १० मील दक्षिण भागीरथीके दाहिने तटपर त्रिवेणी नामक एक प्राचीन स्थान है। इसका प्राचीन नाम मुक्तवेणी था। यहाँपर भागीरथीकी तीन धारायें हो जाती हैं—एक भागीरथी (हुगली), जो कि दक्षिण-को कलकत्ता होती हुई गङ्गासागरको जाती है; दूसरी सरस्वती, जो हुगली तथा हवड़ा जिलोंके भीतर होकर दक्षिणकी ओर बहती है और सतग्राम होती हुई फिर सँकराइल नामक स्थानपर गङ्गा (भागीरथी) से जा मिलती है, तीसरी यमुना, जो त्रिवेणीके सामने ही पूर्वी किनारेसे निकलकर पूर्वकी ओर प्रवाहित होती है और इच्छामतीके नामसे परिज्ञात होती है।

जैसे प्रयागमें गङ्गा, यमुना और सरस्वतीका सङ्गम होनेके कारण उस स्थानको त्रिवेणी कहते हैं, वैसे ही भागीरथीसे यमुना तथा सरस्वतीके निकलनेके कारण इन तीनोंके वियुक्त होनेके स्थानको भी त्रिवेणी कहते हैं। प्रयाग-का मिलन-स्थान युक्त त्रिवेणी और भागीरथीपरके वियोग-के स्थानको मुक्त त्रिवेणी कहते हैं। अस्तु

इन तीन धाराओंके सङ्गमका वर्णन पवनदूत नामक संस्कृत-काव्य-ग्रन्थमें भी आया है। प्राचीन कालमें यहाँ बहुत-सी संस्कृत पाठशालाएँ थीं। सर विलियम जोन्सके शिक्षक पं० जगन्नाथ तर्कपञ्चानन (जिन्होंने धर्म-शास्त्रपर एक ग्रन्थ रचा था) यहींके प्रसिद्ध विद्वान् थे। यहाँपर हिंदुओंके गौरवके अब कुछ थोड़े-से ही चिह्न बच रहे हैं। त्रिवेणीपर कुछ महत्त्वपूर्ण मेले लगते हैं। ये दशहरा, संक्रान्ति और ग्रहणके अवसरपर होते हैं।

त्रिवेणीसे हुगली नगर ५ मील दक्षिणकी ओर है। ग्रांड ट्रंक रोड यहाँसे होकर जाती है। ई० आई० आर० के यहाँ तीन स्टेशन हैं—चिन्सुरा, हुगली और बंडेल जंक्शन। हुगली कालेजसे आध मीलपर षांडेश्वरका मन्दिर है।

हुगली नगरके सामने ही दाहिने तटपर गरीफा नाम-का एक छोटा ग्राम है। यह ब्राह्मसमाजके जन्मदाता श्रीकेशवचन्द्रसेन (१८३८ ई०) का जन्म-स्थान है।

हुगली नगरसे लगभग १ मील दक्षिणकी ओर

भागीरथीके दाहिने तटपर चन्द्रनगर नामका प्रसिद्ध नगर है। यह नगर फ्रेंच सरकारके अधीन है।

चन्द्रनगरसे ५ मील आगे हुगली नदीके दाहिने तटपर श्यामनगर नामक एक ग्राम है। यहाँ ई० बी० एस० रेलवेका एक स्टेशन है। स्टेशनके कुछ पूर्व एक मिट्टीके किलेके भग्नावशेष हैं, जिसके चारों ओर खाई है।

चन्द्रनगरसे ६ मील दक्षिण हुगलीके बायें तटपर बैरकपुर नामक एक स्थान है। ऐतिहासिक दृष्टिसे यह बंगाली सेनाके दो विद्रोहोंका स्थान है। झूलनका मेला यहाँ ६ दिनतक रहता है।

बैरकपुरसे २ मील दक्षिणकी ओर बायें तटपर टीटागढ़ नामका एक प्रसिद्ध औद्योगिक केन्द्रस्थान है। यहाँ जूट-की मिलें और कागजका प्रसिद्ध कारखाना है।

टीटागढ़के २ मील आगे खड़दह नामक स्थान है। श्रीचैतन्यमहाप्रभुके मुख्य शिष्य नित्यानन्द यहाँ कुछ समय रहे थे। यहाँ ३ मन्दिर हैं—खड़दहमें श्यामसुन्दरजीका, बल्लभपुरमें राधावल्लभजीका और शाहीवारामें नन्ददुलारे-जीका।

टीटागढ़के सामने हुगली नदीके दूसरे (दाहिने) तटपर श्रीरामपुर नामक एक नगर है। यह हुगली और हवड़ा नगरोंसे समान दूरीपर स्थित है। ग्रांड ट्रंक रोड यहाँसे होकर जाती है।

बल्लभपुर राधावल्लभजीके मन्दिर और रथयात्राके लिये प्रसिद्ध है। नदी-तटपर इसके दक्षिण ओर महेश है। और उससे भी दक्षिणमें रिशरा है। महेशमें जगन्नाथजीका मन्दिर है। यहाँ रथयात्रा धूमधामसे मनायी जाती है। पुरीके बाद रथयात्राकी धूमधाम यहींपर अधिक होती है।

श्रीरामपुरसे ६ मील दक्षिण हुगलीके दायें तटपर एक छोटा-सा उत्तरपाड़ा नामक नगर स्थित है। यहाँ एक पुस्तकालय है, जिसमें भारतकी प्राचीन पुस्तकें संगृहीत हैं। १९वीं शताब्दीके पूर्वार्द्धमें प्रचलित हरकारू समाचारपत्रका पुस्तकालय भी इसीमें सम्मिलित है।

उत्तरपाड़ासे ६ मील आगे हुगलीके दक्षिण तटपर हवड़ा नामक भारत-प्रसिद्ध नगर है। यहाँ हुगलीपर बना हुआ प्रसिद्ध पुल है। इसके बनानेमें विशेष कारीगरी दिखलायी गयी है, क्योंकि जहाज आनेके समय पुल बीचसे हटा भी दिया जाता है। जहाजके चले जानेपर फिर जोड़ दिया जाता है।

हवड़ा नगरका एक मुख्य स्थान शिवपुर है। यहाँपर रायल बोटैनिकल गार्डेन और सिविल इंजीनियरिंग कालेज हैं।

शालीमार भी हवड़ा जिलेका ही एक अङ्ग है। यहाँपर रस्से बनानेके कारखाने और बंगाल नागपुर रेलवेका गोदाम है।

हवड़ा पुलके दूसरी तरफ हुगली नदीके बायें तटपर जगद्विख्यात कलकत्ता नगर स्थित है। यह जनसंख्याकी दृष्टिसे भारतवर्षमें सर्वप्रथम तथा संसारभरमें १२वाँ नगर है। यह नगर ऐसे स्थानपर स्थित है कि यहाँ स्थल और जल दोनों मार्गोंसे व्यापारिक सुविधा है। यहाँपर कालीजीका मन्दिर है, जिसकी भारतवर्षभरमें प्रसिद्धि है।

कलकत्तेकी समृद्धि आजकल दिन-दूनी रात-चौगुनी होती जा रही है। यूरोप आदि देशोंसे भारतवर्षका जो सामुद्रिक व्यापारका सम्बन्ध है, वह बहुत अंशोंमें कलकत्ते-जैसे प्रसिद्ध (प्राकृतिक) बंदरगाहके माध्यम द्वारा ही है। यहाँके म्यूजियम (अजायबघर), चिड़ियाखाना, टकसालघर आदि दर्शनीय स्थान हैं। म्यूजियममें एक-एक अपूर्व वस्तुका संग्रह किया गया है। चिड़ियाघरमें, जो कि संसारभरमें प्रसिद्ध है, तरह-तरहके जंगली साँप, चिड़ियाएँ, पहाड़ी जीव, सिंह, बाघ, रीछ आदि रक्खे गये हैं। यहाँपर हर तरहके कारखाने हैं।

कलकत्तेसे भागीरथी (हुगली) की एक धारा कालीघाट होती हुई जयनगरसे और आगे जाती थी। अब यह सूख गयी है। अंग्रेजोंके शुभागमनके पहले इसमें काफी जल बहता था। परन्तु अब स्थान-स्थानपर केवल कुछ झीलें-सी अवश्य बन गयी हैं। इन्हें आदिगङ्गा, बूढ़गङ्गा या गङ्गानालाके नामसे पुकारते हैं। हिंदूलोग कलकत्तेसे दक्षिण भी हुगलीको नदीवत् समझकर केवल इसे ही पवित्र मानते हैं और यहीं अपने शवोंको जलाते हैं।

कलकत्तेसे ६ मील आगे हुगली नदी साँकराइल नामक स्थानपर पहुँचती है, जहाँ सरस्वती नदीका सङ्गम होता है, यह वही सरस्वती नदी है, जिसका विवरण पहले दिया जा चुका है। यह त्रिवेणीपर भागीरथीसे अलग होकर सप्तग्राम

होती हुई दक्षिण-पश्चिमकी ओर बहने लगती है और इस प्रकार चक्कर खाती हुई फिर साँकराइलके पास भागीरथी (हुगली) में मिल जाती है।

यह साँकराइल सरस्वती और हुगलीके सङ्गमपर बसा हुआ एक बड़ा ग्राम है। यहाँ स्टीमर रुकते हैं। सङ्गमपर होनेके कारण यह स्थान बहुत पवित्र माना जाता है।

साँकराइलसे लगभग १० मील आगे मायापुर नामक ग्राम है। यहाँपर भी स्टीमर रुकते हैं। रेल्वे लाइन यहाँपर नहीं है।

मायापुरसे ९ मील आगे हुगली नदीके दाहिने तटपर दामोदर नद मिलता है। और इस सङ्गमके सामने ही दूसरे किनारेपर काल्टा नामक स्थान है। यहाँ एक किला है जिसपर भारी तोपें रक्खी हुई हैं। यह हुगली नदीकी रखवाली करता है।

यहाँसे कुछ दूरपर डायमंडहारबर नामका बंदर है। यहाँका स्थानीय नाम हाजीपुर है। यहाँसे पक्की सड़क कलकत्ते जाती है।

इसके बाद हुगली नदी आगे बढ़नेपर वैकुण्ठपुर, रामपुर, दुर्गाचक आदि स्थानोंको पवित्र करती हुई मायापुरसे २८ मील पूर्व नारायनचकमें पहुँचती है, जहाँपर हल्दीनदीका सङ्गम होता है। यहाँसे हुगलीकी धारा बहुत चौड़ी हो जाती है और इसी रूपमें भागीरथी (हुगली) काशीनारा, कलेक्टरगंज होती हुई गङ्गासागरको चली जाती हैं। यह स्थान सागरसे एक छोटी धाराके सङ्गमपर है। यहाँ संक्रान्तिके दिन एक बड़ा मेला लगता है। यहाँ दूकानोंके लिये चटाइयोंके मण्डप बन जाते हैं। मेलेके समयमें रेतके चार फीट ऊँचे चबूतरेपर एक तात्कालिक मन्दिर बनाकर उसमें कपिल मुनिकी मूर्त्तिकी स्थापना की जाती है। यह मूर्त्ति वर्षा ऋतुमें कलकत्तेमें ही रक्खी रहती है।

पहले यह बतलाया जा चुका है कि छापघाटीके पास गङ्गा दो भागोंमें बँट जाती हैं—भागीरथी और पद्मा, जिनमेंसे भागीरथीके किनारेके प्रसिद्ध-प्रसिद्ध स्थानोंका विवरण दिया जा चुका है। अब आगे पद्मानामधारिणी गङ्गाके किनारेके प्रसिद्ध स्थानोंका भी संक्षिप्त विवरण दिया जाता है।

छापघाटी मुहानेसे कुछ दूरपर गिरिया नामक एक ग्राम पद्माके दाहिने तटपर स्थित है।

यहाँसे कुछ दूर आगे पद्माके बायें तटपर उदयनाला नामक एक ऐतिहासिक स्थान है, जहाँ नवाब मीरकासिमके साथ सन् १७६३ ई०में अंग्रेजोंकी दो लड़ाइयाँ हुई थीं। दोनोंमें मीरकासिमकी हार हुई थी।

यहाँसे आगे बढ़नेपर पद्मा गोदागाड़ी नामक स्थानमें पहुँचती हैं। यह स्थान छापघाटीसे १६ मील दक्षिण-पूर्वमें पद्माके बायें तटपर स्थित है। ई० आई० आर० की कटिहार-गोदागाड़ी शाखा यहींपर समाप्त होती है।

यहाँसे पद्मा भगवानगोलाको जाती हैं। यह स्थान छापघाटीके मुहानेसे लगभग २१ मील दक्षिण-पूर्वमें है। यह एक व्यापारिक स्थान है। पद्मा नदीकी गहराई तथा चौड़ाई अधिक होनेके कारण इसके द्वारा मालके आनेमें व्यापारिक सुविधा अधिक रहती है। इसीलिये पद्माके किनारे बसे हुए सब प्रसिद्ध-प्रसिद्ध स्थान अपना व्यापारिक महत्त्व भी रखते हैं। अस्तु

भगवानगोलासे १५ मील आगे रामपुरबोआलिया नामका एक नगर पद्माके बायें तटपर स्थित है। पहले यहाँ रामपुर और बोआलिया नामके दो अलग-अलग ग्राम थे, किन्तु अब दोनोंको मिलाकर एक कर दिया गया है। यहाँपर रेल नहीं है। स्टीमरसे काफी व्यापार होता है।

यहाँसे लगभग ३२ मीलकी दूरीपर पद्माके बाय तटपर सारा नामक एक ग्राम है, जहाँपर ई० आई० आर० का स्टेशन है और थाना, डाकखाना तथा हाईस्कूल हैं। यह ग्राम पबना जिलेमें पड़ता है।

यहाँसे ५ मील आगे पद्माके दाहिने तटपर नूरपुर नामक ग्राम स्थित है। यहाँसे कुष्ठिया नगरतक पक्की सड़क गयी है। यहाँसे ४ मील आगे नलबरिया स्थानपर गरई नदीका सङ्गम होता है। इस सङ्गमसे ९ मील आगे पबना नगर पद्माके दाहिने तटपर स्थित है। यह एक व्यापारिक नगर है।

पबनासे ३० मील आगे सिवले नामक स्थानपर पद्माका यमुना नदीके साथ सङ्गम होता है। ब्रह्मपुत्र नदीके बंगालमें प्रवेश होनेके बाद उसका नाम यमुना पड़ जाता है। यह काफी चौड़ी नदी है। व्यापारकी दृष्टिसे यह ब्रह्मपुत्र (यमुना) बड़ी महत्त्वपूर्ण नदी है। सिवलेमें पद्माके पूर्वी तटपर स्थित एक बड़ा बाजार है, थाना है, व्यापारका स्थान

तथा अनाजकी मंडी है । यह गोआलंदो घाटके सामने पड़ता है, जो पद्माके दाहिने तटपर स्थित है ।

गोआलंदो घाटतक ई० आई० आर० जाती है ।

गोआलंदो घाटसे पद्मा नदी छोटे-छोटे गाँवोंमें होती हुई ५१ मील दूर राजबाड़ी स्थानपर पहुँचती है । यह पद्माके पूर्वी तटपर स्थित है । यहाँ थाना और सबरजिस्ट्री आफिस है । २ मील दक्षिण-पश्चिमकी ओर राजबाड़ी मठ है । यहींपर सब यात्री ठहरते हैं । इसी राजबाड़ीके आसपास मेघना नदीका (जो कि मनीपुरकी पहाड़ियोंसे निकलती है और सुर्माघाटीमें बहती है) सङ्गम होता है ।

यह मेघना राजबाड़ीसे लगभग १५ मील उत्तर मुन्शीगंजके पास कई नदियोंसे मिलकर आती है, जिसमेंसे एक बूढ़ीगङ्गा है । इसीके बायें किनारेपर ढाका नामक प्रसिद्ध व्यावसायिक नगर बसा हुआ है । आजकल बंगालका यह एक प्रसिद्ध नगर है । ढाकेकी मलमल प्रसिद्ध है । एक और नदी लखियार नामकी है, जिसके किनारे नारायनगंज है । एक तीसरी ढोलेश्वरी नदी है । ये तीनों नदियाँ मुन्शीगंजके कुछ पहले ही मिलकर आती हैं और मुन्शीगंजमें मेघनासे मिलकर आगे बढ़ती हैं और राजबाड़ीमें पद्मा (गङ्गा) से मिलकर एक सागरका रूप धारण करती हैं और इसी रूपमें बंगालकी खाड़ीमें गिरती हैं ।

पद्माके तटोंका यह हाल है कि अनेक स्थानोंपर मिट्टी जमा हो जाती है, द्वीप बन जाते हैं, इनपर घने वन उग आते हैं, जिन्हें काटकर साफ किया जाता है और गाँव बसाये जाते हैं । किन्तु ये सब भूखण्ड एक रातके तूफानमें ही जलमग्न हो जाते हैं । दूसरे दिन उनका निशानतक नहीं मिलता । गोआलंदो-जैसी बड़ी मंडीकी स्थिति इतनी नाजुक है कि इस वर्ष नगर एक स्थानपर स्थित है तो दूसरे वर्ष उसका पड़ाव सात मील दक्षिण होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं । फरीदपुर जिलेमें पद्माने इतने अधिक सुन्दर भवनोंको नष्ट कर दिया है कि इसका नाम ही 'कीर्तिनाशा' पड़ गया है । इसके आगे धारा लगभग आठ मील चौड़ी हो गयी है ।

धारामें जलकी प्रचुरता होनेके कारण स्टीमर इसमें बड़ी सरलतापूर्वक चलते हैं । इसीसे राजशाही जिलेके निकट आपको इतने अधिक जलयान देखनेको मिलेंगे कि आपके आश्चर्यका ठिकाना न रहेगा । संसारभरमें जलद्वारा जितना अधिक व्यापार पद्मापर होता है, उतना और कहीं नहीं ।

जैसा कि मैं पहले ही लिख चुका हूँ, श्रीगङ्गाजीके सम्बन्धमें जो सामग्री मेरे पास थी, उसका उपयोग मैंने इस लेख-मालामें किया है । मैं यह जानता हूँ कि बंगालप्रान्तके सैकड़ों स्थानोंका विवरण इस लेखमें देना आवश्यक था, परन्तु सामग्रीके अभावके कारण ऐसा नहीं हो सका । इसी कारण श्रीगङ्गाजीके सम्बन्धमें मेरी पुस्तक अभी समाप्त नहीं हो पायी है । मैं बंगालनिवासियोंसे आग्रहपूर्वक विशेषरूपसे निवेदन करता हूँ कि वे गङ्गाकिनारेके दर्शनीय स्थानोंका वर्णन मेरे पास श्रीदुबेनिवास, दारागंज, प्रयागके पतेसे अवश्य लिख भेजनेकी कृपा करें । यद्यपि बंगालमें पद्मा, यमुना, बूढ़ीगङ्गा इत्यादिका माहात्म्य भागीरथीके बराबर नहीं माना जाता फिर भी मैं अपनी पुस्तकमें इन सब नदियोंके किनारेके स्थानोंका संक्षिप्त वर्णन देना चाहता हूँ । इसलिये पाठकोंसे निवेदन है कि भागीरथी, हुगली, पद्मा, यमुना, बूढ़ीगङ्गा, मेघना इत्यादि नदियोंके किनारेके स्थानों, मन्दिरों, घाटोंका वर्णन मेरे पास अवश्य भेजनेकी कृपा करें । यदि किसी पाठकके पास श्रीगङ्गाजीके किनारेके किसी दर्शनीय स्थान, मन्दिर अथवा घाटका चित्र हो तो उसे वर्णनसहित मेरे पास अवश्य भेज दें । इस कृपाके लिये मैं उनका बहुत आभारी होऊँगा ।

आत्मोन्नतिका मार्ग

(लेखक—पूज्यपाद श्रीमोलानाथजी महाराज)

हमको भगवान्‌का आदर्श हर समय इस प्रकार-का रखना चाहिये कि जिसको बुद्धि और तर्ककी कोई भी युक्ति हिला न सके। क्योंकि यदि किसी भी कारणसे अपने इष्ट (ideal) में कोई कमी नजर आ जायगी तो वह आदर्श ही सन्देहके कारण हमारी नजरोंसे गिर जायगा या निर्बल हो जायगा। इस कारण वह कमजोर 'ईश्वरका ज्ञान' हमको कभी भी लाभ नहीं पहुँचा सकेगा, जिसका परिणाम यह होगा कि हम अपनी कमजोरीको तो महसूस न करेंगे और उस आदर्शको ही गलत कहने लगेंगे।

अपना प्रियतम हर नुक़्स (त्रुटि) से पाक होना चाहिये, वर्ना प्रेममें कमी आ जायगी, प्रेमकी कमी एकाग्रताकी कमी होगी और अनन्यभावकी कमी हमको नाकामयाब करेगी। हमारा ध्येय हमेशा हर नुक़्ससे पाक होना चाहिये।

भगवान्‌को पवित्र हृदयसे जाननेका यत्न करो, न कि अपूर्ण बुद्धिद्वारा। हिन्दुस्तानमें अगर किसी भी बच्चेसे पूछिये कि 'भगवान् कहाँ हैं ?' तो वह कह देगा कि 'आपके अंदर'। अगर फिर पूछिये कि 'अंदर कहाँ हैं ?' तो वह कहेगा कि 'आपके दिलमें'। यह कोई नहीं कहता कि 'आपके दिमागमें'। सम्भव है, भगवान्‌को दिमागसे निकल भागनेके लिये बहुत-से सूराख आँख, कान वगैरहके मिल जाते हैं। गोया उसको महसूस (अनुभव) किया जाता है, केवल युक्ति या दलीलसे समझा नहीं जा सकता।

दूसरे, हमको यह हर्गिज न समझना चाहिये कि हर शख़्स हमारे ही रास्तेपर चलकर उसको पाये; बल्कि जो-जो जहाँ-जहाँ (पवित्र हृदय) से चल रहा है, उसको चलने दीजिये। भगवान् उसकी साफ़ नीयतको देखकर उसको उसी शक्लमें उसी रास्तेसे मिल जायँगे। एक साफ़ दिलसे छोटे रास्तेसे चलने-वाला उससे कहीं अच्छा है, जो बड़े-बड़े रास्तोंपर बिना सफाई और विश्वासके चल रहा है।

अक्सर ऐसा होता है कि आपका मार्ग दूसरेकी समझमें नहीं आता और वह अपना भी छोड़कर हैरान हो जाता है। अगर किसीको समझाना ही है तो पहले उसकी हालतको खूब समझकर उसको इस ढंगसे समझाओ कि उसका पहला रास्ता दूसरे रास्तेका एक खास दरजा साबित हो।

मनुष्यको मरनेका तरीका ढूँढ़ना चाहिये, जीनेका नहीं; क्योंकि वह पैदा तो हो ही चुका है, अब मरना सामने है। लेकिन इसका मतलब आत्महत्या नहीं, बल्कि नेकीके लिये अनवरत आत्मबलिदान है—उस समयतक जबतक कि मौत हमको अपने वक़्तपर इस शरीरसे उठा नहीं लेती। जब संसारमें हम किसी भी कोशिशसे जिन्दा नहीं रह सकते तो मरनेका अच्छा ढंग सोचें और वह केवल यह है कि हम अपनी शक्तियों और जिन्दगीके तमाम वक़्तको ईश्वरकी याद और उसकी दुनियाकी सेवामें अपने-अपने कर्तव्यकर्मोंके द्वारा लगा दें। इस प्रकारकी मौत सदाके जीवनको सामने ला रक्खेगी।

दिलसे उस शक्तिमें भरोसा रक्खो कि जिसको ईश्वर कहते हैं, उसके द्वारपर पड़े रहो, उसकी याद करते रहो। वहाँ और तो कोई भयानक चीज पहुँच नहीं सकती और वह (ईश्वर) स्वयं दयालु है। इसलिये जब उसकी कृपाको प्राप्त कर लोगे तो फिर संसारमें हर जगह सांसारिक और पारमार्थिक दुनियावी और रूहानी तरीकोंसे कामयाब होते रहोगे।

उस (ईश्वर) के प्रेममें सब कुछ छोड़ दो, लेकिन उसके प्रेमको किसी वस्तुके लिये न छोड़ो। उसका प्रेम फिर आपको सब कुछ ला देगा।

ये प्रकृतिके नियम अध्यात्मकी ऊँची-से-ऊँची श्रेणी-पर पहुँचनेके सिद्धान्त हैं। जिस समय मनुष्य अपने आपको दुनियाके कष्टोंमें घिरा हुआ पाता है तो नाना प्रकारसे यत्न करता है कि उनको किसी तरह हटा दे; लेकिन जब वह अपनेको हर बातमें असफल पाता है तो उसी अवस्थामें प्रसन्न रहनेकी फ़िक्र करता है। परन्तु जब वहाँ भी वह खुश नहीं रह सकता तो फिर किसी ऐसी शक्तिको जाननेकी कोशिश करता है कि जिसके जान लेनेसे वह हर मुश्किलसे बच सके।

जब उसकी इच्छा सच्ची हो जाती है तो उसको ऐसे समयपर कशिशे हक़ीक़ी (सच्चे आकर्षण) के नियमोंके अनुसार कोई सद्गुरु मिल जाता है कि जिससे वह उस मार्गपर चल पड़ता है।

परन्तु उस रास्तेपर भी नाना प्रकारके प्रलोभन और खतरे नजर आते हैं और कई क़िस्मके त्यागसे काम लेना पड़ता है। अक्सर यह घबड़ाकर पीछे हटनेकी फ़िकर करता है, लेकिन इसको पीछे भी सिवा खतरेके और कुछ नजर नहीं आता। बस, यह सोचता है कि वापसीपर तो वही हालत सामने आवेगी कि जिससे मैं निकलकर आया हूँ और अगर रास्ता आगे बढ़कर क़ामयाब हो गया तो जरूर हर मुश्किलसे बच निकलूँगा।

पस, रहबरे हक़ीक़ी (सद्गुरु)—जो उसको प्रकृतिके सच्चे आकर्षणके नियमोंके अनुसार प्राप्त हुआ था—उसको उस मार्गपर चलाता है और आगे बढ़ाता जाता है। इस सद्गुरुकी सहायतासे अन्तमें यह हर कठिनाईसे पार हो जाता है और आखिरकार यह उस मंजिल (ईश्वर) को पा लेता है कि जहाँ सिवा आनन्द और शान्तिके और कुछ है ही नहीं। और जब यह इन तमाम हालतों यानी प्रलोभन और स्वार्थको छोड़कर दूसरे किनारेपर पहुँचता है तो यह सारा संसार उसके लिये एक स्वर्गका रूप धारण कर लेता है, जिससे इसको इस दुनियामें रहते हुए ही आराम और शान्तिका मार्ग मिल जाता है।

सारांश, जिस समय मनुष्यके हृदयमें ईश्वरको पाने-की सच्ची आकाङ्क्षा होती है तो उसको वे सब सामान स्वयमेव प्राप्त होने लगते हैं कि जिनकी जरूरत उसको उस मार्गपर चलनेके लिये है। पस, उस अन्तर्ज्ञान या रहबरे हक़ीक़ी (सद्गुरु) की सहायतासे यह उन तमाम मुश्किलोंको हल कर लेता है और अन्तमें उसका ईश्वरदर्शन (Super-consciousness) में विश्वास हो जाता है।

जिस तरह दुनियाके गरीब जख़्मीको देखकर आपके दिलमें रहम आ जाता है, उसी तरह अगर आपके दिलपर ईश्वरकी मोहब्बतका जख़्म मौजूद है तो वह अवश्य आपपर दया करके उसपर मरहम लगानेकी तवज्जह (ध्यान) करेगा।

विनय

मैं हरि, पतित-पावन सुने।
मैं पतित, तुम पतित-पावन, दोउ बानक बने॥
ब्याध गनिका गज अजामिल, साखि निगमनि भने।
और अधम अनेक तारे, जात कापै गने॥
जानि नाम अजानि लीन्हें, नरक जमपुर मने।
दास तुलसी सरन आयो राखिये अपने॥

—तुलसीदास

भगवन्नाम-जप

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

सदाकी भाँति इस बार भी पौषसे होलीतक दस करोड़ मन्त्र-जप करने-करानेके लिये 'कल्याण' के प्रेमी पाठक-पाठिकाओंसे प्रार्थना की गयी थी। हर्षका विषय है कि अबतक ५१, ०२, २३, ५०० मन्त्र-जपकी सूचना निम्नलिखित ६०७ स्थानोंसे आ चुकी है। नाम जोड़नेसे इससे सोलहगुनी संख्या होगी। इतनी अधिक संख्यामें अबतक नाम-जप कभी नहीं हुआ था। गत वर्ष जून मासके अन्ततक केवल २४ करोड़ और कुछ लाख मन्त्र-जपकी ही सूचना मिली थी। इस वर्ष उससे दूनीसे भी अधिक संख्यामें *नाम-जप हुआ है। इसके लिये नाम-जप करने-करानेवाले* सभी बधाईके पात्र हैं। जिन संस्थाओं, संतजनों तथा प्रेमियोंने स्वयं जप किया तथा दूसरोंसे करवाया, उन सबके हम अत्यन्त कृतज्ञ हैं। जिन जगहोंसे सूचना आयी है, उनके नाम निम्नलिखित हैं—

अंकलेश्वर, अंकोला, अंधारी, अकबरपुर, अकलतरा, अकोला, अगवानपुर, अजमेर, अजीतगढ़, अमरसर, अड़ास, अतरौली, अनन्तपुर, अपहर, अमरवाड़ा, अमरावती, अमरोधा, अमलसाड़, अमृतसर, अम्बाला सिटी, अयोध्या, अरई, अरलरा, अलिराजपुर, अल्मोड़ा, अल्लापुर, अवगिल्ल, असोआ, अहमदाबाद, आंतरदा, आँदुरा, आजमगढ़, आबूरोड, आरा, आसापुर, इन्दराना, इन्दौर, इमामगंज, इलासीन, इलाहाबाद, इलिचपुर, ईडर, ईलोल, ईसाखेल, ईसागढ़, उज्जैन, उदनाबाद, उदयपुर, उदयपुरा, उधमपुर, उन्नाव, उफरेड़ा, उमरेड़ी, उमरेठ, उरुआबाजार, उस्का-बाजार, ओरछा, ओलादण, ओसारा, कंडेला, कच्छभुज, कच्छमांडवी, कटौना, कड़वारी, कदमकुआँ, कपड़वंज, कपाशन, कर्णप्रयाग, करनपुरबाजार, करनाल, करमसद, कराँची, करीमुद्दीनपुर, कलकत्ता, कसरावाँ, कसिया, कसौली, कहरई, कहलगाँव, कहानी, कांकिनाड़ा, कांके, कांकेर, काठमाण्डु, कानपुर, कापथा, कापरेन, कालाकाँकर, कालावड़, काशी, काशीपुर, कासगंज, कासर, किलिन्दिनी, किशनगंज, कुठोदा, कुतबपुर, कुपवाड़ा, कुम्हरिया, कुर्ग, कुरीचित्तर-पुर, कूकड़ा, कूपगाँव, केन्दुआपाड़ा, केशोद, केसरिया, केरा, कैराना, कोंच, कोंहड़ा, कोठम, कोयम्बटूर, कोयलगढ़, कोरजी, कोष्ठापारा, कोसमी, कौपा, खंभारी, खटवाड़ा, खड़गडीहा, खम्हरिया, खरवा, खरेड़ा, खरेना, खलीलाबाद, खुरई, खुशाब, गंगोलीहाट, गढ़वा, गढ़ोटा, गढ़ेपुर, गन्धवानी, गन्धावल, गया, गर्चे, गरीफा, गरोट, गरोला, गहेरवारगाँव, गाजना, गाडरवाड़ा, गिद्दरबाहा, गिसारा, गुजरात (पंजाब), गुड़गाँव, गुरसहायगंज, गुलबर्गा, गोंडल, गोंदिया, गोखरही, गोघा, गोजी, गोदिया, गोड्डा, गोरखपुर, घड़ुआँ, घाटोली, घुमनी, चंडीपुर, चलथाना, चहुटा, चाँदपुरा, चाँदवड़, चाचरो, चाणस्मा, चिंतामणि-चक, *चित्तौड़, चित्रकूट, चीतगाम, चैनवा, चौखंडी,* चौमूँ, चौराई, छत्तरपुर, छतवा कलाँ, छतिआना, छपरा, छिदगाँव, छिन्दवाड़ा, जगदीशपुर, जड़ोला, जबलपुर, जयपुर, जलालपुर, जलालाबाद, जसो, जहाजपुर, जाखड़ी, जाजपुररोड, जाफराबाद, जामखंभालिया, जामनेर, जालना, जिहुली, जुंगावानो, जुझारपुर, जूनागढ़, जोड़ियाबंदर, जोधपुर, जोबट, जोलपा, जोशीमठ, जौनपुर, झगड़िया, झगरपुर, झांझनेर, झांसी, झींझक, झूँझनु, टंडामसीखान, टाँडाबादली, टिकारी, टिमरनी, टेटिया, टेहटा, डभोई, डारेसलम, डालमियाँनगर, डुब्बा, डुमरियाखुर्द, तड़केश्वर, तन्दूर, तनोली, तरोरा, तुलसीपुर, तेआर, तेजगढ़, तोपदड़ा, थाम, थारोच, थुमा, थूथा, दड़वा कलाँ, दर्णानगर, दतिया, दरयापुर, दरलापुढ़ि, दलनछपरा, दलसिंगसराय, दहेगाँव, दादर, दामोदरपुर, दाहोद, दिलाधरपुर, दिल्ली, दीपालपुर, दीहेड़, दुमका, देवघर, देवरिया, देवली, देहरादून, दौलतपुर, द्वारनियाँ ककराला, धतनाही, धमतरी, धरनावदा, धरमराय, धरहरवा, धराउत, धर्मज, धामपुर, धार, धारवाड़, धुड़कोट, धुधुआ, नयी दिल्ली, नजीबाबाद, नड़ियाद, नदीसर, नवाबगंज, नरायनपुर, नरौली, नलहटी, नवसारी, नवानी, नवीनगर, नसरपुर, नसीराबाद, नाँदेड़, नागपुर, नागौतार, नाया, नासिक सिटी, निंबानिंबड़ी, निन्चर, निजामाबाद, नीमसार, नुजविद, नेल्लोर, नेसड़ा, नैनीताल, नैरोबी, नैहाटी, नौगाँव, पंचवटी, पँजवारा, पचोर, पटना, पटियाला, पटौदी, परतापगढ़ (मालवा), परतापगढ़ (अलवर), परभणी, परसागढ़, परासी, परियावाँ, पहाड़पुर, पाइबिगहा,

पाचम्बा, पाटन, पाम, पायल, पारू, पाली, पालीआद, पिंजरो, पिजराडीह, पिथोरा, पिपराइच, पिपरिया, पिपलोद, पिलखना, पिलखुआ, पिलानी, पीपरझरी हट्टा, पीपलरावा, पीलीभीत, पुन्हदा, पुरानीबस्ती, पूना सिटी, पेरीपीठ, पैबिशा, पैरी, पोणादा, पोरबंदर, पौंडीदलहा, फ़तेहपुर, फर्रुखाबाद, फलभरा, फ़िरोजपुर सिटी, फ़िरोजाबाद, फिल्लौर, फ्रीलैंडगंज, फोर्ट सण्डेमन, बैंगरा, बकावाँ, बगरहटा, बड़का डुमरा, बड़का राजपुर, बड़वानी, बड़ोदा, बदोसा, बनकछा, बनकट, बनवासि, बनारस, बनेड़ा, बन्नापुर, बभनावल, बमरोली, बम्बई, बरवाल, बरवाला, बरोरा, बरौली, बर्रीघाट, बलसाड, बलीपुर, बसेढ़ी, बहजोई, बहराइच, बहादुरपुर, बाँधली, बाँसडीह, बाँसी, बागड़, बान्द्रा, बामनबास, बाम्बर्डे, बाराबंकी, बालकमऊ, बालसमुँद, बालीसणा, बालोद-संजारी, बिरमा, बिरखोल, बिलग्राम, बिलारी, बिलासपुर, बिहारशरीफ, बीदासर, बीनागंज, बुरहानपुर, बेटछपरा, बेलखरियापुरा, बोधरूप, बोराड़ा, बोराना, भगुर, भटपुरा, भटरा-दरभङ्गा, भड़ोच, भदरा, भभुआ, भरतपुर, भरौली, भवनाथपुर, भवानीपटना, भागा, भावनगर, भिलवाड़ा, भिंभोरी, भीमोरा, भेड़वन, भेलाही, भैंसा, भोगाँव, मंडोर, मखु, मजीठ, मझगवाँ, मड़ियादो, मथुरा, मदुरा, मद्रास, मघौल, मनाण, मनेरी, मलीवड़गाँव, मलंगवा, मल्लावाँ, मवईरहायक, मसुलीपट्टम, महाराजपुर, महिशारि, महीपुरा, महुआ, महूधीन, महेन्द्रू, मांडल, मांडला, मांडवला, माईसोर, मातुँगा, माधोपुर, मारवाड़जंकशन, मालिया-हाटीना, मिर्जापुर सिटी, मिलकी, मीरपुर, मीरपुरजम्बू, मीरशाहअली, मुन्द्रा, मुरखेड, मुरादाबाद, मुलतानशहर, मुसहरी, मुहम्मदी, मूँगस, मूँदी, मेंडरही, मेंहदावल, मेरठ, मैनपुरी, मोकर, मोरड़, मोरवी, मोरिशस, मोरेना, मोलनापुर, मोलमीन, मोहगाँव, मोहला, मोहाली, रहयाँ, रठगाँव, रतनगढ़, रतलाम, रहवाँ, रागा, राघोगढ़, राजकोट, राजचरडी, राजनगर (मेवाड़), राजाका सहसपुर, रामगढ़ (जयपुर), रामगढ़ (मिर्जापुर), रामनगर, रायपुर (मेवाड़), रायपुर (सी. पी.), रायपुरचोर, रावलपिण्डी, रीछ, रीवाँ, रुड़की सिटी, रुन्नी सैदपुर, रूपौली, रोहतकमंडी, रोहतक सिटी, लखनऊ, लखनपुर, लखनादौन, लखीमपुरखीरी, लखीमपुर नार्थ, ललाना, ललितपुर, लालीपुर, लाहौर, लिलियामोटा, लुनावड़ा, लोनावला, वकली, वाँकानेर, वादवान सिटी, वाढ़ापुर, वाराही, वाव, वासनिया कलाँ, विक्रमपुर, विजयनगर, विरमगाम, विराटनगर, विलेपारले, विश्वनियाँ, विसावदर, विसाड़ा, वृन्दावन, वेणचिनमर्डि, वेराबल, वैकुण्ठपुर, वैर, शकलडीहा, शकूरगढ़, शम्शाबाद, शरफुद्दीनपुर, शलवार, शाहगंज, शाहजहाँपुर, शेदुर्णी, शेरगढ़, शेलूबाजार, शोलापुर, श्योपुर कलाँ, श्रीमाधोपुर, संतोषपुर, संदेसर, संबलपुर, सक्खर, सटाणा, सतशाला, सफीपुर, सबाथू, समी, सरदारशहर, सरिंजा, सबलगढ़, साचीन, साद्रा, सानेर, सालौन, साहसपुर, सिंगाही, सिकन्द्रा, सिधौली, सिमलखेड़ी, सिरसा, सिरायू, सिलहट, सिवनी, सिहोरमंडी, सीआणी, सीकर, सीतापार, सीतापुर, सुकटिया, सुभानपुर, सुमेरगंज, सूरत, सूरतगढ़, सेऊ, सेमरी डोलारिया, सेलापट्टी, सैक्षपुर-गोपालपुर, सोनबर्सा, सोनादा, सोहबल, हणुकाछज्जा, हरदी, हरदी-नेला, हरपालगंज, हरपालपुर, हरसूद, हरिद्वार, हसुआ, हाँसी, हाजीपुर, हिण्डौन, हिम्मतनगर, हिम्मतपुर, हिरौली, हुमेलवा, हैदरगढ़, हैदराबाद (सिन्ध), हैंसरबाजार, होशियारपुर, होशंगाबाद, होसिर ।

व्यवस्थापक—

नाम-जप-विभाग

* कल्याण *

भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचारसम्बन्धी सचित्र मासिक पत्र।

ग्राहक-संख्या ——— गोरखपुर ———

प्रिय ग्राहक महोदय !

सप्रेम हरिस्मरण।

इससे पहले जूनके "कल्याण" द्वारा आपकी सेवामें नये वर्षका मूल्य भेजनेकी सूचना दी जा चुकी है। आपने अबतक इस सालका मूल्य नहीं भेजा हो तो अब मनीआर्डरसे तुरंत भेज दें। क्योंकि जिनका मूल्य कार्यालयमें आ जायगा उनकी सेवामें "कल्याण" पहले भेजा जायगा।

यदि आप वी० पी० से मँगवाना चाहते हों तो आपको कोई सूचना भेजनेकी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि जिन ग्राहकोंका मूल्य नहीं आवेगा और मनाही भी नहीं आवेगी उनको "कल्याण" मँगवानेमें सम्मति समझकर समयपर 'साधनांक' ४॥=) की वी० पी० द्वारा भेज दिया जायगा।

यदि इस वी० पी० के साथ "कल्याण" की कोई फाइल या अंकविशेष मँगवाना हो तो लिखनेसे भेजा जा सकता है।

जो सज्जन किसी कारणवश इस वर्ष ग्राहक न रहना चाहते हों वे हमपर कृपा करके इस अङ्कके पाते ही इसी कागजके साथका कार्ड काटकर हमें ग्राहक न रहनेकी सूचना दे दें ताकि उनको वी० पी० नहीं भेजें और उनको एवं अपनेको कष्ट और हानिसे बचा सकें। आपके तीन पैसेके खर्चेसे "कल्याण" की आठ आनेकी बचत होगी।

यदि कार्यालयकी भूलसे आपके रुपया भेज देनेपर भी, या मनाही कर देनेपर भी, या पहले वी० पी० छुड़ा चुकनेपर भी, वी० पी० चली जाय तो कृपया उसे यथासाध्य प्रयत्न करके किसीको ग्राहक बनाकर रख लें। इस थोड़े-से परिश्रमसे कार्यालय कुछ हानिसे बच जायगा।

वी० पी० डाकघरमें सिर्फ ७ दिन रुकती है। उसके छुड़ानेमें देर करनेसे वी० पी० लौट आवेगी और कल्याण-कार्यालयको व्यर्थ नुकसान पहुँचेगा, साथ ही आप साधनाङ्कके रहस्यपूर्ण वर्णन पढ़ने और उसके चित्रोंके दर्शन करनेसे वञ्चित होंगे। इसलिये वी० पी० पहुँचते ही छुड़ा लेनी चाहिये।

वी० पी० के विषयमें कुछ पूछना हो तो कल्याणके रैपरपर आपके पतेके पास छपे हुए ग्राहक-नम्बरसहित पत्र तुरंत ही लिखें। नम्बर न लिखनेसे गोलमाल होनेका भय है।

आपका कृपाभिलाषी—

व्यवस्थापक

सूचना

(१) वी० पी० के रुपये हमें मिलनेपर ही आपका नाम ग्राहक-श्रेणीमें लिखा जाकर अगले अङ्क यथासमय प्रतिमास भेजे जा सकेंगे।

(२) कल्याणके रैपरपर छपे पतेमें किसी भी प्रकार-की भूल हो तो तुरंत सूचना देनी चाहिये। अन्यथा भविष्यमें अङ्क पहुँचनेमें गड़बड़ी हो सकती है।

(३) कृपया ग्राहक-नम्बर नोट कर लें और पत्र देते समय अवश्य लिखें।

(४) वी० पी० के ऊपरका कवर सँभालकर रक्खें।

यहाँसे काटिये।

श्रीहरिः

ग्राहक नं० ——— अवश्य लिखिये !

मैनेजर कल्याण !

गोरखपुर

सप्रेम राम राम। साधनांक वी० पी० से भेजनेकी सूचना मिली।

हम इस वर्ष कल्याणके ग्राहक अवश्य / नहीं रहेंगे। कल्याण का वा० मू० ४॥=) मनीआर्डरसे भेजते हैं। / वी० पी० द्वारा नहीं भेजें।

भवदीय—

नाम ———

पता ———

———

P. O. (   )

नोट—यदि आपको वी० पी० मँगाना स्वीकार हो तो कार्ड भेजनेकी आवश्यकता नहीं है।

श्रीहरिः

कल्याणके अमूल्य विशेषांक और फाइलें

(कल्याणका वार्षिक मूल्य ४≡) है।)

१–दूसरे वर्षके कुछ अंक–प्रति अंक ≈) तीन आने। (भगवन्नामांक नहीं है)
२–भक्तांक पृष्ठ २५०, चित्र ५५ दूसरा नवीन संस्करण मूल्य १॥) सजिल्द १॥।≈)
३–चौथे वर्षके कुछ अंक–प्रति अंक।) चार आने (गीतांक नहीं है)
४–छठे वर्षके कुछ अंक–प्रति अंक।) चार आने (कृष्णांक नहीं है)
५–सातवें वर्षके कुछ अंक–प्रति अंक।) चार आने (ईश्वरांक नहीं है)
६–दशवें वर्षका योगांक ३॥) स० ४) अन्य साधारण कुछ अंक—प्रति अंक।) चार आने।
७–११वें वर्षकी फाइल (वेदान्तांकसहित) मूल्य ४≈) दो जिल्दोंमें ५≈)
८–१२वें वर्षकी फाइल (संतांकसहित) मूल्य ४≈) दो जिल्दोंमें ५≈)
९–१३वाँ वर्ष मानसांक प्रथम खण्ड केवल ३॥) स० ४) कुछ साधारण अंक–प्रति अंक।) चार आने।
१०–१४ वाँ वर्ष गीतातत्त्वांक (प्रथम खण्ड केवल) ३॥) सजिल्द ४)

'Kalyana-Kalpataru' (English Edition of Kalyan) Annual Subscription Rs. 4/8/-

11. God-Number (Illustrated Pages 307) Rs. 2/8/- Bound Rs. 3/-
12. Gita-Number file Rs. 4/8/- Bound Rs. 5/4/-
13. Vedanta-Number file Rs. 4/8/- Bound Rs. 5/4/-
14. Divine Name-Number file Rs. 4/8/- Bound Rs. 5/4/-
15. Dharma-Tattva-Number (Illustrated Pages 336) Rs. 2/8/- Bound Rs. 3/-
16. Yoga-Number (Illustrated Pages 330) Rs. 2/8/- Bound Rs. 3/-

तीन पैसेका टिकट लगाइये

POST CARD

Kalyan Karyalaya
GORAKHPUR.
U. P.

मैं अपने इन मित्रोंको ग्राहक बनाकर
ता हूँ। इनका एक वर्षका मूल्य
पी० द्वारा वसूल कर लें।
आर्डरद्वारा भेजता हूँ।

पता .... P.O. ....

पता .... P.O. ....

यदि साधनांककी वी० पी० के साथ "कल्याण" के ऊपर लिखे अंकोंमेंसे कोई मँगवाना हो तो हमें सूचित करनेसे सेवामें भेजा जा सकता है।

मनीआर्डर फार्म

आपका चन्दा भेजनेके लिये मनीआर्डर फार्म जूनके अंकमें भेजा जा चुका है। आपके मित्रोंको ग्राहक बनाकर उनका चन्दा भेजनेके लिये जितने फार्म चाहिये, लिखकर मँगवा लेनेकी कृपा करें।

बार-बार विनय

ग्राहक-नम्बर

साल समाप्त होता है। आप नये वर्षका चन्दा भेजें या किसी कारण ग्राहक रहना न चाहें तो 'कल्याण' के साधनांककी वी० पी० न भेजनेकी सूचना हमें दे दें–दोनों ही बातोंमें आपके पूरे पतेसहित आपका ग्राहक-नम्बर लिखना जरूरी है जो रैपरपर आपके पतेके साथ छपा हुआ है॥ ग्राहक-नम्बर कृपया नोट कर लें।

व्यवस्थापक—

कल्याणके नियम

उद्देश्य–भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचार-समन्वित लेखोंद्वारा जनताको कल्याणके पथपर पहुँचानेका प्रयत्न करना इसका उद्देश्य है।

नियम

(१) भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्यादि ईश्वर-परक, कल्याणमार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेपरहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख भेजनेका कोई सज्जन कष्ट न करें। लेखोंको घटाने-बढ़ाने और छापने अथवा न छापनेका अधिकार सम्पादकको है। अमुद्रित लेख विना माँगे लौटाये नहीं जाते। **लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदाता नहीं हैं।**

(२) इसका डाकव्यय और विशेषांकसहित अग्रिम वार्षिक मूल्य भारतवर्षमें ४≈) और भारतवर्षसे बाहरके लिये ६।।≠) नियत है। **विना अग्रिम मूल्य प्राप्त हुए,** पत्र प्रायः नहीं भेजा जाता।

(३) 'कल्याण' का वर्ष अंगरेजी **अगस्त** माससे आरम्भ होकर जुलाईमें समाप्त होता है, अतः ग्राहक अगस्तसे **ही** बनाये जाते हैं। वर्षके किसी भी महीनेमें ग्राहक बनाये जा सकते हैं, किन्तु अगस्तके अङ्कसे। कल्याणके बीचके किसी अङ्कसे ग्राहक नहीं बनाये जाते; छः या तीन महीनेके लिये भी ग्राहक नहीं बनाये जाते। 'कल्याण' **प्रतिमास अंगरेजी महीनेकी पहली तारीखको निकलता है।**

(४) इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी दरमें स्वीकारकर प्रकाशित नहीं किये जाते।

(५) कार्यालयसे 'कल्याण' दो-तीन बार जाँच करके प्रत्येक ग्राहकके नामसे भेजा जाता है। यदि किसी मासका 'कल्याण' न पहुँचे तो अपने डाकघरसे लिखा-पढ़ी करनी चाहिये। वहाँसे जो उत्तर मिले, वह हमें भेज देना चाहिये। डाकघरका जवाब शिकायती पत्रके साथ न आनेसे दूसरी प्रति विना मूल्य मिलनेमें बड़ी अड़चन होगी।

(६) पता बदलनेकी सूचना कम-से-कम १५ दिन पहले कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये। **लिखते समय ग्राहक-संख्या, पुराना और नया नाम-पता साफ-साफ लिखना चाहिये।** महीने-दो-महीनेके लिये बदलवाना हो तो अपने पोस्टमास्टरको ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये।

(७) अगस्तसे बननेवाले ग्राहकोंको रंग-बिरंगे चित्रोंवाला अगस्तका अङ्क (चालू वर्षका विशेषांक) दिया जाता है। विशेषांक ही **अगस्त तथा वर्षका पहला अङ्क** होता है। फिर जुलाईतक महीने-महीने नये अङ्क मिला करते हैं। 'कल्याण' के सातवें **वर्षसे** ग्यारहवें वर्षतक भाद्रपद-अङ्क परिशिष्टांकरूपमें विशेषाङ्कके अन्तमें प्रतिवर्ष दिया गया है।

(८) चार आना (एक संख्याका मूल्य) मिलनेपर नमूना भेजा जाता है। ग्राहक बननेपर वह अङ्क न लेवें तो ।) बाद दिया जा सकता है।

आवश्यक सूचनाएँ

(९) 'कल्याण' में किसी प्रकारका कमीशन या कल्याणकी किसीको एजन्सी देनेका नियम नहीं है।

(१०) पुराने अङ्क, फाइलें तथा विशेषाङ्क कम या रियायती मूल्यमें प्रायः नहीं दिये जाते।

(११) ग्राहकोंको अपना नाम-पता स्पष्ट लिखनेके साथ-साथ **ग्राहक-संख्या** अवश्य लिखनी चाहिये।

(१२) पत्रके उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है।

(१३) **ग्राहकोंको चन्दा मनीआर्डरद्वारा भेजना चाहिये,** क्योंकि वी०पी० के रुपये प्रायः देरीसे पहुँचते हैं।

(१४) ग्राहकोंको **वी० पी० मिले, उसके पहले** ही यदि **वे हमें रुपये भेज चुके** हों तो तुरंत हमें **एक** कार्ड देना चाहिये और हमारा (फ्री डिलेवरीका) उत्तर पहुँचनेतक वी० पी० रोक रखनी चाहिये, नहीं तो हमें व्यर्थ **ही** नुकसान सहना होगा।

(१५) प्रेस-विभाग और कल्याण-विभाग अलग-अलग समझकर अलग-अलग पत्र-व्यवहार करना और रुपया आदि भेजना चाहिये।

(१६) सादी चिट्ठीमें टिकट कभी नहीं भेजना चाहिये।

(१७) मनीआर्डरके कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, ग्राहक-नम्बर, पूरा पता आदि सब बातें साफ-साफ लिखनी चाहिये।

(१८) प्रबन्धसम्बन्धी पत्र, ग्राहक होनेकी सूचना, मनीआर्डर आदि **'व्यवस्थापक "कल्याण" गोरखपुर'** के नामसे और सम्पादकसे सम्बन्ध रखनेवाले पत्रादि **'सम्पादक "कल्याण" गोरखपुर'** के नामसे भेजने चाहिये।

(१९) स्वयं आकर ले जाने या एक साथ एकसे अधिक अङ्क रजिस्ट्रीसे मँगानेवालोंसे कुछ कम नहीं लिया जाता।

(२०) 'कल्याण' गवर्नमेण्टद्वारा यू० पी०, आसाम, बिहार, उड़ीसा, बम्बई प्रेसीडेन्सी और सी० पी० आदि प्रान्तीय शिक्षा-विभागके लिये स्वीकृत है। उक्त प्रान्तोंकी संस्थाओंके सञ्चालकगण (तथा स्कूलोंके हेडमास्टर) संस्थाके फण्डसे 'कल्याण' मँगा सकते हैं।

श्रीहरिः

चेतावनी

यह शरीर पानीके बबूलेके समान क्षणभङ्गुर है। पता नहीं कब इसमेंसे प्राण-पखेरू उड़ जायँ। जिन बन्धु-बान्धवोंके मोहमें तुम फँसे हुए हो, एक-न-एक दिन उनका साथ जरूर छूट जायगा। ऐसी विषम परिस्थितिमें तुम क्यों सो रहे हो? तुम्हारे दुश्मन काम-क्रोधादि बड़ी सावधानीसे जगकर ऐसे अवसरकी ताकमें हैं, जब वे तुम्हें अपने काबूमें करके नष्ट कर दें। यह बचपन किस कामका, समझदारीसे काम लो। जो केवल इस लोकमें शरीरके खून और मांसको बढ़ानेमें लगे हुए हैं, परलोक और परमार्थसे बेखबर हैं, वे तो नास्तिक हैं। उनकी बुद्धिमें ऐसा मोह आ गया है कि वे धर्मकी निन्दा करते हुए, कुमार्गसे चलनेमें भी नहीं हिचकिचाते। जो उनके अनुयायी हैं, उन्हें भी अशान्तिका शिकार होना पड़ेगा। सदाचारी, उदारहृदय महात्मा लोग जिस धर्मके राजपथपर चलते हैं, तुम उसीसे चलो। उन महात्माओंकी ही उपासना करो। चित्तको एक क्षणके लिये भी बुरे मार्गमें मत जाने दो। क्या तुम्हें मृत्युका पता नहीं है? सावधान हो जाओ! धर्मका मार्ग अपनाकर अपनी रक्षा कर लो। धर्म ही रक्षाका एकमात्र उपाय है।

(महाभारत, शान्तिपर्व)